आचार्य श्री धर्मसागर अभिनन्दन ग्रन्थ

आचार्य श्री धर्मसागर अभिवन्दन ग्रन्थ

भगवान बाहुबली सहस्राब्दी प्रतिष्ठापना

महामस्तकाभिषेक महोत्सव वर्ष

१९८१-८२

ACHARYA SHREE

DHARMSAGAR

A
B
H
I
V
A
N
D
A
N

GRANTH

Editor :

DHARMCHAND JAIN SHASTRI
(Ayurvedacharya & Jyotishacharya, Sanghastha)

Published by :
SHREE DIG. JAIN NAVAYUVAK MANDAL
CALCUTTA

1981-82

आचार्यश्री धर्मसागर अभिनन्दन ग्रन्थ

सम्पादक: धर्मचन्द्र जैन शास्त्री
ज्योतिषाचार्य

प्रकाशक:
श्री दिगम्बर जैन नव युवक मण्डल
कलकत्ता

आचार्य श्री धर्मसागर अभिवन्दन ग्रन्थ

सान्निध्य :

परम पू० आचार्यकल्प श्री श्रुतसागरजी महाराज
मुनि श्री वर्द्धमानसागरजी महाराज

❖

प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन नवयुवक मंडल
कलकत्ता

❖

वीर निर्वाण सं० २५०८

❖

प्राप्ति स्थान :

१. श्री दिगम्बर जैन नवयुवक मंडल
२३/१ महर्षि देवेन्द्र रोड
(दूसरा माला)
कलकत्ता–७०००७०

२. गोधा सदन, अलसीसर हाउस
संसार चन्द्र रोड
जयपुर ३०२००१

❖

मूल्य : १५१) रुपया

❖

मुद्रक :

पाँचूलाल जैन
कमल प्रिण्टर्स
मदनगंज–किशनगढ़ (राज०)

गोमटेसथुदि

[आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती विरचित]

❖❖❖❖❖

विसट्ट-कंदोट्ट-दलाणुयारं,
सुलोयणं चंद-समाण-तुण्डं ।
घोणाजियं चम्पय-पुप्फसोहं,
तं गोमटेसं पणमामि णिच्चं ॥१॥

अच्छाय-सच्छं जलकंत-गंडं,
आबाहु-दोलंत सुकण्णपासं ।
गइंद-सुण्डुज्जल-बाहुदण्डं,
तं गोमटेसं पणमामि णिच्चं ॥२॥

सुकण्ठ-सोहा-जियदिव्वसोक्खं,
हिमालयुद्दाम-विसाल-कंधं ।
सुपेक्ख-णिज्जायल-सुट्ठुमज्झं,
तं गोमटेसं पणमामि णिच्चं ॥३॥

विज्झायलग्गे पविभाससमाणं,
सिहामणिं सव्व-सुचेदियाणं ।
तिलोय-संतोसय-पुण्णचंदं,
तं गोमटेसं पणमामि णिच्चं ॥४॥

लयासमक्कंत-महासरीरं,
भव्वावलीलद्ध-सुकप्परुक्खं ।
देविंदविंदच्चिय पायपोम्मं,
तं गोमटेसं पणमामि णिच्चं ॥५॥

दियंबरो यो ण च भीइजुत्तो,
ण चांबरे सत्तमणो विसुद्धो ।
सप्पादि-जंतुप्फुसदो ण कंपो,
तं गोमटेसं पणमामि णिच्चं ॥६॥

आसां ण ये पेक्खदि सच्छदिट्ठि,
सोक्खे ण वंछा हयदोसमूलं ।
विरागभावं भरहे विसल्लं,
तं गोमटेसं पणमामि णिच्चं ॥७॥

उपाहिमुत्तं धण-धाम-वज्जियं,
सुसम्मजुत्तं मय-मोहहारयं ।
वस्सेय पज्जंतमुववास-जुत्तं,
तं गोमटेसं पणमामि णिच्चं ॥८॥

१००८ भगवान बाहुबलि स्वामी

परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती १०८

आचार्य श्री शांतिसागर महाराज

आचार्य श्रीवीरसागरस्तुतिः
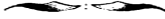
स्वात्मैकनिष्ठं नृसुरादिपूज्यं,
षड्जीव कायेषु दयार्द्र चित्तं ।
श्रीवीरसिन्धुं भववार्धिपोतं,
तं सूरिवर्यं प्रणमामि भक्त्या ॥

स्वाध्यायध्यानादिक्रियासु सक्तः,
स्वात्मोत्थसौख्यास्वदनेऽनुरक्तः ।
संसारभोगेषु विरक्त चित्तः,
आचार्यवर्यं त्रिविधं नमामि ॥

यो मुख्यशिष्यो गुरुशान्तिसिन्धोः,
दीक्षाव्रतादेशविधौ विधिज्ञः ।
कन्दर्पमायाक्रुधमानलोभान्,
जित्वा रिपून् 'वीर' इति प्रसिद्धः ॥

परम् पूज्य श्री १०८ आचार्य वीर सागर जी महाराज

आचार्य श्रीशिवसागरस्तुतिः

श्री वीरसागरमुनीश्वरशिष्यरत्न !
रत्नत्रयाख्य-निधिरक्षणसुप्रयत्नः !
धीरो जितेन्द्रियमनाः सुकृती तपस्वी
भक्त्या नमामि शिवसागरपूज्यपादः ।।

❖ ❖ ❖

अस्मिन्ननादि भवसंकटदावमध्ये,
दंदह्यमानबहुजंतुगणान् निरीक्ष्य ।
कारुण्यपुण्यवचनामृतसेचनेन,
संरक्षतीह शिवसिन्धुमुनिं स्मरामि ।।

❖ ❖ ❖

संघाधिनाथ ! भवबंधमुमुक्षुजीवान्,
धर्मोपदेशजलदैः परितर्प्यमानान् ।
दीक्षाव्रतादिषु नियोज्य कृपां करोति,
स श्री गुरुर्विजयते शिवसिन्धुसूरिः ।।

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ शिवसागर जी महाराज

समर्पण

आस्तिक्य और अनुकम्पा

के

अकम्पित आधार

श्रमणसंस्कृति के जीवन्त प्रतीक

प्रशममूर्ति

आगमनिष्ठ निर्भीक प्रवक्ता

धर्मनिष्ठ तपोधन

जिनशासन प्रभावक

सरलता के साकाररूप

अप्रतिम आचार्य

परम पूज्य श्री १००८ धर्मसागर जी महाराज

को

दीक्षा-शिक्षा निदर्शन

करकमलों

में

[illegible]

[illegible]

समर्पित

प्र ण ति

लोक में चार ही मंगल हैं, चार ही उत्तम हैं और चार ही शरण हैं वे हैं, अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवलीप्रणीत धर्म। अधुना, पंचमकाल में भरतक्षेत्र में साक्षात् अरिहन्त का सान्निध्य समुपलब्ध नहीं है, सिद्ध भगवान सम्पूर्ण कर्मोपाधि का पूर्ण क्षय कर मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं, केवल साधु—आचार्य, उपाध्याय और साधुपरमेष्ठी तथा केवली प्रणीत धर्म ही शरण है, मार्गदर्शक है। केवली प्रणीत धर्म तत्त्व की भी सम्यक् समीचीन अनुभूत व्याख्या उस मार्ग पर अग्रसर होने वाले परमेष्ठीत्रय द्वारा ही सम्भव है। "गुरु बिन कौन बतावे बाट"।

गुरुओं का दर्शन, समागम, सान्निध्य बड़े पुण्य से मिलता है—"पुण्य पुञ्ज बिन मिलहि न सन्ता"। अहोभाग्य है हमारा कि वर्तमान भौतिक प्रगति और आध्यात्मिक जड़ता के इस भयावह काल में परम पूज्य चारित्रचक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज की अनुकम्पा से आगमनिष्ठ दिगम्बर साधुओं का सद्भाव पाया जाता है, अन्यथा इतिहास बताता है कि उत्तर भारत में तो मुनियों के दर्शन भी सुलभ नहीं थे और दक्षिण में भी मुनिपरम्परा लुप्त प्राय थी या फिर शिथिलाचारग्रस्त थी।

आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज ने उस क्षीणप्राय परम्परा का पुनरुद्धार किया, आगम सम्मत मुनिपरम्परा को पुष्ट किया और लोक में दिगम्बरत्व की दुन्दुभि बजाई। कुन्थलगिरि में आपने विधिपूर्वक सल्लेखना ग्रहण की और ३६ दिन बाद ऊर्ध्वलोक को महाप्रयाण किया। उनके आचार्य पद का गुरुतर भार वहन करने वाले परम्परागत तृतीय आचार्य वर्तमान में परम पूज्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज हैं जो अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व, आगमोक्त चर्या और निरपेक्ष-निस्पृह वृत्ति के कारण जन-जन के आराध्य बने हुए हैं।

साधु सन्तों के गुणानुवाद से अन्तःकरण को ऐसी अद्भुत प्रेरणा प्राप्त होती है कि मनुष्य अपने जीवन को उन्नति की ओर अग्रसर कर सके। आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी द्वारा जगत् का महान् कल्याण होता है, ऐसी दिव्य विभूतियों का सम्पर्क, सान्निध्य बड़े भाग्य से मिलता है। बाल ब्रह्मचारी, चारित्र-

शिरोमणि, तपःपूत, निस्पृह आचार्य श्री धर्मसागरजी ऐसी ही दिव्य विभूतियों में से एक है उन्हीके अभिवन्दन स्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ समर्पित है।

पूज्य श्री! आपको तो अभिवन्दन, अभिनन्दन की कोई आवश्यकता नहीं पर हम संसारी प्राणियों को आपके गुणकीर्तन से लाभ अवश्य है। कहा भी है—

वृद्धि प्रजाति विज्ञानं, यशश्चरित्रनिर्मलम्।
प्रयाति दुरितं दूरं महापुरुषकीर्तनात्॥
पद्मपुराण प्रथम पर्व॥

आप संयमरूपी शाश्वत स्वर्णमुकुट से शोभित हैं जिसकी चमक-दमक शाश्वत है। इसे न कोई छीन सकता है न लूट सकता है। इसकी जगमगाहट का अवलम्बन ले भव्यजीव अन्धकार से प्रकाश की ओर लौटते है और संयमवन्दना से संयमधारी बनकर शील सौरभ से सुवासित होते हैं।

आपका समग्र रूप से दर्शन करने के लिए अन्तर्चक्षु चाहिए। अनेकानेक दिव्य गुण रत्नो से आलोकित आचार्य श्री के व्यक्तित्व का संकीर्तन कोई सरल कार्य नहीं है, अनेक साहित्यकारों व विद्वानों के सम्बन्ध में लिखने के प्रयास किये हैं, परन्तु उन्होंने विनम्रतापूर्वक यही कहा है कि उनके प्रयास बाल चेष्टा मात्र हैं—

निरीक्षितुं रूपलक्ष्मी, सहस्राक्षोऽपि न क्षमः।
स्वामिन् सहस्रजिह्वोऽपि, शक्तो वक्तुं न ते गुणान्॥

फिर हम दि० जैन नवयुवक मण्डल के अल्पज्ञ सदस्य एवं संसारपरायण गृहस्थजन अनन्त गुणराशि आचार्य श्री के गुणों का बखान कैसे कर सकते हैं? एक वीतरागी व्यक्तित्व का गुणकीर्तन सरागियों द्वारा कैसे सम्भव है? वीतरागी की मनोभावना को तो उसके परीक्षक ही पहिचान सकते हैं। भक्ति के वश हो श्रद्धासुमन समर्पित कर ही एक भक्त संतोष का अनुभव करता है और यही गुणानुराग उसके आत्मविकास का कारण एवं महान् साधन सिद्ध होता है।

Edwin Arnold ने 'दी लाइट ऑफ एशिया' (बुद्धचरित) रचना के अन्त में अपनी अल्पज्ञता, असमर्थता दर्शाते हुए लिखा है—

"Ah! Blessed Lord! Oh high Deliverer!
Forgive this feeble script, which doth thee wrong.
Measuring with little wit thy lofty love,
Ah lover! Brother Guide! Lamp of the Law."

वस्तुतः हमारा यह प्रयास भी बालहठ ही है। इसमें आपके अनुपम व्यक्तित्व की झलक मात्र ही आ पाई है, किन्तु वही हमारे लिए सन्तोषजनक है। एक निष्ठावान भक्त गुणों से प्रभावित होता है, आकर्षित होता है यह चुम्बकीय व्यक्तित्व का प्रभाव है। यह जिनेन्द्र भक्ति में रंगे जीवन का प्रताप है इसीलिए अनेक भव्यजीव श्रद्धाभक्ति वश आपकी ओर खिंचे चले आते हैं और आपके पवित्रदर्शन, वन्दन, उद्बोधन से बदल जाते हैं, उनके कुरंग सुरंग हो जाते है उनकी कुरूपता स्वरूपता में परिणत हो जाती है।

अनेक भव्य जीवों के उद्बोधक हे सरलमना सन्त! आप सबको अपनी मधुर, सौम्य मुस्कान एवं मधुर बोली और हितमित देशना से शान्ति प्रदान करते हैं। निराश, हताश मनुष्य जब आपके पास आता है तो दर्शन वन्दन एवं आशीर्वाद प्राप्त

कर नवीन स्फूर्ति ग्रहण करता है। यह है आपके दर्शन वन्दन का प्रभाव, विलक्षण है आपकी जीवन प्रभा ! अनुपम है आपकी दिव्य कान्ति !

आपकी इस दिव्य कान्ति की आधार शिला है आपका सम्यक्चारित्र। शुद्ध निर्दोष संयम पालन में आपकी दृढ़ता सुविख्यात है। क्या सागर की लहरों को कोई गिन सकता है ? क्या गगन के तारों की कोई गिनती हो सकती है ? फिर हम अल्पज्ञ आपको संयमाराधना का कैसे बखान करें ? आचार्य श्री का जीवन साक्षात् प्रभु-वाणी का साकार रूप है।

विनय है कि आचार्य श्री हम नवयुवक मण्डल के समस्त सदस्यों पर कृपा करें जिससे जिनेन्द्रभक्ति में हमारा अनुराग दिनानुदिन वृद्धिगत हो।

आचार्य श्री स्वस्थ निरोग जीवन का लाभ प्राप्तकर अहर्निश जिनशासन की प्रभावना करते रहें।

श्री चरणों में शत शत वन्दना अभिनन्दना अभिवन्दना।

कृतज्ञता :

इस महनीय कार्य में हमें प० पू० आ० क० श्री श्रुतसागरजी महाराज का मंगलमय आशीर्वाद सदैव प्राप्त होता रहा है तथा उन्हीं के सान्निध्य मे युवा मुनि श्री वर्धमान सागरजी महाराज के साथ बैठकर ग्रन्थ का यह रूप प्रगट होने का सत्परामर्श प्राप्त हुआ है। सत्परामर्श ही नहीं सम्पूर्ण सामग्री का वाचन भी इन्हीं पूज्य चरणों में बैठकर हुआ है। अतः इस महान् कार्य के सुचारु सम्पन्न होने में आचार्य कल्प श्री एवं मुनि श्री का सान्निध्य एवं उनका मंगल आशीर्वाद ही हमारा प्रबलतम सम्बल रहा है। प० पू० आचार्यकल्प श्री एवं मुनि श्री के परम पावन चरणों में शत शत वन्दन पुरस्सर अपनी भावभीनी श्रद्धाभिव्यक्ति करते हुए युगल मुनिराज के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करते हैं।

इसी सन्दर्भ में हम विद्वद्वर्य डॉ० पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर का भी स्मरण करना चाहेंगे कि डॉ० सा० ने समय-समय पर हमें प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अपना परामर्श प्रदान किया है।

अभिवन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति का गठन :

आचार्य श्री की अभिवन्दना हेतु अभिवन्दन ग्रन्थ निर्माण के निर्णय के साथ-साथ ही अभिवन्दन समिति का गठन भी एक महत्वपूर्ण कार्य था। चूंकि आचार्यदेव समस्त देव-शास्त्र-गुरुभक्त समाज के परम आराध्य आचार्य परमेष्ठी हैं इसलिए प्रारम्भ से ही यह मनोभावना रही कि आचार्य श्री के अनुपम व्यक्तित्व के प्रति किया जाने वाला यह अभिवन्दन समारोह किसी एक संस्था विशेष के माध्यम से न होकर समग्र-देव-शास्त्र-गुरु भक्त दिगम्बर जैन समाज की अखिल भारतवर्षीय समस्त प्रतिनिधि संस्थाओं को एक साथ इस महान कार्य को सुसम्पन्न करने में अपना हार्दिक योगदान देने का मंगलमय प्रसङ्ग प्राप्त हो सके। अपनी इसी मनोभावना को मूर्तरूप प्रदान करने हेतु अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, दि०जैन विद्वद् परिषद्, श्री शान्तिवीर दि० जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा, दि० जैन शास्त्री परिषद्,

श्री दि० जैन महासमिति, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ रक्षा कमेटी बम्बई, श्री दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान हस्तिनापुर, अखिल भारतीय जैन परिषद्, दि० जैन सम्मेलन कलकत्ता, अखिल: भारतवर्षीय दि० जैन युवा परिषद्, शान्तिवीर दि० जैन संस्थान श्री महावीरजी आदि संस्थाओं के विशिष्ट पदाधिकारी गणों को "आचार्य श्री धर्मसागर अभिवन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति" के अन्तर्गत प्रतिनिधित्व देने हेतु उन सामान्य जनों से सम्पर्क स्थापित किया गया तथा इन संस्थाओं के अतिरिक्त समग्र दि० जैन समाज के मूर्धन्य विद्वान् एवं श्रीमन्तों से भी पत्राचार के माध्यम से सम्पर्क स्थापित कर ६८ व्यक्तियों की एक समिति का चयन किया गया, जिसके संरक्षक पद को स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति स्वामि (श्रवणबेलगोला) ने ग्रहण किया एवं साहू श्री श्रेयासप्रसादजी को अध्यक्ष पद के लिए मनोनीत किया। समिति के सदस्य एवं पदाधिकारियों की नामावली भी साथ में प्रकाशित है। दिगम्बर जैन संस्थाओं के प्रतिनिधित्व के साथ-साथ सम्पूर्ण देश के विभिन्न प्रान्तों के लोगों को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त हो इसका लक्ष्य अवश्य रखा गया है। समिति निर्माण के इस महत्वपूर्ण कार्य में हमें आशीर्वादात्मक सहयोग श्रीमान् हरखचन्दजी सरावगी, अमरचन्दजी सा० पहाड़िया, कल्याणचन्दजी पाटनी कलकत्ता, श्री चैनरूपजी बाकलीवाल डीमापुर, श्री उम्मेदमलजी पांड्या दिल्ली आदि का प्राप्त हुआ है। इन विशिष्ट लोगों के सत्परामर्श से ही समिति निर्माण का कार्य सम्पन्न हो सका। इन समस्त लोगों के प्रति भी हम अपना विनम्र आभार अभिव्यक्त करते है।

आभार :

सर्व प्रथम हम इस महायोजना के सूत्रपात कर्ता श्री ब्र० धर्मचन्दजी जैन शास्त्री के अत्यन्त आभारी हैं कि जिन्होने अपने युवा हृदय में उद्भूत योजना से हम युवकों को अवगत किया एवं सर्वप्रथम हमें इस महान् कार्य को सम्पन्न कराने में प्रोत्साहित करते हुए न केवल अपना स्नेह बल ही प्रदान किया अपितु इस महान ग्रन्थ के सम्पादन जैसा गुरुतर भार का उत्तरदायित्व भी वहन करने की अति कठिन जिम्मेदारी का भार अपने ऊपर लेकर हम पर बहुत बड़ा उपकार किया है।

अपनी सीमाओं को जानते हुए भी गुरुजनों के आशीर्वाद एवं समाज के वयोवृद्ध अनुभवी प्रतिष्ठित लोगों के द्वारा प्राप्त मार्गदर्शन ही हम बालकों का सम्बल रहा है। जब यह कार्य नवयुवकमण्डल ने अपने हाथ में लिया तो सर्वप्रथम हमारे समक्ष आर्थिक स्रोत एक समस्या थी जिसका समाधान समाज के उदार दानी महानुभावों से सम्पर्क स्थापित करने पर स्वयमेव होता चला गया। उदारमना श्रीमन्त मिश्रीलालजी काला कलकत्ता, श्री हरकचन्दजी सरावगी कलकत्ता, श्री अमरचन्दजी पहाड़िया कलकत्ता, श्री निर्मलकुमारजी सेठी लखनऊ, श्री पूनमचन्दजी गंगवाल झरिया, श्री उम्मेदमलजी पांड्या दिल्ली, श्री सीतारामजी पाटनी कलकत्ता, श्री नागरमलजी जैन कलकत्ता, श्री चन्दनमलजी जैन मनीपुर, श्री कल्याणमलजी झांझरी कलकत्ता, श्री पन्नालालजी सेठी डीमापुर आदि दानवीरों को स्मरण करते हुए अत्यन्त ही प्रसन्नता होती है, जिनका आर्थिक सम्बल ही हमें इस मंजिल तक पहुंचा पाया। श्रीमान् उमरावमलजी गोधा, जयपुर का भी स्नेह हमें प्रेरणाप्रद रहा, जिनके निवास पर ग्रन्थ प्रकाशन का कार्यालय संचालित करने में न केवल तन मन धन से सहयोग रहा अपितु अमूल्य सुझाव भी हमें समय समय पर प्राप्त होते रहे हैं।

धन्यवाद :

ग्रन्थ प्रकाशन के महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करने में जो अभूतपूर्व सहयोग प्राप्त हुआ है, उसे लिख पाना तो हमारे लिए असम्भव है फिर भी हम उन सभी महानुभावों को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते जिनके लेख, कविता तथा श्रद्धासुमन एवं सम्मतियों से ही यह ग्रन्थ आप सबके हाथों में है। उन सभी ने जो परिश्रम कर ग्रन्थ को महान् उपयोगी बनाया है वह आप सबके सामने है। ग्रन्थ प्रकाशन की रूपरेखा एवं इस ओर प्रेरित करने के लिए हम श्रीमान ब्र० धर्मचन्दजी शास्त्री एवं श्रेष्ठी श्री अमरचन्दजी पहाड़िया कलकत्ता व श्रेष्ठी श्री उम्मेदमलजी पांड्या दिल्ली, श्रेष्ठी श्री निर्मलकुमारजी सेठी लखनऊ आदि के प्रति हम श्रद्धावनत है। श्री दि० जैन नवयुवक मंडल कलकत्ता के हमारे सभी साथी सदस्य जो हमारे अध्यक्ष श्री विमलकुमार जी पाटनी के नेतृत्व में पूर्ण निष्ठा एवं लगन के साथ ग्रन्थ के प्रकाशन मे सतत संलग्न रहे और अपने संकल्प को पूर्ण करने के लिए तन मन धन से जुटे रहे, उन्हें धन्यवाद देना तो अपने आपको ही धन्यवाद देना होगा परन्तु उनकी धार्मिक भावना एवं लगन की प्रशंसा किये बिना नही रह सकता। ग्रन्थ के प्रकाशन में मुद्रण के सुन्दर कार्य को जिस तत्परता एवं विवेक से सम्पन्न किया है उसके लिए हम श्री पाँचूलालजी बैद कमल प्रिन्टर्स मदनगंज—किशनगढ़ को धन्यवाद अर्पित करते हुए उनके मुद्रण की प्रशंसा किये बिना नही रह सकते।

अन्त में, पुन: उन आचार्य श्री के चरण कमलों में हम सबका श्रद्धावनत नमोऽस्तु अर्पित है, जिनकी चारित्रिक ऊंचाइयों के कारण ही हम सब इस ओर अग्रसर हुए और भारत के अनेकानेक विद्वानों, श्रेष्ठियों एवं सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का ऐसा अद्भुत स्नेह प्राप्त हुआ है जिसकी हमें स्वप्न मे भी कल्पना नही थी। हम श्रीमद्देवाधिदेव १००८ श्री जिनेन्द्रदेव से यही प्रार्थना करते हैं कि हमें भविष्य मे ऐसे ही अन्य कार्यों के लिए प्रेरणा प्राप्त होती रहे तथा हमारे हृदय सदैव धार्मिक संस्कारों से परिपूर्ण होते हुए देवशास्त्र गुरु की भक्ति मे लीन रहे, इसी भावना के साथ—

कलकत्ता
महावीर निर्वाण दिवस
२७ अक्टूबर १९८१

विनीत :
अजीतकुमार पाटनी
संयोजक

आचार्य श्री धर्मसागर अभिवन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति

संरक्षक :

१ स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति स्वामि, श्रवणबेलगोला

अध्यक्ष :

२ साहू श्रेयांसप्रसाद जैन, बम्बई

वरिष्ठ उपाध्यक्ष :

३ सर सेठ भागचन्द सोनी, अजमेर

उपाध्यक्ष :

४ रायबहादुर हरखचन्द पांड्या, रांची
५ श्री हरखचन्द सरावगी, कलकत्ता
६ श्री अमरचन्द पहाड़िया, कलकत्ता
७ श्री निर्मलकुमार सेठी, लखनऊ
८ श्री मदनलाल चांदवाड़, रामगंजमंडी
९ श्री उम्मेदमल पांड्या, दिल्ली
१० श्री पूनमचन्द गंगवाल, भरिया
११ श्री गणपतराय काला, कलकत्ता
१२ श्री रमेशचन्द पी० एस० मोटर्स, दिल्ली

संयोजक :

१३ श्री अजीतकुमार पाटनी, कलकत्ता
१४ श्री विमलकुमार पाटनी, कलकत्ता

सदस्य :

१५ ब्र० लाडमलजी, संघस्थ
१६ ब्र० सूरजमलजी, निवाई
१७ ब्र० नेमीचन्दजी बड़जात्या, कलकत्ता
१८ श्री लालचन्द हीराचन्द दोशी, बम्बई
१९ श्री राजकुमार सिंह कासलीवाल, इन्दौर
२० श्री लक्ष्मीचन्द छाबड़ा, गौहाटी
२१ श्री श्रीपत जैन, अजमेर
२२ श्री सुनहरीलाल जैन, आगरा
२३ श्री वीरेन्द्र कुमार हेगड़े, धर्मस्थल
२४ श्री बद्रीप्रसाद सरावगी, पटना
२५ श्री त्रिलोकचन्द कोठारी, कोटा
२६ श्री गणेशीलाल रानीवाला, कोटा
२७ श्री चैनरूप बाकलीवाल, डीमापुर
२८ श्री पन्नालाल गंगवाल, कलकत्ता
२९ श्री गणपतराय सरावगी, गौहाटी
३० श्री श्यामलाल ठेकेदार, दिल्ली
३१ श्री पन्नालाल सेठी, डीमापुर
३२ श्री सीताराम पाटनी, कलकत्ता
३३ श्री अक्षयकुमार जैन, दिल्ली
३४ डॉ० पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर
३५ पं० सुमेरुचन्द्र दिवाकर, सिवनी
३६ पं० लालबहादुर शास्त्री, दिल्ली
३७ पं० नाथूलाल शास्त्री, इन्दौर
३८ पं० बाबूलाल जैन, बड़ौत
३९ पं० हेमचन्द्र शास्त्री, अजमेर
४० ब्र० धर्मचन्द्र जैन शास्त्री, संघस्थ
४१ ब्र० मोतीचन्द जैन सर्राफ शास्त्री, हस्तिनापुर
४२ पं० मनोहरलाल शास्त्री, रांची
४३ श्री हीरालाल रानीवाला, जयपुर
४४ श्री अभयकुमार कासलीवाल, बम्बई
४५ राजवैद्य शांतिप्रसाद जैन, दिल्ली
४६ श्री मोतीलाल मींडा, उदयपुर
४७ श्री बाबूलाल पाटोदी, इन्दौर
४८ श्री राजमल जवेरी, बम्बई
४९ श्री रूपचन्द्र कटारिया, दिल्ली
५० श्री नागरमल जैन, कलकत्ता
५१ श्री झूमरमल बगड़ा, सुजानगढ़
५२ श्री कल्याणचन्द पाटनी, कलकत्ता
५३ श्री भागचन्द पाटनी, कलकत्ता
५४ श्री उमरावमल गोधा, जयपुर
५५ श्री चन्दनमल जैन, मणिपुर
५६ श्री मानमल झाझरी, कोडरमा
५७ श्री सुमेर कुमार जैन, जयपुर
५८ श्री कमलकुमार जैन, कलकत्ता
५९ श्री धन्नालाल काला, कलकत्ता
६० श्री कल्याणमल झाझरी, कलकत्ता
६१ श्री सुभाष जैन, दिल्ली
६२ श्री राजेन्द्रकुमार जैन, कलकत्ता
६३ श्री विजेन्द्रकुमार सर्राफ, दिल्ली
६४ श्री कैलाशचन्द जैन सर्राफ, टिकैतनगर
६५ श्री माणकचन्द वीरचन्द गांधी, फलटन
६६ श्री प्रद्युम्नकुमार बजाज, मुजफ्फरनगर
६७ डा० चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर
६८ श्री राजकुमार सेठी, आसाम

आद्य मिताक्षर

वर्तमान दिगम्बर जैन साधु, परम्परा मूलसंघी तथा कुन्दकुन्दाम्नायी कहलाती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार के चारित्राधिकार, चारित्रपाहुड़, बोधपाहुड़, भावपाहुड़ और लिङ्गपाहुड़ में मुनियों के लिए जो पद पद पर उद्‌बोधित किया है उससे अवगत होता है कि वे दिगम्बर जैन साधु के जीवन में रञ्चमात्र भी शिथिलता को सहन नहीं करते थे। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इस युग में दिगम्बरत्व का संरक्षण और निर्विकृतिकरण आचार्य कुन्दकुन्द ने ही किया है। इसीलिये तो उनका पुण्य स्मरण भगवान् महावीर और गौतम गणधर के साथ किया जाता है—

मङ्गलं भगवान्वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैन धर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥

संसारी प्राणी अनादिकाल से जन्म-मरण के दुःख उठाता हुआ उनमें ऐसा रच-पच गया है कि उसे आत्मा के जन्ममरणातीत शुद्धस्वभाव की प्रतीति ही नहीं होती। मैं भी अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठियों के समान सदा के लिये जन्म मरण के दुःख से निर्मुक्त हो शाश्वत सुख प्राप्त कर सकता हूं यह विचार सन्तति भी उसकी उत्पन्न नहीं होती। जिनका संसार परिभ्रमण अल्प रह गया है ऐसे विरले जीवों को ही यह विचार आता है कि जब हमारे ही नहीं, श्वास के अठारहवें भाग प्रमाण क्षुद्र आयु के धारक निगोदिया जीवों में से भी निकल कर अनन्तानन्त जीव संसार-चक्र को नष्ट कर मुक्ति का शाश्वत सुख प्राप्त कर चुके है तब मैं क्यों पुरुषार्थहीन-कायर बन कर यहीं पड़ा हुआ हूं। मनुष्यभव एक ऐसी पर्याय है कि जिससे ही मुक्ति पद प्राप्त किया जा सकता है। अन्य पर्यायों से नहीं। मुक्ति का साधक एक संयम-भाव ही है और वह संयम-भाव मनुष्य के सिवाय किसी अन्य पर्याय में सुलभ नहीं है।

समयसार के मोक्षाधिकार में कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि जिस प्रकार बन्धन में पड़ा व्यक्ति बन्धन के कारण तथा उसकी तीव्र, मन्द और मध्यम अवस्था को जानता हुआ भी जब तक बन्धन को काटने का पुरुषार्थ नहीं करता तब तक बन्धन से रहित नहीं हो सकता उसी प्रकार कर्म-बन्धन, उसकी स्थिति और तीव्र, मन्द, मध्यम अनुभाग को जानने वाला सर्वार्थसिद्धि का अविरत सम्यग्दृष्टि अहमिन्द्र अनवरत तेतीस सागर तक तत्त्व-चर्चा करके भी बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ जब तक सम्यक् चारित्र प्रकट नहीं होता तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती और सम्यक्चारित्र के प्रकट होने पर यह जीव अन्तर्मुहूर्त के भीतर समस्त कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। आगम में क्षायिक सम्यग्दृष्टि का चतुर्थ गुणस्थान में रहने का उत्कृष्ट काल एक समय कम तेतीस सागर और अन्तर्मुहूर्त कम एक कोटिवर्ष प्रमाण बताया है। ऐसा जीव अहमिन्द्र पद में और वहां से आकर अन्तर्मुहूर्त कम एक कोटि वर्ष तक असंयमी बना रहता है, परन्तु अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में संयम धारण कर उसी अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। देखिये अन्तर्मुहूर्त की स्थिति वाले सम्यक्चारित्र की कितनी महिमा है?

क्षायिक सम्यग्दृष्टि अणुव्रत धारण नहीं करता, जब भी उसकी विरक्ति होती है, तब वह महाव्रत ही धारण करता है। प्रवचनसार के चारित्राधिकार का प्रारम्भ करते हुए श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है—

"पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छसि दुक्ख परिमोक्खं।"

यदि दुःख से छुटकारा चाहते हो तो श्रामण्य-मुनि पद को प्राप्त होओ। तात्पर्य यह है कि मुनिपद–निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा धारण किये बिना यह जीव सांसारिक दुःखों से निर्वृत्त नहीं हो सकता। अणुव्रत का धारक श्रावक सोलहवें स्वर्ग से आगे उत्पन्न नहीं हो सकता। नव–ग्रैवेयक, नवानुदिश और पञ्चानुत्तर विमानों में भी उत्पन्न होने के लिए जब महाव्रत धारण करना अनिवार्य है तब मुक्ति प्राप्ति के लिए तो आवश्यक है ही। सवस्त्र अवस्था में निर्ग्रन्थता की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

प्राकृत के 'समण' शब्द की संस्कृत छाया श्रमण, शमन और समन होती है। श्रमण का अर्थ होता है-कर्मक्षय के लिये श्रम–पुरुषार्थ करने वाला। शमन का अर्थ होता है–क्रोधादि कषायों पर विजय प्राप्त करने वाला और समन शब्द का अर्थ होता है अनुकूल–प्रतिकूल परिस्थितियों मे समता भाव–माध्यस्थभाव धारण करने वाला। इन्ही सब अर्थों को दृष्टि में रखते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है--

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंद समो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥४०॥

अर्थात् जो शत्रु तथा बन्धु वर्ग में समता भाव रखता है, जिसे सुख दुःख समान हैं जो प्रशंसा और निन्दा में माध्यस्थभाव रखता है जो पाषाण खण्ड और सुवर्ण में मध्यस्थ रहता है तथा जो जीवन और मरण में साम्यभाव से युक्त होता है वही श्रमण है। अक्षय–शाश्वत सुख कौन प्राप्त कर सकता है? इसका उत्तर कुन्दकुन्दाचार्य के शब्दों में देखिये—

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे ।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ।।१०३।।

जो मिथ्यात्वरूपी गांठ को सर्वथा नष्ट कर मुनि पद में समसुख-दुःख होता है अर्थात् सुख और दुःख में समान भाव धारण करता है वही शाश्वत-अविनाशी सुख को प्राप्त होता है ।

श्रमण पद का इच्छुक गृहस्थ बन्धुवर्ग तथा स्त्री-पुत्रादिक से विरक्त हो दीक्षाचार्य की शरण में जाता है और गद्गद स्वर में गुरु चरणों में निवेदन करता है—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किं चि ।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूपधरो ।।४१।।

अर्थात् हे प्रभो ! मैं किन्हीं अन्य का कुछ भी नहीं हूं और न कोई मेरे हैं । मैं इस बात का दृढ निश्चय कर चुका हूं तथा स्पर्शनादि इन्द्रियों पर भी मैं पूर्ण विजय प्राप्त कर चुका हूं अतः मुझे अपने चरणों मे आश्रय दीजिये । दीक्षाचार्य उसकी भावनाओं की परीक्षा कर उसे दिगम्बर दीक्षा देते हैं । आत्मकल्याण का इच्छुक श्रमण गुरु आज्ञा के अन्तर्गत अपनी चर्या का निर्दोष पालन करता है । ज्ञान-ध्यान और तपश्चरण ही उसकी आत्मसाधना के साधन होते हैं । ज्ञानाराधना की प्रभुता बतलाते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स ।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ।।३६।।

जिस साधु की दृष्टि आगम पूर्वक नही है उसके संयम नहीं है ऐसा शास्त्र कहते है अतः संयम रहित मनुष्य श्रमण कैसे हो सकता है ?

श्रमण के लिये न केवल आगम ज्ञान आवश्यक है अपितु श्रद्धा और संयम का प्राप्त करना भी उतना ही आवश्यक है । जैसा कि कहा है—

णहि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि हि णत्थि अत्थेसु ।
सद्दहमाणो जीवो असंजदो वा ण णिव्वादि ।।३७।।

यदि जीवाजीवादि तत्त्वों का श्रद्धान नहीं है तो मात्र आगम ज्ञान से वह जीव सिद्ध होने वाला नहीं है तथा तत्त्वों की श्रद्धा करने वाला प्राणी यदि असंयत है-चारित्र से रहित है तो वह भी निर्वाण को प्राप्त नहीं हो सकता । परमार्थ यह है कि जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से युक्त होता है उसका ही श्रामण्य-मुनिपन पूर्णता को प्राप्त होता है । जैसा कि कहा गया है—

दंसण णाण चरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ।।

अर्थात् जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों में युगपत् प्रवर्तता है वह एकाग्रता को प्राप्त होता है ऐसा माना गया है और उसी का श्रामण्य-

मुनिपना पूर्णता को प्राप्त होता है। मुनिपद का प्रयोजन निर्वाण धाम को प्राप्त करना है। अविरत सम्यग्दृष्टि अवस्था में जो इसकी ज्ञान और वैराग्य शक्ति प्रस्फुटित होती है उसी का पूर्ण विकास मुनिपद में होता है। ज्ञान शक्ति का पूर्ण विकास केवलज्ञान होने पर और वैराग्यशक्ति का पूर्ण विकास परमयथाख्यातचारित्र में होता है और इन दोनों का पूर्ण विकास होते ही यह जीव संसार परिभ्रमण से मुक्त हो जाता है।

इस अणुव्रत और महाव्रत रूप चारित्र को एकान्ततः संसार का कारण बतलाकर उसकी संवर और निर्जरा की कारणता को गौण कर देना करणानुयोग की अवहेलना है। आगम में अणुव्रत और महाव्रत को क्षायोपशमिक भावों में परिगणित किया गया है और क्षायोपशमिक भाव बन्ध का कारण होता नहीं है। पारिणामिक भाव को छोड़कर शेष औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक ये चार भाव कर्मसापेक्ष हैं। इनमें से मात्र औदयिक भाव ही बन्ध का कारण माना गया है,[1] शेष तीन भाव नहीं। पारिणामिक भाव तो बन्ध का कारण होता ही नहीं है। यह बात जुदी है कि अणुव्रत और महाव्रत के काल में भी इस जीव के गुणस्थानों की भूमिका के अनुसार तत् तत् प्रकृतियों का बन्ध होता रहता है परन्तु उसका कारण प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषाय के उदय में होने वाला औदयिक भाव ही होता है क्षायोपशमिक भाव नहीं। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर दशम गुणस्थान तक की भूमिका ऐसी भूमिका है कि जिसमें संवर निर्जरा और बन्ध–तीनो चलते है पर सबके कारण जुदे जुदे है। दशम गुणस्थानवर्ती क्षपक के जो १७ प्रकृतियों का बन्ध हो रहा है उसका कारण संज्वलन लोभ का सूक्ष्म उदय है और मोह की जो क्षपणा चल रही है उसका कारण संज्वलनातिरिक्त कषायों के क्षयोपशम से प्रकट हुआ क्षायोपशमिक भाव है।

आचार्य धर्मसागर :

वर्तमान दिगम्बर साधुओं की परम्परा परमपूज्य आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज से प्राप्त होती है। यद्यपि उनके पूर्व दक्षिण भारत में एक मुनि का वर्णन मिलता है, परन्तु मुनिधर्म का व्यवस्थित रूप आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज से ही प्रकट हुआ है। आचार्य महाराज बड़े तपस्वी कुशल समीक्षक और आगम के ज्ञाता थे। उनके पावन विहार से ही भारत वर्ष में मुनिधर्म की महिमा अंकित हुई है। आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज के पट्टधर शिष्य आचार्य श्री वीरसागर जी हुए। उनके पट्टधर शिष्य आचार्य श्री शिवसागर जी हुए और उनके समाधिस्थ होने पर आचार्य धर्मसागर जी पट्टधर आचार्य हुए है। इस प्रकार आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज, आचार्य शान्तिसागर जी के चतुर्थ पट्टधर शिष्य हैं। समय जाते देर नही लगती, इन चारों आचार्यों के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त करने वाले कितने ही भव्य मानव आज विद्यमान है।

आचार्य श्री धर्मसागर जी का जीवनवृत्त, अभिवन्दन ग्रन्थ के पृष्ठों में पाठक स्वयं पढ़ेंगे इसलिये प्रस्तावना की पंक्तियों में उसे पुनरुक्त करना उचित नहीं

---

१ मोक्षं कुर्वन्ति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधाः।
बन्धमौदयिको भावो निष्क्रियः पारिणामिक.॥

जान पड़ता, इतना अवश्य कहना चाहता हूं कि आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज सदा निर्द्वन्द्व और निर्विकल्प रहने वाले साधु हैं। जब वे आचार्य नहीं थे तब सन् ६३ में उनका श्री १०८ सन्मतिसागरजी और दिवंगत श्री १०८ पद्मसागरजी के साथ सागर में चातुर्मास हुआ था। चार माह तक उनकी निर्द्वन्द्व और निराकुल चर्या को देखकर बड़ी प्रसन्नता होती थी। वे सागर विद्यालय के तत्कालीन प्राचार्य स्व० पं० दयाचन्द्रजी के साथ राजवार्तिक का स्वाध्याय करते थे। श्री पद्मसागरजी को बोलने का अभ्यास कम था, परन्तु सन्मतिसागरजी और धर्मसागरजी को अच्छा अभ्यास था। चार महीनों के लिये मैंने व्यवस्था बना रखी थी कि प्रात:काल एक स्थानीय विद्वान का क्रम से शास्त्र-प्रवचन और उसके बाद सन्मतिसागरजी तथा धर्मसागरजी का उपदेश हो। सब कार्यक्रम वर्णी भवन के प्रांगण में चलता था। हजारों की संख्या में जनता उपस्थित होकर धर्मलाभ लेती थी। उस चातुर्मास की उपलब्धि थी कि दि० जैन महिलाश्रम की प्रधानाध्यापिका सुमित्रा बाई जी ने विरक्ति की ओर अपना पद आगे बढ़ाया और पपौरा के चातुर्मास में आचार्य शिवसागरजी महाराज से आर्यिका दीक्षा ग्रहण की। यही विशुद्धिमती माता के नाम से प्रसिद्ध हैं।

आचार्य बनने के पूर्व उक्त तीनों मुनियों के सागर जिला के अन्तर्गत शाहगढ़, सागर और खुरई में चातुर्मास हुए और जैनाजैन जनता में अच्छी धर्म प्रभावना हुई। वे सदा शान्त और प्रसन्न मुद्रा में रहते हैं। आचार्य पद के दायित्व को वे आत्मसाधना में बाधक समझते रहे हैं। एक बार मैं टोंक गया था। वहां स्व० सेठ हीरालाल जी पाटनी निवाई वालों के चौका में महाराज का आहार हुआ। आहार देने का मुझे भी अवसर प्राप्त हुआ। मेरे साथ स्व० पं० मुन्नालालजी समगौरया और सागर विद्यालय के मंत्री धर्मचन्दजी सोधिया भी थे। महाराज ने हम तीनों के हाथ से आहार लिया। टोंक में विशाल दीक्षा समारोह हो रहा था जिसमे चार दीक्षाएं होना था, दीक्षा के प्रसंग में मैंने अपने भाषण में प्रस्ताव रक्खा कि साधु को आचार्य बनने के लिये किसी महानुभाव को दीक्षा देना आवश्यक माना जाता है। यह आवश्यक काम आज पूर्ण हो चुका है अत: श्री धर्मसागर जी महाराज को आचार्य पद से अलंकृत करना चाहिए। मेरा प्रस्ताव सुनकर महाराज चौक कर बोले–नहीं भाई। मुझे आचार्य नहीं बनना है, मैं मुनि ही रहना चाहता हूं। तात्पर्य यह है कि जनता की इच्छा रहते हुए भी महाराज ने आचार्य पद स्वीकृत नहीं किया।

वह एक विशेष परिस्थिति ही समझना चाहिए कि महावीर जी में जब आचार्य शिवसागर जी का आकस्मिक समाधिमरण हो गया तब उपस्थित साधु समुदाय और जनसमूह की बहुत भारी प्रार्थना को अनिच्छा से स्वीकृत कर आचार्य पद ग्रहण किया था। उस समय यह संघ एक विशाल संघ के रूप में था। ५० के करीब पिच्छीधारी इस संघ में थे परन्तु अब कई भागों में विभक्त हो गया। विभक्त हो जाने पर भी सब की एक व्यवस्था और एक आम्नाय है। शीतकाल में कपड़े की झुग्गी लगवाना या विहार काल में चौका साथ ले जाना आदि कार्य इस संघ में अब भी नहीं चलते हैं। जिस नगर में तेरह या बीस जो भी पंथ चलता है उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाता। संघ में चलने वाली प्रतिमा पर ही अभिषेक या पूजन अपनी मान्यता के साथ करने की पद्धति है।

अनेक जगह और अनेक मुनिसंघों में जाने का अवसर मिला, परन्तु किसी के मुख से आचार्य धर्मसागरजी महाराज के विपरीत एक भी शब्द सुनने को कभी भी नहीं मिला। पाठक देखेंगे कि इस अभिनन्दन ग्रन्थ के पृष्ठों पर लेखकों ने किस भक्ति और श्रद्धा के साथ हार्दिक भक्ति और धर्मानुराग प्रकट किया है। धन्य है महाराज की यशस्कीर्ति का प्रभाव कि छिद्रान्वेषियों से भरे हुए इस जगत् में आचार्य महाराज का छिद्र-दोष किसी से सुनने को नहीं मिल रहा है।

अभिवन्दन ग्रन्थ :

"अभिवन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है" जब आचार्य महाराज को विदित हुआ तब उन्होंने इसका विरोध किया, परन्तु जब आयोजकों ने बताया कि महाराज जी ! भक्तों को अपने भक्ति के कण प्रकाशित कराने का अधिकार है इसे आप क्यों रोक रहे है ? और फिर ग्रन्थ मे मात्र भक्ति का ही तो प्रकाशन नही होगा, साथ में सैद्धान्तिक और दार्शनिक, अनेक लेखो का संकलन भी रहेगा। जब कही आचार्य महाराज एकदम तटस्थ रहे है, अन्यथा उनका विरोध का भाव ही था।

अभिवन्दन ग्रन्थ प्रकाशन का उपोद्घात कहा से हुआ ? किसने किया ? यह मै नहीं जानता, परन्तु साधुसंघ मे रहने वाले पं० धर्मचन्द्र जी शास्त्री का जब प्रथम पत्र मेरे पास आया कि आचार्य धर्म सागर अभिवन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जाना है आपका सहयोग अपेक्षित है। तब मैने शास्त्री जी को उत्तर लिखा कि आचार्य महाराज के व्यक्तित्व और गरिमा को देखते हुए साधारण सा अभिवन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन करने की अपेक्षा नहीं करना ही अच्छा होगा। शास्त्री जी ने लिखा कि इस योजना मे बड़ी बडी शक्तिया सम्मिलित है अतः ग्रन्थ का प्रकाशन आचार्य महाराज की गरिमा के अनुरूप ही होगा, उनका यह उत्तर पाकर मैं आश्वस्त हुआ।

धर्मचन्द्र जी शास्त्री को एक निरीह बालक अवस्था में आचार्य संघ के संरक्षण मे रक्खा था तब, जबकि आचार्य महाराज सागर मे विहार करते हुए टड़ा ग्राम में पहुचे थे। बालक को होनहार जानकर महाराज ने अपने संघ मे रख लिया तथा उसके शिक्षण आदि की व्यवस्था कराई, धर्मचन्द्र कुशाग्र बुद्धि और मिलनसार प्रकृति का बालक था इसलिये उसे सब साधु संघों मे स्नेह प्राप्त हुआ। सभी आर्यिका-संघों मे उसे मातृवत् स्नेह प्राप्त हुआ। प्रकट करते हुए प्रसन्नता होती है कि इस बालक ने संघ मे रहकर ज्योतिषाचार्य परीक्षा पास की है साथ मे जैन सिद्धान्तशास्त्री और प्रतिष्ठा विषयक ज्ञान भी प्राप्त किया है। अब बालक धर्मचन्द्र, समाज में प० धर्मचन्द्र शास्त्री के नाम से जाना जाता है। इस अभिवन्दन ग्रन्थ की योजना को प्रचारित और प्रसारित करने में पं० धर्मचन्द्र जी शास्त्री का बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। हजारों पत्र लिख कर इन्होंने जहां विद्वान् लेखकों से लेखों का सकलन किया है वहां धनिक वर्ग में संपर्क साधकर प्रकाशन की व्यवस्था को भी सुकर बनाया है।

लेखों का परीक्षण और निरीक्षण :

लेखो का परीक्षण और निरीक्षण आचार्यकल्प श्रुतसागर जी और उनके सहयोगी श्री वर्द्धमानसागर जी महाराज यदि नहीं करते तो आज इस अभिवन्दन ग्रन्थ को जो महत्त्व और गौरव प्राप्त है वह प्राप्त नही होता। दोनों ही महाराजों ने प्रत्येक

लेख की एक एक पंक्ति को पढ़ा है संशोधन की आवश्यकता दिखने पर उचित संशोधन कराया है । जो लेख किसी जगह प्रकाशित हो चुके थे उन्हें अग्राह्य कोटि मे रक्खा। जिन विषयों के लेख देना आवश्यक दिखा उन्हें पत्र लिखवाकर लिखाया । इतनी क्षमता अन्य किस संपादक मे है ? वे तो लेखक का नाम देख, मात्र पृष्ठ गिनकर प्रकाशन के योग्य समझ लेते है । ग्रन्थ के सपादन के दौर में पूज्यवर दोनों महाराजों ने मुझे बुलाया और ग्रन्थ की लेखादि सामग्री के सम्बन्ध मे विचार किया है । धन्य है इन अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी साधुओं को, जिनका संपूर्ण समय ज्ञान की आराधना ही में व्यतीत होता है । आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज का प्रथम साक्षात्कार करने का सौभाग्य मुझे आचार्य श्री शिवसागरजी के ससंघ सन् ६४ के लगभग खानिया-जयपुर के चातुर्मास मे प्राप्त हुआ था तब से अब तक उनका धर्म-स्नेह मुझे मिलता रहता है और इसी कारण सघ मे जब तब पहुंचने का अवसर प्राप्त होता ही रहता है ।

ग्रन्थ के प्रकाशन को अर्थ व्यवस्था का भार कलकत्ता की श्रद्धालु समाज की युवा पीढ़ी की सस्था दिगम्बर जैन नवयुवक मण्डल ने अपने ऊपर ले लिया इसलिये इस ओर से निश्चिन्त हो योग्य सामग्री के चयन की ही चिन्ता करनी पड़ी । अर्थ की कमी नहीं रहने के कारण किसी आवश्यक विषय को अछूता छोड़ने का प्रसंग नही आया ।

ग्रन्थ परिचय :

ग्रन्थ के ७ भाग है । प्रत्येक भाग का विषय, विषय सूची से स्पष्ट है । प्रथम भाग में साधुवर्ग, आर्यिकासमूह, विद्वद्वर्ग, श्रेष्ठिगण और श्रद्धालुजनों ने पूज्य आचार्य महाराज के प्रति जो श्रद्धासुमन अभिव्यक्त किये है उन्हें पढकर हृदय गद्गद् हो जाता है । पूज्य श्री १०८ मुनि वर्धमानसागरजी ने अपने लेख में आचार्य महाराज का समग्र जीवन वृत्त बडी ही मधुर भाषा मे अंकित किया है । संस्मरणों के लेखकों ने भी भक्ति से आप्लुत हृदय हो जो उद्गार प्रकट किये है वे पाठक के मानस को आनन्दविभोर करने में सक्षम हैं ।

सस्कृत और हिन्दी भाषा के मान्य कवियो ने भक्ति मन्दाकिनी के जिस पावन प्रवाह को प्रवाहित किया है उसमे कौन सहृदय पाठक अवगाहन नहीं करना चाहेगा । "लेखमाला-धर्म दर्शन एवं सिद्धान्त" शीर्षक स्तम्भ में मान्य विद्वानों ने गम्भीर चिन्तन के साथ विविध विषयों पर प्रकाश डाला है । सबसे बड़ा स्तम्भ है यह । स्तम्भ क्या है संपूर्ण अभिवन्दन ग्रन्थ का मर्मस्थल है । किसी खास लेखक की चर्चा कर अन्य लेखकों की प्रतिष्ठा को मैं हानि नहीं पहुंचाना चाहता । जिस लेखक ने जिस विषय को लिया है उस पर उसने विशद और गंभीर चर्चा की है । इस अभिवन्दन ग्रन्थ के माध्यम से यह पठनीय सामग्री युग युगों तक सुरक्षित रहेगी ।

"विविध लेखमाला" शीर्षक स्तम्भ में साधु विहार, जिनभक्ति, गणित, इतिहास, भूगोल, व्रत, चारित्र, अनुयोग, आदि विषयों पर विद्वान लेखकों के विविध लेख प्रकाशित हैं । इन लेखों में श्री डा० मुकुटविहारीलाल अग्रवाल आगरा का "जैनगणित में श्रेणीव्यवहार शीर्षक" लेख गम्भीर चिन्तन से ओत प्रोत है । लेखक ने जैनगणितशास्त्रों का तलस्पर्शी अध्ययन कर एक मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है । इस स्तम्भ में पूज्य आर्यिका माताओं, क्षुल्लिकाओं तथा कुमारी बालिकाओं ने भी विविध विषयों पर लेख लिखकर अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं ।

अन्तिम खण्ड में ज्योतिष, मन्त्र यन्त्र तन्त्र, प्रतिष्ठा आयुर्वेद विज्ञान आदि लौकिक विषयों पर लेख संकलित किये गये हैं। लेखों की यथार्थता सिद्ध करने का दायित्व लेखक का अपना है। संपादक ने विविध चिन्तनों को अनुक्रम से एकत्रित करने का प्रयास किया है।

चित्रावली--चर्चा :

इस अभिनन्दन ग्रन्थ में पूज्य आचार्य धर्मसागरजी महाराज से सम्बन्ध रखने वाले अनेक चित्र प्रकाशित किये जा रहे हैं। इनका संकलन करना कठिन होता यदि भक्त श्रद्धालु अपने पास के चित्र भेजने की कृपा न करते। इन चित्रों में कई चित्र तो बहुत ही दुर्लभ तथा प्राचीन हैं जिन्हें प्राप्त करने में पं० धर्मचन्द्रजी शास्त्री ने अत्यन्त कठोर परिश्रम किया है। चित्र भेजने वाले महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं। इनका रंगीन प्रकाशन सुभाष जैन के सौजन्य से देहली में सम्पन्न हुआ है।

आभार प्रदर्शन :

जिस प्रकार रंग बिरंगी सुरभित पुष्पलताओं को व्यवस्थित ढंग से लगाकर उपवन को आकर्षक पर्यटन केन्द्र बनाया जाता है उसी प्रकार विविध लेखकों के लेखों को व्यवस्थित अनुक्रम से लगाकर इस ग्रन्थ को पठनीय और आकर्षक बनाया गया है। यदि यह सब लेख प्राप्त न होते तो इतना बड़ा ग्रन्थ कैसे तैयार होता? एतावता सभी लेखक महानुभावों का आभार मानता हूँ।

पं० धर्मचन्द्र जी शास्त्री ज्योतिषाचार्य का सतत् प्रयास ही इस मांगलिक कार्य में प्रेरणादायक सिद्ध हुआ है। जिसे हमने किसी समय एक निरीह बालक के रूप में देखा उसे आज एक स्फूर्ति पुञ्ज और विद्वान् के रूप में इस मांगलिक कार्य का प्रेरणादायक और स्रष्टा देखते हुए हृदय में बड़ी प्रसन्नता होती है और लगता है कि आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का वरद हस्त इसे आत्म-कल्याण के पथ में अग्रसर करेगा। आर्थिक समस्या का समाधान कर कलकत्ता की श्रद्धालु जैन समाज की युवा पीढ़ी ने दि० जैन नवयुवक मण्डल के माध्यम से ग्रन्थ के प्रकाशन में जो श्लाघनीय सहयोग दिया है उसके लिये नम्र आभार अभिव्यक्त करता हूं। लगभग एक हजार पृष्ठों के महान् ग्रन्थ को धीरज के साथ शुद्ध और सुन्दर रीति से प्रकाशित कर देना श्री पाँचूलाल जी जैन कमल प्रिण्टर्स मदनगंज-किशनगढ़ का ही कार्य है। जिन्होंने लेखों के प्रारम्भ को आकर्षक रीति से सुशोभित किया है वे धन्यवाद के पात्र है।

अन्त में त्रुटियों के लिए क्षमा याचना करता हुआ पूज्य आचार्य प्रवर धर्मसागरजी महाराज के चरणों में नम्र श्रद्धासुमन समर्पित करता हूं। प्रार्थना है—

हे प्रभो! मेरे व्रती जीवन को आपने ही प्रारम्भ किया है अतः उसे आप ही पूर्ण करने की क्षमता प्रदान कीजिये।

वर्णीभवन सागर
२ अक्टूबर १९८१

विनीत :
पन्नालाल साहित्याचार्य

विश्व ज्योति भगवान महावीर के धर्मशासन के ज्योतिर्मय प्रभापुञ्ज निर्मल चारित्र के परिपालक वर्तमान आचार्य परमेष्ठी परम पूज्य गुरुदेव श्री आचार्य धर्मसागर जी महाराज की अभिवन्दना में इस विशाल अभिवन्दन ग्रन्थ को प्रकाशित करते हुए मन में अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। प्रस्तुत अभिवन्दन ग्रन्थ की समायोजना का मूल वह श्रद्धा है जो श्रद्धेय के चरणों में हमें समर्पित करती है। श्रद्धा एक आन्तरिक बल है।

भारतवर्ष सदैव से ऋषि-महर्षियों की जन्मभूमि रहा है। यहां पर अनन्त तीर्थंकर महापुरुषों ने एवं अनन्तानन्त श्रमण (दिगम्बर मुनि) महापुरुषों ने तीर्थंकर देव प्ररूपित वीतराग जिनधर्म की छत्रछाया में अपनी आत्मसाधना करके शाश्वत मोक्ष सुख को प्राप्त किया है। उसी अक्षुण्ण श्रमण परम्परा में अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के पश्चात् उनकी वाणी का अनुगमन करने वाले अनेक ऋषि एवं महान् आचार्य हुए हैं। श्रमण संस्कृति की वह अक्षुण्ण परम्परा अद्यप्रभृति निर्बाधगत्या प्रवाहित है एवं इस पंचमकाल के अन्त तक प्रवाहित होती रहेगी। कुन्दकुन्दाचार्य देव ने कहा है—

> अज्जवि तिरयण सुद्धा अप्पा झाएवि लहदि इंदत्तं।
> लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ।।७७।। मोक्षपाहुड़।

आज भी इस कलिकाल में रत्नत्रय से शुद्ध हुए जीव आत्म-ध्यान कर इन्द्र पद तथा लौकान्तिक देवों के पद को प्राप्त होते हैं और वहां से च्युत होकर निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

गुणधराचार्य, धरसेनाचार्य, पुष्पदन्त, भूतबली, कुन्दकुन्द देवाचार्य, उमास्वामि आचार्य की इस श्रमण परम्परा में समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंकदेव, विद्यानन्द स्वामी, वीरसेनाचार्य, जिनसेन स्वामी, अमृतचन्द्राचार्य, जयसेनाचार्य आदि सैकड़ों श्रमण ऋषिराज हुए हैं जिन्होंने अपनी ज्ञान-वैराग्य शक्ति को प्रकट कर मोक्षपथ में पदार्पण किया तथा क्षायोपशमिक-ज्ञान वैभव से अनेक ग्रन्थों की रचना करके ज्योतिर्मय वीरशासन की प्रभावना में अपना योगदान दिया है। इसी परम्परा में ईस्वी सन् की २० वीं शताब्दी में लुप्त प्रायः श्रमण संस्कृति-दिगम्बर मुनिधर्म के पुनरुद्धारक प० पू० प्रातः स्मरणीय चारित्र चक्रवर्ती आचार्यदेव श्री शांतिसागर जी

महाराज हुए हैं जिनके पुण्य प्रभाव से दक्षिण भारत में सिमटकर रह गया मुनिधर्म सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रकटित हुआ और आज यत्र तत्र सर्वत्र दिगम्बर मुनिराजों, आर्यिकाओं, क्षुल्लक, क्षुल्लिकाओं के दर्शन, धर्मोपदेश श्रवण आदि का लाभ धर्मप्राण समाज को प्राप्त हो रहा है आचार्य श्री शांतिसागरजीरूप श्रमण सूर्य का उदय आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व हुआ था और उन्होंने जो आर्षानुमोदित मुनिचर्या का स्वयं आचरण किया तथा शिष्यवर्ग को बताया उसका निर्बाधगति से परिपालन अद्यप्रभृति हो रहा है। आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज के पश्चात् उनके पट्टशिष्य आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज हुए, उनके समय में भी धर्मसंघ की अभिवृद्धि के साथ–साथ मुनिधर्म की विशेष प्रभावना हुई है। आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के पश्चात् उनके पट्टशिष्य आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज ने भी अपने पूर्वाचार्यों के अनुरूप ही धर्म-प्रभावना में अपना विशेष योगदान दिया। उनके स्वर्गस्थ होने के पश्चात् उनके आचार्य पट्ट पर पदासीन हुए आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज। आचार्य श्री शांतिसागर जी ने अपने समय में श्रमणसंस्कृति के जिस स्वर्णिम युग का पुनः सूत्रपात किया उस ज्योतिर्मय श्रमण परम्परा में वर्तमान परम्परागत चतुर्थ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज को भारतवर्षीय जैन जगत में कौन नहीं जानता। वे धर्म के प्रशान्त महासागर हैं। उनका संयमी जीवन दर्शन-ज्ञान-चारित्र की त्रिवेणी का अद्भुत संगम है। आचार्य श्री में पायी जाने वाली बालकसम निश्छलता एवं निस्पृहता, सरलता आदि से आज का समस्त जैन जगत् अत्यन्त प्रभावित है। उनके निर्मल जीवन को देखकर तथा धर्म के उन देवता के दर्शन करने, चरणसन्निधि में बैठने और हितमित प्रिय वाणी श्रवण से अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। ऐसे परम पूज्य निर्मल चारित्री गुरुदेव के आत्मिक गुणों का ही प्रकटन करने की भावना से ही इस अभिवन्दन ग्रन्थ प्रकाशन एवं अभिवन्दना महोत्सव योजना का सूत्रपात २१ माह पूर्व हुआ था आज १८ माह के पश्चात् अभिवन्दन ग्रन्थ प्रकाशन की पूर्णता को देखकर हृदय पुलकित है।

प्राथमिक प्रेरणा :

बात मार्च सन् १९८० की है, सहसा मेरे मन में विचार प्रादुर्भूत हुए कि गुरुवर्य आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज के ३० वर्षीय यशस्वी दीक्षित जीवन में उन महर्षि के द्वारा किये गये स्व–पर कल्याणकारक महनीय कार्यों को देखते हुए उनका अभिनन्दन किया जाना चाहिए। गुरुभक्ति से प्रेरित बाल हृदय में ये विचार आ तो गये, किन्तु इस महत्वपूर्ण एवं विशालतम कार्य के लिए मुझे कोई साधन दिखाई नहीं दिये। इसी चिन्ता में लगा रहा कि इस कार्य को क्रियाशील कैसे किया जावे ? अपने इन विचारों को प० पू० आ० क० श्री श्रुतसागरजी महाराज के संघस्थ युवा मुनि श्री वर्धमानसागरजी महाराज के समक्ष रखा। उन दिनों संघ "मांजो के रेनवाल" ग्राम में विराजमान था। मुनि श्री ने कहा "विचार तो अनुपम हैं, किन्तु क्रियान्वित किस प्रकार होंगे ? प्रयत्न करो यदि सफलता मिलती है तो बहुत ही अनुपमेय कार्य होगा। मुझसे अपनी मर्यादाओं के अनुरूप जो कुछ भी सहयोग बन पड़ेगा मैं देने का प्रयत्न करूंगा, किन्तु सारा कार्य तो तुम्हें करना पड़ेगा, तुम स्वयं अपनी शक्ति देख लो" आश्वस्त हुआ और मन में दृढ निश्चय कर लिया कि इस कार्य को हर सम्भव सम्पन्न करना है चाहे जितना कठोरतम परिश्रम करना पड़े। दृढ़ निश्चय तो कर लिया तथापि यह कोई ऐसा कार्य तो नहीं था जो सोचा और हो गया। इस महनीय कार्य में तो अनेकों व्यक्तियों के नानाविध सहयोगों की अपेक्षा थी। मैं अच्छी तरह परिचित था अपनी

शक्ति से और अपनी अल्प मर्यादाओं से और था भी अभी कार्यों से अपरिचित ही। खैर! मन की भावनाओं को कार्यरूप परिणत करने की अदम्य आकांक्षाओं को लेकर अब प्रतिक्षण साधनों को जुटाने की चिन्ता में ही लगा रहता था।

विचारों को मूर्तरूप :

जून १९८० में अन्तत: अभिवन्दन ग्रन्थ की रूपरेखा अपनी अल्पमति से ही तैयार की और विद्वानों से लेखादि सामग्री सम्प्रेषण हेतु पत्राचार प्रारम्भ कर दिया। इसी मध्य साधुगणों से भी श्रद्धासुमन एवं विशिष्ट लेखादि सामग्री सम्प्रेषित करने हेतु विनम्र प्रार्थनाएं पत्र द्वारा अथवा प्रत्यक्ष मिलकर कीं। इस महायज्ञ का सबसे कठिन कार्य बौद्धिक सामग्री का संकलन करना ही था। आचार्य श्री के गौरवमय जीवन के संस्मरण एवं उनके प्रति सम्प्रेष्य श्रद्धाञ्जलियां और धर्म-दर्शन-सिद्धान्त सम्बन्धी लेखों को संकलित करने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ तो लगभग २-३ माह के भीतर कल्पनातीत परिमाण में अनेक विध सामग्री प्रकाशनार्थ प्राप्त होने लगी। इसी मध्य बौद्धिक सामग्री संकलित होती देख मन में विचार आया कि 'इस महत्कार्य को सम्पन्न करने में अर्थ की भी तो आवश्यकता होगी उसे किन स्रोतों से प्राप्त किया जावे ?' इसी विचार शृङ्खला में सहसा कलकत्ता महानगर की धर्म श्रद्धा समन्वित समाज की युवापीढ़ी की ओर दृष्टि गई और युवापीढ़ी द्वारा स्थापित दि० जैन नवयुवक मण्डल को शीघ्र ही पत्र लिखा। मण्डल की कार्य समिति में विचार-विमर्श होने के पश्चात् समस्त कार्यकर्त्ताओं से स्वीकृति हो जाने पर श्री अजितकुमार पाटनी व श्री विमलकुमार पाटनी का पत्र आया कि इस मंगलमयी कार्य को पूर्ण गति प्रदान कर दी जावे ग्रन्थ प्रकाशन पर होने वाले सम्पूर्ण व्यय का भार दिगम्बर जैन नवयुवक मण्डल कलकत्ता वहन करेगा। भाई अजितजी व विमलजी के पत्र से आश्वस्त हुआ और आर्थिक समस्या से निश्चिन्त होकर कार्य करने में जुट गया।

योजना को अन्तरिम रूप :

जुलाई १९८० में आ० क० श्री १०८ श्रुतसागरजी महाराज का संघ पद्मपुरा अतिशय क्षेत्र पर पहुंचा तथा इस वर्ष का चातुर्मास योग संघ ने यहीं सम्पन्न किया। अगस्त के प्रारम्भ में ही दि० जैन नवयुवक मण्डल का एक प्रतिनिधि मण्डल विमलकुमार जी के नेतृत्व में संघ दर्शनार्थ पद्मपुरा क्षेत्र पर आया। यहीं पर प्रतिनिधि मण्डल के साथ बैठकर ग्रन्थ प्रकाशन की सारी रूप रेखा तैयार की और उसे अन्तिम रूप प्रदान किया गया। इसके साथ ही यह भी निर्णय हुआ कि 'आचार्य श्री धर्मसागर अभिनन्दन समिति' इस नाम से अभिनन्दन समिति का भी गठन हो। अखिल भारतीय स्तर की दिगम्बर जैन संस्थाओं के प्रमुख तथा समग्र भारतवर्षीय दिगम्बर जैन देव, शास्त्र, गुरुभक्त समाज के प्रमुख श्रीमंत व विद्वानों को इस समिति में लेने का निर्णय किया, क्योंकि आचार्य श्री किसी संस्था विशेष के नहीं हैं वे समग्र समाज के श्रद्धेय हैं अत: समस्त समाज की ओर से विशेष प्रतिनिधियों के माध्यम से अखिल समाज उनका अभिनन्दन करने की अधिकारी है। इसी सन्दर्भ में भट्टारक स्वस्ति श्री चारुकीर्ति स्वामी, को संरक्षक और साहू श्रेयांसप्रसाद जी को अध्यक्ष मनोनीत किया तथा जिन महानुभावों को समिति का सदस्य मनोनीत करना था उनसे सम्पर्क स्थापित कर उनकी स्वीकृति प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया। स्वीकृति आने पर उन्हें समिति का सदस्य बनाया गया। इस प्रकार समिति गठन का सारा कार्य कलकत्ता से हुआ है। मुझ पर तो ग्रन्थ प्रकाशन का भार सौंपा गया था जिसे मैंने अपनी अल्प सामर्थ्य को भी नजर अंदाज कर स्वीकार किया। दि० जैन नवयुवक मण्डल

के सदस्यों ने समय-समय पर इस महत्कार्य को सम्पन्न करने के लिए समाज के अनुभवी एवं वयोवृद्ध जनों से निरन्तर सम्पर्क रखते हुए परामर्श प्राप्त किया है इस प्रकार युवापीढी ने स्वच्छंदता का परिहार कर संगठन बद्ध होकर इस कार्य को सम्पन्न करने में मेरा पूरा सहयोग किया है । ग्रन्थ प्रकाशन का कार्य पद्मपुरा रहते हुए ही प्रारम्भ हो चुका था ।

ग्रन्थ का नाम परिवर्तन :

प्रारम्भ से यद्यपि ग्रन्थ का नाम अभिनन्दन ग्रन्थ ही रखा गया था, किन्तु मुद्रणालय में ग्रन्थ जाने से पूर्व ही कुछ लोगों ने परामर्श एवं सुझाव दिया कि आचार्य परमेष्ठी के महान पद पर स्थित आचार्य प्रभु का हम संसारी जन क्या अभिनन्दन करें वे तो अभिवन्दनीय पद पर स्वयं अपने गुणों के कारण अधिष्ठित हैं ही अतः श्रावकजन एवं साधुजन भी उनका अभिवन्दन ही कर सकते हैं । इसप्रकार आगत सुझाव पर विचार-विमर्श किया और अभिनन्दन ग्रन्थ को परिवर्तित कर ग्रन्थ का नाम ही अभिवन्दन ग्रन्थ रख दिया गया । नाम सम्बन्धी उपर्युक्त सुझाव आने पर नाम परिवर्तन करते समय स्मृति पटल पर यह भी अंकित रहा कि अभिनन्दन तो सामान्य सी बात है तथा आजकल तो राजनेता, श्रेष्ठीजन, समाज प्रमुख या विद्वानों का भी अभिनन्दन किया जाने लगा है, किन्तु आचार्य श्री परमवन्दनीय–अभिवन्दनीय पद पर प्रतिष्ठित मोक्षमार्ग के एक सजग पथिक हैं । उनकी कथनी–करनी की आदर्श समानता का अनुकरण अनेक भव्य जीव करते हैं अतएव उनकी अभिवन्दना हेतु प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ का अभिवन्दन ग्रन्थ ही नामकरण उचित एवं उपयुक्त प्रतीत होने से "आचार्य श्री धर्मसागर अभिवन्दन ग्रन्थ" यह नाम रखा गया । इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से परामर्शदाताजनों के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं ।

विषय विवेचन :

प्रस्तुत अभिवन्दन ग्रन्थ को सात विभागों में विभक्त किया गया है । दर्शन सम्बन्धी प्रमुख विषयों को विभिन्न लेखकों की लेखनी के माध्यम से प्रस्तुत करने का लक्ष्य प्रारम्भ से ही रहा । साथ ही यह भी ध्यान रखा गया कि द्वादशांग वाणी के प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग सम्बन्धी विविध विषयों का संकलन एकत्र हो जावे जिससे पाठक चारों अनुयोग के अध्ययन का आनन्द ले सकें । विभाजन के अनुसार—

प्रथमखण्ड श्रद्धासुमन खण्ड है जिसमें मुनिजन, आर्यिकावृंद, क्षुल्लकगण एवं क्षुल्लिका समुदाय ने आचार्य श्री के प्रति सभक्ति श्रद्धाप्रसून समर्पित किये हैं इसके साथ ही राजनीतिज्ञ, शिक्षाविद्, श्रेष्ठीवर्ग, विद्वद्जन और जैनेतर श्रद्धालु भक्तजनों ने भी अपनी श्रद्धा की अञ्जलियां अर्पित की हैं । इस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों द्वारा समर्पित श्रद्धा पुष्पों से ग्रथित यह प्रथम खण्ड सबसे पहले रखा गया है ।

द्वितीय खण्ड संस्मरण एवं जीवनवृत्त नामक खण्ड है । इस खण्ड में साधु एवं श्रावक समुदाय ने आचार्य श्री के जीवन सम्बन्धी प्रेरणास्पद संस्मरणों को प्रस्तुत करते हुए आचार्यदेव के अनुपम गुणों को लेखनी द्वारा सश्रद्धा अभिव्यक्त किया है । साथ ही साथ आचार्य प्रभु के समुज्ज्वल जीवन के विविध आयामों को प्रगट

करने में सक्षम जीवन चरित्र को उन्हीं के अनन्यतम शिष्य युवा मुनि श्री वर्धमानसागरजी ने प्रस्तुत किया है । अन्तिम दो लेखों में आचार्य श्री की जन्म कुण्डली का सर्वेक्षण करते हुए उनके मंगलमय जन्म समय में अवस्थित प्रबल एवं उत्कृष्ट ग्रहों का चिन्तन किया है ।

तृतीय खण्ड चित्र परिचय खण्ड के रूप में रखा गया है । इसके अन्तर्गत आचार्य श्री से सम्बन्धित उनकी क्षुल्लकावस्था से अद्यप्रभृति विभिन्न अवसरों के अनेकों चित्रों का संकलन किया गया है । आर्ट पेपर के लगभग ४० पृष्ठों का यह खण्ड चित्रों के माध्यम से आचार्य देव की दिनचर्या को प्रगट करने में सक्षम है। लगभग सभी चित्र आचार्य श्री की अन्तर-बाह्य विषाद रहित परिणति को अभिव्यक्त करते हैं ।

चतुर्थ खण्ड में विदुषी आर्यिका माताओं द्वारा संस्कृत-हिन्दी भाषा में स्तवन-स्तोत्र के माध्यम से काव्य प्रसूनाञ्जलि समर्पित की गई हैं। इसके साथ ही एक ओर जहां प्रसिद्ध विद्वानों ने भी संस्कृत रचनाओं के माध्यम से ही अपने श्रद्धासुमन समर्पित किये हैं वहीं दूसरी ओर कविताओं के द्वारा निबद्ध भक्ति पुष्प भी विभिन्न कवि हृदयों ने अर्पण कर अपनी काव्य प्रतिभा को सार्थक किया ।

इसप्रकार ग्रन्थ के प्रथम चारों ही खण्ड आचार्य श्री की जीवनगाथा को प्रस्तुत करते हैं अतः इन चारों ही खण्डों मे प्रकाशित सामग्री को प्रथमानुयोग का प्रतिनिधित्व प्रदान किया जावे तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । प्रथमानुयोग मे महापुरुषों का जीवन चरित्र ही लिखा जाता है और उसके माध्यम से सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान को भी प्रस्तुत किया जाता है। प्रथमानुयोग के रूप प्रथम चार खण्डों का संयोजन किया है जिससे पाठकगण आचार्य श्री के जीवन को विभिन्न दृष्टिकोणों से समझने में साधक सामग्री का अध्ययन कर सकेंगे ।

शेष तीन खण्डों में धर्म—दर्शन एवं सिद्धान्त, विविध तथा ज्योतिष, यंत्र—मंत्र—तंत्र—प्रतिष्ठा—मूर्ति और आयुर्वेद सम्बन्धी सामग्री का प्रस्तुतीकरण हुआ है । पंचमखण्ड धर्म-दर्शन—सिद्धान्त सम्बन्धी नानाविध विषयों का प्रतिपादन करते हुए सम्यग्दर्शन—सम्यग्ज्ञान—सम्यक्चारित्र रूप अन्तराधिकारों मे रत्नत्रय धर्म का सांगोपांग विवेचन करने वाला है । इसके अतिरिक्त इसी खण्ड में गुणस्थान, मार्गणा, लेश्या, ध्यानादि सम्बन्धी लेखों का समायोजन किया गया है । संवर तत्त्व को लक्ष्य में रखते हुए दशलक्षणधर्म, द्वादशानुप्रेक्षा एवं जैनदर्शन में तप एवं व्रतों के महत्त्व को प्रतिपादित करने वाले लेखों को भी रखा गया है । जैनदर्शन के अनुसार सूर्य चन्द्र आदि ग्रहों का अवस्थान किस प्रकार है यह बताने वाली सामग्री भी प्रस्तुत खण्ड में दी गई है । कहने का तात्पर्य यह है कि पंचम खण्ड में करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग को प्रतिपादित करने की क्षमता है ।

विविध लेखमाला नामक छठे खण्ड में जैनदर्शन सम्बन्धी अन्य विषयों पर आगत लेखों को स्थान दिया गया है । इसी खण्ड के उपान्त्य दो लेखों में से एक में तो ईस्वी सन् की २० वीं शताब्दी के परम्परागत आचार्य चतुष्टय का संक्षिप्त जीवन चरित्र प्रस्तुत करते हुए उनके द्वारा दीक्षित शिष्यावलि को मानस्तम्भाकार चित्र द्वारा दर्शाया गया है तथा एक अन्य चित्र के माध्यम से चारों ही आचार्यों के द्वारा किये गये सभी चातुर्मास स्थलों को संकलित किया है । दूसरे लेख में आचार्य श्री के क्षुल्लकावस्था

के दीक्षा गुरु प० पू० परम तपस्वी आर्षपरम्परा पोषक मुनिराज आ० क० १०८ श्री चन्द्रसागरजी (आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के शिष्य) महाराज के चन्द्रसम उज्ज्वल जीवन चरित्र को प्रस्तुत किया गया है।

सप्तम खण्ड में ज्योतिष, यंत्र, मंत्र, तंत्र आयुर्वेद का जैनदर्शन में क्या महत्व एवं स्थान है इस बात को अभिव्यक्त करने वाले लेखों को स्थान दिया गया है। साथ ही मूर्ति निर्माण एवं प्रतिष्ठा सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन करने वाले लेख भी हैं।

कृतज्ञताभिव्यक्ति :

इस महायज्ञ की सफलता के मुख्य आधार प० पू० आचार्य कल्प श्री श्रुतसागरजी महाराज एवं उनके संघस्थ मुनि श्री वर्धमान सागरजी महाराज हैं जिनके चरण सान्निध्य में बैठकर मैं इस कार्य को सम्पन्न कर सका। वस्तुतः प्रस्तुत अभिवन्दन ग्रन्थ को वर्तमानरूप प्रदान करने का सारा श्रेय तो मुनिराज युगल को ही है मैं तो नाम मात्र का संपादक हूं। लेखादि सामग्री का वाचन संशोधन आदि कार्य परम श्रद्धेय युगल गुरुदेव श्री के चरणों में बैठकर ही हुआ है। यदि आ० क० श्री एवं मुनि श्री का मंगलमय आशीर्वाद मेरा सम्बल नहीं होता तो मैं इस कार्य में सफल हो ही नहीं पाता। मैं गुरुदेव युगल के चरणों में श्रद्धावनत हू तथा उनके प्रति अपनी विनम्र कृतज्ञताभिव्यक्ति पुरस्सर परम पुनीत चरणों में शत–सहस्र प्रणाम अर्पण करता हूं। मेरे पास कृतज्ञता ज्ञापनार्थ शब्द नहीं हैं। मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि इन गुरुजनों के प्रति किन शब्दों में कृतज्ञताभिव्यक्त करूं।

उन सभी गुरुजनों, साध्वी समुदाय एवं त्यागीवृंद के प्रति भी श्रद्धावनत हूं जिन्होंने मेरी तुच्छ किन्तु विनम्र प्रार्थना को स्वीकार कर अपनी वैदुष्यपूर्ण लेखादि सामग्री भेजकर ग्रन्थ को गौरवमयी बनाने में मुझे उत्साहित किया है। गुरुजनों का वात्सल्य भी मेरा सम्बल रहा है।

डॉ० पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर का भी मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूं जिन्होंने मुझे मार्गदर्शन दिया एवं मेरे उत्साह की अभिवृद्धि की। उन्होंने प्रारम्भ से एक ही बात कही थी कि आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के गौरवमयी व्यक्तित्व को देखकर उसके अनुरूप ही अभिवन्दन ग्रन्थ निकलना चाहिए, अन्यथा नहीं निकलना ही श्रेयस्कर होगा। मुझे प्रसन्नता है कि डॉ० सा० के निर्देशानुसार ग्रन्थ को प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने में किंचित् सक्षमता प्राप्त कर सका हूं। मेरे आग्रह पर डॉ० सा० ने प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रस्तावना आद्य मिताक्षर के रूप में लिखकर मुझे अनुगृहीत किया। गुरुतुल्य डॉ० सा० के प्रति भी मैं अपनी विनम्र कृतज्ञता प्रगट करता हूं।

जैन व जैनेतर जगत् के उन सभी विद्वानों का भी मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूं जिन्होंने मेरे नन्हें हृदय का आग्रह भरा निवेदन स्वीकार करते हुए श्रद्धासुमन एवं लेखादि सामग्री भेजकर मुझे प्रोत्साहन प्रदान किया।

हमारी नीति :

प्रारम्भ से ही हमारी नीति मौलिक–अन्यत्र अप्रकाशित रचनाओं को ही इस अभिवन्दन ग्रन्थ में स्थान देने की रही है तदनुसार जो रचनाएं हमें प्राप्त हुई और

वे अन्यत्र मुद्रित देखी गई या जानकारी में आई उन्हें कम कर दिया है । यदि अनजान में ऐसी कोई रचना छप गई हो तो उसका उत्तरदायित्व उसके लेखक पर है । जिन लेखादि रचनाओं का प्रतिपाद्य विषय अन्य रचनाओं में गर्भित हो गया है ऐसी भी कतिपय रचनाएं ग्रन्थ में स्थान नहीं पा सकी हैं । हमारी उपर्युक्त नीति के कारण जिन उदार एवं विद्वान् लेखकों की रचानाएं ग्रन्थ में प्रकाशित नहीं हो सकी हैं उनसे में क्षमा प्रार्थी हूं ।

आभार :

सर्वप्रथम मैं कलकत्ता दिगम्बर जैन समाज का अत्यन्त आभार मानता हूं, जिन्होंने वहां की युवापीढी द्वारा संस्थापित श्री दि० जैन नवयुवक मण्डल को तन–मन–धन से सभी प्रकार का सहयोग देकर इस महनीय कार्य को सम्पन्न कराने हेतु प्रोत्साहन दिया । इसके साथ ही दि० जैन नवयुवक मण्डल के पदाधिकारी एवं समस्त सदस्यगणों का भी मैं आभारी हूं । जिन्होंने सम्पादक जैसा महान गुरुतर कार्य मेरे निर्बल कंधों पर देकर मेरे प्रति अपने विश्वास को प्रगट किया तथा मेरी भावना का समादर करते हुए मुझे अर्थ व्यवस्था सम्बन्धी चिन्ताओं से परिमुक्त किया एवं अपनी संस्था के माध्यम से इस कार्य को सम्पन्न कराने की स्वीकृति प्रदान की, मेरा हर सम्भव सहयोग किया । आशा है युवापीढ़ी की यह कलकत्ता महानगर स्थित संस्था भविष्य में भी इसीप्रकार धर्म कार्यों मे पूर्ण रुचि के साथ आगे आकर कार्य करेगी ।

कुचामन निवासी श्रीमान् उम्मेदमलजी पांड्या शांति रोडवेज दिल्ली, उमरावमल जी गोधा (किशनगढ़ वाले) जयपुर व डॉ० चेतनप्रकाश जी पाटनी विश्व विद्यालय जोधपुर आदि का मैं अत्यन्त आभारी हूं जिनसे इस कार्य को सम्पन्न करने में मुझे जब चाहा तब और जैसा चाहा वैसा उत्साह वर्धक सहयोग मिला है । श्री उम्मेदमलजी पांड्या ने तो हर प्रकार की समस्या उपस्थित होने पर सदैव मुझे धैर्य बंधाते हुए कार्य को गतिमान बनाये रखने में तत्परता रखी है । इस प्रसंग पर मैं राजपंचायत स्टेशनरी के श्री राजेन्द्रजी एवं शकुन प्रकाशन दिल्ली के श्री सुभाष जैन का स्मरण नहीं भूल सकता जिनके सद्प्रयत्न से कागज सम्बन्धी समस्याएं हल हो सकी हैं । सुभाष जैन ने मुखपृष्ठ (कव्हर पृष्ठ) का चित्र बनवाने में भी मुझे पूर्ण सहयोग किया है । कव्हर पृष्ठ की डिजाइन, उसका मुद्रण एवं ग्रन्थ में आचार्य श्री से सम्बन्धित रंगीन चित्रों के मुद्रण में आपका पूर्ण सहयोग मिला है । मै उक्त सभी सहयोगियों का भी अत्यन्त आभार मानता हूं ।

जुबली ब्लॉक्स जयपुर का स्मरण करते हुए उनका आभारी हूं जिन्होंने यथा समय योग्य पारिश्रमिक पर ग्रन्थ मे लगने वाले प्राय: सभी ब्लॉकों का निर्माण किया तथा समय–समय पर ग्रन्थ प्रकाशन सम्बन्धी कलापक्ष के लिए परामर्श भी दिया है । जयपुर के ही साइण्टिफिक आर्ट्स के श्री जगदीश जी एवं श्री नाथुलाल जी शर्मा भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने ग्रन्थ सम्बन्धी साज सज्जा के लिये विभिन्न चित्रों का निर्माण किया है ।

ग्रन्थ में प्रकाशन हेतु आचार्य श्री के जीवन से सम्बन्धित विविध अवसरों पर लिये गये दुर्लभ चित्रों की प्राप्ति जिन महानुभावों एवं जिन संस्थाओं द्वारा हुई उन सभी के प्रति मे आभार मानता हूं । उन लोगों के इस उदार सहयोग के बिना मे चित्र

परिचय खण्ड में आचार्य श्री से सम्बन्धित ऐसी दुर्लभ और विपुल फोटो सामग्री नहीं दे सकता था।

एक बार उमरावमल जी गोधा का पुन: स्मरण करना अपना परम कर्तव्य मानता हूं जिन्होंने मेरे जयपुर प्रवास काल में तथा ग्रन्थ सम्बन्धी सामग्री संकलन में मेरा पूर्ण सहयोग किया। ग्रन्थ सम्बन्धी सारा पत्राचार उन्ही के पते से होता था। उनका समूचा परिवार ही गुरुभक्ति से प्रेरित है और बच्चा-बच्चा इस कार्य में (डाक आदि सुरक्षित रखने में) पूर्ण सहयोगी रहा है। मैं उनका किन शब्दों में आभार व्यक्त करूं उनका वात्सल्य सदैव स्मरणीय रहेगा।

कमल प्रिन्टर्स के मालिक श्री पांचूलाल जी वैद एवं उनके सुपुत्र श्री सुभाष चन्द का भी आभारी हूं, जिन्होंने गुरुभक्ति से प्रेरित हो इस ग्रन्थ के सर्वांग सुन्दर मुद्रण के लिए प्रयत्न किया एवं इस विशाल ग्रन्थ को यथाशीघ्र प्रकाशित करने का पुरुषार्थ किया है ग्रन्थ सम्बन्धी अन्य कार्यों की व्यस्तता के कारण मैं प्रूफ संशोधन नहीं कर सका हूं अतः ग्रन्थ में रही अशुद्धियों के लिए पाठको से मै क्षमा याचना करते हुए श्री पांचूलाल जी को धन्यवाद देता हूं जिन्होंने मेरे भार को हलका करने हेतु स्वयं मनोयोग पूर्वक ग्रन्थ का प्रूफ देखा है। प्रेस के कर्मचारीगण भी धन्यवादार्थ हैं, जिन्होंने पूरी लगन से ग्रन्थ मुद्रण सम्बन्धी कार्य किया है।

अन्त मे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इस महायज्ञ मे जिन गुरुजनों एव सहयोगियों ने मेरा मार्गदर्शन किया उनके प्रति कृतज्ञता प्रगट करता हूं एव सहयोग के लिये आभार मानता हूं। ग्रन्थ के सम्पादन-लेखों की भाषा और भावो को परिमार्जित करने के कारण यदि किन्हीं लेखक को असन्तोष हुआ हो तो उसके लिए क्षमा चाहता हू। साथ ही एक बार उन सभी लेखकों से पुनः क्षमा याचना करता हूं जिनके लेखों को ग्रन्थ में प्रकाशित नहीं कर सका हूं। इत्यलं।

धर्मचंद जैन शास्त्री
संपादक

वीर निर्वाण दिवस
सं० २५०८

ज्योतिषाचार्य, आयुर्वेदाचार्य
संहितासूरि, धर्मालंकार

卐 अनुक्रम 卐

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

तृतीय खण्ड

चतुर्थ खण्ड

पंचम खण्ड

छठा खण्ड

सप्तम खण्ड

णमो अरिहन्ताणं

णमो सिद्धाणं

णमो आइरियाणं

णमो उवज्झायाणं

णमो लोएसव्वसाहूणं

खण्ड-१

शुभ कामना

[प० पू० १०८ आचार्यप्रवर श्री विमलसागरजी महाराज]

आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज वर्तमान समय की महान विभूति हैं। आपका जीवन अत्यंत निस्पृह एवं गुणों का भण्डार है। मैं आ. क. श्री चन्द्रसागरजी महाराज के समय आपके सम्पर्क में विशेष रूपसे आया था। आप मृदुभाषी, अत्यन्त शांत एवं निराकुल वृत्ति के साधु है। आप निर्भीक वृत्ति से देश में जिनशासन की प्रभावना कर रहे हैं। आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज की परम्परा में तृतीय आचार्य पट्ट पर विराजित होकर आपने २५०० वें वीर निर्वाणोत्सव पर भी अपने दृढचारित्र से दिगम्बर जैन धर्म की ध्वजा को विश्व में फहराया है। आपका भोला मुखडा, बालकवत् निर्मलता एवं आपकी निश्छल वृत्ति प्राणीमात्र को आनन्द दायिनी हो रही है।

मैं वीतराग प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि अहिंसा के पुजारी, सद्धर्म के निर्भीक नेता, दृढ चारित्राराधक, विश्ववंद्य आचार्य श्री युगों-युगो तक धर्म ध्वजा फहराते हुए भव्य जीवों के सत्पथ मार्गदर्शक बने रहें।

❖

श्रद्धा सुमन

[पू. १०८ श्री पद्मसागरजी महाराज, आ. श्री वीरसागरजी के शिष्य]

आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज व मै साथ-साथ कई वर्षों तक रहे। ब्रह्मचारी अवस्था से मेरा उनका निकट परिचय है। वे गृहस्थावस्था मे भी बड़े संतोषी जीव थे। उन्होंने अपनी आवश्यकता से अधिक कभी संग्रह नही किया। दीक्षा लेकर भी आप सदैव सतोष वृत्ति से रहते हुए निरन्तर ज्ञान का अभ्यास करते रहते थे जिसके परिणाम स्वरूप आज आप संस्कृत के भी जानकार हो गये है। आप शांत परिणामी एवं सरल स्वभावी साधु है। क्रोध आपके प्रसन्न वदन पर कभी दिखाई नही दिया। गरीब-अमीर, विद्वान्-अनपढ़, छोटा-बड़ा सभी के प्रति आपकी समान बुद्धि है।

मैं बाल ब्रह्मचारी, प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज को सिद्धाचार्य भक्ति पूर्वक नमोऽस्तु करते हुए उनके प्रति हार्दिक श्रद्धा सुमन समर्पित करता हूं।

[पू० १०८ आ० क० श्री श्रुतसागरजी महाराज]

यह तो सर्व विदित ही है कि प० पू० चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज ने सल्लेखना के समय अपना आचार्य पद श्री वीरसागरजी मुनिराज को दिया था। आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज की समाधि हो जाने पर आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी महाराज के सान्निध्य में चतुर्विध संघ ने विशाल जन समुदाय के मध्य उन्हीं के प्रथम-प्रधान शिष्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराज को आचार्य पद देकर संघ संचालन का भार सौंपा था। आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज ने लगभग १२ वर्ष पर्यन्त अपने संघ का संचालन बड़ी कुशलता से किया एवं समाज में मुनि धर्म का आदर्श उपस्थित किया। श्री महावीरजी में फाल्गुन कृष्णा अमावस्या वि० स० २०२५ के दिन श्री शिवसागरजी महाराज की असामयिक सल्लेखना हो जाने पर इतने बड़े विशाल संघ का आचार्य कौन होगा यह एक ज्वलंत प्रश्न था। कई दिनों में विविध प्रकार की ऊहापोह के पश्चात् संघ के सभी साधुओं ने यह निर्णय किया कि मुनि श्री धर्मसागरजी महाराज को इस विशाल संघ का आचार्य पद प्रदान किया जावे। धर्मसागरजी महाराज आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के द्वितीय मुनि शिष्य हैं और वे उस समय पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के निमित्त वहीं उपस्थित थे। संघ के निर्णय के अनुसार फाल्गुन शुक्ला ८ सं० २०२५ के दिन तप कल्याणक के अवसर पर विशाल जन समुदाय के मध्य चतुर्विध संघ ने श्री धर्मसागरजी महाराज को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। आप भी १२ वर्ष से संघ का संचालन अत्यन्त निर्भीकता से कर रहे हैं।

आप अत्यन्त सरल स्वभावी, वात्सल्य मूर्ति, परमशान्त साधुराज हैं। आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के पश्चात् तो आप अत्यन्त गंभीरता पूर्वक आर्ष परम्परा के संरक्षण में अपना अपूर्व योगदान दे रहे हैं। भगवान महावीर स्वामी के २५०० वें परि निर्वाणोत्सव के अवसर पर तो आर्ष परम्परा के विपरीत किंचित् मात्र भी कार्य आपने नहीं होने दिया। आप जितने सरल हैं उतने ही अधिक निर्भीक एवं स्पष्ट वक्ता हैं। आगम से विपरीत आप एक शब्द भी सुनने को तैयार नहीं हैं। वास्तव में आचार्य श्री में पाए जाने वाले गुण अभिनन्दनीय हैं, वन्दनीय हैं। मैं आचार्य श्री के चरण कमलों में अपनी श्रद्धा भक्ति संयुक्त विनयांजलि समर्पित करता हूं।

शुभकामना

[पू० मुनि श्री १०८ अरहसागरजी, प० पू० १०८ आचार्य श्री बिमलसागरजी संघस्थ]

प्रशान्त मूर्ति १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है यह हर्ष का विषय है। आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज को कौन नहीं जानता ? आपकी कीर्ति सम्पूर्ण विश्व में छाई हुई है। आप पैसे वाले एवं गरीब लोगों में भेदभाव नहीं रखते इसी प्रकार चाहे विद्वान् हो या कम पढ़ा लिखा सबके प्रति आपकी समान दृष्टि रहती है। सत्य बात को आगमानुसार कहने में आप किंचित् भी भयभीत नहीं होते।

हमारी शुभ कामना है कि आचार्य श्री शतायु हों और भव्य जीवों को कल्याण का मार्ग बताते रहें। तथा अभिनन्दन ग्रन्थ के माध्यम से आचार्य श्री के प्रेरक जीवन के बोध के साथ-साथ तत्त्वज्ञान सयुक्त सामग्री पढ़ने का मंगल अवसर प्राप्त हो। नमोऽस्तु आचार्य श्रेष्ठ नमोऽस्तु ३।

मेरे गुरुवर

[मुनि श्री पुष्पदंतसागरजी, आचार्य श्री धर्मसागरजी के प्रथम मुनि शिष्य]

आचार्य श्री के मुझ छद्मस्थ पर अनन्त उपकार है। उन्होंने मुझे मुनि दीक्षा देकर मोक्षमार्ग पर आरूढ किया है। वे करुणा सागर है। अत्यन्त निस्पृह गुरुवर है। उनके सान्निध्य में रहने का अवसर प्राप्त हुआ है उनके द्वारा प्रदत्त यह महाव्रत दीक्षा निर्दोष पलती रहे यही आशीर्वाद चाहता हूं। उनका जो मुझ पर उपकार है वह मैं भव-भव में नहीं भूलूंगा। उनके पुनीत चरणों मे सिद्ध-आचार्य भक्ति पूर्वक त्रिधा नमोऽस्तु करता हुआ भावना करता हूं कि गुरुवर दीर्घजीवी हों और हम सभी का मार्ग प्रशस्त करते रहें।

विनयाञ्जलि

[पू० मुनि श्री निर्मलसागरजी, प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्थ]

प० पू० गुरुदेव आचार्य श्री का टोंक चातुर्मास मुनि अवस्था मे वि० स० २०२३ में हुआ था। उस समय मैं सप्तम प्रतिमा के व्रतों का पालन करते हुए ब्रह्मचारी अवस्था मे था। चातुर्मास के मध्य ही परिणाम ऊंचे उठे और क्षुल्लक दीक्षा की भावना हुई। गुरुवर्य से प्रार्थना की, शुभ बेला मे क्षुल्लक दीक्षा प्राप्त हुई। लगभग एक वर्ष के पश्चात् ही मुनि दीक्षा की प्रार्थना करने पर करुणा के अपार सागर गुरुदेव ने मुनि दीक्षा प्रदान कर कृतार्थ किया। अभिनन्दन की इस पुण्य बेला में करुणामूर्ति, परमशान्त, सरल स्वभावी, वात्सल्यमूर्ति गुरुदेव के पुनीत चरणों मे सिद्धाचार्य भक्ति पूर्वक त्रिधा नमोऽस्तु करते हुए वीर प्रभु से यह प्रार्थना करता हूं कि गुरुवर्य की वात्सल्यमयी छत्रछाया और मार्ग दर्शन चिरकाल तक मिलता रहे और उनके पुनीतआशीर्वाद से यह मुनिचर्या निर्दोष पलती रहे।

संयम प्रदाता आचार्य देव

[पू० मुनि श्री १०८ संयमसागरजी, प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्थ]

प० पू० प्रशान्तमूर्ति बाल ब्रह्मचारी परम कृपालु गुरुवर्य को पाकर किसे प्रसन्नता नहीं होगी और उनके जीवन में पाये जाने वाले अनेक अनुपम गुणों को देखकर कौन उन पूज्य चरणों में अनुराग नही करेगा ? गुरुदेव के सम्बन्ध मे कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाना है। वे अलौकिक वृत्ति के साधराज है। ख्याति, पूजा, लाभ, पद, प्रतिष्ठा आदि से तो वे कोसों दूर रहते हैं। मुझ अल्पज्ञ संसारी प्राणी को भी पूज्य श्री से संयम धारण करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। यह शरीर तो फूटे घड़े के समान है इसकी सार्थकता तभी है जब "यह तन पाय महा तप कीजै" गुरुदेव के इन वचनों का गहरा प्रभाव मन पर पडा और उन्ही के चरणो मे अन्य पर्यायो मे दुर्लभ यह संयम निधि प्राप्त हुई है। पू० गुरुदेव के मुझ पर परम उपकार है। मै परमोपकारी, करुणा सागर आचार्य देव के चरणो मे सविनय सिद्धाचार्य भक्ति पूर्वक नमस्कार करते हुए "उनके चरण सान्निध्य मे ही मेरा समाधिमरण हो" ऐसी भावना भाता हू।

विनयांजलि

[मुनि श्री १०८ दयासागरजी महाराज, आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के सुशिष्य]

प० पू० गुरुदेव १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के मुझ पर अनन्त उपकार है। आपकी कृपा प्रसाद से ही भवसमुद्र से पार करने वाली दैगम्बरी दीक्षा प्राप्त हुई है। जब मै झालरापाटन सिटी में रहता था तब आपका वहां ससघ चातुर्मास हुआ। यह बात वि० सं० २०२२ की है। चातुर्मास के पश्चात् गुरुदेव का मगल विहार हुआ मै भी उनके साथ गया और फिर घर वापस नही लौटा, क्योंकि गुरुदेव के सान्निध्य में परोक्षरूपेण कुछ ऐसे संस्कार पडे कि आत्मकल्याणकी बात मन मे घर कर गई और फिर गुरुदेव को अपना जीवन समर्पित कर दिया। कुछ काल तक व्रती जीवन मे रहा और फिर सं० २०२३ के टोंक चातुर्मास मे क्षुल्लक दीक्षा एवं अगले चातुर्मास में बून्दी नगर में मुनि दीक्षा प्राप्त कर मैंने अपना जीवन धन्य माना। प० पू० गुरुवर्य परमशांत, सरलस्वभावी, निस्पृह एव ख्याति-पूजा से दूर रहते हुए हम लोगों का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। उनके चरण सान्निध्य मे बैठकर अपार शान्ति मिलती है। वात्सल्यमयी वाणी से साधु जीवन को निर्दोष रीत्या पालन करने का सम्बोधन पाकर आनन्द प्राप्त होता है। मै प० पू० गुरुदेव के चरण कमलों में सिद्धाचार्य भक्ति पूर्वक त्रिकाल नमोऽस्तु करते हुए यह भावना भाता हू कि आपकी छत्रछाया हमे दीर्घकाल तक प्राप्त होती रहे और आत्मकल्याण हेतु मार्गदर्शन मिलता रहे।

अत्यंत निस्पृह साधुराज

[श्री १०८ गणधर मुनि कुंथुसागरजी महाराज]

प० पू० आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के परम्परागत तृतीय पट्टाचार्य श्री १०८ आचार्य धर्मसागरजी महाराज अत्यंत सरल स्वभावी हैं। आपके उपदेश से अनेक भव्यजीव मोक्षमार्ग पर आरूढ होते हुए अणुव्रत-महाव्रतो को धारण कर रहे हैं। आप भारत की एक धर्म विभूति हैं। आपके द्वारा जो धर्म का उद्योत हो रहा है वह अविस्मरणीय है। आपके गुण अनिर्वचनीय है। हमारी तो यही निर्मल भावना है कि आपके द्वारा युग-युगान्तरों तक धर्म की प्रभावना होती रहे। अत्यंत निस्पृह साधुराज के चरणों मे सिद्ध-श्रुत-आचार्य भक्ति पुरस्सर शत-शत नमोऽस्तु।

[पू० १०८ मुनि श्री सुबुद्धिसागरजी महाराज; प० पू० आचार्य श्री शिवसागरजी के शिष्य]

प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज सरल स्वभावी, स्पष्ट वक्ता, निर्लेप वृत्ति के महान् साधु हैं। २५०० वें परिनिर्वाण महोत्सव में दिल्ली पहुँचकर दिगम्बर जैन संस्कृति की एवं आर्ष परम्परा की रक्षा मे आपने अपना पूर्ण योगदान दिया। मैं सरलमना आचार्य श्री के दीर्घ जीवन हेतु वीर प्रभु से प्रार्थना करता हूं तथा भावना करता हूं कि उनकी छत्र छाया चतुर्विध संघ को चिरकाल तक प्राप्त होती रहे एवं समाज को धर्म लाभ मिलता रहे। इन्ही कामनाओ के साथ मैं उनके प्रति अपनी विनम्र भावाञ्जलि समर्पित करता हू।

अकम्प योगिराज के चरणों में

[आ० क० १०८ श्री ज्ञानभूषणजी महाराज, प० पू० आचार्य श्री देशभूषणजी के शिष्य]

ईसवी सन् की बीसवीं शताब्दि के सर्व प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य प० पू० १०८ श्री शांतिसागरजी महाराज से पूर्व भी यद्यपि दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व था। उन्होंने मुनि देवेन्द्रकीर्ति स्वामी से दिगम्बर दीक्षा धारण की थी। कुछ ही वर्षों में आपको आचार्य पद भी प्रदान किया गया। आपके अनेक मुनि शिष्य रत्न हुए जिन्होंने मुनि धर्म की प्रतिष्ठा को समुज्वल किया। आगम के अनुसार आपने अपनी चर्या बनाई। वर्तमान का मुनि समुदाय आपकी ही देन है। आपने अन्तिम सल्लेखना के समय अपने सर्व प्रथम मुनि शिष्य प० पू० १०८ आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज को अपना आचार्य पद प्रदान किया था। आचार्य श्री वीरसागरजी के पश्चात् इस आचार्य परम्परा में आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज हुए और अब वर्तमान आचार्य पट्ट पर प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज सुशोभित हैं।

२२ फरवरी सन् १९६९ में शांतिवीर नगर, श्री महावीरजी की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर उपस्थित समस्त संघ ने आपको अपना आचार्य बनाया। आप आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के द्वितीय मुनि शिष्य और आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के प्रशिष्य तथा आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के गुरु भाई हैं। आपने पूर्वाचार्यत्रय के अनुरूप ही महती धर्म प्रभावना की है। आचार्य श्री वीरसागरजी व श्री शिवसागरजी महाराज ने जिस अनुपम कुशलता से संघ संचालन किया उसमें आपने आगम और आचार्य परम्परा के परिप्रेक्ष्य में संघ की अभिवृद्धि ही की है। आपका अपूर्व व्यक्तित्व उत्तमोत्तम गुणों से परिपूर्ण है। वर्तमान में आप विशाल संघ के आचार्य है तथापि आप संघ का संचालन सहज रूप से करते है उसमें आसक्ति आपको नहीं है।

प्रमाद रूप शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने में आप कुशल योद्धावत् है। आपके निर्मल चारित्र रूप रथ के शौर्य व धैर्य दो पहिए, सत्य-शील दृढ ध्वजा है। बल, विवेक, सामर्थ्य और परहित नाम के चार अश्व है, उत्तम क्षमा, करुणा और समताभाव रूप डोरी से वे घोड़े बंधे है। भगवान की भक्ति-ध्यान व उनके उत्तम गुणों का चिन्तन ही रथ का सारथी है। विरति नामक धर्म आयुध, सतोष रूप प्रबल शक्ति की तीक्ष्ण धार से संयुक्त तलवार है। पंच गुरु भक्ति (पचपरमेष्ठी भक्ति) रूप अभेद्य कवच आपके पास है। इसप्रकार की युद्ध सामग्री से आप संयुक्त होकर प्रमाद शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते है।

आप सरल-शांत-सौम्यता की प्रतिमूर्ति हैं। निस्पृहता आपके जीवन का अभिन्न अङ्ग है। अपूर्व आगम निष्ठा और आर्ष परम्परा के सरक्षण की भावना आपमे कूट-कूट कर भरी है इसका ज्वलंत उदाहरण १९७४ में होने वाला भगवान महावीर का निर्वाणोत्सव है। उस समय आचार्य श्री धर्मसागरजी–आचार्य श्री देशभूषणजी, मुनि श्री विद्यानन्दजी आदि के सान्निध्य में निर्वाणोत्सव मनाया गया था। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनेक मुनिगण उपस्थित थे। चारों सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य मुनिगण वहां उपस्थित थे।

आपके वचनों में आकर्षण शक्ति के साथ-साथ माधुर्य एवं स्पष्टवादिता है। आप अन्दर और बाहर, दोनो ही ओर से एक समान अवस्था के हैं। आपके जीवन की ऋजुता अन्तरगस्थ आर्जव धर्म को प्रगट करती है। बाह्याभ्यंतर परिग्रह से आप सर्वथा दूर हैं। निर्वाणोत्सव में मैंने

आपको अत्यन्त समीप से देखा है। आप अकम्प योगिराज है, आपने कभी किसी प्रकार ख्याति-पूजा लाभ के प्रलोभन में आकर धर्म सिद्धान्तों से समझौता नहीं किया।

आगम कथित सभी गुण आपमे विद्यमान हैं। अपरिस्रावी गुण तो स्वय आपकी गम्भीर जीवन चर्या प्रकट करती है। आप रत्नत्रय से परिशुद्ध है तथा भव्य जीवों को भवाब्धि से तारने वाले परम गुरु हैं। क्षत्रचूडामणिकार की निम्न उक्ति आप में पूर्णतया परिलक्षित है -

"गर्भाधान क्रिया मात्र न्यूनौ हि पितरौ गुरुः" बिना गर्भाधान क्रिया के आप भव्य जगत के सच्चे माता हैं और शिष्यवर्ग का पालन-पोषण करने वाले सच्चे पिता है। आज हम आप जैसे गुरु को पाकर अपने जीवन को कृतार्थ मानते है और यही भावना करते हैं कि आप चिरकाल पृथ्वी तल पर रहकर हमें अनुगृहीत करें और अपने साथ ही हमें भी संसार समुद्र से पार करा दे। इन्ही शब्दों में मैं आचार्य श्री को विनयाञ्जलि समर्पित करते हुए मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक त्रिकाल शत-सहस्र नमन करता हूँ।

परमोपकारी गुरुवर्य

[पू० मुनि श्री १०८ महेन्द्रसागरजी, प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्थ]

प० पू० गुरुदेव के मुझ पामर जीव पर परम उपकार हैं। आपने हस्तावलम्बन देकर ही इस गृहस्थ पंक से उभार कर मेरा उद्धार किया है। जब गुरुवर्य पलाई (टोंक) में पधारे थे तब आपके परम कल्याणकारी उपदेशों को श्रवण कर मन में संसार के प्रति उदासीनता जागृत हुई थी और ये भाव बने थे कि दैगम्बरी दीक्षा धारण कर गुरुदेव के चरण सान्निध्य मे रहकर ही आत्म कल्याण करें। तदनुसार आचार्य श्री के चरणों मे प्रार्थना की। त्याग मार्ग में क्रमशः बढते हुए आज मोक्ष प्रदायक जिन दीक्षा प्राप्त करने का पुण्य अवसर मिला है। मनमे आनन्द है, क्योंकि आपकी पुण्य कृपा से मै मोक्षमार्ग को प्राप्त कर सका हू। आपके परम शान्त स्वभाव एवं वात्सल्यपूर्ण उपदेश का अत्यंत प्रभाव पड़ता है। आप विशाल संघ के आचार्य होते हुए भी उससे निर्लिप्त ही है। निर्भयता एव आगम रक्षा की भावना आपके जीवन मे कूट-कूट कर भरी हुई है। मैं इस पुण्यावसर पर परमोपकारी गुरुवर्य के चरणों में त्रिधा त्रिकाल सश्रद्धा-भक्ति से शत-शत नमोऽस्तु करते हुए आपके आशीर्वाद की कामना करता हूं तथा भावना भाता हूं कि गुरुवर्य दीर्घजीवी होवे तथा आपका वरद हस्त हमें सदा प्राप्त होता रहे।

पू० मुनि
श्री १०८ अभिनन्दनसागरजी;
प० पू० आचार्य श्री
धर्मसागरजी महाराज के शिष्य

विश्व में दो ही प्रकार के व्यक्ति प्रसिद्ध होते हैं। एक तो वे जो अपना समग्र जीवन स्व-पर कल्याण में लगा देते हैं और दूसरे वे जो अपनी क्रियाओं से दूसरों को तो कष्ट पहुँचाते ही हैं तथा स्वयं भी वर्तमान में कष्ट पाते है और भविष्य भी उनका दुःखमय होता है। पहले प्रकार के महा-पुरुष भी सदैव इस भारत भूमि पर जन्म लेते रहे है उनमें तीर्थंकर भगवन्त और धरसेनाचार्यादि अनेकानेक ऋषिगण हुये है। उसी परम्परा में आचार्य श्री शातिसागरजी महाराज और उनके अनेक शिष्य-प्रशिष्य होते रहे है, हो रहे है और भविष्य में भी होते रहेंगे। आपके सर्व प्रथम शिष्य रत्न आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के मुनि शिष्यों मे आचार्य धर्मसागरजी महाराज भी हैं जो कि १२ वर्ष पूर्व आचार्य श्री शिवसागरजी के समाधि मरण के बाद से वर्तमान आचार्य है और आर्ष परम्परानुरूप स्व-पर के कल्याण मे निरत हैं।

प० पू० प्रातःस्मरणीय गुरुदेव आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज परमशात, निस्पृही, लौकिक आडम्बरों से सर्वथा दूर, आगमानुसार मुनि चर्या मे निरन्तर प्रवृत्त, राजा व रंक सभी में सम दृष्टि, निर्लेपवृत्ति, ख्याति, पूजा व सम्मान से कोसों दूर, निश्चय व व्यवहार धर्म की सम्यक् मैत्री के प्रतिपादक, मुनि व श्रावक धर्म की प्रभावना कारक, अनेकों मुनि-आर्यिका-क्षुल्लक-ब्रह्मचारी आदि त्यागीजनों को दीक्षा प्रदाता, विशाल संघ के मध्य रहकर भी 'जल ते भिन्न कमल' वत् निर्लेप हैं। विश्व जिन्हें वीतरागी व प्रशान्तमूर्ति साधुराज के रूप में स्मरण करता है उन्ही गुरुदेव के चरण सान्निध्य में निर्ग्रन्थ दीक्षा प्राप्त करने का मंगल अवसर प्राप्त हुआ है। संसार समुद्र से पार करने वाली दीक्षा प्रदान कर आपने मुझ पर बड़ा उपकार किया है जिसे मैं मोक्ष प्राप्त करने तक नही भूलूंगा। हे भगवन्! मुझे आशीर्वाद प्रदान करें कि मै आपके द्वारा प्रदत्त इन महाव्रतों का निर्दोष पालन करता रहूं।

इसप्रकार मैं प० पू० गुरुदेव के परम पुनीत चरण कमलों में अपने श्रद्धा सुमन समर्पित करते हुए शत सहस्र वन्दन करता हूं। साथ ही यह हार्दिक भावना है कि आप दीर्घकाल तक धर्म एवं धर्मात्माओं का संरक्षण करते रहें तथा भव्य जीवों को आपकी चिरकालीन छत्र छाया में आत्म कल्याण का मार्ग प्राप्त होता रहे।

निर्भीक व स्पष्टवादी आचार्य श्री

[पू० १०८ मुनि श्री संभवसागरजी, प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी के शिष्य]

प० पू० चारित्र-तपो मूर्ति आचार्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराज के पश्चात् आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के परम्परागत संघ का आचार्यत्व प्रशान्त मूर्ति १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज को प्रदान किया गया।

आचार्य श्री के चरण सन्निधि में ही मुझे अनगार दीक्षा प्राप्त करने का पुण्य अवसर प्राप्त हुआ। आपके सान्निध्य रहकर मैंने आपके आदर्शमय जीवन से बहुत कुछ प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। प्रशान्त मूर्ति आचार्य श्री इस युग की महान् विभूति है। आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की परम्परा को अक्षुण्ण बनाते हुए आर्ष परम्परा की रक्षा में आप पूर्ण सचेत है। आपमे निर्भयता एवं स्पष्टवादिता ये दो गुण विशेष रूप से पाए जाते हैं। भगवान महावीर के २५०० वें परिनिर्वाणोत्सव में आपकी इन विशेषताओं को सभी ने अच्छी तरह अनुभव किया है। निर्वाणोत्सव के प्रत्येक कार्यक्रम में आपने सदैव यह ध्यान रखा कि कहीं आर्ष परम्परा को कोई आच न आने पावे। वीतराग भगवान महावीर के वीतराग निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग के गौरव को रखने में आपने पुरजोर प्रयत्न किया और उसमे आप पूर्ण सफलता के साथ यशस्वी भी हुए। चाहे 'समणसुत्त' ग्रन्थ की सङ्गीति हो या रामलीला मैदान की विशाल सभा अथवा लाल किला मैदान पर निर्वाणोत्सव का साप्ताहिक कार्यक्रम या हो जुलूस, प्रत्येक कार्य में आपने दिगम्बरत्व को पूर्ण संरक्षण प्रदान किया। कुछ लोगों को नाराजी भी रही कि महाराज श्री प्रभावना का कोई कार्य नही करने देते। प्रभावना के किसी भी कार्यक्रम में महाराज ने प्रतिरोध नहीं किया, किन्तु उनकी एक मात्र भावना थी कि भारत की राजधानी मे इस उत्सव में ऐसा कोई कार्य नही होना चाहिए जो दिगम्बर परम्परा के अनुकूल न हो। इस बात को कहने में उन्होंने कभी किसी का भय नहीं किया वे सदैव अडिग-अविचल निर्भय योगी की तरह सिद्धान्तों पर अटल रहे उन्होंने किसी भी प्रकार ख्याति-पूजा-लाभ के प्रभाव में आकर धर्म के सिद्धान्तो के साथ समझौता नही किया। उनका यही कहना था कि इस समय राजधानी मे होने वाले कार्यक्रमों पर सारे देश की दृष्टि है यदि यहां कोई भी कार्य गलत होगा तो उसका अनुकरण सारा देश करेगा अत: कहीं जरासी भी असावधानी होगई तो गलत मार्ग पर समाज चल पडेगा। उनकी इसी दृढ़ता के कारण चारों सम्प्रदायों को मान्य कोई ग्रन्थ नही निकल सका भगवान महावीर की जीवनी पर। उन्होंने कहा कि भगवान महावीर के जीवन पर एक सहमति कैसे हो सकती है जब उनको मान्यता में ही भेद है।

जिनके निमित्त दिगम्बरत्व अक्षुण्ण बना रहा उन परम शांत, अत्यन्त निस्पृह, निर्लेप सरल स्वभावी, स्थितिकरण-वात्सल्य की प्रतिमूर्ति प० पू० प्रात: स्मरणीय बाल ब्रह्मचारी गुरुवर्य आचार्य श्री के परम पुनीत चरण कमलों में कोटि-कोटि नमन करता हूं तथा इस पुण्य बेला में मैं अपनी हार्दिक विनयाञ्जलि समर्पित करता हूं। गुरुदेव ! आप शतायु हों तथा आपकी छत्रछाया में हम सभी आत्मकल्याण का मार्ग प्राप्त करते रहे यही मंगल भावना है।

❖

भद्रपरिणामी आचार्य श्री

[बालाचार्य मुनि श्री बाहुबली महाराज, आचार्य श्री १०८ देशभूषण महाराज के पदस्थ शिष्य]

यद्यपि आचार्य प्रवर श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज के सान्निध्य में अधिक समय रहने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ है, तथापि सन् १९७४ में 'तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के' २५००वें परिनिर्वाणोत्सव के अवसर पर निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य देहली में प्राप्त हुआ था। उस समय हम आचार्य श्री देशभूषण महाराज के संघ में क्षुल्लकावस्था मे थे। आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज अपने विशाल संघ के साथ दरियागंज में विराजमान थे। जब-जब भी निर्वाण महोत्सव की सभाओं का आयोजन होता था तथा महोत्सव सम्बन्धी कार्यक्रम का विचार विनिमय होता था तब एक ही स्थान पर दोनों ही आचार्य और मुनिसंघ विराजमान हुआ करते थे। इन्हीं दिनों में मैंने उनके जीवन में एक सबसे बडी विशेषता पाई कि "वे भद्रपरिणामी है"। इसके अतिरिक्त वे सरलस्वभावी और निस्पृह भी है। 'भद्रपरिणामी' श्री १०८ आचार्य धर्मसागरजी महाराज के चरणों मे नमोऽस्तु करके अभिवन्दनार्थ "भक्ति पुष्प" समर्पित करता हूं।

आचार्य धर्मोदधि

[पू० मुनि श्री १०८ बुद्धिसागरजी महाराज, आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के शिष्य]

हे धर्म धामन् ! हे पूतात्मन् ! हे पावन योगिन् !
हे विद्याधारिन् ! हे सुखकारिन् ! हे भवान्तप्रदायिन् !
हे मुन्यग्रगामिन् ! हे आत्मज्ञानिन् ! नमस्ते।
हे धर्मसिन्धो ! हे धर्माचार्य ! हे धर्मसागर !
हे परमपूज्य ! हे धर्मोदधि ! हे समता सागर !
हे धर्माकर ! हे धर्म पारावार ! गुरो ! वन्दे।

भारत के विशालसंघ नायक मम गुरुवर्य प० पू० आचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज प० पू० प्रात: स्मरणीय चा० च० १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की पट्टावलि मे है। इन्ही प० पू० धर्मसागरजी महाराज के कर कमलों द्वारा मेरी अनगार दीक्षा हुई। आचार्य श्री सौम्यमूर्ति ज्ञानी व ध्यानी है एवं सर्वथा निस्पृहवृत्ति हैं। ऐसे सरलमना आचार्य के पुण्य पदचिन्हों पर चलने की क्षमता हमें भी प्राप्त हो। मैं चारित्र महोदधि, विश्ववंद्य गुरुवर्य के श्री चरणों में अपने रत्नत्रय वर्धन की कामना करता हुआ अपनी हार्दिक विनयाञ्जलि समर्पित करते हुए उनके सारोग्य रत्नत्रयी जीवन की मगल कामना करता हू।

हे गुरो ! धर्मसागर ! आपको अनेक बार नमोऽस्तु।

❖

श्रद्धा सुमन

[मुनि १०८ श्री विजयसागरजी महाराज, मुनि श्री दयासागरजी संघस्थ]

प. पू. चा. च. १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के द्वारा उपदेशित एवं आचरित आर्षपरम्परा के अनुसार आपका चारित्रमय जीवन अत्यन्त उज्ज्वल है। आप समुद्रसम गम्भीर, पृथ्वीवत् क्षमाशील, अनियत आहारी, सुख-दु:ख में समदृष्टि परम योगीराज हैं। आपके द्वारा अनेकों भव्यों को मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ होने का सु-अवसर प्राप्त हुआ है। अभिवन्दन की पावन बेला में मैं परम पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के परम पावन चरणों में शत-शत नमोऽस्तु करते हुए अपने श्रद्धा सुमन समर्पित करते हुए भावना करता हूं कि गुरुदेव आपके चरण सान्निध्य में मुझे सल्लेखना करने का मंगल अवसर प्राप्त हो। आपके मार्गदर्शन से ही हम जैसे पामर जीवों का आत्म-कल्याण हो सकता है। जयवन्तो गुरुदेव !

वात्सल्यमूर्ति गुरुदेव

[पू. मुनि श्री १०८ कीर्तिसागरजी, प. पू. आचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्थ]

प. पू. आचार्य श्री, चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की परम्परा में तृतीय पट्टाचार्य हैं। प. पू. आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के स्वर्गवास के पश्चात् आपको समस्त संघ ने आचार्य पद दिया और अब आपकी छत्रछाया में संघ और समाज आत्मकल्याण के मार्ग में लगा हुआ है। मुझ संसारपंक में लिप्त तुच्छ प्राणी को भी पूर्व पुण्योदय से आप श्री के चरणों का सान्निध्य प्राप्त हुआ तथा क्रमश: क्षुल्लक और ऐलक दीक्षा प्राप्तकर भगवान् महावीर स्वामी के २५०० वें निर्वाणोत्सव के समय मार्गशीर्ष शुक्ला १० सं. २०३१ में मुनि दीक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आप स्पष्टवक्ता, सरल परिणामी योगीराज हैं। आपकी वात्सल्यमय शात मुद्रा को देखकर अपार शांति का अनुभव होता है। मैं इस पुण्य बेला में आप श्री के चरणों में नमोऽस्तु करते हुए यह भावना भाता हूं कि मुझे आपके चरण सान्निध्य में अन्तिम सल्लेखना करने का मंगल अवसर प्राप्त हो।

विनयांजलि

[पू. मुनि श्री १०८ निर्वाणसागरजी, प. पू. आचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्थ]

परम तपस्वी मुनिराज १०८ श्री सुपार्श्वसागरजी महाराज सम्मेद शिखर की यात्रा से लौटते हुए ससंघ कटनी में चातुर्मास कर रहे थे, यह बात सन् १९७३ की है। कटनी चातुर्मास के पश्चात् बुंदेलखण्ड प्रान्त मे विहार करते हुए दिल्ली की ओर जा रहे थे। मैं ऐसे वीतरागी निर्ग्रन्थ साधुओं की खोज मे था। मुझे नहीं मालूम मैंने उससे पूर्व कभी मुनिराजों के दर्शन किये हों। अतः संघ सान्निध्य प्राप्त होने पर मैं भी संघ के साथ रास्ते मे संघ सेवा करते हुए दिल्ली पहुंचा और जब सर्व प्रथम प. पू. आचार्य देव के दर्शन किये तो हृदय में असीम आनन्द का अनुभव हुआ और तत्क्षण मन में यह धारणा बना ली कि इन पुनीत चरणों में जीवन समर्पित करना है। सर्व प्रथम तो मेरे परम उपकारी सुपार्श्वसागरजी महाराज है, जिन्होंने मुझे पूज्य चरणों तक पहुंचने मे सहायता की और गुरुदेव के तो अनन्त उपकार हैं जिनके कृपा प्रसाद से आज मैं महाव्रतों को धारण कर सका। दिल्ली चातुर्मास में साधु सेवा का पुण्य लाभ तो मिला ही साथ ही चातुर्मास के पश्चात् जब अन्य दीक्षाओं के साथ मेरी प्रार्थना पर आचार्य श्री ने मुझे क्षुल्लक दीक्षा प्रदान की वह घड़ी मेरे जीवन की स्वर्णिम घडी थी, क्योंकि उस दिन मैं संयम की ओर अग्रसर हुआ था। उसके लगभग १ वर्ष पश्चात् ही गुरुदेव की महती कृपा हुई और मेरी प्रार्थना पर उन्होंने मुझे महाव्रत प्रदान किये। मैं परम कृपालु, वात्सल्य मूर्ति, परमशांत, सरल स्वभावी गुरुदेव के चरणों मे त्रिकाल वंदन करते हुए भावना करता हूं कि आपके द्वारा प्रदत्त महाव्रत आपकी पुनीत छत्र छाया में निर्दोष पलते रहें। साथ ही भगवान् बाहुबली से प्रार्थना करता हूं कि आचार्य देव दीर्घायु प्राप्त कर भव्यजीवों को मार्ग दर्शन करते रहें। इन्हीं शब्दों के साथ मैं अपनी विनयांजलि समर्पित करता हूं।

पारसमणि आचार्य श्री

[पू० मुनि १०८ श्री विपुलसागरजी, प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्थ]

वि० सं० २०२२ में पलाई गाव मे पूज्य आचार्य श्री का पदार्पण हुआ। आपके परम प्रभाव से वर्षो से कलश रहित मंदिर पर कलशारोहण का कार्य हुआ। किसी ने कल्पना भी नही की थी कि समाज की आपसी फूट के कारण यह कार्य इतनी जल्दी हो जावेगा, किन्तु आपकी परम शान्त मुद्रा एवं तपश्चर्या से अनेक दुर्लभ कार्य भी सरलता से हो जाया करते हैं। आपके वचनों में चुम्बकीय आकर्षण है। मात्र आपके वचन ही क्या सम्पूर्ण जीवन ही आकर्षण का केन्द्र बिन्दु है। जिसप्रकार पारसमणि का स्पर्श पाकर लोहा सोना बन जाता है उसी प्रकार आचार्य श्री के चरण सान्निध्य को प्राप्त कर अनेकों जीवों ने अपना आत्म कल्याण किया है। मुझ संसारपंक में लिप्त अज्ञ प्राणी को आचार्य श्री रूपी पारसमणि का स्पर्श (हस्तावलंबन) मिलते ही उनकी परम कृपाप्रसाद से मुझे ससार समुद्र से पार कराने मे समर्थ दिगम्बरी दीक्षा प्राप्त हुई है। मैं उन परम करुणासागर गुरुवर के चरणों में इस पुण्य प्रसंग पर श्रद्धा पूर्वक अपनी विनयाञ्जलि समर्पित करता हूं तथा पूज्य श्री से सदैव यह आशीर्वाद चाहता हूं कि आपके चरणों में रहकर मैं इन महाव्रतों का निर्दोष पालन करता रहूं।

[पू० मुनि श्री १०८ वर्धमानसागरजी,
आ० क० १०८ श्री श्रुतसागरजी संघस्थ]

इस शताब्दि के सर्वप्रथम दिगम्बर जैनाचार्य प० पू० प्रातःस्मरणीय चा० च० योगीन्द्रचूड़ामणि आचार्य श्री १०८ शांतिसागरजी महाराज थे। उन्होंने लुप्त प्रायः मुनिधर्म को पुनः प्रकाशित किया था। उनके अनेक शिष्य रत्न थे जिन्होंने आगमालोक में मुनिधर्म का परिपालन करते हुए चरित्रधर्म की प्रतिष्ठा को गौरवपूर्ण स्थिति मे विश्व के समक्ष रखा। प० पू० चारित्र शिरोमणि, बालब्रह्मचारी आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज को आपने अपना उत्तराधिकारी बनाया तथा अपने द्वारा लगाये गये चारित्र उपवन को संरक्षित रखने का आदेश देते हुए कहा कि जिनशासन की प्रभावना का ध्यान रखना। गुरुदेव के आदेशानुरूप ही आपने उनके द्वारा लगाये हुए चारित्रोपवन को जहा सरक्षण प्रदान किया वहां आपने उसे वृद्धिगत भी किया। आपके पश्चात् इस संघपरम्परा में आपके उत्तराधिकारी बने प० पू० चारित्रमहोदधि, तपस्वीरत्न, बालब्रह्मचारी, आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज। दक्षता पूर्वक सघ सचालन करते हुए आपने संघ की अभिवृद्धि भी की। आपके पश्चात् परम्परागत आचार्यपद का भार वर्तमान में प० पू० प्रातः स्मरणीय प्रशान्तमूर्ति बालब्रह्मचारी आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के सक्षम कंधों पर आया है।

आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज तो इस शताब्दि के अलौकिक एव अद्वितीय योगिराज थे ही, किन्तु आचार्य श्री वीरसागरजी एवं आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज भी महान् अलौकिकवृत्ति के मुनिपुङ्गव थे। इसी अलौकिक साधुशृंखला की एक कड़ी परमश्रेष्ठ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज है। पूर्वाचार्यों के अनुरूप ही आपने सघ को संवर्धित–संरक्षित करते हुए अनेकानेक भव्य जीवों को मोक्षमार्ग पर लगाया है।

मुझ पामर पर भी आपके अनन्त उपकार हैं। आपकी महदनुकम्पा से ही मुझे आपके श्री चरणों मे अर्हन्तलिंगस्वरूप जिनदीक्षा को ग्रहण करनेका मंगलमय अवसर मिला है। आप परम कृपावन्त है, आपके वात्सल्यामृत से अभिसिंचित होकर मै कृतार्थ हो गया। आपके पूज्य चरणों मे यद्यपि मुझे निरन्तर अधिक समय तक रहने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका, तथापि संयमी जीवन का लगभग आधा भाग तो आपके सान्निध्य में व्यतीत किया ही है। आर्ष परम्परा के संरक्षणके लिए तो यदा–कदा आपको व्याकुल होते देखा है, किन्तु विशाल संघका संचालन करते हुए कभी भी आपमे आकुलता नही दिखाई दी। सहजता आपके जीवन का अभिन्न अंग है। इसी कारण सघसचालन भी सहजरूप में ही करते है। चाहे संघ के विहार का प्रश्न हो या हो संघ सम्बन्धी अन्य कोई समस्या अथवा कोई धार्मिक प्रसंग हो या हो कोई सामाजिक प्रसग, आप अपने सहजरूप से कभी विचलित नही होते हैं, प्रत्येक प्रसंग पर आपने धैर्यपूर्वक कार्य किया है।

आपके सहज जीवन की अन्य विशेषताओं में स्पष्टवादिता, निर्भीकता और मन-वचन-कायरूप योगत्रय की ऋजता के साथ-साथ है आपमें ख्याति-पूजा व लाभ से निस्पृहता। निर्लेपता के साथ सभी के प्रति समदृष्टित्व भी आपका अनुपम गुण है। यद्यपि आगम का पक्ष तो आपमें है, किन्तु आगम से विपरीत "मेरा सो खरा" रूप पक्षपात आपमें नही है। आगम के परिप्रेक्ष्य में जहां आप अपने चारित्र का निर्दोष पालन करते हैं वही अपने शिष्यवर्ग को भी उसकी प्रेरणा देते हैं। आपके मुखकमल पर रहने वाली सहज प्रसन्नता दूसरों को भी आनन्द प्रदान करती है। यद्यपि क्रोध पिशाच आपके पास आते भी कभी नही देखा, तथापि सिंहगर्जना से शिष्य वर्ग पर आपको अनुशासन करते हुए अवश्य देखा है, किन्तु अन्य लोगों को इसका आभास कदाचित् ही हो पाता होगा यही कारण है कि अनेकों लोगों को मैने यह कहते सुना है कि महाराज अनुशासन नही करते। अनभिज्ञता वश लोगों का ऐसा कहना सर्वथा ठीक नहीं है और फिर एक बात यह भी है कि आप अनुशासन में रहने की अपेक्षा आत्मानुशासन में रहने पर अधिक बल देते हैं। आपके सान्निध्य में बैठने से सबको परमशान्ति का अनुभव होता है, क्योंकि अन्तरङ्ग शान्ति आपके मुखमण्डल पर सदैव अभिव्यक्त होती रहती है। आप धर्म से डिगते हुए प्राणियों को धर्म में पुनः स्थापित तो करते है, किन्तु किसी डूबते हुए को धक्का लगाकर डुबाते हुए आपको नहीं देखा, यानि कर्मोदय से चारित्रमार्ग से च्युत होते हुए जीवों को च्युत नहीं होने देना और च्युत लोगों को चारित्रमार्ग पर पुनः आरुढ़ कर उनके आत्मकल्याण में यथाशक्ति सहयोग देना यह आपके द्वारा सम्यग्दर्शन के स्थितिकरण अंग का पालन अन्यत्र दुर्लभता से पाया जाता है। साथ ही वात्सल्यादि की पूर्णता भी आपमें परिलक्षित होती है।

इसप्रकार सरलता, प्रशान्तता, निस्पृहता, निर्लेपता और निर्भयता आदि गुणों के पुञ्ज स्वरूप आचार्य श्री के अभिवन्दन की इस पुण्यबेला में सहस्राब्दि प्रतिष्ठापना एवं महामस्तकाभिषेक महोत्सव के मंगल अवसर पर मैं भगवान बाहुबली से यह प्रार्थना करता हूं कि गुरुदेव शतजीवी होकर इस धरा पर धर्म प्रभावना करते रहें और चतुर्विध-संघ उनकी छत्रछाया में संयम के प्रति जागरूक रहते हुए आत्मकल्याण के पथ पर अग्रसर होता रहे।

स्व-पर कल्याण में प्रवृत्त गुरुवर्य के परम पावन मंगलमय आशीर्वाद की कामना सहित निर्दोष चारित्रपालन की भावना भाते हुए उनके पूज्य चरणों में मैं शत-सहस्र बार विनयाञ्जलि समर्पित करते हुए श्रद्धावनत हो कोटि-कोटि नमन करता हूं।

आपका विनयावनत शिष्य
मुनि वर्धमानसागर (आ० क० श्री श्रुतसागरजी संघस्थ)

❖

विनयाञ्जलि

[मुनि श्री १०८ रयणसागरजी महाराज, मुनि श्री दयासागरजी संघस्थ]

श्रवण बेलगोला स्थित विश्ववंद्य भगवान बाहुबली संसार के आठवें आश्चर्य कहलाते हैं। उनके वीतराग चरणों में विश्व के बड़े से बड़े नास्तिक नत मस्तक हो गये। उन भगवान बाहुबली की प्रतिमा को स्थापित हुए १००० वर्ष हो गये है उसी उपलक्ष मे होने वाले सहस्राब्दि महोत्सव एवं महामस्तकाभिषेक के पुनीत अवसर पर प० पू० चा० च० स्व० १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की परम्परा में तृतीय पट्टाचार्य श्री १०८ आचार्य प्रवर धर्मसागरजी महाराज का अभिवन्दन ग्रन्थ प्रकाशन अनुपम कार्य है जो कि उन अभिवन्दनीय विश्व गुरु के गुणों का अभिवन्दन करने वाला होगा।

प० पू० प्रातःस्मरणीय प्रशान्तमूर्ति चारित्र शिरोमणि आचार्य श्री सरल-शांत स्वभावी हैं। निर्द्वन्द्वता एवं निर्भयता के साथ साथ निस्पृहता एवं निर्लेपता आपके जीवन के उसीप्रकार अभिन्न अंग है जिसप्रकार अहिसा महाव्रत और उसके परिकर रूप अन्य सभी गुण। वात्सल्य और करुणा की प्रतिमूर्ति है। मै अपनी भाव-भक्ति पूर्ण सश्रद्धा विनयांजलि समर्पित करते हुए यह भावना भाता हूं कि पूज्य श्री की छत्रछाया हम लोगों को "यावदेतेऽपवर्गः" प्राप्त होती रहे।

❖

भूयात् पुनर्दर्शनं

[पू० १०५ आर्यिका वीरमती माताजी; प० पू० आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज की शिष्या]

जैन दर्शन में मूल गुणों का अत्यन्त महत्व है। श्रावक और साधु दोनों के ही मूल गुण आगम में कहे गये है। साधु के २८ मूल गुण होते हैं और साधु अवस्था से ही आचार्य बनते हैं। आचार्य के ३६ मूलगुणों का वर्णन शास्त्रों में किया गया है। १२ तप, १० धर्म, ५ पंचाचार, ६ आवश्यक और ३ गुप्ति रूप ३६ मूल गुण आचार्य के पाये जाते हैं। आचार्य ही शिक्षा-दीक्षा एवं प्रायश्चित्त देने के अधिकारी होते हैं। हमारे प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज भी उपर्युक्त सभी गुणों से सम्पन्न है और आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज की परम्परा मे वर्तमान सघ का संचालन एवं मार्ग दर्शन कर रहे है। आपने आचार्य श्री वीरसागरजी से मुनि दीक्षा ग्रहण की थी और मुझे भी आर्यिका दीक्षा उन पूज्य गुरुवर से लेने का अवसर प्राप्त हुआ था अतः धर्मसागरजी महाराज इस दृष्टि से हमारे धर्म-गुरु बंधु हैं। शांतिसागरजी महाराज के बाद वीरसागरजी महाराज और वीरसागरजी महाराज के पश्चात् शिवसागरजी महाराज इस परम्परागत संघ के आचार्य हुये। शिवसागरजी महाराज की सल्लेखना के पश्चात् शांतिवीर नगर, महावीरजी में विशाल जन समुदाय के मध्य चतुर्विध संघ ने आपको आचार्य पद दिया। मुनि अवस्था में लुरई में तथा आचार्य पद के पश्चात् जयपुर में आपके सान्निध्य में चातुर्मास करने का अवसर मिला है। आप अत्यन्त निर्लेपवृत्ति के सरल स्वभावी साधुराज है। मै भगवान् से प्रार्थना करती हूं कि आप चिरंजीवी होवें। इन्हीं यत्किंचित् शब्दों के साथ मै उनके चरणों में विनयाञ्जलि समर्पित करती हूं तथा "भूयात् पुनर्दर्शनं" की भावना भाते हुए कोटि-कोटि वन्दन करती हूं।

❖

विनयाऊजलि

[पू० १०५ आर्यिका श्री पार्श्वमती माताजी, प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्थ]

प० पू० आचार्य कल्प श्री चन्द्रसागरजी महाराज आचार्य श्री शांतिसागरजी के महान शिष्य थे। उन गुरुवर से मुझे आर्यिका दीक्षा लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन्ही गुरुदेव से प० पू० १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज ने क्षुल्लक दीक्षा प्राप्त की थी। मेरा महाराज से उसी समय से अत्यन्त निकट परिचय है, क्योंकि हम कई दिनों तक एक साथ रहे थे। श्री चन्द्रसागरजी महाराज का स्वर्गवास हो जाने पर आप प० पू० वीरसागरजी महाराज के पास आ गये और उनसे क्रमशः ऐलक और मुनि दीक्षा ग्रहण की। आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के स्वर्गवास हो जाने पर वर्तमान में १२ वर्ष से आप आचार्य पद पर सुशोभित है। आप प्रारम्भ से ही सरल परिणामी एवं संतोषवृत्ति के रहे है। मैं आपके पूज्य चरणों में त्रिधा त्रिकाय नमोऽस्तु करते हुए यह भावना भाती हू कि हे पूज्यवर ! आपके चरण सान्निध्य मे मेरा समाधि-मरण हो तथा आप युग-युग तक धर्ममार्ग बताते रहें।

आपके दर्शन शीघ्र हों

[पूज्या १०५ आर्यिका श्री इन्दुमती माताजी]

आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के चरणों में मेरा कोटिशः प्रणाम। प. पू श्री चन्द्रसागरजी महाराज के संघ मे आपके साथ रहने का सुअवसर मिला, क्योंकि मैंने और आचार्य महाराज ने एक ही गुरु (चन्द्रसागरजी महाराज) से क्षुल्लक, क्षुल्लिका के व्रत लिये थे। दुर्दैव से शीघ्र ही चन्द्रसागरजी महाराज का बडवानी मे स्वर्गवास हो गया था। इसलिए चन्द्रसागरजी महाराज के ही गुरु भाई प. पू श्री वीरसागरजी महाराज के सान्निध्य में आकर आपने मुनि दीक्षा और मैंने आर्यिका के व्रत धारण किये।

आप सौम्य प्रकृति, सरल स्वभावी, मधुरभाषी हैं। छल कपट तो आपके हृदय का स्पर्श ही नही कर पाया है। आप निरन्तर ज्ञान-ध्यानाभ्यास मे लीन रहते है। किसी भी प्रपंच में पडना आपको पसन्द नही है। आप करुणा के सागर है, आपके वचन नपे तुले होते है। यद्यपि आप विशेष पढे हुए नही है फिर भी पवित्र तप के प्रभाव से आपके समक्ष बड़े-बड़े विद्वान् दातो तले अंगुली दबा लेते हैं। आपके द्वारा तत्त्व का कथन युक्ति पूर्ण होता है। आपकी महिमा का क्या वर्णन करूं—जब भी आपकी सौम्य एवं शांत छवि का स्मरण हो जाता है तो आंखो से दो अश्रुबिन्दु गिरकर रह जाते है क्योंकि २२ वर्ष के लम्बे अन्तराल से आपके दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो पा रहा है। मैं आप आचार्य श्री के चरणो में कोटिशः नमोस्तु करती हुई प्रभु से प्रार्थना करती हूं कि मुझे शीघ्र ही आपके दर्शन हो।

विनयाञ्जलि

[आर्यिका १०५ श्री जिनमती माताजी; आचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्थ]

अध्यात्मप्रधान इस भारत भू पर सदैव ही आत्मसाधक श्रमण होते रहे हैं । इसी अखण्ड धारा में एक निस्पृह व्यक्तित्व इस २०वीं शताब्दि में प्रगट हुआ है और वे है वर्तमान में हमारे प्रमुख आचार्य प्रवर श्री धर्मसागरजी महाराज । आपकी सब जीवों पर समान दृष्टि है ।

सम सत्तु बंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंद समो ।
समलोट्ठु कंचणो पुण जीविद मरणे समो समणो ।।

कुन्दकुन्द देवाचार्य की उक्त गाथानुसार श्रमण का लक्षण आपमें चरितार्थ होता है । विशाल संघ के नायक होकर भी आप किसी के प्रति लगाव या संघ सम्बन्धी अथवा अन्य भी किसी उलझन में पड़ते हुए दृष्टिगोचर नहीं होते हैं ।

जहां विचारों का वैमनस्य होता है वहां भी आप अडिग एवं प्रसन्न मुद्रा में ही स्थित रहते हैं । इसका एक ज्वलंत उदाहरण है भारत की राजधानी देहली में सन् १९७४ में सम्पन्न हुआ भगवान महावीर स्वामी का २५००वां निर्वाण महोत्सव । उस समय आपने आर्ष परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने हेतु जिस स्थैर्य एवं धैर्य का अवलंबन लिया वह समाज के सामने है । धार्मिक शिक्षण बालकों को मिले इसके लिये भी आप सदैव समाज को प्रेरणा देते रहते हैं । आपकी देशना साधु एवं श्रावकवर्ग दोनों को अपने कर्तव्य के प्रति एक साथ जागृत करती है । जैसे कि "साधु होना स्वादु नही, साधु होकर भी साधु जीवन का आनन्द नही आया यानी आत्मसाधना नहीं की तो साधु काहे का" तथा "गृहस्थ होकर साधु के दोष क्या देखते हो अपने को देखो, व्यापार में बेईमानी करोगे, छल कपट करोगे तो आगे 'दंडा पड़ेगा दंडा' यानी दुर्गति के पात्र होकर दुःख भोगोगे फिर वहा कौन बचाने वाला होगा ।"

उत्तर भारत मे आयी धर्म की ग्लानि को आपने दूर किया । आप वाचन की अपेक्षा पाचन अर्थात् मनन-चिंतन पर अधिक जोर देते हैं । आप दीर्घायु होकर सभी भव्य प्राणियों को मोक्षमार्ग का दिग्दर्शन कराते रहे यही मानस आकांक्षा है । आपके प्रति मेरी भक्ति-श्रद्धा संयुक्त विनयाञ्जलि अर्पित है ।

श्रद्धा सुमन

[पू० १०५ आर्यिका श्री आदिमतीजी, प० पू० १०८ आ० क० श्री श्रुतसागरजी संघस्थ]

प० पू० चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की परम्परा के तृतीय पट्टाधीश आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज हैं । आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज द्वारा आरोपित चारित्ररूपी पौधे की वृद्धि एवं रक्षा आचार्य श्री वीरसागरजी एवं गुरुवर्य आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के द्वारा हुई है । आचार्यत्रय द्वारा अभि-

सिंचित उस चारित्रवृक्ष ने वर्तमान में विशालरूप धारण किया है उसका संरक्षण, सिंचन एवं संवर्धन आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज बहुत ही कुशलता से कर रहे है। आपकी शासन पद्धति अपने आप में बहुत ही महान् है। आपके शासन में इस निकृष्ट काल में भी पूर्वाचार्यत्रय के समान विशाल संघ एक सूत्र मे अनुबद्ध है। आपके हृदय मे स्थित मृदुता की प्रतीक सरल-स्पष्ट व मृदुवाणी तथा मदस्मित हास्य युक्त प्रसन्न मुख मुद्रा से प्रभावित होकर अनेक भव्यात्मा अपने पापों का प्रक्षालन करते हुए जीवन सफल एवं धन्य मानते हैं।

"यथा नाम तथा गुण" के धारक आचार्य श्री वास्तव में धर्म के ही सागर है। जिसप्रकार सागर अनेकों नदियों के प्रविष्ट होने पर भी क्षोभ को प्राप्त नही होता तथा नदियां भी सागर मे मिलकर सागर का रूप धारण कर लेती है उसीप्रकार अनेक पतित एवं निम्नगामी जन भी आपका आश्रय पाकर धर्मरूपी सागर में अवगाहन करके धर्मरूप हो जाते हैं अर्थात् मुनि बन जाते हैं--सागर का रूप धारण कर लेते है। यह आपकी हृदय की विशालता का ही विशिष्ट प्रभाव है। साथ ही आपकी निर्भय एवं निरीहवृत्ति समन्वित समदृष्टि इस आशय को द्योतक है कि निर्धन एवं श्रीमान आदि सभी के प्रति आपका समान व्यवहार है। इसप्रकार आपके ज्योतिर्मय जीवन की जगमगाती ज्योति मे आज कितने ही प्राणी अपनी आत्म ज्योति का अन्वेषण कर रहे है और करते रहेंगे। आपकी अथाह महिमा को प्रदर्शित करना अशक्य है।

मैं प्रशान्तमूर्ति आचार्य श्री के चरणों में त्रिकाल त्रिधा नमोऽस्तु करती हूं तथा यत्किंचित् श्रद्धासुमनों को अर्पण करती हुई यह भावना करती हूं कि गुरुदेव शतायु होकर हमे मार्गदर्शन देते रहें।

❖

विनयांजलि

[आर्यिका १०५ श्री सन्मति माताजी, पू० १०८ आ. क. श्री सन्मतिसागरजी संघस्थ]

इस भारत वसुन्धरा पर समय-समय पर अनेकों नर रत्नो ने जन्म लेकर इस धरा को अलकृत किया है। उसी शृंखला मे गभीरा ग्राम मे बख्तावरमलजी के घर उमरावबाई की कुक्षि से श्रेष्ठ नररत्न का जन्म हुआ और अब वे हैं विशाल संघ के नायक आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज।

आपने आजीवन ब्रह्मचारी रहकर क्रमश: क्षुल्लक, ऐलक और मुनिपद की दीक्षा धारण की एवं अब आप आचार्य पद पर प्रतिष्ठित है। राजस्थान प्रान्त के नैनवां ग्राम मे आपके प्रथम दर्शन करने का मंगल अवसर प्राप्त हुआ आपका स्वभाव द्राक्षावत् बाहर और भीतर समान रूप मे अत्यंत मृदु है। करुणा के आप सागर है तथा जैसा आपका नाम है उसी के अनुरूप आप धर्म के सागर ही हैं। आप जैसे सरल स्वभावी आचार्य को देखकर कौन प्रसन्न नहीं होगा? मैं आप मे पाये जाने वाले असीमित गुणो को कैसे अपनी लेखनी में व्यक्त कर सकती हूं? मै प. पू आचार्य श्री के चरणों में कोटिश: नमोस्तु करते हुए वीर प्रभु से यह प्रार्थना करती हूं कि आप सारोग्य शतायु होकर हम लोगों का मार्ग प्रशस्त करते रहें। इन्ही भावनाओं के साथ मैं अपनी विनयाञ्जलि भी समर्पित करती हूं।
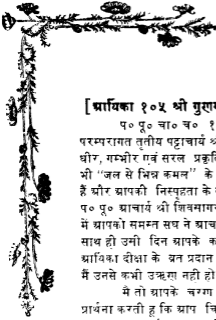
विनयांजलि

[आर्यिका १०५ श्री गुणमती माताजी, मुनि श्री दयासागरजी संघस्था]

प० पू० चा० च० १०८ आचार्य प्रवर श्री शांतिसागरजी महाराज के परम्परागत तृतीय पट्टाचार्य श्री १०८ आचार्य वर्य धर्मसागरजी महाराज परमशात, धीर, गम्भीर एवं सरल प्रकृति के साधुराज हैं। विशाल संघ के अधिपति होते हुए भी "जल से भिन्न कमल" के समान आप संघ का संचालन भी निर्लेपवृत्ति से करते हैं और आपकी निस्पृहता के कारण संघ संचालन सहज भाव से ही हो रहा है। प० पू० आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के स्वर्गवास के पश्चात् शांतिवीर नगर में आपको समस्त संघ ने आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया था। आचार्य पद होने के साथ ही उसी दिन आपके कर कमलों से ११ दीक्षाएं हुई थीं। मुझे भी आपने आर्यिका दीक्षा के व्रत प्रदान किये थे। गुरुवर आपके मुझ पर अनन्त उपकार हैं, मैं उनसे कभी उऋण नहीं हो सकती।

मै तो आपके चरण कमलों में शत-शत नमोऽस्तु करते हुए भगवान से प्रार्थना करती हू कि आप चिरायु हों और आपकी छत्रछाया में हम लोग आत्म-कल्याण का मार्ग प्राप्त करते हुए संसार समुद्र से पार करने वाले इन व्रतों का निर्दोष रीत्या पालन करते रहें। इसी भावना के साथ मै आपके चरणों मे अपनी हार्दिक विनयांजलि अर्पित करती हूं।

❖

विनयांजलि

[आर्यिका श्री १०५ विद्यामती माताजी, आचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्थ]

प० पू० आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज का हम लोगो पर बड़ा उपकार है, कि जिन्होंने मुनिमार्ग को पुनः दर्शाया। उनके प्रधान पट्ट शिष्य श्री आचार्य वीरसागरजी महाराज ने मुनि संघ को अपना विशिष्ट संरक्षण प्रदान किया तथा उनके स्वर्गवास के पश्चात् आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज ने संघ वृद्धि की एवं उसमे दृढ़ता प्रदान की। तत्पश्चात् आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज इस परम्परा में आचार्य पद पर आसीन हुए। आप परमशान्त, सरल स्वभावी, करुणा सागर, प्रसन्न वदन योगिराज हैं। आपके द्वारा अनेक भव्य जीवों को आत्मसाधना का मार्ग प्राप्त हुआ है। मुझ अल्पज्ञा को भी आप से दीक्षा धारण कर आत्म-कल्याण करने का सुअवसर मिला है। मुझ पर आपके असंख्य उपकार हैं। मै उन पूज्य गुरुवर के चरणों मे नतमस्तक होकर सिद्ध-श्रुताचार्य भक्ति पूर्वक शत शत नमोऽस्तु करते हुए यह भावना करती हूं कि उन गुरुदेव की छत्र छाया में भव्यजीव अपना आत्म कल्याण करते रहें।

श्रद्धा सुमन

[आर्यिका १०५ श्री शांतिमती माताजी, आ. क. श्री सन्मतिसागरजी संघस्थ]

बाल ब्रह्मचारी प० पू० १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज जब टोडा-रायसिंह में सन् १६७० में टोंक चातुर्मास के पश्चात् पधारे थे। उससे पूर्व सम्वत् २०११ मे आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के साथ भी आये थे और चातुर्मास किया था उन दिनों आपके उपदेश सुनने का अवसर प्राप्त हुआ था। आपने अपने उपदेश में ससार की असारता बताते हुए कहा था कि अनादि से यह जीव ८४ लाख योनियों में भ्रमण करते हुए अनेक प्रकार के दु ख उठाता है। अतः संसार से छूटने का प्रयत्न करना चाहिए यानी चारित्र धारण करना चाहिए। उनके उपदेशों का मन पर बहुत प्रभाव पड़ा था। आपका तो संघ के साथ विहार हो गया, किन्तु उपदेश मन में अंकित हो गये। आपकी प्रेरणारूप वाणी के फल स्वरूप आ० क० श्री सन्मतिसागरजी महाराज से दीक्षा धारण कर आर्यिका के व्रतों का पालन कर रही हूं। आप मन से तो सरल है, वाणी में लाग लपेट नहीं और काया से साक्षात् मोक्षमार्ग बता रहे है। आपसे अनेक भव्यात्माओं ने दीक्षा प्राप्त कर अपने को मोक्षमार्ग पर लगाया है। मै परम पूज्य आचार्य श्री के प्रति श्रद्धा भक्ति पूर्वक श्रद्धा सुमन अर्पित करते हुए भगवान मे प्रार्थना करती हू कि वे दीर्घायु होकर विश्व मे जैन धर्म के सिद्धातो को बताते रहे।

तरण तारण गुरुदेव

[आर्यिका १०५ श्री निर्मलमती माताजी, मुनि श्री दयासागरजी संघस्था]

नदी के ऊपर जो पुल बना होता है, वह तो लोगों को इस किनारे से उस किनारे तक पार होने में सहायता करता है, किन्तु वह पुल नदी में ही रहता है। अतः पुल को तारण कहते है। इसमे विपरीत नौका स्वय भी नदी के पार जाती है और उसमे बैठने वाले भी पार होते है इसी कारण आचार्य परमेष्ठी को शास्त्रों में तरण तारण कहा है, क्योंकि, आचार्य देव स्वयं संसार समुद्र से पार होते है और अनेक भव्यजीवों को भी रत्नत्रय मार्ग पर आरूढ करके भव समुद्र से पार ले जाते हैं। ऐसे ही 'तरण-तारण' गुरुदेव आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज भी है। हे गुरुदेव ! आप मेरे परमोपकारी है, आपने संसार समुद्र से पार कराने वाली आर्यिका दीक्षा प्रदान कर मुझे मोक्षमार्ग पर लगाया है। अतः आपके द्वारा बताये गये इस मार्ग से मैं अवश्य ही शाश्वत मोक्ष अवस्था को प्राप्त करने मे समर्थ हो सकूंगी।

मैं आपके परम पुनीत चरण कमलो में श्रद्धा-भक्ति पूर्वक कोटि-कोटि बार नमन करते हुए अपनी हार्दिक विनयाजलि समर्पित करती हूं।

❖

उपकारी गुरुवर

[१०५ आर्यिका श्री रत्नमती माताजी, आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी संघस्थ]

परम पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का मेरे ऊपर जो उपकार रहा है उसे मैं अपने जीवन में कभी नहीं भूल सकती हूं। सन् १९७१ में जब आपके विशाल संघ का वर्षायोग अजमेर महानगरी में हुआ था उस समय मैं प्रतिवर्ष की भांति गृहस्थाश्रम से निकलकर पू० ज्ञानमती माताजी व साधु संघों के दर्शनार्थ आई हुई थी। पर्यूषण पर्व के दस दिनों में मुझे साधुओं को आहार दान देकर और विद्वत्तापूर्ण प्रवचनों को सुनकर विशेष आनंद प्राप्त होता था।

यूं तो मैं इसके पूर्व भी ४-५ वर्षों से ज्ञानमती माताजी के निमित्त से संघ में आया करती थी और मुझे साधुओं का सम्पर्क एक अपूर्व शांति प्रदान करता था। किन्तु अजमेर का चातुर्मास मेरे लिए वरदान बना। यही कारण है कि आज मैं गृहस्थी के मोहपाश से छूट कर आर्यिका के रूप में अपने आत्मकल्याण के पथ पर चल रही हूं।

अजमेर में जिस समय मैंने आर्यिका दीक्षा का कदम उठाया आपके समक्ष श्रीफल चढ़ाकर दीक्षा के लिए निवेदन किया आपने शीघ्र ही प्रसन्नता पूर्वक मुझे आशीर्वादात्मक शब्दों के साथ स्वीकृति प्रदान की। पारिवारिक मोह के कारण मेरे घर मे पुत्रों को, बहुओं को तथा समस्त कुटुम्बियों को दीक्षा तिथि ज्ञात होने पर उन लोगों ने दीक्षा रोकने के पूर्ण असफल प्रयास किये। किन्तु मेरी ही सुपुत्री 'मैना' जिन्होंने मुझ से १८ वर्ष पूर्व ही इस पद को धारण किया था आ० ज्ञानमतीजी के रूप में सारे संसार में ज्ञान की ज्योति जला रही है उनके वैराग्य पद उपदेशों ने मुझे दृढ़ता प्रदान की। अत: मैंने दीक्षा प्राप्त करने हेतु चतुराहार का त्याग कर दिया। उस पवित्र दिवस को मैं आज भी विस्मृत नहीं कर सकती मोह और वैराग्य के इस भयंकर संघर्ष के उपरात जन्म जन्मान्तर का पुण्य उदय मे आया और मैंने स्वयं को सभालकर अपनी दृढ प्रतिज्ञा पूरी करने का सकल्प किया तब किसी की एक न चल सकी। फलस्वरूप मगशिर बदी तीज सन् १९७१ के दिन आपके कर कमलों द्वारा मुझे आर्यिका दीक्षा प्राप्त हुई।

२५००वे निर्वाणोत्सव के अवसर पर आपके दिल्ली आगमन पर मुझे दर्शनो का सौभाग्य प्राप्त हुआ उसके बाद मुजफ्फर नगर मे जब कि मुनि श्री सुपार्श्वसागर महाराज की सल्लेखना चल रही थी उस समय भी मुझे आपके चरणसान्निध्य में ४ महीने रहने का सुअवसर मिला।

अब मैं पूज्य आचार्य श्री को परोक्ष से ही वदना करते हुए यह भावना भाती हूं कि आपका शुभाशीर्वाद मेरे समाधिमरण मे सहायक बने।

श्री गुरु के चरणों में मेरा शतश: नमोस्तु—

विनयांजलि

[पू० १०५ आर्यिका शुभमती माताजी, आचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्थ]

आचार्य प्रवर श्री धर्मसागरजी महाराज का मध्यप्रदेश के अन्तर्गत सुरई नगर में जब चातुर्मास हुआ था, उस समय प्रथम व्याख्यान में उन्होंने कहा कि आज इस विषम कलिकाल मे भी रत्नत्रय का आराधन कर लौकान्तिक देव हो सकते है, जो बालब्रह्मचारी रहकर रत्नत्रय के साधक है उनका तो क्या कहना ? अतः काल का बहाना लेकर व्रताचरण में प्रमादी नही होना चाहिये। व्याख्यान के अन्य विषय तो मुझे विस्मृत हुए किन्तु "बालब्रह्मचारी लौकान्तिक देव होते हैं" यह वाक्य मानस पटल पर अमिट रहा, आगे चलकर इसी वाक्य की अव्यक्त प्रेरणा ने मुझको सयम के मार्ग मे अग्रसर किया और उन्ही गुरुदेव के चरण कमलों मे संयम का धारण एवं प्रतिपालन का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है।

आचार्य श्री के उदात्त विचार उनके मुखारविंद से हमेशा ही प्रस्फुटित हुआ करते हैं, निम्न श्रेणी का आचरण ही क्या वाक्य भी आपको कभी भी रुचिकर नही होता। आप हमेशा कहा करते हैं कि जो बिगडा उसको क्या देखते हो जो सुधरा है उसको देखो। इसी को एक कवि ने कहा है "न हि अधोऽधः प्रपश्यन्ति नित्यं ऊर्ध्व यियासवः" अस्तु। इसप्रकार के उच्च पवित्र एवं सरल विचार प्रवर्त्तक आचार्य शिरोमणि के प्रति मेरी हार्दिक श्रद्धायुक्त विनयांजलि अर्पित है। आप शतायु होकर हम जैसे अज्ञ मानवों को मार्ग दर्शन करते रहें यही शुभ कामना है।

हार्दिक भावना

[पू. १०५ आर्यिका शीतलमती माताजी, प० पू० १०८ आचार्यकल्प श्री श्रुतसागरजी महाराज की शिष्या]

१२ वर्ष पूर्व शांतिवीर नगर, महावीरजी पचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज ससंघ पधारे थे, कुछ दिन पश्चात् श्री धर्मसागरजी महाराज भी अपने संघ सहित श्री महावीरजी पधारे। दुर्भाग्य से प्रतिष्ठा से पूर्व आचार्य शिवसागरजी महाराज की असामयिक समाधि हो जाने पर श्री धर्मसागरजी महाराज को आचार्य पद दिया गया। श्री महावीरजी मे मैंने आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के दर्शन किये उसके पश्चात् टोक मे और फिर लाडनूं मे दर्शनों का सुअवसर प्राप्त हुआ साथ ही आहार दान का लाभ भी मिला है। महाराज श्री सदैव प्रसन्न मुद्रा में रहते है वे सरल चित्त है और उनकी वह सरलता वाणी में भी प्रस्फुट होती है। उनके प्रवचन मे ज्ञानाभ्यास के साथ-साथ चारित्र पालन पर अवश्य जोर रहता है। वे कहा करते है भले ही कम पढ़ो पर जीवन में उतारो। आचार्य महाराज शतायु होवे इसी भावना के साथ उनके चरणारविंद में शतशः नमोऽस्तु करते हुए भावना भाती हूं कि उनकी छत्र छाया में चिरकाल तक हम आत्मकल्याण करते रहें।

श्रद्धा सुमन

[पू० १०५ आर्यिका श्रुतमतीजी, प० पू० आ० क० श्री श्रुतसागरजी संघस्थ]

प० पू० गुरुवर्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज इस युग के विशिष्ट अद्भुत महिमावान् निर्ग्रन्थ श्रमण सन्त हैं। जो भी व्यक्ति आपकी शरण मे आता है उसे आप उत्थान के मार्ग में लगाते हैं आप परम दयालु हैं, मुझ अल्पज्ञा को भी आपने संसार समुद्र से पार होने के लिए हस्तावलम्बन स्वरूप स्त्रियोचित उत्कृष्ट आर्यिका दीक्षा देकर महान् अनुग्रह किया है। वस्तुत: जगत् में गुरु से बढ़कर इस जीव का अन्य कोई हितैषी नहीं। "गुरुभक्ति सती मुक्त्यै क्षुद्रं किं वा न साधयेत्।"

मुझे दृढ़ श्रद्धा एवं अविचल विश्वास है कि मेरे भवोदधितारक आप ही है। आपकी गुण गरिमा का वर्णन मुझ जैसी तुच्छ बुद्धि क्या कर सकती है, क्योंकि, आप तो धर्म के साक्षात् सागर हैं और सागर रत्नों का भण्डार होता है, आपमे भी अनेक अनुपम गुण रत्न है, उन गुणरत्नों को शब्दावलीमें लिखनेके लिये कोई भी समर्थ नही है। आपके अन्तर हृदयमें प्रस्फुटित सरल-सुबोध सुधा पूरित निर्मलवाणी का ऐसा दिव्य प्रभाव है कि जो भी उस वाग्गङ्गा में अवगाहन करता है उसे आत्मिक शांति के साथ ही सही दिशाबोध भी होता है। आपकी शान्त-सौम्य छवि का अवलोकन मात्र ही हृदय मे एक अपूर्व आनन्द प्रदान करता है।

मै परम पूज्य गुरुवर्य आचार्य श्री के चरणों मे श्रद्धा-भक्ति सहित विनयावनत हो शत सहस्र बार नमोऽस्तु करते हुए श्रद्धा सुमन अर्पित करती हूं तथा भावना करती हू कि "यावदेनेऽपवर्ग:" आपका चरण सान्निध्य प्राप्त होता रहे।

मेरा जीवन धन्य हो गया

[१०५ आर्यिका श्री शिवमती माताजी, आर्यिका रत्न ज्ञानमती माताजी संघस्थ]

प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज आचार्य शान्तिसागरजी महाराज की वंशावली के पट्टाचार्य है। मै जब पू० ज्ञानमती माताजी के साथ श्रवणबेलगोल से संघ में आई तब आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के नेतृत्व में चतुर्विध संघ का संचालन हो रहा था। कुछ दिनों बाद आचार्य श्री का अकस्मात् समाधिमरण हो गया। उस समय संघ में खलबली मची थी कि किसे आचार्य पद दिया जाए। अन्त में आपकी गंभीरता, सरलता आदि देखकर संघ के समस्त साधुओं ने आपको आचार्यपट्ट देने का निर्णय लिया।

आपके आचार्यपद पर आसीन होने के बाद कई बार मेरे चौके में भी आपके आहार हुए। आहार के समय में भी आपकी प्रसन्नमुद्रा दाता के चित्त को अनुरंजित करती है। कितने ही बार मुझे भी आहार दान का अवसर मिला जिससे हृदय गदगद हो जाता था।

आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की परंपरा के आप तीसरे पट्टाचार्य हैं और आज भी विशाल चतुर्विध संघ का विधिवत् संचालन कर रहे है। २५००वे निर्वाणोत्सव के अवसर पर जब आप अपने संघ के साथ दिल्ली में पधारे उस समय भी मैंने कुछ दिवसों तक आहार दान दिया

अनंतर पूज्य श्री ज्ञानमती माताजी की बार-बार प्रेरणा से मेरे हृदय में भी दीक्षा की भावना जागृत हुई मैंने पूज्य मताजी के समक्ष अपने विचार रखे। माताजी को भी अत्यंत प्रसन्नता हुई कि इससे अच्छा अवसर कब प्राप्त होगा और वह मुझे आपके चरणसान्निध्यमें प्रार्थना करनेके लिये लाईं। जिसके फलस्वरूप उसी निर्वाणोत्सवके अनंतर भगवान् महावीर के दीक्षा दिवस "मगशिर वदी दशमी" के दिन मुझे आपके कर कमलों द्वारा आर्यिका दीक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरा जीवन उस दिन धन्य हो गया। आपके शुभाशीर्वाद से आज भी मैं अपने व्रतों का पालन करते हुए मोक्ष मार्ग पर चल रही हूं।

अन्त मे वीर प्रभु से यही प्रार्थना है कि आप दीर्घायु होकर इस धरातल पर हम जैसे अज्ञानी प्राणियों को मुक्ति का पथ सुलभ कराते रहे।

परम पू० आचार्य श्री के चरणों में त्रिकाल नमोऽस्तु—

सच्चे साधु

[१०५ आर्यिका श्री पार्श्वमतीजी, मुनि श्री पुष्पदंतसागरजी संघस्थ]

विषयाशा-वशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञान-ध्यान तपो रक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ।।

जो विषय भोगो की आशा से व आरम्भ–परिग्रह से रहित हैं तथा जो ज्ञान–ध्यान और तप में अनुरक्त है वे तपस्वी स्तुति योग्य हैं। रत्नकरण्डश्रावकाचार में कथित साधु के उक्त सभी गुण आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज में पाए जाते हैं।

यथार्थ में आचार्य श्री निस्पृही, परम तपस्वी, आगमभक्त, श्रेष्ठ आचार्य हैं। आप स्व-पर कल्याण में सदैव निरत रहते हैं। आपका ऐसा अपूर्व व्यक्तित्व है कि विरोधी भी आपके चरणों में आकर शांत हो जाते हैं ऐसे आचार्य देव को मेरा मन-वच-काय से त्रिकाल नमोऽस्तु।

हे परम पूज्य ! शत-शत नमन ! हे विश्ववंद्य ! शत-शत अभिवन्दन ।।

विनयाञ्जलि

[१०५ आर्यिका सुरत्नमतीजी, मुनि श्री दयासागरजी संघस्थ]

साधूनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थभूता हि साधवः ।
कालेन फलति तीर्थं सद्यः साधोः समागमः ।।

"साधुओं के दर्शन से पुण्य होता है, क्योंकि साधु तीर्थ स्वरूप हैं, तीर्थ दर्शन तो कालान्तर में फलदायी होता है, किन्तु साधु दर्शन से तत्काल ही फल मिलता है ।" इसी उक्ति के अनुसार मेरे मन में साधु समागम की उत्कट भावना घर कर गई । कुछ ही दिन में मुनि श्री सुपार्श्वसागरजी महाराज ससंघ हमारे प्रान्त में पधारे उनके दर्शन करने पर मन में बड़ा हर्ष हुआ और उन्हीं के साथ विहार करते हुए सन् १९७४ के चातुर्मास में दिल्ली आ गई । दिल्ली महानगर में वीर निर्वाणोत्सव के निमित्त समुद्रसम गम्भीर आचार्य प्रवर श्री धर्मसागरजी महाराज अपने विशालतम संघ के साथ विराजमान थे । उनके सर्व प्रथम दर्शन ने ही चिरसंचित उत्कण्ठा को शांत किया । परम शान्त ऋषिराज का प्रथम दर्शन ही दृष्टि निर्मलता का कारण बना । उसी समय मन में स्मरण हो आया कि—

गुरु भक्ति सती मुक्त्यै, क्षुद्रं किं वा न साधयति ।
त्रैलोक्यऽमूल्य रत्नेन, दुर्लभः किम् तुषोत्करः ।।

अर्थात् गुरु भक्ति से जब मुक्ति प्राप्त होती है तो क्या उससे क्षुद्र पदार्थों की प्राप्ति नहीं हो सकती ? जैसे अमूल्य रत्न से तीन लोक की सम्पत्ति प्राप्त होती है तो उससे धान्य का छिलका प्राप्त नहीं हो सकता ? अवश्य ही प्राप्त हो सकता है । इन्हीं विचारों ने मन को प्रेरित किया कि अनादि काल से संसार के दुःखों से संतप्त मुझ छद्मस्था को इन गुरुदेव की भक्ति और इनके चरण सान्निध्य में ही संसार समुद्र से पार होने का मार्ग-उपाय प्राप्त हो सकता है । अतः मैंने निर्णय किया कि अब इन परम गम्भीर एवं शांत गुरुवर की सन्निधि में ही अपना जीवन व्यतीत करना है । लगभग एक वर्ष के पश्चात् सन् १९७५ में आचार्य श्री की महदनुकम्पा से अन्तरङ्ग में वैराग्य का जो बीज अंकुरित हो गया था वह वृक्ष का रूप धारण करना चाहता था अतः गुरुदेव से प्रार्थना की तथा उनकी सहर्ष स्वीकृति के साथ आर्यिका के व्रत ग्रहण का लाभ मिला । पाच वर्ष के लगभग हो गये गुरुवर्य की अनुकम्पा और उनके आशीर्वाद से व्रतों का निर्दोष पालन हो रहा है ।

मैं प० पू० प्रातः स्मरणीय, परम शान्त-गम्भीर, पूज्यातिपूज्य यतियों के भी वंद्य, जगद्गुरु आचार्य वर्य श्री धर्मसागरजी महाराज के परम पावन चरणों में त्रिकरण शुद्धि पूर्वक त्रिकाल कोटि-कोटि वंदन करते हुए उनके दीर्घायुष्य की कामना करती हूं तथा अपनी हार्दिक विनयाञ्जलि समर्पित करती हूं ।

श्रद्धा सुमन

[आर्यिका १०५ श्री चन्द्रमती माताजी, आ० क० श्री १०८ सन्मतिसागरजी संघस्था]

जन्म उन्हीं महापुरुषों का उत्तम व सार्थक होता है, जिन्होंने अपने जीवन में शुद्धोपयोग को लक्ष्य बनाकर निरन्तर धर्मध्यान में मन को लगाया है। हाड़ोती प्रान्त के गम्भीरा ग्राम में जन्मे प० पू० आचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज भी ऐसे ही महा पुरुष है जिन्होंने आत्म विशुद्धि के लिये चारित्रमार्ग को धारणकर अनेक अन्य जीवों को भी उस पुरुषार्थ मार्ग पर लगाया है व लगा रहे हैं। आचार्य श्री का जीवन अनेक गुणों का पुञ्ज है। उनका जीवन उच्चकोटि का अलौकिकवृत्ति सयुक्त है। मुझ जैसी अल्पबुद्धि उनके महान् गुणों का वर्णन कैसे कर सकती है। महाराज श्री के सर्वप्रथम दर्शन मदनगंज किशनगढ़ में करने का अवसर प्राप्त हुआ। अखंड आजन्म ब्रह्मचर्य के पालयिता आचार्य श्री महातपस्वी एवं ज्ञान-ध्यान में सदैव लगे रहकर चारित्र का दृढ़ता से पालन करते है। उन्हें चारित्र मार्ग में किंचित् भी शिथिलाचार इष्ट नहीं है। अपनी सरल, किन्तु स्पष्ट वाणी से द्वादशांग के चारों अनुयोगों का कथन स्याद्वाद शैली में करते हुए भव्यजीवों को उपदेश देते हैं। आपने आर्षपरम्परा के संरक्षण मे ही अपना जीवन समर्पित कर दिया है। मुझ अल्पज्ञा को भी आपसे अप्रत्यक्ष प्रेरणा मिली और मैं भी आ. क. श्री सन्मति-सागरजी से दीक्षा लेकर उन्ही के चरण सान्निध्य में ही आत्म कल्याण के मार्ग में अग्रसर हूं। अनेकों जीवों पर उपकार करने वाले पूज्य आचार्य श्री के चरणों में अनन्य श्रद्धापूर्वक कोटिशः नमन करती हूं तथा अपने श्रद्धासुमन समर्पित करते हुए वीर प्रभु से प्रार्थना करती हूं कि वे दीर्घायु होकर हम लोगों का मार्ग प्रशस्त करते रहें।

विनयाञ्जलि

[१०५ आर्यिका श्री प्रज्ञामती माताजी, मुनि श्री दयासागरजी संघस्था]

प. पू. गुरुदेव मुनि श्री दयासागरजी, पूज्यातिपूज्य आचार्य श्री के सम्बन्ध में बताया करते है कि वे बड़े सरल परिणामी एवं निस्पृहवृत्ति युक्त साधुराज हैं। मैंने स्वयं भी आचार्य श्री के चरण कमलो मे सप्तम प्रतिमा के व्रत धारण करने का सुअवसर प्राप्त किया है एवं कुछ दिन साथ में रहने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ है। मैंने अनुभव किया कि आचार्य श्री का जीवन करुणा का सागर ही है। आप साक्षात् धर्म के उदधि ही लगते है। परिग्रह रहित होते हुए भी रत्नत्रय लक्ष्मी के स्वामी है। सदैव निरभिमानपना आपके मार्दवगुण का द्योतक है। मुझे आपकी अनुज्ञा से ही आपके सुशिष्य मुनि श्री दयासागरजी महाराज द्वारा दीक्षा प्रदान की गई अतएव आर्यिका व्रत पाकर मैं आपसे उपकृत हूं।

मैं प. पू. प्रातःस्मरणीय, परमोपकारी सरल-शांत स्वभावी, वात्सल्यमूर्ति आचार्य श्री के परम पुनीत चरण कमलों मे अपनी विनयाञ्जलि समर्पित करते हुए कोटि-कोटि नमन करती हूं।

मैं धन्य हो गई

[पू. १०५ आर्यिका धन्यमती माताजी, प. पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्थ]

प० पू० आचार्य प्रवर श्री वीरसागरजी महाराज के नागौर चातुर्मास से मुझे साधु संघ में निरन्तर रहने का प्रसंग प्राप्त हुआ है। उससे पूर्व चन्द्रसागरजी महाराज के पास भी कभी-कभी जाया करती थी। नागौर चातुर्मास में प. पू. धर्मसागरजी महाराज क्षुल्लकावस्था में थे। आप परम संतोषी एवं सरल परिणामी थे और अब भी वे गुण यथावत् आपमें विद्यमान हैं। मुझे सारा जीवन साधु सेवा में व्यतीत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है यह मेरा पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म का फल ही मैं समझती हूं। साधुसंघों के साथ तीर्थ यात्रा करने का पुण्य अवसर भी प्राप्त हुआ मेरा मनुष्य जन्म कृतार्थ हो गया, किन्तु अभी इस जीवन पर कलश चढ़ना शेष था सो परम शांत परिणामी, वात्सल्यमूर्ति, बालब्रह्मचारी गुरुवर्य १०८ आचार्य धर्मसागरजी महाराज के ससंघ उदयपुर में वि० सं. २०३५ के चातुर्मास में आर्यिका दीक्षा लेकर उसकी पूर्णता हो गई। मेरा जीवन धन्य हो गया, मैं धन्य हो गई, जो प० पू० गुरुदेव की कृपा से स्त्रियोचित उत्कृष्ट दीक्षा (आर्यिकादीक्षा) प्राप्त हुई। मैं भावना करती हूं कि मेरी अन्तिम सल्लेखना आपके श्री चरणों में होवे तथा आपके आशीर्वाद से जीवन पर्यन्त ये व्रत निर्दोष पलते रहें। मैं अभिवन्दन की इस पुण्य बेला पर उपकारी गुरुवर के चरणों में त्रिधा नमोऽस्तु करते हुये अपनी हार्दिक विनयाञ्जलि समर्पित करती हूं।

श्रद्धा सुमन

[१०५ क्षुल्लक श्री सिद्धसागरजी, प. पू. आचार्य वीरसागरजी के शिष्य]

प० पू० आचार्य महाराज धर्म के प्रति सहज परम भक्तियुत हैं अत: आपने अवश्य अमृत को निकट कर लिया है।

मैं सद्धर्मप्राण आचार्य महाराज के चरणों में सादर सभक्ति नमस्कार पूर्वक विनयाञ्जलि अर्पण करता हूं।

मंगल भावना

[क्षु० श्री सन्मतिसागरजी–आचार्य सुमतिसागरजी के शिष्य]

प० पू० चारित्र चक्रवर्ती युगप्रवर्तक श्री १०८ आचार्य शिरोमणि शांतिसागरजी महाराज के पट्ट पर तृतीयाचार्य वात्सल्यमूर्ति, सत्य के सिंहनादी, समदृष्टि, धर्म दिवाकर श्री १०८ आचार्यश्रेष्ठ धर्मसागरजी महाराज के गुणों की गरिमा वचनातीत है। आचार्य श्री के उपकारों से हम मानव ऋणी हैं। उनका गौरव दिग्दिगान्तरों में महक रहा है।

आचार्य श्री चिरायु रहते हुए एकान्त मिथ्यात्वरूप मार्ग पर भटके हुए भव्यात्माओं को स्याद्वादात्मक सम्यक् मार्ग बताते रहें। इसी मंगल भावना के साथ मैं उनके चरणों में नमन करते हुए अपनी विनयाञ्जलि अर्पित करता हूं।

शुभ कामना

[क्षु० श्री सुरत्नसागरजी महाराज]

प० पू० प्रशान्तमूर्ति प्रात:स्मरणीय १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के पावन चरण कमलों मे सादर नमोऽस्तु ! नमोऽस्तु ! ! नमोऽस्तु ! ! !

आचार्य श्री वात्सल्य की प्रतिमूर्ति हैं । वे लौकिक महत्त्वाकांक्षा तथा स्वार्थ-वृत्ति से रहित हैं, समदृष्टि है, सत् धर्म का दृढता से पालन करने वाले तथा विषय-कषाय विवर्जित हैं । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रयी आत्म-धर्म से संयुक्त । आपके द्वारा दी गई शिक्षा-दीक्षा एवं प्रायश्चित्तादि को ग्रहणकर अनेकों भव्यात्माएं अपना कल्याण कर रही हैं और करती रहेगी । आप शतायु हों तथा आपकी छत्र छाया में श्रमण संस्कृति की कीर्ति दिग्दिगन्तव्यापी हो यही मेरी शुभ कामना है ।

उच्च व्यक्तित्व के धनी और शान्ति के अवतार आचार्य श्री

[१०५ क्षुल्लक श्री सिद्धसागरजी महाराज; प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के शिष्य]

हे गुरु तेरे गुण गौरव की गाथा, मैं पामर क्या लिख पाऊंगा ।
जैसे चांद चमकता आकाश बीच, मैं बौना क्या छू पाऊंगा ।।

आचार्य परमेष्ठी पद को प्राप्त करके आप विशाल चतुर्विध संघ का नेतृत्व कर रहे हैं, अद्यतन मुनिवर्ग में आपका गुणमान्य स्थान है, संघ-नेतृत्व व सचालन के साथ साथ आप आत्मोन्नति के पथ पर बढते जा रहे है, आपका तप-तेज-ज्ञान और यश उत्तरोत्तर बढता जा रहा है, इसमें कोई संदेह नही कि आचार्य परमेष्ठी में आगम के अनुसार जितने गुण होने चाहिए, वे समस्त आपमें विद्यमान है । आपके द्वारा सर्वत्र धर्म प्रभावना हो रही है, जहां भी आपका मगलमय विहार होता है, वहां की समाज तथा जनता पर आपका अपूर्व प्रभाव पडता है । वैसे अनेकानेक प्राणियों को सन्मार्ग पर लगाकर आपने मानवता का पाठ पढाया है तथा आत्मसाधना में लगाये है; परन्तु मुनि, आर्यिका एवं क्षुल्लक आदि की दीक्षा देकर आपने जो अनेक भव्य प्राणियों का कल्याण किया है, वह इतिहास के पन्नों पर अमर रहेगा; वे साधुजन आपके ही मार्ग पर बढ रहे हैं और आपकी साधना को साकार करने में तत्पर है अर्थात् आपके दीक्षित साधु समुदाय को देखकर आपके गम्भीर व्यक्तित्व का सहज में ही भान होता है ।

आपके सम्पर्क में जो व्यक्ति एक बार भी आ गया वह आपकी सौम्यमूर्ति को विस्मृत नहीं कर सकता; आपका व्यवहारपक्ष जितना सुन्दर और सबल है, उतना ही अध्यात्मिक पक्ष प्रबल है, समता आपके व्यवहार में सहचरणी के रूप में रहती है; सच तो यह है कि आपकी मधुर वाणी तथा सौम्यछवि ने जन-जन के हृदय में अपना स्थान बना लिया है, अर्थात् आपके निर्मल मन की आभा ने लोगों को अपनी ओर खींच लिया है एवं आपकी सरलता व भद्रता ने देश और समाज पर मानों जादू कर दिया है; जिधर देखो आप 'सम' दिखाई देते हैं; सारांश यह है कि आपकी अन्तस्तल अमृतवाणी के मधुर स्रोत से पत्थरवत् हृदय वाले लोग भी तृप्त हो जाते हैं और मगल दिशा का बोध प्राप्त करके अपना अहोभाग्य मानते है । आपके जीवन का प्रत्येक क्षण उच्च साधना का परिचय देता है, क्योंकि मिथ्यान्धकार से ग्रसित जीवों को आप अपने अन्तर आलोक से प्रकाश प्रदान करने में सूर्यवत् सिद्ध हुए है ।

पूज्य गुरुदेव लोकानुरंजन और लोकैषणा से सर्वथा दूर रहते हैं, रत्नत्रय की निधि के आलोक में आप सदैव अलोकित रहते हैं, आपकी आगमनिष्ठा एवं तपश्चर्या श्लाघनीय है तभी तो आज दिगम्बर साधुसमुदाय में आपका जीवन अत्यन्त गौरवपूर्ण एवं श्रद्धा के आधार का केन्द्र बना हुआ है ।

वीतरागवाणी को जीवन में साकाररूप देनेवाले, आर्त्त और रौद्रध्यान से सदा दूर रहने वाले, धर्मध्यान में रत एवं शुक्लध्यान की भावना भाने वाले, स्व-पर कल्याण में दत्तचित्त रहने वाले, साधना में सर्वोच्च स्थान रखने वाले, प्रेरणास्पद व्यक्तित्व के धनी, दिव्यज्योति, करुणा के सागर, प्रवचनपटु, शान्तस्वभावी, भद्रपरिणामी, ज्ञान-ध्यान-तप जप में सदा निरत, निस्पृह, सहिष्णुता की साकारमूर्ति, अद्वितीय सन्त बस यही है आपका जीवन परिचय ।

ऐसे परम तपस्वी, तरणतारण पुज्य श्री गुरुदेव के चरण-कमलों में मेरा शत शत वन्दन, शत शत वन्दन, शत शत वन्दन ।

तरण-तारण आचार्य श्री

[क्षुल्लक श्री पद्मसागरजी महाराज]

प० पू० आचार्य श्री तरण-तारण हैं । वे स्वयं मोक्षमार्ग पर चल रहे हैं और अनेक जीवों को भी कल्याणपथ मे लगा रहे है । प्रसन्नवदन आचार्य श्री लोकानुरंजन से सर्वथा दूर रहते हैं तथा चारित्र का परिपालन करते हुए स्याद्वाद मार्ग का प्रचार-प्रसार निरन्तर कर रहे है । उनके चरणों में नमोऽस्तु करते हुए उनके दीर्घ जीवन की मंगल कामना करता हूं ।

विश्ववंद्य गुरुदेव

[१०५ क्षुल्लिका श्री प्रवचनमती माताजी]

निर्ग्रन्थ चर्या वैसे तो प्रत्येक युग में कठिन चर्या रही है, किन्तु इस कलियुग में तो यह और भी कठिन हो गई है, क्योंकि इस भौतिक युग में लोगों की भोग लिप्सा प्राणियों में आत्मरुचि तथा संसार से विरक्ति नही होने देती। इसी को सोमदेव सूरि ने इन शब्दों में कहा है—कलौ काले चले चित्ते, देहे चान्नादि कीटके।

एतच्चित्रं यदद्यापि, जिनरूप धरा: नरा: ॥

अर्थात् इस कलि काल में मनुष्यों के चित्त चंचल हो गये हैं, धर्म में उपयोग स्थिर नहीं रहता तथा शरीर अन्नका कीड़ा बन गया है, तथापि बडा आश्चर्य है कि आज भी जिनेन्द्ररूप के धारक निर्ग्रन्थ साधु पाये जाते हैं। यह सब प्रताप आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज का है। इसीलिए तो शास्त्रों में गुरुओं को अज्ञान अंधकार के नाशक कहा है और अपनी ज्ञान शलाका के द्वारा अज्ञान से उन्मिलित नेत्रों को खोलने वाले होने से उनकी वंदना की गई है।

इसी गुरु परम्परा के तेजस्वी ध्रुव नक्षत्र प० पू० प्रात: स्मरणीय परमोपकारी विश्ववंद्य गुरुवर्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज हैं। आपका जीवन सादा, सौम्य और उच्च है। सभी धर्मात्माओं के प्रति समदृष्टि एवं वात्सल्यता रखते है। ऐसे महापुरुषों के सान्निध्य में जीवन यापन करने का सुअवसर प्राप्त होना अनेक जन्मों के संचित पुण्योदय की सूचना है और जिसने इसे प्राप्त कर लिया उसके जीवन में महान् उपलब्धि हो गई, क्योंकि गुरु तरण-तारण है अत: उनके सान्निध्य से संसार समुद्र से पार होने का रास्ता मिलता है।

आचार्य श्री ने अपने जीवन में परम अहिंसा संयम तप व त्याग को अपनाकर एक महान् उच्च आदर्श प्रस्तुत किया है। जैन संस्कृति, जैन तीर्थ, जैन मन्दिरों और जैनागम की सुरक्षा की लगन आपको परम्परागत रूप से आचार्य शांतिसागरजी से विरासत मे मिली है। आर्ष परम्परा की रक्षा के लिये आप अहर्निश जागरूक रहते हैं। आप परम शांत हैं और हैं निर्द्वन्द्व। ऐसे आचार्य परमेष्ठी के पावन चरणों में शत्-शत् नमोस्तु करते हुए अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करती हूं।

शत शत वंदन

[क्षुल्लिका १०५ श्री यशोमतिजी, मुनि श्री १०८ संभवसागरजी संघस्थ]

प० पू० गुरुवर्य आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज अनेकों गुणों के भण्डार है हम छद्मस्थ उनके गुणों का वर्णन किस प्रकार कर सकते हैं। आप करुणा सागर हैं, रत्नत्रय निधि के स्वामी होकर भी आप परिग्रह त्यागी हैं, दिगम्बर भेष धारण कर आप भव-भव में संचित कर्म राशि को दहन करने में तत्पर हैं, आपका त्याग एवं तप अद्वितीय है। आपकी निस्पृहता एवं निर्भयता विश्व विख्यात है। आपसे अनेकों जीवों ने दीक्षा धारण कर अपनी आत्मा को मोक्ष मार्ग पर लगाया है। मुझ अल्पज्ञा को भी आपने क्षुल्लिका दीक्षा देकर कृतार्थ किया है। आपके ये उपकार मैं भव-भव में नहीं भूलूंगी। आप तरण-तारण हैं। मैं आपके चरणों में शत-शत वंदन करते हुए अपनी हार्दिक विनयांजलि समर्पित करती हूं और वीर प्रभु से प्रार्थना करती हूं कि आपका आशीर्वाद प्राप्त करते हुए आपकी छत्रछाया में आत्मकल्याण करती रहूं। आप चिरायु होकर धर्म प्रभावना करते रहें।

ख्याति-पूजा-लाभ से निरासक्त आचार्य श्री

[दशम प्रतिमाधारी ब्र० श्री लाड़मलजी जैन संघस्थ]

प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का व मेरा लगभग ४० वर्ष का सम्पर्क है। प० पू० आ० क० चन्द्रसागरजी महाराज की ही महान कृपा है कि हम लोगों का जीवन सुधरा। उनके चरणसान्निध्य में रहकर जो कुछ भी प्राप्त किया वह जीवन में यथाशक्य ढालने का प्रयत्न किया और कुछ सफलता भी प्राप्त हुई। गृहस्थावस्था में ब्र. कजोड़ीमलजी के नाम से प्रसिद्ध आचार्य श्री धर्मसागरजी के जीवन में गृहस्थावस्था से ही परम सन्तोष रहा है। आपकी भावना जब बनी कि दीक्षा लेना चाहिए, तब आप महाराज से कभी कुछ नहीं कहते थे दीक्षा प्राप्त न होने तक विभिन्न रसों का परित्याग करते रहते थे। इसका रहस्य उनकी बहिन ब्र० दाखाबाई ने खोला। कुछ दिन में ही आपने क्षुल्लक दीक्षा धारण की। दुर्भाग्य से एक वर्ष के पश्चात् आ० क० श्री १०८ चन्द्रसागरजी महाराज का स्वर्गवास हो गया। आप प० पू० आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के पास आ गये और गुरु आज्ञा का पूर्णतया पालन करते हुए मन की सरलता पूर्वक रहे। आत्मकल्याण की भावना से गुरु सान्निध्य में रहते हुए ७ वर्ष पश्चात् मुनि दीक्षा धारण कर ली एवं गुरुवर्य के साथ विहार करते रहे। आप अत्यन्त शान्त परिणामी रहे है, सभी के प्रति समान बुद्धि है। आपने कई भव्य जीवों को दीक्षा प्रदान कर उनको आत्म कल्याण के मार्ग में प्रवृत्त किया है। बुन्देलखंड प्रान्त में आपके तीनों ही चातुर्मास प्रभावना पूर्वक हुए। सम्वत् २०२५ में आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के स्वर्गवास के पश्चात् आपको महावीरजी में उपस्थित साधुगणों ने संघ का आचार्य बनाया तथा विशाल जन समुदाय ने अपनी अनुमोदना की। आचार्य पद को १२ वर्ष होने को आये आपमें इतने विशाल संघ के आचार्य होने के नाते कभी भी अभिमान नहीं आया। आपने जिस श्रद्धा से वीरसागरजी, चन्द्रसागरजी महाराज को देखा वही श्रद्धा आपकी शिवसागरजी के प्रति भी रही। आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज के द्वारा आगमानुसार विहित मार्ग के आप पूर्ण संरक्षक है। आपने आगम के विपरीत एक शब्द भी सुनना पसन्द नहीं किया इसका ज्वलंत उदाहरण भगवान् महावीर स्वामी का २५००वां निर्वाणोत्सव है। आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की परम्परा को आपने संरक्षित तो किया ही है चतुर्गुणित रूप से संवर्द्धित भी किया है। मुझ पर आपकी अनुकम्पा रही है। पहले तो आचार्य श्री से मेरा गुरु भाई का गहरा सम्बन्ध था, किन्तु दीक्षा धारण करने के पश्चात् गुरु का पद तो पा ही लिया था, अब ३ वर्ष पूर्व तो साक्षात् गुरु-शिष्य का सम्बन्ध स्थापित हुआ जब आपने मुझे दसवीं प्रतिमा के व्रत प्रदान कर अनुग्रह किया है। आप अत्यन्त निस्पृह एवं निर्द्वन्द्व साधुराज हैं। मैंने ४० वर्षों में कभी भी आपको अत्यन्तरूप से क्रोधित होते नहीं देखा। आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के रहते हुए भी जब आप ३ मुनिजन (आप, सन्मतिसागरजी, पद्मसागरजी) विहार कर रहे थे तब सागर में व ४ क्षुल्लक दीक्षा प्रदान करते समय टोंक में और ५ मुनि एवं १ ऐलक दीक्षा देते समय बूंदी में समाज ने आचार्य पद देने की प्रार्थना की तब आपने सर्वथा अस्वीकार कर दिया था। अब आचार्य बनने के बाद भी आपको पद के प्रति लगाव नहीं है। सहजरूप में ही आप संघ संचालन कर रहे हैं। यह मेरे लिए हार्दिक प्रसन्नता का विषय है। मैंने आपको ब्रह्मचारी अवस्था से देखा है अत: मैं कह सकता हूं कि उनके जीवन में त्याग व चारित्र के प्रति सदैव श्रद्धा रही है और उसीके अनुरूप उन्होंने अपने चारित्र को निर्मल बनाया है। उसीका प्रतिफल आपको आचार्य पद के रूप में मिला। आप प्रशंसा से जितना अधिक दूर भागते हैं कीर्ति उतना आपके नजदीक आती है। ख्याति-पूजा-लाभ से सर्वथा निरासक्त भाव ही आपके जीवन का उत्कृष्ट गुण है। मैं अनेक गुणों के पुञ्ज स्वरूप आचार्य श्री के चरणों में श्रद्धा-भक्ति से त्रिकाल नमोऽस्तु करते हुए अपने श्रद्धा सुमन समर्पित करता हूं तथा आपके दीर्घ जीवन की भावना करते हुए आपकी छत्रछाया में मार्ग दर्शन प्राप्त होता रहे ऐसी कामना करता हूं।

❖

मंगल कामना

[स्वस्ति श्री चारुकीर्ति पट्टाचार्य स्वामी, श्रवणबेलगोला]

संरक्षक—अभिवन्दन ग्रन्थ समिति

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के तृतीय पट्टाचार्य प० पूज्य प्रशान्तमूर्ति आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के अभिवन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन, भगवान बाहुबलि प्रतिष्ठापन सहस्राब्दि महोत्सव एवं महामस्तकाभिषेक महोत्सव पर होने जा रहा है यह सुनकर हार्दिक सन्तोष हुआ। पूज्य आचार्य श्री से आज तक जितने मुनिराज दीक्षित हुए हैं शायद ही अन्य आचार्य से इतने मुनि दीक्षित हुए हों। वे निर्भीक वक्ता एवं आर्ष परम्परा के प्रबल समर्थक महान् तपस्वी योगीराज हैं। उन चारित्रशिरोमणि आचार्य श्री के प्रति मेरी हार्दिक विनयाञ्जलि समर्पित है तथा मंगल कामना है कि वे दीर्घकाल तक धर्म प्रभावना करते रहें।

मंगल कामना

[भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्तिजी स्वामी, हुम्मच पद्मावती कर्नाटक]

भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा में प्रातः स्मरणीय चारित्र चक्रवर्ति आचार्य श्री १०८ शांतिसागरजी महाराज की परम्परा के तृतीय पट्टरूप में आचार्यपद को ग्रहण किये हुए परम पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज कठोर तपस्वी, शांतस्वभावी एवं गम्भीर विचारधारा के साधुराज हैं। "जगदुपकर्ता सुकृती सरल: कोटिषु कोटिषु विरल:" इस उक्ति के अनुसार परम पूज्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के सदृश साधु करोड़-करोड़ संख्या के लोगों में विरल हैं। हमारी प्राचीन धर्म संस्कृति के प्रतीक रूप में शोभायमान पूज्य श्री निर्ग्रन्थ महाराज के गौरवार्थ अभिवन्दन ग्रन्थका प्रकाशन समयानुकूल है। आचार्य श्री के पुनीत चरणों में हमारी हार्दिक विनयाञ्जलि।

विनयाञ्जलि

[भट्टारक श्री लक्ष्मीसेन पट्टाचार्य स्वामी, कोल्हापुर]

प० पू०, प्रशान्तमूर्ति चारित्र शिरोमणि १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का अभिवन्दन ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है यह अत्यन्त प्रसन्नता एवं गौरव की बात है।

आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज बड़े तपस्वी एवं भद्रपरिणामी साधुराज हैं। उनका आदर्श भौतिकता के पीछे दौड़ने वाले इस युग के लोगों के सामने रखना आवश्यक है। उनके उपदेशों का लाभ समाज को चिरकाल तक मिलता रहे और उनके नेतृत्व में भव्यजीव कल्याण पथ पर बढ़ते रहें इसी भावना के साथ उनके प्रति मेरी विनयाञ्जलि।

परम पूज्य आचार्यदेव

[ब्र० श्री सुगनचन्दजी, आचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्थ]

प० पू० प्रातःस्मरणीय चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के अनन्त उपकार हैं जिन्होंने लुप्तप्राय: मुनिचर्या को आगम के अनुसार प्रगट किया, उसीके फलस्वरूप आज भारत देश में यत्र तत्र सर्वत्र दिगम्बर मुनिराजों के दर्शन हो रहे हैं। वर्तमान २०वीं सदी की दिगम्बर जैनाचार्य परम्परा आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज से ही प्रारम्भ हुई। इसी परम्परा में गुरुवर्य आचार्य श्री वीरसागरजी तथा उनके पश्चात् प्रथम मुनि शिष्य प० पू० आचार्य शिवसागरजी महाराज ने आचार्यपद पर सुशोभित होकर चारित्र धर्म की महान् प्रतिष्ठा की है। आचार्यत्रय ने तथा उनके शिष्यवर्ग ने अपने आगमानुकूल निर्दोष चारित्र पालन के द्वारा स्वकल्याण के साथ-साथ पर कल्याण भी किया है। इसी परम्परा में आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के स्वर्गवास के पश्चात् समस्त संघ ने आचार्य वीरसागरजी महाराज के द्वितीय मुनि शिष्य श्री धर्मसागरजी महाराज को संघ का आचार्य बनाया। वास्तव में आचार्य महाराज साक्षात् धर्म के ही सागर हैं। उनके जीवन में निस्पृहता और सरलता कूट-कूटकर भरी है। स्पष्ट और निर्भीक वाणी के द्वारा धर्म प्रभावना में सलग्न हैं। स्थितिकरण और वात्सल्य आपके अनुपम गुण हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। मैं प० पू० आचार्य श्री के परम पावन चरणों में त्रिधा नमोऽस्तु करते हुए अपनी हार्दिक विनयाञ्जलि समर्पित करता हूं।

भावाञ्जलि

[ब्र० श्री नेमीचन्दजी बड़जात्या, नागौर]

प० पू० प्रातःस्मरणीय आचार्यप्रवर १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज के अभिवन्दन ग्रन्थ प्रकाशन की योजना को ज्ञातकर अत्यन्त हर्ष हुआ। मेरा उनका निकटतम सम्बन्ध उनकी ब्रह्मचारी अवस्था से रहा है। जब प० पू० उद्भट विद्वान् परम तपस्वी आ० क० श्री १०८ चन्द्रसागरजी महाराज इन्दौर में विराजमान थे उस समय कुछ विरोधी समाज उनके तपोतेज तथा आगम विहीत मुनिचर्या की कट्टरता को सहन नहीं कर सके और उनके बहिष्कार की योजना बनाई, किन्तु आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की कृपा और चन्द्रसागरजी महाराज की दृढ़ता के कारण वे विरोधी लोग उसमें सफल नही हो सके। परम आराध्य गुरुदेव का आदेश पाते ही चन्द्रसागरजी महाराज ने इन्दौर से विहार कर दिया। उस समय इन्दौर से बड़वानी, मांगीतुंगीजी, गजपंथा सिद्ध क्षेत्र की ओर विहार हुआ था तब हमारा सारा परिवार एवं ब्र० मथुराबाई (स्व० श्री बिमलमती माताजी), ब्र० मोहिनी बाई जी (वर्तमान आर्यिका श्री इन्दुमती माताजी) तथा ब्र० कजोड़मलजी (वर्तमान आचार्य श्री धर्मसागरजी) तथा आपकी बहिन ब्र० दाखाबाई साथ थे। आप अपनी बहिन के साथ मिलकर चौका लगाते थे। उस समय भी आपकी प्रकृति अत्यन्त शांत थी, अधिक बोलने की प्रवृत्ति नहीं थी, संघ की वैयावृत्ति में तल्लीन रहते हुए आत्मसाधन करते थे। आप प्रारम्भ से ही उदासीन वृत्ति के थे और वे संस्कार आप में अभी भी यथावत् विद्यमान् हैं। आपके सान्निध्य में कई बार पहुंचने का, आहारदान देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

इतने विशाल संघ के आचार्य होते हुए भी आपमें निरभिमानता पद-पद पर दृष्टिगोचर होती है। सभी के प्रति आपमें समान दृष्टि है चाहे धनपति हो या गरीब, वृद्ध हो या बालक, विद्वान हो या कम पढ़ा लिखा आप सभी में समान बुद्धि रखते हुए प्राणीमात्र को धर्म देशना देते हैं। आपके कर कमलों से अनेक भव्यजीवों ने मुनि-आर्यिका-क्षुल्लक-क्षुल्लिकादि दीक्षाएं प्राप्त कर अपने जीवन को कृतार्थ किया है तथा आत्म कल्याण के मार्ग में अपने आपको लगाया है। अनेकों लोगों ने देशव्रतों को धारण कर अपना मनुष्य जन्म सार्थक किया है। आप किसी भी प्रकार के सामाजिक प्रपंच तथा ख्याति-लाभ-पूजा व संस्था आदि के प्रपंच से कोसों दूर है। निरन्तर आप स्व० आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की आगम विहीत आम्नाय का संरक्षण एवं प्रचार-प्रसार करते हुए स्व-पर कल्याण में निरत हैं।

मैं भगवान महावीर स्वामी से कर जोड़ प्रार्थना करता हूं कि आप चिरंजीवी होकर स्व-पर कल्याण करते रहें। पूज्य श्री आचार्य चरणों मे शत-शत वंदन।

विनम्र श्रद्धांजलि

[श्री ब्र० कपिलभाई कोटड़िया, हिम्मतनगर; गुजरात]

मैंने दिल्ली २५००वे निर्वाण महोत्सव वर्ष में परम पूज्य आचार्य प्रवर श्री धर्मसागरजी महाराज के दर्शन किये तथा उनके चरण सान्निध्य में तृतीय प्रतिमा के व्रत अंगीकार किये थे इसलिये वे मेरे परम श्रद्धेय आदरणीय गुरु भी हैं। आचार्यदेव भद्र-परिणामी है। उनका व्यक्तित्व निस्पृह एवं निर्लेप है। उनका सम्यग्ज्ञान उनमें चारित्ररूप बन गया है। वे स्वयं आचरणरूप से जीते हैं और अन्य शिष्यों को भी वे इसकी प्रेरणा देते है। सादगी के प्रतिमूर्ति, बाह्याडम्बरो से सर्वथा रहित, परमशान्त, प्रसन्न वदन गुरुदेव के चरण कमलों मे उनके दीर्घ जीवन एवं आरोग्य की मंगल कामना करते हुए उनके प्रति शत-शत प्रणाम करते हुए अपने श्रद्धापुष्प समर्पित करता हूं।

विनयांजलि

[ब्र० प्यारीबाई-मुनि श्री पुष्पदंतसागरजी संघस्थ]

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी,
सत्यं सूनुरयं दया च भगिनि भ्राता मनः संयमः।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनं,
एते यस्य कुटिम्बिनो वद सखे कस्मात् भयं योगिनः॥

उपर्युक्त श्लोक में कथित परिवार युक्त, विशाल संघादिनायक, आर्षमार्ग पोषक, निर्द्वन्द योगिराज प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के अभिवन्दन की बेला में गुरुदेव के दीर्घ जीवन की कामना करते हुए त्रिकरण शुद्धि पूर्वक उनके चरणों में अपनी विनयाञ्जलि समर्पित करती हूं।
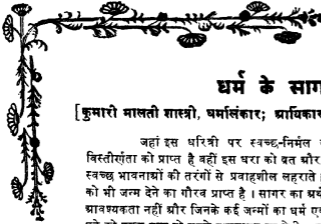
धर्म के सागर

[कुमारी मालती शास्त्री, धर्मालंकार; आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी संघस्थ]

जहां इस धरित्री पर स्वच्छ-निर्मल जल की तरंगों से युक्त सागर विस्तीर्णता को प्राप्त है वहीं इस धरा को व्रत और शील रूपी तटों से युक्त गंभीर स्वच्छ भावनाओं की तरंगों से प्रवाहशील लहराते हुए धर्म के सागर आचार्य श्री को भी जन्म देने का गौरव प्राप्त है। सागर का अर्थ विशाल है, उसके विश्लेषण की आवश्यकता नहीं और जिनके कई जन्मों का धर्म एकत्रित होकर मूर्तरूप ही सागर-पने को प्राप्त हुआ हो उनके गुणसागर का मेरी तुच्छ शब्दमाला भला कैसे पार पा सकती है? शायद ऐसे ही संतों के लिए श्री पूज्यपाद स्वामी ने ये पंक्तियां लिखी होंगी। "अवाग्विसर्गं मोक्षमार्गं वपुषा निरुपयन्तं मूर्तमिव........।" अपनी निर्वि-कल्प मुद्रा के द्वारा मानों साक्षात् मूर्तिमान मोक्षमार्ग का ही दिग्दर्शन करा रहे है।

इस दुःषम पंचमकाल में चारों ओर मिथ्यात्व ने अपना प्रभाव फैला रखा है और जिनधर्मी ही अपने गुरुओं की अवहेलना करते हुए देखे जाते हैं। जब मन्वादि सप्तर्षि महामुनिराज शत्रुघ्न को परमार्थ का उपदेश दे रहे थे तो उन्होंने कहा था कि आगे ऐसा समय आने वाला है जब कि लोग—

"जातरूप धरान् दृष्ट्वा, साधून् व्रतगुणान्वितान्।
संजुगुप्सां करिष्यन्ति, महामोहान्विता जनाः।"

"तीव्र मिथ्यात्व से युक्त मनुष्य व्रतरूप गुणों से सहित एवं दिगम्बर मुद्रा के धारक मुनियों को तिरस्कृत कर मूढ़ मनुष्यों के लिये आहार देवेंगे। लगभग १५०० वर्ष पूर्व आचार्य रविषेण द्वारा लिखित ये पंक्तियां फलितार्थ होती हुई सी दिख रही हैं। ऐसे विषम समय में हम जैसे अज्ञ प्राणी महापुरुषों की महानता का मूल्यांकन करने मे असमर्थ हो रहे हैं। तथापि जिनका नाम भारत में बड़े गौरव से आबाल वृद्ध लेते हैं ऐसी पूज्य आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी के सदुपदेश से निर्मल सम्यग्दर्शन रूपी रत्न की प्राप्ति हुई और आचार्य श्री के दर्शनों, प्रवचन श्रवण और उनकी पवित्र चरणरज का सन्निधान प्राप्त हुआ। मैं पू० आचार्य श्री के चरण कमलों में विनयाञ्जलि अर्पित करते हुए वीर प्रभु से प्रार्थना करती हूं कि हमें भी उन जैसी 'बाहर भीतर एक समान' अवस्था प्राप्त हो।
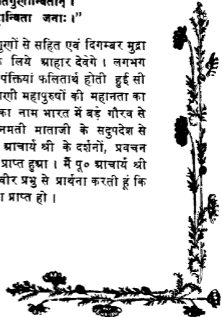
विनयांजलि

[पं० सुमतिबाई शहा, अध्यक्षा श्राविका संस्था नगर शोलापुर]

प० पू० आचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज, चारित्रचक्रवर्ती प० पू० १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के परम्परानुगामी महान आचार्य हैं। जिस देश में ऐसे महान आचार्य होते हैं वह परम भाग्यशाली है।

आचार्य श्री के मैंने दर्शन किये हैं। वे अत्यन्त भद्रपरिणामी व सरल प्रकृति साधु हैं। इस कलियुग मे आदर्शरूप में महासंघ का नेतृत्व करते हुए जैनधर्म की परम्परा चलाकर वे महान कार्य कर रहे हैं।

आचार्य श्री के गुणानुवाद रूप अभिवन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन का कार्य स्तुत्य उपक्रम है। मैं परमपूज्य आचार्य श्री के प्रति अपनी हार्दिक विनयाञ्जलि अर्पित करती हूं।

☼

हार्दिक भावना

[कुमारी माधुरी शास्त्री, आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी, संघस्थ]

चारित्र शिरोमणि १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज अपने आपमें एक अलौकिक साधु हैं। सैकडों वर्षों से लुप्त ऋषि परंपरा को जीवन्त करनेवाले आचार्य सम्राट श्री शांतिसागरजी महाराज ने अपने जीवन में अनेकों ऐसे साधुओं का निर्माण किया जिनकी शिष्य परंपरा आज भी हिन्दुस्तान के कोने कोने में भ्रमण करते हुए धर्म की सुरभि को प्रसरित कर रही है। इसी परंपरा को अलंकृत करने वाले आचार्य धर्मसागर महाराज आज भी शांतिसागरजी महाराज की छवि को दर्शा रहे है।

प्रत्येक संघ में शिष्यों के कुशल निर्देशन के लिये तथा उन्हें योग्य शिक्षा और दीक्षा देने के लिये एक योग्य आचार्य की आवश्यकता होती है। ये आचार्य परमेष्ठी लोक व्यवहार में कुशल, शास्त्रमर्मज्ञ आदि अनेकों गुणों से युक्त होते हैं। आचार्य गुणभद्रस्वामी ने आचार्य की विशेषताओं को बतलाते हुए कहा है कि—

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः।
प्रास्ताशः प्रतिमापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः॥
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया।
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः॥

इन गुणों से परिपूर्ण आचार्य श्री में सरलता विशेष रूप से पाई जाती है।

आपके चतुर्विध संघ को देखकर पूर्वाचार्यों के वाक्य स्मृति में आ जाते हैं कि आज भी इस पंचम काल में निर्दोष चारित्र को पालन करने वाले साधु हैं और पंचम काल के अंत तक भावलिंगी मुनि इस पृथ्वीतल पर विचरण करेंगे।

आचार्य पद्मनंदि ने कहा है कि—

इस समय भरतक्षेत्र में त्रैलोक्य चूड़ामणि केवली भगवान् नही हैं। फिर भी लोक को प्रकाशित करने वाले उनके वचन तो यहां विद्यमान हैं और उनके वचनो का अवलंबन लेने वाले रत्नत्रयधारी श्रेष्ठ यतिगण भी मौजूद है। इसलिये उन मुनियों की पूजा जिनवचनों की पूजा है और जिनवचन की पूजा से साक्षात् जिनदेव की पूजा की है ऐसा समझना चाहिये।

आज के युग में मुनियों को छठा और सातवां ये दोनों गुणस्थान होते है। उत्तम संहनन के अभाव में इसके ऊपर श्रेणी में आरोहण करना संभव नही है। संघ में रहते हुए भी आचार्यों को या सामान्य साधुओं को सातवें गुणस्थान के योग्य शुद्धोपयोग होता है। उसे ही सामायिक संयम, वीतराग चारित्र आदि भी कहते है। चूंकि इन दोनों गुणस्थानों का पृथक् पृथक् काल अन्तर्मुहूर्त ही है। प्राचीन काल में भी आचार्यों के संघ थे। वे ग्रंथ लिखते थे, पढ़ते थे, पढ़ाते थे, विहार करते थे और धर्मोपदेश करते थे। इन सभी कार्यों में कई घंटे भी लग जाते होंगे। अतः यह निश्चित हो जाता है कि उस समय भी उनका गुणस्थान छठे से सातवाँ हो जाता था अन्यथा वे द्रव्यलिगी माने जाएंगे। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने भी मोक्षपाहुड में कहा है कि आज भी भावलिगी दिगंबर मुनि होते है —

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥७७॥

आज भी इस पंचम काल में रत्नत्रय से शुद्ध आत्मा (मुनि) आत्मा का ध्यान करके इंद्रत्व और लोकांतिक देव के पद को प्राप्त कर लेते है और वहा से चलकर निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

वैसे तो संसार में प्रत्येक प्राणी जन्म लेते है और मृत्यु को प्राप्त होते हैं किंतु कुछ विरले ही जीव ऐसे होते हैं जो जीवन मे आत्मकल्याण के साथ-साथ परोपकार करते हुए अपनी कीर्ति को अमर कर जाते हैं जिनके पदचिन्हों पर चलकर न जाने कितने भव्यप्राणी अपना उद्धार कर लेते है।

स जातो येन जातेन याति वंशसमुन्नतिम्।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ॥

उन परमोपकारी, सरलस्वभावी आचार्य श्री के चरणों में श्रद्धावनत नमोऽस्तु करते हुए विनयांजलि अर्पण करती हूं और इस सहस्राब्दि समारोह के अवसर पर भगवान् बाहुबलि से यह प्रार्थना करती हूं कि वे दीर्घायु होकर संसार में फैले हुए मिथ्यात्व अंधकार को दूर करने के लिए सम्यक्त्व रूपी दीप प्रज्वलित करते रहें। साथ ही चारित्र धर्म का उद्योत भी आपके द्वारा होता रहे।

तस्मै श्री गुरुवे नमः

शुभ संदेश

[आचार्य श्री आनन्दऋषि, स्थानकवासी श्रमण संघ]

आचार्य श्री धर्मसागरजी म० के अभिनन्दन ग्रंथ का प्रकाशन होने जा रहा है, यह प्रमोद का विषय है। भारत सन्तों की पावन भूमि रही है। यहां अनेक सन्त और पंथ है। सभी का लक्ष्य आत्म-शुद्धि का ही है। जन्म-मरण, आधि-व्याधि और उपाधि के त्रय-ताप से मुक्त होकर अपने चरम लक्ष्य तक पहुंचना है। उनमें जैन सन्तों का आचार-विचार व व्यवहार निर्विवाद ज्येष्ठ और श्रेष्ठ रहा है। उनकी तप और आत्म-साधना भी अपने आप में अद्वितीय है। वीतराग के मार्ग पर चलकर अपने आत्म-कल्याण के साथ साथ पर-कल्याण करना।

भले ही हम सभी में क्रिया भेद हैं, फिर भी आराध्य एवं तत्त्व एक हैं। आचार्य श्री धर्मसागरजी म० समन्वय के हिमायती हैं। उनके कार्य भी समाज के लिए भूषण स्वरूप हैं। इस अभिनन्दन ग्रंथ के माध्यम से जैन समाज में संगठन बढ़े, आपस के मनमुटाव समाप्त हों, एक दूसरे के सद्गुणों को लेकर आत्म-विकास का मार्ग प्रशस्त करें, यही मेरी शुभ कामना है।

श्रद्धा सुमन

[उपाध्याय श्री अमर मुनिजी, राजगृही]

महामहिम आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज क्या हैं, श्रमण संस्कृति के साक्षात् ओजस्वी बिम्ब ! दूर दूर तक भक्तों के मानस क्षितिज को छूता विशाल उदात्त अन्त:करण, अथाह गहराई लिए अध्यात्मचिन्तन, अनुकम्पा, क्षमा, जनमंगल की भव्य भावनाओं की उच्छल लहरों से तरंगित हमेशा गरजता सागर सा उदात्त गंभीर व्यक्तित्व है, यथा नाम तथा गुण के अनुरूप आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का उनकी तेजस्विता, बहुमुखी प्रतिभा एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व ने सामाजिक चेतना को नया मोड़ दिया, सत्यानुलक्षी दृष्टि दी, जीर्ण शीर्ण होते जन-जीवन में नव ऊर्जा का संचार किया। आग्रहमूलक साम्प्रदायिकता से परे हैं, आचार्य श्रीजी।

इन श्रद्धेय चरणों में भक्तों के द्वारा भावभीनी श्रद्धांजलियां समर्पित करना अपेक्षित नहीं, आवश्यक है। आपके द्वारा प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रंथ ऐसा ही सहज प्रेमभक्ति से महकता श्रद्धासुमन है।

श्रमण भगवान् महावीर के चरणों में एवं वैभारगिरि के देवता गुरु गौतम के चरणों में आपके कार्य की सफलता हेतु मंगलकामना।

भारत के उपराष्ट्रपति के सचिव
नई देहली

उप-राष्ट्रपतिजी को यह जानकर प्रसन्नता है कि आचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी का भगवान बाहुबली प्रतिष्ठापना सहस्राब्दि वर्ष एवं महामस्तकाभिषेक के अवसर पर अखिल भारतीय स्तर पर श्री दिगम्बर जैन नवयुवक मंडल, कलकत्ता की ओर से एक अभिवन्दन समारोह आयोजित करने का निश्चय किया गया है। इस अवसर पर एक अभिवन्दन ग्रन्थ भी प्रकाशित होगा। इसकी सफलता के लिए वह अपनी शुभ कामनाएं भेजते हैं।

आपका
(अमरनाथ ओबराय)

BAL RAM JAKHAR
SPEAKER, LOK SABHA

अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि आप पट्टाचार्य प्रशान्तमूर्ति आचार्य १०८ धर्मसागरजी महाराज का अभिवन्दन करने हेतु वृहत् अभिवन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन कर रहे है।

आपका यह मंगल अभिवन्दन कार्य प्रशंसनीय है। आचार्य प्रवर के प्रति मैं श्रद्धावनत हूं।

शुभ कामनाओं सहित।

आपका
(बलराम जाखड़)

मंत्री
निर्माण और आवास,
भारत

नई दिल्ली
दिनांक १५-१०-१६८०

यह जानकर अति प्रसन्नता हुई कि भगवान बाहुबलि प्रतिष्ठापना सहस्राब्दि वर्ष एवं महामस्तकाभिषेक के मंगल प्रसंग पर अखिल भारतीय स्तर पर श्री दिगम्बर जैन नवयुवक मण्डल के तत्वावधान में तृतीय पट्टाचार्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के अभिवन्दन हेतु एक वृहद् अभिवन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन होने जा रहा है। मैं अभिवन्दन ग्रंथ की पूर्ण सफलता की मंगल कामना करता हूं। एवं आचार्य श्री के पावन चरणों में श्रद्धावनत नमन करता हूं।

आपका
(प्रकाशचन्द सेठी)

संदेश

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि दिगम्बर जैन नवयुवक मण्डल कलकत्ता के तत्वावधान में आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का अभिनन्दन समारोह आयोजित किया जा रहा है। मैं समारोह की सफलता चाहता हूं।

आचार्यों, साधुओं और सन्तों के उपदेशों को आचरण में लाकर हम अपने जीवन को सही दिशा में ले जा सकते हैं।

आज सारी दुनिया अशांति से पीड़ित है। कहीं पूंजी के अभाव के कारण अशांति है और कहीं पूंजी के प्रभाव के कारण अशाति है। ममता पर आधारित समता के बिना मानव समाज सुखी नहीं होगा। किन्तु ममत्व के लिये धर्म का आधार आवश्यक है। धर्म की शिक्षा आचार्य श्री जैसे आप्त पुरुषों से मिलती है। मैं उनके दीर्घ जीवन की कामना करता हूं।

शुभ कामनाओं सहित,

(अटल बिहारी वाजपेयी)
संसद सदस्य

☼

कुलपति
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

श्री दिगम्बर जैन नवयुवक मण्डल, कलकत्ता के तत्वावधान में आप लोग तृतीय पट्टाचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का अभिनन्दन कर रहे हैं, यह जानकर हर्ष हुआ। कार्यक्रम की सफलता के लिए मैं हार्दिक मंगलकामनाएं प्रेषित कर ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि महाराज दीर्घायु हों ताकि समाज को मार्गदर्शन मिलता रहे।

भवदीय
(इकबाल नारायण)

☼

शुभ कामना

[डॉ० राजनाथसिंह, कुलपति, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर]

आपके पत्र से ज्ञात हुआ कि आप १०८ श्री आचार्य धर्मसागरजी महाराज का अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित कर रहे है। धर्म और ध्यान की साधना में लीन चारित्रात्माओं का अभिवंदन होना ही चाहिए। इससे सामान्य जन को भी नैतिक जीवन में प्रवृत्त होने की प्रेरणा मिलती है। ऐसे शुभ अवसरों पर साहित्य प्रकाशन के साथ-साथ शैक्षणिक स्तर पर भी जैन धर्म-दर्शन के प्रचार-प्रसार के लिए प्रयत्न किया जाना अपेक्षित है। आशा है, इस दिशा में आप प्रयत्नशील होंगे।

श्रद्धेय आचार्य श्री जी का जीवन आत्म-साधना और मानव मूल्यों की प्रतिष्ठापना के लिए समर्पित है। ऐसे तपस्वी और ज्ञानी साधक के चिरायु होने की हम हार्दिक कामना करते हैं। इस अवसर पर सम्पन्न किए जाने वाले कार्यों की सफलता के लिए हमारी हार्दिक शुभ कामनाएं हैं।

☼

सादर अभिवादन

[डा० प्रेमशंकर डी. लिट्, सागर विश्वविद्यालय-सागर]

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि भगवान् बाहुबली सहस्राब्दि प्रतिष्ठापना वर्ष एवं महामस्तकाभिषेक के शुभ अवसर पर परम पूज्य प्रातः स्मरणीय तृतीय पट्टाचार्य परम पूज्य प्रशांतमूर्ति, अध्यात्मयोगी आचार्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज का अभिवन्दन आयोजित है।

जैन धर्म एक क्रांतिकारी दर्शन है। जैन दर्शन का मानवीय एवं सामाजिक पक्ष आज भी विश्व के लिए उपयोगी है, उसमें एक नई चेतना जन्माई जा सके तो युवा पीढ़ी को और भी लाभ होगा। हमारे संत इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं और निभा सकते हैं जिससे समाज को नई दिशा मिल सकती है।

मैं पूज्यवर का सादर अभिवन्दन करता हूं।

☼

MESSAGE

[H. P. Asawa, M Com, C. A. I. I. B.]
State Bank of Bikaner & Jaipur, JAIPUR

It was a great pleasure for me to learn that you have so nobly undertaken to publish an Abhivandan Granth on the life of His Holiness Shri Dhram Sagarji Maharaj.

While I eagerly await the publication of the Granth, I Send you my best wishes for success in this noble venture.

With best regards,

☼

मंगल कामना

[डॉ० नरेन्द्र भानावत, एम. ए. पी. एच. डी., रीडर हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर]

आचार्य श्री धर्मसागरजी म. सा. श्रमण परम्परा के विशिष्ट आचार्य एवं आदर्श साधक हैं। अपने लगभग ३० वर्ष के दीक्षित-जीवन में आपने जिनशासन की बहुविध प्रभावना की है। आपके नेतृत्व में २६ मुनि एवं अनेक आर्यिकाएं दीक्षा ग्रहण कर आत्म-साधना के साथ-साथ लोक मानस को संस्कारित व प्रतिबोध करने का महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित कर रहे हैं।

आचार्य श्री के इस अभिवन्दन ग्रन्थ के माध्यम से जैन धर्म, दर्शन, साहित्य, संस्कृति, इतिहास, ज्योतिष, आयुर्वेद सम्बन्धी नया चिन्तन और ज्ञान प्रकाश में आवेगा और उससे शोध की नई संभावनाएँ प्रकट होंगी। मैं आचार्य श्री के सुदीर्घ जीवन और उत्तम स्वास्थ्य की मंगल कामना करता हुआ आपके आयोजन की सफलता चाहता हूं।

☼

तपःपूत ज्योतिपुंज को शतशः नमन एवं श्रद्धार्चन

[आचार्य राजकुमार जैन एम. ए. (हिन्दी-संस्कृत) एच. पी. ए., दर्शनायुर्वेदाचार्य, साहित्यायुर्वेद शास्त्री, साहित्यायुर्वेद रत्न, दिल्ली]

प्रातः स्मरणीय परमपूज्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज के पुण्य स्मरण मात्र से ही ऐसी शान्ति का अनुभव होता है जो वर्णनातीत है। उनकी तपोनिष्ठ प्रशान्त मुद्रा जब अन्तःस्तल पर अंकित होती है तो ऐसा लगता है न जाने कितने जन्मों का पुण्य प्रभाव संचित होकर मन को अपूर्व शांति एवं आल्हाद प्रदान कर रहा है। महाराज श्री का त्यागमय तपोनिष्ठ जीवन हमारे लिए एक ऐसा आदर्श है जो प्रेरणाप्रद होने के साथ-साथ जीवन की यथार्थता और मानव जीवन की सार्थकता का संकेत करता है। मानव जीवन की सार्थकता भौतिक सुख में नहीं, अपितु उस आध्यात्मिक सुखोपलब्धि में है जो अक्षय और अविनाशी है।

आध्यात्मयोगी श्री धर्मसागरजी महाराज जैन साधु परम्परा की उन दिव्य विभूतियों मे से एक है जिन्होंने भगवान जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट पथ का अनुसरण करते हुए आत्म कल्याण के साथ-साथ पर कल्याण को भी अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। उन्होंने मानव कल्याण को अपने जीवन में प्रमुखता देकर पर हित एवं परोपकार का एक अद्भुत आदर्श हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया। ज्ञान साधना एवं तपश्चरण के द्वारा उन्होंने जहा अपनी आत्मा को उन्नत बनाकर ज्ञानालोक मे उसे उद्भासित किया वहां अपने सदुपदेशों द्वारा उन्होंने अनेकानेक मनुष्यों को जीवन निर्माण एवं आत्म-कल्याण का मार्ग बतलाया और उन्हें मिथ्यामार्ग-कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग का अनुगामी बनाया। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि महाराज श्री केवल समाज की ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण देश की एक महान् दिव्यविभूति हैं। उनका व्यक्तित्व अभूतपूर्व है और अलौकिक दिव्यतेज से दीप्तिमान है। आप श्रमण संस्कृति के एक महान् उपासक, असाधारण तपस्वी एवं तपःपूत ज्योतिपुंज हैं। आपका व्यक्तित्व अभूतपूर्व है जिसमें असाधारण आकर्षण क्षमता है। आपकी तेजोमय प्रशान्त मुद्रा एवं प्रदीप्त तेजःपुंज बरबस आकृष्ट किए बिना नहीं रहता। आपका प्रेरणाप्रद अनुकरणीय जीवन समाज की थाती है जो चिरकाल तक मानव समाज का पथ प्रदर्शन करते हुए उसे अध्यात्म मार्ग की ओर उन्मुख करता रहेगा।

समाज और देश की तपोनिष्ठ ऐसी दिव्य विभूति निश्चय ही अभिवन्दनीय है। अत्यन्त श्रद्धा पूर्वक उन्हें शतशः नमन करते हुए श्रद्धा सुमनों की अंजलि भक्तिभाव पूर्वक उनके चरण युगल में विनय एवं श्रद्धा के साथ समर्पित है।
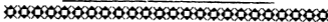
श्रद्धा सुमन

[साहू श्री श्रेयान्सप्रसादजी जैन, अध्यक्ष अभिनन्दन ग्रन्थ समिति, बम्बई]

यह प्रसन्नता की बात है कि परमपूज्य प्रशान्तमूर्ति अध्यात्मयोगी, दिगम्बर जैनाचार्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज का अभिवन्दन ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है और आप पर्याप्त तैयारी कर रहे हैं। मुझे विश्वास है कि आपके नेतृत्व में यह ग्रंथ सुन्दर, महत्वपूर्ण, आकर्षक व उपयोगी होगा।

परमपूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी एक महान आचार्य हैं एवं धर्म के स्तम्भ हैं। उनके द्वारा जैन-धर्म की प्रभावना हो रही है और समाज में जो धार्मिक जागृति है, उसका श्रेय बहुत कुछ आचार्य श्री को है। आशा है, समाज को उनका मार्ग-दर्शन मिलता रहेगा और समाज उनके बताये हुए मार्ग पर चलने का प्रयत्न करती रहेगी।

मैं इस अवसर पर परमपूज्य आचार्य श्री के पावन चरणों में अपने श्रद्धासुमन अर्पित करता हूं।

प्रणामांजलि

[श्री रायबहादुर हरकचन्दजी पांड्या, रांची]

१००८ भगवान महावीर के परम शासन में दि० जैन कुन्दकुन्दाचार्य परमान्वयगत परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ति आचार्य १०८ श्री शांतिसागरजी महाराज की परम्परा में तृतीय पट्टाचार्य पद पर सुशोभित प० पूज्य, परम तपस्वी, चारित्रशिरोमणि, योगिराज आचार्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज विशाल संघ के नायक, परम निस्पृही, दृढ़ चारित्री, निर्भय, वर्तमान काल के महान् आचार्य हैं। आप चतुर्विध संघ के रक्षक प्रभावी आचार्य हैं। जिनकी छत्रछाया में वर्तमान में जैन समाज चारित्र मार्ग में अग्रसर हो रहा है। आपके द्वारा शिष्य-प्रशिष्य रूप में अनेक मुनिगणों का विहार भारत भू पर हो रहा है। अनेकों महिलाएं आर्यिका व्रत धारण कर विहार कर रही हैं तथा स्वपर कल्याण के पथ पर अग्रसर हैं। आप दृढ़ आस्था से आगम सम्मत अपनी बात को जिस सीधे-सादे ढंग से श्रोताओं के सम्मुख रखते हैं, वह सहज श्रोताओं के हृदय में जम जाती है। आप निर्द्वन्द्व साधु हैं, आपके पास कोई लाग लपेट व संकल्प-विकल्प नहीं है। सैकड़ो व्यक्तियों ने आपसे प्रतिमारूप देशचारित्र धारण किया है। ऐसे परम पावन प्रातःस्मरणीय आचार्य श्री के अभिवन्दन ग्रंथ का प्रकाशन कर आपने परम स्तुत्य कार्य किया है।

मैं पूज्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के चरणों में अपनी सादर प्रणामाञ्जलि समर्पित करता हूं तथा वीर प्रभु से उनके आरोग्य दीर्घ जीवन हेतु प्रार्थना करते हुए भावना भाता हूं कि आपसे जैनाजैन जनता का चिरकाल तक निरन्तर कल्याण होता रहे तथा जैन शासन की प्रभावना होती रहे।

विनयाञ्जलि

[श्रीमान् सरसेठ भागचन्दजी सोनी–अजमेर]

परम पूज्य प्रातःस्मरणीय चारित्र चक्रवर्ती परमागम अध्येता आचार्यवर्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज का आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व दक्षिण से उत्तर की ओर विहार हुआ। आपने भारत की भूमि पर लगभग बीस हजार मील विहार कर उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक दिगम्बरत्व का साक्षात्कार कराकर अपने दिव्य तप और तेज की प्रभा से उत्कृष्ट धर्म का जो उद्योत किया वह जैन इतिहास के ही नहीं, भारत के दिव्य इतिहास में स्वर्णाक्षरों में धर्मोद्योत करता रहेगा। उल्लेखनीय बात यह है कि आगामी पीढ़ी के लिए आपकी उग्र तपस्या और सल्लेखना मानव जीवन की सार्थकता का आदर्श प्रकाश स्तम्भ रहेगी।

आपके पट्टाधीश आ० श्री वीरसागरजी महाराज एवं आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज हुए, जिन्होंने वर्तमान में आपके द्वारा बताए वीतराग मार्ग का अनुकरण कर संघ का संचालन किया और उनके द्वारा दीक्षित शिष्य व शिष्याओं की एक लम्बी परम्परा विकासमान हुई। कहना न होगा कि आज जितना भी साधक वर्ग है वह आपकी ही देन है। आज उनकी चरणरज द्वारा चतुर्दिशा में भारत आत्म-लाभ कर रहा है।

उक्त संघ का पट्टाचार्य पद आज परम तपस्वी, शान्त स्वभावी १०८ आचार्य धर्मसागरजी महाराज द्वारा सुशोभित हो रहा है। यह मेरा परम सौभाग्य रहा जब आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज को एवम् उनके उत्तराधिकारी रूप मे उग्रतपस्वी पट्ट शिष्य आ. श्री शिवसागरजी महाराज को चतुर्विध संघ द्वारा आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया मैं वहाँ समुपस्थित था। ये समारोह बड़े उत्साह और प्रभावना के साथ सम्पन्न हुये थे। इसी प्रकार जब श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र पर श्री आ० धर्मसागरजी महाराज इस पद पर आसीन हुए, तब भी मैं उनके चरणों में उपस्थित था और इसे मैने अपना सौभाग्य समझा।

आप अत्यन्त सरल प्रकृति, बाह्य आडम्बरों से कोसों दूर, ज्ञान-ध्यान तप में लीन अद्वितीय आत्म साधक है। लम्बी तप:पूत साधना ही आपका अनुपमेय व्यक्तित्व है जो श्रद्धालु के हृदय मे आस्था पैदा किये बिना नही रहता। देश और समाज का वर्तमान में सौभाग्य है कि आपकी छत्र-छाया हम सभी के ऊपर विद्यमान है। आपके अनेक चातुर्मास स्थान स्थान पर हुए हैं। जिनमें जैन शासन की महती प्रभावना हुई। अजमेर में जब आपका चातुर्मास हुआ तब आपके विशाल संघ द्वारा जो प्रभावना हुई वह अजमेर का जैन समाज कभी विस्मरण नही कर सकता। जीवन के बिरले ही क्षण ऐसे आते हैं, जिनसे संसार में भटकने वाला यह मानव आत्मोन्मुख होने का सुयोग पाता है। ऐसे आध्यात्मिक प्रसग मानव जीवन की स्थायी सम्पत्ति हो जाते हैं। मुझे सपरिवार यह सुयोग प्राप्त हुआ, यह मेरे लिये सौभाग्य पूर्ण अवसर रहा।

भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाणमहोत्सव में आपका निर्देशन समाज को मिला है। आपकी सरल मुद्रा एवं प्राकृतिक व्यक्तित्व धर्मात्माओं के लिए स्वाभाविक आकर्षण है। आपकी कठिन तपस्या बेजोड़ होती हुई प्रेरणास्पद है।

श्री वीर प्रभु से नम्र प्रार्थना है कि आपकी छत्र छाया हमें चिरकाल तक प्राप्त होती रहे। आप शतंजीवी होकर आत्म साधक हों। आपके लिये मेरी सपरिवार अनेकश: विनयांजलि।

२० वीं सदी की दिगम्बर जैनाचार्य परम्परा के मातृहृदय अनुशास्ता चतुर्थ आचार्य

[श्री अमरचन्दजी पहाड़िया, उपाध्यक्ष अभिनन्दन ग्रन्थ समिति, कलकत्ता]

परम पूज्य प्रातःस्मरणीय चारित्रचक्रवर्ती आचार्य प्रवर श्री शांतिसागरजी महाराज का दिगम्बर जैन समाज पर महान उपकार है कि जिन्होंने निर्दोष मुनिचर्या को पुनः बताया तथा दक्षिण भारत में मात्र जो मुनि धर्म का पालन सिमट कर रह गया था वह उत्तर भारत में भी उन्हीं महर्षि के उत्तर भारतीय भ्रमण के पश्चात् फैला। उनके सभी मुनि शिष्यों ने सम्यक् चारित्र धर्म को प्रतिष्ठित किया। आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज ने एक आदर्श मार्ग को अपनाया एवं हम सभी को आगम विहीत दिव्यदृष्टि प्रदान की। उन्हीं के प्रथम शिष्य मुनि श्री वीरसागरजी महाराज को उन्होंने अपनी अंतिम सल्लेखना के समय आचार्य पद प्रदान किया। सुयोग्य शिष्य ने आदर्श गुरु के आगम विहीत मार्ग को संरक्षित किया एवं कई भव्य जीवों को मुनि-आर्यिका, क्षुल्लक-क्षुल्लिका दीक्षा दी एवं सैकड़ों व्रती बनाए। लगभग दो वर्षीय आचार्य पद काल में उन्होंने धर्म की धुरा को अत्यन्त दृढ़ता से धारण किया। उनकी सल्लेखना के पश्चात् चतुर्विध संघ का भार आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के सर्व प्रथम मुनि शिष्य श्री शिवसागरजी महाराज के सक्षम कंधों पर आया। वे सुविख्यात आदर्श तपस्वी एवं सुदृढ़ अनुशासक थे। उनके समय में भी संघ की सर्वतः अभिवृद्धि हुई। उनके १२ वर्षीय आचार्य काल में संघ ने एक सूत्र बद्धता में रहकर धर्म प्रभावना के साथ-साथ आत्म साधना में भी अभिवृद्धि की। उनके स्वर्गवास के ८ दिन पश्चात् वि० सं० २०२५ की फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को समस्त मुनिसंघ ने एक स्वर से संघाधिनायक के महान पद पर आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के द्वितीय मुनि शिष्य श्री धर्मसागरजी महाराज को प्रतिष्ठित किया। आप अत्यन्त सरल परिणामी, निस्पृह एवं निर्द्वन्द्व योगिराज हैं। आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज का शासन पितृहृदय था तो आपकी अनुशासन पद्धति मातृहृदय है। अनुशासन के बजाय आप आत्मानुशासन पर अधिक जोर देते हैं। आपकी भावना सदैव रहती है कि जिनने आत्मकल्याण का मार्ग अपनाया है वे मेरे शासन के भय से नहीं अपितु अपने वैराग्य के बल पर निर्दोष चर्या का पालन करें और यदि वे ऐसा नहीं करते तो उनकी हानि है। मेरे पास यदि वे निश्छल भाव से आकर अपने दोषों को कहेंगे तो मैं निश्चित ही उन्हें शास्त्रानुसार प्रायश्चित्त देकर उन्हें परिशुद्ध करूंगा।

उनके १२ वर्षीय आचार्यकाल में मैंने अनेकों उदाहरण देखे है, किन्तु ऐकान्तिक रूप से ऐसा ही नहीं कहा जा सकता है। उन्होंने अपने शिष्य वर्ग को सुयोग्य बनाने के लिए कठोर अनुशासन भी किया है। आगम संरक्षण में आप पूर्ण सजग हैं। धार्मिक शिक्षा के भी आप हिमायती हैं। २५०० वें वीर निर्वाणोत्सव पर दिगम्बर संस्कृति की रक्षा में आपका अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

मैं अत्यन्त प्रशान्त आचार्य श्री के चरणों में शत-शत वन्दन करते हुए भावना करता हूं कि उनकी विशाल छत्रछाया में धर्म व समाज एवं संस्कृति उत्कर्ष को प्राप्त होता रहे।

आत्मकल्याणका मार्ग प्रशस्त करते रहें

[श्री बद्रीप्रसादजी सरावगी, पटना]

प० पू० चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी के पुण्य प्रताप से उनकी पट्ट परम्परा मे होने वाले आचार्यों में एक न एक विशेषता रही ही है। वर्तमान में तृतीय पट्टाचार्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी हैं। वे भी एक विरले ही नरपुंगव साधुरत्न हैं। आचार्य श्री के दर्शनों का सौभाग्य मुझे कई बार प्राप्त हुआ है। वे दृढ़ आगम भक्त हैं, आगम विरुद्ध एक भी शब्द मानने या सुनने को वे तैयार नहीं हैं। चाहे बड़ी से बड़ी शक्ति या आधुनिक समन्वयवादी झुकाना चाहें, किन्तु वे आगम के विपरीत एक शब्द का भी समझौता करने में तत्पर नहीं होते। आप स्पष्ट, प्रभावशाली व निर्भीक वक्ता हैं। आपको मैंने कभी भी चिन्ता युक्त अनुभव नही किया हर प्रकार की परिस्थितियों में आप सदैव प्रसन्न वदन ही रहते है। किसी संस्था विशेष से किसी भी प्रकार सम्बन्धित नहीं हैं। श्रीमान् व गरीब का आपकी दृष्टि में कोई भेद नहीं है। किसी व्यक्ति विशेष के प्रति कोई लाग लपेट नही है सभी आपकी दृष्टि में समान हैं। यंत्र-तंत्र-मंत्र के प्रपंच से सर्वथा दूर रहने वाले आचार्य श्री सदैव ज्ञान-ध्यान-तपोलीन रहते हैं। विशाल संघ के नायक होते हुए भी संघजन्य कुछ भी परिग्रह या आडम्बर लेश मात्र भी नहीं पाया जाता अतः किसी प्रकार का शल्य या विकल्प नही रखते। जब-जब भी उनके दर्शन किये, चरण सान्निध्य में कुछ दिन रहने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ तब-तब मैंने उन प्रशान्तमूर्ति आचार्य श्री के पास बैठकर आनन्द का ही अनुभव किया तथा अपने जीवन को धन्य माना है। मै ऐसे वीतराग महान तपस्वी योगीराज के प्रति श्रद्धा सुमन समर्पित करता हुआ उनके पुनीत चरणों में शतसहस्र नमन करता हूं तथा भावना भाता हूं कि वे दीर्घायु होकर हम लोगों के आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करते रहें।

मंगल कामना

[श्री सुनहरीलालजी जैन, आगरा]

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि परम पूज्य, प्रातः स्मरणीय, प्रशान्त-मूर्ति, अध्यात्मयोगी दिगम्बर जैनाचार्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज के अभिवन्दन हेतु अभिवन्दन ग्रंथ का प्रकाशन हो रहा है। वस्तुतः आचार्य श्री धर्म की साक्षात् प्रति-मूर्ति है, आर्ष परम्परानुरूप अपना चारित्र निर्मल बनाए रखने में वे पूर्ण सचेष्ट हैं। भौतिकता से संपृक्त विज्ञानवादी युग में भी हमें आचार्य श्री जैसे संयमी एवं परम तपस्वी साधुजनों की पुनीत छत्रछाया एवं वरद आशीर्वाद के साथ-साथ उनके उपदेशों से, आत्मोन्नति का मार्ग प्राप्त हो रहा है, यह हमारा सौभाग्य है। आचार्य श्री अत्यन्त सरल परिणामी एवं भद्रप्रकृति महापुरुष हैं। आपके धर्मोपदेश से अनेक भव्यात्माओं ने देश संयम व सकलसंयम रूप चारित्र को जीवन में उतारा है।

मैं परम पूज्य प्रातःस्मरणीय अभिवन्दनीय आचार्य श्री के चरणों में शत-शत वन्दन करते हुए उनके दीर्घायु जीवन की मंगल कामना करता हूं।

हार्दिक भावना

[श्री रामचन्द्रजी कोठारी, जयपुर]

आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के प्रधान पट्ट शिष्य आचार्य श्री वीर सागरजी और उनके शिष्य शिवसागरजी, धर्मसागरजी, श्रुतसागरजी आदि सभी साधुगणों की मुझ पर अत्यन्त कृपा रही है। प० पू० १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज वीरसागरजी महाराज के ही द्वितीय मुनि शिष्य है। आपसे मेरा सम्पर्क लगभग ३० वर्षों से है। आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के लगातार तीन चातुर्मास खानिया-जयपुर में हुए उस समय आप भी संघ में विराजते थे। आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के पश्चात् संघ की बागडोर चतुर्विध संघ ने महावीरजी में आपको संभलाई और आप बड़ी कुशलता से संघ संचालन कर रहे हैं। आप अत्यंत सरल परिणामी, निश्छल प्रवृत्ति के साधु हैं। आपका स्वभाव परमशांत है, सदैव प्रसन्न रहते हैं। किसी भी प्रकार की लाग लपेट आपके जीवन में नहीं है। बच्चों में धर्म की जागृति हो अतः आप धार्मिक शिक्षा के लिए पाठशालाएं खोलने की प्रेरणा देते रहते हैं। भगवान महावीर के २५०० वे परिनिर्वाण महोत्सव में आपने आर्ष परम्परा की रक्षा का पुरजोर प्रयत्न किया और आप उसमें सफल हुए। मेरी हार्दिक भावना है कि गुरुवर आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज चिरकाल तक हमें आत्मकल्याण का मार्ग बताते रहें। उनकी छत्रछाया में जिन धर्म की प्रभावना होती रहे। मैं उनके चरणों में अपनी विनयांजलि समर्पित करते हुए त्रिकाल त्रिधा नमोऽस्तु ३ करता हूं।

व्रत प्रदाता गुरुवर

[श्री जगाती लखमीचन्द्र जैन, टडा-सागर]

मानव ही क्या संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच जिन महापुरुषों के चरणसान्निध्य में अपना जीवन व्रत धारण कर पवित्र बना लेते हैं उनकी महानता का क्या वर्णन किया जावे ? वीतराग पथ के पथिक दिगम्बर मुनि इसके जीवन्त प्रतीक है। प्राणी मात्र के नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास में उच्च चारित्र के पालयिता मुनिराजों का सदैव योगदान रहा है।

प० पू० १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज भी विश्व के महान् सद्गुरु रत्न है जिनकी वाणी में ओज और मुख पर ब्रह्मचर्य का तेज है जो सहसा ही व्यक्ति को आकर्षित करते हैं। आपके निर्दोष चारित्र का समाज में अत्यन्त गौरव है और निश्छलवृत्ति एवं शांत परिणति आपके जीवन की प्रमुख विशेषता है। मुझे सपत्नीक आपके चरण सान्निध्य में व्रत ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मैंने द्वितीय एवं पत्नि ने षष्टम प्रतिमा के व्रत धारण कर देशसंयम को प्राप्त किया है। यह गुरुदेव की वाणी और उनके पुनीत आशीर्वाद का ही फल है कि हमें व्रती बनने का प्रसंग प्राप्त हुआ।

मै पूज्य गुरुदेव के श्री चरणों में नमन करते हुए अपनी सभक्ति विनयाञ्जलि समर्पित करता हूं।

विनयांजलि

[श्री लाला श्यामलालजी ठेकेदार, दिल्ली]

जिस दिगम्बर भेष की महिमा आर्ष ग्रन्थो के अतिरिक्त वेद-पुराणों में भी कही गई है उसी महान दिगम्बर मुद्रा को धारण करने वाले आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज हैं। उनके दर्शन कर मेरे मन में बड़ी शान्ति हुई। उससे पूर्व सर्वप्रथम सोनागिरजी सिद्धक्षेत्र पर प० पू० चा० च० १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज आदि सप्तऋषि संघ के दर्शन किये थे। सन् १६३० में आचार्य श्री ससंघ दिल्ली आये, चातुर्मास मे अभी १५ दिन शेष थे। उन्हें आहार देने की क्या प्रतिज्ञा है यह किसी को भी ज्ञात नहीं था। जब ज्ञात हुआ कि शुद्ध जल पीने की प्रतिज्ञा करने वाला ही उन्हें आहार दे सकता है तो मेरे मन में विचार आया और मैंने महाराज श्री के समक्ष कहा कि मैं नियम लेना चाहता हूं। महाराज ने पिताजी से कहा तो उन्होंने प्रसन्नता व्यक्त करने के साथ-साथ स्वयं भी नियम किया तथा माँ ने भी शुद्ध जल पीने का नियम लिया। अनेक लोगों ने भी इस प्रतिज्ञा को लिया। हमारे पुण्योदय से दिल्ली समाज की प्रार्थना पर महाराज श्री ने दिल्ली-दरियागंज मे चातुर्मास स्थापना की। बड़ा आनन्द रहा ५ माह तक समस्त संघ को आहार देने का लाभ मिला।

उसके पश्चात् आचार्य श्री वीरसागरजी व आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के संघ में भी कई बार जाने का अवसर प्राप्त हुआ और दर्शन-आहारादि का लाभ मिलता रहा है। सन् १६७४ में भगवान् महावीर के २५००वें परिनिर्वाणोत्सव में आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज को तिजारा से दिल्ली लाये। उनके आने पर ३४ वर्ष प्राचीन स्मृतियां ताजा हो गईं। जैसी प्रभावना शांतिसागरजी महाराज के समय हुई थी वैसी ही प्रभावना धर्मसागरजी महाराज के चातुर्मास में भी हुई। कैसा सुयोग रहा कि जिस स्थान पर शांतिसागरजी महाराज ने चातुर्मास किया था उसी स्थान पर धर्मसागरजी महाराज का विशाल संघ सहित चातुर्मास हुआ। सभी के मन में बड़ा उत्साह था।

मैंने पूज्य आचार्य श्री के चरण सान्निध्य मे १-४-७४ को ही व्यापार का त्याग किया तथा चातुर्मास मे द्वितीय प्रतिमा के व्रत भी ग्रहण किये। तब से जीवन का नया मोड़ हो गया है। व्यापार से निवृत्त होकर अब मैं अपने गृहस्थोचित षट् कर्तव्यों का पूर्ण रूपेण पालन करते हुए धर्ममय जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करता हूं। इससे पूर्व आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज से पंचाणुव्रत धारण किये थे। आचार्य श्री शांतिसागरजी से लेकर धर्मसागरजी महाराज तक चारों ही आचार्यों की मुझ पर महदनुकम्पा रही है, उन्हीं की प्रेरणा और आशीर्वाद का फल है कि मेरा जीवन पवित्र बन सका है।

हम सभी की यही कामना है कि महाराज श्री संघ सहित दिल्ली पुन: पधारे और अपने ज्ञानामृत द्वारा भव्यजीवों को फिर से सम्बोधित करें। इसी भावना के साथ मैं उनके चरणों में नमोऽस्तु करता हुआ अपनी विनयाञ्जलि समर्पित करता हूं।

मंगल भावना

[श्री मदनलालजी चांदवाड़, रामगंजमंडी]

प० पू० आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के झालरापाटन में हुए सम्वत् २००२ के चातुर्मास में पू० श्री १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज क्षुल्लक अवस्था में थे तबसे मैं उनके सम्पर्क में आया हूं। उसके पश्चात् आपने मुनि अवस्था में सम्वत् २०२२ में ससंघ चातुर्मास झालरापाटन में किया है। रामगंजमंडी में आपने चातुर्मास किये हैं। आपके सान्निध्य में बैठकर मैंने सदैव परम शांति का अनुभव किया। मृदुभाषी होने के साथ ही आप अत्यन्त सरल परिणामी हैं। आगम के प्रति आपकी प्रगाढ़ श्रद्धा है और आगम से विरुद्ध आप एक शब्द सुनना भी पसंद नहीं करते। आपके द्वारा अनेक जीवों ने दीक्षा ग्रहण की और आत्म कल्याण कर रहे हैं। सम्वत् २०२२ के झालरापाटन चातुर्मास में आपके सदुपदेशों का प्रभाव यहां के निवासी श्री किस्तूरचन्दजी पर पड़ा और चातुर्मास के पश्चात् वे आपके साथ चल दिये। आपके पास रहकर उनकी वैराग्य भावना बढ़ी। उन्होंने आपसे दीक्षा मांगी आपने क्रमशः ब्रह्मचारी, क्षुल्लक और मुनि की दीक्षा प्रदान की और आज वे दयासागरजी मुनिराज के नाम से जाने जाते हैं। ख्याति-पूजा-लाभ से कोसों दूर रहते हुए आप आत्म साधना में निरन्तर लगे रहते हैं तथा शिष्यों को भी लगाते रहते हैं। समाज मे धर्म के प्रति बढ़ती हुई अरुचि को कैसे दूर करें? इत्यादि प्रश्नों का समाधान प्राप्त करने का अनेकों बार अवसर मिला। जब भी आपके पास पहुंचे आपने सदैव बच्चों में धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। आर्ष परम्परा की रक्षा का एवं दिगम्बर संस्कृति की प्रभावना का आप सदैव ध्यान रखते है। स्व पर कल्याण में रत परम शान्त, निस्पृही योगिराज आचार्य श्री के चरणों में विनयाञ्जलि समर्पित करता हूं और यह मंगल भावना करता हूं कि आप शतायु हों और आपके मार्गदर्शन में समाज धर्म की उन्नति में जागृत हो।

शुभ कामना

[श्री रमणिकलाल रामचंद्र कोठड़िया, मंत्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद् महाराष्ट्र शाखा–नीरा]

प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज को कौन नहीं जानता। उन्होंने आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के परम्परागत तृतीय पट्ट पर आसीन होकर भव्यात्माओं को स्याद्वाद के माध्यम से अनेकान्तात्मक वस्तु स्वरूप को समझाया है। आपकी अयाचक वृत्ति ने यथार्थ साधुत्व को इस पंचमकाल में भी स्पष्ट कर दिया है। आपके अनेकों शिष्य धर्मप्रभावना में लगे हैं। महाराज श्री के अभिवन्दन में प्रकाशित होने वाला अभिवन्दन ग्रंथ सत्पथ से भटकी हुई समाज को सम्यक् प्रकाश दिलाने में सहायक हो यही शुभ कामना है। आचार्य श्री शतायु हों। हम उनसे यही आशीर्वाद चाहते हैं कि हम सम्यक् रत्नत्रय को शीघ्र प्राप्त करें। पूज्य श्री के चरणों में शत-शत प्रणाम।

धर्म प्रभावक निर्द्वन्द्व साधुराज

[श्री झूमरमलजी बगड़ा; सुजानगढ़]

प० पू० १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज इस युग के महान् सन्त हैं। मैंने आपके अनेकों बार दर्शन किये है। आप गृहस्थावस्था से अत्यन्त सादगी पूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। आपका बचपन से ही अत्यन्त शान्त परिणामी एवं सन्तोष वृत्ति पूर्ण जीवन था। आप अल्प आरम्भी और अल्प परिग्रही थे। आप बाल ब्रह्मचारी ही रहे। आपका कार्यक्षेत्र इन्दौर रहा और आपको वहा आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के ससंघ दर्शन का सुअवसर प्राप्त हुआ, उस समय आपने द्वितीय प्रतिमा को धारण कर संयम की ओर अपना कदम बढाया। कुछ ही दिन के पश्चात् प० पू० आ० क० श्री चन्द्रसागरजी महाराज का सान्निध्य प्राप्त हुआ और आपने संसार की अनित्यता को समझकर संयम की ओर दूसरा कदम बढ़ाते हुए आ० क० श्री चन्द्रसागरजी महाराज से सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये। जब वैराग्य दृढ हुआ तो आपने क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण करली। यद्यपि चन्द्रसागरजी मुनिराज के सान्निध्य में अधिक समय नही रह पाये तथापि कुछ ही वर्षों के सान्निध्य में आपने गुरुदेव के पास अनुपम गुणों को प्राप्त किया। क्षुल्लक दीक्षा के एक वर्ष पश्चात् ही गुरुवर्य का स्वर्गवास हो जाने पर आप आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के पास आये और उनके साथ ही रहते हुए वि. सं. २००७ में आपने सुजानगढ़ चातुर्मास किया। वि. सं. २००८ में आपने मुनि दीक्षा धारण की।

मैंने क्षुल्लक अवस्था से लेकर आचार्य पद प्राप्ति तक और आज पर्यन्त आपके चरण सान्निध्य में बैठने का सौभाग्य प्राप्त किया है। वि. सं. २०२५ में आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज का स्वर्गवास हो जाने पर वहां उपस्थित समस्त मुनिसंघ ने आपको विशाल जन समुदाय के मध्य शांतिवीर नगर में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया और उसी दिन आपके कर कमलों द्वारा ११ दीक्षाएं हुई। मुनि अवस्था मे भी आप धर्मोपदेश द्वारा सम्बोधित करते थे और आपकी वाणी का प्रभाव व्यक्ति के मानस पर पडता ही था, किन्तु अब आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के बाद तो आपकी वाणी का प्रभाव जन मानस पर और भी अधिक पड़ने लगा। सम्वत् २०२६ में लाडनू चातुर्मास करने के पश्चात् आपका कुछ दिन का प्रवास सुजानगढ रहा तब तो आपका और भी निकट सम्पर्क प्राप्त हुआ। मैंने देखा कि इतने विशाल संघ के आचार्य होने पर भी उस पद का अभिमान आपमे नहीं है। सरलता, निस्पृहता एवं निर्द्वन्द्वता तो जन्म सिद्ध अधिकार के रूप मे आपके जीवन मे अवतरित हुई है। आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की परम्परा मे तृतीय पट्टाचार्य पद पर प्रतिष्ठित होकर आचार्य परम्परा में आपने चार चाद ही लगाये हैं। आपके द्वारा निर्दोष चारित्र पालन के कारण बड़े-बडे विद्वान् भी आपसे प्रभावित हैं। भगवान् महावीर के २५००वे परिनिर्वाणोत्सव मे आर्ष परम्परा की अक्षुण्णता बनाए रखने में आपका अविस्मरणीय योगदान रहा है। जो लोग यह सोचते थे कि आप जैसे सरल परिणामी आचार्य का दिल्ली इस महोत्सव में जाना ठीक नहीं वे ही बाद में यह कहते पाये गए कि आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज की उपस्थिति मे दिगम्बर परम्परा का प्रभाव चतुर्गुणित रहा। आपके द्वारा खूब ही धर्म प्रभावना हुई। वर्तमान युग मे आगम विहीत मुनिचर्या का निर्दोष पालन एवं संघ को एक सूत्र में निबद्ध रखने की आपमें अपूर्व क्षमता है।

मैं परम पूज्य प्रातः स्मरणीय, आर्ष परम्परा संरक्षक, धर्म प्रभावक, निर्द्वन्द्व साधुराज आचार्य श्री के चरणों में सभक्ति नमोऽस्तु करते हुए अपनी हार्दिक विनयांजलि समर्पित करता हूं एवं भगवान जिनेन्द्र से प्रार्थना करता हूं कि आप दीर्घायु हों तथा हम लोग आपकी सन्निधि में आत्म कल्याण करने की ओर अग्रसर हों। आपकी कल्पतरु सदृश छत्रछाया में श्रमण-श्रमणसंघ भी चारित्र की अभिवृद्धि करता रहे।

शत-शत नमस्कार

[श्री चैनरूपजी बाकलीवाल, डीमापुर]

पिछले कुछ वर्षों से सक्रिय समाज सेवा में आगे आने के पश्चात् सामाजिक एवं धार्मिक गतिविधियों के सम्बन्ध में विचार विनिमय एवं मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए आचार्य श्री के परम पुनीत चरणों में पहुंचने का अवसर प्राप्त हुआ है। जब भी मैं गया उनका वात्सल्य पूर्ण आशीर्वाद मिला। "अरे चैनरूप छै कांई ? तूं तो भंवरलालजी बाकलीवाल को बेटो छै, वे तो समाज और धर्म की खूब सेवा करी, तूं भी बांके चरण चिन्हां पर चाल; म्हारो आशीर्वाद छै।" प० पू० आचार्य श्री के चरणों में प्रणाम कर आशीर्वाद की प्रार्थना करने पर उपरोक्त स्नेह भरा अनमोल सम्बोधन पाकर मेरा हृदय गद गद हो गया। चारित्र चक्रवर्ती, युगश्रेष्ठ परम पूज्य १०८ आचार्यवर श्री शान्तिसागरजी महाराज की परम्परा के तृतीय पट्टाचार्य महान तपस्वी, जिनके पावन एवं सरल हृदय में न तो लक्ष्मी के लाड़ले सुपुत्रों के प्रति आकर्षण है और न किसी सामान्य जन के प्रति उपेक्षा भाव है, जहां विद्वानों के प्रति आकर्षण है तो अल्पज्ञों के प्रति तिरस्कार की भावना भी नहीं है यानि लक्ष्मी पुत्र, सरस्वती पुत्र, सामान्य जन और अल्पबुद्धि जनों के प्रति समान दृष्टि है। जैन श्रमण संस्कृति के सजग प्रहरी, परम वीतरागी, निस्पृही, जैन समाज की अनुपम विभूति के पाद पद्म में हृदय की अगाध भक्ति के साथ शत-शत नमस्कार।

मंगल कामना

[श्री त्रिलोकचन्द जैन, भूतपूर्व स्वास्थ्य मंत्री, राजस्थान]

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। ऐसे पुरुष जो जीवन की बाह्य परिधियों से मुड़कर अपना सारा ध्यान स्वयं पर केन्द्रित कर लेते है और जो आत्म-चिन्तन में व आत्मविकास में लीन हैं। ऐसे महात्माओं का अभिनन्दन हमारी अपनी श्रद्धाभिव्यक्ति का एक आधार व निमित्त बनता है। आचार्य श्री का जीवन एक आत्म जागृत अप्रमत्त और अमूर्छित अवस्था का द्योतक है जो संशोधित जीवन का स्वरूप है, चेतना का प्रतिबिम्ब है और स्थित प्रज्ञता के सफर की मुसाफिरी है जो प्रेरणास्पद है, अभिवन्दनीय है। आत्म-ज्योति जिससे आचार्य प्रवर का जीवन आलोकित है उससे हम लोग भी प्रकाशमान होते रहें, स्वयं की प्रतीति होती रहे ऐसी प्रभु से मंगल कामना है।

वर्तमान में मेरे आराध्य गुरुदेव

[श्री माणिकचन्दजी वीरचन्दजी गांधी, फलटन]

अज्ञानांधकार में भटकते हुए हम अज्ञानियों को सद्मार्ग बताने तथा उस पर चलने की शिक्षा-दीक्षा देने वाले प. पू. चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज ने आर्ष मार्ग की परम्परा का जो प्रचार-प्रसार किया है वह "यावत् चंद्र दिवाकरौ" के अनुसार चिरस्मरणीय रहेगा। आचार्य महाराज ने मेरे माता-पिता और मेरा अपूर्व मार्गदर्शन किया है और आत्म कल्याण पर लगाया है। वर्तमान में जितने भी दिगम्बर साधुगण है वे किसी न किसी रूप में आचार्य श्री से सम्बन्धित हैं।

इन्हीं महान् आचार्य की परम्परागत वंशावली में आचार्य श्री वीरसागरजी एवं आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज हुए। उसी परम्परा में अब आचार्य श्री शिवसागरजी के पट्टाधीश आचार्य प्रवर श्री धर्मसागरजी महाराज है। वे आर्षपरम्परा के संरक्षण में पूर्ण सचेत है। आप वर्तमान में मेरे परम आराध्य है। मैं भावना करता हूं कि पूज्य गुरुदेव सदैव मेरा मार्गदर्शन करते रहे। मै चारित्र शिरोमणि आचार्य श्री के चरणों में शत-शत वंदन करता हूं।

आचार्य श्री धर्मसागरजी

[श्री प्रेमचन्द्र जैन, अहिंसा मंदिर ट्रस्ट, दरियागंज दिल्ली]

आचार्य श्री इस युग के सर्व प्रथम दिगम्बराचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की परम्परा में उनके पश्चात् तृतीय आचार्य है। आपसे पूर्व इस पद को आचार्य श्री वीरसागरजी व आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज सुशोभित कर चुके है। अब आचार्य श्री धर्मसागर महाराज उसी पद पर तृतीय पट्टाचार्य के रूप में सुशोभित हैं।

आचार्य श्री का २५०० वें परिनिर्वाणोत्सव वर्ष में चातुर्मास दिल्ली दरियागंज में था। उस समय उन्हें अत्यन्त निकट से समझा व देखा है। अनेकों बार दर्शन कर अपने जीवन को धन्य माना है। वे निरंतर स्वाध्याय, मनन, चिंतन और मंथन से संसार की अनित्यता पर विचार करते रहते है और भव्य जीवों को इस भौतिक संसार की अनित्यता का दिग्दर्शन कराते है। आचार्य श्री सरल परिणामी, निर्भीक वक्ता, आर्ष परम्परा रक्षक, निस्पृही एवं निरभिमानी योगिराज हैं। मैं एवं मेरा समस्त परिवार प० पू० तपस्वी आचार्य श्री के चरणों में नत मस्तक होकर अपने श्रद्धासुमन समर्पित करते है।

❖

निस्पृहता के उच्चादर्श आचार्य श्री

[श्री उम्मेदमलजी पांड्या, दिल्ली]

विषयाशा बशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञान ध्यान तपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ।।

महर्षि समन्त भद्राचार्य के उक्त वचन शायद आचार्य श्री जैसे उच्चादर्श मुनि पुंगवों के लिए ही कहे गये हैं । प्रातः स्मरणीय आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज से आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज पर्यन्त चारों ही आचार्य परमेष्ठी समाज के सामने आदर्श हैं । वैसे सभी दिगम्बर मुनिराज अपने त्याग तपस्या, विद्वत्ता, प्रवचनादि के द्वारा आदर्श प्रस्तुत करते है और पूज्यपादाचार्य के अनुसार "बिना बोले भी अपने शरीर मात्र से ही मोक्ष मार्ग को दिखा रहे हैं" उन वर्तमान कालीन मुनि पुंगवों में आचार्य श्री शांतिसागर-वीरसागर-शिवसारजी के पश्चात् धर्म सूर्य स्वरूप धर्मसागरजी का उदय हुआ है।

आपके दर्शनों का, प्रवचनों का और आपके चरण सान्निध्य में बैठने का अनेक बार पुण्यावसर मिला है । आपकी निस्पृहता का उच्चादर्श अन्यत्र सुलभ नहीं है । आपने अनेकों भव्य जीवों को त्याग मार्ग पर लगाया है । मैं गुरुवर्य आचार्य श्री को कोटि-कोटि नमन करते हुए अपनी विनयांजलि समर्पित करता हूं ।

☼

शंखनाद करते रहें

[श्री डालचन्दजी जैन, सागर (उपाध्यक्ष महावीर ट्रस्ट, इन्दौर)]

"जीवन चरित्र महापुरुषों के हमें नसीहत देते हैं।
जो करते हैं सतत परिश्रम वे महान् बन जाते हैं।।"
"धर्म धुरन्धर, धर्मवीर अरु धर्म ध्यान के धारी।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र से शिवपद के अधिकारी।।"

परम प्रसन्नता की बात है कि १००८ भगवान बाहुबलि सहस्राब्दि प्रतिष्ठापना महामस्तकाभिषेक महोत्सव के मंगलमय अवसर पर देवाधिदेव १००८ भगवान महावीर के परम पावन शासन में दिगम्बर जैन कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परान्वय में प० पू० चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री १०८ शांतिसागरजी महाराज के तृतीय पट्टाचार्य परम पूज्य योगीराज, महान तपस्वी, चारित्र शिरोमणि आचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज का विशालरूप में अभिवन्दन ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है ।

"इतिहास साक्षी है कि युग-युग में द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव के परिणमन के साथ-साथ ही महान आत्माएं हमारे देश में अवतरित होती रही हैं तथा जनकल्याण के उद्देश्य सहित स्व-पर कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती रही हैं ।" इसी श्रृंखला में प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी का महत्वपूर्ण स्थान है । वे दृढ़ चरित्र एवं निस्पृह व्यक्तित्व युक्त महान् आत्मा हैं । हम श्रद्धेय पूज्य श्री के चरणों में नमन करते हैं और वीर प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वे आरोग्यमय दीर्घ जीवन प्राप्त कर युग युगान्तरों तक जन कल्याण हेतु आत्मिक स्व-पर कल्याणकारी वाणी के द्वारा भगवान महावीर के पंचशील सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हुए विश्वशांति का शंखनाद करते रहें ।

☼

विमल जीवन एवं व्यक्तित्व के धनी

[श्री पूनमचन्दजी गंगवाल, झरिया (बिहार)]

यह जानकर अति प्रसन्नता हुई है कि आप प० पू० प्रातः स्मरणीय आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का अभिवन्दन ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे है।

आचार्य श्री का जीवन महान् है। वे हमारे देश की उन उच्चतम विभूतियों में सर्वोपरि है जिनका विमल व्यक्तित्व और ऊर्ध्वमुखी विचार धारा का सुमधुर निर्झर आज भी जन जीवन को अपनी निर्मलता एवं शीतलता से आप्लावित करते हुए अपनी धर्मामृतरूप वाणी से आत्मशांति का उपाय बताते हैं। आप ख्याति-पूजा-लाभ से अत्यन्त निस्पृह योगी है। मै आपके श्री चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धा प्रगट करके उनके प्रति कोटि-कोटि नमन करता हू।

❖

निस्पृही भावश्रमण

[श्री मोतीलालजी मिंडा जौंहरी, उदयपुर]

परम पूज्य श्री १०८ आचार्य धर्मसागरजी महाराज का सम्वत् २०३५ का ससंघ वर्षा योग उदयपुर में सम्पन्न हुआ, तब से आचार्य श्री के सान्निध्य का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस समय आचार्य श्री का विहार मेवाड़ प्रान्त में हो रहा है। इस मेवाड़ देश की वज्र भूमि में कष्टसहिष्णु आचार्य श्री का चतुर्विधसंघ विहार चतुर्थकाल के श्रमण-विहार का दृश्य उपस्थित कर रहा है। आचार्य श्री सरल चित्त, निस्पृही, परम वीतरागी श्रमण हैं, उनकी मुख मुद्रा को देखते ही कुन्द कुन्द देव की निम्न गाथा स्मरण हो आती है :—

"देहादि संग रहिओ माणक साएहि सयल परिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू॥"

अर्थात् जो शरीरादि परिग्रह से रहित है, मान कषाय से सब प्रकार मुक्त है और जिसका आत्मा आत्मा में रत रहता है वह साधु भावलिंगी है।

मैं यह कामना करता हूं कि आचार्य श्री दीर्घायु हों और दीर्घकाल तक उनके शासन मे जन जन तक धर्म का प्रवाह निरन्तर होता रहे।

❖

विनयाऽजलि

[श्री मांगीलालजी सेठी "सरोज", सुजानगढ़]

मैंने आचार्य श्री के सर्व प्रथम ससंघ दर्शन सम्वत् २०२८ में नागौर में किये थे। उस वक्त मन में यह धारणा भी बनी थी कि इतने सरल, शान्तस्वभावी, निस्पृही सन्त प० पू० स्व० आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के तृतीय पट्टाचार्य पद का निर्वाह कैसे कर सकेंगे। अगला चातुर्मास आपने लाडनूं किया एवं वहां से विहार कर आप सुजानगढ़ पधारे थे तब तीन मास तक आपके मंगलमय प्रवासकाल में निकटतम सान्निध्य का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था। उसके पश्चात् तो प्रायः प्रति वर्ष महाराज के दर्शनों का लाभ मिलता रहा है। आचार्य महाराज ने जिस कुशलता एवं दृढ़ता के साथ संघ का संचालन किया है वह सन्तोषप्रद एवं सराहनीय है।

मैं श्रमण परम्परा की वर्तमान महान् विभूति, आर्ष मार्ग के आज्वल्य पथिक मंगलमूर्ति, परमशान्त, रत्नत्रयविभूषित महाचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के चरणों में अपनी हार्दिक विनयांजलि समर्पित करते हुए यह भावना भाता हूं कि महाचार्य प्रभु की दीर्घकालीन छत्र छाया में श्रमण संघ श्रमण परम्परा को अक्षुण्ण बनाते हुए समाज का पथ प्रदर्शन करता रहे।

❖

विश्व वंद्य आचार्य श्री

[भागचन्द्र पाटनी, कलकत्ता]

वि. सं. २०१५ में मुनि अवस्था में पद्मसागरजी और आपका चातुर्मास आनंदपुर कालू में हुआ उस समय आपके धर्मामृत पान का अवसर मुझे भी प्राप्त हुआ था आपकी वाणी आर्ष परम्परा पोषक एवं हित-मित-प्रिय है। आपके जीवन में सरलता कूट-कूट कर भरी हुई है। समाज के सभी वर्गों के प्रति आपकी समान दृष्टि है चाहे वह गरीब हो या अमीर, विद्वान् हो या अनपढ। स्पष्टवादिता आपके जीवन की सबसे प्रमुख विशेषता है। लाग-लपेट आपको छू भी नहीं गया है। लौकेषणा आपके जीवन में रंचमात्र भी नहीं पाई जाती है। आगम के अनुसार आपकी चर्या है, शिथिलाचार को आपके पास कोई स्थान नहीं है भारतवर्ष के अनेक प्रांतों में आपने विहार किया है एवं अनेकों प्राणियों को मोक्षमार्ग मे लगाया है।

ऐसे विश्ववंद्य आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के चरणो में मैं नमोऽस्तु करते हुए यह भावना भाता हूं कि आप चिरकाल तक इस भौतिकता के वशीभूत विश्व को धर्मोपदेश देते रहें और आपके सान्निध्य को पाकर भव्यजन अपना आत्महित करते रहें।

❖

श्रद्धा सुमन

[श्री श्रीपतिजी जैन, महामंत्री भा० दि० जैन महासभा अजमेर]

भारत सदा से धर्म प्रधान देश रहा है तथा ऋषि मुनि आचार्यों से अलंकृत रहा है और उनकी धर्मदेशना से मानव मात्र का कल्याण होता आ रहा है।

त्रिशताब्दि पूर्व कभी-कभी गुरु परम्परा में व्यवधान भी आया है लेकिन जुगुनू के समान यत्र तत्र दर्शन होते रहे हैं।

आचार्य शांतिसागरजी महाराज दक्षिण से उत्तर की ओर भारत में विहार करने लगे तब समाज के जीवन में धार्मिक मान्यता की स्फूर्ति आई और हजारों आत्माएं आत्म कल्याण की ओर बढ़ी। उस समय से समाज का यह परम सौभाग्य रहा है कि आचार्य संघ के दर्शन व उपदेश उपलब्ध होने लगा।

आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के पट्ट पर उनके पट्ट शिष्य उत्तराधिकारी हुए और वर्तमान आचार्य धर्मसागरजी महाराज उनकी चतुर्थ पीढ़ी में हैं।

आपने भारत के विभिन्न ग्राम व नगरों मे भ्रमण करके जैन धर्म का प्रचार व प्रसार किया है, वह वचनातीत है।

आचार्य श्री का भगवान बाहुबलि सहस्राब्दि महा मस्तकाभिषेक के अवसर पर अभिवन्दन किया जा रहा है यह बड़े गौरव की बात है। आचार्य श्री के चरणारविंद में मैं तन मन से नतमस्तक होकर हार्दिक श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूं।

❖

तप:पूत दिव्यात्मा को शतश: नमन

[राजवैद्य श्री शांतिप्रसादजी जैन, दिल्ली]

प. पू. प्रात:स्मरणीय १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज देश की उन महान दिव्यात्माओं एवं तप:पूत महान् विभूतियों में से है, जिन्होंने आत्मकल्याण हेतु त्यागमार्ग को अङ्गीकार कर जिन धर्म का उत्कृष्ट आदर्श देश के सम्मुख प्रस्तुत किया है।

जिनमार्गगामी आचार्य श्री ने अपने सम्यक् आचरण द्वारा मुनिचर्या का पूर्णत: निर्वाह करते हुए आत्मसंशुद्धि के लक्ष्य को प्राप्त करने में जो संयम एवं साधना-पूर्ण जीवन निर्वाह किया है और उसका जो प्रभाव समाज पर पड़ा है वह सर्वविदित ही है। आचार्य श्री ने कभी भी अपने जीवन में किंचित् भी शिथिलाचार नहीं आने दिया और न कभी अपने संघ में किसी प्रकार के शिथिलाचार को प्रोत्साहन दिया। अपने संघ को दृढ़ता पूर्वक आचारनिष्ठ एवं अनुशासित रखने में आपने जिस सहजता एवं स्वाभाविकता का परिचय दिया वह अद्भुत है। आपके संघ के अनुशासन का परिचय मुझे उस समय मिला जब आपका सन् १९७४ ईस्वी में दिल्ली महानगर में वर्षायोग चल रहा था। संघ में किन्हीं मुनि श्री के अस्वस्थ होने पर उपचार हेतु मुझे बुलाया गया, चूंकि महाराज श्री के लिए मै सर्वथा अपरिचित था अत: उन्होंने अस्वस्थ मुनिराज के उपचार हेतु औषधि तथा मुझसे परिचित हुए बिना अपनी स्वीकृति प्रदान नहीं की अत: मैं किंचित् उदासी लिए वापस लौट आया, किन्तु लौटा एक अपूर्व अमिट छाप लेकर आचार्य श्री के अनुशासनात्मक व्यक्तित्व की ओर उसी समय श्रद्धार्द्र हो गया मेरा हृदय। उदासी की झलक तो इसलिए आई थी कि मैं संघ की उस दिन सेवा नहीं कर सका। आचार्य श्री की अनुशासन प्रियता एवं साधुचर्या सम्बन्धी आचरण की दृढ़ता को देखकर मैं अत्यन्त प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका।

आचरण के समान ही ज्ञानकी आवश्यकता एवं अनिवार्यता को समझने वाले आचार्य श्री ने ज्ञान के बिना किये गये आचरण को निरर्थक बतलाया और जिनवाणी के स्वाध्याय में स्वयं को निमग्न भी किया, क्योंकि स्वाध्याय बिना ज्ञान कैसे सम्भव ? अत: नियमित स्वाध्याय उनकी चर्या का आवश्यक अङ्ग बन गया। इस प्रकार की शास्त्र सम्मत चर्या और जिनागम का गम्भीर मनन तब तक सम्भव नहीं जब तक जिन धर्म और उसके प्रतिपादित सिद्धांतो एवं तत्त्वविवेचन के प्रति पूर्ण एवं समीचीन श्रद्धा न हो। अत: यहा यह बतलाना आवश्यक नहीं है कि जिनवाणी के प्रति आचार्य श्री में कितनी अगाध श्रद्धा है, यह तो उनका निर्मल आचरण और आगम सम्मत चर्या स्वयं बता रही है। रत्नत्रय का अद्भुत परिपालन जो कि आचार्य श्री के जीवन में है अन्यत्र दुर्लभ ही है। आपका समग्र साधु जीवन संयम-साधना और दृढ आचरण के समन्वय के साथ तपश्चर्या की तीव्राग्नि से प्राप्त अन्त: कलुषता के अभाव के कारण मुख मण्डल एक दिव्य तेज युक्त अन्तर्शान्ति को उद्भासित करता है। आप जैसा तपस्वी एवं ज्ञान गंभीर प्रशान्त, निस्पृह एवं निर्द्वन्द्व साधु जीवन दुर्लभ है। दिव्य-अलौकिक तेज से दीप्तिमान आप जैसे आध्यात्मयोगी का दर्शन क्या अन्हादित एवं तृप्ति प्रदान नहीं करेगा? अवश्यमेव करेगा। ऐसी तप:पूत दिव्यात्मा को शत-शत नमन करते हुए चरणारविन्द में श्रद्धा-सुमन सविनय समर्पित हैं।

❖

मेरे श्रद्धेय गुरुदेव

[श्री रतनलालजी बाकलीवाल, किशनगढ़]

परम श्रद्धेय आचार्य शिरोमणि, धर्मनायक १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के पावन चरणों में मैं सश्रद्धा नमन करता हूं।

भारतवर्ष में समय-समय पर महापुरुषों ने जन्म लिया, जिसके कारण देश व धर्म उन्नत हुआ, इसी शृंखला में हमारे दि० जैन मुनि १०८ आचार्यवर्य गुरुदेव स्वनामधन्य श्री धर्मसागरजी महाराज द्वारा भी धर्म की पताका लहरा उठी है। इससे हम और सभी मानव समाज धन्य हुआ।

विश्वकल्याणार्थ देश के विभिन्न प्रान्तों व स्थानों पर विहार कर जैन धर्म के मूल अहिंसा के महामंत्र का उद्घोष करते हुए अपनी निरंतर ज्ञान गंगा को आप अपने उपदेशों द्वारा अविरल प्रवाहित करते रहे हैं।

आचार्य श्री से मेरा दीर्घकाल से सम्पर्क रहा है। मुझे हर चातुर्मास में सौभाग्यवश आपकी सेवा का सुअवसर प्राप्त होता रहा है और सन् १९७७ का एक चातुर्मास हमारे नगर मदनगंज-किशनगढ़ में होने से मुझे और मेरे परिवारजनों को बड़ा ही अनुपम आनन्द मिला।

आचार्य श्री के चेहरे की प्रसन्नमुद्रा के दर्शनों से श्रावकगण काफी आकर्षक होकर मंत्रमुग्ध हो जाते है। आपकी सरलता, समभावना, गम्भीरता, ओजस्विता और मधुरता युक्त वाणी भारत के कई भागों में अमृत वर्षा करते हुए जन जीवन के हृदयस्थ कलुषित एवं तामस विचारों को शान्ति व निर्मलता प्रदान करती है।

आत्मसाधना के त्यागमय मार्ग पर अग्रसर होते हुए आप जनकल्याण की दिशा में सतत प्रयत्नशील रहते है। पद लोलुपता से दूर आपका जीवन समाज व संघ की सेवा के लिए समर्पित रहा है। देश में दि० जैन साधुओं का यह सबसे बडा संघ है और आचार्य पद्धति के अनुसार आज के समय में उस समय से (श्री दि० जैन आचार्यवर्य १०८ श्री शांतिसागरजी महाराज के समय से) चली आ रही आचार्य परम्परा के उत्तराधिकारी आचार्य के रूप में आपको विभूषित किया गया है।

हमारे नगर में चातुर्मास होने पर मेरे परिवार के सभी छोटे-बड़े सदस्यों ने श्रद्धा से पूरे संघ की सेवा कर, उनसे धर्म के मार्ग की ओर अग्रसर होकर आत्मलाभ एवं जन सेवा का सकल्प किया। मेरे आदरणीय पिताजी साहब श्री बीजालालजी बाकलीवाल अस्वस्थ रहते हुए भी हमेशा मुनि भक्ति की ओर अपना ध्यान बनाये रखते हैं तथा मुझे भी मुनियों की सेवा करते रहने के लिए मार्ग दर्शन करते हैं। आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज के चातुर्मास से नई पीढी के नौजवानों में भी धर्म के प्रति काफी आस्था बढ़ी है। तथा छोटे बच्चों को धर्म के प्रति आकर्षित करवाने के लिये समाज को एक धर्म पढ़ाने की स्कूल की व्यवस्था के लिये भी आपने सुझाव दिया। जिसको समाज ने शीघ्र ही प्रारम्भ कर दिया।

परम श्रद्धेय करुणासागर, प्रात: स्मरणीय पूज्य गुरुदेव का जीवन आदर्श एवं मंगलकारी है। आपने अपने साधुकाल में ऐसे-ऐसे महान् कार्य किये हैं जिससे भारतवर्ष में आपका यशोगान सूर्य की तरह तेज व चन्द्रमा की तरह उज्ज्वल रूप से फैल रहा है। आपके पुण्य का ही प्रभाव है कि मानव व श्रावकगण आपके हर जगह पदार्पण के साथ दौड़े हुए आते हैं।

ऐसे धर्मनायक, गुरुवर के चरणों में मेरा श्रद्धा से सिर झुकता है।

भावाञ्जलि

[बिमलकुमार-अजितकुमार पाटनी, संयोजक अभिवन्दन ग्रन्थ समिति, कलकत्ता]

भारतीय संस्कृति सन्तों की साधना से ही अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुई है, राजस्थान, वीरप्रसवनी भूमि है, वीरता के इतिहास में राजस्थान का स्थान समग्र भारतवर्ष में अनुपम है। इस तथ्य को बहुत लोग जानते है। इसी वीर प्रसवा राजस्थानी भूमि पर अनेक धर्मनिष्ठ महान् आत्माओं ने भी जन्म लिया है। राजस्थान की ही एक निर्मल विभूति परम पूज्य आचार्य धर्मसागरजी महाराज ऐसे ही सन्तो में से एक हैं। जिनका समग्र जीवन स्वपर कल्याण में निरत है एवं लौकेपणा से कोसों दूर उनका व्यक्तित्व, चारित्र धर्म से आप्लावित है। उनका जीवन मनसा-वाचा-कर्मणा सरलता से ओतप्रोत है।

आचार्य श्री के दर्शनों का सौभाग्य हमें कई बार मिला हमारा हृदय आचार्य महाराज के प्रति श्रद्धा से परिपूर्ण है। पूज्यपाद लोकोत्तर आचार्य श्री का पवित्र जीवन जगत् के लिए पथप्रदर्शक है। हम आचार्य श्री के चरणों में नमन करते हुए गुरुदेव से प्रार्थना करते है कि आपके आशीर्वाद से नवयुवापीढ़ी की आत्मा में उच्च और पवित्र भावनाओं की जागृति होती रहे, जिससे जीवन मे धर्मांकुरोत्पत्ति पुरस्सर आत्म-साधना का विशाल कल्पतरु उत्पन्न हो सके। इन्ही भावनाओं के साथ-साथ हम आचार्य श्री के पुनीत चरण कमलों में अपनी हार्दिक भावाञ्जलि समर्पित करते हुए शत-शत नमन करते हैं।

विनयांजलि

[पं० श्री रतनचन्द्रजी जैन मुख्तार, सहारनपुर]

सन् १९७६ में प० पू० प्रशान्तमूर्ति १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का अपने विशाल संघ के साथ सहारनपुर में वर्षायोग व्यतीत हुआ था। उससे पूर्व तथा उसके पश्चात् भी उनके अनेकों बार दर्शन किये है। वे सदैव प्रसन्न चित्त रहते है, कषायें उनसे दूर भागती हैं। आपका निर्मल चारित्र अनुकरणीय है। आप अत्यन्त सरल स्वभावी है, अन्तरङ्ग और बाह्य में आपकी एक सी अवस्था है अर्थात् मन-वचन-काय तीनो ही योग अत्यन्त निर्मल है। आप निर्भीक एवं स्पष्ट वक्ता है तथा ख्याति-पूजा-लाभ से सर्वथा दूर हैं। आप जैसे महान् साधुओं से ही वस्तुतः धर्म की प्रभावना होती है। उनके चरणों में नत मस्तक होकर अपना जीवन सफल मानता हूं। मेरी भावना है कि मेरा भावी जीवन आपके समान ही निःकषाय रूप होवे। मैं पूज्य गुरुवर के चरणो मे त्रिकाल नमोस्तु करते हुए अपनी विनयाञ्जलि समर्पित करता हूं तथा भगवान जिनेन्द्र देव से प्रार्थना है कि परम पूज्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज चिरायु हों और हम जैसे प्राणियों का मार्ग दर्शन करते रहें।

❖

मंगल कामना

[श्री सुमेरकुमार जैन, सन्तोष रोडवेज जयपुर]

परम पूज्य आचार्य शिरोमणि १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज का अभिवंदन ग्रंथ, भगवान १००८ श्री बाहुबलि स्वामी के सहस्राब्दि प्रतिष्ठापना महोत्सव के अवसर पर प्रकाशन का आवश्यक निर्णय लेकर प्रकाशन समिति ने सराहनीय एवं अद्वितीय कार्य किया है। यह अभिवन्दनग्रन्थ प्रकाशित होकर समाज के लिये त्याग एवं अपरिग्रह के सिद्धान्तों की अमूल्यनिधि साबित होगा एवं भौतिकवाद की ओर अत्यधिक आकर्षित हो रहे मानव मात्र को आंशिकरूप में आध्यात्मिक प्रेरणा देने में सफल होगा, ऐसी मेरी मान्यता है।

मैं महाराज श्री के चरणों में श्रद्धा सुमन अर्पण करता हुआ आचार्य श्री के शतायु होने की मंगल कामना जिनेन्द्रप्रभु से करता हूं।

मंगल भावना

[श्री धर्मचन्द्रजी सोधिया, संयोजक वर्णी विद्यालय समिति–सागर]

मध्यप्रान्तीय मानव समाज के सौभाग्य से मध्यप्रान्त में भी कोई न कोई पूज्य मुनि संघ का विहार सदा से ही होता आ रहा है। इसी दिगम्बर मुनि विहार की शृंखला में श्री १०८ पूज्य श्री मुनि धर्मसागरजी महाराज का विहार भी मध्यप्रान्त के कुछ प्रमुख नगरों में होता रहा। सागर के विशाल जैन समाज के विनम्र निवेदन करने पर पूज्य श्री के हृदय में सागर ने स्थान प्राप्त कर लिया। तदनुसार पूज्य श्री ने अन्य नगरों एवं ग्रामों की जनता को सम्बोधित करते हुए अपने धर्मसागर नाम के साथ मानव सागर में प्रवेश किया। सागर में मुनि श्री धर्मसागरजी का महत्त्वपूर्ण स्वागत किया गया। श्री गणेश दि० जैन संस्कृत महा विद्यालय वर्णी भवन सागर के विशाल प्राङ्गण में आपने विशाल संघ सहित प्रवास किया।

पूज्य श्री १०८ धर्मसागरजी के पधारने पर सागर में प्रतिदिन धर्मामृत की वर्षा होने लगी। आश्चर्य है कि धर्मसागरजी द्वारा धर्मामृत की वर्षा होने पर खारा सागर भी मधुर सागर हो गया। आपके धर्मोपदेश के प्रभाव से अनेक महिलाओं, मानवों और छात्रों ने स्वाध्याय पूर्वक अनेक व्रतों को अंगीकार किया।

चातुर्मास योग का समय निकट आ गया था अतः सागरीय जैन समाज ने श्रीफल समर्पण पूर्वक पूज्य श्री के प्रति ससंघ चातुर्मासिक योग धारण करने के निमित्त सविनय निवेदन किया, तदनुसार मुनि श्री धर्मसागरजी ने सागर में ससंघ चातुर्मास योग धारण करने की सहर्ष स्वीकृति प्रदान कर दी, जिस स्वीकृति का मानवसागर ने करतल ध्वनि द्वारा विशाल स्वागत किया। मगलघट की स्थापना पूर्वक, सन् १९६२ में आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को पूज्य श्री ने ससंघ चातुर्मास योग अंगीकार करने का पावन संकल्प किया।

चातुर्मास के इसी समय में श्री दशलक्षण पर्व के विसर्जन होने पर आश्विन कृष्णा चतुर्थी को, पूज्य श्री के सान्निध्य में श्री वर्णी जयन्ती का कार्यक्रम आयोजित किया गया। इसी कार्यक्रम के अन्तर्गत विशाल आमसभा हुई, जिसमें सागर विश्व विद्यालय के प्रवक्ताओं, स्थानीय तथा समागत अनेक विद्वानों के भाषण और कविता पाठ भी हुए।

वर्णी जयन्ती के इस विशाल कार्यक्रम को देखकर पूज्य श्री ने दूसरे दिन अपने व्याख्यान में कहा कि सागर जैसे विशाल क्षेत्र में अनेक महत्त्व पूर्ण समारोह होते हैं, परन्तु एक ऐसा विशाल स्थान नही कि जिसमे ये सब धार्मिक समारोह, सामूहिक रूप में सम्पन्न किये जा सके। आप सब शक्तिशाली है सम्पन्न हैं अतः ऐसा भवन बनाओ कि जिसमें सभी धार्मिक कार्य निर्बाध सम्पन्न हो सकें। इस उपदेश को सुनकर सागर समाज के हृदय में एक नवीन उल्लास उत्पन्न हुआ और विद्यालय के एक विशाल प्रांगण में विशाल वर्णी स्मारक बनाने का निर्णय लिया। तदनुसार पूज्य श्री के सान्निध्य में दिनाक ११-११-१९६२ के शुभ मुहूर्त में, अपार जन समुदाय के मध्य श्रीमान् चौधरी हुकमचन्दजी मानक चौक वालो के कर कमलों द्वारा श्री वर्णी स्मृति भवन का शिलान्यास हुआ। कुछ वर्षों मे उसका निर्माण पूर्ण हो गया। कुछ समय व्यतीत होने पर श्री १०८ आ० शिवसागरजी महाराज ससंघ सागर पधारे और उनके धर्मोपदेश से प्रभावित होकर समाज द्वारा श्री बाहुबलि मन्दिर का निर्माण कराया गया। तत्पश्चात् १९६८ ईसवी में श्री १०८ निर्मलसागरजी महाराज ससंघ सागर मे पधारे और उनके उपदेश से प्रभावित होकर श्री आदिनाथ मन्दिर का निर्माण हुआ। वी० सं० २४९४ मे इस मन्दिर की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई। इसप्रकार श्री वर्णी स्मृति भवन के शिलान्यास से लेकर कलशारोहण तक सम्पूर्ण निर्माण का श्रेय सर्व प्रथम श्री १०८ धर्मसागरजी मुनिराज को ही प्राप्त होता है। इस धार्मिक आयतन से समाज का बहुत कल्याण होरहा है, हुआ है और होगा। अतएव सागरीय जैन समाज, संस्कृत विद्यालय की प्रबन्ध समिति, मुनि संघ स्वागत समिति, एवं अध्यापक मण्डल पूज्य श्री के प्रति दीर्घ जीवन तथा आत्म साधना के लिते शत शत मंगल कामनाएं प्रस्तुत करते हैं एवं सिरसा उनके चरणो में शत-शत नमन करते है।

मेरी विनयांजलि

[पं० श्री कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी]

आचार्य धर्मसागरजी महाराज इस समय दि० जैन समाज के सर्वोपरि आचार्य हैं। और उनका संघ सर्वाधिक मान्य संघ है। आज अनेक मुनिसंघों में जो शिथिलाचारी प्रवृत्तियां आ गई है, आपका संघ उनसे अछूता है। उचित तो यही होता कि समस्त दिगम्बर जैन समाज का एक ही प्रमुख आचार्य होता जैसा श्वे० तेरापन्थ में आचार्य तुलसी गणि है, किन्तु जब समाज ही असंगठित है तब कोई क्या कर सकता है? इसमें मुनि महाराजों का इतना दोष नही है, जितना श्रावकों का है। श्रावक यदि प्रबुद्ध और धर्म परायण हों तो मुनिमार्ग बिगड़ नहीं सकता। ऐसी स्थिति मे भी आचार्य महाराज यथाशक्ति अपने संघ का संरक्षण करते है यही सन्तोष की बात है। मैं उनके चरणों में प्रणाम कर अपनी विनयाञ्जलि अर्पित करता हूं।

निस्पृहता व निर्द्वन्द्वता के मूर्तिमान् प्रतीक

[ब्र० श्री सुगनचंदजी, आचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्थ]

प० पू० प्रातःस्मरणीय आचार्य प्रवर १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज इस शताब्दि के परम्परागत तृतीय पट्टाचार्य हैं। आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज के पट्टधर आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज थे। उन्हीके चरण सान्निध्य में मुझे व्रती बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लगभग ३० वर्ष से इस परम्परागत संघ से मेरा सम्पर्क है। मुझे आचार्य श्री वीरसागरजी, आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के सान्निध्य में रहने का, संघ की वैयावृत्ति करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। अब वर्तमान आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के चरणों में भी मैं प्राय: रहता ही हूं। धर्मसागरजी महाराज अत्यन्त सरल परिणामी हैं एवं वे व्यर्थ के प्रपंचों से दूर रहते हैं। इतने बड़े संघ का संचालन करते हुए उनमें कभी कषाय की उद्भूति नहीं देखी, सदैव प्रसन्न मुद्रा में ही गुरुदेव को मैंने देखा। मैंने ही क्या समाज के बच्चे-बच्चे को यही कहते सुना है। आपके जीवन में लागलपेट बिल्कुल भी नहीं है जो कुछ जिसे भी कहना है स्वच्छ हृदय से एक दम स्पष्ट शब्दों में। उनकी स्पष्टोक्ति का आज तक किसी ने बुरा नहीं माना, क्योंकि उनकी कटुसत्य वचन वर्गणा में भी मन की निर्मलता का पुट होता है और होती है वह बात आत्मकल्याण के लिए। इतने विशाल शिष्य समुदाय को दीक्षा प्रदान की है, किन्तु कभी भी आपकी वाणी मे अविनम्रता प्रगट नहीं हुई। सदैव अत्यन्त विनम्रता के साथ तीनों पूर्वाचार्यों का तथा श्री १०८ चन्द्रसागरजी का स्मरण करते हैं। आचार्य श्री के जीवन की महानता का वर्णन कहां तक किया जावे ? उनका जीवन "आगम चक्खू साहू" के अनुसार पूर्णतया निर्दोष है वे अप्रमत्तभाव से अपनी चर्या का परिपालन करते है।

मैं प्रात: स्मरणीय प० पू० आचार्य शिरोमणि, बाल ब्रह्मचारी, प्रशान्त मूर्ति, निस्पृहता एवं निर्द्वन्द्वता के प्रतीक, सरल परिणामी, चारित्र तपोनिधि, आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के परम पुनीत चरण कमलों में त्रिधा त्रिकाल नमोऽस्तु करते हुए जिनेन्द्र प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि आचार्य श्री की छत्र छाया दीर्घकाल तक हमें प्राप्त होती रहे और हम उनसे आत्मकल्याण का मार्ग प्राप्त करते रहें।

श्रद्धा सुमन

[श्री जिनेन्द्रजी वर्णी, रोहतक (हरियाणा)]

प्रात: स्मरणीय चारित्र चक्रवर्ती परम पूज्य आचार्यवर श्री शांतिसागरजी महाराज का स्मरण करते हुए उनके प्रशिष्य चारित्रादर्श तपोमूर्ति परम पूज्य आचार्य शिरोमणि १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज के चरणों में अपने चारित्र तथा तप की अभिवृद्धि हेतु श्रद्धा के दो कुसुम लेकर उपस्थित हुआ हूं। पूज्य श्री का आशीर्वाद मेरे साथ इस सारे जगत् को मङ्गल प्रदान करे।

श्रद्धा सुमन

[पं० श्री नाथूलालजी शास्त्री, इन्दौर]

प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज इस युग के महान दिगम्बर श्रमण हैं। उनका व्यक्तित्व एवं अनुभव प्रभावक और विशाल है। अपने विचारों की दृढ़ता और आगमानुकूलता का वे सदैव ध्यान रखते है। साधुजनोचित सरलता होने से उनके समीप प्रत्येक व्यक्ति पहुंचकर अपनी श्रद्धा प्रकट करने मे अपना अहोभाग्य मानता है।

मैंने इन्दौर, दिल्ली आदि मे आचार्य श्री के दर्शन कर उनकी पवित्र वाणी श्रवण की है। उनसे मै बहुत प्रभावित हूं। संघ संचालन का वे सहज ही उत्तरदायित्व निभाते हुए स्वहित में संलग्न रहते है। मै श्रमण संस्कृति की इन आदर्श विभूति आचार्य श्री के प्रति अपनी नम्र श्रद्धा प्रकट कर उनके पूज्य चरणों में प्रणाम करता हूं।

☼

श्रद्धाञ्जलि

[डा० श्री ज्योतिप्रसाद जैन विद्यावारिधि, लखनऊ]

भौतिकता प्रधान आधुनिक युग की विषम परिस्थितियों में भी निर्ग्रन्थ तीर्थङ्कर महाप्रभुओं की परम्परा में मोक्षमार्ग के साधक दिगम्बर मुनिराजों के दर्शन सुलभ है यह सुखद आश्चर्य है। यथाजातरूप जैन योगिराज की चर्या अत्यन्त दुष्कर है तथापि भव्यलोक के सौभाग्य से कई ऐसे सच्चे साधु महात्मा आज भी स्वपर कल्याण की साधना मे रत है। मूल संघाग्रणी भगवान कुन्दकुन्द के अन्वय में उत्पन्न प्रात: स्मरणीय चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागरजी महाराज की संघ परम्परा में ततीय पट्टाचार्य परम पूज्य चारित्र-शिरोमणि तपोधन आचार्यप्रवर धर्मसागरजी महाराज आत्म साधना के साथ-साथ संघ संरक्षण मे भी जागरूक हैं। लोक रंजना एवं ख्याति-लाभ-पूजा की भावनाओं से अतीत आचार्य श्री के चरणों में विनयावनत श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हुए मैं उनके दीर्घ जीवन की मंगल कामना करता हूं।

☼

भावांजलि

[श्री अक्षयकुमार जैन, दिल्ली]

भूतपूर्व सम्पादक—नवभारत टाइम्स

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि प० पू० चा० च० आचार्य शांतिसागरजी महाराज के तृतीय पट्टाचार्य योगीराज चारित्र शिरोमणि श्री १०८ आचार्य धर्मसागरजी महाराज का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है! इस धार्मिक आयोजन में मेरी शुभ कामनाएं आपके साथ है। आशा है ग्रन्थ समाज और राष्ट्र के लिये अत्यन्त उपयोगी और मार्गदर्शक सिद्ध होगा एवं समाज को आचार्य श्री के जीवन से प्रेरणा प्राप्त होगी। पूज्य श्री के चरणों में मेरी भावाञ्जलि।

☼

मंगल कामना

[साहित्यकार श्री यशपाल जैन, दिल्ली]

आचार्य धर्मसागरजी जैन समाज की एक विरल विभूति हैं। उन्होंने समाज के कल्याण के लिये जो साधना की है, और आज भी कर रहे है, वह उनका एक ऐसा ऋण है, जिससे समाज कभी उऋण नहीं हो सकता। वे विद्वान है और उनका रहन-सहन तथा आचार-विचार अत्यन्त प्रेरणादायक है। आज के भौतिकवादी युग में वे बड़े प्रभावशाली ढंग से संयम और सात्विकता का दृष्टान्त प्रस्तुत कर रहे हैं। वे अकिंचन हैं और उनका जीवन समाज को अपरिग्रही होने का कल्याणकारी संदेश देता है। मेरी प्रभु से प्रार्थना है कि आचार्य श्री शतंजीवी हों, स्वस्थ रहें और समाज उनके जीवन उनकी वाणी तथा उनके साहित्य से चिरकाल तक लाभान्वित होता रहे।

❖

निर्द्वन्द्व दिगम्बराचार्य

[श्री पं० पन्नालालजी, साहित्याचार्य, सागर]

आचार्य प्रवर धर्मसागरजी, वर्तमान दिगम्बराचार्यों में प्रख्याततम आचार्य हैं। चारित्रचक्रवर्ती शान्तिसागरजी महाराज के चतुर्थपट्टाधीश हैं। प्रकृति के सरल, अन्तस्तत्व के पारखी और भवभीरु मनुष्यों के समुपकर्ता हैं। विशाल साधु संघ का संचालन करते हुए भी सदा निर्द्वन्द्व और आकुलता विहीन रहते हैं। आगम का गहन अध्ययन और चरणानुयोग प्रतिपादित चारित्र का दृढता से पालन करना आपकी विशेषता है। यथार्थ बात के कहने में आप किसी बड़े से बड़े व्यक्ति का चक्षु:संकोच नहीं करते। न जाने कितने अव्रतियों को आपने व्रती श्रावक बनाकर मोक्षमार्गी बनाया है। परमोपकारी गुरुवर निर्द्वन्द्व दिगम्बराचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के चरणों मे शत शत वन्दन करता हुआ अनन्त शुभ कामनाएं समर्पित करता हूं।

संदेश

[श्री भजनलाल, मुख्यमंत्री हरियाणा, चण्डीगढ़]

यह हर्ष का विषय है कि दिगम्बर जैन नवयुवक मण्डल कलकत्ता आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के अभिवन्दन में एक ग्रन्थ का प्रकाशन कर रहा है।

वैदिक काल से आज तक हमारे देश में समय-समय पर महापुरुषों का जन्म होता रहा, जिन्होंने देश, धर्म और समाज के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। देश में सभी धर्मों की शिक्षाओं का आधार सदाचार, भाईचारा, सादगी और कर्मयोग है। यही मानव जीवन की सफलता की कुन्जी है।

मुझे आशा है कि इस ग्रन्थ से आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज की शिक्षाएं अधिक प्रचारित होंगी तथा लोगों को प्रेरणा मिलेगी।

ग्रंथ की सफलता के लिये मेरी शुभ कामनाएं।

❖

मांगलिक मनोभावना

[श्री दयाचन्द्रजी जैन, साहित्याचार्य, धर्मशास्त्री]

(प्रवक्ता : श्री गणेश दि० जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर)

परमप्रमोदविषयोऽयं, यदस्मिन् २५०६ वीर निर्वाणसम्वत्सरे, १९८० खिष्टाब्दे, २०३७ विक्रमवत्सरे, आचार्यशिरोमणेः श्रीः १०८ धर्मसागरमहाराजस्य विशालमुनिसंघशासकस्य प्रथमोऽद्वितीयः चातुर्मासिकयोगः राजस्थानीये ऋषभदेवनामधेये पवित्रे अतिशयक्षेत्रे रमणीये शोभते । क्षेत्रेऽस्मिन्केशरवृष्टितुल्यं धर्मामृतवृष्टिः अपि एकः अतिशयः साम्प्रतं दृश्यते ।

यथा खलु सम्वत्सरस्य प्राकृतिकचातुर्मासे मेघेभ्यः सलिल वृष्टिः जायते लोकोपकारिणी हर्षदायिनी च तथैव यतिचर्यायाः वर्षस्य चातुर्मासिकयोगेऽपि ज्ञानवृद्धस्य धर्मसागरस्यात्मनः समीपात् लोकोपकारिणी तत्त्वरुचिदायिनी च धर्मामृतस्य वृष्टिः सम्पद्यते । चित्रमेतत्–जलवृष्टिः मेघेभ्यः, धर्मजलवृष्टिश्च सागरेभ्यः भवति । अपि च जलसागरे क्षारं सलिलं विद्यते, परं धर्मसागरे मधुरं ज्ञानसलिलं विद्यते । जलेन हि तृप्तिः संजायते परं ज्ञानजलेन प्राणिना कदापि तृप्तिर्न भवति । जडजलेन केवलं बाह्यमलस्य प्रक्षालनं भवति परं तु ज्ञान जलेन रागद्वेषादिमलस्य प्रक्षालनं संजायते । जलस्य शोषणं भवतिःपरं ज्ञानजलस्य शोषणं कदापि न भवति–इत्येवं धर्मसागरस्य ज्ञानजलस्य वैशिष्ट्यं वैचित्र्यं च दृश्यते ।

इदमपि दृश्यते आश्चर्यम्–यत्साधारणमानवेषु केवलं वयोवृद्धत्वं दृश्यते, परं धर्मसागरमुनिराजे वयोवृद्धत्वं, दर्शनवृद्धत्वं, ज्ञानवृद्धत्वं, तपोवृद्धत्वं चेति चत्वारि वृद्धत्वानि दृश्यन्ते ।

किञ्च–पूज्यश्रीमहोदयाः पदयात्रां (पद्भ्यां यात्रा पदयात्रा) विनैव मोक्षमार्गस्य यात्रां रत्नत्रयसाधनां निश्चयेन कुर्वन्ति, परं तावद् व्यवहारेण पदयात्राभिः (पदेषु–ग्रामेषु नगरेषु च विविधस्थानेषु यात्रा इति पदयात्रा ताभिः) मोक्षमार्गस्य निर्देशन देशनां वा साधयन्ति–इति भवतां पदयात्रामहत्त्वं अनेकान्तेन विज्ञायते सर्वत्र ।

अपि च–"पाणिपात्रो दिगम्बरः" जनश्रुतिप्रसारेण पूज्यश्रीमान्याः पाणिपात्राः (पाणी एव पात्रे येषां ते इति पाणिपात्राः) परमदिगम्बराचार्याः लोके प्रसिद्धाः सन्ति, परं हि भवन्तः पाणिपात्राः (पाणयोः भौतिकपात्राणि येषां ते इति पाणिपात्राः) इति व्युत्पत्त्या पाणिपात्राः कदापि न सन्तीति अनेकान्तदृष्ट्या पाणिपात्रता लोके अवलोक्यते सर्वत्र ।

एकोऽपि भवान् दिगम्बरयतिसंघनायकत्वेन अनेकः इति भवतां गौरवगाथां कः प्रतिपादयितुं समर्थः साम्प्रतम् ।

श्री. १०८ परमदिगम्बराचार्याणां धर्मसागरमान्यानां कृते दीर्घजीवने रत्नत्रय साधनाविषये च शतशतमङ्गलकामनाः विलसन्तुतरां लोके ।

धर्मं धर्मसागरं च प्रति—

धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो, धर्मं बुधाश्चिन्वते
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं, धर्माय तस्मै नमः ।
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद् भवभृतां, धर्मस्य मूलं दया
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं, हे धर्म ! मां पालय ॥१॥

संदेश

[श्री भगवतीप्रसाद बेरी, चीफ जस्टिस राजस्थान हाईकोर्ट]

श्री परम पूज्य आचार्य शिरोमणि १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज को अभिवन्दन ग्रंथ भेंट किया जा रहा है यह जानकर प्रसन्नता हुई। ऐसे तपस्वी जीवन का अभिवन्दन करना यथोचित ही नहीं आवश्यक है, क्योंकि, इसके द्वारा हम त्याग और तपस्या को सम्मानित कर रहे हैं और जीवन के सही मूल्यों का आदर कर रहे हैं। जैन दर्शन मानव उत्थान के लिए एक बहुत ही उपयुक्त मार्ग है और इस सम्बन्ध में विचारों के आदान प्रदान से मानव हित भी होगा। मेरी विनम्र शुभ कामना है कि इस ग्रंथ के माध्यम से पाठकों को अहिंसा और अपरिग्रह की नई प्रेरणा मिले।

✡

शुभ कामना

[श्री जी० के० भनोत, चीफ सेक्रेट्री, जयपुर]

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हो रही है कि भगवान बाहुबलि सहस्र शताब्दी महामस्तकाभिषेक के समय होने वाले समारोह के अवसर पर आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के संबंध में एक अभिवन्दन ग्रंथ का प्रकाशन किया जा रहा है। मैं आशा करता हूं इस अभिवन्दन ग्रन्थ में संकलित साहित्य से आम जनता को धार्मिक एवं सामाजिक शिक्षा मिलेगी और उससे जन साधारण का कल्याण होगा।

मैं इस अवसर पर अपनी शुभकामनाएं प्रेषित करता हूं।

✡

शुभ कामना

[श्री बद्रीप्रसादजी गुप्ता, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य मंत्री, राजस्थान]

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि भगवान बाहुबलि प्रतिष्ठापना सहस्राब्दि वर्ष एवं महा-मस्तकाभिषेक के मंगल अवसर पर आचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज के अभिवादन हेतु वृहद् ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है।

मैं उक्त ग्रन्थ की सफलता के लिये अपनी शुभ कामनाएं प्रेषित करता हूं।

✡

शुभ कामना

[श्री हनुमानप्रसाद प्रभाकर, शिक्षा मंत्री, राजस्थान]

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि चारित्र चक्रवर्ती जैनाचार्य परम पूज्य श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज का भगवान बाहुबलि प्रतिष्ठापना सहस्राब्दि वर्ष एवं महा-मस्तक अभिषेक के मंगल प्रसंग पर अखिल भारतीय स्तर पर श्री दिगम्बर जैन नवयुवक मण्डल, कलकत्ता के तत्वावधान में आचार्य श्री का अभिवादन करने हेतु वृहद् अभिवन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है।

इस ग्रंथ के सफल प्रकाशन हेतु मेरी शुभ कामनाएं।

✡

भावाञ्जलि

[श्री रमेशचन्द्र जैन पी. एस. मोटर्स, दिल्ली, उपाध्यक्ष, अभिवंदन ग्रन्थ प्रकाशन समिति]

दिगम्बर जैन आचार्य परम पूज्य प्रात: स्मरणीय चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज के तृतीय पट्टाचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज का अभिवन्दन ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है, यह प्रयास स्तुत्य है ।

आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का जब दिल्ली मे चातुर्मास था, तब मुझे समय-समय पर उनके दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था ।

आचार्य श्री दिगम्बर परम्परा को संरक्षण देते हुए श्रावकों को परम्परा के सुदृढ़ बनाये रखने का महत्वपूर्ण उपदेश देते हैं । आचार्य श्री का जीवन त्यागमयी और तपस्यापूर्ण है । आचार्य श्री के अनेकों शिष्य आज दिगम्बर परम्परा की ध्वजा को सगौरव फहरा रहे हैं । मैं कामना करता हूं कि आचार्य श्री का आशीर्वाद एवं सुमधुर हितोपदेशमय वाणी का श्रवण करने का सौभाग्य बराबर मिलता रहे और इसीके साथ मैं आचार्य श्री के चरणों में अपनी भावांजलि अर्पित करता हूं ।

शुभ कामना

[श्री जयचन्द डी. लुहाड़े, महामन्त्री भा. व. दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी]

अहिंसा धर्म है सच्चा, अहिंसा मूल है तप का ।
अहिंसा पालने से, कर्म बन्धन सब हैं झड़ जाते ।।

श्रमण संस्कृति के शुभ दर्पण, दिगम्बरत्व की साक्षात् प्रतिमूर्ति सौम्यता, सात्विकता तथा सहजता के प्रतिकृति, ज्योतिर्मय, तप.पूत शरीर, अधरों पर सरल सरस मुस्कान, तेजोमय भव्य ललाट, दृष्टि मे सम्यक्त्व ज्योति, सूक्ष्मज्ञानी, प्रबुद्धचेता, धर्म, समाज, देशानुराग मे अनुरंजित, अहिंसा के उद्बोधक, आगमपथ की ओर अग्रसित हो रहे परम पूज्य आचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज के द्वारा समाज में अभूतपूर्व धर्म प्रभावना की जो अभिवृद्धि हो रही है, उससे समाज में नवचेतना, नवजागृति की प्रेरणा मिली है । पूज्यवर की अमृतवाणी का लाभ हम सभी को चिरकाल तक मिलता रहे, इसके लिये हम उनकी दिर्घायु की शुभकामना करते हुए उनके पूज्यपाद चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं ।

शुभ कामना

[श्री मल्लिनाथजी शास्त्री, मद्रास]

वर्तमान में जैन धर्म के जीवित रहने का श्रेय आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज से लेकर अभी तक होने वाले साधु-त्यागीजनों को ही है। उन मुमुक्षु त्यागीजनों ने आत्माराधना के साथ-साथ धर्म प्रचार का लक्ष्य भी बनाया है। ऐसे स्व-पर कल्याण में निरत साधु-सन्तों के दर्शन बड़े पुण्योदय से ही होते हैं।

वर्तमान में इतस्तत: जो त्यागीवृंद दृष्टिगोचर हो रहे है वे तो हमारे असीम सौभाग्य से ही मिल रहे हैं। इन्हीं त्यागी गणों में हमारे आचार्य प्रवर धर्मसागरजी महाराज सर्व श्रेष्ठ हैं। आचार्य महाराज का तप:प्रभाव तो सर्वविदित है। वे महान तपस्वी, अध्यात्मस्वरूपी, तत्त्ववेत्ता, इन्द्रिय विजयी, जिनागम पारंगत, मनीषी एवं शांत परिणामी हैं। उनके श्री मुख से निकलने वाली वाणी अमृतमयी तथा मनोहारिणी होती है। महाराज के उपदेश से सहस्रों जीवों का उद्धार होता रहता है। उनकी वाणी तो एक प्रकार से चुम्बकमणि है जिससे सभी प्राणी धर्म के प्रति आकृष्ट हो जाते हैं। अत: हम स्वार्थवश जिनेन्द्रप्रभु के चरणों में विनम्र प्रार्थना करते है कि हमारे परम पूज्य, चारित्र-रत्न, आचार्यवर्य श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज जो कि चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री १०८ शांतिसागरजी महाराज की परम्परा के तृतीय पट्टाचार्य हैं, सारोग्य चिरायु हों जिससे जिनधर्म दिन दूना-रात चौगुना बढ़ता रहे यही हमारी मंगल कामना है।

शुभ कामना

[श्री पं० छोटेलालजी बरैया, उज्जैन]

वास्तव में आचार्य श्री दि० जैन समाज की आदर्श विभूति हैं उनका निर्मल चारित्र तथा उनकी निस्पृहता आदर्शरूप में हमें चारित्र मार्ग पर प्रेरित करती है। वे स्पष्ट और निर्भीक वक्ता हैं जैनागम के प्रखर तथा मार्मिक ज्ञाता हैं। उनका संघ इस युग में निर्मल चन्द्रमा के समान भारतवर्ष में विचरण कर मोक्ष मार्ग को प्रशस्त बना रहा है। ऐसी परम वीतराग विभूति का अभिवन्दन करते हुए परम हर्ष है, मै वीर प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि परम पूज्य आचार्य देव शतायु हों और उनका मार्ग दर्शन समाज को मिलता रहे।

श्रद्धाञ्जलि

[श्री पं० राजकुमारजी शास्त्री, निवाई]

चारित्र शिरोमणि, महान तपोनिधि परम पूज्य १०८ दिगम्बर जैनाचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज परमशांत, सरलस्वभावी, परमोदार अद्वितीय संत हैं। आप विशाल मुनिसंघ के नायक, परम विचारक और समयज्ञ हैं। सम्पूर्ण चतुर्विध जैन संघ आपसे अत्यंत प्रभावित है, श्रद्धावनत है। आप निरन्तर सर्वोदयी जैन सिद्धान्तों को जन-जन में प्रसारित व प्रचारित कर प्राणी मात्र का कल्याण कर रहे हैं। ऐसे महान् आदर्श जैन संत के पावन चरणों में विनम्र श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हुए आपकी दीर्घायु की कामना करते हैं। विश्व गुरु महान् दिगम्बर जैनाचार्य को कोटि-कोटि नमोऽस्तु।

शुभ कामना

[श्री विजयकुमारजी शास्त्री, साहित्यदर्शनाचार्य, सरधना-मेरठ]

परम पूज्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का अभिवन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, इसके माध्यम से उनके प्रति विनयभाव युक्त श्रद्धा प्रकट करने का अवसर प्राप्त हो रहा यह हर्षोल्लासका विषय है। पूज्य आचार्य श्री इस युग के महान आध्यात्मिक युग प्रवर्तक सन्त हैं। वे अत्यन्त निस्पृही और ओजस्वी आचार्य हैं।

इस कलियुग में जहां भौतिकवाद का ताण्डव नृत्य हो रहा है वहां आत्मपीयूष के आस्वादक एवं पर हितार्थ उस अमृत के प्रदाता क्वचित् कदाचित् ही मिलते हैं। पूज्य श्री इस युग की महान् विभूति चारित्र चक्रवर्ती स्व० आचार्य १०८ श्री शांतिसागरजी महाराज की परम्परा में तृतीय पट्ट पर पदासीन आचार्य है। अतएव इस अभिवन्दनग्रंथ के माध्यम से स्व० चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज तत्शिष्य चारित्र शिरोमणि स्व० आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज तत्शिष्य स्व० आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के भी पुण्य स्मरण द्वारा पुण्यबन्ध का अवसर प्राप्त होगा।

स्पष्टवक्ता आचार्य श्री

[पं० श्री तनसुखलालजी काला]

जब नांदगांव में प० पू० आचार्यकल्प श्री का चातुर्मास था उस समय उनके संघ में प० पू० १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज ब्रह्मचारी थे तबसे मेरा उनसे निकट सम्पर्क रहा है। वे ब्रह्मचारीजी ही आज सकल संयमी होकर प. पू. १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज के पश्चात् प० पू० चा० च० १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की परम्परा में आचार्य पद पर सुशोभित हैं यह एक बड़े सौभाग्य की बात है।

सिंहवृत्ति के धारक स्व० चन्द्रसागरजी महाराज में जो ख्याति, लाभ, पूजा से रहित निस्पृहवृत्ति थी वही परम पूज्य श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज में भी है। चाहे कोई कोट्याधीश श्रीमान् या कोई बड़ा त्यागी विद्वान् क्यों न हो वे अपने आगम मार्ग से रंचमात्र भी च्युत न होकर निर्भयता के साथ अटल बने रहते हैं।

संघ का संचालन, धर्मप्रचार तथा संघ वृद्धि शांतिसागरजी महाराज के पश्चात् प० पू० वीरसागरजी व शिवसागरजी महाराज के समय होती थी उसीप्रकार इनके द्वारा भी बराबर हो रही है। सिद्धान्त सम्मत एकता हो यह भावना आपकी सदा बनी रहती है।

उपदेश पटु, सिद्धान्त के दृढ़ अनुयायी, विशुद्ध चारित्र के धारक ऐसे परम पूज्य स्पष्टवक्ता आचार्य श्री के चरणों में मेरा शत-शत नमोऽस्तु।

पूज्य आचार्य श्री शासन प्रभावना करते रहें

[श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर]

यह जानकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई है कि दि० जैनाचार्य परम पूज्य श्री धर्मसागरजी महाराज का अभिवन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। वास्तव में जैन धर्म के प्रचार का सबसे बड़ा दायित्व हमारे धर्माचार्यों का है। जैन समाज को उनसे बड़ी प्रेरणाएं मिलती हैं। जहां-जहां भी वे पधारते हैं धर्म प्रभावना का ठाट लग जाता है। पूज्य आचार्य शिरोमणि श्री धर्मसागरजी महाराज बड़े धर्मनिष्ठ, आगमभक्त एवं शासन प्रभावक हैं। उनके दर्शन का सौभाग्य मुझे दिल्ली महानगर के जैन बालाश्रम दरियागंज में प्राप्त हुआ था, जबकि 'जिन सूत्रम्' को अन्तिम रूप देने के लिए चारों सम्प्रदाय के आचार्य–मुनि, विद्वान् एवं श्रावकगण एकत्रित हुये थे। उनसे चर्चा का अल्पकालिक शुभावसर भी प्राप्त हुआ और ऊपर जाकर उनके संघस्थ अन्य मुनिगणों के भी दर्शन किये। चर्चा के बीच आचार्य श्री की सरलता एवं आगम परिप्रेक्ष्य में स्पष्टोक्ति का मैंने अनुभव किया। ऐसे आचार्य व मुनिगण ही स्व-पर कल्याण करते हुए जैन शासन की शोभा बढ़ाते है। उन आचार्य श्रेष्ठ का जितना भी अभिवन्दन किया जावे थोड़ा है। उन जैसे आचार्य परमेष्ठी वस्तुतः अभिवन्दनीय हैं। दीर्घकाल तक वे इसीप्रकार जिन शासन की प्रभावना करते रहें यही शुभकामना है।

सादर समर्पित भावांजलि

[डॉ० प्रेमसागर जैन, अध्यक्ष हिंदी विभाग, दि० जैन कॉलेज बड़ौत]

सहस्रों वर्षों की श्रमण परम्परा के प्रतीक आचार्य श्री के चरणों मे, मैं अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूं। आचार्य श्री को मैंने सर्वप्रथम दिल्ली में, फिर बड़ौत में चातुर्मास के समय स-संघ देखा। ऐसा लगा कि वे अन्य साधुओं से भिन्न हैं। उनके भीतर का ऋजु भाव बाहर तक स्पष्ट रूप से झलकता है। ऐसा सौम्यभाव, जिसमें "भवबीजांकुर जनना रागाद्या" स्पष्टरूप से क्षय को उपागत होते लगे।

आज के इस कूट युग में, जब कि हरेक के चेहरे पर मुखौटा चढ़ा है, आचार्य श्री को मैंने असली चेहरे में देखा। यश और ग्रंथों के परिग्रह मे भी, मैंने उन्हें निरीह देखा। ऐसी निरीहता जो आज के युग में कहीं देखने को नहीं मिलती। वे जीवन्त तपी हैं। उनके दर्शन कर हम कृतार्थ हुए।

धर्म, जिस पर सम्प्रदायवाद बुरी तरह हावी हो गया है, अपने सही रूप को खो बैठा है। यही कारण है कि आज धर्म-निरपेक्षता की धूम है, अन्यथा राष्ट्र को धर्म-सापेक्ष ही होना चाहिए। तीर्थङ्करों का धर्म, जिसे उन्होंने जाना और देखा ही नही, अपितु जीकर दिखाया, आज परत-दर-परत खोता चला जा रहा है। वह अब भी वातरशना, वसतेमला और प्रकीर्ण-केशा श्रमण साधुओं में देखा जा सकता है। आचार्य श्री सही अर्थों में उसके प्रतीक हैं मैं उनके चरणों में सविनय सश्रद्धा शिरसावनत हूं।

सहर्ष सहस्र प्रणाम

[लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज' एम. ए., जावरा]

बीसवी शताब्दि के वैज्ञानिक और विषय वासना मूलक वातावरण में ऐसे व्यक्तियों की आशातीत आवश्यकता है जो स्वयं आचरण के दक्षवर हों तथा अन्यजनों को भी आचरण के पक्षधर बना रहे हों। ऐसे व्यक्तियों की "आचार्य" संज्ञा धर्मविद् और धर्म चिन्तक देते है।

ये आचार्य, कवि सन्तलाल के शब्दों में स्वयं सुखरूप होते हैं और अन्य के लिए भी सुखद होते है। जैसे दीपक का प्रकाश स्व-पर को प्रकाशित करता है वैसे ही आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज धर्म का प्रकाश करते हैं, उनका यह कार्य सिद्ध के धर्म तुल्य अथवा धर्म की सिद्धि सदृश होता है। उनके इस एक अभेद पक्ष का मूल्यांकन करने के लिए आचार्य भक्ति की भावना लिए भक्त तीनों काल श्रद्धा-विवेक-क्रिया के लिए प्रणाम करता है। यह भक्तिमूलक क्रिया व्यक्ति का आचरण ही निर्मल नही बनाती है, बल्कि परम गुरु तीर्थंकर भी बना देती है।

आजके युग में, जब व्यक्ति परिवार के सदस्यों को ही अनुशासन में नहीं रख पा रहा हो तब आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के द्वारा विशाल संघ को अनुशासित रखना निश्चय उनके सफल संचालन का सुपरिणाम है। उनके लिए अभिवन्दन ग्रन्थ का आयोजन प्रकारान्तर से चारित्र गुण का वर्धन है, जिसकी आधुनिक देश और समाज में अत्यन्त आवश्यकता है।

आचरण के विधायक आचार्य श्री के प्रति यशोनन्दि के स्वर में स्वर मिलाकर लिखना है।

कारुण्य पुण्य हृदयान् दलिताघ संघान्।
निर्ग्रन्थता व्रतधरान् श्रुतसिन्धु मग्नान्॥
सूरीन् यजन्ति च भजन्ति धरन्ति चित्ते।
ते जन्म सागरमपार मिहोत्तरन्ति॥

विचार के इस बिन्दु से आचार्य श्री के पादपद्मों में सहर्ष सहस्र प्रणाम।

भावांजलि

[डॉ० सुशीलचन्द्रजी दिवाकर, एम. ए., एल एल. बी. पी. एच. डी.]

जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर

गुरुदेव अपने जीवन के माध्यम से त्याग और तपस्या, संयम और अध्यात्म का उपदेश दे रहे हैं। वे उत्तम क्षमादि दश-धर्मों की जीवन्त मूर्ति हैं। दिगम्बर मुनि के बिना वस्तुत: जैन संस्कृति का क्रियात्मकरूप कैसे प्रस्तुत किया जा सकता है।

मैं प्रात:स्मरणीय आचार्य श्री के चरणों में अत्यन्त श्रद्धावनत होकर प्रणाम करता हूं तथा मुनिमार्ग के संचालक आद्य तीर्थंकर भगवान आदिनाथ से प्रार्थना है कि गुरुदेव दीर्घकाल तक स्व-पर कल्याण करते रहें।

❖

अभिवन्दनीय आचार्य श्री

[श्री मिलापचन्द्रजी शास्त्री, जयपुर]

श्रमणत्व का सुन्दर विश्लेषण करते हुए एक कवि ने कहा है—

न राजभयं न च चौर भयं, इहलोक सुखं परलोकहितम् ।
वर कीर्तिकरं नर देवनुतं, श्रमणत्वमिदं रमणीयतमम् ।।

न राजभयम्—

श्रमण को राजा-महाराजा एवं विश्व विजेताओं से भी कोई भय नहीं होता। राजा अप्रसन्न होकर यही तो करेगा कि धन सम्पत्ति छीन ले या शारीरिक दण्ड दे। श्रमण के पास तिल तुष मात्र परिग्रह नहीं होता तो उनसे क्या छीने ? शरीर से भी वे नितान्त निस्पृह होते हैं अत: शारीरिक दण्ड से भी वे घबराते नहीं, प्रत्युत वे तो कष्टों को निमंत्रित करते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि मुनियों पर कैसे-कैसे उपसर्ग किये गए, पर उन्होंने उसका कोई प्रतिकार नहीं किया, समता भावों से सब कुछ सहन किया।

न च चौरभयम्—

सम्पत्तिशाली ही चोरों से भयभीत होते है, किन्तु साधुओं को चोरों से भय नहीं होता, क्योंकि, उनके पास संयम-शौच और ज्ञान के उपकरण स्वरूप पीछी-कमण्डलु और शास्त्र के अतिरिक्त कोई परिग्रह नहीं होने से उन्हें कभी चोरों से भय नहीं होता।

इहलोकसुखं—

दु:ख का कारण आशा और तृष्णा है, मुनि को कुछ चाहिए नहीं फिर वह दु:खी क्यों हो ? गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में भी कहा है—

अर्थिनो धनमप्राप्य, धनिनोऽप्यवतृप्तितः ।
कष्टं सर्वेऽपि सीदन्ति, परमेको मुनिः सुखी ।।

अर्थात् निर्धन मनुष्य तो धन को न पाकर और धनवान् सन्तोष न होने से दु:खी होते हैं यदि कोई सुखी है तो "संतोषी सदा सुखी" के अनुसार मात्र मुनि ही सुखी है।

परलोकहितम्—

जिनका जीवन अधार्मिक एवं-असंयमित होता है उनका इहलोक भी ठीक नहीं और परलोक भी बिगड़ता है, किन्तु श्रमणों का जीवन तो परम धार्मिक होता है। अत: इस जीवन के साथ परलोक अनायास ही मंगलकारी हो जाता है।

वरकीर्तिकरम्—

संसार में यश उन्हीं को प्राप्त होता है जिनका जीवन पवित्र एवं निष्कलंक होता है "अभ्यन्तरं यस्य महापवित्रं, बाह्यं तथा पूततमं महर्षेः" अत: जो कीर्ति उन पवित्र साधुओं को प्राप्त होती है वह चक्रवर्तियों को भी नहीं।

नरदेवनुतम्—

त्याग और तप की महिमा अपरम्पार है। महामुनि त्याग और तप की प्रतिमूर्ति होते हैं अत: सौ इन्द्र उनके आगे स्वत: नतमस्तक होते हैं। त्याग की महिमा में एक शायर ने कहा है—

जब तलब करते थे लक्ष्मी, रहती थी दूर दूर।
जब से हमने त्याग दी, बेकरार आने को है ।।

श्रमणत्वमिदं रमणीयतमम्—

इस प्रकार श्रमण का वेश सर्वोत्तम है—उससे सुन्दर संसार में कोई पद नहीं और वह परम पूज्य आचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज को प्राप्त है। उनमें श्रमणत्व के उपर्युक्त सभी गुण विद्यमान हैं। रत्नत्रय के वे महान् उपासक है, वीतरागता के प्रतीक है, स्व-पर का आत्मोत्थान ही उनके जीवन का लक्ष्य है। आप बिना स्वार्थ ही जगत के हितैषी हैं। परम प्रसन्नता है कि इस युग के महान् आचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्रमण प्रभु परम पूज्य आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के तृतीय पट्टाचार्य पद पर परम पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज जैसे अत्यन्त निर्लेप साधु सुशोभित हैं। उनके अभिवन्दन की योजना और वह भी उस समय, जब आए दिन मोही, रागी, द्वेषी लोगों का विशाल पैमाने पर अभिनन्दन किये जाने की परम्परा चल पड़ी है, आवश्यक ही नही परमावश्यक है। साधु सन्त तो साक्षात् धर्म की प्रतिमूर्ति हैं। उनकी (साधु सन्तों की) संसार में परम आवश्यकता है, क्योंकि जगत् में राग की आग धधक रही है—उसमें से आशा एवं तृष्णा के अंगारे निकलते है उनसे सारा ससार जल रहा है। साधुओं से धर्म देशना प्राप्त होती रहती है।

स्व कल्याण के साथ-साथ जन कल्याण की जिनकी उत्कट भावना है वे आचार्य प्रवर पूजनीय है, अभिवन्दनीय है। उनके परम पुनीत चरण कमलों में कोटिशः प्रणाम।

विनम्र श्रद्धांजलि

[डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल, शहडोल (म.प्र.)]

जैन श्रमण परम्परा में दिगम्बर आचार्य एवं मुनिराजों को चलते-फिरते सिद्धों की उपाधि से विभूषित किया है। यह एक ऐसी कड़ी है जो नर से नारायण बनाती है। वीतराग पथ पर सावधानी पूर्वक चलकर आत्मविजेता बनना महत्वपूर्ण बात है। आज के युग में जब कि प्राणी तीव्र रागद्वेष की ज्वाला में झुलस रहे हैं, वीतरागी पथ के पथिकों एवं वीतराग मार्ग का प्रकाशन समय की आवश्यकता बन गया है। पूज्य आचार्य श्री का अभिवन्दन ग्रंथ निश्चित ही आग्रह-दुराग्रह एवं मत मतान्तरों से परे पक्षातीत आत्मा के वैभव की प्रसिद्धि में अग्रणी होगा। इसी मंगल भावना के साथ विशाल संघ का नेतृत्व करते हुए वीतराग मार्ग के कुशल उद्योतक आचार्य श्री के चरणों में विनम्र श्रद्धाञ्जलि।

[ब्र० श्री धर्मचन्द्रजी जैन शास्त्री, प. पू. आचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्थ]

संगीत की गहरी और ऊंची ध्वनि तरङ्गों के आरोह-अवरोहों में एक दुर्निवार आकर्षण होता है। सूर्य की उज्ज्वल रश्मियों-सी प्रवहमान काव्य चेतना में एक अज्ञात संप्रेषण होता है। ऐसा ही आकर्षण और सम्प्रेषण की अभिनव क्षमता का दर्शन किया मैंने अपने आराध्य गुरुदेव सिंहवृत्ति धारक, परम तपस्वी, प्रसन्न मुद्रा धारी आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के व्यक्तित्व में। जो कोई भी आपके दर्शन करता है वह आपसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। आपमें पाये जाने वाले शान्त-सरल स्वभाव, निराकुल मुखमुद्रा, सौम्याकृति, निर्मल चारित्र, प्रखर विद्वत्ता, वचन माधुर्य, हृदय की विशालता आदि अनेक अलौकिक गुण सभी पर जादुई प्रभाव करते हैं। आपकी धर्म देशना आत्मोद्धारक तथा मनन योग्य होती है, आपकी वाणी में धर्मामृत बरसता है।

इस दुःसह दुःखम कलिकाल में दुर्द्धर मुनिमार्ग का निरतिचार पालन करते हुए भारत वर्ष की राजधानी (दिल्ली) में ७ वर्ष पूर्व राष्ट्रीय स्तर पर मनाये जाने वाले भगवान महावीर के २५००वें निर्वाणोत्सव में आप पधारे तो राजधानी की समाज ने आपको ससंघ अपने मध्य पाकर अपना जीवन धन्य माना, आपके निर्दोष संयम का प्रभाव वहां की जनता पर पड़ा। आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के समय की स्मृति ४० वर्ष के बाद पुनः ताजा हो गई। उन्हीं की परम्परा के तृतीय पट्टाचार्य १७ दिगम्बर मुनिराज और आर्यिका आदि के समुदाय से युक्त संघ सहित जब भी दिल्ली में विहार करते थे तो एक अद्भुत दृश्य होता था। निर्वाणोत्सव के समय आपकी ससंघ उपस्थिति से अभूतपूर्व धर्म प्रभावना हुई वह अवर्णनीय है।

आचार्य श्री की वाणी में पीयूष, नेत्रों में दिव्य प्रकाश, हृदय में मातृवत् असीमित करुणा सहज ही संसार दुःखों से संतप्त प्राणी को आश्वस्त करती है। आपके सान्निध्य में बैठने पर ऐसा लगता है किसी प्रशान्त धर्म सिंधु के तट पर बैठे है। कल्पवृक्ष, सूर्य, चन्द्र आदि प्रत्युपकार की अपेक्षा बिना ही परोपकार करते हैं उसी प्रकार आचार्य श्री सदा परानुग्रह करने में भी सहज प्रवृत्ति करते हैं। आपके जीवन में पाए जाने वाले निरभिमानता, निस्पृहता, आदि गुणों के कारण जो भी एक बार आपके सान्निध्य में आया सही श्रद्धा से, उसके जीवन में आपके प्रति अटूट श्रद्धा बनी है।

मैं भी सर्व प्रथम जयपुर सन् १९६९ में आपकी चरण सन्निधि में आया था आपके अनुग्रह को पाकर मैंने आनन्द का अनुभव किया। मेरा प्रथम दर्शन मेरे जीवन में नवज्योति प्रदान कर गया। मुझे आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत देकर मेरे जीवन का मोड़ आपकी महदनुकम्पा से ही हुआ है।

मैं इस परम पुनीत बेला में परम श्रद्धेय गुरुवर्य आचार्य श्री के चरण कमलों में अपनी सश्रद्धा विनयाञ्जलि समर्पित करता हुआ जैन शासन के वर्तमान कालीन अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि परम पूज्य गुरुदेव मुझ जैसे संसार मग्न प्राणियों को सत्पथ दर्शाते हुए चिरकाल तक इस पृथ्वीतल को अपने पद विहार से पवित्र करते रहें, भव्य जीवों को धर्मदेशना प्राप्त होती रहे। इन्हीं भावनाओं के साथ गुरुदेव के चरणों में शत शत नमन करता हूं। ❖

प. पू. तपोनिधि १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज

[श्री बसन्तलालजी जैन, प्राचार्य, श्री नमिसागर दि. जैन इण्टर कॉलेज-सरधना]

प० पू० प्रातःस्मरणीय चा० च० आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के परम्परागत तृतीय पट्टाचार्य प० पू० प्रशान्तमूर्ति आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का सन् १९७५ में जनवरी माह का शीतकालीन प्रवास सरधना-मेरठ (उ. प्र.) में रहा था। आपके साथ विशाल संघ था जिसके आप आचार्य थे। मैंने तो इतने विशालतम संघ के दर्शन कर अपना जीवन सफल माना था।

प० पू० तपोनिधि आचार्यवर्य का तपोमय पावन जीवन आज के दिग्भ्रान्त विश्व को मोक्षमार्ग की दिशा निर्देश कर सुख-शान्ति का सन्देश देता है। आचार्य श्री परम पुरुषार्थ मोक्ष के निर्दोष साधक है। उनका साधनामय जीवन सच्ची मानवता का उत्प्रेरक तो है ही, आत्मिक दुःख निवृत्ति का अनुपम मार्गदर्शक भी है। आपके निर्मल सम्यक् चारित्र का प्रभाव सन्निकट आने वाले व्यक्ति पर अवश्य ही पड़ता है। आपके द्वारा पिलाये गए धर्मामृत पान से मुझे और सरधना नगर की धर्म पिपासु जनता को नव प्राण मिले।

आचार्य श्री का जीवन धर्म की साक्षात् प्रतिमूर्ति है। आपके जीवन में योगत्रय की ऋजुता अनुपम है। आपकी तपःपूत वाणी में जो ओज है उससे आत्म साक्षात्कार के साथ तपोमय जीवन की प्रेरणा प्राप्त होती है।

आचार्य श्री के अभिवन्दन की पुण्य बेला पर आत्मिक श्रद्धा के दिक् आलोक में उनके परम पुनीत चरणों में शत-शत श्रद्धा सुमन अर्पित करते हुए नमन करता हूं।

☼

चलती फिरती और बोलती हुई जिनवाणी

[श्री सी. एल. जैन, एम. ए. एल-एल. बी., संयोजक भारतीय-सोवियत सांस्कृतिक संघ, झांसी]

इस अवनी तल पर अनेक मनुष्य जन्मते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते हैं, किंतु कुछ मानव शिरोमणि ऐसे भी जन्म लेते हैं जो अपनी तपस्या द्वारा स्व-पर कल्याण में लगे रहते है। समता का भाव रखकर "जैन धर्म" के प्रचार और प्रसार में इस प्रकार व्यस्त है कि साक्षात् चलती, फिरती और बोलती हुई "जिमवाणी" मालूम पड़ते है। ऐसे है परम पूज्य आचार्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज।

आपका राग द्वेष रहित शिष्ट व्यवहार, उदारता, सरल स्वभाव "जैन-श्रावकों" में पूर्ण रूप से घर कर गया है। "जैन-धर्म" के आधार-स्तम्भ आचार्य श्री १०८ धर्म-सागरजी महाराज का उपदेश इस तरह का होता है जैसे कि "जैन समाज" की खोई हुई "निधि" उन्हें पुनः प्राप्त हो गई है।

मैं आचार्य श्री के चरणों में नमन करते हुए उन की शतायु की भगवान से प्रार्थना करता हूं।

❖

श्रद्धा सुमन

[श्री अभयकुमार जैन, व्याख्याता एम. ए. बी. एड. साहित्यरत्न, साहित्याचार्य, जैनदर्शनाचार्य, प्राकृताचार्य, बीना]

कलकत्ता महानगरी की संगठित युवाशक्ति के प्रतीक श्री दिगम्बर जैन नवयुवक मण्डल द्वारा अखिल भारतीय स्तर पर प्रातःस्मरणीय परम पूज्य आचार्य प्रवर गुरुवर्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज अभिवन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन किया जाना एक सामयिक एवं स्तुत्य उपक्रम है।

आचार्य श्री अनवरत कठोर आत्मसाधना, दुर्द्धर प्रखर तप एवं निर्मल चारित्राराधना तथा उनके द्वारा किये गए, किये जा रहे हम पर उपकारों को देखते हुए वे न केवल अभिवन्दनीय ही हैं, अपितु शिरसा शतशः वन्दनीय भी हैं, श्रद्धा पूर्वक अर्चनीय भी हैं।

हमारे परमेष्ठीत्रय (आचार्य-उपाध्याय-साधु) अर्हन्त भगवान के निर्वाण के अनन्तर जैन धर्म-संस्कृति एवं जैन वाङ्मय के संरक्षक-सम्वर्द्धक-संपोषक रहे हैं, हैं तथा आगे भी रहेंगे। वे जैनधर्म एवं संस्कृति के सुदृढ़ स्तम्भ है। संसार-शरीर-भोगों से विरक्त, ज्ञान-ध्यान-तपोरक्त, आत्मस्वरूप में अवस्थित, गुणोत्कृष्ट, रागद्वेष रहित हमारे परम श्रद्धेय साधुगण युगों से जनहित की भावना से धर्मोपदेश देकर जन-जन को-प्राणीमात्र को सत्पथ दर्शाते, कल्याण करते आरहे हैं, भव्यजीवों के हृदयों से अज्ञानान्धकार को दूर कर कभी न बुझने वाला ज्ञानदीप जलाते आरहे हैं।

हमारे परम श्रद्धेय-अभिवन्दनीय-अर्चनीय परम पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज ऐसे ही शास्त्र मर्मज्ञ, पंचाचार-परिपालक, धीर, गम्भीर, महात्यागी, परम-तपस्वी एवं महान प्रभावक, मोक्षमार्ग प्रदर्शक जग जन हितकारी आचार्य हैं। उनके इस अभिवन्दन के अवसर पर भव्यजीवों के कल्याणार्थ उनके दीर्घायु होने की हम भावना भाते हैं तथा उनके पाद-पद्मों में श्रद्धा-सुमन समर्पित करते हुए शतशः नमन करते हैं-नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु।

श्रद्धा सुमन

[डॉ. बिमलकुमार जैन, सागर विश्व विद्यालय]

परम पूज्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के प्रवचनों एवं उनके द्वारा बताए हुए मार्ग पर चलकर मानव जीवन अपना कल्याण कर सकता है। आज विश्व में बहुत तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं एवं नैतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है इस संदर्भ में आचार्य श्री का सरल एवं चारित्रादर्श पूर्ण जीवन दीप स्तम्भवत् विश्व को प्रकाशित करेगा। हम यह मंगल कामना करते हैं कि उनका सारोग्य दीर्घजीवन रहे जिससे उनके आत्मकल्याणकारी उपदेशों का लाभ मिलता रहे।

आचार्य शिरोमणि १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज

[डा. शेखरचन्द्र जैन एम. ए. पी. एच. डी, भावनगर-गुजरात]

वर्तमान युग में जब कि सस्ती लोक प्रियता एवं फल प्राप्ति की आकांक्षाओं में लोग तथा कथित साधुओं और गुरुओं के पीछे दौड़ रहे हैं। जहां आर्ष धर्म की अवहेलना कर रहे हैं, वहा इस चकाचौध में भी तीर्थंकरों द्वारा प्रशस्थ मार्ग पर जिन पूज्य जैनाचार्यों ने प्रयाण किया है और आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा को प्रसारित किया है उनमें इस युग के चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री १०८ शांतिसागरजी महाराज की शिष्य परम्परागत तृतीय पट्टाचार्य चारित्र शिरोमणि पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज प्रशान्तमूर्ति हैं। उनकी वाणी में ओज है मन्द हास्य युक्त शांत मुखमुद्रा सहसा ही व्यक्ति को आकृष्ट करती है वे जिनागम के अध्येता एवं अन्त: निरीक्षण में प्रवीण हैं।

मुनि धर्म तलवार की धार पर चलने जैसा धर्म है। परीषहों को सहते हुए कर्मों का क्षय करने हेतु मोक्षमार्ग में अग्रसर इन सदृश आचार्य परमेष्ठियों के कारण ही आज आर्ष परम्परा एवं धर्म अक्षुण्ण है। सहस्राब्दि महोत्सव के मंगलमय प्रसंग पर होने वाला आचार्य श्री का अभिवन्दन समारोह उपयुक्त है। वास्तव में आचार्य परमेष्ठी अभिवन्दनीय है। पूज्य आचार्य श्री के चरणों मे अनन्त प्रणाम। वीर प्रभु से प्रार्थना है कि महाराज श्री आत्मसाधना करते हुए चिरकाल हम लोगों का मार्ग प्रशस्त करते रहें।

त्रिकाल वन्दनीय

[पं० श्री शिखरचन्दजी जैन, ईसरी]

आचार्य श्री के सम्बन्ध में कुछ लिखना सूर्य को दीपक दिखाना है। मुझे पूज्य श्री के सान्निध्य मे पहुंचने का तीन बार सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आपकी निर्वाञ्छिक-वृत्ति सबको आकर्षित करती है। आप हमेशा अपने सन्निकट आए भव्य एवं योग्य व्यक्ति को जीवन मे व्रत धारण की प्रेरणा देते रहते हैं; मुझे भी आपसे प्रेरणा मिली, किन्तु मैं अभागा कर्मोदय वश प्रमादी बन आपके उपदेशानुसार जीवन में देशव्रत भी धारण नहीं कर सका। इसप्रकार चारित्र रत्नाकर के पास जाकर भी मैं सदैव खाली हाथ ही लौटा। आपकी वाणी में ओजस्विता है आपके दर्शनमात्र से अपार शांति का अनुभव होता है। आप जगत् के निरपेक्ष बन्धु हैं।

मैं अत्यन्त निस्पृह, त्रिकाल वन्दनीय आचार्य श्री के चरणों में अपनी विनम्र विनयाञ्जलि समर्पित करता हूं तथा उनके दीर्घ जीवन की मगल भावना भाता हूं।

साक्षात् देवर्षि ही हैं

[पं० शिखरचन्दजी जैन, प्रतिष्ठाचार्य]

आचार्य श्री के दर्शन करने का मंगल अवसर बांसी (जिला बूंदी) के पंच-कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव में तथा फतेपुर शेखावाटी के वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव में प्राप्त हुआ है। आपकी प्रशान्त मुद्रा एवं सहज सरलता दर्शक पर अमिट प्रभाव डालती है। आप साक्षात् देवर्षि ही लगते हैं। बाल ब्रह्मचारी तो आप हैं ही। विशाल संघ का आचार्यत्व करते हुए भी आप उससे निर्लिप्त हैं यह आपकी सबसे बड़ी महानता है। समयसार के अनुरूप जीवन को ढालने वाले तत्त्वदर्शी आचार्य श्री के चरणों में शत-शत वन्दन करते हुए श्रद्धा-सुमन समर्पित है।

श्रद्धा सुमन

[श्री मनोहरलाल जैन शास्त्री, एटा]

आजके इस भौतिक प्रधान समय में हमको दिगम्बर जैनाचार्य, उपाध्याय एवं साधुगण कहीं-कहीं दृष्टिगत हो रहे हैं। उन स्वाधीन महापुरुषों की स्वाधीन, निरीह एवं सहिष्णुवृत्ति को देख उनके ध्यान-दर्शन से हम इन्द्रिय भोगों से आकुलित अपने चित्त को शांत कर लेते हैं। उन पूज्य पुरुषों के द्वारा स्व-पर का बोध प्राप्त होता है। उनके वीतरागता की ओर ले जाने वाले चारित्र को देखकर आत्म शांति प्राप्त होती है। इन्हीं पूज्य आत्माओं की शृंखला मे प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज भी हैं। मैंने उन महान् आत्मा के अनेक बार दर्शन किये हैं। उन्हें न तो संघ से मोह है और न ही किसी व्यक्ति विशेष से। वे अतीव शांत एवं निरीह वृत्ति के महात्मा हैं। अपने सरल एवं स्पष्ट उपदेश द्वारा पापाचार के विपक्ष में सदाचारी जीवन बनाने का उद्बोधन देते हैं। उन पूज्य श्री के प्रति मेरे हृदय में पूर्ण श्रद्धा-भक्ति है एवं सदैव रहे ऐसी भावना है। उनके चरणो में कोटि-कोटि वन्दन।

श्रद्धा सुमन

[श्री लाडलीप्रसाद जैन 'नवीन', सवाईमाधोपुर]

आचार्य श्री के गुणों का हम क्या वर्णन कर सकते हैं वे अगाध ज्ञानगुण के सागर हैं। उनकी सौम्य-प्रसन्न मुख मुद्रा, अपनी मूल मातृभाषा और शास्त्र-प्रवचन हृदय पटल पर ऐसे अंकित हैं जैसे किसी कुशल चित्रकार ने कोई चित्र अंकित कर दिया हो।

आचार्य श्री के पावन चरणों में रहने का कई बार पुण्य योग प्राप्त हुआ और जब-जब भी दर्शनों का शुभ योग मिला तब-तब आचार्य श्री ने हमें सन्मार्ग की ओर बढ़ने का संकेत दिया और उनके आशीर्वाद का फल है कि हमें धर्म के प्रति कुछ अभिरुचि है। हम अभिवन्दन की इस बेला पर आचार्य श्री के चरणों में बारम्बार प्रणाम करते हुए अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करते हैं।

हार्दिक कुसुमांजलि

[पं० श्री नारेजी प्रतिष्ठाचार्य प्राष्टा]

श्री प० पू० १०८ आचार्य प्रवर धर्मसागरजी महाराज श्री का अभिवंदन ग्रंथ निकाला जारहा है, यह जानकर किस भव्यात्मा को खुशी न होगी, मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है। ऐसे धार्मिक नेता स्व० आचार्य शांतिसागरजी महाराज श्री की धवल कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने की क्षमता को धारण करने वाले विशिष्ट व्यक्तित्वके धनी नर केशरी महान प्रभावक शांत परिणामी, मुनि पुङ्गव, गुरुराज के पुनीत चरणों में हार्दिक अभिवन्दन पूर्वक कुसुमांजलि समर्पित करता हूं।

मंगल-श्रद्धा-प्रसून

[श्री सरमनलाल जैन 'दिवाकर' शास्त्री, सरधना-मेरठ]

परम पूज्य, प्रातःस्मरणीय, विश्ववन्दनीय, त्यागमूर्ति तपोनिष्ठ, पूज्य श्री १०८ आचार्य धर्मसागरजी महाराज उन सन्तों में गणनीय है, जिन्होंने विश्व को शान्ति व अध्यात्म का प्रकाश प्रदान किया है।

महाराज श्री का त्याग, साधना और तपश्चर्या अद्वितीय है। आ० श्री चारित्र के पक्के व आगम के सच्चे प्रचारक हैं। स्व-पर कल्याण में दक्ष, शुद्ध चारित्र-धारी, महान् दृढ़ तपस्वी हैं, मधुर भाषी, शान्त स्वभावी और श्रुतज्ञ हैं।

आप वर्तमान युग के एक आदर्श, श्रेष्ठ वीतराग साधु हैं। आपके अन्दर स्थित अपार शान्ति को प्रगट करने वाली, बाहर में परम शान्त मुद्रा, अलौकिक, अवर्णनीय एवं अद्वितीय है। आपकी प्रवचन शैली सरल व हृदयग्राही है।

धर्मसागरजी—धर्म की मूर्ति हैं
धर्मसागरजी—धर्म के अवतार हैं
धर्मसागरजी—धर्म के रक्षक हैं
धर्मसागरजी—धर्म धुरन्धर हैं
धर्मसागरजी—धर्म प्रधान भारत के रत्न हैं
धर्मसागरजी—धर्म की धुरी है
धर्मसागरजी—धर्म ग्रन्थों के ज्ञाता हैं
धर्मसागरजी—धर्म के उन्नायक हैं
धर्मसागरजी—धर्माचार्यों में श्रेष्ठ हैं
धर्मसागरजी—धर्मोपदेशक हैं

उपरोक्त गुणों को देखकर कौन ऐसा हृदयहीन होगा, जिसका हृदय श्रद्धा और भक्ति से नत मस्तक न हो। मैं गुरुदेव के चरणों में त्रिकाल शत शत नमन करता हूं।

शत-शत वन्दन

[डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर]

वैसे तो सभी जैन सन्त निर्भीक एवं ममत्वहीन स्वभाववाले होते है। न उन्हें किसी की तलवार का भय होता और न सम्राटों, राजा-महाराजाओं एवं श्रेष्ठियों द्वारा पादप्रक्षाल में अनुराग होता है। वे सबमें समता भाव रखते है। आत्म-साधना में लीन रहते हुए जगत के स्वभाव पर चिन्तन करते रहते हैं। आत्म चिंतन एवं मनन उनकी साधना का मुख्य अङ्ग होता है। इतिहास एवं पुराणों में ऐसे कितने ही प्रसङ्ग आते हैं जब जैन सन्तों ने निर्भीकता एवं दृढ़ता का परिचय दिया था। वर्तमान युग में आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज भी ऐसे ही आचार्य हैं जिनके प्रति समग्र जैन समाज श्रद्धान्वित है। वे आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज की परम्परा में होने वाले तृतीय पट्टाचार्य हैं जिनमें पूरा साधुत्व उतरा है। वे वर्तमान युग के अशान्त एवं भयग्रस्त वातावरण मे शान्ति एवं निर्भयता का घर-घर में सन्देश फैला रहे हैं। वे स्वयं त्याग एवं तपस्या की मूर्ति हैं तथा सतत आत्म साधना एवं स्वाध्याय में लीन रहते हुए सभी प्राणियों को मैत्री एवं करुणा का उपदेश दे रहे हैं।

आचार्य श्री के दर्शन करने का मुझे कितनी ही बार अवसर मिला, किन्तु सम्भवत: नाम के अतिरिक्त वे मुझे नहीं जानते। मैंने उन्हें अधिकांश समय स्वाध्याय करते हुए पाया। दर्शनार्थीका नाम सुनने के पश्चात् वे मौन हो जाते है और हाथ में रखे हुए ग्रन्थ का स्वाध्याय करने लग जाते हैं। उससे अनावश्यक बात नहीं करते। दर्शनार्थी चाहे पंडित हो या विद्वान्, धनिक हो अथवा समाज सेवी, सबमें समताभाव रखते हैं। यदि आपने कुछ प्रश्न पूछ भर लिया तो उसका दो टूक उत्तर देकर फिर अपने स्वाध्याय में लग जाते हैं।

उनका संघ कभी विशाल हो जाता है और कभी सर्वत्र लाभ की दृष्टि से चार विभागों में विभाजित भी हो जाता है, किन्तु उन्हें न विभाजन में खिन्नता है और न बड़े होने पर प्रसन्नता, उन्हें तो अपना आत्मकल्याण करना है। संघ के छोटे-बड़े आकार से कोई प्रयोजन उन्हें नहीं है। ऐसे निर्ग्रन्थ तपस्वी आचार्य श्री के चरणों में पूर्ण श्रद्धा युक्त शत-शत वन्दन।

✲

श्रद्धा सुमन

[श्रीमती शकुन्तलाजी सिरोठिया, एम. ए. साहित्यकार, इलाहाबाद]

भगवान बाहुबली के सहस्राब्दि प्रतिष्ठापना महोत्सव के मंगलमय प्रसंग पर मंगलमूर्ति आचार्य श्री के अभिवन्दनोपलक्ष में अभिवन्दन ग्रंथ प्रकाशन की योजना ज्ञात कर प्रसन्नता हुई। प्रात: स्मरणीय, परम श्रद्धेय आचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज के श्री चरणों में मेरे श्रद्धा सुमन अर्पित हैं। आचार्य प्रभु स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करें।

मैं प्रकाशन की सफलता हेतु हार्दिक मंगल कामनाएं प्रेषित करती हूं।

✲

विनयांजलि

[पं० श्री हेमचन्द्रजी शास्त्री, अजमेर]

परम पूज्य प्रातःस्मरणीय सरल स्वभावी, उग्रतपस्वी, ज्ञान-ध्यानपरायण १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज इस युग के महान व्यक्तित्व दिगम्बर धर्मोद्योतक, अध्यात्मसाधक, परम पूज्य आचार्य शिरोमणि श्री शांतिसागरजी महाराज की परम्परा के चतुर्थ दिव्य-पुरुष हैं जिन्होंने अपनी निष्ठा और चारित्र- उज्ज्वलता से वर्तमान-जैन वर्ग को अपनी छत्र छाया प्रदान कर रक्खी है। मैने उक्त-चारों ही संघाचार्यों के दर्शन, धर्मप्रवचन, आहार, वैयावृत्तादि का सुयोग प्राप्तकर जीवन प्रशस्त किया है। प्रत्येक आचार्य की गुण विशिष्टता का अङ्कन करना कठिन है, फिर भी यह सर्वाङ्ग सत्य है कि दक्षिण प्रदेश से उत्तर प्रदेश की ओर दिगम्बरलिङ्ग के दर्शन का प्रचार प्रमुख आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की ही प्रकृष्ट देन है। पिछली अर्द्धशती में भारत का कोना-कोना दिगम्बरत्व का रूप देख और पहिचान सका यह कोई साधारण सी बात नहीं है। लगभग एकसहस्र वर्षों बाद यह शुभ अवसर धर्म पिपासुओं को मिला और उन्होंने अपनी ज्ञान पिपासा भी शान्त की। साथ ही साधुजन की वैयावृत्य में अपनी तन-मन-धन सामग्री समर्पित कर दी। सबसे बड़ा प्रभाव जनता के दैनिक जीवन पर पड़ा और उसने मोक्ष-मार्ग के प्रधान कारणभूत आचरण को दृढ व वृद्धिगत किया। आज स्थान-स्थान पर शुद्ध आहार करने वालों का सद्भाव है। आचरणोन्नति सफल जीवन की साधक-कुञ्जी है।

धार्मिक व्यवस्थाओं में जब-जब भी शिथिलता आई इन्ही गुरुओं की कृपा से सर्वत्र विहार, प्रचार और प्रसार हुआ। संसार अब जानने लगा है कि नग्न मुद्रा भी इस कलिकाल में सम्भव है। विदेशीजन भी साधुत्व की इस मुद्रा को समादर देते हैं।

प्रत्येक आचार्य के समय में संघ का प्रमाण बढता गया है और अनेक साधक साधना में अब भी लवलीन है। समाधि का मार्ग प्रशस्त हो चला है। स्वेच्छा पूर्वक शरीर त्याग की साक्षात् प्रक्रिया को देखकर विश्व चमत्कृत है। यह परम्परा सतत चलती रहेगी तभी भेदज्ञान साधना फलवती होती रहेगी।

आ० धर्मसागरजी महाराज वर्तमान मे सबसे बडे संघ के अधिपति हैं। कुशल शासक है, स्वयं दृढचारित्र पालक है। आपकी छत्रछाया जब तक समाज व संघ पर है तब तक धर्मात्माओं का अहोभाग्य है। आपकी धर्मसाधना निर्विघ्न-निराकुल रहे और आप सभी जीवों को धर्मामृत का पान कराते रहे यही हमारी वीरप्रभु से विनम्र प्रार्थना है।

✡

श्रद्धाञ्जलि

[श्री माणिकचन्द नाहर, एम. ए. मद्रास]

भगवान बाहुबलि प्रतिष्ठापना सहस्राब्दि एवं महामस्तकाभिषेक महोत्सव के अवसर पर चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागरजी के तृतीय पट्टाचार्य श्री धर्म-सागरजी महाराज का अभिवन्दन ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। आचार्य परमेष्ठी मोक्षमार्ग पर ससार के प्राणियों को चलाते है और स्वयं भी चलते हैं। स्व-पर कल्याणकारी आचार्य श्री के चरणों मे मेरी श्रद्धाञ्जलि समर्पित है।

✡

महान तपस्वी धर्मसागरजी महाराज

[श्री पन्नालाल जैन, प्रकाशक 'तेज' दैनिक, दिल्ली]

इस अवनितल पर अनन्त तीर्थंकर और निर्ग्रन्थाचार्य हुए हैं उसी श्रमण परम्परा में इस शताब्दि के महान् दिगम्बराचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज हुए और उनकी परम्परा में ही वर्तमान आचार्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज हैं।

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाणोत्सव में जब वे ससंघ दिल्ली आये थे तब उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आचार्य श्री स्पष्ट एवं निर्भीक वक्ता, निरीहवृत्ति और सात्त्विक स्वभाव वाले आचार्य रत्न हैं। सतत जिनशासन की प्रभावना करने में प्रयत्नशील हैं। जब कोई उनसे प्रश्नोत्तर करता है और उसके प्रश्न में शुष्क तर्क का समावेश दिखाई देता है तो वे उस वाचाल व्यक्ति से अधिक वार्तालाप न करके अनेक आचार्यों के ग्रन्थों से संकलित प्रमाणों का स्वहस्त लिखित गुटका खोलकर दिखाते हैं कि देखो ! आगम में ऐसा लिखा है। अन्त में आगम प्रमाण के आगे उस व्यक्ति को बरबस झुकना पड़ता है और वह उनकी बात को स्वीकार करके अन्तःकरण में उनके प्रति श्रद्धालु बन साधुवाद देता चला जाता है।

दिल्ली जैन समाज पर उनका बड़ा प्रभाव पड़ा। वे तपस्वी, शान्त परिणति वाले निस्पृह साधु हैं और आगम रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। हमारी श्री जिनेन्द्र देव से प्रार्थना है कि वे दीर्घायु हों और इसीप्रकार जिनशासन की महती प्रभावना करते रहें।

दिगम्बर जैन समाज के प्रेरणा स्रोत

[श्री जिनेन्द्र प्रकाश जैन, सम्पादक करुणादीप पाक्षिक एटा]

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज वास्तव में धर्म–सिन्धु ही हैं। उनकी सरलता, निर्भीकता, तपस्विता एवं आगम विज्ञता आज दिगम्बर जैन समाज के लिये प्रेरणा का स्रोत बनी हुई है। आज के समय में जब कि एकान्तवादी लोग दिगम्बरत्व के विध्वंस के लिए नित नए-नए पैंतरे प्रयोग में ला रहे हैं, पूज्य आचार्य श्री ने अपनी निर्भीक वाणी से दिगम्बर जैन समाज में ओज और उत्साह का संचार करके दिगम्बरत्व की रक्षा, उसके प्रचार एवं प्रसार के लिए समाज में नई चेतना जागृत की है। जगह जगह जैन नवयुवक आचार्य श्री से प्रेरणा पाकर आगम शास्त्रों का ज्ञान कर रहे हैं और धर्म रक्षा के लिए उठ खड़े हुए हैं। पूज्य आचार्य श्री की इस प्रेरणा को दिगम्बर जैन समाज युगों-युगों तक याद करती रहेगी। आचार्य श्री का हमें दीर्घ मार्ग दर्शन प्राप्त होता रहे यही मेरी कामना है।

वर्तमान आचार्य परम्परा में आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज

[श्री हरकचन्दजी सेठी, सम्पादक व प्रकाशक जैन गजट, अजमेर]

पं० द्यानतरायजी पं० भूधरदासजी पं० बनारसीदासजी आदि कितने ही प्रकाण्ड विद्वान हो गये है, जिन्होंने वीतराग भगवान की जिनवाणी की अटूट सेवा करके ग्रथ रचनायें की है और उनसे आज की पीढी भी लाभ उठा रही है। भूधरदासजी ने कहा है कि "कबहो मिले मोहि सद्गुरु मुनिवर करहि भवोदधि पारा हो।" तथा पं० बनारसीदासजी ने लिखा है कि "पंथ कुपंथ गुरु समभावत, और सबै सब स्वारथ ही के।"

ऐसा समय आया कि मुनिराजों के दर्शन भी मिलना दुर्लभ था केवल जिनवाणी में उनका वर्णन पाया जाता रहा है इसीलिये पं० भूधरदासजी ने तो यह इच्छा व्यक्त की है कि वे मुनिराज कब मिलेंगे जिनसे भव समुद्र पार हो सकें।

वास्तव में जिनेन्द्र की प्रतिमा मौन रूप में से प्रेरणा देती है। और गुरु साक्षात्कार रूप में वीतराग मार्ग दिखलाते हैं और जिनवाणी इन दोनो से जोड़ने वाली परम सहायक है।

आज से करीबन साठ वर्ष पूर्व यत्र तत्र मुनिराज के दर्शन भाग्य से मिल जाते थे। गुरु परम्परा नहीं के बराबर थी। आचार्य शांतिसागर जी महाराज ने दक्षिण से उत्तर की ओर विहार किया तो उनका प्रभाव इतना हुआ कि उनके उपदेश से हजारों लोग निवृत्ति मार्ग की ओर बढ़े। ऐलक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी, त्यागियो के अतिरिक्त मुनि दीक्षा भी हुई। जिससे चतुर्थ काल की स्मृति की झलक सामने आई। आचार्य संघ में मुनिराज, ऐलक, क्षुल्लक आदि सम्मिलित होकर आत्म कल्याण मे लगे और भारत मे विशाल व प्रमुख संघ कहलाने लगा। संघ में शास्त्रों के पठन, पाठन, चिन्तन-मनन के साथ ही साथ मुनिराजों का क्रमश: प्रवचन होता था और आचार्य श्री के प्रवचनों का भी विशेष लाभ मिलता था।

उत्तर से दक्षिण की ओर विहार करने के बाद आचार्य शांतिसागरजी महाराज ने कुन्थलगिरी मे सल्लेखना के समय अपना आचार्य पद अपने प्रियतम शिष्य मुनिराज श्री वीरसागर जी महाराज को विधिवत् प्रदान किया।

आचार्य वीरसागरजी महाराज ने अपनी गुरु परम्परा के अनुसार संघ का संचालन किया, शिक्षा-दीक्षा विधिवत् दी। बाद में इनके शिष्य श्री शिवसागर जी महाराज ने इस संघ का संचालन किया और गुरु परम्परा के अनुसार ही संघ का प्रभाव जनता पर रहा।

इनके स्वर्गारोहण के बाद शांति वीर नगर श्री महावीरजी में चतुर्विध संघ के द्वारा मुनिराज श्री धर्मसागरजी महाराज को आचार्य पद पर आसीन किया गया। तब से ही आप समस्त विशाल संघ का बड़ी दृढ़ता से संचालन करते हुए भारत के विभिन्न स्थानों पर भ्रमण करते आ रहे है। आप सौम्यमूर्ति, मिष्टभाषी, गभीर मुद्रा के धारी हैं। आपके जो भी एक बार दर्शन कर लेता है वह आपके समक्ष नतमस्तक स्वत: ही हो जाता है।

आपका प्रवचन सरल व सुबोध भाषा में होने के कारण सभी के समझ में आसानी से आ जाता है। आप इस युग में दिगम्बरत्व की निर्भीकता पूर्वक रक्षा कर रहे हैं और जिन धर्म की प्रभावना बढ़ा रहे हैं। आपके प्रवचन में धर्म के आधारभूत भावी पीढ़ी के बालक, बालिकाओं में धार्मिक शिक्षा पर जोर दिया जाता है और इसके लिये पाठशाला विद्यालयों की स्थापना समाज में हुई है और हो रही है।

भगवान महावीर के ढाई हजारवें निर्वाण महोत्सव पर भारत की राजधानी देहली जैसे महानगर में चातुर्मास करके इस महोत्सव में आपका बहुत बड़ा योगदान मिला था।

वस्तुत: वर्तमान आचार्य परम्परा में आप आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज [दक्षिण] की पट्ट परम्परा में आचार्य पद पर विराजकर धर्मदेशना भारतवर्ष में यत्र तत्र सर्वत्र करते आ रहे हैं यह समाज़ के लिये महान सौभाग्य का विषय है।

वर्तमान आचार्य परम्परा में आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज चौथी पीढ़ी में हैं। हम हार्दिक कामना करते हैं कि आचार्य श्री भी इस पट्ट के लिये सुयोग्य उत्तराधिकारी का चयन करें जिससे भविष्य में भी अक्षुण्ण रूप में यह परम्परा चलती रहे। आचार्य श्री के चरणों में शतशः वन्दन।

प्रेरणादायक आचार्यत्व

[श्री अरविन्दकुमार जैन B. Com., सरधना, इन्सपेक्टर-ओरियण्टल फायर एण्ड जनरल इन्श्योरेन्स कं० लि० अलवर (राज०)]

मुझे यह जानकर अति प्रसन्नता हुई कि परमपूज्य चारित्रनिधि आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है। आचार्य श्री के सर्व प्रथम दर्शन मैंने अपनी जन्म भूमि सरधना (मेरठ) में किये थे। आचार्य श्री का व्यक्तित्व महान है। आप सदैव आत्मोत्थान हेतु तत्पर तो रहते ही हैं किन्तु महाराज श्री के उपदेशों को अपनाकर व्यक्ति अपना भी चारित्र निर्माण कर आत्मविकास कर सकता है। आचार्य श्री ने उत्तर भारत में पद भ्रमण कर संघ सहित जो धर्म प्रभावना की है वह अद्वितीय है। भगवान महावीर की दिगम्बर परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए जैन संस्कृति में आध्यात्मिक मार्ग के प्रणेता के रूप में वर्तमान में आप प्रकाश स्तम्भ हैं। निराशा से पीड़ित विश्व घृणा, अविश्वास तथा छल के कगार पर है उसके लिए आचार्य श्री का मार्गदर्शन महत्वपूर्ण है। वे सद्भावना एवं पारस्परिक विकास पर आधारित दया और क्षमा के सर्वोत्तम गुणों का प्रसार कर इस समय विद्यमान घोर अन्धकार में सुन्दर मार्गदर्शन कर रहे हैं। मैं आचार्य श्री के चरणों में नत मस्तक होता हुआ भगवान जिनेन्द्र प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि आचार्य श्री दीर्घजीवी होकर चिरकाल तक मानव जाति के कल्याणार्थ सदुपदेश करते रहें।

श्रद्धा सुमन

[मनीषी जैन एम. ए.]

विमल गंगा का जल मन-शरीर को पवित्रता व शीतलता प्रदान करता है, चन्द्रमा सारे दिन जलते हुए विश्व को शीतलता प्रदान करता है। बसन्त ऋतु सोई हुई प्रकृति को नव जीवन प्रदान करती है। वर्षा का जल झुलसती हुई पृथ्वी को तृप्ति प्रदान करता है ऐसी ही भावनाओं को संजोए हुए भौतिकता प्रधान जगत् में पापों में उलझे हुए ज्ञानविहीन प्राणियों को अध्यात्माचार्य, दर्शनप्रज्ञ, जैनज्योति, संयमसाधक आचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज धर्म मार्ग पर चलकर जीवन यापन का पथ प्रदर्शित करते हैं।

समाज, राष्ट्र एवं युवा पीढ़ी के दिग्दर्शक आचार्य श्री आडम्बरों, भौतिक चमक-दमक से परे धर्म के वास्तविक यथार्थवादी स्वरूप एवं उद्देश्यों को स्थापित करने वाले महातपस्वी, धर्म साधक है। मेरा हृदय आचार्य श्री के चरण कमलों में अपने श्रद्धासुमन अर्पित करते हुए महान् हर्ष एवं सन्तोष का अनुभव करते हुए सदैव प्राप्त होने वाले शुभाशीर्वाद की आकांक्षा रखता है।

धन्य हो गया गम्भीरा ग्राम

[बाबूलाल जैन सेठिया नैनवां-बूंदी]

बूंदी जिलान्तर्गत गम्भीरा ग्राम में जन्मे बख्तावरमल—उमरावबाई की एकमेव संतान चिरंजीलालजी को पाकर गम्भीरा ग्राम धन्य हो गया। उत्तरोत्तर विकास करते हुए संयम मार्गारूढ होकर चिरंजीलालजी ने अपना जीवन निर्मल तो बनाया ही, किन्तु अनेकानेक भव्य जीवों ने आपके आदर्शमय जीवन को देखकर अपना भी उत्थान किया है।

प० पू० चन्द्रसागरजी से क्षुल्लक दीक्षा एवं आचार्य वीरसागरजी महाराज से मुनि दीक्षा धारण कर आपने आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया एवं भारतवर्ष के विभिन्न प्रांतों मे विहार कर धर्मोपदेश देकर समाज में धर्म के प्रति जागृति उत्पन्न की। पुन: विशालतम संघ के आचार्य बनकर २५०० वें निर्वाणोत्सव में 'आगम चक्खु साहु' के अनुरूप अपनी एवं संघ की प्रवृत्ति रखते हुए संस्कृति रक्षा में अपना अपूर्व योगदान दिया तथा अनेकान्त मार्ग की प्रेरणा देकर आर्षवाणी का प्रचार-प्रसार किया और संप्रति भी कर रहे है।

आचार्य श्री सौम्यमूर्ति महान् संत है। आपके हृदय में प्राणीमात्र के प्रति अनुकम्पा है। आप लोकानुरंजना से सदैव दूर रहते हैं। आपके निस्पृहजीवन की छाप जनमानस पर अच्छी पड़ती है। मैं समाज की महान् विभूति स्वरूप आचार्य श्री के चरणों में अपने श्रद्धासुमन समर्पित करते हुए उनके सारोग्य दीर्घायु होने की मंगल कामना करता हू।

महान् संत

[श्री हीराचन्द बोहरा, बी. ए. एल. एल. बी. कलकत्ता]

आचार्य श्री के पुनीत दर्शनों का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ है। उनकी सरल-सहज-सौम्य-प्रकृति, तीक्ष्ण स्मरणशक्ति, तपोमय साधना, आचार्यत्व निपुणता, गम्भीर विशद स्वाध्याय-चिंतन आदि विशिष्टताओं को आचार्य श्री में पाकर उनके चरणों में हृदय स्वत: नतमस्तक हो जाता है। अजमेर के निकट बीर चातुर्मास में उनके दर्शन किये थे उसके बाद कई वर्षों पश्चात् जब पुन: उनके दर्शनों का सौभाग्य मिला तो चरणों में प्रणाम कर मैंने महाराज श्री से पूछा कि महाराज श्री मुझे पहिचाना, उत्तर मिला कि हां ! अजमेर वाले हीराचंद बोहरा हो ना, बीर (राज०) के चातुर्मास में हमारे पास आये थे। मैं आश्चर्य चकित हो गया—अपूर्व स्मरण शक्ति देखकर गद् गद् हो गया। ऐसी ही तीक्ष्ण स्मृति उनकी धर्म क्षेत्र में भी है। मैं उन महान् सन्त के चरणों में त्रिवार त्रिश्च नमोऽस्तु करते हुए अपने श्रद्धा सुमन समर्पित करता हूं।

☼

धर्मदीप आचार्य श्री

[श्री आनन्दीलाल जीवराज दोशी, फलटण]

प० पू० धर्मदीप आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की आचार्य परम्परा मे तृतीय पट्टाचार्य है। आचार्य शिवसागरजी महाराज के स्वर्गवास के पश्चात् सन् १९६९ मे आपको चतु:संघ ने आचार्यपद प्रदान किया, उस अवसर पर मैं भी उपस्थित था। आपने अनेक भव्यों को मोक्षमार्ग पर प्रवृत्त किया है। आप अत्यन्त शात स्वभावी, सरल प्रकृति के योगी हैं। आपने राजस्थान-मध्यप्रदेश-उत्तर प्रदेश-दिल्ली आदि स्थानों में अपने दीर्घ दीक्षित जीवन में विहार कर धर्म प्रभावना की है। आगे भी आपके द्वारा दीर्घकाल तक धर्म प्रभावना होती रहे ऐसी पुनीत भावना से आपके दीर्घायु जीवन की कामना करते हुए श्री चरणों में शत-शत नमन करता हूं।

☼

श्रद्धा सुमन

[धर्मचन्द जैन—तिवरी]

प० पू० प्रात:स्मरणीय आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के दर्शनों का मुझे ३-४ बार सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उन प्रशान्तमूर्ति आचार्यदेव की मधुर वाणी श्रवण कर भव्यात्माओं को संयम धारण करने की प्रेरणा मिलती है। महाराज श्री के पुनीत चरण सान्निध्य में मुझे ६ठी प्रतिमा के व्रत धारण करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। मेरा जीवन धन्य हो गया, उनके आशीर्वाद से आज तक पालन ठीक प्रकारेण हो रहा है। परम उपकारी आचार्य श्री के चरणों में बार-बार कोटि-कोटि वंदन।

☼

चारित्तं खलु धम्मो के मूर्तिमान आचार्य श्री

[श्री देवीलालजी सोनी, इन्दौर]

जैन जगत के आध्यात्मिक विभूति भगवान् कुन्दकुन्द देवाचार्य ने प्रवचनसार की गाथा ७ में 'चारित्तं खलु धम्मो' वास्तव में चारित्र ही धर्म है यह कथन किया है। और उस धर्म की जड़ सम्यग्दर्शन है। 'दंसणमूलो धम्मो' दर्शन प्राभृत के ये वचन हैं। वस्तु स्वभाव रूप धर्म को प्राप्त करने का यही एकमेव मार्ग है। सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मार्ग से ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। प० पू० चा० च० आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज ने बीसवीं सदी में इन्ही आगम वाक्यों को अपने जीवन में उतारा और चारित्र मार्ग की सम्यक् प्रतिष्ठापना की। उन्ही आचार्य श्री की परम्परा में वीरसागरजी और शिवसागरजी महाराज ने भी आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होकर चारित्र की महत्ता जगप्रसिद्ध की और अब प० पू० प्रशान्त मूर्ति आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज चारित्र धर्म को उद्योतित कर रहे हैं। वे चारित्र की प्रतिमूर्ति हैं। मुझे उनके अनेक बार दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। चारित्र धर्म के प्रति किंचित् भी शैथिल्य वे सहन नहीं करते है। स्पष्ट एवं निर्भीक वक्ता के रूप में सारा समाज उन्हें स्मरण करता है। निस्पृहता एव निर्लेपता उनके जीवन के अभिन्न अंग हैं। "चारित्तं खलु धम्मो" रूप धर्म के सजीव प्रतीक एवं मुक्तिपथ के पथिक दिगम्बर साधु ही होते है और वे संसार भ्रमण में लगे जीवों के लिये प्रदीप स्तम्भवत् हैं। अत: वर्तमान के दिगम्बर साधुओं में परम्परागत आचार्य श्रेष्ठ श्री धर्मसागरजी महाराज के चरणों में शतश: प्रणाम करते हुये अपनी हार्दिक भावाञ्जलि समर्पित करता हूं।

जिनशासन की महती प्रभावना होती रहे

[श्री राधामोहन जैन, दिल्ली]

मनुष्य मात्र की जन्म स्थिति दिगम्बर ही है। आदर्श मनुष्य सर्वथा निर्दोष-विकार शून्य होता है। भगवान् आदिनाथ से महावीर पर्यन्त २४ तीर्थकरों के दर्शाये गये दिगम्बर रूप को धारण करने वाली अनेक आत्मायें हो गई और वर्तमान में हो रही हैं तथा पंचम काल के अन्त तक होती रहेगी। २०वीं शताब्दि के प्रथम दिगम्बराचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की कृपा से आज भी यत्र तत्र सर्वत्र दिगम्बर मुद्रा के दर्शन हो रहे है। उन्ही की आचार्य परम्परा में तृतीय पट्टाचार्य प्रशान्त मूर्ति प० पू० १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज है। आपको परम तपस्वी आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के स्वर्गवास के पश्चात् संघ ने अपना आचार्य स्वीकृत किया था। आप परम तपस्वी, उच्चत्यागी, परम निस्पृह एवं प्रशान्तमूर्ति साधुराज हैं। निर्वाणोत्सव वर्ष का सन् १९७४ मे होने वाला दिल्ली चातुर्मास चिरस्मरणीय रहेगा। आप स्व-कल्याण के साथ-साथ जिनधर्म की प्रभावना में सलग्न रहते है। आपने अनेकों त्यागियों को दीक्षा प्रदान की है। भौतिकवादी युग में इस महान पद को निर्दोष रीति से निभाना अत्यन्त दुष्कर है, किन्तु आप बड़े ही उत्साह एवं गौरव से इस पद की गरिमा बढाये हुए है। धार्मिक शिक्षा के लिये अनेक स्थानों पर आपने पाठशालाएं खोलने की प्रेरणा दी है। धर्म व संस्कृति की उन्नति की आपके मन में बड़ी अभिलाषा है। वीतरागी, निस्पृह, लोकोपकारी आचार्य महाराज दीर्घायु हों और उनके द्वारा जिनशासन की महती प्रभावना होती रहे ऐसी मेरी कामना है।

मेरा बारम्बार प्रणाम

[जगमोहन जैन, प्रधानमन्त्री, जैन बालाश्रम दिल्ली]

प्रसन्नता का विषय है कि परम पूज्य आचार्य प्रवर १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज का अभिवन्दन ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। आचार्य श्री त्याग-तपस्या एवं सच्चरित्रता की मूर्ति हैं। आपने अपने दीर्घ तपस्या काल में अपने ज्ञान ध्यान, त्याग, सरलता, विद्वत्ता, स्वच्छ एवं निर्दोष साधुवृत्ति के द्वारा जो ख्याति अर्जित की है, वह दिगम्बर जैन साधु संस्था के इतिहास में सदा स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगी।

आचार्य श्री के सन् १९७४ के पावन चातुर्मास का सौभाग्य जैन बाल आश्रम दिल्ली को प्राप्त हुआ था। भगवान महावीर के २५०० वे निर्वाण वर्ष में आप अपने संघ सहित दिल्ली में विराजमान थे। आपके संघ में मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक एवं क्षुल्लिका सबको मिला कर लगभग ५० सन्त एवं साध्वीगण थे। आपके संघस्थ साधु-साध्वियों ने अपने त्याग, तपस्या एवं सरल व्यवहार के कारण दिल्ली में ही नहीं अपितु पूरे भारत में धूम मचा दी थी। परम पूज्य साधुवृन्द के दर्शनों एवं उनके मुखारविन्द से प्रवचन श्रवण करने के लिए आए हुये धर्मप्रेमी, भाई-बहिनों के शुभागमन से बाल आश्रम एक तीर्थस्थल बन गया था।

चार माह तक प्रतिक्षण यहां दर्शनार्थियों एवं प्रवचन श्रवणार्थियों की उपस्थिति से उनके ठहरने भोजन आदि की व्यवस्था के कारण सर्वत्र मेला सा लगा रहता था। न जाने भारत के कौने-कौने से आकर प्रतिदिन कितने यात्रीगण आचार्य श्री एवं उनके संघस्थ मुनियों के चरणारविन्द में अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करते थे।

मुझे परम पूज्य आचार्य श्री को अत्यन्त निकट से देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आप दिगम्बर जैन आचार्य परम्परा के एक ज्योतिष्मान् नक्षत्र है। सरलता, सौम्यता, तपस्या, ज्ञान एवं उच्च चारित्रनिष्ठा की दृष्टि से जैन आचार्यों में आपका स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। साधु अपनी त्याग-तपस्या के कारण वन्दनीय होता है। ज्ञान के कारण नहीं। ज्ञानवान् व्यक्ति का आचार यदि शिथिल है तो वह कदापि जनमानस की श्रद्धा का पात्र नहीं हो सकता है। आचार्य श्री मे तपस्या एवं ज्ञान दोनों का अद्भुत समन्वय है। जो एक बार आचार्य श्री के दर्शन कर लेता है उसका मस्तक उनके सामने सदा-सदा के लिए झुक जाता है।

ऐसी महान् त्याग, तपस्या की विभूति को मेरा बारम्बार प्रणाम।

श्रद्धा सुमन

[श्री शांतिलालजी बड़जात्या, अजमेर]

धीर वीर गंभीर तपोनिधि 'शांति' सुधा करुणा की खान।
अहोभाग्य है सकल विश्व का मस्तक राजें महिमावान॥
"धर्मसिंधु" आचार्य शिरोमणि पूजत प्रतिपल पाप नशाय।
चन्द्र सूर्य सम हों दीर्घायु जीवित चेतन तीर्थ कहाय।

इन्हीं छन्दबद्ध यत्किंचित् शब्दों में मैं गुरुवर्य के सारोग्य दीर्घायु जीवन की वीर प्रभु से प्रार्थना करता हूं तथा समाज पर उनकी दीर्घ छत्रछाया बनी रहे इसी भावना के साथ चरण कमलों में नमोऽस्तु करते हुए श्रद्धा सुमन समर्पित करता हूं।

हृदय से नमस्कार

[श्री पदमकुमार जैन, विद्युत एवं उद्यान प्रबन्धक, प्रेस फोटोग्राफर, अजमेर]

आचार्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज का जब अजमेर में गत दिनों ससंघ पदार्पण हुआ तो उनके दर्शन करने वालों में एक मैं भी प्राणी था और जब महाराज साहब का संघ अजमेर में आया उस समय जैसा उनका स्वागत किया गया एक अभूतपूर्व था वैसे मैं दर्शन करने मन्दिरों में नहीं जाया करता चूंकि मैं एक ही मंत्र पर विश्वास करता हूं वह है "नमोकार मंत्र" इसका जाप मैं श्रद्धा पूर्वक दिन में कई बार करता हूं। एक दिन किसी कार्यवश मेरा छोटा धड़ा की नसियां में जाना हो गया व मैंने इन महान् तपस्वी योगीराज के दर्शन किये और जब विचारों का आदान-प्रदान हुआ तो उनके मुख से एक ही बात निकली कि नमोकार मंत्र ही संसार का महान् मंत्र है और येन केन प्रकारेण मैं उनके सम्पर्क में आता गया। मुझे ऐसा महसूस हुआ कि जो कार्य मैं महावीर द्वार का सुभाष बाग में करवाना चाहता हूं वह इन्हीं के आशीर्वाद एवं कर कमलों द्वारा पूर्ण होगा। एक दिन वह समय आ ही गया जब परम आदरणीय सर सेठ भागचन्दजी सोनी के सान्निध्य में एवं श्री धर्मसागरजी महाराज के आशीर्वाद व प्रेरणा से सुभाष बाग में महावीर द्वार बनने का शुभारंभ हुआ। जब सुभाष बाग में ३ मुनियों का केशलोंच हो रहा था तो मेरे मन में एक जबरदस्त तूफान उठा और मैंने आचार्य धर्मसागरजी महाराज की प्रेरणा से महावीर द्वार को पूरा करने की प्रतिज्ञा ली व इन दिनों महावीर द्वार पर संगमरमर लगाने का कार्य जोरों से चल रहा है। परम आदरणीय धर्मसागरजी महाराज मुझे स्वयं कहा करते थे कि तुम मुझे धार्मिक कार्यों के लिए कुछ समय दोगे तो मैं तुम्हें काफी समय दूंगा लेकिन मैं एक महान् तपस्वी साधु के पास जाने में कतराता था। उनके मुख पर जो तेज है वह अद्वितीय है। मैं ऐसे साधु को हृदय से नमस्कार करता हूं।

विनयांजलि

[श्री जिनेन्द्रजी विराजवार एम. ए., दुधनी (महाराष्ट्र)]

प० पू० प्रातःस्मरणीय १०८ आचार्य प्रवर श्री शान्तिसागरजी महाराज की असीम कृपा से आर्ष परम्परानुसार चारित्र धर्म का पालन करने वाले रत्नत्रय समन्वित मुनिराज यत्र तत्र सर्वत्र विहार करते हुए दर्शन दे रहे हैं भारतवर्ष भाग्यशाली है जहां निष्परिग्रही दिगम्बर साधुओं का विचरण हो रहा है।

प० पू० १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज वर्तमान के श्रेष्ठ साधुराज हैं। आपमें आर्ष परम्परा के प्रति अगाध श्रद्धा है। ख्याति-पूजा-लाभ से सर्वथा निस्पृहता आपका अनुपम गुण है। सरलता तो आपके जीवन में पद पद पर दिखाई देती है। विशाल संघ के आचार्य होते हुए भी उससे निर्लिप्त हैं। क्रोध की झलक कभी भी आपके मुख पर नही दिखाई दी। अत्यंत शान्त परिणामी होने से आपके निकट चिरसंतप्त प्राणी भी अपार शान्ति का अनुभव करता है।

मैं प. पू. आचार्य श्री के चरणों में शत-शत नमन करते हुए अपनी हार्दिक विनयाञ्जलि समर्पित करता हूं।

श्रद्धा सुमन

[श्री हरिश्चन्द्रजी टकसाली, जयपुर]

प० पू० प्राचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के पुण्य दर्शनों का सौभाग्य अति-निकटता से कई बार प्राप्त हुआ है। आप अनेक अनुपम गुणों के भण्डार हैं आपके गुणों का वर्णन करना मुझ जैसे छद्मस्थ गृहस्थ के लिये सूर्य को दीपक दिखाना मात्र ही कहा जावेगा। आप परम सौम्यता एवं सहज प्रसन्नता की प्रतिमूर्ति हैं। निस्पृहता तो आपके जीवन का अभिन्न अंग बन गई है जिसके कारण आपके हृदय में समाज के प्रत्येक व्यक्ति के प्रति समानता की भावना पायी जाती है। आपको स्पष्टवादिता अत्यन्त प्रिय है। मैं परम श्रद्धेय गुरुवर्य के पुनीत चरणों में शतशः प्रणाम करते हुए अपने श्रद्धा सुमन समर्पित करता हूं तथा देवाधिदेव भगवान महावीर से प्रार्थना करता हूं कि आप सारोग्य दीर्घायु होकर अपने आर्षानुकूल मधुर उपदेशों के द्वारा हमारा एवं समाज का मार्ग प्रशस्त करते रहें।

मेरी कामना

[श्री प्यारेलालजी कोटड़िया, उदयपुर]

प्रातःस्मरणीय-दिगम्बर जैनाचार्य ही नहीं अपितु अनेकों साधकों की साध्य-मूर्ति अध्यात्म योगी १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज से कौन परिचित नहीं होगा। आप प्रत्यक्ष आत्मसाधना के साधक हैं। आज मानव अपने मन में ऐसी परम आत्मा का बार-बार स्मरण कर उनका अभिवादन कर अपना जीवन सार्थक बना सकता है।

गुरुवर के दर्शन करने एवं अमृतवाणी सुनने का अवसर मिलता रहता है। आप आगम और अनुभव के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। गहरी से गहरी ग्रंथियों को अपने अनुभव के द्वारा सरल शब्दों में वर्णन कर सुलझाने की आपमें क्षमता है। आपके सान्निध्य में रहने वालों के मनोबल एवं कार्यक्षमता किसी भी प्रकार की हो आप कभी विचलित नहीं होते। आपके शांत एवं प्रशम स्वभाव से सभी प्रसन्नता, शांति एवं शीतलता का अनुभव करते हैं। आपके दर्शन मात्र से ही कितनी भी आकुलता हो शान्ति का लाभ होता है। ऐसे ज्ञान एवं संयम की निधि अनुभव वृद्ध परमगुरु के चरणों में मेरा बारम्बार वंदन है और आशा करता हूं कि पामर प्राणियों का उद्धार करते हुये शत-शत वर्ष चिरायु रहें।

शुभ कामना

[श्री हंसकुमार जैन, मेरठ–शहर]

प० पू० तपोनिधि चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी महाराज के तृतीय पट्टाधीश आचार्य प० पू० प्रशान्तमूर्ति १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज अपने विशालतम संघ के साथ सन् १९७५ में जब लगभग २५-२८ दिन के प्रवास काल में मेरठ रुके तो संघ सेवा का कुछ दिन सौभाग्य प्राप्त हुआ, उनके समीप रहकर और उनके प्रवचन सुनकर मेरी आत्मा को एक अद्‌भुत आनन्द एवं सच्ची शान्ति का अनुभव हुआ उसका वर्णन मैं नहीं कर सकता वह तो मेरे अनुभव गोचर ही है। श्री गुरुदेव के गुणों का वर्णन मेरी अल्पबुद्धि और जड़ लेखनी करने में समर्थ नहीं है। आचार्य श्री इस युग के एक महान तपस्वी चारित्रवान् अध्यात्म योगीराज मुनीश्वर है मैं उनके चरणों में अपनी ओर से बार-बार नमस्कार कर शुभ कामना करता हूं कि उनकी छत्र-छाया हमारे ऊपर सदा बनी रहे।

दीपस्तम्भ बने रहें

[श्री शीतलप्रसाद जैन, खतौली]

सन्तों का समग्र जीवन जन कल्याणकारी हुआ करता है। स्वांत: सुखाय के साथ-साथ बहुजन हिताय की भावना उनके जीवन में कूट-कूट कर भरी रहती है। परम श्रद्धेय, अध्यात्म योगी आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज भी इसी प्रकार के स्व-पर कल्याण निरत आध्यात्मिक संत पुरुष है। निस्पृहता एवं लोकानुरंजनता का अभाव उनके जीवन में पद-पद पर देखने को मिलता है जो अन्य साधुजनों के लिये भी अनुकरणीय है। मैं इस पावन प्रसग पर अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हुए वीर प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि ऐसे साधुराज चिरकाल तक इस जगति पर विद्यमान रहकर मोक्ष मार्ग से भ्रष्ट जीवों के लिये दीपस्तम्भ बने रहे तथा पर के साथ-साथ स्वका भी कल्याण यथाशीघ्र करे।

महान सन्त आचार्य धर्मसिंधु

[श्री दिनेशचन्द्र जैन, गांधीनगर–दिल्ली]

परम पूज्य, योगीराज, चारित्र चूडामणि परमतपस्वी, सच्चे दिगम्बर सन्त १०८ परम्पराचार्यदेव धर्मसागरजी महाराज वीतराग मार्ग के परम संत है। जिसने एक बार भी दर्शन कर लिये वह गुरुदेव की शांतमुद्रा, त्रियोग की निर्मलता एवं तपश्चर्या को कदापि नहीं भूल सकता। उनके दर्शन मात्र से जीवन मे शांति का अनुभव होता है।

आप परम्पराचार्य के पद पर प्रतिष्ठित होकर विशाल संघ के नायक एवं लाखों भक्तजनों के परम श्रद्धेय होते हुए भी लोकैषणा से सर्वथा दूर रहते हैं। आपकी निष्परिग्रही एवं निस्पृहवृत्ति को देखकर प्रत्येक प्राणी प्रभावित है और आपकी चरणरज पाकर अपने को सौभाग्यशाली मानता है।

परम पूज्य गुरुदेव चिरकाल तक चतुर्विध संघ का संचालन करते रहें एवं संसार निमग्न प्राणियों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते रहें यही देवाधिदेव भगवान् जिनेन्द्र से प्रार्थना है।

श्री कमलकुमार जैन शास्त्री, आशुकवि श्री फूलचंद शास्त्री, पुष्पेन्दु; श्री वैद्य बाबूलाल जैन

परम पूज्यपाद १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज ने सन् १९६४ ई० में ससंघ खुरई नगर में जो चातुर्मास किया था, वह यहां के इतिहास के पन्नों में स्वर्णाक्षरों में अंकित है, सन् १९३१ में संपन्न आचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराज के चातुर्मास के उपरांत होने वाले अनेक चातुर्मासों में से यह चातुर्मास अत्यन्त प्रभावनाशील, व्यापक और अभूतपूर्व रहा, श्रावकों ने व्रत प्रतिमायें तो धारण की ही थी, वरन एक कुमारिका श्री विमलाबाई तो तभी से आचार्य श्री के साथ संघ में हो ली थी और जो निरन्तर परम वीतराग साधना के पथ पर बढ़ती हुई आज १०५ आर्यिका श्री शुभमतीजी के नाम से उनके संघ में सर्व विश्रुत है, विद्या और ज्ञान के क्षेत्र में भी जिन्होंने अनुमानतः शास्त्री आदि की परीक्षायें उत्तीर्ण कर ली हैं।

द्वितीय व्रती श्रावक श्री बालचन्दजी वैद्य ने उन्हीं के धर्म गुरुत्व में ७वीं प्रतिमा धारण कर अपना शेष जीवन उन्हीं के पवित्र चरणों में समर्पित किया, तथा अंतिम समय में समाधिमरण पूर्वक अपनी आयु पूर्ण की थी, वे तो आचार्य श्री के इतने भक्त रहे कि उनके चातुर्मास काल की पल पल की डायरी लिखते रहे जो आज भी उनके पुत्रों के पास सुरक्षित है, उनका संपूर्ण लेखन एक स्वतंत्र पुस्तक की अपेक्षा रखता है, यहां कलेवर बढ़ने से मात्र उसका उल्लेख ही किया जा रहा है।

वयोवृद्ध आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के पुनीत दर्शन, वंदन, वैयावृत्य से भव्य जीवों के कल्याण का मार्ग सदैव प्रशस्त होता रहे, अतः हम उनके पाद पद्मों में अपनी भाव पूर्ण विनयाञ्जलि अर्पित करते हैं।

धन्य हैं ऐसे संत

[**श्री कैलाशचन्द जैन, टिकैतनगर**]

आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज अत्यन्त दूरदर्शिता से एक दृढ़ निश्चय करते हैं और फिर वही उनका अन्तिम निर्णय होता है। धन्य हैं ऐसे निस्पृही संत जिनका अवतार हम सभी के लिए वरदान रूप है।

हाड़ोती प्रान्त की महान् विभूति

[श्री तेजकुमार सोनी, कोटा]

प्रातः स्मरणीय, जगत् पूज्य, आर्ष परम्परानुसार चारित्र पालयिता, सिंहवृत्ति, निर्भीक एवं स्पष्टवक्ता आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज ने हाड़ोती प्रान्त के गम्भीरा ग्राम में जन्म लिया और आजीवन ब्रह्मचारी रहकर संसार-शरीर-भोगों के प्रति अनासक्ति भाव होने से दीक्षा धारण करके आत्मकल्याण का मार्ग अपनाया। आप अत्यन्त गम्भीर प्रकृति वाले हैं। नैनवां पंच कल्याणक के पश्चात् सं० २०१७ में मुनि सन्मति सागरजी और पद्मसागरजी महाराज के साथ आपने चातुर्मास किया तब से मेरा आपसे अत्यन्त निकट का परिचय रहा है। आपका निर्मल चारित्र वर्तमान में भोग प्रधानी जनों के लिए आदर्श है। आचार्य प्रवर १०८ श्री शांतिसागरजी महाराज की आगम विहीत निर्दोष मुनिचर्या को आचार्य श्री वीरसागरजी व आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज ने अक्षुण्ण बनाए रखा और २०वीं शताब्दि की इस आचार्य परम्परा को बेदाग रखते हुए अनेक भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग पर लगाया। इसी कड़ी के चतुर्थ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज ने भी सं० २०२५ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होकर परम्परागत मुनिचर्या को अक्षुण्ण बनाए रखा है। आपके जन्म से गम्भीरा ग्राम तो धन्य हुआ ही किन्तु समूचे हाड़ोती प्रान्त को अपनी इस महान् विभूति को पाकर गौरव है। मैं निर्मल चारित्र युक्त आचार्य श्री को अनेकशः वन्दन करता हूं।

श्रद्धा सुमन

[श्री सतीशचन्द जैन, बड़ौत–मेरठ]

प० पू० प्रातःस्मरणीय गुरुदेव आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का अभिवन्दन करने हेतु एक अभिवन्दन ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है यह सुनकर मन में अत्यन्त हर्ष हुआ और ग्रंथ के माध्यम से अभिवन्दनीय आचार्य श्री के पुनीत चरणों मे श्रद्धा सुमन समर्पित करने के लोभ को संवरण न कर सकने के कारण कुछ टूटे फूटे शब्द लिखने के लिए उत्सुक हुआ हू।

प० पू० गुरुदेव का जीवन अत्यन्त निर्मल एवं लागलपेट से परे है। उनके मन की सरलता, वाणी की स्पष्टता और निर्भीकता व्यक्ति को शीघ्र ही आकर्षित करती है। उनके सरल भाषा मे दिये गये प्रवचन उनकी कथनी और करनी की एकता ज्ञान कराने में पूर्णतया समर्थ है। गुरुदेव के वाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही जीवन एक से निर्मल हैं। वहां छिपाव-दुराव को कोई स्थान नहीं है। बड़ौत नगर में चातुर्मास प्रवास में तथा उसके अतिरिक्त कई बार आचार्य श्री के दर्शनों का, वैयावृत्यादि का अवसर प्राप्त हुआ। उनके निर्मल चारित्र को देखकर सहज ही उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है।

मैं परम पूज्य गुरुदेव के चरणों में अपनी श्रद्धा के दो पुष्प समर्पित करते हुए उनके सारोग्य दीर्घायु जीवन की मंगल कामना करता हूं।

बीसवीं शताब्दि की दिगम्बर जैनाचार्य परम्परा के चतुर्थ आचार्य

[श्री सुजानमलजी सोनी, अजमेर]

जैन दर्शन में इस बात को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है कि कोई भी प्राणी यदि अपनी आत्मा का कल्याण चाहता है तो उसे संसार भ्रमण में कारण इन्द्रिय विषय जन्य सराग परिणति से विमुख हो वीतराग भावों की वृद्धि में कारणभूत पंचपरमेष्ठी में भक्ति तथा निग्रन्थ दीक्षा धारण कर क्रमश: आत्मविशुद्धि पूर्वक यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति करना चाहिए। इन्हीं आर्ष वचनों के अनुसार इस कलिकाल में प० पू० प्रात: स्मरणीय चारित्र चक्रवर्ती स्व० आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज ने वैराग्य की उद्-भूति होने पर उसी मार्ग को अपनाया और आगमानुसार मुनिचर्या का आदर्श उपस्थित किया। आपके ही प्रशिष्य एवं वर्तमान परम्परा के चतुर्थ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज हैं।

बूंदी रियासत में गम्भीरा ग्राम में श्रेष्ठीवर्य बख्तावरमलजी की धर्मपत्नि उमराव बाई की कुक्षि से सं० १९७० में पौष सुदी पूर्णिमा के दिन हुआ। माता-पिता का स्वर्गवास हो जाने पर बहिन दाखांबाई ने अपने पास रखा और उनके द्वारा धार्मिक संस्कार प्राप्त हुए जो आगे चलकर विशाल रूप में फलित हुए। आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज से द्वितीय प्रतिमा तथा आचार्यकल्प श्री चन्द्रसागरजी महाराज से सप्तम प्रतिमा के व्रत धारण किये। गृहविरत हो मुनिसंघ के साथ हो लिए तथा कुछ दिन पश्चात् ही आ. क. श्री चन्द्रसागरजी महाराज से क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की एवं एक चातुर्मास उनके साथ किया पश्चात् गुरुदेव के स्वर्गवास हो जाने पर आप श्री वीरसागरजी मुनिराज के पास आए और उनके साथ लगभग ७-८ वर्ष क्षुल्लकावस्था में रहे, पश्चात् मुनिदीक्षा ग्रहण कर सकल संयम को धारण किया। गुरुदेव की समाधि के पश्चात् आचार्य पट्ट मुनिराज श्री शिवसागरजी महाराज को प्रदान किया गया। लगभग ११ वर्ष के पश्चात् आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज का सं० २०२५ में फाल्गुन कृष्णा अमावस्या के दिन स्वर्गवास हो जाने पर श्री शांतिवीर नगर पंचकल्याण प्रतिष्ठा के अवसर पर उपस्थित मुनि संघ ने आपको संघ का आचार्य पद प्रदान किया। आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के बाद १२ वर्ष से आप सतत आर्ष परम्परानुरूप धर्म प्रभावना में विशेष रूप से संलग्न हैं।

आपसे मेरा परिचय आपकी क्षुल्लकावस्था से है। आचार्य पद के पश्चात् आपने सं० २०२८ में अजमेर चातुर्मास भी किया है। आप अत्यन्त सरल एवं भद्र परिणामी, निर्भीक-स्पष्टवादी हैं। आपमे आचार्य पद जैसे महान् पद पर प्रतिष्ठित होने पर भी अभिमान दृष्टिगोचर नहीं होता। आप मनसा-वाचा-कर्मणा एक से ही है। मैं इन अध्यात्म के साक्षात् मूर्तिमान आचार्य श्री के चरणों में अपनी विनयाञ्जलि समर्पित करता हूं तथा आपके सारोग्य दीर्घ जीवन की कामना करता हूं। आपकी छत्र-छाया में श्रमण संघ मार्गदर्शन प्राप्त करता रहे इसी भावना के साथ पुनीत चरणों में कोटि-कोटि नमोऽस्तु।

जैन ज्योतिष के मूकसाधक

[श्री जिनेन्द्र आचार्य, प्राध्यापक संस्कृत विभाग, जैन कॉलेज, सासनी]

अध्यात्म ग्रन्थ 'छहढाला' के रचयिता कवि श्री 'दौलतरामजी' की जन्मस्थली सासनी (अलीगढ़) के कॉलेज में मेरी नियुक्ति होते ही यहां के श्रीमंत सेठजी ने मेरा परिचय वयोवृद्ध समाजसेवी हाथरस के सेठजी से कराया और उन्होंने मुझे हाथरस की समाज सेवा के लिये भी आमंत्रित किया, मैंने अपनी सहर्ष स्वीकृति दे दी।

एलाचार्य मुनि श्री विद्यानंदजी वहां के पार्श्वनाथ बड़े मन्दिर की अनेकानेक त्रुटियों को इंगित कर गये थे। मैं उन्हें सुधारने के लिए कृत संकल्प था। अत: समाज के प्रमुख लोगों की प्रेरणा पाकर मैं एक साथी के साथ अजमेर (राजस्थान) में ससंघ विराजमान आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के पास पहुंचा। मैंने आचार्य श्री के समक्ष मंदिर मे उत्कीर्ण उल्टे स्वस्तिकों और दीर्घकाल से मंदिर पर बैठते आ रहे लक्ष्मीवाहन उल्लू के सम्बन्ध में कहा। आचार्य श्री ने अपने गूढ ज्योतिष्क ज्ञान के द्वारा उपर्युक्त त्रुटियों को सुधारने का आर्ष सम्मत मार्ग बताया। मुझे अपने अभिलषित कार्य में सफलता प्राप्त कर आनन्द हुआ। पश्चात् पंडित हेमचन्द्रजी से बातचीत हुई तब उन्होंने बताया कि महाराज श्री ने धर्मायतन की रक्षा हेतु आपको यह बहुत बड़ी बात बता दी है। अन्यथा वे किसी को भी चमत्कृत करने के लिये अपना ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान के प्रचार हेतु डिंढोरा नहीं पीटते। मैं अनन्य श्रद्धा से आचार्य श्री के प्रति द्रवीभूत हो गया।

उसके पश्चात् अनेकों बार आचार्य श्री के दर्शन कर चुका हूं, उनके वचनामृतों को सुनकर मैं अतृप्तिका ही अनुभव करता हूं और तृप्ति पाने के लिये उनके वचनामृत श्रवण हेतु मनोभिलाषा सदैव बनी रहती है।

जैन ज्योतिष्क के मूकसाधक अत्यन्त सरल एवं निस्पृह, ख्याति-पूजा-लाभ से कोसों दूर आचार्य श्री के पावन चरणों मे अपनी विनयांजलि समर्पित करते हुए उनके सारोग्य दीर्घायु जीवन की मंगल कामना करता हूं। आचार्य श्री के चरणों में कोटि-कोटि नमन।

मंगल कामना

[श्री बी. के. काला, सहमंत्री जयपुर मंडल, फुलेरा]

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि प्रात:स्मरणीय आचार्य प्रवर श्री धर्मसागरजी महाराज के अभिवन्दनार्थ ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है। वस्तुत: आचार्य श्री जैसे धर्मनिष्ठ, प्रखरचारित्र युक्त आचार्य महाराज के अभिवन्दन ग्रंथ का प्रकाशन समयोचित स्तुत्य उपक्रम है। आचार्य श्री के पुनीत चरणों में सादर शत-शत नमन करते हुए जिनेन्द्र प्रभु से आचार्य श्री के दीर्घ-सारोग्य जीवन की मंगल कामना है। यह ग्रंथ जन सामान्य के लिये लाभप्रद, धर्मवृद्धि तथा आत्मकल्याण हेतु मार्गदर्शन करते हुए समाज के उज्ज्वल जीवन निर्माण मे प्रेरक रहेगा ऐसी शुभ भावना है।

प. पू. आचार्य शिरोमणि श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज का प्रभावशाली वर्षा योग

[श्री पारसमल बाकलीवाल, मदनगंज-किशनगढ़, राज०]

आसाढ़ शुक्ला चतुर्दशी से कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी तक जैन मुनि, आर्यिका आदि साधुजन आवागमन का त्याग कर चार महिने एक ही स्थान पर चातुर्मास धारण कर लेते हैं। इस मौसम में वर्षा के कारण मार्गों में पानी, कीचड़ एवं त्रस जीवों की उत्पत्ति का बाहुल्य रहता है। इसलिए अपने नियमों की पालना करते हुए एक ही स्थान पर अपनी तपस्या एवं शास्त्र-अध्ययन में अपने समय का सदुपयोग करते है। अतः साधुजन जिस नगर व गांव में अपना वर्षायोग निर्धारित करते है, उस जगह के श्रावकों को आहारदान, गुरूपासना एव त्यागियों के धर्मामृतमय प्रवचनों के श्रवण का लाभ मिलता है एवं व्रत-उपवासों एवं अन्य धार्मिक कार्यों को करने का भी पवित्र सुयोग प्राप्त होता है।

वस्तुतः हमारा भी बड़ा सौभाग्य था कि सं० २०३४ में हमें मदनगंज-किशनगढ़ नगर में अन्य साधुओं के वर्षायोग के साथ-साथ एक महान् परम-तपस्वी, उदार जीवनयापी, प्रेरणादायक आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज एव उनके पूरे संघ के वर्षायोग का लाभ मिला। इस अवसर पर यथा शक्ति सभी श्रावकों, गृहस्थियों ने अपनी हार्दिक सद्भावना से गुरु सेवा करके उनकी अमृतवाणी का प्रतिदिन श्रवण करते हुए जीवन को धर्ममार्ग में लगाये रखने का संकल्प कर अपने आपको धन्य बनाया।

आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज एक महान् तपस्वी मुनि एवं जैनधर्म के दीप्तिमान प्रवर्तक हैं। आपकी सरलता प्रत्येक छोटे बालक से लेकर बूढ़े तक को धर्म में आस्था रखने के लिए आकर्षित करती है। महाराज श्री के स्वभाव में किसी प्रकार का भेद-भाव या पक्षपात नही है कि कौन व्यक्ति क्या हस्ती रखता है या कौन व्यक्ति कहां तक पहुंच रखता है। सबको समान दृष्टि से ही मंगल आशीर्वाद देते हैं। आप सदैव चारित्र एवं त्याग की ओर अधिक ध्यान देने के लिये मार्गदर्शन करते रहते है। जैसा कि जैन धर्म का सिद्धान्त है कि समस्त विश्व को समभाव से देखने वाला न किसी को प्रिय मानता है और न किसी को अप्रिय अर्थात् अपने व पराये की भेद-नीति से अलग रखते हुए मानव का कल्याण मात्र का ध्यान करना ही धर्म का रास्ता है।

संसार में मानव जन्म लेकर संसार रूपी सागर की यात्रा पूर्ण करता है, किन्तु ऐसे भी कुछ मानव प्राणी होते है जो स्व-पर हित करके ही अपना जीवन सफल बना लेते हैं। इसप्रकार उन्हीं का जीवन सफल है जिनके जीवन से वंश, समाज, देश और संस्कृति की उन्नति हो। हमारे परम पूज्य प्रातःस्मरणीय १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज भी ऐसे महान् पुरुष हैं जिनपर हमे और समाज को अति गौरव है।

किसी भी धर्म का प्रभाव और प्रचार जितना साधुओं द्वारा होता है, गृहस्थों से नहीं। जब हमारा साधु समाज, तपोनिष्ठ, प्रभावशाली वक्ता और लोक कल्याण के कार्यों में अग्रसर रहा है तब-तब ही धर्म की पताका फहराती रही है इसी संदर्भ में प्रमाणिकता है कि हमारे यहां चातुर्मास में आचार्य श्री धर्मसागरजी द्वारा नगर में एक धार्मिक स्कूल की योजना प्रारम्भ हुई है। अनेकों पूजा-विधान हुए, अनेक विद्वानों का आवागमन बना रहा और नगर में चार महीनों तक प्रभावशाली धार्मिक कार्यक्रम होते रहे हैं। जिससे जैन एवं जैनेतर बन्धुओं ने धार्मिक लाभ उठाया जो कि जीवन को सफल बनाने में सुप्रेरणादायक रहा।

हम लोगों का तीव्र पुण्योदय था कि हमारे नगर में परम तपस्वी, चारित्र के प्रतिमूर्ति आचार्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज और उनके संघस्थ सभी मुनिजनों एवं आर्यिकाओं का वर्षायोग हुआ । और हम सबने उनके अमृत वचनों से लाभ लेकर गुरु सेवा, व्रत-उपवासों आदि धार्मिक कार्यों को बहुत ही हर्षोल्लास पूर्वक करके हमारे जीवन को धन्य बनाने का सफल प्रयास किया ।

अन्त में मैं तपोनिधि १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के चरणों में व उनके संघस्थ सभी त्यागीजनों, मुनियों, आर्यिकाओं को शत शत बार प्रणाम करता हुआ, उनके सत्य वचनों को जीवन में उतार कर, जैन धर्म के सिद्धान्तों का पालन कर अपने जीवन को धन्य कर सकूं ऐसी शक्ति मेरे में संचित हो, साथ ही वीर प्रभु से परम पूज्य आचार्य श्री के दीर्घायुजीवन की मंगल कामना करता हूं ।

[श्री भागचंद जैन, प्रचारमंत्री दिगम्बर जैन मुनिसंघ प्रबन्ध समिति, जयपुर]

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हो रही है कि भगवान बाहुबलि सहस्र-शताब्दी महा-मस्तकाभिषेक के होने वाले समारोह के अवसर पर परम पूज्य चारित्रचक्रवर्ति आचार्य १०८ श्री शांतिसागरजी महाराज के तृतीय पट्टाचार्य परम पूज्य महान तपस्वी आचार्य शिरोमणि गुरुवर्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज के सम्बन्ध में अभिवन्दन ग्रंथ प्रकाशन समिति द्वारा अभिवन्दन ग्रंथ का प्रकाशन किया जा रहा है । इस ग्रंथ में आचार्य श्री के जीवन से सम्बन्धित जानकारी का समावेश किया जायेगा एवं जैन दर्शन साहित्य पर भी लेख प्रकाशित होंगे ।

जहां जहां भी पूज्य आचार्य श्री का पदार्पण होता है वहां पर धर्म की महती प्रभावना होती है, वहां एक प्रकार से धर्म गंगा ही बहती है, जिससे मनुष्यों को धार्मिक एवं सामाजिक शिक्षा का ज्ञान होता रहता है ।

आचार्य श्री के उपदेश बहुत सरल भाषा में आत्मा को शांति प्रदान करने वाले एवं बहुत ही मार्मिक होते हैं ।

आचार्य श्री त्याग, तपस्या एवं चारित्र की सजीव मूर्ति हैं जो गुण दिगम्बर जैन आचार्य में होते है वे पूज्य आचार्य श्री में विद्यमान हैं । आपकी सौम्यमुद्रा, मधुर वाणी निष्कपट एवं निश्चल भाव मनुष्य को सहज ही अपनी ओर आकर्षित करते हैं । आचार्य श्री हमेशा हसमुख एवं माधुर्य लिये हुए रहते हैं । जिससे हर मनुष्य के मन में आचार्य श्री के दर्शन करने की उत्कण्ठा बनी रहती है ।

राजस्थान की राजधानी गुलाबी नगरी जयपुर में करीब-करीब प्रमुख दि० जैनाचार्यों एवं मुनियों के चातुर्मास होते रहते हैं, लेकिन पूज्य आचार्य श्री का जो चातुर्मास १९६९ मे जयपुर में हुआ वह अपने आपमें जयपुर के जैन समाज के इतिहास में गौरवपूर्ण रहेगा, क्योंकि इस अवसर पर धार्मिक सम्मेलन व दिगम्बर जैन मुनि एवं आर्यिका दीक्षाओं का आयोजन हुआ । यह सभी दीक्षाये आचार्य श्री के द्वारा सम्पन्न हुई ।

ऐसे परम आदरणीय गुरु के चरणों में बारम्बार वंदन करते हुए उनकी दीर्घायु की शुभ कामना करता हूं जिससे मानवमात्र का कल्याण हो सके ।

महान् आचार्य

[श्री उमरावमलजी गोधा, जयपुर]

प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के निकट सम्पर्क में मैं सन् १९७७ से आया हूं। वैसे हमारा सम्पूर्ण परिवार साधु भक्त रहा है। हमारे पिता श्री के सप्तम प्रतिमा के व्रत थे। सन् १९७२ का चातुर्मास आचार्य श्री ने अजमेर किया था उससे पूर्व ग्रीष्मकाल में २० दिन का प्रवास मदनगंज (किशनगढ़) में हुआ था। यद्यपि उससे पूर्व भी और उस समय भी दर्शन-आहारदान आदि का सौभाग्य मिला था, किन्तु ४ वर्ष पूर्व जो समय आचार्य श्री के सान्निध्य में व्यतीत हुआ है वह आनन्दप्रद था।

सन् १९७७ का चातुर्मास आचार्य श्री ने किशनगढ़ में किया था। आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की परम्परागत आचार्य संघों में से यह सर्व प्रथम चातुर्मास था। किशनगढ़ आचार्य श्री वीरसागरजी व आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज का प्रवास क्षेत्र तो रहा किन्तु चातुर्मास यहां नहीं हुआ था। चातुर्मास से पूर्व आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज हरियाणा प्रान्त के रेवाड़ी नगर में विराजमान थे। वहीं मदनगंज–किशनगढ़ समाज ने आचार्य श्री से अपने नगर में आगामी चातुर्मास करने की प्रार्थना की थी। आचार्य महाराज ने जब अपने विशाल संघ सहित रेवाड़ी से विहार करना निश्चित किया तो ग्रीष्म ऋतु होते हुए भी प्रकृति का प्रकोप विशेष था। वर्षा के साथ-साथ ओले गिरे सब के मन में आशंका हो गई थी कि संघ का विहार अब कैसे होगा ? आचार्य श्री से निवेदन किया उन्होंने कहा कि घबराओ मत धर्म के प्रभाव से सब ठीक होगा। किशनगढ़ से कई लोग संघ को लेने के लिए गये थे। दूसरे दिन मौसम साफ था, संघ ने निर्णय के अनुसार विहार किया। निश्चित स्थान पर संघ एवं श्रावकगण पहुंच गए उसके कुछ समय पश्चात् ही पुनः वर्षा हुई और ओले गिरे। सब ने मन में सोचा कि यदि रास्ते में ही ओले गिरते तो साधुओं की क्या स्थिति होती, किन्तु क्षण भर के लिए हमारा इस प्रकार चिन्ता करना व्यर्थ सा लगा। जब आचार्य श्री जैसे पुण्यशाली ससंघ हमारे साथ थे अर्थात् उन जैसे महान् आचार्य का हम किशनगढ़ की ओर विहार करवा रहे थे तो फिर कैसे हम पर और संघ पर किसी प्रकार की आपत्ति आती। तीर्थंकर भगवान के समवशरण विहार में धर्म चक्र आगे-आगे चलता है, चक्रवर्ती के आगे-आगे चक्ररत्न होता है उसी प्रकार आचार्य श्री के आगे उनका पुण्य चक्र चलता है। यह बात मैंने स्वयं भी अनुभव की और अन्य कई लोगों के मुख से भी सुनी है। मैंने देखा रेवाड़ी से जयपुर तक लगभग १०० मील के लम्बे विहार मार्ग में एक भी जैन समाज का घर नहीं आया, किन्तु हम लोगों को अन्य किसी प्रकार की बाधा नहीं आई और प्रकृति का प्रकोप भी बाधक नहीं बना, संघ सकुशल जयपुर पहुंचा। उस वर्ष वर्षा अच्छी हुई थी। जयपुर से विहार कर जिस दिन आचार्य महाराज किशनगढ़ पहुंचे थे उस दिन नगर प्रवेश के समय आस पास के गांवों से जैन समाज एवं नगर की जैनेतर समाज भी आचार्य संघ के दर्शनार्थ उमड़ी थी। इससे पूर्व किशनगढ़ के इतिहास में धर्माचार्य के नगर प्रवेश के समय ऐसा उल्लास नहीं देखा गया। किसी राजनेता के आने पर भी इतना बड़ा जन समुदाय कभी एकत्रित नहीं हुआ था। आचार्य श्री के मंगल पदार्पण से जैन-जैनेतर सभी नागरिकों के मन में अपार हर्ष था। वर्षायोग के चातुर्मासिक काल में अपूर्व उत्साह समाज में रहा अनेक अभूतपूर्व आयोजन हुए जिससे महान् धर्म प्रभावना हुई। जैन व जैनेतर समाज में भी आचार्य महाराज को सभी लोग "बड़े बाबा" के नाम से जानते थे और आज भी उसी नाम से उनका स्मरण करते हैं। अभी भी जैन समाज से

भी अधिक जैनेतर समाज आचार्य महाराज के एक बार पुनः मंगल दर्शन की अभिलाषा रखती है और उनके किशनगढ़ आने की प्रतीक्षा करती है।

मैं आचार्य श्री के चरणों में बारम्बार नमोऽस्तु करते हुए यही भावना करता हूं कि आचार्य महाराज चिरायु हों जिससे विश्वभर में जैन धर्म का प्रचार प्रसार उनकी वाणी के द्वारा होता रहे और हम लोगों को उनके दर्शनों का पुण्य लाभ मिलता रहे, आत्मकल्याण हेतु उनका मार्ग दर्शन मिलता रहे।

प्रणामाञ्जलि

[डॉ० विनयमोहन शर्मा, रिटायर्ड प्रोफेसर एवं डीन, विश्वविद्यालय भोपाल]

श्री १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के अभिवन्दन ग्रंथ के प्रकाशन की योजना अभिवन्दनीय है। धार्मिक महापुरुषों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को ज्ञातकर जन सामान्य का निश्चय ही मार्गदर्शन होता है। पूज्य महाराजश्री का जीवन पुञ्जीभूत आलोक है जिसके प्रकाश से जन सामान्य अपना लौकिक तथा पारलौकिक मार्गदर्शन प्राप्त कर सकता है। आचार्य श्री के चरणों में मेरी शतशः प्रणामाञ्जलियां ज्ञात हों।

श्रद्धा सुमन

[श्री डॉ० प्रेमचन्द रांवका एम. ए., पी. एच. डी., जयपुर]

भारतीय श्रमण–साधु-परम्परा के संवाहक संसार-सागर से पार उतारने में एक मात्र अवलम्बन आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का समग्र जीवन धर्माराधन के उत्तम मार्ग में लोकैषणा से निस्पृह व्यक्तित्व का धारक है। जिनके दर्शन मात्र से प्राणी मात्र एक नवीन ज्ञानज्योति, स्फूर्ति एवं प्रेरणा प्राप्त करता है। दिगम्बर सन्तों में आपका जीवन अत्यन्त गौरव एवं श्रद्धा का आधार केन्द्र है। आपके दिव्य-मार्ग दर्शन में अनेक आत्माओं ने शिवपथ पर आरूढ़ हो स्व-पर कल्याण का कार्य सम्पन्न किया है। आपकी संयम और सौम्य आकृति का दर्शन कर मानव समता रस का पान करता है।

ऐसे स्वपर हितैषी, अध्यात्म योगी, प्रेरणादीप मुनिराज का भगवान बाहुबलि के पावन महामस्तकाभिषेकोत्सव के अवसर पर अभिवन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन जैन धर्म, दर्शन, साहित्य और इतिहास की गौरवशाली प्रभावना में महती भूमिका का सम्पादन करेगा।

इस शोभन कार्य के लिए आप लोगों को साधुवाद।

आचार्य श्री शतायु हों

[श्री राजकुमारजी सेठी, डीमापुर]

भगवान बाहुबलि के महामस्तकाभिषेक के शुभावसर पर परम पूज्य प्रात: स्मरणीय, अध्यात्मयोगी दिगम्बर जैनाचार्य चारित्र चूड़ामणि १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज का अभिवन्दन ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है, जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। वर्तमान युग में आचार्य श्री धर्मसागरजी द्वारा जैन धर्म का जो प्रचार और प्रसार में योगदान है वह वन्दनीय है। उनके दिखाये हुए मार्ग पर चलकर ही आत्मकल्याण संभव है। आचार्य श्री शतायु हों मैं उनके चरणों में सादर त्रिबार नमोस्तु करता हूं।

श्रद्धा सुमन

[श्री पन्नालाल सेठी, डीमापुर]

प० पू० प्रात:स्मरणीय, प्रशान्तमूर्ति, चारित्रशिरोमणि आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज के अभिवन्दनार्थ अभिवन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

आचार्य श्री का समग्र जीवन त्याग-तपश्चर्या से अत्यन्त निर्मल है तथा चारित्र-संयम का आधार है। आगमविहित रत्नत्रय का आप स्वयं पालन करते हैं एवं शिष्य वर्ग को उसके पालन में तत्पर करते हैं। ज्ञान-ध्यान में सदैव तत्पर रहने वाले आचार्य महाराज का जीवन अत्यन्त सरल-शान्त-सौम्य मुद्रा युक्त है। आपके उपदेशों की प्रेरणा से धर्म के भावी कर्णधारों (बालक-बालिका) में धार्मिक शिक्षा की जागृति हेतु स्थान-स्थान पर धार्मिक पाठशालाओं का आयोजन समाज द्वारा किया जाता है।

मैं आचार्य श्री के प्रति अपने हार्दिक श्रद्धा सुमन समर्पित करते हुए उनके चरण-युगल में कोटि-कोटि नमन करता हूं तथा जिनेन्द्र भगवान से प्रार्थना करता हूं कि आपकी छत्रछाया में चतुर्विध संघ चिरकाल तक आत्मोन्नति का मार्ग प्राप्त करता रहे।

श्रद्धा सुमन

[डॉ० राजाराम जैन, आरा]

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि आपकी समिति चरणपूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के अभिवन्दन हेतु एक ग्रन्थ प्रकाशित करने जा रही है। पूज्य आचार्य श्री ने धर्म-प्रभावना के साथ-साथ स्वस्थ समाज निर्माण एवं राष्ट्रहित में जो सत्कार्य किए हैं, वे अविस्मरणीय हैं। नवीन पीढ़ी के लिए उनकी सत्प्रेरणाएँ कल्याणकारी रही हैं। ऐसे सन्त महापुरुष के लिए आप अभिवन्दन-ग्रन्थ भेंटकर उनका नहीं अपितु स्वयं समाज का ही अभिवन्दन करने जा रहे है। आचार्य श्री के चरणों में मेरा प्रणाम।

श्रद्धा सुमन

[श्री सीताराम पाटनी, कलकत्ता]

कलकत्ता महानगर के दि० जैन नवयुवक मण्डल के तत्त्वावधान में आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के अभिवन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन समयोचित कार्य है। वस्तुतः आचार्य श्री का जीवन महान है। आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की परम्परा में वे चतुर्थ आचार्य हैं। आपका आचार्यपद १२ वर्ष पूर्व शांतिवीर नगर पंचकल्याणक के अवसर पर फाल्गुन शुक्ला ८ सं० २०२५ को विशाल जनसमुदाय के मध्य समस्त मुनिसंघ के द्वारा हुआ था। आपके आचार्य पद के समय मैं भी उपस्थित था। आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के स्वर्गवास के पश्चात् मुनिसंघ को आपका सक्षम एवं कुशल नेतृत्व प्राप्त हुआ है।

आप अत्यन्त सौम्य-सरल एवं शान्त परिणामी हैं। भौतिकवाद मे रचे पचे जगत को आर्ष सम्मत आपके मृदुल उपदेश मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। लोकरञ्जना से अत्यन्त दूर रहते हुए धर्माराधन पूर्वक दृढ़ चारित्र युक्त आपका जीवन मोक्षमार्ग का साक्षात् दिशा निर्देशक है। आपके करकमलों द्वारा अनेकों जीवों ने दीक्षा धारण कर मोक्ष मार्ग प्राप्त किया है तथा आत्मा को कल्याण के मार्ग में लगाया है।

मैं परम पूज्य प्रातःस्मरणीय आचार्य श्री के चरण कमलों में कोटि-कोटि नमोऽस्तु करते हुए अपने श्रद्धा सुमन सर्मापित करता हूं तथा वीर प्रभु से उनके सारोग्य दीर्घजीवन की कामना करता हूं। आपकी पवित्र छत्रछाया चतुर्विध संघ को चिरकाल तक आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करती रहे।

जीवन ज्योति

[श्री अनिलकुमारजी जैन, शान्ति रोडवेज, दिल्ली]

मानव हृदय में अनेकानेक सद् वा असद् वृत्तियों का निवास होता है। हृदय में भावों के अनुसार पुण्य-पाप सत्य-असत्य, दया व निर्दयता के मध्य निरन्तर द्वन्द्व चलता रहता है। मानव हृदय की कोमल वृत्तियां कभी-कभी कठोरता के कोहरे से दब कर प्रभाव हीन हो जाती हैं या असद् वृत्तियों की ओर दौड़ने लगता है, परन्तु यह क्रिया अल्पकालिक होती है। अनुभव के आधार पर विचारकों ने यह निर्णय दिया, कि अन्तिम विजय सद्वृत्तियों की ही होती है। जिसके सहारे मानव धर्म की ओर बढ़ता है। आचार्य श्री धर्मसागर महाराजजी सत्य मार्ग अपना कर आत्म उन्नति के लिये प्रयत्नशील हैं, पू० आचार्य श्री मेरे जीवन में सदैव प्रेरणा के स्रोत रहे हैं तथा मेरे जीवन के निबिड़ अन्धकारमय पथ पर जीवन ज्योति प्रदान करने वाले पथ प्रदर्शक रहे हैं। आचार्य श्री के चरणों में शत शत वन्दन है मेरा।

विनयांजलि

[श्री कन्याणचन्द पाटनी, कलकत्ता]

प० पू० चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के परम उपकारों से समस्त मुनिभक्त समाज उपकृत है, जिनकी महती कृपा से सैकड़ों वर्षों के पश्चात् दक्षिण से उत्तर की ओर दिगम्बर मुनिसंघ का विहार हुआ और समस्त ग्राम-नगर-जनपद आदि में स्थित दर्शनेच्छुक जनों ने शास्त्रों में वर्णित चारित्रमूर्ति दिगम्बर मुद्राधारी मुनिराजों के दर्शन कर अपना जीवन सफल बनाया तथा तपश्चरण एवं रत्नत्रय के जीवन्त मूर्तिमान सप्तऋषि संघ के दर्शन-उपदेश श्रवण आदि करके अपने जीवन को यथाशक्ति व्रत-नियम आदि से संस्कारित किया।

इसी परम्परा में प० पू० १०८ आचार्य श्री वीरसागरजी, आचार्य १०८ श्री शिवसागरजी एवं आचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी ने आचार्य पद को सुशोभित किया एवं अपने-अपने आचार्यकाल में चारित्र धर्म की महती प्रतिष्ठा की है। आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के द्वारा प्रदत्त आचार्य पद पर श्री वीरसागरजी और उनके पश्चात् मुनिसंघ द्वारा प्रदत्त आचार्य पद पर आचार्य शिवसागरजी महाराज प्रतिष्ठित हुए हैं। २० वीं सदी की आचार्यपट्ट परम्परा में वर्तमान आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज सुशोभित है। आप अत्यन्त सरल परिणामी व्यक्तित्व के धनी हैं तथा पूर्वाचार्यत्रय के द्वारा आगमविहित चारित्रधर्म का परिपालन बड़ी दृढ़ता से स्वयं भी कर रहे हैं और शिष्यवर्ग को आगमानुसार चारित्र पालन में लगाते हैं। आर्ष परम्परा के आप प्रबल समर्थक हैं उसके विरुद्ध आप एक भी शब्द सुनना नहीं चाहते। भगवान् महावीर के २५०० वे परिनिर्वाणोत्सव में आपका योगदान अपूर्व था और आपके उस प्रसंग पर उपस्थित रहने से दिगम्बर संस्कृति को पूर्ण संरक्षण मिला है।

प्राणीमात्र के प्रति समान बुद्धि से आचार्य श्री के जीवन में समुद्रवत् गम्भीरता परिलक्षित होती है। आपके चरणों में बैठकर अपार शान्ति का अनुभव होता है। आचार्य श्री ने अनेकों भव्य जीवों को महाव्रत-देशव्रत आदि रूप चारित्र प्रदान कर मोक्षमार्ग में लगाया है। मैंने आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त किया है वे वर्तमान भौतिक प्रधान युग के अद्वितीय आध्यात्मिक मुनि संत हैं जिनकी प्रेरणा एवं उपदेशो से समाज में आर्ष परम्परा के प्रति संचेतना जागृत हो रही है।

अभिवन्दन की इस परम पावन बेला में मैं प० पू० आचार्य श्री के मंगल चरण युगल में अपनी हार्दिक विनयाञ्जलि समर्पित करता हूं तथा त्रिधा त्रिकाल शतश: प्रणाम करते हुए उनके सारोग्य दीर्घजीवन की मंगल कामना करता हूं।

कोटि कोटि है नमन हमारा

[श्री गुलाबचन्द गोधा, मदनगंज–किशनगढ़]

नीर के समान निर्मल जिनका मन है, उन प्रात:स्मरणीय परम पूज्य चारित्र तपोनिधि, जिनधर्म प्रसारक, शान्त, धीर मुद्राधारी, बालब्रह्मचारी १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के चरणों में नमन करते हुए हृदय में जो प्रसन्नता एवं मन भाव विभोर हो जाता है, उसका कथन अवर्णनीय है। ऐसे गुरुवर, जिनका प्राणीमात्र के उद्धार हेतु समान दृष्टिकोण हो और मर्यादा के प्रति निडर होकर राजा रंक से परे रह स्पष्ट कथन एवं तदनुरूप आचरण हो। उन आचार्य श्री के चरणों में कोटि कोटि नमन करता हूं।
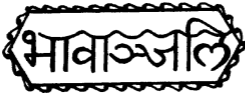
[श्री कल्याणमल झांझरी, कलकत्ता]

आचार्य प्रवर शांतिसागरजी महाराज के प्रशिष्य एवं आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के द्वितीय मुनि शिष्य प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज अत्यन्त प्रशांत समुद्रवत् गम्भीर हृदय साधुराज हैं। उनकी धर्ममय ओजस्वी वाणी में सिंह गर्जना होती है जो कि आत्मकल्याण के पथ से भटके मानव को पुनः पथ पर लाने में समर्थ होती है।

दृढ़चरित्र, सिंहवृत्ति साधुराज प० पू० आ० क० श्री चन्द्रसागरजी महाराज एवं प० पू० चारित्रमहोदधि आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज की पवित्र चरणछाया में आपने अपने जीवन को संस्कारित किया है। आपके जीवन में स्पष्टवादिता के साथ-साथ निस्पृहता भी पायी जाती है। व्यर्थ के प्रपंचों में न पड़ते हुए आपका सारा समय ज्ञान-ध्यान एवं तप में लीन रहते हुए व्यतीत होता है।

मैं महामना आचार्य श्री के प्रति अपनी भावाञ्जलि समर्पित करते हुए उनके चरणों में कोटि-कोटि वन्दन करता हूं।

पुण्य व पवित्रता के संगम आचार्य श्री

[श्री सुरेशचन्द्र जैन, दिल्ली]

प० पू० आचार्य श्री आज इस विशाल भारत के ही नहीं बल्कि सारे विश्व के महान् निर्ग्रन्थ सन्त हैं। वर्तमान काल में आपके द्वारा सच्चे दिगम्बर जैन धर्म की पताका सारे भारतवर्ष में फहरा रही है। आचार्य श्री में पर्वत जैसी दृढ़ता, समुद्र जैसी गम्भीरता, आकाश जैसी निर्मलता तथा पुष्प जैसी कोमलता है। मेरा सौभाग्य है कि आचार्य श्री धर्मसागरजी का दर्शन, वन्दन यदा-कदा होते ही रहते हैं, दिल्ली का चातुर्मास इतिहास का स्वर्णिम अध्याय माना जायेगा।

पुण्य व पवित्रता के संगम स्वरूप गुरुदेव के प्रति अपनी पुष्पांजलि अर्पित करता हुआ मंगल कामना करता हूं कि आचार्य श्री हम व समाज को सद्धर्म का उपदेश देते हुए इस धराधाम को सुशोभित करते रहें।

बीसवीं सदी के महान साधक

[श्री अशोककुमार गदिया, अजमेर]

पापाचार अनाचार के भयंकर दावानल से सतत् संतप्त हो रही मानवता को सही मार्ग में लाना महापुरुषों का ही कार्य है। सच्चे सन्त के उभय जीवन में अनुपमेय एकरूपता उनके मानसिक वाचनिक कायिक कार्यों में आकर्षक रहता है। महा मनिस्वियों के वरदायी चरण जहां तहां पहुंचते हैं वहां उनके चमत्कारी व्यक्तित्व का कल्याणकारी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। पूज्यनीय परम तपस्वी जैनाचार्य धर्मसागरजी महाराज की प्रतिभा बहुमुखी है, आचार्य श्री का चमत्कार देखकर लोग दांतों तले उंगली दबा लेते हैं। निस्पृही वृत्ति, सूत्र रूप वचन, सिंहप्रवृत्ति के धारक आज की बीसवीं सदी में इस प्रकार के साधु का मिलना कठिन ही है। आचार्य श्री के पुनीत चरणों में शत-शत वंदन।

श्रद्धा सुमन

[श्री राजकुमार जैन, महका (सागर)]

इस युग के महान प्रभावक एवं मुनिमार्ग के आविर्भावक परम पूज्य तपोनिधि १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की परम्परा का पूर्णत: निर्वाह करने वाले प्रातः स्मरणीय परम पूज्य १०८ आचार्य वीरसागरजी एवं १०८ शिवसागरजी महाराज के पश्चात् धर्म का निर्भयता पूर्वक प्रतिपादन करने वाले प. पू. आचार्य १०८ धर्मसागरजी महाराज शतायु होकर धर्म का प्रतिपादन करते रहें ऐसी मेरी हार्दिक भावना है। मेरा पूज्य श्री से करीब १० वर्ष से व्यक्तिगत सम्पर्क है। महाराज के व्यक्तित्व में जो असाधारण शांति एवं प्रभावकता मैंने अनुभव की है वह अन्य मुनियों में दुर्लभ है। मैं आचार्य श्री के चरणों में कोटि-कोटि श्रद्धा अर्पण करता हूं।

मंगल कामना

[श्री मोतीलालजी लखोटिया, अध्यक्ष, मदनगंज व्यापार मंडल, मदनगंज]

यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज की अभिवंदना हेतु ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है, वास्तव में ऐसे ग्रन्थों से उनके चारित्रिक संस्मरणों को पढ़ कर एवं उनके जीवन चरित्र को ज्ञात कर मनुष्य मात्र को आध्यात्मिक लाभ लेने की प्रेरणा मिलती है। आचार्य श्री का किशनगढ़ में सम्पन्न हुआ चातुर्मास काल किशनगढ़ की जैन समाज ही नही वरन अन्य समाज के लिए भी अविस्मरणीय रहेगा। उनकी सदैव मुस्कराती शान्त मुद्रा दर्शनार्थियों को बिना कुछ कहे सुने भी सन्मार्ग की ओर बढ़ने की प्रेरणा देती थी। मैं कामना करता हूं कि ऐसे सन्त चिरजीवी हों और मनुष्य समाज को आध्यात्मिक मार्ग की ओर बढ़ने में प्रेरणादायी हो।

विनयाञ्जलि

[श्री जयरामदास आसूवानी, महामंत्री-किशनगढ़ क्लोथ मर्चेन्ट्स एसोसियेशन, मदनगंज]

दिगम्बर जैन धर्म के परम पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का मदनगंज-किशनगढ़ में चातुर्मास होने पर मुझे उनके दर्शनों एवं वार्ता का लाभ प्राप्त हुआ। उनके सम्मुख जाने पर उनके द्वारा हंसते हुए अत्यन्त ही अपनत्व लिए सम्बोधन करने पर जो आनंद आता था उसे लिख पाना मेरे लिए असंभव ही है। दिगम्बर जैनियों के अतिरिक्त अन्य जातियों के लोग भी उनके पास बिना किसी संकोच के दर्शनार्थ जाते थे और उनके उपदेश का आनंद उठाते थे। उनके पास बैठकर चर्चा करते समय सभी व्यक्ति जाति और धर्म भेद भूल जाते थे और उनकी निष्कपट वार्ता से लाभ उठाते थे। ऐसे महान् आचार्य युगों-युगों तक प्राणीमात्र को लाभान्वित करते रहें और एक बार पुन: किशनगढ़ में उनका चातुर्मास हो ऐसी कामना करता हुआ उन्हें विनम्र विनयाञ्जलि अर्पित करता हूं।

☼

श्रद्धा सुमन

[डाक्टर एस. एस. जैन एम. ए. एम. डो. (होम्यो.) मदनगंज-किशनगढ़ उपाध्यक्ष अजमेर जिला विश्व हिन्दू परिषद् एवं मंत्री-अणुव्रत समिति]

मुझे प्रसन्नता है कि आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के मदनगंज-किशनगढ़ के चातुर्मास के समय मुझे भी उनकी सेवा करने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ था। मेरी यह भावना है कि आचार्य श्री ने जो धार्मिक व सांस्कृतिक प्रतिबोध करने का कार्य प्रारम्भ किया है वह प्रशंसनीय है तथा मनुष्य जीवन को आदर्श जीवन बनाने में सहयोगी है मैं आचार्य श्री के दीर्घ जीवन, उत्तम स्वास्थ्य की हृदय से कामना करता हूं और मुझे पूर्ण विश्वास है कि सभी मनुष्य आपके मार्ग पर चलकर अपना जीवन सफल बनायेंगे।

☼

धर्मपताका

[श्री आशाराम सोहनलाल सर्राफ, छपरौली (यू. पी.)]

अनादि काल से तीर्थंकरों के अनन्तर दिगम्बर जैनाचार्यों के द्वारा धर्म रक्षण एवं प्रभावना होती आई है, जब-जब धर्म पर संकट आया तब-तब आचार्यों ने सन्मार्ग दिखाया इसी आचार्य परम्परा में चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के पट्टाचार्य श्री आचार्य धर्मसागरजी महाराज का नाम गौरव से लिया जा सकता है। आपके तप, त्याग, संयम की पताका सारे विश्व में छाई हुई है। आपके सदुपदेश से जो हजारों मानवों को सद्मार्ग मिला वह आपके वात्सल्य गुण का कारण है।

आप युगयुगान्तरों तक भव्यात्माओं को सन्मार्ग पर चलने का उपदेश देते रहें, इसी मंगल कामना के साथ नमन करता हूं।

☼

निस्पृही-साधक

[श्री निर्मलकुमारजी सेठी, सीतापुर अध्यक्ष–अ० भा० दि० जैन महासभा]

प० पू० प्रातः स्मरणीय आचार्यप्रवर श्री धर्मसागरजी महाराज का जीवन अत्यन्त निस्पृह साधक का जीवन है। मैंने उनके सर्वप्रथम दर्शन दिल्ली महानगर में २५०० वे परिनिर्वाणोत्सव के अवसर पर किये थे। उसके पश्चात् बड़ौत आदि कई स्थानों पर भी किये हैं। महाराज श्री के दर्शन मात्र से मन में सरलता के भाव तथा निस्पृहता के भाव उमड़ आते हैं। प्राणी मात्र को अपने चारित्र को दृढ़ करने के लिए उनका निर्मल चारित्र पूर्ण संदेश का कार्य करता है।

भोगप्रधान इस युग में ऐसी निस्पृही आत्मा के आदर्श जीवन से हमें परोपकार व त्याग का सबक लेना चाहिए। अहम् का त्याग कर समाज के हर कार्यों में भाग लेकर दिगम्बर परम्परा को अक्षुण्ण रखने में योगदान देवें तथा संसार में अन्य धर्मावलम्बियों के समक्ष एक महान् आदर्श उपस्थित करें।

जैनधर्म संसार का प्राचीनतम व महान् वैज्ञानिक धर्म है। आचार्य श्री ने 'Example is better than Preceps' अंग्रेजी के इस उद्धरण को अपने में संजोकर सारी मानव जाति को यह सबक दिया है कि आत्मसुख भोग मे नहीं, अपितु त्याग में है। प्रत्येक व्यक्ति का अन्तर्मन उनको देखकर, उनके आदर्श चारित्रिक जीवन में निस्पृहता, सरलता, सौम्यता को अनुभव कर यह कह उठता है कि ऐसे महान साधक अनेकानेक वर्ष जीवित रहे और सारे जगत् के प्राणियों का कल्याण करें। मैं आचार्य श्री के परम पावन चरण कमलों में श्रद्धा-भक्ति पूरित विनयांजलि समर्पित करते हुए जिनेन्द्र भगवान से प्रार्थना करता हूं कि उनकी सुदीर्घ छत्र-छाया समाज को चिरकाल तक प्राप्त होती रहे। मै आचार्य श्री को कोटि-कोटि नमन करता हूं।

समाज के लोग ऐसी महान विभूति का अभिवन्दन करके अन्य प्राणियों को इस मार्ग में चलने के लिये प्रेरित करेंगे इस दृष्टि से मैं इस कार्य को स्तुत्य कहूंगा।

☼

समाज का नेतृत्व

[श्री गणेशीलालजी रानी वाला, कोटा]

यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता एवं परम सौभाग्य की बात है कि परम पूज्य तपोनिधि आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का अभिवन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है, पूज्य गुरुवर्य जैन समाज एवं संघ का नेतृत्व अत्यन्त कुशलता एवं धर्म परायणता पूर्वक कर रहे हैं। आपकी तप साधना, चारित्र एवं प्रखरता जैन समाज के लिये अत्यन्त गौरव एवं गर्व का विषय है। इस अवसर पर मैं विनय पूर्वक श्रद्धा भक्ति प्रस्तुत करता हूँ एवं कामना करता हूँ कि आचार्य श्री दीर्घायु होवें एवं समाज तथा संघ का नेतृत्व इसी प्रकार करते रहे।

☼

वे गुरु चरण जहाँ धरे जग में तीरथ जेह

[श्री हरकचंदजी सरावगी, सभापति : श्री अखिल भा० शांतिवीर दि० जैन सिद्धांत सं० सभा श्री महावीरजी]

प० पू० १०८ आचार्यवर श्री धर्मसागरजी महाराज के दर्शन करने का सौभाग्य प्रायः मिल जाता है। जब जब दर्शन करता हूँ, श्रद्धा पूरित हृदय आनन्द से गद्‌गद हो जाता है। इस युग में भी ऐसे वीतरागी, निस्पृही, समदर्शी, महान तपस्वी साधु हो सकते हैं, बिना दर्शन किए एवं सान्निध्य प्राप्त किए, सहसा विश्वास नहीं होता। ऐसी अनुपम विभूति के चरण कमलों में मेरा त्रियोग पूर्वक बारम्बार नमोस्तु।

☆

मंगल आशीर्वाद

[पं० रवीन्द्रकुमारजी शास्त्री, हस्तिनापुर]

मुझे याद है कि १९७४ की बात जिस समय आचार्य श्री के विशाल संघ का पदार्पण दिल्ली में हुआ। दिल्ली का समस्त जन समुदाय यही कहता नजर आया कि हमने सच्चे तपस्वी मुनिराज के दर्शन किये हैं और आज ६ वर्ष बाद भी बराबर आचार्य श्री के दर्शनों के लिये लालायित रहते हैं। एक बात की प्रसन्नता है कि श्रवण-बेलगोला २२ फरवरी १९८१ में होने वाले महोत्सव में न जाकर भी आचार्य श्री ने राजस्थान में विद्यमान हो कर भी श्रवणबेलगोल में कोई आर्ष परम्परा विरुद्ध कार्य न होवें इसके लिये पूर्णतया लक्ष्य रखा और सफल भी हुए, यही तो आचार्य शान्तिसागरजी ने किया था। आचार्यत्व का उत्तरदायित्व इसी प्रकार हो जाया करता है। आचार्य भगवन्त कुन्द कुन्द स्वामी भी अपनी परंपरा की रक्षा में पीछे नहीं रहे जहां आवश्यकता पड़ी वहीं अपनी गरिमा के अनुरूप अनार्ष परंपरा का परिहार किया। मुझे आचार्य श्री के सान्निध्य में रहने का २ वर्ष तक सुअवसर प्राप्त हुआ, मैंने पाया कि आप अनुपम त्याग व निस्पृहता के आदर्श संत है। आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज ने २० वीं सदी में पुनर्जीवित किया था उसी परम्परा को आचार्य श्री अबाध गति से चला रहे हैं।

सन् १९७५ में हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप स्थल पर भगवान महावीर स्वामी की प्रतिमा का पंच कल्याणक हो रहा था आपने अपना मंगल आशीर्वाद दिया कि दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान का जम्बूद्वीप निर्माण कार्य शीघ्र सम्पन्न हो और आर्ष परम्परा का इस संस्था से प्रचार प्रसार यथावत होता रहे। आज वह दिन याद आता है जब आचार्य श्री ने यह शुभाशीर्वाद प्रदान किया था। हम आचार्य श्री के प्रति कृतज्ञ है। आचार्य महाराज के आशीर्वाद से संस्था पुष्पित और पल्लवित हुई अनेक आंधी

तूफानों के झंझावातों को झेलती हुई बसन्त-ऋतु की भांति समस्त जैन समाज के लिये सुरभित हो रही है। आचार्य श्री के गुणों का वर्णन करना तो शक्य नहीं है केवल एक ही प्रार्थना है कि आचार्य श्री दीर्घायु होकर हम सबको शुभाशीर्वाद प्रदान करते रहे इसीमें हमें परम सुख का अनुभव होगा।

☆

जीवन्त-तीर्थ

[डा० कैलाशचन्द्रजी, डिप्टीगंज-दिल्ली]

साधुनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थभूता हि साधवः ।
कालेन फलते तीर्थं, सद्यः साधु समागमः ।।

साधुजन जीवन्त तीर्थ हैं । जड़ भूत तीर्थ तो समय आने पर फल प्रदान करते हैं, किन्तु सत्साधुओं का समागम तत्क्षण ही उत्तम-शुभ फल प्रदान करता है । निर्ग्रन्थ-दिगम्बर साधुओं का समागम तो उभयलोक में सुख प्रदान करता है । वर्तमान में आगम प्राण आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का जीवन अत्यन्त गौरवपूर्ण तथा श्रद्धा का आधार केन्द्र है । आचार्य श्री इस युग के परम प्रकाश स्तम्भ हैं, श्रमणसंस्कृति के श्रेष्ठ उपासक और साधक तपस्वी रत्नत्रय के प्रकाशपुंज हैं । धर्म और आगम पर दृढ़ श्रद्धा रखने वाले ऋषिराज हैं आचार्य श्री निर्भीक और स्पष्ट वक्ता हैं । लोक रंजना और लोकेषणा से सदा दूर रहते हैं । भगवान महावीर स्वामी के २५०० वें निर्वाण महोत्सव वर्ष पर दिल्ली में पधार कर धर्म की अपूर्व प्रभावना की । वह दिल्ली के इतिहास का स्मरणीय पृष्ठ होगा । आपके पद विहार से जो ज्ञान, दर्शन व चारित्र की ज्योति जगाई जा रही है वह समाज के लिये चिरस्मरणीय रहेगी ।

इस भौतिक चकाचौंध में भी मानव जीवन के मौलिक सिद्धांतों का प्रत्यक्ष रूप में पालन करना खांडे की धार पर चलने के समान है । धन्य हैं आचार्य श्री उनके पुनीत चरणों में मेरा शतशः प्रणाम ।

☆

उत्तम दश लक्षण धर्मों के आराधक आचार्य श्री

[श्री मिश्रीलालजी काला, कलकत्ता]

महान पुनीत पर्वराज दश लक्षण पर्व पर हम प्रतिवर्ष दश लक्षण धर्म की पूजन किया करते हैं । जिस सिद्धान्त तथा विचार को हम जीवन में धारण कर समीचीन शाश्वत शान्ति का मार्ग प्रदान कर सकते हैं वास्तव में वही धर्म है । केवल पूजन, स्तुति एवं वन्दना मात्र से तथा उसके स्वरूप को जानने मात्र से आत्मिक कल्याण संभव नहीं है । दश धर्मों का जो विवेचन पूजा में किया गया है उसका एक देशरूप पालन करना श्रावक का कार्य है तथा सर्वदेश रूप पालन करना साधु वर्ग का कार्य है ।

चारित्रशिरोमणि आचार्यवर श्री धर्मसागरजी महाराज वस्तुतः एक आदर्श तपस्वी हैं जो उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य एवं ब्रह्मचर्य इन दश धर्मों को उत्कृष्टरूप में अवधारण किये हुए हैं । इस कलिकाल में भी ऐसे संयम शिरोमणि साधुजनों के पावन दर्शनों का सुयोग हमें प्राप्त हो रहा है यह हमारे लिए विशेष मंगलकारी बात है । ऐसे तरण तारण दिगम्बर धर्म के उन्नायक आचार्य युगों-युगों तक अपनी छत्र-छाया में संयम एवं साधना के मार्ग को प्रशस्त करते रहें इन्हीं अभिलाषाओं के साथ मैं आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के चरणों में अपनी श्रद्धा एवं भक्तिपूरित प्रणामांजलि समर्पित करता हूं ।

☆

तपस्वी स: प्रशस्यते

[श्री नागरमलजी जैन, अध्यक्ष : श्री दि० जैन सम्मेलन कलकत्ता]

महान तार्किक, उद्भट विद्वान आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में उन तपस्वीजनों की प्रशंसा की है जो विषय वासना की भावनाओं से रहित हैं, निरारम्भी हैं, अपरिग्रही हैं तथा जो ज्ञान, ध्यान, एवं तप में लवलीन रहते हैं। प्रशंसा एवं श्रद्धा के ये सुमन आज भी वर्तमान धर्म साम्राज्य नायक, प्रशान्तमूर्ति, आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के जीवन को सुरभित एवं मधुमित कर रहे है। जिन्होंने भी आचार्य श्री का सम्पर्क-सान्निध्य प्राप्त किया है वह बरबस ही उनकी अलौकिक साधनावृत्ति के प्रति अनुरंजित हो जाता है। कलिकाल के छिद्रान्वेषी अपनी निकृष्ट प्रवृत्ति के प्रचार हेतु कुत्सित एवं असफल प्रयास कर कर्म कालिमा के गुरुतर भार को वहन कर अपने जीवन को अधोगति में ढकेलने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु ऐसी वृत्तिधारी जनों के प्रति भी आचार्य श्री के अंतस् में अत्यन्त करुणाभाव उद्वेलित हो उठता है और वे उन्हें वीतराग भाव से सम्बोधित कर सन्मार्ग पर आरूढ़ होने के लिए प्रेरित करते रहते हैं। निरन्तर ज्ञान, ध्यान एवं तप में लवलीन रहने वाले ये महर्षिजन जन-जन का मंगल करते हैं, इनका मंगल समागम हम सब का अमंगल हरता है। मैं ऐसे श्रेष्ठ आचार्य श्री के प्रति त्रिबार नमोस्तु करता हूं।

☼

आचार्य धर्मसागरजी त्याग की मूर्ति

[श्री भगतरामजी जैन, दिल्ली]

आचार्य धर्मसागरजी के दर्शन करने का मुझे प्रथम अवसर जिस समय वह दिल्ली पधार रहे थे, आदरणीय साहू शान्तिप्रसादजी के साथ गुड़गांव-हरियाणा में मिला था। उसके बाद दिल्ली में चातुर्मास व उसके पश्चात् बाद में अन्य क्षेत्रों में भ्रमण करके वापस दिल्ली आने पर कई बार दर्शन हुए व उनके विचार भी सुनने का अवसर मिला। मैंने यह देखा कि वे अपनी प्रतिष्ठा एवं प्रचार की भावनाओं से दूर हैं। अपनी दिनचर्या, धर्मध्यान एवं गृहस्थियों को धर्मसाधना की प्रेरणा में ही व्यतीत होता है। उनसे कई विषयों पर चर्चा भी हुई, परन्तु उनकी भावनाओं से यह स्पष्ट लगा कि वे किसी प्रकार के वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहते है। उनका जो भी अपना विचार जिस विषय में होता है वह स्पष्ट रूप से कह देते हैं। उनकी क्रियाओं में बड़ी सादगी होती है। वे आज दिगम्बर जैन समाज में प्रमुख आचार्य पद पर विराजमान हैं तथापि उनमें किसी प्रकार का अभिमान प्रतीत नही होता। ऐसे त्यागी समाज में बहुत कम हैं। मैं अपने श्रद्धा के सुमन उनके चरणों में अर्पित करता हूँ।

☼

पुण्य चरणों में श्रद्धा सुमन

[पं. मामचन्दजी जैन सर्राफ, दिल्ली]

भारतीय समाज के जीवन में गंगा नदी को जो महत्व है उसे कौन नहीं जानता। परम पू० आचार्य धर्मसागरजी महाराज भी स्वयं में एक ऐसी ही ज्ञान-गंगा हैं, जिसके तीर पर पहुँच कर मानव मात्र एक घूंट भर ज्ञान वारि का आचमन करके ही अज्ञानी जन अपने समस्त जीवन के अज्ञान कलुष को धो सकते हैं।

परोपकाराय सतां विभूतयः।

ऐसे महाज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, त्यागी आचार्य महानात्मा के पुण्य चरणों में हम विशुद्ध अन्तःकरण से अपने हार्दिक अभिवन्दन एवं श्रद्धा-सुमन सादर अर्पित करते हैं।

श्रद्धा सुमन

[श्री गुलसनरायजी, नई मंडी, मुजफ्फरनगर]

पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी के दर्शनों का सौभाग्य कई बार प्राप्त हुआ। उनके चरणों में बैठने और प्रवचन सुनने के अवसर भी बहुत मिले। निस्पृह और निस्वार्थ एवं धार्मिक आचारवन्त उनके आदर्श जीवन से बहुत कुछ सीखने को भी मिला। ऐसे आचार्यों के विचरण एवं उपदेश से ही आज के भौतिकवादी और निरंतर ढीले पडते जा रहे हैं नैतिक अवमूल्यन के समय में कुछ नैतिक मूल्य अभी भी शेष हैं। आपके द्वारा पिलाये जा रहे धर्मामृत पान से जन साधारण को, धर्मपिपासु जनता को नव प्राण मिले। आचार्य श्री का जीवन धर्म की साक्षात मूर्ति है जो आत्म साक्षात्कार के साथ तपोमय जीवन की प्रेरणा देता है।

अपनी आत्मिक श्रद्धा के दिक् आलोक में आचार्य श्री के चरणों में शत-शत श्रद्धा सुमन अर्पित हैं।

चारित्रिक उच्च परंपराओं से गौरवान्वित

[श्री ताराचंदजी पाटोदी मदनगंज–किशनगढ़]

[जिला उपमंत्री अजमेर शाखा, राजस्थान व्यापार उद्योग मंडल, जयपुर]

अलौकिक दिव्य आभा के धनी पतितोद्धारक परम पूज्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के किशनगढ में सम्पन्न हुए चातुर्मास के अवसर पर न केवल जैन अपितु अजैन भी उनकी ओर स्वतः ही आकर्षित होकर उनके चरणों में नतमस्तक हो, अपने आपको पुण्यवान अनुभव करते थे। उनका यहाँ का प्रवासकाल का पावन स्मरण आज भी हर छोटे बड़ों के हृदयपटल पर अंकित है। हर छोटा बड़ा, गरीब अमीर बिना किसी वर्ग एवं वर्ण भेद के जल के समान निर्मल हृदय के धारक आचार्य श्री की पावन दृष्टि से अभिभूत होता था। आचार्य पद को अपने चारित्रिक उच्च परंपराओं से गौरवान्वित कर हम सबका मस्तक उन्नत करने वाले उन निस्पृही आचार्य श्री को उनके अभिवन्दन ग्रंथ के प्रकाशन पर कोटि कोटि नमन करता हूँ।

युग के देवत्व ऋषि

[पं० बिमलकुमारजी सोरया, M A., शास्त्री]

प्रातः स्मरणीय दिगम्बर जैनाचार्य धर्मसागरजी महाराज इस मुनि परम्परा के बीसवीं सदी के चतुर्थ आचार्य हैं। सौम्यता, वात्सल्यता, समता और व्रताचरण की साकार मंजिल हैं। उनकी तपः साधना, ज्ञानाराधना उतनी ही महान है जितनी दिवाकर की आभा—उनका सर्वजन हिताय कल्याणकारी उपदेश अनेकों भव्यों के जीवन को उठाने में समर्थ कारण बना, ऐसे महान ऐतिहासिक पुण्य पुरुष आचार्य का अभिवंदन ग्रंथ निकालना धर्म, समाज और संस्कृति का अभूतपूर्व सम्मान है। मैं युगपुरुष आचार्य श्री के पावन चरणों में शत शत वन्दन करता हूँ।

यथा नाम तथा गुण सम्पन्न

[श्री राका जैन M.A., अलीगंज]

आज के भौतिकवादी युग में ज्ञानी, महात्मा पुरुष विरले ही हैं और ज्ञानरूपी अथाह जल के सागर आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज जैसे महापुरुषों का दर्शन करने वाले, उनके प्रति आदर भाव प्रकट करने वाले और उनके अनुयायी बनने वाले भी विरले ही हैं ऐसी स्थिति में 'अभिवन्दन ग्रन्थ' का प्रकाशन होना वस्तुतः सराहनीय है। उनके अनुयायियों का अहोभाग्य है और अहोभाग्य है 'आचार्य धर्मसागर अभिवन्दन ग्रन्थ' के समुदाय पाठकों का। जो आचार्य श्री के निर्मल व्यक्तित्व के साथ-साथ दर्शन-सिद्धान्त के पठनीय लेखों को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त होगा।

धर्मस्तम्भ, महान् चारित्र शिरोमणि, यथा नाम तथा गुण सम्पन्न, परम पूज्य आचार्य श्री के प्रति शत् शत् प्रणमन।

प्रातः स्मरणीय आचार्य

[श्री सुरज्ञानी बाकलीवाल, टोडारायसिंह]

वर्तमान में महाव्रतियों के नायक परम पूज्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के अभिवन्दन ग्रंथ के प्रकाशन पर यथा नाम तथा गुण, धर्म के साकार स्वरूप को शतशः नमन करता हुआ, उनकी धर्मामृत रूपी स्नेह दृष्टि सतत प्राप्त होती रहे, ऐसी कामना करता हूँ। आचार्य श्री के चरणों के सामीप्य से ही अमूल्य निधि प्राप्त होने से आनन्दानुभूति होती है उनकी वैयावृत्ति व नवधाभक्ति करने वालों को कितना आनन्द प्राप्त होता है, इसका तो वर्णन करना ही असंभव है। जिनका प्रातः स्मरण चिन्तामणि रत्न के समान है. उनके दृढ़ चारित्र से त्यागी वृंद एवं गृहस्थ गण अपनी आत्मोन्नति की ओर अग्रसर हों, ऐसी भावना करता हूँ।

विनयाञ्जलि

❖ श्री पांचूलालजी जैन
[कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज–किशनगढ़]

परमपूज्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के स्मरण मात्र से ही अन्तरंग में भक्ति रूपी सरिता प्रवाहित हो जाती है, उनके दर्शनों से प्राप्त होने वाले आनन्दानुभूति की अभिव्यक्ति कर देना किसी के लिये भी सहज नही है। उनके सन्मुख आने वाले प्राणी पर चाहे वह कोई बड़े महापुरुष की श्रेणी में आता हो चाहे छोटा हो, बालक हो या वृद्ध हो, पंडित हो या अनपढ हो सभी पर समान धर्मामृत पूरित स्नेह दृष्टि रहती है।

आचार्य श्री की सरल, सहज व प्रसन्नचित्त मुद्रा एवं उनकी तपस्या के समक्ष धुरन्धर विद्वानो का पाण्डित्याभिमान भी गलित हो जाता है। बिना किसी लाग लपेट के स्पष्ट कथन और निर्भीकता उनके वर्चस्व का प्रतीक है। विशाल मुनिसंघ का संचालन एवं उनकी श्रेष्ठता पर पैनी दृष्टि, तथा आचरण पर कठोर नियन्त्रण आचार्य पद की गौरवता को प्रतिपादित करता है। किशनगढ़ में उनके चातुर्मास के समय बहुत नजदीक से उन्हें देखने पर उनके चारित्र रूपी पुस्तक के ऐसे ऐसे स्वर्ण पृष्ठ देखने को मिले जिन्हे लख कर हम कृत कृत्य हो गये। वीर की सन्तान हो, वीर बनो, क्यों कायर बनते हो, ऐसी प्रेरणादायी स्पष्ट व्याख्या उनके मुख कमल से सुनकर श्रोतागण मन ही मन आत्म विवेचन करने लग जाते है, आचार्य श्री की प्रवचन शैली बहुत ही सार गर्भित एवं मार्मिक है।

ऐसे निर्लिप्त व निर्विकार तथा ख्याति से सदैव दूर रहने वाले परम तपस्वी आचार्य श्री के अभिवन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन का कार्य अपने हाथ में लेकर श्री दि० जैन नवयुवक मण्डल कलकत्ता ने एक महान गौरवपूर्ण, प्रेरणादायी तथा अनुकरणीय कार्य किया है। ऐसे ग्रन्थ के मुद्रण करने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ जिसे मैं अपने जीवन की महान उपलब्धि मानता हुआ इस पुण्यदायी काय को अपनी पूर्ण लगन से अति सुन्दर सम्पन्न करने की कामना करता हूं।

युवा पीढ़ी को गुरुभक्ति की ओर आकर्षित करने व आचार्य श्री के जीवन चरित्र तथा संस्मरणों से कुछ लाभ प्राप्त कर धर्म मार्ग की ओर अग्रसर करने हेतु श्री दिगम्बर जैन नवयुवक मण्डल कलकत्ता बधाई का पात्र है। इस अवसर पर मै परमपूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के चरणों में परोक्ष विनयाञ्जलि अर्पित करता हुआ कामना करता हूं कि इस जीवन में बार बार उनके दर्शनों का लाभ अविरल रूप से प्राप्त होता रहे।

जिस प्रकार भूगर्भ में छिपी हुई अतुल सम्पदा के प्रगट होने पर अन्वेषक को जो खुशी होती है, उसी प्रकार की खुशी की अनुभूति परम पूज्य, तपोवृन्द, महान् तपस्वी, बाल ब्रह्मचारी पट्टाचार्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज के अभिवन्दन हेतु ग्रन्थ प्रकाशन पर मण्डल को हो रही है। आचार्य श्री का जीवन चरित्र, उनकी तपोसाधना तथा संस्मरण भूगर्भ में छिपी हुई अतुल सम्पदा के समान ही अब तक अप्रगट रहा है। आचार्य श्री ख्याति से सदैव ही दूर रह कर अपनी आत्म साधना के साथ भव्यजनों के उद्धार में ही सदा लीन रहे।

पारस पत्थर से स्पर्श हो जाने पर धातु के स्वर्ण में परिवर्तित हो जाने के समान ही उनके संसर्ग में आ जाने पर मनुष्य अज्ञान और मिथ्यात्व के अन्धेरे से निकल कर स्वर्ण समान आलोकित आध्यात्मिक उज्ज्वलता की ओर बढ़ने लग जाता है। उनकी सौम्य मुखाकृति और उनके तप-तेज का प्रभाव सहज ही उनकी ओर आकर्षित करता है।

ऐसे आचार्य श्री के जीवन चरित्र को उजागर करने का इस ग्रन्थ के माध्यम से मण्डल ने अत्यल्प कार्य किया है, क्योंकि आचार्य श्री का जीवन चरित्र तो विशाल समुद्र के समान है, और उनके लिए "जिन खोजा तिन पाईयाँ" कहना ही पर्याप्त होगा। मण्डल के सभी सदस्य अपने हृदय में उनके प्रति असीम श्रद्धा एवं नमन का भाव लिए हुए मंगल-कामना करते हैं कि आचार्य श्री के द्वारा निशदिन ज्ञान का प्रचार हो और प्राणीमात्र को उनकी वाणी से स्नेहामृत का पान करते हुए धर्म लाभ प्राप्त हो तथा यह अभिवन्दन ग्रन्थ जन जन की आत्मोन्नति में सहायक हो।

अज्ञान तिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

इसी कथन के साथ मण्डल के सभी सदस्य मंगल कामना करते है कि आचार्य श्री का चारित्र सूर्य हम सबका मार्ग प्रशस्त करे।

धन मान माया छोड़कर, संसार से मुंह मोड़कर।
बढ़ चले तप मार्ग पर, अपनों से नाता तोड़ कर ॥
वे धर्मसागर धर्म के, आधार हैं इस जगत पर।
हैं नमन हम सब उन्हीं, आचार्य श्री के चरण पर ॥

चरणावनत :

समस्त सदस्यगण

श्री दि० जैन नवयुवक मण्डल, कलकत्ता

द्वितीय खण्ड

अनेक गुणों के पुंज आचार्य श्री

□ आ० क० १०८ सम्मतिसागरजी
[आचार्य श्री वीरसागरजी के शिष्य]

"गुरवः पान्तु नो नित्यं, ज्ञानदर्शननायकाः ।
चारित्रार्णवगम्भीरा मोक्षमार्गोपदेशकाः ।।"

जब मुझे ज्ञात हुआ कि प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का अभिवन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है और मुझे भी आचार्य श्री के सम्बन्ध में कुछ लिखना है तो मैं अपने अन्तरङ्ग में बैठी श्रद्धा और महाराज श्री के अनेक गुणों का जो साक्षात् अनुभव किया था उनको व्यक्त करने की भावना को नहीं रोक सका ।

आचार्य श्री का और मेरा सम्बन्ध गृहस्थावस्था से ही है । माता-पिता के स्वर्गस्थ हो जाने पर बड़े पिता की संतान बहिन दाखांबाई का संरक्षण मिला । अपनी जन्मभूमि में कुछ दिनों तक आजीविका के लिए छोटा सा कार्य करते रहे । पश्चात् आप इन्दौर आ गए । बस ! सर्व प्रथम मेरा और उनका समागम इन्दौर में ही हुआ । चूंकि महाराज श्री भी छावड़ा गोत्रीय थे और मैं भी छावड़ा गोत्रीय था । साथ ही उनकी बहिन दाखांबाई ने भी जान-पहचान का पुराना सम्बन्ध बताया । गोत्रबन्धु से मिलकर परस्पर मे अत्यन्त स्नेह हुआ और उसी स्नेह के वशीभूत होकर एक माह के लगभग साथ-साथ रहे । सारी दिनचर्या एक साथ ही सम्पन्न होती थी । आपका भोजन उस समय भी अत्यन्त सात्त्विक था, शुद्ध था जिससे हमारे मन में भी निर्मलता हुई । महाराज श्री गृहस्थ जीवन में भी दिन भर अपने गृहस्थोचित कर्तव्यों का पालन करने में सजग रहते थे । इससे पूर्व आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज से दूसरी प्रतिमा के व्रत धारण कर चुके थे, मेरे भी द्वितीय प्रतिमा के व्रत थे ।

महाराज श्री गृहस्थावस्था में सायंकाल ४ बजे आजीविकोपार्जनार्थ कपड़े की फेरी करने के लिए जाते थे । एक दिन मैं भी उनके साथ हो लिया । मैने देखा कि जब एक रुपया के लगभग मुनाफा हो गया तो घर वापस लौट आये । उसी दिन नहीं, अपितु प्रतिदिन का उनका यही क्रम था ।

सेठानीजी के अनेक प्रयत्नों के बाद सेठ कल्याणमलजी की कपड़े की मील में जब आपकी नौकरी लग गई तो आपको रात्रि पाली में मील जाना पड़ता था । कपड़ा रंगने के लिए जो रंग से भरे ड्रम थे वे बिना छने पानी के होते थे तथा अन्य भी हिंसा के कार्य होते देख आप के मन में ग्लानि हुई और आपने कपड़ा मील से नौकरी छोड़ दी । बचपन से ही इस प्रकार आप में धार्मिक संस्कार थे और आप अत्यन्त सन्तोषवृत्ति के थे ।

यद्यपि आप बचपन में अधिक पढ़ाई नहीं कर सके थे तथापि हिन्दी का अत्यन्त अल्पज्ञान मात्र था किन्तु आ० क० १०८ श्री चन्द्रसागरजी महाराज से ३० वर्ष पूर्व क्षुल्लक दीक्षा लेने के पश्चात् संस्कृत का अच्छा अभ्यास किया है । तपश्चर्या से भी ज्ञानावरण का क्षयोपशम बढ़ता है ये आगम वाक्य आपके जीवन में फलीभूत दिखाई दिए । चन्द्रसागरजी महाराज की समाधि हो जाने पर आप वीरसागरजी महाराज के पास आए और कुछ वर्षों के पश्चात् क्रमशः ऐलक और मुनिदीक्षा ग्रहण की उस समय मैं भी ब्रह्मचारी रूप में साथ ही था । आपका प्रत्येक परिस्थिति में अद्भुत धैर्य देखा ।

卐

आ० श्री वीरसागरजी महाराज के चरण सान्निध्य में मेरी भी क्षुल्लक दीक्षा और पश्चात् उनके अन्तिम चातुर्मास में मुनिदीक्षा भी हो गई। उनकी समाधि के बाद आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के साथ गिरनार यात्रा भी की और कुछ दिन पश्चात् संघ से महाराज श्री व पद्मसागरजी इन दो मुनि जनों ने पृथक् विहार किया। बुंदेलखण्ड की यात्रा का प्रसंग आया उन दिनों मैं भी महाराज के साथ हो गया था। विहार करते हुए नैनागिरी पहुंचे, उस समय महाराज व मेरे अतिरिक्त मुनि पद्मसागरजी भी साथ थे। नैनागिरी के शांत वातावरण को देखकर धर्मसागरजी महाराज की इच्छा वहीं चातुर्मास करने की हो गई। मैंने प्रार्थना की कि यहां जैन समाज के घर नहीं हैं और चूंकि यहां डाकुओं का भय है अतः बाहर से भी श्रावकगण नहीं आ सकेंगे। यह बात डाकुओं को येन केन प्रकारेण ज्ञात हो गई, उन्होंने हमारे पास कहलाया कि आप आनन्द से यहां चातुर्मास कीजिये आपको कोई कष्ट नहीं होगा। यद्यपि अन्य कई कारणों से वहां चातुर्मास नहीं हो सका, तथापि डाकुओं की इस नम्रता को तो मैं महाराज श्री की तप:पूत निर्मलचर्या का ही प्रभाव कहूंगा। वह चातुर्मास शाहगढ में हुआ था।

चातुर्मास के पश्चात् शाहगढ से सागर की ओर विहार कर रहे थे, सागर से ५ मील पूर्व ही रात्रि विश्राम किया। गर्मी के दिन थे अतः महाराज श्री ने तो खेत में ही पाटे लगवाए और मैं तथा पद्मसागरजी सामने ही एक तिबारे में बैठे। सामायिक के पश्चात् हम तो अपने स्थान पर विश्रांति के लिये सो गये, जब प्रातः सामायिक करने के पश्चात् महाराज श्री के पास प्रतिक्रमण के लिए पहुंचे तो देखा कि एक विकराल सर्प पाटे के नीचे से निकल कर जा रहा है। मैंने सोचा कि यह सर्पराज रात भर महाराज की सेवा मे रहा होगा, किसी प्रकार कोई कष्ट नहीं हुआ महाराज को। ऐसा है महाराज श्री के तप एवं पूर्ण अहिंसा का प्रभाव।

चातुर्मास से कुछ समय पूर्व ही सागर पहुंचे थे, एक माह रहने के पश्चात् सागर से विहार हो गया, समाज के अनेकों भाई बहिनों के मन में दुःख हुआ कि आई हुई निधि चली गई। उन्होंने सत्याग्रह कर दिया कि यदि संघ का सागर मे चातुर्मास नहीं होगा तो हम अन्न-पानी का त्याग कर देंगे। साथ ही विद्वानों का भी समाज में खूब विरोध हुआ, क्योंकि विद्वान् आम्नाय (पूजा पद्धति) का अन्तर होने से चातुर्मास नहीं कराना चाहते थे। विरोध अधिक बढ जाने पर पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य महाराज के पास आये और कहा महाराज आपको सागर चलकर ही चातुर्मास करना होगा, हमारे यहां तो झगड़ा बहुत बढ गया है। सागर समाज पर महाराज श्री की शान्त एवं सौम्य मुद्रा का इतना प्रभाव पड़ा यह उक्त घटना से ज्ञात होता है।

सागर में चातुर्मास हुआ और जो मुनिदर्शन तक भी नहीं करते थे वे ही विद्वान् व विदुषी महिलाएं महाराज श्री के पास प्रतिदिन आते शंका-समाधान चर्चा आदि होतीं। प० पन्नालालजी सा० ने चातुर्मास के मध्य ही द्वितीय प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये और सुमित्राबाई आदि ने भी व्रती जीवन स्वीकार किया। सुमित्राबाई ने उसी समय पपौरा जाकर आचार्य शिवसागरजी महाराज से दीक्षा ग्रहण की, वह बड़ी विदुषी है। मै तो इसे महाराज श्री की सरल, एव निस्पृहवृत्ति का ही परिणाम कहूंगा कि मुनिजनों के प्रति जिनकी विशेष भक्ति नहीं थी वे भी उन्हीं के चरणों में व्रती शिष्य बने।

उसके पश्चात् वि० सं० २०२५ में आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के स्वर्गस्थ हो जाने पर समस्त संघ ने आपको आचार्य बनाया। भगवान महावीर स्वामी के २५ सौ वें निर्वाण महोत्सव पर दिल्ली पधारे वहां भी आपने अपने अलौकिक व्यक्तित्व की छाप समाज पर छोड़ी। निर्वाणोत्सव में आर्ष परम्परा की रक्षा के लिए पूर्ण सजग रहे। स्पष्टवादिता एवं निर्लेपवृत्ति का समाज पर बड़ा प्रभाव रहा। उत्तर प्रदेश में दो चातुर्मास किये और धर्म प्रभावना हुई।

स्थितिकरण का आप में महान् गुण है सन् १९७८ के सलूम्बर चातुर्मास में इसको देखने का अवसर समाज को मिला। धर्म और चारित्र से पतित व्यक्ति को पुनः धर्म पर आरूढ़ किया और अन्त में आपके चरण सान्निध्य में अत्युत्तम सल्लेखना का भाजन भी बना वह व्यक्ति।

इस प्रकार स्थितिकरण पटुता, स्पष्टवादिता, निस्पृहता, सरलता, सौम्यता, निर्लेपता, समुद्रसम गम्भीरता, शिष्यानुग्रह कुशलता आदि आगम कथित आचार्य के अनेकों गुण आप में इस २० वी सदी के भौतिक युग में भी विद्यमान हैं। मैं अल्पज्ञ भी 'वन्दे तद्गुणलब्धये' के अनुसार इन परम तपस्वी संत के चरणों में शत-शत बार नमन करता हूं एवं भावना करता हूं कि अनेक गुणों के पुञ्जस्वरूप आचार्य श्री की दीर्घकालीन छत्र-छाया में श्रमणसंघ आत्मोन्नति में अग्रसर होता रहे।

सत्य के निर्भीक वक्ता

□ १०५ आर्यिका नंगमति माताजी
[आचार्य श्री विमलसागरजी संघस्थ]

परम पूज्य श्री १०८ आचार्य धर्मसागरजी महाराज के अद्वितीय अनुपम गुणों का वर्णन लेखनी के द्वारा लिखा नही जाता है। आप सत्यनिष्ठ एवं वाणी के स्पष्ट मधुर भाषी हैं। आपके जीवन में चारित्रनिधि का रस कूट-कूट टपक रहा है।

किशनगढ़ का एक क्षण स्मृति पटल पर आया, आचार्य श्री आहार की चर्या से लौट रहे थे मार्ग में एक श्वेताम्बर साधुजी का समागम प्राप्त हुआ उनसे मिलते ही आचार्य श्री की निर्भीक-ओजस्वी वाणी फूट पड़ी—अरे भैया दिगम्बर अवस्था धारण क्यों नहीं करते? कपड़े में सुख नही है डरते क्यों हो क्या भगवान महावीर ने कपड़े पहने थे? नहीं। फिर क्यों वीर की संतान होकर वीर वंश को लज्जित करते हो।

आचार्य श्री अपने प्रवचनों में हमेशा कहते हैं—"जैनधर्म वीरों का धर्म है कायरों का नहीं"

आचार्य श्री एक दिन प्रवचन दे रहे थे इसी बीच एक श्रावक मुनि, व्रती, त्यागियों के दोषों का वर्णन करने लगा आचार्य श्री स्पष्ट वाणी में बोले—

आज का श्रावक त्यागियों की गलती देखता है वह साधु ऐसा है, वह आर्यिका ऐसी है, परन्तु तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए। जिनमुद्रा को देखकर उस पद के अनुकूल विनय करना मात्र तुम्हारा कर्तव्य है। 'जो करेगा वह भरेगा' यदि साधु-त्यागी गलती करता है तो वह नीचगति में उत्पन्न होगा, परन्तु तुम निंदा करके क्यों पाप करते हो, तुम्हें तो सिर्फ जिनमुद्रा देखकर शुभ भाव बनाना चाहिए। अपने पुण्य संचय करने में तुम क्यों चूकते हो? यह है आचार्य श्री की चारित्र व जिनमुद्रा के प्रति गाढ़ श्रद्धा।

वात्सल्य मूर्ति, चारित्रनिष्ठ, चारित्र के ज्वलंत सूर्य, जैनधर्म के दैदीप्यमान चन्द्र, आचार्य श्री जिन-धर्म की ध्वजा विश्व के कोने-कोने में फहराते हुए युगों-युगों तक चिरायु रहें यही वीतराग प्रभु से पुन: पुन: प्रार्थना करती हूं।

"जिन शासन के नेता आचार्य श्री"
"जयवन्त रहें"

आद्य गुरु के चरणों में श्रद्धा-प्रसूनाञ्जलि

□ विदुषीरत्न आर्यिका १०५ विशुद्धमति माताजी

सन् १९६१ की बात है। सागर (म० प्र०) नगरी में चारों ओर चर्चा थी कि "सागर से ३० मील दूर शाहगढ़ ग्राम में रत्नत्रय स्वरूप तीन (प. पू. श्री धर्मसागरजी म., प. पू. १०८ श्री पद्मसागरजी म और प. पू. १०८ श्री सन्मतिसागरजी म. इन तीन) मुनिराजों के चातुर्मास के कारण चतुर्थकाल की छटा खिल रही है।" श्रुतसम्पुट में अनेकों बार इसप्रकार की चर्चायें आते हुए तथा अनेकों बार अनेक भव्यात्माओं से प्रोत्साहन प्राप्त होते हुए भी दर्शन लाभ लेने के परिणाम नहीं हुए, होते भी कैसे ? बाह्य में कई बार कुछ साधुओं की अनर्गल प्रवृत्तियाँ कर्णगोचर होने से और अभ्यन्तर में मिथ्यात्व के उदय से यही धारणा बन चुकी थी कि इस काल में सच्चे भावलिंगी साधु होते ही नहीं, अतः अपना उत्तमांग (सिर) किसी भी दिगम्बर साधु को नहीं झुकाना है।

उस समय अगृहीत मिथ्यात्व के प्रभाव से विवेक मूर्छित हो रहा था जिससे "मेरी मां बन्ध्या" के सदृश यह छोटी सी बात भी बुद्धिगत नहीं हुई कि जब अपने मुख से द्रव्यलिंगी स्वीकार कर रही हूं तब उसके प्रतिपक्षी भावलिंगी भी अवश्य होंगे। रात्रि का सद्भाव रहे और दिन न रहे ऐसा कदापि हो नहीं सकता। "विधेर्निषेधस्य च शून्यदोषात्" अर्थात् विधि और निषेध में से यदि एक का भी अस्तित्व न माना जायेगा तो शून्यता का दोष आ जायगा अर्थात् उस धर्म का ही अभाव हो जायगा ? "सदाऽन्योन्यापेक्षैः" अर्थात् प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म की सापेक्षता से ही जीवित है। समन्तभद्र स्वामी की इस पुनीत वाणी के अनुसार द्रव्यलिंगी साधुओं का सद्भाव मानना ही भावलिंगी साधुओं के सद्भाव का द्योतक है। केवल इतना ही नहीं मिथ्यात्व के उदय ने यह भी नहीं समझने दिया कि गाड़ी के दो पहियों के सदृश मुनिधर्म व गृहस्थ धर्म, धर्म रूपी गाड़ी के दो पहिये हैं, मुनि धर्म के आलम्बन स्वरूप यदि भावलिंगी साधुओं का सद्भाव इस क्षेत्र में नहीं माना जायगा तो श्रावक धर्म का भी अभाव मानना होगा। पंचमकाल के ३ वर्ष ८।। मास अवशेष रहने पर कार्तिक वदी अमावस्या को प्रातः स्वाति नक्षत्र में मुनि-आर्यिका, श्रावक और श्राविका ये चारों जीव एक साथ स्वर्ग जायेंगे[1]। ऐसा नहीं हो सकता कि भावलिंगी मुनि-आर्यिका का इस क्षेत्र में सर्वथा अभाव हो जाय और द्रव्यलिंगी साधु एवं श्रावक-श्राविका का अस्तित्व बना रहे। सिद्धान्त सार दीपक में सकलकीर्त्याचार्य ने स्पष्ट लिखा है कि पंचम[2] काल के उसी अन्तिम दिन प्रातःकाल सुख की खान स्वरूप मुनि एवं श्रावक धर्म का नाश होगा।

---

१. इह इंदराय-सिस्सो वीरंगद साहु चरिम सव्वसिरी।
अज्जा अग्गिल सावय वरसाविय पंगुसेणावि ।।८५८।।
पंचम-चरिमे पक्खडमासतिवासोव-सेसए तेण।
मुणि-पढम-पिंड-गहणे सण्णसणं करिय दिवस-तियं ।।८५९।।
सोहम्मे जायंते कत्तिय-अमवास सादि पुव्वण्हे।
इगि-जलहि-ठिदी मुणिणो सेसतिए साहियं पल्लं ।।८६०।। त्रिलोकसार

२. ततः पञ्चमकालस्य दिनस्य चरमस्य च।
पूर्वाह्णे द्विविधो धर्मो विनश्यति सुखाकरः ।।३०१।। अ० ६, सि० सा० दीपक।

जब भी कभी और जहां भी धर्म का विच्छेद होगा वहाँ दोनों धर्मों का सर्वथा अभाव होगा, एक का नहीं हो सकता। पुष्पदन्त[३] से शान्तिनाथ तीर्थकर पर्यन्त के सात अन्तरालों में धर्म का विच्छेद हुआ था वहाँ भी वक्ता, श्रोता और धर्माचरण करने वालों का सर्वथा अभाव हो गया था।

इस प्रकार संसार सागर में मिथ्यात्व रूपी महामत्स्य से ग्रसित मेरी आत्मा का उद्धार करने हेतु ही मानों महाराज श्री ने सागर की ओर प्रस्थान किया, मार्ग में अनेकों स्थलों पर धर्म गंगा प्रवाहित करते हुए सागर पधारे। हरी भरी अनेक उपात्तिकाओं से घिरे हुए, धार्मिक एवं लौकिक विद्याओं के केन्द्र पुञ्ज, भव्य जीवों के कल्मष को हरण करने वाले तथा उत्तुङ्ग शिखरों से गगन को स्पर्श करने की स्पर्धा से युक्त अनेक जिनमन्दिरों से सुशोभित, सागर सदृश गम्भीर स्वभावी विद्वद्वर्ग से मण्डित, तथा अनेक नगर-उपनगरों से निःसृत धर्म-वाहिनियों को आत्म-सात् करने वाले, यथा नाम तथा गुण से अलंकृत सागर नगर के गोपालगंज में महाराज श्री ससंघ करीब पौन माह रहे होंगे, पश्चात् कटरा बाजार में आ गये किन्तु मैं एक दिन भी दर्शनार्थ नहीं गई। पश्चात् वर्षायोग स्थापन हेतु महाराज श्री मेरे निवास स्थान के सामने स्थित वर्णी विद्यालय में पधारे तथा वर्षायोग स्थापन भी हो गया। वर्णी-विद्यालये "मुनि-परिषण्मध्ये सन्निषण्णं मूर्तमिव मोक्षमार्ग-मवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं"..............। अर्थात् मैं जब भगवान् के दर्शन पूजन हेतु वर्णी विद्यालय में जाती और वहाँ मुख से वचन बोले बिना शरीर से ही मोक्षमार्ग का निरूपण करते हुए के समान आपको अन्य मुनिराजों के मध्य बैठा देखती तब आपकी प्रकृति सौम्यता, निस्पृहता, निर्द्वन्द्वता, सरलता एवं निःप्रपञ्चता आदि गुण मेरी आत्मा को आडोलित करते, जिसके फल स्वरूप आत्मा ने यह स्वीकार किया कि आगमोक्त प्रक्रियायुक्त भावलिंगी साधुओं का वर्तमान् में भी सद्भाव है।

इसी बीच आपके संघस्थ साधु प० पू० १०८ श्री सन्मतिसागरजी महाराज ने भी धर्म चर्चा (शंका–समाधान) एवं नाना प्रकार के सम्बोधनों द्वारा मेरी मिथ्यात्व ग्रसित आत्मा को रत्नत्रय स्वरूप धर्म की ओर आकर्षित किया। करीब दो माह बाद अर्थात् श्रावण मास में मेरा मिथ्यातम नष्ट हुआ, सम्यक्त्व ज्योति की प्राप्ति हुई तभी आहार दान आदि में प्रवृत्ति हुई।

तत्त्व निर्णय के तुरन्त बाद ही आत्मा गृह जाल तोड़ने के लिए छटपटा उठी, किन्तु अनेक कारणों से उस समय यह सब सम्भव नहीं हो सका अतः व्रत ग्रहण करके ही सन्तोष किया। मिथ्या भ्रान्ति नष्ट होने के बाद जो आत्म-विशुद्धि हुई उसका द्योतन यह जड़ लेखनी नहीं कर सकती।

संसार सागर में पतित मेरी आत्मा को मिथ्यात्व से सम्यक्त्व में, अज्ञान से विज्ञान में और राग से विराग में परिणत कराने वाले आद्य गुरु प० पू० परमोपकारी प्रातःस्मरणीय आचार्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज के पावन चरणों में मेरा शत-शत वन्दन! स्व-पर कल्याण में रत आपकी पवित्रात्मा दीर्घकाल तक ज्ञान-ध्यान-तप एवं संयम में संलग्न रहे, इसी शुभ भावना से साथ साथ मोक्षपथ प्रणेता आपके चरणाम्बुजों में हार्दिक श्रद्धा-प्रसूनाञ्जलि अर्पित करती हूं।

---

३. एतेषु पुष्पदन्तादारभ्य शान्तिनाथावसानेषु सप्तस्वन्तरेषु वक्तृ श्रोतृचरित्रणां नामभावात् सद्धर्मो नास्ति ॥८१४॥ की टीका (त्रिलोकसार)

निस्सन्देह जिन लोगों ने ध्यान और धारण के द्वारा सत्य को पा लिया है उन्हें आगे होने वाले भवों का विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

दृढ़ता के साकाररूप
आचार्यवर्य श्री धर्मसागरजी महाराज

□ आर्यिका रत्न १०५ श्री ज्ञानमती माताजी

'अवाग्विसर्गं वपुषा मोक्षमार्गं निरूपयन्तं मूर्तिमिव' श्री पूज्यपाद स्वामी के ये शब्द दिगम्बर मुनियों को देखते ही हृदय पटल पर अंकित हो जाते हैं। वास्तव में नग्न दिगम्बर मुद्रा को धारण करने वाले साधु भले ही वे कुछ भी न बोलते हों, मौन ही क्यों न रहते हों, किंतु उनकी मुद्रा ही मोक्षमार्ग को दिखा रही है कि देखो ये दि० जैन साधु मूर्तिमान् मोक्षमार्ग है। श्री गौतम स्वामी ने भी प्रतिक्रमण ग्रंथ में कहा है कि "इमं णिग्गथं····················णिव्वाण मग्गं' यह निर्ग्रंथ मुद्रा ही साक्षात् निर्वाणमार्ग है।

आचार्यवर्य श्री धर्मसागरजी महाराज अपनी निर्ग्रंथ मुद्रा के द्वारा आज के निकृष्ट युग मे भी मोक्षमार्ग को साकार कर रहे हैं। उनकी चर्या आर्षपरंपरा के अनुसार कठोर है। जब कि परिवर्तन, परिवर्धन और संशोधन का युग चल रहा है। कुछ लोग दिगम्बर जैन आचार्यों से भी अपेक्षा रखते हैं कि आप लोग भी अपनी पुरानी चर्या में परिवर्तन लाये, किन्तु जिनागम के ज्ञाता, धर्म धुरन्धर आचार्य श्री धर्मसागर महाराज मुनिचर्या मे परिवर्तन के लिए सोच भी नहीं सकते हैं, क्योंकि जैसे यह वेष प्राकृतिक है इसमे सुधार शक्य नहीं है वैसे ही इस वेष की चर्या भी प्राकृतिक ही है, अनादि निधन है। सभी तीर्थंकरों ने इसी वेष को धारण किया है, इसी चर्या से महान् बने हैं और इसे ही उपदेशा है।

एक बार संघ में एक मुनि अति अस्वस्थ थे, लोगों ने कहा महाराज ! इन्हें इन्जेक्शन लगवा दे, पुनः प्रायश्चित्त दे देना। आचार्य श्री ने कहा—इन्जेक्शन लगवाते ही हम इन्हें वस्त्र पहना देगे इन्हें इस मुनिवेष में नहीं रखेंगे।

दिल्ली में निर्वाण महोत्सव के समय एक पुस्तक चारों संप्रदाय से मान्य होकर छपने की बात थी। पुस्तक हम साधुओं के हाथ में आई, देखकर आश्चर्य हुआ कि उसमें श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार ही भगवान महावीर का जीवनवृत्त था, दिगम्बर परम्परा टिप्पण में थी या गौण थी। आचार्य श्री ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि यह चारों संप्रदाय मान्य नही हो सकती है। यदि इसे दिगम्बर, श्वेताम्बर, तेरापंथी और स्थानकवासी इन चारो सम्प्रदायों से मान्य कराना है तो या तो चारों सम्प्रदायों में जो विसंवाद के विषय हैं उन्हें सर्वथा निकाल दिया जाये या सभी के द्वारा मान्य सभी विषय रखे जाएं। आचार्य श्री की दृढ़ता के सामने लोग उस पुस्तक को चारों सम्प्रदाय मान्य घोषित नहीं करा सके।

धर्म की मर्यादा और संस्कृति की रक्षा के लिए आचार्य श्री पूर्ण सजग रहते हैं। वे चिरकाल तक पृथ्वी तल पर धर्मामृत की वर्षा करते हुए विहार करते रहें इस शुभ भावना के साथ मैं उनके श्री चरणों में पुनः पुनः वंदन करती हूं।

परमोपकारी गुरुवर्य आचार्य श्री का उदयपुर सम्भाग में मंगल विहार एवं तीन वर्षायोग

□ श्री धर्मभूषणजी वर्णी

[आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के शिष्य]

सम्यग्दर्शनमूलं, ज्ञानस्कन्धं चरित्र शाखाढ्यम् ।
मुनिगण विहगाकीर्णं आचार्य महाद्रुमं वन्दे ॥

प० पूज्य प्रातःस्मरणीय, जिनागम मर्मज्ञ, महान् तपस्वी, धर्ममूर्ति, शतेन्द्र-नमस्करणीय, चारित्र शिरोमणि, बाल ब्रह्मचारी, विश्ववंद्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज वर्तमान युग में एक आदर्श त्यागी एवं विशाल मुनिसंघ के नायक हैं। आपकी स्पष्टोक्ति, वात्सल्य भाव, गम्भीरता और वीतराग सदृश प्रवृत्ति भव्य जीवों को चुम्बक सदृश अपनी ओर आकर्षित करती है।

लगभग डेढ़–दो वर्ष से आचार्य श्री के संघ में रहकर वैयावृत्ति का लाभ मिल रहा है। मैंने अनुभव किया कि आचार्य महाराज साधु पद में जिस प्रकार निस्पृह वृत्ति से रहते थे उसी प्रकार की निस्पृह वृत्ति उनकी आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने पर भी है। स्वहित उन्होंने अपना मुख्य कर्तव्य माना है। परहित में भी आचार्य पद के नाते वे अपना कर्तव्य अच्छी तरह समझते हैं। उनका शासन धर्म शासन के रूप में चलता है। उनकी सदैव यही भावना रहती है कि शिष्य वर्ग स्वयं अपने उद्देश्य का ध्यान रखते हुए अपनी चर्या को सहज रूप से आगम के अनुकूल बनावे, मेरे अंकुशात्मक शासन के भय से नहीं। हां! प्रमाद–कषाय के वशीभूत, कर्मोदय से साधु पद के योग्य चारित्र में दूषण लगने पर शिष्य वर्ग के द्वारा निष्कपट भाव से अपने दोषों को आपके सम्मुख निवेदन करने पर आप उनकी आत्मविशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त अवश्य प्रदान करते हैं।

बात वि० सं० २०३१ की है हस्तिनापुर क्षेत्र पर आचार्य श्री के संघस्थ मुनि श्री वृषभसागरजी महाराज यम सल्लेखना रत थे। मैं भी हस्तिनापुर पहुंचा, आचार्य श्री के दर्शन कर परम हर्ष हुआ। पू० वृषभसागरजी महाराज की प्रेरणा मिली कि अब मुनि दीक्षा ग्रहण करो, मैंने अपनी असमर्थता प्रगट की और नवम प्रतिमा के व्रत ग्रहण करने के भाव प्रगट किये। पू० वृषभसागरजी महाराज की सल्लेखना के पश्चात् आचार्य श्री ने ससंघ मुजफ्फर नगर के लिए विहार किया वहां पहुंचकर मैंने शुभ दिन में नवम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये।

सन् १९७७ में आचार्य श्री ने मदनगंज–किशनगढ़ के वर्षायोग के पश्चात् उदयपुर सम्भाग की ओर विहार किया और क्रमशः उदयपुर, सलूम्बर और ऋषभदेव (केशरियाजी) में तीन चातुर्मास किये तीनों ही चातुर्मासों में बहुत धर्म प्रभावना हुई और तीनों ही स्थानों पर दीक्षाएं भी हुई।

सन् १९७८ में उदयपुर चातुर्मास के पश्चात् आपने उदयपुर के आस-पास के गांवों में मंगल विहार किया और उन ग्रामों की धर्म से अनभिज्ञ जनता को धर्मोपदेश देकर उन्हें सदाचार पूर्ण जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी। इन छोटे-छोटे गांवों में मंदिर अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण अवस्था में थे जबकि लोगों के रहने के मकान विशाल थे। आपने धर्म प्रताड़ना देकर लोगों में जागृति उत्पन्न की एवं उन जिनेन्द्र मंदिरों का जीर्णोद्धार अथवा पुनर्निर्माण कार्य आगम के परिप्रेक्ष्य में प्रारम्भ हुआ।

इन छोटे-छोटे ग्रामों मे संघ की आहार व्यवस्था में भी बड़ी कठिनाई होती थी। आपसे मैंने निवेदन किया कि महाराज श्री कुछ बडे कस्बों में आपको विहार करना चाहिए जिससे संघ की समुचित व्यवस्था हो सके। आपने प्रसन्न मुद्रा मे उत्तर दिया कि इन गांवों में फिर कब धर्म का बोध हो सकेगा? मैंने उनके इस उत्तर को पाकर मन ही मन विचार किया कि कितनी विशालता और उदारता है इन यतीन्द्र में और धर्म जागृति की कितनी उत्कण्ठा है।

इन गावों की जनता में गुरुभक्ति तो बहुत थी, किन्तु ज्ञान का अभाव तथा साधनों के अभाव में समुचित व्यवस्था नही हो पाती थी। आचार्य श्री ने इन गांवों मे विहार करते हुए धर्म के प्रति लोगों में अनुराग उत्पन्न किया। किन्हीं-किन्ही गांवों में तो ग्रीष्म काल के अनुकूल रहने को समुचित स्थान भी प्राप्त नहीं होता था, तथापि आचार्य श्री ने कभी भी मन मे निराकुल भाव में कमी नही आने दी।

इन गांवों में एक सबसे बड़ी सामाजिक कुप्रथा थी कि लोग अपनी लडकी बेचते थे। आचार्य श्री ने इस कुप्रथा का उन्मूलन किया, उपदेशों मे इसको अच्छी तरह समझाया, तब लोगों ने आचार्य श्री के समक्ष भविष्य में ऐसा नही करने की प्रतिज्ञाएं की। इस प्रकार धर्म से अनभिज्ञ जनता को धर्मबोध कराते हुए जगत, अदवास, जावद, जर, मितौड़ी, गीगला, करावली आदि गांवों में होते हुए सलूम्बर पहुंचे। वर्षायोग का समय निकट आ जाने से समाज की प्रार्थना पर सन् १९७९ का चातुर्मास सलूम्बर नगर में ही किया यह उदयपुर सम्भाग मे आपका द्वितीय चातुर्मास था।

सलूम्बर नगर के इस चातुर्मास में जहां अनेक धर्म प्रभावक कार्यक्रम हुए वहीं एक मुनिराज की सल्लेखना भी हुई और इसी चातुर्मास में आचार्य श्री में पाई जाने वाली धर्म से च्युत होने वाले जीवों का धर्म-मार्ग में पुनर्स्थापन रूप स्थितिकरण करने की अपूर्व क्षमता का प्रकट अनुभव हुआ। आपमें उपगूहन और वात्सल्य गुण तो विशेष रूप से पाए ही जाते है और आत्म प्रभावना के साथ-साथ धर्म प्रभावना की उत्कृष्ट भावना का पीछे दिग्दर्शन मैं करा ही चुका हू। सम्यग्दर्शन के शेष निःशंकितादि चार गुणों का भी आपके जीवन में पद-पद पर अनुभव किया जा सकता है।

सलूम्बर वर्षायोग के पश्चात् विभिन्न गांव और कस्बों में विहार करते हुए आप धर्मप्रभावना करके विशाल संघ सहित ऋषभदेवजी पधारे। यहां भी जब आप पधारे तो वर्षायोग का समय निकट आ चुका था। अतः समाज के विशेष आग्रह पर आपने सन् १९८० का वर्षायोग यहीं स्थापित किया। यहाँ भट्टारक श्री यश-कीर्तिजी द्वारा स्थापित गुरुकुल में आपका प्रवास रहा। इस चातुर्मास में जहां अनेक धर्मप्रभावना के कार्यक्रम हुए वहीं दीक्षा समारोह भी हुआ तथा दो मुनि व दो क्षुल्लक दीक्षाएं हुईं। इस वर्ष आप सहित प्रायः समस्त संघ पर रोगजनित उपसर्ग का प्रकोप रहा। वर्षा अधिक होने से इस क्षेत्र में मलेरिया का विशेष प्रकोप रहने के कारण सारा संघ उसका शिकार रहा, किन्तु आपका तथा समस्त संघ का धैर्य अनिर्वचनीय था।

इसप्रकार महान् धर्मप्रभावक, परमशांत, सरल-सौम्यमूर्ति, ज्ञान-ध्यान व तप में निरत, चारित्र शिरो-मणि, अध्यात्मयोगी, निस्पृह, निर्द्वन्द्व साधुपुङ्गव आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज इस पृथ्वी तल पर जयवन्त वर्तें। उनकी छत्रछाया में हम सभी मोक्षमार्ग प्राप्त करते रहें। इन्ही भावनाओं के साथ योगिराज के चरणों में कोटि-कोटि प्रणाम।

श्रेष्ठ ऋषिराज

□ ब्र० प्यारेलालजी बड़जात्या, अजमेर

जब दिगम्बर मुनिधर्म मात्र शास्त्रों में ही सिमट कर रह गया था, साक्षात् इस धर्म को धारण करने वाले मुनिजनों के दर्शन दुर्लभ हो गये थे, उस समय में चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज ने इस मुनि परम्परा को पुनः प्रकाशित किया। इसी परम्परा में आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज के पश्चात् उन्हीं के प्रथम मुनि शिष्य श्री वीरसागरजी महाराज तथा उनके बाद उन्हीं के प्रथम शिष्य मुनि श्री शिवसागरजी महाराज ने आचार्य पद पर सुशोभित होकर अत्यन्त कुशलता से संघ का संचालन किया और अब वर्तमान में आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के पश्चात् परम्परागत पट्टाचार्य पद पर श्री वीरसागरजी महाराज के ही द्वितीय मुनि शिष्य १०८ धर्मसागरजी महाराज प्रतिष्ठित हैं।

आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के स्वर्गवास हो जाने के पश्चात् वि० सं० २०१४ में वहां समुपस्थित मुनिसंघ ने मुनि श्री शिवसागरजी महाराज को अपना आचार्य बनाया। आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के पश्चात् आपने संघ सहित गिरनार यात्रा के लिए विहार किया, उस समय संघमें पू० धर्मसागरजी महाराज भी थे। यात्रासे लौटने के बाद वि० सं० २०१५ में आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज ने अपना प्रथम चातुर्मास ब्यावर में किया और श्री धर्मसागरजी महाराज व पद्मसागरजी महाराज ने संघ से पृथक् होकर आनंदपुर-कालू में अपना प्रथम वर्षायोग स्थापित किया।

पू० श्री धर्मसागरजी महाराज जो कि धर्म प्रभावना की दृष्टि से संघ से पृथक् विहार कर रहे थे, अपने विहार काल के लगभग ८ वर्षों में आपने अनेक भव्य जीवों को दीक्षा प्रदान की। उन अवसरों पर तथा इन्दौर, खुरई, सागर, शाहगढ़, टोंक, बूंदी, झालरापाटन आदि स्थानों के चातुर्मास काल में आपको आचार्य पद देना चाहते थे, क्योंकि आपके संघ मे कई मुनि, ऐलक, क्षुल्लकादि साथ थे, किन्तु इन प्रसङ्गों पर आपका एक ही उत्तर होता था कि "संघ का आचार्य एक ही होता है और इस समय संघ के आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज हैं, हम धर्म प्रभावना की दृष्टि से पृथक् विहार करते हैं तो क्या हुआ ? और फिर आचार्य पद जैसे जिम्मेदार पद को लेने के बाद जिस स्वतंत्रता से मुनि अवस्था में धर्मसाधन होता है वह नहीं हो पायेगा।"

मैं आपके पास कई चातुर्मासों में गया हूं और उक्त अवसर पर आपको ऐसा कहते सुना है। मैंने देखा कि आप आचार्य पद से सदैव दूर रहना चाहते थे उसकी कोई आकांक्षा आपके मनमें नहीं थी, किन्तु वह समय भी आया जब वि० सं० २०२५ में श्री शांतिवीर नगर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर आचार्य श्री शिवसागरजी व आपका ससंघ मिलन हुआ। आपभी प्रतिष्ठा में सम्मिलित होने हेतु पहुंचे थे। गुरु भाईयों का मिलन ११ वर्ष के अन्तराल मे दूसरी बार था। इससे २-३ वर्ष पूर्व टोंक जिलांतर्गत उनियारा में एक बार आप दोनों का सम्मिलन हो चुका था। प्रतिष्ठा फाल्गुन शुक्ला ६ से प्रारम्भ होनी थी उससे पूर्व ही फाल्गुन कृष्णा १५ को आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज का स्वर्गवास हो गया। महाराज श्री फाल्गुन कृष्णा ८ को बुखार आने से अस्वस्थ हुए थे, चतुर्दशी के दिन कई लोगों ने दीक्षा ग्रहण करने के लिए प्रार्थना की थी, उससे

पूर्व भी कुछ लोग आचार्य श्री के समक्ष दीक्षा के लिए प्रार्थना कर चुके थे। जब चतुर्दशी तक आपका स्वास्थ्य ठीक होते दिखाई नहीं दिया तो आपके संघ के वरिष्ठ साधुओं ने आपसे पूछा कि "यदि आप स्वस्थ नहीं हो सके तो फिर दीक्षार्थियों को पाण्डाल में जाकर दीक्षा कौन देगा" तब शिवसागरजी महाराज ने कहा कि "यदि मेरे स्वास्थ्य की यही स्थिति रही तो मेरे स्थान पर धर्मसागरजी महाराज दीक्षा का कार्य करेंगे" आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज को छोडकर उस समय उपस्थित समस्त मुनिगणों में धर्मसागरजी महाराज ही तप ज्येष्ठ थे।

"होनहार होकर रहे जिस विध होनी होय" इस लोकोक्ति के अनुसार जिस पद को ग्रहण करने के लिए धर्मसागरजी महाराज ने सदैव हार्दिक अनिच्छा प्रगट की उसी पद पर समस्त मुनिसंघ ने आपको फाल्गुन शुक्ला ८ सं० २०२५ के दिन तप कल्याण के अवसर पर प्रतिष्टित किया एवं उसी दिन आपके कर कमलों से ११ दीक्षाएं हुई। मेरा आपसे सामान्य सा परिचय तो जब आप आ. क. श्री चन्द्रसागरजी महाराज के साथ क्ष० भद्रसागरजी के रूप में थे तभी से था, किन्तु विशेष परिचय सं० २०१६ के बीर गांव (अजमेर) चातुर्मास से हुआ था। उन्हीं दिनों आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज का चातुर्मास अजमेर में था।

बीर चातुर्मास की घटना—सोहनलालजी गदिया के भाई प्रतिदिन अभिषेक करते थे एक दिन आप दर्शन करने गये और उनको अभिषेक में नही देखा तो पूछा कि कहा हैं। उत्तर दिया कि कल रात से पेट में असाध्य पीडा हो रही है, छटपटा रहे हैं, अपेण्डीसाइट्स है, ऑपरेशन के लिए अजमेर ले जारहे है। महाराज श्री ने कहा उन्हे यहा ले आओ, जब वे आये तो पूछा कहां दर्द है ? उन्होंने कहा पेट में, उनके नमस्कार करने पर महाराज ने उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा कि ऑपरेशन के चक्कर में मत पड़ना, धर्म के प्रभाव से सब ठीक हो जावेगा। बस ! इतना कहना था कि घर जाते ही उनका दर्द ठीक होना प्रारम्भ हो गया और दूसरे दिन वे भगवान का अभिषेक करने आ गये। आज भी वे विद्यमान हैं, फिर उसके बाद कभी उन्हें वैसा दर्द नहीं हुआ।

आपकी निस्पृह वृत्ति एवं निर्मल चारित्र का प्रभाव उत्तरप्रदेश के प्रमुख शहरों दिल्ली जैसे महा नगर के लोगों पर भी पड़ा। २५०० वे वीर निर्वाणोत्सव के समय जैन समाज के चारों सम्प्रदाय को मान्य कुछ साहित्य प्रकाशन होना था, किन्तु कई सैद्धान्तिक विषयों पर मतभेद होने के कारण दिगम्बर सम्प्रदाय की ओर से आपने उस साहित्य को अस्वीकृत कर दिगम्बर संस्कृति की रक्षा की। दिल्ली के पश्चात् उत्तर भारत के सहारनपुर और बडौत नगर में भी आपके चातुर्मास हुए। धर्म की बड़ी प्रभावना हुई तथा उसके पश्चात् प्राय: प्रत्येक चातुर्मास में उस तरफ के लोग बड़ी श्रद्धा व भक्तिपूर्वक आपके दर्शनार्थ आते हैं।

राजकीय अवकाश प्राप्त करने के बाद इस परम्परागत सघ से मेरा निकटतम सम्पर्क बना हुआ है और प्राय: प्रतिवर्ष मैं चातुर्मास में संघ दर्शनार्थ जाता हूं। असाता कर्म के तीव्रोदय के कारण चलते–चलते पैरों की नस खडी हो जाने से कई बार गिर जाता हूं, चोटें भी बहुत बार काफी लगी हैं, किन्तु मैं तो यह मानता हूं कि पूर्ववद्ध असाता कर्म का उदय आता है और उसमे भी गुरुजनो के सान्निध्य में धर्मध्यान पूर्वक उपार्जित साता कर्म का उदय आने से घातक घटनाएं हो जाने पर भी अभी मैं मौजूद हूं। गुरुजनों की महिमा अपार है, उसे शब्दों मे नहीं कहा जा सकता है तथापि प्रसङ्ग उपस्थित होने पर उनकी अथाह महिमा को यत्किंचित् शब्दों में कहने की प्रेरणा अंतरङ्ग में विद्यमान गुरुभक्ति करती है।

उत्तर भारत में २ तथा दिल्ली में १ इसप्रकार तीन चातुर्मास करने के पश्चात् सन् १९७७ का चातुर्मास मदनगंज किशनगढ में था। मैं भी पहुंचा था। आचार्य श्री ने पर्यूषण पर्व मे व्रती व्यक्ति से आहार लेने का नियम ले रखा था, एक दिन मैं भी किसी चौके में पडगाहन करने के लिए खड़ा हो गया आचार्य श्री मेरे असीम पुण्योदय से वहीं पडगाहे गए। मेरे मन में विचार चल रहा था कि "पिछले वर्ष अपने हाथ का फ्रेक्चर हो गया था और पट्टा अब कुछ माह पूर्व ही उतरा है अपनी उंगलियां अभी सही ढंग से ग्रास भी नहीं पकड़ सकती, क्योंकि ये मुड़ती तो है नही फिर आहार कैसे देंगे ?" मैं विचार कर ही रहा था कि मुझे आश्चर्यकारी अनुभव आया कि मेरी अंगुलियां ठीक प्रकारेण कार्य करने में सक्षम हैं और मैं आहार दे सकूंगा। यद्यपि आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का नाम किसी चमत्कार के साथ जुड़ा हुआ नही है तथापि उन सदृश अत्यन्त सरल हृदय साधुराज के पुण्य परमाणु ही कुछ ऐसे हैं कि सब कुछ सहज ही हो जाता है।

युगल आचार्य का अपूर्व सम्मेलन—

बात सन् १९७१ की है आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज अजमेर चातुर्मास के लिए विहार करते हुए आ रहे थे। मदनगंज किशनगढ़ में उस समय आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज (आचार्य श्री शिवसागरजी के प्रथम मुनि शिष्य) भी अपने संघसहित विराजमान थे। यद्यपि समाज ने उन्हें आचार्य श्री शिवसागरजी की उपस्थिति में ही नसीराबाद में आचार्य पद दे दिया था अत: वे आचार्य पहले ही बन चुके थे, और धर्मसागरजी महाराज उनसे बाद में आचार्य बने थे (किन्तु ज्ञानसागरजी महाराज दीक्षा में छोटे थे), तथापि जब आचार्य श्री धर्मसागरजी किशनगढ़ पहुंचे तो ज्ञानसागरजी महाराज अपने शिष्य मुनि श्री विद्यासागरजी आदि संघ के साथ लगभग २ किलो मीटर नगर के बाहर चलकर गए और अत्यन्त श्रद्धाभक्ति पूर्वक आचार्य श्री के दर्शन किये। उभय आचार्य संघ लगभग १५ दिन एक साथ रहे और उसके पश्चात् आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज ने अजमेर के लिए विहार किया। उभयाचार्य संघ के मिलन के समय आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज ने अपने प्रवचन में कहा कि 'धर्म के बिना ज्ञान की कोई कीमत नहीं' तब आचार्य श्री ने अपने प्रवचन को प्रारम्भ करते हुए कहा कि 'बिना ज्ञान के धर्म भी नहीं टिक सकता' इत्यादि अपनी लघुता व्यक्त करते हुए धर्मसागरजी महाराज ने कहा कि ज्ञानसागरजी महाराज तो हमारे विद्या गुरु रहे हैं। इन्होंने पं० भूरामलजी की अवस्था में संघ के कई साधुओं को विद्या दान देकर पढ़ाया है।

इसीप्रकार और भी अनेक स्मृतियां पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के जीवन सम्बन्धी मुझे स्मरण में आती हैं यदि उन सभी को व्यक्त करने बैठूं तो संभव है छोटी-मोटा एक ग्रन्थ ही तैयार हो जावे। इतने विशाल संघ के कीर्तिमान् आचार्य होते हुए भी आप में कभी पद का अभिमान नहीं देखा। आपतो इस आचार्य पद से अभी भी निस्पृह से ही रहते हैं और अत्यन्त निरासक्ति भाव से मात्र पद के नाते अपने कर्तव्य का पालन करते हुए निराकुलतापूर्वक संघ संचालन सहजता में ही कर रहे हैं। धन्य हैं ऐसे ऋषिराज ! मैं गुरुवर के चरणों में शत-शत वंदन करता हूं।

धर्मात्माओं के उपदेश, एक दृढ़ लाठी के समान हैं, क्योंकि जो उनके अनुसार कार्य करते हैं उन्हें वे गिरने से बचाते हैं।

निस्पृहता के धनी आचार्य श्री

□ ब्र० पन्नालालजी जैन, बांसवाड़ा

विश्ववंद्य परम पूज्य चा० च० १०८ दिगम्बराचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की परम्परा में वर्तमान पट्टशिष्य श्री १०८ आचार्य प्रवर धर्मसागरजी महाराज का जीवन कलिकाल के अंधकार में दीपकवत् प्रकाशमान् है। आचार्य श्री का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रेरणास्पद है।

यद्यपि आचार्य श्री के दर्शन करने का सुअवसर कई बार प्राप्त हुआ है, तथापि सन् १९७८ में उनके चरणसान्निध्य में सतत आठ माह के लगभग रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। संसार की असारता जिनके जीवन की रग-रग में समाई हुई है उन परम शांत योगिराज का मेरे जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। उनकी कथनी व करनी में समानता है। उन्होंने आगमालोक में अपने जीवन को ढाला है और शिष्य वर्ग को भी उसकी वे प्रेरणा देते रहते हैं।

वे कहा करते हैं कि साधु जीवन के ये चार प्रमुख गुण हैं इनके रहते ही साधु जीवन आदर्श बन सकता है। वे चार गुण इसप्रकार है—

१. इन्द्रिय विजय २. कषाय विजय ३. आहार विजय ४. निद्रा विजय। ये चारों ही गुण उनके जीवन में पूर्णरूपेण पाये जाते हैं। इन्द्रिय विजयता जहां उनके जीवन का अभिन्न अङ्ग है वहीं कषाय उनकी अत्यन्त मंद है। निद्रा विजय भी यथाशक्य उनमें है। मैंने अनुभव किया कि रात्रि का बहुभाग उनका चिंतन और जाप्य में ही व्यतीत होता है। आहार विजय तो उनके जीवन में प्रमुखता से है। कई बार वे नीरस भोजन करते हुए देखे गए हैं। मेरे अष्ट मासिक चरणसान्निध्य के सहवास में एक प्रत्यक्ष घटना मैंने स्वयं देखी।

अष्टान्हिका पर्व चल रहा था आचार्य श्री उन दिनों में नीरस भोजन (आहार) करते थे। एक साधारण से श्रावक के घर उनका विधि पूर्वक पड़गाहन हुआ। चौके में पहुंचे, नवधा भक्ति के पश्चात् आहार प्रारम्भ हुआ। इससे पूर्व जब आहार में सरस भोजन आया तो उन्होंने निकलवा दिया। नीरस भोजन जो कुछ भी था लेकर चले आए। यद्यपि श्रावक अत्यन्त भक्तिमान था, किन्तु नीरस भोजन पर्याप्त मात्रा में नही था। स्थिति कुछ ऐसी बनी कि महाराज श्री रूखी रोटी, चांवल मात्र पानी से ही लेकर प्रसन्न मुद्रामे वापिस आगए। मेरा हृदय गदगद हो गया, उस समय जब मैंने कहा कि महाराज श्री आज आपका आहार ठीक नही हुआ (आहार के समय मै स्वयं भी उपस्थित था चौके में) तो अत्यन्त शांत, किन्तु गम्भीरता पूर्ण शब्दो में प्रसन्न वदन होकर बोले ब्रह्मचारीजी ! उस श्रावक ने कितनी भक्ति से आहार दिया, मुझे अपना उदर भरना था सो उसके योग्य तो भली प्रकार मिल गया, जंगल में रहने वालों को अथवा द्रव्य के अभाव में दो-दो, चार-चार दिन तक भोजन नहीं मिलता उनको कौन खिलाने जाता है ? उनका यह मार्मिक उत्तर सुनकर मैं हतप्रभ रह गया। सहसा मन कह उठा, कैसी महान् विभूति है आचार्य श्री। शरीर से इतनी निस्पृहता और श्रावकों के प्रति इतना वात्सल्यपूर्ण व्यवहार। भौतिकता प्रधान युग मे भी ऐसे महापुरुष आत्मकल्याण का आदर्श मार्ग हमें दिखा रहे हैं यह सब हमारे पुण्योदय का ही प्रतिफल है।

ऐसे परम निस्पृह वीतरागी गुरुओं के चरणों में जाकर जो भी भव्य जीव उनकी वैयावृत्य, आहार दानादि करता है उसी प्राणी का मानव जीवन सफल है तथा वही मोक्षमार्ग में भी प्रवेश कर सकता है, क्योंकि, गुरुओं का आदर्श हमें प्रेरणा प्रदान करता है।

मैं परम पूज्य प्रात:स्मरणीय प्रशांत-सौम्य-सरल आचार्य श्री के परम पावन चरणों में शत-शत नमन करते हुए उनके आदर्श जीवन को प्राप्त करने की भावना करता हूं।

सौभाग्य के क्षण

□ बाल ब्र० विद्युल्लता हिराचन्द शहा,
[श्राविका संस्था नगर, शोलापुर]

मेरा बड़ा सौभाग्य रहा है कि दिगम्बर जैनाचार्य स्व० १०८ श्री शांतिसागर जी महाराज, उनके प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्री १०८ वीरसागरजी महाराज, उनके पट्टशिष्य आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज तथा वर्तमान में आचार्य गुरुवर १०८ धर्मसागरजी महाराज इन चारों मंगलविभूतियों के प्रत्यक्ष दर्शन किये हैं। मात्र दर्शन ही नहीं, किन्तु कुछ दिन इन पारसमणियों के निकट स्वर्णिम-क्षण व्यतीत हुए हैं जो कि मेरी स्मृति मंजूषा में अमर हो गये है।

स्व० श्री आचार्य शांतिसागरजी महाराज के अन्तिम सल्लेखना महोत्सव में और उसके पहले भी महाराष्ट्र प्रान्तीय उनके विहार स्थलों में अपनी माता तथा पं० सुमतीबेन और उनके परिवार के साथ मुझे भी महाराज श्री के सान्निध्य में शास्त्र श्रवण, आहारदानादि का अभूतपूर्व लाभ मिला है।

स्व० आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज का मुझ पर और मेरी माता पर बड़ा अनुग्रह हुआ है। मेरी माता को अनन्त संसार की जड़ शिथिल करने वाली क्षुल्लिका दीक्षा प्रदाता दीक्षा गुरु आचार्य वीरसागरजी महाराज थे। मुझे भी व्रती के रूप में परिणमाने वाले महान् गुरु वे ही थे। विशाल संघ में बार-बार जाने का, आहारादि देने का अलभ्य लाभ प्राप्त हुआ। उन्हीं गुरु की चरण सन्निधि में मेरी जीवन दृष्टि संयमाभिमुखी बनी।

स्व० आचार्य श्री शिवसागरजी परमदयालु, परोपकारी महान् संत थे। विशाल संघ के आचार्य थे और थे अनेक साधु-साध्वियों के प्रणेता। क्षुल्लिका चन्द्रमतीजी को गिरनार क्षेत्र पर आर्यिका दीक्षा शिवसागरजी महाराज ने ही दी। उनके साथ तीर्थ क्षेत्र, अतिशय क्षेत्रों की पदयात्रा का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है। संघस्थ आर्यिका १०५ श्री चन्द्रमतीजी (गृहस्थापेक्षा मेरी माता) की प्रेरणा से प्रति वर्ष संघ सान्निध्य में पहुंचकर साधु समागम का अनोखा आनन्द मिला। आचार्य संघ के साथ विहार के अनमोल क्षणों में मुझे जो उपलब्धि हुई है उससे मैं धन्य हूं। विगत स्मृतियों का स्मरण होते ही रोमांच हो उठते हैं और वे क्षण आज भी हर्ष से रुलाते हैं।

प० पू० आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के संघ में प्रतिसमय वर्तमान आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के भी मुनिरूप में दर्शन और आहारदान आदि लाभ प्राप्त होते ही थे। लगभग २४ वर्ष प्राचीन स्मृतियां ताजा हो रही हैं इस पावन प्रसंग पर। जब आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज ससंघ गिरनार यात्रा पर गये थे और यात्रा के पश्चात् वापस राजस्थान प्रान्त में लौट रहे थे उस समय पाली (राजस्थान) से ब्यावर तक मुझे भी संघ के साथ पद यात्रा, आहारदानादि का लाभ प्राप्त हुआ है। उस समय पू० श्री धर्मसागरजी महाराज भी साथ थे तब मैं उनके तपस्यापूर्ण महान् जीवन से प्रभावित हुई हूं। शांत परिणामी, भद्र प्रकृति के मुनि श्री धर्मसागरजी महाराज को उन दिनों भी आहार देने में बड़ा आनन्द आता था। जब भी मैं उनके रहते संघ में

पहुंची तब मुझे देखते ही बड़ी प्रसन्नता से आर्यिका चन्द्रमतीजी से कहते माताजी "शोलापुर से बाई आई है, अब उसे अपने पास ही रखो, आर्यिका दीक्षा दिलवाओ, घर मत भेजो" उस समय मुझे उनके वात्सल्यपूर्ण इस सम्बोधन से एक ओर जहां आनन्द होता था वहीं दूसरी ओर अपनी कायर वृत्ति पर आत्मग्लानि भी होती थी। वे क्षण आज भी मुझे स्मरण आते हैं। महाराज श्री 'धर्मसागरजी' यथा नाम तथा गुणों के धारी ज्ञात होते हैं। विहार में देहातों में उन्हीं का प्रवचन देने का नम्बर आता था तब प्रवचनारंभ में उनका एक ही श्लोक होता था—

"धर्मः सर्व सुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाः चिन्वते।
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः॥"

उनका प्रत्यक्ष जीवन अहिंसा धर्म की खानि है, दया की नदी है, क्षमादि दश धर्मों का संचय है। महाव्रतों से सम्पन्न उनकी यह जीवन नौका स्वयं संसार सागर से पार तो हो रही है, किन्तु अनायास सहजरूप में संसारी दुःखों से आकुलित, भयभीत-त्रस्तजनों को भी सच्चे सुख का रास्ता दिखाती है। वे दीपस्तम्भ के रूप में रात-दिन मोक्ष मार्ग प्रकाशित करते ही हैं, किन्तु जो भाग्यशाली पुरुषार्थ करके चलेगा वही उनके साथ संसार से पार हो सकेगा।

मुझे गौरव है कि मैंने अपने जीवन काल में गुरु पिता-प्रपिता-पितामह और उनके पिता इन ४ पीढ़ी तक के गुरु दर्शन पाये। आचार्य परम्परा के दिवंगत आचार्य त्रय की स्मृति सहित वर्तमान-प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के चरणों में नतमस्तक होते समय—

"अज्ञान तिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुः उन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥"

उक्त मंगलाचरण सहज ही प्रस्फुटित होता है।

आचार्य श्री की यशःकीर्ति के सुमधुर फल का ही यह परिणाम है कि उनके अभिवन्दन हेतु ग्रंथ का प्रकाशन हो रहा है। यद्यपि यशः कीर्ति के सुमधुर फल को वे चाहते नहीं हैं—इससे वे परिपूर्णतया उदासीन व विरक्त ही हैं तथापि उनके सुयश परिमलों से सारी समाज परिचित होकर, कृत कृत्य-धन्य होगी। इस अपेक्षा अभिवन्दन ग्रंथ प्रकाशन का यह उपक्रम स्तुत्य है। मैं आचार्य श्री के चरणों में श्रद्धावनत शत-शत नमन करती हूं।

जल के स्रोत को तुम जितना खोदोगे उतना ही अधिक पानी निकलेगा। ठीक इसी प्रकार तुम जितना ही अधिक सीखोगे उतनी ही तुम्हारी विद्या में वृद्धि होगी। अतः यद्यपि तुम्हें गुरु या शिक्षक के सामने उतना ही अपमानित और नीचा बनना पड़े जितना कि एक भिक्षुक को धनवान के समक्ष बनना पड़ता है, तथापि तुम विद्या सीखो, क्योंकि मनुष्यों में अधम वे ही हैं जो विद्या सीखने से विमुख होते हैं।

गुरु गुण लिखा न जाय

□ ब्र० कमलाबाई जैन

जब हम भारतीय जैन श्रमण-परम्परा की ओर दृष्टिपात करते हैं तो उसकी सदा प्रवहमान धारा हमें अतिप्राचीन काल से ही अक्षुण्ण रूप में उपलब्ध होती हुई मिलती है। वर्तमान काल में उस धारा को शक्तिशाली बनाकर अग्रसर करने का श्रेय श्री १०८ महामनीषी, परम तत्त्वज्ञ, प.पूज्य, चारित्र चक्रवर्ति, आचार्य शिरोमणि श्री शांतिसागरजी महाराज को है। श्री १०८ आचार्य धर्मसागरजी महाराज उसी परंपरा के आचार्य रत्न वीतराग साधु हैं। जो आज के इस भौतिकता वादी युग में भी अपने धवल-चारित्र, गहन-ज्ञान, गम्भीर-वाणी और ओजस्वी वक्तृता द्वारा मिथ्यात्व के तम को हरण करते हुए रत्नत्रय का आलोक फैला रहे हैं। भारतवर्ष का केवल जैन-जगत ही नहीं, अपितु बहुतायत अजैन जगत भी जिनके सामने श्रद्धा से नतमस्तक हो जाता है।

भारतवर्ष में हाड़ौती नामा विशाल रियासत के अन्तर्गत गम्भीरा नामका एक गांव अपनी विशेषताओं के कारण जगद्विख्यात है। वहीं पर श्रावक श्रेष्ठ नररत्न सेठ श्री बख्तावरजी अपनी धर्मपत्नी श्रीमती अमरावजी के साथ षट् कर्मों को पालते हुये गृहस्थ धर्म का अनुपालन कररहे थे। तभी अतीव पुण्योदय से सं० १९७० में पौष शुक्ला पूर्णिमा के दिन उनके गृहमन्दिर में एक भाग्यशाली भव्य शिशु ने जन्म लिया। अपने जन्म के पश्चात् शिशु ने चिरञ्जीलाल नाम पाया। चिरञ्जीलाल बख्तावरजी का केवल पुत्र ही नहीं अपितु कुलदीपक था, जिसने अपने अगाध सौन्दर्य और कान्ति की आभा से सारे घर को आलोकित कर दिया था। बख्तावरजी अपने पुत्र-आँखों के तारे कुलदीपक को देखकर फूले नहीं समाते थे। धीरे-धीरे शिशु ने बालक का रूप धरा कहावत है "पूत के पाँव पालने में ही दिख जाते हैं" हुआ वही चिरंजीलाल को पढ़ाने बिठाया प्रतिभावान् और तीक्ष्ण बुद्धि बालक ग्राम बालकोंसे पढ़नेमें सदा आगे ही रहता कुछही समयमें कुशाग्र बुद्धि बालक ने काफी कुछ अध्ययन कर लिया था। यद्यपि बालक ने अध्ययन तो काफी कर ही लिया था पर उसकी साध तो कुछ और ही थी संसार के स्वरूप को देखकर निर्मल मानस बालक के मन मे विरक्ति की लहरें आलोकित हो रही थी, विराग दूज के चांद की भांति पनप रहा था। "जैसी हो भवितव्यता वैसी मिले सहाय" बस, क्या था मिल गया शुभ संयोग श्री १०८ प० पू० आ० क० श्री चन्द्रसागरजी का। "भावना भवनाशिनी" और हो लिये उनके सङ्ग थोड़े ही समय में चिरंजीलाल ने गुरु महाराज से क्षुल्लक दीक्षा धारण कर ली; चिरंजीलाल अब चिरंजीलाल न था अब वह क्षु० श्री भद्रसागरजी थे। विधि का विधान-कालचक्र घूमा और आपके गुरु ने देह त्याग दी। तब आप श्री १०८ आचार्य वीरसागरजी के सान्निध्य में आए और उन्हीं से कुछ समयोपरांत मुनि दीक्षा धारण कर ली; अब आप २८ मूलगुणों को पालन करते हुए निर्ग्रंथ साधु श्री १०८ धर्मसागरजी मुनि थे। दिगम्बर साधु के वेष में आप काफी समय तक जिनतीर्थों आदि में विहार करते करते अन्त में श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी पधारे।

श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज शाँतिवीर नगर श्री महावीरजी में उस समय ससंघ विराजमान थे अपूर्व धर्म-प्रभावना हो रही थी तभी जैन समाज के असातावेदनीय कर्म का तीव्र उदय आया और आयु कर्म की समाप्ति ही समझो कि

आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज का स्वर्गवास हो गया। समस्या बड़ी जटिल थी, आचार्य शिवसागरजी महाराज के स्थान की पूर्ति कौन करे ? क्योंकि किसी सामान्य साधु को तो आचार्य बनाया नहीं जा सकता ? आचार्य में तो आगमानुकूल मर्यादा एवं योग्यता होनी चाहिए जैसा कि बताया गया है—"आचारांगधरोवा तात्कालिक स्वसमय परसमय पारगोवा मेरुरिव निश्चल:, क्षितिरिव सहिष्णु:, सागर इव बहिक्षिपन्तं मल:, सप्त-भयप्रमुक्त: आचार्य:।" अर्थात् आचारांग धारक, तात्कालीन अन्य शास्त्रों में पारंगत, दृढ़निश्चयी, पृथ्वी के समान सहनशील, सागर के समान मल-दोषों को दूर करने वाला और सात भयों से रहित साधु ही आचार्य पद धारण कर सकता है। तब सभी चतु:संघ के लोगों ने श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज को ही इस पद के हेतु पूर्ण योग्य और उपयुक्त समझकर इन्हें ही आचार्य बनाने का प्रस्ताव रखा। और वहीं श्री शांतिवीर नगर, श्री महावीरजी में ही शुभ लग्न में आपको आचार्य पद से विभूषित कर दिया गया। अब आप मुनि धर्मसागरजी से आचार्य धर्मसागर हो गये थे। मेरा बहुत ही बड़ा सौभाग्य था कि जहां श्रीमहावीरजी में आपकी आचार्य पद की दीक्षा हुई थी संयोग से मैं भी वहीं पर थी अत: मुझे आचार्य श्री के दीक्षा महोत्सव को नजदीक से देखने का पूर्ण अवसर प्राप्त हुआ। क्या दीक्षा महोत्सव था ? कितना सुन्दर दिन था वह ? भीड़ ! भीड़ ही भीड़ ! चारों ओर हजारों की संख्या में भीड़ का पारावार आप्लावित हो रहा था। सारे शांतिवीर नगर में सर्वत्र जय-जयकारों से गगन गुंजायमान हो रहा था। दूर दूर के श्रावक गरण दीक्षा महोत्सव को देखने पधारे थे। विशाल मुनि संघ जहां पर पहले से ही विराजमान था। कितना विराट्, मनोहर, कष्ट हर एवं शांतिदायक था वह दृश्य जो आज भी आंखों से ओझल नहीं होता। ऐसी हुई थी महाराज श्री की आचार्य दीक्षा। मैं तो उस दीक्षा को देखकर धन्य हो गयी। मैं ही क्या ? जिस जिसने वह दीक्षा देखी सभी अपने को कृतार्थ मानने लगे मानो उन्होंने अपनी आंखें होने का संपूर्ण सुख भोग लिया हो। इसप्रकार आचार्य श्री की दीक्षा सम्पन्न हुयी थी।

दीक्षा के उपरान्त एक-दो बार और भी मुझे आचार्य श्री व उनके संघ का सान्निध्य प्राप्त हुआ है देखते ही बनता है महाराज के संघ को। कितना विशाल है उनका संघ ? विशालता ही उनके संघ की विशेषता नहीं है, अपितु उनके संघ की सबसे बड़ी एवं आवश्यक विशेषता है जिसने मुझे अत्यन्त आकर्षित किया वह है उनका अनुशासन। जितना बड़ा संघ कहीं उससे भी बढ़कर है कठोर (दृढ़) अनुशासन। सारा संघ अनुशासन के सूत्र में बद्ध आत्म कल्याण की ओर अग्रसर है। चारित्र-तपोनिधि आचार्य श्री को देखकर भावी तीर्थङ्कर स्वामी समन्त भद्राचार्य द्वारा रचित श्लोक की ये पंक्तियां आंखों के सामने नाचने लगती हैं—

विषयाशावशातीतो, निरारम्भोऽपरिग्रह: ।
ज्ञानध्यान तपोरक्त:, तपस्वी स: प्रशस्यते ।।

लगता है एक एक बात आचार्य श्री के समग्र व्यक्तित्व में साकार होकर झांक रही है। सदा ज्ञान-ध्यान और तपस्या में लीन रहने वाले पूज्य गुरुदेव के सान्निध्य में जैन हो चाहे अजैन एक बार भी जो चला गया वह उनका परम भक्त बन गया यह है उनके आदर्श, आकर्षक और अनूठे व्यक्तित्व की विशेषता। आचार्य श्री के प्रवचनों में भी गजब की वशीकरण शक्ति है। जब भी आप प्रवचन करते हैं हजारों की संख्या मे जैन व अजैन श्रवणेच्छु उनके व्याख्यान सुनने दूर-दूर से पहुँचते हैं। उनके प्रवचन मे छहढालाकार श्री पं० दौलतरामजी की अधोलिखित पंक्तियां अक्षरश: चरितार्थ होती हैं—

"जग-सुहितकर सब अहित हर, श्रुति सुखद सब संशय हरें।
भ्रम रोग हर जिनके वचन-मुख चन्द्रतें अमृत झरें ।।"

महाराज श्री का एक ओर जहां गहन अध्ययन अनुभव व विषय की सूक्ष्मता से पकड़ है वहीं दूसरी ओर उसको विवेचन (प्रकट) करने के लिये उनकी सक्षम ओजस्वी वाणी, मधुर आवाज एवं सरल और सरस शैली है। दर्शन के गूढ़ से गूढ़ सिद्धान्तों का प्रतिपादन आप इतनी पटुता और सरलता से करते हैं कि सामान्य व्यक्ति भी उसको सहज रूप से हृदयङ्गम कर लेता है। उनके स्पष्ट एवं सत्यभाषी होने के कारण उनके

व्याख्यानों में कहीं भी दुराव-छिपाव नहीं है—कहीं भी किसी प्रकार का हठ या दुराग्रह नहीं है। विभिन्न एकान्तों का समन्वयरूप अनेकान्त मानसरोवर है; जहां किसी को किसी प्रकार की नु-नच (शंका) करने की गुंजाइश नहीं है। ऐसे हैं आचार्य श्री के अनेकांतमयी विचार और व्याख्यान। बहिर्जगत् में जिनके मन में प्रसिद्धि की रञ्चमात्र भी चाह नहीं है, यश की लिप्सा से जो कोसों दूर रहते हैं। किसी भी प्रकार का जिन्हें लोभ नहीं सताता, क्रोध और मोह को जो पास नही फटकने देते। संयम त्याग और तपस्या ही जिनका भूषण है। रत्नत्रय के परिवर्द्धन में जिनका उपयोग सदा लगा रहता है। बड़े से बड़े उपसर्गों को जो समताभाव पूर्वक सहन करते हैं। आगमोक्त ३६ मूल गुणों का पालन करने वाले गुरु श्री १०८ आचार्य धर्मसागरजी महाराज धन्य हैं। जिनके गुणों का वर्णन करना महाकवि कालिदासजी के शब्दों में मुझ "अल्प विषयामती" के वश की बात नहीं है और भी एक अन्य कवि के शब्दों के अनुसार—

"सब धरती कागज करूँ, कलम सभी वनराय।
सब समुद्र स्याही करूँ, गुरु गुण लिखा न जाय।।"

अन्त में मैं प्रातः स्मरणीय परम पूज्य गुरुदेव श्री १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज को बारम्बार नमस्कार करती हुई, भारतीय संस्कृत्यनुसार उनके "जीवेम शरदः शतम्" होने की मङ्गल कामना करती हूं।

पञ्चमहाव्रततुंगा, तात्कालिकस्वपरसमयश्रुतधराः।
नानागुणगणभरिता, आचार्या मम पसीदन्तु ।।

।। सीलं मोक्खस्स सोपाणं ।।

उपकारी के प्रति कृतज्ञता

अवसर पर जो उपकार किया जाता है वह देखने में छोटा भले ही हो, किन्तु जगत में सबसे भारी है, क्योंकि प्रत्युपकार की प्राप्ति की इच्छा बिना जो उपकार किया जाता है वह सागर से भी अधिक बड़ा होता है, अतः उपकारी के प्रति उपकृत की कृतज्ञता की सीमा किये हुए उपकार पर अवलंबित नहीं है उसका मूल्यांकन तो उपकृत की योग्यता पर निर्भर है।

सागर सम्भाग का सौभाग्य

□ डॉ० पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर

वह सागर सम्भाग का सौभाग्य समझना चाहिए जब आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के शाहगढ़, सागर और खुरई में लगातार तीन चातुर्मास हुए। उस समय धर्मसागरजी महाराज आचार्य पद पर आरूढ़ नहीं थे, सामान्य मुनि थे। आपके साथ पूज्य श्री पद्मसागरजी और पूज्य श्री सन्मतिसागरजी थे। तीनों साधु एकान्त विहारी थे। आर्यिकाओं तथा अन्यान्य विशाल संघ के झमेले से रहित थे। बुन्देलखण्ड की प्रशांत वसुन्धरा में विहार करते हुए शाहगढ़ पधारे। शाहगढ़ सागर से ४२ मील दूर एक कस्बा है। श्रद्धालुजनों का धर्मानुराग देख ससंघ वहीं चातुर्मास के लिये रुक गए। धर्म प्रभावना के अनेक कार्य वहां हुए।

महाराज श्री की प्रशान्त मुद्रा और बेलाग, बेदाग बात करने की प्रशंसा सुन मैं शाहगढ़ गया। उस दिन मैंने उनके प्रथम बार ही दर्शन किये थे। प्रारम्भिक वार्ता होने के बाद किसी विषय पर चर्चा शुरू हो गई और पूज्य श्री सन्मतिसागरजी उस चर्चा में अच्छा सहयोग देते रहे।

महाराज की सौम्यमुद्रा और विशालसंघ की चहल पहल से निर्विकल्प रहने की प्रवृत्ति का हमारे मानस पर गहरा प्रभाव पड़ा। शाहगढ़ के चतुर्मास के पश्चात् ग्रामों में विहार करते हुए जब महाराज श्री सागर पधारे तो नगर में आनन्द की लहर छा गई। वर्णी भवन में आपको ठहराया गया। चातुर्मास का समय निकट आ गया था अतः समाज के अनुरोध पर पूज्य श्री ने सागर चातुर्मास करने की स्वीकृति दे दी। वर्णी भवन में चातुर्मास की स्थापना की विधि विशाल जनसमूह के बीच सम्पन्न हुई। पूज्य श्री सन्मतिसागरजी एक कुशल वक्ता हैं। उनके प्रवचनों के आकर्षण से दैनिक सभा का विस्तार बढ़ता गया। प्रतिदिन प्रातः बारी-बारी एक विद्वान के द्वारा शास्त्र प्रवचन, तदनन्तर सन्मतिसागरजी महाराज का प्रवचन और उसके अनन्तर धर्मसागरजी महाराज का सदुपदेश होता था। प्रातःकाल का यह दो घंटे का कार्यक्रम जन साधारण के लिये विशेष आकर्षण का केन्द्र था। अपराह्न में सब महाराज विद्वानों के साथ किसी न किसी ग्रंथ का अध्ययन करते थे। बहुत ही शांतिमय वातावरण में वर्षायोग चलता रहा।

पर्युषण पर्व की चतुर्दशी को जब पाक्षिक प्रतिक्रमण चल रहा था तब मैं भी चुपके से पीछे जाकर बैठ गया। सन्मतिसागरजी महाराज ने देखकर आगे बुला लिया तथा प्रतिक्रमण समाप्त होने पर वे बोले पण्डितजी ! आपको व्रती बनना है, प्रतिमा धारण कीजिए। प्रतिमा का नाम सुनकर मैं घबड़ाया और कोई बहाना बनाकर कुछ समय बाद वहाँ से चला आया। शुद्ध भोजन तो करता ही था अतः प्रतिमा लेने में यद्यपि मुझे कोई कठिनाई नहीं थी तथापि आजीविका की परतन्त्रता के कारण पीछे हटता रहा। एक दिन मैं प्रातः घर पर दातौन कर रहा था। कुछ लड़के मेरे सामने से पास की स्कूल के प्रांगण में खेलने के लिए गए। मैं दातौन करता ही

रहा था कि इतने में खबर मिली कि अभी जो बच्चे स्कूल गये थे उनमें से एक का हार्ट फैल हो गया है। लड़का मोहल्ले का ही था। इस घटना से विचार आया कि जीवन का कोई भरोसा नहीं, न जाने कब समाप्त हो जावे, अतः प्रतिमा रूप से व्रत धारण करने में देर करना उचित नहीं है। स्नान तथा पूजा से निवृत्त हो मैं पूज्य महाराजजी की प्रवचन सभा में पहुंचा और मैंने गद्गद कण्ठ से कहा महाराज ! उस दिन आपने प्रतिमा लेने की जो बात कही थी उसकी काललब्धि आज आ गई है। मुझे दूसरी प्रतिमा के व्रत दीजिये। सन्मतिसागरजी ने कहा कि खड़े होकर कहिए, उस दिन काललब्धि क्यों नहीं आयी थी और आज क्यों आ गई। मैंने खड़े होकर कुछ कहना चाहा पर कण्ठ भर आया अतः कह नहीं सका। गुरुवर धर्मसागरजी महाराज ने दूसरी प्रतिमा के व्रत दिए। संभवतः सन् १९६३ की बात है तब से व्रती जीवन का आनन्द ले रहा हूं। उस चातुर्मास में सैकड़ों नर नारियों ने व्रत धारण किये।

गुरुवर धर्मसागरजी महाराजजी बहुत तपस्वी हैं एक दिन आपने वृत्ति परिसंख्यान में कोई नियम लिया उसकी विधि नहीं मिली। दो दिन चर्या के लिए उठे, परन्तु विधि न मिलने से वापिस आकर अंजलि छोड़ देते थे। तीसरे दिन एक बाई ने पड़गाहते समय थाली में मक्का का भुट्टा भी रख लिया और उसके यहां विधि मिल जाने से निरन्तराय आहार हुआ।

कार्तिक की अष्टान्हिका में वर्णीभवन के प्रांगण में समारोह के साथ सिद्धचक्र विधान हुआ जिसमें सागर के अतिरिक्त बाहर की भी बहुत जनता सम्मिलित हुई थी। सागर से जब महाराज का विहार हुआ तब बहुत भारी जनसमूह विदाई देने के लिये एकत्रित हुआ था।

सागर सम्भाग में तृतीय चातुर्मास सागर नगर से ३२ मील दूर खुरई में सम्पन्न हुआ। वहां भी खूब धर्म प्रभावना हुई। महाराज के उपदेश से राहतगढ़ निवासी भाटियाजी (भद्र परिणामी ब्राह्मण) इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने खर्चे से जगह-जगह सिद्धचक्र विधान कराये तथा पद्मपुरी व महावीरजी की यात्रा कर वहां स्वर्ण के छत्र चढाये। धर्मध्यान दीपक का एक संस्करण भी छपाया। इन तीन वर्षों में पू. महाराजजी ने सागर सम्भाग के प्रायः प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सभी ग्रामों में पदार्पण किया और अपनी अमृतवाणी से सबको संतुष्ट किया।

सागर के पश्चात् अनेक बार महाराज के दर्शन करने का अवसर मिला। । एक बार जब महाराजजी टोंक (राजस्थान) में थे तब दीक्षा समारोह हो रहा था। मुझे भी जाने का अवसर मिला था। मैंने वहां के प्रमुख सज्जनों से कहा कि इस समारोह में धर्मसागरजी महाराज को आचार्य पद क्यों नहीं देते ? उत्तर मिला कि हम लोग कई बार निवेदन कर चुके हैं परन्तु महाराज श्री इस पद को स्वीकृत नहीं करते। उनका कहना है कि "इस भार हीन अवस्था में जितनी आत्म साधना कर लेता हूं आचार्य बनने पर नहीं कर सकूंगा।" अन्ततः महावीरजी में आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज की आकस्मिक समाधि हो जाने के बाद आपको आचार्य पद का भार संभालना पड़ा। प्रसन्नता है कि आप निराकुल भाव से एक विशाल संघ का संचालन कर रहे हैं।

गुरुदेव के इस अभिवन्दन की पुण्य बेला में उनके दीर्घायु तथा स्वस्थ जीवन की कामना करता हूं तथा उनके चरणों में शत शत वंदन करता हूं।

आध्यात्मिक विभूति

आचार्य श्री धर्मसागरजी

□ श्री पं० सुमेरुचन्द्र दिवाकर,

(न्यायतीर्थ, शास्त्री, बी. ए., एल. एल. बी., सिवनी)

वर्तमान युग जड़वाद की अंधियारी से आक्रान्त है। ऐसे समय पर उच्चकोटि के महान् आध्यात्मिक तथा निष्कलंकचरित्र दिगम्बर-निस्पृही मुनीश्वरों का दर्शन अद्भुत बात है। इस समय मुनिवृंद के मध्य आचार्य धर्मसागर महाराज अपनी रत्नत्रय की पवित्र साधना के कारण विशेषरूप से दैदीप्यमान हो रहे है। वे अत्यन्त स्वच्छ अन्तःकरण वाले, आर्जव गुण मंडित, स्पष्ट वक्ता तथा आगमप्राण महर्षि है। मैंने उनके जीवन को अत्यंत निकट से देखा है। उनको देखकर महापुराणकार श्री जिनसेनस्वामी के शब्द स्मरण आते है जो उन्होंने वज्रजंघ व श्रीमती भोग भूमिज दम्पत्ति युगल द्वारा चारण-मुनि युगल के दर्शन होने पर कहे थे—

साधवो मुक्तिमार्गस्य साधनेऽर्पित धी धनाः।
लोकानुवृत्ति साध्यांशो नैवांकश्चन पुष्कलः ।।६-१६२।।
परानुग्रह बुद्धया तु केवलं मार्गदेशनां ।
कुर्वतेऽमी प्रगत्यापि निसर्गोऽयं महात्मनाम् ।।६-१६३।।

मोक्षमार्ग की साधना में अपनी ज्ञानसंपत्ति को लगाने वाले मुनीश्वरों को जनसमुदाय को प्रसन्न करने से अपनी इष्टसिद्धि प्रतीत नहीं होती। वे रत्नत्रय के समाराधक मुनीश्वर जीवों के अनुग्रह की बुद्धि से सन्मार्ग का उपदेश उन भव्यों के पास जाकर भी दिया करते है। इसप्रकार का स्वभाव महान् आत्माओं का हुआ करता है।

आचार्य श्री धर्मसागर महाराज जब धर्मोपदेश देते है तब शुद्ध आगम निरूपित तत्त्व तथा तथ्यों का प्रतिपादन करते हैं। चरित्रहीन, पापपटु धनिकों की प्रशंसा के लिए उनके पास एक शब्द भी नही है। आजकल स्वार्थ साधन हेतु मद्यपायी, मासभक्षी, त्रस जीवों के कलेवररूप चर्म का व्यापार करने वाले कुमतिगामी पूंजीपतियों की प्रशंसा में तथा जनता को खुश करने के हीनकृत्य मे अनेक व्यक्ति दिखाई देते हैं, किन्तु आचार्य धर्मसागर महाराज सन्मार्ग की देशना देते समय चाटुता का त्याग कर नग्न सत्य का निर्भीकता के साथ प्रतिपादन करते हैं। यह उनकी स्पष्टोक्ति तथा सत्यपरायणता कम लोगों में पाई जाती है। वे पापी व्यक्ति की प्रशंसा पाने की जघन्य भावना से बहुत दूर हैं उनकी वाणी में, चिंतन में और आचरण में सर्वत्र सत्य का सौंदर्य दिखता है।

महावीर भगवान के २५००वें परिनिर्वाण महोत्सव के वर्ष में भारत की राजधानी दिल्ली में दिगम्बर-श्वेताम्बर आदि बहुत समुदाय एकत्रित हुआ था, उन

सबके मध्य, आचार्य श्री का व्यक्तित्व महत्त्वपूर्ण लगता था। मैंने उस समय दिल्ली में प्रबुद्ध वर्ग के मुख से आचार्य श्री के प्रति अत्यंत गौरव, श्रद्धा एवं आदरपूर्ण उद्गार सुने हैं। आचार्य धर्मसागर महाराज अत्यन्त निस्पृही, निर्लोभी तथा प्रशांतचित्त एवं प्रसन्नवदन साधुराज हैं।

आचार्य महाराज सदा रत्नत्रय धर्म की अभिवृद्धि में संलग्न रहते है इससे उनके समीप आने पर उनमें निरन्तर प्रवर्धमान अंतरंग स्वच्छता की आभा अनुभव में आती है। लोग सामान्य साधु के गुणों से भी शून्य प्राय: होते हुए आचार्य पद का लेबिल अपने नाम के साथ जोड़ने को तत्पर रहते हैं वहां धर्मसागर महाराज की मनोवृत्ति बड़ी अद्भुत है। जब महावीरजी में पूज्य महाराज श्री मुनिसंघ सहित विराजमान थे उस समय आचार्य श्री शिवसागरजी के स्वर्गारोहण के पश्चात् संघनायक का गौरव चतुर्विध संघ के द्वारा धर्मसागरजी मुनिराज को प्राप्त हुआ था। मैंने महाराज से कहा "आपको आचार्य पद पर शोभायमान देखकर हृदय बहुत हर्षित हुआ" इस बात पर महाराज श्री ने प्रसन्नता व्यक्त न करके कहा कि "पंडितजी! दिनभर लोग नमोऽस्तु करते हैं हमारा समय आशीर्वाद देते रहने में ही निकल जाता है तथा संघ संचालन का भार भी बढ़ गया हम तो मुनि ही ठीक थे" यथार्थ में वे बड़े शांत स्वभावी, संतोषी तथा विशालहृदय साधु है। वे वास्तव में जन्मजात साधु (born saint) लगते हैं।

मुनि रूप में महाराज श्री सिद्धवर कूट तीर्थ पर विराजमान थे। वहां अनेक कठिनाइयों के मध्य मैंने उन्हें प्रशान्त तथा वीतराग रूप में देखा था। मुझ पर उनकी दया दृष्टि थी। मैंने निवेदन किया "महाराज मैंने सम्पूर्ण महाबन्ध शास्त्र का संपादन किया है तथा वह रचना ताम्रपत्र रूप मे विराजमान है। उस ग्रन्थ में आचार्य भूतवली महाराज ने मंगलपद्य नहीं दिया है। उन्होने गौतम गणधर रचित मंत्रों को अपने ग्रंथ का मंगलाचरण स्वीकार किया है। इससे 'णमो जिणाणं' आदि मंत्रों की महत्ता ज्ञात होती है। यदि आप गणधर-वलय के मंत्रों का पाठ रोज करें तो आपको अद्भुत शांति प्राप्त होगी।" मेरी विनम्र प्रार्थना को स्वीकार करके उसी दिन से उन्होंने बहुत समय लगाकर वह जाप्य शुरू कर दी। मैंने देखा पूज्य धर्मसागर महाराज साधारण मुनि की श्रेणि से ऊंचे उठकर समस्त समाज के विशिष्ट गौरवपूर्ण साधुओं के मध्य स्मरण किये जाने लगे हैं। आज सारा समाज उनकी महत्ता को शिरोधार्य करता है।

एक बार महावीर जयंति के अवसर पर दिल्ली से मै टोंक जिला (राजस्थान) के समीप ग्राम में विराजमान आचार्य शिवसागर महाराज तथा उनके संघ के मुनीश्वरों के दर्शन हेतु पहुंचा। राजस्थान की रेतीली भूमि ने उष्णता को भीषण रूप दे दिया था। धर्मसागर महाराज ने एक दिन पूर्व उपवास किया था तथा जिस दिन मैं वहां पहुंचा महाराज श्री को अन्तराय आ गया था। एक घूंट भी पानी शायद वे नहीं पी सके। संघ का वहां से अपने प्रोग्राम के अनुसार दूसरे ग्राम के लिए विहार हो गया। धर्मसागर महाराज उस दिन वहीं रह गये। मैं ब्र० लाड़मलजी के साथ बहुत समय तक महाराज के पास रहा। महाराज प्रशान्त तथा प्रसन्नचित्त हो तृषा परिषह के विजय में तत्पर थे।

आचार्य महाराज यथार्थ में रत्नत्रयधर्म के सागर हैं। आर्षवाणी मे उनकी अपार श्रद्धा है। सतत शास्त्राभ्यास द्वारा उनका ज्ञान तथा चिंतन उच्चकोटि का है। वे अपने त्रयोदशविध चारित्र के पालन में सदा सावधान रहते हैं। स्वामी समन्तभद्र ने साधु परमेष्ठी का विषयों की आशारहित, आरम्भ तथा परिग्रह का परित्यागी होने के साथ ज्ञान-ध्यान में तत्पर रहना आवश्यक बताया है। ये लक्षण आचार्य महाराज में विद्यमान पाए जाते हैं। क्षत्रचूड़ामणि में कहा है—

रत्नत्रयविशुद्धः सन् पात्रस्नेही परार्थकृत्।
परिपालित धर्मो हि भवाब्धेस्तारको गुरुः ॥१-३०॥

जो रत्नत्रय के पालन द्वारा विशुद्ध है, सत्पात्र का स्नेही है, परोपकारी है, धर्म का आचरण करता है

ऐसा गुरु संसार समुद्र से जीव को पार करता है। आज दर्शनमोह के उदय से आगम विपरीत श्रद्धा, आचरण-युक्त परिग्रहधारी को अविवेकी वर्ग गुरु मानता है शास्त्र में ऐसे मोही व्यक्तियों को कुगुरु कहा है।*

उज्ज्वल चरित्र तथा ज्ञानादि में वृद्ध महात्माओं का समागम जीवन को मंगलमय बनाता है। ज्ञानार्णव में कहा है—

> तप. कुर्वन्तु वा मा वा चेत् वृद्धान् समुपासते।
> तीर्त्वा व्यसन कांतारं यांति पुण्यां गति नराः ॥५-३५॥

तुम तप करो अथवा न करो यदि श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से वृद्ध व्यक्तियों का आश्रय ग्रहण करते हो तो संकटरूप अटवी से निकलकर तुम उत्तम गति को प्राप्त करोगे।

आचार्य श्री धर्मसागर महाराज यथार्थ में संसार सिंधु से जीवों को पार लगाने वाले सच्चे गुरु हैं उन आध्यात्मिक विभूति को मेरा सदा प्रणाम है।

---

* पं० दौलतरामजी कहते है 'ते कुगुरु जन्म-जल उपलनाव' वे कुगुरु जन्म-मरण रूप संसार मे पत्थर की नौका के समान है। यह जनोक्ति सारगर्भित है—"जैसे गुरु तैसे चेला, दोनों नरक में ठेलमठेला।

तुमसे ज्यादा विद्वान हो जावेंगे

□ श्री श्रीनिवास जैन, शास्त्री
झालरापाटन सिटी (राज०)

> गुरवः पान्तु वो नित्यं ज्ञान-दर्शन नायकाः।
> चारित्रार्णव गम्भीरा,-मोक्ष मार्गोपदेशकाः ॥
> साधूनां दर्शनं पुण्यं-तीर्थं भूताहि साधवः।
> कालेन फलते तीर्थं-सद्यः साधु समागमः ॥

परम पूज्य प्रातः स्मरणीय महान् तपस्वी आचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज के अभिवन्दन की पुनीत बेला में उनका अभिवन्दन ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। यह जानकर प्रसन्नता हुई। विश्व के साधु सन्तों में दिगम्बर जैन साधु सन्तों का स्थान सर्वोपरि है उनके विषय में कुछ लिखना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज महानतम् सन्तों में से एक हैं, वे रत्नत्रय की साकार प्रतिमा हैं, उनका निर्दोष तपश्चरण श्लाघनीय है। ऐसे सन्त के सर्वांग व्यक्तित्व का चित्रण आवश्यक है जिससे आगामी सन्तति उनसे प्रेरणा लेकर स्वपर कल्याण कर सके।

वि० सं० २००१ में स्व० पूज्य आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज का विशाल संघ झालरापाटन में आया था उस समय आप क्षुल्लक अवस्था में थे हमेशा अध्ययनरत रहा करते थे उस वक्त मैं तीन चार माह अनिवार्य कारण से देश में रहा। वि० सं० २०२२ में आप अपने संघ सहित मुनि अवस्था में झालरापाटन में

पधारे तभी आप श्री ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन में पधारे और ग्रंथों का अवलोकन भी किया। प्रतिदिन प्रातः आपके धर्मोपदेश होते थे जिनमें काफी मात्रा में जनसमुदाय उपस्थित होता था। आपके सम्पर्क से श्री कस्तूरचन्द जैन जो कि यहाँ पर स्थित मन्दिरजी में पुजारी का कार्य कर रहे थे आपके उपदेशामृत से उनके भाव आत्म सुधार के हो गये और वे आचार्य श्री के साथ चले गये। जाते समय मैंने आचार्य श्री से विनम्र निवेदन किया कि श्री कस्तूरचन्दजी को अभी धर्म ज्ञान कम है अतएव मुनि दीक्षा न दें। आचार्य श्री ने कहा "तुमसे ज्यादा विद्वान हो जावेंगे" मैंने प्रसन्नता प्रगट की। कुछ समय उपरान्त ही उन्हें मुनि दीक्षा दे दी गयी, जो कि आज श्री १०८ दयासागरजी महाराज के नाम से विशाल संघ के नायक हैं और दक्षिण में उनका चातुर्मास हो रहा है। यह सब आचार्य श्री के व्यक्तित्व का ही प्रभाव है।

वास्तव में ऐसे ही दिगम्बर जैन वीतरागी गुरुओं के द्वारा आत्मकल्याण का मार्ग प्रदर्शित होता है अनादि निधन जैन धर्म में गुरुओं का स्थान सनातन से उच्च चला आ रहा है। धर्म की ठोस प्रभावना गुरुओं के द्वारा ही होती है। यद्यपि अरहंत भगवान तत्त्वज्ञान के विधाता हैं, किन्तु उनके तत्त्वज्ञान का प्रकाश भी गुरुओं के द्वारा ही प्रकाशित होता है।

दिगम्बर जैन मुनियों में त्याग का उद्देश्य परमपद प्राप्त करना है। संसार की समस्त वस्तुओं का परित्याग कर वे अपने शरीर में भी निस्पृह रहते हैं दि० जैन मुनि बन जाना साधारण कार्य नहीं है। इस त्याग में अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग किया जाता है कोरा दिगम्बरत्व तो कार्यकारी नहीं है परन्तु विवेक पूर्वक विषयों के राग को नष्ट करके संसार की सभी वस्तुओं को एवं सुखों को सुखाभास एवं कष्ट-दायी समझकर जिसने छोड़ दिया है ऐसा 'दिगम्बरत्व' महान् श्रेष्ठ वस्तु है और अविनश्वर सुख को प्राप्त कराने वाला है ऐसे दिगम्बरत्व में दुःख की कल्पना करना अनभिज्ञता है।

आचार्य सोमदेव सूरि ने यशस्तिलक चंपू में कहा है—

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादि कीटके।
एतत् चित्रं यदद्यापि जिनरूप धरानराः॥

इस कलि काल में चित्त की चंचलता अधिक रहती है शरीर अन्न का कीड़ा है फिर भी कितना आश्चर्य है कि इस समय भी दि० जैन साधु का रूप धारण करने वाले मनुष्य मौजूद हैं।

ऐसे निर्भय तथा जातरूप धारी मुमुक्षु आचार्य श्री परम तपस्वी हैं उनकी दिगम्बर मुद्रा सर्वोत्कृष्ट एवं पूज्य है। ऐसे गुरुओं के चरण जहां २ पड़ते हैं वहां २ तीर्थ हो जाते हैं।

पं० भूधरदासजी ने भी कहा है—

वे गुरु चरण जहां धरें, जग में तीरथ जेह।
सो रज मम मस्तक चढ़ो भूधर मांगे एह॥

ऐसे स्वपर कल्याणकारी अध्यात्मवेत्ता पूज्य आचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज के चरणों में शत शत नमन।

संघ के साथ प्रथम दर्शन

□ श्री पं० लाडलीप्रसादजी जैन
['नवीन' सवाईमाधोपुर]

प० पू० चारित्र चक्रवर्ती स्व० आचार्य श्री १०८ शांतिसागरजी महाराज के प्रधान शिष्य स्व० आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज जब वि० सं० २००५ में नैनवां से विहार करते हुए सवाईमाधोपुर पधारे और उस वर्ष का वर्षायोग धारण किया तब आपके श्री संघ में आपके साथ १०८ मुनि श्री आदिसागरजी महाराज क्षु० १०५ श्री सिद्धसागरजी महाराज क्षु० १०५ श्री शिवसागरजी महाराज एवं श्री १०५ क्षु० धर्मसागरजी महाराज तथा अन्य आर्यिका–क्षुल्लिका माताजी आदि अनेक त्यागी-व्रतीगण थे ।

संघस्थ क्षु० श्री धर्मसागरजी महाराज सदा एकान्त में ध्यानाध्ययन में लीन रहते थे । जब भी गोचरी को निकलते तो ईर्यापथ शुद्धि पूर्वक आपकी प्रसन्नमुद्रा आकर्षित करती थी । जब महाराज श्री का हमारे घर प्रथम बार आहार हुआ तो आहार के पश्चात् कहने लगे भाई ! तुम्हारी बिक्री तो हो गई—अब हमारा व्यापार भी होना चाहिए । मैं उनके इस मन्तव्य को स्पष्ट समझ नहीं सका और सकुचाया कि यह क्या व्यापार हो सकता है ? शायद कुछ दान आदि के सम्बन्ध में कहें, कुछ भी समझ न सका फिर भी महाराज से तो मैंने कह ही दिया महाराज जैसी आप आज्ञा करे, तो कहने लगे घबराओ नही हमें रुपया पैसा नहीं चाहिए । भाई ! हम तो चाहते है कि कुछ नियम आदि ग्रहण करो जिससे आपकी आत्मा को लाभ हो-कल्याण हो । मेरी उस समय लगभग २६-२७ वर्ष की आयु थी मै सोचता रहा कि क्या नियम लूं तभी मेरी ओर संकेत करते हुए कहा कि भाई और कुछ नहीं तो कम से कम १ माला णमोकार मंत्र की और स्वाध्याय तो प्रतिदिन तुम से बन जावेगा । मैने तत्काल पूज्य क्षुल्लकजी महाराज (धर्मसागरजी) से प्रतिदिन उक्त कार्य करने का नियम ले लिया जो आज तक निरन्तर ३२ वर्ष से चल रहा है ।

चातुर्मास काल की ही बात है पूजा–विधान का मंगल कार्य चल रहा था उस समय मैं हिन्दी सिद्ध पूजा करवा रहा था तो कहने लगे संस्कृत पूजा क्यों नही करवाते । मैंने उसी समय संस्कृत सिद्धपूजा कराना प्रारम्भ कर दिया और कुछ देर पश्चात् उन्होंने अपने पास बुलाकर कहा भैया जो भाव–रस संस्कृत पूजा में आता है वह हिन्दी पूजा में नही आता अतः संस्कृत का अभ्यास करो ।

इसी प्रकार जब आचार्य पद होने के पश्चात् वि० सं २०२७ में मुझे टोंक चातुर्मास में सिद्धचक्र विधान कराने के लिए समाज के निमंत्रण पर जाना पड़ा तब आचार्य श्री वहीं विराजमान थे । उन्होंने जब सुना कि मैंने देव-शास्त्र-गुरु पूजा हिन्दी में प्रारम्भ की है तो तुरन्त बोले क्या अभी भी संस्कृत का अभ्यास नहीं किया । मैं बड़ा शर्मिन्दा हुआ कि महाराज श्री के २२ वर्ष पूर्व मिले उद्बोधन को विस्मृत कर गया और महाराज श्री को अभी तक याद है । मैंने शीघ्र ही संस्कृत में पूजा करवाना प्रारम्भ किया । इस प्रकार वे अविस्मरणीय क्षण मुझे आज इस अभिवन्दन बेला में स्मृत हो गए अतः अतृप्त आनन्द प्रदायी उन क्षणों को जड़ लेखनी के माध्यम से यहां उद्धृत कर दिया है । आपके आशीर्वाद और ब्र० सूरजमलजी के अत्यन्त निकटतम सान्निध्य से मुझे विधि-विधान सम्बन्धी यत्किंचित् ज्ञान हुआ है । आचार्य श्री को मैं इस जीवन का प्रेरणा स्रोत मानता हूं मुझ अल्पज्ञ के पास उनके अपरिमित गुणों को कहने की शक्ति कहां है ? मैं उनकी छत्रछाया में रहकर आत्मकल्याण की भावना भाते हुए उनके पूज्य चरणों में अनेकशः वन्दन करता हूं ।

ग्राम्यवासी मानव विश्ववंद्य सन्त बना

□ श्री पं० मिश्रीलालजी शाह
(पद्मपुरा क्षेत्र)

संघस्थ पं० धर्मचन्दजी शास्त्री द्वारा किये जाने वाले शुभ उपक्रम की सूचना मिली कि वे प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का अभिवन्दन ग्रंथ निकाल रहे हैं तो मन में आनन्द की तरंगें उठने लगीं, क्योंकि स्व० प० पू० चा० च० १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के परम्परागत आचार्य पद पर आप आसीन हैं। आपने २५०० वें परिनिर्वाणोत्सव वर्ष में ससंघ देहली चातुर्मास करके ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया है कि देहली जैन समाज व वहां की जनता, नेता प्रभृति सभी वर्गों मे यह चर्चा थी कि नूनमेव आप निर्लेपसाधु और स्वपरोद्धारक लक्ष्य बनाये हुए विशिष्ट सन्त हैं। स्पष्टवादिता और निर्भीकता आपकी अधिकृत वस्तु है।

आपके कुमार काल के कुछ क्षण इस समय स्मृति पटल पर उभर रहे हैं जिससे यह ज्ञात होता है कि इस प्रकार के शुभ संस्कार और जीवन की दृढ़ता प्रारम्भ से ही आप में थी।

आपकी जन्म भूमि यद्यपि बूंदी जिले का गंभीरा गांव है। लघुवय में ही आपके माता-पिता का वियोग हो जाने से चचेरी बहिन का सहारा मिला, किन्तु बहिन भी दुर्दैववश पति वियोग के दुःख से घिर गई। अतः अध्ययन तब साधारण ही बन पड़ा।

जब आप २० वर्ष के थे तब नैनवां में श्री १०८ स्व० चन्द्रसागरजी महाराज का पदार्पण हुआ था। उन पूज्य श्री के सम्पर्क व चरण सान्निध्य से आपके हृदय में धर्मानुराग तरंगित हो उठा, फल स्वरूप खान-पान सम्बन्धी मर्यादा मे बद्ध हो गये।

एक दिन की बात है स्व० श्री राजमलजी मारवाड़ी जैनाग्रवाल की दुकान पर बैठे थे। उनसे क्रय-विक्रय (कपड़े की खरीद बिक्री) सम्बन्धी आर्थिक कमी की पूर्ति के लिए योगदान लिया करते थे। मैं भी तब बैठा हुआ था उस समय मैं नैनवां जैन विद्यालय में प्रधानाध्यापक पद पर था। तब कजोड़ीमलजी छाबड़ा (आचार्य श्री) मुझ से कहने लगे "पंडितजी मैं तो ठोठ रह गया। पढ्योड़ा लिख्योड़ा तो छाँ कोनी लेवा देवी कर गुजारो चलावां छाँ, झूठ पाखंड करवा म्हाँनै आवै नही, हिसाब का पीसा लेकर धंधो करां छां, मांकी तो भगवान सुणेलो और पार लगावेलो। पहले प्रातः ही पाठ, स्वाध्याय को काम पाछे दूजो काम। श्री चंद्रसागरजी महाराज को सम्पर्क मिल्यो छै सो अच्छो ही होसी।"

कितनी गुरु भक्ति थी आप में यह उक्त बात से सिद्ध होता है। पश्चात् आप इन्दौर चले गये। वहां स्व० कल्याणमलजी साहब की दोनों सेठानी साहिबा का सम्पर्क मिला, आप वहीं कार्य करते थे। वहाँ रहकर भी आपने जब अपने शुद्ध जल सम्बन्धी नियम की पाबंदी में दृढ़ता की बात की तो वे भी आपके नियम व्रत से प्रभावित रहे। फिर शनैः शनैः आपकी भावना में वृद्धि होती गई आपने इन्दौर में ही श्री वीरसागरजी मुनिराज से द्वितीय प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये। इस प्रकार जब आपने घर छोड़ साधु समागम में रहना ही ध्येय बना लिया तब आप त्यागके क्रमिक विकास से आगे बढ़ते गए और आज तो इतने बड़े दायित्व पूर्ण पद पर पहुंच गए हैं तथा सत् साधुता से जगत् के मन को जगत् की माया से निकालने का मूक मुद्रा मे उपदेश दे रहे हैं।

धन्य है आपकी मुद्रा और धन्य है आपकी निस्पृहता को। शत शत प्रणाम करते हुए भावना भाता हूं कि आपकी छत्रछाया में सदैव हम आत्मकल्याण का मार्ग प्राप्त करते रहें।

☆

'महावीर के अनुयायी महावीर बनो' के उद्घोषक

आचार्य श्री धर्मसागरजी

□ श्री पं० सुमेरचन्द्रजी

(एम. ए., शास्त्री, न्यायतीर्थ, दिल्ली)

आचार्य प्रवर सिहनन्दि के समक्ष उत्तर भारत से दो युवक पहुंचे। दोनों के शरीर और मुखमण्डल का तेज उनके क्षत्रिय होने की सूचना दे रहा था। युवकद्वय ने आचार्य श्री को नमस्कार किया और गंगराज्यवंश की स्थापना की भावना व्यक्त की। आचार्य श्री ने धर्म और धर्मायतन तथा संस्कृति की रक्षा करने का आदेश देते हुए कहा कि तुम वीर के अनुयायी हो। क्षत्रिय की संतान हो तुम्हारे राज्य में प्रजा सुखी समृद्ध एवं धर्मपरायण हो। तुम्हारे राज्य में त्यागी, तपस्वी, विद्वान एवं धार्मिकजनों की सदा सेवा होती रहे इसका ध्यान रखना इत्यादि वचनों में आशीर्वाद प्रदान किया। वे युवकद्वय थे दधिग और माधवकुमार और इन्होंने ही उत्तर भारत से दक्षिण भारत में जाकर गंगवंश की स्थापना की थी।

इसी गंगवंश के प्रधान सेनापति थे श्री चामुण्डराय जो कि वीरमार्तण्ड की उपाधि से विभूषित थे। इन्हीं चामुण्डराय ने अजितवीर्य भगवान बाहुबलि की विश्व को आश्चर्यकारी प्रतिमा का निर्माण कराकर प्रतिष्ठित किया जिसे स्थापित हुए २२ फरवरी १९८१ को सहस्र वर्ष होने जा रहे है।

कोई समय था जब इस प्रकार के त्याग-तप और ज्ञान के आराधक निष्परिग्रही, निस्पृह, दिगम्बर साधु गाव-गांव, नगर और जनपदों में विहार कर अहिसा का मंगलमय सदेश देते थे।

उस दिगम्बर मुद्रा को प्राप्त करने की भावना भर्तृहरि महाराज ने भी निम्न शब्दों में की थी—"भगवन्! वह दिन कब आवेगा जब मैं अकेला निस्पृह शान्त, पाणिपात्र होकर दिगम्बर बन कर्मनाश करने में समर्थ होऊंगा।"

इसी दिगम्बर मुनि परम्परा में धर्मसागरजी महाराज भी ऐसे ही साधुराज हैं। वे एक प्रमुख संघ के आचार्य हैं। उनमे जिनागम की रक्षा और प्राचीन परम्परा सुरक्षित बनी रहे इसका वे पूर्ण ध्यान रखते है। उनमें सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ता एवं गुरु परम्परा की रक्षा का भाव है। बालकवत् सहज सरलता उनकी अपनी एक विशेषता है। विशाल संघ के नायक होकर भी गर्व उनको स्पर्शित भी नहीं कर सका है। संघस्थ प्रत्येक साधु उनके संघ में ही रहना चाहता है चाहे अन्यत्र कितना ही आकर्षण क्यों न हो, गुरु को छोड़कर कोई जाना नही चाहता, यह उनकी आत्मीयता का परिचायक है।

जब वे राजस्थानी भाषा का पुट देकर सरल हिन्दी में प्रवचन देते हैं तो ऐसा ज्ञात होता है कि ज्ञान का सार थोड़े में श्रोता तक पहुंचाने के लिये उत्सुक हैं। जिसका प्रभाव व्यक्ति के हृदय तक प्रवेश कर जाता है और वह व्यक्ति मन ही मन उनके त्याग, तप और संयम की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता है।

भगवान महावीर के २५०० वें परिनिर्वाण महोत्सव में सम्मिलित होने के लिये दिल्ली जैन समाज, तिजारा (अलवर) निवेदन करने गई थी और समाज के आग्रह पर वे दिल्ली पधारे। आचार्यरत्न श्री देशभूषणजी महाराज लगभग २ वर्ष पूर्व जयपुर से ही दिल्ली के लिये विहार कर पहुंच चुके थे। आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज तथा मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज का नाम दिगम्बर सम्प्रदाय की ओर से भगवान महावीर परिनिर्वाणोत्सव की राष्ट्रीय कमेटी में प्रमुख अतिथि के रूप में रखा गया था। परिनिर्वाणोत्सव संबंधी समस्त कार्यों में उभय आचार्यों (धर्मसागरजी व देशभूषणजी महाराज) ने अनन्य सहयोग देकर दिगम्बर समाज का अपूर्व नेतृत्व किया।

आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज अपने सिद्धान्तों के दृढ़, परमतपस्वी, अत्यन्त सरल एवं भद्रप्रकृति महापुरुष हैं। आचार्य श्री शाँतिसागरजी महाराज की पट्टपरम्परा के आचार्य रत्न हैं। आपके परिनिर्वाणोत्सव में अपने विशालतम संघ सहित दिल्ली पधारने से उत्सव मे दिगम्बर सम्प्रदाय का महत्त्व अत्यन्त गौरवमयी रहा है एवं आर्षपरम्परा संरक्षित रही है। इतने अधिक दिगम्बर मुनिराज, आर्यिकाएं दिल्ली में उत्सव के अवसर पर एकत्रित हो जावेंगे इसकी किसी ने कल्पना भी नहीं की थी। यह तो दिल्ली वालों का सौभाग्य ही था कि इस युग में ऐसी दिव्य विभूति का दर्शन हुआ।

१६ व १७ नवम्बर के प्रमुख कार्यक्रमों के अतिरिक्त उन्होंने उत्सव सम्बन्धी अन्य कार्यक्रमों में भी भाग लिया और धर्म प्रभावना में अपूर्व योगदान दिया। १६ नवम्बर १९७४ को चारों जैन सम्प्रदायों का एक सम्मिलित विशालतम जुलूस निकला उसमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही रथ निकले आचार्य श्री ससंघ दिगम्बर वीतराग प्रभु के रथ के साथ जुलूस में चले जिससे उस कार्यक्रम की शोभा द्विगुणित हो गई। चारों सम्प्रदाय के साधुगण जुलूस में थे। १७ नवम्बर को रामलीला मैदान पर होने वाली विशाल आमसभा में आपने अहिंसा धर्म के परिप्रेक्ष्य में आम जनता को शाकाहारी बनने का बड़े ही प्रभावपूर्ण शब्दों में आह्वानन किया तथा सिंह गर्जना में कहा कि "महावीर के अनुयायी महावीर बनो" जनता मंत्र मुग्ध होकर आपके उपदेशामृत का पान कर रही थी।

शास्त्रों में गुरु का लक्षण बताते हुए कहा है कि—

रत्नत्रय विशुद्धः सन्, पात्रस्नेही परार्थकृत्।
परिपालित धर्मोऽयं, भवाब्धेस्तारको गुरुः॥

अर्थात् जो रत्नत्रय से विशुद्ध हो, पात्र से स्नेह करता हो, दूसरों के कल्याण में सतत प्रयत्नशील हो, संसार रूपी समुद्र से पार करने में जो समर्थ हो वही गुरु है। आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज इसकी प्रतिमूर्ति हैं।

भगवान महावीर स्वामी के २५०० वें परिनिर्वाणोत्सव के २५ दिन पश्चात् २५ दिगम्बर मुनिराज एक मंच पर एकत्रित हुए थे। दरियागंज में होने वाले इस महोत्सव मे आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज ने ३ मुनि दीक्षा और ४ आर्यिका दीक्षा प्रदान की थीं। नवयुवतियों ने जब देवाङ्गना सदृश कमर तक फैले काले एवं घुंघराले सघन बालों का लोंच किया था वह दृश्य जीवन की क्षणभंगुरता पर विचार करने की प्रेरणा दे रहा था। दृश्य बड़ा ही हृदय द्रावक था। शाश्वत सुख का मार्ग एकमेव यही है कि दीक्षा धारण कर आत्म कल्याण करें। अत: सभी की दृष्टि केन्द्रीभूत थी उस वैराग्य वर्धक दृश्य की ओर। जब आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज सभी दीक्षार्थियों पर दीक्षा सम्बन्धी संस्कार कर रहे थे तब उन्होंने जो कहा वह भूतकाल की स्मृति

करा रहा था जब आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज ने सल्लेखना के समय अपना आचार्य पद श्री वीरसागरजी महाराज को दिया था और कहा था कि "जिन शासन की रक्षा में सदैव तत्पर रहना"। इसी प्रकार की बात आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज ने उस दिन नवदीक्षितों को कही थी कि "इस पद की गरिमा का ध्यान रखना और ऐसा कोई कार्य नहीं करना जिससे अपने पद मे लाञ्छन लगे। यह महान पद है इसको धारण कर आत्मकल्याण करते हुए धर्म की उन्नति में सतत प्रयत्न करना।"

इसके पश्चात् आचार्य श्री ने उत्तरप्रदेश के अनेक ग्रामों एवं नगरों में २ वर्ष पर्यन्त भ्रमण कर धर्म की अपूर्व प्रभावना की। उत्तरप्रदेश में उनके दो महान् प्रभावक चातुर्मास हुए।

इस प्रकार के साधु पुंगव आचार्य प्रवर श्री धर्मसागरजी महाराज रत्नत्रय की वृद्धि करते हुए शतायु होवें और निर्वाणमार्ग के अनुगामी बने। दिगम्बर जैन समाज उनके नेतृत्व में अपना अभ्युत्थान करती रहे यही मंगल भावना है।

इन्हीं भावनाओं के साथ मैं परम पूज्य विश्ववंद्य, दिव्यविभूति आचार्य श्री को शत-शत प्रणाम करता हूं।

सहारनपुर का वर्षायोग

□ श्री विनोदकुमार जैन, शास्त्री, सहारनपुर
[आचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्थ]

समुद्रसम गम्भीर एवं भद्रप्रकृति गुरुवर्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के अभिवन्दन की पावन बेला में मन-उपवन में श्रद्धा से अंकुरित और ज्ञान से पुष्पित प्रसून हर्षोद्रेक से लहलहा रहे हैं मानों अपने परम श्रद्धेय परमवन्दनीय गुरुदेव के चरणों में समर्पित ही होना चाहते हैं। भक्ति के उद्रेक की सामर्थ्य से ही यत्किंचित् शब्दों में अपने श्रद्धासुमन समर्पित करने के लिए तत्पर हुआ हूं, किन्तु अनेक गुणों के समवेत पुञ्ज-स्वरूप आचार्य श्री के गुणानुवाद करने के लिये मेरे मानसिक शब्दकोष में वे शब्द ही नहीं हैं जिनसे मैं पूज्य गुरुदेव के गुणों को कह सकूं। सामर्थ्याभाव में भी भक्तिवश किया जाने वाला यह कार्य भानु को दीपक दिखाने के सदृश ही है। अस्तु !

प० पू० प्रात:स्मरणीय चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की आचार्य परम्परा के तृतीय पट्टाचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज को आचार्य श्री शिवसागरजी के पश्चात् आचार्य पद पर सुशोभित किया गया। उसके पश्चात् उन्होंने विशेषरूप से भारत के विभिन्न नगरों एवं ग्रामों में अपने वचनामृत द्वारा रत्नत्रय संयुक्त धर्म की वर्षा करते हुए अपनी ओजस्वी धर्मदेशना से अनेक मुमुक्षु जीवों को आत्मकल्याण का मार्ग दर्शाया है। आपकी कथनी और करनी एक सदृश है जो अन्यत्र दुर्लभ दिखाई देती है।

इसी शृंखला में सन् १९७४ में सम्पन्न होने वाले भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाणोत्सव के अवसर पर होने वाली धर्म प्रभावना के साथ-साथ दिगम्बर संस्कृति का संरक्षण आपने बड़ी कुशलता से किया। तत्पश्चात् १९७५ में हस्तिनापुर क्षेत्र के दर्शन करते हुए उत्तरप्रदेश के ऐतिहासिक नगर सहारनपुर पधारे। सहारनपुर नगर आचार्य श्री शांतिसागरजी की परम्परागत आचार्य संघों से अभी अछूता था। आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज भी यहां नहीं पधारे थे। अत: नगर में आपके ससंघ पदार्पण पर नगर वासियों में विशेष आनन्द एवं उत्साह था। वर्षायोग से पूर्व ही आपका यहां पदार्पण हुआ था, वर्षायोग समीप आने पर भी यहां

के समाज में चातुर्मास कराने की कोई विशेष रुचि नहीं दिखाई दी। आपने तो अपने मन में विचार कर लिया था कि सहारनपुर चातुर्मास यदि होता है तो ठीक है। खैर! आचार्य श्री की मनोभावना एवं समाज के प्रमाद का हटना तथा असीम पुण्य का उदय इन कारणों से उस वर्ष का चातुर्मास सहारनपुर में ही हुआ। सभी को धर्म-देशना श्रवण एवं वैयावृत्य आदि का अपूर्व लाभ मिला।

समय बीतता चला गया, चातुर्मास का अन्तिम दिन था। संघस्थ साधुगण आचार्य श्री के साथ यथा क्रम मंच पर विराजमान हैं। आज विशेष कार्यक्रम है, संघ को नवीन पिच्छिका परिवर्तन करना था। आचार्य श्री ने एक घोषणा की कि युवापीढ़ी में से जो भी व्यक्ति आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण करेगा वही मुझे नवीन पिच्छिका प्रदान कर पुरानी पीछी प्राप्त करेगा। ब्रह्मचर्य व्रत और वह भी आजीवन तथा उसमें भी युवापीढ़ी का व्यक्ति। समाज में यह सब कुछ असम्भव सा लगा। चातुर्मास में आचार्य श्री की धर्म देशना एवं गतिविधियों के निमित्त मेरे मन में उनकी वाणी का प्रभाव परोक्ष रूप से पड़ता ही था। उन्हीं संस्कारों ने सहसा सोचने के लिए मजबूर किया। विचार आया "आत्मोन्नति के पथ पर अग्रसर होने का इससे अच्छा और अन्य अवसर नहीं प्राप्त होगा। संसार संवर्धन की मूल विषय वासना को समाप्त करना ही श्रेयस्कर कार्य है और उस मूल का उच्छेद करने में भाव पूर्वक धारण किया गया ब्रह्मचर्य व्रत ही समर्थ है।" ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है अतः मन में सुप्तचेतना जागृत हुई और भावना बनी कि आज से आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण कर इस मनुष्य जीवन को मोक्षमार्ग में लगाकर सार्थक करना है। खड़ा हुआ और पहुंचा आचार्य श्री के चरणों में तथा मनके भावों को व्यक्त किया। सम्बोधन प्राप्त हुआ "यह व्रत महान है व्रत ग्रहण करना आसान है निभाना अत्यन्त कठिन है। सोच लो," मैंने जब अपनी दृढ़ता व्यक्त की तो आचार्य श्री ने सहर्ष आशीर्वाद प्रदान कर व्रत ग्रहण कराया।

मैंने अनुभव किया कि सहारनपुर का यह चातुर्मास मेरे लिये वरदान सिद्ध हुआ। मेरे जीवन की दिशा ही बदल गई। इसी प्रकार सन् १९७९ का उदयपुर नगर में किया गया चातुर्मास भी जीवन में अवि-स्मरणीय हो गया जिसमें मैंने गुरुदेव के चरण सान्निध्य में ही पाक्षिक श्रावक से नैष्ठिक श्रावक के व्रत ग्रहण किये अर्थात् द्वितीय प्रतिमा ग्रहण की।

सहारनपुर चातुर्मास के पश्चात् तो मैं गुरुदेव की सन्निधि में अनेक बार पहुंचा हूं। मैंने आप में देखा कि आप सिंह सदृश निर्भीक, श्रेष्ठ सौम्यमूर्ति, सारण-वारण-शोधन में निरन्तर उद्युक्त योगिराज हैं। आपकी सूक्ष्म बुद्धि, अपार पांडित्य, विशाल स्मृति और अनुपम व्यासंग आपके जीवन की अमूल्य विशेषताएं हैं। आपका जीवन अनेक घटनाओं से भरा हुआ है।

प्रसंगवश आपके जीवन के प्रारम्भकाल की कुछ घटनाएं आपके श्री मुख से सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, उससे लगता है कि आपके जीवन में मन-वचन-काय की ऋजुता, सहजता, पाप भीरुता, निष्कम्पता आदि अनेक गुण बचपन से ही रहे हैं और रही है आपकी विशेष प्रवृत्ति कि 'खरा सो मेरा'। मेरा सो खरा तो आपने कभी कहा ही नहीं। आप बचपन से ही निष्पाप प्रवृत्ति के भद्र परिणामी, संतोषवृत्ति के रहे हैं।

आपकी स्मृति की अमिट छाप मेरे हृदय पटल पर सतत शाश्वतरूप से विद्यमान है एवं चिरकाल तक विद्यमान रहेगी। आपके श्रद्धा, ज्ञान, आचरण निर्मोहिता आदि अनेक गुणों के प्रकाशपुञ्ज ने मुझ अज्ञ पामर के हृदयांधकार में ज्ञानालोक की जो स्थायी किरण प्रज्वलित की है उस ऋण से मैं कभी उऋण नहीं हो सकूंगा। मैं परमोपकारी गुरुवर के चरणों में त्रिधा शत-शत वंदन करते हुए आपके सारोग्य दीर्घायु जीवन की जिनेन्द्रदेव से मंगल कामना करता हूं।

शतशः नमन और प्रणमन

□ श्री स्वतन्त्रजी जैन,

(भूतपूर्व सम्पादक जैन मित्र, गंजबासौदा)

प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज लगभग १५-१६ वर्ष पूर्व गंजबासौदा ससंघ पधारे थे। उस समय आप मुनि थे और संभवत: दो मुनि आपके साथ और थे। मैं उन दिनों अन्यत्र प्रवास काल में था। मेरे वापस आते ही शास्त्र प्रवचन में अनेक सज्जन कहने लगे कि 'स्वतंत्रजी' आज आप अपना शास्त्र प्रवचन कम समय के लिए करें। यहाँ पर मुनि श्री धर्मसागरजी (वर्तमान आचार्य) आए थे उनके विषय में आपसे चर्चा करेंगे। मैंने कहा भाई मेरा शास्त्र प्रवचन तो प्रतिदिन होता है। आज न भी हो तो कोई बात नहीं है आप मुनि श्री के समाचार सुनाइए यही छोटा-मोटा प्रवचन का रूप हो जावेगा।

एक विद्वान् सज्जन ने कहा कि मुनि श्री के यहां पधारते ही चतुर्थकाल जैसा दृश्य उपस्थित हो गया था। वर्षों से समाज में जो असंगठित स्थिति थी समाज का संगठन उन मुनि श्री की तप:पूत वाणी के प्रभाव से हो गया है। महाराज श्री ने यहां एक जैन पाठशाला प्रारम्भ करने की प्रेरणा दी और उन्हीं के आशीर्वाद से समाज में सहस्रों रुपयों का चन्दा भी होगया और पाठशाला का शुभारम्भ भी हो गया है। मुझे सुनकर हार्दिक प्रसन्नता हुई तथा मैं उन तप:पूत महाराज श्री के प्रति अनन्य श्रद्धा से द्रवीभूत हो गया।

आपकी सिंहवृत्ति से, आपकी चर्या से, आपके उपदेशों से अजैन जनता विशेष प्रभावित हुई। नगर में गली और घर-घर में महाराज श्री की चर्चा थी। उनके सरल, सौम्य एवं वात्सल्यपूर्ण व्यवहार से सभी आनन्दित थे। समूचा बासौदा नगर ही उस समय धर्ममय बना हुआ था। अभूतपूर्व सिद्धचक्र विधान हुआ, ऐसा आनन्द तो यहां की समाज में कभी भी नहीं आया था।

इसके अतिरिक्त मैं यत्र-तत्र प्रवास में आचार्य श्री की प्रशंसा सुनता रहा। आजके इस दुर्धर्ष कराल पंचमकाल में निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण करना कोई सरल कार्य नहीं है। फिर निर्ग्रन्थ होने पर निर्ग्रन्थवृत्ति पूर्वक २८ मूल गुणों का पालन करना कितना दुर्लभ व दु:साध्य कार्य है इसको सामान्यजन न समझ सकेंगे। वीतराग निर्ग्रन्थ मुनि जगत् से लेता बहुत कम है और जगत को देता सबसे अधिक है। उनका आदर्शदान धर्मोपदेश और मार्गदर्शन करना है। जगत के जीवों को करुणाबुद्धि पूर्वक आत्मकल्याणार्थ हितोपदेश देते ही रहते है। वे स्वयं अपना कल्याण करते हैं एवं वाणी के माध्यम से जगत के जीवों का भी कल्याण करते है।

एक कवि के शब्दों में—

तुमसा दानी क्या कोई हो, जगको दे दी जग की निधियां।
दिन रात लुटाया करते हो, सम शम की अगणित मणियां।।

भगवान बाहुबली सहस्राब्दि प्रतिष्ठापना वर्ष महामस्तकाभिषेक के समय पूज्य आ० श्री धर्मसागरजी का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन कर रहे हैं यह आनन्द की बात है, सुन्दर आयोजन है।

मैं आचार्य श्री के चरणों में शतश: नमन और प्रणमन करता हूं।

सरल सौम्य एवं शांत संत के चरणों में अविस्मरणीय क्षण

□ श्री बसन्तकुमार जैन, शास्त्री, शिवाड़

महाराज श्री के दर्शनों का अनेकों बार अवसर प्राप्त हुआ है और उनका हृदय स्पर्शी सम्बोधन भी प्राप्त हुआ है। उनके सान्निध्य में व्यतीत कुछ अविस्मरणीय क्षण स्मृति पटल पर अंकित हो गए है और महाराज श्री की सरलवृत्ति का निरन्तर आभास देते रहते है।

बात चौथ का बरवाडा (राज०) की है उन दिनों महाराज श्री ससंघ वहाँ विराज रहे थे। मैं भी सपरिवार दर्शनार्थ गया था। मेरी आदत धोती का पल्ला पकड़कर चलने की है। मैं धोती का पल्ला पकड़े ही महाराज श्री के समक्ष खड़ा था। एक ब्रह्मचारीजी ने मुझ से कहा—बैठो बसन्तजी इसी बीच महाराज श्री ने कह दिया—"कैसे बैठेगा यह ? धोती छोड़ेगा तभी तो बैठेगा।" कितना सारगर्भित एवं शुभ संबोधन था यह और निकला था उनके सरल हृदय से, जिसकी अमिट छाप अभी भी हृदय पर है।

महाराज श्री उनियारा में ससंघ थे। मैं भी दर्शनार्थ पहुंचा। एक व्यक्ति ने मुझ से पूछा कहां से आए हो ? मैंने उत्तर दिया शिवाड़ से। महाराज श्री ने मेरी ओर देखा और बोले कहां है यह शिव की आड़ (मोक्ष का द्वार) ? महाराज के इन वचनों को सुनकर मैं क्या उत्तर देता, बस देखता ही रह गया। महाराज श्री बोले कुछ दिन हमारे साथ रहो सब समझ जाओगे।

२० फरवरी ६६ की बात है महाराजजी महावीरजी में थे। मैं उनके निकट पहुंचा और नमोऽस्तु कर पूछा महाराज आपका स्वास्थ्य तो ठीक है ? महाराज श्री कुछ रुककर मुस्कराए और बोले "किसके स्वास्थ्य के बारे मे पूछते हो—इस मोटे शरीर के बारे में ही तो? अरे ! जरा अन्दर की बात भी तो पूछा करो। पूछकर देखो कितना आनन्द आता है भीतर।" मैं गद्‌गद् हो गया और उन सरल सौम्य और शान्त सन्त की ओर निहारता ही रह गया।

बात सन् १९७५ की है। उन दिनों आचार्य श्री ससंघ मेरठ पधारे थे। मैं एक सज्जन को साथ लेकर उनके पास गया। नमोऽस्तु करने के पश्चात् मैंने कहा महाराज श्री ये यहां के सेठ के लड़के है। महाराज श्री कुछ मुस्कराए और "बोले तब तो कोका कोला भी पीते होंगे। पार्टियों में प्लेटों मे खाते-पीते भी होंगे, कार भी होगी और पैसा तो होना ही चाहिए। इनसे यह भी तो पूछो कि अपनी कुछ सुध-बुध है या नही ? सुनकर वह लड़का तो सुध-बुध को क्या समझे—तब मैने उनसे कहा कि महाराज पूछते हैं कि कुछ धार्मिकता भी है या नहीं ? लड़का स्वत: नम्रीभूत हो गया।

समय जाते क्या देर लगती है सन् १९७८ में भीण्डर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर महाराज श्री विराजमान थे। मैं दर्शन करने गया साथ में और लोग भी थे। मुझे देखकर एक साथी ने कहा कि इतनी दूर से खूब आए हो ? चूंकि उन महाशय ने यह प्रश्न महाराज श्री के समक्ष ही किया था अत: महाराज श्री बोले—ये बसन्तजी तो बस दूर से ही आते हैं और दूर ही जाते हैं। आज तक भी नजदीक न आया और न गया।

सत्यत: आचार्य श्री धर्मसिन्धु महाराज इतने सहज सरल परिणामी हैं कि इनकी सानी का कोई नहीं। व्यक्तिगत भेद भाव अथवा मोह-ममता तो नाम मात्र भी आप में नहीं दिखाई देती। आप सबके हैं और सब आपके हैं। सच्चा वैराग्य और आत्मसाधना की यथार्थ झलक यदि देखना है तो परमपावन पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का चरण सान्निध्य प्राप्त करना चाहिए।

☆

विश्ववंद्य महान विभूति

□ ब्र० श्री धर्मचन्दजी जैन, शास्त्री
(ज्योतिषाचार्य, प्रतिष्ठाचार्य, संघस्थ)

भगवान महावीर पूर्ण वीतराग साक्षात् परमात्मा थे और थे अलौकिक दिव्य महापुरुष, उन्होंने तत्कालीन युग में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन करके पूर्व तीर्थंकर महापुरुषों द्वारा प्रतिपादित अनादिनिधन धर्म का प्रतिपादन किया। भगवान् महावीर के पश्चात् भी वह परम्परा चलती रही। आचार्य श्री धरसेन, पुष्पदन्त-भूतबली, कुन्द कुन्द, उमास्वामि, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंकदेव आदि आचार्य गणों ने उस परम्परा को अक्षुण्ण बनाया।

लगभग २ शताब्दि से लुप्तप्राय: दिगम्बर मुनिमार्ग को पुन: प्रकट करने वाले प० पू० प्रात:स्मरणीय चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज भौतिकता प्रधान वैज्ञानिक युग की इस २०वीं शताब्दि में भगवान् महावीर और पूर्वाचार्यों के द्वारा प्रतिपादित व आचरित मार्ग को—धर्म को रटकर धर्मात्मा नहीं बने थे, उन्होंने उसे जीवन में उतारा था। वे इस भौतिक युग में अद्वितीय महापुरुष थे और यथा नाम तथा गुण से युक्त कठोर साधक एवं परम तपस्वी साधुराज थे। उन्हीं के प्रधान शिष्य चारित्र शिरोमणि आचार्य श्री वीरसागरजी तथा उनके पट्टशिष्य आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज ने उसी परम्परा को अक्षुण्ण बनाते हुए उसे परिवर्धित किया। उसी आगमानुसार आचरित मार्ग को आलोकित करने वाले आचार्य प्रवर श्री धर्मसागरजी महाराज वर्तमान में एक अनुपम चारित्र-तपोनिधि हमारे समक्ष है जो महावीर प्रभु के मार्ग को धारण करने वाले देदीप्यमान दिवाकर हैं।

परमपूज्य प्रात:स्मरणीय आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के चरणसान्निध्य में रहने का अवसर मुझे युवावस्था की दहलीज पर पांव रखने से पूर्व ही प्राप्त हुआ है। मैंने सर्व प्रथम दर्शन जयपुर में सन् १९६९ के चातुर्मास में किये थे। आचार्य श्री के सहज वात्सल्यभाव की प्रथम झलक पाकर मैंने अपना सुकोमल हृदय उन्हें समर्पित कर दिया था तभी से मैं आचार्य महाराज का और आचार्य महाराज मेरे हो गये थे ऐसा मैंने सुखद अनुभव किया था।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतीय संस्कृति ने आध्यात्मिक महापुरुषों को सर्वदा पूज्य माना है। राजमुकुटों को धारण करने वाले सम्राटों के तथा बड़े-बड़े धनपतियों से लेकर साधारण गृहस्थों तक ने सन्तों की चरणधूलि से अपने को पवित्र व सौभाग्यशाली समझा है। साधुजनों का जीवन आदर्श और पवित्र होता है।

जीवन की आन्तरिक गहराई में जाना समुद्र के अन्तस्थल में प्रवेश करने के समान है। समुद्र की थाह को पाना जिसप्रकार कठिन है उसीप्रकार आचार्य श्री के जीवन को सम्पूर्णरूपेण परख पाना कठिन है। आचार्य महाराज नि:सन्देह एक महापुरुष है और महापुरुष जन्म से नहीं होते वंशपरम्परा या समाज उन्हें महान नहीं बनाता। व्यक्ति अपनी चारित्रिक प्रवृत्ति से ही महान् होता है। उसकी प्रत्येक क्रिया

एक अविच्छिन्न सत्य से ओत-प्रोत होती है। आचार्य श्री के व्यक्तित्व का सर्वाधिक भव्य व रम्य पहलू है स्नेह व सौजन्य से भरा हुआ आपका मृदुव्यवहार। असाधारण व्यक्तित्व के धनी दिगम्बर-संस्कृति के वरिष्ठ सन्त, विशिष्ट ज्ञान-संयम की गरिमा से मण्डित, बड़े-बड़े धन कुबेरों व जननायकों तथा समस्त समाज के अभिवन्दनीय होने के बावजूद भी आप नम्रता और सरलता के अनुपम प्रतीक हैं। आपके वात्सल्य वारिधि की चंचल लहरें आबाल-वृद्ध को सदा आप्लावित करती रहती हैं।

आचार्य श्री के दर्शन से कुछ अनुभव हुआ कि आचार्य श्री के भीतर एक ऐसी अमृतोपम अग्नि है जो संसारत्रस्त मानवता के हितार्थ भी कुछ करने के लिए आतुर है जो कि चारों ओर फैली हुई अनास्था, आचरण-हीनता और अमानवीयता को नष्ट कर देना चाहती है। जैनधर्म की प्रभावना में आचार्य श्री का विशिष्ट योगदान है। आपके द्वारा ऐसे संयमी जीवों का निर्माण हुआ है जो जिनधर्म की प्रभावना में तो लगे ही हैं, किन्तु आत्म-प्रभावना जिनका मुख्य लक्ष्य है। आपके सरल-सौम्य व्यवहार के कारण सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति चरण-सान्निध्य में अपार शान्ति का अनुभव करते हुए श्रद्धावनत हो जाता है।

आपका त्यागमय जीवन न केवल जैन समाज, बल्कि जैनेतर समाज के लिए भी परम श्रद्धेय एवं गौरव का विषय है। अनासक्त योगी की तरह आपका मार्गदर्शन समाज को मिलता रहता है। आपने अपने दीक्षित जीवन काल में भारत के कई प्रान्तों में ग्राम-ग्राम, नगर-नगर परिभ्रमण करते हुए भगवान् महावीर की जिनवाणी का उपदेश कर आत्म बोध कराया है। बालकों में धार्मिक प्रवृत्ति हेतु तथा उनके जीवन में नैतिकता बढाने के लिए कई स्थानों पर छात्रावास, धार्मिक पाठशालाएं तथा जैन छात्रावासों में धार्मिक शिक्षण की प्रेरणा आपसे समाज को प्राप्त हुई है और तदनुसार धार्मिक पाठशालाओं का शुभारम्भ हुआ है।

भारतवर्ष में द्यूतकर्म प्राचीन काल से प्रचलित रहा है, जैनाचार्यों ने सप्तव्यसनों के परित्याग का उपदेश दिया है। आचार्य श्री के पास भी एक जुवारी आया, कहने लगा—"महाराज मै जीवन से निराश हो चुका हूं। मेरे पास जो पूंजी थी वह मैं जुए में हार गया, अब स्थिति यह है कि कभी-कभी भर पेट भोजन भी नही कर पाता हूं। सन्मार्ग से उन्मार्ग की ओर प्रवृत्त व्यक्ति यदि अपने गलत कार्य का पश्चाताप करने के लिए उद्यक्त हो तो उस समय उसे सही मार्ग बताना अधिक उपयोगी सिद्ध होता है।

उस धन हारे जुवारी को आचार्य श्री ने आत्मीयता से कहा कि "धन हार गये तो क्या हुआ, जीवन से निराश क्यों होते हो? उस गलत कार्य को छोड़कर सही मार्ग पर चलो और वीतराग भगवान की भक्ति करो तो आत्मा निर्मल बनेगी तथा उससे जो भी पुण्य उपार्जित होगा वह तुम्हारी सभी प्रकार से अभिवृद्धि करेगा। पुरुषार्थ करो, यदि सदाचार मय जीवन होगा, व्यसन नही करोगे तो पैसा तो फिर भी प्राप्त हो जावेगा।" महाराजश्री की सरल हृदय से प्रस्फुटवाणी का सद्य: प्रभाव पड़ा उस जुवारी के और उसने उसी समय श्रद्धार्द्र होकर आचार्य श्री के चरणो में नतमस्तक होकर आगे से वैसा गलत कार्य नही करने की प्रतिज्ञा ले ली।

भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाणोत्सव वर्ष की बात है दिल्ली महानगर में आचार्य श्री का चातुर्मास था। चातुर्मास के मध्य पर्यूषण पर्व में तत्त्वार्थसूत्र का विवेचन लाल किले के सामने परेड ग्राउण्ड में आचार्य श्री ने किया। एक दिन सभा में एक व्यक्ति ने आचार्य श्री के समक्ष प्रश्न किया और अपनी कुतर्कणाओ से सभा का वातावरण खराब करना चाहा। आचार्य महाराज ने उसके प्रश्नों का उत्तर आगम के परिप्रेक्ष्य में दिया, किन्तु वह समझ नही रहा था, कुछ लोगों ने भी जब प्रार्थना की कि महाराज श्री इन्हें समझाइये तब आचार्य महाराज ने कहा कि मूंग-मोठ-चना-उड़द आदि धान्य की दालें तो होती हैं पर गेहूं की दाल कैसे हो, जिसमें समझने की क्षमता ही नही उसे कैसे समझाया जावे?

दिल्ली से विहार कर आचार्य श्री मेरठ की ओर जा रहे थे, विहार करते हुए एक वृक्ष की छाया में कुछ क्षण विश्रान्ति के लिए बैठे ही थे कि उधर से एक फौजी कमाण्डर निकला साथ में मैं भी था, एक-दो श्रावक और होंगे। कमाण्डर सा० ने आचार्य श्री को सश्रद्धा नमस्कार किया। नमस्कार के पश्चात् उन्होंने साथ में

चल रहे श्रावकों से महाराज का नाम पूछा, उन्हें नाम बताया तो कहने लगे "धर्मसागरजी का नाम और महिमा तो खूब सुनी थी पिछले कुछ दिनों में और उसी के अनुसार मैं समझता था कि इनके पास सांसारिक वैभव का आडम्बर भी होगा किन्तु देखता हूं इनके पास तो कुछ भी नहीं है, साधु के दर्शन तो आज ही किये हैं आज मेरा जीवन धन्य हो गया" ऐसा कहकर वे अपनी ड्यूटी पर चले गये। ऐसा है आचार्य श्री का आगमानुसार निस्पृहता एवं निर्द्वन्द्वता युक्त निर्मल चारित्र।

स्वाध्यायी साधक को ही वाग्देवी की जितनी कृपा प्राप्त होती है उतनी संभवतः विद्यालयों एवं महाविद्यालयों की कक्षाओं में सम्मिलित होकर सीमित समय तक पुस्तकों के भार से लदे रहने वाले महानुभावों को नहीं। आचार्य श्री ने सतत् स्वाध्याय से दुरूह और विशाल ग्रंथों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। "ज्ञान का अवश्यंभावी और उत्कृष्ट फल चारित्र है" इस तथ्य की पूर्ण कसौटी आचार्य श्री इस युग में भी विद्यमान है। आपने जहां चारित्र की निर्मल परिणति प्राप्त की है वहां संस्कृत व्याकरण, सिद्धान्त, एवं ज्योतिष, न्यायादि का अच्छा ज्ञान भी प्राप्त किया है। आप जैन संस्कृति के महान् साधक है।

प० पू० आचार्य श्री के गृहस्थ जीवन के विचार व आचार प्रमाणिक व सत्य पर आधारित थे। जीवन में कई प्रसङ्ग आए जहां झूठ का प्रयोग कर वे धन अर्जित कर सकते थे पर वे "न्यायोपात्तधनः" इस गृहस्थ धर्म के नियम को कठोरता से पालते थे। व्यापार में जब आपको एक रुपया मुनाफा हो जाता था तो कपड़ा बेचना बन्द करके अपना सारा समय धर्मध्यान में व्यतीत करते थे। आपके साथी कहा करते थे कि चिरंजी आज के युग में एक रुपया से कैसे काम चलेगा तब आपका उत्तर होता था भाई ! धन की खातिर मैं धर्म नही बेचूंगा। मेरा धर्म मुझे न छोड़े, चाहे सारा ससार मुझे छोड़ दे।

जगत (कुरावड़–राजस्थान) में आचार्य श्री ससंघ विराजमान थे, मैं भी संघ के दर्शनार्थ पहुंचा। शीतकाल था, रात्रि में एक ही चादर ओढ़े सोया था, सर्दी लगकर बुखार आ गया। आचार्य श्री के सन्निकट कमरे में ही सोता था, बुखार अधिक तेज था मैं घबरा रहा था। आचार्य महाराज एक दो बार मेरे पास आए और सान्त्वना देते हुए कहा कि घबराते क्यों हो ? धर्म के प्रभाव से सब ठीक होगा। मैंने देखा कि दूसरे दिन से बुखार उतरना प्रारम्भ हो गया और २-३ दिन में बुखार एक दम ठीक हो गया।

सन् १९८० का चातुर्मास आचार्य श्री ने ऋषभदेव में किया है, मैं भी आचार्य श्री के दर्शनार्थ पहुंचा। मध्याह्न का समय था तेज तपती धूप में आचार्य श्री सामायिक में बैठे थे, मैंने नमोऽस्तु किया, लगभग १ घंटा प्रतीक्षा करता रहा, मैंने देखा आचार्य श्री की ध्यान मुद्रा कितनी अविचल थी। सामायिक पूर्ण होने पर महाराज श्री को नमस्कार कर आशीर्वाद मिला पश्चात् महाराज श्री ने पूछा कहां से आ रहे हो मैंने कहा पद्मपुरा से आ० क० श्री श्रुतसागरजी–वर्धमानसागरजी महाराज के पास से आ रहा हूं, आचार्य श्री ने संघ कुशलता के समाचार पूछे। मैंने आचार्य श्री से रत्नत्रय की कुशलता पूछी तो आचार्य श्री ने तो कुछ कहा नहीं, पास ही बैठे निर्वाणसागरजी महाराज ने बताया कि आचार्य महाराज को १५-२० दिनसे मलेरिया का प्रकोप चल रहा है तथा लगभग १०३-१०४° बुखार रहता है। शरीर में रोग होने पर भी आचार्य श्री अपनी चर्यामें पूर्णतया सावधान थे।

अन्त में मै परम पूज्य प्रातःस्मरणीय विश्ववंद्य महान् विभूति आचार्य श्री के परम पावन चरणों में शत–शत वन्दन करता हूं।

सर्वश्रेष्ठ आचार्य श्री धर्मसागरजी

□ श्री सुमेरचन्द्रजी जैन,
(सम्पादक 'वर्णी प्रवचन' मुजफ्फरनगर)

प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज इस देश में जैन जगत के सर्वश्रेष्ठ मुनिराज हैं। आचार्य परमेष्ठी में पाये जाने वाले सभी मूलगुण आपमें विद्यमान हैं।

आचार्य श्री का सन् १९७५ में ससंघ जब मुजफ्फरनगर आगमन हुआ था तब मैं उनके अत्यंत निकट सान्निध्य में आया हूं। मैंने देखा कि आपमें निस्पृहता एक अपूर्व गुण है। आपके इस प्रवासकाल में नगर में धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत वातावरण था। आपके व्यक्तित्वको देखकर महापुरुष होने की कल्पना मन में अनायास ही उत्पन्न होती है। आपकी वीतराग मुद्रा से दर्शनार्थियों को अपार शांति का अनुभव होता है। चूंकि आप क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों से बहुत दूर हैं, शांत, गम्भीर, हित-मित मधुरभाषी हैं तभी तो इतने बड़े संघ को संभालते हुए भारत के कोने-कोने में धर्म प्रचार हेतु अलख जगाई है।

आपका जीवन एक आदर्श संयमी जीवन है, आप कभी भी लौकिक कथाओं में अपना अमूल्य समय नही गंवाते है। आपके जीवन को देखकर साधुता की परिपूर्णता आपमें परिलक्षित होती है। संघ में आपका अनुशासन आत्मानुशासन रूप होता है। संघस्थ किसी मुनिराज अथवा किसी भी त्यागी आर्यिका माता को आवश्यक वस्तु की भी याचना करते नही पाया। आपके सान्निध्य में रहकर साधुगण मोक्षमार्ग में बढ़ रहे हैं।

महाराज श्री की वचन वर्गणाओं से प्रभावित होकर मुजफ्फरनगर के जैनेतर समाज में भी अपने जीवन को नैतिक बनाने की भावना बनी और कई अन्य जातीय लोगों ने अभक्ष्य पदार्थों के खान-पान का त्याग भी कर दिया। प्रवास काल में मुजफ्फरनगर की सबसे बड़ी ऐतिहासिक कड़ी रही ७ दीक्षाओं का होना। उस समय ४ मुनि व ३ आर्यिका दीक्षा हुई। इसप्रकार आचार्य श्री के सान्निध्य में इस भूमि पर संयमी जनों की संख्या में वृद्धि भी हुई। उस वैराग्यपूर्ण दृश्य को देखकर किसने अपने को धन्य नहीं माना।

आचार्य श्री ने अपने प्रवचनों द्वारा विषय-कषायजन्य अशान्ति और बैचेनी को दूर करने के लिये अनेक प्रकार के विधान प्रतिपादित किए हैं। नाना प्रकार के मगल वाक्यों से सम्बोध रहे हैं तथा जीवन में शांति और सुख प्राप्त करने के लिए ज्ञान, भक्ति, कर्म और योग आदि मार्गो का निरूपण किया है। जो भी आपके दर्शनों को आता है एक अमिट प्रभाव लेकर जाता है। मैंने आपके संघ में जो अनुशासन देखा और उसका जो प्रभाव मेरे मन पर पड़ा है वह लेखनी के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है। संघ आगम मर्यादाओं से बाहर नहीं है।

आचार्य श्री परम तपस्वी, दयालु, स्वध्यायशील, चारित्र शिरोमणि, अध्यात्म योगी, वीतराग (समदृष्टि) और परम निस्पृही हैं जो कि अपने पद की गम्भीरता का अत्यन्त योग्यता पूर्वक निर्वाह कर रहे हैं। मेरा पूज्य श्री के चरण कमलों में शत-शत वन्दन।

आचार्य श्री के चरण सान्निध्य में कुछ क्षण

☐ श्री जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर

सन् १९७८ के ग्रीष्मऋतु में आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज अपने विशाल संघ सहित भीण्डर नगर पधारे थे। उन्हीं दिनों पंचकल्याणक प्रतिष्ठा भी हुई थी, उस महोत्सव में भी आप समुपस्थित थे। यह आचार्य श्री का संभवत: मैंने प्रथम दर्शन किया था। कुछ दिन पश्चात् से मैं आचार्य श्री एवं संघस्थ साधुगणों के प्रतिदिन दर्शनार्थ जाया करता था।

एक दिन जब मैं प्रात: बेला में आचार्यवर्य के दर्शन करने भीण्डर नगर के बड़े मंदिर के ऊपरी भाग पर स्थित खुली छत पर पहुंचा, क्योंकि आचार्य श्री खुले वातावरण में एकान्त में स्वाध्याय रत थे। पास ही सहारनपुर निवासी श्री विनोदजी शास्त्री एम. कॉम. सी. ए. बैठे थे। मैंने ज्योंही आचार्य श्री को नमोऽस्तु किया विनोदजी ने आचार्य श्री से मेरा परिचय कराया कि ये अच्छे स्वाध्यायी विद्वान् हैं और धवलादि ग्रन्थों के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी है। विनोदजी मुझसे पूर्व परिचित थे। मैं महाराज श्री के पास में बैठ गया। मेरे सम्बन्ध में उक्त जानकारी सुनते ही अपने पास रखी एक संस्कृत की पुस्तक उठाई (सम्भवत: वह प्रथम गुच्छक रहा होगा) और आचार्य श्री ने उस पुस्तक में से एक श्लोक खोजकर निकाला और उसका अर्थ करने के लिए मुझे दिया। मैंने दो तीन बार पढ़ा और उसका अर्थ कर दिया आचार्य श्री (मंद हास्यस्मित मुद्रा में) बोले "ज्ञानी छे"। जब उन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि सिद्धान्त ग्रन्थों का भी बोध है तो सिद्धान्त सम्बन्धी कुछ प्रश्न भी पूछे। यह कार्यक्रम लगभग १ घंटे तक चला और उस दिन तो मैं घर चला आया। यही मेरा सर्व प्रथम दर्शन था। दूसरे दिन मैं पुन: आचार्य श्री के दर्शनार्थ गया उस समय २–४ श्रावक गण उनके पास बैठे थे, उन्हें वे सम्बोधन स्वरूप कुछ बातें कह रहे थे। मैंने जाते ही उनके मुख से सुना कि "आज के मानव पुण्य कार्य तो नहीं करते, किन्तु पुण्य का फल चाहते हैं तो कैसे मिलेगा? जिनेन्द्र भगवान के दर्शन-पूजन, शास्त्र स्वाध्याय आदि करणीय धर्म क्रियाओं से पुण्यार्जन होता है। पंचपरमेष्ठी के स्मरण स्वरूप जाप्यादि करना चाहिए।" यह हितकारी सम्बोधन सुनकर मुझे आनन्द हुआ और वे शब्द आज भी मुझे स्मृत हैं। कुछ देर पश्चात् आचार्य श्री के सान्निध्य में 'कर्म प्रकृति' सम्बन्धी चर्चा लगभग १ घंटे तक चली और यह क्रम प्रतिदिन चला जब तक आचार्य श्री भीण्डर नगर में रहे।

चारित्रनिधि, प० पूज्य आचार्य श्री का आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक व व्यवहारिक ज्ञान विशिष्ट है एवं वे अत्यन्त मृदुव्यवहारी, प्रसन्नवदन, निष्पाप साधुपुरुष हैं। समय व्यतीत हुआ और भीण्डर से उदयपुर के लिए संघ का विहार हुआ। वहां (उदयपुर में) भी यदा-कदा मैं संघ दर्शनार्थ जाया करता था। एकबार में उदयपुर दर्शनार्थ गया तो जाते ही उस समय उनके पास बैठे हुए श्रावकों को आचार्य श्री ने मेरी ओर संकेत करते हुए कहा कि, 'ये आगये, धवलादि ग्रन्थों के अच्छे जानकार हैं" मैं आचार्य श्री से

बोला कि स्वामिन् ! इससे पूर्व भी भीण्डर नगर में अपने लिए इन शब्दों को आपके श्री मुख से सुनकर मैंने उसी समय निवेदन कर दिया था और उन्हीं शब्दों को आज भी निवेदित करता हूं कि "स्वामिन् ! ज्ञान कितना ही विशिष्ट हो तदापि चारित्र बिना वह निष्फल है, आप ही महान् हैं । मैं जब तक चारित्र न पाऊं तब तक मेरा ज्ञान निष्फल है ।"

"अयं जीवो ज्ञान श्रद्धान सहितोऽपि पौरुषस्थानीय चारित्रबलेन रागादि विकल्परूपादसंयमाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं ज्ञानं वा किं कुर्यान्न किमपि ।" प्रवचनसार गाथा २३७ की तात्पर्यवृत्ति की उक्त पंक्तियों का भी उस समय स्मरण हो आया । जिसका अभिप्राय है कि यह जीव श्रद्धान या ज्ञान सहित होता हुआ भी यदि चारित्र रूप पुरुषार्थ के बल से रागादि विकल्परूप असंयम से निवृत्त नहीं होता तो उसका वह श्रद्धान व ज्ञान क्या हित कर सकता है ? कुछ भी नहीं । इन वाक्यों को सुनकर आचार्य श्री ने तत्काल कहा कि "तो फिर मुनि बन जावो, भाई ! पंडित बड़े पक्के होते हैं, वे व्रतों का आचरण (आजकल) करना नहीं चाहते ।"

इसप्रकार कुछ समय के चरण सान्निध्य के अनन्तर वहां से भीण्डर आगया था । प० पू० आचार्य श्री चारित्र के ज्वलंत मूर्तिमान हैं । विश्व के लिए चारित्र पालन हेतु दिशा निर्देशक हैं । पूज्य आचार्य श्री युग-युग तक इस पृथ्वीतल पर रहें तथा आपके आदर्श जीवन से विश्व को रत्नत्रय मार्ग का उपदेश प्राप्त होता रहे । इन्हीं शब्दों के साथ मैं उनके पुनीत चरणों में शत सहस्र नमन करता हूं ।

धर्मसिन्धु मुनिराजजी, तुम हो गुण की खान ।
पथदर्शक चारित्र के, किसविधि करूं बखान ।।

दिल्ली महानगर का प्रभावक चातुर्मास

युग-युग तक याद रहेगा

□ **श्री महताबसिंहजी जौहरी**

(बी. ए., एल. एल. बी., दिल्ली)

भर्तारः कुलपर्वता इव भुवो, मोहं विहाय स्वयं ।
रत्नानां निधयः पयोधय इव, व्यावृत्त वित्तस्पृहाः ।।
स्पृष्टाः कैरपि नो नभो विभुतया, विश्वस्य विश्रान्तये ।
सन्त्यद्यापि चिरन्तनान्तिकचराः, सन्तः कियन्तोऽप्यमी ।।

अर्थात् जो स्वयं मोह को छोड़कर कुलपर्वतों के समान पृथ्वी का उद्धार करने वाले हैं, जो समुद्रों के समान स्वयं धन की इच्छा से रहित होकर रत्नों के स्वामी हैं तथा जो आकाश के समान व्यापक होने से किन्हीं के द्वारा स्पृष्ट न होकर विश्व की विश्रान्ति के कारण हैं ऐसे अपूर्व गुणों के धारक पुरातन मुनियों के समान उनके

गुणों का अनुकरण करने वाले कितने ही साधु आज भी विद्यमान हैं । उन्हींमें हैं परमपूज्य १०८ आचार्य श्रेष्ठ श्री धर्मसागरजी महाराज ।

सन् १९७४-७५ का समय भ० महावीर स्वामी के २५००वें परिनिर्वाणोत्सव का वर्ष जैन समाज के लिए स्वर्णिम वर्ष था । दिल्ली समाज का परम सौभाग्य था कि यह महान् उत्सव इस महानगर में मनाया गया था । जैन समाज के चारों सम्प्रदाय के लगभग २००–२५० साधु एकत्रित हुए होंगे । उस समय दिल्ली महानगर में पुष्प वृष्टि के समान धर्म वृष्टि हुई थी । इसका श्रेय उन आचार्य व मुनि–आर्यिकाओं को है जो इस महोत्सव में सुदूरवर्ती प्रदेशों से विहार करके दिल्ली पधारे थे । आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज ने अपने विशालतम मुनि-संघ (१७ मुनि एवं आर्यिकावृंद) के साथ निर्वाणोत्सव वर्ष का चातुर्मास दिल्ली में करके जहां उत्सव सम्पन्न होने में अपना अपूर्व योगदान दिया वहीं अपनी निस्पृह वृत्ति एवं निर्लेप स्वभाव व सरल परिणति से दिल्ली समाज के हृदय में गहरी श्रद्धा भी उत्पन्न की । जहां आचार्यरत्न देशभूषणजी महाराज, ऐलाचार्य मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज के ससंघ विराजने से निर्वाणोत्सव में पूर्ण सफलता मिली वहीं निर्वाणोत्सव की चतुर्गुणी शोभा होने का मुख्य कारण आचार्यप्रवर धर्मसागरजी महाराज का संघ सहित विराजमान होना भी था । उनकी वीतराग मुद्रा ही जिनधर्म के माहात्म्य को दर्शाती है । उन्हें देखकर जनसाधारण के मुख से अनायास ही भगवान महावीर स्वामी का नाम स्मरण हो जाता था । धर्म का साक्षात् रूप धर्मात्माओं के होने पर ही दृष्टिगोचर होता है । ऐसे मुनीश्वर ही वीतरागता के प्रतीक हैं ।

आज के भौतिक युग में जहां विलासिता अपना प्रभाव सर्वत्र जमाये हुए है वहीं सर्वस्व त्यागकर निर्ग्रन्थदीक्षा लेना महान कार्य है । आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज ऐसे समय में हमारे आदर्श है । उनकी वात्सल्यता अनुकरणीय है । आपके द्वारा अनेकों जीवों ने दीक्षा धारण करके आत्मकल्याण की ओर कदम बढ़ाया है । दिल्ली चातुर्मास में भी ७-८ दीक्षायें हुईं थी ।

दिगम्बर आर्ष संस्कृति के संरक्षण में आप सदैव तत्पर रहते हैं । महोत्सव के समय होने वाली प्रत्येक गतिविधि में आपने आर्षपरम्परा के संरक्षण का ध्यान रखा जिससे आर्ष परम्परा के विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं हो सका । आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज जिनका शरीर तपस्या के कारण मात्र हड्डियों का ढांचा रह गया था उनके स्वर्गवास के पश्चात् वहाँ उपस्थित समस्त मुनिराजों ने, आर्यिका संघ ने समाज के विशालतम समुदाय के मध्य आपके अनुपम गुणों को देखकर पट्टाचार्य के पद पर आपको सुशोभित किया । दिल्ली महानगर में होने वाला उनका चातुर्मास युग युग तक स्मरण रहेगा । उनमें संघ और समाज के प्रति आत्मीयता है । देश के सुदूरवर्ती स्थानों से भी उन दिनों बड़ी संख्या में धर्मबन्धु गण आचार्य श्री के दर्शन, वैयावृत्त एवं आहारदान करने के निमित्त पधारे । उस समय चतुर्थ काल का सा दृश्य दिखाई देता था आचार्य श्री के सद्य: सम्पन्न हुए इस चातुर्मास ने लगभग ४० वर्ष पूर्व हुए आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के दिल्ली चातुर्मास की स्मृति ताजा कर दी थी ।

अन्त में हमारी भावना है महाराज श्री चिरायु हों और उनकी छत्रछाया में जिनधर्म की महती अभिवृद्धि हो । अहिंसात्मक धर्म जगत् के जीवों का कल्याण करने में समर्थ हो । वे इस युग के दैदीप्यमान नक्षत्र हैं जिनकी दिव्य ज्योति सदा हृदय में बनी रहेगी । मैं उन पूज्य चरणों में शत–सहस्र प्रणाम करता हूं ।

डेह को आचार्य श्री की महान देन

□ श्री डूंगरमल सबलावत जैन
('डूंगरेश' डेह नागौर)

प० पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज डेह में २-३ बार पधारे हैं। सर्वप्रथम वि० सं० २००६ में प० पू० १०८ आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के साथ क्षुल्लकावस्था में आपका पदार्पण हुआ था। उस समय भी आपकी सरल प्रवृत्ति एवं शास्त्र के पठन-चिंतन-मनन में ही अत्यधिक रुचि थी जिसे देखकर निकट भविष्य मे ही आपके द्वारा मुनिदीक्षा ग्रहण करने की भावना लगती थी, हुआ भी वैसा ही। वि० सं० २००८ में ही आपने आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज से फुलेरा में मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली।

दूसरी बार डेह नगर में आपका मंगल पदार्पण सम्वत् २०१५ में हुआ। उस समय डेह में आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी महाराज विद्यमान थे, उनके सान्निध्य में रहकर जैनागम के अध्ययन की आपकी भावना थी। संघ में कुछ दिन रहने के पश्चात् आपने स्वतन्त्र विहार किया। आपके साथ मुनि श्री पद्मसागरजी महाराज भी थे। आपने अनेक नगरो, ग्रामों एवं प्रान्तों में विहार कर धर्म की महती प्रभावना की।

सम्वत् २०२५ में आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के आकस्मिक स्वर्गवास हो जाने पर शांतिवीर नगर में जिनबिम्ब प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर उपस्थित समस्त साधु गणों ने आपको संघ का आचार्य स्वीकार किया। आचार्य पद होने के बाद अनेक स्थानों पर धर्म प्रभावना करते हुए सम्वत् २०२६ में आप पुनः डेह पधारे।

अबकी बार आचार्य अवस्था में विशाल संघ के साथ डेह नगर में आपका मंगल पदार्पण हुआ था। आपकी क्षुल्लकावस्था की अध्ययन की लगन अब आपके जीवन में साकार हो उठी थी। डेह नगर के प्रवासकाल में आपने विविध प्रकार से समाज को अपने उद्‌बोधनों द्वारा सम्बोधित किया। आपके प्रवचन अत्यन्त सरल भाषा में होते किन्तु उनका गहरा प्रभाव श्रोता के मानस पर होता था। प्रवचनो के कुछ अंश इस प्रकार थे—

"आज के मानव में भक्ष्याभक्ष्य का विचार ही नही है, धर्ममार्ग से भ्रष्ट हो रहा है। अन्याय, अनीति उसके जीवन में प्रवेश कर गए है, तामसिक प्रवृत्ति के कारणभूत पदार्थों का सेवन उसके जीवन के अभिन्न अंग बन गए है। मानव के भीतर से मानवता निकलती जा रही है। खान-पान की जब तक शुद्धता नही होगी तब तक उसके मानसिक शुद्धता नही आवेगी। अच्छे पुरुषों की संगति से ही आचरण शुद्ध रह सकता है।" युवकों को विशेषकर सम्बोधित करते हुए कहा कि—

"समाज में जो कुरीतियां दहेज प्रथा आदि का प्रचलन हो गया है, इस अभिशाप को मिटाने के लिये तुम लोग कटिबद्ध हो जावो। यदि इसका निर्मूलन नही किया तो समाज का अस्तित्व ही खतरे में पड जावेगा। कॉलेजों की संगति में जो तुम्हारे जीवन में धर्म के प्रति अरुचि उत्पन्न हो रही है यह तुम लोगों के लिये विनाशकारी

प्रवृत्ति है।" चूंकि महावीर निर्वाणोत्सव निकट था अत: आपने कहा कि अत्यन्त पुण्योदय से भगवान महावीर का निर्वाणोत्सव आप लोगों के समक्ष उपस्थित है। जहां हमारा धर्म प्राणी मात्र से मित्रता की बात कहता है और जहां जैन समाज के चारों सम्प्रदायों की एकता की बात कही जा रही है वहां आपके नगर में एक ही समाज दो भागों में विभाजित है, एक साथ बैठ नहीं सकते। किसी भी सामाजिक कार्यों में आना-जाना भी परस्पर मे बन्द है यह कैसी विडम्बना है। समाज के कर्णधारों को सोचना चाहिये कि एक ओर तो दहेज प्रथा के कारण हमारी लड़कियां दूसरी समाज में ब्याही जा रही हैं और दूसरी ओर आपस में ही संगठन नहीं तो फिर समाज कैसे जीवित रहेगा। यह संगठन का युग है इसमें छिन्न-भिन्न रहने में आपको हानि ही उठानी पड़ेगी।" एकता के इन शंखनादी शब्दों का लोगों के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा और विचार विमर्श प्रारम्भ हुआ दोनों पंचायतों में, किन्तु प्राचीन संस्कारों का आधिपत्य होने से सफलता नहीं मिली। आचार्य श्री ने कहा कि यदि तुम लोग संगठित नहीं होना चाहते तो हम यहां से विहार कर जावेंगे। अब लोगों के मन में घबराहट पैदा हुई विचार-विमर्श हुआ। एकता में जो बाधक कारण थे उनके हृदयों में भी आचार्य श्री की तप:पूत वाणी का अब असर होने लगा और एकता सूत्र में बंधने का निर्णय करके आचार्य श्री के चरणों में सभक्ति श्रद्धावनत होकर सबने एकता-संगठन में रहना स्वीकार किया, यह आचार्य श्री के तप:पूत जीवन का ही प्रभाव था। आज भी समाज उस दिन को "समन्वय दिवस" के रूपमें स्मरण करती है और उसी समय आचार्य श्री का भी सहज ही स्मरण हो जाता है। बच्चों में धार्मिक शिक्षा के प्रसार के लिए भी आप प्रयत्नशील रहते हैं तथा आपके प्रयासों से धार्मिक पाठशालाएं भी अनेक स्थानों पर खुल रही हैं।

ऐसे महान गुरुवर के अनेकों बार दर्शन किये हैं और उनका पुनीत आशीर्वाद प्राप्त कर अपने को धन्य माना है। मैं गुरुवर्य के दीर्घ जीवन की मंगल कामना करते हुए उनके पुनीत चरणों में त्रिकरण शुद्धि पूर्वक कोटि-कोटि वन्दन करता हूं।

प्रशांतमूर्ति आचार्यश्री का अजमेर नगर में प्रभावक वर्षायोग

☐ श्री विजयचन्द्र जैन, एम ए बी. टी
(रिटायर्ड हैडमास्टर, अजमेर)

पूर्व तथा इस जन्म के धार्मिक संस्कार एवं पुण्योदय से मुझ अकिंचन को विश्ववंद्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागरजी प्रभृति अनेक साधुगणों के दर्शन-वंदन-चरणस्पर्शन आदिका अनेकों बार सुयोग प्राप्त हुआ है।

अजमेर नगर का बड़ा सौभाग्य रहा है कि वर्तमान काल के समस्त प्रमुख आचार्य संघों का पदार्पण हो चुका है। इस शृंखला में आ० क० चन्द्रसागरजी, आचार्य नमिसागरजी, आचार्य श्री शिवसागरजी, आचार्य श्री धर्मसागरजी, आचार्य श्री ज्ञानसागरजी, आचार्य विद्यासागरजी, आचार्य श्री सुमतिसागरजी आदि संघों के चातुर्मास हुए है। आचार्य श्री शांतिसागरजी, आचार्य श्री देशभूषणजी, आचार्य श्री विमलसागरजी, एलाचार्य मुनि श्री विद्यानन्दजी आदि आचार्य संघों की पवित्र चरणरज से यहां की धरा पवित्र हो चुकी है।

वि० सम्वत् २०१६ में चारित्र चूड़ामणि १०८ आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज ने अजमेर नगर में चातुर्मास किया था उस समय धर्म की महती प्रभावना हुई थी। उस समय संघस्थ प्रबुद्ध साधुवर्गों के सान्निध्य में तत्त्व चर्चा का विशेष आनन्द रहा था। संघ भी बड़ा विशाल था। आचार्य श्री शांतिसागरजी

महाराज की आचार्य परम्परा की चौथी पीढ़ी में स्वनाम धन्य आजन्म ब्रह्मचारी, तपोनिधि, चारित्र शिरोमणि श्री आचार्य धर्मसागरजी महाराज ने ससंघ वि० सं० २०२८ में इस धार्मिक एवं ऐतिहासिक नगरी में चातुर्मास किया। आपके अजमेर नगर में विराजमान होने से एक बार पुनः १२ वर्ष पूर्व हुए उक्त संघ के चातुर्मास की स्मृति ताजा हो गई। चतुर्थ कालका सा दृश्य उपस्थित हो गया था। आचार्य श्री ने अपनी अमृतमयी धर्म वाणी से समाज को असीम लाभ पहुंचाया। उस समय संघ की चर्या अत्यन्त निकट से देखने का मुझ तुच्छ प्राणी को भी अवसर मिला। उनकी दैनिक चर्या, आहार चर्या, प्रतिक्रमणादि क्रियाओं का आज भी मन पर गहरा प्रभाव है। उस समय वे जैनधर्म के सिद्धांतों के एक उद्घोषक के रूप में अवतरित हुए थे। उनकी भाषा भी सरल, मधुर एवं स्पष्टतया तत्त्व निरूपक थी। पर्यूषण पर्व में आपके श्री मुख से तत्त्वार्थसूत्र के दशों अध्यायों का सूक्ष्म सैद्धान्तिक विवेचन सुनकर मन में आपके अगाध ज्ञान की गरिमा देखकर अपार आनन्द हुआ था। साथ ही धारा प्रवाह रूप से विषय प्रतिपादन करते हुए निर्भयता से भव्यजनों को चेतावनी देने की आपकी कला विशिष्ट ही थी। आपके प्रवचन अत्यन्त आकर्षक हृदयग्राही तथा अमिट छाप छोड़ने वाले सिद्ध हुए। आपकी परम शान्त मुद्रा से आबाल-वृद्ध सभी प्रभावित थे। आपके इस चातुर्मास में जैन जगत् के प्रसिद्ध विद्वान डॉ० पन्नालालजी साहित्याचार्य का धर्मप्रवचन सुनने का सुयोग भी समाज को प्राप्त हुआ था। संघस्थ अन्य त्यागी जनों के भी यथावसर प्रवचन श्रवण का लाभ समाज को बराबर मिलता रहा। इस वर्षायोग में एक ओर जहाँ चार आर्यिका माताओं की सल्लेखना देखने का सुयोग प्राप्त हुआ वहीं अजमेर नगरी को दीक्षा भूमि होने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ है। सल्लेखना को मैंने सुयोग इसलिये कहा कि "सल्लेखना पूर्वक मरण होना अनेक जन्मों के संचित पुण्य से ही हो सकता है और वर्तमान में भी तपश्चरण से कषाय को अत्यन्त अल्प करने का प्रतिफल ही समाधि पूर्वक मरण है।" जैसे कि मैंने लिखा कि अजमेर नगर को दीक्षा समारोह देखने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आचार्य श्री के इस वर्षायोग से पूर्व युवाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज और क्षु० शांतिसागरजी (वर्तमान में उपाध्याय भरतसागरजी) के दीक्षा समारोह यहाँ हो चुके थे। उससे पूर्व आचार्य श्री शिवसागरजी के वर्षायोग में भी दीक्षाएं हुई थीं। आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज की सन्निधि में उनके करकमलों से वर्षायोग के पश्चात् ७ दीक्षाएं हुईं जिसमें मुनि-आर्यिका और क्षुल्लक पदवी की दीक्षाएं हुई थीं। दीक्षा समारोह भी अपने आप में ऐतिहासिक था। आपके इस वर्षायोग के पश्चात् अगले वर्ष ही प० पू० श्रुतनिधि १०८ आ० क० श्रुतसागरजी महाराज के चातुर्मास का सुयोग भी मिला।

आचार्य श्री एवं उनके संघस्थ त्यागी गणों की चर्या देखकर यह प्रतिभासित होता था कि हम अल्पज्ञ कायर पुरुषों के द्वारा जो आत्म साधना कठोर समझी जाती है उसे ये मुनिराज कितनी सहज रूप में साधित कर रहे हैं। संघस्थ युवा मुनिद्वय सम्भवसागरजी–वर्धमानसागरजी अत्यन्त रुग्ण हो गए थे, किन्तु उनके धैर्य को देखकर लगता था कि आचार्य देव के द्वारा इनका जीवन कितना संस्कारित किया गया है मानों धैर्य गुरुदेव से इन्हें विरासत में ही मिला हो।

मैं परम पूज्य चारित्र शिरोमणि, अध्यात्म योगी, बाल ब्रह्मचारी, परम शांत, वात्सल्यमूर्ति आचार्य श्री के पुनीत चरण कमलों में हार्दिक भक्ति पुरस्सर अनेकशः वंदन करते हुए उनके दीर्घ एवं आरोग्य जीवन की कामना करता हूं।

वह पुरुष धन्य है जिसने गम्भीरता पूर्वक स्वाध्याय किया है और सत्य को पा लिया है। वह ऐसे मार्ग से चलेगा जिससे उसे इस संसार में नहीं आना पड़ेगा।

□ श्री देवेन्द्रकुमार जैन, एम. ए.,
(सरधना–मेरठ)

आचार्य श्री धर्मसागरजी

एक स्मृति ☆

सन् १६७५ में आचार्य श्री धर्मसागरजी की चरण रज से सरधना नगर को भी पवित्र होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और शीतकालीन एक माह का उनका प्रवास सरधना के लिए वरदान सिद्ध हुआ। प्रातः ८ बजे से सरल एवं साधारण भाषा में प्रवचन होता था जो प्रत्येक श्रोता चाहे कितना ही अल्पबुद्धि का क्यों न हो सरलता से समझ लेता था। उनके प्रवचन का ढंग इतना ओजस्वी, सरस तथा सरल रहता था कि सभी मंत्र मुग्ध होकर उनकी वाणी को सुनते थे। बड़े, छोटे, बूढ़े, बच्चे सभी वर्गों के लोग उनके प्रवचन से प्रभावित थे।

आपके संघ में अन्य साधुगण एवं आर्यिकाएं भी समान रूप में स्थान पाती थीं। आचार्य श्री का सभी के साथ वात्सल्य पूर्ण तथा धर्म से ओतप्रोत व्यवहार था। मुझे उनके एवं संघस्थ साधुओं के सम्पर्क में आने का सुअवसर मिला, सभी में मिलनसारिता एवं धर्म भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। आपके संघ में युवा-वृद्ध सभी प्रकार के साधु हैं और अपनी शक्ति के अनुसार सभी ज्ञान-ध्यान, तप में लीन महान् आत्माएं हैं। संघस्थ युवा मुनि श्री वर्धमानसागरजी महाराज ने यहां की युवा पीढ़ी पर अपने सुमधुर प्रवचनों एवं सरलता पूर्वक धर्म की जीवन में आवश्यकता को समझाया जिससे युवा पीढ़ी में इस भौतिकता के साम्राज्य में भी धार्मिक भावना अवतरित हुई।

आचार्य श्री का हृदय विशाल है। क्रोध का भाव तो कभी भी उनके प्रसन्न वदन पर देखा ही नहीं गया। सदैव शान्त एवं सौम्य रूप में रहते थे। सभी के प्रति समान बुद्धि आप में परिलक्षित होती थी, क्योंकि विद्वान्–श्रीमान् एवं अल्पज्ञ अथवा गरीब सभी आपके सान्निध्य को समान रूप से पा सकते हैं, वहाँ कोई भेदभाव नहीं है। आपकी इस समदृष्टि से सहज ही मन स्वीकार करता है कि आप वीतराग श्रमण संस्कृति के परम पोषक हैं। आपके प्रति अन्तरंग श्रद्धाभिव्यक्ति के लिए जैन समाज ने आचार्य श्री का ६२वां जन्म दिन बड़े मंदिर के चौक में बड़ी प्रभावना के साथ मनाया था।

इसमें सन्देह नहीं कि सरधना नगर निवासी जैन एवं जैनेतर वर्ग के लोगों में समान रूप से आचार्य श्री के प्रति श्रद्धा एवं विनय की भावना थी और आज भी सभी लोग उनके पुनः सान्निध्य की प्रतीक्षा करते हैं। उन दिनों प्रतिदिन भक्तजन समूह आचार्य श्री से मार्गदर्शन प्राप्त करता था। आचार्य श्री की कल्याणकारी वाणी सुनकर कई लोगों ने अभक्ष्य खाद्य एवं पेय (मांस-मदिरा) पदार्थों का परित्याग किया तथा जीवन को संयमित एवं उन्नत बनाने हेतु अन्य भी कई प्रकार के नियमोपनियम धारण किये। मुझ अकिंचन ने यथाशक्ति अपने जीवन को पवित्र रखने हेतु विविध प्रतिज्ञाएं ग्रहण कीं और आज भी उनका पालन हो रहा है।

एक माह के प्रवास में ऐसा लगता था जैसे सरधना (श्रद्धान) नगर में जीवन्त समवशरण ही अवतरित हुआ हो। इस नगर को श्रद्धान नगर कहने का कारण यह है कि इस नगरवासी जनों की अत्यन्त भक्ति-श्रद्धा एवं धर्म भावना को देखकर उक्त नामकरण का परामर्श स्वयं आचार्य श्री ने दिया था।

मुझे यह कहते हुए परम हर्ष है कि आचार्य श्री के सम्बन्ध में अभिवन्दन ग्रन्थ की योजना समयानुकूल है। उन महान् तपस्वी रत्न के श्री चरणों में हमारा बारम्बार प्रणाम।

शामली नगर का सौभाग्य

दर्शन योगिराज के

□ श्री मुल्तानसिंह जैन

(एम. ए., शामली उ. प्र.)

सन् १९७४ में निर्वाणोत्सव के पश्चात् दिल्ली से आचार्य श्री ने उत्तरप्रदेश के लिए विहार किया। हस्तिनापुर क्षेत्र के दर्शन करते हुए सन् १९७५ का चातुर्मास उनका सहारनपुर हुआ, उसके पश्चात् विहार कर वे मुज्जफरनगर आए। मुजफ्फर नगर में कुछ काल का प्रवास व्यतीत हो जाने पर शामली नगर के असीम पुण्योदय से आचार्य श्री का शामली के लिए विहार हुआ। इससे पूर्व शामली के प्रमुख प्रतिनिधि मुजफ्फरनगर अनेक बार उस तरफ विहार करने के लिए प्रार्थना करके आए थे।

शिशिर ऋतु का समय था, आचार्य श्री ने मुजफ्फरनगर से शामली के लिए विहार किया। शामली वालों को इसका पता भी नही था। लगभग ४० किलो मीटर रास्ता तय कर शामली पहुंचना था अत: मध्य में रात्रि विश्राम के लिए ठहरे। शामली समाज को महाराज श्री के विहार की सूचना नहीं मिल पाई। रात्रि विश्राम के पश्चात् तथा आहार करके संघ का विहार शामली हुआ। रास्ते में अलीपुर खेड़ी (लालू खेड़ी) ग्राम के निकट जाट जाति के कुछ उद्दण्ड एवं दुष्ट युवकों ने संघ के साधुओं पर उपसर्ग किया, पत्थर ढेले आदि फेंके एवं अभद्र शब्दों का प्रयोग किया। संघ ने उनकी इस दुष्ट प्रवृत्ति पर समता भाव रखा और संघ आगे विहार करता रहा। शामली के निकट पहुंचने पर पता लगा कि संघ शामली के निकट आ गया है। समस्त समाज ने तथा जैनेतर लोगों ने उत्साह से संघ का नगर प्रवेश करवाया। ६ मार्च १९७६ का मंगलमय दिवस शामली नगर के इतिहास का स्वर्णिम पृष्ठ बन गया।

प्रात: ७ मार्च को नगर पालिका भवन में महती जन सभा के मध्य सर्वप्रथम प्रवचन हुआ। आचार्य श्री ने अपनी मार्मिक वाणी में "इंद्रिय संयम के साथ साथ अनीति के व्यवहार का परित्याग करने के लिए उद्‌बोधन दिया। उन्होंने कहा सुख का मार्ग प्राप्त करने के लिए यह प्रारम्भिक भूमि है। अभक्ष्य पदार्थों का सेवन एवं अन्याय पूर्वक इन्द्रियों के विषयों का भोग आत्मा का पतन करने वाला है।" आदिनाथ जिनालय में आचार्य श्री का प्रवास स्थल रहा। विशालतम संघ के दर्शनार्थ दूरस्थ जैन-जैनेतर समाज आने लगी। प्रवचन के लिये वी. वी. इण्टर कॉलेज के प्रांगण में विशाल पाण्डाल बनाया गया। कुछ ही दिन पश्चात् दो मुनिराज के केशलोंच भी हुए।

केशलोंच समारोह के अपने प्रवचन में आचार्य श्री ने जहां संयम धर्म की महत्ता पर प्रकाश डाला वहां उन्होंने एक वाक्य में वर्तमान में समाज की स्थिति पर

प्रकाश डालते हुए दहेज मांगने की प्रथा को निंद्य बताया। उन्होंने कहा "अब तो लड़के बिकते हैं"। सामाजिक पतन की कारण इस मांगने की कुप्रथा के लिए सजग करते हुए इसके त्याग की प्रेरणा दी।

संघ को आए अभी ८-१० दिन ही व्यतीत हुए होंगे कि लालू खेड़ी ग्राम के २५-३० वृद्ध जाट भाई आचार्य श्री के दर्शनार्थ आए। इन्हीं ८-१० दिनों में आस पास काफी अच्छी वर्षा हुई थी और कहीं-कहीं तो ओले भी पड़े थे। आचार्य श्री एवं अन्य मुनिगणों को नमस्कार करके वे जाटसमाज के वृद्धगण खड़े रह गए, कोई कुछ कहने का साहस नहीं कर पा रहा था। समाज के कई व्यक्ति उस समय आचार्य श्री के चरण सान्निध्य में ही बैठे थे। जब वे लोग न तो कुछ बोले और न बैठे तो आचार्य महाराज ने स्वयं उनको बैठने का संकेत किया।

बैठने के पश्चात् सभी लोग बोले महाराज आपके दर्शन कर आपसे क्षमा मांगने आए हैं। महाराज ने कहा किस बात की क्षमा ? वे लोग बोले महात्माजी आप जिस दिन शामली पधारे थे उसी दिन रास्ते में कुछ युवकों ने आपके साथ अभद्र व्यवहार किया था। कल रात ही उनके खेतों पर ओले पड़े और उनकी सारी फसल समाप्त हो गई। आचार्य श्री ने कहा भैया! मैंने तो कुछ अभिशाप दिया नहीं और न कभी दिगम्बर साधु किसी को श्राप देते, चाहे जैसा दुष्ट व्यवहार उनके साथ करो। उन्हें (जाट युवकों को) अपने किये कर्मों का फल मिला है, मैंने इसमें कुछ भी नहीं किया है। तुम भय मत करो 'जो जैसा करेगा उसे वैसा ही फल मिलेगा" तुमने तो कुछ किया नहीं और वे बच्चे भी तो अबोध थे उनका भी क्या अपराध ? अतः घबराओ नहीं शांति रखो और अपने खेतों को सम्भालो।

हम लोग आश्चर्य चकित रह गए कि इतनी बड़ी घटना का शामली समाज को ८-१० दिन में पता भी नहीं चला। चलता भी कैसे ? कभी कोई बात ही तो नहीं की इस सम्बन्ध में क्षमामूर्ति आचार्य श्री ने एवं उनके संघस्थ साधुओं ने। ऐसे परम योगिराज के दर्शन कर हम धन्य हो गए।

मेरा सौभाग्य रहा कि शामली समाज ने आचार्य श्री के सान्निध्य में मेरा अभिनन्दन किया। मैं वर्षों से समाज एवं कालेज में शिक्षा क्षेत्र में सेवाएं करता रहा हूं। आचार्य श्री एवं संघस्थ मुनिगणों के आशीर्वाद ग्रहणकर एवं अपनी ओरसे समाज के प्रति कृतज्ञताभिव्यक्ति करके मैं अपने स्थान पर बैठ गया। पश्चात् आचार्य महाराज ने शामली नगर मे जैन समाज के बच्चों में धार्मिक संस्कार के अभाव को देखकर खेद पूर्ण शब्दों में उत्प्रेरक प्रवचन दिया एवं संस्कारो की महत्ता बताते हुए एक धार्मिक विद्यालय के संचालन की प्रेरणा दी। जिसके फलस्वरूप समाज ने विद्यालय की स्थापना की एवं उसके संचालन का भार मुझ पर डाला गया। आचार्य श्री की प्रेरणा से स्थापित वह विद्यालय आज भी बराबर चल रहा है।

इस प्रकार अन्य अनेक कार्यक्रमों के द्वारा धर्म की महती प्रभावना आचार्य श्री के प्रवास काल में हुई है। मैं उन क्षमामूर्ति परम शांत निर्ग्रन्थाचार्यवर्य के परम पुनीत चरणों में शत सहस्र वंदन करता हुआ उनके दीर्घ जीवन की कामना करता हूं। साथ ही यह भी भावना भाता हूं कि आचार्य श्री अपनी चरणरज से उत्तर प्रदेश की इस धरा को पुनः पवित्र करे। चिरकाल तक उनकी छत्रछाया में हम आत्मोन्नति का पथ प्राप्त करते रहें।

अविस्मरणीय स्मृति
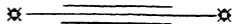
आचार्य श्री का किशनगढ़ चातुर्मास

□ श्री शान्तिकुमारजी गोधा
(मदनगंज-किशनगढ़, राजस्थान)

दिनांक १९ जुलाई सन् १९७७ का सूर्योदय न केवल किशनगढ़ वासियों के अपितु आस पास के सारे क्षेत्रों के निवासियों के लिए अनुपम सुख-सौभाग्य की सुन्दर आभा प्रस्फुटित कर रहा था। परम पूज्य प्रात:स्मरणीय चारित्र तपोनिधि १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज अपने विशाल मुनिसंघ के साथ मदनगंज-किशनगढ़ की धरा को पावन करने हेतु प्रवेश कर रहे थे। अपार जनसमूह भक्ति से उमड़ा चला आ रहा था, नगर से पूर्व की ओर उस स्थान पर जहां से मुनिसघ नगर में प्रवेश करने हेतु विहार करता हुआ आ रहा था। ऐसा विशाल जनसमूह किसी धार्मिक अवसर पर देखने का सौभाग्य उसी दिन प्राप्त हुआ। जय-जयकार करती हुई उस अपार भीड़ के मध्य आचार्य श्री अपने संघ के मुनियों, आर्यिकाओं एवं अन्य त्यागियों के साथ प्राणी मात्र पर करुणा बिखेरते हुए, मन्द-मन्द गति से जब नगर प्रवेश कर रहे थे तो ऐसा लगा जैसे जीवन का सच्चा आनन्द नगरवासियों ने प्राप्त कर लिया हो। जैन-अजैन सभी के चेहरे पर किसी स्वर्गिक आनन्द के समान प्रसन्नता परिलक्षित हो रही थी। झंडे पताकाओं से सुसज्जित नगर में स्थान-स्थान पर स्वागतद्वार एवं धर्मानुरागियों द्वारा आरती आदि से राह चलते हुए मनुष्य भी सहज ही आकर्षित हो रहे थे। ऐसे विशाल संघ जिसमें श्रुतनिधि १०८ आ० क० श्री श्रुतसागरजी महाराज प्रभृति १४ मुनिराज, १३ आर्यिका, २ क्षुल्लकगणों के दर्शन कर चतुर्थकाल का सहज ही भ्रम होता था।

आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को आचार्यसंघ से चातुर्मास स्थापना के लिए प्रार्थना करने हेतु सकल दि० जैन समाज एवं धर्म प्रेमी जैनेतर समाज भी एकत्रित हुई। यद्यपि आचार्य श्री का यह चातुर्मास किशनगढ़ में कराने के लिए समाज कई महिनों से ही सजग एवं क्रियाशील था और जब संघ मुजफ्फरनगर (उत्तरप्रदेश) की ओर विहार कर रहा था तभी से सतत प्रयत्न भी चल रहा था। संघ का धीरे-धीरे दिल्ली की ओर पुन: विहार हुआ और रेवाड़ी आ जाने के पश्चात् यह स्पष्टतया ज्ञात हुआ कि अब यह संघ राजस्थान की ओर विहार करेगा। रेवाड़ी संघ के आने के पश्चात् तो समाज अपने प्रयत्न में पूर्णरूपेण लग गया और संघ को किशनगढ़ लाने में सफल भी हुआ। चातुर्मास की विधिवत् घोषणा शेष थी अत: समाज ने अपनी ओर से प्रार्थना कर दी थी तथा आचार्य श्री की स्वीकृति की प्रतीक्षा टकटकी लगाए बैठी थी। आचार्य श्री ने श्री श्रुतसागरजी महाराज की ओर तथा श्रुतसागरजी महाराज ने आचार्य श्री की ओर देखा एवं दोनों ही के मुख पर मन्द हास्यस्मित प्रसन्नता प्रगट हुई। तत्पश्चात् आचार्य श्री ने जब चातुर्मास स्थापना की घोषणा की तो चन्द्रप्रभु मंदिर का प्रांगण जय-जयकार से गूंज उठा।

सरल स्वभावी :

आचार्य श्री के चातुर्मास में न केवल दिगंबर जैन समाज अपितु नगर के अन्य धर्मावलंबी एवं बाहर से आने वाले अनेक यात्री भी आचार्य श्री का नाम सुनकर उनके दर्शनार्थ आते रहते थे, आचार्य श्री के पास इतनी सहजता और सरलता से वार्ता करते थे मानों वे चिरकाल से आचार्य श्री के परिचित हों। आचार्य श्री के पास छोटा-बड़ा, अमीर-गरीब, विद्वान्-अनपढ़ का कोई भेदभाव नहीं था। यही कारण था कि वे सबके समान श्रद्धेय थे। कई बार उनके पास बड़े-बड़े विद्वान् भी अपने पांडित्य का प्रदर्शन करने आए, किंतु आचार्य श्री की सरलता, तपश्चर्या व स्पष्टआगमोक्ति के समक्ष नत मस्तक हो गए, उनका अपना पांडित्य विगलित हो जाता था। एक बार एक अन्य सम्प्रदाय के बड़े विद्वान् आचार्य श्री के दर्शनार्थ आए, उन्होंने सभक्ति नमस्कार किया और कहने लगे महाराज श्री मैं भारतवर्ष में परिभ्रमण करते हुए धर्मप्रचार में संलग्न हूं, आचार्य श्री ने सरलता से उनके कार्य की अनुमोदना 'अच्छा' कहकर की तथा पूछा कि क्या आप मधु का सेवन करते हैं ? उन्होंने उत्तर दिया हां, और साथ ही मधु (शहद) के निर्माण की वैज्ञानिक विधि का बखान करने लगे। आचार्य महाराज ने अत्यन्त सूक्ष्म आगमाधार से उनके तर्कों का उत्तर दिया तो उक्त बन्धु लज्जावनत हो भविष्य में मधुसेवन करने का त्याग करके ही गए।

अति लोकप्रिय :

आचार्य श्री के चातुर्मास प्रवासकाल में भारतवर्ष के सुदूरवर्ती क्षेत्रों से जिस प्रकार दर्शनार्थी आते थे उसे देखकर किशनगढ़ के लोगों को बहुत ही आश्चर्य होता था। आने वाले कई-कई दिनों तक यहाँ रहकर आहार-वैयावृत्ति आदि से संघ की सेवा एवं धर्मलाभ लेकर जब वापस जाने को होते तो उनके चेहरों से ऐसा आभास होता था जैसे कोई अपना घर छोड़कर मजबूरन विदेश जा रहा हो। कई दर्शनार्थी समुदायरूप में बसें लेकर आते थे और आचार्यसंघ के दर्शन कर अपना जीवन धन्य मानते थे। आने वाले दर्शनार्थियों में मात्र दिगम्बर धर्मानुयायी ही हों ऐसा नहीं था, अपितु कई बार श्वेताम्बर सम्प्रदाय के तथा अन्य धर्मावलम्बी भी होते थे तथा दर्शनकर आनन्दित होते थे। किशनगढ़ क्षेत्र के भी मारवाड़ी, सिंधी आदि बड़ी संख्या में नियमित रूप से आचार्य श्री के दर्शनार्थ एवं उपदेश श्रवण हेतु आते रहते थे।

श्रेष्ठ आचार्य :

संघस्थ साधुओं, आर्यिकाओं तथा क्षुल्लकगण एवं अन्य त्यागियों का भी विशेष ध्यान रखते थे, मुनिजन एवं आर्यिकाओं आदि का महत्त्व बराबर बना रहे इस ओर भी वे सदा प्रयत्नशील रहते थे। प्रवचन हेतु हर बार किसी न किसी साधु या आर्यिका को स्वतन्त्र रूपेण अवसर प्रदान करते थे जिससे धर्म प्रभावना हेतु सभी की प्रवचन शैली का निरन्तर विकास हो ऐसा उनका विचार रहता था।

चातुर्मास के प्रारम्भिक चरण में ही १०८ मुनि श्री भूपेन्द्रसागरजी महाराज की शारीरिक शक्ति क्षीण हो चली थी और अन्तिम समय नजदीक जान उन्होंने सल्लेखना धारण करली। आचार्य श्री के चरणसान्निध्य में मुनि श्री का समाधिमरण अत्यन्त सुन्दर एवं सफल, विधिपूर्वक हुआ। आचार्य श्री द्वारा उनको अन्तिम सम्बोधन देते देखकर कई पाषाण हृदयों के भी भावातिरेक में आंखों से झर-झर अश्रुपात होने लगा।

रक्षाबन्धन पर्व की बात है मुनि श्री वर्द्धमानसागरजी महाराज हस्तिनापुर में उपसर्ग आने तथा नेत्र ज्योति चले जाने से चारित्र घातक दोष लग जाने के कारण चातुर्मास काल में ही प्रायश्चित हेतु आचार्य श्री की चरणसन्निधि में आए। इस अकाल्पनिक घटना से संघस्थ साधुगण एवं सारा समाज स्तम्भित था तथा विभिन्न प्रकार की अटकलबाजी (अनुमान) कर रहे थे। सभी अनिश्चित से वातावरण में मग्न हो गए, यही सोचते थे कि अब क्या होगा और इस महत्वपूर्ण प्रसंग का हल आचार्य श्री किस रूप में करेंगे ? आचार्य श्री

एवं आचार्य कल्प श्री के मध्य वार्ता हुई और निर्णय अगले दिन प्रवचन के समय देने के लिए कह दिया। अगले दिन विशाल जन समुदाय प्रवचन में एकत्रित था। प्रत्येक व्यक्ति परस्पर में एक दूसरे से वार्ता करते हुए मुनि वर्द्धमानसागरजी महाराज को दिए जाने वाले प्रायश्चित के प्रति अपनी-अपनी आशंकाएं प्रगट कर मन ही मन चिन्तातुर थे, किन्तु जैसे ही आचार्य श्री का निर्णय घोषित हुआ तो उपस्थित जनसमुदाय हर्षातिरेक से मग्न हो आचार्य श्री की जय-जयकार करने लगा और सागरसम गम्भीर उन क्षमाशील आचार्य श्री के चरणों में नत-मस्तक हो गया।

आचार्य श्री बहुत ही पुण्यवान जीव हैं तभी तो उन्होंने इस परम उत्कृष्ट पद को प्राप्त किया है, ऐसा प्रत्येक व्यक्ति के मुख से सुनाई देता था। मेरे अग्रजद्वय श्री गुलाबचन्दजी एवं उमरावमलजी तथा स्थानीय अन्य कई लोगों से उनके रेवाड़ी से किशनगढ तक के अनुभव सुनने में आए। वे कहने लगे कि "विहार करते तथा गंतव्य स्थान पर पहुंचते इसके मध्य किसी प्रकार का कोई प्राकृतिक व्यवधान नहीं होता था, गन्तव्य स्थान पर पहुंचने के पश्चात् तथा वहाँ से आगे प्रस्थान से पूर्व ही आंधी, बरसात या ओले आदि गिरते रहे। कई बार तो ऐसा भी हुआ कि संघ आगे-आगे चल रहा है और पीछे-पीछे बरसात हो रही है।" मैं स्वयं ही इस बात पर सहज विश्वास नहीं कर सका और मन ही मन सोचने लगा कि ये लोग भक्तिवश ऐसा ही कह रहे हैं। चातुर्मास का समय नजदीक होने पर वर्षा ऋतु में ऐसी प्राकृतिक घटनाएं तो होती ही रहती हैं, किन्तु एक बार नहीं अनेकों बार आहार से पूर्व तथा पश्चात् बरसात होती रही और केवल आहार के समय बरसात रुक जाती है ऐसा स्वयं देखा तब मुझे रास्ते की वे बातें जो मैं ऊपर लिख चुका हूं विश्वसनीय लगीं। यद्यपि इन घटनाओं को लिखकर मैं आचार्य श्री का नाम किसी चमत्कारी घटनाओं से नहीं जोड़ना चाहता और न ही आचार्य श्री का किसी चमत्कार से नाम जुड़ा हुआ है तथापि मेरा अभिप्राय तो मात्र इतना ही था कि आचार्य श्री के पुण्य प्रभाव से यह सब कुछ सहज ही हो जाता है। उनके नाम स्मरण मात्र से ही लोगों के सर्व कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो जाते हैं। किशनगढ़ की समाज तो क्या अन्य लोग भी आचार्य श्री को "बड़े बाबा" के नाम से स्मरण करते हैं तथा अमंगलहारी तथा मंगलकारी के रूप में उनके प्रति अटूट विश्वास मनमें रखते हैं। आचार्य श्री के इस चातुर्मास में प्रारम्भ से सम्पन्न होने तक जैसा अभूतपूर्व आनन्द एवं उल्लास का वातावरण रहा उसमें आचार्य श्री का नामस्मरण एवं उनका सान्निध्य ही प्रभावी रहा।

मुझे यह लिखते हुए अत्यन्त गौरव की अनुभूति होती है कि आचार्य श्री का चातुर्मास किशनगढ़ के इतिहास में स्वर्णिम अध्याय होगा। उनके चातुर्मास का न केवल वर्तमान पीढ़ी वरन् भावी पीढ़ी भी गौरव के साथ स्मरण करेगी। आचार्य श्री की प्रेरणा से बालकों में धार्मिक संस्कार एवं धर्म शिक्षण हेतु एक विद्यालय की स्थापना इसी चातुर्मास समापन के दिन की गई। बालकों ने स्वयं इस विद्यालय का नाम आचार्य श्री के नाम पर ही रखने का आग्रह किया जो कि उनके मनमें आचार्य श्री के प्रति उत्पन्न हुई भक्ति का परिचायक है। किशनगढ़ समाज कितना उपकृत हुआ उसे कह पाना या लिख देना असंभव है। जब संघ आहार चर्या के लिए निकलता था तो सारे नगर में मेला सा लग जाता था। अन्य धर्मावलम्बी जन भी इस समय प्रतीक्षा रत रहते थे और इस अनुपम क्रिया को देखने के लिए लालायित रहते थे। आचार्य संघ के विहार का समय भी आ गया। चार मास का समय ऐसे व्यतीत हो गया मानों कल की ही बात हो। यथा समय आचार्य श्री ने ससंघ विहार किया, नगरवासी जन अश्रुपूरित नेत्रों से अपने श्रद्धेय आचार्य श्री को विदाई देने के लिए एकत्रित हुए और संघ के पीछे-पीछे दौड़े चले जा रहे थे। ऐसे निस्पृह-सरलमना श्रेष्ठ आचार्य श्री का ससंघ पुनः चातुर्मासकालीन प्रवास किशनगढ़ में हो इन्हीं भावनाओं के साथ आचार्य श्री के परम पावन चरणों में शत-शत नमन करता हूं।

आचार्य श्री धर्मसागरजी के सान्निध्य में

□ श्री सुभाषचन्द्र जैन,
(शकुन प्रकाशन, दिल्ली)

महापुरुषों के सान्निध्य में जो क्षण बीते वही स्मरणीय और संस्मरणीय ही नहीं अमर हो जाता है । यह मेरा परम सौभाग्य है कि मेरे जीवन के कुछ क्षण परम पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी के सान्निध्य में बीते । मैं आज उन क्षणों की पुण्य स्मृति अपने हृदय में संजोए बैठा हूं ।

दिव्यपुरुष केवल उपदेशामृत से ही जन का कल्याण नहीं करते वे तो अपने आचरण से भी जीवन को सार्थक बना देने वाले सूत्र अनायास ही दे देते हैं । आचार्य श्री आदर्शों के आदर्श, सहृदय, स्पष्ट एवं मृदुभाषी हैं ।

सिद्धान्त से समझौता नहीं :

भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाणोत्सव पर सन् १९७४ में आचार्य श्री का ससंघ चातुर्मास दिल्ली-दरियागंज में हुआ था । निर्वाणोत्सव के कार्यक्रम के अन्तर्गत १६ नवम्बर को बहुत बड़ा जुलूस निकला । लाखों की तादाद में लोग शरीक हुए । महाराज श्री से भी निवेदन किया गया कि वे भी जुलूस में सम्मिलित हों, क्योंकि चारों सम्प्रदाय के साधु-साध्वी इसमें होंगे । महाराज श्री ने अपनी स्वीकृति दे दी । निश्चित दिन आचार्य श्री अपनी सुविधा की दृष्टि से दरियागंज से पहाड़ी धीरज की धर्मशाला में चले गये कारण कि जुलूस उधर की तरफ से ही चलना था । मुनि श्री विद्यानन्दजी जुलूस के साथ पहले से ही चल रहे थे । लगभग आधा जुलूस निकल जाने के पश्चात् मुनि श्री ने आचार्य महाराज से आकर कहा जुलूस में चलिये । महाराज श्री तो तैयार बैठे थे, तुरन्त चल पड़े । सड़क पर आए और पूछा कि श्रीजी की सवारी (रथ) कहां है ? जिधर से जुलूस आ रहा था उधर की ओर मुंह करके भगवान के रथ को देखने लगे । रथ दूर तक दृष्टिगत नहीं था । विद्यानन्दजी महाराज ने कहा चलिए महाराज श्री । आचार्य महाराज ने कहा—हम तो केवल भगवान की सवारी के साथ ही चल सकते हैं ऐसे नही और आचार्य श्री ससंघ वापिस धर्मशाला में चले गये । जब वीतराग जिनेन्द्र भगवान का रथ आया, महाराज श्री ने प्रभु वन्दना की और रथ के साथ हो लिये । कुछ दूर जुलूस में साथ चले और जब देखा कि अब सामायिक-प्रतिक्रमण का समय हो रहा है तो जुलूस छोड़कर यथा समय अपने प्रवास स्थल दरियागंज पहुंच गए । उन्होंने कभी भी सिद्धान्त के साथ समझौता नहीं किया ।

हाथ कंगन को आरसी क्या :

एक बार आचार्य श्री प्रवचन कर रहे थे । भीड़ में से कोई बोला । नग्न रहने से क्या लाभ है ? भूखों मरकर आत्मा को कष्ट देने से क्या लाभ ? महाराज श्री ने इसका उत्तर केवल एक पंक्ति में दिया कि "हिम्मत है तो मैदान में आ जावो तभी इसके सुख दुःख की अनुभूति हो सकती है ।" छोटे से वाक्य में कितनी बड़ी बात कह गए, महाराज श्री ।

अविचल मनस्वी : स्पष्टवक्ता :

प्रत्यक्ष रूप से नहीं तो परोक्षरूप से वैभव का प्रभाव सभी पर पड़ता है। साधु और मुनि भी किसी न किसी रूप में प्रभावित हो जाते हैं, किन्तु आचार्य श्री सिद्धान्तों के सामने वैभव से समझौता करने वाले नहीं हैं। एक बार का जिक्र है, निर्वाणोत्सव कमेटी के कार्याध्यक्ष साहू श्री शांतिप्रसादजी की इच्छा थी कि भगवान महावीर स्वामी का एक ऐसा प्रामाणिक जीवन ग्रंथ तैयार हो जो जैनों के सभी सम्प्रदायों को मान्य हो। जाने-माने विद्वानों के द्वारा काफी परिश्रम के बाद ग्रंथ तैयार हुआ। निश्चय हुआ कि इस पर आचार्य श्री धर्मसागर जी की मोहर लगनी चाहिए। साहूजी ग्रंथ की पाण्डुलिपि लेकर आचार्य महाराज के पास आए और उनसे अपना मन्तव्य कहा। आचार्य श्री ने पहले इसे टालना चाहा। बोले--"किन्हीं अन्य विद्वान् से यह कार्य कराओ, मेरे विचार में मुनि विद्यानंदजी अधिक उपयुक्त रहेंगे"। साहूजी ने कहा "दर असल मुनि विद्यानंदजी का ही आग्रह है कि इस पर आपकी मोहर लगे।" महाराज ने कहा "तब इसे छोड़ जाओ। अध्ययन के पश्चात् ही कुछ कह पाऊंगा।" साहूजी ने आग्रह किया कि आप इसे अभी देख लें आपको कितनी देर लगेगी? वैसे ही काफी विलम्ब हो गया है। मैं चाहता हूं कि ग्रंथ शीघ्र ही प्रकाशित हो जाए।"

आचार्य श्री मुस्कराए और बोले "तब इसे ले जाओ और प्रकाशित करा लो, मैं बिना अध्ययन के अपनी सम्मति नहीं दे सकता और अध्ययन के लिए मुझे समय चाहिए।"

साहूजी ग्रन्थ को छोड़ गए। निश्चित अवधि बीतने पर वे आचार्य श्री की सेवा में पुन: पधारे और ग्रंथ पर आचार्य श्री की सम्मति जाननी चाही। आचार्य श्री ने कहा "मैंने इसे पूरा पढ लिया है, इस ग्रंथ के प्रकाशन हेतु मैं अपनी सहमति नहीं दे सकता।" जब साहूजी ने कारण जानना चाहा तब उन्होंने कहा "सेठजी! महावीर स्वामी के जीवनादर्श को लेकर चारों सम्प्रदायों का एक ग्रन्थ कैसे सम्भव है। वे वस्त्रालंकार सहित भगवान को मानते हैं और हम वस्त्रालंकार रहित वीतराग जिनेन्द्र को मानते हैं। हमारे भी वस्त्र नहीं जबकि वे वस्त्र सहित भी साधु कहलाते हैं। पद-पद पर मान्यताओं और सिद्धान्तों में विभिन्नता है। नहीं, नहीं इस ग्रंथ को मेरी संस्तुति प्राप्त नहीं हो सकती।

साहूजी कुछ खिन्न से हुए। बोले "यदि यह ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ तो मुझे अकारण जैन समाज के अध्यक्ष पद से त्याग पत्र देना होगा।" आचार्य श्री ने तुरन्त उत्तर दिया--"अच्छा है, तुम दे ही दो त्यागपत्र। तुम्हारे सिर पर व्यवसाय की, समाज की, न जाने कितनी जिम्मेदारियां हैं। इससे तुम्हारा बोझ कुछ हलका होगा।

साहूजी किसी प्रकार भी आचार्य श्री को उनके निर्णय से नहीं डिगा सके। ऐसे हैं अडिग--अविचल मनस्वी और स्पष्टवक्ता हमारे परम पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज।

स्पष्ट किन्तु मृदुभाषी :

सन् १९७८ के चातुर्मास में मैं एक बार उदयपुर आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के दर्शनार्थ हवाई जहाज से गया। उन दिनों मैं अस्वस्थ था, कमजोरी भी बहुत आ गई थी। इसी कारण पत्नी को भी साथ लेकर गया था। प्रात: लगभग ९ बजे महाराज श्री के दर्शनार्थ उनके पास पहुंचा। देखते ही बोले कब आए--मैंने कहा अभी-अभी हवाई जहाज से। हां भाई पैसे वाले हो न! मैंने कहा ऐसी बात नहीं है महाराज श्री, स्वास्थ्य काफी दिन से खराब था इसलिये हवाई जहाज से आना पड़ा। तभी संघ के अन्य महाराजों को भी मैंने नमस्कार किया तो किन्हीं मुनि श्री ने मुझ से प्रश्न किया कि दर्शनार्थ आए हो या घूमने-फिरने। इससे पहले कि में कुछ कहता महाराज श्री बोले तबियत खराब है न। पानी बदल करने आया है, दर्शन तो मुफ्त में कर लेगा। इतने स्पष्ट और सहज स्वभाव के मृदुभाषी हैं हमारे धर्मसागरजी महाराज। मैं उनके परम पावन चरणों में श्रद्धावनत अपने श्रद्धासुमन अर्पित करता हूं।
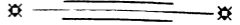
दृढ़ता की प्रतिमूर्ति आचार्य श्री का भव्य चातुर्मास

□ श्री बाबूलालजी पटवारी
(अध्यक्ष, मेवाड़ प्रान्तीय बघेरवाल समिति, बिजौलिया)

वि० सं० २०२४ का चातुर्मास बूंदी नगर में हो रहा था तभी अतिशय क्षेत्र पार्श्वनाथ के नाम से जाने जाने वाले बिजौलिया नगर में दि० जैन समाज की हार्दिक भावना हुई कि अब इस क्षेत्र में किसी मुनिसंघ का चातुर्मास होना चाहिए। भावना को बल मिला और समाज ने एक दिन एकत्रित होकर एक स्वर से कहा कि हमारे क्षेत्र के निकट बूंदी में मुनिराज श्री धर्मसागरजी महाराज का ससंघ चातुर्मास चल रहा है। अगला चातुर्मास हमारे यहाँ हो ऐसा हमारा प्रयत्न एवं पुरुषार्थ होना चाहिए। निर्णय के अनुसार समाज के कुछ लोगों का एक प्रतिनिधि मंडल बूंदी महाराज श्री के चरणो में पहुचा और अगले चातुर्मास की प्रार्थना की। महाराज श्री ने कहा कि अभी तो यही चातुर्मास सम्पूर्ण नहीं हुआ अगले की क्या बात कहें ? अभी तो काफी लम्बा समय शेष है यथावसर विचार करेंगे। प्रतिनिधि वापस आ गए आशा की कुछ किरण मन में लेकर।

भावनाओं के अनुरूप प्रयत्न जारी था। महाराज श्री जहा-जहां भी जाते समाज के लोग विनती के लिए पहुंचते। जब विहार करते हुए ज्येष्ठ माह में महाराज श्री ससघ 'चेची' ग्राम में विराजमान थे वहां पर अत्यन्त प्रयत्न के पश्चात् महाराज श्री की बिजौलिया की ओर विहार करने की स्वीकृति प्राप्त हुई। समाज में हर्ष व्याप्त हो गया। चेची से बेगू की ओर विहार किया। बेगू में बिजौलिया और आसपास के गांवों की समाज ने पुन: विनती की। महाराज ने विनती को स्वीकृत करके चातुर्मास करने की आज्ञा प्रदान की।

चातुर्मास के लिए बेगू से विहार हुआ संघ में ६ मुनिराज एवं एक ऐलक जी थे। रास्ते में रावड़दा ग्राम एकदम जंगल मे है वहां संघ को रात्रि विश्राम करना था। उस स्थान पर रात्रि विश्राम के लिए संघ ठहर गया। महाराज श्री जिस स्थान पर विराजमान थे उसके निकट ही समाज के अन्य कई लोग भी थे। संघस्थ अन्य मुनिगण विश्रान्ति कर रहे थे, किन्तु धर्मसागरजी मुनिराज जाप्य में लीन थे। इसी बीच एक सिह निकटस्थ जलाशय में पानी पीने आया, महाराज श्री की नजर तो उस पर पड़ गई, किन्तु वे दृढ़ता के साकार रूप थे, अपने जाप्य में लगे रहे अन्य सभी लोग सो रहे थे। जब सिह ने जोर से दहाड लगाई तब सब लोग जागे और घबराये, किन्तु महाराज श्री ने सबको संकेत से धैर्य बधाया, सिह पानी पीकर यथा स्थान चला गया। प्रात: उठकर संघ का विहार हुआ और बिजौलिया पहुंच गये।

आषाढ़ शुक्ला अष्टमी को नगर प्रवेश आनन्द के वातावरण में हुआ। आषाढ शुक्ला चतुर्दशी को चातुर्मास स्थापना हुई। प्रतिदिन धर्मोपदेश सुनने का मंगल अवसर प्राप्त हुआ। सघ के समस्त त्यागीगण परम शांत थे। बिजौलिया नगर के पुण्योदय से चातुर्मास काल में अनेक धर्म कार्य हुए। महाराज श्री ने भी बड़ी प्रसन्नता व्यक्त की कि चातुर्मास सानन्द सम्पन्न हुआ। यह मुनि अवस्था मे आचार्य श्री का अन्तिम चातुर्मास था, क्योंकि इसके पश्चात् महाराज श्री शांतिवीर नगर, श्री महावीरजी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में सम्मिलित होने के लिए ससंघ पधारे थे, किन्तु वहां पहले ही पहुंचे आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज का अचानक स्वास्थ्य बिगड़ा और उनका असमय में प्रतिष्ठा से पूर्व ही समाधि पूर्वक स्वर्गवास हो गया। उस समय आपको समस्त संघ ने आचार्य पद प्रदान किया।

मैं अपनी तथा समाज की ओर से पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के चरणों में अपनी हार्दिक विनयाञ्जलि समर्पित करता हूं।

सरधना नगर में आचार्य श्री धर्मसागरजी का पदार्पण

□ श्री सतीशचन्द जैन
[सरधना (मेरठ)]

सरधना, मेरठ जिलान्तर्गत उत्तरी भारत की प्रमुख जैन नगरी है । यहां लगभग ५०० घर जैन समाज के हैं । ६ भव्य दिगम्बर जैन मन्दिर व अन्य लोकोपकारी अनेक जैन संस्थाएं है । प्रतिदिन प्रातः सायं जब जिन मंदिरों में दर्शनार्थियों एवं अर्चनार्थियों की भीड़ लगती है तब ऐसा लगता है कि मानों धार्मिक युग चतुर्थ काल ही आ गया हो ।

सन् १९७५ का वह वर्ष इस नगरी के लिए कितना पावन और सौभाग्यशाली था जिस वर्ष के प्रारम्भ में मंगल विहार करते हुए एवं अपने मांगलिक प्रवचनों द्वारा धर्मतीर्थ की धारा बहाते हुए आचार्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज संघ सहित सरधना नगरी पधारे । स्वागत के लिए नगर का जैन-अजैन बच्चा-२ उत्फुल्लित था, सब आतुर थे, दर्शन करने के लिए, क्योंकि इतना बड़ा श्रमण संघ न कभी पहले किसी ने देखा था न इस युग में सुना था । नगर प्रवेश के समय वातावरण बड़ा उल्लासमय था, यह दिन निश्चय ही महान सौभाग्यशाली था । वृद्ध पुरुषों को अपनी स्मृति पुन: जागृत हो आयी जब चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्य शांति सागरजी महाराज संघ सहित यहां पधारे थे और अब उनके तृतीय पट्ट शिष्य यहां विराजमान थे । जैन ही नही वरन् अजैन लोग भी भक्ति भावना से ओतप्रोत थे, और वे कहते थे, कि धन्य है जैन साधु । पूज्य आचार्य श्री के संघ मे अनेक मुनिराज, आर्यिकायें, क्षुल्लक जी एवं अनेक त्यागी वृन्द थे । सब ही शांत और सरल चित्त थे । संघ की उपस्थिति से ऐसा लगता था मानों धर्म का सागर ही उमड़ पड़ा हो, यद्यपि आचार्य श्री के संघ का यहां अधिक दिन ठहरने का विचार नहीं था, परन्तु भक्तों की रुचि को देखकर संघ लगभग १ माह तक धर्म की अविरल वर्षा करता रहा ।

आचार्य श्री ने इस नगर को सरधना नहीं "श्रद्धान नगर" के नाम से सम्बोधित किया । यह अवसर था कि जब लोगों ने अपनी शक्ति को न छिपाकर विविध धार्मिक नियम लिये जिससे उनके जीवन में सदा के लिए धार्मिक भावना विकसित हुई ।

महाराज श्री ने श्रुतज्ञान की आराधना में सदा संलग्न होने की प्रेरणा की, लोगों ने महाराज श्री की आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए शास्त्र स्वाध्याय की प्रतिज्ञाएं ली । परिणाम स्वरुप लगभग ६ माह के पश्चात् ही "धर्मज्ञान ग्रंथ संग्रहालय एवं विद्यानंद अध्ययन केन्द्र" की स्थापना प० पू० आचार्य श्री के सुशिष्य पू० मुनि श्री वर्धमानसागरजी महाराज की प्रेरणा से की गई । जिसमें उच्चकोटि का लगभग सम्पूर्ण जैन साहित्य संग्रहीत है, जिसका लाभ स्वाध्याय प्रेमी निरन्तर ले रहे हैं ।

सरधना के नागरिक आज भी उस समय को याद करते हैं । वह एक माह का वातावरण सरधना नगर निवासियों को सदा स्मरण रहेगा । सभी आज भी लालायित रहते हैं कि आचार्य महाराज पुन: हमारे प्रान्त में पधार कर हमारे क्षेत्र का उद्धार करें । हम सभी यही कामना करते है कि पूज्य आचार्य श्री शतायु होकर भारत वर्ष में धर्म का उद्योत करते रहें ऐसा संघ सतत् विकसित रहे और मानव को मानवता का पाठ पढ़ाता रहे ।

भौतिकता से हटकर जिनने आत्मवाद का लक्ष्य लिया ।
काट मोह का बन्धन शाश्वत त्याग मार्ग को ग्रहण किया ।।
जिनके दर्शन करने से भव्यों का होता पाप शमन ।
आचार्य धर्मसागरजी के पद पद्मों में मेरा सतत नमन ।।

✲

टोंक नगर और आचार्य श्री

□ श्री श्रीधरजी मित्तल 'मनुज'
टोंक (राजस्थान)

"ते गुरु मेरे उर बसो, तारण तरण जिहाज"

उक्त पावन पंक्ति में जिन गुरुओं की स्तुति की गई है उन गरिमामय गुरुओं की ही श्रेणि में, बाल ब्रह्मचारी, चारित्र चूड़ामणि, तपोमूर्ति, क्षमा-शांति-संयम व शील के सागर, प्रभावी व्यक्तित्व एवं हित-मितवाणी के आगार, स्वनाम धन्य, परम श्रद्धेय श्री १०८ आचार्य प्रवर धर्मसागरजी महाराज का नाम अग्रणी है तथा दिगम्बर-श्रमण वर्ग में आप अनुकरणीय आदर्श हैं। आपके विषय में कुछ वर्णन करना सूर्य को दीपक दिखाना है। मेरे निज शब्दों में यथा—

कथा वस्तु हैं आप, कवि और काव्य आप हैं।
पिंगल औ व्याकरण, आप रस अलंकार हैं।।
कवि की सत्य सजीव, सुरचना कथा तुम्हारी।
किन्तु कहां है शक्ति, गा सकें उसको सारी।।
तदपि निर्मली देव, स्वयं आदर्श आपका।
है जिसका संयोग, सुशोधक ज्ञान सलिलका।।
स्मरण आपका विभो! सहायक जब बन जाता।
जीवन झांकी सहज, आपको मानव पाता।।

टोंक नगर में अल्प अन्तराल के पश्चात् आचार्य श्री वीरसागरजी, आचार्य श्री देशभूषणजी, आचार्य श्री शिवसागरजी, आचार्य श्री विमलसागरजी एवं आचार्य श्री विद्यासागरजी प्रभृति अनेक आचार्य एवं मुनिगणों का पदार्पण हो चुका है। इसका प्रमुख कारण मैं समझता हूं आज से २७ वर्ष पूर्व स्थानीय किले के मैदान से खुदाई के समय भूगर्भ से प्राप्त २६ तीर्थंकर प्रतिमाएं हैं जो कि विक्रम सम्वत् ११०० से १५०३ तक प्रतिष्ठित हैं तथा उनमें २० प्रतिमा श्वेत वर्णीय, ३ बादामी रंग की, एक कत्थई, एक मूंगा, एक गेहुंआ वर्ण की हैं। भगवान् पार्श्वनाथ के अतिरिक्त शेष सर्व प्रतिमाएं पद्मासन हैं जिनकी ऊंचाई १ से ३½ फुट तक है। टोंक नगर के लिये और विशेषकर जैन समाज के लिये भाद्रपद शुक्ला १३ वि० सं० २०१० तदनुसार २१-९-१९५३ का मंगल-मय दिवस ऐतिहासिक महत्ता का है, क्योंकि इसी दिन ये २६ प्रतिमाएं प्राप्त हुई थीं उनमें से ८ तख्ता के जैन मंदिर में तथा १८ प्रतिमा ऋषभनगर नसिया में विराजमान हैं। अस्तु!

जैसे कि मैं पहले लिख आया हूं कि टोंक नगर को अनेक आचार्य-मुनिगणों की पद रज से पवित्र होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ वहीं आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के ससंघ दो चातुर्मासों का सुयोग भी प्राप्त हुआ और उनके श्रीमुख से धर्मामृत वृष्टि से तृप्ति का अनुभव भी किया है।

उनका प्रथम चातुर्मास मुनि अवस्था में वि० सं० २०२३ में हुआ था। संघ में मुनि श्री पुष्पदंतजी एवं क्षुल्लक श्री विजयसागरजी, बोधसागरजी एवं पद्मसागरजी थे।

आपके सरल-सौम्य, क्षमाशील एवं शान्त स्वभाव और निस्पृह व निर्द्वन्द्ववृत्ति ने हम सभी लोगों के लिए वशीकरण मंत्र का कार्य किया। प्रात: से सायं तक जन समुदाय मेले की भांति आपके दर्शनार्थ, प्रवचन श्रवणार्थ पधारता था। आपके निरतिचार चारित्र पालन एवं अन्त: प्रभावकारी वीतराग वाणी से प्रभावित होकर चार भव्य प्राणियों के हृदय में वैराग्य-भाव जाग उठे और फलत: उन्होंने महाराज श्री से क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की और क्षुल्लक श्री निर्मलसागरजी, क्षुल्लक संयमसागरजी, क्षुल्लक दयासागरजी एवं क्षुल्लक महेन्द्र-सागरजी के रूप में संघ में सम्मिलित हो गये। साथ ही संघस्थ क्षुल्लक बोधसागरजी महाराज की ऐलक दीक्षा भी हुई थी। उक्त चारों क्षुल्लक वर्तमान में परमोपकारी जैनेन्द्र दीक्षा (मुनि अवस्था) में आत्मकल्याण में रत हैं तथा ऐलक बोधसागरजी ने मुनि दीक्षा भी धारण की और ४ वर्ष पूर्व उनकी आचार्य श्री के चरण सान्निध्य में ही सल्लेखना भी हो चुकी है। इस प्रकार आचार्य श्री के मुनिअवस्था के इस चातुर्मास में टोंक नगर की धरा त्यागी-प्रसवा के पवित्र सम्मान को प्राप्त हुई, यह सब आचार्य श्री का ही प्रभाव था।

चार वर्ष पश्चात् ही वि० सं० २०२७ में आचार्य पद प्राप्ति के पश्चात् आपका द्वितीय चातुर्मास टोंक की इस ऐतिहासिक धरा पर हुआ। इस समय आपके साथ लगभग १२-१३ मुनि एवं अनेक आर्यिकागण साथ थीं। पूर्व चातुर्मास में स्वकल्याण की प्रमुखता थी और इस चातुर्मास में स्व-पर दोनों की कल्याण दृष्टि प्रधान रूप से थी। पूर्व चातुर्मास के समान ही यह चातुर्मास उल्लासमय वातावरण में चल रहा था इसी बीच संघस्थ मुनि शीतलसागरजी महाराज द्वारा सल्लेखना ग्रहण एवं समस्त संघ के सान्निध्य में उत्कृष्ट समाधि का होना एक महान् पुण्य प्रसंग नगरवासियों को प्राप्त हुआ और संघ के अन्य त्यागी जनों के साथ विशेषरूप से सल्लेखना रत मुनिराज की सेवा का अवसर प्राप्त हुआ। इसी समय युवा मुनिद्वय अभिनन्दनसागरजी व वर्धमानसागरजी महाराज की वैयावृत्ति करने की उत्कृष्ट भावना को देखने का अवसर मिला जो अपूर्व था। सल्लेखना महोत्सव के कारण दूर-दूर से अनेक यात्रीगण आए उस समय ऐसा लगता था मानों भक्तों का सागर ही टोंक धरा पर अवतरित हो गया हो। मुनि श्री के शरीरान्त होने पर उनके पार्थिव शरीव का अंतिम संस्कार इसी नसियाजी प्रांगण में हुआ और उस स्थल पर मुनिराज के चरण स्थापित होकर निषद्या स्थान भी बन गया जिससे नसियाँ यह नाम भी सार्थक हुआ।

चातुर्मास प्रवासकाल के पश्चात् आचार्य संघ का विहार हुआ तथा लगभग २ माह आस पास के ग्राम व नगरों में विहार एवं धर्म प्रभावना करते हुए पुन: टोंक नगर में मंगल पदार्पण हुआ, क्योंकि चातुर्मास प्रवास में ही यह निर्णय हो चुका था कि पंच कल्याणक प्रतिष्ठा में आचार्य श्री का ससंघ सान्निध्य अवश्यमेव प्राप्त होगा। माघ शु० ६ से १३ तक सम्पन्न होने वाले इस पंचकल्याणक महोत्सव में आचार्य संघ के अतिरिक्त मुनि श्री सन्मतिसागरजी व मुनि श्री पद्मसागरजी भी विद्यमान थे। प्रतिष्ठाचार्य ब्र० सूरजमलजी थे। आचार्य श्री की सन्निधि में यह पंचकल्याणक प्रतिष्ठा निर्विघ्न सानन्द सम्पन्न हुआ और उपलब्धि स्वरूप वीर-धर्म गुरुकुल की स्थापना एवं नसियांजी के प्रांगण में भव्य मानस्तम्भ का निर्माण कार्य टोंक नगर के ऐतिहासिक कार्य हैं। गुरुकुल तो नसियांजी में चल ही रहा है तथा मानस्तम्भ का निर्माण भी चल रहा है। इस प्रकार आचार्य श्री के द्वारा टोंक निवासियों को अपूर्व धर्म लाभ प्राप्त हुआ।

मैं उनके अभिवन्दन की पावन बेला में उनके श्री चरणों में अपनी तथा समस्त समाज की ओर से अनन्त वंदना करते हुए ऐसी भावना भाता हूं कि मानस्तम्भ के निर्माण होने पर उसकी प्रतिष्ठा महोत्सव पर परमोपकारी गुरुवर का पुन: सान्निध्य प्राप्त हो।

परम पूज्य आचार्य श्री

धर्मसागरजी की पवित्र छाया में

□ श्री सुमतप्रसाद जैन, दिल्ली

आज से लगभग आठ-दस वर्ष पूर्व महानगरी दिल्ली के ऐतिहासिक श्री दिगम्बर जैन लाल मन्दिरजी में पूज्य मुनि श्री वृषभसागरजी का शुभागमन हुआ था। मुनि श्री करुणा एवं उदार दृष्टि का लाभ लेने वाले एक सज्जन के द्वारा मेरा उनसे परिचय हुआ था। पूज्य मुनिराज ने आचार्य श्री धर्मसागरजी के भव्य व्यक्तित्व एवं उदार चरित्र का पावन गुणगान करते हुए मुझ से यह आग्रह किया था कि मैं पूज्य आचार्य चरण की पवित्र छाया में जाकर उनका संघ से जो अकारण संबंध-विच्छेद हो गया है, उसके लिए आवश्यक प्रायश्चित्त का आदेश ले आऊं।

मुनि श्री की आज्ञा से मैंने संबंध-विच्छेद के कारणों पर एक संक्षिप्त-सा निबन्ध लिखकर परम पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी की सेवा में उनके अजमेर-प्रवास के दूसरे दिन ही भेट कर दिया। पूज्य आचार्य श्री ने मुझ से कहा कि इस प्रकार के लिखित निबन्ध एवं लिखित उत्तर भेजने की संघ की परिपाटी नहीं है। उन्होंने मुझे संकेत दिया कि मैं आहार के उपरान्त श्री मन्दिरजी के भवन में उनसे मिल लूं। दिन में आवश्यक जानकारी प्राप्त करने के उपरान्त उन्होंने मुझे निर्देश दिया कि मैं मुनि श्री के निकट रहने का प्रयत्न करूं और उनसे निवेदन करूं—कि चातुर्मास के उपरान्त वह अपनी शक्ति के अनुसार धीरे-धीरे चलकर संघ में पुन: आ जाएं। पूज्य आचार्य श्री में अनुशासन की दृढता तथा जीवन की कर्म-कठोरता के उपरांत भी संघस्थ साधुओं के लिए सहृदयता एवं वात्सल्य-भाव देखकर मैं आचार्य श्री के चरण द्वय में सादर सश्रद्धा नतमस्तक हो गया। पूज्य आचार्य श्री के भव्य व्यक्तित्व में मुझे सिंह-शावक के दर्शन हुए और प्रथम भेंट ने ही मेरे रात्रि के अन्नाहार को सदैव के लिए छुड़ा दिया।

अजमेर से लौटते समय मित्रों की कृपा से मद्य का सेवन करने वाले ड्राइवर ने लगभग मध्य रात्रि में अलवर से पन्द्रह किलोमीटर पहले एक ट्रेक्टर से भिड़न्त कर दी। ट्रेक्टर चालक वहां का प्रभावशाली व्यक्ति था। अत: रात्रि में भारी वर्षा एवं गहरे अन्धकार के उपरान्त भी सारा गाव घटनास्थल पर लाठियों से लैस होकर एकत्र हो गया। उनमें से लगभग निन्यानवें प्रतिशत व्यक्ति मुसलमान थे और वे हमारे साथियों के अन्य वाहनों से भाग जाने की चेष्टा से नाराज हो गए थे। पेड़ के नीचे आवश्यक निर्णय के लिए पंचायत हुई। उन्हीं में से एक सज्जन ने अनायास मुझ से कहा कि "आप लोग तो धर्म यात्रा से आ रहे हैं। अमुक व्यक्ति बड़ा सज्जन है। उसे पंच बना देना। वह निर्णय करा देगा।"

सभा में मैंने उस व्यक्ति को पंच बना देने का अनुरोध किया और सभासदों के सन्मुख अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए कि यह गलती ड्राइवर के मद्यपान के कारण हुई है। अतः यात्रा करने वाले व्यक्तियों का इसमें दोष नहीं है। सभा में मद्यपान की बुराइयों की विस्तार से परिचर्चा हुई। शराब के दुर्गुणों का विस्तार से उल्लेख होने के उपरान्त गाँव वाले सज्जनों ने हमें गाड़ी ले जाने की अनुमति दे दी। मेरी आज भी यह धारणा है कि यह सब पूज्य आचार्य श्री के दर्शनों का प्रभाव अथवा चमत्कार ही था।

पूज्य मुनि श्री वृषभसागरजी, युवा साधु श्री सम्भवसागरजी एवं श्री वर्धमानसागरजी, आर्यिका श्री १०५ ज्ञानमतीजी ने महा नगरी में आचार्य श्री के पावन गुणों का जयगान कर सम्पर्क में आने वाले श्रावकों को उनके दर्शन के लिए लालायित कर दिया था।

पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी ने जब सघ सहित महानगरी दिल्ली में प्रवेश किया तब नागरिक-समुदाय उनके दर्शनों के लिये बड़ी संख्या में उमड़ पड़ा था। चांदनी चौक में लाल किले के सामने तो ऐसा प्रतीत होता था मानों सत्ता एवं वैभव पर आध्यात्म एवं त्याग की जय हो रही है। उनके ससंघ नगर-प्रवेश से राजधानी दिल्ली में दिगम्बरत्व की कीर्ति में श्री वृद्धि हो गई।

पूज्य आचार्य श्री के सरल एवं सौम्य व्यक्तित्व के कारण श्रावक समुदाय में उनके प्रति हार्दिक श्रद्धा उमड़ने लगी। उनके पावन एवं त्यागमय व्यक्तित्व से अभिभूत होकर दिल्ली के श्रावकों ने अनेक कठोर नियम लेकर संघस्थ साधुओं को द्वाराप्रेक्षण (पड़गाहन) की ध्वनि गली गली में सुनाई देती थी। यह धारणा निर्मूल हो गई कि वैभव युक्त दिल्ली में श्रावक-समाज त्याग एवं संयम को धारण करने से घबराता है। वास्तव में दिल्ली तो श्रमण संस्कृति का प्रमुख केन्द्र है, उसे केवल आचार्य श्री जैसे समर्थ सन्तों के सान्निध्य की आवश्यकता होती है। इतिहास साक्षी है कि सन्तों के आशीर्वाद के उपरान्त तो दिल्ली सदैव से प्रकाश-स्तम्भ बनकर राष्ट्र को दिशा देती रही है।

महाराज श्री के निकट आने पर मैंने यह अनुभव किया कि पूज्य आचार्य श्री तो वास्तव में अपरिग्रह की साक्षात मूर्ति है। उनकी अपने लिए कोई आवश्यकता शेष नहीं रह गई है। निरन्तर आत्मा में रमण करने वाले इस महामुनि को न तो लकड़ी का पटरा बिछाने वाले की आवश्यकता है और न ही चटाई इत्यादि अन्य भौतिक उपकरणों की। वास्तव में आचार्य श्री तो इस भूमण्डल के शृंगार हैं। उनकी पावन दृष्टि निरन्तर धरती पर ही रहती है। कल्पना की उड़ान की अपेक्षा ठोस धरातल पर खड़े होकर आगमसम्मत जीवन व्यतीत करने में ही उन्हें परमानन्द की अनुभूति होती है।

किंवदन्ती है कि खाण्डववन के दहन के उपरान्त नारायण श्रीकृष्ण एवं पांडवों द्वारा इन्द्रप्रस्थ का निर्माण कराया जाते समय उस युग के महान् शिल्पी 'मय' नाम के वास्तुकार ने दिल्ली की नींव में माया का पुतला रख दिया था। वही माया समय-समय पर अपने अनेक रूप ग्रहण करके दिल्ली में सत्ता-परिवर्तन कराती रहती है एवं पवित्र आत्माओं को अपनी ओर आकृष्ट कर मार्ग से भटका देती है। पूज्य आचार्य श्री शायद उसके मायावी चरित्र से परिचित थे। इसीलिये दिल्ली की परिधि में प्रवेश करने से पहले ही उन्होंने अपने आहार में पांच रसों का परित्याग कर दिया था। दिगम्बर साधुओं की आहार-प्रणाली को जानने वाले व्यक्ति स्वयं अनुभव कर सकते हैं कि मुनि श्री दिल्ली में किस प्रकार का नीरस भोजन ग्रहण करते थे। वास्तव में उनका सात्विक एवं संतुलित आहार आत्मा के मन्दिर रूप शरीर को सुरक्षित रखने का संबल मात्र था। इसीलिए मायावी माया भी दिगम्बर मुनिराजों के सम्मुख नतमस्तक हो जाती है।

उनकी अपूर्व तपश्चर्या, अटूट निष्ठा एवं समर्पण-भावना के कारण नई दिल्ली की फैशनेबल जैन कॉलोनी दरियागंज में एक आध्यात्मिक क्रांति का श्री गणेश हो गया था। पूज्य श्री को वहाँ के श्रावक अल्प

अवधि के लिये ले गए थे। दरियागंज में उनके मंगल-प्रवेश ने आभिजात्य संस्कारों में आध्यात्म के अमृत को घोल दिया। दरियागंज का सुशिक्षित एवं सुविधाभोगी श्रावक-समुदाय पूज्य आचार्य श्री की सरलता एवं सामायिक मुद्रा से इतना प्रभावित हुआ कि वह आज भी महा कवि सूरदास की गोपियों की भांति आचार्य चरण की निरन्तर प्रतीक्षा में है।

आत्म-रस में निमग्न आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का दिल्ली में प्रवेश सकारण था। जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के पच्चीस सौ वें परिनिर्वाण महोत्सव की आधार शिलाओं को बल देने एवं उनकी परिकल्पनाओं को आधुनिक सन्दर्भ में साकार रूप देने के निमित्त पूज्य आचार्य श्री ने दिल्ली में पधारने की कृपा की थी। उनकी सतर्क दृष्टि के कारण ही महानगरी दिल्ली की चकाचौंध में भगवान् महावीर के दिगम्बर स्वरूप, पवित्र जिनवाणी के मूल रूप एवं जैन-समाज के हितों का संरक्षण हो पाया था।

भगवान महावीर स्वामी के पच्चीस सौ वें परिनिर्वाण महोत्सव को दिशा-दर्शन देने के लिए राजधानी में पधारे हुए परम पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी (ससंघ) एवं महामुनि श्री विद्यानन्दजी के मंगल प्रवचन के लिए लालकिले के सामने सुभाष मैदान में एक विशाल सभा-मण्डप बनाया गया था। यह आयोजन राजधानी के दिगम्बर जैन-समाज की प्रतिनिधि संस्था प्राचीन श्री अग्रवाल दिगम्बर जैन पंचायत (पंजी०) द्वारा आयोजित किया गया था। पंचायत के प्रधानमन्त्री एवं पर्वराज पर्यूषण महोत्सव के संयोजक के नाते मैंने आचार्य श्री जी से धर्म-सभा में ससंघ पधारने एवं ग्रंथराज 'तत्वार्थ सूत्र' का विवेचन करने के लिए महानगरी के नागरिकों की ओर से सादर, सश्रद्धा प्रार्थना की थी। उस समय पूज्य आचार्य श्री ने अपनी सहज स्वीकृति देकर राजधानी के श्रावक-समुदाय पर विशेष अनुकम्पा की थी।

पूज्य आचार्य श्री ने जब लाल किले के सामने श्री सन्मति सभा-मण्डप की धर्म सभा में ससंघ प्रवेश किया था तब ऐसा प्रतीत होता था मानो सभा-मण्डप एक तपोवन में परिवर्तित हो गया है। पूज्य आचार्य श्री के पवित्र सान्निध्य, मासोपवासी मुनि श्री सुपार्श्वसागरजी एवं मुनि श्री नेमसागरजी के कठोर व्रत-विधान, श्री संयमसागरजी, श्री दयासागरजी, श्री वृषभसागरजी, श्री बुद्धिसागरजी, श्री बोधसागरजी, महेन्द्रसागरजी एवं श्री विजय व विनयसागरजी जैसे मुनिपुङ्गवों के महा तेज एवं कठोर तप, श्री वर्धमानसागरजी, श्री अभिनन्दन-सागरजी एवं श्री सम्भवसागरजी जैसे युवा मुनिराजों के वैराग्य भाव, विदुषी आर्यिकाओं के कठोर संयम एवं ज्ञान-मंथन, क्षुल्लक एवं क्षुल्लिकाओं का आगम पथ के लिए दृढ़ संकल्प एवं संघस्थ ब्रह्मचारियों की जिन भक्ति ने सभा-मण्डप को तपोवन-सा बना दिया था।

धर्म सभा में आत्मस्थ आचार्य श्री धर्मसागरजी के मंगल प्रवचन एवं ग्रंथराज तत्वार्थ सूत्र के शास्त्रीय विवेचन ने वास्तव में दिल्ली के नागरिकों की सुप्त आत्मा को झकझोर कर आत्मस्थित अनन्त शक्तियों को जागृत कर दिया था। पूज्य आचार्य श्री की ब्रह्मवाणी में आत्मानुभव एवं जिनवाणी का सारतत्त्व था। हिन्दी के संत कवि महात्मा कबीरदास की तरह वे भाषा के डिक्टेटर हो गये थे। वे भाषा का अनुसरण नहीं करते थे वरन् भाषा उनकी अनुगामिनी थी।

इस समय आचार्य श्री का स्वरूप वास्तव में प्रकाश पुंज के सदृश था। धर्मसभा में पधारने वाले श्रावक आचार्य श्री के महातेज के सम्मुख नतमस्तक होगये थे और मेरी अपनी जानकारी में हजारों नर-नारियों ने पूज्य आचार्य श्री के धर्मामृत का लाभ उठाकर जीवन को संयम के पथ पर अग्रसर करने वाले अनेक नियम स्वेच्छा से ले लिए थे। राजधानी के जैन-इतिहास में यह पहला अवसर था जब किसी दिगम्बर जैनाचार्य ने अपने मुखारबिन्द से पर्वराज पर्यूषण के पावन अवसर पर ग्रन्थराज 'तत्वार्थ सूत्र' का स्वयं विवेचन किया हो। विभिन्न धर्मसभाओं एवं शास्त्र-सभाओं में सम्मिलित होने वाले सुविज्ञ विद्वानों एवं श्रोताओं की आज भी यह धारणा है कि महानगरी में ग्रंथराज तत्त्वार्थ-सूत्र का इतना सुन्दर विवेचन आज तक नहीं हुआ है। वास्तव में सर्वांग सुन्दर सत्यों को प्रकट करने के लिए आत्मा का वैभव अत्यावश्यक है। पूज्य आचार्य श्री तो स्वयं ही

क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य एवं ब्रह्मचर्य की प्रतिमूर्ति हैं। आत्मा के दस धर्मों को आत्मसात करने में ही उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगाई है। इसीलिए उनकी पवित्र वाणी से शाश्वत मूल्य प्रस्फुटित हो जाते हैं।

पूज्य आचार्य श्री के त्यागमय जीवन एवं सामायिक मुद्रा से प्रभावित होकर आत्मकल्याण के पथिकों ने पूज्य आचार्य श्री से दिगम्बरी दीक्षा की प्रार्थना की थी। आचार्य श्री ने उनकी पात्रता को लक्षित करके दीक्षा-समारोह की अनुमति दे दी थी। दरियागंज के बालाश्रम के बाहर एक विशाल सभा-मण्डप में यह आयोजन किया गया था। उस सभा को परम पूज्य आचार्य रत्न श्री देशभूषणजी महाराज का पवित्र सान्निध्य भी प्राप्त हुआ था। आचार्य युगल के पधारने एवं दिगम्बरी दीक्षा में वैराग्य की प्रबल अनुभूतियों के कारण सभा-मण्डप में चतुर्थ काल का वातावरण बन गया था। आचार्य युगल के महातेज से अभिभूत होकर सहस्रों नर-नारियों ने सप्त व्यसनों के त्याग एवं सदाचार के नियम अंगीकार किये थे। इस पवित्र अवसर पर ही पूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषणजी ने श्रमण-सम्यता एवं संस्कृति के उन्नायक मुनि श्री विद्यानन्दजी एवं आर्यिका श्री ज्ञानमतीजी को जिन शासन प्रभावक उपाध्याय एवं आर्यिकारत्न की उपाधियों से अलंकृत किया था। पूज्य आचार्य युगल की पवित्र छत्रछाया में होने वाला यह समारोह दिल्ली का ऐतिहासिक दस्तावेज ही बन गया है।

वास्तव में पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी वर्तमान विश्व की महान् विभूति हैं क्योंकि इन्द्रधनुष के समान संसार की अनित्यता का उन्हें अभिज्ञान हो गया है। वे अपने जीवन एवं आहार से भी मोह नहीं रखते। स्थितप्रज्ञ इस महाऋषि के अवलोकन मात्र से ही मन को शांति एवं पवित्रता मिलती है। उनका पवित्र दर्शन एवं सान्निध्य वास्तव में एक निधि है। पूज्य आचार्य श्री जैसे निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि के दर्शनों को मैं अपने जीवन की महान् उपलब्धि मानते हुए उनके चरण श्री में नत मस्तक होकर नमस्कार करता हूं। मेरी यह निश्चित धारणा है कि जो श्रावक उन्हें श्रद्धापूर्वक नमन करता है वह आत्म-कल्याण के पथ का अनुगामी बन जाता है।

मैं और मेरे के जो भाव हैं, वे घमण्ड और स्वार्थपूर्णता के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। जो मानव उनका दमन कर लेता है वह देवलोक से भी उच्चलोक को प्राप्त होता है।

□ श्री जयकुमार जैन, पारवाड़ा गर्ग
(नैनवां – बूंदी)

विश्व के परम आदर्श

महान सन्त के जीवन प्रसंग में

प० पू० प्रात:स्मरणीय, तरण-तारण, तपोनिधि, बाल ब्रह्मचारी आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज ने बूंदी स्टेट, नैनवां किला (वर्तमान बूंदी जिला-नैनवा तहसील) के अधीनस्थ गम्भीरा गाँव के धर्मपरायण श्रीमान् श्रेष्ठीवर्य बख्तावरमलजी छाबड़ा की धर्म पत्नि श्रीमती उमरावबाई की कुक्षि से पौष शुक्ला पूर्णिमा को वि० सं० १९७० में जन्म लेकर चिरञ्जीलाल नाम प्राप्त किया। आपका अपर नाम कजोड़ीमलजी भी था। पुत्र रत्नोत्पत्ति से सारे परिवार में प्रसन्नता हुई। आप से पूर्व होने वाली सन्तानें मृत्यु को प्राप्त हो चुकी थीं। आपके पिता श्री दो भाई थे, अग्रज कंवरलालजी और अनुज बख्तावरमलजी। कंवरलालजी के एक मात्र सन्तान दाखांबाई और बख्तावरमलजी के आप इस प्रकार दोनों भाइयों के बीच दो ही सन्तान थी।

शैशवावस्था में ही आपके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया था अत: आपको जीवन में माता-पिता का दुलार अधिक समय तक प्राप्त नहीं हो सका था। दाखाँबाई के माता-पिता का भी कुछ ही वर्षों के पश्चात् स्वर्गवास हो गया था। दाखांबाई का विवाह बामण गांव जो कि गंभीरा से चार मील ही दूर था के श्री भंवरलालजी के साथ हुआ था। दुर्भाग्य से दाखांबाई भी पतिवियोग हो जाने से बहुत कम उम्र में ही वैधव्य को प्राप्त हो गई थीं। अब भाई-बहिन का अनुराग ही दोनों के जीवन का मात्र सहारा था। आपके पिता श्री के पूर्वजों की निवास स्थली नैनवां के निकट दुगारी गांव था अत: दुगारी में आपने मोतीलालजी-सुवालालजी छाबड़ा के घर रहकर विद्याध्ययन किया। दुगारी में एक विशाल जलाशय है उसमें आप कूद-कूद कर खूब स्नान करते थे और तैरना भी जानते थे, किन्तु शायद उस समय जलाशय में तैरने का अभ्यास संसार समुद्र से पार होने के लिये ही करते थे। हुआ भी ऐसा ही अब आप माता-पिता के धार्मिक संस्कारों तथा गुरु सान्निध्य के कारण दिगम्बर मुनि दीक्षा धारण कर स्व-पर कल्याण में निरत हैं।

कौन जानता था कि विकट संकटापन्न स्थितियों पर भी विजय प्राप्त कर बालक चिरंजी धर्म-समाज एवं चारित्र पथ को गौरवान्वित करेगा। प्रारम्भ से ही आप "सादा जीवन उच्च विचार" के मूर्तिमान रहे हैं। आपके जीवन में साधनहीन उस अवस्था में भी नीति का व्यवहार था, आपने सदैव 'न्यायोपात्तधनं' के अनुसार अपने जीवन में अन्यायोपार्जित धन को कभी स्थान नहीं दिया। जीवन-निर्वाह हेतु आपने छोटा सा व्यापार कर लिया और उस सम्बन्ध में आप प्राय: नैनवां आया-जाया करते थे, तभी से आपके उच्चादर्श स्वरूप जीवन को अत्यन्त निकटता से देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। कुछ समय पश्चात् आपने इन्दौर जाकर वहां कपड़े का व्यापार भी किया, किन्तु सन्तोष-वृत्ति को कभी नहीं छोड़ा। आपने सदा "मोटा खाना मोटा पहिनना" की नीति को जीवन में उतारा। आपने विवाह नहीं करवाया।

पूर्वोपार्जित पुण्योदय से वि० सं० १९९५ में प० पू० प्रातःस्मरणीय आ० क० श्री चन्द्रसागरजी महाराज का वर्षायोग नैनवां में हुआ तभी आपने उनके चरण सान्निध्य में रहकर गुरु सेवा का अपूर्व लाभ प्राप्त किया। आपकी बहिन दाखांबाई ने भी व्रत ग्रहण किये। जब आप व्यापारार्थ इन्दौर चले गये तब वहां पर आपने तत्कालीन आ० क० श्री वीरसागरजी महाराज से द्वितीय प्रतिमा के व्रत धारण किये तथा कुछ ही समय के पश्चात् बड़नगर में आ० क० श्री चन्द्रसागरजी महाराज के पास सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये। अब दोनों भाई-बहिन व्रती बनकर जीवन को धन्य मानते हुए आत्मकल्याण में अग्रसर हो गुरुदेव के संघ में ही रहने लगे। आपकी बहिन दाखांबाई अत्यन्त सरल परिणामी महिलारत्न थीं। उन्होंने दुगारी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के समय आपके चरणसान्निध्य में ही सल्लेखनामरण पूर्वक शरीर का त्याग अत्यन्त धर्ममय परिणामों के साथ किया था। इस समय आप मुनि दीक्षा ले चुके थे।

जब आप आ० क० चन्द्रसागरजी महाराज के साथ ही रहने लगे तब धीरे-धीरे आपके परिणामों में विरक्ति भाव बढ़ने लगे और आपने वि० सं० २००० में चैत्रकृष्णा सप्तमी के दिन क्षुल्लक दीक्षा धारण की तब आपकी भद्रप्रकृति को देखकर ही गुरुदेव ने आपका भद्रसागर नामकरण किया। दुर्भाग्य से वि० सं० २००१ का चातुर्मास ही गुरुसान्निध्य में कर पाये थे कि बड़वानी सिद्ध क्षेत्र पर होने वाली पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर गुरुदेव ससंघ वहां पधारे तथा प्रतिष्ठा के पश्चात् वहीं उनका स्वर्गवास हो गया। गुरुवियोग के पश्चात् आप आ० क० श्री वीरसागरजी महाराज के पास पीडावा (राज०) में आ गये तथा गुरुसान्निध्य में क्षुल्लकावस्था में ७ चातुर्मास किये। इसके पश्चात् फुलेरा पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में वि० सं० २००८ में आपने वीरसागरजी महाराज से ऐलक दीक्षा ग्रहण की एवं उसी वर्ष फुलेरा चातुर्मास के अन्त में आपने कार्तिक शुक्ला १४ को मुनि दीक्षा ग्रहण कर आत्मसाधना हेतु पुरुषार्थ प्रारम्भ कर दिया। गुरुदेव के साथ ६ चातुर्मास किये। वि० सं० २०१४ के चातुर्मास में वीरसागरजी महाराज का भी स्वर्गवास हो गया। उसके पश्चात् आपने संघ से दो मुनिराजों के साथ पृथक् विहार किया।

लगभग ११ वर्ष के पश्चात् वि० सं० २०२५ में महावीरजी में शान्तिवीर नगर की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के समय आप भी ससंघ पधारे। इस समय आपके साथ आप सहित ६ मुनिराज एवं एक ऐलकजी थे जो आपके ही शिष्य थे। ११ वर्ष के इस लम्बे काल में आपने अनेक भव्यजीवों को दीक्षा प्रदान कर मोक्षमार्ग में लगाया। उक्त प्रतिष्ठा के अवसर पर आचार्य श्री वीरसागरजी के पट्टशिष्य आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज भी ससंघ उपस्थित थे। प्रतिष्ठा से पूर्व ही आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज का भी स्वर्गवास हो जाने पर समस्त संघ ने आपको आचार्य बनाया और उसी दिन आपके कर कमलों से ११ दीक्षाएं हुई थी। आचार्य पद प्राप्ति को भी अब १२ वर्ष होने को हैं, आपने इस लम्बी अवधि में गुरु परम्परा एवं आर्ष ग्रंथों के अनुसार अपने आदर्श जीवन से तथा धर्मोपदेश से धर्मप्रभावना का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और कर रहे हैं। राजस्थान तथा उत्तर भारत, दिल्ली, मालवा, महाराष्ट्र गुजरात आदि क्षेत्रों में विहार कर दीक्षित जीवन के ३७ वर्षों में भव्य-जीवों को धर्मोपदेश देकर सन्मार्ग में लगाया है।

मैं भी परम पूज्य गुरुदेव के पावन चरणों में कोटिशः वन्दन करता हुआ श्रीमद् देवाधिदेव जिनेन्द्र प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि ऐसी उत्कृष्टनिधि परम गुरु युग-युग तक धर्म प्रभावना करते हुए विश्व का कल्याण करें।

धर्मधुरा के धर्मधुरंधर, धर्म सिंधु गुरुवर्य महान्।
नग्न दिगम्बर कर्म खिपाते पुनि-पुनि चरणकमल ललाम ।।
तुम सम बनूं गुरुवर ऐसा वर दो मुझे महान्।
इसी हेतु तुम चरणन में तीनों काल त्रिविध प्रणाम ।।

श्रमण संस्कृति का एकमेव श्रेष्ठ आदर्श

□ सौ० श्रीमती जानकी देवी काला,

(नांदगांव)

गत लगभग ५०० वर्षों के अन्तराल के पश्चात् इस बीसवीं सदी में लुप्तप्राय: दिगम्बर साधुता को स्व० प० पू० चारित्र चक्रवर्ती महाश्रमण आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज ने पुनरुज्जीवित किया। दिगम्बरत्व का यह तेजस्वी सूर्य यदि उदय में न आता तो सच्चे दिगम्बर साधुओं के दर्शन तो दुर्लभ हो ही जाते, किन्तु श्रमण संस्कृति भी शेष नहीं रहती। आचार्य श्री के अत्यन्त सुन्दर, आदर्श और निर्दोष साधुता के दिव्य मंदिर को उज्ज्वल और आकर्षक बनाये रखने में उनकी शिष्य परम्परा के आचार्य श्री वीर सागरजी, आचार्य कल्प चन्द्रसागरजी, आचार्य नेमिसागरजी, आचार्य नमिसागरजी, आचार्य पायसागरजी, आचार्य कुन्थुसागरजी, आचार्य सुधर्मसागरजी आदि श्रमणों ने अपूर्व योगदान दिया है। तथापि आचार्य शांतिसागरजी महाराज ने अपनी सल्लेखना के समय अपना आचार्य पद अपने सुयोग्य विद्वान् तपस्वी साधु श्री वीरसागरजी महाराज को दिया था और उन्होंने उस पदवी की उज्ज्वल परम्परा अपने विशाल संघ के साथ बराबर संभाली। उनके पश्चात् उन्हीं के प्रधान शिष्य श्री शिवसागरजी महाराज ने आचार्य पद ग्रहण कर अपने संघ को आगम के अनुकूल संभाला। आचार्य श्री शिव सागरजी महाराज के पश्चात् उसी परम्परा में आचार्य धर्मसागरजी तृतीय पट्टाचार्य हैं और वे आचार्य शांतिसागरजी महाराज के द्वारा निर्मित एवं उभयाचार्य द्वारा संवर्धित श्रमण परम्परा की भव्य इमारत के कलश स्वरूप हैं।

आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज रत्नत्रय धर्म के एक तेजस्वी रत्न हैं। आप वास्तव में धर्म के अथाह सागर हैं। आत्मश्रद्धा, आत्मज्ञान और आत्मलीनता रूप त्रिवेणी का प्रवाह अनवरत रूप से बहता हुआ इसी धर्म के सागर में समा जाता है। रत्नत्रय धर्म का ऐसा निष्कलंक आदर्श स्वरूप अन्यत्र कम देखने को मिलता है। आप एक विशाल संघ के स्वामी हैं तथापि आप की निर्लेपवृत्ति अलौकिक है। आपके पास न तो यंत्र मंत्र तंत्र का चमत्कार है और न कीर्तिका व्यामोह। यही कारण है कि न तो आप किसी संस्था से बंधे हैं और न किसी नवीन संस्थाओं को खोलकर समाज पर आप अपना प्रभाव जमाना चाहते हैं। आपको आत्मरस ही प्रिय है अत: लोकानुरंजन से आप कोसों दूर हैं।

आत्म प्रशंसा व परनिंदा से सदैव दूर रहते हुए भी आगम घात और धर्म की प्रताड़ना उन्हें सह्य नहीं है। धर्म और आगम रक्षा के निमित्त वे किसी भी बड़ी से बड़ी शक्ति से भी भय नहीं खाते। श्रीमंतों के वैभव और शिष्यों की चापलूसी ने उन्हें कभी भ्रान्त नहीं होने दिया। सम्पदा और विपदा में उनकी निर्विकार मुद्रा सचमुच में वीतरागता का वैभव सर्वत्र बिखेरती है तथापि अपने पदानुकूल निर्मल चारित्र, सम्यक्त्व और अनेकांत से राग उनमें अवश्य देखा जाता है। वे चलते हैं तो साधुता उनके साथ चलती है और वे बोलते हैं तो धर्म की गंगा बहती है।

विश्व के एकमेव ऐसे निर्मलमना महासाधु जब २५००वें परिनिर्वाणोत्सव के अवसर पर दिल्ली अपने विशाल संघ के साथ पधारे तो दिल्ली निवासी जनता उस वीतराग मुद्रा को देखकर विस्मित हो गई। सब ने एक स्वर से कहा कि "आज वास्तव में धर्मसागर के रूप में सच्ची साधुता और तपस्विता ही देहली में अवतरित हुई है। वास्तव में ये धर्म के गंभीर सागर ही हैं।"

आचार्य श्री 'आगम चक्खु साहू' के मूर्तिमान हैं। आपसे दिगम्बरत्व की शोभा ही बढ़ी है। आपको पाकर दिगम्बर जैन समाज धन्य हो गया है। आपने अपनी गुरु परम्परा का निष्ठा के साथ निर्वाह किया है। आप साधुओं के मेरुमणि हैं। हमें भी उन महान निष्कलंक तपस्वी गुरुदेव के पुनीत दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और उनके मंगल आशीर्वाद को प्राप्त कर मन को अतीव आनन्द हुआ है।

ऐसे निरीह, निराडम्बर, निस्पृही, अयाचक, निष्कषाय साधुराज के 'भूयात् पुनर्दर्शनं' रूप भावना सहित पुनीत चरणों में कोटि-कोटि प्रणाम करते हुए यह भव्य भावना भाती हूं कि परम पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के हिमालय सदृश उत्तुंग अध्यात्म पूर्ण आदर्श और निष्कलंक साधु जीवन की छत्रछाया चिरकाल तक समाज को प्राप्त होती रहे।

जयपुर नगर में आचार्य श्री का चातुर्मास

□ श्री मिलापचन्दजी बागायत वाला

जयपुर (राजस्थान)

जयपुर एक ऐतिहासिक नगरी है तथा यहां जैन समाज की काफी मात्रा में जनसंख्या है। अनेकों मंदिरों एवं विशाल जिनबिम्बों से सुशोभित यह नगरी राजस्थान प्रान्त की राजधानी है तथा राजा जयसिंह के द्वारा बसाई गई है।

जयपुर का परम सौभाग्य रहा है कि २० वीं शताब्दि के प्रायः समस्त आचार्य व मुनिगणों की चरण रज यहाँ पड़ी है। प० पू० चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज अपने सप्तऋषि संघ के साथ यहां चातुर्मास कर चुके हैं। उनके प्रथम पट्टधर आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के लगातार तीन चातुर्मास, आचार्य देशभूषणजी, आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज, आचार्य श्री महावीर कीर्तिजी आदि आचार्य परमेष्ठियों के ससंघ चातुर्मास हो चुके हैं। आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के साथ मुनि अवस्था में धर्मसागरजी महाराज तीन चातुर्मास कर चुके थे।

जयपुर नगर का परम सौभाग्य रहा कि सन् १९५५ में अन्तिम सल्लेखना के समय आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज ने अपना आचार्य पद श्री वीरसागरजी महाराज को देने की घोषणा कुंथलगिरी में की थी, तब वीरसागरजी महाराज जयपुर में ही विराजमान थे और उनको विशेष समारोह में आचार्य पद प्रदान किया गया था। वि० सं० २०१४ के चातुर्मास में उनका स्वर्गवास हो जाने पर श्री शिवसागरजी

महाराज को आचार्य पद भी यहीं प्रदान किया गया था। इन्हीं मंगल अवसरों की कड़ी में एक और अध्याय जुड़ा था और वह था (आचार्य शिवसागरजी महाराज का स्वर्गवास श्री महावीरजी में वि सं० २०२५ में हो जाने पर आचार्य पद पर श्री धर्मसागरजी महाराज को प्रतिष्ठित किया गया था उसके पश्चात्) आचार्य पद प्राप्ति के पश्चात् सन् १९६९ में सर्व प्रथम चातुर्मास आपका जयपुर नगर में बख्शीजी के चौक में हुआ था। इससे पूर्व आचार्य श्री वीरसागरजी व आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के चातुर्मास खानियाँ में ही हुए थे।

इस वर्षा योग में आचार्य श्री के साथ विशाल संघ था। चातुर्मास के मध्य अनेक धर्म प्रभावक कार्यक्रम हुए। इससे पूर्व भी हुए चातुर्मासों में दीक्षा के कार्यक्रम हुए थे उसी के अनुसार यह चातुर्मास भी खाली नहीं रहा। आचार्य श्री के सान्निध्य में उन्ही के करकमलों से यहां ३ मुनि दीक्षा तथा तीन ही आर्यिका दीक्षाएं हुई। ये ६ दीक्षाएं तीन चरणों में हुई थीं और दो बार की दीक्षाएं तो रामलीला मैदान पर विशेष प्रभावना के साथ सम्पन्न हुई थीं। एक दीक्षा बक्सीजी की धर्मशाला में हुई और उन मुनि योगीन्द्रसागरजी की सल्लेखना भी हो गई थी। संघस्थ विद्वान् साधु-साध्वियों के प्रवचन का लाभ भी समाज को प्राप्त हुआ था। आचार्य श्री के प्रवचन अत्यन्त सरल होते थे, किन्तु हृदय को स्पर्शित करते थे। चातुर्मास में श्रावक गणों के लाभार्थ शिक्षण कक्षाएं भी लगभग २०-२१ दिन तक चली थीं, जिससे विभिन्न विषयों का सामान्य ज्ञान भी समाज को प्राप्त हुआ था।

चातुर्मास स्थापना के पूर्व से ही आचार्य श्री की भावना थी कि यहां एक गुरुकुल की स्थापना होनी चाहिए उनकी प्रेरणाओं से गंगापोल दरवाजे के बाहर तीनों नसियाओं में गुरुकुल की विधिवत् स्थापना भी हुई थी, किन्तु वह कई अपरिहार्य कारणों से आचार्य श्री के मंगल विहार के पश्चात् अधिक दिन तक नहीं चल पाया। हां! चातुर्मास काल में बच्चों में धार्मिक शिक्षा के प्रचार हेतु जयपुर शहर के कई मोहल्लों के जिन मंदिरों में रात्रि पाठशालाएं प्रारम्भ की गई थीं जिनमें कुछ तो अद्यावधि चल रही हैं।

इस प्रकार जयपुर चातुर्मास अनेक प्रभावक कार्यक्रमों के मध्य सम्पन्न हुआ। इस चातुर्मास में मुझे आचार्य श्री का चरणसान्निध्य निकटता से प्राप्त हुआ। मैंने अनुभव किया कि धार्मिक संस्कारों को नई पीढ़ी में बनाए रखने के लिए शिक्षा के प्रति कितना प्रेम है आचार्य श्री में। इसके पश्चात् भी आचार्य महाराज के अनेकों बार दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

निस्पृहता उनके जीवन में कूट-कूट कर भरी हुई है, आर्ष परम्परा के संरक्षण में भी वे निरन्तर सजग हैं। आगमालोक में उनके चारित्र की निर्मल परिणति भौतिकवाद में रचे पचे लोगों के लिए अनुकरणीय है। अभिमान तो उनको छू भी नहीं गया है।

मैं पूज्य आचार्य चरणों में कोटि-कोटि प्रणाम करता हुआ उनके स्वस्थ दीर्घ जीवन की कामना करते हुए यह भावना भाता हूं कि उनके मार्गदर्शन में हम लोग आत्मकल्याण का मार्ग प्राप्त करते रहें।

जयवंतो गुरुवर आचार्य धर्मसागरजी महाराज !!

जो निरर्थक शब्दों का आडम्बर फैलाता है वह अपनी अयोग्यता को ऊंचे स्वर से घोषित करता है।

गुलाबपुरा का सौभाग्य

□ बिमलचन्द बज गुलाबपुरा, अजमेर

"भूतल पर मानव जीवन की कथा में सबसे बड़ी घटना उसकी आधिभौतिक सफलताएं अथवा उसके द्वारा बनाये गए और बिगाडे हुए साम्राज्य नहीं, बल्कि सच्चाई और भलाई की खोज के पीछे उसकी आत्मा द्वारा की गई युग-युग की प्रगति है। जो व्यक्ति आत्मा की इस खोज के प्रयत्नों में भाग लेते हैं उन्हें मानवीय सभ्यता के इतिहास में स्थायी स्थान प्राप्त हो जाता है। समय, महा योद्धाओं को, अन्य अनेक वस्तुओं की भांति बड़ी सुगमता से भुला चुका है, परन्तु संतों एवं आचार्य व मुनि गणों की स्मृतियां विद्यमान हैं और रहेंगी।" डाक्टर राधा कृष्णन का उपर्युक्त कथन ध्रुव सत्य है।

ऐसे महापुरुष संसार की सर्वोत्तम विभूति हैं अनमोल निधि हैं। अज्ञान मोह एवं आसक्ति के घटाटोप से दिग्भ्रमित मानवता के लिए वे प्रकाश-पुंज हैं। आत्म-साधना में रत उनका जीवन सर्वजन हिताय-सर्वजन सुखाय होता है; विश्व के वे महान उपकर्त्ता होते हैं, क्योंकि उनकी आत्मा विश्वात्मा बन जाती है। ऐसे संतों, आचार्यों एवं मुनियों का स्तवन पूजन एवं गुणगान मानव जाति के लिए महान् मंगल विधान है।

ऐसे ही दिव्य तपोधनी महान् आत्म साधक एवं निष्ठावान् व्रत सेवियों में से एक हैं, परम श्रद्धेय, प्रातःस्मरणीय परम पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज जिनके प्रथम दर्शन ने ही मुझे आत्मदर्शन के लिए प्रेरित किया जो ज्ञान की ऊंचाइयों पर पहुंचकर मेरे लिए प्रकाश की किरणें विकीर्ण करते रहे एवं जिनकी उदारता ने मेरे हृदय पटल को परिमार्जित कर दिया। मेरे परम आराध्य बन गए, मैं चिन्तन की गहराइयों में उतरने लगा और अनुभव किया कि उनका महिमामय व्यक्तित्व मेरे अन्तस्तल को झकझोर रहा है। मैंने पाया कि वे प्रत्येक व्यक्ति के लिए मृदुल और दयालु हैं, लेकिन अपने लिए कठोर। ऐसे महापुरुषों को लक्ष्य कर ही 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' कहा है।

प० पू० आचार्य श्री एक क्रान्तिकारी व्यक्तित्व लेकर अवतरित हुए है। उनमें चारित्र निर्माण एवं मानवता को मर्यादा पूर्ण प्रगतिशील दिशा निर्देशन देने की क्षमता है तथा युवक को साधु शील अध्यवसायी आशावान व दृढ़ निश्चयी बनाने की उनकी अपनी कला है। वे समाज एवं व्यक्ति को इस बिन्दु तक ले जाना चाहते हैं जहां वैषम्य का अभाव हो गतानुगतिकता न हो तथा शुद्ध बुद्ध व चैतन्य युक्त होकर मानव स्व पर हित में साधक हो। वे चाहते हैं कि व्यक्ति में सदाशयता के भाव जगे परस्पर घृणा व स्वार्थ को त्यागकर सह-अस्तित्व की कला को अपनावें तथा आन्तरिक चेतना व मानसिक तटस्थता के भाव पैदा हों। पूज्य आचार्य महाराज ससंघ जब तक गुलाबपुरा नगर में विराजे प्रायः इन्हीं बिन्दुओं को लेकर प्रवचन फरमाते रहे। उनकी वाणी की मिठास एवं हृदय स्पर्शिता से जन-समूह खिचा चला आता था। जो भी हृदय के कालुष्य से युक्त होकर आया वही निर्मल शुद्ध एवं आत्म चेतना से युक्त होकर गया। वे जबतक यहां विराजे एक ध्येयनिष्ठ अटल साधक की भांति आत्ममर्म को पहचानने का उपदेश करते रहे। "एमर्सन" ने कहा है कि 'सन्त सौ युगों का शिक्षक होता है।' वे युग के पीछे नहीं चलते वरन् युग ही उनके पदचिह्नों का अनुगमन करता है। पूज्य आचार्य प्रवर भी निर्भीक व कालजयी की भांति युग को सत्यबोध कराते हुए निरन्तर आगे बढ़ रहे हैं यह हम सबके लिए गौरव की बात है। इनका मनोबल बहुत उन्नत है। मनकी दुर्बलता ही दुःख है, रोग है, एवं मृत्यु है, इस शाश्वत सत्य को पहचानकर वे निरन्तर गतिशील हैं। मैं भी उन पूज्यपाद चरणों में नतमस्तक होकर अपनी विनम्र श्रद्धा प्रकट करता हूं।

आचार्य श्री के चरणों में

अविस्मरणीय क्षण

□ श्री भरतकुमार काला
[संयुक्त मंत्री, अखिल भारतीय युवा परिषद्–बम्बई]

आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के आदर्श मुनि जीवन के सम्बन्ध में मैंने अपने पिताजी श्री–तेजपालजी काला, श्वसुर–श्री सत्यंधरकुमारजी सेठी और ताऊजी–श्री तनसुखलालजी काला आदि सुप्रसिद्ध विद्वान जो कि आचार्य श्री के सम्पर्क में आए हैं उनसे सुनता आ रहा था। विद्वानत्रय के सातिशय अनुभव सुनकर आचार्य महाराज के दर्शन करने के भाव दिन प्रतिदिन तीव्र होते जा रहे थे।

नवम्बर, सन् १९७७ की बात है, उन दिनों मैं अपने परिवार के साथ गिरनारजी आदि सिद्ध क्षेत्रों की वन्दना करते हुए अजमेर नगर में विराजित पूज्य १०८ मुनिवर श्री श्रेयांससागरजी महाराज के ससंघ दर्शन करने रुक गया। वहां से श्री महावीरजी जाने का विचार था, किन्तु जब यह ज्ञात हुआ कि अजमेर से लगभग १८ मील दूर ही किशनगढ़ में प० पू० १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज विशालतम मुनिसंघ के साथ विराजमान हैं। अतः अन्तरङ्ग में अत्यन्त हर्ष हुआ क्योंकि चिरकाल से पूज्य आचार्य महाराज के दर्शनों की तीव्र अभिलाषा थी ही।

अजमेर से मध्याह्न में रवाना हुआ। नवम्बर का महिना था सम्भवतः चातुर्मास की समाप्ति की बेला थी। अष्टान्हिका पर्व चल रहा था। किशनगढ़ पहुंचते ही ऐसा लगा मानो आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के पुण्य प्रताप से सारा नगर ही धर्म के सागर में डुबकी लगा रहा है। इस प्रकार अष्टान्हिका पर्व के अन्तिम दिन अत्यन्त उल्लासमय वातावरण में लीन सैकड़ों लोगों की भीड़ में से चिरकाल से अभिलषित आचार्य महाराज के पास पहुंचने का प्रयत्न करने लगा। प्रयत्न में सफल होकर आचार्य महाराज के पुनीत चरणों में पहुंचा तो उनके सर्व प्रथम दर्शन में ही अत्यन्त आल्हाद हुआ। प्रतिक्रमण से निवृत्त हुए ही थे आचार्य श्री, मैंने नमस्कार किया और आशीर्वाद प्राप्त कर मन में अत्यन्त शांति का अनुभव हुआ। सूर्य सारे विश्व को प्रकाश देते-देते थक गया था अतः मानो ऐसा लग रहा था कि डूबने की तैयारी में ही था उसी प्रकार आचार्य श्री भी आत्मालोचन के लिये सामायिक की तैयारी में ही थे ऐसा मैंने आभास किया।

मैंने आचार्य श्री के निकट बैठते हुए पूछा "आपका रत्नत्रय कैसा है।" कुछ देर ठहरकर मेरा परिचय पूछा। बताने पर पिताजी, ताऊजी, ससुरजी आदि विद्वानों के सम्बन्ध में कुछ पूछा। मैंने निकट से अनुभव किया कि उनकी सौम्य मुद्रा युक्त शारीरिक स्थिरता मानसिक गम्भीरता का परिचय दे रही थी। अर्द्धपद्मासन में विराजित आचार्य श्री मंदहास्य संयुक्त स्मितवदन से सौहार्दपूर्ण शब्दों में अपनी बात कह रहे थे। जो कुछ अभी तक अपने पूज्य पिताजी आदि लोगों से आचार्य श्री के सम्बन्ध में सुनता आ रहा था उसका अब मैं प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए अपने को भाग्यशाली मान रहा था, ऐसी

महान् विभूति के अत्यन्त निकटता से दर्शन करके। पू० धर्मसागरजी महाराज के श्री मुख से निर्गत अमृतमयी वाणी की लहरों में मैं हिलोरें ले रहा था कि आचार्य श्री अपने सामायिक का समय जानकर सामायिक में—आत्म निरीक्षण–आत्मावलोकन करने में डूब गए।

भारत के विशालतम मुनिसंघ के दर्शन का यह मेरा सर्व प्रथम अवसर था। मुझे आचार्य श्री के दर्शनों से जो शांति का अनुभव आया उससे मेरे मन में ऐसा लगा मानों मैं २५ वर्ष पूर्व के समय में ही चला गया हूं अर्थात् ऐसा आभास हुआ मानों आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज का ही दर्शन कर रहा हूं। उस समय सहसा यह विचार आया कि आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की परम्परा में आचार्य श्री वीरसागरजी एवं शिवसागरजी महाराज के पश्चात् भी उस परम्परागत संघ के नायक आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज इस गौरवपूर्ण पद के सर्वथा उपयुक्त हैं।

इस प्रकार आचार्य श्री के प्रथम दर्शन का ही मुझ पर अत्यन्त प्रभाव पड़ा, यद्यपि मैं वहां से जाना नहीं चाहता था तथापि श्रावक जो था, अनेक विकल्पों का जाल अपना साम्राज्य फैलाने लगे और मैं सपरिवार उन सरलता की प्रतिमूर्ति, अत्यन्त निर्लेप साधुराज को पुन: अपनी अनन्य श्रद्धा संपृक्त नमोस्तु करता हुआ वहां से रवाना हो गया। रात्रि भी हो रही थी और आगे भी बढना था अत: प्रथम दर्शन की सुखद स्मृति को मन में संजोए वहां से महावीरजी के लिये रवाना हो गया। मैंने अनुभव किया कि इतनी सहजता, सरलता एवं गंभीरता, निर्द्वन्द्वता आदि अनेकों गुण एक साथ अन्यत्र दुर्लभ है।

आचार्य श्री के द्वितीय बार दर्शन करने का सौभाग्य मिला सन् १९७८ के ग्रीष्म ऋतु में। उन दिनों पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर आचार्य श्री भीण्डर में विराजमान थे। उसी अवसर पर श्री शांतिवीर दि० जैन सिद्धांत संरक्षिणी सभा का रजत महोत्सव सम्पन्न होना था अत: मुझे भी जाने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उन दिनों उनकी निकट जीवन चर्या का अनुभव किया —पंचकल्याणक प्रतिष्ठा होने से भारी जनसमुदाय भारत के कौने-कौने से आया था। धनी हो या गरीब, युवक हो या वृद्ध, परिचित हो या अपरिचित, विद्वान् हो या सामान्यजन सबके प्रति समान दृष्टि, सभी को एकसा आशीर्वाद और वह भी मंदस्मित वदन के साथ। क्रोध तो लेश मात्र भी आपमें दृष्टिगोचर नहीं हुआ। आचार्य श्री विद्वानों से चर्चा कर रहे थे तो भी प्रत्येक दर्शनार्थी को उनके वरदहस्त से आशीर्वाद अवश्य मिल रहा था।

एक बार महाराज श्री से कुछ लोगों ने कहा कि महाराज पढे लिखे शास्त्र ज्ञानी लोगों को दीक्षा दिया करें, इस पर समस्त आचार्यों में विचार होना चाहिए। उन लोगों में स्व० साहूजी प्रमुख थे। आचार्य श्री ने कहा सेठजी! अब आपकी उम्र भी हो गई है आप ज्ञानवान एवं धनपति भी है आप दीक्षा ले लीजिये हम आपको दीक्षा देना चाहते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि कोरा किताबी ज्ञान जीवन की अवनति भी कर सकता है। ज्ञान तो तभी सार्थक है जब उस ज्ञान के अनुरूप चारित्र भी जीवन में अवतरित हो, चारित्र विहीन ज्ञान कार्यकारी नहीं है। अत: ज्ञानवान होने से पूर्व तपस्वी होना भी आवश्यक है। चारित्र के निर्दोष पालन से ज्ञानावरण का क्षयोपशम भी बढ़ता है और उसीसे केवलज्ञान की प्राप्ति भी होती है। इस प्रकार मैंने अनुभव किया कि चारित्र पर भी आचार्य श्री का कितना जोर है।

किसी चर्चा के मध्य आचार्य श्री ने कहा कि हमें आचार्यपद देकर संघ संचालन का कार्य सोंपा गया है अत: संघ व्यवस्था को भी देखना पडता है, किन्तु हमें तो आत्मावलोकन में आनन्द आता है। कितना महान् है आचार्य श्री का विचार, पद की न लिप्सा और न मिलने पर उसमें आसक्ति।

निर्वाणोत्सव में जिस निष्ठा से आपने आगम रक्षा का गौरव पूर्ण कार्य किया है। आज के इस वैज्ञानिक युग में भौतिक चकाचौंध में पड़े पतनोन्मुख मानव को सद्‌बोध देने में ऐसे ही आचार्य सक्षम हैं। वे ही

समाज को धर्मसंयुक्त कर समुन्नत बना सकते हैं। स्व० आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की आगम दृष्टि को सही नेतृत्व देना ही आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का जीवन है और वे इस कार्य में पूर्णरूपेण सजग हैं।

मैं पूज्य आचार्य श्री के पुनीत चरणों में त्रिकाल शतशः नमन करते हुए यह भावना करता हूं कि हम संसारी प्राणियों को धर्म के सागर स्वरूप आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज धर्म का उपदेश युगों तक देते रहें, विश्व को मोक्षमार्ग दर्शाते रहें।

□ श्री सागरमल जैन, विदिशा

विदिशा नगरी में १० वें ती० भगवान शीतलनाथ स्वामी के गर्भ जन्म और तप कल्याणक हुए, यहीं से महामुनिवर धनद महाराज को मुक्ति हुई अतः यह नगरी सदा से ही देव शास्त्र गुरु की आराध्य रही है। इस नगरी में मुनिवरों के चरण कमल यदा कदा आते रहते हैं।

सोमवार २७ जनवरी १९६४ की शाम को मेरे पास समाचार आये कि नगर में मुनिराज संघ सहित पधारने वाले हैं। इस समय कागपुर मार्ग पर हैं। २८ तारीख को स्वाध्याय मण्डल में चर्चा की कि महाराज श्री को किस मार्ग से लाया जावे, कारण कि मुख्य मार्ग पर वेभवती के किनारे रामलीला का मेला भरा हुआ था। मैं २८ की शाम को महाराज श्री के दर्शन हेतु कागपुर मार्ग को चल दिया, रात्रि को पहुंचा। महाराज सामायिक में थे, मात्र दर्शन कर सका। संघ का परिचय श्री क्षुल्लकजी से लिया तब मालूम हुआ महाराज श्री धर्मसागरजी का संघ है। संघ में मुनिवर सन्मतिसागरजी एवं पद्मसागरजी थे एक ऐलकजी एवं दो क्षुल्लकजी थे।

बुधवार २९ जनवरी ६४ को प्रातः महाराज श्री से धर्म चर्चा हुई। बोले तुम्हारा नाम सागरमल है मंदिरजी में कौनसे ग्रंथ का स्वाध्याय चल रहा है? मैंने कहा कर्म प्रकृति ग्रंथ प्रातः एवं रात्रि सभा में इस समय पद्म पुराण। संकोचवश मैंने कहा महाराज श्री विदिशानगरी में जनवरी मास में बहुत बड़ा रामलीला का मेला चलता है और मुख्य मार्ग उसी मेला स्थल से है। बोले साधु तो प्रभावना अंग का रूप होता है यदि हम से कोई वैर करता है तो क्या हम अपना धर्म-मार्ग बदल दें? तुमने कैसा कर्म प्रकृति ग्रंथ पढ़ा है? पद्मपुराण का पाठक और भयवान हो? मन में संकोच हो रहा था विदिशा समाचार भेजे महाराज श्री संघ सहित शाम को चार बजे तक पहुंचेंगे। मार्ग में मैंने कहा महाराज यहां उदयगिरि पहाड़ी पर ती० शीतलनाथ स्वामी के चरण हैं यहीं

से मुनिवर धनद महाराज को मोक्ष हुआ है कहें तो दर्शन करते चलें महाराज मेरी भावना को समझ रहे थे बोले शीतल प्रभु हमारे हृदय में हैं तुम निश्चित रहो। ४।। बजे बेभवती के किनारे बसी पवित्र विदिशा नगरी में महाराज श्री का प्रवेश हुआ। जय जयकारों से नगरी गूंज उठी। बहुत तेज सर्दी पड़ रही थी फिर नदी का किनारा मेला बहुत जोरों से भरा हुआ था। नगर के लोग ऐसी सर्दी में मुनिवर को देखकर धन्य धन्य कह उठे बोले साधु तो बस जैनों के होते हैं। कितना कष्ट सहते हैं। यह थी एक प्रभावना।

शनिवार १ फरवरी ६४ को महाराज श्री संघ सहित उदयगिरि पर्वत पर दर्शन करने चले। बालकों की संख्या ज्यादा थी पहाड़ी के किनारे मैंने सभी बालकों को रोक दिया महाराज बोले सबको चलने दो पता नहीं किसकी परिणति कब बदल जावे। कल्याण भूमि में बहुत चमत्कार होता है। जहा सिद्ध भूमि है वहीं ऊपर देखो अपने सिर के ऊपर सिद्ध परमात्मा विराजे हैं।

आठ दिन शीतलनाथ दि० जैन बड़े मन्दिर में रहने के बाद महाराज श्री माधवगंज के मन्दिर में प्रस्थान करने लगे मैंने कहा महाराज यहीं ठहरिये यहां की व्यवस्था में मुझे सुविधा रहेगी। बोले जब तक घर में रहोगे निर्भय नहीं हो पावोगे हमें भय नहीं रहता।

१७ दिन संघ रहा इसमें प्रतिदिन महाराज के दो प्रवचन होते थे। दोपहर को सन्मतिसागर महाराज के बीच में मेरा भी। शनिवार १५ फरवरी को महाराज का संघ भोपाल को प्रस्थान करने लगा। विशाल जुलूस स्टेशन मंदिर से शहर के बीचों बीच होता हुआ सीमा तक छोड़ने गया इतने विशाल पैमाने पर यहां किसी की विदाई नहीं हुई। महाराज ने अंतिम प्रस्थान के समय कहा—मेरे कारण आप जैसे धर्मीजनों को कोई कष्ट हुआ हो तो क्षमा करना। इतना सुनते ही लोग रो पड़े। बोले ग्रहस्थ का जीवन बड़ा संकट का होता है। आप सब धन्य हैं इतना समय धर्म कार्य के लिये निकालते है। दान से धन नहीं घटता। संयम से कमजोर नहीं होता। स्वाध्याय से आत्मीय शक्ति बढ़ती है। महाराज ने कहा शरीर रोग का घर है युवा अवस्था में जिसने धर्म साधन नहीं किया उसका जीवन व्यर्थ गया समझो। आपकी नगरी धन्य है जहां ती० देव का जन्म हुआ है आप बड़े भाग्यवान हैं। कल्याणक भूमि मे रहते है। रात्रि विश्राम सांची में किया, प्रात: सलामतपुर में आहार कर भोपाल को संघ के साथ चल दिये। भोपाल के विशाल भिरनों के मन्दिर में महाराज श्री का केशलुंच हुआ। इन १६ दिनों की स्मृतियां आज भी हमारी नगरी में शेष हैं। ऐसे निर्भीक और महान वक्ता मुनिवर हमारे शहर में आज तक नहीं पधारे। उस दिन की प्रतीक्षा मे है जब पुनः महाराज श्री के चरण इस नगरी में पूजने को मिलेंगे।

महान तपस्वी—शान्त मुद्रामय आज भारत में मुनिवरों के आचार्य पद पर हैं उनके श्री चरणों में शत शत वन्दन।

कामना एक बीज है जो प्रत्येक आत्मा को सर्वदा ही अनवरत कभी न चूकने वाली जन्म-मरण की फसल प्रदान करता है। अतः यदि कामना ही करनी है तो पुनर्जन्म से छुटकारा पाने की कामना करो और वह छुटकारा तभी मिलेगा जब तुम कामना को जीतने की इच्छा करोगे।

आत्मा की पाठशाला

□ श्री मिश्रीलालजी, पाटनी

[लश्कर (ग्वालियर)]

प० पू० वयोवृद्ध, तपोनिधि, दयामूर्ति, अध्यात्म प्रेमी, अनुपम त्यागी, बाल ब्रह्मचारी स्व-परोपकारी जैन श्रमण शिरोमणि श्री १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के लश्कर पधारने पर तथा श्री महावीरजी क्षेत्र पर दर्शन, वंदन तथा प्रवचन श्रवण का अवसर मुझे प्राप्त हुआ है।

आचार्य श्री के प्रवचन ओजस्वी, नैतिक शिक्षा से ओतप्रोत और निजात्मा की ओर दृष्टि डालने में बड़े प्रेरक हैं। समयानुकूल प्रायः मिथ्यात्व त्यागकर निजस्वरूप की ओर दृष्टि करके उसे प्राप्त करने के लिये सुचारित्र धारण कर-रत्नत्रय पालन अथवा पंचाणुव्रत का पालन करने की प्रेरणा देने वाले आपके प्रवचन मधुर व सरल शब्दों मे आंतरिक हृदय से प्रस्फुटित होते है और श्रोता के मन पर तत्काल असर करते हैं।

एक बार आपने बड़े महत्व पूर्ण शब्दों में जिनदर्शन व जिन मंदिर निर्माण के सम्बन्ध में प्रवचन देते हुए कहा कि "वीतराग भगवान के ये मंदिर आत्मा की पाठशाला हैं।" जिसप्रकार पाठशाला में जाने से मनुष्य विद्या प्राप्त करते हैं उसी प्रकार आत्म-विद्या की प्राप्ति जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन से होती है। मंदिर समवशरण के प्रतीक हैं उसमें पाई जाने वाली सामग्री आत्मा में निर्मलता का कारण हो सकती है जैसे कि तीर्थंकरादि महापुरुषों के जीवन बताने वाले चित्रादि। जो लोग इसप्रकार की आत्म निर्मलता में कारणभूत सामग्री को सरागता का प्रदर्शन कहकर उनकी मंदिरों में आवश्यकता न समझकर उन्हें व्यर्थ मानते है उनकी धारणा भ्रान्त है। मिथ्यात्व ग्रसित है इत्यादि।

मैं अपनी ओर से ऐसे अनुभवी आचार्य श्रेष्ठ १०८ धर्मसागरजी महाराज के प्रति श्रद्धा सहित कामना करता हूं कि आप शतायु होकर धर्म प्रभावना पूर्वक सुख शांति से हम लोगों के मध्य विराजते रहें और आपकी छत्र छाया में रहकर अपना आत्म कल्याण कर सकें मैं हार्दिक भक्ति से वंदन करते हुए उनके चरणों में नतमस्तक हूं एवं उनके दर्शनों की सदा मन में भावना रखता हू।

सलुम्बर का सौभाग्य

□ श्री नरेन्द्रकुमार, मिडा
[सलुम्बर]

प० पू० १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज ने वि० सं० २०२३-२४ में मेवाड़ की इस धरती को अपने ससंघ पदार्पण से पवित्र किया था। उनके शीतकालीन प्रवास में नगर में ऐतिहासिक धर्म प्रभावना हुई थी। आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज को दक्षिण से उत्तर भारत की ओर विहार करानेवाले संघपति सेठ पूनमचन्दजी के सुपुत्र श्री मोतीलालजी ने क्षुल्लकावस्था से मुनि दीक्षा धारण की थी। उदयपुर चातुर्मास में उन्होंने क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की थी और लगभग ६ माह पश्चात् ही यह परम सौभाग्य सलुम्बर वासियों को प्राप्त हुआ था। साथ ही संघस्थ क्षुल्लिका श्री श्रेयांसमति माताजी की आर्यिका दीक्षा भी हुई थी।

आचार्य संघ के इस प्रवासकाल में सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि नगर स्थित लगभग ५ किलोमीटर विस्तृत जलाशय के मध्य स्थित खण्डहरनुमा महल को महावीर जिनालय के रूप में निर्मित कराने का आश्वासन यहां के प्रसिद्ध गांधी परिवार की ओर से मिला था, गुरुजनों के आशीर्वाद से गांधी परिवार के द्वारा लिया गया वह संकल्प पूर्ण हुआ और नवनिर्मित महावीर जिनालय की पंचकल्याण प्रतिष्ठा २५०० वे वीर निर्वाणोत्सव वर्ष में हो गई।

समय व्यतीत होते देर नहीं लगती सन् १९६८ और सन् १९७४-७५ की गतिविधियों—(आचार्य संघ सान्निध्य की और पंचकल्याणक प्रतिष्ठा) की स्मृति चल ही रही थी कि सन् १९७९ आ गया। आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज सन् १९७८ का उदयपुर नगर का चातुर्मास प्रवास समाप्त कर छोटे-छोटे ग्राम व नगरों में विहार करते हुए सलुम्बर पधारे। वर्षायोग का काल निकट आ जाने से समाज की सविनय प्रार्थना पर आचार्य श्री ने स्वीकृति प्रदान की और वर्षायोग स्थापना सलुम्बर में ही हुई। इसप्रकार एक और धर्म प्रभावक कड़ी जुड़ी नगर के इतिहास में।

चातुर्मास में आचार्य श्री एवं संघस्थ त्यागीजनों के धर्मामृत पान का लाभ मिल ही रहा था कि धुलिया से एक व्यक्ति पधारे जो आचार्य श्री से दीक्षा की याचना कर रहे थे साथ ही सल्लेखना की सन्निकटता जान और भी व्यग्र थे, आतुर थे दीक्षा लेने को। ये वे ही सज्जन थे जो पिछले उदयपुर चातुर्मास में मुनि थे आचार्य संघ में और मांगीतुंगी सल्लेखना करने की आकांक्षा से आचार्य संघ छोड़कर अकेले गए थे। कई लोगों ने उनकी पुनर्दीक्षा का विरोध किया, क्योंकि जब धुलिया में समाज के लोग मुनिचर्या के अनुरूप व्यवस्था नहीं कर सके (ये अत्यन्त वृद्ध थे अधिक दूर चल फिर नहीं सकते थे) तो इन्होंने कहा कि मुझे महाराज के पास छोड़ आवो किसी ने सुनवाई नहीं की तो ये स्वयं दीक्षा छोड़ आचार्य श्री के पास पहुंचे और सारी स्थिति आचार्य श्री से कही। आचार्य श्री परम कृपालु हैं और है उनमें स्थितिकरण की अपूर्व क्षमता। उन्होंने गिरते हुए को सम्भाला, पुनः मुनि दीक्षा दी। दीक्षा के कुछ ही दिन पश्चात् आचार्य श्री के चरण सान्निध्य में उनकी अत्यन्त सुन्दर सल्लेखना हुई। यह सब आचार्य श्री की स्थितिप्रज्ञता का प्रतिफल था। सलुम्बर समाज ऐसे आचार्य श्री के चरण सान्निध्य को पाकर धन्य हो गया। इसके अतिरिक्त अन्य अनेकों धर्म प्रभावना के कार्य आचार्य श्री के सान्निध्य में होते रहे हैं।

मैं प० पू० स्थितिप्रज्ञ, निस्पृह, परमशांत, वर्तमान में स्थितिकरण के उत्कृष्ट उदाहरण महाचार्य के चरणों में सविनय-श्रद्धा सहित अनेकशः वंदन करते हुए उनके दीर्घ जीवन की मंगल कामना करता हूं।

आचार्य श्री का

सीकर चातुर्मास : एक उपलब्धि

□ श्री महावीरप्रसाद, जैन

[लालास वाले, सीकर]

बात सन् १६७३ की है, आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज अपने शीतकालीन प्रवास में सुजानगढ में ससंघ विराजमान थे। समाज में विचार-विमर्श हुआ कि आचार्य श्री का मंगल विहार सीकर की ओर भी होना चाहिये। सभी प्रमुख लोग सुजानगढ़ पहुंचे और आचार्य महाराज से प्रार्थना की। आचार्य श्री ने स्वीकृति प्रदान की, हम सहर्ष वापस सीकर आ गए, जब सुजानगढ से विहार होना निश्चित हुआ तब हम लोग सुजानगढ़ गए और वहां से संघ का मंगल विहार होकर कुछ ही दिन में सीकर आ गए।

लगभग एक माह के सीकर प्रवास काल में मुझे आचार्य श्री के निकट सम्पर्क में आने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उनकी प्रत्येक चर्या को देखकर मैं बहुत ही प्रभावित हुआ, मैंने उन्हें किसी भी क्षण क्रोध की मुद्रा में नहीं देखा वे सदैव प्रसन्न मुद्रा में ही रहते थे तथा व्यर्थ के प्रपंचों में वे कभी नहीं पड़ते। १ माह के पश्चात् आचार्य श्री ने विहार किया। चातुर्मास मे अभी कुछ दिन का समय शेष था समाज ने महाराज से चातुर्मास की प्रार्थना की। लोगों में भी प्रशान्तमूर्ति आचार्य श्री के प्रति विशेष भक्ति जागृत हुई थी और सभी यही चाहते थे कि चातुर्मास यहीं होना चाहिये। सीकर से आसपास के गांवों में जैसे राणोली—फतेहपुर, दुजोद, मुंडवाड़ा, धोद आदि ग्रामों में धर्मामृत वर्षा करते हुए वर्षायोग के लिए सीकर नगर में पधारे।

चातुर्मास स्थापना से पूर्व आचार्य श्री ने एक भावना व्यक्त की कि जैन विद्यार्थियों के लिये एक जैन छात्रावास सीकर जैसे विशाल नगर में होना आवश्यक है, छात्रावास में रहते हुए विद्यार्थी जैन धर्म का भी अध्ययन कर सकेंगे। आचार्य श्री के उक्त उपदेशात्मक संकेत पर जब समाज में विचार-विमर्श हुआ तो प्रारम्भ में ढीलढाल दिखी। आचार्य श्री ने चातुर्मास स्थापना करने के पश्चात् पुनः इस बात पर जोर दिया, समाज ने शीघ्र ही निर्णय किया कि यह कार्य यहां होना ही है। महाराज श्री के उपदेशानुसार शुभ मुहूर्त निकलवाकर छात्रावास की स्थापना हुई एवं १०-२० हजार रुपये की राशि एकत्रित होने की जहां सम्भावना नहीं थी वहां १ घंटे में ही १ लाख रुपये का फंड एकत्रित हो गया। आज भी वह छात्रावास सुचारु रीत्या चल रहा है तथा २५ छात्र विद्याध्ययन कर रहे हैं। अन्य भी अनेक निर्माण कार्यों की ओर समाज ने ध्यान दिया और वे पूर्ण भी हुए।

चातुर्मास काल में मैंने अनुभव किया कि आचार्य श्री की वाणी में एक अद्भुत शक्ति है, यह उनकी निर्मल चारित्र परिणति और सरलता का ही प्रतिफल है ऐसा मैं

मानता हूं। आर्यिका शुभमतीजी को बड़ी तेजी से बुखार चढ़ा उन्हें कुछ घबराहट हुई आचार्य श्री पहुंचे और अपना आशीर्वाद प्रदान करते हुए कहा घबराओ नहीं शुभमतीजी ! सब धर्म के प्रसाद से ठीक होगा। ऐसा ही हुआ, दूसरे दिन से ही बुखार उतरना प्रारम्भ हो गया। आर्यिका सिद्धमतीजी गिर गईं थी उनको काफी चोट आ गई थी, तकलीफ भी बहुत थी, कई डाक्टरों को दिखाया सभी ने एक्सरे की सलाह दी, किन्तु आचार्य महाराज ने कहा कि एक्सरे की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी धर्म में विश्वास रखे सब ठीक हो जावेगा। आज भी वे माताजी ठीक हैं और संघ के साथ विहार कर रही हैं।

चातुर्मास के मध्य आचार्य श्री ने एक भावना और व्यक्त की थी कि सीकर में एक व्रती आश्रम हो जावे तो धर्म साधन का अच्छा लाभ व्रतियों को मिल सकता है। आचार्य महाराज की यह इच्छा उस समय तो पूर्ण नहीं हो सकी किन्तु २ साल के बाद ब्र० शिवकरणजी लाड़नू वालों (वर्तमान में क्षुल्लक सिद्धसागरजी) ने दीक्षा ली और दीक्षा के पश्चात् वि० सं० २०३४ में सीकर चातुर्मास किया तथा समाज को व्रती आश्रम के लिए प्रेरणा की उस समय "आचार्य श्री धर्मसागर व्रती आश्रम" के नाम से स्थापना हुई और वह अपने ध्रुव-फण्ड के साथ स्थित है, व्रतियों के लिए निःशुल्क भोजन-आवास, शिक्षण आदि की व्यवस्था भी है।

सीकर चातुर्मास (सन् १९७३) के पश्चात् भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाणोत्सव में सम्मिलित होने के लिए आचार्य श्री ने दिल्ली की ओर विहार किया। सीकर से लोग साथ थे, अलवर तक २०-२५ दिन में संघ पहुंचा। रास्ते मे अनेक धर्म प्रभावक कार्य होते गए। आचार्य श्री ने अलवर पहुंचकर वहां कुछ दिन रुकने की इच्छा व्यक्त की अतः हम लोग वापस आ गए। मार्ग में आचार्य श्री के साथ रहते हुए हमें कोई भी कष्ट नहीं हुआ।

इसके बाद भी आचार्य श्री के कई बार दर्शन किये हैं, उनके चरणों के सन्निकट अपार शान्ति का अनुभव होता है। महाराज श्री का स्मरण प्रतिक्षण बना रहता है। मैं प्रशान्त मूर्ति आचार्य श्री के चरणों में शत शत नमोऽस्तु करते हुए अपनी विनयाञ्जलि समर्पित करता हूं तथा भावना भाता हूं कि आचार्य श्री दीर्घकाल तक इस पृथ्वीतल पर धर्म का उद्योत करते रहें।
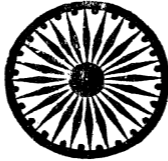
यदि मनुष्य अपने दोषों की विवेचना उसी प्रकार करे जिसप्रकार कि वह अपने बैरियों के दोषों की करता है, तो क्या उसे कभी कोई दोष स्पर्श कर सकेगा ? अर्थात् नहीं कर सकेगा।

संस्मरण धर्म कल्प तरुवर का

□ कुमारी ऊषा जैन
(आचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्थ)

वर्तमान युग के जैन शासक महाश्रमण भगवान वर्धमान के उस विश्व व्यापी २५०० वें निर्वाण महोत्सव के समय की बात है, उस मंगलमय महोत्सव के प्रमुख अतिथि श्रमणराज आचार्य प्रवर श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज अपने विशालतम संघ के साथ भारत की राजधानी देहली पधारे और राजधानी के प्रमुख उपनगरों में धर्मामृत की वर्षा करते हुए दरियागंज बालाश्रम में ठहरे वे धर्मामृत की प्यासी जनता के हृदय को अपने सरल सीधे वचनामृतों के द्वारा तृप्त कर रहे थे, साथ ही उनकी दुष्कर महाव्रतरूपी तपस्या की कठोर साधना को देखकर जैन समाज धर्मस्नेह और धर्म रुचि की ओर आकर्षित हो रही थी।

इस मंगलमय सुअवसर पर मुझ अल्प वयस्क बालिका को भी पूज्य आचार्य श्री के दर्शनार्थ जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय सर्व प्रथम मुझे आचार्य श्री को आहार देने का शुभ अवसर मिला। यद्यपि मैं उस समय अल्प वयस्का थी फिर भी मुझ पर आचार्य श्री के व्यक्तित्व की अमिट छाप पड़ी मैं तो सहमी हुई भोज्य सामग्री लेकर दूर खड़ी थी जब आचार्य श्री की दृष्टि मुझ पर पड़ी कि मैं आहार देने के लिए उत्सुक हूं, तब शीघ्र ही आचार्य श्री ने संकेत किया। उस दिन मैं प्रथम बार आहार देकर कृतार्थ हुई। आचार्य श्री की दृष्टि में निर्धन-धनवान, विद्वान-अल्पज्ञ, मान्य-अमान्य, आदि सभी मानव समान है उनके साथ दर्शन व वार्तालाप सर्वकाल सुलभ है इस दृष्टि से उनकी जीवन चर्या सार्व अर्थात् सभी के लिए हितकारी सिद्ध हुई है।

जब आचार्य श्री का चातुर्मास "खुरई" में हुआ था उस समय आचार्य श्री के साथ पिताजी को वार्तालाप करने का शुभावसर प्राप्त हुआ था। वार्तालाप में एक दिन आचार्य श्री ने कहा कि बाजार का घी किस प्रकार का होता है जब आचार्य श्री गृहस्थ अवस्था में थे, उस समय की उन्होंने अपने विगत जीवन की एक घटना सुनाई कि, मैं एक दिन घी लेने एक किसान के घर पहुंचा वह उस समय भोजन कर रहा था भोजन करते समय किसान ने अपनी थाली में जूंठे हाथ से रोटी ली और उसी जूंठ हाथ से घी की भरी हुई मटकी से रोटी पर घी डाला। वह घी एक दम ज्यादा पड़ गया तो उसने रोटी का घी वापिस मटकी में डाल दिया, बस इस दृश्य को देखकर उनके हृदय में बाजार के घी के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई। इससे सिद्ध होता है कि आचार्य श्री अपने गृहस्थ जीवन में भी कितने शुद्ध विचारों के थे।

अभी हाल में सन् १९७९ में जब संघ गींगला ग्राम में विराजमान था, तथा संघस्थ मुनि आयिका आदि बैठे हुए थे तब वर्तमान के इस भौतिकवाद के भ्रष्टाचार पर चर्चा चल रही थी तब आचार्य श्री ने कहा कि अब 'सत्य' दुर्लभ हो गया है जब हम बालक थे, अपनी मित्र मंडली के साथ खेला करते थे तो उस समय खेल में भी कोई असत्य बोलता तो दूसरे लड़के उसको दण्डित करते थे।

यदि किसी का सिर दुखता तो कहते "तू झूठ बोला होगा" इससे आचार्य श्री का बाल्यकाल भी कितने पवित्र वातावरण में व्यतीत हुआ यह ज्ञात होता है।

इसी प्रकार अन्य बहुत सी स्मृतियाँ आचार्य श्री सुनाया करते हैं। सबको लिखें तो बहुत बड़ा लेख हो जावे, इस प्रकार लोकोपकारी आत्महित में तत्पर विशाल संघ के नायक होते हुए भी सबसे निष्पृह, किसी भी प्रसंग में जिनकी बुद्धि अस्थिर नही होती ऐसे स्थितप्रज्ञ आचार्य प्रवर श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज शतायु होवें और भव्य जीवों को हित का मार्ग प्रतिपादन करते रहें यही मेरी शुभाकांक्षा है।

☼

अलौकिक वृत्ति साधुराज

□ श्री जयकुमारजी जैन, छाबड़ा, एडवोकेट
[सेवा निवृत्त राजस्थान प्रशासनिक अधिकारी, जयपुर]

१९६७ के वर्ष मैं दौरे में झालावाड़ जाते समय बूंदी ठहरा। जहां परम पू० मुनिराज १०८ श्री भव्यसागरजी महाराज विराजते थे उनके दर्शन करने थे–सौभाग्य से उस दिन परम पूज्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज के प्रथम दर्शन हुए। चेहरे पर सौम्यता, हंसमुख मुद्रा, ग्रन्थ का मनन करते हुए साक्षात् दिगम्बर साधु मन्दिरजी में चबूतरे पर विराजमान थे। नमोस्तु के पश्चात् पूछा कहां से आये हो? बोली राजस्थानी थी। मैंने बताया जयपुर से आया हूं और दौरे में झालावाड़ जा रहा हूं। आशीर्वाद मिला पूज्य भव्यसागरजी महाराज ने बताया कि महाराज श्री भी राजस्थान के ही हैं और छाबड़ा गोत्रीय खण्डेलवाल परिवार के हैं।

तत्पश्चात् श्री महाराज के दर्शन श्री शान्तिवीर नगर, श्री महावीर जी में पंचकल्याण महोत्सव के अवसर पर परम पूज्य स्वर्गीय आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के आचार्य पट्ट पर महाराज श्री को आचार्य पदवी से विभूषित करने के समय हुए, परन्तु निकट से आचार्य श्री के सम्पर्क में आने का सौभाग्य जयपुर में ही मिला। जब आचार्य श्री १९६९ के वर्ष में चातुर्मास में बख्शीजी के मंदिर में विराजते थे।

विषया वशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यान तपो रक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥

जैन आचार्य द्वारा साधु की उपरोक्त वर्णित व्याख्या आचार्य प्रवर धर्मसागर जी महाराज के लिये अक्षरशः सत्य है। उनका जीवन व चरित्र शास्त्रों में वर्णित जैन साधुओं का है। इस कलिकाल में भी ऐसे साधु विद्यमान हैं, अजैन तक भी मानते हैं—आचार्य प्रवर के संसर्ग में आने पर अनेक बातें ऐसी देखने में आई जो उपरोक्त तथ्य को चरितार्थ करती हैं। निम्न विवरण प्रस्तुत है :—

प्रवचन में एक दिन महाराज श्री ने कहा कि काल के प्रभाव से जनता में विशेष कर नई पीढी में जैनधर्म के प्रति आस्था कम होती जा रही है कारण इसका विशेष रूप से यह है कि जैनधर्म की शिक्षा उन्हें नहीं मिल पा रही है। महाराज श्री ने कहा कि यदि नवयुवकों और बालकों को जैनधर्म का ज्ञान नहीं कराया गया तो हमारी संस्कृति का क्या होगा? विचारणीय है। मन्दिर व तीर्थ आदि की क्या स्थिति होगी? समाज को धर्म में आस्था रखने वाले नवयुवक श्रावक तैयार करने चाहिए।

प्रवचन के बाद कुछ साथी जिसमें स्व० श्री गुलाबचन्दजी काला, सम्पादक जयभूमि, श्री ज्ञानप्रकाशजी काला, स्व० श्री चांदमलजी छाबड़ा, श्री चिरंजीलालजी गोधा, श्री मिलापचन्दजी गोधा, आदि प्रमुख लोग बैठे थे। महाराज श्री के सम्मुख पुनः चर्चा में वही विषय आ गया जो प्रवचन में था, आचार्य श्री समाज के मौजूदा वातावरण से वास्तव में विक्षुब्ध थे। उन्होंने विचार दिया कि शिक्षा हेतु गुरुकुल पद्धति अपनानी

चाहिए। जिससे आज की धार्मिक शिक्षा के साथ साथ भौतिक शिक्षा भी दी जावे। आज के युग में हम विज्ञान-भौतिक शिक्षा से दूर भी नहीं रह सकते। महाराज श्री ने कहा कि जयपुर में गुरुकुल स्थापित होकर प्रकाश स्तम्भ बने और यहां से यह ज्ञान का प्रकाश चारों ओर फैलेगा, छोटे से छोटे गाँव तक भी, ऐसी मेरी मान्यता है।

संघीजी की नसियां में श्री शान्तिवीर दि० जैन गुरुकुल :

आचार्य श्री के इस निर्देश का पालन करते हुए श्री गुलाबचन्दजी काला एवं अन्य सज्जनों ने एक गुरुकुल कमेटी गठित की। आचार्य श्री के आशीर्वाद से संघीजी की नसियां में गुरुकुल की स्थापना शुभ दिवस में श्री जे० पी० जैन तत्कालीन जज, हाईकोर्ट राजस्थान के कर कमलों द्वारा की गई। नसियां के भवन की मरम्मत करायी गई व अन्य साधन सुविधा उपलब्ध कराई गई।

रात्रि शालाएं :

आचार्य श्री की प्रेरणा स्वरूप जयपुर में ११ रात्रि शालाएं १९७० के वर्ष में प्रारम्भ की गयीं। जिनमें करीब ४०० बालक-बालिकाओं ने शिक्षा प्राप्त की। उसमें कार्यरत अध्यापक भी जो छात्र अवस्था में थे अध्ययन के साथ-साथ अध्यापन कार्य करके आयुर्वेदाचार्य की उच्च डिग्रियां प्राप्त कीं। इन रात्रि शालाओं ने बालकों के चरित्र निर्माण में भारी योगदान दिया। उदाहरणार्थ एक समय की बात है कि लश्करजी के मन्दिर में पढ़ने वाली एक बालिका के पिताजी मुझसे रास्ते में मिले और बोले आपके गुरुकुल की रात्रि शाला ने हमारे घर में विचित्र स्थिति पैदा कर दी है। इतना सुनते ही मैं आश्चर्य चकित हो गया, पूछा ऐसी क्या घटना घट गयी, जिससे कि आप इतने चिंतित हैं। उक्त सज्जन ने बताया कि उनकी बालिका को रात्रि शाला में यह पाठ पढ़ाया गया कि रात्रि में भोजन करना अनुचित है। इससे हिंसा होती है, अतः रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए। उस सज्जन ने कहा कि हमारे घर में उनके दफ्तर से देरी से आने के कारण रात्रि में भोजन करने की परिपाटी बन गयी थी, परन्तु बालिका की हट पर हमें वह बन्द करना पड़ा। यह रात्रि पाठशाला की देन है ऐसे अनेक उदाहरण सामने आये।

निरहंकारी एवं निष्परिग्रही :

आचार्य श्री चातुर्मास में जयपुर नगर में बक्शीजी के मन्दिर में विराजते थे। मैं स्व० श्री चांदमल जी छाबड़ा के साथ दर्शनार्थ गया था। आचार्य श्री सर्दी में छत पर धूप में बैठे हुए स्वाध्याय कर रहे थे। सम्भवतः पुस्तक पढ़ने में दिक्कत आयी एकाएक वह उठकर दूसरी तरफ अन्य मुनिराज जो पाटे पर बैठे श्रावकों से धर्म चर्चा कर रहे थे, उनके पास जाकर जमीन पर ही बैठ गये और चौकी पर रखे उनके चश्मे को उठाकर पुस्तक का कुछ अंश पढ़ा और तुरन्त ही चश्मा रखकर इससे पहले कि उक्त मुनिराज पाटे से उठकर जमीन पर बैठे अपने स्थान पर आ गये। यह है आचार्य श्री की निरभिमानता। मै आचार्य हूं, बड़ा हूं का मान उनके मन में नहीं है। वास्तव में सच्चे साधु हैं आचार्य श्री।

आचार्य श्री के अपने स्थान पर बैठ जाने के पश्चात् मैंने झिझकते हुए निवेदन किया कि '-महाराज चश्मा आधुनिक युग में कमण्डल पीछी की तरह ही आवश्यक उपकरण है। जीव हिंसा से बचाने का यन्त्र है, अतएव यदि आप इजाजत दें तो चक्षु विशेषज्ञ को बुलाकर चश्मे की व्यवस्था की जावे। मैं यह बात कर ही रहा था कि संयोग से एक लाल मुंह का बन्दर उत्तर दिशा की ओर से पेड़ से उतर कर हमारी तरफ आया और महाराज श्री के समक्ष रखी चौकी पर ३-४ रखे फल जो श्रद्धावश श्रावकों द्वारा चढ़ाये गये होंगे, उनमें से वह दो फल दोनों हाथों में उठाकर ले गया। और पेड़ पर पुनः चढ़ गया। ऐसा प्रतीत होता था कि मानों

आचार्य श्री ने ही हमें पाठ पढ़ाने को उसे इस कार्य के लिये प्रेरणा दी हो। आचार्य श्री तत्काल हंसते हुए बोले जयकुमारजी ! अगर फलों की तरह आपका लाया चश्मा भी बन्दर ले जाता तो आप और मैं इसके पीछे-पीछे भागते न। बताइये ऐसा परिग्रह क्यों रखूं, अनावश्यक ही आर्त्तध्यान होता। काम चल ही जाता है, महाराजजी के पास चश्मा है ही। मेरे पास उत्तर नहीं था सिवाय चुप रहने के, कैसे निष्परिग्रही विचार व दृढ़ चरित्री हैं।

स्व० साहू शांतिप्रसादजी चाहते थे कि महावीर निर्वाणोत्सव पर्व में श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्रदाय का एक समन्वयात्मक ग्रन्थ तैयार हो तथा वह तथ्य जिनमें दोनों में परस्पर विरोध हो छोड़ दिया जाय और मिलती हुई बातों को लिया जाय, जिसका अन्य भाषाओं में अनुवाद हो सके तथा अन्य देशों में भी प्रचारार्थ भेजा जा सके। वे इसकी अनुमति आचार्य श्री से लेने आये। आचार्य श्री ने कहा कि धर्म और सिद्धांतों के लिये मै समन्वय करने के लिये तैयार नहीं हूं। यदि ऐसा किया भी गया तो तत्काल उसके खण्डन की आवश्यक व्यवस्था की जायेगी। स्व० साहूजी ऐसा साहित्य तैयार नहीं कर सके और दिगम्बर आम्नाय के ही ग्रन्थ छपे। आचार्य श्री के विचार कितने उच्चकोटि के हैं जिन पर काल का कोई प्रभाव नहीं। वास्तव में आप आर्ष संस्कृति के प्रतीक हैं, उनके चरणों को शत शत वन्दना।

निर्मोही :

आचार्य श्री की बातों का स्मरण होकर हृदय गद्-गद् हो जाता है, उनकी चर्या निस्पृह जैन साधु की है। जयपुर चातुर्मास के पश्चात् दीवानजी की नसिया में विराजते थे, वहां से आगे जाने का कार्यक्रम था। हमारे भाव थे कि आचार्य श्री कम से कम २-३ दिन नसियां में ही और विराजें। आचार्य श्री से निवेदन भी किया, परन्तु उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया।

दूसरे दिन आहार के पश्चात् देखते हैं कि बिना कहे सुने पीछी कमण्डल लेकर सांगानेर की तरफ अकेले ही रवाना हो गये। सामायिक भी सड़क के किनारे पेड़ के नीचे की। जहा अजैन लोग काफी संख्या में एकत्र हो गये। हम पहुंचे तो महाराज श्री ने हंस कर कहा आप लोग परेशान क्यो हो ? दिगम्बर साधु की यही रीति है। साधु को एक जगह अधिक नहीं रहना चाहिए। इससे रागद्वेष होता है। आप लोग मानते नही, अत: ऐसा करना पड़ा। संघ के व्यवस्थापक हाबड़ तोबड में अपना सामान लेकर सांगानेर को रवाना हुए। अन्य साधु भी आचार्य श्री के पीछे-पीछे सांगानेर को रवाना हुए। आचार्य श्री की यह निर्मोही जीवन की प्रत्यक्ष घटना है।

संघ में नियन्त्रण :

देहली प्रवास में एक ब्रह्मचारी (नाम लेना उचित नहीं) ने एक धनी श्रावक से तीर्थयात्रा के नाम पर कुछ रुपये ले लिये। आचार्य श्री को यह बात मालूम हुई तो समक्ष में उक्त ब्रह्मचारी को बुला कर कहा ब्रह्मचारी जी आप संघ से चले जाइये, आप इस संघ में रहने योग्य नहीं हैं आपने अमुक सेठजी से रुपये लिये हैं या नहीं और लिये हैं यह सत्य है तो दुनियां के भोग विलास, सम्पत्ति छोड़कर आपने यह वेष धारण क्यों किया है। बोलो, उक्त ब्रह्मचारीजी ने रुपये लेने की हां की। उपस्थित लोगों ने रुपये लौटाने पर क्षमा प्रदान करने हेतु आग्रह किया और ब्रह्मचारीजी ने बार-बार अपनी गलती मानी और क्षमा चाही। उपरोक्त कथित श्रावक ने महाराज श्री के पास अपना स्पष्टीकरण भी प्रस्तुत किया, परन्तु आचार्य श्री अपने निर्णय पर अडिग रहे। उक्त ब्रह्मचारी को संघ से विदा लेनी ही पड़ी।

आचार्य श्री के एक ही नही अनेकों संस्मरण हैं जो उनके संसर्ग में रहकर हमने पाया, उनका जीवन व चरित्र कितना उज्ज्वल है।

आचार्य श्री का मधुर स्वभाव, शान्त चेहरा व सद्चारित्र, अनुशासन की कठोरता, जैनधर्म के सिद्धान्तों का पालन व चारित्रशुद्धि का प्रतीक है। आचार्य श्री को शत-शत वन्दन।

आचार्य श्री का जीवन साक्षात् जैन साधु का है। वनों की कमी व व्यवस्था का अभाव होने के कारण आबादी में रहते हुए भी किस कठोरता से चारित्र का पालन जैन सिद्धांतों के प्रचारमें तन्मयता, निष्परिग्रहिता, कठोर अनुशासन, सर्वदा हंसमुख, मृदुल स्वभाव महाराज श्री के जीवन की अपूर्व कहानी है। वास्तव में शास्त्र में वर्णित साधु के लक्षण आपमें हैं।

महाराज श्री के चरणों में शत शत वन्दन

आचार्य श्री का लाडनूं चातुर्मास

□ श्री जयचन्दलालजी पाटनी, लाडनूं

प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के लाडनूं चातुर्मास का स्मरण करते हुए विशेष आनन्दानुभूति होती है। वि० सं० २०२६ के ज्येष्ठ मास की बात है आचार्य श्री ससंघ नागौर से डेह पहुंच गये थे। लाडनूं समाज ने इन समाचारों को ज्ञातकर हर्षोल्लास पूर्वक विचार-विमर्श किया कि इस वर्ष का चातुर्मास आचार्यसंघ यदि लाडनूं करता है तो समाज को धर्माराधन एवं आहारदानादि का लाभ प्राप्त होगा। निश्चित तिथि पर समाज डेह पहुंची और आचार्य श्री के ससंघ दर्शन करने के पश्चात् चरण कमलों में श्रीफल चढ़ाकर लाड़नूं नगर में चातुर्मास करने की प्रार्थना की। इसी बीच सुजानगढ के लोग भी आचार्य श्री से सुजानगढ चातुर्मास करने की प्रार्थना के लिए पहुंच गये। लाडनूं-सुजानगढ दोनों ओर की समाज की प्रार्थना के पश्चात् ये संकेत मिला कि लाडनूं-सुजानगढ की ओर संघ का विहार शुभ मुहूर्त में होगा, चातुर्मास का निर्णय बाद में करेंगे। आशा का किरण प्राप्त कर लाडनूं-सुजानगढ़ की समाज वापस आ गयी।

निश्चित तिथि पर संघ ने डेह से लाडनूं की ओर विहार किया। समाज में अपार हर्ष था। जब संघ लाडनूं के सन्निकट पहुंच गया तो नगर में सूचना पहुंच गई कि कल प्रातः संघ नगर प्रवेश करेगा। इसी मंगलमय दिवस की बच्चे-बच्चे को प्रतीक्षा थी और वह दिन भी आ गया। वैसे लाडनूं-सुजानगढ़ पृथक्-पृथक् गांव हैं तथापि दोनों के मध्य अधिक दूरी न होने से प्रायः समाज एक दूसरेके यहां यथा शीघ्र पहुंच जाती है। आचार्य संघ के मंगलमय नगर प्रवेश के अवसर पर सुजानगढ समाज भी संघ अगवानी के लिये प्रातः शीघ्र ही लाडनूं पहुंच गयी थी। संघ में आचार्य श्री के अतिरिक्त ३ मुनिराज, ५ आर्यिका एवं २ क्षुल्लकजी इसप्रकार कुल ११ साधु-साध्वी थे।

संघ आगमन पर समाज में व्याप्त आनन्द का सागर जुलूस में उमड़ पड़ा था। सारा नगर आनन्दामृत में मग्न था। संघ के दर्शन कर जैनेतर समाज भी आश्चर्यान्वित था कि "त्याग-तपश्चर्या का उत्कृष्ट रूप तो ये साधुजन हैं। जहां दिशाएं ही वस्त्र हैं और कर पात्र भोजी है। हिंसादि पाच पापों का जिनके जीवन में लेश भी नहीं है। जो हिंसा

त्याग की चरम भूमि पर हैं तथा प्राणीमात्र की रक्षा के प्रति पूर्ण सजग हैं। इन साधुजनों के दर्शन कर हमारा जीवन धन्य है" इत्यादि अनेक प्रकार से संघ के प्रति अपनी भक्ति प्रगट कर रहे थे।

शोभा यात्रा नगर के प्रमुख मार्गों से होती हुई नगर स्थित दिगम्बर जैन बड़ा मंदिर में पहुंची और सभा में परिवर्तित हो गई। आचार्य श्री ने अपने संक्षिप्त, किन्तु सारगर्भित धर्मप्रवचन में "मानव जीवन की सार्थकता चारित्र धारण से ही है" विषय पर अत्यन्त महत्वपूर्ण उद्बोधन दिया।

लाडनूं में संघ आये कुछ ही दिन हुये थे कि अजमेर नगर की ओर से विहार करते मुनि श्री सुपार्श्वसागरजी, मुनि श्री पद्मसागरजी व क्षुल्लक दयासागरजी महाराज आचार्य संघ के साथ ही चातुर्मास करने के लिये आये और उन्होंने चातुर्मास संघ के साथ ही किया। मुनिद्वय आचार्य श्री के प्रथम मुनि शिष्य श्री पुष्पदंतसागरजी द्वारा दीक्षित थे।

चातुर्मास का समय आया और लाडनूं ही चातुर्मास तय हो जाने पर समाज के समक्ष अन्तरंग मीटिंग में धर्मवीर सेठ मांगीलालजी जैनाग्रवाल बोले कि आचार्य श्री के ससंघ चातुर्मास में यात्रियों की भोजनादि व्यवस्था सम्बन्धी एवं अन्य समस्त व्यवस्था सम्बन्धी पूर्ण अर्थव्यय का भार मैं वहन करना चाहता हूं समाज मुझे अवसर दे जिससे इस चंचला लक्ष्मी का सदुपयोग मैं इस पुण्य कार्य में कर सकूं। समाज ने अपने पूर्ण सहयोग की स्वीकृति पूर्वक उनके इस प्रस्ताव को सर्वसम्मति से मान्य कर लिया।

आचार्य श्री के इस चातुर्मास में लाडनूं नगर में कई ऐतिहासिक प्रभावना पूर्ण कार्यक्रम हुए। यहां स्थित सुखदेव आश्रम एवं प्राचीन दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर तथा चन्द्रसागरस्मारक आदि विशाल एवं भव्य मंदिर वीतरागता का संदेश देने में अद्वितीय कलाकृति युक्त धर्मायतन हैं। इन पर लाडनूं समाज को गौरव है। दि० जैन बड़ा मन्दिर की २४ पंचकल्याण प्रतिष्ठायें अब तक हो चुकी हैं और मंदिर की एक मंजिल भूगर्भ में स्थित है।

धर्मायतनों के विशेष महत्त्व के साथ जुड़ा हुआ था आचार्य श्री का यह चातुर्मास। क्योंकि धर्मायतन तो वर्षों से खड़े वीतरागमार्ग का संदेश सुना रहे हैं, किन्तु इस वर्ष तो धर्म के साक्षात् सागर का ही नगर में अवतरण हुआ था। धर्मसागरजी महाराज के प्रवचनों से नगर धर्ममय बन चुका था।

चातुर्मास के मध्य अनेक विधान हुए, अनेक भव्य जीवों ने अपनी शक्ति के अनुसार व्रत नियमादि ग्रहण कर अपने आत्मा को प्रशस्त मार्ग में लगाया। संघस्थ साधु-साध्वियों के धर्म प्रवचनों से समाज में जागृति बनी। संघस्थ क्षुल्लक दयासागरजी उच्च कोटि के विद्वान् थे। उनके प्रवचनों का आयोजन विशेषकर रात्रि में होता था। समाज के भाग्योदय से वर्षायोग सानन्द चल रहा था और चार माह का समय ऐसा व्यतीत हुआ कि मानों कल की ही बात हो। चातुर्मास समापन के अवसर पर कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी के दिन नवीन पिच्छिका परिवर्तन का कार्यक्रम अत्यन्त प्रभावना के साथ सम्पन्न हुआ।

आचार्य संघ के चातुर्मास की सबसे बड़ी उपलब्धि है धार्मिक शिक्षा हेतु पाठशाला का संचालन जो अनवरत आठ वर्ष से अत्यन्त सुचारु रूप से चल रही है। जब आचार्य महाराज ने बच्चों में धार्मिक संस्कारों के लिए एक पाठशाला की आवश्यकता पर बल दिया तो यहां के श्रीमान् सेठ मांगीलालजी अग्रवाल एवं श्रीमान् फतेहचन्दजी अग्रवाल के द्रव्य द्वारा उसका संचालन रामप्रसादजी शास्त्री के कुशल अध्यापन में पाठशाला सतत चल रही है।

लाडनूं समाज के आग्रह पर किया गया यह चातुर्मास अत्यन्त धर्मप्रभावना पूर्वक सम्पूर्ण हुआ तथा भव्य जीवों ने संघ सेवा का अपूर्व लाभ प्राप्त किया।

आचार्य श्री अत्यन्त शान्त-सौम्य और सरल परिणामी साधुराज हैं उनके मुख मण्डल पर सदैव प्रसन्नता रहती है। बच्चों में धार्मिक संस्कार बने इस ओर आप समाज का सदैव ध्यान दिलाते रहते हैं। आपकी प्रेरणा से अनेक स्थानों पर जैन पाठशालाएं छात्रावास आदि की स्थापना हुई है।

आचार्य श्री के लाडनूं सम्वत् २०२९ में होने वाले चातुर्मास का स्मरण कर आज भी आनन्द का अनुभव होता है। मैं आचार्य श्री के चरण युगल में कोटि-कोटि वन्दन करता हूं।

इन्दौर नगर का चातुर्मास

□ श्री बाबूलालजी झांझरी

[इन्दौर]

वि० सं० २०२१ का वर्षायोग महामुनि श्री धर्मसागरजी महाराज ने इन्दौर नगर में किया। संघ में २ मुनिराज और २ क्षुल्लकजी थे। वि० सं० २०२० का चातुर्मास खुरई में सम्पन्न करके आप विहार करते हुए सिद्धवरकूट सिद्ध क्षेत्र की वन्दना करते हुए बड़वानी (बावनगजा सिद्धक्षेत्र) के दर्शन करने पधारे। वहीं पर इन्दौर समाज ने अगला वर्षायोग इन्दौर में हो इसके लिए प्रार्थना की। प्रार्थना स्वीकृत होने पर समाज ने आपके मंगल विहार की व्यवस्था बनाई। आप बड़वानी से विहार करके चिकलदा तक आ गये थे। यहीं से कवरलालजी-फूलचन्दजी कासलीवाल, धन्नालालजी गोधा, देवीलालजी सोनी व मैं महाराज श्री के साथ थे। आषाढ़ मास के कृष्ण पक्ष में आप इन्दौर पहुंच चुके थे।

दूसरी ओर आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज ससंघ मक्सी पार्श्वनाथ में विराजमान थे उनका भी विहार इन्दौर की ओर कराया और जब वे इन्दौर पहुंच गये तो दोनों संघों का मिलन अभूतपूर्व था। मल्हारगंज स्थित शांतिनाथ दिगम्बर जैन बीस पंथ मंदिर में उभय संघो का मिलन देखकर इन्दौर समाज के हर्ष का परावार नहीं रहा। दोनों ही संघों से इन्दौर नगर में चातुर्मास स्थापित करने की प्रार्थना की गई धर्मसागरजी महाराज की स्वीकृति तो प्राप्त हो गई, किन्तु आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज ने कहा कि बावनगजा (बड़वानी) में हमारे गुरुदेव आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी महाराज ससघ विराजमान है उनका वर्षा योग वहीं होगा अत: हमारी भावना गुरुदेव के साथ ही चातुर्मास करने की है। वे बड़वानी की ओर विहार कर गये।

आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को पूज्य श्री धर्मसागरजी महाराज ने ससंघ वर्षायोग की स्थापना की। वर्षयोग में धर्म प्रभावना के विभिन्न कार्यक्रमों में एक महान कार्य यह हुआ कि इन्दौर नगर में मुनिराज श्री धर्मसागरजी महाराज ने सर्व प्रथम मुनि दीक्षा संघ में आये ब्र० श्री जीवनलालजी को प्रदान की। दिनांक २३-७-६४ के दिन मुनि श्री पद्मसागरजी महाराज ने केशलोंच किया केशलोच के अवसर पर पं० नाथूलालजी शास्त्री, मिश्रीलालजी शास्त्री, पं० दीपचन्दजी आदि के प्रकरणवश भाषण हुए पश्चात् मुनिराज श्री धर्मसागरजी महाराज का मंगल प्रवचन हुआ। वैराग्यवर्धक इस कार्यक्रम के अवसर

पर ब्र० जीवनलालजी ने महाराजजी के श्री चरणों में मुनि दीक्षा हेतु श्रीफल चढ़ाकर प्रार्थना की।

महाराज श्री ने प्रार्थना स्वीकार करते हुए कहा कि हम विचार कर लें उसके पश्चात् शुभ दिवस में दीक्षा प्रदान करेंगे। ब्रह्मचारीजी ने मुनि श्री की आज्ञा शिरोधार्य की और अपने स्थान पर बैठ गये।

एक सप्ताह के पश्चात् वह मंगलमय दिवस भी आ गया जिस दिन इन्दौर नगर में मुनिदीक्षा का आयोजन होना था। २३ जुलाई को ही महाराज श्री ने श्रावण कृष्णा ६ सं० २०२१ तदनुसार ३०-७-६४ को प्रात: ८ बजे दीक्षा देने की घोषणा करदी थी। दीक्षार्थी ब्रह्मचारीजी की बिनोरियां (शोभा यात्राएं) प्रतिदिन प्रभावना के साथ निकलती थीं। समाज भी हर्षित थी, भावी मुनिराज की शोभा यात्राओं में अपार जन-समुदाय होता था। दीक्षा समारोह में भाग लेने के लिए आस-पास के नगरों व ग्रामों से सैंकड़ों की संख्या में लोग आये थे। विशेषरूप से ब्र० सूरजमलजी (बाबाजी) ब्र० पं० रतनचन्दजी मुख्तार, श्री बाबुलालजी जमादार, पंडित राजेन्द्रकुमारजी मथुरा आदि पधारे थे। इसी अवसर पर 'चारित्रशुद्धि विधान' का भी प्रभावना पूर्ण आयोजन किया गया था। दीक्षा का कार्यक्रम दीतवारिया बाजार में नवनिर्मित पाण्डाल में सम्पन्न हुआ। इस महोत्सव में जैन-जैनेतर सब मिलकर लगभग ३०-४०हजार जनसमुदाय एकत्रित हुआ था।

दीक्षा कार्य प्रारम्भ हुआ जिनेन्द्रप्रभु के अभिषेक-पूजन करके नवीन दीक्षार्थी को सौभाग्यवती महिला द्वारा निर्मित अक्षत के चौक पर वस्त्र बिछाकर बैठाया गया। केशलोंच प्रारम्भ हुआ, वह दृश्य दर्शनीय था जब दीक्षार्थी ब्रह्मचारीजी केशों का स्वयं अपने हाथ से लुञ्चन कर रहे थे। लोंच पूर्ण होने पर मुनिराज धर्मसागरजी महाराज ने दीक्षार्थी के मस्तक पर दीक्षा संबन्धी संस्कार प्रारम्भ करने से पूर्व ब्रह्मचारीजी से कपड़े उतारने का आदेश दिया। आज्ञा मिलते ही ब्रह्मचारीजी ने वस्त्र निकालकर फेंक दिये। तदनन्तर संस्कार करके पिच्छी-कमण्डलु एवं शास्त्र प्रदान करते हुए नव दीक्षित मुनिराज का 'पुष्पदंतसागरजी' यह नामकरण किया गया।

नवीन मुनिराज ने भाद्रपद में पर्युषण पर्व के दिनों में १० उपवास किये। उनकी तपश्चर्या को देख कर आत्मजागृति होने से कई भाई-बहिनों ने भी अपनी शक्ति के अनुसार व्रत-उपवासादि किये। विभिन्न धर्म प्रभावक कार्यक्रमों एवं धर्मोपदेश-आहारदान, साधु वैयावृत्ति आदि लाभ सतत चार माह तक मिलते रहे। चातुर्मास की समाप्ति का समय आ गया कार्तिक मास की अष्टान्हिका में मारवाड़ी मंदिर में सिद्धचक्र विधान हुआ। चातुर्मास के मध्य दीक्षा समारोह के दिन दीक्षा के पश्चात् मध्यान्ह विशाल रथ यात्रा महोत्सव भी हुआ था जिसमें चारों मुनिराज एवं संघ के साथ रहने से आयोजन की शोभा द्विगुणित हो गई थी।

इस चातुर्मास में धर्मसागरजी महाराज आचार्य पद पर अधिष्ठित नहीं थे। गम्भीरा ग्राम में जन्म लेने के पश्चात् बामन गांव में चचेरी बहिन दाखां बाई के यहां लालन-पालन हुआ। दोनों भाई-बहिन इन्दौर आये। यहां त्रिलोकचन्दजी सेठ के यहां आपने काम भी किया। वैराग्य वृद्धि होने पर आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत लेकर सप्तम प्रतिमा के व्रत भी ग्रहण किए। कालांतर में क्षुल्लक दीक्षा फिर ऐलक दीक्षा और तत्पश्चात् मुनि दीक्षा लेकर क्रमश: त्याग मार्ग में अग्रसर हुए। इन्दौर चातुर्मास के चार वर्ष पश्चात् आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के स्वर्गवास के अनन्तर आपको आचार्य पद पर मुनि संघ ने प्रतिष्ठित किया।

आचार्य श्री का कार्य क्षेत्र गृहस्थावस्था में इन्दौर ही रहा है अत: उनके अनुपम गुणों से समाज चिर परिचित है। साधु जीवन में तो आचार्य श्री अनेक गुणों के समवेत पुंजरूप ही हैं।

इन्दौर की बीस पन्थ पंचायत आचार्य श्री के चरणों में श्रद्धासुमन समर्पण के साथ-साथ उनके स्वस्थ दीर्घायु जीवन की भगवान शांतिनाथ से प्रार्थना करती है जिससे पूज्य गुरुदेव की छत्र छाया में चिरकाल तक समाज आत्म कल्याण का मार्ग प्राप्त करती रहे।

आचार्य प्रवर योगी सम्राट श्री धर्मसागरजी महाराज

□ श्री पं० विद्याकुमारजी सेठी, अजमेर

मैं पूज्य महाराज श्री की प्रसन्नता एवं कठिन से कठिन समस्या के समाधान में भी सरलता एवं चिन्ता के अभाव की मुद्रा में एक अलौकिकता का अनुभव करता हूं जब ये प्रातःस्मरणीय श्री १०८ आचार्य कल्प चन्द्रसागरजी महाराज के साथ क्षुल्लक थे, तब मैं एक मास तक अपनी धर्मपत्नी सहित आपकी सेवा में उपस्थित रहा था उस समय भी आपकी निश्चित वृत्ति देखते ही बनती थी।

जब हम कुचामन से स्व० सेठ नेमीचन्दजी पांड्या, कन्हैयालालजी पहाडिया (मद्रास प्रवासी) आदि के साथ लाडनूं श्री वीरसागर स्मृति के शुभावसर पर लाडनूं पहुंचे उससमय पूज्य महाराज की स्मृति में कुछ वक्तव्य देने के बाद महाराज के ओजस्वी प्रवचन को सुनने लगे उससमय आपके द्वारा जो कृतज्ञता स्व० १०८ आचार्य वीरसागरजी महाराज के प्रति प्रकट की गई थी वह भी उल्लेखनीय ही है:—

महाराज ने कहा कि जब मैंने चन्द्रसागरजी महाराज से द्वितीय प्रतिमा ग्रहण की मुझे प्रतिमा का स्वरूप ही मालूम नहीं था मैं डरता था किन्तु पूज्य महाराज के वचनों में अटूट विश्वास धारण कर आज्ञा का पालन मात्र किया उसका यह फल है। सरलता एवं भावुकता का यह आदर्श निर्ग्रन्थ जैन महात्माओं के अतिरिक्त और कहां मिल सकता है।

आहार दान देने के समय भी आपकी अपूर्व स्वाभाविक प्रसन्नता की छटा देखने को मिलती ही रहती है मुझे तो उस समय इनकी अत्यन्त स्वाभाविकता को देखकर आदि मानव की मूर्ति के दर्शन होने के साथ ही साथ भीतर की सम्यक्त्व की झलक स्वाभाविक प्रसन्नता के रूप मे दिखाई देती है।

किशनगढ (मदनगंज) कलशोत्सव एवं रथोत्सव के समय में व्याख्यान सभा के पूर्व हमारे पारिवारिक जीवन के विषय में आपने बड़ा मधुर व्यंग किया था वह भी:हमें आज तक याद है। धर्मपत्नी के विषय में कहा कि न मालूम ये जाने किधर से आहार दे जाती है; पंडितजी अलग पुण्य सञ्चय करते हैं और ये भी अलग पुण्य सञ्चय कर ही लेती है। मुझे तो हमेशा उंगलियों से धन कमाने का इशारा व्यंग के रूप में करते ही रहते हैं, इनके ये उद्‌गार आज भी मेरे लिये प्रकट होते ही रहते है कि ये चन्द्रसागरजी महाराज के कट्टर शिष्य हैं।

ब्यावर रथोत्सव के समय बाजार में व्याख्यान शुरु करने के पहले आपने यह आदेश दिया कि पहले तुम शुरु करो और बाद मे सिंह गर्जना सदृश समयोपयोगी भाषण दिया उससमय का सारी ओसवाल समाज के बीच दिगम्बर साधु की निःस्पृहता एवं सिंहवृत्ति के दृश्य का स्मरण आज भी चित्त को अपूर्व आह्लाद प्रदान करता है।

अधिक क्या लिखूं मेरे मन मे ये आपकी अन्तर्ध्वनि सदा गूंजती ही रहती है—"यह तन पाय, महा तप कीजे, यामें सार यही है।" इसी भावना के साथ आचार्य श्री के चरणों में शत शत वन्दन करता हूं। ☼

आचार्य श्री धर्मसागरजी

एक निर्लिप्त सन्त

□ श्री भंवरलालजी न्यायतीर्थ, जयपुर

दिगम्बर जैन मुनि पद साधारण बात नहीं। हर कोई उसे ग्रहण नहीं कर सकता। यहां साधु-जीवन को पग-पग पर बांधा गया है। उसके जीवन का प्रत्येक क्षण कैसे व्यतीत हो, वह कैसे उठे, कैसे बैठे, कैसे चले, कैसे बोले और कैसे सोचे आदि दैनिक जीवन की सभी क्रियाओं पर इतना नियंत्रण किया गया है कि वह उस मार्ग से तनिक भी नहीं हिल सकता। यदि रंच मात्र भी उस पद्धति में विकार आता है तो वह अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने में असमर्थ रहता है, असफल रहता है। मूलगुण और उत्तर गुणों के पालन की एक बहुत लम्बी और दुरूह प्रक्रिया है। उनका पालन यदि मनसा-वाचा-कर्मणा होता है तो वह ही सच्चा साधु है। ऐसे आचरण से ही साधुत्व पहचाना जाता है। ये सब क्रियायें यद्यपि बाह्य हैं पर अंतर को समुज्ज्वल करने में सहायक हैं। हम यों मानें कि ये क्रियायें सही स्वयं में तभी पायी जा सकती हैं जब वह अंतर से भी साधु हो। अन्यथा भेष भले ही धारण कर ले पर उसमें साधुत्व का निवास नहीं होगा।

साधु इंद्रियों के विषयों की आशा मात्र भी नहीं करता, निष्परिग्रही और ज्ञान-ध्यान-तप में लवलीन रहता है। आचार्य समंतभद्र ने साधु जीवन को इस रूप में वर्णित किया है। ऐसा साधु स्व और पर का कल्याण करता है। इसी परिप्रेक्ष्य में हमें साधु जीवन को आँकना चाहिए।

आचार्य धर्मसागरजी के जीवन में निष्परिग्रहित्व और रागद्वेष का अभाव दृष्टिगोचर होता है। वे अंतर और बाह्य में एक से हैं। सम्पन्न और गरीब के लिए उनके पास अलग अलग आशीर्वाद नहीं। वे एक तराजू पर सबको तोलते है। वहा न सेठ की पूछ है और न गरीब की उपेक्षा। उनके घनिष्ठ सम्पर्क में रहने वालों की शिकायत रहती है कि महाराज मनमौजी हैं। मनमौजी इस अर्थ में कि वे स्वयं सुविचारित बात करते हैं किसी की राय, दबाव व लिहाज उन पर काम नहीं करता। एक बार जयपुर से विहार हो रहा था। संघ से निकट सम्पर्क रखने वालों को शिकायत रही कि न कुछ कहा न सुना और यों ही महाराज ने पीछी कमण्डलु उठाया और चल दिये। साधु किसी के नियंत्रण में कब बंधा है। वह बहती नदी की तेज धारा है जिसे कोई कैसे रोके ?

आचार्य श्री के दर्शन करने का मुझे कई बार मौका मिला है। जयपुर, पदमपुरा, निवाई, दिल्ली, सीकर आदि कई स्थानों पर उनके दर्शन किये हैं। एक बार संघ सम्बन्धी किसी बात के लिये मैंने महाराज से कुछ निवेदन किया तो महाराज ने स्पष्ट उत्तर दिया कि मैं कुछ नहीं कर सकता, अमुक से बात करो। मैंने कहा संघ के आचार्य आप हैं—तो तुरन्त बोले कि यह पद और कोई ले लें। मैंने देखा कि वहां छल छिद्र का नाम नहीं। अपनी असमर्थता या कमी प्रकट कर देने में उनको तनिक भी संकोच नहीं। वहाँ लाग लपेट नहीं, सीधी बात है वे तथ्य को नहीं छिपाते चाहे उसमें अपनी कमी ही क्यों न नजर आवे।

महाराज ने शास्त्रीय ज्ञान हेतु किसी नियमित विद्यालय में अध्ययन नहीं किया। गृह त्यागने के पश्चात् ज्ञान पिपासा बढी और आज जैन सिद्धान्त की गूढतम चर्चाओं में खूब रस लेते हैं—पर ज्ञान का अहं नहीं-वे तो यह कह देते हैं कि "मुने कोई ज्यादा शास्त्र वास्त्र कोनै आवै मैं तो मोटी मोटी बाता ही जानूं हूं।" उनको अपने पद का, ज्ञान का या अन्य तनिक भी मद नहीं, अहंभाव नही।

चारित्र पालन में वे दृढ़ हैं। संघ में चारित्रिक कमी वे पसन्द नहीं करते और न किसी में कमी आने देते हैं। उनकी बोली सीधी सादी है। उसमें खरापन है। वे साहित्यिक, बनावटी या घुमावफेर की भाषा नहीं बोलते। वहां साफ साफ बात है—भले ही किसी को वह खरापन बुरा लगे। बुराई पर वे करारी चोट मारते हैं। सम्पर्क में आने वाले को वे जीवन-निखार की बातें कहते हैं जिससे प्राणी का उद्धार ही हो। वहां त्याग की ही चर्चा वार्ता होती रहती है।

ये ऐसी बातें है जिनका मिलना बहुत कठिन है। खरा व्यक्ति जीवन में किसी बात को छिपाता नहीं और न कोई आर्त्तध्यान रखता है। अत: उसका हृदय निर्मल होता है, प्रकृति सरल होती है। आ० धर्मसागरजी महाराज में ये विशेषतायें हैं—सचमुच वे एक निर्लेप साधु हैं जहां लाग लपेट नहीं, बड़े छोटे का भेद नहीं। ऐसे सन्त सदा अभिवंदनीय हैं।

जिनेश्वर के लघुनन्दन

□ पं० श्री बलभद्रजी जैन, आगरा

प्रात:स्मरणीय आचार्य कुंदकुंद ने कहा है कि इस अवसर्पिणीकाल में भरत-क्षेत्र में जैनमुनि होते हैं। पंडित प्रवर आशाधरजी ने कहा है कि इस दु:षम काल में, जब देह अन्न का कीड़ा बना हुआ है, यह आश्चर्य की बात है कि इस काल में भी जिनमुद्रा धारी मनुष्य (मुनि) विद्यमान है। कविवर बनारसीदास ने जिन मुनियों को जिनेंद्रदेव के लघुनंदन कहा है, जिनके हृदय में भेदविज्ञान का प्रकाश है और जो मोक्ष मार्ग में निरंतर क्रीडा करते रहते हैं। जिनेंद्रदेव के लघुनंदनों में एक अन्यतम चारित्र शिरोमणि आचार्य प्रवर धर्मसागरजी महाराज है। वे भगवान महावीर की अविच्छिन्न आचार्य परम्परा के एक जाज्वल्यमान मणि हैं। वे चारित्र के मूर्तिमान रूप हैं। वे एक निस्पृह वीतरागी निर्ग्रंथ श्रमण है। आचार्य श्री की अगाध निष्ठा, व्यापकज्ञान और निष्कलंक चारित्र की त्रिवेणी में एक सच्चे जैन मुनि के दर्शन होते हैं। उन्हें देखकर हम कल्पना कर सकते हैं कि चतुर्थ काल में जैन मुनि कितने तपस्वी, ज्ञानी और चारित्रधारी होते होंगे। हमारा सौभाग्य है कि हमारे मध्य में आचार्य धर्मसागरजी जैसे अजातशत्रु, जितमोह, जितेंद्रिय मुनि विद्यमान हैं। उनसे शिवमार्ग की शोभा है, वे तीर्थंकरों के शासन प्रभावक मुनियों में श्रेष्ठ मुनि हैं। वे सही अर्थों में अपरिग्रही साधु है। वे भव्यजनों के पुण्य-प्रावल्य से शतायु हो, जिससे शिवमार्ग प्रकाशित बना रहे। उनके चरणों में मेरे शत शत वंदन।

आचार्य श्री धर्मसागरस्य पट्टावलिः

त्रिभुवनगतत्रिकालवर्तिसमस्तपदार्थसार्थसाक्षात्कारिमहाश्रमणभगवद्वर्धमानस्य सार्वभौमशासनं वर्धयति श्रीकुन्दकुन्दान्वये नन्दिसङ्घे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे चारित्रचक्रवर्ती श्रीशान्तिसागराचार्यवर्यस्तत्पट्टे श्रीवीरसागराचार्यस्तत्पट्टे श्रीशिवसागरसूरिस्तत्पट्टाधीशो मुनीशः श्रीधर्मसागराचार्यो, यस्य करकमलात् दीक्षिताः मुनयः षड्विंशतिः, आर्यिका अष्टादश, क्षुल्लकक्षुल्लिकाब्रह्मचारिव्रतिश्रावकश्राविकाश्च पुष्कला मुक्तिमार्गमविच्छिन्नतया निर्वाहयन्ति । तस्मै श्रीधर्मसागराचार्यवर्याय वीराब्दसप्तोत्तरपञ्चविंशतितमे काले प्रथमतीर्थंकरस्य सूनोः प्रथमचक्रवर्तिविजयिनः प्रथमकामदेवस्य श्रीगोम्मटेश्वरस्य प्रतिबिम्बस्य महामस्तकाभिषेकावसरे भक्तिकुसुमाञ्जलिं समर्प्य पुनः पुनः नमस्कुर्वेऽहम् ।

—आर्यिका ज्ञानमती

सरलता के मूर्तिमान आचार्य श्री : जीवनवृत्त
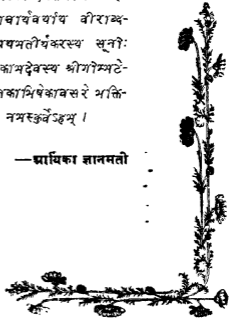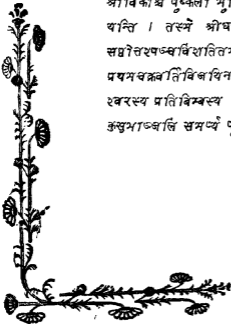
□ १०८ मुनि श्री वर्द्धमानसागरजी

(पू. १०८ आचार्य कल्प श्री श्रुतसागरजी संघस्थ)

कृषिप्रधान भारत का स्वरूप ऋषिप्रधान रहा है। यहां सत्ता, वैभव एवं ऐश्वर्यके उन्नत शिखर भी त्याग, वैराग्य एवं आत्मसाधना के चरणों में झुकते रहे हैं। अनादिकाल से जीवन का लक्ष्य सत्ता व ऐश्वर्य नहीं, किन्तु साधना व वैराग्य रहा है। भारतीय मस्तिष्क मूलत: शान्तिका इच्छुक है और शान्ति का उपाय त्याग व साधना है। यही कारण रहा है कि आत्मसाधना के पथ पर चलने वाला साधक ही भारतीय जीवन का आदर्श, श्रद्धेय और वन्दनीय माना जाता रहा है।

इस हुण्डावसर्पिणी काल के सर्वप्रथम सर्वोत्कृष्ट आत्मसाधक भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर पर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थंकर महापुरुषों की पावन परम्परा में अनेक महर्षियों ने अपनी आत्मसाधना की है और उनका आदर्श अद्यप्रभृति अक्षुण्ण बना हुआ है। भगवान महावीर के पश्चात् गौतमस्वामी से लेकर धरसेनाचार्य तक और उनके पश्चात् भी कुन्दकुन्दाचार्य आदि से लेकर अद्यप्रभृति महान आत्माएं इस पृथ्वी तल पर जन्म लेती रही है और आर्ष परम्परा के अनुकूल आत्मसाधना करते हुए अन्य भव्य प्राणियों को भी आत्मसाधना का मार्ग प्रशस्त कर रही है।

इन्हीं महान् धर्माचार्यों की परम्परा में कुन्दकुन्दान्वय में ईस्वी सन् की १९ वीं शताब्दि में एक महान् आत्मा का जन्म हुआ और वह विश्व में चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज के नाम से जाने गये। आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज ने इस भारत भू पर अवतरित होकर १९-२० वी शताब्दिमे लुप्तप्राय: आगम विहीत मुनिधर्म को पुन: प्रगट किया एवं दक्षिण से उत्तर भारत की ओर मंगल विहार करके दिगम्बर मुनि का स्वरूप एवं चर्या जो मात्र शास्त्रों में वर्णित थी, को प्रगट किया। उन महर्षि की महती कृपा का ही यह फल है कि आज यत्र-तत्र-सर्वत्र दिगम्बर मुनिराजों के दर्शन, उपदेश श्रवण का लाभ समाज को प्राप्त हो रहा है। आचार्य शान्तिसागरजी महाराज के पश्चात् उन्हीं के प्रधान मुनिशिष्य श्री वीरसागरजी महाराज ने आचार्य पद ग्रहण किया एवं उनके पश्चात् उन्हीं के प्रधान मुनिशिष्य श्री शिवसागरजी महाराज ने आचार्य पद को सुशोभित किया। उभय आचार्यों ने अपने समय में चतुर्विधसंघ की अभिवृद्धि के साथ-साथ धर्म की महती प्रभावना में भी अपना अपूर्व योगदान दिया। आचार्य त्रय की इस महान् परम्परा में आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के पश्चात् आचार्य श्री शान्तिसागरजी के प्रशिष्य एवं आचार्य श्रीवीरसागरजी महाराज के द्वितीय मुनिशिष्य श्री धर्मसागरजी महाराज वर्तमान में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हैं। उन्हीं आचार्य श्री का जीवनवृत्त प्रस्तुत निबन्ध में लिखा गया है।

एक दिन अवनितल पर आंखें खुली, यह जीवन का प्रारम्भ हुआ। एक दिन आंखों ने देखना बन्द कर दिया यह जीवन का अन्त हुआ। जीवन किस तरह जीया गया

यह जीवन का मध्य है। कौन किस तरह जीवन जी गया यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसी प्रश्न की चर्चा में से जीवन चरित्रों का गठन, लेखन और परिगुम्फन होता है। महान् पुरुषों के जीवन चरित्र प्रेरणादायक होते हैं अतः वर्तमान काल के परम्परागत आचार्य परमेष्ठी श्री धर्मसागरजी महाराज का जीवन चरित्र जो कि अत्यन्त प्रेरणादायक है, उसे इसी उद्देश्य से यहां प्रस्तुति किया है कि उनके जीवन से प्रेरणा पाकर हम भी उन महापुरुष के पद चिन्हों पर चलकर अपने जीवन को उन्नत एवं महान् बना सकें।

जन्म एवं बाल्यकाल :

भगवान धर्मनाथ ने कैवल्य प्राप्ति की थी अतः केवलज्ञान कल्याणक की तिथि होने से जो दिवस काल मङ्गल रूप था और जिस दिन चन्द्रमा ने अपनी षोडशकलाओं से परिपूर्ण होकर अपनी शुभ्र ज्योत्स्ना से जगत् को आलोकित किया था उसी पौषी पूर्णिमा के दिन आज से ६७ वर्ष पूर्व विक्रम सम्वत् १६७० में राजस्थान प्रान्त के बून्दी जिलान्तर्गत गम्भीरा ग्राम में सद्गृहस्थ श्रेष्ठी श्री बख्तावरमलजी की धर्मपत्नि श्रीमती उमरावबाई की कुक्षी से एक बालक ने जन्म लिया जिसका नाम चिरञ्जीलाल रखा गया।

खण्डेलवाल जातीय छाबड़ा गोत्रीय श्रेष्ठी बख्तावरमलजी भी अपने को धन्य समझने लगे जब उनके गृहाङ्गण मे पुत्ररत्न बालसुलभ क्रीड़ाओंसे परिवारजनों को आनन्दित करने लगा।

पारिवारिक स्थिति :

आपके पिता बख्तावरमलजी एवं उनके अग्रज श्री कंवरीलालजी, दोनों सहोदर भ्राता थे। दोनों ही भाइयों के मध्य दो संतानें थीं। अग्रज भ्राता के दाखाँ बाई नाम की कन्या एवं अनुज भ्राता के आप पुत्र थे। आप से पूर्व जन्म लेने वाली संतानों का सुख माता-पिता नहीं देख सके। आपका अपर नाम कजोड़ीमलजी भी था। प्रायः आपके दोनों ही नाम प्रसिद्ध रहे हैं। आपकी बड़ी बहिन (बड़े पिता की संतान) दाखांबाई का विवाह निकटस्थ ग्राम बामणवास में ही हुआ था। शैशवावस्था की दहलीज पर आपने पैर रखा ही था कि आपके माता-पिता का असामयिक निधन हो गया। उधर दाखाँबाई को भी माता-पिता का वियोगजन्य दुःख आ पड़ा, किंतु आपकी अपेक्षा उनकी आयु अधिक थी और विवाहित थी अतः उनको पति तथा सास-ससुर के संरक्षण में रहने का अवसर होने से अधिक चिंता नहीं थी। आपका जीवन तो अल्प समय में ही माता-पिता के लाड़-प्यार भरे संरक्षण से वञ्चित हो गया था। इष्ट वियोगज दुःख में आपको बहिन दाखाँबाई का संरक्षण मिला। आप बामणवास जाकर उन्हीं के पास रहने लगे और जब विद्याध्ययन के योग्य हुए तो आप अपने पिता श्री के पूर्वजों की जन्मस्थली 'दूगारी' ग्राम चले गये। वहां आपको मोतीलालजी-सुवालालजी छाबड़ा का संरक्षण प्राप्त हुआ। इधर दाखाँबाई को अल्पवय में ही एक और इष्ट वियोगज दुःखका झटका लगा जब उनके पति श्री भंवरलालजी का स्वर्गवास हो गया। अब तो मात्र दोनों-भाई बहिन के निर्मल स्नेह का ही जीवन में आश्रय शेष था जो कि बहिन के जीवन पर्यंत रहा।

शिक्षा :

क्रमशः एक के बाद एक वियोगज दुःख आने से आपके प्रारम्भिक जीवन मे भी आप विशेष विद्याध्ययन नहीं कर सके। यद्यपि आपको अपने जीवन में उस समय सामान्य शिक्षा ग्रहण कर ही संतोष प्राप्त करना पड़ा, तथापि शिक्षा के प्रति आपका विशेष अनुराग अद्यप्रभृति बना हुआ है।

बचपन में अनभिज्ञता वश आप प्रायः सभी धर्मों के देवताओं के पास जाते थे। आप शिवालय भी गए, मस्जिद भी गये। आप सभी देवताओं के पास जाकर एक मात्र यही याचना करते थे कि "मुझे बुद्धि दे दो, विद्या दे दो"। उस समय आपको धर्मशास्त्रों का भी विशेष ज्ञान नहीं था और न गाव में कोई सही मार्ग बताने

वाला था। एक दिन आप जैन मंदिर में गये, वहां एक शास्त्रों के जानकार व्यक्ति शास्त्र वाचन कर रहे थे; उन्होंने कहा कि जो वीतराग जिनेंद्र के अतिरिक्त अन्य कुदेवताओं की पूजा करता है वह नरकमें जाता है। आपने इस बात को सुना और वह आपके हृदय में अच्छी तरह बैठ गई, उसी समय से आपने अन्य देवताओं की पूजना तो बंद कर दिया, किंतु मंदिर तब भी जाना प्रारम्भ नहीं किया।

वीतराग प्रभु की शरण की प्रेरणा :

'दुगारी' में जब आप अधिक दिन विद्याभ्यास नहीं कर सके तो फिर आप अपनी बहिन दाखांबाई के पास ही आकर बामणवास रहने लगे। उन दिनों उत्तर भारत में दिगम्बर मुनिराजों का अत्यंत अभाव था अतः उनका समागम-उपदेश श्रवण दुर्लभ था। यही कारण था कि आपको स्थानकवासी जैन साधुओं के समागम में रहने का अधिकतर अवसर मिलता रहा, क्योंकि उन दिनों कोटा नगर के आसपास उन्ही साधुओं का विहार होता था। जब आप पर साधुओं के समागम से इतना प्रभाव पड़ा कि आप दिगम्बर वीतराग प्रभु के मंदिर में न जाकर स्थानक में जाते और स्थानकवासी सम्प्रदाय के अनुसार समस्त धार्मिक क्रियाएं करते तो बहिन दाखांबाई ने आपको प्रेरणा दी कि जिनेंद्र प्रभु के दर्शन करने के लिए जिन मंदिर जाया करो, किंतु कई बार इस प्रकार की प्रेरणा करने पर भी आप पर कुछ असर नहीं पड़ा तो फिर बहिन ने अनुशासनात्मक कदम उठाया कि "यदि मंदिर दर्शन करने नहीं जाओगे तो रोटी नहीं मिलेगी"। चूंकि आप पर स्थानकवासी संस्कार अधिक पड़ चुके थे अतः आप मंदिर जाने से कतराते रहे, तथापि घर पर आकर जब बहिन ने एक दिन पूछा कि आज मंदिर जाकर आये या नहीं तो झूठ का सहारा लिया और कह दिया कि मंदिर जाकर आया हूं। भोजन तो मिल गया, किंतु बहिन ने मंदिर की मालिन से पूछ ही लिया कि "क्या आज चिरंजी मंदिर दर्शन करने आया था" उत्तर नकारात्मक मिला तब घर पहुंचने पर पुनः आपके समक्ष प्रश्न था कि "आज मंदिर नही गये थे" मंदिर की मालिन ने तो मना किया कि तुम मंदिर नहीं गये ? उत्तर मिला-"मालिन झूठ बोलती है"। बात तो आयी गयी हो नहीं सकी, किंतु उस दिन झूठ बोलने से आपका हृदय आत्मग्लानि से भर गया और मन ही मन निर्णय किया कि "झूठ के सहारे कब तक काम चलेगा, कल से नित्य देवदर्शन के लिए मंदिर जाना ही है।" दूसरे ही दिन से वीतराग प्रभु की शरण में जाने लगे। आप स्वयं भी बहिन की अनुशासनात्मक प्रेरणा से प्रसन्न थे, क्योंकि वह आपके जीवनमोड़ का सर्वप्रथम कारण था और आज भी आप इस बात का उल्लेख करते समय गौरव पूर्ण शब्दों में बहिन का उपकार मानते हं। वास्तव में परिजनों का वही यथार्थ वात्सल्य है जो अपने परिवार के सदस्यों को सही मार्ग में आरूढ़ करके उनके जीवन निर्माण में सहायक हो सके।

दुर्घटना से बचे :

जिसप्रकार स्वर्ण अग्नि में तपकर ही परिशुद्ध होता है, उसीप्रकार महापुरुष भी संघर्षमय जीवन की अग्नि में तपकर ही महान् होते है। आपका जीवन भी संघर्षमय रहा है। इष्ट वियोगज दुःख तो आपके जीवन में था ही, किंतु एक प्राणांतकारी दुर्घटना भी आपके जीवन में घटी, तथापि बुद्धिबल से उस दुर्घटना से भी बचे।

बात आपके विद्याभ्यास के समय की ही है, आपके मित्रगण अच्छा तैरना जानते थे और प्रतिदिन तालाब पर जाकर उसमें तैरा करते थे। आपको तैरना आता नही था अतः मित्रों के अनेक बार आग्रह करने पर भी आप उनके साथ कभी तालाब पर नहीं गए। एक दिन संध्या के समय विद्यालय से अवकाश होने पर आप घर न जाकर सीधे तालाब पर पहुंचे और देखा कि आस-पास ही क्या कही दूर तक भी कोई व्यक्ति नहीं दिखाई दे रहा है तो आप कपड़े खोलकर तालाब मे कूद पड़े, किंतु एकदम अकेले में इस प्रकार तैरना सीखने की अभिलाषा बड़ी मंहगी पड़ी। ज्योंही आपने तालाब में छलांग लगायी आप डूबने लगे। जब देखा कि अब तो डूब जावेंगे तो सहसा ही मन में विचार आया कि घबराते क्यों हो ? हाथ-पांव तो हिलाओ, विचारानुसार क्रिया भी

की फल यह हुआ कि येन केन प्रकारेण तालाब के किनारे लग गये और किनारे पहुंचकर जब घाट की सीढ़ियों के सहारे से ऊपर चढ़ने लगे तो सीढ़ियों पर 'काई' जम जाने से वह सहारा भी छूट गया तथा पुनः पानी में डूबने लगे। अब की बार पुनः हाथ पांव चलाने से किनारे पहुंचे और सीढ़ियों का मजबूती से सहारा लेकर तालाब से बाहर आ गये तथा शीघ्र ही दुर्घटना से अपने को मुक्त पाकर प्रसन्न होते हुए घर की ओर चले गये।

इस घटना के पश्चात् आपने तालाब में तैरना सीख लिया। तालाब में तैरना तो मात्र औपचारिकता थी, जो संसार समुद्र से पार होने की कला में प्रवीण होने वाले थे, वे तालाब में तैरने की कला में प्रवीणता प्राप्त करना कैसे महत्त्वपूर्ण समझते ? और जिन्हें मोक्षमार्ग में चलकर आत्मकल्याण के पथ में अग्रसर होना था जो महान् पुण्यशाली थे वे कैसे दुर्घटना ग्रस्त हो सकते थे ?

व्यापार-जीवन का प्रथम मोड़ :

१४–१५ वर्ष की अवस्था में ही आपने आजीविकोपार्जन हेतु व्यापार प्रारम्भ कर दिया। एक छोटी सी दुकान आपने खोल ली, नैनवां जाकर २-३ दिन में कुछ सामान ले आते और उसे बेचकर अपनी आजीविका चलाते थे। आपको संतोषवृत्ति से ही गृहस्थ जीवन व्यतीत करना इष्ट था, फलस्वरूप आप जब यह देख लेते कि आज आजीविका योग्य लाभ प्राप्त हो गया है तो उसी समय दुकान बंद कर देते थे।

इस समय तक भी आपको दिगम्बर साधुओं का निकटतम सान्निध्य प्राप्त नहीं हुआ था अतः बहिन की प्रेरणा से यद्यपि मन्दिर जाना तो प्रारम्भ कर दिया था, किंतु विशेष रूप से धर्मकार्यों की ओर झुकाव नहीं हो पाया था। इसी मध्य नैनवां नगर में प. पू. सिंहवृत्ति धारक, परमागम पोषक १०८ आ. क. श्री चन्द्रसागरजी महाराज के चातुर्मास का सुयोग प्राप्त हुआ। गुरुदेव का समागम प्राप्त कर आपने अपने जीवन को नया मोड़ दिया और शुद्ध भोजन करने का आजीवन नियम धारण किया। साथ-साथ गृहस्थ के षडावश्यक कर्मों का परिपालन भी आपने दृढ़ता पूर्वक प्रारम्भ कर दिया था।

देशान्तर गमन :

कुछ ही वर्षों के पश्चात् आप अपनी बहिन के साथ इन्दौर चले गये। वहाँ जाकर आपने सेठ कल्याणमलजी की कपड़ा मील में नौकरी कर ली। चूंकि जीवन निर्वाह तो करना ही था अतः आपने नौकरी करना इष्ट न होते हुए भी उसे स्वीकार किया, किंतु कुछ ही दिन पश्चात् मील में कपड़े की रंगाई आदि कार्यों की देख रेख के प्रसङ्ग में उन कार्यों में होने वाली बड़ी भारी हिंसा को देखकर आत्मग्लानि उत्पन्न हुई और आपने मील में कार्य करने की अस्वीकृति सेठानी सा० के समक्ष प्रगट कर दी, क्योंकि आप जानते थे कि सेठानीजी का मुझ पर वात्सल्यमय स्नेह है। था भी ऐसा ही, सेठजी तो थे नहीं दोनों सेठानियों की वात्सल्यमयी दृष्टि आप पर सदैव बनी रहती थी। आपको मील से दुकान पर बुला लिया गया। इसी प्रकार संतोषवृत्ति पूर्वक दोनों भाई बहिनों का जीवन निर्विघ्नतया व्यतीत हो रहा था कि इसी बीच सेठानीजी ने कई बार आपके समक्ष विवाह करने का प्रस्ताव रखा और यहां तक कहना प्रारम्भ किया कि विवाह का सारा प्रबन्ध हम कर देंगे, तुम विवाह कर लो, किंतु जो महान् आत्मा मोक्षमार्ग में लगकर रत्नत्रय पालन करते हुए मोक्षलक्ष्मी को वरण करने की मन में भावना को जागृत करने में लगे थे उन्हें सांसारिक विवाह-बन्धन में बँधकर आत्मोन्नति में बाधा उपस्थित करना कैसे इष्ट हो सकता था ? अतः सेठानीजी द्वारा कई बार रखे गए विवाह सम्बन्धी प्रस्ताव को आपने ठुकरा दिया और बालब्रह्मचारी रहने का निर्णय किया।

गुरुसंयोग और व्रती जीवन का प्रारम्भ :

इन्दौर नगर में प० पू० आचार्य कल्प श्री वीरसागरजी महाराज का समागम आपको प्राप्त हुआ, किन्तु आप दूर से ही दर्शन करके आ जाते थे। एक दिन आपके साथी मित्र आपको पूज्य महाराज श्री के निकट

ले गए। प्रारम्भिक वार्ता के पश्चात् व्रतों के महत्त्व को अत्यन्त संक्षेप में बताते हुए आपको महाराज श्री ने व्रती बनने की प्रेरणा दी। उन्होंने कहा कि "दो प्रतिमा ले लो" आपने मन में सोचा सम्भव है महाराज "मंदिर में विराजमान प्रतिमाओं के सम्बन्ध में कह रहे होंगे ?" उन दिनों भी आप शुद्ध भोजन तो करते ही थे अतः आपने स्वीकृति दी और गुरुदेव ने बारह व्रतों के नाम बताते हुए व्रतों के पालन की अति संक्षिप्त विधि बता दी। यद्यपि आप व्रती बन चुके थे, तथापि व्रतों का निर्दोष पालन किस प्रकार होगा इस बात की चिन्ता मन में थी। उन दिनों आपका विशेष स्वाध्याय भी नहीं था, इसी कारण जब आपको महाराज ने सर्व प्रथम दो प्रतिमा लेने के लिये कहा तो आप उक्त बात ही समझे थे। उन दिनों गुरु के प्रति विनय-श्रद्धा की भावना अधिक थी। गुरुओं के समक्ष अधिक मुखरता और तर्क-वितर्क नहीं था। यही कारण था कि आपने अत्यन्त विनय पूर्वक गुरुवर्य की आज्ञा शिरोधार्य की और व्रतों के पालन सम्बन्धी विशेष जानकारी स्वयं ग्रंथों का स्वाध्याय करके या विद्वानों से सम्पर्क करके प्राप्त की तथा गुरु द्वारा प्रदत्त व्रतों का निर्दोष रीत्या पालन करने लगे। यहीं से आपके व्रतीजीवन का प्रारम्भ हुआ।

चूंकि अब आप व्रती बन चुके थे अतः आपने अपने धर्मध्यान एवं स्वाभिमान पूर्ण जीवन में नौकरी को बाधक समझ कर नौकरी छोड़ दी। आजीविकोपार्जन के लिए आपने स्वतंत्र रूप से कपड़े की फेरी का कार्य प्रारम्भ किया। प्रातःकाल नित्य क्रियाओं से निवृत्त होकर जिनेन्द्र पूजन, स्वाध्यायादि आवश्यक कर्तव्यों को करके भोजनादि से निवृत्ति हो जाने पर मध्याह्नकाल के पश्चात् लगभग ३ बजे आप फेरी पर निकलते थे। कपड़ा बेचते हुए जब २–३ घंटे में आपको १ रुपया प्रतिदिन प्राप्त हो जाता था तो आप वापस घर आ जाते थे। आपकी सन्तोषवृत्ति से साथी लोग भी चकित थे। आपकी यह धारणा बन चुकी थी आजीविका चलाने के योग्य मुनाफा प्राप्त हो जाता है फिर दिन-भर व्यापार में क्यों रचा-पचा जावे। दोनों भाई-बहिनों के लिए उन दिनों में उतना ही काफी था। परिग्रह का संचय किसके लिये करना था। दोनों ही प्राणी व्रतीजीवन अङ्गीकार कर चुके थे। २–३ घन्टे के पश्चात् घर आकर आप अपना शेष समय स्वाध्यायादि में लगाते थे।

संयम की ओर बढ़ते कदम :

चूंकि उन दिनों दिगम्बर मुनिराजों का मंगल विहार उत्तर भारत में भी होने लगा था अतः गुरु दर्शन पाकर जनमानस अपना जीवन धन्य मानते थे। उन दिनों में जब कि मुनिराजों के दर्शन दुर्लभ थे तब यदि कोई ब्रह्मचारी भी आ जाते थे तो उनका पूर्ण सम्मान किया जाता था और बड़ी भक्ति पूर्वक उनसे कुछ आत्मोन्नति का मार्ग प्राप्त करने का प्रयास किया जाता था, किन्तु वर्तमान के बुद्धि प्रधान वितर्कणाओं से युक्त वातावरण में पलने वाला मानव साक्षात् दिगम्बर मुद्राधारी गुरुजनों के पास भी आने से भयभीत है, क्योंकि उसके दिमाग में तो अब तर्क-वितर्क की गंदगी बैठी है और वह संयम से कोसों दूर रहता है। उसे भय लगता है कि यदि संयमी मुनिराजों के पास जाऊंगा तो संयम की बात होगी और जीवन को संयमित करने की प्रेरणा दी जावेगी जो उसे इष्ट नहीं है। अस्तु !

जिन्हें आत्मोत्थान के लिए संयम अत्यन्त प्रिय था वे गुरुजनों के समागम में रहकर ही आत्म संतुष्टि करते थे। इसी के फलस्वरूप जब प० पू० आचार्य कल्प श्री चंद्रसागरजी महाराज का ससंघ चातुर्मास बड़नगर में था उस समय आप उनके चरण सान्निध्य में पहुंचे और स्वाध्यायादि के साथ-साथ गुरु सेवा का अवसर प्राप्त कर बडे आनंदित थे। अब चूंकि बहिन दाखांबाई और आपका निर्मल स्नेह एवं धर्म के प्रति अनुराग ही परिवार था अतः आप दोनों ही सदैव साथ-साथ गुरुजनों के समागम में जाते थे। चातुर्मास के मध्य आपने ब्रह्मचर्य प्रतिमा (सप्तम प्रतिमा) के व्रत अङ्गीकार कर लिये। आजीवन ब्रह्मचारी रहने का संकल्प तो आप पहले ही ले चुके थे अतः अब कोई दुविधा मन में नहीं थी। यह आपके संयमी जीवन का प्रथम चरण था, और अब चिरञ्जीलाल से ब्रह्मचारी चिरञ्जीलाल हो गये थे।

गृहत्याग एवं क्षुल्लकदीक्षा :

बड़नगर चातुर्मास के पश्चात् आचार्य कल्प श्री चन्द्रसागरजी महाराज इन्दौर नगरमें पधारे। आपकी छत्रछाया में ब्र० चिरंजीलालजी अपरनाम कजोड़ीमलजी अपने जीवन को दिन-प्रतिदिन उन्नत बनाने के लिये प्रयत्नशील थे। पू० श्री चन्द्रसागरजी महाराज ने इन्दौर नगर में धर्म प्रभावना करते हुए भी प्रसंगवश अपने आराध्य गुरुदेव परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज का आदेश प्राप्त करते ही इन्दौर नगर से विहार कर दिया था। उसी समय आप भी गृह त्याग करके संघ के साथ हो गये थे। बावनगजा, मांगीतुंगी आदि क्षेत्रों की वंदना करते हुए नंदगांव-कोपरगांव और कसाबखेड़ा नगरों में प्रभावना पूर्ण चातुर्मास आ० क० श्री चन्द्रसागरजी महाराज ने किये तथा इन नगरों के आस पास के ग्रामों में विहार करके धर्म प्रभावना करते हुए बालूज (महाराष्ट्र) में जब संघ पहुंचा तो महाराष्ट्र प्रान्त की जनता गुरु सान्निध्य प्राप्त कर हर्षित थी।

आपके मन में दीक्षा धारण करने की भावना अवश्य थी और आप अपनी बहिन से इस बात को कह भी चुके थे। आप दीक्षा प्राप्त न होने तक विभिन्न रसों का परित्याग भी करते रहते थे, किन्तु दीक्षा के लिए आपने गुरुदेव के समक्ष कभी प्रार्थना नहीं की। दीक्षा लेने के आपके विचार गुरुदेव के समक्ष अन्य लोगों के द्वारा पहुंच भी गये थे अतः गुरुदेव ने कहा कि कजोड़ीमलजी (चिरंजीलालजी) स्वयं आकर कहें तो मैं उनको दीक्षा दूं और आपके मन में यह भावना थी की यदि मुझमें योग्यता आ गई है तो स्वयं गुरुदेव दीक्षा लेने के लिए कहें तो मैं दीक्षा लूं। इस प्रकार गुरु-शिष्य के मध्य कुछ दिन वात्सल्यमय मानसिक द्वन्द्व चलता रहा। अन्ततः गुरु के समक्ष शिष्य की हार हुई और उन्होंने गुरुदेव के चरणों में दीक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की। प्रार्थना करते ही शुभ दिवस में आपको दीक्षा प्रदान की गई।

बालूज नगर की जनता के लिये वह अपूर्व आनन्द की मंगल बेला चैत्र शुक्ला सप्तमी वि०सं० २००१ थी, जिस दिन आपने क्षुल्लक दीक्षा प्राप्त की थी। दीक्षित नाम क्षुल्लक भद्रसागरजी रखा गया।

गुरु वियोग :

क्षुल्लक दीक्षा होने के पश्चात् आपने गुरुवर्य श्री चन्द्रसागरजी महाराज के साथ अडूल (महाराष्ट्र) में सर्व प्रथम चातुर्मास किया। चातुर्मास के पश्चात् गिरनारजी सिद्धक्षेत्र की वन्दना हेतु गुरुदेव ने ससंघ मंगल विहार किया। मार्ग में पड़ने वाले मुक्तागिरी, सिद्धवर कूट, ऊन-पावागिरी आदि क्षेत्रों की वंदना करते हुए बावनगजा सिद्धक्षेत्र पर पहुंचने के पश्चात् फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा वि० सं० २००१ में सिंह वृत्ति धारक गुरुवर्य श्री चन्द्रसागरजी महाराज का सल्लेखना पूर्वक स्वर्गवास हो गया। जन्म लेने के पश्चात् जिस प्रकार अल्पवय में ही आपको माता-पिता के वियोग का दुःख आया उसी प्रकार दीक्षा जीवन के लगभग ११ माह ८ दिन में ही पितृ-तुल्य तरण-तारण गुरुवर्य का वियोग भी सहना पड़ा।

पू० श्री चन्द्रसागरजी महाराज के स्वर्गवास के पश्चात् आप आ० क० श्री वीरसागरजी महाराज के चरण सान्निध्य में आ गये और गुरुवर्य के साथ क्षुल्लकावस्था में ६ चातुर्मास किये। इन वर्षों में आपने स्वाध्याय के बल पर आगम ज्ञान को वृद्धिगत किया। आपकी सदैव प्रसन्न मुद्रा से समाज में आनन्द रहता था। चूंकि आ० क० श्री चंद्रसागरजी की चरण सन्निधि में षोडश कलाओं से युक्त चन्द्रमा के समान आपका ज्ञान वैराग्योदधि वृद्धि को प्राप्त हुआ था अतः अब आप प्रतिक्षण महाव्रत प्राप्ति के लिये भावना करते रहते थे कि कब इस अल्प वस्त्र रूप परिग्रह को भी शीघ्र ही छोड़ूं।

संयम का दूसरा चरण :

प० पू० आ० क० श्री वीरसागरजी महाराज ने सुजानगढ़ में वि० सं० २००७ में ससंघ वर्षायोग

सम्पन्न किया। इसके पश्चात् संघ का मंगल विहार विभिन्न गांवों एवं नगरों में होता हुआ फुलेरा की ओर हुआ। फुलेरा नगर में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर तपकल्याणक के दिन आपने ऐलक दीक्षा ग्रहण की। इस समय आपके पास एक कौपीन मात्र परिग्रह शेष रह गया था। वि० सं० २००८ के वैशाख मास में होने वाले इस पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव में आपने ऐलक दीक्षा रूप उत्कृष्ट श्रावक के पद को भी प्राप्त तो कर लिया था, किन्तु मोक्षमार्ग में इतने से परिग्रह को भी बाधक समझकर निरन्तर आप यही भावना करते रहे कि शीघ्र ही दिगम्बर अवस्था को प्राप्त करूं। "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी" के अनुसार ६ माह के पश्चात् ही वह मंगलमय दिवस भी प्राप्त हुआ जिस दिन आपने मुनिदीक्षा ग्रहण की।

दिगम्बरत्व प्राप्ति :

फुलेरा पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के पश्चात् संघ ने आस-पास के ग्रामों में विहार किया और धर्म प्रभावना करते हुए वर्षायोग का समय निकट आ जाने पर पुनः फुलेरा नगर में वर्षायोग सम्पन्न करने हेतु मंगल प्रवेश किया। आषाढ़ शुक्ला १४ सं० २००८ को संघ ने वर्षायोग की स्थापना की। प०पू० आ० क० श्री वीरसागरजी महाराज के वात्सल्यामृत से वैराग्य का वह बीजांकुर वृक्ष रूप से पल्लवित हो रहा था जिसे चन्द्रसागरजी महाराज ने लगाया था। कार्तिकी अष्टाह्निका महापर्व का मंगल महोत्सव चल रहा था। आपने गुरुदेव से प्रार्थना की कि हे भगवन्! अब मुझे संसार समुद्र से पार कराने में समर्थ दैगम्बरी दीक्षा प्रदान करके मुझ पर अनुग्रह कीजिए। प्रार्थना स्वीकार हुई और अष्टाह्निका महापर्व के उपान्त्य दिवस कार्तिक शुक्ला १४ सं० २००८ के दिन आपको भगवती श्रमण दीक्षा प्रदान की गई। अब आप रत्नत्रय मार्ग के पूर्ण पथिक दिगम्बर मुनि धर्मसागरजी थे।

फुलेरा नगर का यह बड़ा सौभाग्य रहा कि यहां की समाज ने संयम की तीनों अवस्थाओं में आपके दर्शन किये। वि० सं० २००५ में क्षुल्लकावस्था में पहले आपके दर्शन प्राप्त किये ही थे और ऐलक एवं मुनि दीक्षा तो आपकी यहीं पर हुई थी।

तीर्थराज सम्मेदाचल की वन्दना :

फुलेरा नगर का वर्षायोग सम्पन्न होने के पश्चात् मार्गशीर्ष माह में प० पू० वीरसागरजी महाराज ने ससंघ तीर्थराज सम्मेदाचल की ओर मंगल विहार किया। पू० श्री वीरसागरजी महाराज इससे पूर्व भी अपने आराध्य गुरुदेव श्री आचार्य प्रवर शांतिसागरजी महाराज के साथ मुनि अवस्था में ही तीर्थराज की वंदना कर चुके थे। संघ मार्ग में पड़ने वाले ग्रामों तथा नगरों में अपने उपदेशामृत से धर्मप्रभावना करते हुए सम्मेदाचल की ओर बढ़ रहा था। मार्गस्थ राजगृही आदि अन्य सिद्धक्षेत्रों की वंदना भी संघ ने की। इस तीर्थ वंदना में नव दीक्षित मुनिराज धर्मसागरजी भी साथ थे।

जब कोई भी व्यक्ति अपना लक्ष्य निर्धारित करके उस ओर गतिमान रहता है तो गन्तव्य स्थान पर अवश्य पहुंचता है। संघ भी धीरे-धीरे अपने गन्तव्य स्थान तीर्थराज पर पहुंचा। आपने भी संघ के साथ अनन्त तीर्थंकरों की सिद्धभूमि उस अनादिनिधन तीर्थराज की वंदना करके परम आल्हाद का अनुभव किया। चूंकि संघ जब यहां पहुंचा था तब वर्षायोग का समय अत्यन्त निकट था अतः मधुवन से ईसरीबाजार आकर इस वर्ष का वर्षायोग संघ ने यहीं स्थापित किया।

इस प्रकार गुरुवर के साथ-साथ ही आपने विहार किया एवं उनके अंतिम समय तक उन्हीं के साथ रहे। वि० सं० २०१२ में आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज ने अपनी सल्लेखना के समय कुन्थलगिरी से अपना आचार्य पट्ट वीरसागरजी मुनिराज को प्रदान किया था तदनुसार वि० सं० २०१२ में ही जयपुर खानियां में वर्षायोग के समय विशेष समारोह पूर्वक चतुर्विध संघ ने आ० क० श्री वीरसागरजी महाराज को अपना

आचार्य स्वीकार किया। अब वीरसागरजी महाराज के ऊपर दोहरा भार था। और उन्होंने गुरु द्वारा प्रदत्त आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होकर उसे सफलता पूर्वक निभाया। आचार्य पद के पश्चात् भी २ वर्ष तक आपने खानियां जयपुर में ही चातुर्मास किये, क्योंकि आप शारीरिक रूप से अस्वस्थ थे और विहार करने की सक्षमता आप में नहीं थी।

एक और झटका गुरु वियोग का :

वि० सं० २०१४ का चातुर्मास जयपुर में ही सानन्द सम्पन्न हो रहा था कि इसी बीच आश्विन कृष्णा १५ को आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज का सहसा ही सल्लेखना मरण हो गया। आपको अभी दीक्षा लिये ६ वर्ष ही हुए थे कि आपको गुरु वियोगज अनिष्ट प्रसंग प्राप्त हुआ। आचार्य श्री वीरसागरजी का स्वर्गवास हो जाने के पश्चात् समस्त संघ ने उनके प्रधान शिष्य मुनिराज श्री शिवसागरजी महाराज को संघ का आचार्य बनाया।

गिरिनार सिद्धक्षेत्र की वंदना एवं संघ से पृथक् विहार :

अब संघ के आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज थे। आचार्य संघ ने गिरनार यात्रा के लिए मंगल विहार किया। चूंकि अब से १३ वर्ष पूर्व क्षुल्लक दीक्षा होने के पश्चात् आ.क. श्री चन्द्रसागरजी महाराज के साथ आपने गिरनारजी सिद्धक्षेत्र की वन्दना के लिए विहार किया था, किन्तु गुरुदेव का असमय में मध्य यात्रा में ही स्वर्गवास हो जाने से उस समय आप यात्रा नहीं कर पाये थे अतः उस समय का मनोरथ अब पूर्ण होता देख आपको प्रसन्नता थी। आपने भी संघ के साथ विहार करते हुए सिद्धक्षेत्र वंदना की और वहां से वापस लौटते समय ब्यावर नगर में संघ ने वर्षायोग का विचार किया। चूंकि वर्षायोग में अभी समय था अतः आपने संघस्थ एक और मुनिराज को साथ लेकर संघ से पृथक् विहार कर दिया और निकटस्थ आनन्दपुर कालू जाकर वर्षा-योग स्थापित किया था।

यहां से अगले दो चातुर्मास क्रमशः बीर (अजमेर) और बूंदी करने के पश्चात् बुन्देलखण्ड की यात्रा करने के लिये आपने दो मुनिराजों के साथ मंगल विहार किया। तीर्थक्षेत्रों की वन्दना करते हुए आपने उस प्रांत में ग्राम-ग्राम, नगर-नगर में अत्यन्त धर्म प्रभावना की। इतना ही नहीं वि० सं० २०१८-२०१९ व २०२० के तीन वर्षायोग भी आपने इसी प्रांत के क्रमशः शाहगढ़-सागर और खुरई नगर में किये। इन तीनों वर्षायोगों में धर्म की महती प्रभावना हुई तथा आपके सरलता आदि अनुपम गुणों के कारण सागर के कई विद्वान् आपसे प्रभावित भी हुए तथा आपके चरण सान्निध्य में व्रती जीवन भी प्राप्त किया। इन तीनों चातुर्मासों में दीक्षा समारोह (खुरई में) के अतिरिक्त सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि एक अजैन व्यक्ति जो कि भाटियाजी के नाम से विख्यात है, ने आपके उपदेशों से प्रभावित होकर कई स्थानों पर अपने स्वोपार्जित द्रव्य से सिद्धचक्र विधान भी करवाये एवं जैन तीर्थों की वंदना भी की। आपने महाराज श्री के आदर्श त्यागमय जीवन से प्रभावित होकर धर्मध्यान दीपक नाम पुस्तक के एक संस्करण का प्रकाशन भी करवाया।

मालवा प्रान्तीय तीर्थक्षेत्रों की वन्दना :

खुरई नगर में वर्षा योग सानंद सम्पन्न होने के पश्चात् आप सहित मुनित्रय ने मालवा प्रांत की ओर विहार किया तथा सिद्धवरकूट-ऊन पावागिरी-बावनगजा आदि तीर्थों की वन्दना की। इस यात्रा के मध्य पड़ने वाले ग्राम-नगरोंमें भव्य जीवों को उपदेशामृतका पान कराते हुए लेखक की जन्मभूमि (सनावद-म०प्र०) भी पहुंचे आपके उस प्रवास काल में मेरी (वर्धमानसागर की) आयु लगभग १३ वर्ष की होगी। आपका १५-२० दिवसीय वह प्रवास आज भी स्मृति पटल पर अंकित है। कल्पना भी नहीं की जा सकती थी उस समय कि इन महान् गुरुराज के चरण सान्निध्य में कालांतर में श्रमण दीक्षा प्राप्त करने का मंगलमय सुयोग प्राप्त होगा और मोक्ष-

मार्ग में रत्नत्रयाराधना का मार्गदर्शन प्राप्त होगा । मैं स्वयं विधि के इस विधान पर आश्चर्यान्वित हूं कि आपसे मेरा गुरु-शिष्य का सम्बंध स्थापित हुआ है । आप जैसे चारित्र मूर्ति-निस्पृह व्यक्तित्व करुणा सागर गुरुदेव को प्राप्त कर मेरा जीवन सफल हुआ । अस्तु !

बावनगजा सिद्धक्षेत्र की वंदना के पश्चात् आपने इन्दौर नगर की ओर विहार किया और वि० सं० २०२१ का वर्षायोग यहीं स्थापित किया । इस वर्षायोग में आपको सर्वप्रथम मुनिशिष्य की प्राप्ति हुई अर्थात् आपने सर्वप्रथम मुनिदीक्षा इसी चातुर्मास में प्रदान की । वर्षायोग के पश्चात् आपने राजस्थान प्रांत की ओर विहार किया तथा क्रमशः झालरापाटन (२०२२), टोंक (२०२३), बूंदी (२०२४) और बिजोलिया (२०२५) का चातुर्मास किया । झालरापाटन के वि० सं० २०२२ के वर्षायोग के सम्पन्न होने पर आप झालरापाटन के आस पास के ग्रामों में विहार करते हुए 'बासी' ग्राम में आए । आपके सान्निध्य में पंचकल्याण प्रतिष्ठा भी यहां सम्पन्न हुई थी । यहीं आपके चरण सान्निध्य में वीतराग प्रभु के प्रति मूल प्रेरणा स्रोत आपके गृहस्थावस्था की बहिन ब्र० दाखांबाई ने सल्लेखना पूर्वक अत्यंत शांत परिणामों से इस नश्वर शरीर का परित्याग कर स्वर्गारोहण किया था । आप प्रारम्भ से ही अति सहनशील एवं शांत परिणामी थीं । स्वयं आचार्य श्री उनके इन गुणों की प्रशंसा करते ही हैं, किंतु जिन्होंने भी दाखांबाई को देखा था वे सब उनके गुणों की प्रशंसा करते हुए ही पाये गए । टोंक और बूंदी के चातुर्मासों में क्रमशः क्षुल्लक और मुनि दीक्षाएं हुई । बिजोलिया के चातुर्मास में आप सहित ५ मुनिराज एवं एक ऐलकजी थे । टोंक-बूंदी और उससे पूर्व इन्दौर आदि नगरों में मुनिसंघ के नायक होने से आपको आचार्य पद प्रदान करने की भावना समाज ने व्यक्त की, किंतु सदैव आपने यही कहा कि "धर्मप्रभावना की दृष्टि से हम पृथक् विहार कर रहे हैं, हमें आचार्य पद नहीं लेना है, हमारे संघ के आचार्य शिवसागरजी महाराज विद्यमान हैं तथा दूसरी बात यह भी है कि आचार्य पद जैसे गुरुतर भार को ग्रहण करके मैं अपने धर्मध्यान में बाधा भी नहीं डालना चाहता हूं ।"

एक और वज्रपात :

वि० सं० २०२५ का बिजोलिया नगर में चातुर्मास सम्पन्न करके आपने श्री शांतिवीर नगर में होने वाले पंचकल्याणक महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए महावीरजी की ओर विहार किया । इसी महोत्सव में भाग लेने के लिये आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज अपने विशाल संघ सहित महावीरजी पहले ही पहुंच चुके थे । जब आप भी वहां पहुंचे और आचार्य श्री शिवसागरजी से मिले तो वह उभय संघ सम्मिलन का दृश्य अपूर्व था । वि० सं० २०१५ से पृथक् विहार के पश्चात् गुरु भाईयों का यह मिलन दूसरी बार था । इससे पूर्व भी आप राजस्थान प्रांत के उनियारा ग्राम में मिल चुके थे । प्रतिष्ठा महोत्सव से पूर्व ही आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज को फाल्गुन कृष्णा ७ सं० २०२५ को अचानक ज्वर ने घेर लिया और दिन-प्रतिदिन आपकी शारीरिक स्थिति गिरती ही चली गई । फाल्गुन कृष्णा १४ को कई लोगों ने दीक्षा ग्रहण करने हेतु आचार्य श्री के चरणों में प्रार्थना की थी । पंचकल्याणक के अंतर्गत तपकल्याणक के दिन यह दीक्षासमारोह होने का निर्णय था । प्रतिष्ठा फाल्गुन शुक्ला ६ से प्रारम्भ होने वाली थी । दीक्षा हेतु प्रार्थना करने वालों में मैं (वर्धमानसागर) भी सम्मिलित था । फाल्गुन कृष्णा अमावस्या को शिवसागरजी महाराज के स्वास्थ्य की स्थिति और भी गिरती रही । संघस्थ मुनिराज श्री श्रुतसागरजी एवं सुबुद्धिसागरजी महाराज ने आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज से पूछा कि "यदि आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं हो पाया और पाण्डाल में नहीं जा सकेंगे तो फाल्गुन शुक्ला ८ को होने वाले तपकल्याणक के अंतर्गत दीक्षा समारोह में दीक्षार्थियों को दीक्षा कौन प्रदान करेगा ?" उत्तर स्वरूप आचार्य श्री ने कहा कि "अभी आठ दिन शेष हैं तब तक तो मैं स्वयं ही स्वस्थ हो जाऊंगा और यदि नहीं हो सका तो मुनि श्री धर्मसागरजी महाराज दीक्षार्थियों को दीक्षा प्रदान करेंगे ।" धर्मसागरजी महाराज वहां उपस्थित मुनि समुदाय मे (आचार्य शिवसागरजी को छोड़कर) सबसे तपोज्येष्ठ थे । अमावस्या को मध्यान्ह ३ बजे आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज का सहसा स्वर्गवास हो गया । समस्त संघ में वातावरण शोकाकुल सा हो

गया, क्योंकि संघ ने कुशल अनुशास्ता आचार्य श्री को खो दिया था। स्वयं धर्मसागरजी महाराज ने भी निधि खो जाने जैसा अनुभव किया।

आचार्यत्व प्राप्ति :

चूंकि आचार्य श्री शिवसागरजी महाराजके स्वर्गवास से प्रतिष्ठा महोत्सव में उत्साह में कमी आ गई थी और दूसरा ज्वलंत प्रश्न यह था कि संघ के आचार्य कौन होंगे ? आठ दिनों की विशेष ऊहापोह के पश्चात् फाल्गुन शुक्ला ८/२०२५ को प्रभातकाल में संघस्थ सभी साधुओं ने एक स्वर से यह निर्णय किया कि अब आचार्य श्री शिवसागरजी के पश्चात् संघ के आचार्य का भार मुनिराज श्री धर्मसागरजी महाराज को प्रदान किया जावे। निर्णयानुसार तपकल्याणकके अवसर पर फाल्गुन शुक्ला ८के दिन ही आपको विशाल जनसमुदायके समक्ष चतुर्विध संघने आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। विधि का विधान ही कुछ ऐसा होता है कि जिस आचार्य पद को ग्रहण करने की आपने पूर्व में भी कई बार अनिच्छा प्रगट की थी वही आचार्य पद आपको स्वीकार करना पड़ा। आचार्य पद प्राप्त होने के पश्चात् उसी दिन आपके कर कमलों से (६ मुनि, २ आर्यिका, २ क्षुल्लक और १ क्षुल्लिका) ११ दीक्षाएं हुई। ये वे ही दीक्षार्थी थे जिन्होंने आचार्य श्री शिवसागरजी के समक्ष प्रार्थना की थी।

आचार्य पद प्राप्ति के पश्चात् महावीरजी क्षेत्रसे जयपुर की ओर विहार किया और गुरुदेव श्री वीरसागरजी महाराज के निषद्यास्थान की वंदन की। वि० सं० २०२६ का वर्षायोग आपने जयपुर शहर में किया। एक ओर जहां दीक्षा समारोह हुआ वहीं धार्मिक शिक्षा के लिए गुरुकुल की स्थापना एवं शहर में कई स्थानों पर रात्रि पाठशालाओं का संचालन भी हुआ। यहां आपके कर कमलों से ५ दीक्षाएं सम्पन्न हुई तथा आपके संघस्थ क्षु. योगीन्द्रसागरजी महाराज जिन्हें मुनि दीक्षा प्रदान कर दी गई थी का आपके चरण सान्निध्य में सल्लेखना पूर्वक स्वर्गारोहण हुआ था। वर्षायोग सानंद सम्पन्न होने के पश्चात् आपने ससंघ पद्मपुरा की ओर मंगल विहार किया, पद्मप्रभु भगवान के दर्शन करने के पश्चात् ग्राम-ग्राम मंगल विहार करके धर्मामृत की वर्षा करते हुए वि० सं० २०२७ का चातुर्मास टोंक नगर में स्थापित किया। इससे ४ वर्ष पूर्व आप मुनि अवस्थामें चातुर्मास कर चुके थे। इस समय आपके साथ ११ मुनि एवं १८-१९ आर्यिका थी। इस प्रकार विशाल संघ के आचार्यत्व का भार आप पर था जो कि अद्यप्रभृति है। टोंक से विहार करते हुए वि० सं० २०२८ का वर्षायोग अजमेर नगर में स्थापित किया। इस वर्ष भी धर्म की महती प्रभावना के साथ-साथ आपके करकमलोंसे ७-८ दीक्षाएं सम्पन्न हुईं थीं। इसके पश्चात् क्रमशः वि० सं० २०२९ (लाडनूं) और वि० सं० २०३० (सीकर) नगर में आपके ससंघ दो चातुर्मास हुए। सीकर वर्षायोग के पश्चात् आपने दिल्ली महानगर की ओर विहार किया।

भगवान महावीर का २५०० वां परिनिर्वाणोत्सव :

वि० सं० २०३१ तदनुसार सन् १९७४ में सम्पन्न होने वाले निर्वाणोत्सव में आपको विशेषरूप से आमंत्रित किया गया था और दिगम्बर सम्प्रदाय के परम्परागत पट्टाचार्य होने से आपका विशेष अतिथि के रूप में राष्ट्रीय समिति में भी नाम रखा गया था। निर्वाण महोत्सव की प्रत्येक गतिविधि में प्रायः आपसे विचार विमर्श किया जाता था। आपने सम्पूर्ण कार्यक्रमों में इस बात का सदैव ध्यान रखा कि दिगम्बर संस्कृति अक्षुण्ण बनी रहे। इसका कारण यह था कि इस महोत्सव में जैन धर्म के चारों सम्प्रदाय सम्मिलित हुये थे। महोत्सव पर समिति की ओर से प्रकाशित होने वाली भगवान महावीरस्वामी की जीवनी जो कि चारों सम्प्रदाय को मान्य होनी थी, जब आपके पास अवलोकनार्थ आयी तो उस पर आपने अपनी सहमति देनेसे इन्कार कर दिया, क्योंकि उसमें दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार कई स्थल अनुचित थे। महोत्सव में होने वाले ऐसे प्रत्येक कार्य में आपने अपनी सहमति देने से इन्कार कर दिया जिसमें वीतराग प्रभु महावीर और उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म की आसादना होने की सम्भावना थी। इसी कारण महोत्सव समिति के प्रधान कार्यकर्ता क्षुब्ध भी हुये और कहा कि आप हमें कुछ भी कार्य नहीं करने देना चाहते तो हम समिति में रहकर ही क्या करेंगे ? आपने अत्यंत गम्भीरता

से अपने मनोभावों को अभिव्यक्त करते हुए कहा कि "आप लोगों को क्षुब्ध होने की आवश्यकता नहीं है, मैं यह चाहता हूं कि दिल्ली, जो कि भारत की राजधानी है, उसमें होने वाले महोत्सव संबंधी प्रत्येक कार्यक्रम पर सारे देश की, समाज की दृष्टि लगी हुई है और सभी प्रमुख धर्माचार्यों के सानिध्य में होने वाले इस महोत्सव संबंधी कार्यक्रमों का अनुकरण सारा जैन समाज करेगा। अत: यहां ऐसा कोई भी कार्यक्रम मैं नहीं होने दूंगा जो दिगम्बर संस्कृति के प्रतिकूल हो और उसका सारा गलत प्रभाव देशभर में पड़े। इसके बावजूद भी आप लोग क्षुब्ध होते हैं और कार्य समिति से स्तीफा देते हैं तो दें, मैं तो संस्कृति के अनुकूल कार्यों में ही अपनी सहमति दे सकता हूं।"

इसप्रकार अत्यंत निर्भयता पूर्वक आपने दिगम्बर संस्कृति की रक्षार्थ कार्य किया और संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखा। आपकी इस कार्य प्रणाली को देखकर आपके दिल्ली पहुंचने से पूर्व जो लोग आपको दिल्ली नहीं जाने देना चाहते थे उन्होंने भी एक स्वर से यह स्वीकार किया कि आपके रहते हुए परम्परा एवं आगम की महती प्रभावना हुई एवं संस्कृति अक्षुण्ण बनी रही। इस वर्ष भी आपके कर कमलों से दिल्ली महानगरी में ८ दीक्षाएं सम्पन्न हुईं। दिगम्बर सम्प्रदाय की ओर से आचार्य श्री देशभूषणजी महाराज भी अपने संघ सहित इस महोत्सव में सम्मिलित हुये थे। उभय आचार्यों का वात्सल्य देखकर सारा समाज आनंद विभोर हो जाता था। महोत्सवमें मुनि श्री विद्यानंदजी महाराज भी उपस्थित थे और आपने भी उभय आचार्यों की भावनाओं के अनुकूल दिगम्बर संस्कृति की अक्षुण्णता के लिए दोनों आचार्यों से सदैव परामर्श प्राप्त करके ही प्रत्येक कार्यक्रम में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया था।

दिल्ली महानगर से ससंघ मंगलविहार करके आपने उत्तर प्रदेश की ओर प्रस्थान किया एवं गाजियाबाद मेरठ, सरधना आदि स्थानों पर धर्मप्रभावना करते हुए उत्तर प्रदेश के ऐतिहासिक तीर्थ हस्तिनापुर के दर्शन करने के लिए पदार्पण किया। हस्तिनापुर भगवान शांतिनाथ-कुंथनाथ-अरहनाथ की गर्भ-जन्म-तप और ज्ञान कल्याणक भूमि है। यहीं भगवान ऋषभदेव को सर्वप्रथम आहारदान राजा श्रेयांस ने दिया था। कौरव-पांडव की राज्यभूमि होने का गौरव भी इसी तीर्थक्षेत्र को प्राप्त है। यहीं पर महामुनि विष्णुकुमारजी द्वारा अकम्पनाचार्यादि ७०० मुनिराजों का उपसर्ग दूर हुआ था और रक्षाबन्धन पर्व का प्रारम्भ हुआ था। और अब आर्यिका ज्ञानमतीजी की दूरदर्शी सूझबूझ से आगम में वर्णित विशाल जम्बूद्वीप की रचना त्रिलोक शोधसंस्थान के माध्यम से हो रही है तथा इस संस्थान के अंतर्गत अन्य भी कई लोकोपकारी गतिविधियां सम्पन्न हो रही हैं।

वि० सं० २०३१ में जब आचार्य श्री यहां पधारे थे तभी यहां प्राचीन क्षेत्र कमेटी की ओर से पंच कल्याणक प्रतिष्ठा का आयोजन था। यहीं पर आपके चरण सान्निध्य में संघस्थ मुनिराज श्री वृषभसागरजी ने यम सल्लेखना ग्रहण की थी और संघ सान्निध्य में अत्यंत शांत परिणामों एवं पूर्ण चेतनावस्था में कषाय निग्रह करते हुए इस नश्वर शरीर का परित्याग कर उत्तर भारतीय समाज के समक्ष एक आदर्श उपस्थित किया था।

तीर्थ वंदना एवं सल्लेखना महोत्सव के पश्चात् आपने ससंघ उत्तरप्रदेश के सहारनपुर नगर की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में मुजफ्फरनगर आदि स्थानों पर धर्मप्रभावना करते हुए वर्षायोग के १-१½ माह पूर्व आप सहारनपुर पहुंचे। इस वर्ष (२०३२) का वर्षायोग आपने सहारनपुर में ही स्थापित किया था। वर्षायोग सम्पन्न होने के पश्चात् आपने पुन: मुजफ्फरनगर की ओर विहार किया। यहां के शीतकालीन त्रैमासिक प्रवास काल में संघस्थ दो मुनिराजों ने आपके चरणसान्निध्य में सल्लेखना पूर्वक समाधिमरण को प्राप्त किया। यहीं पर आपके कर कमलों से ११ दीक्षाएं सम्पन्न हुई। यहां से शामली कैराना-कांदला आदि ग्रामों में विहार करते हुए बड़ौत नगर में वि० सं० २०३३ का वर्षायोग सम्पन्न किया। कांदला में आ० क० श्री श्रुतसागरजी महाराज जो कि आपके गुरु भाई भी हैं आपके दर्शनार्थ राजस्थान प्रान्त से विहार करते हुए संघ में सम्मिलित हुए। बड़ौत चातुर्मास में भी वे साथ ही थे। बड़ौत चातुर्मास के पश्चात् ससंघ आपने दिल्ली महानगर तथा रोहतक-रेवाड़ी (हरियाणा प्रान्त) आदि की ओर विहार करके राजस्थान प्रान्त में पुन: प्रस्थान किया।

राजस्थान के प्रसिद्ध नगर मदनगंज–किशनगढ़ में वि० सं० २०३४ का वर्षायोग अभूत पूर्व धर्म प्रभावना के साथ सम्पन्न किया एवं वर्षायोग के पश्चात् अजमेर नगर की ओर प्रस्थान किया। अजमेर में शीतकालीन प्रवास व्यतीत कर आपने ससंघ ब्यावर की ओर मंगल विहार किया। साथ में आ० क० श्री श्रुतसागरजी महाराज थे वे अजमेर ही रुक गये, क्योंकि उन्हें अपने संघ में मिलना था जिसे छोड़कर वे आपके दर्शनार्थ उत्तरप्रदेश की ओर पहुंचे थे। ब्यावर के पश्चात् भीलवाड़ा होते हुए संघ भीण्डर (उदयपुर) पहुंचा। आपके ससंघ सान्निध्यमें पंचकल्याणक प्रतिष्ठा अत्यन्त प्रभावनाके साथ सम्पन्न हुई। इसी महोत्सव के अवसरपर शांतिवीर दिगम्बर जैन सिद्धांत संरक्षिणी सभा का नैमित्तिक अधिवेशन भी हुआ। सभा ने धर्म रक्षार्थ आपसे मार्गदर्शन भी प्राप्त किया। भीण्डर से उदयपुर के लिए विहार किया। वि० सं० २०३५ का वर्षायोग उदयपुर में सम्पन्न किया। इस वर्ष भी दो दीक्षाएं आपके कर कमलों से सम्पन्न हुईं। उदयपुर के वर्षायोग के पश्चात् उदयपुर सम्भाग के छोटे-छोटे ग्रामों में आपने मंगल विहार किया और इन ग्रामों में फैली कुरीतियों को दूर करने की प्रेरणा अपने उपदेशों में दी। कहीं-कहीं तो आपके उपदेशामृत से प्रेरणा पाकर जीर्ण-शीर्ण दशा में स्थित मंदिरों को जीर्णोद्धार करने का संकल्प समाज ने किया। विहार मार्ग में ऐसे ग्राम भी आए जहां इतने विशाल संघ को रहने की व्यवस्था भी नहीं बन पाती थी, आपसे लोगों ने निवेदन भी किया कि बड़े संघ के रहते ग्रीष्मकाल में आपको किन्हीं बड़े स्थानों पर विहार करना चाहिए ताकि संघ की व्यवस्था ठीक प्रकार से हो सके। प्राणी मात्र के कल्याण की भावना जो कि सदैव आपके हृदय में विद्यमान रहती है वह शब्दों में प्रगट हुई, आपने कहा कि "बड़े नगरों व ग्रामों में प्रायः साधु विचरते ही हैं, किंतु इन छोटे-छोटे ग्रामों में रहने वाले लोगों में व्याप्त अज्ञानान्धकार फिर कब दूर होगा ये लोग कब साधुओं का समागम प्राप्त करके आत्मकल्याण का मार्ग प्राप्त करेंगे? अतः थोड़ा कष्ट पाकर भी इन ग्रामों में विचरण करेंगे तो इन गांवों में निवास करने वाली समाज का भी तो कल्याण होगा।"

इस प्रकार छोटे-छोटे ग्रामों में मंगल विहार करते हुए आप सलुम्बर नगर में पहुंचे और समाज के विशेषाग्रह से आपने वि० सं० २०३६ का वर्षायोग यहीं स्थापित किया। उदयपुर सम्भाग में आपका यह द्वितीय चातुर्मास था। पूर्ववर्ती चातुर्मासों के समान ही इस वर्ष भी अत्यन्त धर्मप्रभावना के साथ यह वर्षायोग सम्पन्न हुआ। इसके पश्चात् सलुम्बर तहसील के आस पास के छोटे-छोटे ग्रामों में पुनः धर्मप्रभावना करते हुए वि सं० २०३७ के वर्षायोग के समय आप केशरियाजी (ऋषभदेवजी) पहुंचे और इस वर्ष का चातुर्मास यहीं स्थापित किया। शारीरिक दृष्टि से यह क्षेत्र आपके तथा संघस्थ प्रायः सभी साधुओं के लिये अनुकूल नहीं रहा क्योंकि इस वर्ष इस क्षेत्र में मलेरिया का अत्यधिक प्रकोप रहा और प्रायः सभी साधुओं को ज्वराक्रांत रहना पड़ा। रोग जनित उपसर्ग तुल्य इस अनिष्ट संयोगज दुःख को संघ ने अत्यंत प्रसन्नता के साथ सहन किया। इस वर्ष भी आपके कर कमलों से चार दीक्षाएं सम्पन्न हुई हैं। वर्षायोग समाप्ति के पश्चात् आप केशरियाजी के आस पास के ग्रामों में इस समय विहार कर रहे हैं।

इस प्रकार दीक्षा ग्रहण करके ३६ वर्षीय दीक्षित जीवन काल में आपने भारतवर्ष के राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात, उत्तरप्रदेश, महाराष्ट्र आदि प्रमुख-प्रमुख प्रान्तों में, नगरों एवं ग्रामों में मंगल विहार करते हुए अभूत पूर्व धर्मप्रभावना की एवं प० पू० आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज द्वारा आगम विहीत परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखा है।

सरलता की प्रतिमूर्ति :

गृहस्थ हों या साधु (अनगार) आत्मसाधना का प्रमुख आधार सरलता है, निष्कपटता है। आत्म-विशुद्धि के लिये सरलता एक अमोघ साधन है, सरल परिणामों से युक्त आत्मसाधना निर्मल-पवित्र होती है और साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। आचार्य श्री सरल भाव की ज्योतिर्मय मूर्ति हैं। आपके जीवन में कहीं छुपाव या दुराव वाली बात को स्थान नहीं है। इसी सरलता के कारण आप निर्भीक एवं स्पष्टवादी हैं। कथनी

और करनी की समानता वाले सद्‌गुरु इस संसार में अत्यन्त विरल हैं, आचार्य श्री भी कथनी और करनी की समानता से संयुक्त अद्‌भुत् योगीराज हैं।

आचार्य श्री इस युग के आदर्श संत हैं, संतजीवन की समग्र विभूतियां उनमें केन्द्रित हो गई हैं। शिशु का सा सारल्य, माता का कारुण्य, योगी की असम्पृक्तता से ओतप्रोत उनका जीवन है। हृदय नवनीत सा मृदु, वाणी में सुधा की मधुरता और व्यवहार में अनायास अपनी ओर आकृष्ट कर लेने वाला जादू ही है। आत्मनिष्ठा के साथ अशेष निष्ठा का निर्वाह करने वाले आचार्य श्री वास्तव में अनेकांत के मूर्तिमान उदाहरण हैं।

सिद्धान्त विरोधी प्रवृत्ति में असहिष्णुता :

आर्ष परम्परा के प्रतिकूल-सिद्धांत विरोधी प्रवृत्ति को आपने कभी भी सहन नहीं किया है। न तो आप स्वयं सिद्धांत विरुद्ध आचरण करते हैं और न किसी के सिद्धांत विरुद्ध आचरण को सहन ही करते हैं। भगवान महावीर के २५०० वें परि-निर्वाणोत्सव के प्रसङ्ग में ऐसे अवसर भी आये जब संस्कृति के विरुद्ध भी सभा में कार्यक्रमों के प्रमुख अतिथियों ने अपने वक्तव्य देने का असफल प्रयास किया, किंतु उस समय भी आपने पूर्ण निर्भीकता से उन सिद्धांत विरुद्ध बोलने वाले लोगों को अच्छी नसीहत देते हुए स्पष्ट शब्दों में सभा के मध्य ही सिंह गर्जना करते हुए कहा कि इनको हमारे धर्म सिद्धांतों के विरुद्ध बोलने का कोई अधिकार नहीं है। उस समय आपने यह संकोच कभी नहीं किया कि सभा में आने वाला मुख्य अतिथि केंद्रीय सरकार का मंत्री है या अन्य कोई। आप सदैव ही आर्ष परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने में प्रयत्नशील रहते हैं।

मन-वचन-कर्म की ऐक्य परिणति के मूर्तिमान :

विश्वमें तीन प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। सर्व प्रथम तो ऐसे व्यक्ति हैं जिनका हृदय बहुत सरल-मधुर और निश्छल प्रतीत होता है, किंतु हृदय की मधुरता वाणी में प्रगट नही होती है, मन का माधुर्य कर्म में भी नहीं उतर पाता है—उनके अन्तःकरण की सरलता वाणी में प्रगट नहीं हो पाती है। दूसरी कोटि के ऐसे व्यक्ति भी बहुत हैं जिनकी वाणी मिश्री के समान मधुर-सरस होती है, किंतु हृदय कटुता, विद्वेष, वैमनस्य संयुक्त है। तीसरे प्रकार के व्यक्ति भी विश्व में यत्किंचित् संख्या में मणिवत् प्रकाशमान हैं, उनकी वाणी मधुर, मन उससे भी मधुर, वाणी सरल-सरस और हृदय उससे भी सरल-सरस और पवित्र होता है। आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज का व्यक्तित्व इसी कोटि का है। महान् व्यक्तियों के मन-वचन-क्रिया में सदैव एकरूपता होती है और दुरात्मा इससे विपरीत होता है। आचार्य श्री का पावन जीवन मन-वचन और कर्मरूप निर्मल त्रिवेणी का संगम स्थल है अत: वह परम पावन जीवन्त तीर्थ है।

स्नेह-सौजन्य की मूर्ति :

आचार्य श्री का हृदय सरोवर स्नेह और सौजन्य से लबालब भरा हुआ है। जो भी व्यक्ति उनके सामने आता है, स्नेह और सौजन्य से अभिषिक्त हुए बिना नहीं रहता। राजा हो या रंक, श्रीमन्त हो या निर्धन, बालक हो या वृद्ध, नर हो या नारी, अनुरागी हो या विरोधी, निन्दक हो या प्रशंसक सभी पर समान भाव से स्नेह की पीयूष धारा बरसाने वाले आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज अनायास ही सबको अपना बना लेते हैं। प्राय: देखा जाता है कि जब कोई व्यक्ति साधारण से असाधारण स्थिति पर पहुंचता है तो वह साधारण व्यक्तियों से अपने आपको ऊंचा मानते हुए गर्वानुभूति करता है, किंतु आचार्य श्री में ऐसा नहीं है।

कुछ लोगों का कहना है कि श्रद्धा अज्ञान की सहचारिणी है, किंतु आचार्य श्री ने अपने व्यक्तित्वबल से जहाँ साधारणजन की श्रद्धाका अर्जन किया है वहीं समाज के विद्वज्जन भी आपके सरल-शांत-सौम्य एवं

निस्पृह व्यक्तित्व से प्रभावित हुए हैं। आचार्य श्री की स्मृति शक्ति भी अद्भुत है, आपको जिह्वा पर जैन दर्शन के संस्कृत-प्राकृत भाषा से सम्बद्ध अनेकों श्लोक विद्यमान हैं और आप निरन्तर उठते-बैठते उनका पारायण करते रहते हैं।

प्रवचन शैली :

आचार्य श्री की धर्मदेशना प्रणाली अपने ढंग की निराली है, उनके प्रवचनों में न तो दार्शनिक स्तर की सूक्ष्मता है और न ही अध्यात्मवाद की अज्ञेय गहराईयां है। लौकिकजनों को अनुरञ्जितकर लौकेषणा से अनुप्राणित भाषा का प्रयोग भी उनके प्रवचनों में नहीं होता है। उनके हृदय की निर्मलता-सरलता और विरक्तता उनकी वाणी में प्रकट होती है, क्योंकि आगमानुसार संयम से परिपूर्ण उनका प्रवचन तथा उसके अनुरूप ही उनका जीवन भी संयमित है। आपके प्रवचनों में खड़ी हिन्दी में राजस्थानी (मारवाड़ी) भाषा का पुट अत्यन्त मधुर लगता है। आगम समर्थित वैराग्योत्पादक आपकी वाणी ने अनेकों भव्यात्माओं को प्रभावित किया है जिसके फलस्वरूप वे अपने आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर हैं। कितने ही पापानुगामी जीवों ने पाप पथ का परित्याग करके धर्ममार्ग को अपनाया है। आप अपने प्रवचनों में सदैव कहा करते है कि वास्तविक आनंद की सिद्धि भोग में नहीं है त्याग में है और व्यक्ति का जीवन भी समीचीन त्याग से उन्नति पथ पर अग्रसर होता है। भोग आत्म पतन और त्याग आत्मोन्नति का राजपथ है। आचार्य श्री आत्मविद्या के सजग साधक परमयोगी हैं उनकी आत्मसाधना का प्रत्यक्ष रूप उनके दर्शन मात्र से प्रतिबिम्बित होता है।

आचार्य श्री मेरे दीक्षागुरु हैं अत: मैंने उन्हें असाधारण व्यक्तित्व सम्पन्न एवं अनुपम चारित्रनिधि आदि विशेषणों से अलंकृत किया हो ऐसी बात नहीं है जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश, चन्द्रमा की शीतलता और जलधि का गाम्भीर्य प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है उसी प्रकार महापुरुषों के व्यक्तित्व को निखारने की आवश्यकता नहीं होती वह स्वतः निखरित होता है। महापुरुष जिस ओर चरण बढ़ाते हैं, वही मार्ग है; जो कहते है, वही शास्त्र है; और जो कुछ करते हैं वही कर्तव्य बन जाता है। महापुरुष तीन प्रकार के है— १. जन्म जात २. श्रम या योग्यता के बल पर ३. कृत्रिम, जिन पर महानता थोपी जाती है। आचार्य श्री जन्म जात महापुरुष तो हैं ही, किन्तु योग्यता के बल पर बने महापुरुष भी उन्हें कहा जावे तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। आपके विशाल व्यक्तित्व की प्रामाणिकता में सबसे बड़ा कारण है आपका निर्दोष आचार।

ऐसे स्व-पर कल्याणकारी महापुरुष के चरणों में मानव का शीश स्वयं झुक जाता है और उसकी हृत्तंत्री से स्वतः ही यह भावना मुखर उठती है कि ऐसे युग पुरुष सदियों तक मानव मात्र का पथ प्रदर्शन करते रहें और अपने आध्यात्मिक बल से मूर्छित नैतिकता में प्राण प्रतिष्ठा करते रहें। इन्हीं भावनाओं के साथ करुणा के असीम सागर, आर्ष परम्परा के निर्भीक संरक्षक, अध्यात्मवाद के साक्षात् आचरण कर्ता, अतिसरल, सत्य के तेजः पुञ्ज, छल कपट से अनभिज्ञ, उच्चकोटि के सादगी प्रिय, क्रोध से सहस्रों कोस दूर, स्याद्वाद के प्रबल समर्थक, सरलता के मूर्तिमान, निस्पृह व्यक्तित्व जन-जन के वंद्य आचार्य श्री के परम पावन चरणों में मुझ अल्पज्ञ शिष्य के शत-सहस्र प्रणाम।

आचार्य श्री की कुण्डली का

□ वि० रत्न० आ० १०५ विशुद्धमति माताजी
[प पू आचार्य १०८ श्री शिवसागरजी की सुशिष्या]

पार्श्व पद्माम्बुज प्रणमि कर, द्वादशांग जिन मात,
शान्ति-वीर-शिव-सूरि को, नमूं झुका कर गात।
धर्मसिन्धु आचार्य का जन्म काल सुखकार,
लिखूं जन्म फल मुदित हो, मति विशुद्ध करतार।।

तीर्थंकर प्रभु का जब जन्म होता है तब चतुर्निकाय के देव स्वयमेव उल्लसित होते हुये आनन्द मनाते हैं, एवं भगवान के गुणों का कीर्तिगान करते हैं। वैसे ही प० पू० आचार्य १०८ धर्मसागरजी महाराज का जब बालक रूप में जन्म हुआ, तब ज्योतिषी देवों में हर्षोल्लास की लहर दौड़ गई और वे सब एकत्रित होकर जन्म जात बालक के भविष्य पर प्रकाश डालने के लिए उद्यत हुए; यह देख, काल (समय) ने कहा कि हे ज्योतिषी देवों ! यह कार्य सर्व प्रथम मेरा है क्योंकि मेरे द्वारा ही आप सबको स्थायित्त्व प्राप्त होता है। काल की बात सुन ज्योतिषी देव, कुछ समय के लिए शान्त हो गये, तब व्यवहार काल ने सम्वत्सर, अयन, युग एवं मास आदि को आदेश दिया कि आप सब निम्नलिखित समय में उत्पन्न होने वाले बालक के भावी जीवन वृत्त पर प्रकाश डालो।

जन्म पत्रिका :

वि० सं० १९७० पौष शुक्ला पूर्णिमा सोमवार ७।१, पुनर्वसु नक्षत्र २७।३९, वैधृत योग १६।२०, बव करण, सूर्योदयादिष्टं २४।१०, सूर्याधिष्ठित राशि ८।२८।३२। ५६, लग्न स्पष्ट २।१८।१४।२६ तत् समये पुनर्वसु न. का चतुर्थ चरण, जन्म स्थान गम्भीरा, समय ५।२१ संध्या को रेल्वे टाइम। स्थानीय सूर्योदय रेल्वे ७।२१, पुनर्वसु सर्व रक्ष ५८।५३, रक्ष ५५।२४, विशोत्तरी गुरु दशा वर्ष १६ तन्मध्ये भुक्तवर्ष १५।०।१७, भोग्य वर्ष ०।११।१३। जन्म तारीख १२।१।१९१४ ई०।

काल का आदेश प्राप्त कर सम्वत्सरादि ने अपनी समीक्षा प्रारम्भ कर दी।

जन्म चक्रम्
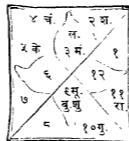
क्रोधन नामक सम्वत्सर—················सिंह–तुल्य–पराक्रमः ।
ब्राह्मणः परजीवी च, क्रोध–संवत्सरे नरः ॥

इस क्रोधन सम्वत्सर में जन्म लेने वाला यह बालक सिंह सदृश पराक्रमी एवं निर्भय, आत्माचरण में प्रयत्न शील तथा परजीवी अर्थात् गोचरी वृत्ति से आहार ग्रहण करने वाला होगा । अर्थात् साधु बनेगा ।

द्वापर युग—"तेजस्वी च लसन्नात्मा, नरमध्ये महाजनः"

में जन्मा यह बालक बड़ा तेजस्वी, प्रफुल्लित हृदय वाला एवं मनुष्यों में प्रधान बनेगा ।

उत्तरायण—उत्तरायणे नरो जातः, सर्व–शास्त्र–विशारदः ।
धर्मार्थ–काम–शीलाश्च, गुणवांश्च सुरूपवान् ॥

में जन्मा यह बालक सर्व शास्त्रों का अद्वितीय ज्ञानी, धर्मादि पुरुषार्थ में अनुरक्त, शील एवं गुणों से विभूषित तथा सुन्दर आकृति वाला होगा ।

पौष मास—शूर उग्र–प्रतापी च, पितृ–देव–विवर्जितः ।
ऐश्वर्य–जन्मकारी च, पौषमासे नरो भवेत् ॥

में जन्मा यह बालक शूरवीर, तेजस्वी, प्रतापी देवता–प्रतर में अभक्ति अर्थात् वीतराग सर्वज्ञ देव एवं आत्म देव की निश्चल भक्ति करने वाला और ऐश्वर्य अर्जन करने वाला होगा ।

शुक्ल पक्ष—पूर्णचन्द्र–निभः श्रीमान् सोद्यमो बहुशास्त्रवित् ।
कुशलो ज्ञान–सम्पन्नः शुक्लपक्षे भवेन्नरः ॥

में जन्मा यह बालक पूर्णिमा के चन्द्र समान सुन्दर, उद्यमी, बहुशास्त्रों का ज्ञाता, कुशल एवं ज्ञान सम्पत्ति से युक्त होगा ।

पूर्णातिथि—पूर्णातिथौ धनैः पूर्णो, वेद–शास्त्रार्थ–तत्त्ववित् ।
सत्यवादी–शुद्ध–चेता, विज्ञो भवति मानवः ॥

में जन्मा यह बालक धन से पुरित, समस्त शास्त्रों का तत्त्व–सारांश जानने वाला, सत्यवादी, विशुद्ध अन्तःकरण (हृदय में जरा सा भी कालुष्य न रखने) वाला एवं विद्वान होगा ।

चन्द्रवार— मतिमान् प्रियवाक्, शान्ता नरेन्द्राश्रय–जीविकः ।
समसुख–दुःखः श्रीमान्, सोमवारे भवेत्पुमान् ॥

यह बालक बुद्धिमान, प्रिय बोलने वाला, धैर्यवान् आचार्य परम्परानुसार चलने वाला और सुख–दुःख कांच–कंचन, शत्रु–मित्र, जन्म–मरण एवम् लाभ–अलाभ में समता रखने वाला होगा ।

पुनर्वसु—दान्तः सुखी सुशीलो························।
अल्पेन च संतुष्टः पुनर्वसौ जायते मनुजः ॥

पुनर्वसु नक्षत्र में उत्पन्न यह बालक इन्द्रियों का दमन करने वाला, सुखी, सुन्दर, शांत स्वभावी और थोड़े से ही प्रसन्न होने वाला होगा ।

विष्कम्भ योग—विष्कम्भजातो मनुजो, रूपवान् भाग्यवान् भवेत् ।
································महाबुद्धि–विशारदः ॥

यह बालक सुन्दर, भाग्यवान्, महा बुद्धिवान् एवं सर्व शास्त्रों में विशारद होता है।

बव करण—बवाख्ये करणे जातो मानी धर्मरतः सदा।
शुभ-मङ्गल-कर्मा च, स्थिरकर्मा च जायते॥

यह बालक स्वाभिमानी, सर्वदा धर्म कार्य में रत, शुभ, मंगल और स्थिर कार्य करने वाला होगा।

देव गण—सुन्दरो दान-शीलश्च मतिमान् सरल. सदा।
अल्प-भोक्ता महाप्राज्ञो नरो देवगणे भवेत्॥

यह बालक सुन्दर, दान देने वाला, बुद्धिमान् सरल परिणामी, अल्पाहारी और महाज्ञानी होगा।

मिथुन लग्न—मिथुनोदय-सञ्जातो, मानी स्वजन-वल्लभः।
त्यागी सुधीः धनी प्राज्ञः दीर्घसूत्रोऽरिमर्दकः॥

मिथुन लग्न में उत्पन्न यह बालक स्वाभिमानी, स्वजन प्रिय (यही कारण है कि जो इतने मुनि-आर्यिका साथ रह रहे हैं), त्यागी उत्तम बुद्धि वाला, आत्म गुणों का धनी, विद्वान, दीर्घसूत्री एवं अभ्यन्तर शत्रुओं का दमन करने वाला होगा।

कर्क राशि—कार्यकारी धनी शूरा, धर्मिष्ठो गुरु-वत्सलः।
शिरोरोगी महाबुद्धिः, दैवज्ञः कृत्य-विनमः॥
प्रवास-शीलो..................................सुमित्रकः।
अनाशक्तो गृहे-वक्रः कर्क-राशौ भवेन्नरः॥

कर्क राशि में उत्पन्न यह बालक करने योग्य कार्यों को करने वाला, धनी, बलवान, धर्मवान् (धर्मगुरु) गुरु के प्रति अगाढ भक्ति वाला, महाबुद्धिवान्, ज्योतिष शास्त्र को जानने वाला, अपने कर्तव्य को समझने वाला, यत्र तत्र विहार करने वाला, अच्छे मित्रों वाला, विषय भोगों में अनासक्त और अपने घर के लोगों की अपेक्षा विलक्षण (त्याग मार्ग की) बुद्धि वाला होगा।

इस प्रकार जब सम्पूर्ण काल चक्र इस जन्म पत्रिका पर अपनी अपनी समीक्षा का दिग्दर्शन कर चुके तब ज्योतिर्मण्डल के उदीयमान सत्ताईस नक्षत्र और नव ग्रह एकत्रित हुए, उनमें सर्व प्रथम नक्षत्र बोले कि प्रत्येक नक्षत्र के चार-चार चरण (पाद) होते हैं, इसलिये हम सबके कुल (२७×४) १०८ चरण है, इनमें से हम नौ-नौ चरणों का समर्पण कर मेष, वृष आदि नाम वाली बारह राशियों का प्रतिष्ठापन करते हैं, यही बारह राशियां अपने अपने स्वामी सूर्य-चंद्र आदि के साथ इस होनहार बालक के भावी जीवन पर प्रकाश डालेंगी। इसके तुरन्त बाद ही मिथुन राशि ने आगे बढकर कुण्डली के तनु भवन पर अपना अधिकार जमा लिया, पश्चात् धन भवन में कर्क, पराक्रम भवन में सिंह आदि बारह राशियां बैठ गई।

प्रथम भाव मे स्थित मिथुन राशि कह रही है कि मेरा प्रभाव वायु राशिगत है, मेरा स्वामी बुध जलग्रह है जो जलग्रही शुक्र के साथ बैठकर मुझे पूर्ण दृष्टि से देख रहा है, अतः जातक का शरीर कुछ स्थूल होगा। लग्न में मेरा प्रभाव रहने से जातक दाता, छिपे हुए मंत्रो वाला, श्रेष्ठ शीलवाला, राजा सदृश, अध्ययन प्रेमी, चतुर परोपकारी, धैर्यवान् योगी और वृद्धावस्था मे सुख प्राप्त करने वाला होगा।

दूसरे भाव में स्थित कर्क राशि बोली कि - परिश्रम जितना होगा उसके अनुरूप फल कुछ कम मिलेगा तथा २०, २६, २७, ३३, ३४, ३६, ४४, ४५, ५३ और ५४ वें वर्ष विशेष महत्त्वपूर्ण होंगे। सिंह राशि कहती है कि तृतीय भाव मे मेरा प्रभाव रहने से जातक अद्भुत साहसी होगा, बाल्यावस्था मे शिक्षा का अभाव, परन्तु

पीछे उत्तम विद्या की प्राप्ति, महत्व पूर्ण चिंतन शक्ति और काव्य में विशेष रुचि होगी। चतुर्थ भाव गत कन्या राशि बोली—जातक सद्‌गुणी, विवेकवान् और ३६ वें वर्ष से विशेष सुखानुभव करने वाला होगा। पंचम भाव गत तुला राशि बोली—जातक सुशील, नम्र, अध्ययन प्रेमी एवं प्रभावकारी होगा। षष्ठ भाव गत वृश्चिक राशि बोली—जातक अपने कठिन पुरुषार्थ के बल पर वर्तमान एवं भविष्य को अपने अनुकूल बना लेने वाला होगा।

सप्तम भाव गत धन राशि बोली—जातक को सुन्दर, स्वाभिमानी एवं धनाढ्य घराने की स्त्री से सम्पर्क कराऊंगी। शुक्र ग्रह भी इसी भावना को लेकर सप्तम भाव में जाकर बैठा था, किंतु सूर्य बुध और मंगल ने प्रथम ही गुप्त मंत्रणा कर योजना बना ली थी कि इस जातक को संसार के चक्र में नहीं फंसाना है, अतः सूर्य ने सप्तम में बैठकर शुक्र का प्रभाव ग्रस्त कर दिया तथा बुध और मंगल ने विवाह की परिस्थिति ही पैदा नहीं होने दी, कारण कि यदि शुक्र और बुध एक साथ सप्तम में बैठे हों और उन पर पाप ग्रह की पूर्ण दृष्टि हो तो विवाह का योग नहीं बनता।

जिस भाव को राहु और व्ययेश देखते हों मानव मन उस भाव से उदास और पृथक रहता है। यहां नवम स्थित राहु लग्न को पूर्ण देख रहा है, तथा व्ययेश शुक्र भी पूर्ण देख रहा है, इसलिए आचार्य श्री ने शारीरिक सुखों को नश्वर और अति तुच्छ समझ कर शरीर को तपस्या की भेंट कर दिया। झूठे आडम्बर एवं झूठी मान प्रतिष्ठा के प्रलोभनों का त्याग कर आत्मा को अमरत्व प्रदान कराने वाले मार्ग पर चलने के लिए बाध्य कर दिया।

अष्टम भाव गत मकर राशि कहती है कि जातक की समाधि परमात्मा का चिन्तन करते हुए साधु समुदाय के मध्य होगी तथा विशेष व्याधि के बिना ही देहावसान होगा। अष्टम भाव में गुरु अवस्थित है, चन्द्र उसे पूर्ण दृष्टि से देख रहा है तथा शनि की राशि है, अतः अनशन व्रत पूर्वक उत्तम समाधि का योग है, चन्द्र कह रहा है कि मैं अपनी अमृत दृष्टि से समाधि के समय मन को एक दम प्रफुल्लित रखूंगा।

आचार्य श्री का जन्म दिन में हुआ है, तथा चन्द्रमा से अष्टम स्थान में पापग्रह राहु बैठा है अतः मध्यमायु का योग बनता है।

लग्नेश द्विस्वभाव राशि में एवं अष्टमेश स्थिरराशि मे स्थित हैं अतः दीर्घायु योग बनता था किंतु अष्टमेश शनि है इसलिए दीर्घायु की कक्षाहानि होकर मध्यमायु योग ही बनता है।

केन्द्रांक, त्रिकोणांक, केन्द्रस्थग्रहाक एवं त्रिकोणस्थग्रहांक साधन से और लग्नायु साधन से मध्यमायु योग बनता है। चन्द्रवार का जन्म भी ८४ वर्ष की आयु कह रहा है यह भी मध्यमायु ही है। द्वादशांश लग्नानुसार भी मध्यमायु योग ही बनता है।

नवम भाव गत कुम्भराशि कह रही है कि यह जातक बाल्यावस्था में कष्ट पायेगा तथा प्रारम्भ में शिक्षा अल्प होगी। जीवन के २८ वे वर्ष से समय अनुकूल बनेगा। ३० वें वर्ष से भाग्य साथ देने लगेगा तथा ३६ वें वर्ष से आगे के सभी वर्ष सफल होंगे। इसको निरन्तर यात्राएँ होती रहेंगी, जीवन के मध्यकाल से प्रसिद्धि प्राप्त होगी, तथा ४५ वें वर्ष के बाद से ख्याति-लाभ प्राप्ति का योग है। वृद्धावस्था सुखमय व्यतीत होगी।

दशम भाव गत मीन राशि कह रही है कि जातक समाज से सम्मान प्राप्त, नीतियुक्त कार्य करने वाला एवं उच्चपदासीन (उच्च पद प्राप्त करने वाला) होगा।

ग्यारहवें भाव गत मेष राशि कह रही है कि जातक घोर परिश्रमी होगा। इसकी बाल्यावस्था सामान्य स्तर की होगी। २८ वें वर्ष से उन्नति का स्तर प्रारम्भ होगा। अग्रज कम होंगे। यह जातक स्वतन्त्र चिन्तन, सही निर्णय लेने की क्षमता एवं योग्यता के बल पर स्वयं अपने आप अपनी प्रगति करेगा।

१२ वें भाव गत वृष राशि कह रही है कि जातक का प्रारम्भिक जीवन संघर्ष मय होगा । ३० वें वर्ष से जीवन स्तर वृद्धिगत होगा । सामाजिक क्षेत्र में सम्मान प्राप्त होगा । जातक बुरे व्यसनों से दूर रहेगा, इसका जीवन संयमी और सच्चरित्री होगा । व्यक्ति कर्मठ और साहसी होगा ।

इस प्रकार राशियों की समीक्षा समाप्त हो जाने के बाद नव ग्रहों ने अपना विवेचन प्रारम्भ किया । सर्व प्रथम मंगल ग्रह बोला कि मैं क्रूर स्वभावी, हठवादी और अग्नितत्त्व ग्रह हूं । सुख भवन, सुखेश, सप्तम भवन सप्तमेश, अष्टम भवन एवं लग्नेश को पूर्ण दृष्टि से देख रहा हूं, अत: मातृ-पितृ सुख, कौटुम्बिक सुख, सम्पत्ति सुख, वाहन सुख एवं स्त्री को आदि लेकर सर्वलौकिक सुखों से वंचित रखूंगा । तथा वाहन पति बुध पृथ्वी तत्त्व है उससे मेरा दृष्टि सम्बन्ध एवं सहवास सम्बन्ध है इससे मैं जातक को अनेक जनपदों एवं बीहड़ स्थानों की पद यात्राएँ कराऊँगा तथा कठोर भूमि, फलक या घास की शय्या पर सुलाऊंगा । षष्ठ और लाभ भवन का स्वामी होकर मैं लग्न में बैठा हूँ अत: करीब २८ वर्ष के बाद शनै: शनै: धैर्य, स्वाभिमान, कीर्ति, यश, प्रतिष्ठा आदि अनेक गुणों की प्राप्ति भी कराता रहूँगा ।

चन्द्र ग्रह कह रहा है कि मैं स्वगृही होकर धन भवन में बैठा हूँ, अत: जातक को विशुद्ध चित्त, सज्जन, रूपवान्, मनस्वी, बहुपरिवार युक्त, उत्तम मित्रों का स्नेह भाजन एवं ज्योतिष विद्या का ज्ञाता तो बनाता रहूँगा, किंतु इस उत्तम बालक को मैं सांसारिक सुख (धनादि) देने में असमर्थ हूँ, कारण कि भाग्येश शनि व्यय स्थान में बैठकर अपनी पूर्ण दृष्टि अर्थात् आँख के इशारे से मुझे सांसारिक सुखादि देने का निषेध कर रहा है, केवल इतना ही नहीं शनि और गुरु दोनों मुझे देख रहे हैं, मैं भी गुरु को देख रहा हूँ, गुरु शनि को, मंगल गुरु को और राहु मंगल को देख रहा है अर्थात् इन सबने आपस में एक साथ दृष्टि सम्बन्ध स्थापित कर मुझे-मन को (चन्द्र मन का द्योतक है) बाल्यावस्था से ही वैराग्य भाव से अविभावित कर दिया है ।

ज्योतिषाचार्यों का मत है कि जिस जातक की कुण्डली में मंगल, गुरु, राहु, शनि एवं चन्द्र का आपस में सम्बन्ध होता है वह त्यागी, योगी एवं अपने पंथ का निर्माता होता है ।

गुरु ग्रह कह रहा है कि मैं अष्टम गृह में नीच राशि पर अवश्य बैठा हूं किंतु द्वितीय धन भाव को उच्च दृष्टि से देख रहा हूं अत: दूज के चंद्र सदृश जातक की पदोन्नति करता रहूगा । केवल मात्र इतना ही नहीं अपितु नीच राशि स्थित मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि शनि और शुक्र के सहयोग से जातक को अपने समय का धर्म चक्रवर्ती बना कर चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर महाराजजी की पट्टावली में खड़ा कर पूजा—प्रतिष्ठा कराऊंगा; क्योंकि मेरी अधिष्ठित राशि मकर का स्वामी शनि है, शनि की उच्च राशि तुला, जिसका स्वामी शुक्र केन्द्र में बैठा है जिससे चक्रवर्ती योग बन रहा है । यथा—

चक्रवर्ती योग—नीचस्थितो जन्मनि यो ग्रहः स्यात्तद्राशिनाथश्च तदुच्चनाथः ।
भवेत् त्रिकोणे यदि केन्द्रवर्ती राजा भवेद्-धार्मिक-चक्रवर्ती ।।

इस प्रकार बुध, शुक्र, शनि, सूर्य, राहु, केतु आदि ग्रहों ने धूम, परिवेश, केतु, व्यतिपात एवं इंद्रचापादि उपग्रहों ने तथा अधियोग सिंहासन योग, अनफा, वोशि, बुधादित्य, कुलदीपक (गुरु अपवादी है), छत्र योग (इसमें भी मात्र गुरु अपवादी है), शंख योग, भेरी योग (गुरु अपवादी), तृतीयेश चतुर्थेश योग एवं चतुर्थेश पंचमेश आदि योगों ने अपने अपने कार्य निर्धारित कर जन्म जात बालक के भावी जीवन पर प्रकाश डाल कर माता-पिता आदि सभी कुटुम्ब को प्रफुल्लित किया । विस्तार भय से सबका विवेचन नहीं किया जा रहा है ।

महादशा, अन्तर दशा, प्रत्यान्तर दशा, सूक्ष्मान्तर दशा एवं प्राणान्तर दशा के माध्यम से वर्ष माह दिन एवं घड़ी पल पर्यन्त तक का फलादेश निकाला जा सकता है । वार्षिक मासिक एवं दैनिक कुण्डली से एवं अष्टक वर्ग से गोचर फलादेश देखा जा सकता है । तथा अंक विद्या अंग्रेजी जन्म तारीख के माध्यम से फलादेश

कहती है। जैसे आचार्य श्री का जन्म १२-१-१९१४ ई० को हुआ अत: आपका मूलांक ३ और भाग्यांक एक का अंक है, इसके आधार से भूत-भावी जीवन की घटनाओं को ज्ञात किया जाता है।

जैसे चतुर कृषक एक दाना बीज के फल से भण्डार भर सकता है उसी प्रकार विद्वान ज्योतिषी एक जन्म पत्रिका के फलादेश से पूरा शास्त्र लिख कर जीवन की प्रत्येक घटित-अघटित घटनाओं का बोध करा सकता है। जैसे मिट्टी घड़े की कर्त्ता है वैसे ग्रह चक्र मानव के भाग्य का कर्त्ता नहीं है किंतु जैसे दीपक अच्छे बुरे पदार्थों का तथा प्रशस्त-अप्रशस्त मार्ग का प्रकाशक है उसी प्रकार ग्रह चक्र आदि शुभाशुभ भाग्य फल का तथा उसके समय का प्रकाशक है। इस प्रकाश के माध्यम से विवेकी मानव सावधान हो जाता है और सत् पुरुषार्थ द्वारा अशुभ को शुभ रूप में परिणमन करा सकता है।

मुझे ज्योतिष विद्या का ज्ञान नहीं है, फिर भी जैसे कक्षा का अज्ञानी विद्यार्थी अपनी स्लेट पर उल्टे-सुल्टे क ख ग आदि लिख कर प्रसन्नता पूर्वक अपने गुरु को दिखाता ही है, उसी प्रकार मुझ अल्पमति ने आद्यगुरु परम पूज्य प्रात: स्मरणीय पट्टाधीशाचार्य १०८ श्री धर्मसागर महाराजजी की जन्म पत्रिका का संक्षिप्त फलादेश लिखा है। विद्वदजन इसकी अशुद्धि को निकाल कर शुद्ध करके ही इसे देखने की कृपा करें कारण कि यह मेरा प्रथम प्रयास ही है।

आचार्य श्री के पावन कर कमलों में सविनम्र समर्पित.......................

आचार्य श्री की कुण्डली में गज केशरी योग

□ ब्र० श्री धर्मचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य (संघस्थ)

आचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज का जन्म विक्रमी सम्वत् १९७० पौष शुक्ला १५ पूर्णिमा सोमवार तदनुसार १२ जनवरी १९१४ सायं रेल्वे स्टेशन टाइम ५-२१ पर पुनर्वसु नक्षत्र चतुर्थ चरण में कर्क राशि व मिथुन लग्न में हुआ है। गुरु दशा भोग्य १ वर्ष ५ मास २५ दिन सं० १९७२।२।२३ तक। धर्म स्थान (नवम भाव) के स्वामी शनि की राशि में चन्द्र लग्न के धर्मेश गुरु स्थित है गुरु की राशि में सूर्य लग्न के धर्मेश सूर्य और "भावात् भावम्" के अनुसार धर्म पति शुक्र हैं, मंगल की दृष्टि है, इस तरह तीनों लग्नों के धर्म द्योतक ग्रहों का पूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गया है। शनि गुरु का लग्न के आस पास दृष्टि प्रभाव है, मंगल लग्न में है, सूर्य, बुध शुक्र की दृष्टियां हैं, लग्नेश बुध भी इस योग में शामिल हो गया है इस तरह धर्मद्योतक ग्रहों का सम्बन्ध और इन सब ग्रहों का लग्न से सम्बन्ध होना यह स्पष्ट संकेत था कि एक महान धार्मिक सन्त का उदय हुआ है। धर्मेश शनि और गुरु का वाणी (द्वितीय) स्थान पर पूर्ण दृष्टि प्रभाव इस बात का संकेत था कि यह प्राणी धार्मिक वाणी बोलने वाला अर्थात् धर्म के विषय पर बोलने वाला होगा। शनि के प्रभाव से कम बोलने वाला पर वाणी स्थान मंगल, केतु के मध्य होने से दिल की गहराईयों को छूने वाली प्रभावशाली वाणी होगी। शनि अपनी राशि को देख रहा है "यो यो भाव स्वामी युतों दृष्टों वा तस्य तस्यास्ति वृद्धि" के अनुसार धर्मस्थान का स्वामी शनि बहुत बली हो गया है। शनि तात्विक ज्ञान मनन शीलता, कार्य परायणता, आत्म संयम, धैर्य,

दृढ़ता, गम्भीरता, चारित्र शुद्धि, विचार शीलता एवं कार्य क्षमता का प्रतीक है । बृहस्पति और शुक्र उत्तम स्वभाव, उदारता, शान्ति, भक्ति, अहिंसा, एवं स्नेह, स्वच्छता, परख बुद्धि, कार्य क्षमता इत्यादि गुणों का विकास करने वाले ग्रह है । सूर्य, प्रभुता, आत्मविश्वास, आत्मनियन्त्रण विचार और भावनाओं का सन्तुलन एवं सहृदयता का प्रतीक है ।

द्वितीय स्थान पर अपनी राशि में स्थित राहु का प्रभाव लिए हुए शनि की दृष्टि और द्वितीय भाव का पाप मध्यत्व में होना शिक्षा प्राप्ति में वाच्यक योग है पर प्रबल बुद्धि स्थान और गुरु द्वारा भावना स्थान पर शुभ ग्रहों के प्रभाव ने इनको दयालु, महान विचारक विविध भाषाओं का ज्ञाता महान त्यागी, तपस्वी, संयमी और सहन शील बना दिया है । द्वितीय स्थान में चन्द्र स्व गेही है, शनि राहु के प्रभाव ने इनको धन, माया, पारिवारिक जंजाल से विरक्त कर दिया ।

धर्म स्थान के स्वामी शनि ने इनके जीवन पर क्रान्तिकारी प्रभाव डाला है । शनि, राहु, सूर्य और व्ययेश मिलकर पृथकता जनक कार्य करते हैं । बारहवां स्थान भोग से सम्बन्ध रखता है और सातवां स्थान स्त्री भाव होने से दुनियादारी से सम्बन्ध रखता है, भोग स्थान में शनि राहु का प्रभाव लिए हुए स्थित है और गुरु की दृष्टि द्वारा सूर्य और व्ययेश शुक्र का प्रभाव है, सातवे स्थान पर शुक्र द्वारा शनि का प्रभाव है और सूर्य सातवें भाव में ही स्थित है, स्वयं शुक्र स्त्री का कारक ग्रह होकर शनि सूर्य के प्रभाव में है, चतुर्थ पति बुध भी इसी स्थान पर पृथकताजनक ग्रहों के प्रभाव में है अत: पृथकताजनक ग्रहों के प्रभाव ने इनको भोग, जन्म स्थान, दुनियांदारी से पृथक् कर दिया और इस महान संत ने गृह त्याग करके आजीवन ब्रह्मचारी रहने का निर्णय किया । इस तरह धर्म स्थान के स्वामी शनि ने अपना प्रभाव दिखा कर इनको महान संत बना दिया । वैसे देखा जाये तो एक संत की कुण्डली में राज्य, ऐश्वर्य देने वाले योगों की खोज करने की आवश्यकता नहीं है, फिर भी कुछ योगों का वर्णन करना अप्रासंगिक नहीं होगा । अमला योग, गज केशरी योग, पाराशरीय राज योग, निच भंग राज योग इत्यादि योगों ने इनको मेधावान व यशस्वी बनाया है और ऊंचेपद पर प्रतिष्ठित किया है । ऊंचे योग किसी ना किसी रूप मे प्राणी मात्र पर अपना प्रभाव तो दिखाते ही हैं, इसमें शंका की कोई बात नहीं है । मंगल के साथ मिलकर केतु भी मंगल जैसे ही कार्य करता है ।

बारहवां स्थान अन्तिम स्थान होने से मोक्ष स्थान माना गया है, इस स्थान में धर्म पति शनि का होना और मोक्ष देने वाले ग्रह गुरु का प्रभाव शुभ संकेत है ।

सं० २००० में लग्नेश बुध की दशा और राहु अन्तर में आचार्यजी ने क्षुल्लक दीक्षा ली । राहु पर किसी ग्रह का प्रभाव नहीं है इसलिए राहु ने धर्मेश शनि के फल को ही प्रकट किया ।

वि० सं० २००८ केतु दशा केतु अन्तर में आचार्यजी ने मुनि दीक्षा ली केतु पर शनि का केन्द्रीय प्रभाव और आस पास गुरु का प्रभाव है, अत: शनि और गुरु के फल को प्रकट किया । सं० २०२५ में आचार्य पद प्राप्त हुआ । इस समय शुक्र दशा में गुरु का अन्तर चल रहा था । गुरु दशम पति है । दशम भाव ऊंचाई का द्योतक है इसीलिए इस भाव को राज्य भाव कहा गया है । इसीलिये इनको गुरु अन्तर में यश व सबसे ऊंचा पद प्राप्त हुआ । सं० २०३५।२।२३ से सं० २०४१।२।२३ तक आचार्यजी की सूर्य दशा चल रही है । सं० २०३७ ३।११ (२८ जुलाई १९८०) से सं० २०३८।०।२९ (१३ मई १९८१) तक गुरु का अन्तर चल रहा है । जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं गुरु ऊचाई का द्योतक है । अत: इस समय इनका मान, सम्मान, यश बढ़ेगा । सं० २०३८ (१३ मई १९८१) से सं० २०३९।१९८२ तक शनि का अन्तर चलेगा । शनि धर्म स्थान का स्वामी है । नवम भाव यात्रा व तीर्थ दर्शन से सम्बन्ध रखता है, अत: इनको आध्यात्मिक सफलता मिलेगी, देश की लंबी यात्रा होगी, तीर्थ दर्शन करेंगे, पश्चात् सं० २०४० (१ मार्च १९८३) तक बुध का अन्तर चलेगा । जनता से विशेष सम्पर्क रहेगा, ज्ञान की विशेष अनुभूति होगी, जनता को मार्मिक उपदेश देंगे ।

✡
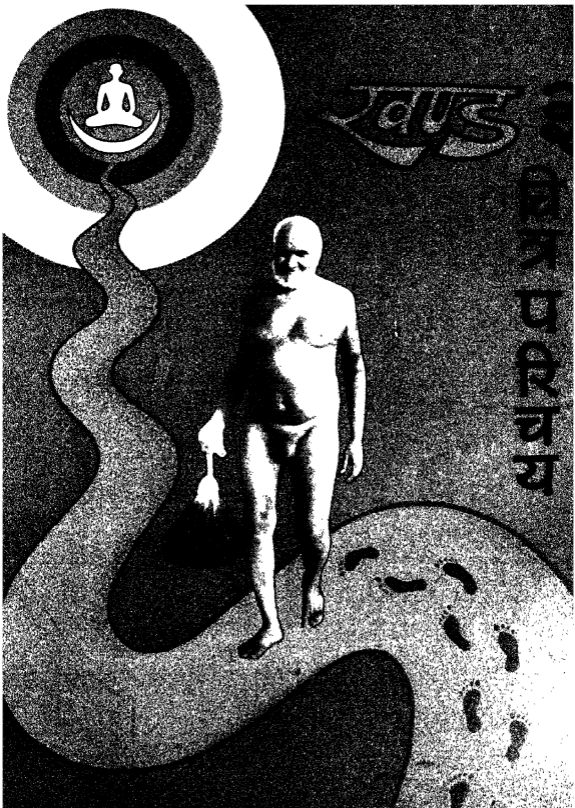
आचार्यश्री १०८ धर्मसागरजी महाराज विभिन्न मुद्राओं में

↑ चर्चा मुद्रा मे

↓ अध्ययनरत

↑ अध्ययनरत

↓ प्रसन्न मुद्रा में

आचार्यश्री १०८ धर्मसागरजी महाराज विभिन्न मुद्राओं में

← भ्रमण करते हुए

↓ प्रवचन करते हुए अन्य मुनिराजो के साथ

आचार्य देशभूषण जी के साथ ↑

प्रवचन के लिए जाते हुए →

आचार्यश्री १०८ धर्मसागरजी महाराज विभिन्न मुद्राओं में

↑ आहार के लिए शुद्धि

↑ आहार के पूर्व भगवान के दर्शन

↓ आहार के लिए विहार की मुद्रा

↓ आहार ग्रहण करते हुए

आचार्यश्री १०८ धर्मसागरजी महाराज विभिन्न मुद्राओं में

आहार के पश्चात वापसी →

अध्ययन में लीन ↓
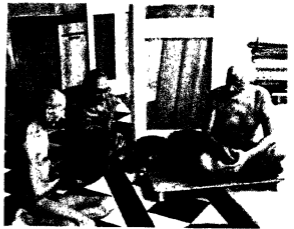
↑ अन्य मुनिगणों के साथ शंका समाधान

← विहार करते हुए

❖ विभिन्न मुद्राओं में आचार्य श्री ❖
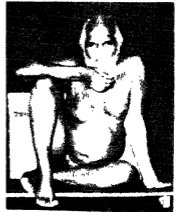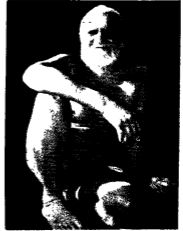
❖ विभिन्न मुद्राओं में आचार्य श्री ❖

❖ विभिन्न मुद्राओं में आचार्य श्री ❖

विभिन्न मुद्राओं में आचार्य श्री

❖ विभिन्न मुद्राओं में आचार्य श्री ❖

वि० सं० २००५ में फुलेरा नगर में वीरसागरजी महाराज ससंघ

। बाएं आर्यिका एवं क्षुल्लिकाएं द. ऊपर बाएं से—मुनि आदिसागरजी, आचार्य श्री वीरसागरजी, क्ष सिद्धसागरजी क्ष शिवसागरजी
नीचे बाएं से—ब्र० राजमलजी, क्षु० धर्मसागरजी, ब्र० चांदमलजी चूड़ीवाल, ब्र० पं० भूरामलजी…… …… …

गुरुदेव के सान्निध्य में अन्तिम वर्षा योग के अवसर पर

बैठे प्रथम पंक्ति बाएं से—मुनि श्री वर्धमानसागरजी, आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी, गुरुदेव आचार्य श्री वीरसागरजी मुनि श्री शिवसागरजी, मुनि श्री धर्मसागरजी (वर्तमान आचार्य) मुनि श्री पद्मसागरजी, मुनि श्री जयसागरजी

द्वितीय पंक्ति बाएं से—क्षु० श्री चिदानन्दसागरजी ………… क्षु० शीतलसागरजी,…………, क्ष० सुमतिसागरजी, … …… .. ………, क्ष० सन्मतिसागरजी

चित्र परिचय

विशाल जन समुदाय के समक्ष मुनि दीक्षा के संस्कार करते हुए
स्व० आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज (वि० सं० २००८)

ऐलक श्री धर्मसागरजी मुनि दीक्षा के अवसर पर कोपीन उतार कर फेंकते हुए
वि० सं० २००८, फुलेरा नगर में

सन १९६२ में अपने दीक्षा गुरु स्व. आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के समाधि स्थल खानियां जयपुर में ससंघ

प्रथम पंक्ति–बाएं से—मुनि श्री ऋषभसागरजी सन्मतिसागरजी संयमसागरजी, अजितसागरजी, आचार्य श्री, श्रुतसागरजी, सुपार्श्वसागरजी, श्रेयाससागरजी, बोधसागरजी।

द्वितीय पंक्ति–बाएं से—मुनि श्री दयासागरजी, महेन्द्रसागरजी सम्भवसागरजी, अभिनन्दनसागरजी, वर्धमानसागरजी, यतीन्द्रसागरजी, शीतलसागरजी, निर्मलसागरजी।

बैठे हुए–बाएं से—क्षु. गुणसागरजी योगीन्द्रसागरजी, भूपेन्द्रसागरजी, सुमतिसागरजी, बुद्धिसागरजी, वृषभसागरजी।

चित्र परिचय

आचार्य पद के पश्चात् आचार्य श्री अपने विशाल मुनि संघ के साथ अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी में

सन १९७७ में मदनगंज–किशनगढ़ के वर्षायोग में संघस्थ साधुगणों के साथ आचार्य श्री एवं श्रुतसागरजी महाराज
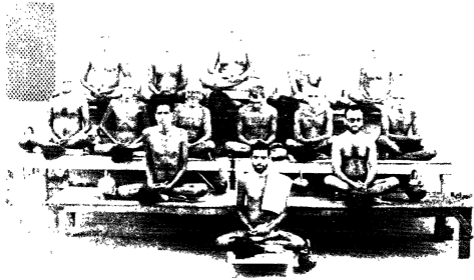
प्रथम पंक्ति–बाएं से—मुनि महेन्द्रसागरजी, निर्मलसागरजी, आचार्य श्री, आ० क० श्रुतसागरजी, संयमसागरजी।
द्वितीय पंक्ति—मुनि विपुलसागरजी, कीर्तिसागरजी, मल्लिसागरजी, सम्भवसागरजी, गुणसागरजी, पूर्णसागरजी
तृतीय पंक्ति—मुनि आगमसागरजी एवं मुनि वर्धमानसागरजी, क्षु. सुज्ञानसागरजी

स्व० आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के स्वर्गवास के तृतीय दिन निषद्यावन्दन क्रिया करते हुए ससंघ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज (वि० सं० २०२५ शान्तिवीर नगर में)

सिद्ध क्षेत्र गिरिनार यात्रा के अवसर पर स्व० आचार्य श्री शिवसागरजी के साथ आचार्य श्री (दाएं) एवं चतुर्विध संघ

जिनेन्द्र प्रभु की वेदी के ठीक पास में खड़ी हुई आचार्य श्री की भगिनी ब्र० दाखबाई

चित्र परिचय

आचार्य श्री के ६५ वें
जन्म दिवस पर
पौष शुक्ला पूर्णिमा को
अजमेर नगर में
भक्त समूह द्वारा की जारही
मंगल आरती का
अभूतपूर्व दृश्य

जाप्यरत आचार्य श्री

मासोपवासी क्षपकराज मुनि श्री सुपार्श्वसागरजी को
स्तोत्र पाठ श्रवण कराते हुए एवं सम्बोधित करते हुए
आचार्य श्री (सन् १९७६, मुजफ्फर नगर में)

सामाजिक गतिविधियों पर आचार्य श्री से सामयिक चर्चा करते हुए
सरसेठ भागचन्दजी सोनी, अजमेर

१५० वर्ष के इतिहास में सर्वप्रथम ऐतिहासिक रथयात्रा के साथ ससंघ आचार्य श्री धर्मसागरजी एवं आ० क० श्री श्रुतसागरजी वि० सं० २०३४, अजमेर नगर में

आचार्य श्री की ६५ वी जन्म जयन्ती का दृश्य मुजफ्फर नगर

चित्र परिचय

अजमेर नगर के वि० स० २०२८ के चातुर्मास मे ऐतिहासिक नसिया मे आदीश्वर प्रभु के पादमूल मे वर्षायोग स्थापना करते हुए ससघ आचार्य श्री

ाा मे प्रवचन करते हुए मुनि श्रेयाससागरजी पास ही विराजित आचार्य श्री एव केशलोच करते हुए श्रुतसागरजी महाराज

आचार्य श्री का वह यशस्वी दक्षिण हस्त जिसके द्वारा २६ मुनिराजको तथा अनेक आर्यिका–क्षुल्लक–क्षुल्लिकाओ को दीक्षा प्रदान की गई है।

२५०० वे निर्वाणोत्सव की ऐतिहासिक धर्मसभा मे आचार्य श्री धर्मसागरजी, आचार्य श्री देशभूषणजी, मुनि श्री विद्यानन्दजी एव सुशीलकुमारजी
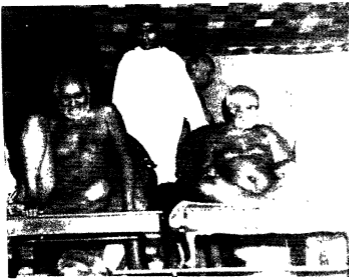
२५०० वे निर्वाणोत्सव की
धर्मसभा मे
आचार्य श्री धर्मसागरजी एव
आचार्य देशभूषणजी महाराज

भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली
महानगर के
ऐतिहासिक लाल मन्दिर स्थित
सभागार मे ससघ विराजमान
आचार्य श्री

चित्र परिचय
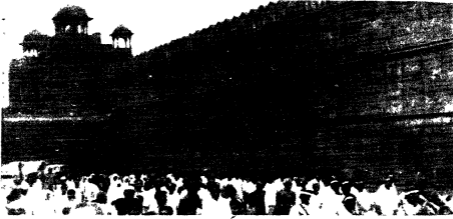
भारत की राजधानी दिल्ली स्थित ऐतिहासिक लाल किला मैदान की धर्म सभा मे ससंघ जाते हुए आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज

दिल्ली नगर में श्रुत पचमी समारोह में आचार्य युगल

आचार्य श्री को ग्रन्थ भेंट करते हुए साहू शान्तिप्रसादजी, समीप ही विराजमान आचार्य श्री देशभूषणजी महाराज

दिल्ली नगर मे २५०० वे निर्वाणोत्सव वर्ष मे मुनि दीक्षा प्रदान करते हुए आचार्य श्री

२५०० वें
परिनिर्वाणोत्सव के सम्बन्ध में
आचार्य श्री
धर्मसागरजी महाराज से
परामर्श लेते हुए
मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज

बड़ौत नगर में
वर्षायोग के लिए विशाल
स्वागत जुलूस के साथ
ससंघ आचार्य श्री
नगर प्रवेश करते हुए

वि० सं० २०१७ में
सागर चातुर्मास के अवसर पर
विद्वद्वर्ग एवं मुनि संघ
मध्य में आचार्य श्री तथा
मुनि श्री सन्मतिसागरजी
एवं मुनि श्री पद्मसागरजी,
क्षुल्लक विजयसागरजी
एवं पूर्णसागरजी

चित्र परिचय

उत्तर प्रदेश के शाहपुरा नगर में ससंघ आचार्य श्री सन् १९७५

प्रथम पंक्ति बाएं से–मुनि बुद्धिसागरजी, अभिनन्दनसागरजी, संयमसागरजी, आचार्य श्री, सुपार्श्वसागरजी, बोधसागरजी, सम्भवसागरजी, भूपेन्द्रसागरजी

द्वितीय पंक्ति बाएं से–मुनि भद्रसागरजी, कीर्तिसागरजी, गुणसागरजी चारित्रसागरजी, विनयसागरजी, विजयसागरजी

तृतीय पंक्ति—ब्र० धर्मचन्द्रजी शास्त्री, क्षु० सुरत्नसागरजी, ऐलक वैराग्यसागरजी, क्षु निर्वाणसागरजी एवं ब्र सुगनचंदजी

आचार्य पद के पश्चात अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी के वार्षिक मेले पर आचार्य युगल
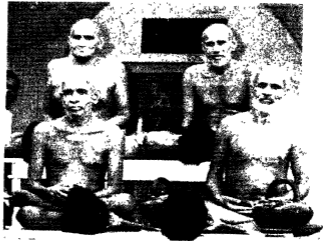
ऊपर—बाएं से आचार्य श्री धर्मसागरजी एवं आचार्य श्री विमलसागरजी

नीचे—मुनि श्री धनसागरजी एवं मुनि श्री अरहसागरजी

वि० सं० २०२३ में टोंक नगर (राज०) के वर्षायोग के अवसर पर दीक्षा समारोह में ऐलक एवं क्षुल्लक दीक्षा प्रदान करते हुए आचार्य श्री

मदनगंज (किशनगढ़) चातुर्मास में आचार्य श्री धार्मिक शिक्षा के लिए प्रोत्साहन वर्धन के साथ बालकों को धार्मिक पुस्तकें प्रदान करते हुए

किशनगढ़ चातुर्मास के अवसर पर आचार्य श्री के सम्मुख विनीत भाव से बैठे मुनि श्री वर्धमानसागरजी

युवा पीढ़ी को मार्गदर्शन प्रदान करते हुए आचार्य श्री

लाडनूं चातुर्मास के अवसर पर धर्मोपदेश देते हुए आचार्य श्री

चित्र परिचय

मुनि अवस्था में शिष्य समुदाय के साथ
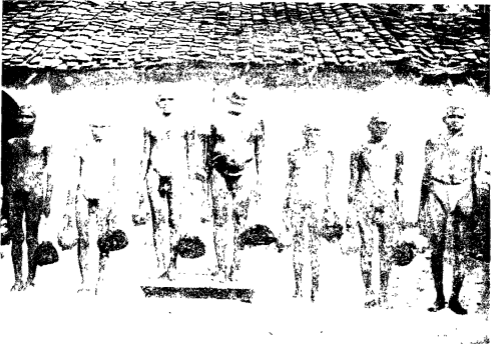
बाएं से– मुनि श्री दयासागरजी, मुनि श्री संयमसागरजी, मुनि श्री भव्यसागरजी, आचार्य श्री, मुनि श्री बोधसागरजी, मुनि श्री निर्मलसागरजी, ऐलक महेन्द्रसागरजी

आचार्य युगल मुनिवृंदों के मध्य

बैठे हुए—बाएं से–मुनि वर्धमानसागरजी, आचार्य श्री धर्मसागरजी-ज्ञानसागरजी मुनि विद्यासागरजी
खड़े—बाएं से–मुनि अभिनन्दनसागरजी, दयासागरजी, महेन्द्रसागरजी, निर्मलसागरजी, नेमिसागरजी.
संयमसागरजी, भूपेन्द्रसागरजी, बुद्धिसागरजी

सहारनपुर वर्षायोग की समाप्ति पर नवीन पिच्छिका परिवर्तन के समय युवक श्री विनोदकुमारजी को आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत प्रदान करके पुरानी पिच्छिका आशीर्वाद स्वरूप देते हुए आचार्य श्री

सन् १९७८ में
ससघ विराजित आचार्य श्री
ब्यावर नगर मे

लाडनूं चातुर्मास के समय शिष्य–प्रशिष्यों के मध्य आचार्य श्री

दिनगंज मे आहार ग्रहण करते हुए आचार्य श्री एवं आहार देते हुए भक्त जन

किशनगढ चातुर्मास मे सल्लेखना रत मुनि श्री भूपेन्द्रसागरजी को महामन्त्र श्रवण कराते हुए आचार्य श्री

आहार ग्रहण की मुद्रा मे आचार्य श्री एव श्रावक वृंद
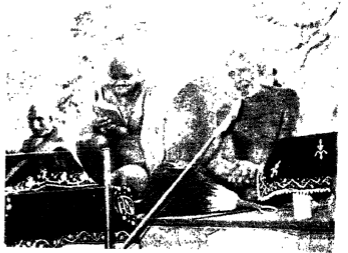
सन् १९७८ मे अजमेर नगर स्थित सुभाषपार्क मे आचार्य श्री एव प्रवचनरत आ० क० श्री श्रुतसागरजी महाराज
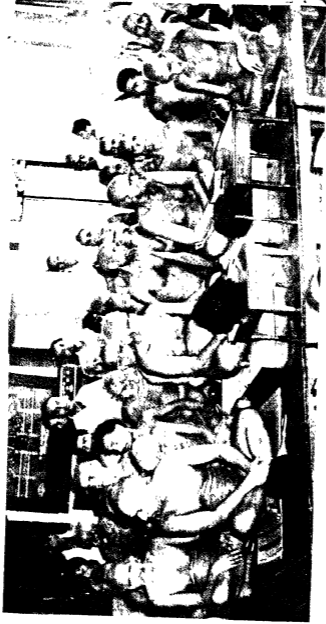
श्री दि० जैन लाल मंदिर दिल्ली में विराजमान आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज, आचार्य श्री देशभूषणजी महाराज, मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज तथा समस्त संघस्थ साधु वर्ग

चित्र परिचय

श्री दि० जैन नवयुवक मंडल कलकत्ता के सदस्यगण
आचार्य श्री के चरणों में

इन्दौर में आचार्य श्री का भव्य स्वागत
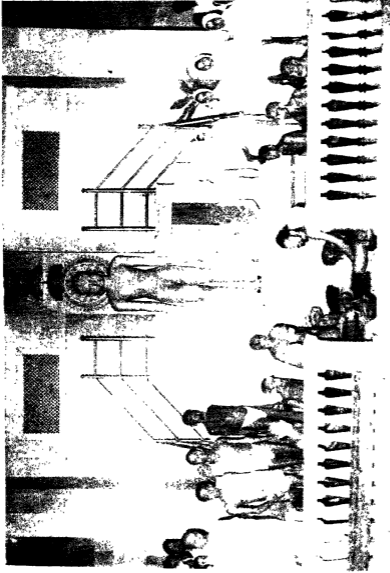
श्री शान्तिनाथ दि० जैन मंदिर मल्हारगंज इन्दौर में
ससंघ आचार्य श्री

चित्र परिचय

परम तपस्वी आचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज

आचार्य श्री अपने शिष्य समुदाय के साथ
वि० स० २०२१ में

धर्मदेशना की मुद्रा में
आचार्य श्री

स्वाध्याय रत आचार्य श्री

प्रवचन रत आचार्य श्री

खण्ड-४

स्मृति

स जयतु गुरुवर्यः

□ आर्यिका श्री ज्ञानमतीजी

[स्व० आचार्य श्री वीरसागरजी की शिष्या]

[अनुष्टुप् छन्दः]

श्रीशांतिसागराचार्य-संतति स्वमणिसमम् ।
श्रीधर्मसागराचार्यं, संस्तवीमि त्रिशुद्धितः ।।१।।

मरुस्थले सुविख्याते, राजस्थाने प्रदेशके ।
गम्भीरानामग्रामोऽस्ति, धर्मनिष्ठैर्जनैर्भृतः ।।२।।

खण्डेलवालजातीयो, छाबड़ागोत्रजो वणिक् ।
बख्तावरमलो नामा, तत्रासीत् धर्मवत्सलः ।।३।।

पत्न्युमरावबाईति, गुणशीलादिमण्डिता ।
प्रासूत पुत्ररत्नं सा, भावी धर्मधुरन्धरः ।।४।।

विक्रमाब्दे तदाख्याते, खपिनवैकसम्मिते ।
पूर्णिमा पौषशुक्लायाः, पूज्या जाताद्य भाक्तिकैः ।।५।।

चिरञ्जीलालनाम्नासौ, पुण्यशाली सुतो महान् ।
वयोगुणैर्युवा भूत्वा, चन्द्रसिंधुं गुरुं श्रितः ।।६।।

गुरुभक्तिप्रसादेन, क्रमशः क्षुल्लकोऽभवत् ।
तत्पश्चादैलको जातो, गुरोः श्रीवीरसागरात् ।।७।।

दीक्षां दैगम्बरीं श्रित्वा, कार्तिके पूर्णिमातिथौ ।
धर्मसागरनाम्नासौ, जगतां पूज्यता गतः ।।८।।

प्रसिद्धे चन्दनग्रामेऽतिशायिक्षेत्रपावने ।
शिवसागरसूरीणा, पट्टाचार्योऽभवत्ततः ।।९।।

दीक्षां प्रदाय भव्येभ्यो, मोक्षमार्गमवर्धयत् ।
जिनशासनप्रद्योती, नन्दतु धर्मसागरः ।।१०।।

[मालिनी छन्दः]

स जयतु गुरुवर्यः सर्वसावद्यदूरः ।
भविजनभयहारी मोहमल्लाय शूरः ।।
व्रतगुणमणिराशिर्धर्मपीयूषपूरः ।
अहमपि गुरुभक्त्या तं नुवे ज्ञानवत्यै ।।११।।

तं धर्मसागरमुनीन्द्रमहं प्रवंदे

[श्री धर्मसागराष्टकम्]

□ आर्यिका श्री ज्ञानमतीजी

[स्व आचार्य श्री वीरसागरजी की शिष्या]

(वसन्ततिलकाछन्दः)

सम्यक्त्वशीलगुणमण्डितपुण्यगात्रः ।
रत्नत्रयैकनिधिधारणपुण्यपात्रम् ।।
लेश्याविशुद्धपरिणामशुभोपयोगी ।
तं धर्मसागरमुनीन्द्रमहं प्रवन्दे ।।१।।

मिथ्यात्वशत्रुमदमर्दनधीरवीरः ।
क्रोधाद्यमित्रवशवर्तिविधायिशूरः ।।
क्षान्त्यादिधर्मदशधा परिपालयन् यः ।
तं धर्मसागरमुनीन्द्रमहं प्रवन्दे ।।२।।

मूलोत्तरान् गुणगणान् स्वयमेव धत्ते ।
शिष्यांश्च धारयति मुक्तिपथे धुरीणः ।।
सन्मार्गमादिशति सत्त्वहितैकबुद्धचा ।
तं धर्मसागरमुनीन्द्रमहं प्रवन्दे ।।३।।

सिद्धांतशास्त्रपठने गुणने विपश्चित् ।
अध्यात्मतत्त्वकथने स्वपरात्मवेदी ।।
स्वात्मैकतत्त्वमनने सुसमाहितान्तः ।
तं धर्मसागरमुनीन्द्रमहं प्रवन्दे ।।४।।

पञ्चेन्द्रियस्य दमने कुशल सुधीरः ।
संसारसिंधुतरणे निपुणो वरेण्यः ।।
अन्यांश्च तारयति पोतसमान एषः ।
तं धर्मसागरमुनीन्द्रमहं प्रवन्दे ।।५।।

दुर्ध्यानदूरकरणे खलु शांतचेता ।
मायादिदोषहरणे निजतत्त्ववेत्ता ।।
स्वाध्यायपाठनिरतो जिनदेवभक्त ।
तं धर्मसागरमुनीन्द्रमहं प्रवन्दे ।।६।।

श्रीशांतिसागरसुवंशलता प्रसिञ्चन ।
संघाधिपो यतिवरो भविवृंदवंद्यः ।।
सार्वो गभीरहृदयो व्रतवान् मुमुक्षुः
तं धर्मसागरमुनीन्द्रमहं प्रवन्दे ।।७।।

भव्याब्जबोधनविधौ भुवि यो विवस्वान् ।
शिष्यान् पुनाति किल जङ्गमतीर्थतुल्यः ।।
भक्तान् जनान् दिशति ज्ञानवतीं श्रियं यः ।
तं धर्मसागरमुनीन्द्रमहं प्रवन्दे ।।८।।

आचार्य धर्मसागर स्तुतिः

□ आर्यिका श्री सुपार्श्वमतीजी

[स्व. आचार्य श्री वीरसागरजी की शिष्या]

श्रीवीरसागरगुरोश्चरणारविन्दे ।
धृत्वा तु सर्वसुखदां ही जिनेंद्रमुद्राम् ॥
धर्मामृतं तनुभृतां घनवत्प्रवर्षन् ।
शिष्यैः सहाथ विजहार बहूंश्चदेशान् ॥१॥

शीतांशुशुभ्रयशसा परिवर्धमानम् ।
मोहांधकार निकुरम्बविनाशभानुम् ॥
विश्वत्रयीमथनमन्मथभावहीनम् ।
तं धर्मसागरगुरुं हृदि भावयामि ॥२॥

संसारनीरनिधितारणदानपात्रम् ।
श्रीवीरशासनविभासनबद्धकक्षम् ॥
भव्याङ्गि मानसमहार्णवपूर्णचन्द्रम् ।
त धर्मसागरपदं परिढौकयामि ॥३॥

चञ्चच्चरित्रशुचिदर्शनसुप्रधानम् ।
कल्याणकारणमकारणशांतिहेतुम् ॥
संसारतापपवनाशनवैनतेयम् ।
तं धर्मसागरमहं प्रणमामि भक्त्या ॥४॥

कल्याणवल्लिजलदं जितकाममल्लम् ।
श्रद्धानुबोधचरणात्मकयोगशुद्धम् ।
भव्याङ्गिनेत्रकुमुदाकरकौमुदीशम् ।
त धर्मसागरगुरुं शरण प्रपद्ये ॥५॥

सात्रद्ययोगविरतं जगतीप्रतिष्ठम् ।
स्फूर्जद्गुणावलियुतं सुर सेव्यमानम् ॥
कारुण्यभावपयसा परिपूर्णचित्तम् ।
तं धर्मसागरगुरुं परिपूजयामि ॥६॥

दृष्ट्वा त्वदास्यमकलङ्कमतीवशांतम् ।
हर्षेरिताश्रुसलिलप्रवहैः सुशीघ्रम् ॥
तापं भवाग्निजनितं प्रशमं नयामि ।
मां देहि वाञ्छितफलं गुरु धर्मसिंधो ॥७॥

त्वत्पादपङ्कजसुभक्तिभरावनम्रा ।
मूर्ध्नादिधे तवपदाब्जयुगं महर्षे ॥
वाचास्तवीमि मनसा हृदि चिन्तयामि ।
कायेन नौमि गुरुभक्तिभरा सुपार्श्वा ॥८॥

अष्टोत्तर-शत-नाम स्तोत्रम्

□ आर्यिका श्री विशुद्धमति माताजी
[परम पूज्य परम तपस्वी आचार्य १०८ श्री शिवसागर महाराज की शिष्या]

तुभ्यं नमोऽस्तु सुख-वर्धन-भद्रमूर्ते !
तुभ्यं नमोऽस्तु शिवसाधन-ज्ञानमूर्ते !
तुभ्यं नमोऽस्तु वृषसागर-चारु-विंदो !
तुभ्यं नमोऽस्तु गुणमंडित-धर्मसिन्धो !

धर्माम्भोधि-र्दयाम्भोधिः, क्षमाम्भोधि-र्दिगम्बरः ।
ज्ञानाम्भोधिः कृपाम्भोधिः, सिद्धांताम्बुधि-चंद्रमाः ।।१।।
धर्ममूर्ति-र्गृहत्यागी, मूर्च्छा-त्यागी निराकुलः ।
हितभाषी प्रियोद्भाषी, मितभाषी सुशीतलः ।।२।।
त्यागज्येष्ठस्तपो-ज्येष्ठो, मुनिज्येष्ठो महासुधीः ।
गणज्येष्ठो व्रतज्येष्ठो, वयो-ज्येष्ठो महाव्रती ।।३।।
व्रतरक्षी दयारक्षी शिष्यरक्षी सुशिष्यकः ।
धर्मरक्षी क्षमारक्षी, शीलरक्षी सुनायकः ।।४।।
ज्ञानरक्तस्तपो-रक्तो, ध्यान-रक्तः सुतारकः ।
शमधारी मुनिर्ग्रन्थो, ज्ञानामृत-सुपानकः ।।५।।
विवेकैश्वर्य-सम्पन्नो, धर्मधारा-प्रवाहकः ।
शान्तचित्तः क्षमायुक्तो, गुरुवाणी-प्रसारकः ।।६।।
स्मितह्रासः सुगम्भीरः, निष्णातो गुरुगौरवः ।
प्रसन्न-वदनः साधु,-र्विनयेन समन्वितः ।।७।।
आत्मज्ञानी विरागी च, गुणज्ञो धर्मवत्सलः ।
आत्मकल्याण-निर्मग्नो, हृषीक-जय-तत्परः ।।८।।
अतन्द्रालुः भवाद्भीतो, भवाम्भोधि—सुसेतुकः ।
शान्तः स्वान्तः सुधीः शिष्टो, ह्यनेकान्तैक-नायकः ।।९।।
निर्मोहो निर्मदो धीरो, हितान्वेषी सुधारकः ।
हेयोपादेय-तत्त्वज्ञो, मोक्षमार्गस्य साधकः ।।१०।।
मोहारि-विजयी नेता, गात्र-शातन-निर्दयः ।
सौम्यमूर्तिः सुविज्ञानी, विकथा-शून्य-मानसः ।।११।।

संसार-तारको नाथ ! त्वम् दुःखिजन-वत्सलः ।
धर्मोपदेशको वीरो व्रतदाने तु सक्षमः ।।१२।।
निर्द्वन्द्वो निस्पृहः शान्तः पंचाचार-परायणः ।
निष्प्रपंचः सुदातारः, निर्विकारः सुमेधसः ।।१३।।
बाह्याभ्यन्तर-निस्सङ्गो, सर्वेभ्यस्त्वभय-प्रदः ।
अर्हद्रूपधरो दिव्यः आत्मवैभव-साधकः ।।१४।।
शमो दमो यमो धर्मः कृपालुर्हृद्यात्म-चिन्तकः ।
पिता माता गुरुः स्वामी, पवित्रः ऋजु-साधकः ।।१५।।
अष्टोत्तर-शतं पूर्ण, जीवानां हितकारकम् ।
"विशुद्ध"-धी ! समाधिं च सुभगां देहि मे गुरो ।।१६।।

तं धर्मसिन्धुगुरुवर्यमहं नमामि

□ श्रीमती मिथिलेश जैन बी. ए.
[मवाना–मेरठ (उ. प्र.)]

यो वीरसागरगुरोश्चरणारविन्दे ।
श्रीमज्जिनेंद्रपरिपालितशुद्धदीक्षाम् ।।
ससिद्धिमाप सुतरां परम प्रसिद्धम् ।
तं धर्मसिंधुगुरुवर्यमहं नमामि ।।१।।

शुद्धैर्गुणैः परिवृतं यमिना वरिष्ठम् ।
धर्मैरलंकृतिपरैर्दशभिर्गरिष्ठम् ।।
मोहांधकारमयविश्वमिमं जुषन्तम् ।
तं धर्मसिंधुगुरुवर्यमहं नमामि ।।२।।

संसारसागरजले पततां जनानाम् ।
रत्नत्रयान्वितमनुत्तरमुक्तिमार्गम् ।।
सम्बोधयन् तमभितोऽधिकृतं गुणौघम् ।
तं धर्मसिंधुगुरुवर्यमहं नमामि ।।३।।

कल्याणकांक्षिन् ! करुणानिधान !
प्रशांतसिंधो ! सकलात्मबन्धो !
शांतस्सुदांतो मुनिना वरेण्यः
वंदे यतीन्द्रं गुरुधर्मसिंधुम् ।।४।।

गुणिन् ! मनस्विन् ! मतिमन् ! सुविद्वन् !
प्रचण्डमोहद्विरदं विजेतुम् ।
दिगम्बरं सुंदरदिव्यदेहम् ।
वंदेऽनिशं तं गुरुधर्मसिंधुम् ।।५।।

सुरेशनागेशनरेशवन्द्यम् ।
संसारभोगेषु सदा विरक्तम् ।।
श्री धर्मसागरगुरुराजवर्यं ।
सद्दर्शनज्ञानचरित्रयुक्तम् ।।६।।

तान् धर्मसागरगुरून् शिरसा नमामः

(श्री धर्मसागराचार्यस्य स्तुतिपञ्चकम्)

□ श्री गुलाबचन्द्र जैन, प्राचार्य
[दि. जैन संस्कृत कालेज-जयपुर]

(वसन्ततिलकाछन्दः)

आचारपञ्चकमहो स्वयमाचरन्ति,
ह्याचारयन्ति निज-शिष्यगणान् पवित्रान् ।
गुप्तित्रयीमनुचरंति निजात्मशक्त्याम्,
तान् धर्मसागरगुरून् शिरसा नमामः ॥१॥

ईर्यादिपञ्चकमहो समितेस्तथाहि,
ये पालयन्ति खलु पञ्चमहाव्रतानि ।
एवं त्रयोदशप्रकारचरित्रवंतः,
तान् धर्मसागरगुरून् शिरसा नमामः ॥२॥

मासप्रमाणित तपांसि तपन्ति नित्यम्
धर्मान् सदा दशविधान् परिपालयंतः ।
आवश्यकान् किल कदापि न विस्मरंतः
तान् धर्मसागरगुरून् शिरसा नमामः ॥३॥

रागादिदोषमलवर्जितपूतकाया.
मायादिशल्यवरवर्जित चेतसो वै ।
वात्सल्यसागरवरिष्ठललामभूता:
तान् धर्मसागरगुरून् शिरसा नमाम. ॥४॥

रत्नत्रयीमुपदिशन्ति मुमुक्षुजीवान्
दीक्षा नयन्ति खलु साधुजनान् तथा च ।
ये वीरसागरसुशिष्यवराः सुविज्ञा
स्तान् धर्मसागरगुरून् शिरसा नमामः ॥५॥

सत्कर्म से विमुख हो जाना और कुकर्म करना निस्संदेह बुरा है, किंतु मुख पर हँस कर बोलना और पीठ पीछे निंदा करना उससे भी बुरा है । अतः पीठ पीछे किसी की निंदा न करो, चाहे उसने तुम्हारे मुख पर ही तुम्हे गाली दी हो ।

नंनम्यते मुनिवरप्रमुखाय तस्मै

□ डॉ० दामोदर शास्त्री, प्राध्यापक एवं अध्यक्ष जैन दर्शन विभाग

[लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली]

सच्छास्त्राध्ययनाच्छ्रुतार्थमननाद् यस्यावदाता मतिः,
यस्याध्यात्मिकसाधनाभुवि सदा चारित्रमत्युज्ज्वलम् ।
तं विद्वत्प्रवरं निजोग्रतपसा कर्मक्षयायोद्यतम्,
पूज्यं श्रीयुतधर्मसागरजिनाचार्यं नुम. श्रद्धया ।।१।।

श्रुत्वा यस्य च भव्यमङ्गलकरं धर्मोपदेशं शुभम्
मोदंते बहिरात्म-मानवजनाः प्राप्यांतरात्मस्थितिम् ।
शुद्धाचारपरायणा दृढतरं बद्धादराः संयमे,
स्वं राष्ट्रं च विभूषयंति विगतद्वेषादिभावाः सदा ।।२।।

राजस्थानेतिसंज्ञं प्रथितमिह महाप्रांतवर्यं यदस्ति,
बूंदीत्याख्यं मनोज्ञं सुबुधपरिचितं संस्थितं क्षेत्रमत्र ।
गम्भीराख्यः प्रदेशो लघुरिह विदुषा सौख्यदो वर्तते यः,
तत्रत्या भू. पवित्रा प्रथितमुनिवरस्यास्य जन्मप्रसादात्।३

वख्तावरोऽस्ति जनकोऽर्जितपुण्यराशि.,
मान्योमरावजननी रमणीमणिश्च ।
धन्याविमौ सुपितरौ हि तदीयपुत्रः
सम्प्रत्यसौ मुनिवरप्रमुखत्वमाप्त ।।४।।

बाल्ये वयस्ययमधात् सुकृति चिरंजी
लालेतिनाम परिवारजनप्रसिद्धम् ।
'श्रीधर्मसागर' इति प्रथितेन नाम्ना
देशेऽद्य संचरित सैव जगद्धिताय ।।५।।

त्रिंशत्तमे वयसि वीक्ष्य विरक्तिमस्य,
श्रीचन्द्रसागरमहामुनिरात्मनिष्ठः ।
तं क्षुल्लकत्वसमनुष्ठितये तदीय-
दीक्षाविधानसमनन्तरमादिदेश ।।६।।

रत्नत्रये दृढरुचिः स च विक्रमीये,
अष्टाधिके युगसहस्रतमे शुभाब्दे ।
श्रीवीरसागरमहामुनिनैलकत्वे
संदीक्षितोऽनुभवति स्म निजात्मतोषम् ।।७।।

उत्कृष्टसंयमवते कृतिने 'फुलेरा'—
स्थानेऽनगारमुनिधर्मसुपालनाय ।
श्रीवीरसागरमहामुनिराजवर्यः,
दीक्षामदात् प्रमुदितः स तदब्द एव ।।८।।

आचार्यवर्यशिवसागर–धर्मराजे,
स्वर्गं गते सति चतुर्विधधर्मसङ्घः,
आचार्य-रिक्तपदपूर्तिनिमित्तहेतोः,
श्रीशान्तिवीरपुरि तत्र सुसंहितोऽभूत् ।।९।।

तस्मिन्पुरे मुनिवराय हि पञ्चविंशद्—
वर्षाधिके युगसहस्रतमे शुभाब्दे ।
आचार्यवर्यपदमादरतः प्रदत्तं,
श्रीधर्मसंघसहमत्यनुसारमेव ।।१०।।

षड्विंशतिर्मुनिवरा व्रतिनः सुविज्ञाः,
अष्टादशाद्य बहुशास्त्रविदार्यिकाश्च ।
आचार्यवर्यमुनिराजसुशिष्यभूताः,
बह्व्यैलकादय इह प्रथिता–भवन्ति ।।११।।

एतैः समं विनयभावयुतैः सुशिष्यैः,
ग्रामेष्वनेकनगरेषु चरन् स्वदेशे ।
मर्त्येभ्य एष वितरन्नमृतोपदेशम्,
मोहाम्बुधौ भवति सर्वशरण्यभूतः ।।१२।।

अस्मिन् महाविषमकाल इयान् प्रसारः,
धर्मस्य यो जिनवरैर्गदितस्य दृष्टः ।
आचार्यवर्यविहितः सुमहान् प्रयत्नः
एवात्र हेतुरिति धर्मविदा विचारः ।।१३।।

यस्यास्ति धर्मशिथिलाचरणे विरोधः,
सज्ज्ञानदानशुभकर्मणि यत्प्रवृत्तिः ।
यः पोषको भवति चार्षपरम्परायाः,
नंनम्यते मुनिवरप्रमुखाय तस्मै ।।१४।।

लोकैषणा-निस्पृहता दधानः,
सद्धर्मसिद्धान्तसमूहमूर्तिः ।
शुद्धात्मसम्प्राप्तिकृतश्रमोऽयम्,
जीयात् जिनाचार्यवरश्चिराय ।।१५।।

तं धर्मसिन्धुं प्रणमामि नित्यम्
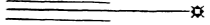
□ डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

निर्ग्रन्थमुद्रा सरला यदीया प्रमोदभावं परमं दधाना ।
सुधाभिषिक्तेव धिनोति भव्यान् तं धर्मसिन्धुं प्रणमामि नित्यम् ।।१।।

कामानलातापवितप्त पुंसा माख्याति ब्रह्मव्रतसन्महत्त्वम् ।
यः सन्ततं भोगविरक्तियुक्त स्तं धर्मसिन्धुं प्रणमामि नित्यम् ।।२।।

हिंसानृतस्तेयपरिग्रहाद्य कामाग्नितापाच्च निवृत्य नित्यम् ।
महाव्रतानि प्रमुदा सुधत्ते तं धर्मसिन्धुं प्रणमामि नित्यम् ।।३।।

ईर्याप्रधाना समितीदधानः गुप्तित्रयीं यः सतत दधाति ।
स्वध्यानतोषामृततृप्तचित्त स्तं धर्मसिन्धुं प्रणमामि नित्यम् ।।४।।

संघस्थसाध्वीनिचयं सदा यः साधुव्रजं चापि सहानुयातम् ।
संत्रायते सावहितः समन्तात्तं धर्मसिन्धुं प्रणमामि नित्यम् ।।५।।

ससारदेहामितभोगवृन्दाद् विरज्य य स्वात्मनि संस्थितोऽभूत् ।
स्वाध्यायपीयूषसरो निमग्नं तं धर्मसिन्धुं प्रणमामि नित्यम् ।।६।।

दिगम्बराचार्यतति प्रधानो निर्बाधवृत्तं सततं दधानः ।
दधाति लोकप्रियतां सदा य स्तं धर्मसिन्धुं प्रणमामि नित्यम् ।।७।।

शान्त्यब्धि-वीराब्धि-शिवाब्धि दिष्टं श्रेयःपथं दर्शयते जनान्यः ।
अवाग्विसर्गं वपुषैव नित्यं तं धर्मसिन्धुं प्रणमामि नित्यम् ।।८।।

भाव मालिका

□ आर्यिका १०५ विशुद्धमति माताजी

[प. पू. आचार्य १०८ श्री शिवसागरजी की शिष्या]

आचार्य-रत्न हो धर्मसिन्धु, हे अनगारिन् ! शत शत वन्दन ।
चारित्र शिरोमणि करुणामय, हे गुणशालिन् ! शत शत वन्दन ।।१।।
रत्नत्रय गुणमण्डित गुरुवर, हे अघहारिन् ! शत शत वन्दन ।
यम नियम शील शम दम धारी, हे शिव शालिन् ! शत शत वन्दन ।।२।।
एकान्तवास नित अभिलाषी, हे व्रत धारिन् ! शत शत वन्दन ।
कल्याण मार्ग के उपदेशक, हे जगतारिन् ! शत शत वन्दन ।।३।।
सौजन्य सरलता मन्द-हास्य, हे क्रोध विजिन् ! शत शत वन्दन ।
आदर्श मोक्ष पथचारी हे, संयम धारिन् ! शत शत वन्दन ।।४।।
ठग चोर लुटेरे कर्म जयी, इन्द्रिय-विजयिन् ! शत शत वन्दन ।
श्रीवीर सिन्धु के प्रमुख शिष्य, हे गुण धारिन् ! शत शत वन्दन ।।५।।
धर्म ध्यान रत विश्ववन्द्य, हे तप शालिन् ! शत शत वन्दन ।
रत्नत्रय शैल विचरते हो, शिवमग चारिन् ! शत शत वन्दन ।।६।।
ममता तज कर निज आतम के, हे रस स्वादिन् ! शत शत वन्दन ।
सामायिक समता मन भावी, हे भव हारिन् ! शत शत वन्दन ।।७।।
गरिमा है तुम पर हम सबको, कल्याण कृतिन् ! शत शत वन्दन ।
रत ज्ञान-ध्यान-संयम तप में, हे श्रुत शालिन् ! शत शत वन्दन ।।८।।
जीवों के निष्कारण बाधव, हे मल हारिन् ! शत शत वन्दन ।
मर्मज्ञ जैन दर्शन के हो, क्षमता धारिन् ! शत शत वन्दन ।।९।।
हा[1] हार गया वह मोहबली, समताधारिन् ! शत शत वन्दन ।
रागादिक को नित कृश करते, हे उपकारिन् ! शत शत वंदन ।।१०।।
जय जय करते शत-इंद्र सदा, हे मनहारिन् ! शत शत वंदन ।
जीतव्य सफल हो "मनि विशुद्ध", करुणाधारिन् ! शत शत वंदन ।।११।।

१. अहा ! (प्रशंसावाची)

शत-शत प्रणाम

□ १०५ क्षुल्लक श्री सिद्धसागरजी
[प पू. आचार्य श्री धर्मसागरजी के शिष्य]

हे परमशांत ! हे वीतराग ! हे सौम्यमूर्ति ! हे तेजधाम ।
हे बालब्रह्म अद्वितीय संत ! तव चरणों में शत शत प्रणाम ।।

शांति-वीर-शिव-चंद्र सिंधु के, अनुयायी तुम साकार ।
धन्य-धन्य हो सङ्घ शिरोमणि, जैन धर्म के प्राणाधार ।।

करुणा सिंधु पुण्य रत्नाकर, आगम सम्मत हो ऋषिराज ।
करूं नमन तव भाव भक्ति से, गुरुवर कर दो भव से पार ।।

रत्नत्रय निधि के स्वामी हो, उपसर्ग परीषह सहते आप ।
क्षमामूर्ति ! हे विश्ववन्द्य !, निजात्म ध्यान का जपते जाप ।।

हे परम पूज्य ! शत शत वंदन ।
हे विश्ववंद्य ! तव अभिवंदन ।।

भव्य अभिवन्दन

□ डॉ० रामभरोसे साहू एम ए, पी एच. डी.
[इटावा]

त्यागमय आदर्शवादी दार्शनिक गुणवन्त का,
विश्व के कल्याण हेतुक, सदय हिंसाहंत का ।
सत्यसाधक जो अहिंसा मंत्र प्रेरक है सदा,
भव्य अभिवन्दन करें हम धर्मसागर संत का ।।१।।

धर्मसागर आत्महित उपलब्धियाँ लेते नहीं,
भोगवादी विश्व-उपवन ये कभी सेते नही ।
मनुज भौतिक भोग हित सर्वस्व लेना चाहता,
त्यागकर्मी संत तन पर वस्त्र तक लेते नहीं ।।२।।

चारित्र के सुमन धर्मसागर

□ क्षुल्लिका अनंगमतीजी

[आचार्य श्री विमलसागरजी संघस्थ]

प्यारे भव्यो !

युग की अमूल्य निधि कहीं देखी ?
नही देखी,
आह ! आओ, दिखायें,
चारित्र का सितारा, चमक रहा,
धर्मसागर के नाम पर ।

पहचानो इनकी शान—
शान्तिसागर ने बीज दिया,
वीरसागर से पुष्पित हुआ ।
शिवसागर से सिंचित होकर,
फलित वृक्ष लहलहाया,
धर्मसागर के नाम पर

कैसा है युग नेता,
ऊंचा सा कद है, भोला सा मुखड़ा है,
गोल बदन चमकता टुकड़ा है ।
क्या ही मनोहर कान्ति है—
आतम की शाति छटकती ललाट पर,
धर्मसागर के नाम पर ।

गूंज उठा सारा भारत,
चारित्र सिह के गर्जन से !
अरे उठो सोने वालों,
कहता धर्म नेता आकर ।
धर्म की गंगा बह रही,
धर्मसागर के नाम पर ।

धर्म का सागर यह, ज्ञान का उजागर है,
ज्ञान का प्रेमी यह सयम का पालक है ।
आबाल वृद्ध का प्यारा, संतों का प्राण है,
यतियों का राजा यह धर्म का सागर है ।
हे भारत के ललाट गुरुवर,
युग-युग तक तव यशगान रहे ।
पृथ्वी का चप्पा चप्पा अब, जाग उठा,
धर्मसागर के नाम पर ।

भक्ति प्रसून

□ श्री विजयकुमारजी शास्त्री सरधना-मेरठ

निज आत्मधर्म के साधक, श्री आचार्य धर्मसागरजी है ।
आध्यात्म धर्म के परिपालक, आचार्य धर्मसागरजी है ।।
तुम मानवता के चरमविदु, जीवन निधियो के धनागार ।
तुम पूर्ण इंदु भविजन विकासि, करुणा के तुम सागर अपार ।।
बढ चले साधना के पथ पर, काटो की कुछ परवाह न कर ।
दुर्दांत तपस्वी परमधीर, तुम सत्य शिवं के सुंदर घर ।।
जग की मादक मोहकता ने तुमको न कभी ललचा पाया ।
पर में ममत्व को छोड़ सकल निज मे शाश्वत् सुख को पाया ।।
तुम धर्म नीर के सागर हो, धरती सा धीरज धरते हो ।
गगा जल सम पावन बनकर ज्योत्स्ना कर सम सुख भरते हो ।।
आचार्यवर्य ! तुम श्रमण धीर निज आत्माराधन करते हो ।
तुम घोर तपश्चर्या द्वारा निज की निधियो को पाते हो ।।
तुम हिमकर से होकर उतुंग समता का पूर बहाते हो ।
तुम घोर तपश्चर्या द्वारा निजकी निधियों को पाते हो ।।
तुम मे शिशु का पावन मन है मा का स्नेह अमर्यादित ।
नीरव भावस सम साम्यदृष्टि पर स्वात्मज्योति से आभासित ।।
तुम फले हुए तरु से विनम्र जग आशा से न कभी झुकते ।
परिमल वाहक मलयानिल से पर हित पथ पर न कभी रुकते ।।
निर्मुक्त गगन से हो स्वतंत्र बाह्याडम्बर का लेश नही ।
तुम साम्यवाद के अग्रदूत श्रम का तुमको परिताप नही ।।
तुमने परिमित परिधान त्याग दिग्मण्डल का अम्बर पहिना ।
बाईस परीषह जीत स्वयं तुमने जाना दु.ख का सहना ।।
तुमने मन-वच-काया की सब अभिलाषाओं को ठुकराया ।
पर स्रोत अहिसा का कैसे जग के जीवन मे सरसाया ।।
आचार्य श्रेष्ठ ! तुम साधक हो, अन्वेषक, तत्त्व समीहक हो ।
पर सतत निस्पृही रह करके क्यो निरी पहेली बनते हो ।।
तुम आत्मजयी हो शांति-मूर्ति तुम वीतराग तुम निर्विकार ।
तुम उग्र तपस्वी कर्मजयी जड-चेतन का करते विचार ।।
कल्याण मार्ग के परिचायक आत्मिक निधियों के हो आगार ।
भौतिक जगके प्रति उदासीन जीवन सम. रसता के उभार ।।
ओ ! पूज्य तपोनिधि चरणों में श्रद्धा से शीष झुकाता हूं ।
तव सौम्यमूर्ति की आभा में मै अपनेपन को पाता हूं ।।

पवित्र भावना

☐ डॉ० उदयचन्द्र जैन, एम बी. कॉलेज
[उदयपुर (राजस्थान)]

हे श्रमण संस्कृति के साधक,
चरणों में नत मस्तक होकर
धर्म श्रवण कर
संयम में रत हो जाऊं
साधक बन
साधना के गीत
जन-जन तक पहुंचाऊं
हे संसार तरण-तारण
धर्म पताका,
धर्म दीप या
अनुपम रत्नों की ज्योति लेकर
इस पृथ्वी से सागर तक
धर्मसिंधु में
तब तक नहलाऊं
जब तक
घर-घर में
आचार्य प्रवर श्री धर्मसागर के
ध्यान, तपस्या
योग, साधना
आचारों की पवित्र भावना
न दिखला दूँ ।

धर्मवीर

हे वीर धीर
हे कर्म वीर
हो सचमुच ही धर्मवीर
ऋद्धिवन्त, तेजस्वी सन्त
गङ्गा से निर्मल
पवित्र सन्त
बहुश्रुत ज्ञानी
जन-जन के कल्याणी
संयम से क्षमा
सतत् आयी है ।
हुआ कषायों का दमन
जितेन्द्रिय बनने का
प्रशस्त मार्ग
सबने पाया है ।
आगम से
अपना स्व-पर कल्याण मार्ग
आध्यात्म-योगी
बनने की शिक्षा पायी है ।

ऐसे आचार्यवर्य धर्मसागरजी का अभिवंदन है

□ श्री अनूपचन्द जैन न्यायतीर्थ 'साहित्यरत्न'– जयपुर

आचार्यवर्य श्री
धर्मसागरजी महाराज
शान्तिसागरजी की परम्परा में
वीरसागरजी के शिष्य
शिवसागरजी के
पट्ट पर आये है,
अपनी अपूर्व सूझबूझ
और तार्किक बुद्धि
त्याग और तपस्या के बल पर
निर्भीक और स्पष्ट प्रवक्ता के रूप में
समाज पर छाये हैं।
लोगों का यह कहना कि
आचार्य धर्मसागरजी
बोलने में बड़े अक्खड़ हैं,
सोलह आना सही है
क्योंकि वे स्वाभिमानी
गौरव संयुक्त चारित्र में दृढ
महान तपस्वी, एक ओजस्वी फक्कड हैं।
ज्ञान-ध्यान तप में लीन
अन्तर मे उज्ज्वल, ऊपर से मलीन
छत्तीस मूल गुण धारी
साधु अविकारी
निस्पृह निरविकारी
भावुक और उदार हैं,
शान्ति और सन्तोष की मूर्ति
परम निर्ग्रन्थ आध्यात्मिक सन्त
जैनशासन के प्रभावक आचार्य
सत्य और अहिंसा के आधार हैं।
आगमानुसारी, सिहवृत्तिधारी
स्व-पर कल्याणकारी
साधु और गृहस्थों में व्याप्त
शिथिलाचार के विरोधी
माया और प्रपञ्च से हट
समाज को पतन से बचाया है,
जगह-जगह विद्यालय और
गुरुकुल खुलवाकर
नैतिक शिक्षा और संयम को
अक्षुण्ण बनाया है।
उन परम उपकारी
दर्शन ज्ञान और चारित्र के धारी
वीतरागता पुजारी
महान सन्त का
शत शत वन्दन है,
युग-युग तक प्रकाशस्तम्भ बन
असार संसार में प्रतिक्षण
मार्ग दर्शन करते रहे
ऐसे आचार्यवर्य धर्मसागरजी का
अभिवन्दन है।

धर्म मूर्ति हे धर्म दिवाकर धर्मसागराचार्य महान्

□ श्री ताराचन्द जैन, शास्त्री रेवाड़ी

वस्त्राभूषण की सुन्दरता, लादी हुई सुन्दरता है,
तन के यौवन की सुन्दरता, भौतिक क्षणभंगुरता है ।
धन, वैभव सब क्षणभगुर है, मिथ्या भ्रम आडम्बर है,
स्वस्थ, सुखी सौन्दर्य-विभूषित, केवल एक दिगम्बर हैं ।
यही जानकर हुआ तपोनिधि ! आत्म-ज्योति का तुमको भान,
धर्म मूर्ति ! हे धर्म दिवाकर, धर्म-सागराचार्य महान् ।।१।।

सत्य, अहिसा की मंगल-मय, पावन-गंगा तुम लाए,
निर्मोही, आचार्य-प्रवर के, पुण्य-उदय दर्शन पाए ।
सरल-हृदय, समदृष्टि स्वामि के, आज सभी ने गुण गाए,
जिनवाणी का अमृत-जल पी, तृप्त हुए जन हर्षाए ।
आत्म-ज्ञान की दिव्य-ज्योति का, युग-जीवन को देकर दान,
धर्म-मूर्ति ! हे धर्म दिवाकर, धर्मसागराचार्य महान् ।।२।।

महिमा मय-मंगल मडप की, शीतल-छाया आज तनी,
दूर किए पाखण्ड, सत्य की अचल शिला आधार बनी ।
तिल-तुष मात्र परिग्रह मे भी, ऋषि तुमको अनुराग नही,
चन्दन में शीतलता होती, जल मे होती आग नही ।
भव-तन-भोग विरक्त मुनीश्वर, निज-पर का करते कल्याण,
धर्म मूर्ति ! हे धर्म दिवाकर, धर्मसागराचार्य महान् ।।३।।

नग्न दिगम्बर-मुद्रा-भूषित, गुण-रत्नाकर हे मुनिराज,
आज तुम्हारे धर्मामृत से, उपकृत है यह सकल समाज ।
लोचन धन्य हुए दर्शन पा, वाणी सफल हुई है आज,
श्रद्धा की पावन कुसुमाञ्जलि, चरणों मे अर्पित ऋषिराज ।
जप, तप, संयम, ध्यान, नियम के, ताने तुमने विपुल वितान,
धर्म मूर्ति ! हे धर्म दिवाकर, धर्मसागराचार्य महान् ।।४।।

रत्नत्रय की दिव्य-प्रभा से, आलोकित हे ! सहज ललाम,
भव-भोगो की आशाओ से—मुक्त तपस्वी ! हे ! निष्काम ।
मुक्तिमार्ग के पथिक ! तपस्वी, पाणि-पात्र अविचल अभिराम,
कर्णधार भवसागर में गुरु ! तुमको शत शत बार प्रणाम ।
वीतरागता के वैभव से, हुए विभूषित हे छविमान,
धर्ममूर्ति, हे धर्म दिवाकर ! धर्मसागराचार्य महान् ।।५।।

प. पू. आचार्य धरमसागर को कोटि नमन है

□ कवि श्री हजारीलाल 'काका'
(सकरार जिला झांसी)

पौष शुक्ल पूरणमासी को जिनका हुआ जनम है,
परम पूज्य आचार्य धरमसागर को कोटि नमन है ।।

राजस्थानी जिला एक बूंदी अति सुन्दर प्यारा,
बसै ग्राम गम्भीरा जिसमें सब ग्रामों से न्यारा,
यही से बख्तावरमल के घर में बजी बधाई,
श्रीमती उमरावबाई ने थी ऐसी निधि पाई,

जिनके दर्शन करते ही हो जाता पाप शमन है,
परम पूज्य आचार्य धरमसागर को कोटि नमन है ।।

सम्वत् दो हजार की आई घड़ी मनोहर प्यारी,
महाराष्ट्र बालूज ग्राम मे क्षुल्लक दीक्षा धारी,
दीक्षा ली आचार्य कल्पवर श्री चन्द्रसागर से,
मुक्ति मार्ग दिखलाने मे ये सन्यासी माहिर थे,

आठ वर्ष तक भी गुरुवर का होता रहा गमन है,
परम पूज्य आचार्य धरमसागर को कोटि नमन है ।।

हुये पंचकल्याणक फुलेरा मे शुभ बेला आई,
ऐलक की पदवी आचार्य वीरसागर से पाई,
कुछ ही दिन में कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी आई थी,
श्री आचार्य वीरसागर से मुनिदीक्षा पाई थी,

धरती हुई बिछावन जिनका चादर हुआ गगन है,
परम पूज्य आचार्य धरमसागर को कोटि नमन है ।।

दो हजार पच्चिस की फागुन शुक्ल अष्टमी आई,
शान्तिवीर नगरी में श्री आचार्य की पदवी पाई,
संघ चतुर्विधि के द्वारा यह पद गुरुवर ने पाया,
श्री आचार्य धरमसागर की जय ने गगन गुंजाया,

हर्षित हुआ वृद्ध-बालक, नर-नारी सबका मन है,
परम पूज्य आचार्य धरमसागर को कोटि नमन है।।

शान्ति, वीर, शिवसागरजी के यही पट्टधारी हैं,
सच पूछो तो श्रमण संस्कृति की ये फुलवारी हैं,

ज्ञानध्यान की गन्ध लुटाकर जग को लुभा रहे हैं,
महावीर के आदर्शों पर जग को चला रहे हैं,

मुक्तिमार्ग दिखलाने वाला ही इनका प्रवचन है,
परम पूज्य आचार्य धरमसागर को कोटि नमन है ।।

उपदेशों से जैन धर्म की ऐसी धार बहाई,
डगर डगर से गूंज उठी है संयम की शहनाई,
ऐसी पडी श्री गुरुवर के उपदेशों की साया,
आज छियालीस पिछी-कमण्डल का इक संघ बनाया,

इनके दर्शन करके 'काका' सफल करो जीवन है,
परम पूज्य आचार्य धरमसागर को कोटि नमन है ।।

☼

नमन करेगा नित मेरा मन

हे !
आचार्य वर
शत शत वन्दन
नित अभिवन्दन
तुमने
छोड परिग्रह
बन्धु बांधव
मोह मान औ राग द्वेष का
किया दमन है
चले डगर उस
जिस पर, चले थे त्रिशलानन्दन
त्याग तुम्हारा
और तपस्या
दीपक के सम स्वयं प्रज्वलित
पर आलोकित
किया जगत को
हर प्राणी पर
नेह धर्म का
ओ धर्म शिरोमणि
नमन करेगा, नित मेरा मन

☼

□ डा० महेन्द्र जैन
[जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर]

काव्य प्रसून

□ श्री सी. एल. जैन, एम. ए. एल. एल. बी., झांसी

आचार्य श्री के दर्शन से

धर्म साधना आती है ।

रम जाने को वैराग्य भाव,

मम हृदय ज्ञान यह लाती है ।

सागर सा हृदय अथाह बना,

गरिमा की सीमा न्यारी है ।

रख रहे सदा सम भाव सभी पर,

जीवन की यही कहानी है ।

मम मन प्रसन्न हो जाता है,

हारता यहां सब राग द्वेष,

राजा भी राज छोड़ देता,

जब दरश आपका पाता है ।

आचार्य श्री शत-आयु हों,

(प्रभु से) विनती यही हमारी है ।

काव्याञ्जलि

□ श्री मोतीलाल सुराना, इन्दौर

धन्य धन्य महा पुरुष
किया कल्याण मार्ग प्रशस्त
आत्म सात् करते जो
वीर वाणी अमृत को
भक्त जन सूंघते
केवल दूर से, गले नही उतारते
डरते परीषहों से
मुनिजन तो हो निडर
देवे उपदेश सर्वज्ञों का
आचरण भी करते वही
जो कहा वीर ने, शास्त्रों की स्वाध्याय

साधना से आत्मकल्याण
जन को बनाते जैन
बताते मार्ग जिन बनने का
धर्म का बताते मर्म
ज्ञान के है दिवाकर
अभिवन्दन आचार्यजी का
"धर्मसागर" है महान
सत्य दर्शन साधना का
पाठ पढे सभी जन
उस विभूति के चरणो में
अर्पित मम श्रद्धा सुमन

अभिवन्दन गीत

□ डॉ० शोभनाथ पाठक, एम ए पी. एच. डी., साहित्यरत्न, भोपाल

श्रीसम्पन्न, समन्वयवादी, सत्य-शील-सुख-दाता ।
धर्म, कर्म, युग मगलकारी, सबके भाग्य विधाता ।।
र्महानता चरमोत्कर्ष पर, ज्ञानोदधि के बल से ।
साध संवारे-सतत विश्व को, पाच व्रती सम्बल मे ।।
गरिमा आंक नही हम पाते, शम-दम-तप में न्यारे ।
रम्य रूप परिवेश दिगम्बर, जागे भाग्य हमारे ।
जीवन का उद्देश्य जगत मे, जिन सदेश सुनाएँ ।
महावीर की वरीयता का युग को ज्ञान कराएँ ।
हाथो मे है कर्म योग, वाणी में विश्व समन्वय ।
राग, विराग, अक्षुण्ण साधना, पाच तत्वमय चिन्मय
जगत शिरोमणि का अभिवदन, कोटि कोटि है वंदन ।
विश्व विभूति 'धर्मसागर' से महक उठी धरती वन नदन ।

जैनाचार्य धर्मसागर का शत शत अभिवंदन है

□ श्री कल्याणकुमारजी जैन 'शशि'

[रामपुर उ० प्र०]

मुनिपद की चारित्रिक, निर्मल गरिमा को अपनाते ।
जैनागम पर आश्रित तप की, गुरुता को दरशाते ।।
माया मोह परिग्रह विग्रह तप से इन्हे हराते ।
योगाभ्यास आत्मचिन्तन से उर उपवन महकाते ।।

श्री जिनवाणी पर आधारित, तत्व भरा प्रवचन है ।
जैनाचार्य धर्मसागर का, शत शत अभिवन्दन है ।।

परमानन्द प्रशान्त मूर्ति, मन की अशान्ति हरती है ।
आर्ष-समर्थित ध्वान्त हरण, निर्जरा ज्योति भरती है ।।
अविकारी जीवन से, संवर की सुषमा झरती है ।
यह भविकों को तार स्वयम्, भवसागर से तरती है ।।

ऐसी तारक धर्म-मूर्ति को, श्रद्धा सहित नमन है ।
जैनाचार्य धर्मसागर का, शत शत अभिवन्दन है ।।

मुक्त हस्त से साधु सघ का, ध्येय धर्म वितरण है ।
धर्म निरूपण तपसी का, परिभाषिक आकर्षण है ।।
धर्माचार्य संघ इसका, बहुचर्चित उदाहरण है ।
स्वात्मलीनता के पथ पर, प्रतिपल बढ रहा चरण है ।।

धर्म विमुख पीढी ने पाया, नया मार्ग दर्शन है ।
जैनाचार्य धर्मसागर का, शत शत अभिवन्दन है ।।

तुम महामुनि शिवसिन्धु गुरु के, पट्टाधीश कहाते ।
पूज्य शान्तिसागर की तुम, सल्लेखन ध्वज फहराते ।।
भक्त जनों के पुण्योदय मे, जहा चरण पड़ जाते ।
धर्म हीन बंजर धरती मे, धर्म पुष्प महकाते ।।

आज महा अभिषेक पर्व पर, कोटि कोटि वन्दन है ।
जैनाचार्य धर्मसागर का, शत शत अभिवन्दन है ।।

हैं परमपूज्य आचार्य धर्मसागर ऐसे

□ आशु कवि-श्री शर्मनलाल जैन "सरस"

[सरस साहित्य सदन, सकरार, झांसी]

जो करता है बरसात हर समय करुणा की,
आने वाला कल उसको कैसे भूलेगा ?
जिसने फूलों के पूर्व-शूल को सींचा हो,
उसकी उदारता पर-हर कण कण फूलेगा,
उस सत्य अहिंसा के साधक का शत वंदन,
यह श्रद्धा की अँजुली नहीं कर पायेगी,
है परमपूज्य आचार्य धर्मसागर ऐसे--
जिनको युग युग तक, दुनियां शीश झुकायेगी ।।

जो कल्पवृक्ष सा बढ़ा, धरा के आँगन मे,
जिसने हर सूखे उपवन को, हरियाली दी,
हर ममता के महलों का, जिसने मिथ्यातम,
कर ज्ञान पूर्णिमा, समता की उजियाली दी,
उस अमर उजेले की आरत अर्चन वंदन,
शब्दो की दीपावली, नहीं कर पायेगी,
है परमपूज्य आचार्य धर्मसागर ऐसे--
जिनको युग युग तक, दुनियां शीश झुकायेगी ।।

जिनकी वाणी मे ओज, शांति की क्रांति भरी,
जिनसे विराग का, हर क्षण मेघ बरसता है,
क्या कहे आपसे, हम उस पावन हस्ति का,
जिसका अभिवदन करने त्याग तरसता है,
कर रहा अमर जो उमर साधना के पथ की—
इतिहासो की हर घड़ी उसे दुहरायेगी,
है परमपूज्य आचार्य धर्मसागर ऐसे—
जिनको युग युग तक, दुनिया शीश झुकायेगी ।।

मुनि का कहना हम समयसार का सार, भले रटलें सुनलें,
पर जब तक अतस से निकला, चारित्र नही रंग लायेगा,
चारित्र हीन हो ज्ञान चाह जिसका जितना
उसका त्रिकाल कल्याण नहीं हो पायेगा,
इसलिए "सरस" यह अभिवन्दन हो पूर्ण तभी,
जब जिनके पथ पर दुनियां चरण बढ़ायेगी,
है परम पूज्य आचार्य धर्मसागर ऐसे—
जिनको युग-युग तक दुनिया शीश झुकायेगी ।।

शत शत वंदन शत शत प्रणाम

□ कविरत्न दामोदर 'चन्द्र'
[घौरा-छतरपुर]

विद्यासागर गुणगण आगर, नीतिज्ञ तपस्वी विपुल ज्ञान ।
कर्मठ आदर्श गुणी सुसन्त, आध्यात्मिक निधि के हे निधान ।।
हे प्राणवान गौरव-विशाल, श्री 'धर्म सिंधु' आचार्य नाम ।
ऐसे सुसन्त के चरणों में, शत शत वन्दन शत शत प्रणाम ।।१।।

हे धर्म मूर्त्ति राजर्षि व्रती विद्याप्रेमी प्रकाण्ड पण्डित ।
सत शोधक तत्वसमीहक हे, उत्कृष्ट त्यागि शांती मण्डित ।।
मानवता के आदर्शरूप, जीवन की निधियों से ललाम ।
शुभवक्ता हितउपदेशी को, शत शत वंदन शत शत प्रणाम ।।२।।

युग के गौरव हे ! सत् साधक, मृदु भाषी हो संसार विरत ।
सन्यासि निरीह समाज प्राण, हो जनहित तुम वात्सल्य-निरत ।।
तुम योगी सन्त मुख भोगी हो, है 'सन्त शिरोमणि' आप नाम ।
आत्मानुरक्त तुमको मेरा, शत शत वन्दन शत शत प्रणाम ।।३।।

आध्यात्मिक संत सुज्ञान सूर्य, बहु शुभ संस्था के निर्माता ।
निश्छलता के प्रतिरूप अरे, सर्वोदय के तुम हो ज्ञाता ।।
हे ! विद्वानों के हितचिन्तक, स्तम्भ अहिंसा न्याय धाम ।
विद्वेष हारि तुम पूज्यपाद, शत शत वंदन शत शत प्रणाम ।।४।।

आगम-वारिधि मथकर तुमने, पाया आत्मिक अमृत महान ।
बन गये अमर जग को तुमने, बाँटा अमरत्व अरे ! प्रकाम ।।
निर्मानि ज्ञान गुरु तुम गुण का, नहिं अन्त कहा क्या किया काम ।
जाज्वल्य मान जन के नेता, शत शत वंदन शत शत प्रणाम ।।५।।

दिव्यावतार अध्यात्मपुरुष, हो चित उदार निरपेक्ष धीर ।
समदर्शी सम्यग्ज्ञानी हो, शिवपथ साधक तुम हो गम्भीर ।।
मानव चरित्र की पुण्य मूर्त्ति, तुम महामना-सत्पथिक नाम ।
जन उद्धारक मूर्त्ति भोली, शत शत वंदन शत शत प्रणाम ।।६।।

तुम ज्ञान वृद्ध अनुभव-समृद्ध, हो वयोवृद्ध शुभ धर्म भक्त ।
तुम सिद्धहस्त हो त्याग मूर्त्ति, शुभ ज्ञान कल्पतरु तीर्थभक्त ।।
चारित्र चक्रवर्ती सुतपी, श्रद्धेय परम हो शांति धाम ।
हो नरगति के हीरा अमूल्य, शत शत वंदन शत शत प्रणाम ।।७।।

ऐसे आचार्य महान् सन्त का गुण सागर को तैर सके ।
मैं तो अल्पज्ञ, नहीं कवि हूं, तैरत तो कवि सम्राट थके ।।
जब तक रवि 'चन्द्र' खिले जगमें जगती सागर का रहे नाम ।
तबतक तुम यश उपदेश रहे शत शत वंदन शत शत प्रणाम ।।८।।
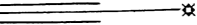
धर्म-सिन्धु महाराज ! हमें भी मुनि बना लो

□ श्री बसन्तकुमार जैन शास्त्री, शिवाड़

साम्य सौम्य अरु शांत छवि है आचार्य, आपकी ।
निश्छल है निर्मोही आत्मा स्वामी आपकी ।।
पावन परम दिगम्बर मुद्रा नयनाभिरामी ।
बारम्बार नमन है स्वामी कोटि नमामि ।।

इस जगका जंजाल आपने त्याग दिया है ।
राग-द्वेष को त्याग सफल तन आज किया है ।।
चारित्र-रथ पर चढ़े, चले शिवमणी वरने ।
कर्मों की बेडी को टुकड़े-टुकड़े करने ।।

हे गुरुवर्य ! इस कलिकाल की काली छाया ।
ढक भी नहीं सकी आपकी कंचन काया ।।
भौतिकता का ताण्डव नृत्य लुभाया करता ।
किंतु गुरु ! यह भी हारा तव संयम लखता ।।

क्रोध-मान माया अरु लोभ की कहूं कहानी ।
ये भी रहे है दूर आप से सही निशानी ।।
परिग्रह का दु.ख जाल आपने काट दिया है ।
सब पापो की खाई को अब पाट दिया है ।।

परम दिगम्बर तपोमूर्ति भव्य भाव से ।
रमते निजमे, निजको लखकर बड़े चाव से ।।
संयम-शिखर पर आध्यात्मिक की ध्वजा उड़ी है ।
हे गुरुवर्य ! सच, शिव-रमणी वरने को खडी है ।।

सोचा है मैंने भी, तन को आज तपालो ।
पा सान्निध्य, धर्म-सिधु का ज्ञान जगालो ।।
क्या रखा है इस जगमें, मन इधर लगालो ।
अतः, धर्मसिधु महाराज हमें भी मुनि बनालो ।।

दिगम्बर जैनाचार्य १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज के श्री चरणों में

काका–विनय

□ काका हाथरसी

सागर हो तुम धर्म के, कार्य क्षेत्र इन्दौर ।
क्षुल्लक से आचार्य पद, प्राप्त किया सिरमौर ।।

प्राप्त किया सिरमौर, पंच-भाषा विज्ञानी ।
हार्दिक अभिवन्दन करते सब ज्ञानी-ध्यानी ।।

सत्य-अहिंसा का जन गण को मार्ग दिखाओ ।
जिओ सवा सौ वर्ष, धर्म के ध्वज फहराओ ।।

श्रद्धांजलि

□ निर्मल आजाद, प्रधान सम्पादक 'विद्यासागर' (मासिक) जबलपुर

स्याद्वाद का बिगुल बजाया
अलख जगाया ज्ञान का
परमपूज्य गुरुवर मुनी जी
तम भागा अज्ञान का ।

नगर नगर में ग्राम ग्राम मे
नाम आपके चरणों का
जैनी क्या जैनेतर भी
यश गाते है पूज्य मुनी का ।

आज जैन जो जाग रहे हैं
यह कीर्ति है उस वीर की
सत्य अहिंसा का प्रचार
व जय जय जय 'धर्म' वीर की ।

श्रद्धांजलि हे पूज्य ! तुम्हें
कोटि नमन स्वीकार करे
मुनि पंथ के अनुयायी बन
हम पापों का क्षार करें ।

शत बार नमन है

▭ श्री गोकुलचन्द्र 'मधुर' हटा–टीकमगढ़

जिनकी त्याग तपस्याओं मे निर्मल धरा गगन है ।
पूज्याचार्य धर्मसागरजी, को शत बार नमन है ।।

जिनवाणी के वरद पुत्र उमराव बाई के हीरा ।
भाग्यवान वो घड़ी जन्म पाया शुभ नगर गभीरा ।।
त्यागा गृह से नेह, दिगम्बर का धारा शुभ बाना ।
लख संसार अनित्य, धर्म का मर्म सही पहिचाना ।।
हे ! आध्यात्मिक संत, आप सचमुच अनमोल रतन हैं ।
पूज्याचार्य धर्मसागरजी, को शत बार नमन है ।।१।।

तुम हो सच्चे साधक गुरुवर, तपोमूर्ति व्रतधारी ।
आत्म तत्त्व के जल से सीची, अनुपम ज्ञान क्यारी ।।
शंख फूककर धर्म अहिंसा का, सद्ज्ञान दिया है ।
अमृतमय वाणी से युग का, अति उत्थान किया है ।।
कीना आत्म प्रकाश जिन्हे, शिवपुर की लगी लगन है ।
पूज्याचार्य धर्मसागरजी, को शत बार नमन है ।।२।।

इस भारत भूतल की, सचमुच गरिमा पूर्ण कहानी ।
धन्य धन्य ये धरा, धन्य इस बसुन्धरा का पानी ।।
हे संयम के शैल, धर्म के सागर, गुरुवर ज्ञाता ।
सच्चे साधक को पाकर, प्रमुदित जिनवाणी माता ।।
"मधुर" करे अर्पित चरणों मे, श्रद्धा भरे सुमन है ।
पूज्याचार्य धर्मसागरजी को, शत बार नमन है ।।३।।

श्री धर्मसिन्धु स्तवन

□ श्रीधरजी मित्तल 'मनुज' टोंक–राजस्थान

श्री आदि-वीर पर्यन्त प्रभु,
पावन पथ पन्थी धर्म सिन्धु ।
हे वीतराग ! हे वीतद्वेष !
जग जन के बिन कारण बन्धु ।।
श्री शान्ति सिन्धु शुचि परम्परा
माला के सुमन सुवासित हो ।
वर वीर सिन्धु के शिष्य वर्य,
शिवसागर धर्म-सुवारिस हो ।।
आदर्श पात्र हो इस युग के,
रत्नत्रय निधि अवधारण मे ।
शुचि–क्षमा–शील–सयमागार,
नामी हो अनगारी गण में ।।
है धर्म आपसा पा सुधन्य,
धारण कर धर्म सुधन्य आप ।
स्वनाम धन्य हो गए धर्म !
टिक सके न किञ्चित् पाप, शाप ।।
मानव सुधर्म के मूर्त रूप,
सात्त्विक वृत्ति के सतत धनी ।
मुस्कानमयी मुखमण्डल के
संतत अवधारक आप गुनी ।।
सद्दया धर्म पालक प्रवीण,
हो परम अहिंसा के शिक्षक ।
शुचि मूल और गुण के,
हो निरतिचार आप पालक ।।
सुख, शान्ति निराकुल पथदर्शक,
भवसिन्धु पतित जन अवलम्बन ।
मुनि ! सत्यं, शिवं, सुन्दरं के,
सत संगम धर्म ! आप पावन ।।
क्या और अधिक होगा सुत्याग,
तन मात्र परिग्रह बाह्य शेष ।
अन्तर में उससे भी निस्पृह,
निज आत्म मानते निज अशेष ।।
हे तपोधनी ! हे तपोमूर्ति !
तप तपने सु-बारह प्रकार ।
करते कर्मों को क्षार क्षार,
निर्वांछि निकांक्षित भाव-धार ।।
सब शिष्यों के श्रद्धेय आप,
इसमे क्या विस्मय हे मुनिवर !
जन जन के श्रद्धा पात्र आप,
सब ग्राम ग्राम औ नगर नगर ।।
कवि की वाणी मे शक्ति कहां ?
गा सके आपके गुण-गायन ।
बस भक्ति आपकी का प्रसाद,
कर सका "मनुज" किञ्चित् स्तवन ।।

श्री धर्मसिन्धु तुमको प्रणाम

— कु० प्रमिला जैन, एम. ए.
[आर्यिका इन्दुमतीजी संघस्थ]

अवतरित हुए इस जगती पर,
　　तुम जग उपकारक पुण्य धाम ।।
　　　　श्री धर्म सिन्धु तुमको प्रणाम ।।

धर वेष दिगम्बर बाना को,
　　छोड़ा धन वैभव और काम ।
शिक्षा दे सबको ज्ञान दिया,
　　झट किया परिश्रम तज विराम ।
　　　　श्री धर्मसिन्धु तुमको प्रणाम ।।

मर्म धर्म का जान लिया,
　　श्री धर्मसिन्धु यह लिया नाम ।
मिथ्यात्व पाप से मुक्त किया,
　　सब लोग कहे तुम धन्य नाम ।
　　　　श्री धर्म सिन्धु तुमको प्रणाम ।।

गर्वित वाणी नत मस्तक में,
　　आते जब तुमरे चरण धाम ।
वे समझ गये निज कुमति भूल,
　　आ गये राह पर बिन विराम ।
　　　　श्री धर्म सिन्धु तुमको प्रणाम ।।

रज-कण जिनसे पावन होती,
　　करते विहार जब ग्राम-ग्राम ।
पर हित का शुद्ध स्वभाव धार,
　　उपदेश किया फिर धाम धाम ।
　　　　श्री धर्म सिन्धु तुमको प्रणाम ।।

ऐसे गुरुवर धर्मसिंधु के चरणों में शिर झुके हुए हैं

□ सुश्री त्रिशला जैन शास्त्री, लखनऊ

जो यति दिशा रूप अम्बर को अपने तन पे धरे हुए है।
क्रोध मान माया आदिक दुर्भाव जिन्होंने शमन किये हैं।।
है श्रृङ्गार विहीन किन्तु धर्म के आभूषण से सजे हुए हैं।
ऐसे गुरुवर धर्म सिन्धु के चरणों मे शिर झुके हुए है।।१।।

यह भारत भू यती व्रती से हुआ कभी भी रिक्त नही है।
होंगे पञ्चम काल अन्त तक कुन्दकुन्द की यह कथनी है।।
जो अपने तप बल के द्वारा कर्मों को वश किये हुए है।
ऐसे गुरुवर धर्म सिन्धु के चरणो में शिर झुके हुए हैं।।२।।

मृदुता और नम्रता जिनके चरणों मे ही झुकी हुई है।
शिवसागर के बाद संघ की शाखा जिनसे जुड़ी हुई है।।
शान्तिवीर अरु शिवसागर के बाद पट्ट आचार्य हुए है।
ऐसे गुरुवर धर्म सिन्धु के चरणो मे शिर झुके हुए है।।३।।

ऐसे सन्तों का अभिवन्दन जितना करले उतना कम है।
"त्रिशला" का गुरु के चरणो मे सविनय शत २ बार नमन है।।
रवि शशि के समान ऐसे ही मानव जग में अमर हुए है।
ऐसे गुरुवर धर्म सिन्धु के चरणों मे शिर झुके हुए है।।४।।

☼

तुम जो कार्य करना चाहते हो वह सर्वथा अपवाद रहित होना चाहिए, क्योंकि जगत में उसका अपमान होता है जो अपने पद के अयोग्य कार्य करते हैं।

शत-शत नमन त्रिकाल हमारी

▭ कु० चेलना सरंबा, श्राविकाश्रम शोलापुर

प्रा प्राणी मात्र के दया सिन्धु है,
तः तम से दीप्ति जगाते है,
स्म स्मरण करू' हर घडी हर पल मे,
र रङ्क राज सम है जिनके,
णी निर्मोही वन सम पथ दर्शी,
य यतीश्वर धर्म भानु सुखकारी,
आ आगम पथ के है अविनेता,
चा चारित्र पुञ्ज के आप विजेता,
र्य यम नियम के पालन हारी, शत-शत नमन त्रिकाल हमारी ॥१॥

श्री श्री दारिका को ठुकराया है,
ए एक आत्मा मे लीन हुए हैं,
क कल्याण किये है भव्य जनो के,
सौ सौभाग्य स्तुति का आज मिला है,
आ आचार पाँच के पालन हारी,
ठ ठारह दोष के नाशनहारी, शत-शत नमन त्रिकाल हमारी ॥२॥

सत् सद्धर्म वाणी में पटु हैं जगत के,
प्र प्रपंच तनिक सा ना है उनमें,
च चंचलता विषयों की नाही,
र रत्नत्रय की पूर्ण है खानी, यतीश्वर धर्म·················हमारी ॥३॥

धर्म धर्म दिवाकर के नित गुण गाऊँ,
सा सागर को गागर मे कैसे समाऊँ,
ग गंभीर वाणी से दुखियों को तारे,
र रहो वर्ष जितने है, गगन के तारे,
जी जीवन मे किये है उपकार भारी, शत-शत नमन त्रिकाल हमारी ॥४॥

महा–श्रमण

□ श्री जयचन्द जैन, मेरठ–शहर

हे ! धर्म धुरन्धर,
महाश्रमण,
धर्मसागर,
शत् शत् वन्दन
निरग्रन्थ बने,
सब कर दिया —
न्यौछावर ।
हे ! शान्त चित्त,
सरल स्वभावी,
महानतम्
शत् शत् वन्दन ।
तीर्थंकरो की—
हो परम्परा,
उनके अनुगामी ।
तप, ज्ञान, ध्यान —
में लीन,
समता परिणामी ।
हे ! भव्य मूर्ति,
निःशङ्क,
निर्भय,
शीलवान ।
शत् शत् वन्दन ।
शुद्ध चेतना में—
ले विराम
निर्विकल्प-साधना—
के साधक ।
सनातन सत्य—
मोक्ष मार्ग में—
बढ़ रहे—
अविरल
अविश्रामी ।
मौन साधक
बाल ब्रह्मचारी
शत् शत् वन्दन ।
दिव्य सन्देश —
आत्म-शान्ति
अहिंसा का ।
वाणी !
जन जन कल्याणी ।
चिन्तन, मनन,
स्वसंवेदन ।
प्रतिपल,
प्रतिक्षण !
हे ! तत्त्व चिन्तक,
समदर्शी
शत् शत् वन्दन ।
इस कलिकाल में,
अनादि अज्ञान में
धर्म-प्रकाश की
एक किरण ।
आर्य ! धर्मसागर
हो धीर, वीर
गम्भीर
महा श्रमण
महा-साधक
साधु सर्वोत्तम
शत् शत् वन्दन ।

आत्मानुभूति

▭ श्री १०५ क्षुल्लिका प्रवचनमति माताजी

लौकिक उपलब्धियों में समाहित,
मानवीय जीवन के समस्त मूल्य,
प्रयोजन और अर्थ
उद्देश्य और लक्ष्य
कि—
जैसे मायावी तिलिस्मि में,
पाला हुआ भ्रम
और भटका हुआ सत्य
एक भौतिकवादी कथ्य
लेकिन—
अध्यात्मवाद सुझाता है,
यथार्थ के धरातल पर
एक ठोस तथ्य,
और चिरन्तन सत्य।
मात्र कहता है।
एक 'स्व' का अनुभव,
जिसे कहते हैं—
आत्मानुभूति,
ज्ञानानुभूति।
यह अनुभूति
अणु जितनी भी हो जाय
तो—
जैसे बिन्दु से सिन्धु,
अणु से स्कन्ध,
महा से महान् बनता है।
आत्मा !
ठीक वैसे ही
आत्मा से परमात्मा बनता है।

लेकिन
जरूरत है
भावलिंगी
दिगम्बर मुनि
बनने की
तब
उस अनोखी अणु की,
एक अनुभूति,
अनुभव,
'स्व' की,
'स्व' को,
'स्व' मे
सतत्
स्वयमेव रम जाने की
प्रवृत्ति बनेगी।
फिर क्या !
आश्रव द्वार बन्द,
और निर्जरा शुरू !
तीव्र गति से
निश्चित रूप से
एक दिन मुक्ति
किससे ?
अनादि काल से बंधा हुआ,
कर्माण वर्गणाओं से,
साता और असाता से
बारम्बार
जन्म और मरण से
पर्याय क्रम से।

सन्मति शासन

□ साहित्यरत्न श्री वीरेन्द्रप्रसादजी जैन
[संपादक अहिंसावाणी, अलीगञ्ज–एटा]

कल से अधिक चाहिए युग को आज मनुज मन ।
सत्य अहिंसा अपरिग्रह युत सन्मति शासन ।।

भीषण युद्धों की विभीषिका उग्र उग्र तम ।
उद्‌जन अणु परमाणु बमों के ध्वंस कहां कम ?
हाय ! मनुज निर्माण घोंटता, मानव का दम ।
यह कैसा संसार हो रहा पीडन दुर्दम ।
महा नाश ज्वाला पर शान्ति सलिल हो वर्षण,
कल से अधिक चाहिए युग को आज मनुज मन ।
सत्य अहिंसा अपरिग्रह युत सन्मति शासन ।।

उच्छृङ्खलता ने सयम का सङ्गम तोड़ा ।
स्वत्व ऐषणा ने अनीति से नाता जोड़ा ।
मानवता का घाव न दिखता अब तो थोड़ा ।
जीवन ने यह कौन दिशा को निज मुख मोड़ा ?
आज सभ्यता आच्छादन में कटुता प्रसरण ।
कल से अधिक चाहिये युग को आज मनुज मन ।
सत्य अहिंसा अपरिग्रह युत सन्मति शासन ।।

गुरुवर नमोस्तु

□ सुरेश सरल, जबलपुर (म. प्र.)

पूरण करते प्यास धर्मकी, श्रावक गद्‌गद् होते हैं,
ज्योति ज्ञान की करे प्रज्ज्वलित पापों का तम नशते हैं।
यश जो शुभ-सम्भाव्य उन्हें है कभी न उसकी चाह रही है,
है संतोष अपरिमित उनको, फिर किस निधिकी चाह रही है ?

नन्हे से तन की गागर में सागर सभी समाने हैं,
जो जो परिचित हुआ उसीने ज्ञान-बिन्दु सब जाने हैं,
जीवन जिनका बीत रहा है जिनवाणी को सुना-सुना,
चिरकाली-चिरव्यापी जिनवर, जिनने मन में सदा गुना ।

गुरुवर सम्मुख रहे सदा जो मार्ग हमें दिखलाते हैं,
जीवन के हर कठिन मार्ग के प्रश्न तुरत सुलझाते हैं ।
जो हित-मित-प्रिय सतवादी हैं, सत सत नमन हमारा है,
उस पथ के हम हों अनुयायी, जो पथ गुरु ने धारा है ।

वह सपना जीवन है

□ श्री कैलाश मड़बैया

ज्ञानी जिसे आंक न पाया, ध्यानी जहां झांक न पाया,
वह सपना जीवन है।
जन्म जहाँ प्रारम्भ हो रहा, फटे वसन का अन्त हो रहा
उसका नाम मरण है।

जो जितना सुलझा, उलझा इसमें वह
जो जितना बह गया पार हो गया स्यात् वह
जो अन्दर पैठा, दुनिया की कीमत जानी,
हुई कदाचित् मैली उसकी राम कहानी,
कुछ मेले में रहे दिखाते, कुछ ने फाडी बीच डगरिया,
कुछ ने बडे जतन से ओढ़ी ज्यों की त्यों धर दई चुनरिया।
धरती जिसको छाया समझे, सागर जिसको माया समझे
उसका नाम गगन है।
जन्म जहां प्रारम्भ हो रहा, कटे बसनका अन्त हो रहा
उसका नाम मरण है।

शास्त्र और प्रवचन जहां पर रहे अधूरे
तीर्थंकर के अंक न हो पाये हैं पूरे
मंदिर मस्जिद खडे रहे कोटे के बाहर
सेन्दुर बनती रही साधना तीर्थ महावर
बहुत बढे पर खिसक गई मंजिल ही तब तक
और न भावर पड पाई जीवन से अब तक
जनम जिसे सुलझा न पाया, मरण जिसे उलझा न पाया
उसका नाम धरम है।
ज्ञानी जिसे आक न पाया, ध्यानी जहां झांक न पाया
वह सपना जीवन है।

परिभाषा में तथ्य उलझकर हुए उन्होंने
भाषा बदली विषय रहे बौने के बौने
जिस तरुकी छाया ली आज सुखाया उसको
शीतल जलसे नहीं आगसे पूजा उसको;
सत्य खो गये, मिथ्या को हम रखे संजोकर !
भूगोलों की सीमा मे इतिहास कुचलकर।
झुकने वाला ऊपर आता, ऊपर वाला अहम पचाना
उसका नाम नमन है।
जन्म जहां प्रारम्भ हो रहा, फटे बसन का अन्त हो रहा
उसका नाम मरण है।

शान्ति सिन्धु के अनुपम रत्न

□ श्री शान्तिकुमारजी गोधा
[मदनगंज–किशनगढ (राज०)]

दर्शन पा श्री धर्म सिन्धु के सफल हुई सब आशा ।।
भेष दिगम्बर है, ना कोई अन्तर है,
कोई परिग्रह साथ नही है ।
हर्षित हो मन फूले,
इन चरणन को छूले ।।
दर आये शिर नाये इनको, पूरी हो अभिलाषा ।।

दर्शन सम्यक् है, ज्ञान भी सम्यक् है,
है चारित दृढ, वो सम्यक् है ।
घोर परीषह सहते,
निश दिन तप में रहते ।।
आतम की अनुभूति जागी, इन मन नहीं निराशा ।।

पंच महाव्रत हैं, निज आतम रत हैं,
मूलगुणों से, ये धारित है ।
राग और द्वेष नहीं है,
सुख दुख भान नही है ।।
शांति सिन्धु के रतन अनूपम, जिनने धर्म प्रकाशा ।।

तव चरणों में शत शत वंदन

□ ब्र० श्री धर्मचन्द्र शास्त्री, जैन

[संघस्थ]

हे ऋषिवर ! हे यतिवर ! ज्ञानी ।
तव चरणों में शत शत वन्दन ।।

तव वाणी अमृत वर्षाएँ,
दीप शिखा बन पथ दर्शाएँ ।
पावन दर्शन मिलें निरन्तर,
धर्म लाभ पावें नित नूतन ।
तव चरणों मे शत शत वन्दन ।।

सूर्य प्रभा धारक ओजस्वी,
सहे परीषह परम तपस्वी ।
गगा सम निर्मल मन धारक,
तन सुवास महके सम चन्दन ।
तव चरणों में शत शत वन्दन ।।

मोक्ष मार्ग साधक तुम यतिवर,
चले सदा तव पद चिह्नों पर ।
धर्म दिगम्बर के हे नायक,
कोटि कठ करते अभिवन्दन ।
तव चरणों में शत शत वन्दन ।।

आद्यक्षरी-रचना

आचार्य भक्ति की प्रेरणा

☐ धर्मालंकार, वाणीभूषण, संहितासूरि, कमलकुमार जैन गोइल्ल

[सिद्धान्त शास्त्री, व्याकरण, न्याय, काव्यतीर्थ, साहित्य शास्त्री,
प्रतिष्ठाचार्य, विधानाचार्य, कवि—कलकत्ता]

इ—इस ही मानव तनको जिनने, सेवक के सम समझा है।
स—सब इन्द्रिय अरु मन को भी तो स्वयं किया स्वाधीना है ।।
यु—युवकों के भी हृदय पटल पर, धर्म बीज जो बोते है।
ग—गरिमा जिनकी मनमें आई, पाप पुंज बहु धोते हैं ।।
के—केहरि सम निर्भय होकर जो, यहा विचरते रहते है।
दि—दिनरात जिनकी भावना है, लोकके हितके लिये ।।
गं—गंगानदी के नीर सम जो, शीत निर्मलता लिये ।
ब—बनते जिन्हों की भक्तिसे, सब बिगड़ते काम भी।।
र—रमणीयता है तन वदन पर, है आत्मा निष्काम भी।
जं—जैसे हृदयके भाव होते; अच्छे बुरे नितरा जो ।।
न—नय नीति के अनुसार ही तो, बंधते कर्म सुतरा जो।
आ—आशा जिनके मोक्षलाभकी, अविनाशी सुख पाने की।।
चार्—चार्य नही है उभयलोक के, दुखमय सुख उपजाने की।
य—यश अरु अपयश दोनों में जो, समताभाव प्रधानी है।
श्री—श्रीमान तथा धीमान सभीमे, मन वच तन से ध्यानी है।
पू—पूरा जीवन नग्न दिगम्बर, साधु भजन मे लीन रहे।।
ज—जन्म जन्म के पाप कटे सब, पुण्य भाव लवलीन रहे।
नी—नीर सदृश मन निर्मल होकर, गुरु सेवामें लग जावे ।।
य—यम नियमों का पालन करके, मेरा जीवन सुख पावे ।
गु—गुणीजनों की अर्चा चर्चा, पुण्य बन्ध का कारण है ।।
रु—रुग्ण जनों के रोग निवारण, स्वस्थ अवस्था धारण है ।
व—वसना अच्छा आत्म लोक में, सुख साता पहुंचाता है ।।
र—रसना इन्द्रिय वश में रखना, शान्ति सुधा बरसाता है।

अ—अजर अमर पद पाने को ही, मुनिमुद्रा है धारण की ।।
ति—तिस की उपमा देने को कुछ वस्तु नही है प्रापण की ।
श—शमता से बहु खोज बीन की, तो भी साता नहीं मिली ।।
य—यह ही ऐसा अनुपम पद है, सिद्ध सफलता मिली जुली ।
प—पवित्र भावना पुण्य हेतु है, कर्म शास्त्र बतलाता है ।।
र—रसना इन्द्रिय विषय त्याग ही, व्रत का भाव जगाता है ।
म—मन का निग्रह करने से ही, संवर भाव प्रकट होता ।।
आ—आत्म शुद्धि तो निज मे होती, निज से निज का गुण होता ।
द—दर्शन ज्ञान चरित्र तीनों, मोक्ष रूप के दर्शक हैं ।।
र—रमना निज में निज के द्वारा, निज ही निज के मर्शक हैं ।
नी—नीति-निपुणता कीर्ति बढाती, जिससे मन को सुख मिलता ।।
य—यही भाव है उभय लोक में, क्षण क्षण पल पल सुख खिलता ।
आ—आत्म तत्त्व का निर्णय करना, मुख्य कार्य है जीवन का ।।
रा—राज काज तो सब नश्वर हैं, नहीं भरोसा है इनका ।
ध—धन दौलत तो पुण्य वृक्ष के, सुन्दर फल है कहलाते ।।
नी—नीर क्षीर सम काय जीव में, भारी अन्तर हैं पाते ।
य—यह मेरा है वह तेरा है, यही भाव है दुख देता ।।
श्री—श्रीमद् भगवद् जिनवर दर्शन, सदा काल है सुख देता ।
यु—युग-युग जीवो साधु धर्म की, उन्नति जिससे हुआ करे ।।
त—तन मन से भी स्वस्थ रहो, फिर आत्म ज्योति भी जला करे ।
चा—चारों गतियों के दुःखों से, बचना जिनका नेक विचार ।।
रि—रिक्त काय है वस्त्रादिक से, नव जातक सम शुद्धाकार ।
त्र—त्रसस्थावर सब जीवों का नित, जो करते हैं अति उपकार ।।
चलते फिरते उठते सोते, आदि क्रिया में यत्नाचार ।
शि—शिखर लोक की पाने को ही, मुनीन्द्र मुद्रा धारण की ।।
रो—रोप तोष में समता आशा, मोह कर्म के नाशन की ।
म—महिमा सच्ची साधु धर्म की, मुमुक्षु जनों को रुचती है ।।
णि—णिम्मल परिणति भवनाशक यह, विद्वानों की सम्मति है ।
धर—धर्म कर्म में निरत निरन्तर, घोर तपस्वी हे गुरुवर !
म—महिमाशाली ज्ञान तेज से, तेजस्वी हो हे मुनिवर !

सा—साधु संघ के संचालक हो, आचार्य गुणी हो हे यतिवर !
ग—गणनीय गुणों के आकर हो तुम, जग जीवों के अति हितकर ।।
र—रस में डूबे रहते आत्मिक, आत्मगुणों के निर्णायक ।
जी—जीना-मरना लगा हुआ जो, उसके हो तुम निर्णाशक ।।
म—महिमा जिनके अपूर्व त्याग की, लोकोत्तरता प्राप्त हुई ।
हा—हाथ जोडकर शीष नमाकर, भव्योत्तमता उपलब्ध हुई ।
रा—राज काज तो राग बढाते और बढाते आकुलता ।
ज—जब देखो तब मन मे रहती, आकुलता अरु व्याकुलता ।।
की—कीर्ति पताका फैल रही है, सकल दिगम्बर जैनों में ।
ज—जन्म जरा अरु-मरण रोग से, छुटकारे के पाने में ।।
य—यदि सचमुच इच्छा हो तो, लग जाओ गुरुगुण गाने में ।
हो—होगी इससे कमल शक्ति भी, भवसागर तर जाने में ।।
इ—इधर उधर की चहल पहल से, आत्मा का हित नही हुआ ।
स—सभी निमित्त मिले जो ऐसे, जिनसे आत्मिक पतन हुआ ।।
प्र—प्रकट करो निज आत्मबोध को, जिससे हो निज का कल्याण ।
का—काया नर भव को है पाई, प्राप्त करो निज आतम ज्ञान ।।
र—रतिकषाय का त्याग करो सब, जो जग में उलझाती है ।
से—सेवा सच्ची साधु वर्ग की, सभी कष्ट सुलझाती है ।।
गु—गुणी जनो की सच्ची भक्ती, भवसागर तरवाती है ।
रु—रुग्ण जनों को रोग राशि से, निश्चित मुक्ति दिलाती है ।।
से—सेना मोह कर्म की सबको, सभी ओर से घेर रही ।
वा—वात अल्प सी लगती भाई, अनन्त कष्ट है देय रही ।।
ही—हीन भावना मन से त्यागो, जो भव भव मे भटकाती है ।
तो—तोष भावना सर्वश्रेष्ठ है, जो लोभ दशा कटवाती है ।
क—कर कर राग द्वेष को नितप्रति, कष्टों में लटकाती है ।
रो—रोको कर्म जाल सवृति मे, जो भव सन्तति कटवाती है ।।
भा—भाई शैली मधुर भाव से सब के मन को हरषाये ।
ई—ईख सरीखी मिष्ठ कमल हो, कर्ण विवर मे भर जाये ।।

□ श्री दि० जैन वीर संगीत मंडल

[मदनगज–किशनगढ (राज०)]

महिमा अनुपम धर्म गुरूवर, मुख से कहियन जाय।
होजी वहां कंचन बरसै, उस धरती पर, जो गुरु चरणन पाय ।।

धर्म दिवाकर धर्म प्रभावक, धर्म ही नाम सुहाय।
होजी थे तो धर्म ध्वजा फहराई जगतमें, क्या वर्णन कर पाँय ।।

धर्म के नायक धर्म शिरोमणि, धर्म सदा बरसाय।
होजी गुरु परम दिगम्बर, आगम ज्ञाता, धर्म को मर्म बताय ।।

तारण तरण कहाते गुरुवर बेड़ा पार लगाय।
होजी सब धर्म के धारी सब नरनारी दर्शन पा हरषाय ।।

आचार्य पद की बढ़ी है गरिमा, तुमको ऋषिवर पाय।
होजी कोई नाये जो शीश, हृदय धर भक्ति, ताके कर्म नश जाय ।।

☼

धन मान माया त्यागना तो है बडा आसान,
छोडना अपनी जमी भी है भले आसान;
बन्धु बांधव और पत्नी छोड सकता है मनुज,
पर वस्त्र तज होना दिगम्बर है नहीं आसान।

खण्ड-५

लेख-माला

धर्म, दर्शन एवं सिद्धान्त

ॐ
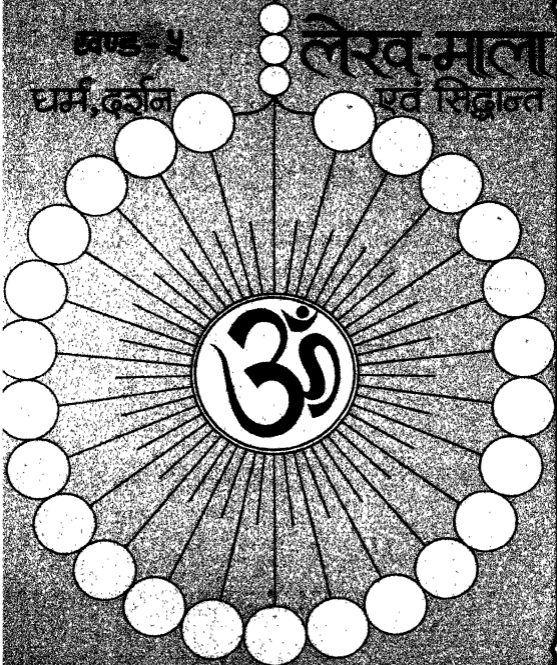
आत्मसाधना का प्रथम सोपान

सम्यग्दर्शन

❖ मुनि श्री वर्धमानसागरजी

[प० पू० आचार्य कल्प श्री श्रुतसागरजी संघस्थ]

लक्ष्य प्राप्ति के लिये की जाने वाली प्रवृत्ति को साधना कहते हैं। हम अनादिकाल से संसार परिभ्रमण करते हुए चतुर्गति में दुःखों का अनुभव कर रहे हैं, कर्मों के बन्धन से बंधे हुए हैं। हमारा चरम लक्ष्य भी यही है कि कर्म बन्धन से मुक्त होकर चतुर्गति रूप संसार के दुःखों से छूटें और अविनाशी सुख को प्राप्त हों। अनन्त व अविनाशी सुख कही बाहर से प्रगट नहीं होना है वह हमारी आत्मा में ही विद्यमान है, किन्तु संसारावस्था में ज्ञानावरणादि कर्मों का आवरण हमारी आत्मा के उस अनन्त-अव्याबाध सुख को प्रगट नहीं होने देता।

जिसप्रकार अणुरूप बीज में विराट वृक्ष होने की शक्ति है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति तभी हो सकती है जब उसे अनुकूल पानी, प्रकाश व पवन की उपलब्धि होती है उसीप्रकार आत्मा में अनादिकाल से शक्ति रूप से विद्यमान अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय को अभिव्यक्त करने के लिए रत्नत्रयी साधनापथ जैनागम में बताया गया है। आचार्यों की सूत्र रूप घोषणा है –"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष-मार्गः" अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान व चारित्र की एकात्मकता ही मोक्ष का मार्ग है। मार्ग से यहां अभिप्राय साधन या उपाय से है, यानी मोक्ष का साधन-उपाय रत्नत्रय है। मोक्ष ही आत्महित है, मोक्ष शाश्वत-अविनाशी सुख है। मोक्ष प्राप्ति में रत्नत्रय प्रधान कारण है और रत्नत्रय में भी सम्यग्दर्शन प्रधान है। अतः यहा सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में ही आगम के परिप्रेक्ष्य में विचार संक्षेप में प्रस्तुत हैं।

सम्यग्दर्शन की प्रधानता :

नगर में जिसप्रकार द्वार प्रधान है, मुख में जिसप्रकार चक्षु प्रधान तथा वृक्ष में जिसप्रकार मूल (जड़) प्रधान है; उसीप्रकार ज्ञान, चारित्र, तप व वीर्य में सम्यग्दर्शन प्रधान है, क्योंकि दर्शन भ्रष्ट ही वास्तव में भ्रष्ट है और दर्शन भ्रष्ट को निर्वाण नहीं होता। क्योंकि जिसका सम्यक्त्व नहीं छूटा है ऐसा चारित्रभ्रष्ट पुनः चारित्र प्राप्त कर लेता है अतः वह संसार में पतन नहीं करता। जिसप्रकार ताराओं में चंद्र और पशुओं में सिंह प्रधान है उसीप्रकार मुनि व श्रावक धर्मों में सम्यक्त्व प्रधान है, क्योंकि सम्यक्त्व के विना ज्ञान व चारित्र भी सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते। अतः रत्नत्रय में सम्यक्त्व ही प्रधान है। अधिक कहने से क्या जो प्रधान पुरुष अतीतकाल में सिद्ध हुए हैं या आगे सिद्ध होंगे वह सब सम्यक्त्व का माहात्म्य जानो।

सम्यग्दर्शन का अधिकारी :

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है और सर्व प्रथम उपशम ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। चारों गति के संज्ञी, पर्याप्त, भव्य, जागृत, साकारोपयोगी जीव ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के अधिकारी हैं। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये अन्य भी कुछ योग्ताएं आगम में कही गईं हैं। वे इसप्रकार हैं—

एक पुद्गलपरिवर्तन का आधा काल व्यतीत हो कर अर्द्धपुद्गल परिवर्तन नामक काल शेष रहने पर इस जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता आती है। यदि इस योग्यता के प्राप्त होने पर वह सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर सका तो पुनः दूसरे पुद्गल परिवर्तन का आधा काल व्यतीत होने पर शेष अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल में सम्यग्दर्शन की योग्यता प्राप्त होती है। यह बात दृष्टान्त से इसप्रकार कही जा सकती है कि एक कर्म भूमि की बाला स्त्री में १३ वर्ष की अवस्था के अनन्तर ही सन्तानोत्पत्ति की योग्यता आती है, किन्तु यदि वह उस पर्याय में सन्तान की उत्पत्ति नहीं कर सकी तो पुनः कर्म भूमि मे स्त्री पर्याय प्राप्त होने पर उसे १३ वर्ष की अवस्था के अनन्तर ही सन्तानोत्पत्ति की योग्यता प्राप्त होगी उससे पूर्व नहीं। यही बात अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन काल के सम्बन्ध मे भी जानना चाहिये। "भवभ्रमण का अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन प्रमाण काल शेष रहने पर सम्यग्दर्शन की योग्यता प्राप्त होती है" इस मान्यता का समाधान धवल टीका के इन शब्दों से होता है कि "एक्केण अणादिमिच्छादिट्ठिणा तिण्णि करणाणि कादूण उवसमसम्मत्तं पडिवण्णपढमसमए अणंतो ससारो छिण्णो अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो कदो" (ध० पु० ५ पृ० ११) "एक्केण अणादिमिच्छादिट्ठिणा तिण्णि करणाणि करिय उवसमसम्मत्तं संजमं च अक्कमेण पडिवण्ण, पढमसमए अणंतसंसारं छिंदिय अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तं कदेण अप्पमद्धा अंतोमुहुत्तमेत्ता अणुपालिदा। (ध० पु० ५ पृ० ११) इत्यादि उल्लेखों से यह भाव प्रकट होता है कि सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्ति के लिये भव भ्रमण का अर्द्ध पुद्गल प्रमाणकाल शेष रहने का नियम नही है। हा! सम्यक्त्व हो जाने पर वह उसके प्रभाव से अनन्त संसार को छेदकर अर्द्ध पुद्गल प्रमाण कर लेता है। महर्षि पूज्यपाद आचार्य एवं अकलक देव के जिन वचनो को लेकर संसार परिभ्रमण का काल अर्द्ध पुद्गल परावर्तन शेष रहने की जो मान्यता चल पड़ी है वह उभय आचार्यों के निम्न वचनो मे है ही नही वहा भव या संसार शब्द ही नही दिया गया है। वे मूल शब्द इसप्रकार है—

"अनादिमिथ्यादृष्टेर्भव्यस्य कर्मोदयापादित कालुष्ये सति कुतस्तदुपशमः? काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्। तत्र काललब्धिस्तावत्—कर्माविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्द्ध पुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके काले इति। इयमेका काललब्धिः। (सर्वार्थसिद्धि अ० २ सूत्र ३)। काललब्ध्याद्यपेक्षा तदुपशमः ।।२।। काललब्ध्यादीन् प्रत्ययानपेक्ष्य तासा प्रकृतीनामुपशमो भवति। तत्र काललब्धिस्तावत्—कर्माविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्द्ध पुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके, इतीय काललब्धिरेका। (तत्त्वार्थ राजवार्तिक अ० २ सूत्र ३) आचार्यद्वय के इन शब्दो के अनुसार ही इस बात को ऊपर हम लिख ही चुके है।

दूसरी बात यह है कि बध्यमान कर्मों की स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण हो तथा सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति संख्यातहजारसागर कम अन्तः कोड़ाकोडीसागर प्रमाण रह गई हो वही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। इससे अधिक स्थिति बन्ध पड़ने पर सम्यग्दर्शन प्राप्त नही हो सकता। तथैव जिसके अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग द्विस्थानगत और प्रशस्त प्रकृतियो का अनुभाग चतुःस्थानगत होता है वही औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। मनुष्य व तिर्यंच तो तीन शुभ लेश्याओं मे से किसी भी लेश्या में और देव-नारकी के जहा जो लेश्या बतलाई गई है उसी में औपशमिक सम्यग्दर्शन हो सकता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये गोत्र का कोई प्रतिबन्ध नहीं, जहां उच्च व नीच गोत्र मे से जो भी सम्भव हो उसी गोत्र में सम्यग्दर्शन हो सकता है।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप :

जैनागम में चारों अनुयोगों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के विभिन्न लक्षण प्रतिपादित किये गए है। यदि हम प्रथमानुयोग और चरणानुयोग की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के स्वरूप पर विचार करेगे तो आर्षवाणी में परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु की शंकादि पच्चीस दोष रहित श्रद्धा करना, दृढ़ प्रतीति करना सम्यग्दर्शन कहा है। द्रव्यानुयोग की दृष्टि से 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' अर्थात् जीवादि सप्त पदार्थों का जैसा स्वरूप कहा गया है, वैसा ही श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अथवा परमार्थ से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन हैं। अर्थात् इन नौ पदार्थों का परमार्थ रूप से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इसी द्रव्यानुयोग में स्व-पर के श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन कहा गया है तथा आत्म श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन कहा गया है। करणानुयोग की अपेक्षा दर्शन मोहनीय की तीन तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम व क्षय से उत्पन्न होने वाली श्रद्धा.गुण की निर्मल परिणति को सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

वस्तु अनन्तगुणो का अखण्डपिण्ड है। इसके स्वरूप का परिज्ञान अनेकान्तात्मक वस्तु के स्वरूपज्ञान से होता है। चारित्ररूप धर्म रत्नत्रय का ही रूपान्तर है। इस धर्म का मूल स्तम्भ सम्यग्दर्शन है, सम्यग्दर्शन के अभाव मे ज्ञान व चारित्र सम्यक्-समीचीन नही कहे जा सकते। सम्यग्दर्शन आत्मसत्ता की आस्था है और है स्वस्वरूप का दृढ़ निश्चय। सम्यग्दर्शन के अनुयोग चतुष्टयापेक्षा उपर्युक्त लक्षणो में परस्पर विरोध नहीं है। करणानुयोग सम्बन्धी जो सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा गया है वह साध्य तथा अन्य लक्षण उसके साधन हैं। अत: कारण में कार्य का उपचार करके उन्हे भी सम्यग्दर्शन कहा गया है। अन्तरङ्ग में जिसके दर्शनमोहनीय की तीन एवं अनन्तानुबन्धी क्रोधादि चार इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने से श्रद्धागुण की प्रकटता हो चुकी उसको परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, सप्ततत्त्वों का स्वरूप श्रद्धान, स्व-पर का भेद विज्ञान और आत्म श्रद्धान निश्चित ही होगा।

सम्यग्दर्शन के भेद :

सामान्य से सम्यग्दर्शन का एक ही भेद है। निसर्गज और अधिगमज, निश्चय व व्यवहार, सराग व वीतराग के भेद से दो प्रकार का सम्यग्दर्शन। औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक के भेद से तीन प्रकार का। आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ तथा परमावगाढ़ के भेद से १० प्रकार का, शब्दों की अपेक्षा सख्यात, श्रद्धान करने वालों को अपेक्षा असंख्यात और श्रद्धान करने योग्य पदार्थों व अध्यवसायों की अपेक्षा अनन्त प्रकार का सम्यग्दर्शन होता है। प्रस्तुत लेख में प्रधानतया औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन का विचार किया जा रहा है।

औपशमिक–सम्यग्दर्शन :

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया व लोभ के उपशम से औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। जिसप्रकार कीचड़ युक्त पानी में निर्मली डालने से कीचड़ नीचे बैठ जाता है और पानी निर्मल हो जाता है उसी प्रकार उपर्युक्त सप्त प्रकृतियों के उपशम से पदार्थों का निर्मल श्रद्धान होता है। यह उपशम सम्यक्त्व असंयतगुणस्थान से उपशान्तकषाय नामक ११ वें गुणस्थान तक होता है। औपशमिक-सम्यग्दर्शन के प्रथमोपशम व द्वितीयोपशम के भेद से दो भेद हैं।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व :

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता रखने वाला संज्ञी पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, विशुद्धियुक्त, जागृत, साकारोपयोगी, चारों गति में स्थित अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व धारण करने के

सम्मुख होता है तब वह क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण लब्धियों को प्राप्त होता है। इन पांच लब्धियों में से आदि की चार लब्धियां तो भव्य और अभव्य दोनों को होती है, किन्तु करण लब्धि भव्यजीव के ही होती है तथा नियम से सम्यग्दर्शन को प्राप्त कराती है।

पंचलब्धि का स्वरूप :

क्षायोपशमिक लब्धि—पूर्वसंचित कर्मपटल के अनुभागस्पर्धकों का विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनन्त-गुणित हीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त होना क्षायोपशमिक लब्धि है। इस लब्धि के द्वारा जीव के परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल होते जाते है।

विशुद्धिलब्धि—सातावेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियों के बन्ध में कारण भूत परिणामों की प्राप्ति विशुद्धिलब्धि है।

देशनालब्धि—छहों द्रव्य और नौ पदार्थों के उपदेश को देशना कहते है। उक्त देशना के दाता आचार्य आदि की प्राप्ति होना और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारणा की शक्ति की प्राप्ति देशनालब्धि है।

प्रायोग्यलब्धि—आयुकर्म के बिना शेष कर्मों की स्थिति को अन्त.कोडाकोड़ीसागर प्रमाण कर देना और अशुभ कर्मों में से घातियाकर्मों के अनुभाग को लता और दारु इन दो स्थानगत तथा अघातिया कर्मों के अनुभाग को नीम व काजी रूप दो स्थानगत कर देना प्रायोग्यलब्धि है।

करणलब्धि—करण परिणामों को कहते हैं। सम्यग्दर्शन को प्राप्त कराने वाले परिणामों की प्राप्ति को करणलब्धि कहते है। इसके अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणरूप तीन भेद है। अध:करण मे आगामी समय में रहनेवाले जीवो के परिणाम पिछले समयवर्ती जीवों के परिणामो से मिलते-जुलते होते है। इसमें समसमयवर्ती जीवों के परिणाम समान व असमान दोनो प्रकार के होते है। परिणामों की समानता और असमानता नाना जीवों की अपेक्षा घटित होती है। इस करण का काल अन्तर्मुहूर्त है और उसमें उत्तरोत्तर समानवृद्धि को लिये हुए असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हे।

जिसमें प्रतिसमय अपूर्व-अपूर्व (नये-नये) परिणाम हों उसे अपूर्व करण कहते हैं। अपूर्वकरण मे समसमयवर्ती जीवों के परिणाम समान और असमान दोनो प्रकार के होते है, किन्तु भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम समान भी हो सकते है और असमान भी। यह कथन भी नाना जीवों की अपेक्षा है। इस करण का काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, किन्तु यह अन्तर्मुहूर्त अध.प्रवृत्तकरण के अन्तर्मुहूर्त से छोटा है। इस अन्तर्मुहूर्त प्रमाणकाल में भी उत्तरोत्तर वृद्धि को लिये हुए असख्यातलोकप्रमाण परिणाम होते है।

जहा एक समय में एक ही परिणाम होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते है। इस करण मे समसमय-वर्ती जीवो के परिणाम समान ही होते है और विषम समयवर्ती जीवो के परिणाम असमान ही होते है। इसका कारण यह है कि यहा एक समय मे एक ही परिणाम होता है अत: उस समय में जितने जीव होंगे उन सबके समान ही परिणाम होंगे और भिन्न समयों मे जो जीव होगे उनके परिणाम भिन्न ही होंगे। इस करण का काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है, किन्तु अपूर्व करण की अपेक्षा छोटा अन्तर्मुहूर्त है। इन तीनो करणों में परिणामों की विशुद्धता उत्तरोत्तर बढती रहती है।

अध: करण और अपूर्वकरण मे चार-चार आवश्यक होते हैं। उन आवश्यकों में प्रतिसमय अनन्त-गुणी विशुद्धता, प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त मे नवीनबन्ध की स्थिति घटती जाती है, प्रतिसमय प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग अनन्त गुणा बढ़ता जाता है और प्रतिसमय अप्रशस्तप्रकृतियो का अनुभाग अनन्तवा भाग घटता जाता

है। ये चार आवश्यक अधःकरण सम्बन्धी है। अपूर्वकरण में अधःकरण में होने वाले चार आवश्यकों के साथ ये चार कार्य और होते हैं—सत्ता स्थित पूर्व कर्मों की स्थिति प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में उत्तरोत्तर घटती जाती है। इसे स्थितिकाण्डकघात कहते हैं। प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त मे उत्तरोत्तर पूर्व कर्म का अनुभाग घटता जाता है, यह अनुभाग-काण्डक घात है। गुण श्रेणी के काल मे क्रम से असंख्यात गुणित कर्म, निर्जरा के योग्य होते है अतः गुण श्रेणी निर्जरा होती है। प्रतिसमय मिथ्यात्व के असंख्यातगुणे—असंख्यातगुणे द्रव्य को सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्वरूप संक्रमित करना, यह गुण संक्रमण है। इसप्रकार अपूर्वकरण मे स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, गुणश्रेणी निर्जरा और गुण संक्रमण ये चार आवश्यक होते है, अपूर्वकरण के पश्चात् अनिवृत्तिकरण होता है, इसका काल अपूर्वकरणकाल के संख्यातवे भाग प्रमाण है। अनिवृत्तिकरण में पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना ही काल व्यतीत होने पर अन्तरकरण होता है अर्थात् अनिवृत्तिकरण के काल के पीछे उदय आने योग्य मिथ्यात्वकर्म के निषेकों का अन्तर्मुहूर्त के लिये अभाव होता है। [विवक्षित कर्मों को अधस्तन और उपरिम स्थितियों को छोडकर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितियों के निषेकों का परिणामविशेष के द्वारा अभाव करने को अन्तरकरण कहते है।] अन्तरकरण के पीछे उपशमकरण होता है अर्थात् अन्तरकरण में अभावरूप किये हुए निषेकों के ऊपर जो मिथ्यात्व के निषेक उदय मे आने वाले थे उन्हे उदीरणा के अयोग्य किया जाता है, साथ ही अनन्तानुबन्धी चतुष्क को भी उदय के अयोग्य किया जाता है। इसप्रकार उदय योग्य प्रकृतियों का अभाव होने से प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। पश्चात् प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय में मिथ्यात्व प्रकृति के तीनखण्ड करता है, किन्तु राजवार्तिककार अकलंक देव का मत है कि अनिवृत्तिकरण के चरम समय मे मिथ्यात्व के तीन खण्ड करता है। इसी का समर्थन धवल पु० ६ के निम्न सूत्रो से भी होता है।

"ओहट्टेदूण मिच्छत्तं तिण्णि भागं करेदि सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं ॥७॥ दंसणमोहणीयं कम्मं उवसामेदि ॥८॥" अर्थात् अन्तरकरण करके मिथ्यात्व कर्म के सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वरूप तीनखण्ड करता है पश्चात् दर्शनमोहनीयकर्म का उपशम करता है।

इसप्रकार सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया व लोभ इन सप्त-प्रकृतियों के उपशम से उपर्युक्त विधि से प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्व :

प्रथमोपशम और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का अस्तित्व चतुर्थगुणस्थान से लेकर सप्तमगुणस्थान तक ही रहता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को धारण करनेवाला [1]चतुर्थगुणस्थान से सप्तम गुणस्थान पर्यन्त के जीव को द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। इसका अभिप्राय है कि छठे-सातवे गुणस्थान मे असंख्यात बार आरोहण-अवरोहण करने वाला जीव परिणाम गिरने से चतुर्थगुणस्थान में पहुचता है तो वहां अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्टय की विसंयोजना और दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियो की उपशामना करके द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता हुआ अन्तर्मुहूर्तकाल में सप्तमगुणस्थान में पहुंच जाता है और वहां से आगे फिर उपशम श्रेणी पर आरोहण करता है तथा उपशम श्रेणी से ग्यारहवे गुणस्थान तक जाता है। यदि ११ वें गुण-स्थान में आयुक्षय हो जाने के कारण मरण करता है तो मरकर सर्वार्थसिद्धि नामक अनुत्तर विमान तक के वैमानिक देवों मे उत्पन्न होता है। कालक्षय के निमित्त से ११वे गुणस्थान से पतन कर नीचे आता है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन :

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियों के वर्तमान काल में उदय आने वाले निषेको का उदयाभावी क्षय तथा आगामीकाल में उदय आने वाले निषेकों का

---

१ मूलाचार अ० १२ गा० २०५ की संस्कृत टीका, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ४८४ की टीका।

सदवस्थारूप उपशम एवं सम्यक्त्व प्रकृति के उदय रहने पर जो सम्यक्त्व होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इस सम्यक्त्व मे सम्यक्त्व प्रकृति का उदय रहने से चल, मल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते रहते हैं। छह सर्वघाती प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम को प्रधानता देकर जब इसका वर्णन होता है तब इसे क्षायोपशमिक कहते हैं और जब सम्यक्त्व प्रकृति के उदय की अपेक्षा वर्णन होता है तब इसे वेदक-सम्यग्दर्शन कहते हैं। ये दोनों पर्यायवाची हैं।

इस सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति सादिमिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों के हो सकती है। सादिमिथ्यादृष्टियों में जो वेदककाल के भीतर रहता है उसे वेदक सम्यग्दर्शन ही होता है। प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टि जीव को चतुर्थ से लेकर सप्तमगुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में इसकी प्राप्ति हो सकती है। यह सम्यग्दर्शन चारों गतियों में उत्पन्न हो सकता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन :

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ इन सात प्रकृतियों के क्षय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह क्षायिकसम्यक्त्व कहलाता है। क्षायिकसम्यग्दर्शन दर्शन मेरु की भांति निष्प्रकम्प होता है, निर्मल व अक्षय-अनन्त होता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टिजीव चारों ही गतियों में पाये जाते हैं।

दर्शनमोहनीय की क्षपणा का प्रारम्भ कर्मभूमिज मनुष्य ही केवली या श्रुतकेवली के पादमूल मे करता है, किन्तु इसका निष्ठापन चारों गतियों मे हो सकता है। क्षायिकसम्यग्दर्शन वेदकसम्यक्त्व पूर्वक ही होता है एवं चतुर्थगुणस्थान से सप्तमगुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान मे हो सकता है। एक बार होकर छूटता नहीं इस अपेक्षा यह सादि–अनन्त है। क्षायिकसम्यग्दृष्टि या तो उसी भव में मोक्ष चला जाता है या तीसरे भव में या चौथे भव में, चौथेभवसे अधिक संसार में नही रहता। जो क्षायिकसम्यग्दृष्टि बद्धायुष्क होने से नरक में जाता है अथवा देवगति में उत्पन्न होता है वह वहां से मनुष्य होकर मोक्ष जाता है। इसलिये वह तीसरे भव में मोक्ष जाता है और जो भोग भूमि में मनुष्य या तिर्यञ्च होता है वह वहा से देव गति में जाता है तथा वहां से आकर मनुष्य हो मोक्ष जाता है, इसप्रकार चतुर्थभव में उसका मोक्ष जाना घटित होता है। चारों गति की आयु में से किसी भी एक आयु का बन्ध होने पर सम्यक्त्व हो सकता है इसलिये बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि का चारों गतियों में जाना सम्भव है। यह तो निश्चित नियम है कि सम्यक्त्व सहित मनुष्य या तिर्यंच यदि आयु का बन्ध करते है तो देवायु का ही बन्ध होता है और यदि देव या नारकी सम्यक्त्व सहित आयु बन्ध करते हैं तो नियम से मनुष्यायु का ही करते हैं। उपशमसम्यक्त्व में आयु का बन्ध नही होता है।

इसप्रकार प्रधानतया औपशमिक, क्षायोपशमिक व क्षायिक सम्यग्दर्शन के स्वरूप का वर्णन किया अब सम्यग्दर्शन के अन्य भेदों के सम्बन्ध में भी संक्षेप से आगे विचार किया जाता है—

निसर्गज–अधिगमज भेद :

उत्पत्ति की अपेक्षा उमास्वामी आचार्य ने "तन्निसर्गादधिगमाद्वा" इत्यादि सूत्र के द्वारा सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमजरूप दो भेद किये हैं। पूर्व संस्कार की प्रबलता से अन्य की देशना के बिना स्वतः ही उत्पन्न होता है वह निसर्गज और परोपदेश पूर्वक होने वाला सम्यग्दर्शन अधिगमज कहलाता है। इन दोनो ही सम्यग्दर्शनों में अन्तरङ्ग कारण तो मिथ्यात्वादि तीन दर्शनमोहनीय की और अनन्तानुबन्धी क्रोधादि चार प्रकृतियों का उपशमादि होना समान ही है।

निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शन :

मोक्षरूपी वृक्ष का मूल और सब रत्नों में सारभूत सम्यग्दर्शनरूप रत्न निश्चय व व्यवहार के भेद से भी दो प्रकार का है।

हिंसादि रहित धर्म, अठारह दोष रहित देव, निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग व गुरु इनमे श्रद्धा होना; आप्त-आगम और तत्त्वों का श्रद्धान अथवा जीवादि सप्त तत्त्वों का षड् द्रव्यों का, नौ पदार्थों का व पंच अस्तिकाय का जैसा स्वरूप है वैसा ही जिनेन्द्र भगवान की आज्ञानुसार अधिगम कर श्रद्धान करना व्यवहार-सम्यग्दर्शन है। यह व्यवहारसम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्दर्शन का साधन है।

जीवादि सात तत्त्वों के विकल्प से रहित शुद्ध आत्मा के श्रद्धान को निश्चय सम्यग्दर्शन कहते है। विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावरूप निज परमात्मा में रुचि या निज शुद्धजीवास्तिकाय की रुचि को निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं। अथवा शुद्धोपयोग रूप निश्चयरत्नत्रय की भावना से उत्पन्न परम आल्हादरूप सुखामृत रस का आस्वादन ही उपादेय है, इन्द्रियजन्य सुखादि हेय हैं। ऐसी प्रतीति, रुचि होना तथा वीतरागचारित्रका अविनाभावी ऐसा जो वीतरागसम्यग्दर्शन है वही निश्चयसम्यक्त्व है।

सराग वीतराग भेद :

सम्यग्दर्शन के सराग व वीतरागरूप दो भेद भी कहे गये हैं। प्रथम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य की अभिव्यक्ति लक्षणवाला सम्यग्दर्शन सराग तथा आत्मा की विशुद्धि मात्र वीतराग सम्यग्दर्शन है। प्रशस्तराग सहित जीवों का सम्यक्त्व सरागसम्यक्त्व तथा प्रशस्त-अप्रशस्त राग से रहित क्षीणमोही वीतरागियों का सम्यक्त्व वीतरागसम्यक्त्व है। चतुर्थगुणस्थान से छठे गुणस्थान तक स्थूल सराग सम्यग्दृष्टि, सप्तगुणस्थान से दशमगुणस्थानतक सूक्ष्म सराग सम्यग्दृष्टि है। ११वें से १४वे गुणस्थान तक वीतराग सम्यग्दृष्टि है। सकल मोह का उदयाभाव तथा सत्ता से नाश हो जाने से वास्तव में वे वीतराग हैं या वीतरागचारित्र के धारक हैं। वीतराग सम्यग्दर्शन वीतराग चारित्र का अविनाभावी है।

आज्ञादि दश भेद :

ज्ञानप्रधान निमित्तादि की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के आज्ञा, मार्ग आदि १० भेद किये है। दर्शनमोह के उपशान्त होने से ग्रन्थश्रवण के बिना केवलवीतराग भगवान् की आज्ञा से ही जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है वह आज्ञा सम्यक्त्व है। दर्शनमोह का उपशम होने से ग्रन्थश्रवण के बिना जो कल्याणकारी मोक्षमार्ग का श्रद्धान होता है उसे मार्ग सम्यग्दर्शन कहते हैं। त्रेसठ शलाका पुरुषों के पुराण (वृत्तान्त) के उपदेशों से जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है उसे उपदेश सम्यग्दर्शन कहते है। मुनि के चारित्रानुष्ठान का वर्णन करनेवाले आचार सूत्र सुनकर जो तत्त्व श्रद्धान होता है उसे सूत्र सम्यग्दर्शन कहा है। जिन जीवादि पदार्थों के समूह का अथवा गणितादि विषयों का ज्ञान दुर्लभ है उनका किन्हीं बीज पदों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले भव्य जीवों के दर्शन मोहनीय के असाधारण उपशम वश जो तत्व श्रद्धान होता है वह बीज सम्यक्त्व है। जो भव्यजीव पदार्थों के स्वरूप संक्षेप से ही जानकर तत्त्व श्रद्धान को प्राप्त हुआ उसका वह सम्यग्दर्शन सक्षेप सम्यग्दर्शन है। जो भव्य जीव अंग-पूर्व के विषय, प्रमाण-नय आदि के द्वारा जिन्हे तत्त्वश्रद्धान होता है उनका वह सम्यग्दर्शन विस्तार सम्यग्दर्शन है। अङ्गबाह्य आगमों को पढने के बिना उनमे प्रतिपादित किसी पदार्थ के निमित्त से जो तत्त्वश्रद्धान होता है वह अर्थ सम्यग्दर्शन है। अंग व अंगबाह्यरूप श्रुत का अवगाहन कर जो सम्यक्त्व होता है वह अवगाढ़ सम्यग्दर्शन है। केवलज्ञान के द्वारा देखे गये पदार्थों में जो रुचि होती है वह परमावगाढ सम्यक्त्व है।

सम्यग्दर्शन के ज्ञापक लक्षण :

आत्मा के श्रद्धागुण की अभिव्यक्ति सम्यग्दर्शन है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति हुई या नहीं इसका बाह्य ज्ञान करनेवाले प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार लक्षण है इन्हे ज्ञापक लक्षण कहा गया है।

प्रशम—अनादिकाल से आत्मा के साथ सम्बद्ध अनन्तानुबन्धी क्रोध मान, माया व लोभ रूप कषायों का उपशम होने पर तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय के मन्द उदय में प्रशमगुण अभिव्यक्त होता है। प्रशमगुण

आत्मा को निर्मल बनाता है, मानसिक विकारों को दूर करता है। राग-द्वेष रूप विकारों के उपशम से हो। वाले प्रशमगुण से जीव की विकृत अवस्था दूर होती है निर्मल प्रवृत्ति जागृत होती है। इसप्रकार सम्यक्त्व क अविनाभावी प्रशमभाव सम्यग्दृष्टि का परमगुण है।

संवेग—संसार के दु:खों से भयभीत होना संवेग है। इस गुण के उत्पन्न होने से आत्मा में शुद्धि उत्पन्न होती है। जो व्यक्ति इस संसार में रहते हुए विचार करता है कि यह आत्मा अकेला ही राग-द्वेष-मोह के कारण आत्मा के साथ बद्ध कर्मों के फल का भोक्ता है। यह संसारचक्र अनादिकाल से चल रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। मुझे यहां आयु पूर्ण होने पर अन्य नरकादि दु:खमय गतियों में बार-बार जन्म लेना पड़ेगा। इसप्रकार जब तक संसार से संवेग उत्पन्न नहीं होगा तब तक अहंकार-ममकार रूप परिणति दूर नहीं होगी। संक्षेप में इतना ही है कि आत्मा की ओर उन्मुखता रखते हुए और आत्मातिव्यतिरक्त पदार्थों से अनासक्त भाव होना, संसार के दु:खों से छूटने की भावना होना संवेग है।

अनुकम्पा—जिसप्रकार हमें अपनी आत्मा प्रिय है उसीप्रकार अन्य प्राणियों को भी प्रिय है, जो व्यवहार हमें अरुचिकर प्रतीत होता है वह दूसरे प्राणियों को भी अरुचिकर प्रतीत होता होगा। इसप्रकार चिन्तन कर संसार के प्राणियों में दृश्यमान दु:खों व वेदनाओं से द्रवित हो उठना और उन दु:खों के निराकरण के लिए प्रयत्न करना अनुकम्पा है। इसप्रकार समस्त जीवों में दया का भाव अनुकम्पा गुण है। अनुकम्पा आठ प्रकार की होती है—

द्रव्यानुकम्पा—अपने समान अन्य प्राणियों का पूरा ध्यान रखना और उनके साथ अहिंसक व्यवहार करना।

भावानुकम्पा—अन्य प्राणियों को अशुभ कार्य करते हुए देखकर अनुकम्पा बुद्धि से उपदेश देना।

स्वानुकम्पा—आत्मालोचन करना एवं सम्यग्दर्शन धारण करने में प्रयत्नशील रहना तथा अन्तरंग में रागादि विकार उत्पन्न नहीं होने देना।

परानुकम्पा—षट्काय के जीवों की रक्षा करना।

स्वरूपानुकम्पा—सूक्ष्म विवेकद्वारा अपने स्वरूप का विचार करना, आत्मापर कर्मों का जो आवरण आ गया है उसे दूर करने का उपाय सोचना।

अनुबन्धानुकम्पा—मित्रों, शिष्यों या अन्य प्राणियों को हित की दृष्टि से उपदेश देना तथा कुमार्ग से सुमार्ग पर लाना।

व्यवहारानुकम्पा—उपयोग और विधिपूर्वक अन्य प्राणियों की सुख-सुविधाओं का पूरा-पूरा ध्यान रखना।

निश्चयानुकम्पा—शुद्धोपयोग मे एकताभाव और अभेदोपयोग का होना, समस्त पर-पदार्थों से उपयोग हटाकर आत्म परिणति में लीन होना निश्चयानुकम्पा है।

आस्तिक्य—जीवादि पदार्थों को स्वीकार करने रूप बुद्धि का होना आस्तिक्य भाव है। आत्मा स्वतंत्र द्रव्य है, अनन्त है, अमूर्त है, ज्ञान-दर्शनयुक्त है, चेतन है और है ज्ञानादिपर्यायों का कर्ता। इस आत्मस्वरूप के साथ अजीवादि तत्त्वों के सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए आत्मा की विकृत परिणति को दूर करने के हेतु सप्ततत्त्वों के स्वरूप पर दृढ़ आस्था रखना आस्तिक्यभाव है। उपर्युक्त चारों भावों में से प्रशम, संवेग और अनुकम्पा तो कदाचित् अन्य लोगों के अनुमान गम्य भी हो सकता है, किन्तु आस्तिक्य भाव स्वयं गम्य हो सकता है। यदि जीवन में आस्तिक्यभाव है तो समग्र विश्व का कोई भी प्रलोभन या दु:ख व्यक्ति को अपने स्थान से च्युत नहीं कर सकता है।

सम्यग्दर्शन के अंग :

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर जिन आठ अंगों का होना अनिवार्य है उनका विवेचन अब किया जाता है। जिसप्रकार मानव शरीर में दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, पृष्ठ, उरस्थल और मस्तक ये आठ अंग होते हैं और इन आठ अङ्गों के परिपूर्ण रहने पर ही मनुष्य कार्य करने में समर्थ होता है। इसीप्रकार सम्यग्दर्शन के निःशंकितत्व, निःकांक्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व, अमूढदृष्टित्व, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अंग हैं। इन आठ अंगों के मिलने से ही सम्यग्दर्शन की पूर्णता होती है। जिसप्रकार कम अक्षरोंवाला मन्त्र विषवेदना को नष्ट करने में असमर्थ रहता है उसीप्रकार हीन अंग वाला सम्यग्दर्शन संसार परम्परा का नाश नहीं कर सकता है। निःशंकितादि आठ अगो में वैयक्तिक उन्नति के लिए प्रारम्भिक चार अंग तथा शेष चार अंग वैयक्तिक व सामुदायिक दोनों ही उन्नति के लिये आवश्यक हैं।

निःशंकित—वीतरागी, हितोपदेशी और सर्वज्ञ भगवान के वचन कदापि मिथ्या नहीं हो सकते। मिथ्याभाषा के प्रयोग मे कारण अज्ञान और कषाय है, किन्तु जिनेन्द्रदेव वीतरागी और सर्वज्ञ हैं, रागद्वेष-मोह से रहित, निष्कषाय हैं। अतः उनके वचनों पर दृढ़ आस्था रखते हुए उनके द्वारा कथित सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों में भी शंका नही करना निःशंकित अंग है।

निःकांक्षित—सांसारिक सुख सान्त, बाधासहित, आकुलता उत्पन्न करनेवाला है और उसका फल अन्त मे दुःख रूप ही है अतः कर्मों के आधीन उस सुख की कांक्षा नही करना निःकांक्षित अंग है। सम्यग्दृष्टि सांसारिक सुख की या भोगों की आकांक्षा नही करता है।

निर्विचिकित्सा—वस्तुतः मनुष्य की देह अपवित्र है, तथापि रत्नत्रय के द्वारा पूज्यता को प्राप्त हो जाता है। इसी कारण मुनिगण, देह सम्बन्धी सस्कारो से अतीत होते है, उनके मलीन शरीर को देखकर मन मे ग्लानि नहीं करना अथवा जुगुप्सेय (निंदित) वस्तु को देखकर मन मे ग्लानि का प्रादुर्भाव नही होना निर्विचिकित्सा अंग है।

अमूढदृष्टि—जीवन में विवेक स्थिर करने के लिए मूढता का परित्याग करना परमावश्यक है। सम्यग्दृष्टि की प्रत्येक प्रवृत्ति विवेकपूर्ण होती है। अतः मिथ्यामार्ग एवं उसको धारण करनेवाले की प्रशंसा नहीं करता और न उसे उपादेय ही मानता है। वह श्रद्धालु तो होता है, किन्तु अन्धश्रद्धालु नही। अन्धश्रद्धा का त्याग ही अमूढदृष्टित्व है।

उपगूहन-अंग—रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग स्वभावतः निर्मल है। उपगूहन का अर्थ है 'छिपाना'। यदि अज्ञानी अथवा शिथिलाचारियों द्वारा निर्मल रत्नत्रय मे कोई दोष उत्पन्न हो जावे—लोकापवाद का प्रसंग प्राप्त हो जावे तो सम्यग्दृष्टि जीव उसको छिपाता है, उसका निराकरण करता है। यह उपगूहन कहलाता है। इसका दूसरा नाम उपबृंहण भी है जिसका अर्थ वृद्धि करना, बढाना या पोषण करना। अर्थात् उत्तम क्षमादि भावनाओं के द्वारा आत्मा के धर्म की वृद्धि करना उपबृंहण गुण है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने गुणों को एवं अन्य के दोषो को ढांकता हुआ आत्म धर्म की वृद्धि करता है।

स्थितिकरण—साधर्मी बन्धु को धर्म श्रद्धा और आचरण से गिरते हुए देखकर उन्हें धर्म व आचरण से गिरने न देकर हित-मित-प्रिय वचनों के द्वारा पुनः धर्म में स्थित करना स्थितिकरण अग है।

वात्सल्य—वात्सल्य के पर्यायवाची शब्द स्नेह व प्रेम भी है, किन्तु वात्सल्य शब्द मे जितनी विशालता-महानता है वह स्नेह व प्रेम में नही है, क्योंकि धर्म का सम्बन्ध ससार के अन्य सभी सम्बन्धों से अधिक महत्वपूर्ण है। अतः साधर्मी बन्धुओं के प्रति गाय-बछड़े के समान निश्छल वात्सल्य करना यह सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य अंग है।

प्रभावना—जिनधर्म विषयक अज्ञान को दूरकर धर्म का वास्तविक ज्ञान कराते हुए जगत् जनों का भ्रम दूर करना तथा विश्व में वीतराग-मार्ग का विस्तार करना उसकी महत्ता स्थापित करना प्रभावना अंग है।

उपर्युक्त आठ अंगों मे से उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन चारों का पालन स्व और पर दोनों में हुआ करता है। अन्य साधर्मी बन्धुओं के समान स्वयं को भी धर्म में स्थित करना चाहिए। ये निःशंकितादि अङ्ग सम्यग्दर्शन को विशुद्ध करते है।

सम्यग्दर्शन के अतिचार :

प्रमाद या अज्ञानदशा में जब कभी दोष लगता, अतिचार लगता है तब व्रत धारीके द्वारा उस अतिचार के लिए मन मे पश्चाताप का अनुभव किया जाता है। सम्यग्दर्शन के पाच अतिचार आचार्यों ने इसप्रकार बताये है—"शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः" अर्थात् शंका, काक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ये सम्यग्दृष्टि के अतिचार हैं।

स्थूल तत्त्व मे श्रद्धान की दृढता होने पर भी सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों में श्रद्धान की चञ्चलता होना शङ्का है। अथवा इह लोक, परलोक, वेदना, मरण, आकस्मिक, अगुप्ति, और अत्राण इन सप्त भयों मे प्रवृत्ति होना शंका है। सम्यग्दर्शन धारणकर उसके फलस्वरूप लौकिक फलो की इच्छा रखना कांक्षा है। मुनियों के शरीर सम्बन्धी मलिनता मे ग्लानिभाव रखना विचिकित्सा है। मन से मिथ्यादृष्टि जीवो के ज्ञानादिगुण को अच्छा समझना अन्यदृष्टि प्रशंसा है और वचन से उसकी श्लाघा करना अन्यदृष्टिसंस्तव है। सम्यग्दृष्टि जीव मे जब तत्त्व-अतत्त्व के निर्णय की क्षमता होती है तभी वह अन्यदृष्टियो के सम्पर्क मे आता है। क्षमता के अभाव में उनके सम्पर्क से दूर रहता है, अन्यथा उनके कुचक्र मे फंस जाता है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के बहिरङ्ग कारण :

कारण दो प्रकार के है एक अन्तरङ्गकारण और दूसरा बहिरङ्गकारण। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में अन्तरङ्गकारण मिथ्यात्वादि सप्तप्रकृतियो का उपशम, क्षय, क्षयोपशम है तथा बहिरङ्ग कारण सद्गुरु आदि है। अन्तरङ्ग निमित्त (कारण) के मिलने पर सम्यग्दर्शन नियमत होता है, परन्तु बहिरंग निमित्त के मिलने पर सम्यग्दर्शन होता भी, नही भी होता। यहां सम्यग्दर्शन के बहिरङ्ग कारणों का चारो गतियो मे कथन किया गया है। तद्यथा—

नरकगति में तीसरे तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण और तीव्रवेदना अनुभव ये तीन तथा चतुर्थ से सप्तम नरक तक जातिस्मरण और तीव्रवेदनानुभव ये दो कारण है। तिर्यञ्च और मनुष्यगति में जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्ब दर्शन ये तीन कारण पाये जाते हैं। देवगति में १२वे स्वर्ग तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनकल्याणकदर्शन और देवऋद्धिदर्शन ये चार कारण पाये जाते है। त्रयोदशम स्वर्ग से १६वे स्वर्ग तक देव-ऋद्धिदर्शन को छोडकर जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनकल्याणकदर्शन (जिनमहिमादर्शन) ये तीन कारण हैं। नवम ग्रैवेयक तक जातिस्मरण तथा धर्मश्रवण ये दो बहिरंगकारण है। ग्रैवेयक के ऊपर सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते है।

सम्यग्दर्शन का स्थितिकाल :

औपशमिकसम्यग्दर्शन की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है। क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टस्थिति छयासठसागरप्रमाण है। क्षायिकसम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर नष्ट नहीं होता अतः इस अपेक्षा से उसकी स्थिति सादि-अनन्त है, किन्तु संसार मे रहने की अपेक्षा जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम, दो करोड वर्ष पूर्व ३३ सागर प्रमाण है।

सम्यग्दर्शन की महिमा :

जैसे कि पहले लिखा जा चुका है कि मोक्षमार्ग में रत्नत्रय प्रधान है और रत्नत्रय में भी सम्यग्दर्शन प्रधान है। भगवद् कुन्दकुन्द देव ने 'चारित्तं खलु धम्मो' चारित्र ही धर्म है। यह घोषणा प्रवचनसार में की है और उस चारित्ररूप धर्म वृक्ष का मूल (जड़) 'दंसण मूलो धम्मो' सम्यग्दर्शन कहा है। समन्तभद्राचार्य ने "सम्यग्दर्शन के समान त्रिकाल में और त्रिलोक में अन्य श्रेयस्कर (कल्याणकारी) नहीं है" ऐसा कहा है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र समीचीन नहीं होते। सम्यक्त्व से युक्त प्राणी संख्यात-असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा करते हैं। सम्यक्त्व अतुल सुख निधान है, कल्पतरु, चिन्तामणिरत्न, कामधेनु और रसायन के समान मनोवांछित सुख अर्थात् मोक्ष प्रदान कराने वाला है। सम्यग्दर्शन सब रत्नों में महारत्न, सब योगों में उत्तमयोग है, सब ऋद्धियोंमें महाऋद्धि है और सभी प्रकार की सिद्धि करने वाला है। सम्यक्त्व गुणसे युक्त प्राणी इन्द्र, चक्रवर्ती आदि से वन्दनीय पद को प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन मोक्षका कर्णधार है।

सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने वाला जीव उसी भव से अथवा तीन-चार भव में या ७-८ भव में मुक्ति प्राप्त कर लेता है। यदि अधिक से अधिक संसार परिभ्रमण करेगा तो अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल तक। सम्यग्दर्शन प्राप्ति की सबसे बड़ी महिमा तो यही है कि वह अनन्तसंसार को उच्छेद करके अर्द्धपुद्गलपरावर्तनप्रमाण कर देता है। अतः सर्व दुःखोंका नाश करने वाले समस्त सुखों के बीजस्वरूप सम्यक्त्व को प्राप्त करने में प्रमादी मत बनो ऐसी जिनेन्द्रदेव की आज्ञा है।

जयति सुखनिधानं मोक्षवृक्षैकबीजं,
सकलमलविमुक्तं दर्शनं यद्विना स्यात्।
मतिरपि कुमतिर्नु दुश्चरित्रं चरित्रम्,
भवति मनुजजन्म प्राप्तमप्राप्तमेव ॥

साधना पथ में पञ्चलब्धियों को उपयोगिता

❖ १०५ आर्यिका श्री आदिमतीजी

[पू० आ० क० श्री श्रुतसागरजी संघस्थ]

सभी जीव अनादिकाल से दु:खोंकी अबाध चक्कीमें पिस रहे हैं, जीवोंको मोक्ष मार्ग में लगने के लिए पुरुषार्थ अपेक्षित है। जब तक जीवके तीव्र पापकर्मका उदय होता है तब तक उसे मोक्ष सम्बन्धी पुरुषार्थकी जागृति का अवकाश नही मिलता, क्योकि पाप रूप कालिमासे कलुषित चित्तभित्ती पर शुभकर्म अकित नही होते तथा हिताहितका विवेक भी उत्पन्न नही होता। कदाचित् पापकर्मका उदय मन्द होने पर भावों में कुछ जागृति प्राप्त होनेका अवसर आता है, उस समय यदि वह चाहे तो सम्यक् पुरुषार्थ कर सकता है।

जीवोका मोक्षमार्गमे विकास क्रमसे सम्भव है तथा यह क्रमिक विकास ही एक दिन पूर्णरूप मे फलदायी हो जाता है। यह प्रयत्न प्रारम्भमें अव्यक्तरूप से होता है, पश्चात् व्यक्त होने लगता है। इस प्रकार जीवोंकी शक्ति का यह विकास पाच भागों मे विभक्त है जिसे लब्धि कहते है, लब्धि का अर्थ प्राप्ति से है।

यथा—क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि, तथा करणलब्धि।

इन लब्धियोंका जैसा नाम है वैसा ही इनका कार्य भी है ये लब्धियां मात्र शक्ति की उपलब्धिरूप है साक्षात् पुरुषार्थरूप नही है, इन लब्धियों के होने पर ही जीवों को सम्यक्त्व प्राप्त करनेका अवसर मिलता है, इस अवसर पर यदि जीवोकी सच्ची श्रद्धा बन गई तो साध्यकी सिद्धि हो सकती है, अन्यथा पुन तीव्र पापकर्मके उदयसे स्वस्वरूपसे विमुख ही रहते है।

इन पाचप्रकार की लब्धियोंमें से आदि की चार लब्धिया तो साधारण है अर्थात् ये चार लब्धिया तो भव्य तथा अभव्य दोनो के ही होती हैं तथा इन लब्धियो को जीव अनेक बार करता है, परन्तु अन्त की करणलब्धि तो जो जीव सम्यक्त्व प्राप्ति के सन्मुख है उसी के होती है[1]। इसके होनेपर नियमसे सम्यक्त्व या चारित्र होता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता रखनेवाला जो जीव चार गतियोंमे से किसी एक गति का धारक, भव्य, संज्ञी, पर्याप्त, विशुद्धियुक्त जागृत-स्त्यानगृद्धि आदि तीन निद्राओंसे रहित, साकार उपयोगयुक्त और शुभलेश्याका धारक होकर करणरूप परिणामोका धारक होता है वह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है[2]।

---

१ खयउवसमियविसोही, देसरणपाउग्गकरणलद्धी य।
चत्तारि बि सामण्णा, करण पुण होदि सम्मत्तो ॥६५१॥ गो जी.का.

२ चदुगदि भव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्भगो य सागारो।
जागारो सल्लेसो सलद्धिगो सम्ममुवगमई ॥६५२॥ गो.जी.

लब्धियों का स्वरूप :

क्षयोपशमलब्धि—कर्मोंमें मलरूप अप्रशस्त ज्ञानावरणादि कर्मपटलके स्पर्धकों का अनुभाग विशुद्धिके द्वारा प्रतिसमय अनंतगुणा हीन होते हुए जिसकालमें उदीरणाको प्राप्त होता है उसे क्षयोपशमलब्धि कहते है[१] ।

विशुद्धिलब्धि—जीवके प्रथम क्षयोपशमलब्धि से उत्पन्न जो सातादि प्रशस्त प्रकृतिबंध में कारणभूत परिणामों की प्राप्ति होने को विशुद्धिलब्धि कहते है[२] ।

देशनालब्धि— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्य, और जीव-अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन नौ पदार्थोंके उपदेशका नाम देशना है । इस देशनासे परिणत आचार्यादि की उपलब्धिको और उपदिष्ट अर्थ को ग्रहण, धारण और विचारणकी शक्ति की प्राप्ति को देशनालब्धि कहते है[३] । इस उपदेश से व्यक्ति के जीवनमे एक नया मोड आ सकता है तथा उसके विचारो की और चर्या की दिशा बदल सकती है । नरकोंमे जहां उपदेश नहीं मिलता वहां पूर्व भवके तत्त्वार्थ के संस्कारसे प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है ।

प्रायोग्यलब्धि—अत: कोड़ाकोडीसागर कर्मस्थिति रह जाने पर संज्ञीपंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवके प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी प्राप्तिकी योग्यता होती है । इस प्रायोग्यलब्धि में इतनी विशुद्धता हो जाती है कि सर्वकर्मोंकी उत्कृष्टस्थितिका काण्डकघातके द्वारा घात करके अन्त: कोड़ाकोडीसागरप्रमाण स्थिति कर देता है तथा अप्रशस्त-प्रकृतियोंके चतु:स्थानीय अनुभागको घात करके द्विस्थानीय अनुभागमें स्थापन कर देता है अर्थात् घातियाकर्मोका अनुभाग लता-दारुरूप और अप्रशस्त अघातियाकर्मोका निब-काजीररूप द्विस्थानगत अनुभाग शेष रह जाता है, किन्तु प्रशस्तप्रकृतियोका अनुभाग गुड-खांड-शर्करा और अमृतरूप चतु:स्थानीय ही होता है, क्योकि विशुद्धिके द्वारा प्रशस्त प्रकृतियोंके अनुभागका घात नहीं होता है । इन अवस्थाओं के होने पर करण अर्थात् पंचम करणलब्धि होने के योग्य भाव पाए जाते है । इतनी विशुद्धि भव्यसिद्धिक और अभव्यसिद्धिक इन दोनो प्रकारके जीवोके हो सकती है; इस बातको बतलाने के लिए गाथामे 'भव्वाभव्वेसु सामण्णा' पद दिया है,[४] इसमे किसी भी आचार्यको विवाद नही है ।

प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अभिमुख चारो गति सम्बन्धी कोई भी मिथ्यादृष्टि जीव प्रायोग्यलब्धिमें अन्त: कोड़ाकोड़ी सागरोपमकी स्थिति को बाधता है । इस अन्त: कोडाकोडीसागरोपम स्थितिबन्ध से पल्यके संख्यातवे भाग हीन स्थिति को अन्तर्मुहूर्त तक समानता लिये हुए ही बाधता है । फिर उससे पल्यके संख्यातवें भाग हीन स्थितिको अन्तर्मुहूर्त तक बांधता है, इसप्रकार पल्यके संख्यातवे भागरूप हानिके क्रमसे एक पल्य हीन अन्त: कोड़ाकोडीसागरोपम स्थितिको अन्तर्मुहूर्त तक बाधता है । इसी क्रमसे स्थितिबंधका अपसरण करते हुए एक सागर से हीन, दो सागर से हीन, तीन सागर से हीन इत्यादि क्रम से सात सौ आठ सौ सागरोपमो से हीन अन्त.कोडाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति को जिस समय बांधने लगता है उस समय एक नरकायु बन्ध से

---

१ कम्ममलपडलसत्ती पडिसमयमणंतगुणविहीणकमा ।
होदूणुदीरदि जदा तदा खओवसमलद्धी दु ॥४॥ लब्धिसार.

२ आदिमलद्धिभवो जो भावो जीवस्स सादपहुदीण ।
सत्थाण पयडीण बधणजोगो विसुद्धलद्धी सो ॥५॥ लब्धिसार.

३ छद्दव्वणवपयत्थो पदेसयरसूरि पहुदिलाहो जो ।
देसिदपदत्थधारणलाहो वा तदियलद्धी दु ॥६॥ लब्धिसार.

४ अतोकोडाकोडी विट्ठाणे ठिदिरसाण ज करण ।
पाउग्गलद्धिणामा भव्वाभव्वेसु सामण्णा ॥७॥ लब्धिसार.

विच्छिन्न होती है। नारकायु की बंधव्युच्छित्ति के पश्चात् तिर्यगायु की बन्धव्युच्छित्ति तक उपर्युक्त क्रम से ही स्थिति का ह्रास होता है। इस प्रकार से स्थिति के ह्रास होने को स्थितिबंधापसरण कहते है। जिसके ११७ प्रकृतियो का बंध हो रहा है ऐसा कोई भी पंचेद्रिय सैनी, गर्भज, पर्याप्त मनुष्य अथवा तिर्यंच जब प्रथमोपशम-सम्यक्त्व के अभिमुख होता है तो प्रायोग्यलब्धि मे उसके बंधयोग्य ११७ प्रकृतियो की स्थिति अंत:कोड़ाकोड़ी-सागर प्रमित रह जाती है उस काल में यह जीव चौतीसबंधापसरण करता है। वे इस प्रकार है—

सागरोपमशतपृथक्त्वरूप स्थिति घटाते हुए बंधयोग्य ११७ प्रकृतियों में से प्रत्येक बंधापसरण में क्रमश. निम्नलिखित प्रकृतियां कम करता है।

बधापसरण	प्रकृतिया	बंधापसरण	प्रकृतियां
१	[१]नारकायु	२०	त्रीन्द्रिय अपर्याप्त
२	[२]तिर्यगायु	२१	चतुरिन्द्रिय पर्याप्त
३	[३]मनुष्यायु	२२	असंज्ञीपचेन्द्रिय-पर्याप्त
४	[४]देवायु	२३	[१६]तिर्यचगति [१७]तिर्यचगत्यानुपूर्वी-[१८]उद्योत
५	[५]नरकगति [६]नरकगत्यानुपूर्वी	२४	[१९]नीचगोत्र
६	[७]सूक्ष्म-[८]अपर्याप्त-[९]साधारण		
७	सूक्ष्म-अपर्याप्त-प्रत्येक	२५	[२०]अप्रशस्तविहायोगति [२१]दुर्भग [२२]दु:स्वर
८	बादर-अपर्याप्त-साधारण		[२३]अनादेय
९	वादर-अपर्याप्त-प्रत्येक	२६	[२४]हुण्डकसंस्थान-[२५]सृपाटिका संहनन
१०	[१०]द्वीन्द्रिय-अपर्याप्त	२७	[२६]नपुंसकवेद
११	[११]त्रिन्द्रिय-अपर्याप्त	२८	[२७]वामनसंस्थान-[२८]कीलितसंहनन
१२	[१२]चतुरिन्द्रिय-अपर्याप्त	२९	[२९]कुब्जकसंस्थान-[३०]अर्धनाराचसंहनन
१३	असज्ञी पचेन्द्रिय	३०	[३१]स्त्रीवेद
१४	सज्ञी पंचेन्द्रिय	३१	[३२]स्वातिसस्थान-[३३]नाराचसंहनन
१५	सूक्ष्म-अपर्याप्तक साधारण	३२	[३४]न्यग्रोधमस्थान-[३५]वज्रनाराचसहनन
१६	सूक्ष्म-प्रत्येक	३३	[३६]मनुष्यगति-[३७]मनुष्यगत्यानुपूर्वी-
१७	वादर-साधारण		[३८]औदारिकशरीर-[३९]औदारिक अगोपाग-
१८	वादर-पर्याप्त-प्रत्येक-[१३]एकेंद्रिय		[४०]वज्रर्षभनाराचसंहनन
	[१४]आतप [१५]स्थावर	३४	[४१]अस्थिर-[४२]अशुभ-[४३]अयश-
१९	द्वीन्द्रिय अपर्याप्त		[४४]अरति-[४५]शोक-[४६]असाता

इस प्रकार ये चौतीस स्थान भव्य तथा अभव्य के समान ही होते है।

देव, नारकियों के बंधापसरण :

पहले नरक से छठे नरक तक तथा सनत्कुमारादि दशकल्प-स्वर्गों मे दूसरा, तीसरा, तथा २३ से ३२ तक १० और ३४ वा इस प्रकार कुल १३ बंधापसरण होते है।

प्रथम युगल तथा भवनत्रिक में होने वाले बंधापसरण—सौधर्म-ऐशान स्वर्गों में तथा भवनत्रिक में दूसरा, तीसरा, अठारहवां, २३ से ३२ तक १०, तथा अंतिम ३४ वां इस प्रकार १४ बंधापसरण है।

आनतकल्प से लेकर नवग्रैवेयक तक के बंधापसरण—इनमें तीसरा व २४ से ३२ तक नौ और ३४ वां इस प्रकार ११ बंधापसरण होते है।

तथा सातवें नरक के नारकियों में दूसरा और २५ से ३२ तक ७, और ३४ वाँ इस प्रकार १० बंधापसरण हैं।

करणलब्धि :

इस प्रकार अभव्य जीवों के भी योग्य क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, और प्रायोग्य-लब्धिरूप परिणामों को व्यतीत करके प्रथमोपशमसम्यक्त्व के अभिमुख होने वाला भव्य मिथ्यादृष्टि जीव पाचवीं करणलब्धि करता है।

करणलब्धि के तीन भेद है—अध:प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण। इन तीन करणों मे सर्व प्रथम सम्यक्त्व के सन्मुख जीव के अध:प्रवृत्तकरणरूप विशुद्धपरिणाम होते हैं।

अध:प्रवृत्तकरण—इस करण में उपरितन समयवर्ती जीवों के परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीवों के सदृश होते हैं, अर्थात् संख्या और विशुद्धि की अपेक्षा समान होते है इसलिये इस करण का नाम अध:करण है।

करण नाम आत्मा के परिणामो का है। इस अध:प्रवृत्तकरण का काल अन्तर्मुहूर्त है और इसमे जीवों के परिणाम असंख्यातलोक प्रमाण हैं तथा ये परिणाम ऊपर-ऊपर समानवृद्धि को लिये हुए है! अर्थात् अध:करण के प्रथम समय सम्बन्धी परिणामों से द्वितीय समय के योग्य परिणाम विशेष अधिक है, द्वितीय समय से तृतीय समयवर्ती परिणाम विशेष अधिक है। इस प्रकार यह क्रम अध:करण के अन्तिम समय तक जानना चाहिए। इस करण मे समसमयवर्ती तथा विषम समयवर्ती जीवों के परिणाम समान और असमान दोनों प्रकार के होते है। परन्तु जितने समयों के परिणामों मे सदृशता पाई जाती है उतने समयो का एक निर्वर्गणाकाण्डक होता है। अध:प्रवृत्तकरण में संख्यात हजार निर्वर्गणाकाण्डक होते है।

अक संदृष्टि मे एक निर्वर्गणाकाण्डक चार समय वाला है, इस प्रकार १६ समयों के ६४ खण्ड हो जाते है इन खण्डों में से प्रथम और अतिम खण्ड के परिणाम किसी भी खण्ड के परिणामो के सदृश नही है। तथा शेष सभी खण्ड उपरिम से अधस्तन समयवर्ती खण्डों के समान है।

अध:प्रवृत्तकरण में स्थित जीव अनन्तगुणी वृद्धिरूप विशुद्धि को प्राप्त होता है तथा प्रशस्त कर्मों के अनुभाग सम्बन्धी गुड, खाड, शर्करा, और अमृतरूप स्थानो को प्रतिसमय अनंतगुणितरूप से बांधता है एवं अप्रशस्त कर्मों के नीम और कांजीरूप अनुभाग को प्रतिसमय हीन-हीन बाधता है तथा पल्योपम के असंख्यातवें भाग हीन क्रम से स्थितियो को बांधता है।

अपूर्वकरण—जिसका अतर्मुहूर्त काल है ऐसे अध:प्रवृत्तकरण को बिताकर वह जीव प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि को लिये हुए अपूर्व-अपूर्व परिणामों को करता है। यहां अप्रशस्तप्रकृतियों के चतु:स्थानीय अनुभाग की हानि तथा बद्धयमान कर्मों के सख्यातहजार स्थितिबंधापसरण भी अध:प्रवृत्तकरण के समान होते है, और विशुद्धि के साथ चार आवश्यक कार्य और भी होते हैं, वे इस प्रकार है—

स्थिति खण्डन—उपरितन स्थिति के निषेकों का द्रव्य उठाकर प्रतिसमय फालीरूप से नीचे डालकर उस स्थिति का नाश करना।

अनुभाग खण्डन—उपरितन अनुभागवाले स्पर्धकोके अनुभाग को एक अंतर्मुहूर्त कालमे क्षय कर देना।

गुणश्रेणी निर्जरा—प्रतिसमय असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे द्रव्य की निर्जरा होना।

गुणसंक्रमण—प्रतिसमय मिथ्यात्व के असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे द्रव्यको सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्वरूप संक्रमण करना।

अध:करणमें भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश और विसदृश दोनों ही प्रकार के होते हैं, परन्तु यहा पर भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणामं विसदृश ही होते है, सदृश नही होते । इस अपूर्वकरणका काल अन्तर्मुहूर्त है, परन्तु यहां पर परिणामोंकी विशुद्धि अध:करण से असंख्यातलोक गुणी है ।

अपूर्वकरणके प्रथम समयमें ही गुणश्रेणी प्रारम्भ हो जाती है । वह इस प्रकार है--उदयमें आई हुई प्रकृतियोमें उदयावली से बाहिर स्थित स्थितियों के प्रदेशाग्रको अपकर्षणभागहारके द्वारा खंडित करके एक खड को असंख्यातलोकसे भाजित करके एक भागको ग्रहणकर उदयमें बहुत प्रदेशाग्रको देता है । दूसरे समयमें विशेष हीन प्रदेशाग्रको देता है । इसप्रकार उदयावलीके अन्तिम समय तक विशेष हीन देता हुआ चला जाता है । यह क्रम उदयमे आई हुई प्रकृतियोका ही है, शेष प्रकृतियोका नही, क्योंकि उनके उदयावलीके भीतर आनेवाले प्रदेशाग्रोका अभाव है ।

उदयमें आई हुई और उदयमें नही आई हुई प्रकृतियोके तथा उदयावली के बाहर की स्थितियोंमें स्थित प्रदेशाग्रको अपकर्षण भागहारके द्वारा खंडित करके एक खडको ग्रहणकर उदयरूप प्रकृतियोके उस एक खण्डको असंख्यातलोक प्रमाण भागाहारसे भाजितकर उसका एक भाग उदयावलीके भीतर गोपुच्छाकारसे देता है, और बहुभागरूप असंख्यात समयप्रबद्धोंको उदयावलीके बाहिरकी स्थितिमे देता है । इससे ऊपरकी स्थितिमे उससे भी असंख्यातगुणित समयप्रबद्धोंको देता है । तृतीय स्थितिमे उससे भी असंख्यातगुणित समयप्रबद्धोंको देता है । इस प्रकार यह क्रम असंख्यातगुणित श्रेणीके द्वारा गुणश्रेणीके अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए । उससे ऊपर की अनन्तर स्थितिमें असंख्यातगुणित हीन द्रव्यको देता है । उससे ऊपरकी स्थितिमें विशेषहीन द्रव्यको देता है । इस प्रकार विशेष हीन-विशेष हीन ही प्रदेशाग्रको निरंतर तब तक देता है, जब तक कि अपनी-अपनी उत्कीरित स्थितिको आवलीमात्र कालके द्वारा प्राप्त न हो जाय । विशेष इतना है कि उदयावलीसे बाहिरकी स्थितिको असंख्यातलोकसे खण्डितकर एक खण्डको एक समय कम आवलीके दो त्रिभागों (२/३) को अतिस्थापना करके एक समय अधिक आवली के त्रिभागमे पूर्वके समान विशेषहीनक्रमसे निक्षिप्त करता है । यह क्रम तब तक चलता है कि जब तक अतिस्थापनापूर्ण आवलीप्रमाण होती है ।

उस ही अपूर्वकरणके प्रथम समयमे अप्रशस्त कर्मोके अनुभागका अनन्तबहुभाग घातना प्रारम्भ करता है, क्योकि विशुद्धिके कारण प्रशस्त कर्मोकी अनुभागवृद्धिको छोडकर उसका घात नही बन सकता, उस अनुभाग काण्डकका प्रमाण तत्काल भावी द्विस्थानीय अनुभाग सत्कर्मके अनन्त बहुभाग प्रमाण है, क्योंकि करण परिणामों के द्वारा घाते जानेवाले अनुभागकाण्डकके शेष विकल्पोका होना सम्भव है । इसप्रकार प्रत्येक अनुभागकाण्डक में अनन्तबहुभागका घात होता है ।

एक-एक स्थितिकाण्डकके कालमे संख्यात हजार अनुभागकाण्डक हो जाते है तथा हजारों स्थिति काण्डक होते हैं, और संख्यात हजार अनुभागकाण्डकोके द्वारा अप्रशस्त प्रकृतियोका अनुभाग घाता जाता है । इस प्रकार संख्यात हजार अनुभाग काण्डक हो जाने पर एक स्थितिकाण्डकका काल समाप्त होता है ऐसे हजारो स्थितिकाण्डकोंके व्यतीत हो जाने पर अपूर्वकरणका काल समाप्त हो जाता है ।

अनिवृत्तिकरण :

अपूर्वकरणका काल समाप्त होने पर अनिवृत्तिकरण प्रारम्भ होता है । इस करण का काल भी अंतर्मुहूर्त है । यहा पर एक समयवर्ती नानाजीवोंके परिणामोमे पाई जानेवाली विशुद्धिमें परस्पर भेद नही पाया जाता अत: इन परिणामोको अनिवृत्तिकरण कहते हैं, अनिवृत्तिकरणका जितना काल है उतने ही परिणाम हैं इसलिए प्रत्येक समयमे एक ही परिणाम होता है ।

यहां पर समान समयवर्ती जीवोके परिणामोमे सर्वथा सादृश्यता और भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणामोमें विसदृशता पाई जाती है । अनिवृत्तिकरणके प्रारम्भके समयसे ही अन्य स्थितिखण्ड, अन्य अनुभागखण्ड

और अन्य स्थितिबन्ध को प्रारम्भ करता है। पूर्व में अपकर्षित प्रदेशाग्र से असंख्यातगुणित प्रदेश का अपकर्षण कर अपूर्वकरण के सदृश गलितावशेष गुणश्रेणी को करता है।

इसप्रकार सहस्रों स्थितिबन्ध, स्थितिकाण्डकघात, और अनुभागकाण्डकों के व्यतीत होने पर अनिवृत्तिकरण के काल का अन्तिमसमय प्राप्त होता है तथा अनिवृत्तिकरण का संख्यातबहुभाग व्यतीत होने पर यह जीव मिथ्यात्वकर्म का एक अन्तर्मुहूर्तमें अन्तरकरण करता है।

अन्तरकरण—विवक्षित कर्मों की अधस्तन और उपरिम स्थितियोंको छोड़कर मध्यवर्ति अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितियोंके निषेकों का परिणाम विशेष के द्वारा अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं।

यह क्रिया अन्तर्मुहूर्त तक होती है, जब अन्तरायाम के समस्त निषेक ऊपर तथा नीचे की स्थितियोमें दे दिये जाते हैं और अन्तरकाल मिथ्यात्वस्थिति के कर्मनिषेकों से सर्वथा शून्य हो जाता है तब अन्तर कर दिया जाता है और उसी समय जीव मिथ्यात्व के तीन भाग करता है।

उपशमकरण—यद्यपि यह जीव अधःप्रवृत्तकरण के प्रथमसमय से लेकर उपशामक ही है तथापि अनिवृत्तिकरण काल के संख्यातबहुभागों के बीत जाने पर तथा संख्यातवा भाग शेष रहने पर अन्तर को करके वहां से लेकर दर्शनमोहनीय की प्रकृति, स्थिति और प्रदेशोंका उपशामक होता है[1]।

करण परिणामों के द्वारा निःशक्त किये गए दर्शनमोहनीय के उदयरूप पर्याय के बिना अवस्थित रहने को उपशम कहते है तथा उपशमन करने वाले को उपशामक कहते है[2]।

अन्तर में प्रवेश करने के प्रथम समय में ही दर्शनमोहनीय का उपशामक उपशम सम्यग्दृष्टि हो गया, किन्तु यहा पर सर्वोपशम सम्भव नही है, क्योंकि उपशमपने को प्राप्त होने पर भी दर्शनमोहनीय के संक्रमण और अपकर्षणकरण पाये जाते है। उसी समय वह मिथ्यात्वकर्मके तीन कर्मभेद उत्पन्न करता है। जैसे—यन्त्रसे कोदोंके दलने पर उसके तीन भाग हो जाते हैं वैसे ही अनिवृत्तिकरण परिणामों के द्वारा दलित किए गए दर्शनमोहनीय के तीन भेदो की उत्पत्ति होने में विरोध का अभाव है[3]।

वे तीन भेद-मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्वप्रकृति रूप हैं, इनमें मिथ्यात्व के अनुभाग से सम्यग्मिथ्यात्व का अनुभाग अनन्तगुणाहीन होता है, और सम्यग्मिथ्यात्व से सम्यक्त्वप्रकृति का अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता है।

दर्शनमोहका उपशम करने वाले सब जीव व्याघात से रहित होते हैं, उस काल के भीतर सासादन को प्राप्त नहीं होते, दर्शनमोह के उपशान्त हो जाने पर सासादन गुणस्थान की प्राप्ति भजितव्य है, परन्तु क्षीण होजाने पर सासादन गुणस्थान की प्राप्ति नही होती।

अन्तर्मुहूर्तकाल तक सर्वोपशमसे उपशान्त रहता है। इसके पश्चात् नियम से तीन कर्मप्रकृतियों में से किसी एक का उदय होता है।

यदि मिथ्यात्वप्रकृति का उदय होता है तो यह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है, और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से सम्यग्मिथ्यादृष्टि तथा सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से यह जीव वेदक सम्यग्दृष्टि अथवा क्षयोपशम-सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

किन्ही आचार्यों का मत है कि अनिवृत्तिकरण के काल में विशुद्ध परिणामों के द्वारा मिथ्यात्वद्रव्यकर्म के तीन खण्ड करता है। जिसका उल्लेख वीरसेनस्वामी ने किया है। तथा किन्ही आचार्य का मत है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय में ही अनादि मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तसंसार काल को छेदकर अर्धपुद्गलपरिवर्तन मात्र काल कर लेता है तब प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

---

१. जयधवल पु० १२, पृ० २७६ २. जयधवल पु० १३ पृ० २८०।

३. जय. ध. पु० १२ पृ० २८०, २८१।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के दो कारण हैं–अन्तरंग और बहिरङ्ग । इनमें से अन्तरङ्ग कारण-सम्यक्त्व की प्रतिबन्धक अनन्तानुबन्धीचतुष्क और तीन दर्शनमोह ये सात, अथवा पाच (अनन्तानुबन्धी चार-एक दर्शन-मोह) इनका उपशमादि होना । तथा बहिरङ्ग कारण-सद्गुरु का उपदेश और जिनबिम्बदर्शन आदि । इनमें से बहिरङ्ग कारण तो भजनीय है, परन्तु अन्तरङ्ग कारण के मिलने पर नियम से सम्यग्दर्शन होता है । फिर भी बहिरङ्ग कारण होना भी आवश्यक है, क्योंकि बहिरंग कारण के मिलने पर ही अंतरंग कारण प्रगट होता है । बहिरंग कारण चारों गतियों के भिन्न-भिन्न हैं ।

नरकगति में– जातिस्मरण, धर्म श्रवण और वेदनानुभव इन कारणों से सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है । तथा चौथे नरक से सातवें नरक तक के नारकी जीवों के जातिस्मरण और वेदनानुभव इन दो कारणों से ही सम्यक्त्व होता है, क्योंकि धर्मोपदेश देने में प्रवृत्त देवों के गमन का अभाव है । अतः धर्मश्रवणरूप कारण का अभाव है ।

तिर्यंचगतिमें–सैनी पंचेंद्रिय-पर्याप्तक-गर्भोपक्रांतिकमिथ्यादृष्टि तिर्यंच कितने ही जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर तथा कोई जिनबिम्बदर्शन से सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं ।

मनुष्यगतिमे –आठ वर्ष से ऊपर के गर्भज मिथ्यादृष्टि मनुष्यों में से कितने ही मनुष्य जातिस्मरण से कितने ही धर्मोपदेश श्रवणकर और कितने ही जिनबिंबदर्शनसे प्रथमोपशमसम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं । जिनमहिमा दर्शन, ऋद्धिसम्पन्न ऋषियोंके दर्शन, और ऊर्जयन्त, सम्मेदाचल, चम्पापुर, पावापुर आदि क्षेत्रों के दर्शन का जिनबिंबदर्शन में अंतरभाव हो जाता है ।

देवगतिमें –भवनवासी देवो से लेकर शतार-सहस्रारकल्प तक पर्याप्तमिथ्यादृष्टि देव कितने ही जाति-स्मरण से, कोई धर्मश्रवणसे तथा कितने ही देवों की ऋद्धि को देखकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं ।

आनतादि चार कल्पो के मिथ्यादृष्टि देव कोई जातिस्मरण से, कोई धर्मोपदेश सुनकर तथा कितने ही जिनमहिमा को देखकर प्रथमोपशमसम्यक्त्व को प्राप्त होते है ।

नौ ग्रैवेयिक विमानवासी मिथ्यादृष्टि देव कितने ही जातिस्मरण, और कितने ही धर्मोपदेश सुनकर प्रथमोपशमसम्यक्त्व को प्राप्त करते है ।

दर्शनमोह के उपशम का प्रस्थापक जीव साकार उपयोग में विद्यमान होता है, किन्तु उसका निष्ठापक और मध्य अवस्थावर्ती जीव भजितव्य है । तीनों योगों में से किसी एक योग में विद्यमान तथा तेजोलेश्या के जघन्य अंश को प्राप्त जीव दर्शनमोह का उपशामक होता है, परन्तु नारकी अशुभलेश्या में प्रथमोपशमसम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं, तथा देव यथासम्भव तीन शुभलेश्या मे ही सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं ।

जिसप्रकार सम्यक्त्वप्राप्ति के लिए उपर्युक्त पंचलब्धियां क्रमशः अपेक्षित है उसी प्रकार सम्यक्चारित्र प्राप्ति के लिए पाचवी करणलब्धिके भेद अधःकरण-अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण अपेक्षित हैं । सातिशय-अप्रमत्त चारित्रमोह की २१ प्रकृतियो का क्षय करने के लिए क्षपकश्रेणी, तथा इन्हीं २१ प्रकृतियो के उपशम करने के लिए उपशम श्रेणी का आरोहण करते है । यद्यपि करण नाम आत्मपरिणामों का है यह पहले कह चुके हैं, परन्तु यहां चारित्रमोह के क्षय और उपशम के लिए क्रमश. अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण नामके गुणस्थानों को भी प्राप्त करते हैं तत्पश्चात् सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान को व्यतीत करते हुए उपशम श्रेणी वाले ग्यारहवें गुणस्थान मे समस्त मोहनीयकर्म का उपशम करते है और क्षपक श्रेणी वाले दशवें गुणस्थान से बारहवें क्षीण मोह गुणस्थान को प्राप्त होकर अन्त मे समस्त मोहनीयकर्म का निर्मूलन करते हुए केवली जिन इस व्यपदेश को प्राप्त होते है ।

इसप्रकार ये लब्धिया सम्यक्त्व तथा चारित्र प्राप्ति के लिए कारणभूत हैं ।

✡

संसार परिभ्रमण का कारण

शल्यत्रय

❖ १०५ आर्यिका श्री सुशीलमतीजी

[परम पूज्य आचार्य श्री शिवसागरजी की शिष्या]

शल्य का स्वरूप :

'शृणाति हिनस्तीति शल्यम्' यह शल्य शब्द का निरुक्ति अर्थ है। जो प्राणी को पीड़ा देता है वह शल्य है ऐसी तत्वज्ञों ने शल्य शब्द की व्याख्या की है। जिसप्रकार शरीर में लगा हुआ या चुभा हुआ बाण या कांटा आदि प्राणी को दुःखी करता है उसीप्रकार शल्य भी प्राणी को संसार परिभ्रमण कराते हुए व्यथित करता है।

शल्य के भेद :

माया, मिथ्या और निदान के भेद से शल्य के तीन भेद हैं। अथवा द्रव्य और भावशल्य के भेद से दो प्रकार का भी शल्य होता है। मिथ्यादर्शन, माया और निदान ऐसे तीन शल्यों की जिनसे उत्पत्ति होती है ऐसे कारणभूत कर्म को द्रव्यशल्य तथा इनके उदय से जीव के माया, मिथ्या व निदानरूप परिणाम भावशल्य है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र और योग के भेद से चार भेद भावशल्य के तथा सचित्त, अचित्त और मिश्र शल्य के भेद से द्रव्यशल्य तीन प्रकार का है।

शंका, कांक्षा आदि सम्यग्दर्शन के शल्य हैं। अकाल में पढना और अविनयादि करना ज्ञान के शल्य हैं। समिति और गुप्तियों में अनादर रहना चारित्र शल्य, असंयम मे परिणति योग शल्य है। दासादिक सचित्त द्रव्य शल्य, सुवर्णादि पदार्थ अचित्त द्रव्य शल्य तथा ग्रामादि मिश्रशल्य है। इसप्रकार शल्य के भेद-प्रभेदो का वर्णन भगवती आराधना में किया है। प्रस्तुत लेख मे मुख्यतया माया, मिथ्या और निदान शल्य सविस्तार विवेच्य है अतः उद्देश्यानुसार उन्ही का स्वरूप आगे वर्णित है।

माया शल्य : स्वरूप :

आत्मा के कुटिलभाव माया है, इसे निकृति या वंचना भी कहते है। दूसरो को ठगने के लिए जो कुटिलता या छल आदि किये जाते हैं वह माया है। यह बांस की गंठीली जड़, मेंढे का सींग, गोमूत्र की वक्र रेखा और अवलेखनी के समान चारप्रकार की होती है।

राग के उदय से परस्त्री आदि में वाञ्छारूप तथा द्वेष से अन्य जीवों के मारने, बांधने अथवा छेदने रूप मेरे दुर्ध्यान को कोई नही जानता ऐसा मानकर निजशुद्धात्मभावना से उत्पन्न निरन्तर आनन्दरूप सुखामृत-जल से अपने चित्त की शुद्धि न करते हुए बाहर में बगुले जैसे वेष को धारण कर लोगों को प्रसन्न करना माया-शल्य कहलाती है।

निकृति, उपधि, सातिप्रयोग, प्रणिधि और प्रतिकुंचन ये माया के पांच प्रकार हैं। धन के विषय में अथवा अन्य किसी कार्य के विषय में जिसकी अभिलाषा उत्पन्न हुई है ऐसे मनुष्य का फंसाने का–ठगने का चातुर्य निकृति माया है। अच्छे परिणामों को छिपाकर धर्म के निमित्त से चोरी आदि दोषों में प्रवृत्ति उपधि माया है। धन के विषय में असत्य बोलना, किसी की धरोहर का कुछ भाग हरण कर लेना, दूषण लगाना अथवा प्रशंसा करना सातिप्रयोग माया है। हीनाधिक मूल्य की सदृश वस्तुएं आपस में मिलाना, तोल और माप के सेर, पसेरी आदि बाटों का अथवा माप-तौल के अन्य साधनों को कम-अधिक रखकर उनसे लेन-देन करना, असली-नकली पदार्थ परस्पर में मिलाना यह सब प्रणिधि माया है। आलोचना करते समय अपने दोषों को छिपाना प्रतिकुंचन माया है।

इस प्रकार माया का भेद-प्रभेदों सहित स्वरूप जानकर इसका परित्याग कर देना चाहिए। मायाचारी पुरुष अन्य लोगो की वञ्चना करके मन में यह सोचता है कि मैने अमुक व्यक्ति को ठग लिया, किन्तु ऐसा सोचने और करने वाला आत्मवञ्चना करता है–स्वयं को ठगता है। मायाचारी व्यक्ति के मन-वचन-काय ऋजु नहीं होते वह मन से कुछ चिंतन करता है, वचनों से अन्य ही अभिव्यक्त करता है तथा काय से कुछ और ही चेष्टा करता है। मायाचारी करने वालों का इहलोक और परलोक दोनों ही पापमय होते हैं। शास्त्रों में अनेक दृष्टांत भरे पड़े है, जिनने भी मायाचारी की, जो मायाशल्य से विद्ध थे उनका इहलोक में तो अपमान हुआ ही, किन्तु परलोक भी दुःखों से भरा हुआ मिला। कौरवों ने पांडवों के साथ कितनी बार मायाचारी की, मात्र ऐश्वर्य के लोभ में उनका प्राणान्त तक करने के लिए मायाजाल रचा-लाक्षा गृह में पांडवों को जलाने का षडयन्त्र किया, किन्तु पुण्यशाली चरमशरीरी तथा सर्वार्थसिद्धि विमानों मे उत्पन्न होने वाले वे महात्मा पुरुष कैसे जल सकते थे। हां ! कौरवों के कारण उनको १२ वर्ष तक माता कुन्ती और अर्जुन पत्नी द्रौपदी के साथ बनवास के कष्ट पूर्व कर्मोदय होने से अवश्य भोगने पड़े। अन्त में मायावी कौरवों का पतन हुआ। इसीप्रकार रावण का दृष्टांत भी है। रावण ने सीता को मायाचारी करके चुराया, परिजनों के समझाने पर भी उसने सीता को वापस नहीं किया। युद्ध मे विजय प्राप्त की राम ने तथा रावण अपने परिजनों का (विभीषणादि का) शत्रु भी बना और अन्त में मरण को प्राप्त होकर श्वभ्र (नरक) गामी बना। यह माया शल्य महादोषों की खानि स्वरूप है और आत्मा को दुर्गति का पात्र बनाने वाली है अतः कल्याणेच्छु जनो को भविष्य में तिर्यंच योनि की कारणभूत मायाचार का परित्याग करना चाहिए।

मिथ्यादर्शन शल्य :

मिथ्यात्वकर्म के उदय से तत्त्वो का अश्रद्धानरूप परिणाम होता है, उस अश्रद्धान से भगवान अर्हन्त परमेश्वर के मार्ग से प्रतिकूल मार्गाभास में मार्ग का श्रद्धान तथा जीवादि तत्त्वो के स्वरूप में अश्रद्धान होता है यही मिथ्यादर्शन है।

मिथ्यात्व के प्रकार :

मिथ्यादर्शन एकान्त, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान के भेद से पाँच प्रकार का है। गृहीत-अगृहित के भेद से दो प्रकार का भी है। इसके नैसर्गिक और परोपदेश की अपेक्षा भी दो भेद पाये जाते हैं। अथवा ३६३ मिथ्या मतवादियो की अपेक्षा इसके ३६३ भेद भी है। परमागम से अन्य भी भेद जान लेना चाहिए।

एकान्त—यही है, इसीप्रकार है, धर्म और धर्मी में एकान्तरूप अभिप्राय रखना, जगत के पदार्थ सत् ही हैं, असत् ही हैं, एक ही है, अनेक ही है, सावयव ही हैं, निरवयव ही है, नित्य ही हैं, अनित्य ही हैं इत्यादि एकान्त अभिनिवेश को एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं।

विपरीत—सग्रन्थ को निर्ग्रन्थ मानना, केवली को कवलाहारी मानना स्त्री को मुक्ति होती है इस प्रकार मानना विपरीत मिथ्यादर्शन है। विपरीत मिथ्यादृष्टि हिंसा, झूंठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, राग-द्वेष, मोह और अज्ञान से ही मुक्ति होती है ऐसे अभिनिवेश से युक्त होता है। ये सब तो संसार के कारण हैं किन्तु ये मुक्ति के कारण हैं ऐसा मानना तो प्रत्यक्ष विपर्यास है।

विनय—परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु तथा दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तपरूप समीचीन आराधनाओं का जिसप्रकार विनय किया जाता है उसीप्रकार रागी, द्वेषी संसारी पुरुषों का या अन्य मिथ्याधर्मों का तथा कुतप तपने वाले पुरुषों का भी विनय करना, उनकी प्रशंसादि करना विनयमिथ्यात्व है।

संशय—जिसमें तत्त्वों का निश्चय नहीं है ऐसे संशयज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले श्रद्धान को संशयमिथ्यात्व कहते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग हैं या नहीं इस प्रकार संशय बना रहता है। जिसे पदार्थों के स्वरूप का निश्चय नहीं है उसे जीवादि पदार्थों का स्वरूप ऐसा ही है इसप्रकार का निश्चयात्मक श्रद्धान नहीं होता है। अर्थात् संशयमिथ्यादृष्टि को सर्वत्र सन्देह ही रहता है वह निश्चय नहीं कर पाता।

अज्ञान—नित्यानित्य विकल्पों से विचार करने पर जीवाजीवादि पदार्थ नहीं है अतएव सब अज्ञान ही है, ज्ञान नहीं है ऐसे अभिनिवेश को अज्ञानमिथ्यात्व कहते है। अज्ञानमिथ्यादृष्टि 'पशुवध धर्म है' इसप्रकार अहित में प्रवृत्ति कराने का उपदेश देता है। उसके मत मे हित-अहित का बिलकुल भी विवेचन नहीं है। वह अज्ञान से ही मोक्ष मानता है।

इसप्रकार मिथ्यादर्शन का स्वरूप, भेद-प्रभेद आदि को परमागम के अनुसार भली-भांति समझकर उसका परित्याग करना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है। शरीरधारी जीवों को मिथ्यात्व के समान अन्य कुछ भी अकल्याणकारी नहीं है।

निदानशल्य :

भोगाकांक्षा से जिसमें या जिसके कारण नियम से चित्त दिया जाता है वह निदान है। अर्थात् भोगों की लालसा निदान है। निदान नाम का शल्य दु:खद होने से उसे भी गणधरादि महापुरुषों ने त्याज्य माना है।

निदान के भेद—प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से निदान दो प्रकार का है। प्रशस्त निदान भी दो प्रकार का है। एक संसारमूलक और दूसरा मोक्ष मे कारणभूत। अप्रशस्त निदान भी भोगकृत और मानकृत के भेद से दो प्रकार का है।

पुरुषत्व, वज्रवृषभ नाराचादि उत्कृष्टसहनन, वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाला दृढ़परिणाम आदि मोक्ष की साधनभूत सामग्री मुझे प्राप्त हो, मेरे दु:खों का नाश, कर्मोंका क्षय हो, बोधि-रत्नत्रय की प्राप्ति हो, समाधिमरण हो, जिनेन्द्र भगवान के गुणों की प्राप्ति हो इत्यादि जो निदान-प्रार्थना है ये प्रशस्त-निदान है और मोक्ष की कारणभूत सामग्री की इसमें याचना की गई है। अथवा जिनधर्म की प्राप्ति होने के योग्य देश (आर्य क्षेत्र), योग्यस्थान जहां वीतरागधर्म के आराधक श्रावक रहते है और भाव-शुभपरिणाम धनिक एव बन्धु-बांधवों से संयुक्त परिवार में उत्पन्न होने का निदान करना ससार सम्बन्धी प्रशस्त निदान है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के प्रशस्त निदानों में प्रथम निदान मोक्ष की कारणभूत सामग्री का याचक होने से सर्वथा त्याज्य नहीं है। अप्रशस्त निदान तो सर्वथा त्याज्य ही है, निद्य हैं और सिद्धिमन्दिर में प्रवेश कराने में बाधक हैं। क्रुद्ध होकर मरण-समय में शत्रुवधादि की इच्छा करना अप्रशस्तनिदान है। अथवा मान के वशीभूत

होकर उत्तम मातृवंश, उत्तम पितृवंश की अभिलाषा करना, आचार्य पदवी, गणधरपद, तीर्थंकरपद सौभाग्य, आज्ञा और सुन्दरपना इत्यादि की प्रार्थना करना मानकृत अप्रशस्त निदान है। यद्यपि आचार्य, गणधर और तीर्थंकर जैसे पदों की इच्छा की गई हो तो भी मानकषाय से दूषित होने से वह भी अप्रशस्त निदान ही है। देव-मनुष्यों में प्राप्त होने वाले भोगों की अभिलाषा करना भोगकृत निदान है। श्रेष्ठिपद, सार्थवाहपद, केशवपद, नारायण-प्रतिनारायण पद, चक्रवर्तीपद आदि भोगों के लिए इच्छा करना भोग निदान है।

जिसप्रकार कोई कुष्ठरोगी कुष्ठरोग की नाशक रसायन को प्राप्तकर उसको जलाता है उसीप्रकार निदान करनेवाला मनुष्य सर्वदु:खों का नाश करने में समर्थ संयम का भोगकृत निदान से नाश करता है। जो प्राणी भोगों की आसक्ति में अपना मन लगाता है उसे हितकर-अहितकर का परिज्ञान नहीं होता। सर्पदंश से युक्त मनुष्य के समान वह मूर्च्छा, दाह और प्रलाप से सहित होता है। भोगासक्ति के कारण वह उनकी पूर्ति के अभाव में अपने आपको दु:खी अनुभव करता है और पूर्ति होने पर भोगोंके प्रति तृष्णावृद्धि से भी दु:खी होता है।

इसप्रकार तीनों ही प्रकार के शल्य जीव को कष्टदायक हैं। अत: अहिंसादि व्रतरूप सम्पत्ति के धारक भव्यजन हृदय में प्रविष्ट माया, मिथ्या व निदानरूप शल्यत्रय का परित्याग करे। संसार परिभ्रमण में कारणभूत इन तीनों शल्यों को पृथक् करके ही संयमधारण पूर्वक इस कलिकाल में भी स्वर्ग गमन कर वहां से पुन: मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर सकते हैं। तथा मनुष्य पर्याय में पुन: संयमधारण कर अनादिकालीन कर्मबन्ध से आत्मा को मुक्तकर शाश्वत सुख के स्थानभूत मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं।

निष्कामवृत्ति से बढ़कर इस जगत में दूसरी कोई सम्पत्ति नहीं है। कामना से मुक्त होने के सिवाय पवित्रता और कुछ नहीं है, वे ही लोग मुक्त हैं जिन्होंने अपनी इच्छाओं को जीत लिया है, शेष लोग देखने में स्वतंत्र दिखाई देते हैं, किन्तु वास्तव में वे कर्म बन्धन से जकड़े हुए है।

जैनदर्शन में संसार स्वरूप

एवं

द्रव्य-पंचास्तिकाय-तत्व और पदार्थ

एक विश्लेषण

❖ ब्र० प्यारेलालजी बड़जात्या, अजमेर

भारतीयदर्शनों में सबसे अधिक प्राचीन अथ च अनादिनिधन जैनदर्शन है और उसके अपने मौलिक सिद्धान्त भी हैं, जो अन्य दर्शनों की अपेक्षा अनेक विशेषताओं को लिये हुए हैं। सभी भारतीयदर्शनो के चिन्तन का आधार केन्द्र आत्मा रहा है। सभी दर्शनों ने अपने-अपने ढंग से आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप का चिन्तन किया है। जैन-दर्शन की चिन्तनपद्धति ही अपने आपमे विलक्षण है। आत्मसुख की चर्चा करते हुए जैनदर्शन ने एक ही बात कही है कि आत्मा अनादिकाल से संसार परिभ्रमण करते हुए विभिन्न प्रकार के मानसिक, कायिक और आकस्मिक आदि अनेक दुःखों की अबाध चक्की में पिसता रहा है और अब वह दुःखों की श्रृंखला का नाशकर सुखी होना चाहता है तो सर्वप्रथम उसे इस बात की गवेषणा करनी होगी कि मेरा संसारपरिभ्रमण किन कारणो से हो रहा है और उसका अन्त किस प्रकार हो सकता है। अनादिकालीन संसारपरिभ्रमण का कारण जैनाचार्यो ने मिथ्यात्व को बताया है और मिथ्यात्व का विरोधी सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व जीव की चिन्तनधारा को समीचीनता प्रदान करता है। मिथ्यात्व के कारण जिस ससारपरिभ्रमण का कभी अन्त नही होता ऐसे अनन्तसंसार का स्वरूप एवं सम्यक्त्व के कारणभूत जीवादि तत्वों का चिन्तन ही प्रस्तुत लेख का विषय है।

"संसरणं संसार: परिवर्तनमित्यर्थ।" "कर्मविपाकवशादात्मन: भवान्तरावाप्ति: ससार:" अर्थात् संसरण करने को संसार कहते हैं जिसका अर्थ परिवर्तन है। कर्म के विपाक वश से आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति होना संसार है। अथवा जीव एक शरीर को छोडता है और दूसरे नये शरीर को ग्रहण करता है, पश्चात् उसे भी छोड़कर दूसरा नया शरीर धारण करता है। इसप्रकार अनेकबार शरीर को धारण करता है और अनेक बार उसे छोड़ता है। मिथ्यात्व-कषाय आदि से युक्त जीवका इसप्रकार अनेक शरीरों में जो संसरण (परिभ्रमण) होता है उसे संसार कहते है।

आत्मा की चार अवस्थाओं का वर्णन भी जैनागम में मिलता है। संसार, असंसार, नोसंसार और इन तीनों से विलक्षण इसप्रकार चार अवस्थाएं हैं। अनेक योनियों से युक्त चारों गतियों में परिभ्रमण करना संसार है। पुन: पुन: जन्म नहीं लेना अथवा शिवपद की प्राप्ति या परमसुख की प्रतिष्ठा असंसार है। चतुर्गतिरूप संसारपरि-भ्रमण का तो निरोध हो जाना, किन्तु अभी मोक्ष की प्राप्ति नही हुई है ऐसी जीवनमुक्त सयोगकेवली की अवस्था ईषत्संसार या नोसंसार है। अयोगकेवली इन तीनों से विलक्षण

है अर्थात् इनके चतुर्गतिरूप संसारपरिभ्रमण का तथा मुक्तावस्थारूप असंसार का तो अभाव है, किन्तु सयोगकेवली के समान प्रदेश परिस्पन्दका भी अभाव है ऐसी चौथे ही प्रकार की अवस्था अयोगकेवली के पाई जाती है।

पंचपरावर्तनरूप संसार :

जिस संसरणरूप संसार की चर्चा ऊपर की गई है वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव परिवर्तन के भेद से पांच प्रकार का है।

द्रव्य परिवर्तन-नोकर्म द्रव्य परिवर्तन और कर्मद्रव्य परिवर्तन के भेद से द्रव्य परिवर्तन दो प्रकार है—

किसी एक जीव ने तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों को एक समय में ग्रहण किया। अनन्तर वे पुद्गल स्निग्ध या रूक्ष स्पर्श तथा वर्ण व गन्ध आदि के द्वारा जिस तीव्र, मन्द और मध्यम भाव से ग्रहण किये थे उस रूप से अवस्थित रहकर द्वितीयादि समयों में निर्जीर्ण हो गये। तत्पश्चात् अगृहीत परमाणुओं को अनन्तबार ग्रहण करके छोडा, गृहीतागृहीतरूप मिश्र परमाणुओं को अनन्तबार ग्रहण करके छोड़ा और बीच में गृहीत परमाणुओं को अनन्तबार ग्रहण करके छोडा। तत्पश्चात् जब उसी जीव के सर्वप्रथम ग्रहण किये गये वे ही परमाणु उसीप्रकार से नोकर्मभाव को प्राप्त होते हैं तब यह सब मिलकर एक नोकर्म-द्रव्यपरिवर्तन है।

एक जीव ने आठप्रकार के कर्मरूप से जिन पुद्गलों को ग्रहण किया वे समयाधिक एक आवलीकालके बाद द्वितीयादि समयों मे निर्जीर्ण हो गये। पश्चात् जो क्रम नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन मे बतलाया है उसी क्रम से वे ही पुद्गल उसीप्रकारसे उस जीव के जब कर्मभाव को प्राप्त होते हैं तब यह सब मिलकर एक कर्मद्रव्यपरिवर्तन हाता है। इसप्रकार यह जीव अनन्तबार पुद्गलपरिवर्तनरूप संसार में घूमता रहता है। द्रव्यपरिवर्तन मे नोकर्म-परिवर्तनकाल तीनप्रकार का होता है—अगृहीत ग्रहणकाल, गृहीतग्रहणकाल और मिश्रकाल।

क्षेत्रपरिवर्तन—क्षेत्रपरिवर्तन के स्वक्षेत्र और परक्षेत्र परिवर्तन के भेद से दो भेद हैं—

कोई जीव सूक्ष्मनिगोदिया की जघन्य अवगाहना से उत्पन्न हुआ और अपनी आयुप्रमाण जीवित रहकर मर गया फिर वही जीव प्रदेश अधिक अवगाहना लेकर उत्पन्न हुआ। एक-एक प्रदेश अधिक की अवगाहनाओं को क्रम से धारण करते करते महामत्स्यकी उत्कृष्ट अवगाहना पर्यन्त संख्यातघनांगुल प्रमाण अवगाहना के विकल्पों को वही जीव जितने समय में धारण करता है उतने काल के समुदाय को स्वक्षेत्रपरिवर्तन कहते है।

जिसका शरीर आकाश के सबसे कम प्रदेशो पर स्थित है, ऐसा एक सूक्ष्म निगोदलब्ध्यपर्याप्तकजीव लोक के आठ मध्यप्रदेशों को अपने शरीर के मध्य में करके उत्पन्न हुआ और क्षुद्रभव ग्रहण कालतक जीवित रहकर मर गया। पश्चात् वही जीव पुनः उसी अवगाहना से वहां दूसरी बार उत्पन्न हुआ। इसप्रकार अंगुल के असंख्यातवे भाग में आकाश के जितने प्रदेश प्राप्त हों उतनी वार वही उत्पन्न हुआ। पुनः उसने आकाश का एक-एक प्रदेश बढ़ाकर सब लोक को अपना जन्मक्षेत्र बनाया। इसप्रकार वह सब मिलकर एक क्षेत्रपरिवर्तन होता है।

कालपरिवर्तन – कालपरिवर्तनरूप संसार में भ्रमण करता हुआ उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकाल के सम्पूर्ण समयों और आवलियों में अनेकबार जन्म-मरण धारण करता है और मरता है। तद्यथा—कोई जीव उत्सर्पिणी-काल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ और आयु के समाप्त हो जाने पर मर गया। पुन: वही जीव दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु के समाप्त होने पर मर गया। पुनः वही जीव तृतीय उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ। इसप्रकार क्रम से इसने उत्सर्पिणीकाल के जितने समय हैं उतनी बार उत्सर्पिणी-काल में जन्म लिया और मरण किया तथा उसीप्रकार अवसर्पिणीकाल को भी जन्म-मरण करके पूरा करता है। यह जन्म-मरण का क्रम निरन्तरता की अपेक्षा कहा गया है। यह सब मिलकर एक कालपरिवर्तन है।

भवपरिवर्तन--मिथ्यात्व संयुक्त जीव ने नरक की सबसे जघन्य आयु से लेकर उपरिम ग्रैवेयक विमान तक की आयु क्रम से अनेकबार पाकर भ्रमण किया सो भवपरिवर्तन है। इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है कि नरकगति में सबसे जघन्य आयु दसहजार वर्ष की है। एक जीव उस आयु से वहां उत्पन्न हुआ पुन: घूम फिरकर उसी जघन्य आयु से वहां उत्पन्न हुआ। ऐसे १० हजार वर्ष के जितने समय हैं उतनीबार वहीं उत्पन्न हुआ और मर गया। इसप्रकार आयु में एक-एक समय बढ़ाकर नरक की ३३ सागर की आयु पूर्ण की। तदनन्तर नरक से निकलकर अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु के साथ तिर्यञ्चगति में उत्पन्न हुआ और एक-एक समय बढ़ाते हुए इसने तिर्यञ्चगति की तीनपल्य की आयु समाप्त की। इसीप्रकार मनुष्यगति सम्बन्धी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य आयु से लेकर तीनपल्य प्रमाण उत्कृष्ट आयु को पूर्ण किया। देवगति में नरकगति के समान ही १० हजार वर्ष की जघन्य आयु से ३१ सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु पूर्ण करता है। यहां ३१ सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु पर्यन्त कहने का यही तात्पर्य है कि यह उत्कृष्ट आयु उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त है और पंचपरावर्तनरूप संसार में भ्रमण करने वाला जीव इससे ऊपर नवानुदिश और पंचानुत्तर विमानों में उत्पन्न होता नहीं, क्योंकि वहां सम्यग्दृष्टिजीव उत्पन्न होते हैं। पंचपरावर्तनरूप संसार परिभ्रमण करते हुए उपरिम ग्रैवेयक तक मिथ्यादृष्टिजीव उत्पन्न होते हैं। इसप्रकार यह भवपरिवर्तन का लक्षण कहा है।

भावपरिवर्तन--इस जीव ने मिथ्यात्व के वशीभूत होकर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध के कारणभूत जितने प्रकार के परिणाम या भाव हैं उन सबका अनुभव करते हुए भावपरिवर्तनरूप संसार में अनेक बार भ्रमण किया है।

पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि कोई एक जीव ज्ञानावरण प्रकृति की सबसे जघन्य अपने योग्य अन्तःकोड़ाकोड़ीप्रमाण स्थिति को प्राप्त होता है उसके उस स्थिति के योग्य षट्स्थानपतित असंख्यातलोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थान होते हैं और सबसे जघन्य इन कषायाध्यवसाय स्थानों के निमित्त से असंख्यातलोकप्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान होते हैं। इसप्रकार सबसे जघन्यस्थिति, सबसे जघन्यकषायाध्यवसायस्थान और सबसे जघन्य अनुभागाध्यवसायस्थान को धारण करनेवाले इस जीव के तद्योग्य सबसे जघन्ययोगस्थान होता है। तत्पश्चात् स्थितिकषायाध्यवसायस्थान और अनुभागाध्यवसायस्थान वही रहते हैं, किन्तु योगस्थान दूसरा हो जाता है जो असंख्यातभागवृद्धि संयुक्त होता है। इसीप्रकार तीसरे, चौथे आदि योगस्थानों में समझना चाहिए। ये सब योगस्थान चारस्थानपतित होते हैं और इनका प्रमाण श्रेणी के असंख्यातवें भाग है। तदनन्तर उसी स्थिति और उसी कषाय-अध्यवसायस्थान को धारण करनेवाले जीव के दूसरा अनुभाग-अध्यवसायस्थान होता है. इसके योगस्थान पहले के समान जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यहां भी पूर्वोक्त तीनो बातें ध्रुव रहती हैं, किन्तु योगस्थान श्रेणि के असंख्यातवें भागप्रमाण होते है। इसप्रकार असंख्यातलोकप्रमाण अनुभाग अध्यवसायस्थानों के होने तक तृतीयादि अनुभाग-अध्यवसायस्थानो में जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यहां स्थिति और कषाय-अध्यवसान तो जघन्य ही रहते हैं, किन्तु अनुभाग-अध्यवसायस्थान क्रम से असंख्यातलोकप्रमाण हो जाते है और एक-एक अनुभाग-अध्यवसायस्थान के प्रति जगच्छ्रेणी के असंख्यातवेंभागप्रमाण योगस्थान होते है। तत्पश्चात् उसी स्थितिको प्राप्त होनेवाले जीवके दूसरा कषाय-अध्यवसायस्थान होता है, इसके अनुभाग-अध्यवसायस्थान और योगस्थान पहले के समान जानना चाहिए। इसप्रकार असंख्यातलोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानों के होने तक तृतीय कषाय-अध्यवसायस्थानों में वृद्धि का क्रम जानना चाहिए। जिसप्रकार सबसे जघन्यस्थिति के कषायादि स्थान कहे हैं उसीप्रकार एकसमय अधिक जघन्यस्थिति के भी कषायादिस्थान जानना चाहिए। इसीप्रकार एक-एक समय अधिक क्रम से तीस कोड़ाकोड़ीसागरप्रमाण उत्कृष्टस्थिति तक प्रत्येक स्थिति के विकल्प के भी कषायादि स्थान जानने चाहिए। अनन्तभागवृद्धि आदि वृद्धि के छहस्थान तथा इसीप्रकार हानि भी छह प्रकार की है। इनमे से अनन्तभागवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि इन दो स्थानों के कम कर देने पर चारस्थान होते है। इसप्रकार सर्व मूल व उत्तर प्रकृतियों के परिवर्तन का क्रम जानना चाहिए। यह सर्व मिलकर एक भावपरिवर्तन होता है।

पंचपरावर्तन का अल्पबहुत्व :

अतीतकाल में एक जीव के सबसे कम भावपरिवर्तन के बार होते हैं अर्थात् सबसे कमबार भावपरिवर्तन

होता है। भवपरिवर्तन के बार भावपरिवर्तन के बारों से अनन्तगुणे हैं। कालपरिवर्तन के बार भवपरिवर्तन के बारों से अनन्तगुणे हैं। क्षेत्रपरिवर्तन के बार कालपरिवर्तन के बारो से अनन्तगुणे है और पुद्गल परिवर्तन के बार क्षेत्रपरिवर्तन के बारों से अनन्तगुणे हैं। पुद्गलपरिवर्तन का काल सबसे कम है, क्षेत्रपरिवर्तन का काल पुद्गल-परिवर्तन के काल से अनन्तगुणा है। कालपरिवर्तन का काल क्षेत्रपरिवर्तन के काल से अनन्तगुणा है। भवपरि-वर्तन का काल, कालपरिवर्तन के काल से अनन्तगुणा है। भावपरिवर्तन का काल भवपरिवर्तन के काल से अनन्तगुणा है।

इसप्रकार पांच प्रकार के संसार परावर्तन का स्वरूप जानकर उसके निमित्तरूप मिथ्यात्व को छोडकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना चाहिए। सम्यग्दर्शन की महिमा यही है कि इस पंचपरावर्तनरूप अनन्तसंसार का उच्छेद हो जाता है और उसकी प्राप्ति होने के पश्चात् जीव का संसारपरिभ्रमण काल अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गलपरावर्तनप्रमाण शेष रह जाता है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति चारोंगति का भव्य, संज्ञी, पर्याप्तक, जागृत, साकारोपयोगी जीव ही क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धि में उत्तरोत्तर परिणामविशुद्धि के द्वारा मिथ्यात्वादि सप्तप्रकृतियों (मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया व लोभ) का उपशम करके (उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त) करता है। उपर्युक्त पांचलब्धियों में से करणलब्धि बिना शेष चार लब्धियां तो अभव्यजीव के भी हो जाती हैं, किन्तु करणलब्धि के बिना सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इन पांचों लब्धियों मे करणलब्धि तो अन्तरंग कारण है और शेष लब्धियां बहिरंग कारण है ऐसा जिनसेनाचार्य ने महापुराण में कहा है। अस्तु!

उपर्युक्त पांचों लब्धि में तीसरी देशनालब्धि का लक्षण करते हुए आचार्यों ने कहा है—

"छद्दव्व-णवपदत्थोवदेसो देसणा णाम।" तीए देसणाए परिणदआइरियादीणमुवलंभो, देसिदत्थस्स गहण-धारण-विचारण-सत्तीए समागमो अ देसणलद्धि णाम।"

छहद्रव्य और नौ पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारण की शक्ति के समागम को देशनालब्धि कहते हैं। देशनालब्धि में कथित छहद्रव्य, नौपदार्थ आदि का विचार भी प्रस्तुत लेख में किया जावेगा।

सम्यग्दर्शन का लक्षण करते हुए "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" सूत्र उमास्वामि आचार्य ने कहा है तथा समन्तभद्रस्वामि ने परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु की तीनमूढ़ता रहित अष्टअंगसहित आठ मदादि रहित श्रद्धा करना, प्रतीति करना सम्यग्दर्शन कहा है अतः छहद्रव्य-पंचास्तिकाय सप्ततत्त्व एवं नौ पदार्थ का स्वरूप जैनागम के परिप्रेक्ष्य में विवेच्य है और उसी की विवेचना आगे की जाती है।

छह द्रव्य

द्रव्य का स्वरूप :

जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया गया था अथवा गुणों को प्राप्त हुआ था, गुणों के द्वारा जो प्राप्त किया जावेगा या गुणों को प्राप्त होगा, उसे द्रव्य कहते हैं। जो यथायोग्य अपनी-अपनी पर्यायों के द्वारा प्राप्त होते हैं या पर्यायों को प्राप्त होते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं। यह द्रव्य का निरुक्ति अर्थ है।

सहवर्तीगुण और क्रमवर्ती पर्यायों के समुदाय से युक्त उत्पादव्ययध्रौव्यरूप सत्ता लक्षणवाला द्रव्य है। यह द्रव्य पर्याय की अपेक्षा अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायरूप जितनी अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय हैं तत्प्रमाण होता है। द्रव्य के छह भेद होते हैं—

"जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं ।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहि संजुत्ता ।।नि सा.।।

जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये तत्त्वार्थ (द्रव्य) कहे हैं जो कि नाना गुण-पर्यायों से संयुक्त हैं ।

जीवद्रव्य—दश प्राणों में से अपनी पर्याय के अनुसार गृहीत यथायोग्य प्राणों के द्वारा जो जीता है, जीता था व जीवेगा इस त्रैकालिक जीवनगुण वाले को जीव कहते है । अथवा निश्चयनय से चेतना लक्षण वाला जीव है । अथवा शुद्धनिश्चय नय की अपेक्षा यद्यपि यह जीव शुद्धचैतन्य है लक्षण जिसका ऐसे निश्चयप्राणो से जीता है तथापि अशुद्ध निश्चयनय से द्रव्य व भाव प्राणों से जीता है । "उपयोगो लक्षणम्" जीव का लक्षण उपयोगमय है । और उपयोग ज्ञान-दर्शनरूप है । जीव चैतन्य लक्षण वाला होने से समस्त जड़ द्रव्यों से अपना पृथक् अस्तित्व रखता है । जीव असंख्यात प्रदेशो है और अनादिकाल से सूक्ष्म कार्मणशरीर से सम्बद्ध है । अत: चैतन्ययुक्त जीव की पहिचान व्यवहार में पांचइन्द्रिय, मन-वचन-कायरूप तीनबल तथा श्वासोच्छ्वास और आयु इसप्रकार दस प्राणरूप लक्षणों को हीनाधिक सत्ता के द्वारा ही की जा सकती है ।

कर्तृत्व और भोक्तृत्वरूप प्रधान शक्तियों से युक्त जीव में अनेक गुण पाये जाते हैं ऐसे जीव का ६ अधिकारों से द्रव्यसंग्रह में विवेचन किया गया है । तद्यथा—जीव-जीव है, उपयोगरूप है, अमूर्तिक है, कर्ता है, स्वदेह परिमाण है, भोक्ता है, संसारी है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन स्वभाववाला है ।

जीव का कर्तृत्व—परिणमन करनेवाले को कर्ता, परिणाम को कर्म और परिणति को क्रिया कहते हैं । ये तीनों वस्तुत: भिन्न नहीं हैं, एक द्रव्य की ही परिणति है । जीव में कर्तृत्वशक्ति स्वभावत: पायी जाती है । आत्मा असद्भूतव्यवहारनय से ज्ञानावरण, दर्शनावरणादि पुद्गलकर्मों तथा भवन, वस्त्र आदि पदार्थो का कर्त्ता है । अशुद्धनिश्चयनय से अपने राग-द्वेषादि चैतन्य-भावकर्मों का और शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से अपने शुद्ध चैतन्य भावों का कर्ता है ।

भोक्तृत्व—आत्मा कर्म-फलों का स्वयं भोक्ता है । यह असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा पुद्गलकर्मों के फल का भोक्ता है । अन्तरंग में साता, असाताका उदय होनेपर सुख-दुःख का यह अनुभव करता है । इसी साता-असाता के उदय से बाह्य में उपलब्ध होनेवाले सुख-दुःख के साधनों का उपभोग करता है । अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा चेतना के विकार रागादिभावों का भोक्ता है और शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा शुद्धचैतन्य भावो का भोक्ता है ।

जीव : भेद-प्रभेद—जीव के मूलतः ससारी और मुक्त रूप दो भेद है । कर्मबन्धन से बद्ध एक गति से दूसरी गति में जन्म और मरण करनेवाले संसारी जीव कहलाते है । संसारीजीव क्षुधा-तृषा, रोग-शोक, वध-बन्धन आदि दुःखों से व्याकुल रहते हैं और कर्मानुसार उन्हे अनेक प्रकार की आकुलताएं प्राप्त होती रहती हैं । कर्म-बन्ध के कारण जीव की परतन्त्र दशा ही संसार है । यह जीव अपने ही राग-द्वेष-मोह भावों से स्वकीय कर्मबन्ध करता है और उसी कर्मचक्र के अनुसार भिन्न-भिन्न शरीरों को धारण करता है । बालक, युवक, वृद्ध होता हुआ अनेक प्रकार के दुःख उठाता है ।

इससे विपरीत मुक्त जीव कर्मबन्धन से पूर्णतया निवृत्त होकर आत्म-स्वातन्त्र्य को प्राप्त कर लेता है । यहां ध्यातव्य है कि पूर्ण स्वातन्त्र्य ही सबसे बड़ा सुख है । जब जीव की कर्मजन्य परतन्त्रता छूट जाती है तो मुक्तजीव लोकाग्रभाग में स्थित होकर शाश्वत सुख का अनुभव करता है । मुक्त होने पर सभी प्रकार की आकुलताओं और व्याकुलताओं से छूटकर आत्मा के ज्ञान, सुख आदि गुणों में यह जीव लीन रहता है । इन्हें (मुक्त जीवों को) वचनातीत सुख प्राप्त होता है ।

संसारी जीव भी त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के होते हैं । द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी त्रस जीव हैं । जीवविपाकी त्रस नामकर्म के उदय से उत्पन्न वृत्ति-विशेषवाले जीव त्रस हैं । अपनी रक्षार्थ स्वयं

चलने-फिरने की शक्ति त्रसजीवों में रहती है। त्रसजीव लोक के मध्य में एक राजू विस्तृत और कुछ कम १४ राजू लम्बी त्रसनाली में निवास करते हैं। त्रसजीव भी विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय रूप पाये जाते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव विकलेन्द्रिय हैं। इनके क्रमशः दो (स्पर्शन, रसना) तीन (स्पर्शन, रसना, घ्राण) चार (स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु) इन्द्रियां पायी जाती है। लट, शंख आदि द्वीन्द्रिय, चींटी आदि त्रीन्द्रिय और भ्रमरादि चतुरिन्द्रिय माने गये हैं।

सकलेन्द्रियजीवो के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्ररूप पाच इन्द्रियां पायी जाती हैं। इनके संज्ञी और असंज्ञी ये दो भेद होते है। जिनके मन है और सोचने-विचारने की विशिष्ट शक्ति है वे संज्ञी और जिनके मन या सोचने-विचारने की शक्ति नही है वे असंज्ञी कहलाते है।

स्थावरजीव एकेन्द्रिय होते है इनके मात्र एक स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है। स्थावरनामकर्म के उदय से स्थावरजीव-पर्याय प्राप्त होती है। स्थावरजीवों के पांच भेद हैं—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। इनका विशेष स्वरूप परमागम से जानना चाहिए विस्तार भय से यहां नहीं लिखा गया है।

पुद्गल :

भेद और संघात से पूरण और गलन को प्राप्त हों वे पुद्गल है। अर्थात् जो एक दूसरे के साथ मिलकर बिछुडता रहे ऐसा पूरण-गलन स्वभावी स्पर्श-रस-गन्ध और वर्ण संयुक्त मूर्तीक जड़ पदार्थ पुद्गल कहलाता है। अथवा जीव जिनको शरीर, आहार, विषय, और इन्द्रिय-उपकरणादि के रूप मे ग्रहण करे वे पुद्गल हैं।

पुद्गल शब्द पारिभाषिक शब्द है, रूढ़ नहीं। इसका व्युत्पत्ति अर्थ कई प्रकार से किया जाता है। पुद्गल शब्द में 'पुद्' और 'गल' ये दो अवयव है 'पुद्' का अर्थ पूरा होना या मिलना (Combination) और 'गल' का अर्थ है गलना या मिटना (Disintegration) जो द्रव्य प्रतिसमय मिलता-गलता रहे, बनता-बिगड़ता रहे, टूटता-जुड़ता रहे वह पुद्गल है।

सम्पूर्ण विश्व मे पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है जो खण्डित भी होता है और पुनः परस्पर सम्बद्ध भी होता है। स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवाला होने से पुद्गल छुआ भी जा सकता है, चखा जा सकता है, सूंघा जा सकता है और देखा भी जा सकता है, यही इस द्रव्य की विशेषता है।

पुद्गल के भेद :

'अणवः स्कन्धाश्च' इस सूत्र के अनुसार पुद्गल को अणु और स्कन्ध रूप दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म है, शाश्वत होकर भी उत्पाद-व्यय युक्त है

अणु—अणु पुद्गल का वह सूक्ष्मतम अंश है जिसका पुनः अंश हो ही न सके। अणु अविभाज्य है अतः उसका विभाजन नही हो सकता है।

स्कन्ध—दो या दो से अधिक परमाणुओ का पिण्ड स्कन्ध कहलाता है।

स्कन्ध, स्कन्धदेश और स्कन्धप्रदेश एवं अणु इसप्रकार पुद्गलद्रव्य के चार भेद भी होते हैं। अनन्तानन्त परमाणुओं से एक स्कन्ध बनता है, स्कन्ध का आधा स्कन्धदेश और स्कन्ध देश का आधा स्कन्धप्रदेश कहलाता है। अणु सर्वत. अविभागी होता है।

स्कन्ध की अपेक्षा छह भेद :

अपने परिणमन की अपेक्षा पुद्गलस्कन्धों के छह भेद हैं— बादर-बादर (स्थूल-स्थूल), बादर (स्थूल), बादर-सूक्ष्म, सूक्ष्म-बादर, सूक्ष्म और सूक्ष्म-सूक्ष्म।

बादर-बादर—जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होनेपर स्वयं न मिल सकें। ऐसे ठोस (Solid) पदार्थ जिनका आकार, प्रमाण और घनफल नहीं बदलता बादर-बादर कहलाते हैं। लकड़ी, पत्थर, पृथ्वी आदि पदार्थ इस वर्ग में आते हैं।

बादर—जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होने पर स्वयं आपस में मिल जावे वे बादर कहलाते हैं। जिनका केवल आकार बदलता है घनफल नहीं वे बादर कहलाते हैं। इस वर्ग में दूध, घी, जल, तैल आदि द्रव (Liquids) पदार्थ आते हैं।

बादर-सूक्ष्म—जो स्कन्ध देखने में स्थूल हों, परन्तु जिनका छेदन, भेदन और ग्रहण न किया जा सके वे बादर-सूक्ष्म कहलाते हैं। अर्थात् केवल नेत्रेन्द्रिय के विषयभूत आकारसहित किन्तु पकड मे न आसकने वाले पदार्थ बादर-सूक्ष्म कहलाते हैं। प्रकाश, छाया, अन्धकार आदि पदार्थों को इसी वर्ग मे रखा जा सकता है।

सूक्ष्म-बादर—नेत्रेन्द्रिय के बिना शेष चार इन्द्रियो के विषयभूत पदार्थ सूक्ष्म-बादर कहलाते है। जैसे ताप, ध्वनि आदि उर्जाएं। यद्यपि ताप हम नेत्रेन्द्रिय से देख नही पाते, किन्तु स्पर्श के द्वारा उसका परिज्ञान हो जाता है। इसीप्रकार ध्वनिको हम आंखों से देख नही सकते, किन्तु कर्णेन्द्रिय द्वारा उसका अनुभव कर लेते हैं।

सूक्ष्म—जो स्कन्ध सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण न किये जा सके वे सूक्ष्मस्कन्ध कहलाते हैं। इस वर्ग में हम कार्मणवर्गणाओं को कह सकते है। कार्मणवर्गणाएं ही वे सूक्ष्मस्कन्ध हैं जो हमारे परिणामो के प्रभाव से आत्मा से सम्बद्ध होती हैं और उनका प्रभाव जीवद्रव्य पर पड़ता है।

सूक्ष्म-सूक्ष्म—कार्मण वर्गणाओं से भी छोटे द्वयणुकस्कन्ध तक सूक्ष्म-सूक्ष्मस्कन्ध हैं।

पुद्गल के तेईस भेद :

पुद्गलजातीय स्कन्धों मे विभिन्न प्रकार के परिणमन होने से पुद्गल के २३ भेद है, जिन्हें वर्गणाएं कहा जाता है। तद्यथा—अणुवर्गणा, संख्याताणुवर्गणा, असंख्याताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, तैजसवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, भाषावर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, मनोवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, कार्मणवर्गणा, ध्रुववर्गणा, सान्तर-निरन्तरवर्गणा, शून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, नभोवर्गणा और महास्कन्धवर्गणा।

उपर्युक्त २३ वर्गणाओं में आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, तैजसवर्गणा और कार्मणवर्गणा ये पांच ग्राह्यवर्गणाएं हैं। इन वर्गणाओं मे ऐसा नियम नही है कि जो परमाणु एकबार कार्मणवर्गणारूप परिणत हुए हैं वे सदा कार्मणवर्गणारूप ही रहेंगे अन्यरूप नहीं होंगे या अन्य परमाणु कर्मवर्गणारूप नही होंगे। अर्थात् जो परमाणु शरीरअवस्था में नोकर्मवर्गणा बनकर शामिल हुए थे, वे ही परमाणु मृत्यु के अनन्तर शरीर के भस्म कर देने पर अन्य अवस्थाओं को प्राप्त हो जाते हैं।

पुद्गल की पर्याय :

शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत आदि पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

शब्द—एक स्कन्ध के साथ दूसरे स्कन्ध के टकराने से जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह शब्द है। शब्द कर्ण या श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। शब्द पुद्गल द्वारा रुकता है, पुद्गलों को रोकता है, पौद्गलिक वातावरण में अनुकम्पन करता है, पुद्गल के द्वारा ग्रहण किया जाता है और पुद्गल से धारण किया जाता है अतः पौद्गलिक है। स्कन्धों के परस्पर संयोग, संघर्षण और विभाग से शब्द उत्पन्न होता है।

शब्द के भाषात्मक और अभाषात्मकरूप दो भेद हैं। भाषात्मक शब्द के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक ये दो भेद हैं। बोल-चाल में आनेवाली विविधप्रकार की भाषाएं, जिनमें ग्रन्थ रचना होती है, वे अक्षरात्मक तथा द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों के जो ध्वनिरूप शब्द उच्चरित होते है, वे अनक्षरात्मक शब्द हैं। अभाषात्मक शब्द के भी वैस्रसिक और प्रायोगिक के भेद से दो भेद है। मेघ आदि की गर्जना वैस्रसिक और तत, वितत, घन व सुषिररूप चार भेदों से संयुक्त प्रायोगिक शब्द हैं। मृदंग, भेरी और ढोल आदि का शब्द तत है। वीणा, सारंगी आदि वाद्यों का शब्द वितत है। झालर, घण्टा आदि का शब्द घन है और शंख, बांसुरी आदि का शब्द सुषिर है।

बन्ध—बन्ध शब्द का अर्थ है बंधना, जुड़ना, मिलना, संयुक्त होना। दो या दो से अधिक परमाणुओं का भी बन्ध हो सकता है और दो या दो से अधिक स्कन्धों का भी; इसीप्रकार एक या एक से अधिक परमाणुओं का एक या एक से अधिक स्कन्धो के साथ भी बन्ध होता है। पुद्गल परमाणुओं का (कार्मण वर्गणाओं का) जीवद्रव्य के साथ भी बन्ध होता है।

जिन परमाणुओं या स्कन्धों अथवा स्कन्ध-परमाणुओं या द्रव्यों का परस्पर बन्ध होता है वे परस्पर सम्बद्ध रहकर भी अपना-अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम रखते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के साथ दूध और पानी के समान सम्बद्ध होकर भी अपनी पृथक् सत्ता नही खो सकता, उसके परमाणु कितने ही रूपान्तरित हो जावे, फिर भी उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व बना रहता है।

बन्ध की प्रक्रिया—जैनाचार्यों ने बन्ध की प्रक्रिया का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है। परमाणु से स्कन्ध, स्कन्ध से परमाणु और स्कन्ध से स्कन्ध किस प्रकार बनते हैं इस विषय में आगम में सात प्रकार बताये गये हैं—

(१) स्कन्धों की उत्पत्ति कभी भेद से, कभी संघात से और कभी भेद-संघात से होती है। स्कन्धों का विघटन अर्थात् कुछ परमाणुओं का एक स्कन्ध से विच्छिन्न होकर दूसरे स्कन्ध मे मिल जाना भेद कहलाता है। दो स्कन्धो का संघटन या संयोग हो जाना संघात है और इन दोनों प्रक्रियाओ का एक साथ हो जाना भेद-संघात है।

(२) अणु की उत्पत्ति केवल भेद से ही होती है।

(३) पुद्गल में पाये जानेवाले स्निग्ध और रुक्ष नामक दो गुणो के कारण ही यह प्रक्रिया सम्भव है।

(४) जिन परमाणुओं का स्निग्ध अथवा रुक्ष गुण जघन्य अर्थात् न्यूनतम शक्तिस्तर पर हो उनका परस्पर बन्ध नही होता।

(५) जिन परमाणुओं या स्कन्धों में स्निग्ध या रुक्ष गुण समान मात्रा में अर्थात् सम शक्तिस्तर पर हो उनका भी परस्पर बन्ध नही होता।

(६) उन परमाणुओ का बन्ध अवश्य होता है जिनसे स्निग्ध और रुक्ष गुणों की संख्या में दो का अन्तर होता है, जैसे चार स्निग्ध गुण युक्त स्कन्ध का छह स्निग्ध गुण युक्त स्कन्ध के साथ अथवा छह रुक्ष गुण युक्त स्कन्ध के साथ बन्ध सम्भव है।

(७) बन्ध की प्रक्रिया में संघात से उत्पन्न स्निग्धता अथवा रुक्षता में से जो भी गुण अधिक परिमाण में होता है नवीन स्कन्ध उसी गुणरूप मे परिणत होता है।

सूक्ष्मता—सूक्ष्मता भी पुद्गल की पर्याय है यतः इनकी उत्पत्ति पुद्गल से ही होती है। सूक्ष्मता दो प्रकार की होती है—१. अन्त्यसूक्ष्मता और आपेक्षिक सूक्ष्मता। अन्त्य सूक्ष्मता परमाणुओं में ही पाई जाती है और आपेक्षिक सूक्ष्मता दो छोटी-बड़ी वस्तुओ मे पाई जाती है। जैसे— बेल, आंवला और बेर में आपेक्षिक सूक्ष्मता है।

स्थूलता—यह भी पुद्गल से उत्पन्न होने के कारण उसकी ही पर्याय है। स्थूलता भी दो प्रकार की है—१. अन्त्य स्थूलता २. आपेक्षिक स्थूलता। अन्त्यस्थूलता तो विश्वव्यापी महास्कन्ध में पाई जाती है और बेर, आंवला, बेल में आपेक्षिक स्थूलता पाई जाती है।

संस्थान—संस्थान का अर्थ आकार, रचनाविशेष। संस्थान का वर्गीकरण दो प्रकार से देखने में आता है। इत्थं लक्षण और अनित्थं लक्षण। इत्थंसस्थान, जिसे हम त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल आदि नाम देते है और अनित्थं लक्षण संस्थान जिसे हम अनगढ़ भी कह सकते हैं उसे कोई खास नाम नहीं दिया जा सकता। जैसे मेघ आदि का आकार अवश्य है, किन्तु उसका निर्धारण सम्भव नही है अतः यह अनित्थं लक्षण संस्थान है।

भेद—पुद्गल पिण्ड का भंग होना भेद है। पुद्गल के विभिन्न भंग-टुकडे उपलब्ध होते है अतः भेद को भी पुद्गल पर्याय कहा गया है। भेद के छह भेद हैं—

१. उत्कर—बुरादा-लकडी या पत्थर आदि का करोत आदि से भेद करना।

२. चूर्ण—गेहूं आदि का सत्तू या आटा।

३. खण्ड—घट आदि के टुकडे टुकडे हो जाना खण्ड है।

४. चूर्णिका—दालरूप मे टुकडे, उडद, मूंग, चना आदि की दाल।

५. प्रतर—मेघ, भोजपत्र, अभ्रक और मिट्टी आदि की तहें निकालना प्रतर है।

६. अणुचटन—गर्म किये लोहे पर घन मारने पर अथवा शान पर कोई वस्तु चढ़ाते समय जो स्फुलिंगे निकलते है।

तम—जो देखने मे बाधक हो और प्रकाश का विरोधी हो वह अन्धकार है। अन्धकार तम का पर्यायवाची है, अन्धकार मूर्तिक है, क्योकि इसका अवरोध किया जा सकता है। कुछ दार्शनिकों ने अन्धकार को कोई वस्तु न मानकर केवल प्रकाश का अभाव माना है, किन्तु यह उचित नहीं है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो यह भी कह सकते है कि प्रकाश भी कोई वस्तु नहीं है वह तो केवल तम का अभाव है। विज्ञान भी अन्धकार को प्रकाश का अभावरूप न मानकर पृथक् वस्तु मानता है। प्रकाशपथ मे सघन पुद्गलो के आ जाने से अन्धकार की उत्पत्ति होती है।

छाया—प्रकाश पर आवरण पड़ने से छाया उत्पन्न होती है। सूर्य, दीपक, विद्युत आदि के कारण आस-पास के पुद्गलस्कन्ध भासुररूप धारणकर प्रकाश स्कन्ध बन जाते हैं। जब कोई स्थूलस्कन्ध इस प्रकाश-स्कन्ध को जितनी जगह में अवरुद्ध रखता है उतने स्थान के स्कन्ध काला रूप धारण कर लेते हैं यही छाया है। छाया के दो भेद हैं—

१. वास्तविक प्रतिबिम्ब—प्रकाशरश्मियो के मिलने से वास्तविक प्रतिबिम्ब बनते हैं।

१. अवास्तविक प्रतिबिम्ब—समतल दर्पण में प्रकाश रश्मियों के परावर्तन से बनते हैं। छाया पुद्गल-जन्य है अतः पुद्गल की पर्याय है।

आतप—सूर्य आदि के निमित्त से होनेवाले उष्ण प्रकाश को आतप कहते हैं। आतप मूल में ठंडा होता है, किन्तु उसकी प्रभा उष्ण होती है। आतप में अधिकांश ताप किरणों के रूप में प्रगट होता है।

उद्योत—चन्द्रमा, जुगनू आदि के शीत प्रकाश को उद्योत कहते हैं। उद्योत की प्रभा और मूल दोनों शीतल होते हैं। उद्योत में अधिकांश ऊर्जा प्रकाश किरणों के रूप में प्रकट होती है।

पुद्गल के कार्य या उपकार :

शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास का निर्माण पुद्गल द्वारा होता है। शरीर की रचना पुद्गल द्वारा हुई है। वचन के दो भेद हैं—(१) भाववचन (२) द्रव्यवचन। भाववचन वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से जो पुद्गल गुण-दोष का विचार और स्मरण आदि कार्यों के सम्मुख हुए आत्मा के उपचारक हैं वे द्रव्यमन से परिणत होते हैं, अतएव द्रव्यमन भी पौद्गलिक है। वायु को बाहर निकालना प्राण और बाहर से भीतर ले जाना अपान कहलाता है। वायु के पौद्गलिक होने से प्राणापान भी पुद्गल द्वारा निर्मित है।

सुख, दुःख, जीवन और मरण भी पुद्गलों के उपकार हैं। सुख, दुःख जीव अवस्थाएं हैं, इन अवस्थाओं के होने में पुद्गल निमित्त है, अतः ये पुद्गल के उपकार हैं। आयुष्य कर्म के उदय से प्राण-अपान का विच्छेद न होना जीवन है और प्राण-अपान का विच्छेद हो जाना मरण है। प्राणापानादि पुद्गलस्कन्धजन्य है अतः ये भी पुद्गल के उपकार हैं।

धर्मद्रव्य :

गतिशील जीव और पुद्गलों के गमन करने में जो साधारण कारण है, वह धर्मद्रव्य है। जीव और पुद्गल के समान यह भी स्वतन्त्र द्रव्य है। यह निष्क्रिय है। बहुप्रदेशी द्रव्य होने के कारण इसे अस्तिकाय भी कहा जाता है। धर्मद्रव्य के असंख्यातप्रदेश हैं। यह द्रव्य के मूल परिणामी स्वभाव के अनुसार पूर्वपर्याय को छोड़ने और उत्तरपर्याय को धारण करने का क्रम अपने प्रवाही अस्तित्व को बनाये रखते हुए अनादिकाल से चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चालू रहेगा। धर्मद्रव्य के कारण ही जीव और पुद्गलों के गमन की सीमा निर्धारित होती है। इसमें न रस है, न रूप है, न गन्ध है, न स्पर्श है और न शब्द ही है।

यह जीव और पुद्गलों को गमन करने में उसी प्रकार सहायक है जैसे जल मछली के गमन करने में। यह एक अमूर्तिक समस्त लोक में व्याप्त स्वतन्त्रद्रव्य है।

अधर्मद्रव्य ::

जिसप्रकार धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलों को गमन करने में सहायक है, उसीप्रकार अधर्मद्रव्य जीव और पुद्गलों के ठहरने या स्थिति में सहायक है। धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलों के चलने में सहायता करता है और अधर्मद्रव्य ठहरने में। चलने और ठहरने की शक्ति तो जीव और पुद्गलों में पाई जाती है, पर बाह्य सहायता के बिना इस शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है।

सहायक होने पर भी धर्म और अधर्मद्रव्य प्रेरक कारण नहीं हैं, न किसी को बलपूर्वक चलाते हैं और न किसी को ठहराते ही हैं, किन्तु ये दोनों गमन करते और ठहरते हुए जीव और पुद्गलों को सहायक होते हैं।

आकाशद्रव्य :

जो जीवादि द्रव्यों को अवकाश प्रदान करता है वह आकाश है। आकाश अनन्त है, किन्तु जितने आकाश में जीवादि अन्य द्रव्यों की सत्ता पाई जाती है वह लोकाकाश कहलाता है और वह सीमित है। लोकाकाश से परे जो अनन्त शुद्ध आकाश है उसे अलोकाकाश कहा जाता है। उसमें अन्य किसी द्रव्य का अस्तित्व नहीं है, और न हो सकता है, क्योंकि वहां गमनागमन के साधनभूत धर्मद्रव्य का अभाव है।

एक पुद्गल परमाणु जितने आकाश को रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। इस नाप से आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। इसके मध्य में चौदह राजू ऊंचा सर्वत्र सात राजू मोटा पुरुषाकार लोक है जो कि असंख्यात प्रदेशी है।

लोक से अन्य समस्त अलोकाकाश अनन्त है। आकाश अन्य द्रव्यों के समान 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य' इस द्रव्य लक्षण से युक्त है और इसमें प्रतिक्षण अपने अगुरुलघुगुण के कारण पूर्वपर्याय का विनाश और उत्तरपर्याय का उत्पाद होते हुए भी सतत अविच्छिन्नता बनी रहती है। अतः आकाश परिणामीनित्य है। धर्म-अधर्म द्रव्य के समान आकाश द्रव्य भी निष्क्रिय है।

कालद्रव्य :

समस्त द्रव्यों के उत्पादादिरूप परिणमन में सहायक 'कालद्रव्य' होता है। इसका लक्षण वर्तना है। यह स्वयं परिणमन करते हुए अन्य द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक होता है। कालद्रव्य के दो भेद हैं—(१) निश्चय काल (२) व्यवहारकाल।

निश्चयकाल पांच वर्ण और पांच रस से रहित, दो गन्ध और आठ स्पर्श से रहित, अगुरुलघु, अमूर्त और वर्तना लक्षण वाला है। यह निश्चयकाल ही सत्तास्वरूप स्वभाव वाले जीवों के, तथैव पुद्गलों के और धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य एव आकाशद्रव्य के परिणमन में निमित्तकारण है।

जो द्रव्यों के परिणमन में सहायक, परिणामादि लक्षणवाला है सो व्यवहारकाल है। समय और आवली के भेद से दो प्रकार अथवा भूत, वर्तमान और भविष्यत के भेद से तीन प्रकार का है। पदार्थों में कालकृत सूक्ष्मतम परिवर्तन होने में अथवा पुद्गल के एक परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जाने में जितना काल लगता है वह व्यवहारकाल का एक समय है। ऐसे संख्यातसमयों की आवली, संख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास, सात उच्छ्वासों का एक स्तोक, सात स्तोकों का एक लव, ३८½ लवों की एक नाली, दो नाली का एक मुहूर्त और तीस मुहूर्त का एक अहोरात्र होता है। इसीप्रकार पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, पूर्वांग, पूर्व, नयुतांग, नयुत आदि संख्यात काल के भेद हैं। इसके आगे असंख्यातकाल प्रारम्भ होता है जिसके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन भेद हैं। अनन्तकाल के भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद हैं। अनन्त का उत्कृष्ट प्रमाण अनन्तानन्त है।

पंचास्तिकाय

जैनागम में पंचास्तिकाय बहुत प्रसिद्ध हैं। उपर्युक्त छहद्रव्यों को अस्तिकाय और अनस्तिकाय में विभाजित किया गया है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पांचद्रव्य तो अस्तिकाय हैं तथा कालद्रव्य अनस्तिकाय है।

अस्तिकाय-अनस्तिकाय – 'अस्तिकाय' शब्द अस्ति और काय इन दो शब्दों के संयोग से बना है। अस्ति का अर्थ है सत्ता, अतः छहों द्रव्यों की सत्ता तो है, किन्तु काय अर्थात् बहुप्रदेशीपना कालद्रव्य बिना शेष पांच द्रव्यों को ही है। कालद्रव्य मे कायत्व नहीं है, क्योंकि कालद्रव्य परमाणुमात्र प्रमाणवाला है और इसमें मुख्य और उपचार दोनों प्रकार से प्रदेशप्रचय की कल्पना का अभाव है। शेष पांचों द्रव्य क्रमशः जीव असंख्यात-प्रदेशी, पुद्गल मे संख्यात-असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं। धर्म व अधर्म द्रव्य असंख्यातप्रदेशी है तथा आकाश अनन्त प्रदेशी है।

शंका—पुद्गलद्रव्य के एकप्रदेशी अणु को कायत्व कैसे प्राप्त होगा ?

समाधान—वस्तुतः एक प्रदेशवाले अणु के भी पूर्वोत्तर भाव-प्रज्ञापननय की अपेक्षा उपचार कल्पना से प्रदेशप्रचय कहा है। पुद्गल तो (अणु) द्रव्यतः एकप्रदेशमात्र होने से यथोक्त प्रकार से अप्रदेशी है, तथापि दो प्रदेशादि के उद्भव के हेतुभूत तथाविध स्निग्ध-रुक्ष गुणरूप परिणमित होने की शक्तिरूप स्वभाव के कारण उसके प्रदेशों का उद्भव है। इसलिए पर्यायतः अनेकप्रदेशित्व भी सम्भव होने से पुद्गल को द्विप्रदेशित्व से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्तप्रदेशी कहा गया है वह भी न्याय युक्त है।

लोक का निरुक्त्यर्थ करते हुए कहा गया है कि आकाश के जितने भाग में जीव, पुद्गल आदि उपर्युक्त षट्द्रव्य देखे जावें वह लोक है। अथवा षट्द्रव्यों का समवाय लोक है। ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोकरूप विश्व (त्रिलोक) में ही षट्द्रव्यों की व्यवस्था पाई जाती है। अतः पदार्थ-व्यवस्था की दृष्टि से विश्व षट्द्रव्यमय है। षट्द्रव्यों के स्वरूपज्ञान से विश्व-व्यवस्था का ज्ञान होता है, किन्तु तत्त्वज्ञान के अभाव में मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती है। अतः मुमुक्षु जीवों को मुक्ति प्राप्ति मे जिस तत्त्वज्ञान की आवश्यकता होती है वे तत्त्व सात हैं। आगे उन्हीं प्रयोजनभूत सप्ततत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत है।

सप्त तत्त्व

तत्त्व—जिस वस्तु का जो भाव है वह तत्त्व है। वस्तु के असाधारणरूप स्वतत्त्व को तत्त्व कहते है। जो पदार्थ जिसरूप से अवस्थित है उसका उसरूप होना यही तत्त्व शब्द का अर्थ प्रस्तुत प्रकरण मे इष्ट है। तत्त्व सात हैं—

१ जीव २. अजीव ३. आस्रव ४. बन्ध ५. संवर ६. निर्जरा और ७. मोक्ष।

ये तत्त्व अनादि हैं। जिसप्रकार काल अनादि, अनन्त है उसीप्रकार ये तत्त्व भी अनादि है। इन सात तत्त्वों की जानकारी प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक है।

जीवतत्त्व :

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगरूप चेतनता ही जीव का लक्षण है। आत्मा व चेतन भी जीव के पर्यायवाची शब्द हैं। अतः यहां जीव के स्थान पर 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया गया है।

जिसप्रकार रोगी को जब तक अपने मूलभूत आरोग्य स्वरूप का ज्ञान न हो तब तक उसे यह निश्चय ही नही हो सकता कि मेरी यह अस्वस्थ अवस्था है। आरोग्यावस्था का परिज्ञान होने पर ही रोगजनित विकार की यथार्थ जानकारी सम्भव है। इसीप्रकार आत्मा के यथार्थ स्वरूप का निरूपण किये बिना विकारी आत्मा का परिज्ञान नही हो सकता है। विकारी अवस्था का ज्ञान होने पर आत्मा अपने यथार्थ-परिशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है यही चरम लक्ष्य है।

विश्व में अनन्त आत्माएं हैं और उनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। प्रत्येक आत्मा का मौलिक स्वरूप एक होने पर भी संसारी आत्माओं में जो भिन्नता दृष्टिगोचर होती है वह कर्मोपाधि जन्य है। कर्मों के आवरण की तारतम्यता अनन्त प्रकार की सम्भव है अतः आत्मा के स्वाभाविक गुणों के विकास एवं ह्रास की भी अनन्त अवस्थाएं हो सकती हैं। चैतन्य आत्मा का असाधारण गुण है। यह आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी में नही पाया जाता है। जिसप्रकार आकाश तीनों कालो में अक्षय, अनन्त और अतुल होता है उसीप्रकार आत्मा भी तीनों कालों में अविनाशी और अवस्थित है। इसका ग्रहण ज्ञान-दर्शन गुण के द्वारा होता है।

आत्मा के भेद—आत्मा को हम तीन भेदो मे विभाजित कर सकते हैं यह भेद आत्मा के विकास-अपेक्षा किये गये है।

१. बहिरात्मा २. अन्तरात्मा ३. परमात्मा।

बहिरात्मा—मिथ्यात्व व राग-द्वेष से मलीन, तीव्रकषायाविष्ट, मद-मोह-मान से नित्य संतप्त, विषयों में अत्यासक्त, देह, कलत्र, पुत्र व मित्रादिरूप चेतना के विभावों मे अपनत्व करने वाला, आत्मा के ज्ञान-ध्यान व अध्ययन सुखामृत को छोड़कर इन्द्रिय विषयों के सुखों का भोक्ता मिथ्यादर्शन से मोहित होने के कारण हेयोपादेय के विचार से रहित होता हुआ देह को ही आत्मा समझने वाला बहिरात्मा है।

बहिरात्मा उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार के हैं—मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट, सासादनगुणस्थानवर्ती मध्यम और मिश्रगुणस्थानवर्ती जघन्य बहिरात्मा है।

अन्तरात्मा—स्व-पर के विवेक से भेदविज्ञान सम्पन्न होने से शरीरादि बाह्य पदार्थों में आत्मबुद्धि का अभाव होने पर जब जीव की दृष्टि बाह्य विषयों से हटकर अन्तर की ओर झुक जाती है और सभी प्रकार के जल्पों से रहित होता है तब यह अन्तरात्मा कहलाता है। अन्तरात्मा के भी तीन भेद है—

१. जघन्य अन्तरात्मा २. मध्यम अन्तरात्मा ३. उत्कृष्ट अन्तरात्मा।

चतुर्थगुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा, क्षीणकषाय नामक १२ वें गुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट अन्तरात्मा तथा इन दोनों के मध्यमें पंचमगुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त के जीव मध्यम अन्तरात्मा जानना चाहिए।

परमात्मा—संसारी जीवों में सबसे उत्कृष्ट आत्मा परमात्मा है। अथवा शुद्ध आत्मा ही परमात्मा है। जब आत्मा विशुद्ध ध्यान के बल से कर्मरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर उनको आत्मा से सर्वथा पृथक् कर यह आत्मा परमात्मा बन जाता है। परमात्मा के दो भेद हैं— १. सकल परमात्मा और २. निकल परमात्मा।

कल अर्थात् शरीरसहित परमात्मा सकलपरमात्मा हैं। केवलज्ञान से जान लिये है सकल पदार्थ जिन्होने ऐसे शरीरसहित अर्हन्त सकल परमात्मा है। जो शरीर रहित है एवं सम्पूर्ण कर्मकालिमा से मुक्त हैं वे निकल परमात्मा है।

कारणपरमात्मा और कार्यपरमात्मा के भेद से भी परमात्मा के दो भेद जिनागम में कहे गये हैं। परमात्मा को प्रथम सकलपरमात्मरूप अर्हन्त अवस्था कारणपरमात्मा और निकलपरमात्मारूप सिद्धावस्था कार्यपरमात्मा है।

इसप्रकार विकासक्रम की अपेक्षा आत्मस्वरूप को जानकर निष्ठापूर्वक अपनी आत्मा के विकारी भावों को दूर कर आत्मा की शुद्धदशा को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

अजीवतत्व :

आत्मा को विकृत करने में, विभावरूप परिणमन कराने में अजीवतत्त्व ही निमित्त है। अजीव से ही आत्मा बंधती है और यही आत्मा की परतन्त्रता का कारण है। पूर्वोक्त छहद्रव्यों में से धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन पांच की अजीवतत्त्व के अन्तर्गत परिगणना की जाती है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो आत्मा का इष्ट-अनिष्ट करते नही हैं पुद्गलद्रव्य ही आत्मा के बन्ध का कारण है। इसी से शरीर, मन, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और वचन आदि का निर्माण होता है। अतएव पुद्गल की प्रकृति का परिज्ञान आवश्यक है। जीवन की आसक्ति का प्रमुख केन्द्र यही है। इसके यथार्थ उपयोग से ही आत्मा का विकास किया जा सकता है।

आत्मा और अनात्मा दोनों द्रव्य है। दोनों अनन्तगुण-पर्यायों से अविच्छिन्न समुदाय हैं। वस्तुतः शरीर और चेतन का अनादिप्रवाही सम्बन्ध। चेतन और अचेतन अथवा आत्मा-अनात्मा या जीव-पुद्गल चैतन्य की दृष्टि से अत्यन्त भिन्न है अतः वे सर्वदा एक नहीं हो सकते। चेतन कभी अचेतन और अचेतन कभी चेतन नहीं हो सकता है। अतएव शरीर और आत्मा के सम्बन्ध का परिज्ञान और उसकी अनुभूति प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक है।

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यही है कि जीव के लिए आत्म और अनात्म दोनों ही तत्त्व हैं, क्योंकि जीव और पुद्गल का बन्ध अनादि से है और यह बन्ध जीव के अपने राग-द्वेष आदि के कारण उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता है। जब ये रागादिभाव क्षीण होते हैं तब यह बन्ध आत्मा में नये विभाव उत्पन्न नहीं कर सकता और शनैः शनैः या एक साथ ही समाप्त हो जाता है। इन सात तत्त्वों में जीव और अजीव ही प्रधान तत्त्व है शेष पांच तत्त्व तो जीव-अजीव के संयोग-वियोग के कारण होते हैं। आस्रव और बन्ध तत्त्व संसार के तथा संवर-निर्जरा मुक्ति के कारण हैं। मोक्ष तत्त्व जीव और अजीव के वियोग हो जाने का नाम है।

आस्रवतत्त्व :

जीव के द्वारा प्रतिक्षण मन-वचन और काय से जो शुभाशुभ प्रवृत्ति होती है वह जीव का भावास्रव है और उसके निमित्त से विशेषप्रकार की अचेतन पुद्गलवर्गणाएं आकर्षित होकर उसके (आत्म) प्रदेशो मे प्रवेश करती हैं सो द्रव्यास्रव है। अथवा

पुण्य-पापरूप कर्मों के आगमन के द्वार को आस्रव कहते है। जैसे नदियों के द्वारा समुद्र प्रतिदिन जल से भर जाता है वैसे ही मिथ्यादर्शनादि स्रोतों से आत्मा मे कर्म आते हैं। साम्परायिक आस्रव और ईर्यापथ आस्रव के भेद से आस्रव के दो भेद हैं। अथवा द्रव्यास्रव और भावास्रवरूप भी दो भेद है।

साम्परायिकआस्रव—कर्मों के द्वारा चारों ओर से स्वरूप का अभिभव होना साम्पराय है इसका दूसरा नाम संसार भी है। इस साम्पराय के लिए जो आस्रव होता है वह साम्परायिक आस्रव है। मिथ्यात्व गुणस्थान से सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक कषाय का चेप रहने से योग के द्वारा आये हुए कर्म गीले चमडे पर धूल के समान चिपक जाते है अर्थात् उनमे स्थितिबन्ध हो जाता है। यही साम्परायिक आस्रव है।

ईर्यापथआस्रव— जिनकर्मों का आस्रव होता है, किन्तु बन्ध नही होता वे ईर्यापथकर्म हैं, ऐसे कर्मों का आस्रव ईर्यापथ आस्रव है। उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली के योग से आये हुए कर्म कषायोका चेप न होने से सूखी दीवार पर पडे हुए पत्थर के समान झड़ जाते हैं बधते नहीं हैं। बन्ध को प्राप्त कर्म परमाणु द्वितीय क्षण में ही सामस्त्य भाव से निर्जरा को प्राप्त होते हैं अत: यह ईर्यापथ आस्रव कहलाता है।

द्रव्यास्रव-भावास्रव— अपने-अपने निमित्तरूप योग को प्राप्त करके आत्मप्रदेशों में स्थित पुद्गलकर्म भावरूप से परिणमित हो जाते हैं अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्मो के योग्य जो पुद्गल आता है उसे द्रव्यास्रव कहते हैं और वह अनेक भेदो वाला है।

आत्मा के जिस परिणाम से पुद्गलद्रव्य कर्मपने को प्राप्तकर आत्मा में आता है उस शुभ या अशुभ परिणाम को भावास्रव कहते है।

बन्धतत्त्व :

दो पदार्थों के विशिष्ट सम्बन्ध को बन्ध कहा जाता है। बन्ध द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। आत्मा के जिन राग-द्वेष-मोहादि विकारी भावो से कर्मबन्ध होता है वे भाव तो भावबन्ध हैं तथा कर्म-पुद्गलों का आत्मप्रदेशो से सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध है। आत्मा और कर्मपुद्गलों का दूध-पानी के समान एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध होता है।

जिसप्रकार लोहा अग्नि से तपाया जाने पर तप्त हो जाता है और पानी में छोड़ देने पर वह चारों ओर से पानी को अपनी ओर खीचता है उसी प्रकार आत्मा अपनी संसारी अवस्था में कर्मों को खीचता है और इसप्रकार आत्मा व कर्मो का एकक्षेत्रावगाह हो जाना ही बन्ध है। बन्ध अवस्था में न तो आत्मा ही शुद्ध रहता है और न ही कर्म पुद्गल अपनी शुद्ध अवस्था मे रहता है। जिसप्रकार दूध और पानी की मिश्रित अवस्था में न पानी यथार्थ है और न दूध ही यथार्थ है बल्कि दूध और पानी मिलकर एक तृतीय अवस्था हो जाती है। इसीप्रकार आत्मा की बन्ध अवस्था को भी जानना चाहिए। कर्मबन्ध के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद और योग ये पाच कारण बताए गये है।

संवरतत्त्व :

आस्रव का निरोध संवर है। जिसप्रकार नाव के छिद्र रुक जाने से उसमें जल प्रवेश नहीं करता, इसी प्रकार मिथ्यात्वादि का अभाव हो जाने पर जीव में कर्मों का संवर होता है अर्थात् नवीनकर्मों का आस्रव नहीं

होता । जिस नगर के द्वार अच्छी तरह बन्द हों, वह नगर शत्रुओं के अगम्य है उसी प्रकार गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परोषहजय और चारित्र से सवृत कर लिये हैं इन्द्रिय, कषाय व योग जिसने ऐसी आत्मा के नवीन कर्मों के द्वार का रुक जाना संवर है ।

द्रव्यसंवर और भावसंवर के भेद से संवरतत्त्व दो प्रकार का है ।

आत्मा में नवीनकर्मों का आगमन नहीं होना द्रव्यसंवर है तथा आत्मा के जिन भावों से नवीनकर्मों का आगमन होता है उनका निरोध भावसंवर है ।

निर्जरातत्त्व :

पूर्वबद्ध कर्मों का झड़ना निर्जरा है । निर्जरा में कर्मों का एकदेश क्षय होता है । निर्जरा के दो भेद हैं—१. भावनिर्जरा २. द्रव्यनिर्जरा । अथवा सकाम निर्जरा, अकामनिर्जरा या सविपाक, अविपाकनिर्जरारूप दो भेद हैं ।

जीव के जिन शुद्ध परिणामो से पुद्गल कर्म झड़ते हैं वे जीव के परिणाम भावनिर्जरा है और कर्मों का झड़ना द्रव्यनिर्जरा है ।

क्रम से अपने समय को पाकर स्वयं कर्मों का उदय में आ-आकर झड़ते रहना सविपाक निर्जरा है । यह निर्जरा प्रत्येक प्राणी के प्रतिक्षण होती रहती है, इसमें पुराने कर्म निर्जीर्ण होते रहते हैं तथा नवीन कर्म बंधते रहते है । अतः मोक्षमार्ग में इसका कोई महत्त्व नहीं है, किन्तु गुप्ति, समिति और तपरूपी अग्नि से कर्मों को फल देने के पहले ही भस्म कर देना है लक्षण जिसका ऐसी अविपाकनिर्जरा ही मोक्षमार्ग में कार्यकारी है, क्योंकि यह निर्जरा संवर पूर्वक होती है । यहा यह ध्यातव्य है कि सम्यक् तप से होनेवाली निर्जरा ही सवरपूर्वक होती है । असमीचीन-कुतप से तो शरीर अवश्य क्षीण होता है, किन्तु कर्मबन्धन तो दृढ होते चले जाते है । अतः सुतप पूर्वक कर्मनिर्जरा ही महत्वशाली है ।

मोक्षतत्त्व :

कर्म-बन्धनों से पूर्ण रूपेण छूट जाना अथवा कर्मों का आत्मा से सर्वथा विगलन हो जाना मोक्ष है । मोक्ष प्राप्त होने पर आस्रव-बन्ध के कारणभूत राग-द्वेष मोह कषायादि से होने वाली आत्मा की विभाव परिणति का नाश होकर आत्मा अपने परमशुद्ध चैतन्य स्वभाव मे स्थित हो जाता है । मोक्ष मे आत्मा जब शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो आत्मा से बद्ध कर्मो का जो विगलन हुआ वे पुद्गल परमाणु भी मुक्त हो जाते हैं अर्थात् अपने स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं, उनकी कर्मत्व पर्याय नष्ट हो जाती है । जीव और पुद्गल दोनों ही द्रव्य अपने निजस्वरूप में अवस्थित हो जाते हैं ।

मोक्ष के दो भेद हैं—१. भावमोक्ष २. द्रव्यमोक्ष ।

कर्मों के निर्मूल करने में समर्थ क्षायिकज्ञान-दर्शन व यथाख्यातचारित्र (शुद्धरत्नत्रयात्मक) जिन परिणामों से निरवशेष कर्म आत्मा से दूर किये जाते हैं उन परिणामों को मोक्ष अर्थात् भावमोक्ष कहते हैं तथा सम्पूर्ण कर्मों का आत्मा से पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष है ।

नव पदार्थ

मुमुक्षु जीव के लिए प्रयोजनभूत जिन सप्त तत्त्वों का स्वरूप ऊपर बताया गया है उनमें पुण्य-पाप इन दो को मिला देने से नौ पदार्थ होते हैं तथा यदि पुण्य व पाप को आस्रवतत्त्व में अन्तर्भूत किया जावे तो सात तत्त्व ही होते है । पुण्य व पाप का स्वरूप निम्न प्रकार है—

पुण्य—"पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्" अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है। दान-पूजा षडावश्यकादिरूप जीव के शुभ-परिणाम तो भावपुण्य तथा भाव-पुण्य के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले सातावेदनीयादि शुभप्रकृतिरूप पुद्गलपरमाणुओं का पिण्ड द्रव्यपुण्य है।

यद्यपि सामान्य कथन की अपेक्षा पाप और पुण्य में कोई अन्तर नहीं, क्योंकि दोनों ही संसार के कारण हैं अतः हेय हैं, तथापि इसका यह अर्थ नहीं है कि यह सर्वथा संसार का ही कारण हो और पापरूप ही हो। मुमुक्षु जीवों को निचली अवस्था में पुण्य प्रवृत्ति होती अवश्य है, किन्तु निदान रहित होने के कारण उनका पुण्य पुण्यानुबन्धी है, जो कि परम्परा से मोक्ष का कारण है। लौकिक जीवों का पुण्य निदान व तृष्णा सहित होने के कारण पापानुबन्धी है तथा संसार में डुबानेवाला है। ऐसे पुण्य का त्याग ही परमार्थ से योग्य है।

जैसे इस जगत् में अनेकप्रकार की भूमियों में पड़े हुए बीज धान्यकाल में विपरीत रूप से फलित होते हैं, उसीप्रकार प्रशस्तभूत राग वस्तु भेद से विपरीतरूप से फलता है। सर्वज्ञ द्वारा स्थापित (कथित) वस्तुओं में संयुक्त शुभोपयोग का फल पुण्य संचय पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है। अर्थात् पुण्य दो प्रकार का है—एक सम्यग्दृष्टि का और दूसरा मिथ्यादृष्टि का। सम्यग्दृष्टि का पुण्य परम्परा से मोक्ष का कारण है और मिथ्यादृष्टि का पुण्य केवल स्वर्गसम्पदा का कारण। सम्यग्दृष्टि का पुण्य तीर्थंकरप्रकृति आदि के बन्ध का कारण होने से विशिष्ट प्रकार का है। जैसे तीर्थंकरों का पुण्य या भरत, सगर, राम व पाण्डवादि का पुण्य, जिसको प्राप्त करके भी वे मद, अहंकारादि विकल्पों के त्यागपूर्वक मोक्ष को प्राप्त हो गये। मिथ्यादृष्टि का पुण्य निदानसहित व भोगमूलक होने के कारण आगे जाकर कुगति का कारण होता है अतः अत्यन्त अनिष्ट है, क्योंकि निदानबन्ध से उत्पन्न हुए पुण्य से भावान्तर में राज्यादि विभूति की प्राप्ति करके मिथ्यादृष्टि जीव भोगों का त्याग करने में समर्थ नहीं हो सकने से उनमें आसक्त हो जाता है। अतः उस पुण्य से वह रावण आदि की भांति नरकादि दुःखों को प्राप्त करता है।

आगम में भोगमूलक पुण्य का निषेध किया है, योगमूलक पुण्य का नहीं, क्योंकि योगमूलक पुण्य परम्परा से मोक्ष का कारण है। यद्यपि दान-पूजा, व्रत, तप आदि व्यवहारधर्म पुण्य प्रधान अवश्य है, किन्तु निश्चयधर्म की ओर झुकाव होने से वह पुण्यप्रधान व्यहारधर्म भी परम्परा से निर्जरा व मोक्ष का कारण है। व्यवहार पूर्वक ही निश्चयधर्म होता है अतः व्यवहारधर्मरूप व्रत, दान, पूजा, तप आदि पुण्य प्रसाधक होने से एकान्ततः त्याज्य ही नहीं है निचली अवस्था मे मुमुक्षु जीव के लिए उपादेय है और सम्यक्त्व सहित की जानेवाली उन क्रियाओं से उत्पन्न होने वाला पुण्य परम्परा से मुक्ति का कारण होने से उपादेय है।

पाप—'पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्' अर्थात् जो आत्मा को शुभ से बचाता है वह पाप है। जैसे असातावेदनीय आदि। हिंसा, झूठ, चोरी आदिरूप अशुभ-असत् परिणाम भाव पाप है और भाव पाप के कारण उत्पन्न होने वाले असातावेदनीयादि अशुभरूप पुद्गलपरमाणुओं का पिण्ड द्रव्यपाप है। भगवान कुन्द-कुन्दाचार्यदेव के शब्दों में—

असावधानी या प्रमादपूर्वक सोचना, बोलना और कार्य करना मन में मैल रखना और भोग-उपभोग के पदार्थों में अत्यन्त लीन होना, दूसरे को कष्ट देना तथा बदनामी करना पाप के आस्रव करते हैं। आहारादि संज्ञाएं, कृष्णादि लेश्याएं, इन्द्रियों के वश में होना, बात-बात में आर्त (भीत-निराशा होना) और रौद्र (क्रोध, बदला आदि के भाव करना) होना, ज्ञान का दुरुपयोग करना तथा मोह के नशे में झूमना ये पाप को बढ़ानेवाले हैं। अतः जितने भी काल तक इन्द्रियों, कषायों और संज्ञाओं का निग्रह करके शुभ या स्वभाव में रहा जाये उतनी देर के लिए पापों के आने का द्वार बन्द हो जाता है।

पुण्य-पाप के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुभ परिणामों से किये गये कार्य पुण्य और अशुभ परिणामों से किये गये कार्य पाप हैं। अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, आदि कायिक पुण्य और सत्य, हित-मित वचन वाचनिक पुण्य हैं। अर्हद्भक्ति, तप में रुचिरूप परिणाम, शास्त्र स्वाध्याय आदि मानसिक (भाव) पुण्य हैं।

तथैव हिंसा, अपहरण करना, मैथुन आदि कायिक पाप हैं, भ्रामक, कठोर-असत्य शब्द वाचनिक पाप हैं तथा हिंसा के परिणाम, ईर्ष्यारूप असूयारूप परिणाम मानसिक पाप हैं। इनके अतिरिक्त भी आर्षवाणी मे पुण्य-पाप के आस्रव के अनेकों कारण बताये गये है जिनसे पुण्य-पाप प्रकृतियो का आस्रव होता है। सबसे बड़ा पाप तो मिथ्यात्व है जिसके कारण अनादि से संसार परिभ्रमण चल रहा है।

उपसंहार – प्रस्तुत निबन्ध में पंचपरावर्तनरूप संसार का स्वरूप कहा और उसका (संसार भ्रमणका) मूल कारण मिथ्यात्व है जो कि सबसे बड़ा पाप है। उस संसार का उच्छेद करने वाला सम्यक्त्व है तथा उस सम्यक्त्व के कारणभूत पचलब्धि में देशनालब्धि के अन्तर्गत छहद्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्ततत्त्व और नौपदार्थों का कथन है उसीका प्रस्तुत निबन्ध में विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। छहद्रव्ययुक्त विश्वव्यवस्था का परिज्ञान तथा पंचास्तिकाय के सम्बन्ध में आर्षवाणी के अनुसार श्रद्धा तथा सप्ततत्त्व जो कि मुमुक्षु के लिए प्रयोजनीय हैं, उनका स्वरूप ज्ञातकर उनके श्रद्धान से सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए वही मोक्षप्राप्ति का प्रथम सोपान है। तथा सप्ततत्त्व मे पुण्य-पाप मिलकर नौ पदार्थ हुए हैं। पुण्य और पाप की हेयोपादेयता आगम मे भली-भाति वर्णित की गई है सम्यग्दृष्टि का पुण्य पुण्यानुबन्धी पुण्य है तथा परम्परा से मोक्ष का कारण है और मिथ्यादृष्टि का पुण्य हेय है। इस प्रकार द्रव्य-अस्तिकाय-तत्त्व और पदार्थ का स्वरूप जिनागम के अनुसार जानकर उन पर श्रद्धान करते हुए अपने श्रद्धागुण को अभिव्यक्त करके अनादि संसार को सान्त करना चाहिए।

स्वाध्याय ज्ञानोपयोग का व्यवहार मार्ग है और मैं शुद्ध, मुक्त परमात्मा हूं। आत्मस्वरूप हूँ, वह ज्ञानोपयोग का निश्चय परिणाम है। जैसे हम ग्रन्थ के समस्त अक्षरों को अर्थ रूप में परिणत कर उपयोगी बना लेते हैं वैसे ज्ञान से विश्व के समस्त पदार्थ अपने वास्तविक स्वभाव में प्रतीत होने लगते हैं। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी जीव अज्ञानांधकार में नहीं डूबता, क्योंकि वह ज्ञानोपयोगरूप सूर्य को जाग्रत रखता है।

अभीक्ष्णज्ञानाभ्यासस्य महिमा

❖ प. पू. बाल ब्र. १०८ श्री अजितसागरजी महाराज

[प. पू. आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के विद्वान् शिष्य]

इदं दुर्लभं मनुष्यजन्म सम्प्राप्य निरन्तरं ज्ञानाभ्यासः कर्तव्यः। ज्ञानाभ्यासं विना क्षणमपि न गमनीयं, यावदपवर्गस्य प्राप्तिर्न भवेत् तावद्भवे भवे ज्ञानाभ्यासं कुर्यादित्यर्थः। उक्तं च—

> णाणेण झाणसिद्धि झाणदो सव्वकम्मणिज्जरणं।
> णिज्जरणफलं मोक्खं णाणब्भासं तदो कुज्जा॥

अयं जीवो ज्ञानस्य ज्ञानिजनस्य चादरेण ज्ञानं लभते अतः सततं ज्ञानच्छुकेन ज्ञानस्य ज्ञानिनश्चादरः कर्त्तव्यः।

ज्ञानोपयोग आत्मनः परिणतिरस्ति। ज्ञानबलेनैव रागद्वेषमोहादयो नश्यन्ते। रागादीनाम्प्रणाशे सति च नूनमेव जीवस्य भवभ्रमणान्तो भवति। अतः ज्ञानं ज्ञानपिपासुभिस्सदा उपसनीयम्। अस्यैव लक्षणादीनां विस्तरेण प्रकथन क्रियते। तद्यथा—

सम्यग्ज्ञानलक्षणम् :

> अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
> निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥
>
> तन्नमामि परं ज्योतिरवाङ् मानसगोचर—
> मुन्मीलयत्यविद्यां यद् विद्या मुन्मीलयत्यपि॥
>
> तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
> दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र॥

ज्ञानस्य भेदाउच्यन्ते :

ज्ञानं द्विधा पञ्चविधं तथाष्ट भेदेन च द्वादशभेदभिन्नम् जिनेन्द्रवक्त्रोद्भवमंगपूर्वभक्तञ्च पञ्चाधिकविंशति स्यात् अर्थात् ज्ञानं अंगप्रविष्ट-अंगबाह्यभेदाभ्यां द्विविधं भवति। मतिश्रुतावधिमन.पर्ययकेवलभेदेभ्यः पंचविधं भवति। कुमति-कुश्रुत-विभङ्गावधि-मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलभेदेभ्योऽष्टविध भवति। द्वादशभेदा कथ्यन्ते—

द्वादशाङ्गरूपेण अङ्गप्रविष्टज्ञानं द्वादशविधं भवति। प्रकरणवशात् विशेषेणोच्यन्ते—

(१) यत्याचारसूचकमष्टादशसहस्रपदप्रमाणाचाराङ्गम्।

(२) ज्ञानविनयच्छेदोपस्थापनाक्रिया प्रतिपादकं षट्त्रिंशत्सहस्रपदप्रमाणं सूत्रकृताङ्गम्।

(३) षट्द्रव्येकाद्युत्तरस्थानव्याख्यानकारकं द्वाचत्वारिंशत्पदसहस्रप्रमाणं स्थानाङ्गम्।

(४) धर्माधर्मलोकाकाशैकजीव - सप्तनरकमध्यबिलजम्बूद्वीपसर्वार्थसिद्धिविमाननंदीश्वरद्वीपव्यापिका - तुल्यैकलक्षयोजनप्रमाण निरूपकं भवभावकथकं चतुःषष्ठिपदसहस्राधिकलक्षपदप्रमाणं समवायाङ्गम् ।

(५) जीवः किमस्ति नास्ति वा इत्यादि गणधरकृत प्रश्नषष्ठिसहस्रप्रतिपादकमष्टाविंशति सहस्राधिक-द्विलक्षपद प्रमाणा व्याख्याप्रज्ञप्तिः ।

(६) तीर्थङ्कर-गणधरकथा कथिका षट्पञ्चाशत्सहस्राधिकपञ्चलक्षपदप्रमाणा ज्ञातृकथा ।

(७) श्रावकाचारप्रकाशकं सप्ततिसहस्राधिकैकादशपदप्रमाणमुपाकाध्ययनं ।

(८) तीर्थङ्कराणां प्रतितीर्थं दश दश मुनयो भवन्ति ते तु उपसर्गान् सोढ्वा मोक्षं यान्ति तत्कथा निरूपकमष्टाविंशति सहस्राधिकलक्षपदप्रमाणमन्तकृद्दशं ।

(९) तीर्थङ्कराणां प्रतितीर्थं दश दश मुनयो भवन्ति ते तु उपसर्गं सोढ्वा पञ्चानुत्तरपदं प्राप्नुवन्ति तत्कथा निरूपकं चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राधिकद्विनवतिलक्षपदप्रमाणमनुत्तरोपपादिकदशम् ।

(१०) नष्टमुष्टयादिकप्रश्नानामुत्तरप्रदायकं षोडशसहस्राधिकत्रिनवतिलक्षपदप्रमाणं प्रश्नव्याकरणम् ।

(११) कर्मणामुदयोदीरणासत्ताकथकं चतुरशीतिलक्षाधिककोटिपदप्रमाणं विपाकसूत्रम् ।

(१२) दृष्टिवानामधेयं द्वादशं अङ्गं, तत् पञ्चप्रकारं भवति । परिकर्म-सूत्र-प्रथमानुयोग-पूर्वगत-चूलिका भेदात् ।

तत्र चन्द्रप्रज्ञप्ति-सूर्यप्रज्ञप्ति-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-द्वीपसागरप्रज्ञप्ति-व्याख्याप्रज्ञप्ति भेदात् पञ्चविधं परिकर्मम् ।

चन्द्रप्रज्ञप्तिः—चन्द्रायुर्गतिविभवप्ररूपिका चन्द्रप्रज्ञप्तिः पञ्चसहस्राधिकषट्त्रिंशल्लक्षपदप्रमाणा ।

सूर्यप्रज्ञप्तिः—सूर्यायुर्गतिविभवनिरूपिका त्रिसहस्राधिकपञ्चलक्षपदप्रमाणा सूर्यप्रज्ञप्तिः ।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः—जम्बूद्वीपवर्णनाकथिका पञ्चविंशतिसहस्राधिकलक्षपदप्रमाणा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः ।

द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः—सर्वद्वीपसागरस्वरूपनिरूपिका षट्त्रिंशत्सहस्राधिकद्वापञ्चाशल्लक्षपदप्रमाणा द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः ।

व्याख्याप्रज्ञप्तिः—रूप्यारूप्यादिषट्द्रव्यस्वरूपनिरूपिका षट्त्रिंशत्सहस्राधिकचतुरशीतिलक्षपदप्रमाणा व्याख्याप्रज्ञप्ति ।

जीवस्य कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिस्थापकं भूतचतुष्टयादिभवनस्योद्वापकमष्टाशीतिलक्षपदप्रमाणं सूत्रम् ।

त्रिषष्टिशलाकामहापुरुषकथकः पञ्चसहस्रपदप्रमाणः प्रथमानुयोगः ।

तत्र पूर्वगतस्य चतुर्दशभेदा भवन्ति :

(१) उत्पादपूर्वम् (२) अग्रायणीपूर्वम् (३) वीर्यानुवादपूर्वम् (४) अस्ति-नास्तिप्रवादपूर्वम् (५) ज्ञानप्रवादपूर्वम् (६) सत्यप्रवादपूर्वम् (७) आत्मप्रवादपूर्वम् (८) कर्मप्रवादपूर्वम् (९) प्रत्याख्यानपूर्वम् (१०) विद्यानुवादपूर्वम् (११) कल्याणपूर्वम् (१२) प्राणावायपूर्वम् (१३) क्रियाविशालपूर्वम् (१४) लोक-बिन्दुसारपूर्वम् ।

एकादशाङ्गानि चतुर्दशपूर्वयुतानि ज्ञानस्य पञ्चविंशतिभेदा भवन्ति ।

चूलिकापि पञ्चप्रकारा निगदिता । जलगता-स्थलगता-मायागता-आकाशगता-रूपगताश्चेति । जलस्तम्भनजलवर्षणादि हेतुभूत मन्त्रतन्त्रादिप्रतिपादिका जलगताचूलिका । स्तोक कालेन बहुयोजनादिहेतुभूतमन्त्रतन्त्रादिनिरूपिका स्थलगता चूलिका । इन्द्रजालादिमायोत्पादकमन्त्रतन्त्रादिनिरूपिका मायागता चूलिका । गगनगमनादिहेतुभूतमन्त्रतन्त्रादिप्रकाशिका आकाशगता चूलिका सिंहव्याघ्रगजतुरङ्गनरसुरवरादिरूपविधायकमन्त्रतन्त्राद्युपदेशिका रूपगता चूलिका ।

इति दृष्टिवादनामधेयस्य द्वादशांगस्य परिकर्मसूत्र प्रथमानुयोगपूर्वगतचूलिकाभिधानाः पञ्चभेदाः व्याख्याताः । सर्वमिदं द्वादशाङ्गरूपश्रुतज्ञानं केवलिजिनप्रणीतं श्रुतकेवलिभिः चतुरनुयोगरूपेण प्रतिपादितं प्रथमानुयोग-करणानुयोग-चरणानुयोग-द्रव्यानुयोगश्चेति ।

तदेवमाह :

प्रथमानुयोगः—पुराणं चरितं चार्थाऽख्यानं बोधि-समाधिदं ।
तत्त्वप्रथार्थी प्रथमानुयोगं प्रथयेत्तराम् ।।

करणानुयोग—चतुर्गतियुगावर्तलोकालोकविभागवित् ।
हृदि प्रणेयः करणानुयोगः करणातिगैः ।।

चरणानुयोगः—सकलेतर चारित्र जन्मरक्षा विवृद्धिकृत् ।
विचारणीयश्चरणानुयोगश्चरणादृतैः ।।

द्रव्यानुयोगः—जीवाजीवौ बन्धमोक्षौ पुण्यपापे च वेदितुं ।
द्रव्यानुयोगसमयं समयन्तु महाधियः ।।

अङ्गबाह्यश्रुतस्य भेदाः उच्यन्ते :

१. सामायिकं सामायिकविस्तरकथकं शास्त्रम् । २. चतुर्विंशतितीर्थङ्करस्तुतिरूपः स्तवः । ३. एकतीर्थङ्करस्तवरूपा वन्दना । ४. चतुर्विधविनयप्रकाशकं वैनयिकं ५. दीक्षाशिक्षादिसत्कर्मप्रकाशकं कृतिकर्म । ६. कृतदोषनिराकरणहेतुभूतं प्रतिक्रमण । ७. वृक्षकुसुमादीनां दशानां भेदकथकं यतीनामाचारकथकञ्च दशवैकालिकम् । ८. यतीनां योग्यसेवनसूचकमयोग्यसेवने प्रायश्चित्तकथकं कल्पव्यवहारं । १०. कालमाश्रित्य यतिश्रावकाणां योग्यायोग्यनिरूपक कल्पाकल्पम् । ११ यतिदीक्षाशिक्षाभावनात्मसंस्कारोत्तमार्थगणपोषणादिप्रकटकं महाकल्पम् । १२. देवपदप्राप्तिपुण्यनिरूपकं पुण्डरीकम् । १३. देवाङ्गनापदप्राप्तिहेतुकपुण्यप्रकाशकं महापुण्डरीकम् । १४ प्रायश्चित्तनिरूपिका अशीतिका चेति । इति चतुर्दशभेदाः अंगबाह्यश्रुतस्य ज्ञातव्याः ।

ज्ञानप्रशंसा :

येन रागादयो दोषा. प्रणश्यन्ति द्रुतं सताम् ।
संवेगाद्याः प्रवर्धन्ते गुणा ज्ञानं तदूर्जितम् ।।

अनुष्ठानास्पद ज्ञानं ज्ञानं मोहतमोऽपहम् ।
पुरुषार्थकरं ज्ञानं ज्ञानं निर्वृति साधनम् ।।

ज्ञानं पापनिकन्दनं शुभग्रहं ज्ञानं श्रिता ज्ञानिनो ।
ज्ञानेनाशु विलोक्यते शिववधू र्ज्ञानाय गृर्ध्ना नमः ।।

ज्ञानान्नास्त्यपरं सुनेत्रममलं ज्ञानस्य मोक्षः फलम् ।
ज्ञाने चित्तमहं दधे कुरु सदा हे ज्ञान माम् ज्ञानिनम् ।।

जिणवयणमोसहमिणं विसहसुहविरेयणं अमियभूयं ।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ।।

दहति मदनवन्हिर्मानसं तावदेव,
भ्रमयति तनुभाजां कुग्रहास्तावदेव ।
छलयति गुरुतृष्णा राक्षसी तावदेव,
स्फुरति हृदि जिनोक्तो वाक्यमन्त्रोनयावत् ।।

यः सर्वथैकान्तनयान्धकारं, निहन्त्यवश्यं नयरश्मिजालैः ।
विश्वप्रकाशं विदधाति नित्यं, पापादनेकान्तरविः स युष्मान् ।।

आलोकेन विना लोको मार्गं नालोकते यथा ।
विनागमेन धर्मार्थी धर्माध्वानं जनस्तथा ।।

ज्ञानिनो महिमा :

ज्ञानवन्तो नराः लोके तरन्ति तारयन्ति वै ।
जलयान समा ज्ञेया भवाब्धौ जनतारकाः ।।

भव्या नरा ज्ञानरथाधिरूढ़ा, व्रजन्ति शीघ्रं शिवपत्तनं च ।
अज्ञानिनो मौढ्य रथाधिरूढ़ा, व्रजन्ति श्वभ्राभिधपत्तनं वै ।।

श्रुतवृद्धि र्मुनीन्द्रेषु प्रवर्तेत यथा यथा ।
तथा तथा निवर्तेत विश्वतो मोहसन्ततिः ।।

प्रज्ञोत्कर्ष जुषः श्रुतस्थितियुषश्चेतोऽक्षसंज्ञामुषः ।
सन्देह छिदुरा कषायभिदुराः प्रोद्यत्तथो मेदुराः ।।

संवेगोल्लसिताः सदध्यवसिताः सर्वातिचारोज्झिता ।
स्वाध्यायात् परवाद्यशंकितधियः स्युः शासनोद्भासिनः ।।

मनो बोधाधीनं विनय विनियुक्तं निजवपुः ।
वचः पाठायत्तं करणगणमाधाय नियतम् ।।

दधानः स्वाध्यायं कृत परिणति जैनवचने ।
करोत्यात्मा कर्मक्षयमिति समाध्यन्तरमिदम् ।।

ज्ञानविहीनस्य निन्दा :

अर्हन्मुखेन्दु सञ्जातं जन्म-मृत्यु-जरापहम् ।
ज्ञानामृतं न यैः पीतं तेषां जन्म निरर्थकम् ।।

नज्ञानं लोचनं यस्य विश्वतत्त्वावलोकने ।
सुलोचनोऽपि सोऽवश्यं नरो विगतलोचनः ।।

संसारबीजमज्ञानं संसारज्ञः पुमान् स्मृतः ।
ज्ञाने तस्य निवृत्तिः स्यात्प्रकाशे तमसो यथा ।।

ज्ञानाराधना फलम् :

ज्ञाना ज्ञाने हि जानीयात् मोक्ष-संसार कारणे ।
तस्मात्पूर्णप्रयत्नेन ज्ञानमाराध्यमस्ति नुः ।।

केचित्केवलमासाद्य लोकालोक प्रकाशकम् ।
लोकप्राग्भारमारुह्य भजन्ते नैर्वृतं सुखम् ।।

स्वाध्यायः परमं तपः :

मनोवेत्ति हि सर्वार्थान् करोगृह्णाति पुस्तकम् ।
तदेन्द्रियनिरोधेन स्वाध्यायः परमं तपः ।।
स्वाध्यायाज्जायते ज्ञानं ज्ञानात्तत्त्वार्थसंग्रहः ।
तत्त्वार्थसंग्रहादेव श्रद्धानं तत्त्वगोचरं ।।
स्वाध्यायेन समं किञ्चिन्न कर्मक्षपणक्षयम् ।
यस्य संयोगमात्रेण नरो मुच्येत कर्मणा ।।

अथ स्वाध्यायस्य भेदा प्रणिगद्यन्ते :

वाचना पृच्छनाम्नायस्तथा धर्मस्य देशना ।
अनुप्रेक्षाश्च निर्दिष्टः स्वाध्यायः पञ्चधा जिनैः ।।

वाचना— वाचना सा परिज्ञेया सत्पात्रे प्रतिपादनम् ।
ग्रन्थस्य वाऽथ पद्यस्य तत्त्वार्थस्योभयस्य वा ।।

अनुप्रेक्षात्मना विदित वेदितव्येन निरवद्यग्रन्थस्यार्थस्य तदुभयस्य वा पात्रे प्रतिपादनं वाचनेत्युच्येत । सा चतुर्विधा जया-नन्दा-भद्रा-सौम्या चेति । **तत्र जया**—पूर्वापर विरोधपरिहारेण विना तन्त्रार्थ कथनं जया । **नन्दा**—पूर्वपक्षीकृत परदर्शनानि निराकृत्य स्वपक्षस्थापिका व्याख्या नन्दा । **भद्रा**—तन्त्रयुक्तिभिः प्रत्यवस्थाय पूर्वापरविरोधपरिहारेण तन्त्रस्थाशेषार्थव्याख्या भद्रा । **सौम्या**—क्वचित् क्वचित् स्खलितवृत्ते व्याख्या सौम्या ।

पृच्छना— तत्संशयापनोदाय तन्निश्चय बलाय वा ।
परं प्रत्यनु योगो यः पृच्छना तद्विदुः जिनाः ।।

आत्मोन्नति पराति सन्धानोपहाससंघर्षप्रहसनादिविवर्जितः संशयछेदाय निश्चितबलाधानाय वा ग्रन्थस्यार्थस्य तदुभयस्य वा परं प्रत्यनुयोगः प्रच्छनमिति भाष्यते ।

आम्नायः—'आम्नायः कथ्यते घोषो विशुद्ध परिवर्तनम् ।'

अतिनोवेदितसमाचारस्य ऐहिलौकिकफलनिरपेक्षस्य द्रुतविलम्बितादिघोषविशुद्धं परिवर्तनाम्नाय इत्युपदिश्यते ।

धर्मोपदेशः—"कथा धर्माद्यनुष्ठानं विज्ञेयो धर्मदेशना"

दृष्टप्रयोजनपरित्यागादुन्मार्गनिवर्तनार्थं सन्देहव्यावर्तनापूर्वपदार्थप्रकाशनार्थं धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेश इत्याख्यायते । त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरितानि धर्मकथा कथ्यते । सा धर्मकथा चतुर्विधा भवति—

आक्षेपणीं स्वमतसग्रहणीं समेक्षी,
विक्षेपिणीं कुमतनिग्रहणी यथार्हम् ।
संवेजनी प्रथयितुं सुकृतानुभावं,
निर्वेदिनी वदतु धर्मकथा विरक्त्यै ।।

अनुप्रेक्षा— साधोरधिगतार्थस्य योऽभ्यासो मनसा भवेत् ।
अनुप्रेक्षेति निर्दिष्टः स्वाध्यायः स जिनेशिभिः ।।
सानुप्रेक्षा यदभ्यासोऽधिगतार्थस्य चेतसा ।
स्वाध्यायलक्ष्मपाणेऽन्तर्जल्पात्माऽत्रापि विद्यते ।।

ज्ञानाराधनविधिः—

नित्यं स्वाध्यायमभ्यस्येत् कर्मनिर्मूलनोद्यतः।
स हि स्वस्मै हितोऽध्यायः सम्यग्वाध्ययनं श्रुतेः॥
ग्रंथार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिन्हवं ज्ञानमाराध्यं॥

ज्ञानप्राप्तौ अन्तरङ्गबहिरङ्गाः पञ्चहेतवो भण्यन्ते—

आरोग्यबुद्धिविनयोद्यमशास्त्ररागाः
पञ्चान्तरा पठनसिद्धिकरा भवन्ति।
आचार्यपुस्तकनिवाससहायवल्भाः
वाह्यास्तु पञ्च पठनं परिवर्धयन्ति॥

ज्ञानेन स्वर्गाऽपवर्गद्वयोऽपि सुलभा भवन्ति—

ज्ञानयुक्तो भवेज्जीव स्वर्गश्रीमुक्तिवल्लभः।
ज्ञानहीनो भ्रमेन्नित्यं संसारे दुःखसागरे॥

बुद्धेर्निर्मलत्वस्य कारणमपि ज्ञानमेव—

मार्ज्यमानः सदा यद्वत् दर्पणो निर्मलीभवेत्।
ज्ञानाभ्यासात् तथा पुंसां बुद्धिर्भवति निर्मला॥

श्रुताद्धनेच्छिणो नरा अमृतात् विषं वाञ्छन्ति—

संवेगः परमं कार्यं श्रुतस्य गदितो बुधैः।
तस्माद् ये धनमिच्छन्ति ते त्विच्छन्त्यमृताद्विषम्॥

शोकाग्निरपि ज्ञानेनैव नश्यतीति दर्श्यते—

तत्त्वज्ञानजलेनाथ शोकाग्निं निरवापयत्।
शैत्ये जागृति किन्नु स्यादातापार्तिः कदाचन॥

दुर्लभज्ञानलाभे सति प्रमादो न कार्यम्—

ज्ञानं नाम महारत्नं यन्न प्राप्तं कदाचन।
संसारे भ्रमता भीमे नानादुःखविधायिनि॥
स्याद्वादवैयाकरणः किलैकाह्लादकार्मुकी।
क्षणादयोगी भवति स्वभ्यासोऽपि प्रमादतः॥
तन्नास्ति यदहं लोके सुखं दुःखं नाप्तवान्।
स्वप्नेऽपि न मया प्राप्तो जैनागमसुधारसः॥

अतः तत्त्वतः इदं निश्चीयते यद् सम्यग्ज्ञानेन विना न हि कापि सिद्धिः। अक्षयानन्तसुखास्पदं मोक्षमपि रत्नत्रयमध्यवर्तिना ज्ञानेनैव सहजेन सम्प्राप्यते। सकलसिद्धेर्मूलमिदं सम्यग्ज्ञानं भव्यात्माभिः जिनोक्तागमावलम्बनेन सततमभ्यसनीयम्। रत्नत्रयाराधकाः सम्यग्ज्ञानिनः निरन्तरमात्मज्ञाने निमग्नाः भवन्तु भवातापं च प्रशमयन्तु इति मे भावना। इत्यलं।

✡

मन स्थिर करने का उपाय

स्वाध्यायः परमं तपः

❖ पू० १०५ आर्यिका सुप्रभावतीजी

(पू० १०५ आर्यिका इन्दुमतीजी संघस्था)

विश्व के सारे प्राणी शांति और सुख चाहते हैं रात दिन शांति की खोज में लगे हुये हैं, लेकिन इस वैज्ञानिक युग में यंत्र के समान मानव का जीवन बन रहा है । एक क्षणमात्र भी शांति नही । वास्तविक शांति अशांति का स्रोत (प्रवाह) स्थिर-अस्थिर चित्त में है, मनोमर्कट को वश करने के लिये इस काल में स्वाध्याय के बराबर दूसरा कोई तप नहीं । अध्यात्म उन्नति का साधन एक स्वाध्याय ही है, इससे वस्तुस्वरूप की प्राप्ति होती है उसी तरह आत्मानुभूति की प्राप्ति होती है ।

मन अशांति का कारण है, मन की अशांति से व्यावहारिक कार्य में भी सफलता नहीं मिलती । अत: अशान्त मन शास्त्राभ्यास से स्थिर होगा ऐसा आत्मानुशासन में कहा है—

> अनेकान्तात्मार्थं प्रसवफल भाराति विनते
> वचोपर्णाकीर्णे विफलनय शाखाशतयुते ।।
> समुत्तुंगे सम्यक् प्रतिफलति मूले प्रतिदिनं ।
> श्रुतस्कंधे श्रीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम् ।।

अनेकांतात्मक फलफूल के भार से अत्यन्त झुके हुये, स्याद्वादरूपी पत्तों से व्याप्त विपुलनयरूपी सैकड़ों शाखाओं से युक्त, अत्यन्त विस्तृत श्रुतस्कंध में अपने मन रूपी बन्दर को रममाण करना चाहिये ।

सत्प्ररूपणा षट्खंडागम में श्लोक नं ४७ में आचार्यों ने कहा ही है कि जिन्होंने सिद्धान्त का उत्तम प्रकार से अभ्यास किया है ऐसे पुरुषों का ज्ञान सूर्य की किरणों के समान-निर्मल होता है, और जिन्होने अपने चित्त को स्वाधीन किया है वह चंद्रमा के समान उज्ज्वल होता है और परमागम के अभ्यास से मेरु के समान निष्कम्प ऐसा अनुपम सम्यग्दर्शन भी होता है ।

बुद्धिका फल आत्महित है, स्वाध्याय से आत्महित होता है, निरन्तर भटकने वाला मन स्वाध्याय से स्थिर होता है ।

"स्वाध्याय"—'स्व' अर्थात् अपने स्वरूप का अध्ययन करना या 'सु' सम्यक् रीत्या 'आ' समन्तात् अधीयते इति स्वाध्याय:

सुष्ठु प्रज्ञप्तिरायार्थं, प्रशस्ताध्यवसायार्थं, परमसंवेगार्थं, तपोवृद्धयर्थं अतिचारविशुद्धयर्थं अधीयते-ह्यात्मतत्त्वं जिनवचने इति वा स्वाध्यायः बुद्धि बढाने के लिये, प्रशस्त व्यवसाय के लिये, परमसंवेग के लिये, तपवृद्धि के लिये आत्मतत्त्व का या जिनवचन का अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है।

स्वाध्याय का महत्व :

'स्वाध्यायेन समं किंचिन्न कर्मक्षपणं क्षमं।
यस्य संयोगमात्रेण नरो मुच्यते कर्मणा ।।
प्रशस्ताध्यवसायस्य स्वाध्यायो वृद्धिकारणम्।
तेनेह प्राणिनां नित्य संचितं कर्म नश्यति ।।

—संचित कर्मों का नाश स्वाध्याय से होता है।

स्वाध्याय रत्नत्रय का मूल है :

स्वाध्यायाज्जायते ज्ञानं ज्ञानात्तत्त्वार्थसंग्रहः ।
तत्त्वार्थसंग्रहाद्देव श्रद्धानं तत्त्वगोचरम् ।।
तन्मध्यैकगतं पूतं तदाराधनलक्षणम् ।
चारित्रं जायते तस्मिन्त्रयी मूलमथं मतम् ।।[सिद्धान्तसार, अ. ११-२१,२२]

'स्वाध्याय से ज्ञान होता है, ज्ञान से जीवादि तत्त्वों का संग्रह होता है, तत्त्वसंग्रह से श्रद्धान होता है, ज्ञान होता है, ज्ञान से चारित्र होता है।' स्वाध्याय संसारसमुद्र पार करने के लिए निश्छिद्र नौका के समान है। कषायरूपी अटवी को जलाने के लिए दावानल है, स्वानुभूति रूप समुद्र की वृद्धि के लिए पूर्णिमा का चन्द्रमा है। जिनसूत्र पढ़ने से मानव के हृदय में सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य का उदय होता है, जिससे मिथ्यात्वरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है। स्व-पर भेदरूपी विज्ञान सर्वत्र फैल जाता है जिससे भव्यजन का चित्तकमल विकसित होता है।

इस कलिकाल में जहां प्रत्येक मानव अन्न का कीट बना हुआ है, अन्न को ही अपना प्राण मान रहा है, ऐसे जीवों का कल्याण करने के लिए स्वाध्याय ही परम तप है यह बुद्धिवन्त आचार्यों का कथन है, क्योंकि जिनको रात-दिन का भेद नहीं, हेयोपादेय का ज्ञान नहीं, जिनकी शुद्धाशुद्ध की भावना दूर हुई, मिला सो खाया, जब चाहे जैसा–जो मिला पिया उनके विचारों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहा, पंचेन्द्रिय विषयों की वासना या उनकी पूर्ति में अपना अमूल्य जीवन समर्पण करते है। उन जीवों के उद्धार के लिए स्वाध्याय को तप कहा है। केवल तप ही नही परम तप कहा है।

कर्ममूलनाशक :

तपस्याभ्यन्तरे बाह्ये स्थिते द्वादशतपाः।
स्वाध्यायेन समं नास्ति न भूतो भविष्यति ।।
बह्वीभिर्भवकोटीभिः व्रताद्यत्कर्मं नश्यति ।
प्राणिनः तत्क्षणादेव स्वाध्याय कथित बुधैः ।।

'कर्मक्षय के लिए स्वाध्याय के समान कोई अन्य तप समर्थ नहीं, स्वाध्याय के संयोग मात्र से कर्ममुक्त हो जाता है। कर्मनाश करने के लिए कोट्यावधि भव तक मनुष्य को व्रत धारण करना पड़ता है, किन्तु स्वाध्याय से वही कर्म तत्काल नष्ट होता है।' स्वाध्याय परिणामविशुद्धि का कारण है। स्वाध्याय से नित्य पूर्वबद्ध कर्म नाश होते हैं।

जिण मोहींधण जलणो तमंधयरदिणपरओ ।
कम्ममलकलुसपुरुषो जिणवयण मियोवहि सुहयो ।।

जिनागम मोहरूपी ईंधन को भस्म करने के लिये अग्नि के समान है, अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकार को नष्ट करने के लिये सूर्य समान है, द्रव्यकर्म-भावकर्म को मार्जन करने के लिये समुद्र के समान है ।

'रवि शशि न हरे सो तम हराय सो शास्त्र नमो बहुप्रीति लाय'

स्वाध्याय का फल :

स्वाध्याय के परोक्ष और प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार के फल होते है । उनमें भी प्रत्यक्ष फल साक्षात् और परम्परा के भेद से दो प्रकार का है । अज्ञान का विनाश, ज्ञानरूपी दिवाकर की उत्पत्ति, देव और मनुष्यादि के द्वारा निरन्तर अनेक प्रकार से की जाने वाली अभ्यर्थना और प्रत्येक समय में होने वाली असंख्यातगुणी रूप से कर्मों की निर्जरा इसे साक्षात् फल कहते है ।

शिष्य-प्रशिष्यों आदि के द्वारा की जाने वाली निरन्तर अनेक प्रकार की पूजा परम्परा फल है ।

परोक्षफल भी दो प्रकार है—प्रथम अभ्युदय और दूसरा निःश्रेयस सुख ।

सातावेदनीयादि सुप्रशस्त कर्मों के तीव्र अनुभाग के उदय से प्राप्त हुआ इन्द्र, प्रतीन्द्र, दिगिन्द्र, त्रायस्त्रिंश व सामानिक आदि देवो का सुख तथा राजा, अधिराज, महाराज, मण्डलीक, अर्धमण्डलीक, महामण्डलीक, अर्धचक्री, चक्रवर्ती पद की प्राप्ति अभ्युदय सुख तथा अर्हन्त पद निःश्रेयस सुख है ।

अतः अज्ञानरूपी अन्धकार के विनाशक भव्यजीवों के हृदय को विकसित करनेवाले मोक्षपथ को प्रकाशित करने वाले सिद्धान्त (आगम) को भजो अर्थात् स्वाध्याय करो । भगवती शारदादेवी का भण्डार और उसकी महिमा निराली एवं वचनातीत है ।

आत्म ज्ञान का मार्ग : स्वाध्याय

❖ डा० प्रेम सुमन जैन, अध्यक्ष, जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग

[उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर]

जैनदर्शन में विभिन्न प्रकार के तपों का वर्णन है। साधना प्रमुख धर्म होने के कारण जैनधर्म में स्थूल एवं सूक्ष्म सभी प्रकार के तपों से कुछ न कुछ उपलब्धि की बात कही गयी है। यह उपलब्धि आत्मा को उजागर करने में सहायक मानी गयी है। भगवान महावीर ने बाह्य और आभ्यंतर के भेद से तपों के दो भेद किये हैं। अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश ये बाह्य तप के छह प्रकार हैं।

किन्तु यह सब बाहर की यात्रा है। भीतर में जाने का साधन है। भगवान महावीर ने बडे मनोवैज्ञानिक ढंग से साधना के सूत्र निर्मित किये हैं। जिस व्यक्ति के ये बाहर के तप सधने लग जांय वह भीतरी तपों में उतरने का अधिकारी है। आभ्यन्तर तप के छह भेद कहे गये हैं—प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान एवं कायोत्सर्ग।

स्वाध्याय को तप कहने का गहरा अर्थ है। मात्र ग्रन्थों का अध्ययन करना यदि स्वाध्याय होता तो उसे अभ्यन्तर तपों में रखने का कोई कारण नहीं दिखता, किन्तु स्वाध्याय ध्यान तक पहुंचने की सीढी है। अतः स्वाध्याय तक पहुंचने के लिए भी कई स्थितियों से गुजरना होता है। चेतना को जागृत करना होता है। महावीर ने अभ्यन्तर तपों को विशिष्ट शब्दावली प्रदान की है, जो उनके वास्तविक अर्थ को उजागर करती है। प्रायश्चित तप द्वारा व्यक्ति अपने गलत होने का पहली बार अनुभव करता है और उसी क्षण से उसकी चेतना बदलने लगती है। यह काम पश्चाताप द्वारा नहीं हो सकता है। विनय के द्वारा साधक अपने अहंकार को विसर्जित करता है। उसके सामने श्रेष्ठ और निम्न का भेद तिरोहित हो जाता है। वैयावृत्य तप द्वारा साधक ऐसी सेवा में संलग्न होता है, जिसका केवल उसे ही पता होता है। यश और प्रशंसा का जिस सेवा से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसीलिये ऐसी सेवा आन्तरिक तप है।

व्यक्तित्व के परिवर्तन की इस सीढ़ी पर जो साधक खड़ा हो वह स्वाध्याय में उतर सकता है। जिसने बाह्य वस्तुओं के ज्ञान से अपने को अलग कर लिया है वह अब स्वयं को जानने में प्रवृत्त होगा, यही स्वाध्याय है—

स्वस्य स्वस्मिन् अध्यायः– अध्ययनं स्वाध्यायः।

जैन धर्म की परम्परा में आत्मा के स्वरूप को जानने पर विशेष बल दिया गया है। आत्मा के सम्बन्ध में प्राचीन आगम-ग्रन्थों एव जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत जैनदर्शन के ग्रन्थों में पर्याप्त विवेचन हुआ है। अतः जब भी स्वाध्याय की साधना की बात कही गयी तब ग्रन्थों के अध्ययन को भी महत्व दिया गया। परिणाम यह हुआ कि स्वाध्याय में जो ज्ञाता को जानने की मूल बात थी, वह धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन की क्रिया तक सिमट कर रह गयी है। गृहस्थ और मुनि के जीवन में ग्रन्थों का पठन-पाठन ही स्वाध्याय कहा

जाने लगा है। ग्रन्थों से प्राप्त ज्ञान का अभ्यास करना महत्वपूर्ण हो गया है। धर्मग्रन्थोंमें यह कहा गया है कि ज्ञान से ही ध्यान की सिद्धि होती है, ध्यान से सभी कर्मों की निर्जरा होती है और निर्जरा का फल मोक्ष है। अतः ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए:—

णाणेण ज्झाणसिज्झी झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं।
णिज्जरणफलं मोक्खं, णाणब्भासं तदो कुज्जा ।।

शास्त्रों में जिनवचनों की महिमा का गुणगान है। जो साधक जिनवचनों का अध्ययन-मनन करता है वह निरन्तर तत्त्वों का ज्ञाता होता जाता है। ज्ञेय पदार्थों के सम्बन्ध में उसकी जानकारी निरन्तर विकसित होती रहती है, किन्तु जैन परम्परा के इतिहास को यदि सूक्ष्मता से हम देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जिनवचनों के प्रति इस श्रद्धा और महत्व के कारण शास्त्रों के पठन-पाठन मे तो वृद्धि हुई है, किन्तु शास्त्राभ्यास कई लोगों के जीवन की आदत बन गयी है। ज्ञेय पदार्थों की जानकारी को ऐसे शास्त्राभ्यासी ज्ञान कहते हैं, किन्तु इससे वह फलित नहीं होता जो स्वाध्याय से होना चाहिए। ज्ञेय की जानकारी तो बढ जाती है, किन्तु ज्ञाता अछूता रह जाता है। महावीर इसीप्रकार के पदार्थ-ज्ञान को मात्र शाब्दिक ज्ञान कहते हैं। अर्थात् निष्प्रयोजन पदार्थों की जानकारी। उनका कहना है कि मात्र ज्ञेय को जानते रहने से ज्ञाता को सत्य पकड मे नहीं आयेगा। अतः स्वाध्याय द्वारा ऐसा ज्ञान प्राप्त होना चाहिये जो स्वयं ज्ञाता के स्वरूप को उजागर करने वाला हो। यही स्वाध्याय तप है।

स्वाध्याय में उसी ज्ञान का महत्व है, जिस ज्ञान से तत्त्व को जाना जाय, चित्त को वश में किया जाय तथा जिससे आत्मा का बोध किया जाय।

इसप्रकार के आत्महितैषी ज्ञान को प्राप्त करने के लिए ही स्वाध्याय के पाँच भेद कहे गये हैं:— वाचना, पृच्छना, आम्नाय (परिवर्तना), अनुप्रेक्षा एवं धर्मोपदेश (धर्मकथा)।

वस्तुतः ये पांच प्रक्रियां हैं, जिनसे प्राचीन समय में किसी वस्तु की जानकारी पूरी की जाती थी। गुरुमुख अथवा शास्त्र से आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में जो वाचना (मूल पाठ) प्राप्त हुई है उसे केवल याद कर लेने से किसी तप की सिद्धि नही होगी। उस पाठ पर आत्म-अनुभव के प्रश्नचिन्ह खड़े करने होगे, यही पृच्छना है। आत्मा मे चेतना और ज्ञान है, इस गुरु-पाठ को क्षण मात्र के लिए ही सही स्वयं अनुभव करना पृच्छना से गुजरना है। पुस्तक में तैरने की विधि पढने मात्र से व्यक्ति को तैरना नहीं आ सकता। उसे स्वय पानी में उतर कर तैरने के अनुभव से गुजरना होगा। यह स्वानुभव ही स्वाध्याय है। तैरने मे निपुणता जैसे निरन्तर अभ्यास से आती है, वैसे हो आत्मा के स्वरूप से निरन्तर साक्षात्कार करने की प्रक्रिया आम्नाय (परिवर्तना) है। अनुप्रेक्षा का अर्थ है अनुभव की स्थिरता। आत्मा के सम्बन्ध मे हमने जो स्वय अनुभव किया है उसे स्थायित्व देना। उसी स्वरूप का चिन्तन-मनन करना।

स्वाध्याय की पांचवी सीढ़ी है—धर्मोपदेश (धर्मकथा)। इस शब्द को गहराई को समझना होगा। इसका मात्र इतना अर्थ नहीं है कि धार्मिक कथाए कहने मे अथवा धर्मोपदेश प्रवीणता प्राप्त कर लेना। एक पाठ को यादकर दूसरे को सुना देने मे अथवा एक ग्रन्थ पढ़कर दूसरे को पढा देने में अध्यापक तो हुआ जा सकता है, अच्छा धर्मोपदेशक भी, किन्तु इससे स्वाध्याय जैसा तप फलित नही होगा। धर्म कथा का अर्थ होना चाहिए धर्म को अभिव्यक्त करने की शक्ति का होना, सत्य को उद्घाटित करने की शक्ति का होना। अब तक स्वाध्याय की चार सीढियों पर चढकर साधक अनुभव के जिस पड़ाव पर पहुचा है वहां वह आत्मा के सन्निकट हो गया है। उसने स्वयं को, ज्ञाता को भी जान लिया है। इसलिये अब तक प्राप्त ज्ञेय की जानकारी उसके लिये निरर्थक हो गयी है। ज्ञाता को जानना है— धर्म और ज्ञेय को जानना है – विज्ञान। अतः स्वाध्याय तप के इस पड़ाव तक पहुंचा हुआ साधक यदि इतना सक्षम हो गया है कि वह उस धर्म (ज्ञाता के स्वरूप) को अभिव्यक्ति दे सके तो उसका स्वाध्याय तप पूरा हुआ। स्वयं को जानकर अब ध्यान में जा सकता है। बिना स्वयं को जाने ध्यान तप की साधना नहीं हो सकती।

स्वाध्याय की इस गहराई को ध्यान में रखें तो स्वाध्याय के साथ जो अध्ययन की परम्परा है उसे परिष्कृत किया जा सकता है। जानने योग्य पदार्थ सब बाहर ही नहीं हैं और न केवल शास्त्रों में हैं। अपितु व्यक्ति स्वयं अपने आप में एक आगम है। अतः व्यक्ति को पढ़ना, समझना भी स्वाध्याय कहा जा सकता है। शास्त्र का पढ़ना सरल है। उसकी एक निश्चित प्रक्रिया है, नियम है, किन्तु व्यक्ति को पढ़ना-समझना एक कठिन काम है। यह किसी दूसरे के भरोसे नहीं हो सकता। स्वयं के द्वारा स्वयं का अध्ययन, मूल्यांकन करना ही वास्तविक स्वाध्याय है। ऐसा स्वाध्याय जितना कठिन है, उतना ही यह तप है और इसका महत्व है।

स्वाध्याय के सम्बन्ध में एक प्राचीन गाथा बहुत प्रचलित है कि जैसे "भूल से गिरी हुई धागे वाली सुई सर्वथा गुम नहीं हो पाती। उसी प्रकार शास्त्रों से युक्त कोई व्यक्ति प्रमादवश स्खलित होने पर भी नष्ट नहीं होता।"

इस से इतना तो स्पष्ट है कि मात्र शास्त्रस्वाध्यायी होने से व्यक्ति प्रमादवश स्खलित भी हो सकता है। नष्ट नहीं हो सकता है, यह शास्त्रों के अध्ययन की उपयोगिता है, किन्तु नष्ट होने से बचते रहना कोई तप नहीं है। यह कार्य तो हम हजारों जन्मों से करते चले आ रहे हैं। शास्त्रों में नरकों के वर्णन को पढ़कर उसके भय से हम स्वर्ग का इंतजाम कर लेते है। स्वर्ग के वैभव मे खोकर फिर नरकों का चक्कर काट आते हैं, किन्तु नष्ट नहीं होते हैं। साधक कहता है कि हमें इससे ऊपर उठना है और उस प्रमाद को त्यागना है, जिससे हम स्खलित होते रहते है। ऐसा लगता है कि नियम तो हैं, शास्त्र हैं, नीतियां हैं, किन्तु हम स्वय अनुपस्थित हैं, जिनके लिये ये सब कुछ हैं। अतः हमारी स्वयं की अनुपस्थिति में ही सब कुछ गलत ही होता रहा है। इसी अनुपस्थिति को तोड़ने का काम स्वाध्याय करता है। वह उस प्रमाद को नहीं रहने देता जिससे व्यक्ति भटक जाता है। अतः जागरण का नाम स्वाध्याय है।

साधक के जीवन में यह जागरण कठिन है। इसलिए नहीं कि वह जाग नहीं सकता, अपनी आत्मा से साक्षात्कार नहीं कर सकता, बल्कि इसलिए कठिन है जागरण, क्योंकि जागते ही साधक को अपनी बुराई स्वयं देखनी पड़ेगी। उसे जागते ही यह पहली बार पता चलेगा कि जो कुछ गलत हो रहा था, उसका जुम्मेवार वह स्वयं है। जो उसने जगत् के सम्बन्ध मे धारणाएं बना रखी थीं, वे गलत है। सत्य तो कुछ और ही है। यही साधक के जीवन के परिवर्तन का क्षण है। यहीं से स्वाध्याय को वह फलित करता है। इतनी अनुभूति होने लगे कि यह सम्पूर्ण जगत् परिवर्तन-स्वभाव वाला है। इससे आत्मा के सुख का कोई नाता नहीं है। शरीर की अपनी सीमाएं और क्रियाएं हैं। विकास तो आत्मा का ही सम्भव है, तब कही साधक स्वाध्याय मे जीता है।

स्वाध्याय करने से स्थूल रूप में वैसे तो कई लाभ हैं। उनकी प्राप्ति जब तक आवश्यक लगे, उन्हें भी करना चाहिए, किन्तु स्वाध्याय के मूलतः दो प्रतिपाद्य हैं—तत्त्व-निरूपण एवं ध्यान की सिद्धि।

तत्त्व-निरूपण का अर्थ है कि स्वाध्याय से यह स्पष्ट हो जाय कि संसार के अन्य पदार्थों का स्वरूप क्या है और आत्मा का स्वरूप क्या है? वस्तुतः जगत् का यथार्थ स्वरूप न जानने से जितनी भ्रान्तियां होती हैं, उससे कहीं अधिक स्वयं के स्वरूप को न जानने से होती हैं। जो दोनों के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता उससे तो कभी सही कुछ हो ही नहीं सकता। गलत धारणाओं के इसी मलबे को साफ करने का काम स्वाध्याय करता है। स्वयं की जो असलियत पहिचान गया, दूसरा उसके सामने अपने आप असलीरूप में खड़ा हो जायेगा 'जो एगं जाणइ सो सव्वं जाणइ" वाला सूत्र स्वाध्याय में ही चरितार्थ होता है।

तत्त्व का निश्चय होना, यथार्थ से परिचित होना स्वाध्याय की पहली सफलता है, तभी ध्यान की सिद्धि होगी। जैनदर्शन मे साधक की इस स्थिति के लिए दो महत्वपूर्ण शब्द प्रचलित हैं—प्रतिक्रमण और सामायिक। प्रतिक्रमण का अर्थ है—ऐसे स्थानों से, विचारों से, धारणाओं से स्वयं को लौटा लेना, जो यथार्थ नहीं हैं—निष्प्रयोजन हैं। पदार्थों की व्यर्थता का भान जिस दिन हो जाय, उसी दिन आत्मा की सार्थकता और

स्वरूप से साक्षात्कार होने लगेगा। आत्मा में स्थित होने लगेगा साधक, यही सामायिक है। व्यर्थता से वापिस लौटकर किसी सार्थकता में स्थित होना प्रतिक्रमण और सामायिक है। स्वाध्याय की सार्थकता है। इसे बौद्ध साहित्य में उल्लिखित एक दृष्टान्त से समझा जा सकता है।

"अवकाश के क्षणों में कुछ बच्चे अपने घरों से निकलकर नदी के किनारे रेत पर खेल रहे हैं। कोई रेत खोद रहा है, कोई रेत का घर बना रहा है तथा कोई बच्चा फूलों से रेत के घर को सजा रहा है। किन्तु इस में यदि किसी बच्चे का पैर किसी दूसरे बच्चे के घर मे लग जाय तो वे आपस में झगड़ पड़ते हैं। मारपीट हो जाती है कि तुमने मेरा घर क्यों तोड़ दिया। थोड़ी देर बाद वे फिर अपना घर बनाने लगते हैं। जब सन्ध्या हो जाती है। अंधेरा घिरने लगता है तो बच्चों की माताएं उन्हें बुलाने लगती हैं कि बच्चों लौट आओ। अब बहुत खेल लिया। माताओं की आवाज सुनते ही बच्चों को ध्यान आ जाता है कि हमे अपने असली घर में लौटना है। और वे सब अपने-अपने रेत के घरोंदों को लात मारकर स्वयं गिरा देते है। हंसते हुए घर लौट जाते हैं।"

यही मानव जीवन की स्थिति है। हम अज्ञानवश प्रमादी होकर सांसारिक पदार्थों के पीछे पड़े रहते हैं। उन्हें छोड़ते नहीं हैं। उनपर अपना इतना स्वामित्व जताते हैं कि अच्छे-अच्छे मित्रों से झगड़ पड़ते है। खून के रिश्तों में मारपीट हो जाती है, किन्तु यह समझ मे नही आ पाता कि जिसके पीछे हम इतने आसक्त हैं वे सब वास्तव में हमारे नहीं हैं और न उनसे हमारी आत्मा का कोई हित होने वाला है। स्वाध्याय इसी समझ को पैदा करता है। व्यक्ति की चेतना को निस्सार वस्तुओं से वापिस लौटाता है और ध्यान की ओर उसे प्रेरित कर देता है। इन सन्दर्भों में देखें तो वास्तव मे स्वाध्याय तप है। स्वाध्याय से चेतना यदि इतनी निर्मल हो पाये कि वह ध्यान में उतर सके तो निश्चित ही ऐसे स्वाध्याय से अनेक जन्मों में संचित कर्म क्षण भर में क्षय हो सकते हैं।

स्वाध्याय साधक के जीवन का एक ऐसा संधिकाल है कि यदि उसने वास्तविक रूप से अपनी आत्मा का अध्ययन कर लिया तो वह ध्यान और कायोत्सर्ग की प्रक्रिया द्वारा वह इस जरा-मरण के चक्र से मुक्त हो जायेगा। उसके रेत के घरोंदे सदा के लिए टूट जायेंगे और यदि वह स्वाध्याय के द्वारा पदार्थों की जानकारी ही एकत्र करता रहा, ज्ञेय में ही उलझा रहा. ज्ञाता तक नहीं पहुंचा तो फिर वह सांसारिक पदार्थों के घरोंदे ही बनाता रहेगा। उनकी रक्षा के लिए आत्मशक्ति व्यय करता रहेगा।

उसका लौटना—प्रतिक्रमण कभी नही होगा, सामायिक की तो बात ही दूर है। स्वाध्याय के इसी महत्व के कारण कहा गया है कि यह बारह तपों में श्रेष्ठ तप है। इससे आत्महित का ज्ञान, बुरे भावों का संवरण, नया संवेग, चारित्र में निश्चलता और तप, उत्तम भाव तथा परोपदेशकता आदि गुण उत्पन्न होते हैं।

अर्हन्तदर्शनमें ज्ञान का विश्लेषण

❖ कुमारी रजनी जैन, बी० ए० द्वितीय वर्ष;

[प० पू० मा० क० १०८ श्री श्रुतसागरजी ससंघ]

ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध दण्ड और दण्डी के सम्बन्ध से भिन्न है। दण्ड और दण्डी का सम्बन्ध संयोग-सम्बन्ध है। दो पृथक् सिद्ध पदार्थों मे ही संयोग-सम्बन्ध हो सकता है। आत्मा और ज्ञान का ऐसा संयोग-सम्बन्ध नही है, क्योंकि ज्ञान व आत्मा का पृथक्-पृथक् अस्तित्व सिद्ध नहीं है। ज्ञान आत्मा का स्वाभाविकगुण है। स्वाभाविक गुण अपने आश्रयभूत द्रव्य का त्याग नही करता है। ज्ञान के अभाव में तो आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में सोचा भी नहीं जा सकता है। आत्मा के अनन्तगुण एक ओर तथा ज्ञानगुण दूसरी ओर हो तो ज्ञानगुण का पलड़ा भारी रहेगा। अर्हन्तदर्शन में ज्ञान और आत्मा में व्यवहारनय की अपेक्षा कथंचित् भेद स्वीकार किया गया, किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा ज्ञान-आत्मा में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं कहा गया है। आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है। ज्ञान आत्मा का वह असाधारण गुण है जो अन्य किसी द्रव्य मे नहीं पाया जाता है। ज्ञान और आत्मा का तादात्म्य-सम्बन्ध है।

स्वभावतः ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है। वह अन्य पदार्थों को जानने के साथ-साथ स्वयं को भी प्रकाशित करता है। अर्हन्तदर्शन का कथन है कि जिसप्रकार दीपक अपने आपको प्रकाशित करता हुआ परपदार्थों को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान स्वयं को भी जानता है और परपदार्थों को भी जानता है। ज्ञान दीपकवत् स्व-पर प्रकाशी माना गया है।

आर्षवाणी में अभेददृष्टि से कथन करते हुए कहा है कि जो ज्ञान है वह आत्मा है और जो आत्मा है वह ज्ञान। भेददृष्टि से कथन करते हुए ज्ञान को आत्मा का गुण कहा है। तथा भेदाभेद दृष्टि से विचार करने पर आत्मा ज्ञान से सर्वथा भिन्न भी नही है तथा अभिन्न भी नहीं है, किन्तु कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है।[1] ज्ञान आत्मा ही है अतः वह आत्मा से अभिन्न। ज्ञान गुण और आत्मा गुणी है, इसप्रकार गुण-गुणी के रूप में ये दोनों भिन्न भी है।

ज्ञान-स्वरूप :

"जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञप्तिमात्रं वा ज्ञानम्" जो जानता है, जिसके द्वारा जाना जाय, जानना मात्र ज्ञान है। अथवा "वस्तु-स्वरूप का निश्चय करनेवाले धर्म को ज्ञान कहते हैं। शुद्धनय की विवक्षा मे वस्तुस्वरूप का उपलम्भ करनेवाले धर्म को ही ज्ञान कहा है।" द्रव्य-गुण-पर्यायों को जिसके द्वारा जानते हैं उसे ज्ञान कहते है।

---

१. ज्ञानाद भिन्नो न चाभिन्नो, भिन्नाभिन्नः कथचन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूत, सोऽयमात्मेति कीर्तितः ।। स्वरूप-सम्बोधन–४ ।।

ज्ञान के भेद—सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान के भेद से ज्ञान दो प्रकार का है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से सम्यग्ज्ञान के पांच तथा मत्यज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान के भेद से मिथ्याज्ञान के तीन भेद हैं।

शंका—ज्ञान में मिथ्यापना कैसे होता है?

समाधान—वस्तुतः ज्ञान मिथ्या और सम्यक् भेदरूप नहीं है, किन्तु मिथ्यादर्शन के साथ आत्मा में इसका समवाय पाया जाता है। अर्थात् मिथ्यादर्शन सहित जो ज्ञान है वह मिथ्याज्ञान और सम्यग्दर्शनसहित जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

उपर्युक्त ज्ञान के आठ भेदों में से मनःपर्यय और केवल तो सम्यक् ही होते हैं शेष मति, श्रुत और अवधिज्ञान सम्यक् और मिथ्या दोनों प्रकार के होते हैं। मति, श्रुत, अवधिज्ञान के विपर्ययरूप होने में अर्थात् मिथ्या होने में आचार्यों ने एक दृष्टान्त दिया है—"जैसे रजसहित कडवी तूंबडी में रखा गया दूध कड़वा हो जाता है, उसीप्रकार मिथ्यादर्शन के निमित्त से मति, श्रुत, अवधिज्ञान में विपर्यय होता है।

शंका—कड़वी तूंबड़ी में आधार के दोष से दूध का रस मीठे से कड़वा हो जाता है यह स्पष्ट है, किन्तु इसप्रकार मत्यादि ज्ञानों की विषयग्रहण में विपरीतता ज्ञात नहीं होती, क्योंकि जिसप्रकार सम्यग्दृष्टि चक्षु आदि के द्वारा रूपादिक पदार्थों को ग्रहण करता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी मति-अज्ञान के द्वारा ग्रहण करता है। जिसप्रकार सम्यग्दृष्टि श्रुत के द्वारा रूपादि पदार्थों को जानता है और उनका निरूपण करता है, उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि भी श्रुत-अज्ञान के द्वारा रूपादि पदार्थों को जानता है और उसका निरूपण करता है। जिसप्रकार सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञान के द्वारा रूपी पदार्थों को जानता है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि भी विभंगज्ञान के द्वारा रूपी पदार्थों को जानता है।

समाधान—"वास्तविक और अवास्तविक का अन्तर जाने बिना जब जैसा जी में आया उस रूप ग्रहण होने के कारण उन्मत्तवत् उसका ज्ञान भी अज्ञान ही है।" अर्थात् सत् क्या है, असत् क्या है? जड क्या है, चेतन क्या है? इनका स्पष्ट ज्ञान न होने से कभी सत् को असत् और कभी असत् को सत् कहता है। कभी चैतन्य को जड और कभी जड को चैतन्य कहता है। कभी सत् को सत्, चैतन्य को चैतन्य भी कहता है। इसप्रकार उसका यह सर्व प्रलाप उन्मत्त की भांति है। जिसप्रकार उन्मत्त अपनी माता को कभी स्त्री और कभी स्त्री को माता कहता है। वह यदि कदाचित् माता को माता भी कहे तो भी उसका कहना समीचीन नही समझा जाता उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि का उपर्युक्त प्रलाप भले ही ठीक क्यो न हो समीचीन नहीं समझा जाता। इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा में स्थित कोई मिथ्यादर्शनरूप परिणाम रूपादिक की उपलब्धि होने पर भी कारणविपर्यास, भेदाभेद विपर्यास और स्वरूपविपर्यास को उत्पन्न करता रहता है। इसप्रकार मिथ्यादर्शन के उदय से ये जीव प्रत्यक्ष और अनुमान के विरुद्ध नानाप्रकार की कल्पनाएं करते है और उनमें श्रद्धान उत्पन्न करते हैं। इसलिए इनका यह ज्ञान मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभङ्ग-ज्ञान होता है, किन्तु सम्यग्दर्शन तत्वार्थ के ज्ञान में श्रद्धान उत्पन्न करता है अतः इसप्रकार का ज्ञान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होता है।

सम्यग्ज्ञान-स्वरूप :

जिस जिस प्रकार से जीवादि पदार्थों का स्वरूप अवस्थित है उस-उस प्रकार से न्यूनता एवं अधिकता बिना संशय-विपर्यय-अनध्यवसायरहित यथावस्थित अधिगम करना सम्यग्ज्ञान है। जिसप्रकार मेघपटल के दूर होने पर सूर्य का प्रताप और प्रकाश एक साथ प्रकट हो जाते हैं उसी प्रकार मिथ्यात्व का आवरण दूर होने पर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ प्रकट हो जाते हैं। यद्यपि ये दोनों एक साथ प्रकट होते है फिर भी दीपक और प्रकाश के समान दोनों में कारण-कार्यभाव है अर्थात् सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है।

शंका—जब पदार्थ का सम्यग्ज्ञान होगा तभी तो सम्यक्श्रद्धा होकर सम्यग्दर्शन हो सकेगा इसलिए सम्यग्ज्ञान को कारण और सम्यग्दर्शन को कार्य मानना चाहिये।

समाधान—सम्यग्दर्शन होने के पहले इतना ज्ञान तो होता ही है कि जिसके द्वारा तत्त्वस्वरूप का निर्णय किया जा सके, किन्तु उस ज्ञान में सम्यक् पद का व्यवहार तभी होता है जब सम्यग्दर्शन हो जाता है। पिता और पुत्र साथ ही साथ उत्पन्न होते हैं, क्योंकि जब तक पुत्र नहीं होता तब तक उस मनुष्य को पिता नही कहा जा सकता। पुत्र होने के पूर्व वह मनुष्य तो है, किन्तु पिता नहीं है। इसीप्रकार सम्यग्दर्शन होने के पूर्व ज्ञान तो रहता है, किन्तु वह सम्यग्ज्ञान नहीं है। सम्यग्ज्ञान का व्यवहार सम्यग्दर्शन के होने पर ही होता है। युगपत् होते हुए भी इनमे कार्य-कारण भाव है।

मति-श्रुत-अवधि-मन:पर्यय और केवल के भेद से सम्यग्ज्ञान के पांच भेद हैं—इन पांचों ज्ञानो को प्रत्यक्ष और परोक्षरूप मे विभाजित किया गया है। मति, श्रुत ज्ञान तो परोक्ष हैं तथा अवधि-मन:पर्ययज्ञान एक देश प्रत्यक्ष है, केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

मतिज्ञान—मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा इन्द्रिय-मन की सहायता से स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दादि विषयो मे अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है। इसे आभिनिबोधिक ज्ञान भी कहते है। मतिज्ञान दर्शनपूर्वक अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के क्रम से होता है यही उक्त लक्षण का अभिप्राय है।

मतिज्ञान के भेद—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा, ये मतिज्ञान के चार भेद हैं। इनमें भी अवग्रह के अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रहरूप दो भेद होते है। अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा पाच इन्द्रिय और मन की सहायता से होते है अतः ४ × ६ = २४ भेद व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मन के बिना शेष चार इन्द्रियों के द्वारा होता है। २४ + ४ = २८, इन २८ भेदो मे बहु-बहुविध, क्षिप्र-अक्षिप्र, नि:सृत-अनि:सृत, उक्त-अनुक्त, एक-एकविध, ध्रुव-अध्रुव इन बारह पदार्थो का गुणा करने पर २८ × १२ = ३३६ भेद होते हैं। अवग्रहादि ज्ञान इन १२ पदार्थों के निमित्त से होते है।

अवग्रह के—अवग्रह, अवधान, सान, अवलम्बना और मेधा, ईहा के—ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा, अवाय के—अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुण्डा और प्रत्यामुण्डा; धारणा के—धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा ये एकार्थक-पर्यायवाची नाम है।

श्रुतज्ञान—श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो सर्व पदार्थों के समीचीन स्वरूप का परोक्ष रूप से निश्चय कर सकता है, सशय-विपर्यय और अनध्यवसाय रहित है, मूर्तिक-अमूर्तिक वस्तु को लोक तथा अलोक को व्याप्तिज्ञान रूप से अस्पष्ट जानता है, जिसमे मतिज्ञान कारण पडता है अर्थात् मतिज्ञानपूर्वक होता है, वह श्रुतज्ञान है।

श्रुतज्ञान के शब्द व अर्थलिगज या द्रव्य व भावरूप दो भेद हैं। आचारांग आदि बारह अंग, उत्पादपूर्व आदि चौदहपूर्व और सामायिकादि १४ प्रकीर्णक स्वरूप द्रव्यश्रुत और इनके सुनने से उत्पन्न हुआ जो ज्ञान सो भावश्रुत है। शब्दलिगज श्रुतज्ञान लौकिक और लोकोत्तर के भेद से दो प्रकार है। सामान्य पुरुष के मुख से निकले हुए वचन समुदाय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह लौकिक शब्दलिगज श्रुतज्ञान है। असत्य बोलने के कारणों से रहित पुरुष के मुख से निकले हुए वचन समुदाय से जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। वह लोकोत्तर शब्दलिगज श्रुतज्ञान है। धूमादिक पदार्थरूप लिंग से जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह अर्थलिंगज श्रुतज्ञान है।

पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्ति-समास, अनुयोगद्वार, अनुयोगद्वारसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृत-प्राभृतसमास, प्राभृत, प्राभृत-समास, वस्तु,

वस्तुसमास, पूर्व और पूर्वसमास ये अर्थलिंगज श्रुतज्ञान के बीस भेद हैं। इनका विशेष स्वरूप धवलादि ग्रन्थों से जानना चाहिए।

लोकोत्तर शब्दलिंगज श्रुतज्ञान के अंगप्रविष्ट और अङ्गबाह्यरूप दो भेद हैं। आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्त्यांग, ज्ञातृधर्मकथांग, उपासकाध्ययनांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्रांग और दृष्टिवादांग ये अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञान है। तथा गणधरदेव के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा अल्पायु-बुद्धि बलवाले प्राणियों के अनुग्रह के लिए अगों के आधार से रचे गये संक्षिप्त ग्रन्थ अङ्गबाह्य हैं। अङ्गबाह्य श्रुतज्ञान के सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका ये १४ भेद हैं।

अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञान के १२ वें दृष्टिवाद के पांच भेद है - (१) परिकर्म (२) सूत्र (३) प्रथमानुयोग (४) पूर्वगत (५) चूलिका। परिकर्म के—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति ये पाच भेद है। पूर्वगत के—उत्पादपूर्व, अग्रायणीयपूर्व, वीर्यानुप्रवादपूर्व, अस्ति-नास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, सत्यप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानपूर्व, विद्यानुप्रवादपूर्व, कल्याणवादपूर्व प्राणवादपूर्व, क्रियाविशालपूर्व और त्रिलोकबिन्दुसार ये १४ भेद हैं। चूलिका के—जलगता, स्थलगता, मायागता, आकाशगता और रूपगता ये पांच भेद हैं। सूत्र और प्रथमानुयोग का एक-एक भेद है। इनका विशेष कथन गोम्मटसार जीवकाण्ड की ज्ञानमार्गणा के अन्तर्गत श्रुतज्ञान प्रकरण से जानना चाहिए। धवल, तत्त्वार्थराजवार्तिक, हरिवंशपुराण आदि अन्य आर्षग्रन्थों में भी इनका सविस्तार विवेचन किया गया है विशेष जिज्ञासुओं को वहां से जानना चाहिए।

मति-श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य :

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्येक संसारी जीव में होते हैं। ये दोनों ही ज्ञान-क्षायोपशमिक हैं अतः सम्पूर्णरूप से ज्ञानावरण के क्षय होने पर प्रगट होने वाले क्षायिकज्ञान-केवलज्ञान होने पर क्षायोपशमिकरूप मति-श्रुतज्ञान नहीं रह सकते। मतिज्ञान का कार्य इन्द्रियो व मन के द्वारा स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द आदि पदार्थों को जानना और उनकी विविध अवस्थाओं पर विचार करना है। श्रुतज्ञान का कार्य—शब्द के द्वारा उसके वाच्य अर्थ को जानना और शब्द के द्वारा ज्ञात अर्थ को पुनः शब्द के द्वारा प्रतिपादित करना। तीनों कालों से संयुक्त द्रव्य को जिसप्रकार केवलज्ञान ग्रहण करता है उसीप्रकार नय (श्रुतज्ञान) के द्वारा भी भूत-भविष्यत और वर्तमान कालिक पदार्थों को ग्रहण किया जाता है, किन्तु इतनी विशेषता है कि केवलज्ञान प्रत्यक्षरूप से जानता है और श्रुतज्ञान परोक्षरूप से जानता है। ११ अंग १४ पूर्वरूप तथा सामायिकादि १४ प्रकीर्णकरूप द्रव्यश्रुत के सुनने से उत्पन्न हुआ भावश्रुत है जो कि शुक्लध्यानपूर्वक केवलज्ञान का कारण है। मति और श्रुतज्ञान सहभावी हैं, जहां मतिज्ञान है वहा श्रुतज्ञान और जहा श्रुतज्ञान है वहां मतिज्ञान है। ये दोनों ज्ञान अव्यभिचारी हैं नारद और पर्वत के समान एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ते हैं। आगम में इन दोनों ज्ञानों के सम्बन्ध में अत्यन्त विशद विवेचन किया गया है विस्तार भय से यहां नही लिखा गया है।

अवधिज्ञान :

अवधिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से जो इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की कुछ भी अपेक्षा न करके द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव के विकल्प से—महास्कन्ध से परमाणुपर्यन्त समस्त मूर्तिक-पुद्गल द्रव्यों को, असंख्यात-लोकप्रमाण क्षेत्र-काल और भावों को तथा कर्म के सम्बन्ध से पुद्गलभाव को प्राप्त जीवों को केवल आत्मा की अपेक्षा करके निर्मलतापूर्वक सीमायुक्त एकदेशरूप से प्रत्यक्ष जानता है वह अवधिज्ञान है। अधिकतर नीचे के विषय को जाननेवाला होने से या परिमित विषयवाला होने से यह अवधि कहलाता है। सम्यग्दर्शन या सम्यक्चारित्र की विशुद्धता के प्रभाव से कदाचित् किन्हीं साधकों को यह ज्ञान उत्पन्न होता है। इन्द्रिय और

अनिन्द्रिय की सहायता से रहित जानने के कारण यह ज्ञान प्रत्यक्ष तो है, किन्तु सकल पदार्थों को नहीं जान सकता अतः देशप्रत्यक्ष है। सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन के उदय से अवधिज्ञान के सुअवधि और कुअवधि (विभंग) ज्ञानरूप दो भेद होते हैं।

अवधिज्ञान के भेद—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय के भेद से अवधिज्ञान दो प्रकार का है। जिस अवधिज्ञान का निमित्त भव (नरक-देवभव) है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है। सम्यक्त्व से अधिष्ठित अणुव्रत और महाव्रत-गुण जिस अवधिज्ञान के कारण हैं वह गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान है। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकी जीवों के और तीर्थंकरों के होता है तथा गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यंचों के होता है, भवप्रत्यय अवधि-ज्ञान सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही प्रकार के जीवों में होता है, किन्तु गुणप्रत्यय अवधिज्ञान असंयत सम्यग्दृष्टि से क्षीणकषाय-गुणस्थान पर्यन्त (सम्यग्दृष्टि) जीवों के ही होता है।

अवधिज्ञान देशावधि, परमावधि और सर्वावधि के भेद से तीन प्रकार का है। देश का अर्थ सम्यक्त्व है, क्योंकि वह संयम का अंश है अतः वह जिस ज्ञान की अवधि-मर्यादा है वह देशावधिज्ञान है। परम अर्थात् असंख्यातलोकमात्र संयमभेद ही जिस ज्ञान की अवधि अर्थात् मर्यादा है वह परमावधिज्ञान कहा जाता है। सर्व अवधि-मर्यादा है जिसकी वह सर्वावधिज्ञान है। यहां 'सर्व' शब्द समस्त द्रव्य का वाचक है, ऐसा अर्थ ग्रहण नहीं करना, क्योंकि जिसके आगे अन्य द्रव्य न हों उसके अवधिपना नहीं बनता है। अतः 'सर्व' शब्द सर्व के एकदेश-रूप रूपी द्रव्य में वर्तमान है ऐसा ग्रहण करना चाहिए। अथवा जो आकुंचन और विसर्पणादिकों को प्राप्त हो वह पुद्गलद्रव्य सर्व है वही जिसकी मर्यादा है वह सर्वावधिज्ञान कहलाता है।

भवप्रत्ययअवधिज्ञान देशावधिरूप ही होता है, किन्तु देशावधि गुणप्रत्ययरूप भी होता है। परमावधि और सर्वावधि गुणप्रत्यय ही होते हैं। देशावधिज्ञान चारों गतियों के जीवों के हो सकता है, किन्तु परमावधि और सर्वावधिज्ञान चरमशरीरी संयतों के ही होता है।

अवधिज्ञान के अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित ये छह भेद भी हैं। इन छह भेदों में प्रतिपाती और अप्रतिपाती ये दो भेद मिलाकर आठ भेद देशावधि के होते हैं इन आठ में से हीयमान और प्रतिपाती ये दो भेद कम कर देने से शेष छह भेद परमावधि में तथा अवस्थित, अनुगामी, अननुगामी और अप्रतिपाती ये चार भेद सर्वावधिज्ञान में होते हैं। देशावधि-परमावधि के जघन्य, उत्कृष्ट और जघन्योत्कृष्ट ये तीन-तीन भेद पाये जाते हैं तथा सर्वावधि में भेद नहीं है। अनुगामी और अननुगामी ये दोनों भी क्षेत्र, भव और क्षेत्रभव के भेद से तीन-तीन प्रकार के है। इन सभी के लक्षण धवलादि परमागम ग्रन्थों से जानना चाहिए।

देशावधिज्ञान अनुगामी, अननुगामी आदि आठों ही भेद वाला है। जघन्यादि तीनों ही प्रकार का परमावधिज्ञान वर्द्धमान ही होता है हीयमान नहीं। अप्रतिपाती ही होता है, प्रतिपाती नहीं। अवस्थित ही होता है अथवा वृद्धि के प्रति अनवस्थित भी होता है, किन्तु हानि के प्रति अनवस्थित नहीं होता। इस लोक में देशान्तर गमन के कारण अनुगामी है, किन्तु परलोकरूप देशान्तर गमन का अभाव होने के कारण अननुगामी। सर्वावधिज्ञान वर्द्धमान ही होता है हीयमान नहीं। अनवस्थित व प्रतिपाती भी नहीं होता। वर्तमान के संयतभव के क्षय से पहिले तक अवस्थित और अप्रतिपाती है। भवान्तर के प्रति अननुगामी और देशान्तर के प्रति अनुगामी है। परमावधिज्ञान देशावधि की अपेक्षा महाविषय वाला है, मनःपर्ययज्ञान के समान संयत मनुष्यों में ही उत्पन्न होता है अपने उत्पन्न होने के भव में ही केवलज्ञान की उत्पत्ति में कारण है और अप्रतिपाती है।

मनःपर्ययज्ञान :

मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमादिरूप सामग्री के निमित्त से परकीय मनोगत अर्थ को मनुष्य-लोक के भीतर जानना मनःपर्यय ज्ञान है। अथवा परकीय में स्थित पदार्थ मन कहलाता है, उसकी पर्यायों अर्थात् विशेषों को मनःपर्यय कहते हैं। उनको जो ज्ञान जानता है वह मनःपर्ययज्ञान है।

मनःपर्यय ज्ञान के प्रकार—ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है। ऋजुमति—ऋजु का अर्थ निर्वर्तित (निष्पन्न) और प्रगुण (सीधा) है। अर्थात् दूसरे के मन को प्राप्त वचन, काय और मनकृत अर्थ के विज्ञान से निर्वर्तित या ऋजु जिसकी मति है वह ऋजुमति कहलाता है। यथार्थ मन का विषय, यथार्थ वचन का विषय और यथार्थ कायिक चेष्टागत होने से उक्तमति मे ऋजुता है। ऋजु का अर्थ वक्रता रहित होता है। अर्थात् वक्रता रहित जिसकी मति है वह ऋजुमति कहा जाता है।

ऋजु मन-वचन-काय के विषय भेद से ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान तीन प्रकार का है—ऋजुमनस्कृतार्थज्ञ, ऋजुवाक् कृतार्थज्ञ और ऋजुकाय कृतार्थज्ञ। जैसे किसी ने किसी समय सरल मन से किसी पदार्थ का स्पष्ट विचार किया, स्पष्टवाणी से कोई विचार व्यक्त किया और काय से भी उभयफल निष्पादनार्थ अगोपाग आदि का सिकोड़ना, फैलाना आदि रूप स्पष्ट क्रिया की। कालान्तर में उन्हे भूल जाने के कारण पुनः उन्ही का चिन्तवन व उच्चारण आदि करने को समर्थ नही रहा। इस प्रकार के अर्थ को पूछने पर या बिना पूछे भी ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान जान लेता है कि इसने इसप्रकार सोचा था, बोला था या किया था। ऋजुमति ज्ञान अपने मन के द्वारा दूसरे के मानस को जानकर काल से विशेषित दूसरों की संज्ञा (शब्द कलाप), स्मृति (अतीत कालगत दृष्ट, श्रुत व अनुभूत विषय), मति (अनागत कालगत विषय), चिन्ता (वर्तमान कालगत विषय) इन सबको तथा उनके जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख को, नगर, देश, जनपद, खेट, कर्वट आदि के विनाश को तथा अतिवृष्टि-अनावृष्टि, सुवृष्टि-दुर्वृष्टि, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष, क्षेम-अक्षेम, भय और रोगरूप पदार्थों को भी (प्रत्यक्ष) जानता है। सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित व्यक्त मन वाले अपने और दूसरे जीवों से सम्बन्ध रखनेवाले अर्थ को वह जानता है, किन्तु अव्यक्त मन से युक्त जीवो से सम्बन्धित अर्थ को नही जानता है। अचिन्तित व अर्द्धचिन्तित या विपरीत चिन्तित को, अनुक्त, अर्द्ध उक्त व विपरीत उक्त को, तथा इसीप्रकार के कायकृत को नही जानता क्योंकि इसप्रकार के विशिष्ट क्षयोपशम का उसमें अभाव पाया जाता है। ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान का विषय द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा सूक्ष्मता से धवलादि ग्रन्थों मे कहा गया है विशेष जिज्ञासु लोगो को उन आगम ग्रन्थो से जानना चाहिए।

विपुलमति—जिसकी मति विपुल है वह विपुलमति कहलाता है। सरल या वक्र मन-वचन और काय के द्वारा किया गया कोई अर्थ, उसके चिन्तवन युक्त किसी अन्य जीव के मन को जानने से निष्पन्न या अनिष्पन्न मति को विपुल कहते हैं, ऐसी विपुल जिसकी मति है वह विपुलमति मनःपर्ययज्ञान है। यथार्थ, अयथार्थ और उभय तीनों प्रकार के मन, तीनों प्रकार के वचन व तीनों प्रकार के काय को प्राप्त होने से इसमें विपुलता है।

ऋजु और वक्र मन-वचन-काय के विषयभेद से विपुलमति मनःपर्ययज्ञान छह प्रकार का है। जघन्य-उत्कृष्ट और मध्यम के भेद से विपुलमति मनःपर्ययज्ञान तीन प्रकार का भी है। विपुलमति मनःपर्ययज्ञान काल की अपेक्षा सात-आठ भवों को और उत्कर्ष से असख्यात भवो को जानता है। क्षेत्र की अपेक्षा योजनपृथक्त्व अर्थात् आठ-नौ योजन घन प्रमाण क्षेत्र को जानता है। उत्कृष्टरूप से मानुषोत्तर पर्वत के भीतर जानता है बाहर नहीं जानता अर्थात् ४५०००००० योजन घनप्रतर को जानता है। भाव की अपेक्षा जो-जो द्रव्य इसे ज्ञात है उनकी उनकी असंख्यात पर्यायों को जानता है।

विशेष—ऋजुमति से विपुलमति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विशुद्धतर है। अर्थात् कार्मणद्रव्य का अनन्तवा अन्तिम भाग सर्वावधि का विषय है उसके अनन्त भागों में अन्तिम भाग ऋजुमति का विषय है इसके अनन्त भाग करने पर अन्तिम भाग विपुलमति का विषय है। विपुलमति अप्रतिपाति है और ऋजुमति प्रतिपाती है।

मनःपर्ययज्ञान, कर्मभूमिज गर्भज पर्याप्तक सम्यग्दृष्टि संयतों के प्रमत्त से क्षीणकषाय गुणस्थान तक सप्तऋद्धि से समन्वित किन्हीं प्रवर्द्धमान चारित्रवाले जीवों के ही होता है। ऋजुमति और विपुलमति दोनों ही मनःपर्ययज्ञान उपेक्षासंयमरूप संयमलब्धि होने पर ही विशुद्ध परिणामों में तथा वीतराग आत्मतत्त्व के सम्यक्

श्रद्धान ज्ञान व चारित्र की भावना सहित १५ प्रकार के प्रमादों से रहित अप्रमत्तमुनि के ही उत्पन्न होते हैं। अप्रमत्त का कथन उत्पत्ति काल की अपेक्षा ही कहा है, किन्तु उत्पन्न होने के पश्चात् प्रमत्त अवस्था (६ठे गुण स्थान) में भी सम्भव है। ऋजुमति हीयमान चारित्रवालों के होता है और विपुलमति प्रवर्द्धमानचारित्री जीवों के होता है। ऋजुमती प्रतिपाती है अर्थात् अचरमशरीरी जीवों के भी हो सकता है, किन्तु विपुलमति अप्रतिपाती है अर्थात् चरमशरीरी जीवों के ही होता है।

अवधि-मनःपर्ययज्ञान के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य :

अवधि और मनःपर्यय ये दोनों ज्ञान आत्मा से होते हैं। इनके लिए इन्द्रिय और मन की सहायता आवश्यक नहीं है। ये दोनों ज्ञान रूपी द्रव्य तक ही सीमित हैं अतः विकल प्रत्यक्ष हैं। सकल प्रत्यक्षरूप केवलज्ञान रूपी-अरूपी सभी द्रव्यों को जानने के कारण सकल प्रत्यक्ष है। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में विशुद्धि क्षेत्र, स्वामि और विषय की अपेक्षा अन्तर है। मनःपर्ययज्ञान अपने विषय को अवधिज्ञान की अपेक्षा विशदरूप से जानता है अतः वह उससे अधिक विशुद्ध है। यह विशुद्धि विषय की न्यूनाधिकता पर आधारित नही है, विषय की सूक्ष्मता पर अवलम्बित है। महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि अधिक मात्रा में पदार्थों को जाना जावे, किन्तु महत्त्वपूर्ण यह है कि ज्ञेयपदार्थ की सूक्ष्मता का परिज्ञान हो। मनोवर्गणाओं की मनरूप में परिणत पर्यायें अवधिज्ञान का भी विषय बनती है तथापि मनःपर्ययज्ञान उन पर्यायों का स्पेशलिस्ट (विशेषज्ञ अर्थात् सूक्ष्मज्ञ) है।

अवधिज्ञान के द्वारा रूपीद्रव्य का जितना सूक्ष्म अंश जाना जाता है उससे अधिक सूक्ष्म अंश मनःपर्ययज्ञान के द्वारा जाना जाता है। अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक के रूपी पदार्थ है, किन्तु मनःपर्ययज्ञान का क्षेत्र मनुष्य लोक ही है। अवधिज्ञान चारों गति के जीवों को हो सकता है, किन्तु मनःपर्ययज्ञान मनुष्यगति में संयत जीवों के ही होता है। अवधिज्ञान का विषय सम्पूर्ण रूपी द्रव्य है (सर्व पर्याय नही), किन्तु मनःपर्ययज्ञान का विषय अवधिज्ञान के विषय से अनन्तवांभाग है। मनःपर्ययज्ञान पंचमकाल मे नही होता है, किन्तु अवधिज्ञान का होना सम्भव है।

केवलज्ञान :

'केवल' शब्द असहाय वाची है। जो ज्ञान असहाय अर्थात् इन्द्रिय और आलोक की अपेक्षा रहित है, त्रिकालगोचर अनन्तपर्यायो से समवायसम्बन्ध को प्राप्त अनन्त वस्तुओं को जानने वाला है, असंकुटित अर्थात् सर्वव्यापक है और असपत्न अर्थात् प्रतिपक्षी रहित है उसे केवलज्ञान कहते हैं। केवलज्ञान का कोई भेद नही है। केवलज्ञान गुण नहीं, पर्याय है। मोह तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट होता है।

केवलज्ञान के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य :

तीनोंकालरूप तीन भेद जिसमें किये जाते हैं ऐसे समस्त पदार्थों की ज्ञेयाकाररूप विविधता को प्रकाशित करने का स्थानभूत केवलज्ञान चित्रित दीवार की भांति स्वयं ही अनन्तस्वरूप परिणमित होता है, इसलिए केवलज्ञान (स्वयं) ही परिणमन है। अन्य परिणमन है नहीं जिससे कि केवलज्ञान सर्व पदार्थों को जानते हुए खेद को प्राप्त हो।

केवलज्ञान सर्व द्रव्यों की त्रिकालवर्ती पर्यायों को युगपद् सर्वांग से टंकोत्कीर्णवत् जानता है। केवलज्ञान में समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्याये तात्कालिक पर्यायों के समान विशिष्टतापूर्वक वर्तती हैं। यह लोकालोक स्वभाव से ही अनन्त है उससे भी यदि अनन्तानन्त विश्व है तो उसको भी जानने की सामर्थ्य केवलज्ञान में है ऐसा अपरिमित माहात्म्य केवलज्ञान में पाया जाता है। केवलज्ञान दिव्यज्ञान है इसीलिए उसमें नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायें भी प्रतिबिम्बित होती हैं।

इसप्रकार अर्हन्तदर्शन में कथित 'ज्ञान' के लक्षण-भेद प्रभेदों का वर्णन आगम के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया है। आत्मा का ज्ञानगुण ही प्रधान गुण है और सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान जो कि युगपद् उत्पन्न होते हैं उन पूर्वक सम्यक्चारित्र से मुक्ति प्राप्त होती है अतः ज्ञान की समीचीनता के लिए सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए, क्योंकि समीचीन साधना ही आत्म सौख्य प्रदात्री है। ज्ञान सामान्य तो प्रत्येक प्राणी में होता है, किन्तु सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। मोक्षमार्ग में मतिज्ञान-श्रुतज्ञान अनिवार्य है उसके बिना केवलज्ञानपूर्वक मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती। अवधि-मन:पर्ययज्ञान की मोक्षमार्ग में अनिवार्यता नहीं है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में कारणभूत वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश रूप पांच प्रकार के स्वाध्याय को ही महापुराणकार जिनसेन स्वामी ने सम्यग्ज्ञान की भावनाएँ कहा है अतः उनको भाने अर्थात् निरन्तर स्वाध्याय करने से सम्यग्ज्ञान में दृढ़ता प्रदान होती है और वह द्रव्यश्रुत का अभ्यास भावश्रुतपूर्वक केवलज्ञान का कारण होता है।

प्रस्तुत निबन्ध में कथित पांच ज्ञानों में से एक जीव के एक साथ एक को आदि लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं। यदि एक ज्ञान होगा तो वह केवलज्ञान ही होगा। मति-श्रुत ये दोनों युगपत् सदा साथ रहते ही हैं। यदि तीन ज्ञान होंगे तो मति-श्रुत-अवधि या मति-श्रुत-मन:पर्ययज्ञान होंगे। मति-श्रुत-अवधि और मन:पर्ययज्ञान ये चारों एक साथ भी हो सकते हैं। इस निबन्ध में जैनाचार्यों द्वारा मान्य 'ज्ञान' का अनुशीलन ही उद्देश्य था अत: अर्हन्तदर्शन के अन्तर्गत जैनाचार्यों द्वारा विरचित आगमग्रन्थों के आधार से उक्त विवेचन संक्षिप्त मे लिखा गया है विशेष जिज्ञासुओं को आर्षग्रन्थ देखना चाहिए। इत्यलं।

उपकार को भूल जाना नीचता है, क्योंकि सब दोषों से कलङ्कित मनुष्य का उद्धार तो हो सकता है, किन्तु अभागे अकृतज्ञ (कृतघ्नी) का कभी उद्धार नहीं होता अतः जन्म जन्मान्तर तक भी किसी के द्वारा अपने प्रति किये गए उपकार को विस्मरण नहीं करना चाहिए। हाँ! अपने द्वारा की गई भलाई के बदले यदि कोई बुराई करता है तो उसे शीघ्र ही भुला देना बड़प्पन का चिन्ह है।

दार्शनिक जगत् को जैनदर्शन की अद्वितीय अनुपम देन

अनेकान्त-स्याद्वाद-सप्तभङ्गी

❖ मुनि श्री वर्धमानसागरजी

[प. पू. आ. क. १०८ श्रुतसागरजी संघस्थ]

भारतवर्ष सदा से एक दार्शनिक देश रहा। वस्तु अनेक धर्मात्मक है उसके एक-एक धर्म का ऐकान्तिकरूप से विभिन्न व्यक्तियों ने चिन्तन किया जिससे अनेक दर्शनों का आविर्भाव हुआ। दर्शन शब्द का अर्थ है, जिसके द्वारा देखा जावे अर्थात् जिसके द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार हो जावे। भारत में दर्शन की उत्पत्ति चरम मूल्यांकन के लिए हुई और यहां के दर्शनकार अपनी सूक्ष्म और तलस्पर्शी विवेचना-शक्ति के द्वारा चरमलक्ष्य को निर्धारित कर उसके साधन मार्ग की व्याख्या में प्रवृत्त होते रहे हैं और उसके लिए ही दार्शनिक तत्त्वों का पर्यालोचन करते रहे हैं। अतः दर्शन को दृष्टि कहना उपयुक्त ही है। भारतवर्ष में अनेकदृष्टियां उत्पन्न हुई और प्रायः सभी दार्शनिकों ने अपनी-अपनी दृष्टियों से जीवन और जगत् की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया है। ये दृष्टियां दो प्रकार की हैं—एकान्त और अनेकान्त। प्रथमदृष्टि वस्तु तत्त्व का एकान्तदृष्टि से विचार करती है और दूसरी अनेकान्तदृष्टि से। एकान्तदृष्टि में आग्रह होने से वह राग-द्वेष को जन्म देनेवाली है। इससे विपरीत अनेकान्तदृष्टि वस्तु तत्त्व को समग्ररूप से विवेचन करती हुई वस्तु के अशेष स्वरूप का साक्षात्कार कराती है।

दर्शनशास्त्र का विषय है, चित्त-अचित्तरूप इस अखिलविश्व की जटिल व्यवस्था का अनुशीलन करके, उसमें से अनेकों उपयोगी तथ्यों को खोज निकालना। अतः भौतिक-विज्ञान के समान दर्शनशास्त्र भी एक विज्ञान है। आज के वैज्ञानिक युग में यह सिद्ध करने की आवश्यकता नही है कि वस्तु, चाहे जड़ हो या चेतन, अनेकों शक्तियों व धर्मों का संग्रहीत अखण्डरूप है। उसकी अनन्तशक्तियों व धर्मों में से अनेक परस्पर सहयोगी हैं और अनेक परस्पर विरोधी। एक ही अणु में जहां आकर्षणशक्ति विद्यमान है, वहां उसमें विकर्षणशक्ति भी अपना समान अस्तित्व रखती है। उसमें जहां संहारकारी शक्ति विद्यमान है वहीं उसमें निर्माणकारी शक्ति भी है। द्रव्य-क्षेत्र-काल व प्रयोजनवश उसकी कुछ शक्तियां प्रधान हो जाती हैं और कुछ गौण। रात्रि के समय मार्ग देखने के लिए अग्नि की प्रकाशकत्व शक्ति प्रधान होती है तथा उसकी दाहकत्व आदि शक्तियां गौण। इसीप्रकार भोजन पकाते समय उसकी पाचकत्व शक्ति, ईन्धन जलाते समय उसकी दाहकत्वशक्ति प्रधान होती है। इसीप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और प्रयोगविधि के अनुसार एक ही वस्तु कभी उपयोगी और कभी अनुपयोगी हो जाती है। अतः यह सिद्ध है कि किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में एकान्तरूप से कोई एक ही धारणा बनाना या बात कह देना योग्य नहीं है।

यह विश्व भेदाभेद नित्यानित्य, अस्तित्व-नास्तित्व और वाच्यावाच्य के नियमों से श्रृंखलित है। कोई भी द्रव्य सर्वथा भिन्न नहीं है और कोई भी सर्वथा अभिन्न नहीं है। कोई भी द्रव्य सर्वथा नित्य नहीं है और कोई भी सर्वथा अनित्य नहीं है। कोई भी द्रव्य सर्वथा अस्ति नही है और कोई भी द्रव्य सर्वथा नास्ति नहीं है। कोई भी द्रव्य सर्वथा वाच्य नहीं है और कोई भी द्रव्य सर्वथा अवाच्य नहीं है। जो द्रव्य है, वह सत् है। वह भिन्न भी है-अभिन्न भी है, नित्य भी है-अनित्य भी है, अस्ति भी है-नास्ति भी है, वाच्य भी है-अवाच्य भी है। *इन सहज सम्भूत नियमों को समझने का जो दृष्टिकोण है वह अनेकान्त है।*

जैनदर्शन का मेरुमणि अनेकान्त :

अनेकान्तवाद जैनसंस्कृति का, तत्त्वज्ञान-निरूपण का मूलाधार स्तम्भ है। अनेकान्तवाद को हम वैचारिक अहिंसा कह सकते हैं। जैनदर्शन में जो भी तत्त्वप्रतिपादन किया गया है वह अनेकान्त के परिप्रेक्ष्य में ही किया गया है। अनेकान्त जैनदर्शन की अपनी मौलिक विशेषता है। एक ही पदार्थ में भिन्न-भिन्न यथार्थ धर्मों को सापेक्षरूप से स्वीकार करने का नाम 'अनेकान्त' है।

जैनदर्शन में एक ही दृष्टि की अपेक्षा पदार्थ का पर्यालोचन करना एकाङ्गी, अधूरा एवं अप्रामाणिक माना है तथा एक ही वस्तु के विषय मे भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से कथन करने की पद्धति पूर्ण तथा प्रामाणिक है। इस सापेक्ष विचार पद्धति को वस्तुतः अनेकान्तवाद कहा जाता है। अनन्तधर्मात्मक वस्तु को यदि कोई एक ही धर्म मे सीमित करना चाहे, किसी एक धर्म के द्वारा होने वाले ज्ञान को ही वस्तु का ज्ञान समझ बैठे तो इसमे वस्तु का यथार्थ स्वरूप बुद्धिगत नही हो सकता। कोई भी कथन अथवा विचार निरपेक्ष स्थिति में सत्यात्मक नही हो सकता। सत्य होने के लिए उसे अपने से अन्य विचार-पक्ष की अपेक्षा रखनी पड़ती है।

अनेकान्त की यह सर्वोपरि विशेषता है कि वह किसी वस्तु के एकपक्ष को पकड़कर यह कभी नही कहता कि वस्तु एकान्ततः ऐसी ही है। वह 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करता है अर्थात् वह कहता है कि अमुक अपेक्षा वस्तु का स्वरूप ऐसा भी है। 'ही' में वस्तु स्वरूप के अन्य सत्पक्षों को अस्वीकारा जाता है जबकि 'भी' वस्तु के अन्य सत्पक्षों को स्वीकार करती है। *'आत्मा एकान्ततः-सर्वथा नित्य ही है'* यह सांख्यदर्शन की मान्यता है। वह आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है। इससे विपरीत बौद्धदर्शन आत्मा को सर्वथा क्षणिक (अनित्य) मानता है। इन दोनों दर्शनों की मान्यता मे पूर्व-पश्चिम का सा अन्तर है। यदि आत्मा एकान्ततः नित्य ही है तो नारक, देवता, पशु और मनुष्य के रूप मे परिवर्तन क्यो होता है आत्मा में? कूटस्थ नित्य में तो किसी भी प्रकार पर्याय परिवर्तन अथवा हेर-फेर नही होना चाहिए, किन्तु परिवर्तन होता है। अतः आत्मा को कूटस्थ (सर्वथा) नित्य ही मानना भ्रान्ति है। यदि आत्मा सर्वथा अनित्य ही है तो यह वस्तु वही है जो मैंने पहले देखी थी ऐसा एकत्व-अनुसन्धनात्मक प्रत्यभिज्ञान नही होना चाहिए, किन्तु इसप्रकार का प्रत्यभिज्ञान तो अबाधरूप से होता है। अतः आत्मा सर्वथा अनित्य ही है यह मान्यता भी दोष युक्त है। इसप्रकार जितने भी एकान्तवादी दर्शन हैं, वे सब वस्तुस्वरूप के सम्बन्ध में एकपक्ष को ही सर्वथा मुख्य करके किसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं। वस्तु स्वरूप के विविध पहलुओ को विविध दृष्टिकोणो से विचार करने की कला प्रायः उनके पास नहीं होती। अनेकान्त दृष्टि से आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है, क्योंकि नित्य-अनित्य धर्म द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय सापेक्ष है। अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से आत्मा नित्य और पर्यायार्थिकनय से आत्मा अनित्य है। इसप्रकार यहां दृष्टान्तस्वरूप मात्र आत्मद्रव्य के सम्बन्ध में संक्षिप्त विचार किया गया है, अन्य समस्त पदार्थों का अनन्तधर्मात्मकपना अनेकान्तदर्शन के परिप्रेक्ष्य निर्बाध सिद्ध है।

अनेकान्त छल नहीं है :

शंका—वही वस्तु है और वही वस्तु नही, वही वस्तु नित्य है और वही वस्तु अनित्य है इत्यादि अनेकान्तका प्ररूपण छल मात्र है।

समाधान—अनेकान्त छलरूप नहीं है, क्योंकि, जहां वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करके वचनविघात किया जाता है वहां छल होता है। जैसे 'नवकम्बलो देवदत्तः' यहां 'नव' शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक ९ संख्यारूप और दूसरा नया। तो 'नूतन' विवक्षा से कहे गये नव शब्द का ९ संख्यारूप अर्थविकल्प करके वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना छल कही जाती है, किन्तु सुनिश्चित मुख्य-गौण विवक्षा से सम्भव अनेक धर्मों का सुनिर्णीत रूप से प्रतिपादन करनेवाला अनेकान्तवाद छल नही हो सकता, क्योकि इसमे वचन-विघात नही किया गया है, अपितु यथावस्थित वस्तुतत्त्व का निरूपण किया गया है।

अनेकान्त संशयवाद नहीं है :

शंका—अनेकान्तवाद के सम्बन्ध में जैनेतर दार्शनिक जगत् में अनेकों भ्रान्तियां फैली हुई हैं। किन्हीं का विचार है कि अनेकान्तवाद संशयवाद है, क्योंकि एक आधार में अनेक विरोधी धर्मों का रहना असम्भव है।

समाधान—नहीं, क्योंकि अनेकान्त के सम्बन्ध मे इसप्रकार का कथन सत्य से सर्वथा परे है। संशय तो उसे कहते हैं जो किसी भी बात का निर्णय न कर सके। अंधेरे में पड़ी किसी वस्तु को देखकर मन में यह विचार करना कि यह रस्सी है या साप अथवा पुरुष है या स्थाणु ? इस अनिर्णीत स्थिति को संशय कहते हैं। जैसे धुंधली रात्रि मे स्थाणु और पुरुषगत ऊंचाई आदि सामान्य धर्म की प्रत्यक्षता होने पर स्थाणुगत पक्षी-निवास, व कोटर तथा पुरुषगत सिरखुजाना, कपड़ा हिलना आदि विशेष धर्मों के न दिखने पर, किन्तु उन विशेषों का स्मरण रहने पर ज्ञान दो कोटि में दोलित हो जाता है कि यह स्थाणु है या पुरुष, बस, यही संशय है। अनेकान्तवाद में तो संशय जैसी कोई स्थिति नही है वह तो संशय का मूलोच्छेद करनेवाला निश्चितवाद है। 'अनेकान्तवाद' अपेक्षा की दृष्टि से अपनी बात जोर देकर 'ही' पूर्वक कहता है, जैसे—आत्मा द्रव्यदृष्टि से नित्य ही है, पर्यायदृष्टि से अनित्य ही है। द्रव्यदृष्टि से आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है अथवा पर्यायदृष्टि से आत्मा अनित्य भी है नित्य भी है ऐसे अनिश्चयात्मक घपले की बात अनेकान्तवाद कभी भी नही कहता है। अतः जैनदर्शन का अनेकान्तवाद 'संशयवाद' नही प्रत्युत वस्तुतत्त्व का यथार्थ निर्णय करने वाला सुनिश्चितवाद है।

अनेकान्त असत्समन्वयवाद नहीं है :

आधुनिक शिक्षा के वातावरण मे पले हुए विचारकों का कहना है कि अनेकान्तवाद कोरा समन्वयवाद है। उनका यह कथन एक विशुद्धभ्रान्ति से अधिक महत्त्व नहीं रखता। अनेकान्तवाद एक ही पदार्थ मे अनन्त धर्मों को स्वीकार करता है, इस अपेक्षा से उसे वस्तु के समस्त धर्मो का समन्वय करनेवाला कह दिया जावे तो यह दृष्टिकोण अनेकान्तदृष्टि का दूषण नहीं, भूषण है, किन्तु एकान्तवाद की मूलभित्ति पर खड़े किये गए सब धर्म, सब धर्ममार्ग सच्चे है सब धर्ममार्ग मोक्ष के साधन है, यह कहना सत्य का गला घोटना है। एकान्त और अनेकान्त का तो अन्धकार तथा प्रकाश की तरह शाश्वत-विरोध है। अनेकान्त का समन्वय सत्य की शोध पर आधारित होता है, सत्य के अनुकूल होता है, असत्य के साथ उसका समझौता कभी हो नही सकता, अन्ध समन्वय जीवन मे बेमेल उत्पन्न कर देगा।

अनेकान्तवादी का वस्तु में पाये जाने वाले अनन्तधर्मों का सर्व-धर्म-समन्वय एक भिन्न कोटि का होता है, वह सत्य को सत्य और असत्य को असत्यरूप में देखता है, मानता है और असत्य का परिहार तथा सत्य का स्वीकार करने के लिए सतत उद्यत रहता है असत्य का पक्ष न करना और सत्य के प्रति सदा जागरूक रहना ही अनेकान्तवादी की सच्ची मध्यस्थदृष्टि है।

जैनागम में आचार्यों ने तत्त्वनिर्णय के क्षेत्र में ही अनेकान्त का प्रयोग किया है। अनेकान्त के माध्यम से तत्त्व निर्णय कर एकान्तरूप मिथ्यात्व से अपनी रक्षा करना ही श्रेयस्कर है। आचारमार्ग में अनेकान्त का

प्रयोग कदापि उचित नहीं होगा। ऐसा कदापि नहीं कहा जा सकता है कि हिंसा में धर्म भी है अधर्म भी है यह तो अनेकान्त की ओट में अपनी मनोदुष्प्रवृत्ति का प्रकटीकरण ही होगा।

स्याद्वाद :

स्याद्वाद शब्द 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दों का यौगिकरूप है। स्यात् शब्द का लक्षण करते हुए इस वृहद् नयचक्र में कहा गया है कि—

"णियमणिसेहणसीलो णिपादणादो य जोहु खलु सिद्धो।
सो सियसद्दो भणिश्रो जो सावेक्खं पसाहेदि ॥२५१॥"

'जो नियम का निषेध करनेवाला है, निपात से जिसकी सिद्धि होती है, जो सापेक्षता की सिद्धि करता है वह स्यात् शब्द कहा गया है।' वाद का अर्थ है कथन करना। अर्थात् अनेकान्तमयी वस्तु का कथन करने की पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं। किसी भी एक शब्द के द्वारा या वाक्य के द्वारा सम्पूर्ण वस्तु का युगपत् कथन करना अशक्य होने से प्रयोजनवश कभी एकधर्म को मुख्य करके कथन करते हैं और कभी दूसरे को। मुख्यधर्म को सुनते हुए श्रोता को अन्यधर्म भी गौणरूप से स्वीकार होते रहें उनका निषेध न होने पावे इस प्रयोजन से अनेकान्तवादी अपने प्रत्येक वाक्य के साथ 'स्यात्' या 'कथंचित्' शब्द का प्रयोग करता है। अतः स्याद्वाद को कथंचित्वाद भी कहा जाता है।

विचार करने की क्षमता ही मनुष्य को समग्र प्राणधारियों में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कराती है। मनुष्य स्वयं सोचता और स्वतंत्रतापूर्वक सोचता है। परिणामतः विचारों की विभिन्न दृष्टियां जन्म लेती है। एक ही वस्तु के बारे में विभिन्न व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोणों से देखकर उसके समग्रस्वरूप को समझने की ओर उन्मुख नहीं होते जिसके फलस्वरूप ऐकान्तिक दृष्टिकोण एवं हठवादिता का वातावरण बनने लगता है और जो विचार सत्यज्ञान की ओर बढ़ा सकते थे, वे ही पारस्परिक समन्वय के अभाव में विद्वेषपूर्ण संघर्ष के जटिल कारणों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, इस संघर्ष का परिहार स्याद्वादसिद्धान्त करता है।

प्रत्येक पदार्थ में अनन्तधर्मों की सत्ता है। वह सत्ता उस पदार्थ में विद्यमान अन्य धर्मों की प्रतिरोधक नहीं है। स्याद्वाद उन अनन्तधर्मों की विद्यमानता का निश्चय कराता है और उसको बतलाने के लिए 'स्यात्' शब्द समस्त वाक्यों के साथ प्रगट या अप्रगटरूप से प्रयोग मे आता है अथवा सम्बद्ध रहता है। वस्तु और उसके विविध आयामों (धर्मों) का जानना उतना कठिन नही है, जितना शब्दों द्वारा उनका कथन करना कठिन है। एक ज्ञान अनेक धर्मों को एक साथ जान सकता है, किन्तु एक शब्द एकसमय में वस्तु के एक ही धर्म का आंशिक कथन कर सकता है। वह अनेक धर्मों मे से किसी एक धर्म का मुख्यता से वचन-व्यवहार करता है, क्योंकि अनेकधर्मात्मक वस्तु में जिस धर्म की विवक्षा होती है, वह धर्म मुख्य और इतर धर्म गौण कहलाता है। वक्ता के वचन-व्यवहार के दृष्टिकोण को समझने में श्रोता को कोई धोखा न हो, यह स्याद्वाद का हार्द (आशय) है।

पदार्थ सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य नहीं है, किन्तु परिणामी नित्य है। परिणामी नित्यका अर्थ है— प्रतिसमय निमित्तानुसार भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होते हुए भी अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करना। प्रत्येक पदार्थ (द्रव्य) अपनी जाति का (स्वभाव) त्याग किये बिना ही प्रतिसमय निमित्तानुसार परिवर्तन करता रहता है। यही द्रव्य का परिणाम कहलाता है। प्रत्येक द्रव्य में दो शक्तियां होती हैं— एक ऐसी जो तीनों कालों में शाश्वत है और दूसरी ऐसी जो सदा अशाश्वत है। शाश्वतता के कारण प्रत्येकवस्तु ध्रौव्यात्मक (स्थिर) और अशाश्वतता के कारण उत्पाद-व्ययात्मक (अस्थिर) कहलाती है।

स्याद्वाद और अनेकान्तवाद :

यह तो सुनिश्चित है कि जैनदर्शन एक वस्तु में अनन्तधर्म मानता है और उन धर्मों में से व्यक्ति अपने इच्छित धर्मों का समय-समय पर कथन करता है। वस्तु में कथन किये जा सकने वाले वे सभी धर्म विद्यमान हैं।

वस्तु अनन्त या अनेक धर्मों के कारण ही अनन्तधर्मात्मक या अनेकान्तात्मक कही जाती है। उसी अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

यद्यपि अनेकान्तवाद का पर्यायवाची स्याद्वाद स्थूल रूप से कहा जाता है, तथापि दोनों में यह अन्तर है कि अनेकान्तवाद तत्त्व के चिन्तन को निर्दोष घोषित करता है और स्याद्वाद उसको व्यक्त करने की भाषा दोष से बचाता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि अनेकान्तवाद पूर्वक स्याद्वाद होता है, क्योंकि निर्दोष चिन्तन के बिना दोष मुक्त भाषा का प्रयोग सम्यक् रीति से नही होता। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद उसका वाचक। अनेकान्तात्मक वस्तु-तत्त्व को भाषा द्वारा प्रतिपादन करने का नाम ही स्याद्वाद है। स्याद्वाद अनेकान्त का ही विकास मात्र है।

सप्तभङ्गी :

सप्तभङ्गी का अर्थ है सात वाक्यों का समूह अर्थात् एक प्रश्न का सात ढंग से उत्तर। किसी प्रश्न का उत्तर या तो 'हां' में दिया जाता है या 'नहीं' में। 'हां' और 'नहीं' के औचित्य को लेकर ही 'सप्तभंगी' वाद की रचना हुई है। किसी भी पदार्थ के लिए अपेक्षा के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए सात प्रकार के वचनों का प्रयोग किया जाता है।

"एकस्मिन् वस्तुनि प्रश्नवशाद् दृष्टेनेष्ट च प्रमाणेनाविरुद्धा विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी विज्ञेया।" प्रश्न के वश से एक ही वस्तु में अविरोधरूप से विधि-प्रतिषेध कल्पना ही 'सप्तभंगी' है। किसी भी पदार्थ के विषय में सात ही प्रकार के प्रश्न हो सकते हैं अतः सप्तभंगी कही गई है। सात ही प्रकार के प्रश्नों का कारण है कि जिज्ञासा सात ही प्रकार की होती है, क्योंकि किसी भी पदार्थ के सम्बन्ध में सात प्रकार से ही सशय होता है। अत: यह निर्बाध सिद्ध है कि सप्तभंगी के सात भंग केवल शाब्दिक कल्पना नही है किन्तु वस्तु के धर्म विशेष पर आश्रित हैं। सप्तभंग इस प्रकार हैं—

"सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥ पंचास्तिकाय, गाथा १४ ॥

"आदेश (कथन) के वश द्रव्य वास्तव में स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यादवक्तव्य, और अवक्तव्यता युक्त तीन भंगवाला (स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य और स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य) इसप्रकार सातभंग वाला है।"

शंका--भंग सात ही नही होते हैं, किन्तु अधिक भी हो सकते हैं—जैसे कि प्रथम और तृतीय विकल्पों का एक साथ उल्लेख करने से नया भंग बन सकता है इसीप्रकार सातों भंगो में से एक-दूसरे के साथ दो-दो या तीन-तीन भंग के जोड़ने से और भी नवीनभंग बन सकते है?

समाधान—प्रथम और तृतीय भग को मिलाने से उत्पन्न नवीन भंग के अनुसार नवीन वाच्य पदार्थ की प्रतीति लोक में नहीं पाई जाती। इसीप्रकार अन्य भंग के लिए भी समझना चाहिये। ऐसी अवस्था में सात से अधिक भंगों की उत्पत्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

इसप्रकार एक धर्म के आधार से सात ही भंग बनते है, किन्तु पदार्थ अनन्तधर्मात्मक हैं अतः अनन्त सप्तभंगियां भी बन सकती है, किन्तु भंगों को मर्यादा सात ही हैं।

शंका—माना कि सप्त भंग से अधिक भंग नही हो सकते, किन्तु उनसे कम तो हो सकते हैं? क्योंकि जो घटस्वरूप से सत् है। वही अन्य पटादि रूप से असत् भी है, इसलिए 'स्यादस्त्येव' तथा 'स्यान्नास्त्येव' ये दो धर्म घटित नही हो सकते। इन दोनों का एक-दूसरे मे समावेश हो जाता है। अत: इन दो भंगों में से किसी एक भंग को मान लो, दूसरे की आवश्यकता नही है।

समाधान—यह कथन अयोग्य है, क्योंकि सत्त्व और असत्त्व दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं, जो सत्त्व है वह असत्त्व नहीं हो सकता और जो असत्त्व है वह सत्त्व नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में दोनों को अलग-अलग ही मानना चाहिये। अगर इन्हें एक दूसरे से पृथक् नही माना जावेगा तो स्वरूप से सत्व ग्रहण के सदृश पररूप से भी सत्त्व मानने का प्रसंग आ जावेगा और पर रूप से असत्त्व के समान स्वरूप से भी असत्त्व ग्रहण का प्रसंग आ जावेगा। साथ ही बौद्ध जो त्रिरूप हेतु तथा नैयायिक पचरूप हेतु मानते हैं वे भी सत्त्व और असत्त्व की अपेक्षा से ही मानते हैं। अर्थात् हेतु का सपक्ष में पाया जाना यह सत्त्व की अपेक्षा से और विपक्ष में न पाया जाना यह असत्त्व की अपेक्षा से माना है। उन्होने भी सत्त्व और असत्त्व को भिन्न-भिन्न ही माना है। यदि ऐसा न मानकर सत्त्व और असत्व में से किसी एक को ही मानते तो त्रिरूप व पंचरूप हेतु की हानि होती अतः उनके सिद्धांत से भी सत्त्व का भेद ही सिद्ध होता है।

शंका—सत्त्व और असत्त्व को भले ही भिन्न-भिन्न मान लें, किन्तु सत्त्वासत्त्व स्वरूप तीसरे भंग को पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि जैसे घट और पट इन दोनो को पृथक्-पृथक् कहने पर या एकसाथ उभयरूप से घट-पट कहने पर भी घट-पट का ज्ञान होता है, भिन्न ज्ञान नहीं होता अतः 'स्यादस्ति और स्यान्नास्ति' मानने के बाद तीसरा भंग अस्ति-नास्ति मानना व्यर्थ है।

समाधान—प्रत्येक की अपेक्षा उभयरूप समुदाय का भेद अनुभव सिद्ध है। जैसे भिन्न घ और ट की अपेक्षा से समुदायरूप 'घट' इस पद को सब वादियों ने भिन्न माना है। यदि भिन्न नहीं माना जावे तो 'घ' इतना कहने मात्र से ही 'घट' का बोध हो जाना चाहिए। जिसप्रकार प्रत्येक पुष्प की अपेक्षा से माला कथंचित् भिन्न है उसी प्रकार क्रमार्पित उभयरूप सत्त्व असत्त्व और असत्त्व की अपेक्षा से कथंचित् भिन्न ही हैं।

शंका—क्रम से योजित सत्त्व-असत्त्व उभयरूप की अपेक्षा से सहयोजित सत्त्व-असत्त्व इस उभयरूप का भेद कैसे सिद्ध हो सकता है?

समाधान—क्रम से योजित कल्पना सहयोजित कल्पना से भिन्न ही है, क्योंकि पूर्वकल्पना में पदार्थ की पर्याएं क्रम से कही जाती हैं, जबकि उत्तर कल्पना मे युगपद् उन पर्यायों का कथन है, यदि भेद नहीं माना जावेगा तो पुनरुक्ति दोष की सम्भावना रहेगी, क्योंकि एक वाक्यजन्य जो बोध है, उसी बोध के समान बोधजनक यदि उत्तरकाल का वाक्य हो तो यही पुनरुक्ति दोष है। यहा पर क्रम से योजित तृतीयभंग है और अक्रम से योजित चतुर्थभंग है। तृतीयभंग के द्वारा उत्पन्न ज्ञान-विकल्प, अस्तित्व के साथ नास्तित्वरूप स्थिति को बतलाता है। इसप्रकार से स्वयंसिद्ध है कि तृतीय और चतुर्थभंग से उत्पन्न ज्ञानों में समान आकारता नहीं है अतः दोनों भंग पृथक्-पृथक् ही है।

इसप्रकार और भी अनेक प्रकार से शंका-समाधान के द्वारा जैनदर्शन में यह निर्बाध सिद्ध किया गया है कि सात ही प्रकार की जिज्ञासा के उत्तर स्वरूप सात ही भंग हैं न अधिक है और न कम ही हैं।

सप्तभंगी के प्रमाण और नय सप्तभङ्गीरूप दो भेद है। प्रमाणवाक्य को सकलादेश वाक्य अर्थात् सम्पूर्णरूप से पदार्थों का ज्ञान कराने वाला वाक्य कहते हैं और नयवाक्य को विकलादेश अर्थात् एक अंश से पदार्थों का ज्ञान कराने वाला वाक्य कहते हैं।

इस सकलादेश में प्रत्येक धर्म की अपेक्षा निम्नप्रकार सप्तभङ्गी होती है—

१. स्यादस्त्येव जीवः २. स्यान्नास्त्येव जीवः ३. स्यादवक्तव्य एव जीवः ४. स्यादस्ति च नास्ति च ५. स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च ६ स्यान्नास्ति च अवक्तव्यश्च। ७. स्यादस्ति नास्ति च अवक्तव्यश्च। इसप्रकार ये सातों भंग सकलादेश कहे जाते हैं। यह सकलादेश प्रमाणाधीन है। अर्थात् प्रमाण के वशीभूत हैं, प्रमाणाश्रित हैं या प्रमाणजनित हैं ऐसा जानना चाहिए।

घट है ही, घट नहीं ही है, घट है ही और नहीं ही है, घट अवक्तव्यरूप है, घट है ही और अवक्तव्य ही है, घट नहीं ही है और अवक्तव्य ही है, घट है ही नहीं, ही है और अवक्तव्यरूप है इसप्रकार यह विकलादेश है। यह विकलादेश नयाधीन है, नय के वशीभूत है या नय से उत्पन्न होता है।

एव पद की सार्थकता :

सामान्यत: शब्द विधिरूप से ही अर्थ का बोध कराते हैं, किन्तु संशय अनिश्चय, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों की निवृत्ति के लिए एवं अन्य की व्यावृत्ति के लिए सप्तभंगी वाक्यों में 'एव' शब्द का प्रयोग अनिवार्यत: किया जाता है।

स्यात् शब्द का प्रयोजन :

सप्तभंगी वाक्य रचना में जितना 'एव' शब्द का महत्त्व है उतना ही 'स्यात्' शब्द का भी महत्त्व है। अनेकान्त, विधि, विचार आदि अनेक अर्थों में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु यहां पर केवल अनेकान्त के अर्थ में ही 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया है। अनेकान्त अर्थात् अनेक धर्मस्वरूप।

इसप्रकार जैनदर्शन में वस्तु स्वरूप सम्बन्धी वैचारिक शुद्धि के लिए अनेकान्तवाद और वचनशुद्धि के लिए स्याद्वाद शैली जैनाचार्यों की दार्शनिकजगत् को अद्वितीय अनुपम देन है। अनेकान्त जैनदर्शन का मेरुमणि है। एक ओर अनेकान्त ने दार्शनिक जगत् को और विशेषकर भारतीयदर्शन को स्पष्ट और संतुलित दृष्टि दी है तो स्याद्वाद और सप्तभङ्गी ने जिनेन्द्रभारती के वैभव को सापेक्ष सत्य कथन के सौन्दर्य से अलंकृत किया है।

जिन लोगों को अपनी कीर्ति की इच्छा है वे अपने राई के समान छोटे-छोटे दोषों को भी ताड़ वृक्ष के बराबर समझें और स्वयं को दुर्गुणों से बचाने में सदा सचेत रहें, क्योंकि वे (दुर्गुण) ऐसे शत्रु हैं जो हमारा सर्वनाश कर डालेंगे।

नयचक्र

❖ डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

धवला के प्रारम्भ में वीरसेन स्वामी ने नयों की उपयोगिता बतलाते हुए कहा है "नयैर्विना लोकव्यवहारानुपपत्तेर्नया । उच्यन्ते तद्यथा, प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो नयः । स द्विविधः द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च ।

णत्थि णएहि विहूणं सुत्तं अत्थोव्व जिणवरमवम्हि ।
तो णयवादे णिउणा मुणिणो सिद्धंतिया होंति ।।

अर्थात् नयों के बिना लोकव्यवहार नहीं चलता, इसलिए नय कहे जाते हैं । प्रमाण के द्वारा परिगृहीत वस्तु के एकदेश को जानने वाला ज्ञान नय है । वह दो प्रकार का है, एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक । जिनेन्द्र भगवान के मत में नयों से रहित न शास्त्र है और न पदार्थ है । अतः नयवाद मे निपुण मुनि ही सैद्धान्तिक होते है ।

संसार के प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक अथवा द्रव्य-पर्यायात्मक हैं । उनके दोनों अंशों को जानने के लिए दो नयों का विवेचन आवश्यक है । यही कारण है कि जिनागम में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के नाम से दो मूल नय माने गये हैं । श्री माइल्लधवल ने अपने नयचक्र में कहा है—

'दो चेव य मूलणया भणिया दव्वत्थ पज्जयत्थगया ।
अण्णे असंखसंखा ते तब्भेया मुणेयव्वा' ।।१८३।।

अर्थात् मूल नय दो ही कहे गये हैं । १. द्रव्यार्थिक और २. पर्यायार्थिक। इनके सिवाय जो संख्यात-असंख्यात नय हैं वे इन्ही के भेद जानना चाहिए ।

द्रव्यार्थिकनय के नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन भेद हैं और पर्यायार्थिक नय के ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये चार भेद हैं । विवक्षावश इन सात नयों का अर्थनय और शब्दनय इन दो विभागों में भी विभाजन किया गया है । इस विभाजन में नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रनय अर्थनयों में परिगणित किये जाते हैं और शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत शब्दनयों में सम्मिलित किये जाते हैं ।

तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वामी आचार्य ने जीवादि पदार्थों के जानने के उपायों की चर्चा करते हुए सर्वप्रथम "प्रमाणनयैरधिगमः" सूत्र द्वारा प्रमाण और नय की ही

---

१ णिच्छयववहारणया मूलमभेयाण याण सव्वाण ।
णिच्छयसाहणहेओ दव्वयपज्जत्थिया मुणह ।।४।। आलापपद्धति. ।।

चर्चा की है। प्रमाण के द्वारा वस्तु में रहने वाले परस्पर विरोधी अनेक धर्म जाने जाते हैं और नय के द्वारा विरोधी धर्म को गौण कर प्रधानता से किसी एक धर्म को जाना जाता है। जैसे प्रमाण, वस्तु के नित्य और अनित्य दोनों धर्मों को ग्रहण करता है, परन्तु नय प्रयोजनवश एक को मुख्य और दूसरे को गौणकर ग्रहण करता है। नय वचनात्मक परार्थ श्रुतज्ञान के भेद हैं इसलिए इसमें प्रयोजन की ओर दृष्टि रखना आवश्यक होता है। सल्लेखना से बैठे हुए साधक को मरण भय से मुक्त करने के लिए निर्यापकाचार्य नित्यधर्म को प्रधान मानकर उपदेश देते हैं कि आत्मा अजर-अमर है पर्याय के परिवर्तन से आत्मा परिवर्तित होने वाली नहीं है और विषय वासना में आसक्त जीव का उद्धार करने के लिए श्रीगुरु देशना देते है कि ससार के प्रत्येक पदार्थ नश्वर हैं अतः समय रहते आत्महित कर लेना चाहिए। समन्तभद्रस्वामी ने 'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्" इस उक्ति के द्वारा विरोधी धर्म से निरपेक्ष नय को मिथ्यानय कहा है और सापेक्ष नय को यथार्थ तथा कार्यकारी नय बतलाया है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय को अध्यात्मग्रन्थों में निश्चय और व्यवहार नाम से कहा गया है। वहां निश्चयनय की परिभाषा "स्वाश्रितो निश्चयः" और व्यवहारनय की परिभाषा 'पराश्रितो व्यवहारः' स्वीकृत की गई है। जिसमें परद्रव्य से निरपेक्ष स्वद्रव्य का ही ग्रहण होता है वह निश्चयनय है और परद्रव्य के सहयोग से होने वाले परिणमन को स्वद्रव्य का परिणमन कहा जाता है वह व्यवहारनय है। उदाहरण के लिए 'आत्मा ज्ञायक स्वभाव है' यह निश्चय का दृष्टान्त है और 'आत्मा रागी-द्वेषी है' यह व्यवहार का दृष्टान्त है। ज्ञायक स्वभाव आत्मा का स्वाश्रित परिणमन है और रागी-द्वेषी होना पराश्रित परिणमन है। लौकिक भाषा मे 'नमक खारा है' यह नमक का स्वाश्रित परिणमन है और 'दाल खारी है' यह दाल का पराश्रित परिणमन है।

भूतार्थ और अभूतार्थ :

निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा जाता है। निश्चयनय को भूतार्थ इसलिए कहा जाता है कि वह अन्य द्रव्य में अन्यद्रव्य के परिणमन को स्वीकृत नही करता और व्यवहार को अभूतार्थ इसलिए कहा जाता है कि वह अन्य द्रव्य के परिणमन को अन्य द्रव्य में सम्मिलित कर कथन करता है। अभूतार्थ होने पर भी जिनागम में व्यवहार को इसलिए स्थान दिया गया है कि उसके द्वारा साधारण मनुष्य निश्चय को ग्रहण करने में समर्थ हो सकते है। जिनागम में व्यवहार को साधक और निश्चय को साध्य के रूप मे निरूपित किया गया है, किन्तु आगे चलकर निश्चय और व्यवहार दोनों ही निर्वृत्त हो जाते है। इसीलिए कहा गया है कि वस्तु न निश्चयरूप है और न व्यवहार रूप। वह तो इन दोनो पक्षो से रहित है। प्रारम्भिक दशा में वस्तु स्वरूप को समझने के लिए ही इनका आलम्बन लिया जाता है। वस्तु का परिज्ञान होने पर दोनों साधन अनावश्यक हो जाते है।

तात्पर्य यह है कि वस्तु स्वरूप की विवेचना के लिए दोनों नयों का जानना आवश्यक है और जानना ही नहीं उनका अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार उपयोग करना भी आवश्यक है। कुन्दकुन्द स्वामी के निश्चयनय प्रधान समयप्राभृत आदि ग्रन्थों की टीका करने के पश्चात् अमृतचन्द्रस्वामी ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ में लिखा है—

'व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः॥'

अर्थात् जो व्यवहार और निश्चयनय को यथार्थरूप से जानकर मध्यस्थ होता है—एकान्तरूप से किसी एक पक्ष को स्वीकृत नहीं करता है वही शिष्य देशना के पूर्ण फल को प्राप्त होता है। यथार्थरूप से जानने का अर्थ यह है कि कहीं वह व्यवहाराभास को व्यवहार और निश्चयाभास को निश्चय तो नहीं समझ बैठा है? व्यवहाराभास को व्यवहार मानने वाला मनुष्य उसी में संलग्न होकर रह जाता है उसके माध्यम से होने वाले लक्ष्य की ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती और निश्चयाभास को निश्चय मानने वाला मानव व्यवहार को त्याज्य

समझकर तदाश्रित क्रियाकाण्ड को छोड़ देता है और निश्चय की साधना नहीं होने से दोनों ओर से भ्रष्ट होता है। ऐसे ही मानव को लक्ष्यकर पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—

'निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिःकरणालसो बालः ॥'

अर्थात् जो निश्चय को न समझकर निश्चयाभास को ही निश्चय मानकर उसका आश्रय लेता है वह अज्ञानी बाह्य आचरण में आलसी होता हुआ प्रवृत्तिरूप चारित्र को नष्ट करता है। पञ्चास्तिकाय के अन्त में अमृतचन्द्राचार्य ने इन व्यवहाराभासी, निश्चयाभासी और उभयाभासी लोगों का बड़ा मार्मिक वर्णन किय है तथा इसी का आश्रय लेकर पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के सप्तम अध्याय में विशद चर्चा की है।

जिनागम प्रतिपादित नयचक्र को समझकर ही प्रयोग में लाना चाहिए, क्योंकि बिना समझे उसका प्रयोग करने वाले अपना अहित कर बैठते हैं। कहा भी है—

"अत्यन्तनिशितधारं, दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खण्डयति धार्यमाणं, मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्" ॥५९॥पु०सि०उ०॥

अर्थात् जिनेन्द्रदेव का नयचक्र अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला तथा कठिनाई से प्रयोग करने योग्य है यह बिना समझे शीघ्रता से प्रयोग करने वाले अज्ञानीजनों के मस्तक को खण्डित कर देता है।

जिनधर्म की प्रभावना एवं प्रवर्तना के लिए निश्चय और व्यवहार दोनों नयों की साधना को आवश्यक बताया है —

'जइ जिणमयं पवज्जइ तो मा ववहार णिच्छयं मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं ॥'

यदि जिनधर्म की प्रवृत्ति चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय को छोड़ो, क्योंकि एक अर्थात् व्यवहार के बिना तीर्थ-धर्म की आम्नाय और दूसरे अर्थात् निश्चय के बिना वस्तुतत्त्व नष्ट हो जाता है।

नयों के भेद-प्रभेद :

कुन्दकुन्दस्वामी ने नयों के दो भेद ही प्रतिपादित किये है—प्रवचनसार में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा समयसार में निश्चय और व्यवहार। निश्चय के अतिरिक्त अन्य सभी नयों का उन्होंने व्यवहारनय में अन्तर्भाव किया है, किन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों ने इन नयों के अनेक भेद निरूपित किये हैं। जैसे—शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय, परमशुद्धनिश्चयनय, सद्भूतव्यवहारनय असद्भूत व्यवहारनय आदि। इन सब भेद प्रभेदों का वर्णन हम माइल्ल धवल के नयचक्र में और देवसेन की आलापपद्धति में विस्तार से देखते हैं।

यहां हम देवसेन की आलापपद्धति के आधार पर नयों के भेद-प्रभेदों का संक्षिप्त वर्णन देना आवश्यक समझते हैं—

१. द्रव्यार्थिक २. पर्यायार्थिक ३. नैगम ४. संग्रह ५. व्यवहार ६. ऋजुसूत्र ७. शब्द ८. समभिरूढ़ और एवंभूत ये नौ नय हैं। तथा नयों के समीपवर्ती उपनय भी सद्भूतव्यवहार, असद्भूतव्यवहार व उपचरितासद्भूतव्यवहार के भेद से तीनप्रकार के हैं।

इनमें द्रव्यार्थिक नय के १० भेद हैं—

१. कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक—जैसे संसारी जीव सिद्ध के समान शुद्धात्मा हैं।

२. सत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक—जैसे उत्पाद-व्यय को गौण कर द्रव्य को नित्य कहना।

३. भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक—जैसे द्रव्य स्वकीय गुण-पर्याय से अभिन्न है ।
४. कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक—जैसे क्रोधादि कर्मों से होनेवाले क्रोधादि विकारीभाव आत्मा हैं ।
५. उत्पाद-व्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक—जैसे एक ही समय में द्रव्य, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक हैं ।
६. भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक—जैसे दर्शन-ज्ञानादिगुण आत्मा के हैं ।
७. अन्वय गुण-पर्यायस्वभाव द्रव्यार्थिक—जैसे गुण-पर्याय स्वभाव वाला द्रव्य है ।
८. स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक—जैसे स्वकीय द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा द्रव्य अस्तिरूप है ।
९. परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक—जैसे परकीय द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य नास्तिरूप है ।
१०. परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक—जैसे आत्मा ज्ञानस्वरूप है ।

पर्यायार्थिकनय भी ६ भेदयुक्त है—

१. अनादि नित्य पर्यायार्थिक—जैसे मेरुपर्वत आदि पुद्गल की नित्य पर्याय है ।
२. सादि नित्य पर्यायार्थिक—जैसे जीव की सिद्धपर्याय सादि होकर भी नित्य है-अनन्त है ।
३. उत्पाद-व्यय ग्राहकस्वभाव नित्याशुद्धपर्यायार्थिक—जैसे समय-समय में पर्याय विनाशीक है ।
४. सत्तासापेक्षस्वभाव नित्याशुद्धपर्यायार्थिक—जैसे एक समय में द्रव्य की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक पर्याय है ।
५. कर्मोपाधि निरपेक्षस्वभाव नित्यशुद्ध पर्यायार्थिक—जैसे संसारी जीवों की पर्याय सिद्धों की पर्याय के समान है ।
६. कर्मोपाधिसापेक्ष स्वभाव अनित्याशुद्ध पर्यायार्थिक—जैसे संसारी जीवों का जन्म-मरण होता है ।

नैगमनय के भेद :

१. भूतकाल नैगम—जैसे आज दीपोत्सव के दिन महावीरस्वामी मोक्ष गये ।
२. भाविकाल नैगम—जैसे अर्हन्त परमेष्ठी सिद्ध ही हैं ।
३. वर्तमानकाल नैगम—जैसे भात पक रहा है ।

संग्रहनय के २ भेद हैं :

१. सामान्य संग्रह—जैसे सभी द्रव्य परस्पर अविरोधी हैं ।
२. विशेषसंग्रह—जैसे सभी जीव परस्पर अविरोधी हैं ।

व्यवहारनय के भी दो भेद हैं :

१. सामान्य संग्रह भेदक व्यवहार—जैसे द्रव्य दो प्रकार के हैं, जीव और अजीव ।
२. विशेषसंग्रह भेदक व्यवहार—जैसे जीव के दो भेद हैं, संसारी और मुक्त ।

ऋजुसूत्रनय के दो भेद :

१. सूक्ष्मऋजुसूत्रनय—जैसे पर्याय एक समय व्यापी है ।
२. स्थूलऋजुसूत्रनय—जैसे मनुष्यपर्याय मरणान्त पर्यन्त रहती है ।

शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूतनय एक-एक प्रकार के हैं। इसप्रकार उक्त विवेचना के अनुसार नयों के २८ भेद हैं।

उपनय—मूलरूप से उपनय के तीन भेद हैं। १. सद्भूतव्यवहारनय २. असद्भूतव्यवहारनय ३. उपचरितासद्भूत व्यवहारनय।

सद्भूतव्यवहारनय के दो भेद हैं :

१. शुद्धसद्भूतव्यवहार—जैसे शुद्ध गुण-गुणी अथवा शुद्ध पर्याय-पर्यायी में भेद कहना।

२. अशुद्धसद्भूतव्यवहार—जैसे अशुद्ध गुण और गुणी तथा अशुद्ध पर्याय और पर्यायवान् में भेद करना।

असद्भूतव्यवहारनय के ३ भेद हैं :

१ स्वजात्यसद्भूत व्यवहार—जैसे परमाणु को बहुप्रदेशी कहना।

२. विजात्यसद्भूत व्यवहार—जैसे मतिज्ञान आदि को मूर्तिक कहना।

३. स्वजाति-विजात्यसद्भूत व्यवहार—जैसे ज्ञान का विषय होने से जीव-अजीव दोनों को ज्ञान कहना।

उपचरितासद्भूत व्यवहारनय भी तीन प्रकार का है :

१. स्वजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार—जैसे स्त्री पुत्रादिक मेरे हैं।

२. विजात्युपचरितासद्भूतव्यवहार—जैसे वस्त्राभूषणादि मेरे हैं।

३. स्वजाति-विजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार—जैसे देश, राज्य, दुर्ग आदि मेरे है ऐसा कहना।

ऐसा जान पड़ता है कि लोक में जितने प्रकार का व्यवहार चलता है उस सबका संज्ञाकरण कर देवसेनाचार्य ने उन्हें उपनयों मे गर्भित किया है।

अनेकान्तदर्शन :

नयचक्र के परिज्ञान से ही अनेकान्तदर्शन प्रतिफलित होता है। वस्तु में रहने वाले परस्परविरोधी धर्मों का समन्वय नयचक्र के यथार्थज्ञान से ही होता है। जिनागम में कोई तत्त्व निश्चयनय की अपेक्षा प्रतिपादित है और कोई तत्त्व व्यवहारनय से प्रतिपादित है। दोनों नयों के प्रतिपादन में पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर हो जाता है। जैसे निश्चयनय का कथन है कि आत्मा कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता नहीं है, किन्तु व्यवहारनय कहता है कि आत्मा कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है। इन दोनो विरुद्ध कथनों का समन्वय अनेकान्तदर्शन में ही उपलब्ध है। अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा अपने रागादि विभाव भावो का कर्ता और उनके निमित्त से कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्य में कर्मरूप परिणमन होता है। उपादान-उपादेय भाव की अपेक्षा कर्मों का कर्ता पुद्गलद्रव्य है और निमित्त-नैमित्तिक भाव की अपेक्षा आत्मा करता है। यह समन्वय नयविवक्षा से ही सम्पन्न होता है। अनेकान्तात्मक पदार्थ का कथन स्याद्वाद से होता है। स्याद्वाद का अर्थ कथंचित्वाद है। स्याद्वाद से ही द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वस्तु नित्य और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अनित्य कही जाती है।

सप्तभंगी :

वस्तु में रहने वाले अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य धर्मों के पारस्परिक संयोग से निम्नलिखित सप्तभङ्ग निर्मित होते हैं। इन्ही सप्तभङ्गों का समूह सप्तभंगी कहलाता है—

१. स्वचतुष्टयकी अपेक्षा वस्तु अस्तिरूप है।
२. परचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु नास्तिरूप है।
३. स्व-पर चतुष्टय की क्रम से विवक्षा होने पर वस्तु अस्ति-नास्तिरूप है।
४. स्व-पर चतुष्टय का कथन एक साथ हो नहीं सकता इसलिए अक्रमविवक्षा में वस्तु अवक्तव्य-रूप है।
५. स्वचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु अस्तिरूप है और स्व-पर चतुष्टय की अक्रम-एक साथ विवक्षा होने पर वस्तु अवक्तव्य है। दोनों को मिलाने पर अस्तिअवक्तव्य है।
६. पर चतुष्टय की अपेक्षा वस्तु नास्तिरूप है और स्व-पर चतुष्टय की अक्रमविवक्षा होने पर अवक्तव्य है। दोनों को मिलाने पर नास्तिअवक्तव्य है।
७. स्व-पर चतुष्टय की क्रमश: विवक्षा होने पर वस्तु अस्ति-नास्तिरूप है तथा दोनों की एक साथ विवक्षा होने पर अवक्तव्य है अत: दोनों को मिलाने पर अस्ति-नास्ति अवक्तव्य है।

अनेकान्त-दर्शन का प्रतिफलितरूप :

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के अन्त में अमृतचन्द्र स्वामी ने अनेकान्त का प्रतिफलितरूप निम्नाङ्कित पद्य में बड़ी सुन्दरता के साथ स्पष्ट किया है—

'एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥'

जिसप्रकार दही बिलोवने वाली गोपी एक हाथ से मन्थान की रस्सी को खींचती और दूसरे हाथ से ढीली करती हुई नवनीत निकाल लेती है उसी प्रकार जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित स्याद्वादनीति एक नय से वस्तु को प्रधानता देती और दूसरे नय से उसे गौण करती हुई मोक्षमार्ग को सिद्ध करती है।

अनेकान्त सिद्धान्त

सन्मति सूत्र के संदर्भ में

❖ डॉ उदयचन्द्र जैन, सहायक आचार्य

[जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग, एम. बी. कालेज, उदयपुर]

दर्शन के कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं, जो विश्व के विचारकों, चिन्तकों एवं समालोचकों को एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। उन्हीं दर्शन के सिद्धान्तों में अनेकान्त-सिद्धान्त एक है। यह सिद्धान्त अति प्राचीन है। यह अनेकान्त सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है, जितना जैनदर्शन। जैनदर्शन के प्रमुख प्रवर्तक चौबीस तीर्थंकर माने जाते हैं। उनका जो कुछ भी चिन्तन था, वह सब अनेकान्त कहा जाता है। अर्धमागधी और शौरसेनी आगमसाहित्य का परिशीलन करने से यह ज्ञात होता है कि ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर पर्यन्त अनेकान्त की धारा प्रवाहित होती रही है और उन्ही तीर्थंकरों की परम्परा को आचार्यों ने विभिन्न शैलियों में प्रस्तुत किया है। उन आचार्यों में सिद्धसेन एक ऐसे आचार्य हुए हैं जिनने सन्मति सूत्र में अनेकान्त सिद्धान्त का विशद विवेचन किया है। इस सिद्धान्त के महत्व से वे इतने प्रभावित प्रतीत होते हैं कि उन्होंने इसकी महत्ता को निम्न प्रकार प्रकट किया है :—

जेण विणा लोयस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वहइ।
तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमो अणेयंतवायस्स ॥[1]

अर्थात्—जिसके बिना लोक का व्यवहार भी नहीं निष्पन्न होता है। उस तीन लोक के अद्वितीय (एकमात्र) गुरु अनेकान्तवाद के लिए नमस्कार है। इस कथन से यह परिलक्षित होता है कि जितना भी वचन व्यवहार है वह सब अनेकान्तरूप है।

अनेकान्त का स्वरूप :

आचार्य सिद्धसेन ने अनेकान्त का स्वरूप कही भी नहीं दिया है। इसका कारण यही हो सकता है कि अनेकान्त आचार्य सिद्धसेन के समय में चिन्तन का विषय बन चुका था। इसलिए आचार्य ने अनेकान्त का स्वरूप प्रतिपादित न करके उसके विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करके अनेकान्त को समझाने का प्रयत्न किया है। फिर भी अनेकान्त के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है। किसी भी वस्तु को उसके अनेक (सभी सम्भव) पहलुओं से देखना, जाँचना अथवा उस तरह की देखने की वृत्ति रखकर वैसा प्रयत्न करना ही अनेकान्त है।[2] इस स्वरूप के अनुसार वस्तु के स्वरूप को देखने, परखने एवं समझने के लिए सिद्धसेन ने सामान्य और विशेष इन दो वचनों का प्रयोग किया है।

१—सन्मति सूत्र गा० ३/६६ वीर निर्वाण ग्रंथ प्रकाशन समिति-इन्दौर।

२—सन्मति तर्क प्रकरण भूमिका पृ० ८४ ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद।

सामण्णम्मि विसेसो विसेसपक्खे य वयणविणिवेसो ।
दव्वपरिमाणमण्णं वाएइ तयं च णियमेइ ॥

अर्थात् सामान्य में विशेष का और विशेष में सामान्य का जो कथन किया जाता है वह (द्रव्य, गुण और पर्याय) त्रिरूप है। इस कथन से यह भाव स्पष्ट होता है कि वस्तु सामान्य और विशेष इन दो रूपों से युक्त है। सामान्य विशेष के बिना और विशेष सामान्य के बिना किसी वस्तु में नहीं रहते। जहां सामान्य है वहां विशेष है। वस्तु न तो केवल सामान्य ही है और न विशेष ही। दोनों एक दूसरे से अलग नही है। आचार्य सिद्धसेन ने तीर्थंकरों के वचनों को भी सामान्य विशेषात्मक कहा है—

तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी ।[1]

अर्थात् तीर्थंकरों के वचन संग्रह (सामान्य) और विशेष प्रस्तार के मूल व्याख्याता हैं।

अनेकान्त का मूल आधार नय कहा जाता है। इसी आधार को लेकर आचार्य सिद्धसेन ने जैन आगमों में प्रतिपादित नयों को दो भागों में विभक्त किया है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय। शेष नयों को दोनों के ही भेद माने हैं।[2] इन नयो के अन्तर्गत सात नयों की अपेक्षा छः नयों को संकलित किया है। इसके अतिरिक्त आगम प्रसिद्ध जो प्राचीन परम्परा थी, उस परम्परा से हटकर द्रव्यार्थिकनय की सीमा ऋजुसूत्र तक न निर्धारित कर व्यवहारनय तक ही की। यह दृष्टि पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में नही है। परवर्ती आचार्यों में भी विद्यानंद और मणिक्यनंदी ने द्रव्यार्थिक में व्यवहारनय का और पर्यायार्थिक में ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नयों का प्रतिपादन किया है।

सिद्धसेन ने नय के प्रतिपादन के उपरान्त यह कथन किया है कि—

जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया ॥

अर्थात्—जितने वचनमार्ग हैं, उतने नयवाद है और जितने नयवाद हैं, उतने परसमय हैं। वचन से वक्ता का अभिप्राय स्पष्ट होता है किसी भी वस्तु के विषय में जितने भी वचन सम्भव हों, उतने ही उस वस्तु के भिन्न भिन्न अभिप्राय (नयवाद) होते हैं और जितने भी परस्पर के अभिप्राय हैं वे सब अन्य दृष्टियां।

तृतीयकाण्ड में अन्य दृष्टियों को निरसन कर यह कथन किया है कि—

दव्वाट्ठयवत्तव्वं सामण्णं पज्जवस्स य विसेसो ।
एए समोवणीया विभज्जवायं विसेसेंति ॥

अर्थात्—द्रव्यार्थिक का वक्तव्य सामान्य है और पर्यायार्थिक का वक्तव्य विशेष है। प्रस्तुत ये दोनों नय सापेक्ष होने पर अनेकान्तवाद को विशिष्ट बनाते हैं।

विभज्जवाद शब्द अनेकांतवाद के लिए प्रयोग कर सिद्धसेन ने अपनी विशेषता का परिचय दिया है। एकान्तवाद पर आक्षेप करते हुए एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पर्याय, देश, संयोग और भेद का आश्रय लेना सम्यक् है। जो किसी एक नय के मार्ग पर आश्रित होकर, सूत्र को पढ़कर सूत्र को जानने वाला हूं ऐसा सोचने लगता है, या यह सोचने लगे कि जो कुछ मैं जानता हूं वही पूर्ण है, निर्दोष और वही वस्तु का स्वरूप है, इससे अधिक कुछ नहीं है। ऐसा व्यक्ति सम्यग्दर्शन को नष्ट कर देता है।[3] आगे इसी क्रम में यह भी कथन किया है—

१—सन्मतिसूत्र गा० २/३ २—वही १/३ ३—सम्मतिसूत्र ३/६१-६२

सुत्तं अत्थनिमेणं ण सुत्तमेत्तेण अत्थपडिवत्ती ।
अत्थाई उ णयवायगहणलीणा दुरहिगम्मा ॥[1]

अर्थात् अर्थ का स्थान सूत्र है, किन्तु सूत्रमात्र से अर्थ का ज्ञान नही होता है, क्योंकि नयवाद गहन है और अर्थज्ञान दुर्बोध्य है। कहने का अभिप्राय है कि वास्तविक अर्थज्ञान तो नयवाद से ही स्पष्ट होता है, इसलिए आचार्य ने नयवाद को गहन और अर्थ ज्ञान को दुर्बोध्य (दुर्लभ) कहा है।

विवक्षा से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों का विषय प्रतिपादित कर यह कथन किया है कि द्रव्यार्थिकनय वस्तु को सामान्यरूप से देखता है और पर्यायार्थिकनय उसी वस्तु को मात्र विशेषरूप से देखता है। इन दोनों नयों की यथार्थता को न समझ कर किसी पक्ष को लेकर बैठ जाये या एक नय से सम्पूर्ण वस्तु तत्त्व का निर्णय करने लगें तो यह नय दुर्नय कहलाने लगेगा। इसी कथन को मिथ्यादृष्टि भी कहा है।[2] इन दोनों नयों के एक ही पक्ष लेने से जीव, आत्म, जगत, सुख, दुःख, कर्मबंध, उसकी स्थिति, मोक्ष और मोक्ष के उपाय का भी बोध नहीं हो सकेगा। एक दृष्टान्त द्वारा सिद्धसेन ने यह भी कथन किया है कि जैसे-रत्न के बिखरे रहने पर तब तक वे हार नहीं कहलाते और हार के मूल्य को नहीं पाते, जब तक कि वे एक सूत्र को नहीं पा लेते। एक सूत्र को पाना ही सम्यग्दर्शन है। कार्य अलग है, कारण अलग है, ऐसा विचार भी अनेकान्त का दृष्टिकोण नहीं है। कार्य और कारण की एकरूपता का न होना ही एकान्त दृष्टि है।[3] दुर्नय एकान्तदृष्टि है, और सुनय अनेकान्त दृष्टि है। मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन, दुर्नय और सुनय के लिये प्रयोग किया है। इसलिए सिद्धसेन ने प्रत्येक पदार्थ को भेदाभेद रूप माना है।

जब सब पदार्थ सब प्रकार से सर्वदा जो भेद रहित हों, वह द्रव्यास्तिक (द्रव्यार्थिकनय) है और विभाग या भेद का प्रारम्भ होते ही वह पर्यायास्तिक (पर्यायार्थिकनय) के वक्तव्य का मार्ग कहलाता है[4] इस विभाग को विशेषरूप से समझाने के लिये व्यंजननियत (शब्द सापेक्ष) अर्थनियत (शब्द निरपेक्ष) इन भेदों को अपनाया है। अर्थात् विभाग अभिन्न है और शब्दगत विभाग भिन्न तथा अभिन्न है।[5] इसी सैद्धान्तिकशैली को व्यंजन पर्याय और अर्थपर्याय कहा है।

एक ही द्रव्य अनेक कैसे बनता है ? इस प्रश्न पर भी सिद्धसेन ने विस्तृत विचार किया है। एक ही द्रव्य के भीतर जो अतीत, वर्तमान और अनागत अर्थपर्याय तथा शब्द अर्थात् व्यंजनपर्याय होते हैं, वह द्रव्य उतना होता है।[6] एक द्रव्य पर्याय भेद से भिन्न भिन्न प्रतिभासित होता है। एक ही पुरुष जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त पुरुष नाम से जाना जाता है। पुरुष यह शब्द जीव के लिये सभी अवस्थाओं में प्रयोग किया जाता है। बाल्यावस्था, यौवनावस्था, वृद्धावस्था आदि अनेक उसकी ही पर्यायें हैं। यह दृष्टि एक ही पुरुष के व्यक्तित्व में निर्विकल्प (अभिन्न) और सविकल्प (भिन्न) बुद्धि का विवेचन कर देती है। निर्विकल्प बुद्धि को व्यंजनपर्याय और सविकल्प बुद्धि को अर्थपर्याय कहा है।[7] जो व्यक्ति वस्तु को एकांत अभिन्न या भिन्न ही मानता है। उससे वह निर्णय की ओर नहीं पहुंच सकता है।

मूलनयाण उ आणं पत्तेयविसेसियं बिंति ॥[8]

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयदृष्टि को सिद्धसेन ने दर्शन और ज्ञान के रूप में प्रतिपादित करते हुए कहा है—

१–वही ३/६४ २–सन्मतिसूत्र १/१३-१५ ३–वही १/१७-२७ ४–वही १/२९ ५–सन्मतिसूत्र १/३०
६–वही १/३१ ७–वही १/३४ ८–सन्मतिसूत्र १/१६

जं सामण्णग्गहणं दंसणमेयं विसेसियं णाणं ।
दोण्ह वि णयाण एसो पाडेक्कं अत्थपज्जाओ ।।

अर्थात् जो समान्य का ग्रहण है, वह दर्शन है, और विशेष का ग्रहण ज्ञान है, इन दोनों नयों के ही अलग-अलग अर्थबोध है । दर्शन और ज्ञान की इस मीमांसा में सिद्धसेन ने अभेददृष्टि प्रस्तुत की है । दर्शन और ज्ञान तथा श्रद्धा और ज्ञान का अभेद (एक्य) स्थापित कर यह कथन किया है ।

णाणं किरियारहियं किरियामेत्तं च दो वि एगंता ।।[1]

अर्थात् बिना क्रिया का ज्ञान और ज्ञानमात्र क्रिया दोनों ही एकांत है । यही नहीं अपितु दर्शन और ज्ञान क्रम से ही होते हैं । ज्ञान दर्शन पूर्वक ही होता है, दर्शन ज्ञान पूर्वक नहीं होता है ।[2]

स्याद्वाद और सप्तभंगी:—सिद्धसेन ने स्याद्वाद शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं किया और न इसकी कोई परिभाषा दी है, परन्तु नयवाद से यह स्पष्टीकरण हो जाता है कि जितने वचन व्यवहार हैं वे सभी स्याद्वाद रूप हैं । वस्तु के स्वरूप का कथन करने के लिए सात प्रकार के वचनों का प्रयोग किया जाता है । या प्रश्न उठने पर एक वस्तु में अविरोध भाव से एक धर्म विषयक जो विधि और निषेधरूप कल्पना की जाती है, उसे सप्तभंगी कहते हैं ।

सिद्धसेन ने प्रथम-द्वितीय वचनक्रम के लिए अर्थान्तरभूत और निज शब्द का प्रयोग किया है । अर्थान्तरभूत शब्द से तात्पर्य यह है किसी वस्तु या पदार्थ का जो परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से विचार और निज शब्द से तात्पर्य है किसी वस्तु का स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से विचार । ये दोनों ही विचार जिन्हे स्याद्वाद की भाषा में कथंचित् असत् और कथंचित् सत् कहते हैं । जब इन दोनों नयो के द्वारा एक साथ में वचन विशेष से अतीत (वचनों से नहीं कहा जाने वाला) द्रव्य, अवक्तव्य कहा जाने लगता है । जिसका एक देश (भाग) सद्भाव पर्याय में नियत हो और एक असद्भाव पर्याय नियत हो, तो वह द्रव्य, अस्ति, नास्ति रूप कहा जाने लगता है ।

जिसका एक भाग अस्तिरूप से और दूसरा भाग उभयरूप से विवक्षित हो, वह द्रव्य विकल्प के कारण अस्ति-अवक्तव्य बनता है ।

जिसका एक भाग नास्तिरूप से और एक भाग उभयरूप से विवक्षित है वह द्रव्य विकल्प के कारण नास्तिवक्तव्य बनता है ।

जिसके द्रव्य का एक भाग अस्ति-नास्ति से विवक्षित हो और एक भाग उभयरूप से विवक्षित हो, वह द्रव्य विकल्प के कारण अस्ति-नास्ति और अवक्तव्यरूप बनता है ।[3]

जिस द्रव्य का एक भाग अस्ति नास्ति से विवक्षित हो और एक भाग उभयरूप से विवक्षित हो, वह द्रव्य विकल्प के कारण अस्ति-नास्ति और अवक्तव्यरूप बनता है । इन सात वचन मार्ग को अर्थपर्याय-व्यंजनपर्याय में भी विभाजन किया है । जो सिद्धसेन की एक विशिष्ट शैली कही जा सकती है ।

१—वही ३/६८ २—वही २/२२ दंसणपुव्वं णाण णाणणिमित्तं तु दसण णत्थि ।

३—सन्मतिसूत्र । १।३४।४०

द्रव्य का लक्षण, उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य के माध्यम से द्रव्य वास्तविकता का विवेचन एवं द्रव्य की पर्यायों का अनेकान्तशैली में प्रतिपादन महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, परन्तु नय की चर्चा में निक्षेप विचार सिद्धसेन की अपूर्व देन कही जा सकती है, क्योंकि जितना भी लोक-व्यवहार है, वह सब निक्षेप पर आधारित होता है। प्रत्येक वस्तु या पदार्थ के व्यवहार चलाने के लिए नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार निक्षेप प्रयोग किये जाते हैं।

अनेकांत सिद्धांत का सारा निचोड़ दव्वट्ठियणय और पज्जवणय इन दो नयों में समाहित कर यह कथन किया—

तह सव्वे णयवाया जहाणुरूवविणिउत्तवत्तव्वा।
सम्मद्दंसणमद्दं लहंति ण विसेस सण्णाओ॥

अर्थात् जितने भी नयवाद हैं, वे सब अपने-अपने कथन को यथानुरूप सापेक्ष रीति से प्रकट करने पर ही सम्यग्दर्शन या सुनय के वाच्य हैं। वे विशेष संज्ञा रूप नहीं हैं। अर्थात् विशेष संज्ञारूप जो मिथ्यादर्शन या दुर्नय हैं उनका त्याग किये बिना कोई नय सुनय नहीं हो सकता है। इस प्रकार यह कथन अनेकांत सिद्धान्त को ही प्रतिपादित करता है।

मन-वचन और काय संयम से ज्ञान का अकम्प दीपक जलता है। जो इन तीनों को त्रिवेणी-संगम नहीं दे सकता, उसके चंचल मन की आँधियां ज्ञान-दीपक को बुझाने का प्रयत्न करती रहती हैं। सद्-असद् का विवेक ज्ञान द्वारा ही सम्भव है अतः मन-वचन-काय की चंचलता नहीं होने देना ही श्रेयस्कर है।

जैनदर्शन के दो विशिष्ट सिद्धांत : अनेकांत और स्याद्वाद

❖ ऋषभचन्द्र जैन 'फौजदार' शास्त्री, वाराणसी

भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। जिस प्रकार प्रत्येक दर्शन या वाद में कुछ महत्वपूर्ण सिद्धांत होते हैं, उसी प्रकार जैनदर्शन के अनेकान्त और स्याद्वाद दो महत्वपूर्ण एवं लोककल्याणकारी सिद्धान्त है। वस्तुत: ये दोनों ही सिद्धान्त बड़े समन्वयकारी हैं। आज भी इस संसार में एकान्तवाद का बोल-बाला है। लोग किसी वस्तु को एक दृष्टि से जानकर-समझकर अपना मत स्थिर कर लेते हैं, इसी कारण इस लोक में अनेकों विवाद खड़े हो जाते हैं, जिन्हें शान्त करना असम्भव हो जाता है। क्योंकि आज कोई प्रतिद्वन्द्वी दूसरे के पक्ष को मानना तो दूर रहा, सुनना भी पसन्द नहीं करता।

इस समय भगवान महावीर द्वारा उपदेशित अनेकान्त और स्याद्वाद की परम आवश्यकता है, जो वास्तव में जनकल्याणकारी है। अनेकान्त के बिना लोक-व्यवहार भी सम्भव नहीं है। जैसा कि निम्न गाथासूत्र से स्पष्ट है—

जेण विणा लोयस्स वि, ववहारो सव्वहा न निव्वहइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो, णमो अणेगंतवायस्स ॥

—समणसुत्त पृ० २१२।

इसमें कहा गया है कि अनेकान्त का आश्रय लिए बिना लोक का व्यवहार कदापि नहीं चलता। वह लोक का अद्वितीय गुरु है। अतः हम उसे नमस्कार करते है।

अनेकान्त दो शब्दों के परस्पर मेल से बना है—अनेक और अन्त। अनेक का अर्थ है एक से भिन्न दो चार आदि और अन्त का अर्थ है धर्म। जिसमें एक से अधिक धर्म मौजूद हों, उसे अनेकान्त समझना चाहिए, क्योंकि जो वस्तु सत् है, वही वस्तु असत् भी है, जो एक है, वह अनेक भी है तथा जो नित्य है, वह अनित्य भी है, इस प्रकार के परस्पर विरोधी युगलों का समुच्चय ही अनेकान्त है और वही वस्तु है। आज के इस युग में उसे लक्ष्य में न देने पर व्यक्ति का अधिक-से-अधिक ज्ञान भी सीमित, अपूर्ण एवं एकांगी ही है और है झगड़े की जड़। क्योंकि वह वस्तु के विराट् स्वरूप का समग्र अनुभव एक साथ नहीं करता। आज का मानव एकांगी ज्ञान प्राप्त कर अपने आपको अहं में डुबो लेता है, लेकिन अनेकान्त उसे समन्वय की ही शिक्षा देता है। यह सिद्धान्त विरोध-परिहार के मार्ग को मजबूत बनाता है और किसी भी पक्ष को नकारता नहीं है। अनेकान्त स्पष्ट कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक पक्ष (कथन) में कुछ न कुछ सत्यांश अवश्य होता है अतः उन सत्यांशों को स्वीकार कर विवादों को बड़ी सरलता से समाप्त किया जा सकता है।

पुरुष में पुरुष का व्यवहार जन्म से मरण पर्यन्त होता है, परन्तु इसी जीवन में बचपन-युवा और बुढ़ापा आदि पर्यायें उत्पन्न होती और नष्ट होती रहती हैं, अतः एक ही वस्तु में अनेक धर्म (नित्यता-अनित्यता, सद्भाव-असद्भाव) सम्भव हैं। जैसा कि निम्न गाथा में कहा गया है—

पुरिसम्मि पुरिससद्दो, जम्माई-मरणकालपज्जत्तो ।
तस्स उ बालाईया, पज्जवजोया बहुवियप्पा ॥

—समणसुत्त पृ० २१४ ।

और भी कहा गया है—

पिउ-पुत्त-णत्तु-भव्वय-भाऊणं एगपुरिससंबंधो ।
ण य सो एगस्स पिय, त्ति सेसयाणं पिया होइ ॥

—समणसुत्त पृ० २१४ ।

चूंकि जब मनुष्य जन्म लेता है तो वह बच्चा होता है और फिर युवा होता है। यहाँ उसकी बालक पर्याय समाप्त हो गई और युवावस्था का उत्पाद हो गया, यह उत्पाद-व्यय है, फिर भी वह मनुष्य का मनुष्य ही रहता है, यह उसकी ध्रौव्यता है। अतः प्रत्येक मनुष्य आदि वस्तुएँ उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यतायुक्त हैं। जैन-सिद्धान्तवेत्ता आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रत्येक वस्तु को अनेकधर्मों—पर्यायों, गुणों और अंगों-अंशों से युक्त सिद्ध करते हुए कहा है कि—

ण भवो भंगविहीणो, भंगो वा णत्थि संभवविहीणो ।
उप्पादो वि य भंगो, ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥

—समणसुत्त पृ० २१२ ।

कोई उत्पाद विना नाश के और कोई नाश विना उत्पाद के संभव नहीं है तथा दोनों विना ध्रौव्य के नहीं हो सकते। अतः सभी वस्तुएँ त्रयात्मक (अनेकान्तात्मक) है।

इसी प्रकार वस्तु की त्रयात्मकता-उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यता को स्पष्ट करते हुए महान् दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र ने भी अपनी आप्तमीमांसा में लिखा है कि—

घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥

—आप्तमीमांसाकारिका ५९, ६० ।

जिसने दुग्ध लेने का व्रत लिया है, वह दही नहीं खाता और जो दही लेने का व्रती है, वह दुग्ध नहीं पीता और जिसने गोरस न लेने का व्रत किया है, वह न दूध लेता है और न दही। अतः दुग्ध पर्याय का नाश हुआ और दही पर्याय का उत्पाद तथा गोरसस्वरूप ध्रौव्यता विद्यमान रहती है। इसलिए प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों मय है। वस्तु की यह अनेकधर्मात्मकता ही अनेकान्त है।

अनेकान्त, भाव-अभाव, नित्य-अनित्य आदि एकान्त नयों के विरोध को मिटाकर वस्तुतत्व की सम्यक् व्यवस्था करने वाला तथा लोक-व्यवहार का सम्यक् प्रवर्त्तक कहा गया है, क्योंकि इसके बिना परस्पर का विरोध और वैमनस्य आदि का मिटना संभव नहीं है, इसी से आचार्य अमृतचन्द्र ने उसे परमागम का बीज, लोकव्यवहार का प्रवर्त्तक तथा लोक का अद्वितीय गुरु कहा है—

नीति-विरोध-ध्वंसी लोकव्यवहारप्रवर्त्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ।।

अतः वस्तु में विद्यमान समस्त विरोधी और अविरोधी धर्मों के विचार जगत् में परस्पर में न टकराने देना, उनका भलीप्रकार सामञ्जस्य स्थापित कर देना ही अनेकान्त है ।

अनेकान्तरूप सिद्धान्त की व्यवस्था करने वाला सिद्धान्त स्याद्वाद है, जिस पर जैनदर्शन का महल खड़ा हुआ है । स्याद्वाद भी दो पदों के परस्पर मेल से बना है—स्यात् और वाद । स्यात् पद अनेकान्त का द्योतक है और वाद उसे कथन करने वाला है । अर्थात् 'स्यात्' (अनेकान्त) को लेकर कथन करने वाला सिद्धान्त स्याद्वाद है । जहां एकान्तवाद एक-एक अन्त-धर्म को पकड़ कर वस्तु का कथन करते हैं, वहां स्याद्वाद एक धर्म को मुख्य और अन्य सभी धर्मों को गौण करके अनेकान्त का प्रतिपादन करता है—किसी धर्म का वह तिरस्कार नहीं करता, जब कि एकान्तवाद आग्रही बनकर अन्य सभी धर्मों का तिरस्कार करते हैं । और तभी झगड़े पैदा होते हैं । अनेकान्त और स्याद्वाद में यही अन्तर है कि अनेकान्त वाच्यरूप वस्तु है और स्याद्वाद वाचकरूप वस्तु है । अतएव दोनों में वाच्य-वाचक का सम्बन्ध है । जैसे ज्ञेय और ज्ञान में ज्ञेय ज्ञायक का सम्बन्ध है । लेकिन आज लोग उसे गलत ढंग से समझने लगे हैं, 'स्यात्' पद का संदेह, संभावना और शायद अर्थ लगाकर उसे संदेहवाद, संभावनावाद और शायदवाद कहते हैं, वे उसकी गहराई को नही देखते । 'स्यात्' शब्द की व्याख्या निम्नरूप में जैनागम में अनेक स्थानों पर उपलब्ध है—

णियमणि सेहणसीलो, णिपादणादो य जो हु खलु सिद्धो ।
सो सियसद्दो भणिओ, जो सावेक्खं पहासेदि ।।

—समणसुत्त पृ० २२८ ।

आप्तमीमांसाकार आचार्य समन्तभद्र ने भी इसे इसप्रकार व्यक्त किया है—

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम् ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ।।
स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ।

आप्तमीमांसाकारिका १०३, १०४ ।

वस्तु के अनेकान्तात्मक कथन को स्याद्वाद कहते हैं । वस्तु का स्वरूप अनन्तधर्मा एवं विराट् है, जो शब्द द्वारा एक ही समय में नही कहा जा सकता, क्योंकि शब्दों की अपनी सीमा है । उनके द्वारा एक समय में एक ही धर्म का प्रतिपादन सम्भव है, अतः अनन्त धर्मों का कथन क्रमशः ही संभव है । स्याद्वाद एक समय में मुख्य रूप से एक धर्म का प्रतिपादन तथा अन्य धर्मों का गौण रूप से द्योतन करता है, क्योंकि जब 'स्यादस्ति घटः' कहते हैं तो अस्तित्व धर्म मुख्य होता है तथा अन्य सभी (नास्तित्व आदि) धर्म गौण होते हैं और जब 'स्याद् नास्ति घटः' कहते हैं तो नास्तित्व धर्म मुख्य तथा अन्य (अस्तित्व आदि) गौण होते हैं, अतः वस्तु के सब धर्मों को स्वीकार करने के लिए स्याद्वाद परम आवश्यक है ।

इसप्रकार अनेकान्त और स्याद्वाद ये दोनों आज के विवादों से भरे युग में तत्त्व-निर्णय और विवाद-निरसन के लिये आवश्यक एवं उपादेय हैं ।

निश्चय और व्यवहार का

श्री दयाचन्द्र साहित्याचार्य, धर्मशास्त्री

[प्रवक्ता : श्री गणेश दि० जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर]

विक्रम की द्वितीय शताब्दी के मध्य में, भ० महावीर स्वामी की शिष्यपरम्परा के अन्तर्गत आचार्य उमास्वामी का प्रभाव भारत में चारों ओर व्यापक हो रहा था। विश्व के तत्त्वों का प्रवचन करने के कारण आपको "वाचक" पद से विभूषित किया गया। उस समय गुजरात (सौराष्ट्र) प्रदेश के शिविरों में आपके महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक प्रवचन चल रहे थे। सौराष्ट्र के एक संस्कृतज्ञ द्वैपायक (सिद्धय्य) नामक विद्वान् ने एक दिन तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से शिविर में जाकर पूज्य उमास्वामी आचार्य से प्रश्न किया, कि हे गुरुवर्य ! तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का सरल उपाय क्या है ? श्री वाचक आचार्य ने सरल एवं संक्षिप्त शैली से संस्कृत भाषा में उत्तर दिया —

"प्रमाणनयैरधिगमः" (तत्त्वार्थसूत्र अ० १ सूत्र ६)

अर्थात्—जीव आदितत्त्वों का सत्यार्थज्ञान प्रमाणरूप एवं नय रूप शैली से प्राप्त होता है। द्रव्य के सम्पूर्ण गुण तथा पर्यायों को एक साथ स्पष्टतया जानने वाले केवलज्ञान को उत्कृष्ट प्रमाण कहा जाता है और द्रव्य के एक गुण या दशा को विवक्षा-वश क्रमशः जानने वाले ज्ञान को नय कहा जाता है। दर्शन शास्त्रों में कहा है— "सकलादेश: प्रमाणाधीन: विकलादेशो नयाधीनः" अर्थात्—वस्तु के सर्व अंशों को एक साथ स्पष्ट जानना उत्कृष्ट-प्रमाण के आधीन है और वस्तु के एक अंश को क्रमशः जानना नय के आधीन है। वस्तु के सर्वांश को क्रमशः जानना परोक्ष प्रमाण के आधीन है। उत्कृष्ट प्रमाणज्ञान सर्वदर्शी वीतराग परमात्मा के ही होता है, वही विश्व के सम्पूर्ण द्रव्यों को युगपत् प्रत्यक्ष जान सकता है। उत्कृष्ट प्रमाणज्ञान शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता, कारण कि विश्व के अनन्त द्रव्यों को युगपत् स्पष्ट कहने की सामर्थ्य शब्दों में नहीं है। उत्कृष्ट प्रमाणज्ञान का विषय लोक व्यवहार में आना असम्भव है। जो कुछ परोक्ष प्रमाण के विषय को शब्दों द्वारा कहा जाता है, वह उपचार से संकेत मात्र है वास्तविक नहीं। अतः उसके विषय में विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

नयज्ञान का विषय जगत के प्राणियों द्वारा शब्दों से क्रमशः कहा जा सकता है और उसका उपयोग लोकव्यवहार में होता है, उसके बिना दैनिक निर्वाह होना असम्भव है अतः उसका विचार करना परम आवश्यक है। नयरूप शैली मुख्यतः दो प्रकार की होती है—(१) द्रव्यार्थिकनय—जो सामान्यरूप से द्रव्य को जानता है जैसे शुद्ध आत्मा, शुद्ध पुद्गल (परमाणु) इत्यादि (२) पर्यायार्थिकनय— जो विशेषरूप से द्रव्य की पर्याय को किसी एक दृष्टि से जानता है जैसे मनुष्य, पुस्तक आदि दर्शनशास्त्रों का प्रमाण है—"द्रव्यं अर्थः प्रयोजनं अस्य इति द्रव्यार्थिकः, पर्यायः अर्थः प्रयोजनं अस्य इत्यसौ पर्यायार्थिकः" (सर्वार्थसिद्धि पृ. ६)। इनको दूसरे शब्दों में क्रमशः निश्चयनय और व्यवहारनय कहते हैं। इनमे केवल शब्दों में भेद है प्रयोजन या लक्ष्य में कोई भेद नही।

स म न्व य

निश्चयनय और व्यवहारनय की परिभाषा :

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थोदेसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ।।
(समयसार गाथा—११ जीवाजीवाधिकार)

अर्थात्—व्यवहारनय अभूतार्थ (असत्यार्थ) है और निश्चयनय भूतार्थ (सत्यार्थ) है ऐसा मुनीश्वरों ने दिखलाया है जो जीव भूतार्थ के आश्रित हैं अर्थात् जो रत्नत्रय (दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की पूर्णता को प्राप्त हो चुके हैं अर्हन्त पद को प्राप्त हैं वे जीव निश्चयकर सम्यग्दृष्टि है। इस विषय में अन्य प्रमाण—

निश्चयमिह्भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ।।
(पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लो० ५)

अर्थात्—श्री अमृतचन्द्र आचार्य निश्चयनय को भूतार्थ (सत्यार्थ) और व्यवहारनय को अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहते हैं। प्रायः निश्चय के ज्ञान से विरुद्ध जो अभिप्राय है वह सब ही संसारस्वरूप है।

प्रश्न—भूतार्थ (सत्यार्थ), अभूतार्थ (असत्यार्थ) का स्पष्ट अर्थ क्या है ?

उत्तर—जो वस्तु के शुद्धस्वरूप को किसी दृष्टिकोण से कहे वह भूतार्थ (निश्चयनय) है और जो किसी दृष्टिकोण से वस्तु की पर्याय अथवा उसके एक अंशरूप गुण को ग्रहण करे उसे अभूतार्थ (असत्यार्थ व्यवहारनय) कहते हैं। यहां लौकिक सत्य और असत्य (झूठ) अर्थ नही है।

प्रश्न—व्यवहारनय को अभूतार्थ (असत्यार्थ) क्यों कहा है ?

उत्तर—स्याद्वाद की शैली से इसका समाधान होता है। अर्थात्—निश्चयनय की दृष्टि से वस्तु का जो शुद्धस्वरूप है उसको ग्रहण न करने के कारण व्यवहार को असत्यार्थ कहा गया है. अपनी दृष्टि से वस्तु को ग्रहण करनेवाला होने से तथा निश्चयलक्ष्यकी प्राप्ति का कारण होने से वह भी सत्यार्थ है। अन्यथा कोई भी व्यक्ति दैनिक जीवन में उसका प्रयोग करता न देखा जाता और न उससे सफलता प्राप्त करता हुआ देखा जाता। दूसरा समाधान यह है कि जब तक परिवर्तनशील विश्वका प्राणी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप अभेद रत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त कर शुद्ध आत्म-स्वभाव को प्राप्त नहीं कर लेता है तब तक व्यवहारनय का विषय सत्यार्थ है, शुद्धपरमात्मदशा को प्राप्त होने पर व्यवहार असत्यार्थ हो जाता है, दूसरे शब्दों में कहने योग्य है कि कार्य सिद्ध हो जाने पर कारण की आवश्यकता नहीं रहती। एकान्त पक्ष से व्यवहार को सत्यार्थ या असत्यार्थ नहीं कहा जा सकता।

गाथा नं ११ में जो कहा गया है कि सम्यग्दृष्टिजीव निश्चयनय के आश्रित हैं, इसका भाव यही है कि सम्यग्दृष्टि निश्चयनय के विषय को लक्ष्य में रखते हैं, अन्यथा व्यवहार निष्फल हो जायगा। तथा शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कर लेने पर निश्चय के विषय को साक्षात् आश्रित ही हो जाते हैं।

प्रश्न—असत्यार्थ व्यवहारनय को क्या झूठ पाप कहा जा सकता है ?

उत्तर—कभी नहीं, असत्यार्थ व्यवहारनय को झूठ पाप कहना नितान्त भूल होगी। कारण कि श्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में झूठ पाप का लक्षण कहा है—"असदभिधानमनृतम्" अर्थात् प्रमाद या कषायपूर्ण भावों से अपने या दूसरे के द्रव्यप्राण-भावप्राण अथवा दोनों को नाश करनेवाले वचन को कहना झूठ है। यह झूठ का लक्षण असत्यार्थ व्यवहार में घटित नहीं होता। अतः व्यवहार को झूठ पाप कहना अज्ञान है, असत्यार्थ व्यवहार से किसी जीव के प्राणों का घात नहीं होता।

श्रीअमृतचन्द्र आचार्य ने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में श्लोक नं. ९१ से १०० तक असत्य वचन के भेद कहे हैं—(१) सत्‌निषेध, (२) असत्कथन, (३) विपरीतकथन, (४) गर्हितवचन, (५) सावद्यवचन, (६) अप्रियवचन।

इनमें से किसी असत्यवचन का लक्षण असत्यार्थ व्यवहार में नहीं पाया जाता, अतः उसे झूठ पाप नहीं कहा जा सकता। व्यवहारनय से जो विद्वान् अथवा श्री मुनिराज आदि महात्मा उपदेश करते हैं वह सत्य वचन ही हैं। अमृतचन्द्र आचार्य ने इसी विषय का स्पष्ट कथन किया है—

हेतौप्रमत्तयोगेनिर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम्।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ।।
(पुरुषार्थ० श्लो० १००)

इसका तात्पर्य यह है कि असत्यवचन के त्यागी महामुनि हेय तथा उपादेय कर्तव्य के उपदेश दृष्टान्त सहित करते हैं। पुराण तथा कथाओं का विविध अलंकारों और नवरसों के साथ वर्णन करते हैं, परन्तु वे असत्य वचन नहीं हैं। इसके अतिरिक्त उनके पापनिन्दक वचन अज्ञानीजीवों को बाण जैसे अप्रिय लगते हैं, सैकड़ों जीव दुःखी होते हैं तो भी उनको असत्य पाप का दोष नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उनके वचन प्रमाद या कषाय से रहित हैं। इसी कारण से असत्य के लक्षण में कहा गया है कि कषायभाव से अहित वचन कहना असत्य पाप है।

पण्डितप्रवर आशाधरजी ने सागारधर्मामृत ग्रन्थ में वचन के चारभेद कहे हैं (१) असत्यासत्य—जो वचन हिंसादि पापों को उत्पन्न करे अथवा जो धर्मविपरीत वचन हों। (२) असत्यसत्य—वस्त्र बुनो, भात पकाओ इत्यादि वचन। (३) सत्यासत्य—किसी वस्तु के कल देने का निश्चय कर दो तीन दिन बाद दे देना इत्यादि। (४) सत्यसत्य— जो वचन वस्तु का सत्यार्थ कथन करनेवाला हो। इनमें से अन्त के तीन वचनों का प्रयोग व्यवहारनय से किया जाता है, परन्तु असत्यासत्यवचन का प्रयोग व्यवहारनय में नहीं है। इसलिये उस वचन के प्रकरण में कहा गया है कि गृहस्थ मानव असत्यासत्यवचन को न कहे, शेष तीन वचनों का प्रयोग कर सकता है कारण कि वे लोकव्यवहार में अप्रिय नही माने गये हैं। उनसे तो मानव के दैनिक जीवन का प्रायः निर्वाह होता है। अतः व्यवहारनय सत्य है।

श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती ने सत्य के दशभेद कहे हैं—

जणवदसम्मदिठवणा णामे रूवे पडुच्चववहारे।
संभावणे य भावे उवमाए दसविहं सच्चम् ।।
(गो. जी. गाथा २२२)

सत्य दश प्रकार का होता है (१) जनपदसत्य, (२) सम्मतिसत्य, (३) स्थापनासत्य, (४) नामसत्य, (५) रूपसत्य, (६) प्रतीत्यसत्य, (७) व्यवहारसत्य, (८) संभावनासत्य, (९) भावसत्य, (१०) उपमासत्य, ये दशप्रकार के सत्यवचन व्यवहारनय की अपेक्षा से ही कहे गये हैं। उसमें भी सातवां भेद व्यवहारसत्य, नाम से ही व्यवहारनय की सत्यता को सिद्ध करता है। इससे व्यवहारनय की महती सत्यता और उपयोगिता सिद्ध होती है। ऐसे व्यवहारनय को झूठपाप कदापि नहीं कहा जा सकता है।

इसी गाथा नं० २२२ की हिन्दी टीका में कहा गया है—नैगम आदि नयों की प्रधानता से जो वचन कहा जाय उसको व्यवहार सत्य कहते हैं जैसे नैगमनय की अपेक्षा—'वह भात पकाता है' संग्रहनय की अपेक्षा—"द्रव्य सत् है अथवा द्रव्य असत् है" इत्यादि।

धर्मग्रन्थों में अप्रिय असत्य के दश भेद अन्य प्रकार से भी कहे गये हैं। १ कर्कश, २ कटुक, ३ परुष, ४ निष्ठुर, ५ परकोपी, ६ मध्यकृश, ७ अभिमानी, ८ अनयंकर, ९ छेदंकर, १० वधकर, इन दश अप्रिय असत्य वचनों में व्यवहारनय नाम का वचन नहीं है। अतः व्यवहारनय को असत्यार्थ (झूठ-पाप) नहीं कहा जा सकता है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड में वचनयोग के चार भेद कहे गये हैं (१) सत्य वचनयोग, (२) असत्य-वचनयोग, (३) उभयवचनयोग, (४) अनुभयवचनयोग। इनमें से व्यवहारनय का वचन सत्य वचनयोगरूप कहा गया है। उक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि अभूतार्थ (असत्यार्थ) व्यवहारनय का वचन सत्यार्थ है वह झूठ पाप नहीं है। आचार्यों ने व्यवहारनय के वचन को, शब्दों की अपेक्षा अभूतार्थ कहते हुए भी भाव की अपेक्षा भूतार्थ (सत्यार्थ) कहा है।

प्रश्न—जैनदर्शन में व्यवहारनय का कथन एवं प्रयोग आवश्यक क्यों कहा गया ?

उत्तर—साधक दशा में मानव को आत्मशुद्धिरूप साध्य को सिद्ध करने के लिये साधनरूप व्यवहारनय के विषय का उपदेश दिया गया है। साध्य को सिद्धि हो जाने पर व्यवहार की आवश्यकता नहीं रहती। श्री आचार्य अमृतचन्द्रजी ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में श्लोक नं. ६ द्वारा स्पष्ट किया है—

> अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा: देशयन्त्यभूतार्थम्।
> व्यवहारमेवकेवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ।।

सारांश—उपदेशक आचार्य अज्ञानी मानव को समझाने के लिये व्यवहारनय का उपदेश करते हैं। जो मानव केवल व्यवहार को ही साध्य मानकर निश्चय के विषय को साध्य (लक्ष्य) नहीं मानता है, उस मिथ्या धारणा वाले के लिये आचार्य का उपदेश नहीं है। जैसे महल की छतपर जाकर जिस व्यक्ति को धूप सेवन करने की आवश्यकता है उसको सीढ़ी का आश्रय अवश्य लेना चाहिये। तथा सीढ़ियां पार कर छत पर जाकर बैठ जाना चाहिये। यदि कोई मानव छत को प्राप्त होने का लक्ष्य न रखकर केवल जीने पर जाकर बैठ जाय, तो उसके लिये जीने पर जाने की आज्ञा नहीं है। इसीप्रकार जिसको निश्चयरूप छत को प्राप्त करने का लक्ष्य नही है उसको व्यवहाररूप सीढ़ी पर चढ़ने का अधिकार नहीं है। उक्तं च—

> माणवक एव सिंहो, यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
> व्यवहार एव हि तथा, निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ।।
> (पुरुषार्थ. श्लो. ७)

जैसे सिंह को कभी भी नहीं जानने वाले पुरुष की दृष्टि में वनविलाव ही सिंहरूप ज्ञात होता है, वैसे ही निश्चयनय को कभी नहीं जाननेवाले पुरुष की दृष्टि में व्यवहारनय ही, निश्चयनयरूप ज्ञात होता है। इस एकांगी विपरीत ज्ञान से वस्तुतत्त्व का निर्णय तथा लौकिकज्ञान मानव प्राप्त नही कर सकता और न उसे लोक-व्यवहार में सफलता प्राप्त हो सकती है। इसलिये प्रत्येक मानव को निश्चय तथा व्यवहार दोनों नयों का ज्ञान एवं उनका प्रयोग प्रत्येक विषय में प्राप्त करना चाहिये।

अध्यात्मयोगी श्रीकुन्दकुन्द आचार्य ने भी निश्चय के साथ ही व्यवहारनय की उपयोगिता को आवश्यक दर्शाया है इसका प्रमाण देखिये—

> जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
> तह ववहारेण विणा परमत्थुव एसणमसक्कं ।।
> (समयसार गाथा नं० ८)

तात्पर्य यह है कि जैसे म्लेच्छजनों को म्लेच्छभाषा के बिना वस्तु के स्वरूप का ज्ञान कराने में कोई भी पुरुष समर्थ नहीं हो सकता, उसी प्रकार व्यवहारनय के बिना परमार्थ (निश्चय) का ज्ञान कराने के लिये कोई अन्य साधन समर्थ नहीं है। अतः आचार्यों ने व्यवहारनय के प्रयोग को आवश्यक दर्शाया है।

कविवर पं० दौलतरामजी ने भी व्यवहारनय का समर्थन किया है—

सम्यक्दर्शनज्ञानचरण शिवमग सो दुविधविचारो ।
जो सत्यारथरूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो ।।
(छहढाला तृ. ढाल)

सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग दो प्रकार का है जो सत्यार्थरूप है वह निश्चय है और जो निश्चय का कारण है वह व्यवहारमोक्षमार्ग है ।

निश्चय तथा व्यवहार का समन्वय :

निश्चयनय भूतार्थ और व्यवहारनय अभूतार्थ ये दोनों नय परस्पर विरोधी होने पर भी स्याद्वाद शैली से दोनों का समन्वय कार्यकारी सिद्ध होता है । 'स्यात्' इस पद का अर्थ सन्देह-शक, अनिश्चय और शायद नहीं है, अन्यथा सन्देह होने से एक वस्तु में अनेक धर्मों की सत्ता सिद्ध नही हो सकती । अतः 'स्यात्' इस पद का अर्थ दृष्टिकोण, अपेक्षा तथा विवक्षा है उससे एक वस्तु में अनेक धर्मों की सिद्धि होती है, इसका प्रमाण यह है—

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम् ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ।।
(अष्टसहस्री श्लो० १०३)

"द्योतकाश्च भवन्ति निपाताः" इत्यत्र च शब्दात् वाचकाश्च इति व्याख्यानात्—(सप्तभंगतरङ्गिणी पृ० २३) ।

अर्थात्—'स्यात्' यह पद वाक्य में मुख्य अर्थ का वाचक है और गौण (अप्रधान) अर्थ का द्योतक है । इसप्रकार यह स्यात्पद एक वस्तु में अनेक अर्थात् परस्पर विरोधी दो धर्मों को सिद्ध करने वाला होने से अनेकान्त को प्रकाशित करता है । प्रकृत में स्यात्पद कहीं पर निश्चयधर्म का वाचक है और व्यवहारधर्म का द्योतक है तथा कहीं पर व्यवहार का वाचक है तो कहीं निश्चय का द्योतक है । एक ही समय में वाचक तथा द्योतक दो धर्म सिद्ध होते हैं । उदाहरण के लिये एक भावपूजनरूप निश्चयधर्म प्रधान होने पर, द्रव्यपूजनरूप व्यवहारधर्म का लोप नहीं करता और द्रव्यपूजनरूप व्यवहारप्रधान होनेपर, भावपूजनरूप निश्चय का लोप नहीं करता, किन्तु भाव-द्रव्य पूजनरूप दोनों ही कर्त्तव्य एक साथ चलते हैं । इस विषय में श्रीअमृतचन्द्र आचार्य का प्रमाण—

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तवेत्न भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ।।
(पुरुषार्थ० श्लो० ८)

तात्पर्य—जो मानव व्यवहार और निश्चय को अच्छी तरह समझकर दोनों निश्चय-व्यवहाररूप पक्षों को स्वीकार करता है, एक ही पक्ष का हठ नहीं करता है वही शिष्य तत्त्वोपदेश के लौकिक तथा अलौकिक सभी फल को प्राप्त करता है । अन्य प्रमाण भी देखिये—

सुद्धोसुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदापुण जे दु अपरमेट्ठिदाभावे ।।
(समयसार गाथा १२)

अर्थात्—जो शुद्धनय की अपेक्षा पूर्ण सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-आचरणवान् हो गये हैं उन शुद्ध परम आत्माओं को शुद्धनिश्चयधर्म आचरण करने योग्य है कि—शुद्ध नित्य एक ज्ञानस्वभाव आत्मा में रमण करना और जो आत्माएं श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता को प्राप्त नहीं हुई हैं, परन्तु रत्नत्रय की पूर्णता करने के पुरुषार्थ में लीन हैं, उन आत्माओं को साधकदशा में व्यवहारनय की शैली से तत्त्वोपदेश करना चाहिये। इसी गाथा के कलश नं० ४-५-६ में भी यही विषय दर्शाया गया है कि श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता को प्राप्त आत्माएं शुद्ध-निश्चय का अवलम्बन करें और रत्नत्रयसाधना में मग्न आत्माएं निश्चय का लक्ष्य रखते हुए व्यवहार का आलम्बन करें। सारांश—आत्महित में दोनो नयों का आश्रय लेना ही उपयोगी है। निश्चय और व्यवहार के समन्वय में वैज्ञानिक उदाहरण—

पक्षाभ्यां पतगः समुड्डनपरो विद्युच्च तारद्वयात्
गच्छेच्चक्रयुगेन साधुशकटं स्त्रीपुंसमुत्था प्रजा।
ज्ञानंपंगु तथान्धला च करणिः योग्यानयोः संगति–
रेकं यो विरहय्यवष्टिमुगतिं, सोऽज्ञानिनामग्रणीः ॥१॥

सारांश—जिसप्रकार पक्षी दो पंखों से उड़ते हैं, जैसे दो तारो Positive and Negative से बिजली का प्रकाश उत्पन्न होता है, जैसे दो पत्थरों के संघर्ष से अग्नि उत्पन्न होती है, जैसे दो चक्रों के सहयोग से गाडी अच्छी तरह चलती है, जैसे स्त्री-पुरुष के संयोग से सन्तान उत्पन्न होती है, जैसे क्रिया के बिना ज्ञान लंगड़ा (व्यर्थ) है और ज्ञान के बिना क्रिया अन्धी है। तथा ज्ञान एवं क्रिया दोनों की सगति कार्यकारी है। उसीप्रकार व्यवहार के बिना निश्चयधर्म लंगडा है और निश्चयधर्म के बिना व्यवहारधर्म अन्धा है तथा दोनों का सहयोग हितकारी है जो व्यक्ति उक्त दो-दो पदार्थों में से एक को छोड़कर एक को उपयोगी कहता है, हठग्राही वह अज्ञानियों का मुखिया है।

निश्चय और व्यवहार नयों के भेद प्रभेद :

"भूताभूतार्थभेदेन व्यवहारोऽपिद्विधा, शुद्धनिश्चयाशुद्धनिश्चयभेदेन निश्चयनयोऽपि द्विधा इति नयचतुष्टयम्"।

(समयसार गाथा ११, तात्पर्यवृत्ति टीका पृ० २३)

व्यवहारनय भी दो प्रकार का है १ भूतार्थ (सत्यार्थ), २ अभूतार्थ (असत्यार्थ)। निश्चयनय भी दो प्रकार का है १ शुद्धनिश्चय, २ अशुद्धनिश्चय। भूतार्थव्यवहारनय दो प्रकार का है १ अनुपचरित (मुख्य), २ उपचरित (गौण)। अभूतार्थव्यवहारनय भी दो प्रकार का है १ अनुपचरित अभूतार्थव्यवहारनय, २ उपचरित अभूतार्थ व्यवहारनय इसप्रकार नयोंके साधारणदृष्टिसे छह भेद होते है। इनका विस्ताररूप कथन आलापपद्धति, नयचक्र आदि ग्रन्थों से जानना चाहिए।

देशना में युक्तिपूर्ण समन्वय :

श्रीअरहन्तदेव की दिव्यध्वनि, श्रीगणधर गुरु की वाणी और कोई आचार्य उपाध्याय अथवा अध्यापक महोदय के उपदेश को श्रवण करने वाला श्रोता या शिष्य उसके प्रयोग अथवा ग्रहण करने में सफलता को तभी प्राप्त कर सकता है जबकि वह शिष्य निश्चय तथा व्यवहारदृष्टि से तत्त्व को अच्छी तरह समझकर पक्षपात रहित होता है, किसी एकान्तवाद के चक्कर में नहीं उलझता है, उसका उपदेश श्रवण करना कल्याण-कारी होता है। इसी विषय को श्री अमृतचन्द्रजी आचार्य ने पुरुषार्थसिद्धयुपायग्रन्थ में स्पष्ट किया है—

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ।।

निश्चय और व्यवहार का वैज्ञानिक समन्वय :

विज्ञान की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण पर्याय और स्वभाव होते हैं, अपेक्षाकृत गुणों के संयोग और वियोग के परीक्षण से विज्ञानशाला में अनेक पदार्थों के नवीन आविष्कार हुए है । "ज्ञान में तो उन सबको एक साथ जानने की शक्ति है, परन्तु वचनों मे उन सबका कथन एक साथ करने की शक्ति नहीं है, क्योंकि एक समय में एक ही स्वभाव या गुण कहा जा सकता है । किसी पदार्थ के समस्त गुणों को एक साथ प्रकट करने के विज्ञान को, जैनदर्शन अनेकान्त अथवा स्याद्वाद के नाम से पुकारता है । यदि कोई व्यक्ति पूछे कि संखिया जहर है या अमृत ! तो स्याद्वादी यही उत्तर देगा कि संखिया जहर भी है, अमृत भी है, तथा जहर-अमृत दोनों भी है। अपेक्षा से एक वस्तु में उक्त तीनों गुण सिद्ध हो जाते हैं" । (श्री वर्धमान महावीर—पृष्ठ ३५८)

उपसंहार :

जैनदर्शन में अनेकान्त प्राण की तरह माना गया है, उसमें स्याद्वादशैली से एक द्रव्य में परस्पर विरोधी दो धर्म सातप्रकार से सिद्ध किये गये गये है, उनको सप्तभङ्गनय कहते हैं । इसप्रकार अनन्त धर्मों की सत्ता वस्तु (द्रव्य) में विद्यमान है । इसी शैली से द्रव्य में निश्चयव्यवहार, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, बन्ध-मोक्ष, संवर-आस्रव, द्रव्य-भाव, शुद्ध-अशुद्ध, सत्-असत्, सामान्य-विशेष, मूर्त-अमूर्त, गुण-गुणी, निमित्त-उपादान, संयोग-वियोग इत्यादि तत्त्वों का उपयोगी एवं वैज्ञानिक समन्वय किया गया है । यदि जीवन में आत्मकल्याण करने की इच्छा है तो मानव को स्याद्वाद सिद्ध समन्वय के मार्ग पर चलना ही नितान्त आवश्यक है ।

योगी जिन्हें स्वेच्छा से त्यागता है, भोगी को विवश होकर उन्हें त्यागना पड़ता है । एक स्वेच्छा से त्यागकर निराकुल शान्ति प्राप्त करता है और दूसरा स्वयं उनसे परित्यक्त होकर दीन बनता है, क्योंकि विषय तो जाने वाले ही थे । विषय सुखों की रात्रि लम्बी हो सकती है, किन्तु शाश्वत नहीं ।

जैन ग्रन्थों में चतुरार्यसत्य समीक्षा

❖ डॉ० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर (उ० प्र०)

बौद्धमत में बुद्ध ही देव हैं। ये दुःखादि चार आर्यसत्यों का उपदेश देते हैं।[1] जो सभी हेयधर्मों से दूर हो गए है उन्हे आर्य कहते हैं। जिसके द्वारा साधुओं को मुक्ति की प्राप्ति होती है अथवा जिसके द्वारा समस्त पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ चिन्तन होता है अथवा जो सत्पुरुषों को हितकारक है, वह सत्य है। आर्योंके चार सत्य होते हैं—दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग। बुद्ध इन्हीं चार आर्यसत्यों के आद्य उपदेष्टा हैं।[2]

दुःख :

रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये पांच विपाकरूप उपादान स्कन्ध ही दुःख हैं।[3] दूसरे शब्दों में संसारी स्कन्ध ही दुःख है।[4] दुःख चार प्रकार के है—सहज, शारीर, मानस और आगन्तुक। क्षुधा, तृषा, काम, भय आदि सहज दुःख हैं। वात, पित्त और कफ के वैषम्य से उत्पन्न शारीर दुःख है। धिक्कार, अवज्ञा, इच्छा के विघात आदि से उत्पन्न दुःख मानस है। शीत, वायु, गर्मी, वज्रपात आदि से उत्पन्न दुःख आगन्तुक हैं। इस दुःख से विशिष्ट संसारियों के चित्तक्षण दुःख शब्द से कहे जाते हैं।[5]

स्कन्ध—सचेतन और अचेतन परमाणुओ के प्रचय को स्कन्ध कहते हैं। स्कन्ध पांच ही होते है। इन पाच स्कन्धों से भिन्न आत्मा नाम का छठा स्कन्ध नही है। अर्थात् नाम रूपात्मक इन्हीं पाच स्कन्धों में आत्मा का व्यवहार होता है। यही पांच स्कन्ध एक स्थान से दूसरे स्थान को तथा एक भव से भवान्तर को जाते हैं अतः संसरण धर्मा होने से संसारी हैं। इन्हीं संसारी पांच स्कन्धों को दुःख सत्य कहते हैं।[6] इन पाच स्कन्धों का लक्षण निम्नलिखित है—

विज्ञानस्कन्ध—रूप, रसादि विषयक निर्विकल्पक ज्ञानों को विज्ञान स्कन्ध कहते है। 'वि' अर्थात् विशिष्ट ज्ञान विज्ञानस्कन्ध है।[7] निर्विकल्पक ज्ञान का स्वरूप इसप्रकार बताया है—

---

१ तत्र बौद्धमते तावद्देवता सुगतः किल।
चतुर्णामार्यसत्यानां दुःखादीनां प्ररूपकः॥ षड्दर्शन समुच्चय—४॥

२. वही पृ. ३८। ३. वही पृ. ३८

४. दुःख संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च॥ वही, कारिका–५॥

५. विद्यानन्दः सत्यशासनपरीक्षा पृ. २०। ६. षट्दर्शनसमुच्चय पृ. ४०।

७. वही, पृ. ४०।
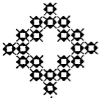
सर्वप्रथम निर्विकल्पक आलोचना ज्ञान होता है। यह मूक बच्चों आदि के विज्ञान की तरह शुद्ध वस्तु से उत्पन्न होता है।[८]

आचार्य विद्यानन्द महोदय ने सत्यशासन परीक्षा में सविकल्पक, निर्विकल्पक ज्ञानों को विज्ञानस्कन्ध कहा है। जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य और संज्ञा ये पांच कल्पनाएं है, इन कल्पनाओं से सहित ज्ञान सविकल्पक है, इनसे रहित ज्ञान निर्विकल्पक है। (सत्यशासन परीक्षा पृ० २०)

वेदनास्कन्ध—सुखरूप, दुःखरूप और असुख-दुःखरूप (जिसे न सुख ही कह सकते है और न दुःख ही) अनुभव (वेदना) को वेदना स्कन्ध कहते है। पूर्वकृत कर्मों के परिपाक से कर्म के फल की सुखादिरूप से वेदना होती है। एकबार जब सुगत भिक्षा के लिए जा रहे थे तब उनके पैरो में एक काटा लग गया। उस समय उन्होंने कहा था—"हे भिक्षुओ! आज से एकानवें कल्प मे मैने शक्ति-छुरी से एक पुरुष का वध किया था उसी कर्म के विपाक से आज मेरे पैर में कांटा लगा है।"[९]

संज्ञास्कन्ध—जिन प्रत्ययों मे शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्तो की उद्ग्रहणा अथवा योजना हो जाती है, उन सविकल्पकप्रत्ययो को संज्ञा स्कन्ध कहते हैं। गो, अश्व इत्यादि संज्ञायें है। ये संज्ञाए वस्तु के सामान्य धर्म को निमित्त बनाकर व्यवहार में आती हैं। जैसे गो संज्ञा गोत्वरूप सामान्यधर्म जहा-जहां होगा, वहा-वहां प्रवृत्त होगी। इसीलिए गोत्व आदि सामान्य गो आदि संज्ञाओ का अपने प्रवृत्तिनिमित्तोके साथ उद्ग्रहण-योजना करने वाला सविकल्पकप्रत्यय संज्ञास्कन्ध है अर्थात् नाम, जाति आदि की योजना करके 'यह गौ है, यह अश्व है' इत्यादि व्यवहार का प्रयोजक सविकल्पकज्ञान संज्ञास्कन्ध कहलाता है।[१०] आचार्य विद्यानन्द ने वृक्षादि नामो को संज्ञा-स्कन्ध कहा है।[११]

संस्कारस्कन्ध—पुण्य-पाप आदि धर्मो के समुदाय को संस्कारस्कन्ध कहते है। इसी संस्कारस्कन्ध के प्रबोध से पहले जाने गए पदार्थ का स्मरण, प्रत्यभिज्ञानादि होते हैं।[१२] आचार्य विद्यानन्द ने ज्ञान, पुण्य, पापादि की वासना को संस्कारस्कन्ध कहा है।[१३]

रूपस्कन्ध—पृथिवी आदि धातुएं तथा रूपादि विषय रूपस्कन्ध कहलाते है।[१४] रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के परस्पर असम्बद्ध और सजातीय तथा विजातीय परमाणुओं से भिन्न परमाणु रूपस्कन्ध है।[१५]

समुदय :

जिससे पंचस्कन्धरूप दुःख उत्पन्न होता है, वह समुदय है। यह समुदय शब्द की व्युत्पत्ति है।[१६] जिससे लोक मे 'मै हू, यह मेरा है' इत्यादि अहंकार और ममकाररूप समस्त रागादिभावों का समूह उत्पन्न होता है उसे समुदय कहते है। (अहंकार और ममकार रूप से होने वाला) आत्मभाव और आत्मीयभाव ही समुदय तत्त्व है। एक जगह अहकार और ममकार होने से अन्यत्र परकीय बुद्धि उत्पन्न होती है। तात्पर्य यह है कि आत्मभाव, आत्मीयभाव, परभाव और परकीयभावों से ही राग-द्वेष आदि दोष उत्पन्न होते है।[१७]

---

८. अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथम निर्विकल्पकम्। बालमूर्कादिविज्ञानसदृश शुद्धवस्तुजम्॥
[मीमासा श्लोकवार्तिक प्रत्य. ११२]

९. षड्दर्शन समुच्चय पृ ४१, सुखदुःखादयो वेदनास्कन्धाः [सत्यशासन परीक्षा पृ. २०]
इत्येकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तत्कर्मणो विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षव॥

१०. षड्दर्शन समुच्चय पृ. ४१। ११. वृक्षादि नामानि संज्ञास्कन्धाः [स. शा. प पृ. २०]

१२. षड्दर्शन समुच्चय पृ. ४१। १३. 'ज्ञान-पुण्य-पाप-वासनाः संस्कारस्कन्धाः.' [स. शा. प पृ. २०]

१४. पृथिवि धात्वादयो रूपादयश्च रूपस्कन्धाः॥ [षड्दर्शन समुच्चय पृ. ४१। १५. स. शा. प. पृ २०।

१६. "समुदेति स्कन्धपञ्चकलक्षणं दुःखमस्मादिति व्युत्पत्तिः" [षड्दर्शन समुच्चय पृ. ३९]

१७. षड्दर्शन समुच्चय पृ. ४२-४३।

आचार्य विद्यानन्द के अनुसार दुःख जनक कर्मबन्ध के हेतुभूत अविद्या और तृष्णा समुदय शब्दके द्वारा कहे जाते हैं। वस्तु की यथार्थ जानकारी न होना अविद्या है। इष्ट और अनिष्ट इन्द्रिय विषयों की प्राप्ति और परिहार की इच्छा को तृष्णा कहते है।[१८]

मार्ग :

निर्वाण के इच्छुक मुमुक्षु जिसे ढूंढ़ते हैं, जिसकी याचना करते हैं, वह मार्ग है। निरोध में हेतुभूत नैरात्म्यादि भावना रूप से परिणत चित्त विशेष ही मार्ग कहलाता है।[१९] संसार के सभी पदार्थ क्षणिक है, इस क्षणिक भावना को मार्गतत्त्व कहते है।[२०]

परमनिकृष्ट अर्थात् सबसे सूक्ष्म काल को क्षण कहते हैं। संसार के सभी संस्कार या पदार्थ एक क्षण तक ही रहते हैं और द्वितीय समय में वे स्वतः नष्ट हो जाते है अतएव क्षणिक हैं। जगत् के सभी पदार्थ अपने-अपने कारणों से विनश्वर स्वभाव लेकर उत्पन्न होते हैं या अविनश्वर स्वभाव लेकर ? यदि पदार्थ नित्य स्वभाव वाले हैं तो नित्य पदार्थ की सत्ता में व्याप्य-व्यापकभाव है। अर्थक्रिया व्यापक है और पदार्थ की सत्ता व्याप्य है। अर्थक्रिया क्रम से होती है या युगपत्। जब नित्य पदार्थ में क्रम और युगपत् दोनों प्रकार से अर्थक्रिया नहीं बनती अर्थात् सत्त्व की व्यापक अर्थक्रिया का अभाव है तो व्याप्यभूत सत्ता का अभाव होने से अविनश्वर स्वभाववाली वस्तु का भी अभाव हो जाता है।[२१]

"क्षणिकाः सर्वसंस्काराः इति" यहां इति शब्द प्रकारवाची है। अतः आत्मा नामका स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है किन्तु पूर्वापर ज्ञानप्रवाहरूप सन्तानें ही हैं, इत्यादि प्रकारों का संग्रह हो जाता है। इसलिए यह फलितार्थ हुआ कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं, आत्मा नहीं है इत्यादि प्रकार की जो वासना है उसे बौद्धमत के अनुसार मार्ग नाम का आर्य सत्य कहते हैं। पूर्वज्ञान से उत्पन्न होने वाले उत्तरज्ञान में पूर्वज्ञान से क्षण परम्परा से जो शक्ति प्राप्त होती है, उसे वासना या मानसी प्रतीति कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं, आत्मा नहीं है, इत्यादि क्षणिक नैरात्म्यादि आकारवाला चित्त विशेष ही मार्ग है। यह मार्ग सत्य निरोध का कारण होता है।[२२]

अष्टाङ्गिक मार्ग—मोक्ष की कारण मार्गणा हैं। मार्गणा के आठ अंग है—१ सम्यक्त्व २ संज्ञा ३ संज्ञी ४ वाक्कर्म ५ कायकर्म ६ अन्तर्व्यायाम ७ आजीवस्थिति ८ समाधि।

१ सम्यक्त्व—पदार्थों का यथात्म्यदर्शन सम्यक्त्व है।

२ संज्ञा—वाचक शब्द संज्ञा है।

३ संज्ञी—वाच्य अर्थ संज्ञी है।

४-५—वाक्काय—वचन और काय के कार्य वाक्काय हैं।

६ अन्तर्व्यायाम—वायुधारणा अन्तर्व्यायाम है।

७ आजीवस्थिति—आयुपर्यन्त प्राण धारण करना आजीवस्थिति है।

८ समाधि—सब दुःख है, सब क्षणिक है, सब निरात्मक है, सब शून्य है, इसप्रकार सत्यभावना का नाम समाधि है। समाधि के प्रकर्ष से अविद्या और तृष्णा का नाश हो जाने पर समस्त पदार्थों के

---

१८ सत्यशासनपरीक्षा पृ. २१।

१९ षड्दर्शन समुच्चय पृ० ३९।

२० क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासनायका।
स मार्ग इति विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते ॥ [षड्दर्शन समुच्चय पृ० ४३]

२१ षड्दर्शन समुच्चय पृ० ४३-४४। २२ षड्दर्शनसमुच्चय पृ० ४९।

अवभासक निरास्रव चित्तक्षण उत्पन्न होते हैं। यह योगि प्रत्यक्ष है। वह योगि जब तक आयु है तब तक उपासकों को धर्म का उपदेश देकर आयु का अवसान होने पर प्रदीपनिर्वाण कल्प आत्म-निर्वाण प्राप्त करता है, क्योंकि उसके उत्तर चित्त की उत्पत्ति का अभाव है।[२३]

निरोध :

मोक्ष या अपवर्ग को निरोधतत्त्व कहते हैं। चित्त की निःक्लेशावस्था रूप निरोधमुक्ति कहलाती है।[२४] आचार्य विद्यानन्द के शब्दों में अविद्या और तृष्णा का विनाश हो जाने पर निरास्रव चित्त सन्तानोत्पत्ति लक्षण अथवा सन्तानोच्छेद लक्षण मोक्ष होता है, यही निरोध है।[२५]

मोक्ष का स्वरूप और उसकी प्राप्ति के उपाय :

मोक्ष का स्वरूप—मोक्ष के स्वरूप के विषय में सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने 'प्रदीपनिर्वाण-कल्पमात्मनिर्वाणम्'[२६] कहकर बौद्ध दृष्टिकोण को व्यक्त किया है। इसका तात्पर्य यह है कि बौद्धों के अनुसार जिसप्रकार दीपक बुझ जाता है उसीप्रकार आत्मा की सन्तान का विच्छेद होना ही मोक्ष है।[२७] महाकवि अश्वघोष ने सौन्दरनन्द में कहा है[२८]—जिसप्रकार निर्वाण को प्राप्त हुआ दीप न पृथ्वी पर रहता है, न आकाश में जाता है, न किसी दिशा या विदिशा में, किन्तु तेल समाप्त हो जाने पर केवल शान्ति को प्राप्त होता है उसीप्रकार निर्वाण को प्राप्त हुआ धन्य पुरुष न पृथ्वी पर रहता है, न आकाश में जाता है और न किसी दिशा या विदिशा में ही, किन्तु क्लेशों (पापों, दोषों) का नाश होने पर केवल शान्ति को प्राप्त होता है। अश्वघोष के इसी अभिप्राय को अकलङ्कदेव ने भी तत्त्वार्थवार्तिक में[२९] व्यक्त किया है। जब सब पदार्थों में अनित्य, निरात्मक, अशुचि और दुःखरूप तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है फिर अविद्या के विनाश से क्रमशः सस्कार आदि नष्ट होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है।[३०]

अष्टसहस्री में "निरास्रव चित्तसन्तान की उत्पत्ति मोक्ष है।"[३१] ऐसा बौद्धों की ओर से कहा गया है। अविद्या और तृष्णा के द्वारा बन्ध अवश्यभावी है। दुःख में विपर्यासबुद्धि-अविद्या अथवा तृष्णा ही बन्ध के कारण है, जिस प्राणी के ये दोनो नही हैं, वह ससार को प्राप्त नही होता है।[३२] आचार्य विद्यानन्द ने सत्य-

---

२३ सत्यशासन परीक्षा पृ० ८।

२४ षड्दर्शन समुच्चय पृ० ५०।

२५ निरोधो नाम अविद्या तृष्णाविनाशेन निरास्रवचित्त सन्तानोत्पत्तिलक्षण सन्तानोच्छित्ति लक्षणो वा मोक्षः।
(स० शा० प० पृ० २१)

२६ सर्वार्थसिद्धि पृ० २। २७ प्रदीपस्येव निर्वाण विमोक्षस्तस्य चेतस.॥ [प्रमाणवार्तिकालकार—१/४५]

२८ दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्ष।
दिश न काचिद्विदिश न काचित्स्नेह क्षयात्केवलमेति शान्ति॥
एव कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्ष।
दिश न काचिद्विदिश न काचित्क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्ति॥ [सौन्दरनन्द–१६/२८-२९]

२९ यथा वर्तिस्नेहानलसन्निपाते प्रदीपोऽनुपरतवृत्त्या प्रवर्तमानस्तत्क्षये न काश्चिद्दिशं विदिश वा गच्छति तत्रैवात्यन्त-विनाशमुपयाति तथा कारणवशात् स्कन्धप्रतिसन्धानरूपेण प्रवर्तमानः स्कन्धसमूहो जीवव्यपदेशभाक् क्लेशक्षयान्न काञ्चिद्दिशं विदिश वा गच्छति। तत्रैवात्यन्तप्रलयमेतीति—अकलङ्कदेवः तत्त्वार्थवार्तिक १०/४/१७।

३० तत्त्वार्थवार्तिक १/१/४६।

३१ निरास्रवचित्तसन्तानोत्पत्तिर्मोक्षः—अष्टसहस्री प्रथम भाग पृ० ३६१ (आ० ज्ञानमतीजी कृत अनुवाद)

३२ अष्टसहस्री पृ० २६४।

शासन परीक्षा में बौद्धों के 'प्रदीपनिर्वाणकल्पमात्मनिर्वाणम्' लक्षण को उद्धृत करके एक कारिका प्रदीपवत् निर्वाण के समर्थन में उपस्थित की है।[३३] इसके पश्चात् उन्होंने महाकवि अश्वघोष द्वारा सौन्दरनन्द मे व्यक्त मुक्ति सम्बन्धी उपर्युक्त मन्तव्य को भी उद्धृत किया है।[३४]

नैरात्म्य भावना से विशुद्ध ज्ञानोत्पत्तिरूप मोक्ष होता है :

कार्य कारणभूत ज्ञानक्षण प्रवाह से भिन्न दूसरी आत्मा असम्भव है। ऐसी अवस्था में मुक्ति की अवस्था में किसकी ज्ञानादि स्वभावता का प्रसाधन किया जावेगा ? आत्मदर्शी के लिए मुक्ति दूर है। जो आत्मा को स्थिरादिरूप देखता है उसका आत्मामें स्थैर्यादि गुणदर्शन निमित्त स्नेह अवश्यंभावी है। आत्मस्नेह से आत्म-सुखों में तृष्णा करता हुआ वह सुखों में और सुख के साधनों में दोषों का तिरस्कार करके गुणो का आरोपण करता है। गुणदर्शी परितृप्त होता 'यह मेरा है, इसप्रकार से सुख के साधनों को ग्रहण करता है, अत: जबतक आत्मदर्शन है तब तक संसार है।[३५] इसलिए मुक्ति की इच्छा रखने वाले के स्वरूप को और पुत्र, स्त्री आदि को श्रुतमयी, चिन्तामयी भावना के द्वारा अनात्मक, अनित्य, अशुचि और दुःखरूप मानना चाहिए। इसप्रकार की भावना करनेवाले की आत्मा में राग नहीं होता है। अत: सास्रव चित्तसन्तान लक्षण संसारनिवृत्तिरूप मुक्ति ठीक है।[३६]

चतु:शतक मे कहा गया है कि जो अद्वितीय शिव का द्वार है, कुदृष्टियों के लिए भयङ्कर है तथा जो समस्त बुद्धों का विषय है, उसे नैरात्म्य कहते हैं।[३७] तत्त्वत: नैरात्म्य है, इसप्रकार जिसकी बुद्धि हो जाती है उसको भाव से कैसे प्रीति हो सकती है और अभाव से कैसे भय हो सकता है।[३८] निरन्वयविनश्वर चित्तक्षणों मे एकत्व के अध्यारोप से आत्माभिनिवेश ऐ आत्मप्रेमानुगत प्राणि नामवाला स्कन्ध सन्तान सासारिक सुख-साधनों मे प्रवृत्त होता हुआ सास्रव चित्तसन्तानों को बढाता है। अत: झूठी आसक्ति का निराकरण करने के लिए नैरात्म्य का अभ्यास करना चाहिए। इसके अभाव मे आत्मा के प्रति आसक्ति का निराकरण नही होगा। आसक्ति का निराकरण न होने से इन्द्रियादिको में उपभोग के आश्रयरूप से गृहीत आत्मीयबुद्धि का निवारण अशक्य होने से वैराग्य असम्भव होने से मोक्ष भी नही होगा।[३९]

शङ्का—नैरात्म्य की भावना का अभाव होने पर भी कायक्लेश जिसका लक्षण है ऐसे तप से समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से मोक्ष हो जावेगा।

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है। कायक्लेश भी कर्म का फल है। नारकादि के शरीर के सन्ताप के समान होने से वहां तप का योग नही है। कर्म की शक्ति विचित्र है, ऐसा कर्म मात्र काय को सन्ताप देने से कैसे क्षय हो जावेगा, अतिप्रसङ्ग दोष आ जावेगा।

---

३३ क्षणादूर्ध्वं न तिष्ठन्ति शरीरेन्द्रियबुद्धय:।
दीपार्चिरिवर्तन्ते स्कन्धा: क्षणविलम्बिता:।। सत्यशासन परीक्षा पृ० २१। ३४ स० शा० प० पृ० २१।

३५ प्रभाचन्द्र: न्यायकुमुदचन्द्र (भाग २) पृ० ८२८।
य: पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वत: स्नेह:। स्नेहात्सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषास्तिरस्कुरुते।।
गुणदर्शीपरितृष्यन् ममेति सुखसाधनान्युपादत्ते। तेनात्माभिनिवेशो यावत्तावत् स संसार:।।
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ। अनयो सम्प्रतिबद्धा. सर्वे दोषा: प्रजायन्ते।।
[प्रमाणवार्तिक १/२/९–२१]

३६ न्यायकुमुदचन्द्र द्वितीयभाग पृ० ८३९।

३७ अद्वितीय शिवद्वारं कुदृष्टीनां भयङ्करम्। विषय. सर्वबुद्धानामिति नैरात्म्यमुच्यते।। चतु: शतक पृ० १५१

३८ तत्त्वो नैरात्म्यमिति यस्यैवं वर्तते मति:। तस्याभावात्कुत: प्रीतिरभावेन कुतो भयम्।। वही पृ० १५६

३९ न्यायकुमुदचन्द्र द्वितीयभाग पृ० ८३९–४०, प्रमाणवार्तिक १/२२९।

शङ्का—तप कर्मशक्तियों के सङ्कर से क्षय करनेरूप स्वभाव वाला है, ऐसा मानने पर तप के एक रूप से भी विचित्र शक्ति वाले कर्म का क्षय हो जावेगा।

समाधान—इसप्रकार थोड़े से भी क्लेश से एक उपवासादि से भी समस्त कर्मों के क्षय की प्राप्ति हो जावेगी, ऐसा माने बिना शक्ति का साङ्कर्य नहीं बनता है।[४०]

समीक्षा :

प्रदीपनिर्वाणकल्प आत्मनिर्वाण केवल कल्पना का विषय है—

पूज्यपादाचार्य के अनुसार जैसे गधे के सींग केवल कल्पना के विषय होते हैं, स्वरूपसत् नहीं, उसी प्रकार बौद्धों की प्रदीपनिर्वाणकल्प आत्मनिर्वाण की कल्पना है। यह बात उन्हीं (बौद्धों) के कथन से सिद्ध हो जाती है।[४१]

बौद्धों के यहां सोपधिशेष और निरुपधिशेष ये दो प्रकार के निर्वाण माने गए हैं। सोपधिशेष निर्वाण में केवल अविद्या, तृष्णा आदिरूप आस्रवों का ही नाश होता है, चित्त सन्तति भी नष्ट हो जाती है। यहां मोक्ष के इस दूसरे भेद को ध्यान में रखकर आलोचना की गई है।[४२]

प्रदीप का निरन्वय विनाश असिद्ध है—प्रदीप का निरन्वय विनाश असिद्ध है, जैसे कि मुक्त जीवों का। दीपक रूप से परिणत पुद्गलद्रव्य का भी विनाश नहीं होता है। उनकी पुद्गल जाति बनी रहती है। जैसे—हथकडी-बेड़ी आदि से मुक्त देवदत्त का स्वरूपावस्थान देखा जाता है उसीप्रकार कर्मबन्ध के अभाव से आत्मा का स्वरूपावस्थान होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है।[४३]

आस्रवरहित चित्तसन्तान का नाम मोक्ष है, यह कथन भी युक्ति-आगम से बाधित है :

वास्तव में चित्त ज्ञान क्षणों में अन्वय पाया जाता है। सन्तानों का सर्वथा उच्छेद भी नहीं हो सकता है। निरन्वय क्षणक्षय को एकान्त से स्वीकार करने पर मोक्ष की सिद्धि बाधित ही है।[४४] आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—"एकत्व के अभाव में निर्बाध सन्तान, समुदाय, साधर्म्य और प्रेत्यभाव आदि का अभाव हो जावेगा।[४५]

अविद्या और तृष्णा के द्वारा एकान्त रूप बंध कहना सम्यक् नहीं है :

यदि बौद्ध कहें कि अविद्या तृष्णा के द्वारा बन्ध अवश्यंभावी है तो उनका यह कहना सम्भव नहीं है, अन्यथा योगियों के ज्ञान का अभाव हो जावेगा। अयोगी हम लोगों के तो प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा सम्पूर्ण तत्त्वज्ञानरूप विद्या का होना ही असम्भव है, क्योंकि विशेषरूप ज्ञेय पदार्थ अनन्त हैं। 'अनन्ताः लोकधातवः' ऐसा बौद्धों ने स्वयं कहा है। अविद्या के नष्ट न होने पर तृष्णा भी नष्ट नहीं हो सकती है कि जिससे सुगत—सर्वज्ञ हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है।

बौद्ध—अल्पज्ञान से मोक्ष होता है, क्योंकि उपाय (कारण) सहित हेयोपादेय तत्त्व को जाननेवाला सुगत है, ऐसा कहा है।

---

४० न्यायकुमुदचन्द्र द्वितीयभाग पृ० ८४१।

४१ तस्य खरविषाणकल्पना तैरेवाहृत्य निरूपिता ।। सर्वार्थसिद्धि पृ० २

४२ सर्वार्थसिद्धि पृ० ३ प० फूलचन्द शास्त्री कृत विशेषार्थ। ४३ तत्त्वार्थवार्तिक १०/४/१७।

४४ अष्टसहस्री (प्रथम भाग) पृ० ३९२ [आ० ज्ञानमतीजी कृत अनुवाद] ४५ आप्तमीमांसा-२९।

जैन—तब तो बहुत से अवशिष्ट मिथ्याज्ञान से बन्ध सिद्ध हो जावे; क्योंकि उस बन्ध के निमित्तक तृष्णा भी विद्यमान है, अन्यथा "मिथ्याज्ञान और तृष्णा के द्वारा बन्ध अवश्यंभावी है" यह प्रतिज्ञा विरुद्ध क्यों नहीं हो जावेगी।[४६] पुनः ज्ञान के निर्ह्रास-अल्पज्ञान के अभाव से मोक्ष की प्राप्ति होती है, तब तो अज्ञान से भी मोक्ष की प्राप्ति हो जानी चाहिए। जैसे कि दुःख के अभाव से सुख की प्राप्ति होती है, वैसे ही ज्ञान के अभाव से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जानी चाहिए। अल्प दुःख की निवृत्ति होने से सुख की प्राप्ति होती है, पुनः बहुत से दुःखों का अभाव हो जाने पर विशेषरूप से सुख की प्राप्ति होती है। वैसे ही ज्ञान के अभाव से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जानी चाहिए। अल्प दुःख की निवृत्ति होने से सुख की प्राप्ति होती है, पुनः बहुत से दुःखों का अभाव हो जाने पर विशेषरूप से सुख की प्राप्ति होती है, यह बात असिद्ध तो है नहीं कि जिससे अल्पज्ञान की हानि से मोक्ष की प्राप्ति होने पर पूर्ण अज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति न हो सके अर्थात् थोड़े से ज्ञान की हानि से यदि मोक्ष होता है तो पूर्णतया ज्ञान के अभाव में विशेषरूप से मोक्ष की प्राप्ति हो जाना चाहिए। इसलिए अल्पज्ञान से मोक्ष होता है, यह एकान्तपक्ष श्रेयस्कर नहीं है, जैसे कि अज्ञान से निश्चित ही बन्ध होता है, यह पक्ष श्रेयस्कर नहीं है।[४७]

एकान्तपक्ष में आष्टांगिक मार्ग का होना नहीं बनता है :

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में कहा है कि एकान्ततः ध्रौव्य का यदि अभाव माना जावेगा केवल ध्रौव्य रहित उत्पाद व्ययात्मक ही सत् है, ऐसा माना जावे तो सत् के सर्वथा अभाव का प्रसग आता है और तत्त्वतः एक अवस्था से दूसरी अवस्था का होना निर्हेतुक टहरता है अर्थात् ध्रौव्य स्वभाव के बिना सत् के अभाव और असत् की उत्पत्ति का प्रसंग आता है अथवा सर्वदा सद्भाव और अभाव का ही प्रसंग आता है, क्योंकि निर्हेतुकता दोनों ही जगह समान है। हेतु से फल की अवस्थाएं भिन्न हैं अथवा अभिन्न हे। इन दोनों पक्षों मे भी दोष की सम्भावना है, अतः सम्यक्दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक्वाक्, सम्यङ्मार्ग सम्यगार्जव, सम्यग्व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि यह वचन भी व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि सत् से अवस्थाओं का सर्वथा भेद अथवा सर्वथा अभेद ही मानने पर कार्य कारण का भेद ही जब नही बनता है तो फिर किसी भी एकान्त पक्ष के लेने पर इन कारणों का उल्लेख निरर्थक ठहरता है।[४८]

चतुरार्य सत्य जीव और अजीव से भिन्न नही है—आचार्य हरिभद्र का कहना है कि बौद्धो के द्वारा माने गये दुःख समुदय आदि चार आर्य सत्य जीव और अजीव से भिन्न नही है। जो इन दो राशियो में सम्मिलित नही है, वह खरगोश के सीग के समान असत् है, क्योकि जीव और इन दो राशियों से सारा जगत् व्याप्त है।[४९]

सान्वयशुद्धचित्त सन्ततिरूप मोक्ष का समर्थन :

बौद्धों ने जो कहा था कि कार्य-कारणभूत ज्ञान क्षण प्रवाह से भिन्न आत्मा असम्भव है, वह बिना विचार किए कथन किया गया है। जैनो ने कार्य-कारणभूत क्षणप्रवाह से भिन्न आत्मा का बौद्धों द्वारा मान्य सन्तान के निषेध के अवसर पर[५०] विस्तृतरूप से समर्थन किया है। जो कहा गया है कि 'जो आत्मा को स्थिरादिरूप देखता है', इत्यादि, वह ठीक ही कहा गया है, किन्तु अज्ञजन दुःखानुपक्त सुख-साधनों में प्रवृत्त होता है जिसे हित और अहित का विवेक है वह तदात्विक सुख के साधन स्त्री आदि का परित्याग कर आत्मा के प्रति

४६ अष्टसहस्री पृ० २६४।

४७ अष्टसहस्री पृ० २६५।

४८ तत्त्वार्थाधिगम भाष्य पृ० २७७–७८। ४९ हरिभद्र: षड्दर्शनसमुच्चय पृ० २११।

५० न्यायकुमुदचन्द्र प्र० भाग पृ० ६-२०

स्नेह होने के कारण आत्यन्तिक सुख के साधन मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होता है। जैसे जिसे पथ्य और अपथ्य का विवेक नहीं है ऐसा रोगी तत्कालीन सुख के साधन दही आदि को जो कि रोग को बढ़ाने के कारण हैं ग्रहण कर लेता है, किन्तु जिसे पथ्य और अपथ्यका ज्ञान है, वह उसे छोड़कर आरोग्यके साधन पेयादि में प्रवृत्त होता है।[५१]

सर्वथा अनित्य, अनात्मकत्वादि भावना निर्विषय है, मिथ्यारूप वाली है, अतः सर्वथा नित्यादि भावना के समान वह मुक्ति का हेतु नहीं बन सकती। एक अनुसन्धाता के बिना कालान्तरावस्थायी भावना भी बनती है। जो बेड़ी आदि से बंधा हुआ है, उसी को उसकी मुक्तिके कारण का ज्ञान, अनुष्ठान अभिसन्धि आदि व्यापार के होने पर मुक्ति होती है, इसप्रकार वैयधिकरण्य होने से सब ठीक नहीं है।[५२]

सभी बुद्धि पूर्वक प्रवृत्त होते हुए 'यह कुछ है' अतः यह मेरी हो जावे, इसप्रकार सूक्ष्म निरीक्षण पूर्वक प्रवृत्त होते है। यहां यह बात विचारणीय है कि इसप्रकार कौन मार्गाभ्यास में प्रवृत्ति करता हुआ 'मेरा मोक्ष हो' इसप्रकार चेष्टा करता है, क्षण अथवा सन्तान? क्षण तो कर नही सकता, क्षण एक क्षणस्थायी और निर्विकल्पक होने से अपने व्यापार को करने में असमर्थ है। सन्तान को नही कर सकता; क्योंकि, बौद्धों ने संतानी से व्यतिरिक्त संतान मानी नही है। संतानका निषेध करनेपर उसको प्रवृत्तिका भी निषेध हो जाता है।[५३]

आत्मा को न मानने पर उसप्रकार के चित्तक्षणों मे एकत्व का अध्यारोप नही बनता है। एकत्व के अध्यारोप न बनने का विस्तृतरूप से वर्णन आचार्य प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र में सन्तानभङ्ग सिद्धान्त में किया है।[५४] संस्कारों के निरन्वयविनाशी होने पर मोक्ष के लिए प्रयास करना व्यर्थ है। आपके मत मे रागादि का उपरम मोक्ष है, वह उपरम विनाश है, उस विनाश के निर्हेतुक और अयत्नसिद्ध होने से उसके लिए अनुष्ठानादि का प्रयास निष्फल ही है। तपोऽनुष्ठानादि के द्वारा पुराने रागादि चित्तक्षण का नाश किया जाता है अथवा भावी-रागादि चित्तक्षण का अनुत्पाद होता है। अथवा रागादि चित्तक्षण की उत्पादक शक्ति का क्षय होता है या संतान का उच्छेद अथवा अनुत्पाद होता है या निरास्रवचित्तसन्तति का उत्पाद होता है? आदि का पक्ष तो ठीक नहीं है, विनाश के निर्हेतुक होने से आपके मत में कही से भी उत्पत्ति का विरोध है, अतएव द्वितीय पक्ष भी ठीक नही है, उत्पाद का अनुत्पाद है। वह अभावरूप होने से कैसे कही से उत्पन्न होगा, क्योंकि अपसिद्धांत का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। रागादि चितक्षण की शक्ति के क्षय के लिए किया गया प्रयास भी असङ्गत है। वह क्षय अभावरूप है, उसका कहीं से भी आत्मलाभ करना असम्भव है। इसी से संतान के उच्छेद अथवा अनुत्पादके लिए उसका प्रयास है यह उत्तर भी प्राप्त हो जाता है। क्षणोच्छेद अनुत्पाद के समान सन्तान के उच्छेद और अनुत्पाद के अभावरूप होने से कहीं से भी उत्पत्ति नहीं बनती है। यदि आप कहे कि सन्तान की वास्तविकता सिद्ध होने पर उच्छेद अथवा अनुत्पाद के लिए किया गया प्रयास युक्त है तो आपका यह कथन ठीक नही है, क्योंकि सन्तान वास्तविक सिद्ध नही है, आपने क्षणातिरिक्त सन्तान की वास्तविकता नही मानी है।[५५]

निरास्रव चित्तसन्तति उत्पत्ति लक्षणवाला पक्ष श्रेष्ठ है। वह चित्तसन्तति सान्वय है या निरन्वय? यह स्पष्टरूप से कहना चाहिए। इन दोनों पक्षो में चित्तसन्तति का सान्वय पक्ष ही युक्त है। उसप्रकार की चित्तसन्तान में ही मोक्ष बन जाता है। जो बद्ध होता है, वही मुक्त होता है, अबद्ध नही। निरन्वय चित्तसन्तान रूप पदार्थ परमार्थसत् है या संवृत्ति सत्? यदि परमार्थसत् है तो एक आत्मा का ही कथन भिन्न नाम से हो गया। यदि संवृत्ति सत् है तो एक के परमार्थरूप से असत् होने से अन्य बद्ध होता है और अन्य की मुक्ति होती है, यह प्रसङ्ग आ जाता है, ऐसी स्थिति में बद्ध की मुक्ति के लिए प्रवृत्ति नही होगी।[५६]

---

५१ न्या. कु. चन्द्र द्वि. भाग पृ. ८४१–८४२। तदात्वसुखसञ्ज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते।
हितमेवानुरुध्यन्ते अपरीक्ष्य परीक्षका:॥ [न्याय. वि. विवरण २/३३६]

५२ न्या. कु चन्द्र द्वि. भाग पृ ८४२। ५३ न्या. कु चन्द्र द्वि भाग पृ. ८४२।

५४ न्या. कु. चन्द्र प्रथमभाग पृ. ६–२०। ५५ वही द्वि. भाग पृ ८४२–४३।

५६ वही, प्र. भाग पृ. ८४४–४५।

अत्यन्त नानापना होने पर भी क्षणों में दृढ़तररूप से एकत्व का अध्यवसाय होता है और वे बद्ध आत्मा को छुड़ायेंगे इस उद्देश्य से प्रवृत्त होते हैं यदि आप ऐसा कहें तो इस प्रकार नैरात्म्यदर्शन कैसे होगा ? आपने तो नैरात्म्यदर्शन की भावना के अभ्यास से मुक्ति मानी है। जो हेयोपादेय को जानता है, वह आत्यन्तिक सुख की साधन उपभोग की आश्रयदाता आत्मा को मानता है।[५७] कहा भी है—

"एक शाश्वत आत्मा मेरा है जो कि ज्ञान-दर्शन लक्षणवाला है, शेष मेरे बाह्य भाव हैं, जो कि संयोग-लक्षण वाले हैं।"[५८]

"संयोग जिसका मूल है, ऐसी दुःख परम्परा को जीव ने पाया है। अतः इसप्रकार जो विवेकीजन भावना रखते हैं वे संयोग सम्बन्ध को मन, वचन, काय, से छोड़ देना चाहिए।"[५९]

इसप्रकार जो विवेकीजन भावना रखते हैं वे संयोग सम्बन्धी दुःख हेतुक पदार्थों में सुख का लेश होने पर भी दूसरी बार आत्यन्तिक सुख के साधन रत्नत्रय का दर्शन करते हुए सांयोगिक पदार्थों में आत्मीय बुद्धि नहीं रखते हैं।[६०]

हिंसादि से विरति जिनका लक्षण है, ऐसे व्रत को बढ़ाने वाले कायक्लेश का कर्मफलपना होने पर भी उसका तप से कोई विरोध नहीं है। व्रत का अविरोधी कायक्लेश कर्मनिर्जरा का हेतु होने के कारण तप कहा जाता है। ऐसा कहने से नारकादि कायक्लेश को तपपना प्राप्त होने का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता। नारकादि कायक्लेश में हिंसादि आवेश की प्रधानता रहती है अतः वह तप का विरोधी न हो, यह असम्भव है। इसलिए मुमुक्षु के कायक्लेश की समानता नारकादि कायक्लेश के साथ करना समझदारों को उचित नहीं है।[६१]

विचित्र फलदान में जो समर्थ हैं, ऐसे कर्मों का सङ्कर होने पर क्षीणमोह के अन्त्य समय में और अयोगी के चरम समय में क्लेश न होने से थोड़े से ही परमशुक्लध्यानरूप तप से कर्मों का प्रकृष्ट क्षय स्वीकार किया गया है, यदि ऐसा न माने तो जीवन्मुक्ति और परममुक्ति बन ही नहीं सकती। वह शक्ति का सङ्कर अत्यधिक क्लेश से साध्य है, अतः उसके लिये अनेक प्रकार के उपवासादि दुश्चर कायक्लेशादि अनुष्ठानोंरूप प्रयास करना युक्त है, उसके बिना यह सङ्कर अप्रसिद्ध है। अतः कथंचित् अनवच्छिन्न ज्ञानसन्तान अनेक प्रकार के दुर्द्धर तपके अनुष्ठान से मुक्त हो जाता है। ऐसा भले-बुरे का विचार करने वालोंमें दक्ष व्यक्तियों को जानना चाहिए।[६२]

---

५७ वही, पृ. ८४७।

५८ भावपाहुड़ गाथा ५६। ५९ मूलाचार।२/४८-४९। ६० न्या. कु. चन्द्र द्वि. भाग पृ. ८४६।

६१ वही, पृ. ८४७। ६२ वही, पृ. ८४७।

ईश्वर

परिकल्पित निरर्थकता

आत्मा का परब्रह्मत्व स्वरूप

❖ डा० महावीर सरन जैन, डी. फिल्, डी. लिट्
विश्वविद्यालय निवास गृह
पचपेढ़ी, जबलपुर

इस विशाल पृथ्वी पर जब कोई 'लघु मानव' सृष्टि विधान, जीवों की उत्पत्ति तथा उनके भाग्य का निर्माता आदि विषयों पर विचार करने के लिए उद्यत होता है तथा सृष्टि के विविध जीवों में सुख-दुःख की विषमतायें पाता है तो जगत के निर्माता, पालक एवं संहारक किसी अदृश्य एवं परम शक्ति के रूप में 'ईश्वर' की कल्पना करके, उसीको जीवों की उत्पत्ति एवं उनके भाग्य विधान का भी कारण मानकर संतोष कर लेता है। इसी भावना से अभिभूत हो वह इस प्रकार की विचारधारा अभिव्यक्त करता है कि जीवों का भाग्य ईश्वर के ही आधीन है, वही विश्व नियन्ता है, वही उन्हें उत्पन्न करता है, सरक्षण देता है तथा उनके भाग्य का निर्धारण करता है।

इन विषयों पर गहराई से विचार करने पर अनेक प्रश्न उत्पन्न होते है।

क्या ईश्वर ही मनुष्य के भाग्य का निर्माता है? क्या वही उसका भाग्य विधाता है? यदि कोई मनुष्य सत्कर्म न करे तो भी क्या वह उसको अनुग्रह से अच्छा फल दे सकता है? मनुष्य के जितने कर्म है वे सबके सब क्या पूर्व निर्धारित हैं? उसके इस जीवन के कर्मों का उसकी भावी नियति से क्या किसी प्रकार का कोई सम्बध नही है? मनुष्य ईश्वराधीन होकर ही क्या सब कर्म करता है या उसकी अपनी स्वतंत्र कर्तृत्व शक्ति भी है जिसके कारण वह अपनी निजी चेतनाशक्ति के कारण कर्मों के प्रवाह को बदल सकता है?

यदि ईश्वर ही भाग्य निर्माता होता तब तो वह मनुष्य को बिना कर्म के ही स्वेच्छा से फल प्रदान कर देता। यह मानने पर मनुष्य के पुरुषार्थ, धर्म आचरण, त्याग एवं तपस्या मूलक जीवन व्यवहार की सार्थकता ही समाप्त हो जावेगी।

यदि जीव ईश्वराधीन ही होकर कर्म करता होता तो इस संसार में दुःख एवं पीड़ा का अभाव होता। हम देखते हैं कि इस संसार में मनुष्य अनेक कष्टों को भोगता है। यदि ईश्वर या परमात्मा को ही निर्माता, नियंता एवं भाग्य विधाता माना जावे तो इसके अर्थ होते हैं कि ईश्वर इतना परपीड़ाशील है कि वह ऐसे कर्म कराता है जिससे अधिकांश जीवों को दुख प्राप्त होता है। निश्चय ही कोई भी व्यक्ति ईश्वर की 'परपीड़ाशील' स्वरूप की कल्पना नहीं करना चाहेगा।

इस स्थिति में जीव में कर्मों को करने की 'स्वातंत्र्य शक्ति' माननी पड़ती है।

यह जिज्ञासा शेष रह जाती है कि कर्मों को सम्पादित करने की शक्ति या पुरुषार्थ की स्वीकृति मानने के अनन्तर क्या परमात्मा कर्मोंके फल का विभाजन एक न्यायाधीश के रूप में करता है अथवा कर्मानुसार फल प्राप्ति होती है। दूसरे शब्दों में फलोद्भोग में परमात्मा का अवलम्बन अंगीकार करना आवश्यक है अथवा नहीं?

तार्किकदृष्टि से यदि विचार करे तो ईश्वर को नियामक एवं पाप-पुण्य का फल देने वाला मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। कारण-कार्य के सिद्धांत के आधार पर विश्व की समस्त घटनाओं की तार्किक व्याख्या करना सम्भव है। इस ब्रह्माण्ड में प्रत्येक मूलतत्त्व की अपनी मूलप्रकृति होती है तथा वह कार्य-कारण नियम के आधार पर अपने गुणानुसार बाह्य स्थितियों में प्रतिक्रियाएं करता है। यदि ऐसा न होता तो प्रकृति के नियमों की कोई भी वैज्ञानिक शोध सम्भव न हो पाती।

यह तर्क दिया जा सकता है कि ईश्वर ने ही प्रकृति के नियमों की अवधारणा की है। इन्हीं के कारण जीव सांसारिक कार्य प्रपच करता है।

इसका उत्तर यह है कि यदि ईश्वर के द्वारा ही प्रकृति के नियमों की अवधारणा हुई होती तो उसमें जागतिक कार्य प्रपंचों में परिवर्तन करने की भी शक्ति होती। हम देख चुके हैं कि यह सत्य नहीं है। इसका कारण यह है कि यदि ऐसा होता तो परमकरुण ईश्वर के द्वारा निर्धारित संसार के जीवों के जीवन में किंचित् भी दुख, अशान्ति एवं क्लेश नहीं होता।

यदि हम ईश्वर की कल्पना प्रशान्त, परिपूर्ण, रागद्वेष रहित, मोह विहीन वीतरागी आनन्द परिपूर्ण रूप में करते हैं तो भी उसे फल में हस्तक्षेप करनेवाला नहीं माना जा सकता। उस स्थिति में वह राग-द्वेष तथा मोह आदि दुर्बलताओं से पराभूत हो जावेगा।

यदि जीव स्वेच्छानुसार एवं सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में स्वतंत्र है, उसमें परमात्मा के सहयोग की कोई आवश्यकता नहीं है तथा वह अपने ही कर्मों का परिणाम भोगता है; फलप्रदाता भी दूसरा कोई नही है तो क्या उसकी उत्पत्ति एवं विनाश के हेतुरूप में किसी परमशक्ति की कल्पना करना आवश्यक है? इसी प्रकार क्या सृष्टि-विधान के लिए भी किसी परमशक्ति की कल्पना आवश्यक है? यदि नहीं तो फिर परमात्मा या ईश्वर की परिकल्पना की क्या सार्थकता है?

कर्त्तावादी सम्प्रदाय पदार्थ का तथा उसके परिगमन का कर्ता (उत्पत्ति-कर्ता, पालनकर्त्ता तथा विनाशकर्ता) 'ईश्वर' को मानते हैं। इस विचारधारा के दार्शनिकों ने ईश्वर की परिकल्पना सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की परमशक्ति के रूप में की है जो विश्व का कर्ता तथा नियामक है तथा समस्त प्राणियों के भाग्य का विधाता है।

इसके विपरीत चार्वाक, निरीश्वर सांख्य, मीमांसक, बौद्ध एवं जैन इत्यादि दार्शनिक परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते हैं। वैशेषिकदर्शन भी मूलतः ईश्वरवादी नहीं है।

भारतीयदर्शनों में नास्तिकदर्शन तो ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते; शेष षड्दर्शनों में प्राचीनतम दर्शन सांख्य है। इसका परवर्ती दार्शनिकों पर प्रभाव पड़ा है। इस दृष्टि से सांख्य दर्शन के 'ईश्वरवाद'

की मीमांसा आवश्यक है। सांख्यदर्शन में दो प्रमेय माने गये है—(१) पुरुष, (२) प्रकृति। पुरुष चेतन है, स्थाणु है, साक्षी है, केवल है, मध्यस्थ है, द्रष्टा है और अकर्ता है।[१] प्रकृति जड़ है, क्रियाशील है और महत् से लेकर धरणि पर्यन्त सम्पूर्ण तत्त्वों की जन्मदात्री है, त्रिगुणात्मिका है, सृष्टि की उत्पादिका है, अज एवं अनादि है तथा शाश्वत एवं अविनाशी है।[२]

ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिकाओंमें ईश्वर, परमात्मा, भगवान या परमेश्वर की कोई कल्पना नहीं की गयी है। कपिल द्वारा प्रणीत सांख्य सूत्रो में 'ईश्वरासिद्धेः' (ईश्वर की असिद्धि होने से) सूत्र उपस्थापित करके ईश्वर के विषय में अनेक तर्कों को प्रस्तुत किया गया है। यहाँ प्रमुख तर्कों की मीमासा को जावेगी—

(१) **कुसुम वच्चमणि.**[३]—सूत्र के आधार पर स्थापना की गई है कि जिसप्रकार शुद्ध स्फटिकमणि में लाल फूल का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसीप्रकार असंग, निर्विकार, अकर्ता पुरुष के सम्पर्क में प्रकृति के साथ-साथ रहने से उसमें उस अकर्ता पुरुष का प्रतिबिम्ब पडता है। इससे जीवात्माओं के अदृष्ट कर्म संस्कार फलोन्मुखी हो जाते हैं तथा सृष्टि प्रवृत्त होती है।

यह स्थापना ठीक नहीं है। इसके अनुसार चेतन जीवात्माओं को पहले प्रकृति में लीन रहने की कल्पना करनी पड़ेगी तथा उन्हें प्रकृति से उत्पन्न मानने पर जड़ को चेतन का कारण मानना पडेगा। इसके अतिरिक्त यदि अदृष्ट कर्म संस्कार फल प्रदान करते हैं तो फिर परमात्मा के सहकार की क्या आवश्यकता है?

(२) 'अकार्यत्वेपि तद्योगः पारवश्यति[४]'—सूत्र के आधार पर स्थापना की गई है कि प्रकृति कारण-रूप है, कार्य नही है। अनन्त, विभु, जीवात्मा पुरुषो के अदृष्ट कर्मसस्कार सहित सर्व संसार प्रकृति में लीन रहता है। चूंकि प्रकृति जड़ है अतएव सृष्टि के लिए उसमें पुरुष के योग की आवश्कता होती है।

यह तर्क भी संगत नही है। हाइड्रोजन के दो एवं आक्सीजन के एक परमाणु के संयोग से जल बन जाता है। इसमें परमात्मा के सहकार की अनिवार्यता दृष्टिगत नही होती।

यदि सर्व चेतन पुरुषों का सर्वातीत पुरुषोत्तम में लीन होकर सृष्टि के समय उत्पन्न होना माना जावे तो बीजांकुर न्याय से सर्वातीत पुरुषोत्तम सहित समस्त जीवात्माओं की उत्पत्ति-नाश की दोषापत्ति करती है।

(३) एक स्थापना यह है कि परमात्मा सर्ववित् एवं सर्वकर्ता है और वह प्रकृति से अयस्कान्तवत् (चुम्बक सदृश्य) सृष्टि करता है। वह प्रेरक मात्र है।[५]

यदि इस स्थापना को माना जावे तो परमात्मा को असंग, निर्गुण, निर्लिप्त, निरीह कैसे माना जा सकता है?

(४) जिसप्रकार सेना की जय एवं पराजय का आरोप राजा पर किया जाता है उसीप्रकार प्रकृति के क्रिया कलापों का मिथ्या आरोप परमात्मा पर किया जाता है। तत्वतः परमात्मा कर्ता नहीं है। प्रकृति ही दर्पणवत् उसके प्रतिबिम्ब को प्राप्त करके सृष्टि-विधान मे प्रवृत्त होती है।[६]

सृष्टि-विधान में प्रकृति की प्रवृत्ति तर्क संगत है किन्तु 'पुरुषाध्यास' की सिद्धि के लिए 'पुरुप प्रतिबिम्ब' की कल्पना व्यर्थ प्रतीत होती है। अलिप्त कर्ता की शक्ति से मायारूप प्रकृति का शक्तिमान बनकर जगत की सृष्टि करना संगत नही है। युद्ध में राजा सेना सहित स्वयं लडता है अथवा युद्ध एवं विजय के लिए समस्त उद्यम करता है। इस स्थितिमे राजा को अकर्ता नही कहा जा सकता। चेतन, सूक्ष्म, निर्विकल्प, निर्विकार, निराकार का

---

१ सांख्य तत्त्व कौमुदी, कारिका १८-१९। २ वही—कारिका ११, १२, १४।
३ सांख्य सूत्र ३५। प्रकाश २। ४ सांख्य सूत्र ५५। प्रकाश ३।
५ साख्य सूत्र ५६-५७। प्रकाश ३। ६ दे० साख्य सूत्र ५८। प्रकाश ३।

अचेतन स्थूल, आशा-विकल्पों से व्याप्त, सविकार एवं साकार प्रकृति जैसी पूर्ण विपरीत प्रकृति का संयोग संभव नहीं है। जीवात्मा का प्रकृति से सम्बन्ध बन्धन के कारण है, किन्तु क्या परमात्मा जैसी परिकल्पना को भी बंधन-ग्रस्त माना जा सकता है जिससे उसका अशान्त एवं जड़ स्वभावी प्रकृति से सम्बन्ध सिद्ध किया जा सके।

निष्काम परमात्मा में सृष्टि की इच्छा क्यों? पूर्ण से अपूर्ण की उत्पत्ति कैसी? आनन्दस्वरूप में निरानन्द की सृष्टि कैसी? जिसकी सभी इच्छायें पूर्ण हैं; जो आप्तकाम है उसमें सृष्टि रचना की इच्छी कैसी?

इसप्रकार ईश्वरोपपादित सृष्टि की अनुपपन्नता सिद्ध होती है।

कर्तावादी दार्शनिकों ने विश्व-सृष्टा की परिकल्पना इस सादृश्य पर की है कि जिसप्रकार कुम्हार घड़ा बनाता है उसी प्रकार ईश्वर संसार का निर्माण करता है। बिना बनाने वाले के घड़ा नहीं बन सकता। सम्पूर्ण विश्व का भी इसीप्रकार किसी ने निर्माण किया है।

यह सादृश्य ठीक नहीं है। यदि हम इस तर्क के आधार पर चलते हैं कि प्रत्येक वस्तु, पदार्थ या द्रव्य का कोईन कोई निर्माता होना जरूरी है तो फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि इस जगत के निर्माता परमात्मा का भी कोई निर्माता होगा और इसप्रकार यह चक्र चलता जावेगा। अन्ततः इसका उत्तर नही दिया जा सकता।

कुम्हार भी घड़े को स्वय नहीं बनाता। वह मिटटी आदि पदार्थों को सम्मिलित कर उन्हें एक विशेष रूप प्रदान कर देता है।

यदि ब्रह्म से सृष्टि विधान इस आधार पर माना जाता है कि ब्रह्मा अपने में से जगत को बनाकर आप जगत का आकार बनकर आप ही क्रीडा करता है तब पृथ्वी आदि जड़ के अनुरूप ब्रह्म को भी जड़ मानना पड़ेगा अथवा ब्रह्म को चेतन मानने पर पृथ्वी आदि को चेतन मानना पड़ेगा।

यदि ब्रह्मा ने सृष्टिविधान किया है तो इसका अर्थ यह है कि सृष्टिविधान के पूर्व केवल ब्रह्मा का अस्तित्व मानना पड़ेगा। इसी आधार पर शून्यवादी कहते है कि सृष्टि के पूर्व शून्य था; अन्त में शून्य होगा; वर्तमान पदार्थ का अभाव होकर शून्य हो जावेगा तथा शाकरवेदान्ती ब्रह्म को विश्व के जन्म स्थिति और संहार का कारण मानते हुए भी[1] जगत को स्वप्न एवं माया-रचित नगर के समान पूर्णतया मिथ्या एवं असत्य मानते हैं।[2] क्या सृष्टि-विधान का कारण परमात्मा ही है? क्या सृष्टि की आदि मे जगत न था, केवल ब्रह्म था तथा इसका अस्तित्व क्या केवल प्रलय तक ही है? सृष्टि का अभाव होकर क्या शून्य हो जावेगा? आदि के सम्बन्ध में विचार करते समय प्रश्न उपस्थित होते है कि सृष्टि की सत्ता सत्य है या मिथ्या है, नित्य है या अनित्य है? जड़ है या चेतन है? यदि परमात्मा से सृष्टि विधान माना जाता है तो या तो परमात्मा की चेतनरूप की परिकल्पना के अनुसार पृथ्वी आदि को भी चेतन मानना पड़ेगा अथवा पृथ्वी आदि के अनुरूप परमात्मा को जड़ मानना पड़ेगा। सत्य स्वरूप ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति मानने पर ब्रह्म का कार्य असत्य कैसे हो सकता है? यदि जगत की सत्ता सत्य है तो उसका अभाव कैसा? जगत को स्वप्न एवं माया रचित गन्धर्व नगर के समान पूर्णतया मिथ्या एवं असत्य मानना क्या संगत है?

क्या जगत को माया के विवर्तरूप में स्वीकार कर रज्जु में सर्प अथवा शुक्ति में रजत की भांति कल्पित माना जा सकता है? कल्पना गुण है। गुण तथा द्रव्य की पृथकता नही हो सकती। स्वप्न बिना देखे या सुने नहीं आता। सत्य पदार्थों के साक्षात् सम्बन्ध से वासनारूप ज्ञान आत्मा में स्थित होता है।

---

१ तैत्तिरीयोपनिषद ३/१; ३/६ और ब्रह्मसूत्र १/१/२ पर शांकर भाष्य।

२ ब्रह्म सूत्र २/१/१४; २/२/२९; विवेक चूडामणि १४०; १४२; वेदान्त सार, पृ० ८।

स्वप्न में उन्हीं का प्रत्यक्ष होता है। स्वप्न और सुषुप्ति में बाह्य पदार्थों का अज्ञान पात्र होता है, अभाव नहीं।

इस कारण जगत को अनित्य भी नहीं माना जा सकता। जब कल्पना का कर्त्ता नित्य है तो उसकी कल्पना भी नित्य होनी चाहिए अन्यथा वह भी अनित्य हुआ। जैसे सुषुप्ति में बाह्य पदार्थों के ज्ञान के अभाव में बाह्य पदार्थ विद्यमान रहते हैं वैसे ही प्रलय में भी जगत के बाह्यरूप के ज्ञान के अभाव में भी द्रव्य वर्तमान रहते है। कोयला को जितना चाहे जलावें, वह राख बन जाता है; उसका बाह्यरूप नष्ट हो जाता है, किन्तु 'कोयला' में जो द्रव्य तत्त्व है वह सर्वथा नष्ट कभी नहीं हो सकता।

विश्व जिन जीवों (चेतनाओं) एवं पुद्गल (पदार्थों) का समुच्चय है वे तत्त्वतः अविनाशी एवं आन्तरिक हैं। इस कारण जगत को मिथ्या स्वप्नवत् एवं शून्य नहीं माना जा सकता। किसी भी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। किसी भी प्रयोग से नये जीव अथवा नये परमाणु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। पदार्थ में अपनी अवस्थाओं का रूपान्तर होता है। इस प्रकार इस ब्रह्माण्ड के प्रत्येक मूल तत्त्व की अपनी मूल प्रकृति है। कार्य-कारण के नियम के आधार पर प्रत्येक मूल तत्त्व अपने गुणानुसार बाह्य स्थितियों में प्रतिक्रियाएं करता है। इस कारण जगत मिथ्या नही है। ससार के पदार्थ अविनाशी हैं इस कारण विश्व को स्वप्नवत् नहीं माना जा सकता। ब्रह्माण्ड के उपादान या तत्त्व अनादि, आन्तरिक एवं अविनाशी होने के कारण अनिर्मित है। इस आधार पर निर्मित के मूल तत्त्वों की अपनी निश्चित प्रकृति है। शून्य से किसी वस्तु का निर्माण नहीं होता। शून्य से जगत मानने पर जगत का अस्तित्व स्थापित नही किया जा सकता। जो वस्तु है उसका अभाव कभी नहीं होता। इस प्रकार जगत सत्य है तथा उसका शून्य से सद्भाव सम्भव नही है। इस प्रकार ईश्वर को अनादि अनन्त मानने की अपेक्षा पदार्थ को ही अनादि-अनन्त मानना तर्कसंगत है।

विज्ञान का भी यह सिद्धान्त है कि पदार्थ अविनाशी है। वह ऐसे तत्त्वों का समाहार है जिनका एक निश्चित सीमा के आगे विश्लेषण नहीं किया जा सकता।

अब प्रश्न शेष रह जाता है कि क्या परमात्मा या ईश्वर को समस्त जीवों के अंशीरूप में स्वीकार कर जीवों को परमात्मा के अंशरूप में स्वीकार किया जा सकता है ?

आत्मवादी दार्शनिक आत्मा को अविनाशी मानते हैं। श्रीमद् भगवद्गीता में भी इसी प्रकार की विचारणा का प्रतिपादन हुआ है। यह जीवात्मा न कभी उत्पन्न होता है, न कभी मरता है, न कभी उत्पन्न होकर अभाव को प्राप्त होता है, अपितु यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है और शरीर का नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता। इस जीवात्मा को अविनाशी नित्य अज और अव्यय अर्थात् विचार रहित समझना चाहिए। जैसे मनुष्य जीर्ण वस्त्रों का त्याग करके नवीन वस्त्रो को धारण कर लेता है, वैसे ही यह जीवात्मा पुराने शरीरों को छोड़कर नवीन शरीरों को ग्रहण करता रहता है। इसे न तो शस्त्र काट सकते है, न अग्नि जला सकती है, न जल भिगो सकता है और न वायु सुखा सकती है। यह अच्छेद्य, अदाह्य एवं अशोष्य होने के कारण नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल एवं सनातन है।[१] इस दृष्टि से किसी को आत्मा का कर्त्ता स्वीकार नही कर सकते। यदि आत्मा अविनाशी है तो उसके निर्माण या उत्पत्ति की कल्पना नही की जा सकती। इसका कारण यह है कि यह सम्भव नहीं है कि कोई वस्तु निर्मित हो, किन्तु उसका विनाश न हो। इस कारण जीव ही कर्त्ता तथा भोक्ता है तथा कर्मानुसार अनेकरूप धारण करता रहता है।[२]

१—गीता २/२०-२४ एवं २/५१ पर शांकर भाष्य।

२ –देखिये (क) ब्रह्मसूत्र २/३/३३–३९। (ख) श्वेताश्वेतरोपनिषद् ४/६। (ग) ईशोपनिषद् ३।

जैनदर्शन की भांति चार्वाक, निरीश्वर सांख्य, मीमांसक एवं बौद्ध इत्यादि भी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। न्याय एवं वैशेषिकदर्शन भी मूलतः ईश्वरवादी प्रतीत नहीं होते। वैशेषिक सूत्रों में ईश्वर का कहीं उल्लेख नहीं है। न्यायसूत्रों में कथंचित् है। इन दर्शनों में परमाणु को ही सबसे सूक्ष्म और नित्य प्राकृतिक मूल तत्त्व माना गया है।[1] सृष्टि की उत्पत्ति 'परमाणुवाद सिद्धान्त' के आधार पर मानी गयी है। दो परमाणुओं के योग से द्व्यणुक, तीन द्व्यणुकों के योग से त्र्यणुक, चार त्र्यणुकों से चतुरणुक और चतुरणुकों के योग से अन्य स्थूल पदार्थों को सृष्टि मानी गयी है।[2] जीवात्मा को अणु, चेतन, विभु तथा नित्य आदि कहा गया है।[3] इसप्रकार वैशेषिकदर्शन में परमाणु को ही मूल तत्त्व मानने के कारण ईश्वर या परमात्म शक्ति को स्वीकार नही किया गया।

न्याय में सूत्रकाल में ईश्वरवाद अत्यन्त क्षीण प्राण था। भाष्यकारों ने ही ईश्वरवाद की स्थापना पर विशेष बल दिया। आत्मा को ही दो भागों में विभाजित कर दिया गया—जीवात्मा एवं परमात्मा।

"ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधः जीवात्मा परमात्मा चेति। तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव सुख दुःखादिरहितः जीवात्मा प्रति शरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च।।"[4]

इस दृष्टि से आत्मा ही केन्द्र बिन्दु है जिस पर आगे चलकर परमात्मा का भव्य प्रासाद निर्मित किया गया।

आत्मा को ही ब्रह्मरूप में स्वीकार करने की विचारधारा वैदिक एवं उपनिषद् युग में भी थी। 'प्रज्ञा ने ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि,' 'तत्वमसि,' 'अयमात्मा ब्रह्म' जैसे सूत्रवाक्य इसके प्रमाण हैं। ब्रह्म प्रकृष्टज्ञान स्वरूप है। यही लक्षण आत्मा का है। 'मैं ब्रह्म हूं,' 'तू ब्रह्म ही है,' 'मेरी आत्मा ही ब्रह्म है' आदि वाक्यो में आत्मा एवं ब्रह्म पर्यायरूप मे प्रयुक्त हैं।

पतञ्जलि ने ईश्वर पर बल न देते हुए आत्म स्वरूप में अवस्थान को ही परम लक्ष्य, योग या कैवल्य माना है।

जैनदर्शन भी 'पुरुष विशेष ईश्वरः' में विश्वास नहीं करता। प्रत्येक जीवात्मा में परमात्मा बनने की शक्ति का उद्घोष करता है। द्रव्य की दृष्टि से आत्मा एवं परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का अन्तर अवस्थागत अर्थात् पर्यायगत है। जीवात्मा शरीर एवं कर्मों की उपाधि से युक्त होकर 'संसारी' हो जाता है। 'मुक्त' जीव त्रिकाल शुद्ध नित्य निरंजन 'परमात्मा' है। "जिस प्रकार यह आत्मा राग-द्वेष द्वारा कर्मों का उपार्जन करती है और समय पर उन कर्मों का विपाक-फल भोगती है, उसी प्रकार यह आत्मा सर्वकर्मों का नाश कर सिद्धलोक मे सिद्ध पद को प्राप्त करती है।"[5]

"आत्म देव देवालय में नही है, पाषाण की प्रतिमा में भी नही है, लेप तथा मूर्ति में भी नहीं है। वह देव अक्षय अविनाशी है, कर्म फल से रहित है, ज्ञान से पूर्ण है, समभाव में स्थित है।"[6]

"जैसा कर्मरहित, केवलज्ञानादि से युक्त प्रकट कार्य समयसार सिद्ध परमात्मा परम आराध्यदेव मुक्ति

१—तर्क भाषा, पृ० १०८। २—वही पृ० १८१।

३—वही पृ० १५२–१५३। ४—तर्क संग्रह, खण्ड १।

५—जह रागेण कडाण, कम्माणं पावगो फलविवागो।
जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुवेंति ।। औपपातिक सूत्र—३५

६—देउ ण देवले णवि सिलए णवि लिप्पई णवि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिय समचित्ति ।। परमात्म प्रकाश—१२३।

में रहता है वैसा ही सब लक्षणों से युक्त शक्तिरूप कारण परमात्मा इस देह में रहता है... तू सिद्ध भगवान और अपने में भेद मत कर।"[१]

"हे पुरुष ! तू अपने आपका निग्रह कर, स्वयं के निग्रह से ही तू समस्त दुःखों से मुक्त हो जावेगा।"[२]

"हे जीव ! देह का जरा-मरण देखकर भय मत कर। जो अजर अमर परम ब्रह्म है उसे ही अपना मान।"[३]

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक जीव का लक्ष्य परब्रह्मत्व अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करना है;

"जो परमात्मा है वही मैं हूं और जो मैं हूं वही परमात्मा है। इसप्रकार मैं ही स्वयं अपना उपास्य हूं। अन्य कोई मेरा उपास्य नहीं है।"[४]

"जो व्यवहार दृष्टि से देहरूपी देवालय में निवास करता है और परमार्थतः देह से भिन्न है वह मेरा उपास्यदेव अनादि-अनन्त है। वह केवलज्ञान स्वभावी है। निःसंदेह वही अचलित स्वरूप कारण परमात्मा है।"[५]

"कारण परमात्मा स्वरूप इस परम तत्त्व की उपासना करने से यह कर्मोपाधि युक्त जीवात्मा ही परमात्मा हो जाता है जिसप्रकार बांस का वृक्ष अपने को अपने से रगड़कर स्वयं अग्निरूप हो जाता है।"[६]

"उस परमात्मा को जब केवलज्ञान उत्पन्न होता है; योग निरोध के द्वारा समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं; जब वह लोक शिखर पर सिद्धालय में जा बसता है तब उसमें ही वह कारण परमात्मा व्यक्त हो जाता है।"[७]

जैन दर्शन की सृष्टि व्यवस्था के सम्बन्ध में ईश्वर की कर्तृत्व शक्ति का निषेध तथा सर्व व्यापक एक परमात्मा के स्थान पर प्रत्येक जीव का मुक्त हो जाने पर कार्य-परमात्मा बन जाने सम्बन्धी विचारधारा का प्रभाव परवर्ती दार्शनिक सम्प्रदायों पर पड़ा है। वस्तुतः स्वभाव एवं कर्म इन दो शक्तियों के अतिरिक्त शरीर, इन्द्रिय एवं जगत के कारणरूप में 'ईश्वर' नामक किसी अन्य सत्ता की कल्पना व्यर्थ है।[८] ❖

१—जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहि णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बम्भु परु देहहं मं करि भेउ॥ परमात्म प्रकाश—२६।

२—पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिनिगिज्झ,
एवं दुक्खा पमोक्खसि। —आचारांग ३/३/११६।

३—देहो पिक्खवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि।
जो अजरामर बम्भु परु सो अप्पाण मुणेहि॥—पाहुड़ दोहा १०/३३ (मुनि रामसिंह)

४—यः परमात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥ —समाधि शतक, ३१ (पूज्यपाद)

५—देहादेवलि जो वसइ देउ अणाइ अणंतु।
केवलणाणफुरंततणु, सो परमप्पु णिभंतु॥ परमात्म प्रकाश १/३३ (योगेन्दु देव)

६—उपास्यमानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः॥—समाधिशतक (पूज्यपाद)

७—ज्ञानं केवलसंज्ञं योग निरोधः समग्रकर्म्महृतिः।
सिद्धिनिवासश्च यदा, परमात्मा स्यात्तदा व्यक्तः—अध्यात्म सार २०/२४ (उपाध्याय यशोविजय)

८—"तदनुकरणभुवनादौ निमित्तकारणत्वादीश्वरस्य न चैतदसिद्धम्"—आप्त परीक्षा १/५१।

एकान्त नियतिवाद से जैन धर्म के मूल पर तीक्ष्ण प्रहार

❖ ब्र० विनोदकुमार जैन शास्त्री
संघस्थ : परम पू० आचार्य श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज

जैन धर्म में, जैनेतर धर्मों से यदि कोई मौलिक विशेषता है तो वह अनेकान्त और स्याद्वाद के कारण है। अनेकान्त का लक्षण इस प्रकार है "परस्पर विरुद्ध शक्ति द्वय प्रकाशनमनेकांत:" अर्थात् परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकांत है। श्री १०८ अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय के मंगलाचरण के प्रथम श्लोक में कहा है "नमोऽनेकान्त विश्रान्त महिम्ने परमात्मने" अर्थात् अनेकांत में स्थित है महिमा जिसकी ऐसे परमात्मा को नमस्कार करता हूं। इन शब्दों द्वारा यह कहा गया है कि परमात्मा की महिमा भी अनेकान्त में स्थित है।

अनेकान्त और स्याद्वाद के सिद्धान्त को समझना इतना कठिन है कि बड़े बड़े जैनेतर विद्वानों ने न समझ सकने के कारण इसे संशयवाद कह दिया। इतना ही नहीं स्याद्वादी जैन विद्वान भी किसी किसी विषय में अनेकान्त व स्याद्वाद का उचित प्रयोग न कर सकने के कारण श्री गौतम स्वामी, श्री वीरसेन स्वामी, श्री अकलंक स्वामी, श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती आदि महानाचार्यों के वाक्यों पर श्रद्धा न करके उसके विपरीत उपदेश देने लगते है।

भगवान् सर्वज्ञ देव ने स्वयं अपनी वाणी द्वारा एकान्त नियतिवाद का खंडन किया है। श्री गौतम गणधर ने भगवान् की दिव्यध्वनि के आधार पर द्वादशांग की रचना की है। बारहवें दृष्टिवाद अंग में त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, आदि तीन सौ त्रेसठ (३६३) एकान्त मतों का खंडन है। जिस नियतिवाद का खंडन द्वादशांग के बारहवें अंग में है उस नियतिवाद का स्वरूप श्री अमितगति आचार्यने इसप्रकार कहा है "जिसका, जहां, जब, जिस प्रकार, जिससे जिसके द्वारा जो होना होता है तब तहां तिसका तिसप्रकार उससे उसके द्वारा वह होना नियत है अन्य कुछ नहीं कर सकता"। श्री गोम्मटसार कर्मकांड

की गा० ८८२ में भी नियतिवाद का इसीप्रकार स्वरूप कहा है। प्राकृत पंच संग्रह पृ० ५४७ पर भी कहा है "यद्भवति-तद्भवति, यथा भवति-तथा भवति, येन भवति-तेन भवति, यदा भवति-तदा भवति, यस्य भवति-तस्य भवति इति नियतिवाद."

जिस सर्वज्ञ देव ने अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा एकान्त नियतिवाद का खंडन किया है उस सर्वज्ञ के ज्ञान में द्रव्यों की पर्याय एकान्त नियत रूप कैसे झलक सकती है। ऐसा तो सम्भव नहीं कि केवलज्ञान में पदार्थ अन्य रूप से झलकें और दिव्य-ध्वनि मे उनका स्वरूप अन्य प्रकार से कहा जावे क्योंकि अरिहंत परमेष्ठी में वचन ज्ञान के कार्य हैं मन के कार्य नही। [धवल पुस्तक १ पृ० ३६८]

श्री अकलंक देवाचार्य ने नियति का खंडन इसप्रकार किया है—

शंका—भव्य के काल के निमित्त करि ही मोक्ष की प्राप्ति होय है याते अधिगमज सम्यग्दर्शन का अभाव है। जो मोक्ष का काल नियम रूप है, ताते पहले अधिगम सम्यक्त्व के बल से मोक्ष कार्य की उत्पत्ति होय तो अधिगम सम्यग्दर्शन के फलपना प्राप्त होय सो है नहीं। या कारणतें जाकी जिस काल नियम करि मोक्ष है सो निसर्गज सम्यग्दर्शन के कारण ते ही सिद्ध है याते अधिगम सम्यग्दर्शन का मानना युक्त नहीं है।

समाधान—भव्य के नियमित काल करि मोक्ष की प्राप्ति है ऐसा कहना भी अनवधारण रूप है। जाते कर्म की निर्जरा को काल नियम रूप नही है। याते भव्यनिके समस्त कर्म की निर्जरा पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति में काल का नियम नही संभवे है। तातें नियमित काल ही कर मोक्ष है यह कहना युक्त नही। (राज० अध्याय १ सू० ३)

इसीप्रकार अध्याय २ सूत्र ५३ की टीका में नियति का खण्डन श्री अकलंक देव ने इसप्रकार किया है—

शंका—आयुबंध में जितनी स्थिति पडी है ताका अंतिम समय आये बिना मरण की अनुपलब्धि है। जाते काल आये बिना तो मृत्यु होय नाही, ताते आयु के अपवर्त्तना कहना नही संभवे है।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, जाते आम्रफल आदि की ज्यों अप्राप्तकाल वस्तु की उदीरणा करि परिणमन देखिए है। जैसे—आम्र के पकने का नियमरूप काल है, ताते पहिले उपाय ज्ञान करि क्रिया का आरंभ होते संतें आम्रफलादिक के पकना देखिये है, तैसे ही आयुबंध के अनुसार नियमित मरणकाल ते पहले उदीरणा के बल से आयुकर्म का अपवर्तन कहिये घटना होय है ऐसा जानना। जैसे अष्टांग आयुर्वेद ताके जानने में चतुर वैद्य चिकित्सा अति निपुण वायु आदि रोग का काल आए बिना ही पहिले वमन विरेचन आदि प्रयोग करि नही उदीरणा को प्राप्त भये जे श्लेष्मादिक तिनका निराकरण करे है। बहुरि अकाल मरण के अभाव के अर्थ रसायन के सेवन का उपदेश करे है—प्रयोग करे है, ऐसा न होय तो वैद्यक शास्त्र के व्यर्थपना ठहरे। सो वैद्य शास्त्र मिथ्या है नाहीं। याते वैद्यक शास्त्र के उपदेश की सामर्थ्य ते अकाल मृत्यु है ऐसा सिद्ध होय है।

शंका—जो रोगते दुख दूर करने के अर्थ वैद्यक शास्त्र का प्रयोग है, अकाल मृत्यु दूर करने के अर्थ नाहीं ?

समाधान—ऐसा कहना भी ठीक नाही, जातै वैद्यक शास्त्र का प्रयोग दोऊ प्रकार करि देखिये है। तातें दुख होय ताका भी प्रतीकार करे है। बहुरि दुख नाही होय तहा अकाल मरण न हो इस अर्थ में भी प्रयोग करे है।

श्री प्रवचनसार में भी नियति नय, अनियति नय, काल नय-अकाल नय, सप्रतिपक्ष नयों का कथन है तथा एकान्तवाद का खन्डन है। सर्वज्ञ के द्वारा एकान्त नियतिवाद का आगम में इतना स्पष्ट खंडन होते हुए भी कुछ विद्वान दुहाई देते हुए उस एकान्त नियतिवाद का प्रचार कर रहे हैं और साथ ही उनके द्वारा यह भी फतवा दिया जाता है कि एकान्त नियतिवाद का खन्डन करने वाले सर्वज्ञ को नहीं मानते। क्या उन्होंने शांत हृदय से कभी यह विचार किया कि उनका यह फतवा किस २ पर लागू हो सकता है। जो अनियति सापेक्ष

नियति नय को और अकाल सापेक्ष काल नय को मानने वाले हैं वे तो सर्वज्ञ को मानने वाले हैं किन्तु जो मात्र नियति और काल नय को सर्वथा मानते हैं और इनके प्रतिपक्षी अनियत नय व अकाल नय को किसी भी अपेक्षा स्वीकार नहीं करते वे एकान्तवादी सर्वज्ञ के मानने वाले नहीं हैं अपितु सर्वज्ञ के विरोधी हैं क्योंकि सर्वज्ञ ने वस्तु को अनेकान्तात्मक जाना है और ऐसा ही उपदेश दिया है। वे आचार्य प्रणीत ग्रन्थों को प्रमाणीक न मानकर गृहस्थ रचित शास्त्रों को ही प्रमाण मानते हैं अन्यथा वे श्री गोम्मटसार राजवार्तिक आदि ग्रन्थों के विरुद्ध कथन न करते।

सर्वज्ञ क्या जानते हैं इस विषय में श्री १०८ वीरसेन स्वामी ने लिखा है—छहों द्रव्यों की शक्ति का नाम अनुभाग है। वह अनुभाग छह प्रकार का है—जीवानुभाग, पुद्गलानुभाग, धर्मास्तिकायानुभाग, अधर्मास्तिकायानुभाग, आकाशास्तिकायानुभाग और कालद्रव्यानुभाग। इनमें से समस्त द्रव्यों का जानना जीवानुभाग है। ज्वर, कुष्ठ व यक्ष्मादि का विनाश और उत्पन्न करना पुद्गलानुभाग है। योनिप्राभृत में कहे गये मंत्रतंत्र रूप शक्तियोंका नाम पुद्गलानुभाग है ऐसा यहां ग्रहण करना चाहिये। जीव और पुद्गलों के गमनागमन में हेतु होना धर्मास्तिकायानुभाग है। उन्हीं के अवस्थान में हेतु होना अधर्मास्तिकायानुभाग है। जीवादि द्रव्योंका आधार होना आकाशास्तिकायानुभाग है। अन्य द्रव्यों के क्रम और अक्रम से परिणमन में हेतु होना कालद्रव्यानुभाग है। इसी प्रकार द्विसंयोगादि रूप से अनुभाग का कथन करना चाहिये। जैसे मृत्तिकापिण्ड, दण्ड, चक्र, चीवर, जल और कुम्हार आदि का घटोत्पादन रूप अनुभाग। इसे भी केवलज्ञान जानता है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषय रूप से सब द्रव्यों की अनादिता को केवलज्ञान जानता है। इन आचार्य वाक्यो से सिद्ध हो जाता है कि केवलज्ञान वस्तु को अनेकान्तरूप से जानता है। वह केवलज्ञान द्रव्यो के क्रम परिणमन को भी जानता है और अक्रम परिणमन को भी जानता है। इससे स्पष्ट है कि द्रव्यो में क्रमसे भी परिणमन होता है और अक्रम से भी और इन दोनों प्रकार के परिणमन में कालद्रव्य हेतु होता है। द्रव्य किसी अपेक्षा से सादि भी है और किसी अपेक्षा से अनादि भी है।

सत् का व्यय और असत् का उत्पाद भी होता है जैसा कि श्री १०८ कुंदकुंदाचार्य ने कहा है—"एवं सदो विणासो असदो जीवस्स होई उप्पादो। इदि जिणवरेहिं भणिदं अण्णोण्णा विरुद्धमविरुद्धं ॥" इस प्रकार जीव के सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता है ऐसा जिनवरों ने कहा है जो कि अन्योन्य विरुद्ध और अविरुद्ध है। "असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश दोनों ही अयुक्तिक हैं" जो ऐसा कहते हैं—उनको श्री १०८ कुंदकुन्दाचार्य के उपरोक्त वचनों पर श्रद्धा नही है—यह कहा जा सकता है।

जितने भी सिद्ध हुए हैं वे संसार पूर्वक सिद्ध हुए हैं। जैनेतरों ने अनादि ईश्वर माना है, किन्तु जैन मत में किसी भी जीव की यद्यपि सिद्ध अनादि नहीं है, सादि ही है तथापि सिद्ध जीव सामान्यतया अनादिकाल से पाये जाते हैं। आकाशद्रव्य का प्रमाण भी सर्वज्ञको ज्ञात है अन्यथा सर्वज्ञ आकाश द्रव्यके प्रदेशोंका प्रमाण तथा आकार का कथन कैसे करते। 'त्रिलोकसार' मे आकाश के प्रदेशो की संख्या तथा "आचार-सार" मे आकाश के आकार का कथन है।

यद्यपि भूतकाल भी अनंतानंत संख्या वाला है और भविष्य काल भी अनंतानंत संख्या वाला है किन्तु भूतकाल को अपेक्षा भविष्यकाल अनंत गुणा है जैसा कि "नियमसार" में श्री १०८ कुंदकुंदाचार्य ने कहा है—भूतकाल क्षिप्र है और भाविकाल चिर है, मात्रा बिना चिर अथवा क्षिप्र ऐसा ज्ञान नही होता—"णत्थि चिरं वा खिप्पं मत्तारहिदं तु सा वि खलु मत्ता।" इस प्रकार भूत और भावि काल की मात्रा भी सिद्ध हो जाती है।

केवली भगवान को प्रत्यक्ष रूप से और अन्य जोवों को उनके उपदेश के द्वारा प्रत्येक सिद्ध भगवान के आदि का आकाश द्रव्य के आकाशादि का तथा भूत व भावि काल की अनंत प्रदेशरूप संख्या प्रमाण ज्ञात हो जाने पर भी वे सर्वथा सादि शान्त नहीं हो जाते, उसी प्रकार सर्वज्ञ को द्रव्यों के क्रम परिणमन और अक्रम परिणमन का ज्ञान हो जाने पर भी द्रव्यों का सर्व परिणमन सर्वथा नियति रूप से नहीं होता।

✡

मुनि धर्म

❖ आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी

स्व० आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज की शिष्या

जिनशासन में मार्ग और मार्गफल इन दो का ही वर्णन किया गया है। इनमें से मार्ग तो रत्नत्रय को कहते हैं और उसका फल मोक्ष है। रत्नत्रय को धारण करने वाले व्यक्ति मोक्ष की साधना करने वाले हैं अतः उन्हें साधु, यति, मुनि, अनगार, ऋषि, संयत और सयमी आदि नामो से जाना जाता है। ये दिगम्बर मुद्रा के धारक होते हैं।

अट्ठाईस मूलगुण :

रत्नत्रय की साधना के लिए इनके अट्ठाईस मूलगुण होना जरूरी है। जिस प्रकार बिना मूल-जड़ के वृक्ष नहीं ठहर सकता है वैसे ही बिना मूलगुणों के अन्य कोई भी गुण उनमें अवकाश नही प्राप्त कर सकते है, क्योकि ये मूलगुण प्रधान अनुष्ठान रूप हैं और उत्तरगुणो के लिए आधारभूत है[1]। ये मूलगुण २८ हैं—५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रिय-निरोध, ६ आवश्यक, केशलोच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त।

सम्पूर्ण पाप योग से दूर होना और मोक्षप्राप्ति के लिए आचरण करना इनमें व्रत शब्द का प्रयोग होता है, तीर्थंकर-चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के द्वारा जिनका अनुष्ठान किया जाता है और जो स्वयं ही मोक्ष को प्राप्त कराने वाले होने से महान् है अथवा अपने धारण करने वालो को महान्-पूज्य बना देते है उन्हें ही महाव्रत कहते है—मन, वचन, काय, कृत कारित अनुमोदना से स्थावर और त्रस जीवो की हिसा का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है। रागद्वेष आदि से असत्य वचन नही बोलना और प्राणियों का विघातक ऐसा सत्य भी नही बोलना सत्य महाव्रत है। बिना दी हुई किसी की कोई भी वस्तु या बिना दिये अन्य आचार्य के शिष्य पुस्तक आदि ग्रहण नही करना अचौर्य महाव्रत है। बालिका, युवती, वृद्धा मे पुत्री बहन माता के सदृश भाव रखकर सम्पूर्ण स्त्रीमात्र का त्याग कर देना त्रैलोक्य पूज्य ब्रह्मचर्यव्रत है। धन, धान्य आदि दश प्रकार के बाह्य और मिथ्यात्व आदि १४ अंतरंग परिग्रहों का त्याग कर देना परिग्रह त्याग महाव्रत है।

---

१. मूलगुणाः प्रधानानुष्ठानि उत्तरगुणाधारभूतानि। मूलाचार मूल, पृ० २।

आगम के अनुसार गमनागमन, भाषण, भोजन आदि में सम्यक् 'इति प्रवृत्ति' करना समिति है। ये व्रतों की रक्षा करने में बाड़ के समान है। निर्जन्तुक मार्ग से सूर्योदय होने पर चार हाथ आगे देखकर तीर्थयात्रा, गुरुवन्दना आदि के लिए गमन करना ईर्यासमिति है। चुगली, निन्दा आदि रहित हित-मित, असंदिग्ध वचन बोलना भाषा समिति है। छयालीस दोष, बत्तीस अंतराय रहित, नवकोटि से शुद्ध, श्रावक द्वारा दिया गया प्रासुक आहार लेना एषणासमिति है। पुस्तक, कमंडलु आदि को रखते उठाते समय कोमल मयूरपिच्छी से परिमार्जित करके रखना उठाना आदान निक्षेपण समिति है। हरी घास, जीव जन्तु आदि से रहित, एकान्त स्थान में मलमूत्रादि विसर्जित करना उत्सर्ग समिति है।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पांचों इन्द्रियों के अच्छे बुरे विषयों में राग द्वेष नहीं करना इन्द्रिय निरोध है। कोमल स्पर्श या कंकरीली भूमि आदि में हर्ष विषाद नहीं करना, सरस मधुर या नीरस आदि भोजन में प्रीति-अप्रीति नहीं करना, सुगन्ध दुर्गंध मे राग द्वेष नही करना, स्त्रियों के सुन्दर रूप या विकृत वेष आदि में रति अरति नहीं करना, सुन्दर गीत असुन्दर शब्द आदि में समभाव धारण करना ये पांच इन्द्रियों के निरोध रूप पांच व्रत है। इन्द्रियों को शुभ ध्यान मे लगाना उनका निरोध है।

अवश-जितेन्द्रिय मुनियों का जो कर्तव्य है वह आवश्यक है। जीवन मरण आदि में समताभाव रखना और विधिवत् त्रिकाल देव वंदना करना समता या सामायिक आवश्यक है। वृषभ आदि तीर्थंकरों की स्तुति करना स्तव आवश्यक है। अर्हन्त, सिद्ध आदि और उनकी प्रतिमाओं का कृतिकर्म विधि पूर्वक नमस्कार करना वन्दना है। व्रतों के अतिचार आदि को दूर करने के लिये निन्दा-गर्हा पूर्वक ऐर्यापथिक, रात्रिक दैवसिक आदि क्रिया करना प्रतिक्रमण है। भविष्य के दोषों का त्याग करना, आहार के अनन्तर पुनः आहार ग्रहण करने तक चतुराहार का त्याग करना प्रत्याख्यान है। दैवसिक, रात्रिक आदि क्रियाओं में १०८, ५४, २७, २५ आदि उच्छ्वासों से महामंत्र का ध्यान करना कायोत्सर्ग आवश्यक है।

दो, तीन या चार महीने में हाथों से शिर, दाढी, मूंछ के केशों का लुञ्चन करना ये उत्तम मध्यम और जघन्यरूप से केशलोच नाम का मूलगुण है। सभी प्रकार के वस्त्र, आभूषण का त्याग करके नग्न मुद्रा धारण करना आचेलक्य मूलगुण है। स्नान, उबटन आदि छोडकर व्रतों से पवित्र रहना अस्नान मूलगुण है। कदाचित् रजस्वला स्त्री, चाण्डाल, हड्डी, विष्ठा आदि के छू जाने से दण्डस्नान करके प्रायश्चित्त लेना होता है। निर्जन्तुक भूमि में, घास, पाटा, चटाई पर या शिला पर एक पार्श्व आदि से सोना क्षितिशयन व्रत है।[1] दांतोन आदि से दन्तघर्षण नही करना अदन्तधावनव्रत है। पांवों में चार अंगुल अन्तर रखकर एक स्थान मे खड़े होकर आहार लेना स्थिति भोजन है और सूर्योदय के अनन्तर तीन घड़ी के बाद से लेकर सूर्यास्त के तीन घड़ी पहले तक काल में दिन में एक बार आहार लेना एकभक्त मूलगुण है। इसप्रकार ये २८ मूल गुण होते है।

चरण-करण :

तेरह प्रकार के चरण और तेरह प्रकार के करण भी बतलाये हैं। ५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्ति ये तेरह चरण या चारित्र हैं। पच परमेष्ठी को नमस्कार, ६ आवश्यक क्रिया और असही, निसही ये तेरह प्रकार के करण अथवा क्रियायें हैं। ये सभी इन २८ मूलगुणों में गर्भित है। मन्दिर, गुफा, वसतिका, वन आदि से निकलते समय 'असही' शब्द के द्वारा वहां के स्थित व्यन्तर आदि को कहकर निकलना सो असही है और प्रवेश के समय 'निःसही' शब्द के द्वारा उनसे पूछकर वहां रहना निःसही क्रिया है।

मुनि के बाह्य चिह्न :

आचेलक्य-वस्त्र आदि का त्याग, लोंच, शरीर संस्कारहीनता-स्नान शृंगार आदि का अभाव और मयूरपिच्छिका धारण करना ये चार बाह्य चिह्न दिगम्बर मुनियों के होते हैं। दीक्षा के समय आचार्य शिष्यों

---

१ 'तृणमये, काष्ठमये शिलामये भूमिप्रदेशे च सस्तरे.......क्षितिशयन।' मूलाचार टीका, पृ० ४१

को मयूर पिच्छी देते हैं जो कि सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव रक्षा के लिए है अतः वह संयम का उपकरण है। यह पिच्छी धूलि को ग्रहण नहीं करती, पसीने से मलिन नहीं होती, अतिमृदु है, सुकुमार है और हलकी है। ये पांच गुण इसमें होते हैं।[1] ये चार चिह्न मुनियों के माने गये हैं।

इसीप्रकार से मलमूत्रादि विसर्जन के समय शुद्धि के लिए काठ का कमंडलु देते हैं जिसमें गर्म जल भरा जाता है। यह शौचोपकरण है। ज्ञान की वृद्धि के लिए शास्त्र देते हैं यह ज्ञानोपकरण है। इसके अतिरिक्त पाटे, चटाई, तृण-घास को सोने बैठने के लिए प्रयोग में लेते हैं। शेष सभी गृहस्थ के योग्य और अपने संयम के लिए अयोग्य वस्तुओं का उपयोग नहीं करते हैं।

समाचारी विधि :

'समाचार' शब्द के मूलाचार में अनेक अर्थ किए हैं किन्तु यहां मुख्यरूप से दो अर्थ विवक्षित है। सम्-सम्यक्-निरतिचार मूल-गुणों का अनुष्ठान आचार सो समाचार है। अथवा सभी में पूज्य या अभिप्रेत जो आचार है वह समाचार है। इसके दो भेद हैं—औघिक, पदविभागिक। सामान्य आचार को औघिक समाचार कहते हैं। इसके दश भेद हैं और पदविभागी के अनेक भेद हैं।

औघिक समाचार :

औघिक के दश भेद—इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छन्दन, सनिमंत्रणा और उपसम्पत्। सम्यग्दर्शन आदि इष्ट को हर्ष से स्वीकार करना इच्छाकार है। व्रतादि मे अतिचारों के होने पर 'मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे' ऐसा कहकर उनसे दूर होना मिथ्याकार है। गुरु के मुख से सूत्रार्थ सुनकर 'यही ठीक है' ऐसा अनुराग व्यक्त करना तथाकार है। जिनमदिर वसतिका आदि से निकलते समय 'असही' शब्द से वहां के व्यंतर आदि से पूछकर जाना आसिका है। जिनमंदिर वसतिका आदि मे प्रवेश के समय 'निसही' शब्द से वहां के व्यंतर आदि को पूछकर प्रवेश करना निषेधिका है। गुरु आदि से वदनापूर्वक प्रश्न करना, आहार आदि के लिए जाते समय पूछना आपृच्छा है। किसी बडे कार्य आदि के समय गुरु से बार-बार पूछना प्रतिपृच्छा है। उपकरण आदि के ग्रहण करने मे या वन्दना आदि क्रियाओं मे आचार्य के अनुकूल प्रवृत्ति रखना छन्दन है। गुरु से विनय पूर्वक पुस्तक आदि की याचना करना सनिमंत्रणा है। और गुरुजनों के लिये 'मैं आपका ही हूं' ऐसा आत्मसमर्पण करना उपसम्पत् है।

इस अन्तिम उपसम्पत्के ५ भेद होते हैं—विनयोपसम्पत्, क्षेत्रोपसम्पत्, मार्गोपसम्पत्, सुखदुःखोपसम्पत् और सूत्रोपसम्पत्।

अन्य संघ से विहार करते हुए आये मुनि को अतिथि कहते है। उनकी विनय करना, आसन आदि देना, उनके अग मर्दन करना, प्रियवचन बोलना, आप किन आचार्य के शिष्य है? किस मार्ग से विहार करते हुए आये हैं? ऐसा प्रश्न करना। उन्हे तृणसंस्तर, फलकसस्तर, पुस्तक, पिच्छिका आदि देना, उनके अनुकूल आचरण करना उन्हे संघ मे स्वीकार करना विनय उपसम्पत् है।

जिस क्षेत्र में संयम, गुण, शील, यम नियम आदि वृद्धिगत होते हैं उस देश में निवास करना क्षेत्र उपसम्पत् है।

आगंतुक मुनि से मार्ग विषयक कुशल पूछना, अर्थात् आपका अमुक तीर्थक्षेत्र या ग्राम से सुखपूर्वक आगमन हुआ है न? मार्ग मे आपके संयम, ज्ञान तप आदि में निर्विघ्नता थी न? इत्यादि सुख दुःख प्रश्न आपस में पूछना मार्ग उपसम्पत् है।

---

१ मूलाचार पृ० ४४०।

आपस में वसतिका, आहार, औषधि आदि से जो उपकार करना है वह सुख-दुःखोपसम्पत् है। अर्थात् जो आगंतुक मुनि आहार वसतिका आदि से सुखी हैं उनके साथ शिष्य आदि हैं तो उन्हें कमण्डलु आदि देना, रोग पीड़ित मुनियों का आसन, औषधि, आहार वैयावृत्ति आदि से उपचार करना, और 'मैं आपका ही हूं' ऐसा बोलना यह सब 'सुख-दुःख उपसम्पत्' है।

साधु साधुओं के लिये आहार की व्यवस्था कराते हैं, वसतिका की व्यवस्था कराते हैं, औषधि की व्यवस्था कराते हैं और जो स्वयं शक्य है पुस्तक आदि देना, शरीर मर्दन आदि करना वह सब करते है यही उनका 'सुख दुःख उपसम्पत्' समाचार है।

सूत्र के पढ़ने में प्रयत्न करना सूत्रोपसम्पत् है।

इसप्रकार से औघिक—संक्षिप्त या सामान्य समाचार दश भेद रूप होता है।

पदविभागिक समाचार :

कोई धैर्य, वीर्य उत्साह आदि गुणों से युक्त मुनि अपने गुरु के पास उपलब्ध सम्पूर्ण शास्त्रों को पढ़कर अन्य आचार्य के पास यदि और विशेष अध्ययन के लिये जाना चाहता है तो वह अपने गुरु के पास विनय से अन्यत्र जाने हेतु बार-बार प्रश्न करता है। अवसर देखकर तीन, पांच या छह बार प्रश्न करता है। पुनः दीक्षा गुरु और शिक्षा गुरु से आज्ञा लेकर अपने साथ एक, दो या तीन मुनियों को लेकर जाता है, क्योंकि हीन संहनन वाले सामान्य मुनियों के लिए जिनागम मे एकलविहारी की आज्ञा नही है।

जो साधु द्वादशविध तप को करने में समर्थ हैं, द्वादशांग या तात्विक अनेक शास्त्रों के ज्ञाता हैं, प्रायश्चित्त ग्रन्थ के वेत्ता है, शरीर की हड्डी आदि बल से सम्पन्न हैं—उत्तम तीन संहननों में से किसी एक संहनन के धारी है एकत्व भावना में तत्पर हैं, परीषहों को जीतने में समर्थ हैं बहुत दिनों से दीक्षित हैं, महातपस्वी हैं, और आचार शास्त्र के पारंगत है ऐसे महामुनि ही एकल विहारी हो सकते है अन्य नहीं।

'जो साधु स्वच्छंद गमनागमन करता है'। स्वच्छंदता पूर्वक उठता, बैठता, सोता है, स्वछन्दता पूर्वक बोलना चालना आदि क्रियायें करता है ऐसा स्वच्छन्दप्रवृत्ति करने वाला कोई भी मुनि मेरा शत्रु भी क्यों न हो तो भी वह एकाकी विचरण न करे'। ऐसा श्री कुन्दकुन्ददेव का वाक्य है, क्योंकि स्वेच्छाचारी मुनि के एकाकी विहार करने से गुरु की निन्दा, श्रुताध्ययन का विच्छेद, तीर्थ की मलिनता, जडता, मूर्खता, आकुलता, कुशीलता और पार्श्वस्थता आदि दोष आ जाते हैं।

ऐसे साधु के जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का लोप, अनवस्था (देखा देखी वैसा ही अन्य भी करने लगें) मिथ्यात्व की आराधना, आत्म गुणों का नाश और संयम की विराधना इन पांच निकाचित दोषो का प्रसग आ जाता है।[२]

आर्यिकाओं की चर्या :

ये मूलगुण और समाचारीविधि जो मुनियो के लिए हैं वे ही आर्यिकाओं के लिये मानी हैं गाथा में जो 'जहाजोग्गं' पद है उससे टीकाकार ने ऐसा अर्थ लिया है कि वे आर्यिकायें वृक्षमूल आदि योग नहीं कर

---

१ सच्छदगदागदी सयणणिसयणादाण भिक्खवोसरणे।
सच्छदजपरोचि वि मा मे सत्तू वि एगागी ॥१५०॥ मूलाचार, मूल, पृ० १३१।

२ आणा अणवत्था वि य मिच्छत्ताराहणादणासो य।
संजमविराहणा विय एदे दु णिकाइया ठाणा ॥१५४॥ मूलाचार, पृ० १३४।

सकती हैं बाकी सब अहोरात्र की चर्या मुनियों के सदृश है[1]। जो विशेषता है वह यही है कि वे परस्पर में अनुकूल रहती हैं, गणिनी की आज्ञा बगैर कहीं नहीं जाती हैं और एकाकी नहीं रहती हैं। गुरु के पास वन्दना या प्रायश्चित्त के समय भी अपनी गुर्वानी के साथ जाती हैं। वे दो साड़ी ग्रहण करती हैं और बैठकर आहार करती हैं। स्त्रीपर्याय के निमित्त से उनके लिये ऐसी ही आज्ञा है।

आर्यिकाओं का आचार्यत्व (नेतृत्व) कौन करते हैं ?

जो आचार्य गम्भीर हैं, स्थिरचित्त हैं, मितवादी हैं, अल्पकुतूहली हैं, चिरकाल से दीक्षित हैं, आचार ग्रन्थ प्रायश्चित्त आदि ग्रन्थों में कुशल है, पापभीरु हैं, वे ही आर्यिकाओं का नेतृत्व करते हैं अन्य नहीं। यदि इन गुणों से व्यतिरिक्त कोई आर्यिकाओं का आचार्यत्व करते हैं तो वे गणपोषण, आत्मसंस्कार सल्लेखना और उत्तमार्थ इन चार की विराधना कर लेते हैं और लोक में स्वयं की, संघ की अथवा धर्म की निन्दा कराते हैं।

अहोरात्र के कृतिकर्म :

'जिन अक्षरों से या जिन परिणामों से अथवा जिस क्रिया से आठ प्रकार के कर्मों को काटा जाता है–छेदा जाता है वह कृतिकर्म है[2]।' ये कृतिकर्म २८ होते है। दैवसिक रात्रिक प्रतिक्रमण के ४-४, तीन काल देववंदना के दो-दो ऐसे ६, चार काल के स्वाध्याय के तीन-तीन ऐसे १२, और रात्रि योग ग्रहण विसर्जन के एक-एक ये सब ४+४+६+१२+२=२८ कृतिकर्म होते हैं।

मूलाचार में कहा है कि "प्रतिक्रमण के ४, स्वाध्याय के ३ ऐसे पूर्वाण्ह के ७ और इसी तरह अपराण्ह के ७ मिलकर १४ कृति कर्म होते हैं।" टीका में स्पष्टीकरण है कि 'पश्चिम रात्रि के प्रतिक्रमण के ४, स्वाध्याय के ३ और वन्दना के २, सूर्योदय के बाद स्वाध्याय के ३, मध्याह्न वन्दना के २ ये पूर्वाण्ह के १४ कृतिकर्म हुए। ऐसे ही अपराण्ह स्वाध्याय के ३, प्रतिक्रमण के ४, सायं वन्दना के २ रात्रियोग ग्रहण और विसर्जन में योगभक्ति के २ ये १४ हुए। इस तरह कुल मिलाकर अहोरात्र के २८ कृतिकर्म होते हैं[3]।'

अनगार धर्मामृत में इन्हें कायोत्सर्ग[4] नाम से कहा है।

त्रिकाल देववन्दना में चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति सम्बन्धी दो दो, २×३=६, दैवसिक-रात्रिक प्रतिक्रमण में सिद्ध, प्रतिक्रमण, निष्ठितकरणवीर और चतुर्विंशति तीर्थंकर इन चार भक्ति सम्बन्धी चार चार ४×२=८, पूर्वाण्ह, अपराण्ह, पूर्वरात्रिक, अपररात्रिक इन चारकालिक स्वाध्याय में अर्थात् स्वाध्याय के प्रारम्भ में श्रुतभक्ति आचार्यभक्ति एवं समाप्ति में श्रुतभक्ति ऐसे तीन तीन भक्ति सम्बन्धी तीन तीन, ४×३=१२, रात्रियोग प्रतिष्ठापन में योग भक्ति सम्बन्धी १ और रात्रियोग निष्ठापन में योग भक्ति सम्बन्धी १ ऐसे २, कुल मिलाकर २८ होते हैं।

कृतिकर्म का लक्षण—यथाजात मुद्राधारी मुनि मन वचन कायकी शुद्धि करके दो प्रणाम, बारह आवर्त और चार शिरोनति पूर्वक कृतिकर्म का प्रयोग करे[5]। अर्थात् सामायिकस्तव पूर्वक कायोत्सर्ग करके चतुर्विंशति

---

१ मूलाचार गाथा १८७, पृ० १६१।

२ कृत्यते छिद्यते अष्टविध कर्म येन अक्षरकदम्बकेन परिणामेन क्रियया वा तत्कृतिकर्म पापविनाशनोपाय:। (मूलाचार टीका, पृ० ४४०)

३ मूलाचार पृ० ३१०।

४ अनगार धर्मामृत, मूल, पृ० ५९७।

५ दोणय तु जहाजादं बारसावत्तमेव।
चदुस्सिर तिसुद्धि च किदियम्मं पउंजदे ॥१२८॥ मूलाचार पृ० ३११।

स्तव पर्यंत जो क्रिया की जाती है वह कृतिकर्म है। जिसका खुलासा इस प्रकार है जैसे पौर्वाण्हिक स्वाध्याय करना है उसका प्रयोग—

'अथ पौर्वाण्हिक स्वाध्याय प्रारम्भ क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भाव पूजावन्दना-स्तवसमेतं श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्।' ऐसी प्रतिज्ञा करके पंचांग नमस्कार किया जाता है। पुन: तीन आवर्त एक शिरोनति करके 'णमो अरहंताणं से लेकर तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि' यहा तक पाठ करके तीन आवर्त एक शिरोनति की जाती है। पुन: कायोत्सर्ग करके पंचाग नमस्कार किया जाता है। अनन्तर तीन आवर्त एक शिरोनति करके 'थोस्सामि हं जिणवरे' यह थोस्सामि पाठ पढ़कर तीन आवर्त एक शिरोनति होती है। तदनन्तर श्रुत भक्ति पढ़ी जाती है। इसप्रकार एक कृतिकर्म या कायोत्सर्ग में दो नमस्कार, बारह आवर्त और चार शिरोनति हो जाती हैं।

इन २८ कृतिकर्मों में साधुओं की अहोरात्र की चर्या विभाजित हो जाती है। इसी प्रकार से त्रिकाल में गुरु की वन्दना में लघु सिद्ध भक्ति, आचार्य भक्ति की जाती है। यह सब तो नित्य क्रियायें हैं।

नैमित्तिक क्रियायें :

चतुर्दशी के दिन त्रिकाल देववन्दना में चैत्यभक्ति के अनन्तर श्रुतभक्ति करके पंचगुरु भक्ति करे अथवा सिद्ध, चैत्य, श्रुत, पंचगुरु और शान्तिभक्ति इन पाँच भक्तियों को करें। अष्टमी के दिन सिद्ध भक्ति, श्रुतभक्ति, सालोचना चारित्र भक्ति अर्थात् चारित्र भक्ति पढ़कर 'इच्छामि भंते अट्ठमियम्मि' इत्यादि प्रतिक्रमण दंडकों का उच्चारण करके शांति भक्ति पढ़ें। नंदीश्वर पर्व में पूर्वाण्ह स्वाध्याय के अनन्तर सभी साधु मिलकर सिद्धभक्ति, नंदीश्वरभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करें। वीरनिर्वाण क्रिया के समय सिद्ध, निर्वाण, पचगुरु और शांतिभक्ति की जाती है। वर्षा काल के प्रारंभ में आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी के दिन मध्याह्न में मंगलगोचर मध्यान्ह देववन्दना में सिद्ध, चैत्य, पंचगुरु और शांतिभक्ति करके गुरु वन्दना करे। आहार ग्रहण करने के अनन्तर गुरु के पास वृहत्, सिद्ध, योगभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान (उपवास) ग्रहण कर आचार्य भक्ति और शांति भक्ति करे। आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की पूर्वरात्रि में सिद्ध, योग भक्ति करके चारों दिशाओं में चार बार स्वयंभू स्तोत्र के दो-दो स्तोत्र सहित चैत्यभक्ति की जाती है पुन: पंचगुरु और शांतिभक्ति करके वर्षायोग ग्रहण किया जाता है। ऐसे ही कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी के पिछली रात्रि में इसी विधि से वर्षायोग समापन क्रिया की जाती है।

पाक्षिक प्रतिक्रमण तो मुद्रित है उसीको पूरा विधिवत् किया जाता है। ऐसे ही तीर्थंकरों के कल्याणक और साधुओं की संन्यास क्रिया एवं निषद्या वन्दना में भक्तियों का विधान है। विशेष आचारसार आदि ग्रन्थो से समझना चाहिए।

उपयुक्त सारी क्रियायें साधु के मूलगुण के अन्तर्गत हैं। साधुओं के लिए १२ तप और २२ परीषह ऐसे ३४ उत्तरगुण होते हैं। इससे अतिरिक्त चौरासी लाख भी उत्तरगुण होते है।

१२ तप :

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त-शय्यासन और कायोत्सर्ग ये ६ बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये ६ अन्तरंग तप हैं।

अनशन—उपवास करना। अवमौदर्य—भूख से कम खाना। वृत्तपरिसंख्यान—घरों का या अन्य कुछ भी अटपटा नियम लेकर आहार को जाना। रसपरित्याग—दूध, दही आदि में से कोई रस या सब रस छोड़ना। विविक्त शय्यासन—एकान्त स्थान में बैठना सोना, कायक्लेश—एक आसन से बैठना, सोना, या शीत, उष्ण आदि बाधाओं को सहन करना। प्रायश्चित्त—व्रतों में दोष लग जाने पर गुरु से प्रायश्चित्त लेना।

---

१ सामायिकस्तवपूर्वक कायोत्सर्गश्चतुर्विंशतिस्तव पर्यंतः कृतिकर्मेत्युच्यते। (मूलाचार टीका, पृ० ४५४)

विनय—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और इनके धारकों की विनय करना। वैयावृत्य—रोगी, थके आदि साधुओं की सेवा शुश्रूषा आदि करना। स्वाध्याय—ग्रन्थों का पढ़ना पढ़ाना। व्युत्सर्ग—अन्तरंग बहिरंग परिग्रहों का त्याग करना और ध्यान—धर्मध्यान आदि करना।

ऐसे ही क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृण-स्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये २२ परीषह होते हैं। इनको जीतने वाले मुनि परीषहजयी कहलाते हैं।

इसप्रकार से पूर्व में कहे गये २८ मूलगुण होते हैं और ये ३४ उत्तरगुण होते हैं। आज के मुनियों में मूलगुण पाए जाते हैं उत्तरगुण भी कुछ रहते है।

प्रत्येक तीर्थंकरो के तीर्थ में भी पाच प्रकार के मुनि होते आये है उसीको कहते हैं।

पुलाक आदि मुनि :

मुनियों के पांच भेद होते हैं—पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक।

पुलाक—जो उत्तरगुणो से हीन है और व्रतों मे कदाचित् क्वचित् दोष लगा देते हैं वे बिना धुले हुए धान्य सदृश (किंचित् लालिमा सहित) होने से पुलाक कहलाते है।

वकुश—जो मूलगुणों को तो पूर्णतया पालते हैं, किंतु शरीर के संस्कार, ऋद्धि, सुख, यश और विभूति के इच्छुक है वे वकुश हैं।

कुशील—कुशील मुनि के दो भेद हैं प्रतिसेवना कुशील और कषाय-कुशील। जो परिग्रह की भावना सहित हैं, मूलगुण और उत्तरगुणों में परिपूर्ण हैं, किंतु कभी-कभी उत्तरगुणों की विराधना करने वाले हैं वे प्रतिसेवना कुशील है। ग्रीष्मकाल में जो जंघा प्रक्षालन आदि का सेवन करते है, संज्वलन मात्र कषाय के वशीभूत है वे कषायकुशील है।

निर्ग्रंथ—जल में खींची हुई रेखा के समान जिनके कर्मों का उदय अनभिव्यक्त है और जिनको अंतर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान उत्पन्न होने वाला है वे निर्ग्रन्थ है। ये बारहवे गुणस्थानवर्ती मुनि हैं।

स्नातक—केवली भगवान स्नातक हैं।

यह बात विशेष है कि जिनके मूलगुणों में कदाचित् विराधना हो जाती है वे ही पुलाकमुनि होते हैं।

तत्वार्थराजवार्तिक में इन सभी मुनियो को भावलिंगी पूज्य प्रमाणिक कहा है। इसी दृष्टि से आज भी इस पंचमकाल मे सच्चे भावलिंगी मुनि होते है और होते ही रहेंगे। श्री कुन्दकुन्ददेव के भी वाक्य यही हैं—

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ।।७६।।
अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं।
लोयंत्तिय देवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ।।७७।।

इस भरत क्षेत्र में दुःषमकाल मे मुनि को आत्मस्वभाव मे स्थित होने पर धर्मध्यान होता है, जो ऐसा नहीं मानता है वह अज्ञानी है। आज भी इस पंचमकाल में रत्नत्रय से शुद्ध आत्मा-मुनि आत्मा का ध्यान करके इंद्रत्व और लौकान्तिक देव के पद को प्राप्त कर लेते हैं और वहां से च्युत होकर अर्थात् मनुष्य होकर दीक्षा लेकर निर्वाण को प्राप्त कर लेते है।

इसलिए आज जितने भी मुनि है वे २८ मूलगुण के धारी होने से पूज्य हैं। ✲

पुण्य और पाप

❖ बाल ब्र. कु. आदेश जैन

[संघस्थ १०८ मुनि श्री कुन्थुसागरजी]

आज मनुष्य का धार्मिक जीवन अनेक प्रकार के रोगों से क्षत विक्षत है, विद्वज्जनों में भी परस्पर विरोध, विकर्षण विवाद, वैमनस्य भाव, संक्रामक रोग की तरह तेजी से बढ़ रहे हैं। धर्म शास्त्रों का अध्ययन करने से हमारा जीवन पुनीत पवित्र सुखी होना चाहिये किन्तु आज इसके विपरीत ही प्रक्रिया देखने को मिलती है। अनेक पंथ, अनेक मत, अनेक सम्प्रदायों का निर्माण होता जा रहा है, किन्तु ऐसा क्यों? पाठकों की दृष्टि में विकार है अथवा ग्रंथ में विकृति है? इत्यादि प्रश्न एक साथ हमारे मानस पटल पर उभर जाते हैं। इस तथ्य पर गहनता से विचार करें तो ज्ञात होगा कि आचार्यों की कृतियां पूर्वापर विरोध रहित है, परम्परागत है, प्रामाणिक हैं, विकार हमारी दृष्टि में है। एकान्त को छोडकर निष्पक्ष होकर अनेकान्त दृष्टि से तत्त्व विवक्षा करे तो समस्त विरोध मेघपटल की तरह तत्क्षण विलीन हो जायेंगे।

जैन दर्शन में ६ द्रव्य, ७ तत्त्व और ९ पदार्थों का विवरण है। इनमें पुण्य और पाप की समीक्षा करने में विशेषरूप से सभी अनुरक्त है, अथवा वर्तमान में यह चर्चा का विषय बना हुआ है। तत्त्वों या पदार्थों की सम्यक् समीक्षा तभी हो सकती है जब हम प्राचीनाचार्यों की कृतियों का सम्यक् अवलोकन कर सापेक्ष या अनेकान्त दृष्टि से वस्तु स्वरूप को समझने का प्रयत्न करेंगे। जो विषय-भोगों में निमज्जित हैं, संयम विहीन हैं, वे अपने दोषों को छिपाने के लिए तत्त्व विवक्षा में गड़बडी करेंगे ही, इसमें कोई सन्देह नहीं है। तो अब हम पुण्य और पाप का विश्लेषण आगम के आधार पर करेंगे जिसको जानना हम सबके लिए आवश्यक है।

जैन दर्शन का आधार स्तम्भ स्याद्वाद है जो यह बतलाता है कि वस्तु अनेक धर्मात्मक है। शुद्ध निश्चय-नय की अपेक्षा पुण्य बन्ध का कारण है, ससार का कारण है किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा पुण्य को मोक्ष की प्राप्ति में सहायक कहा है बाधक नहीं। जैसा कि आचार्यों ने कहा है "पुनाति आत्मानं इति पुण्यं" जो आत्माको पवित्र करे, पाप का प्रक्षालन करे उसे पुण्य कहते हैं।

पुण्य और पाप की स्वतंत्र सत्ता नहीं है, ये अशुद्ध जीव के आश्रय रहते हैं। जैसा कि आचार्य श्री गुणभद्रस्वामी ने "आत्मानुशासन" में कहा है—

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्य पापयोः प्राज्ञाः।
तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ॥२३॥

अर्थात् पुण्य का कारण जीव का शुभ परिणाम है और पाप का कारण जीव का अशुभ परिणाम है। पुनः आचार्य कहते हैं कि आत्महित की अभिलाषा रखने वाले भव्य जीवों को अपने परिणामों को सदा निर्मल रखना चाहिए जिससे पुण्य का संचय और पाप का विनाश होता रहे। आचार्य इस तथ्य पर विशेष बल डालते हुए कहते हैं—

शुभाशुभे पुण्यपापे, सुख दुःखे च षट् त्रयम्।
हितमाद्यमनुष्ठेयं, शेषत्रयमथाहितम् ॥२३६॥ आत्मा० ॥
तत्राप्याद्यं परित्याज्यं, शेषौ न स्तः स्वतः स्वयं।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते, प्राप्नोति परमं पदम् ॥२४०॥आत्मा०॥

शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, सुख दुःख, इन तीन युगलों में से आदि के तीन आत्मविशुद्धि में साधक होने से आचरण के योग्य हैं तथा शेष तीन अशुभ, पाप और दुःख अहितकारक होने से छोड़ने योग्य हैं।

शुभ, पुण्य और प्रशस्त ये तीनों समानार्थक है इसीप्रकार अशुभ पाप और अप्रशस्त ये तीनों समानार्थक हैं। जैसा कि मोक्षशास्त्र के सूत्र से भी अवगत होता है—"शुभः पुण्यस्य अशुभः पापस्य" पुण्य क्रियाओं से शुभास्रव होता है और पापरूप क्रियाओं से अशुभास्रव होता है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में श्री नेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्त चक्रवर्ती ने लिखा है कि पुण्यरूप प्रकृतियां अभेद विवक्षा से ४२ हैं और भेद विवक्षा से ६८ हैं। जो इसप्रकार है—

सादं तिण्णेवाऊ उच्चं णरसुरदुगं च पंचिंदी।
देहा बंधणसंघादंगोवंगाइं वण्णचओ ॥४१॥
समचउरवज्जरिसहं उवघादूणगुरुछक्क सग्गमणं।
तसबारसट्ठसट्ठी बादालमभेददो सत्था ॥४२॥गो० कर्म०॥

अर्थात्—सातावेदनीय १, तिर्यंच, मनुष्य, देवायु ३, उच्चगोत्र १, मनुष्यगति १, मनुष्यगत्यानुपूर्वी १, देवगति १, देवगत्यानुपूर्वी १, पचेन्द्रिय जाति १, शरीर ५, बंधन ५, संघात ५, अंगोपांग तीन, शुभ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श इन ४ के २० भेद, समचतुरस्रसंस्थान १, वज्रवृषभनाराचसंहनन १ और उपघात के बिना अगुरुलघु आदि ६, प्रशस्तविहायोगति १, और त्रस आदिक १२, इसप्रकार ६८ प्रकृतियां भेद विवक्षा से प्रशस्त और अभेद विवक्षा से ४२ ही पुण्य प्रकृतियां हैं।

अब अप्रशस्त प्रकृतियों की संख्या २ गाथाओं में दिखाते है—

"घादी णीचमसादं णिरयाऊ णिरयतिरियदुग जादी-
संठाण संहदीणं चदुपणपणगं च वण्ण चओ ॥४३॥"
"उवघादमसग्गमणं थावरदसयं च अप्पसत्थाहु।
बंधुदयं पडिभेदे अडणउदि सयं दु चदुरसीदिदरे ॥४४॥"

अर्थात्—चारों घातिया कर्म की ४७ प्रकृतियां, नीचगोत्र, असाता वेदनीय, नरकायु, नरकगति, नरक-गत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियादि जाति ४, समचतुरस्रको छोड़कर ५ संस्थान, पहिले संहनन

के सिवाय ५ संहनन, अशुभवर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श ये चार अथवा इनके २० भेद, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति और स्थावर आदि दस, ये अप्रशस्त (पाप) प्रकृतियां हैं। ये भेद विवक्षा से बन्धरूप ९८ हैं और उदयरूप १०० हैं तथा अभेद विवक्षा से बन्धयोग्य ८२ और उदयरूप ८४ प्रकृतियां हैं।

श्री अमृतचन्द्राचार्य विरचित समयसार कलश की टीका पं० जगन्मोहनलाल सिद्धान्तशास्त्री ने की है। जिसमें पुण्य और पाप में अन्तर व भेद ४ कारणों से बताया है।

हेतु भेद—शुभ प्रकृतियां शुभयोग से बँधती हैं और अशुभ प्रकृतियां अशुभ योग से बँधती हैं अतः बन्ध के हेतु दोनों के भिन्न २ हैं।

प्रकृति भेद—दोनों प्रकृतियां भिन्न २ श्रेणी की हैं जैसा कि श्री नेमिचन्द्राचार्यजी की उपर्युक्त गाथाओं से स्पष्ट हो जाता है।

अनुभव भेद—इन प्रकृतियों का जब बन्ध होता है तब अनुभाग शक्तियां भी इनमें भिन्न २ रूप में पडती हैं। उदयकाल में यह जीव पुण्योदय में सुखानुभव और पापोदय में दुःखानुभव करता है। यह अनुभव भेद सर्वजन प्रसिद्ध है।

आश्रय भेद—पुण्योदय में शारीरिक व मानसिक सुख-साता की सामग्री कारण पड़ती है तथा पापोदय में शारीरिक मानसिक कष्ट देने वाली सामग्री कारण पड़ती है देवगति मनुष्यगति शुभ रूप है। नरकगति, तिर्यग्गति अशुभ रूप है। यह आश्रय भेद है। अतः दोनों कर्मों में भेद है, किन्तु यह भेद व्यवहार नय की अपेक्षा से है। निश्चयनय से तो सभी कर्म पौद्गलिक होने से जीवद्रव्य से सर्वथा भिन्न हैं और पुद्गल से सर्वथा अभिन्न होने से एक हैं।

अस्तु निश्चयनय की अपेक्षा उनमें अभेद है। इस अभेद को ४ युक्तियों से सिद्ध किया है—

(१) हेतु की अपेक्षा अभेद—शुभ योग और अशुभ योग दोनों विकाररूप हैं। शुद्ध जीव की दृष्टि से तो योग मात्र "विकार" है। इसप्रकार पुण्य-पाप अथवा शुभ-अशुभ में अभेद है।

(२) स्वभाव अभेद—दोनों कर्म पौद्गलिक प्रकृतियां है पुद्गल से अभिन्न तथा जीव से सर्वथा भिन्न हैं। फल या अनुभव अभेद—साता या असाता दोनों अनुभव आत्मा के शुद्ध अनुभव नहीं हैं। दोनों विकारी अनुभव हैं।

(३) आश्रय अभेद—नरक-तिर्यग्गति अशुभ रूप तथा मनुष्य-देव पर्याय शुभ रूप बताई गई है, पर परमार्थ दृष्टि से तो चारों गति संसार परिभ्रमण रूप होने से बन्ध रूप है। अतः आश्रय का भी अभेद है।

शुद्ध निश्चयनय शुद्ध जीव का निरूपण करता है, शुद्ध जीव का स्वरूप कैसा है इस तथ्य से अवगत कराता है, किन्तु वर्तमान में हमारी तो अशुद्ध दशा है। इस अशुद्धता से निवृत्ति कैसे मिलेगी—इसकी प्रकिया निश्चयनय नहीं बताता है, व्यवहारनय ही इसका प्रतिपादन करने वाला है अस्तु व्यवहारनय भी हमारे लिए ग्राह्य है। ग्राह्य और अग्राह्य का निर्णय अपनी वर्तमान स्थिति के अनुसार करना चाहिए। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती के लिए छठा-सातवां गुणस्थान ग्राह्य है, उपादेय है, किन्तु श्रेणी आरूढ़ उपशमक या क्षपक के लिए छठा-सातवां गुणस्थान अग्राह्य है। यही क्रम मोक्ष पर्यन्त जानना चाहिये।

आत्मा के विकास में घातक प्रथम शत्रु पापकर्म है अतः आगम में पापक्षय को प्रधानता दी गई है। जो पुण्य क्षय की ही चर्चा करते हैं और पाप क्षय के विषय में मौन वृत्ति धारण करते हैं, वे वञ्चक हैं, स्व और

पर दोनों के लिए अहितकारी हैं। गृहस्थावस्था में पुण्यास्रव हो अथवा न हो, किन्तु पाप का आस्रव हुए बिना नहीं रह सकता। आत्मानुशासन में गृहस्थावस्था का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं—

तस्यादेव तदन्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथवा।
मत्तोन्मत्त विचेष्टितं न हि हितो गेहाश्रमो सर्वथा ॥४१॥

गृहस्थावस्था अन्धे की रस्सी भांजने के समान, शराबी और पागल की प्रवृत्ति के समान सर्वथा हितकारी नहीं है। जिससे स्पष्ट होता है कि गृहस्थ के द्वारा पुण्यास्रव को रोकने की बात तो व्यर्थ है। वह पापास्रव को भी नहीं रोक सकता है। जहां आरम्भ परिग्रह है, वहां पापास्रव होंगे ही। पाप आत्मा का सर्वथा अहित करने वाला है इसलिये उसे पहले छोड़ना चाहिये—"तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः।"

पुण्य की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य गुणभद्र स्वामी लिखते हैं—

पुण्यं कुरुष्व कृत पुण्यमनीदृशोऽपि
नोपद्रवोऽभिभवति प्रभवेच्च भूत्यै।
संतापयञ्जगदशेषमशीतरश्मिः
पद्मेषुपश्य विदधाति विकासलक्ष्मीम् ॥३१॥

अर्थ—हे भव्य जीव ! तू पुण्य कार्य को कर, क्योंकि पुण्यवान् प्राणी के ऊपर असाधारण उपद्रव भी कुछ प्रभाव नही डाल सकता है। इतना ही नहीं बल्कि वह उपद्रव भी उसके लिए सम्पत्ति का साधन बन जाता है। देखो, समस्त संसार को संतप्त करने वाला सूर्य भी कमलों में विकासरूप लक्ष्मी को ही करता है।

सम्यक्त्वी, सातिशय पुण्य द्वारा ऐश्वर्य अभ्युदय का स्वामी हो, अन्त में रत्नत्रय पथ पर चलकर मोक्ष पाता है। अस्तु हमारा कर्त्तव्य है कि घातियाकर्म रूप पापके बन्ध से बचने का प्रयत्न करें। तीर्थंकर-केवली भगवान् के समवशरण की रचना, दिव्यध्वनि आदि सामग्री तीर्थंकर प्रकृति नाम के पुण्यकर्म के उदय का कार्य है। अमृतचन्द्र स्वामी ने पुण्य को कल्पवृक्ष कहा है। पुण्य का स्वरूप अनेकान्त के प्रकाशमें अवगत करना चाहिये।

सम्यक्त्वी का पुण्य संसार का कारण नही होता है। यदि वह निदान नहीं करता है तो वह पुण्य परम्परा से मोक्ष का हेतु होता है।

कहा भी है—

सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होई संसार कारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जइवि णियाणं ण सो कुणई ॥४०४॥

तीर्थंकर भगवान को सर्वप्रथम आहार देने वाला ऐसी अलौकिक पुण्य सम्पत्ति का स्वामी होता है कि वह उस भव में अथवा तीसरे भव में मोक्ष प्राप्त करता है।

जो यह कहते हैं कि पुण्य अनात्म भूत है। उससे आत्महित नहीं हो सकता, यह बात एक अपेक्षा से ठीक है, पर दूसरी दृष्टि से मोक्ष के लिये पुण्य की भी बहुत आवश्यकता है। एक उदाहरण है—एक लकड़हारे को जंगल काटना था। कुल्हाड़ी उसने प्राप्त कर ली, किन्तु कुल्हाडी के बेंट के लिये लकडी आवश्यक थी। उसने जंगल के वृक्षो से ही लकड़ो प्राप्त कर ली। कुल्हाड़ी लकडी का संयोग प्राप्त कर जंगल को काटने में समर्थ बन जाती है। लकड़हारा उस कुल्हाड़ी से पूरे वन को वृक्ष रहित कर देता है। इसी प्रकार भेदविज्ञान रूपी कुल्हाड़ी में पुण्य रूपी काष्ठ को संयुक्त कर यह जीव कर्मरूपी वन को नष्ट कर देता है।

अन्तत: निष्कर्ष यह निकलता है कि आत्माभिलाषी पुरुषों को प्रथमत: अशुभ को छोड़कर शुभ को ग्रहण करना चाहिये फिर शुभ के अवलम्बन से उत्तरोत्तर परिणाम विशुद्ध होते जाते हैं। इसी विशुद्धता से निर्वि-

कल्प दशा को प्राप्त हुआ जीव क्षपकश्रेणी आरोहण कर कैवल्य की सिद्धि कर लेता है। आत्मानुशासन में श्री गुणभद्राचार्य ने लिखा है—

अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्यादयमागमात् ।
रवेरप्राप्तसंध्यस्य तमसो न समुद्गमः ।।१२२।।

भव्य जीव आगम ज्ञान के प्रभाव से अशुभ स्वरूप असंयम अवस्था से शुभ रूप संयम अवस्थाको प्राप्त हुआ समस्त कर्म मलसे रहित होकर शुद्ध हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य प्रथमतः रात्रिगत अन्धकार का निवारण कर प्रातःकाल को प्राप्त होता है तत्पश्चात् वह अपनी प्रभा से अन्धकार को दूर करता है। प्रभातकाल आने के पूर्व ही मध्याह्नकालीन तेज, प्रकाश जिस प्रकार प्राप्त नहीं हो सकता उसी प्रकार शुभोपयोग (जो अन्धकार का निवारण कर नव प्रभात, नव जागरण और स्फुरण का प्रतीक है) को प्राप्त किये बिना शुद्धोपयोग की सिद्धि नहीं हो सकती है।

यहां ज्ञातव्य यह है कि पंचम काल में धर्मध्यान रूप शुभ भाव होता है, शुक्लध्यान रूप शुद्ध भाव की सामग्री का अभाव है। धर्मध्यान ही वर्तमान में हमारे लिये उपादेय है। जिसप्रकार रोगी को औषधि की अपेक्षा रखनी पड़ती है, औषधि का सेवन करना पड़ता है, किन्तु रोग की निवृत्ति के पश्चात् औषधि का विकल्प स्वतः स्वभावतः मिट जाता है। इसी प्रकार अशुभोपयोग जो आत्मोत्थान में सर्वथा बाधक है उससे बचने के लिए शुभोपयोग का अवलम्बन लेना ही पडेगा। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अनुकूलता से जब समर्थ पुरुषार्थ को प्राप्त कर शुद्धोपयोग प्रगट हो जाता है तब शुभोपयोग स्वतः छूट जाता है।

इस प्रकार आगम के माध्यम से वस्तु स्वरूप का मूल्यांकन कर उसे यथायोग्य ग्रहण करना चाहिये। पुण्य और पाप का यथायोग्य विवरण किया गया, विशेष जानकारी के लिए प्राचीन आचार्यों की कृतियो को पढे, तो सभी विवाद दूर हो जायेंगे। यदि हमारी चिन्तन प्रक्रिया आगमानुकूल है तो हम अल्पकाल मे कैवल्य की सिद्धि कर सकते है।

संयम धर्म

श्रमण परम्परा में संयमधर्म के लिये प्रमुख स्थान है, अथवा संयम के बिना मुनिधर्म नहीं हो सकता है। इसलिये यहां पर उस संयम धर्म के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

संयम क्या है ?

सम "सम्यक् प्रकारेण यमः संयम" संयम का अर्थ है—नियंत्रण। अथवा "सं" यानि भले प्रकार शुद्ध स्वरूप मे "यम" यानि जमना-स्थिर होना संयम है। पांचों इन्द्रियों तथा मनको इनके विषयों से रोकने पर संयम होता है। कषायों को नाश करने का उद्यम करने से संयम होता है, रसों का त्याग करने से तथा उपवास आदि करने से और परिग्रह की लालसा का त्याग करने से सयम होता है। त्रस काय तथा स्थावर जीवो की रक्षा करना, शरीर के अंग-उपांगों की प्रवृत्ति का रोकना संयम है। दयारूप परिणाम होना, शुद्ध आत्मा अथवा परमात्मा का ध्यान करना संयम है।

संयम के दो भेद है—इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम।

(१) पांचों इन्द्रियों तथा मनको विषयों से रोकना इन्द्रिय संयम है। (२) छः काय के जीवों की रक्षा करना प्राणी संयम है। जिनकी इन्द्रियां और मन विषयों से नही रुके तथा जिन्होंने छः काय के जीवों की रक्षा नहीं की उनके बाह्य परिषह सहना, दीक्षा लेना तथा तपश्चरण करना सब व्यर्थ है। संसार में दुःखी जीवों को संयम ही शरण है। संयम बिना मानव जीवन निष्फल है। मनको आचार्यों ने अनिन्द्रिय कहा है यह मन विविध प्रकार के सांसारिक साधनों को प्राप्त करने के लिये अनेक प्रकार के शुभाशुभ कार्यों को करने में उद्यत हो जाता है जिसके कारण यह दुःखमय संसार बढ़ता चला जाता है। उस संसार को कम करने के लिये संयम धारण करना अत्यन्त आवश्यक है। ससाररूप विषय वैरी का नाश संयम से ही होता है। संसार परिभ्रमण संयम के बिना नहीं मिटता।

संयम का क्या लक्षण है ?

व्रतानां धारणं दण्ड, त्यागः समिति पालनम्।
कषाय निग्रहोऽक्षाणां, जयः संयम इष्यते ॥

❖ पूज्य मुनि श्री संयमसागरजी
प. पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्थ

अर्थात्—व्रतों का धारण करना, मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति रूप दण्डों का त्याग करना, समितियों का पालन करना, कषायों का निग्रह करना और इन्द्रियों को जीतना यही संयम कहलाता है। कषायरूपी विष जब जीव को लग जाता है तो वह संयम को निःसार कर देता है। कहा भी है—

संयमोत्तम पीयुषं, सर्वाभिमत सिद्धिदम् ।
कषायविषसेकोऽयं निःसारी कुरुते क्षरणात् ॥

यह कषाय रूपी विष का सींचना समस्त इष्ट सिद्धियों को देने वाले संयमरूपी उत्तम अमृत को क्षण भर में निःसार कर देता है। अतः अपने जीवन को यदि संयमित रखना है तो अवश्य ही कषायरूपी शत्रुओं से सदा रक्षा करना होगा तभी संयम की रक्षा हो सकेगी।

पहले से चौथे गुणस्थान तक असंयम होता है। पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक संयम को एकदेशरूप से पालन करता है इसलिये पांचवें गुणस्थान में संयमासंयम होता है, और मुनि सम्पूर्णरूपसे संयम का पालन करते हैं अतः छठवें गुणस्थान से संयम माना है। वह संयम पांच प्रकार का है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात।

कौनसा संयम किस गुणस्थान में होता है सो कहते हैं—

(१) सामायिक संयम छठे से ऊपर के नवमें गुणस्थानों में होता है। अभेद रूप से समस्त पापों का त्याग करना वह सामायिक संयम कहलाता है।

(२) छेदोपस्थापना—प्रमाद के निमित्त से सामायिकादिसे च्युत होकर जो सावद्य क्रिया के करने रूप सावद्य पर्याय होती है, उसका प्रायश्चित्त विधिके अनुसार छेदन करके जो जीव अपनी आत्माका व्रत धारणादिक पांच प्रकार के संयमरूप धर्म में पुनः स्थापन करता है उसको छेदोपस्थापना संयमी कहते हैं।

सामायिक तथा छेदोपस्थापना ये दोनों संयम ६ से ९ गुणस्थान तक होते हैं।

(३) परिहार विशुद्धि—जिस जीव ने तीस वर्ष तक सुखी रहकर दीक्षा ग्रहण करके तीर्थंकर के पाद-मूल में आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामका नवमें पूर्व का अध्ययन किया हो उस जीव के परिहार विशुद्धि संयम होता है। जिससे उसके शरीर में ऐसी ऋद्धि उत्पन्न हो जाता है कि उसके शरीर से दूसरे जीवों को बाधा नहीं होती है। इसलिये उनके लिये यह नियम है कि वह प्रतिदिन दो कोस गमन करें। उनके लिये वर्षा काल में भी गमन करने का निषेध नहीं है। यह संयम छट्ठे और सातवें गुणस्थान में ही होता है।

(४) सूक्ष्मसांपराय—दसवें गुणस्थान में सूक्ष्मलोभका जब उदय होता है तो सूक्ष्मसांपराय चारित्र होता है।

(५) यथाख्यात—यथा—आत्म स्वभाव की प्राप्ति को यथाख्यात कहते हैं। यह मोहनीयकर्म के उदय के अभाव के कारण ११ से १४ वें गुणस्थान तक होता है।

संयम के धारक मुनिराज अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग परिग्रह का त्याग कर जब अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त होते हैं तब छठे-सातवें गुणस्थान में झूलते रहते हैं। सातिशय श्रेणि चढ़ने के लिये संयम ही कारण है। संयम के प्रभाव से ही पापों का नाश होता है। इसलिये संयम ही इस जीव का बड़ा उपकारी है। संयम धर्मलोक में दुर्लभ है। जो मूढमति इस संयम धर्म को प्राप्त कर छोड़ देता है वह जन्म, जरा और मरण के चक्ररूप संसार में अनेक भवों तक अनेक योनियों में भ्रमण करता फिरता है। भला वह जीव सुगति कैसे प्राप्त कर सकता है? अतः मुक्ति को देने वाले उस दयामय संयम धर्म को अवश्य ही धारण करना चाहिये।

संयम से लाभ :

उत्कृष्ट संयम के धारक महाश्रमण तो उसी भव से मुक्ति प्राप्त करते हैं। मध्यम संयम के धारी महा-मुनिराज तीन भवों में और जघन्य संयमके धारक मुनिराज "सत्तमजम्मेणसिज्झन्ति"—अर्थात् सप्तम भवमें मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

☆

समीचीन साधना

१. यथार्थ व्यक्तित्व :

किसी विद्वान ने कहा है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व वास्तव में वह नहीं है जो कि दुनियाँ जानती या कहती है, प्रत्युत वह है जो कि वह स्वयं जानता है । दुनियां तो उसके विषय में वही कहती है जो वह जानती है, परन्तु व्यक्ति अपने विषय में स्वयं वह नहीं कहता कि वह जानता है । यह एक ऐसी विषम स्थिति है जो सब जानते हैं तथापि व्यवहार भूमि पर वह ही बात प्रसिद्धि को प्राप्त होती है तथा सत्य समझी जाती है जो कि दुनियाँ जानती तथा कहती है, क्योंकि उपर्युक्त न्याय के अनुसार दुनियाँ उसके यथार्थ स्वरूप को नहीं जानती, इसलिये व्यवहार भूमि पर किसी भी व्यक्ति के विषय में जो कुछ प्रसिद्ध होता है उसके लिये यह कहना कठिन है कि यह सत्य ही है । वह असत्य भी हो सकता है और प्राय: असत्य ही होता है । इसका कारण यह है कि दुनियाँ उसके उस बाह्य रूप को देखती है जिसमें न जाने कितने कृत्रिम असत्य छिपे पड़े हैं । यद्यपि व्यक्ति को अपने गुण-दोष भली भांति विदित होते हैं तदपि वह अनेकों कृत्रिम उपायों से तथा बनावटी अभिनयों से अपने दोषों को ढकने का तथा अपने सत्ताभूत गुणों को ही नहीं अनहुये गुणों को भी यथा सम्भव बढ़ा चढ़ाकर प्रगट करने का प्रयत्न करता रहता है । कुछ एक तत्वज्ञों तथा कल्याणार्थियों को छोड़कर प्राय: सारा जगत इस मोह से मूर्छित है । इस महामोह की आड़में व्यक्ति यद्यपि जागतिक सम्मान प्राप्त करने में सफल हो जाता है तदपि तात्विक सम्मान को खोकर वह किस प्रकार अन्धलोक में प्रवेश किये जा रहा है इस तथ्य को उस समय वह स्वयं भी समझ नहीं पाता अथवा समझ कर भी व्यावहारिक सम्मान के लोभ में जान बूझ कर उसकी ओर से आंखें मूंद लेता है ।

तात्विक शरण को प्राप्त जिन ज्ञानियों ने आत्म-दोष दर्शन के द्वारा उपबृंहण-गुण की तथा आर्यत्वधर्मकी महिमा का साक्षात् अनुभव किया है, मुमुक्षुजनों के कल्याणार्थ वे व्यक्ति को उसके जीवन का रहस्य समझाते हुये कहते हैं कि भाई ! यद्यपि बाह्य और आभ्यन्तर की अपेक्षा व्यक्ति का व्यक्तित्व द्वि-भंगी है, तदपि बाह्य की अपेक्षा आभ्यन्तर ही अधिक सत्य तथा परमार्थ होता है, क्योंकि जिस प्रकार बाह्य व्यक्तित्व में कृत्रिमतायें सम्भव हैं उस प्रकार आभ्यंतर में नहीं हैं । जिसप्रकार बाह्य व्यक्तित्वको कृत्रिम शृंगारों, वेषभूषाओं तथा बनावटी अभिनयों के द्वारा कुछ का कुछ दिखा कर जगत को धोखा दिया जा सकता है इस प्रकार आभ्यन्तर व्यक्तित्व के साथ नहीं किया जा सकता । वह जैसा होता है वैसा ही रहता है । इसलिये अध्यात्म की चोट सदा बाह्य की अपेक्षा आभ्यन्तर पर अधिक होती है ।

श्री जिनेन्द्र वर्णी

प्राय: देखा जाता है कि व्यक्ति का बाह्य जीवन अति निर्मल सा दिखाई देते हुये भी उसका आभ्यंतर जीवन अति मलिन होता है, परन्तु कहीं कहीं ऐसे भी उदाहरण पाये जाते हैं कि बाह्य जीवनमें कुछ दोष होते हुये भी उसका आभ्यन्तर जीवन प्राय: निर्दोष रहता है। आगम में अपवादास्पद श्रेणी को प्राप्त पुलाक बकुश कुशील साधुओं की गणना निर्ग्रन्थों में की गई है। तथापि आर्यत्वधर्म का माहात्म्य इसीमे है कि व्यक्ति का बाह्य तथा आभ्यन्तर एक सीध में हों, अर्थात् उसके बाह्य जीवन का स्तर भी वही हो जो कि आभ्यन्तर जीवन का। दोनों में विषमता होना दूसरों के लिये तो हानिकारक है ही अपने लिये भी पतन का कारण होता है। जीवन के इस अत्यन्त गुह्य तथ्य को समझने वाले तत्वदृष्टि सम्पन्न किसी विरले कल्याणार्थी को ही यह बल प्राप्त है कि पर-दोषों की बजाय आत्म-दोषों को और आत्म-गुणों की अपेक्षा पर-गुणों को उदारता के साथ प्रगट करके सम्मान की बजाय अपमान तथा तिरस्कार को अपनाने में ही अपना हित समझे।

२. समीचीन न्याय :

बाल भाषा में कहे गये इस तथ्य को जैनदर्शन एक ऐसी सैद्धान्तिक भाषा में प्रस्तुत करता है जिसमें न कहीं दोष के प्रवेश को अवकाश है और न भ्रान्ति को। व्यक्ति के हृदय में यदि सत्य है और वह अपने साथ पूर्ण ईमानदारी से वर्तता है तो इस न्याय की शरण को प्राप्त होने पर उसके लिये कही भी किसी प्रकार के भय की आशका नहीं रह जाती, परन्तु उसकी दृष्टि में यदि पक्षपात या हठवाद आदि किसी भी रूप में कही कोई असत्य की कणिका दबी पड़ी है तो अवश्य ही एक दिन वह इस न्याय का उल्लंघन करके अपना तो जीवन नष्ट करता ही है दूसरों के साथ भी अन्याय करता है, जिसका अति भयंकर फल उसे अग्रिम जीवनों में प्राप्त होने वाला है। अत: कल्याणार्थी मुमुक्षु का कर्तव्य है कि किसी प्रकार की भी हठ या पक्षपात यदि हृदय में कहीं प्रतीत होती है तो सूक्ष्म दृष्टि से देखकर उसे दूर करे और उक्त न्याय की शरण में आकर स्व-पर उपकार का भागी बने।

जैनदर्शन में प्रसिद्ध इस सिद्धान्त या न्याय का नाम ही स्याद्वाद, नयवाद नीतिवाद अपेक्षावाद या अनेकान्तवाद है। वैसे तो यह न्याय जितना गम्भीर है उतना जटिल भी है, तदपि प्रस्तुत निबन्ध का प्रयोजन इस महा सिद्धान्त की दो नीतियों के द्वारा हो जाता है—व्यवहारनय (नीति) और निश्चयनय (नीति)। बाह्य जीवन के विषय मे कुछ कहना या विचारना या करना अथवा दूसरों के विषय में कुछ कहना या विचारना या करना अथवा दूसरों को समझाना व्यवहार नीति है, और आभ्यन्तर जीवन के विषय में कुछ कहना या विचारना या करना अथवा दूसरों को समझाना निश्चय नीति है। अपनी भाषा में हम जिसे बाह्य और आभ्यन्तर कहते है उसे ही सिद्धान्त की भाषा में व्यवहार तथा निश्चय कहते हैं। इन दो नीतियों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तीर्ण है। जड़ तथा चेतन दोनों में ही इनके प्रयोग द्वारा लाभान्वित हुआ जा सकता है। विद्वज्जगत में इस नीति का प्रयोग यद्यपि तात्विक परीक्षा तक ही प्राय: प्रसिद्ध है, तदपि इसका अधिकार जैन वाङ्मयके सभी अगों तथा प्रत्यंगों में व्याप्त है। न्याय शास्त्र, दर्शन शास्त्र तथा अध्यात्म शास्त्रमें तो इसका प्रयोग सर्व प्रत्यक्ष है ही, साधना शास्त्र, सिद्धान्त शास्त्र तथा कर्म शास्त्र भी इससे अछूते नहीं है। लौकिक या अलौकिक किसी भी विषय की चर्चा करने में जैन न्याय अपनी इस नीति का उल्लंघन नहीं करता। जीवन के बाह्य तथा आभ्यन्तर सभी अंगों प्रत्यंगों का मैत्री युक्त सामंजस्य इस न्याय का इष्ट लक्ष्य है, जो जीवन पथ के सर्व कण्टक हटाकर मुमुक्षु को कल्याण भाजन बनाता है।

जीवन के लौकिक तथा अलौकिक दोनों क्षेत्रों की तो बात नहीं, केवल अलौकिक क्षेत्र के भी सभी अंगों की चर्चा एक लेखनी के द्वारा कौन कर सकता है। तथापि आचार्यों ने जैनदर्शन के तीन प्रधान अंगों पर अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पर लागु करके किस प्रकार इस न्याय को गौरवान्वित किया है, यह बात दर्शनीय है। दर्शन-शास्त्र, अध्यात्म-शास्त्र तथा आचार-शास्त्र में इन तीनों अंगो के और इनके साथ साथ इनके अवान्तरभूत व्रत, समिति, गुप्ति, संवर, तप, ध्यान आदिक सहायक अंगों के भी प्रकरणानुसार अनेक अनेक लक्षण उपलब्ध होते हैं। इन सब लक्षणों को उक्त न्याय की दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ लक्षण व्यवहार नीति से किये गये हैं और कुछ निश्चय नीति से। ये सर्व लक्षण किसी एक ही आचार्य द्वारा किसी एक ही

स्थल पर किये गये हों, ऐसा नहीं है, प्रत्युत विभिन्न आचार्यों के द्वारा प्रकरणानुसार विभिन्न स्थलों पर किये गये हैं। तथापि एक स्थान पर संग्रह करके इन सब में सामंजस्य की स्थापना की जा सकती है। यथा—

३. रत्नत्रय :

१ व्यवहार दृष्टि से सम्यग्दर्शन का लक्षण कहीं देव, शास्त्र, गुरु अथवा धर्म की श्रद्धा किया गया है और कहीं तत्त्वार्थों की समीचीन श्रद्धा। निश्चय-दृष्टि से इसका लक्षण कहीं हेयोपादेय विवेक किया गया है और कहीं शुद्धात्म रुचि अथवा शुद्धात्मोपलब्धि।

२ व्यवहार दृष्टि से सम्यग्ज्ञान का लक्षण कही शास्त्राध्ययन किया गया है, कही तत्त्वार्थों का यथार्थ अधिगम और कहीं जीवाजीव विवेक। निश्चय-दृष्टि से स्व-अध्ययन अथवा स्वात्म संवेदन ही इसका प्रधान लक्षण है।

३ व्यवहार दृष्टि से सम्यक्चारित्र का लक्षण कही कर्तव्याकर्तव्य के विवेक-पूर्वक अकर्तव्यका त्याग किया गया है और कहीं अशुभ कार्यों से निवृत्त होकर शुभ कार्यों में प्रवृत्त होना कहा गया है। निश्चय-दृष्टि से कहीं शुभ तथा अशुभ दोनों का त्याग इसका लक्षण किया गया है,[1] कही ज्ञान-दर्शन की एकता, कही साम्यता अथवा ज्ञाता-दृष्टा भाव और कही आत्म-स्वरूप मे स्थिरता।

स्थूल-दृष्टि से देखने पर ये सकल लक्षण एक दूसरे से विलक्षण दिखाई देते है, परन्तु सूक्ष्म-दृष्टि से देखने पर ये सब वास्तव मे एक है। भेद केवल सोपान क्रम की अपेक्षा है स्वरूप की अपेक्षा नही। यथा—

१ प्रथम सोपान पर जिस मुमुक्षु को केवल देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धान करने की प्रेरणा दी गई है, वही मुमुक्षु इन तीनों के योग से द्वितीय सोपान पर पदार्पण कर जाने पर तत्त्वार्थों की अर्थात् जीवनोपयोगी तथ्यों की यथार्थ प्रतीति करने लगता है। जिसके फलस्वरूप तृतीय सोपान पर उसे स्वतः इनमे हेयोपादेय विवेक जाग्रत हो जाता है। यह विवेक ही चतुर्थ सोपान पर अत्यन्त उपादेय शुद्धात्म-तत्त्वकी रुचि में परिणत होकर पञ्चम सोपान पर उसे इसकी साक्षात् उपलब्धि की पात्रता प्रदान कर देता है, जिसके होने पर मात्र श्रद्धान वाला प्रथम लक्षण तत्त्व-श्रद्धान में समाकर निःशेष हो जाता है। तब भी यद्यपि वह देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धा भक्ति रखता है, परन्तु कुछ पाने के लिये नहीं प्रत्युत भीतर मे रागांश जीवित रहने के कारण।

२ इसी प्रकार सम्यक्ज्ञान के लक्षणों में भी प्रथम सोपान पर जो मुमुक्षु गुरु मुख से सुनकर अथवा शास्त्र-अध्ययन के योग से तत्त्वार्थों का शाब्दिक अधिगम प्राप्त करना है वही द्वितीय सोपान पर अपने जीवन में जीव तथा अजीव ऐसे दो तथ्योके साक्षात् दर्शन करने लगता है। फलस्वरूप तृतीय सोपान पर अजीवात्मक तथ्यों को बाद करता हुआ (छोड़ता हुआ) चतुर्थ सोपान पर जीवात्मक तथ्यो से समवेत अपने स्वरूप का साक्षात से वंदन करता है, जिसके सिद्ध हो जाने पर उसके लिये प्रथम सोपान वाला शास्त्रीय ज्ञान उसी प्रकार व्यर्थ हो जाता है जिस प्रकार कि भाषा बोलने का अधिकार प्राप्त हो जाने पर व्याकरण का ज्ञान। तब भी यद्यपि वह शास्त्राध्ययन करता है, परन्तु कुछ समझने के लिये नही प्रत्युत उपयोग कही भटक न जाए, इसलिये।

३ सम्यक्चारित्र के लक्षणों में भी सोपान क्रम स्पष्ट है। यथा—सम्यग्ज्ञान के अंगभूत गुरुपदेश अथवा शास्त्रअध्ययन के माध्यम से मुमुक्षु में सर्वप्रथम कर्तव्याकर्तव्य का विवेक ही उत्पन्न होता है, जिसके फलस्वरूप प्रथम सोपन पर वह आहार, विहार, नीहार, संभाषण तथा वर्तन आदि विषयक अपनी सकल मानसिक, वाचिक तथा कायिक प्रवृत्तियों में से हिंसा आदिक अशुभ कार्यों को हटाकर प्रयत्नपूर्वक पूजा उपासना अथवा व्रत संयम तप आदिक शुभ कार्यों में प्रवृत्ति आरम्भ करता है। इन्द्रियदमनके लिये पांचों इन्द्रियों के विषयों का त्याग करता है और कषाय निग्रह के लिये अनेक प्रकार के व्रत ग्रहण करता है। आगे चलकर द्वितीय सोपान पर पूजा उपासना तो धीरे धीरे गुप्ति का रूप धारण करते चले जाते हैं, और संयम समिति का। कषाय-निग्रह के लिये ग्रहण

१. इस महत्वपूर्ण लक्षण की चर्चा आगे विशेष विस्तार के साथ की गयी है।

किये गए व्रत क्षमा, मार्दव, आर्जव आदिक स्वाभाविक धर्मों में समाविष्ट होकर सहज हो जाते हैं। गृहस्थ संबंधी विषयानुसारी सकल सामग्री का अभाव हो जाने से शीलव्रतों की अब कोई आवश्यकता नहीं रह जाती और अणु-व्रत-महाव्रत होकर वे जीवन के स्वभाविक अग बन जाते हैं। इस प्रकार द्वितीय सोपान पर शुभ तथा अशुभ के ग्रहण त्यागका द्वन्द्व शान्त होकर केवल एक सामायिक चारित्र अर्थात् साम्यभाव शेष रह जाता है। कर्तव्याकर्तव्य अथवा इष्टानिष्ट आदि के सकल विकल्प शान्त हो जाने के कारण तृतीय सोपान पर साम्यता अथवा ज्ञाता-दृष्टापने का भाव वृद्धिगत होने लगता है जो चौथे सोपान पर यथाख्यात संज्ञा को प्राप्त हो जाता है; और यही है निज स्वरूप में स्थिरता अथवा आत्मतृप्ति, जिसके प्राप्त हो जाने पर अन्य कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता।

४. समन्वय नीति :

दर्शन ज्ञान चारित्र के शास्त्रोक्त विभिन्न लक्षणोंमें दृष्ट यह सोपान-क्रम ही पूर्वोत्तरवर्ती लक्षणो का वह साधन-साध्य भाव है जिसे आचार्यों ने व्यवहार तथा निश्चय की समन्वयात्मक सन्धि के रूप मे प्रस्तुत किया है। नय-योजना के प्रकरण मे अथवा रत्नत्रय की साधना के प्रकरण मे सर्वत्र व्यवहार, निश्चय की इस सन्धि का उल्लघन करने का आज तक किसी ने भी साहस नहीं किया है, न ही कोई कर सकता है, क्योंकि ऐसी कल्पना न्याय तथा विज्ञान दोनों के विरुद्ध है। न्याय-विरुद्ध इसलिये है कि बिना साधन के साध्य की सिद्धि अथवा बिना हेतु के पक्ष की सिद्धि सम्भव नहीं। विज्ञान विरुद्ध इसलिये है कि बिना साधना के जीवन में दोष-निवृत्ति तथा गुण वृद्धि की बात कोरी कल्पना है। तीर्थंकरों तक को इस भव में अथवा पूर्व भवों में विकट साधनाएं करनी पडी हैं। बिना विशेष साधना के सिद्धि प्राप्त करने वाले भरत-चक्री जैसे विरल उदाहरण भी इस विज्ञान का खण्डन करने के लिए समर्थ नहीं हैं, क्योकि उनके वर्तमान भव के पीछे पूर्ववर्ती जन्म जन्मान्तरों की साधनायें स्थित हैं।

यह बात भिन्न है कि साधना क्रियात्मक हो। साध्य के अनुसार साधना की प्रकृति में भेद होना स्वा-भाविक है। श्रद्धा-प्रधान होने के कारण सम्यग्दर्शन के प्रकरण में देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा साधन है और उसके योग से उत्पन्न होने वाली आत्म-रुचि साध्य। सम्यग्ज्ञान के प्रकरण में शास्त्राध्ययन साधन है और उसके द्वारा इङ्गित स्वात्म-सवेदन साध्य। सम्यक्चारित्र के प्रकरण में मन वचन कायकी क्रियाओं में अशुभ निवृत्ति युक्त शुभ प्रवृत्ति साधन है और उत्तरोत्तर समता की अभिवृद्धि साध्य। इसी प्रकार व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, कायोत्सर्ग, ध्यान आदि के प्रकरणों में भी जानना। यथा—संकल्प पूर्वक बाह्य विषयों का त्याग व्रत का साधन है और उसके फलस्वरूप अन्तरंगमें उत्पन्न विषय-विरक्ति उसका साध्य है। बहि-रंग होने के कारण साधन को सर्वत्र व्यवहार कहा गया है और आभ्यन्तर होने के कारण साध्य को निश्चय।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र के उक्त सकल लक्षणों मे प्रत्येक पूर्ववर्ती लक्षण अपने से उत्तरवर्ती लक्षणका साधन है, और प्रत्येक उत्तरवर्ती लक्षण अपने से पूर्ववर्ती लक्षण का साध्य है। प्रथम सोपान वाला लक्षण अपने उत्तरवर्ती लक्षण का साधन होते हुए भी किसी अन्य लक्ष्य का साध्य नही है, और इसी प्रकार अन्तिम सोपान वाला लक्षण अपने से पूर्ववर्ती लक्षण का साध्य होते हुए भी किसी अन्य लक्षण का साधन नहीं है। इस दृष्टि से देखने पर तीनों ही प्रकरणों में प्रथम लक्षण केवल साधन ही होते हैं साध्य नहीं, और अन्तिम लक्षण साध्य ही होते हैं साधन नही। मध्यवर्ती सकल लक्षण साधन हैं और साध्य भी, अपने से पूर्ववर्ती के साध्य और अपने से उत्तरवर्ती के साधन।

इसप्रकार व्यवहार-निश्चय का तथा साधन-साध्य का विभाग हो जानेपर भी इन दोनों को एक दूसरे से सर्वथा विलग किया जाना सम्भव नहीं है। व्यवहार या साधन ही अवान्तर सोपान के प्राप्त होने पर स्वयं निश्चय या साध्य बन जाता है, यहां तक कि चरम सोपान पर साधक अन्तिम साध्य को हस्तगत करने में सफल होता है। यही है व्यवहार-निश्चय अथवा साधन-साध्य की वह शृंखलाबद्ध परम्परा जिसका पूर्ण दृढ़ता के साथ अवलम्बन करने पर साधक सोपान-क्रम से धीरे धीरे ऊपर उठता हुआ एक दिन पूर्णकाम हो जाता है।

व्यवहार तथा निश्चय नय की साधन-साध्य भाव वाली इस समन्वयात्मक सन्धि का उल्लंघन ही वह 'एकान्त' है जिसकी जैन न्याय कड़ी भर्त्सना करता है। न्याय के क्षेत्र में अथवा विज्ञान के क्षेत्र में और इसीप्रकार ज्ञान के क्षेत्र में अथवा चारित्र के क्षेत्रमें सर्वत्र ही यह एकान्त अत्यन्त अनिष्टकारी है, तथापि इस अनिष्ट को देखने की सामर्थ्य भी समन्वयवादी को ही प्राप्त होती है, एकान्तवादी को नही। अपने किसी भी एकांगी पक्ष के कारण अपने कथन में अथवा अपनी विचारणा में अथवा अपनी लौकिक तथा धार्मिक प्रवृत्तियों में वह या तो दूसरे पक्ष का सर्वथा लोप कर देता है और या उसके माहात्म्य को इतना तुच्छ कर देता है कि वह लोप के तुल्य हो जाता है बाह्याडम्बर के समक्ष आभ्यन्तर के मूल्य को तुच्छ समझने या करने वाला व्यवहारावलम्बी केवल श्रम का ही भागी होता है, साध्य का नहीं। इसी प्रकार आभ्यन्तर की लम्बी चौडी बातें करने वाला निश्चयावलम्बी बाह्याडम्बर के मूल्य को तुच्छ समझ कर केवल स्वच्छन्द अहकार को ही प्राप्त होता है, साध्य को नहीं। इसीलिये दूसरे पक्ष का लोप करने वाली निरपेक्ष नीति या नयको मिथ्या कहा गया है। विपरीत इसके दूसरे पक्षको समान स्थान प्रदान करनेवाली सापेक्ष नीति सम्यक् कही जाती है।

"निरपेक्षाः नयाः मिथ्या सापेक्षाः वस्तुतोऽर्थकृत।" (आ० मी० १०८)

कारण यह कि बाह्यक्रिया के योग से आभ्यन्तर भावों को बलिष्ठ करने वाला निश्चय सापेक्ष व्यवहारावलम्बी अपने जिस लक्ष्यको सरलता से प्राप्त करता है, उसी लक्ष्य को आभ्यंतर भावों से युक्त बाह्य क्रियाओं को करनेवाला व्यवहार सापेक्ष निश्चयावलम्बी भी प्राप्त करता है। विपरीत इसके निश्चय निरपेक्ष व्यवहारावलम्बी और व्यवहार निरपेक्ष निश्चयावलम्बी साध्य को प्राप्त न करके नष्ट हो जाते है। व्यवहारिक क्रिया का अर्थ यहां आहार विहार आदिक ही नहीं है प्रत्युत समझने समझाने विषयक बौद्धिक क्रिया को आदि लेकर मनन चिन्तन ध्यान आदि सकल मानसिक क्रियाये, उपदेश सम्भाषण आदि सकल वाचिक क्रियाये और आहार-विहार नीहार आदि सकल कायिक क्रियाये इसके अर्थ मे गर्भित है। ये सभी क्रियायें दोनो नयोंकी सन्धि युक्त ही होनी चाहिये, ऐसा जैनदर्शन का स्याद्वाद या अनेकान्त नामक प्रसिद्ध सिद्धान्त है अथवा प्राण है।

५. ज्ञानी तथा अज्ञानी :

यहां यह शंका हो सकती है कि निश्चय को जिसने प्राप्त नही किया है, ऐसे अज्ञानी की प्रवृत्तियों में व्यवहार तथा निश्चय का साधन-साध्य भाव कैसे घटित किया जा सकता है? शंका उचित है, परन्तु कुछ गहराई से विचार करने पर वहां भी इन दोनों का साधन-साध्य भाव देखा जा सकता है। अज्ञानी दो प्रकार के होते हैं। एक तो साम्प्रदायिक पक्ष वाले कोरे अन्धविश्वासी और दूसरे वे जिज्ञासु जिनका हृदय वास्तव मे अपना कल्याण करने के लिये छटपटा रहा है। तहां पहले वाले अज्ञानी में तो वह साधन-साध्य भाव सम्भव नहीं है, परन्तु दूसरे वाले अज्ञानी में अवश्य है।

कारण यह कि भले ही उसे साक्षात् रूप से निश्चय वाले उक्त लक्षणों की प्राप्ति न हुई हो तथापि सत्य जिज्ञासा के कारण उन लक्षणों की साक्षात् प्राप्ति के लिये उसका मानस या अन्तर्चेतना उन्मुख अवश्य हो चुकी है, जिसके फलस्वरूप उसका प्रत्येक बाह्य व्यवहार अन्तरंग को लक्ष्य करके वर्तता है। देव, शास्त्र, गुरु की प्रतीति वह केवल रुढिवश नही करता प्रत्युत कुछ भाव ग्रहण करने के लिये करता है। देव की प्रतीति से वह वीतरागता अथवा समता की प्राप्ति के लिये उत्सुक होता है और गुरु तथा शास्त्र की प्रतीति से वह जीवनोपकारी अनेकानेक अभिप्राय ग्रहण करता है। शास्त्राध्ययन वह केवल पढ़ने के लिये नही करता, प्रत्युत समझने के लिये करता है, अर्थात् शास्त्र में इङ्गित तथ्यों तथा उपायो को समझकर अपने भीतर उन्हे खोजने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार हिंसा आदि अशुभ कार्योसे निवृत्त होकर व्रत संयम आदि शुभ कार्यों में प्रवृत्ति भी वह केवल लोक दिखावे के लिये अथवा अवान्तर भव मे सुख प्राप्त करने के लिये नहीं करता, प्रत्युत इसी भव में वासनाओं तथा इच्छाओं को यथाशक्ति शिथिल करने के लिये करता है। इसप्रकार उसके सकल व्यावहारिक लक्षणों में बाह्य और आभ्यन्तर की मैत्री बराबर विद्यमान है। तहां उसका बाह्य लक्षण साधन है और आभ्यन्तर लक्षण साध्य। इस

साधन-साध्य भाव में दृढ़ता से निष्ठ रहने पर उसे एक दिन अवश्य निश्चय लक्षण वाला सोपान प्राप्त हो जाता है। ऐसा न होता तो कोई भी साधक निश्चय भूमि का स्पर्श करने के लिये समर्थ न हुआ होता, सब व्यवहार ही व्यवहार में रहते। इसलिये सकल कथन का सार यही समझना चाहिये कि साध्य की प्राप्ति तो बिना साधन के सहसा होती है, और न ही साध्योन्मुखी जिज्ञासा से शून्य केवल व्यावहारिक प्रवृत्तियों से होती है, प्रत्युत दोनों की सन्धि से होती है।

नि:सन्देह जब तक निश्चय लक्षण वाला सोपान प्राप्त नहीं हो जाता तब तक व्यक्ति ज्ञानी नहीं कहा जा सकता और उसके जीवन में केवल व्यवहार ही दृष्ट होता है निश्चय नहीं, तथापि निश्चय लक्षण के हस्तगत हो जाने पर जब वह ज्ञानी संज्ञा को प्राप्त हो जाता है तब उसके जीवन में हो वाचिक रूप से दोनों के अंश मैत्री पूर्वक वर्तन करते हैं यथा—

(१) सम्यग्दर्शन के क्षेत्र में ज्ञानी साधक को देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा भक्ति वाला व्यवहार-सम्यग्दर्शन अपने भीतर आत्म सुरुचि वाले निश्चय सम्यग्दर्शन को परिवृद्ध करता प्रतीत होता है और इसी प्रकार आत्म सुरुचि वाले निश्चय-सम्यग्दर्शन के कारण उसके भीतर स्थित रागांश सहज रूप से देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा भक्ति वाले व्यवहार सम्यग्दर्शन के प्रति जितना झुकता प्रतीत होता है उतना अन्य विषयों के प्रति नहीं। (२) सम्यग्ज्ञान के क्षेत्र में ज्ञानी को शास्त्राध्ययन वाला व्यवहार-सम्यग्ज्ञान अपने भीतर [illegible] कर स्वात्म-संवेदन वाले निश्चय-सम्यग्ज्ञान के प्रति उत्सुक करता प्रतीत होता है, और इसी प्रकार स्वात्म-संवेदन वाले निश्चय-सम्यग्ज्ञान के कारण उसके भीतर स्थित रागांश शास्त्रीय विषयों के पठन-पाठन, उपदेश, श्रवण, मनन आदि रूप व्यवहार सम्यग्ज्ञानके प्रति जितना संलग्न होता प्रतीत होता है उतना अन्य विषयों के प्रति नहीं। (३) सम्यक्चारित्र के क्षेत्र में भी इसी प्रकार 'अशुभे निवृत्ति शुभे प्रवृत्ति' वाला व्यवहार सम्यक्चारित्र उसे धीरे धीरे समता अथवा स्वरूप-स्थिरता वाले निश्चय-सम्यक्चारित्र के रूप में परिणत होता प्रतीत होता है, और समता अथवा स्वरूप स्थिरता वाले निश्चय सम्यक्चारित्रके कारण उसके भीतर स्थित रागांश व्रत, संयम उपवास आदि के द्वारा अशुभ निवृत्ति के प्रति और पूजा प्रायश्चित्त, विनय, कायोत्सर्ग, ध्यान आदि के द्वारा शुभ प्रवृत्ति के प्रति जितनी प्रेरणा देता प्रतीत होता है उतना अन्य विषयों के प्रति नहीं।

ज्ञानी के जीवन में निश्चय-व्यवहार की यह सहवर्ती सन्धि देखकर भी कोई-कोई इन दोनों नयों का समन्वय करते हैं, परन्तु ऐसा समन्वय आगम-कारों को इष्ट नहीं है। कारण यह कि राग तथा विराग जैसे दो विरोधी धर्मों के सहवर्ती अस्तित्व की प्रतीति विद्यमान होने से भले ही इसमें अनेकान्त नामक सिद्धान्त की सत्यता सिद्ध होती हो तथापि निश्चय व्यवहार का साध्य-साधन भाव दृष्ट नहीं होता, जब कि किसी भी विषय की प्राप्ति मे साधन-साध्य भाव ही प्रधान होता है। किसी विषय को देख लेना या समझ लेना और बात है और उसे प्राप्त करना और बात। देखने या समझने का कार्य एक क्षण में समाप्त हो जाता है, परन्तु प्राप्त करने में लम्बे काल तक साधना करने की आवश्यकता होती है। लौकिक अथवा पारमार्थिक किसी भी क्षेत्र में इस नीति का उल्लंघन किया जाना सम्भव नहीं। पारमार्थिक कल्याण की प्राप्ति के इस क्षेत्र में व्यवहार की [illegible] आदेयता की [illegible] समझकर जिस प्रकार सोपान-क्रम से ऊपर चढ़ा जाना सम्भव है उसी प्रकार इसके सहवर्तीपने में सन्तुष्ट होकर रुकना नहीं है। अल्पता में पूर्णता की कल्पित तोषी यह सन्तुष्टि व्यक्ति को [illegible] की सहायक नहीं बाधक है। योग-दर्शन में ऐसी सन्तुष्टि को योग का विघ्न कहा गया है। [illegible] इस प्रकार की भोली सन्तुष्टि के कारण तथा जिज्ञासा वाले साधक को भी [illegible] प्राप्त हो जाता है और वह ऊपर चढने की बजाय धीरे-धीरे नीचे की ओर खिसकने लगता है। अपनी इस महती क्षति की प्रतीति उसे उस समय तक नहीं होती जब तक कि वह [illegible] स्वच्छन्द की भूमि में प्रवेश नही कर जाता।

६. सद्विवेक :

किसी भी इष्ट की सिद्धि में अथवा पदार्थ की प्राप्ति में दो बातें अपेक्षित होती हैं—एक तो लक्ष्य और दूसरा पुरुषार्थ। लक्ष्य तो वह पदार्थ है जिसकी सिद्धि या प्राप्ति इष्ट है और पुरुषार्थ वह क्रिया है जो कि व्यक्ति उसकी प्राप्ति के अर्थ प्रयत्न पूर्वक करता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों बातों में से व्यक्ति का अधिकार पुरुषार्थ करने में ही होता है, पदार्थ की प्राप्ति में नहीं। वह तो उस क्रिया के फल स्वरूप यथा समय स्वयं प्राप्त हो जाता है। बीज बोने में ही व्यक्ति का अधिकार है, फल बनाने में नहीं। वह तो बीज बोने के परिणाम स्वरूप यथा समय स्वयं प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार पत्थर की काट छांट करने में ही कारीगर का अधिकार है, मूर्ति बनाने में नहीं। वह तो पत्थर की काट छांट के द्वारा यथा समय स्वयं बन जाती है। पदार्थ के लक्ष्य मात्र से उसकी प्राप्ति नहीं हो जाती, उसके लिये प्रयत्न पूर्वक पुरुषार्थ करना अनिवार्य होता है।

प्रकृत प्रबन्ध में लक्ष्य को साध्य कहा गया है और उसके लिये किये गये पुरुषार्थ को साधन। प्रयत्न पूर्वक बाहर में कुछ किया जाने योग्य होने के कारण साधन स्थानीय पुरुषार्थ को ही जैन न्याय व्यवहार कहता है और उसके फल स्वरूप भीतर में प्राप्त होने योग्य होने के कारण साध्य स्थानीय लक्ष्य को निश्चय। इस प्रकार व्यवहार ही किया जाने योग्य होता है निश्चय नही। वह तो उसके फल स्वरूप यथा समय स्वयं प्राप्त हो जाता है। यही इन दोनों का साधन साध्य भाव है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र के पूर्वोक्त सभी लक्षणों में से व्यवहार लक्षण व्यक्ति के द्वारा अपनी अपनी भूमिका के अनुसार प्रयत्न पूर्वक किये जाने योग्य है, और निश्चय लक्षण उस-उस भूमिका में प्राप्त होने योग्य है। पुरुषार्थके बिना साध्य की सिद्धि कोरा स्वप्न है। साध्य की सिद्धि में व्यवहार की क्रिया और निश्चय का लक्ष्य दोनों आवश्यक होते हैं।

ज्ञानीजन लक्ष्य की स्थिरता के लिये अध्यात्मशास्त्र में जहां निश्चय पर जोर देते हैं, वहां ही वे उसकी प्राप्ति के लिये 'आचार शास्त्र मे' व्यवहार पर भी पूरा बल देते हैं। इसी प्रकार जहां वे आचार शास्त्रमें व्यवहार पर जोर देते हैं वहां ही निश्चय पर जोर देना नहीं भूलते हैं। दोनों में से किसी भी पक्ष के पलड़े को आवश्यकता से अधिक झुकाना ही एकान्त नामक वह अभिशाप है जो साधक के सकल पुरुषार्थ पर पानी फेर देता है। निःसन्देह ज्ञान मात्र को प्रधान मानकर चलने वाले अध्यात्म शास्त्र में व्यावहारिक क्रिया काण्ड के लिये कोई स्थान नहीं है तथापि चारित्र को प्रधान मानकर चलने वाले आचार शास्त्रमें उसीको सर्वे सर्वा कहा गया है। इस प्रकार देखने पर यद्यपि इन दोनों में परस्पर विरोध दिखाई देता है, परन्तु दृष्टि की मुख्यता-गौणता को पहचानने वाले ज्ञानी जन इन दोनो को पृथक् पृथक् न देख कर पारस्परिक सामञ्जस्य के द्वारा एक देखते हैं। दोनों का समन्वय या सामञ्जस्य करके चलने में ही मुमुक्षु का कल्याण है, किसी एक की हठ पकड़कर दूसरे का तिरस्कार करने में नहीं।

निःसन्देह आभ्यन्तर लक्ष्यकी प्राप्ति का साक्षात् हेतु ज्ञान ही है क्रिया नहीं, तदपि संस्कारों से दबा होने के कारण जब तक चित्त चंचल तथा क्षुब्ध रहता है, तब तक ज्ञान की बात करना उपहास है। चित्त को चंचल तथा क्षुब्ध करने वाले आस्रवों या संस्कारों से निवृत्त होकर जब उपयोग निश्चलता को प्राप्त हो जाता है तब ही अध्यात्म की दृष्टि में वह 'ज्ञान' संज्ञा को प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं।[1] व्यावहारिक क्रियायें भी परमार्थतः साक्षात् रूपसे लक्ष्यकी प्राप्ति के लिये नहीं कही गई हैं, पत्युत चित्तकी शुद्धि के लिये कही गई हैं, और इसलिये उन्हें साक्षात् हेतु न मानकर परम्परा हेतु माना गया है। व्यवहारिक साधना से चित्त की शुद्धि होती है, चित्त की शुद्धि से उपयोग की स्थिरता होती है, और उपयोग की स्थिरता से चारित्र का वह अन्तिम लक्षण

---

१. यत्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवति। (स० सा०/आ०/७२)

प्राप्त होता है जिसे समता या शमता कहा गया है। मोह तथा क्षोभ से विहीन आत्म परिणाम ही इसका परमार्थ स्वरूप है—मोह विहीन समता और क्षोभ विहीन शमता।[1] भले ही चारित्र के अन्तिम सोपान को प्राप्त उच्च साधक इसके मार्ग में व्यावहारिक बाह्य क्रिया का कोई स्थान न देखते हों, तदपि निम्न भूमि में स्थित मलिन या चंचल चित्त वाला कौन सच्चा साधक ऐसा है जो कि अपने चित्त की शुद्धि के लिये इसकी शरण में न जाये।

७. पुण्य की कथंचित् हेयता :

समता लक्षण वाले अन्तिम सोपान पर पहुँचने के लिये साधक को सम्यक्चारित्र के प्रकरण में कथित उस द्वितीय भूमि में से गुजरना अत्यन्त आवश्यक है जिसमें कि हिंसा आदिक अशुभ या पाप कार्यों के त्याग की भांति पूजा उपासना आदि अथवा व्रत संयम आदिरूप पुण्य कार्यों के भी त्याग की आवश्यकता होती है। इसका कारण यह है कि भले ही निम्न सोपान पर व्यवहारांश या शुभ रागांश साधना में सहायक क्यों न हो, परन्तु पुण्य बन्धका हेतु होने से अथवा विकल्पोत्पादक होने से उपरिम सोपान पर वह भी त्याज्य ही होता है।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥
येनांशेन ज्ञानस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥
येनांशेन चारित्रस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥

(पु० सि० उ०/२१२-२१४)

अन्तर केवल इतना है कि यहां त्याग का अर्थ त्याग की जाति का न होकर उपेक्षा की जाति का होता है। त्याग और उपेक्षा में यह अन्तर है कि जिस प्रकार हिंसा आदिक त्याज्य विषयों का व्रत नियम आदि के द्वारा संकल्प पूर्वक स्वरूपतः त्याग किया जाता है उस प्रकार उपेक्ष्य विषयों का नहीं किया जाता। ग्रहण तथा त्याग के विकल्पों को छोड़कर ढीला हो जाना अर्थात् उन विषयोंके अभाव अथवा सद्भाव दोनों में सम रहते हुये ज्ञाता दृष्टा भाव से अवस्थित रहना ही उपेक्षा का लक्षण है।

सम्यक्चारित्र के प्रकरण में कथित शुभ प्रवृत्ति की उपेक्षा वाली यह द्वितीय भूमि इतनी सूक्ष्म तथा नाजुक है कि तनिक सी भी भूल या प्रमाद साधक को आकाश से गिराकर पाताल में पहुंचा सकती है, क्योंकि अशुभ के त्याग मे जिस प्रकार मानस निश्चित रूपसे ऊपर उठता है उस प्रकार शुभ की उपेक्षा से उठना निश्चित नहीं है। यह बात साधक के मानसिक स्तर पर आधारित है। 'अशुभे निवृत्ति शुभे प्रवृत्ति' वाले प्रथम सोपान वाली उसकी व्यवहार साधना यदि इतनी परिपक्व हो चुकी है और उसके फल स्वरूप मानसिक संस्कारों की शक्ति इतनी क्षीण हो चुकी है कि इन्द्रियों के विषय तथा कीर्ति प्रतिष्ठा प्रशंसा आदि के विकल्प उसे अब प्रलोभित करने के लिये समर्थ नहीं हो सकते, तो निःसंदेह शुभ की उपेक्षावाला यह द्वितीय सोपान उसे धीरे-धीरे समताके उस अंतिम सोपानपर पहुंचा देता है जहां पहुँचने पर साधक पूर्णकाम हो जाता है और उसे अन्य कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता। परन्तु यदि उसकी व्यवहार साधना अभी इतनी पारिक्व नहीं हो पाई है कि उसके संस्कारों की

---

१. चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥ (प्र० सा०/५)

शक्ति इतनी क्षीण हो जाये तो अवश्य ही वह समता भूमि की ओर प्रयाण करने की बजाय उक्त प्रलोभनों में फंस कर स्वच्छन्दता की ओर प्रयाण करता है। यद्यपि साधना के प्रति उसकी निष्ठा शिथिल हो जाती है तदपि पूर्व साधना का अभिमान उसकी विवेक चक्षु पर इसप्रकार पट्टी बांध देता है कि वह अपने स्वच्छन्दात्मक प्रमाद को ही समता मान बैठता है, और भ्रान्तिवश उत्तरोत्तर राग-द्वेष के प्रपंच मे फंसता जाता है। इस बात का भान उसे उस समय तक नही होता जब तक कि उसके पूर्व पुण्यका सर्वथा लोप नही हो जाता। तब वह अपने को अन्ध लोक में गिरा पाता है और अपनी भूल के लिये माथा धुनता है। परन्तु "अब पछताये होत क्या जब चिडिया चुग गई खेत।" प्रारब्ध का फल भोगने के अतिरिक्त अब उसके पास कोई चारा नहीं है।

यही कारण है कि सम्यक्‌चारित्र के प्रकरण में उल्लिखित इस अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमि के लक्षण का सविस्तर विवेचन शास्त्रो में उपलब्ध नहीं होता है। निःसन्देह कुन्दकुन्द जैसे महाज्ञानियो ने अध्यात्म-शास्त्रों में कहीं कहीं इसका कुछ संकेत किया है—यथा "विषय सेवता हुआ भी वह असेवक है[1]" "प्रतिक्रमण और अप्रति-क्रमण आदि से विलक्षण अर्थात् व्रत-अव्रत आदि से अतीत जो व्रतादि की उपेक्षा वाली तृतीया भूमि है वह स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धिरूप होनेके कारण साक्षात् अमृत कुंभ है[2]" इत्यादि परन्तु आचार शास्त्र में आचार्य 'वीतराग चरित्र' तथा 'उपेक्षा सयम' ऐसे दो नामों का उल्लेख मात्र करके रह गये है श्वेताम्बर साहित्य में इस भूमि का नाम 'जिन कल्प' दिया गया है, जिसकी योग्यता उनके अनुमार इस कलिकाल में नही है। बौद्ध साहित्य में इसे ही उपेक्षा पारमिता कहा गया है। यद्यपि बौद्ध तथा वेदान्त साहित्य मे इसका पर्याप्त विस्तार पाया जाता है, परन्तु व्यवहार-निश्चय की साधन-साध्य भाव वाली समीचीन साधना पर विश्वास करने वाले और साधक की मनोगत कमजोरियो को जाननेवाले जैनाचार्यो ने जान बूझकर इसके विवेचन को इसलिये स्थगित कर दिया है कि इस प्रकरण को पढकर अपनी कमजोरियो से अनभिज्ञ साधक भटक कर कहीं उसी प्रकार स्वच्छन्दाचारी न बन जाये जिसप्रकार कि बौद्ध तथा वेदान्त सम्प्रदायों के अधिकतर साधक।

सम्यक्‌चारित्र के अन्तर्गत साधना की यह भूमि केवल गुरु-आश्रित है। जिस प्रकार कि डॉक्टर अपने रोग की परीक्षा स्वय नहीं कर सकता और उसे अपना इलाज कराने के लिये दूसरे डॉक्टर की आवश्यकता पडती है, उसी प्रकार ज्ञानी होते हुए भी साधक इस भूमि मे प्रवेश पाने के लिये अपने बलाबल की परीक्षा स्वयं नही कर सकता। ऐसे अनुभवी गुरु ही इस विषय मे प्रमाण है जो कि स्वयं इस भूमि में से गुजर चुके है अथवा गुजर रहे हैं। इसीलिये आगम में ऐसे साधकके लिये केवली अथवा श्रुतकेवली की शरण आवश्यक बताई गई है।

८. सामायिक चारित्र :

सिद्धान्त के अनुसार समता ही चारित्र या धर्मका लक्षण है[3]। यह लक्षण यद्यपि तत्त्वानुभूति के साथ-साथ चतुर्थ गुणस्थान मे ही अंशतः उत्पन्न हो जाता है तदपि उस समय वह अंश इतना क्षीण होता है कि साधक के जीवनमें उसके लक्षणों का स्पष्ट साक्षात्कार नही हो पाता। इसलिये इस गुणस्थान मे शास्त्र समता का उल्लेख नहीं करता। पंचम गुणस्थान में प्रवेश होने पर वह सामायिक व्रतके द्वारा इसका अभ्यास प्रारम्भ करता है और सामायिक प्रतिमा को आदि लेकर अग्रिम आठ प्रतिमाओं के आचरण द्वारा इसकी उत्तरोत्तर अभिवृद्धि करता है। जब उसका यह गुण परिवृद्ध होकर इस योग्य हो जाता है कि इसके लक्षण उसके जीवन में स्पष्ट प्रतीत होने लगें तो वह सामायिक चारित्र संज्ञा को प्राप्त हो जाता है। समता के साथ-साथ व्रत समिति आदि के रूप मे शुभ

---

१ सेवतो विण सेवइ असेवमाणो वि सेवगो कोई। (स० सा०/११७)

२ प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणादिविलक्षणाप्रतिक्रमणादि रूपां तृतीया भूमिस्तु स्वय शुद्धात्मसिद्धिरूपत्वेन अमृतकुम्भो भवति। (स० सा०/आ०/३०६)

३ चारित्र खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो। (प्र० सा०/५)

रागांश जीवित रहने के कारण—इस चारित्र वाला साधक छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त-संयत कहलाता है। कुछ समय के लिये इस शुभ रागांश का शमन हो जाने पर जब वह व्रतादि शुभ-प्रवृत्तियों की उपेक्षा करके निर्विकल्प हो जाता है तब वह सप्तम गुणस्थानवर्ती 'अप्रमत्त संयत' संज्ञा को प्राप्त हो जाता है। परन्तु यह भूमि उसे कुछ समय भर के लिये ही प्राप्त होती है, जिसके उपरान्त संस्कार उसे वहां से नीचे खेंच लेते हैं। उस स्थिति में व्रत समिति आदिक शुभ विकल्पों तथा कार्यों में प्रवृत्त होकर पुनः छठे गुणस्थान में आ जाने के अतिरिक्त उसके पास अन्य कोई चारा नहीं रह जाता। गिरने चढ़ने का यह झूला जीवन भर चलता रहता है, परन्तु इसे पार करके वह शुभ की उपेक्षा वाली द्वितीय भूमि में प्रवेश कर सके ऐसी योग्यता इस कलिकाल में स्वीकार नहीं की गई है। उसकी प्राप्ति के लिये अनेक जन्मों की साधना अपेक्षित है। अष्टम आदिक मध्यवर्ती तीन गुणस्थान ही वास्तव में वह द्वितीय सोपान है जिसमें अशुभ के त्याग की भांति शुभ का त्याग होता है, उससे पहले नहीं। अन्तिम सोपान वाली पूर्ण समता की प्राप्ति उस समय तक सम्भव नहीं जब तक कि मध्यवर्ती इन गुणस्थानों के द्वारा साधक सकल काषायिक संस्कारों को उपशांत नहीं कर देता अथवा जड़ मूल से उखाड़ नहीं फेंकता। यही है उपशान्त मोह तथा क्षीण मोह नाम वाला वह ग्यारहवां तथा बारहवां गुणस्थान। क्षीण मोह नामक १२वें गुणस्थानके हस्त-गत हो जाने पर केवल्य लक्षण वाली तेरहवे गुणस्थानवर्ती जीवनमुक्त अर्हन्तावस्था सहज प्राप्त होती है। इस अवस्था की तो बात नहीं आठवे से दसवे तक के मध्यवर्ती तीन गुणस्थानों वाली समता भी जहां सम्भव नहीं वहां भ्रांति वश झूठ मूठ अपने को समता भोगी मान लेने का दुराग्रह कौन कर सकता है? और यदि कोई करता है तो स्वच्छन्द के रूप में उसके पूर्व-प्रणीत दुष्परिणाम से वह कैसे बच सकता है?

सारांश यह है कि व्यवहार साधन पूर्वक निश्चय साध्य की प्राप्ति ही जैन दर्शन का समीचीन न्याय है और जीवन के प्रत्येक अंग में इस न्याय का अनुसरण करना ही समीचीन साधना है, जिसका उल्लंघन ऊंचे से ऊंचे ज्ञानी अथवा साधक को धराशायी कर देता है, अन्ध लोक में धकेल देता है। ईमानदारी से इस न्याय का अनुसरण करने में ही मुमुक्षु के विवेक की परीक्षा है।

जैन धर्म में ध्यान का स्थान
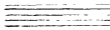
❖ आर्यिकारत्न ज्ञानमतीजी

[स्व० आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज की शिष्या]

एकाग्रचिन्तानिरोध होना अर्थात् किसी एक विषय पर मनका स्थिर हो जाना ध्यान है । यह ध्यान उत्तमसंहननवाले मनुष्यके अधिक से अधिक अंतर्मुहूर्त तक ही हो सकता है । इस ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ऐसे चार भेद होते हैं । उसमें आर्त व रौद्र, ध्यान संसार के कारण है । और "परे मोक्षहेतू:" सूत्र से धर्म, शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण हैं । धर्मध्यान, चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवे तक होता है । धवला मे तो दसवे गुणस्थान तक भी माना है और शुक्ल-ध्यान तो उत्तम-संहननधारी महामुनियो के तथा केवली भगवान् के ही होता है ।

इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज, वेदनाजन्य और निदान ये चार भेद आर्तध्यान के है । ऐसे ही हिंसानंद मृषानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द ये चार भेद रौद्रध्यानके हैं । गृहस्थाश्रममें प्राय: आर्त्तध्यान चलता ही रहता है । और कभी-कभी रौद्र-ध्यान भी हो जाया करता है ।

इन अप्रशस्त ध्यानों को हटाने व घटाने के लिये ही धर्म-ध्यान किया जाता है । यद्यपि गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है जैसा कि श्री शुभचन्द्राचार्य ने कहा है कि "आकाशपुष्प अथवा गधे के सींग हो सकते हैं, किन्तु किसी भी देश या काल में गृहस्थाश्रम मे ध्यान की सिद्धि नही हो सकती है[१]" फिर भी इस धर्मध्यान की सिद्धि के लिये गृहस्थाश्रम मे ध्यान का अभ्यास और भावना तो करनी ही चाहिये । श्रावकगण जो दान पूजा शील और उपवास इन चार क्रियाओं को अथवा देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन षट्क्रियाओं को करते हैं, वह सब धर्मध्यान की भावना ही है ।

---

१ ज्ञानार्णव पृ० ६७ ।

आगे चलकर श्री शुभचन्द्राचार्य ने यह भी कहा है कि "किन्हीं आचार्यों ने धर्मध्यान के असंयत सम्यग्दृष्टि, देशसंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत ऐसे चार गुणस्थानवर्ती जीव भी स्वामी माने हैं[1]"

अतः गृहस्थाश्रम की नाना चिन्ताओं में उलझे मन को कुछ विश्रान्ति देने के लिये श्रावकों को आज्ञा-विचय आदि अथवा पिंडस्थ, पदस्थ आदि ध्यान का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। यद्यपि इन पिंडस्थ आदि ध्यान की सिद्धि कठिन है तो भी प्रतिदिन किया गया अभ्यास, भावना, संतति और चिंतन इन नामों की सार्थकता को तो प्राप्त कर ही लेता है और कालांतर में वही अभ्यास ध्यान की सिद्धि में सहायक बन जाता है।

धर्मध्यान :

धर्मध्यान के चार भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय।

जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित तत्त्व सूक्ष्म हैं उनका नाना प्रकार के तर्क कुतर्कों से खण्डन नहीं किया जा सकता है, आज्ञामात्र से ही वे ग्रहण करने योग्य हैं, क्योंकि जिनेन्द्रदेव अन्यथावादी नहीं हैं। इसप्रकार आज्ञा को प्रमाण मानकर जो चिंतवन होता है वह आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

अपने और पर के कर्मों के नाश के उपाय का चिंतवन करना। अथवा 'मैं इन दुःखी जीवों को दुःख से निकालकर उत्तम सुख में कैसे पहुंचा दूं।' इस प्रकार से चितवन करना अपायविचय है।

कर्मों के उदय से होने वाले सुख-दुःख का विचार करना। अथवा कर्मों के बन्ध, उदय, सत्त्वका चिंतन करना विपाकविचय है।

तीन लोक के आकार का चिंतवन करना, अधो, मध्य और ऊर्ध्वलोक के आकार व तत्संबंधी जीवों के दुःख-सुख का चितवन करना संस्थानविचय है।

इस संस्थानविचय के पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ऐसे चार भेद भी होते है।

यहां पर पिंडस्थ ध्यान का किंचित् लक्षण बताया जा रहा है। इस ध्यान के अभ्यास के लिये ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यान का फल इन चार बातों को समझ लेना चाहिये। प्रसन्नात्मा, भव्य जीव जो सम्यग्दृष्टि हैं, पापभीरुता आदि गुणों से सहित है, ऐसे चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक के जीव धर्म ध्यान के ध्याता होते हैं। पंचपरमेष्ठी उनके वाचक अक्षर, दशधर्म व द्वादशांग के कोई भी वर्ण या पद ध्येय हैं और अपनी शुद्ध आत्मा भी ध्येय है। एक विषय पर मन का रोक लेना ध्यान है और उसका फल परम्परा से मोक्ष है।

इस ध्यान के लिये सबसे प्रथम मंदिर या पवित्र स्थान मे जाकर विधिपूर्वक 'देववंदना' करनी चाहिये। अनन्तर योगमुद्रा से बैठकर निराकुल भाव रखते हुए आगे कथित पिंडस्थ ध्यान के अन्तर्गत पांच धारणाओं का क्रम से चिंतवन करना चाहिये।

पिंडस्थ ध्यान :

पिंड-शरीर में स्थित आत्मा का ध्यान करना, पिंडस्थ ध्यान है। इसके लिये पांच धारणाएं होती हैं। पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती।

१. पार्थिवीधारणा—स्थिरयोग मुद्रा से बैठकर ध्यान करना कि स्वयंभूरमण समुद्र पर्यंत, मध्यलोक-प्रमाण विस्तृत एक क्षीरसमुद्र है, यह निःशब्द और कल्लोल रहित है। इसके बीच में एक लाख योजन विस्तृत

---

१. ज्ञानार्णव पृ० २६८।

जंबूद्वीप प्रमाण एक हजार पत्तों वाला सुवर्णमयी एक कमल खिला हुआ है। इसकी कर्णिका ऊपर को उठी हुई सुमेरु पर्वत के समान है। उस कर्णिका पर श्वेतवर्ण का एक ऊंचा सिंहासन है। मैं उस पर बैठकर अपनी आत्मा का ध्यान कर रहा हूं। यह पार्थिवीधारणा है।

२. आग्नेयीधारणा—पुनः उसी तरह बैठे हुए ऐसा चिंतवन करना चाहिये कि मेरे नाभिस्थान में सोलह पत्तों वाला खिला हुआ एक श्वेत कमल है। उसकी कर्णिका पर 'र्हं' ऐसा बीजाक्षर लिखा हुआ है और पूर्व दिशा के क्रम से दलों पर 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः' ये सोलह स्वर लिखे हुए हैं। इसी कमल के ठीक ऊपर हृदय स्थान में आठ पांखुडी वाला काले वर्ण का एक कमल है जिसके दलों पर क्रम से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ कर्म लिखे हुए हैं। यह कमल औंधे मुखवाला है। पुनः ऐसा चिंतवन करना कि नाभिकमल की कर्णिकाके 'र्हं' बीजाक्षर 'ह' के रेफ से धुम्रां निकल रहा है, पुनः उसमें से अग्नि के स्फुलिंगे निकलने लगे, धीरे-धीरे अग्नि की लौ ऊपर उठी और उसमें से लपटें निकलने लगीं। वे लपटें ऊपर के कमल को जलाने लगीं। धीरे-धीरे वह अग्नि की लौ मस्तक के ऊपर पहुंच गई और ऊपर से उसकी एक लकीर दाईं ओर को और एक लकीर बाईं ओर को निकलकर आ गई। इन दोनों लकीरों ने नीचे आकर दोनों कोनों को मिलाकर त्रिकोणाकार अग्निमण्डल बना दिया। अब अन्दर में धधकती अग्नि अन्दर के कमल आदि को जला रही है और बाहर की अग्नि औदारिक शरीर को भस्म कर रही है। इस त्रिकोणाकार में तीनों लकीरों में 'र र र र' ऐसे अग्नि बीजाक्षर लिखे हुए है और तीनों कोणो में स्वस्तिक बना हुआ है। स्वस्तिक के पास भीतरी भाग में 'ॐ रं' ऐसे बीजाक्षर लिखे हुए है। इस त्रिकोणाकार अग्निमण्डल की अग्नि को जब जलाने को कुछ शेष नही रहा तो वह शांत हो जाती है और राख का पुंज इकट्ठा हो जाता है। यह आग्नेयी धारणा हुई।

३. श्वसनाधारणा—पुनः ऐसा चिंतवन करना कि आकाश में चारों तरफ से बहुत जोर से हवा चलने लगी जो कि मेरु को भी कपाने में समर्थ है। ऐसा यह हवा का समूह एक गोलाकार वायुमंडल बन गया है। इस मण्डल में 'स्वाय स्वाय' ऐसे वायुमण्डल के बीजाक्षर लिखे हुये है। यह वायुमण्डल आत्मा के ऊपर एकत्रित हुए सारे भस्मपुंज को उड़ा रहा है। तत्पश्चात् वह वायु स्थिर हो गई है। ऐसा चिंतवन करना श्वसना या वायवी धारणा है।

४. वारुणीधारणा—पुनः ऐसा सोचना कि आकाशमे चारों तरफ मेघ छा गये है, बिजली चमक रही है, इन्द्रधनुष दिख रहा है, बादल गरजने लगे। देखते ही देखते मूसलाधार वर्षा प्रारम्भ हो गई है। इस जल का अपने ऊपर अर्धचन्द्राकार मंडल बन गया है और उससे अमृतमय जलकी सहस्रधाराएं बरसती हुई मेरी आत्मा के ऊपर लगे हुए कर्म की भस्म को प्रक्षालित कर रही है। इस वरुणमण्डल मे 'प प प' ऐसे बीजाक्षर लिखे हुए हैं। यह वारुणीधारणा हुई।

५. तत्त्वरूपवतीधारणा—तत्पश्चात् ऐसा चिंतवन करना कि मेरी आत्मा सप्तधातु से रहित, पूर्णचन्द्र के सदृश प्रभावशाली सर्वज्ञ समान हो गई है। अब मैं अतिशयो से युक्त और कल्याणकों की महिमा से समन्वित होकर देव, दानव, धरणेन्द्र आदि से पूजित हो गया हूं। ऐसा ध्यान करना तत्त्वरूपवती धारणा है।

इस पिंडस्थ ध्यान का निश्चल अभ्यास करने वाले योगीजन मोक्ष-सुख को भी प्राप्त कर लेते हैं। इस ध्यान के प्रभाव से शाकिनी, ग्रह, भूत, पिशाच आदि कुछ भी उपद्रव करने मे समर्थ नही होते हैं।

शंका—इस ध्यान मे पाच धारणाओं में बहुत सा विषय आ जाने से इसका अभ्यास दुष्कर प्रतीत होता है। अतः किसी एक पद या एक विषय के ध्यान को बताइये ?

समाधान—आगे के पदस्थ ध्यान मे किसी एक पद या मंत्र के ध्यान का उपदेश है, किंतु इस पिंडस्थ ध्यान को उसके पहले क्यो रखा है ? यह भी समझने की बात है। वास्तव में गृहस्थाश्रम के अनेकों प्रपंचों में

उलझे हुए। मन को कोई भी एक मंत्र पर किंचित् क्षरण के लिए भी टिका नहीं सकता है। और मन को खाली बैठना भी आता नहीं, अतः वह इधर-उधर के चक्कर में ही पुनः घूमने लगता है। उसके लिये जितनी अधिक सामग्री दी जायेगी उतना ही अच्छा है, उतनी देर तक तो कम से कम वह बाहर के विषयों से अपने को हटाकर इन धारणाओं के चिंतन में ही उलझेगा सो तो अच्छा ही है। यदि एक पद पर ही मन को स्थिर करना सरल होता तो आचार्य पहले पदस्थ को कहकर फिर पिंडस्थ को कहते इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पिंडस्थ ध्यान का ही पहले अभ्यास करना चाहिये। अनंतर अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर पदस्थ ध्यान का भी अभ्यास करना चाहिये।

पदस्थ ध्यान :

पवित्र मंत्रों के अक्षर, पदों का अवलंबन लेने वाला ध्यान पदस्थ-ध्यान है। इसके बहुत भेद हो जाते हैं।

१. 'ॐ' यह प्रणव मन्त्र है, यह पंचपरमेष्ठी वाचक मंत्र समस्त वाङ्मय-द्वादशांग श्रुत को प्रकाशित करने में दीपक के समान है। इसको हृदय-कमल की कर्णिका पर या ललाट आदि पवित्र स्थानों में स्थापित कर इसका श्वेत वर्ण के समान चिंतवन करना चाहिये।

२. हृदय मे आठ दल के कमल की कर्णिका पर 'णमो अरहंताणं' पूर्वादि दिशाओं के दलो पर 'णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं' इन चार पदों को तथा विदिशा के दलों पर क्रम से 'सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, सम्यक्तपसे नमः' इन चार पदों को स्थापित करके इन नव मन्त्र पदों का ध्यान करना चाहिये।

३. 'ह्रीं' इस बीजाक्षर मे ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकर स्थित हैं। वे अपने-अपने वर्णों से युक्त हैं। उनका ध्यान करना चाहिये।

जाप्य :

यदि ध्यान करने की क्षमता न हो तो महामन्त्र आदि मंत्रों का जाप करना चाहिये। जप के वाचिक, उपांशु और मानस ऐसे तीन भेद होते है। वाचिक जप मे मंत्र के शब्दो का उच्चारण स्पष्ट रहता है। उपांशु में शब्द भीतर ही भीतर कंठ-स्थान मे गूंजते रहते हैं, बाहर नही निकल पाते है, किन्तु मानस जप में बाहरी और भीतरी शब्दोच्चारण का प्रयास रुक जाता है। हृदय में ही मंत्राक्षरों का चिंतवन चलता रहता है। यह मानस जप ही एकाग्रचितानिरोध रूप होने मे ध्यान का रूप ले लेता है।

वाचिक जाप से सौगुणा अधिक पुण्य उपांशु जाप से होता है और उससे हजार गुणा पुण्य मानस जाप से होता है।

महामन्त्र के पांचपदों के उच्चारण में तीन श्वासोच्छ्वास होते है। अतः ९ बार महामन्त्र के जाप में २७ उच्छ्वास हो जाते हैं। मुनियो के देववंदना आदि क्रियाओं मे इन उच्छ्वासों से ही गणना बताई गई है। इस विधि से जाप करने में सहज ही प्राणायाम का अभ्यास हो जाता है।

रूपस्थ ध्यान :

अरहंत भगवान के स्वरूप का चिंतवन करना रूपस्थ ध्यान है। इसमें समवसरण में स्थित अर्हन्त परमेष्ठी का ध्यान किया जाता है।

रूपातीत :

सिद्धों के गुणों का चिंतवन करते हुए लोकाग्र में स्थित सिद्धों का ध्यान करना रूपातीत ध्यान है। अथवा सिद्ध का ध्यान करना रूपातीत ध्यान है। अथवा सिद्ध का ध्यान करते हुए अपनी आत्मा को सिद्ध समझ कर उसी में तन्मय हो जाना रूपातीत ध्यान है।

इन ध्यानों के अभ्यास से योगीजन निर्विकल्पध्यान में पहुंचने की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं।

शंका—सम्यग्दृष्टि को तो मात्र अपनी शुद्ध आत्माका ध्यान करना चाहिये, क्योंकि पर का अवलम्बन तो अनादि काल से लेते रहे हैं।

समाधान—यदि असंयत सम्यग्दृष्टि को गृहस्थाश्रम में रहते हुए सवस्त्र अवस्था में शुद्धात्मा का ध्यान हो जाता तो आचार्य सप्तम गुणस्थान तक इन ध्यानों को क्यों मानते? ज्ञानार्णव में तो स्पष्ट कहा है कि मुख्य रूप से इस ध्यान के ध्याता अप्रमत्त मुनि ही हैं, इसके नीचे के जीव गौणरूप से हैं।

शुद्धात्मा का ध्यान तो सप्तम गुणस्थान में निर्विकल्प अवस्था में ही शुरु होता है, चूंकि वहीं से शुद्धोपयोग की शुरुआत है, किंतु सविकल्प अवस्था तक तो पंचपरमेष्ठी आदि के या इन धारणाओं के अथवा मंत्र पद आदि के आश्रय से ही ध्यान हो सकता है यह नियम है। हां, शुद्धात्म तत्त्व का श्रद्धान करना और उसकी भावना करना तो ठीक ही है, किंतु उसे ध्यान नाम नहीं दे सकते हैं। यह बात नियमसार की गाथा १५४ के आधार से टीकाकार के शब्दों में है कि "पंचमकाल में हीन संहनन में ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि शक्य नहीं है और इस काल में शुद्धात्म तत्त्व का ध्यान भी सम्भव नहीं है अतः उस अवस्था को प्राप्त करने तक आत्मतत्त्व का श्रद्धान ही करना चाहिये[1]"।

निष्कर्ष यह निकला कि पिंडस्थध्यानके द्वारा आत्मा को शुद्ध करने का पुरुषार्थ करते हुए पदस्थ आदि ध्यान के द्वारा शुद्ध हुए और साधक ऐसी आत्माओं का और उनके नाम के पदों का आश्रय लेकर ध्यान करना चाहिये।

१. अतोऽध्यात्मध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियां।
निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतिमिदम् ॥२६४॥

जैनाचार में श्रावक धर्म

एक विश्लेषण

❖ मुनि श्री वर्धमानसागरजी
[प. पू. आ. प्रवर १०८ श्री धर्मसागरजी के शिष्य]

प्राणी मात्र का चरम लक्ष्य दुःखसे निवृत्ति एवं शाश्वत सुख-शान्ति की प्राप्ति है। प्रत्येक विवेकशील प्राणी यह तो निर्विवाद स्वीकार करता है कि कर्म से आबद्ध जीव इस जगतमें परिभ्रमण करता है और विविध पर्यायों में जन्म-मरण करते हुए अनेक प्रकारके दुःखों का अनुभव करता है तथा उन दुःखों से निवृत्त होने का सतत प्रयास करता है। दुःखों से छुटकारा यानी कर्मबन्ध से मुक्ति, अनन्तसुख, शाश्वत आनन्द एवं परमशान्ति की प्राप्ति। परमपद की प्राप्ति में ही शाश्वत आनंद निहित है। जैनधर्मके अनुसार इसी परमपद की प्राप्ति के लिये साधना का निरूपण जैनाचारमें किया गया है। साधना का उद्देश्य किसी बाह्यवस्तु की प्राप्ति करना न होकर बाह्यप्रभाव के कारण छिपे हुए आत्माके शुद्धस्वरूप को प्रकट करना है। इस शुद्धस्वरूप की प्राप्ति के लिये ही जैनाचार द्वारा जीव अपने विकारों को दूर करता हुआ क्रमशः आगे बढ़ता है।

जैनदर्शन में प्रत्येक धार्मिक क्रिया को प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूपसे आध्यात्मिक विकासके साथ सम्बद्ध किया गया है। इस दृष्टिकोण से आत्मसाधना के मार्ग को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—प्रथम तो श्रमणसाधना और द्वितीय गृही साधना। श्रमणसाधना को हम मुनिधर्म और गृहीसाधना को हम श्रावकधर्म कह सकते हैं। श्रमणसाधनामें निरत साधक सम्पूर्णतः अपने को आत्मसाधना या मोक्षकी आराधनामें लगा देते हैं। भौतिक जीवन उनके लिये सर्वथा गौण होता है। दूसरे प्रकार के साधक गार्हस्थ जीवन

के साथ-साथ आत्मसाधना के अभ्यास में यथाशक्य संलग्न रहते हैं। श्रमणधर्म और गृहस्थधर्म को हम क्रमश: निवृत्तिमूलक और प्रवृत्तिमूलक धर्म भी कह सकते हैं।

यद्यपि निवृत्तिमूलक मार्ग कठिन है तथापि लक्ष्य की ओर शीघ्र पहुंचाने वाला है। समस्त पर पदार्थों से ममत्वका परित्याग कर वीतराग आत्मतत्त्व की उपलब्धि हेतु श्रमणदीक्षा स्वीकार करना तथा इन्द्रिय और मन को स्वाधीन (आत्माधीन) कर आत्मस्वरूप में रमण करना निवृत्ति या पूर्णतया त्यागमार्ग है। यह आचार-मार्ग सर्वसाधारण के लिये सुलभ नहीं है, बिरले महापुरुष ही इस मार्ग पर चक्रमण करते हैं। नि:सन्देह निवृत्ति-मागका अनुसरण करने से राग-द्वेष-मोहादि से रहित निर्मल आत्मतत्त्वकी उपलब्धि शीघ्र ही होती है। यह सकलचारित्र साक्षात् मोक्षमार्ग है। इससे विपरीत प्रवृत्तिमार्ग मे संलग्न गृहस्थ साधक श्रमणपद के उक्त आदर्शों की मर्यादा का निर्वाह करने में सद्य: समर्थ नहीं होने के कारण शनै: शनै: क्रम-क्रमसे मोक्षमार्ग पर अग्रसर होने का अभ्यास करते है। प्रस्तुत निबन्ध में गृहस्थसाधक को लक्ष्य करके ही श्रावकधर्म के वर्णन का उद्देश्य है। अत: उद्देश्यानुसार श्रावकधर्म का वर्णन जैनागम के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत है।

श्रावकशब्द तीनवर्णों के संयोगसे बना है और इन तीनो वर्णों के क्रमश: तीन अर्थ है—१. श्रद्धावान २. विवेकवान ३. क्रियावान। जिसमें इन तीनो गुणों का समावेश पाया जाता है वह श्रावक है। व्रतधारी गृहस्थ को श्रावक, उपासक और सागार आदि नामो से अभिहित किया गया है।

श्रावकाचार का विभाजन तीन दृष्टियो से आगम मे (आचारग्रन्थों मे) पाया जाता है—१. द्वादशव्रत २. एकादश प्रतिमाएं ३. पक्ष, चर्या और साधन। अथवा पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक की अपेक्षा श्रावक तीन प्रकार के कहे गये है।

पाक्षिक श्रावक: स्वरूप :

सर्वज्ञ-वीतराग-हितोपदेशी देव, वीतराग धर्म और निर्ग्रन्थ गुरु को मानना पक्ष है। ऐसे पक्षको रखने-वाला अर्थात् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का श्रद्धान करने वाला पाक्षिक श्रावक कहलाता है। अथवा असि-मसि, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भरूप कार्यो से गृहस्थों के हिसा होना सम्भव है तथापि पक्ष, चर्या और साधकपना इन तीनों से हिसा का निवारण किया जाता है। इनमे सदा अहिंसारूप परिणाम करना पक्ष है। इस पक्ष को करनेवाला पाक्षिक श्रावक कहलाता है।

जिनेन्द्र प्ररूपित धर्म की श्रद्धा करते हुए पाक्षिकश्रावक सर्वप्रथम मद्य-मांस-मधु और पंचउदम्बर फलों का परित्याग करता है। देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दानरूप षडावश्यक कर्त्तव्यों का यथासंभव नित्य पालन करता है। अहिंसा मे वृद्धि करनेवाली मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावों की भावना भाता है। पाक्षिक श्रावक अपनी आजीविका न्यायोपार्जित धन के द्वारा ही निर्वाह करता है। देव-शास्त्र-गुरुके प्रति निष्ठा रखनेवाला सद्‌गृहस्थ, अपनी इच्छाओं को नियंत्रित करता है तथा सन्तोषवृत्ति से तृष्णा पिशाची पर विजय प्राप्त करते हुए कम से कम आरम्भ हो इस बात का ध्यान रखता है एव अपने परिवार के भरण-पोषण के लिये अन्याय-अनीति के प्रयोग बिना आजीविकोपार्जन करता है, क्योंकि गार्हस्थिक कार्यों को सम्पादित करने के लिये आजीविकार्जन आवश्यक है। इसप्रकार 'न्यायोपात्तधनो' यह पाक्षिक श्रावक का सर्वप्रथम गुण है।

पाक्षिक श्रावक की योग्यता के लिये अगला गुण है 'गुणपूजा'। गुणों से गुरुओं का पूजन, बहुमान आदि करना श्रावक का परमकर्तव्य है, क्योंकि गुणपूजा से आत्मा मे अभिमान का ह्रास होकर मार्दवधर्म प्रकट होता है। गुणपूजा से आत्मा का अहंकार नष्ट होता है। अत: धर्म के प्रति निष्ठावान श्रावक स्व-परोपकारी सदा-चार, सज्जनता, उदारता, दानशीलता, हित-मित-प्रिय वचनशीलता गुणों को प्राप्त करने हेतु वह गुणीजनों की

पूजा-प्रशंसादि करता है । पर निन्दा, कठोरता आदि दोषों से रहित प्रशस्त वचनों का व्यवहार करता है, क्योंकि ये जीवन के लिये हितकर और उपयोगी हैं । यह 'प्रशस्तवचन' नामका तृतीयगुण है । इसीप्रकार पाक्षिकश्रावक निर्बाध त्रि वर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का सेवन, धर्म-अर्थ और कामरूप त्रिवर्ग के योग्य स्त्री, ग्राम, भवन का सेवन, उचित लज्जा, योग्य आहार-विहार, आर्यसमिति (आत्मगुणों के विकास में सहयोगी सदाचारी पुरुषों की संगति), विवेक, कृतज्ञता, जितेन्द्रियता, धर्मविधि का श्रवण करनेवाला, दयालुता और पापभीति आदि गुणों से सहित होते हुए आत्मा को धर्मधारण के योग्य बनाता है ।

नैष्ठिक श्रावक :

श्रावक के द्वादशव्रतों और एकादश प्रतिमाओं का पालन करना चर्या अथवा निष्ठा है । इस चर्या का आचरण करनेवाला गृहस्थ नैष्ठिकश्रावक कहा जाता है । देशसंयम का घात करनेवाली कषायों के क्षयोपशमकी वृद्धिके वशसे श्रावक के दार्शनिक आदि ग्यारह संयमस्थान होते हैं ।

श्रावक के द्वादशव्रत :

दर्शन-ज्ञान-चारित्र की त्रिपुटी ही मुक्तिका मार्ग है अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से संयुक्त गृहस्थ अपनी शक्ति के अनुसार चारित्र को भी प्राप्त करते हुए मोक्षमार्ग में प्रवेश करता है । श्रावक द्वादशव्रतों के माध्यम से चारित्र का एकदेशरूप अंश अपने जीवन में ग्रहण करता है और उन व्रतोंके पालन से महाव्रतों को (सकलचारित्र को) ग्रहण करने योग्य सामर्थ्य प्राप्त करने का अभ्यास करता है ।

निरन्तर प्रवहमान नदी के प्रवाह को दो तट नियंत्रित करते हैं, उसीप्रकार मनुष्य की जीवनशक्ति को केन्द्रित करने के लिये, छिन्न-भिन्न नहीं होने देने के लिये व्रत तट रूप है वे भी मानव जीवन को नियंत्रित करते हैं तथा आत्मविकास मे सहायक होते हैं । श्रावक के द्वादशव्रतों में पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों की गणना की गई है । वस्तुतः इन व्रतों का मूल अहिंसा है, अहिंसा को आध्यात्मिक जीवन की नींव कह दें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी ।

अणुव्रत का स्वरूप :

हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म (कुशील) और परिग्रह इन पांच दोष या पापोंसे स्थूलरूप या एकदेशरूपसे विरत होना अणुव्रत है । अणु शब्द का अर्थ है लघु या छोटा । जो स्थूलरूप से उक्त पंचपापों का परित्याग करता है वही अणुव्रती है । अणुव्रत पाच है—

अहिंसाणुव्रत :

स्थूलरूप से जीवों की हिंसा से विरत होना अहिंसाणुव्रत है । 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' अर्थात् प्रमादके योग से प्राणों के विनाश को हिंसा कहा जाता है । कषायजन्य राग-द्वेषकी प्रवृत्ति प्रमाद कहलाता है अतः हिंसारूप कार्य में प्रमाद कारण है । प्राण दो प्रकार के हैं—१. द्रव्यप्राण २. भावप्राण । प्रमत्तयोग के होने पर द्रव्यप्राणों का विनाश हो ही ऐसा कोई नियम नहीं है, किन्तु प्रमत्तयोग से भावप्राणों का विनाश अनिवार्य है अतः रागद्वेष की निवृत्तिरूप अहिंसा ही वस्तुतः अहिंसा है ।

संसारीजीव दो प्रकार के होते हैं—त्रस और स्थावर । द्वीन्द्रिय से लेकर सञ्ज्ञीपंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस और एकेन्द्रिय जीव—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति स्थावर कहलाते हैं । इन षट्काय के जीवों की विराधना द्रव्य हिंसा है । हिंसा चार प्रकार की होती है—आरम्भी, उद्योगी, विरोधी और संकल्पी हिंसा । जीवन

निर्वाह, परिवार के पालन-पोषण के लिये अनिवार्यरूपसे होनेवाली हिंसा आरम्भी हिंसा है। आजीविका चलाने के लिये कृषि, गोपालन, व्यापार आदि जो-जो उद्योग किये जाते हैं, उनमें हिंसा की भावना व संकल्प न होने पर भी अनिवार्यतः जो हिंसा होती है वह उद्योगी हिंसा है। अपने प्राणों की रक्षा एवं परिवार, समाज, राष्ट्र आदि की रक्षा के लिये प्रतिरक्षात्मक रूपमें की जाने वाली हिंसा विरोधी हिंसा है। निरपराध प्राणी को जान बूझकर मारने की भावना से हिंसा करना संकल्पी हिंसा है। इन चारों ही प्रकार की हिंसा में से श्रावक संकल्पी हिंसा का तो पूर्ण रूपसे त्यागी होता है। और शेष तीनप्रकार की हिंसा का भी यथासम्भव त्याग करते हुए अहिंसाणुव्रत का पालन करता है। संकल्पी हिंसा का त्याग करने से भी बहुत कुछ हिंसा से श्रावक बचता है। साथ ही अहिंसाणुव्रती जीव त्रसहिंसा का त्याग तो करता ही है, स्थावर-प्राणियों की हिंसा का भी यथाशक्ति त्याग करता है। अहिंसाणुव्रत का निर्दोष पालन करने के लिये निम्नलिखित अतिचार (दोष) त्याज्य हैं—

अहिंसाणुव्रत के अतिचार :

"बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः" बन्ध, वध, छेद, अतिभारारोपण अन्न-पाननिरोध करना ये पांच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं।

बन्ध—त्रस प्राणियों को कठिन बन्धन से बांधना अथवा उन्हे अपने इष्ट स्थानपर जाने से रोकना। अधीनस्थ व्यक्तियों को अधिककाल तक रोकना, उनसे निर्दिष्ट समयके पश्चात् भी कार्य करवाना आदि बन्ध के अन्तर्गत आते है।

वध—त्रस जीवो को मारना, पीटना या त्रास देना वध है। प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से किसी भी प्राणी की हत्या करना-कराना तथा करते हुए की अनुमोदना करना, किसी को मारना-पीटना या पिटवाना अथवा पिटते हुए की अनुमोदना करना। स्वार्थाभिभूत व्यक्ति वध के इन विविध रूपोमे प्रवृत्ति करता है।

छेद—किसी भी प्राणी के अंगों का भंग करना, विद्रूप करना, अपग बना देना छेद कहलाता है।

अतिभार—अश्व, ऊंट, वृषभ आदि पशुओ पर तथा मनुष्यजाति के मजदूर आदि जीवो पर उनकी शक्ति से अधिक भार लादना अतिभार है। शक्ति एवं समय होने पर अपना कार्य दूसरों से करवाना तथा उनकी शक्ति का ध्यान नही रखना अतिभार के अन्तर्गत आता है।

अन्न-पाननिरोध—अपने आश्रित प्राणियों को समय पर भोजन-पानी न देना अन्न-पाननिरोध है।

जिसप्रकार बार-बार भावना दी गई औषधि रसायन का रूप धारण कर लेती है और वह रोगी को शीघ्र निरोग करने की सामर्थ्य प्राप्त करती है उसीप्रकार प्रत्येक व्रतों में दृढ़ता प्रदान करने के लिये उन-उन व्रतो की पांच-पांच भावनाओ का भी वर्णन आगम मे किया गया है प्रसङ्गवश यहा भी उसका वर्णन करना उचित प्रतीत होने से किया जा रहा है—

अहिंसाणुव्रत की भावनाएं :

"वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च" वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन ये पांच अहिंसाणुव्रत की भावनाएं हैं। वचन की प्रवृत्ति को रोकना वचनगुप्ति है। मनकी प्रवृत्ति को रोकना मनोगुप्ति है। सावधानीपूर्वक देखकर चलना ईर्यासमिति है। सावधानीपूर्वक देखकर वस्तु को उठाना और रखना आदाननिक्षेपण समिति है। दिनमें अच्छी तरह देख-भालकर आहार-पानी ग्रहण करना आलोकित भोजन है।

सत्याणु व्रत :

अहिंसा और सत्यका परस्पर में घनिष्ट सम्बन्ध है । एक के अभाव में दूसरे की साधना शक्य नही। ये दोनों परस्पर पूरक तथा अन्योन्याश्रित हैं । सत्याणुव्रत श्रावक का दूसरा व्रत है । इसका अभिप्राय है मृषावाद विरमण या असत्य भाषण का स्थूल रूप से परित्याग । स्थूल झूठ का त्याग किये बिना प्राणी अहिंसक नहीं हो सकता है । अहिंसा सत्य को स्वरूप प्रदान करती है और सत्य अहिंसा की सुरक्षा करता है । झूठा व्यक्ति आत्म-वंचना भी करता है । मिथ्या भाषण में प्रमुख कारण स्वार्थ की भावना है ।

निन्दा करना, चुगली करना, कठोर वचन बोलना एवं अश्लील वचनों का प्रयोग करना, छेदन, भेदन, मारण, शोषण, अपहरण एवं ताड़न सम्बन्धी वचन, अविश्वास, भयकारक, खेदजनक, वैर-शोक उत्पादक सन्तापकारक आदि अप्रिय वचन मृषावाद हैं । झूठी साक्षी देना, झूठा दस्तावेज या लेख लिखना, किसी की गुप्त बात प्रकट करना, आत्मप्रशंसा और परनिन्दा करना, सच्ची अथवा झूठी बात कहकर किसी को गलत रास्ते पर ले जाना, यह सब मृषावाद में सम्मिलित है ।

सत्याणुव्रत के पांच अतिचार :

'मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदा:' मिथ्याउपदेश, रहोभ्याख्यान, कूट-लेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्रभेद ये पाच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं ।

सन्मार्ग पर लगे हुए व्यक्ति को अन्य मार्ग ले जाने में सहकारी मिथ्या उपदेश करना, जिससे भ्रम में पड़कर वह सन्मार्ग से उन्मार्ग की ओर अग्रसर हो तथा झूठी गवाही देना और दूसरे पर अपवाद लगाना यह मिथ्योपदेश है । किसी की गुप्त बात को प्रकट करना रहोभ्याख्यान है, विश्वासघात करना भी इसीमें गर्भित है । झूठे लेख लिखना, झूठे दस्तावेज तैयार करना, झूठे हस्ताक्षर करना, गलत बही, खाते तैयार करना, नकली सिक्के बनाना अथवा नकली सिक्के चलाना कूटलेखक्रिया है । कोई धरोहर रखकर उसके कुछ अंश को भूल गया तो उसकी भूल का लाभ उठाकर उस भूले हुए धन के अंश को अपहरण की भावना से कहना कि तुम जितनी बता रहे हो उतनी ही धरोहर रखी थी, यह न्यासापहार है । किसी व्यक्ति की चेष्टा आदि से दूसरे के अभिप्राय को ज्ञातकर ईर्ष्यावश उसे प्रकट कर देना साकारमन्त्रभेद है ।

सत्याणुव्रत की भावनाएं :

"क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच" सत्याणुव्रती को क्रोध, लोभ, भय हास्य आदि का त्याग तथा अनुवीचि भाषा का प्रयोग करना चाहिए ये इस अणुव्रतकी पांच भावनाएं हैं ।

अचौर्याणुव्रत :

मनसा, वाचा, कर्मणा किसी की सम्पत्ति को बिना आज्ञा के नहीं लेना अचौर्याणुव्रत है । अचौर्याणु-व्रती स्थूल चोरी का त्यागी होता है । जिस चोरी के कारण मनुष्य चोर कहलाता है, न्यायालय से दण्डित होता है और जो चोरी लोकमें चोरी कही जाती है वह स्थूल चोरी है । मार्ग चलते हुए तिनका या कंकड़ उठा लेना सूक्ष्म चोरी के अन्तर्गत है । किसी के घर में सेंध लगाना, डाका डालना, ताला तोड़ना, किसी की जेब काटना, ठगना यह सब चौर्य कर्म कहलाता है ।

अचौर्याणुव्रत के अतिचार :

'स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहारा:' स्तेन प्रयोग, स्तेनाहृत, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान, प्रतिरूपकव्यवहार ये पांच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं ।

चोरी करनेके लिए किसी को स्वयं प्रेरित करना, दूसरे से प्रेरित करवाना अथवा ऐसे कार्य में अपनी सम्मति देना स्तेनप्रयोग है। अपनी प्रेरणा या सम्मति के बिना भी किसी के द्वारा चोरी कर लाये हुए द्रव्य को खरीदना स्तेनाहृत है। राज्य में विप्लव होने पर हीनाधिक मान से वस्तुओंका आदान-प्रदान करना विरुद्ध-राज्यातिक्रम है। राज्यके नियमों का उल्लंघन करके जो अनुचित लाभ उठाया जाता है, वह भी विरुद्धराज्यातिक्रम है। मापने या तौलने के न्यूनाधिक बांटों से देन-लेन करना हीनाधिकमानोन्मान है। असली वस्तुके स्थान में नकली वस्तु चलाना या असली में नकली वस्तु मिलाकर उसे बेचना प्रतिरूपकव्यवहार है । इन अतिचारों के त्याग का उद्देश्य विश्वासघात, अनुचितलाभ आदि का त्याग करना है।

अचौर्याणुव्रत की भावनाएं :

'शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसद्धर्माविसम्वादाः पंच' शून्यागार—निर्जन स्थान में निवास, विमोचितावास—दूसरे के द्वारा त्यक्त आवास, परपरोधाकरण—अपने द्वारा निवास किये जा रहे स्थान में दूसरों का अनवरोध अर्थात् उनको रहने के लिए नहीं रोकना, भैक्ष्यशुद्धि—भिक्षा के नियमों का सम्यक्-रीत्या पालन और सधर्माविसम्वाद—साधर्मी जनों से विसंवाद नहीं करना, ये पांच अचौर्यव्रत की भावनाएं हैं।

स्वदारसन्तोषव्रत :

मन-वचन और कायपूर्वक अपनी भार्या के अतिरिक्त शेष समस्त स्त्रियों के साथ विषयसेवनका त्याग करना स्वदारसन्तोषव्रत है। इस व्रत में परायी स्त्री के सहवास का परित्याग तो होता ही है, किन्तु स्वस्त्री के साथ भी विषयसेवन का मर्यादितरूप होता है। काम एक प्रकार का रोग है इसका प्रतिकार भोग नहीं त्याग है। यह अणुव्रत काम रोग का आंशिक प्रतिवाद तो है, किन्तु आत्मिक उत्थान में भी पूर्ण सहकारी है। जीवन का नियन्त्रण और मैथुनसेवन की मर्यादा इसी व्रत पर अवलम्बित है। यह व्रत सामाजिक सदाचार का मूल है तथा व्यक्तिगत विकास के लिए भी अत्यावश्यक है। इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत के नाम से भी कहा जाता है । जिसप्रकार श्रावक के लिए स्वदारसन्तोषव्रत कहा गया है उसी प्रकार श्राविका के लिए स्वपतिसन्तोष का नियम है । वह भी अपने पति के सहवास के अतिरिक्त समस्त पुरुषों के सहवास का परित्याग करती है तथा स्वपुरुष के साथ भी मर्यादित विषयसेवन करती है यही उनका भी ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

स्वदारसन्तोषव्रत के अतिचार :

"परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः" परविवाहकरण, इत्वरिकापरिगृहीतागमन, इत्वरिका अपरिगृहीतागमन, अनङ्गक्रीड़ा और कामतीव्राभिनिवेश ये पांच स्वदार-सन्तोषव्रत के अतिचार हैं।

अपनी सन्तान एवं अपने आश्रित जनों का, जिनका कि विवाह करना अपना उत्तरदायित्व है उनसे अन्य लोगों का विवाह-सम्बन्ध सम्पादित करना-करवाना परविवाहकरण है। जो स्त्रियां परदारा की संज्ञा में परिगणित नहीं हैं ऐसी स्त्रियों को धन आदि का लालच देकर अपनी बना लेना अथवा जिनका पति अभी जीवित है, किन्तु वह स्त्री पुंश्चली है उनका सेवन करना इत्वरिकापरिगृहीतागमन है। जो स्त्री अपरिगृहीत है उसके साथ अल्पकाल के लिए विषयभोग का सम्बन्ध स्थापित करना इत्वरिका अपरिगृहीतागमन है। वेश्या या अनाथ पुंश्चली स्त्रीका नियतकाल सेवन करने में यह अतिचार होता है। काम सेवन के प्राकृतिक अंगों को छोड़कर अन्य अंगों से सहवास करना अर्थात् अप्राकृतिक मैथुन करना अनङ्गक्रीड़ा है। काम एवं भोगरूप विषयों में अत्यन्त आसक्ति रखना कामतीव्राभिनिवेश है।

स्वदारसन्तोष व्रत की भावनाएं :

"स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच" स्त्रीराग-कथाश्रवणत्याग, स्त्रीमनोहरअङ्गनिरीक्षणत्याग, पूर्वरतानुस्मरण, वृष्य-इष्टरसत्याग और स्वशरीर-संस्कार त्याग करना ये पांच स्वदारसन्तोषव्रत की भावनाएं हैं।

परिग्रहपरिमाणव्रत :

परिग्रह संसारका सबसे बड़ा पाप है। जब तक मनुष्य के जीवन में अमर्यादित लोभ, तृष्णा, ममत्व या गृद्धि विद्यमान है तब तक वह शान्ति लाभ नहीं कर सकता। श्रावक के द्वारा अपनी सम्पत्ति की मर्यादा करना परिग्रह परिमाणव्रत है। अनियंत्रित इच्छाओं को नियंत्रित करके परिग्रह का परिमाण करना ही इस व्रतका प्रमुख लक्ष्य है। सम्पत्ति हमारे जीवन-निर्वाह का साधन है। साधन वहीं तक उपादेय होता है जहा तक साध्य की पूर्ति करता है। धन, धान्य, स्वर्ण, चांदी आदि पदार्थों के प्रति ममत्व या लालसा को घटाकर उन वस्तुओं को मर्यादित करना परिग्रहपरिमाणव्रत है। इस व्रत का यही लक्ष्य है कि अपने योग-क्षेम के योग्य भरण-पोषणकी वस्तुओ को ग्रहण करना तथा परिश्रम कर जीवन यापन करना अन्याय व अत्याचार द्वारा धनका संचय नहीं करना चाहिये। परिग्रहपरिमाणव्रत वैयक्तिक जीवन पर स्वेच्छा से अंकुश लगाने का मनोवैज्ञानिक प्रयोग है।

परिग्रह परिमाणाणुव्रतमें क्षेत्र—उपजाऊ भूमि की मर्यादा, वस्तु—मकान आदि, हिरण्य—चादी, स्वर्ण—सोना, द्विपद—दासी, दास, धन—गाय, भैंस, घोड़े, बैल, हाथी आदि चतुष्पद पशु, धान्य—गेहूं, जौ, चांवल, उड़द, मूंग आदि कुप्य—भाण्ड (बर्तन) आदि की सीमा बांधी जाती है। इनके अतिरिक्त भी हमारी आवश्यक जीवनोपयोगी सामग्री का सीमाबन्धन इस व्रत में किया जाता है।

परिग्रह-परिमाणुव्रतके अतिचार :

"क्षेत्र-वास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः" क्षेत्र (खेत) व मकान के प्रमाण का अतिक्रमण! हिरण्य व स्वर्ण के प्रमाण का अतिक्रमण। धन-धान्य के प्रमाणका अतिक्रमण। दासी-दासके प्रमाण का अतिक्रमण और कुप्य-भाण्ड (बर्तन) आदि के प्रमाण का अतिक्रमण ये पाच परिग्रहपरिमाणव्रत के अतिचार हैं। उक्त पदार्थों को जितनी मर्यादा रखी थी उसका अतिक्रमण-उल्लंघन नही करना चाहिये।

परिग्रह-परिमाणुव्रत की भावनाएं :

"मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च" पंचेन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों में राग और अमनोज्ञ विषयों में द्वेष नहीं करना ही इसव्रत की भावनाएं हैं।

इसप्रकार श्रावकाचार के अन्तर्गत नैष्ठिक श्रावक के १२ व्रतों में से अणुव्रतों का वर्णन किया साथ ही उन व्रतो में लगने वाले अतिचारों एवं उनको (व्रतों को) दृढता प्रदान करनेवाली पांच-पांच भावनाओं का भी कथन किया है। इसके अनंतर गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का विवेचन क्रम प्राप्त है।

अणुव्रतों की सम्पुष्टि, वृद्धि और रक्षा के लिये जिनव्रतों का विधान जैनागम में प्रतिपादित किया है उन अवश्य पालनीय व्रतों को गुणव्रत और शिक्षाव्रत कहा गया है। इन व्रतों के पालन से मुनिव्रतके ग्रहण की शिक्षा एवं योग्यता प्राप्त होती है। प्रथम गुणव्रत ही प्रतिपाद्य है अतः अब गुणव्रतों को कहा जाता है—

गुणव्रत के तीन भेद हैं—१. दिग्व्रत २. देशव्रत—इसे देशावकाशिक व्रत भी कहते हैं और ३. अनर्थ-दण्डव्रत।

दिग्व्रत :

परिग्रहपरिमाणव्रतमें तो सम्पत्ति आदि का नियमन कराया गया था, किन्तु दिग्व्रत में दशों दिशाओं में गमनागमन की सीमा बांधी जाती है पूर्वादि दिशाओं में नदी, ग्राम, नगर आदि प्रसिद्ध स्थानों की मर्यादा बांधकर जन्मपर्यन्त उससे बाहर नहीं जाना उसके भीतर ही व्यापारादि कार्य करना दिग्व्रत-दिशापरिमाणव्रत है। दिशा-क्षेत्र की मर्यादा के बाहर हिंसादि पापोंका त्याग हो जाने से मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में उस गृहस्थका जीवन महाव्रती तुल्य हो जाता है।

मनुष्य की अनन्त इच्छाएं हैं और अखिलविश्व पर वह एक छत्र अपना साम्राज्य स्थापित करने की भावना रखता है। इस अर्थयुग में मानव सदा ही तृष्णा वृद्धिके कारण देश-विदेशों में जाकर सुख-दु:ख उठाकर भी व्यापार करता है और व्यापार को सुचारु रीत्या चलाने के लिये कई व्यापारिक संस्थानों की स्थापना भी करता है। अनियन्त्रित इस मानव तृष्णाको एक ओर जहां परिग्रहपरिमाण के द्वारा अंकुश लगाया है वहीं दिग्व्रत भी उस नियंत्रण में सहकारी है।

दिग्व्रत के अतिचार :

"ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि" ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये पांच दिग्व्रत के अतिचार हैं। लोभादि के वश होकर ऊर्ध्वदिशा के प्रमाण का अतिक्रमण, अधोदिशान्तर्गत समुद्र, वापी, कूप, खदान आदि की सीमा का अतिक्रमण और तिर्यग्व्यतिक्रम अर्थात् पृथ्वीतल पर आठों दिशा सम्बन्धी तिरछे गमन की मर्यादा का उल्लंघन करना। तथा किसी एक दिशा का मर्यादित क्षेत्र घटाकर दूसरी दिशामें मर्यादित क्षेत्रको अधिक बढ़ा लेना। निश्चित की गई क्षेत्रकी मर्यादा का विस्मरण हो जाना। इन पांचों अतिचारों से रहित दिग्व्रत का पालन श्रावक को करना चाहिये।

देशव्रत (देशावकाशिक व्रत) :

दिग्व्रत में जीवन पर्यन्त के लिये दिशाओं का जो परिमाण किया था उसमें से कुछ समयके लिये किसी निश्चित स्थान विशेष, देश विशेष, प्रान्त विशेष, गांव विशेष अथवा गांव या नगर में भी मोहल्ला गली आदि की सीमा बांध लेना देशावकाशिक व्रत है।

देशव्रत के अतिचार :

"आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपा" आनयन—मर्यादा से बाहर की वस्तु को मंगाना अथवा सीमा से बाहर स्थित पुरुष आदि को बुलाना। प्रेष्यप्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से बाहर स्वयं तो नहीं जाना, किन्तु सेवक आदि को आज्ञा देकर सीमा में बैठे-बैठे ही काम करवा लेना प्रेष्यप्रयोग है। शब्दानुपात—मर्यादा के बाहर स्थित किसी व्यक्ति को शब्द द्वारा बुलाना। रूपानुपात—अपनी आकृति दिखाकर मर्यादित क्षेत्रके बाहर से संकेत द्वारा किसी व्यक्ति को बुलाना। पुद्गलक्षेप—मर्यादित क्षेत्र के बाहर स्थित व्यक्ति को अपने पास बुलाने के लिए पत्र, तार, टेलीफोन आदि का प्रयोग करना। ये पांच देशव्रतके अतिचार है।

अनर्थदण्डव्रत :

जिन कार्यों के करने से अपना कुछ भी लाभ न हो और व्यर्थ ही पापका संचय होता है, ऐसे अप्रयोजनीयभूत कार्यों को अनर्थदण्ड कहते हैं और उनके त्याग को अनर्थदण्डव्रत कहा जाता है। अर्थात् निष्प्रयोजन कार्यों का त्याग करना अनर्थदण्डव्रत कहलाता है।

अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादाचरित, हिंसादान, अशुभश्रुति ये पांच अनर्थदण्डव्रत के भेद हैं। दूसरों का बुरा सोचना अपध्यान है। पापजनक कार्यों का उपदेश देना पापोपदेश है। आवश्यकता के बिना वन कटवाना, पृथ्वी खुदवाना, पानी गिराना, विकथा या निन्दा आदि कार्यों में प्रवृत्त होना, किसी पर व्यर्थ ही दोषारोपण करना आदि प्रमादाचरित है। हिंसा के साधन अस्त्र, शस्त्र, विष, विषैलीगेस आदि सामग्री देना अथवा संहारक अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार करना हिंसादान है। हिंसा और रागादि को बढ़ाने वाली कथाओं का सुनना-सुनाना अशुभश्रुति है।

अनर्थदण्डव्रत के अतिचार :

"कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि" कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोग-परिभोग अनर्थक्य ये पांच अनर्थदण्डके अतिचार हैं।

रागभाव की तीव्रतावश हास्यमिश्रित असभ्य वचन बोलना कन्दर्प है। काय की कुचेष्टा सहित असभ्य वचन का प्रयोग करना कौत्कुच्य है। धीठता युक्त निःस्सार बहुत बकवास करना मौखर्य है। प्रयोजन के बिना ही कोई न कोई तोड़-फोड़ करते रहना या काव्यादि चिन्तवन करते रहना असमीक्ष्याधिकरण है। प्रयोजन न होने पर भी उपभोग-परिभोग की सामग्री एकत्रित करना या रखना उपभोग-परिभोगआनर्थक्य है।

अनर्थदण्डव्रत-प्रयोजन और महत्त्व :

पहले कहे गए दिग्व्रत और देशव्रत तथा आगे कहे जाने वाले उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत में स्वीकृत मर्यादा में भी निरर्थक गमन आदि एवं विषयसेवनादि सम्बन्धी अतिरेकनिवृत्ति की सूचना के लिये बीच में अनर्थदण्डव्रत का ग्रहण किया है।

जो पुरुष इसप्रकार अनर्थदण्डों को जानकर उनका त्याग करता है वह निरन्तर निर्दोष अहिंसाव्रत का पालन करता है।

शिक्षाव्रतके चार भेद हैं—१. सामायिक २. प्रोषधोपवास ३. भोगोपभोगपरिमाण ४. अतिथिसंविभाग।

सामायिक :

तीनों सन्ध्याओं में समस्त पापकर्मों से विरत होकर नियतस्थान पर नियतकाल के लिये मन, वचन और कायके एकाग्र करने को सामायिक कहते हैं। समभाव या शान्ति प्राप्ति के लिये सामायिक की जाती है। जितने समय तक व्रती सामायिक करता है उतने समय तक वह महाव्रती तुल्य हो जाता है, क्योंकि वह सम्पूर्ण सावद्य क्रियाओं का पूर्ण त्यागी उतने काल पर्यन्त रहता है।

सामायिकव्रत के अतिचार :

'योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि' काययोग दुष्प्रणिधान, वचनयोग दुष्प्रणिधान, मनोयोग दुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृति अनुपस्थान ये सामायिकव्रत के पांच अतिचार हैं।

सामायिक करते समय हाथ-पैर आदि शरीरके अवयवों को निश्चल नहीं रखना, नींद का झोंका लेना आदि कायदुष्प्रणिधान है। सामायिक करते समय गुनगुनाने लगना वचनदुष्प्रणिधान है। मन में संकल्प-विकल्प उत्पन्न करना एवं मनको गृहस्थी के कार्य में फंसाना मनोदुष्प्रणिधान है। सामायिक में उत्साह नहीं रखना अनादर है। एकाग्रता न होने से सामायिक की स्मृति नहीं रहना स्मृत्यनुपस्थान है।

प्रोषधोपवासव्रत :

प्रोषध-पर्वके दिन उपवास करना प्रोषधोपवास है। प्रोषधोपवास से ध्यान, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य और तत्त्वचिन्तन आदि की सिद्धि होती है। सामान्यतः अशन-पान खाद्य-स्वाद्य इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है, किन्तु उपवास में पांचों इन्द्रियों को अपने-अपने विषय से निवृत्त करना भी अपेक्षित समझना चाहिये। इसप्रकार पंचेन्द्रिय के विषयों से विरक्ति का होना भी उपवास का लक्षण बनता है। 'उप'-समीप में 'वास'-निवास करना अर्थात् आत्मा के समीप रहना। यह तभी सम्भव है जब चतुराहार के त्याग के साथ-साथ पचेन्द्रिय के विषयो से विरक्ति हो और चूंकि पर्व के दिनो मे उपवास किया जाता है अतः प्रोषधोपवासव्रत यह नाम अन्वर्थ है।

प्रोषधोपवासके अतिचार :

'अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि' अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित भूमि में उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित वस्तु का आदान, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तरका उपक्रमण, अनादर और स्मृतिका अनुपस्थान ये पांच प्रोषधोपवास के अतिचार है।

जीव-जन्तु को देखे बिना और कोमल वस्त्रादि उपकरण द्वारा बिना प्रमार्जन ही मल-मूत्र-श्लेष्मका त्याग करना, बिना देखे और बिना प्रमार्जन किये ही पूजा के उपकरण आदि ग्रहण करना, बिना देखे और बिना प्रमार्जन किये ही भूमिपर चटाई आदि बिछाना, प्रोषधोपवास करने मे उत्साह नही दिखाना, प्रोषधोपवास के समय चित्त की चञ्चलता रहने से स्मृति का अभाव होना ये उक्त पांचों अतिचारो का क्रमशः विवेचन है।

भोगोपभोग परिमाणव्रत :

जो वस्तु एकबार भोगने योग्य हो वह भोग कहलाता है। आहार-पान, गन्ध-माला आदि को भोग सामग्री कहते हैं। जिन वस्तुओं को पुनः पुनः भोगा जा सके उन्हें उपभोग कहते है। इन भोग और उपभोग की सामग्री का कुछ समय के लिये अथवा जीवनपर्यन्त के लिये परिमाण कर लेना भोगोपभोगपरिमाणव्रत है। भोगो-पभोगपरिमाणव्रत पंचेन्द्रिय विषयों के प्रति आसक्ति विशेष पर नियन्त्रण करता है।

भोगोपभोग परिमाणव्रतके अतिचार :

'सचित्तसम्बन्धसंमिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः' सचित्ताहार, सचित्तसंबधाहार, सम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रतके पाच अतिचार है।

अमर्यादित वस्तुओं का उपयोग और सचित्त पदार्थोका भक्षण करना सचित्ताहार है। जिस अचित्त वस्तु का सचित्त वस्तुसे सम्बन्ध हो गया हो उसका उपयोग करना सचित्तसम्बन्धाहार है। चींटी आदि क्षुद्र जन्तुओ से मिश्रित भोजनका आहार अथवा सचित्त से मिश्रित वस्तुका व्यवहार सचित्तसम्मिश्राहार है। इन्द्रियो को मद उत्पन्न करनेवाली वस्तुओ का सेवन अभिषवाहार है। अधपके, अधिकपके, ठीक प्रकार से नहीं पके हुए या जले-भुने हुए भोजन का सेवन दुष्पक्वाहार है।

इन्द्रिय-विषयों की उपेक्षा नहीं करना, पूर्वकालमें भोगे हुए विषयों का स्मरण रखना, वर्तमानके विषयो में अतिगृद्धता रखना, भविष्य मे इन्द्रिय-विषयों की प्राप्ति की तृष्णा रखना और विषय नहीं भोगते हुए भी 'विषय भोगता हूं' ऐसा अनुभव करना आदि भी भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचार हैं।

भोगोपभोग परिमाणवृत का महत्त्व :

देशव्रतीश्रावक के द्वारा भोगोपभोगके निमित्त से होने वाली हिंसा से विरक्त होना ही इस व्रतका सबसे बड़ा महत्त्व है। जो पुरुष भोगोपभोगपरिमाणव्रत के द्वारा तृप्त होते हुए अधिकतर भोगों से विरत होता है उसके बहुत हिंसा का त्याग हो जाने से उसके उत्तम अहिंसाव्रत होता है अर्थात् अहिंसाव्रत का उत्कर्ष होता है।

अतिथिसंविभागवृत :

अतिथि के लिये संविभाग करना अतिथि संविभाग है। जो मोक्ष के लिये तत्पर हैं, संयम का निरन्तर पालन करते हुए जिनका विहार होता है तथा जिनके आने की कोई तिथि निश्चित नहीं है उसप्रकार के अतिथि के लिये भिक्षा-आहार, औषध, उपकरण-पिच्छी, कमण्डलु शास्त्र आदि प्रतिश्रय-रहने के लिये वसतिका आदि निर्दोष विधि से देना अतिथिसंविभागव्रत है।

श्रद्धा आदि गुणों से युक्त जो विवेकी श्रावक उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों को दान देता है उसके अतिथिसंविभागवृत होता है। उक्त चार प्रकार का दान सब सुखों का और सिद्धियों का करनेवाला होता है।

अतिथिसंविभागवृत के अतिचार :

"सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः" सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य, कालातिक्रम ये पांच अतिथिसंविभागवृत के अतिचार हैं।

सचित्त कमलपत्र आदि पर रखकर आहार देना सचित्तनिक्षेप है। आहार को सचित्त कमलपत्र आदि से ढकना सचित्तापिधान है। स्वयं दान न देकर दूसरे से दिलवाना अथवा दूसरे का द्रव्य उठाकर स्वयं दे देना परव्यपदेश है। आदरपूर्वक दान न देना अथवा अन्य दाताओं से ईर्ष्या करना मात्सर्य है। भिक्षा के समयको टाल-कर अयोग्य समय में भोजन कराना कालातिक्रम है।

सल्लेखनावृत :

श्रमणपरम्परा जीवन को अपने आपमें लक्ष्य नहीं मानती। उसका कहना है कि साधना का लक्ष्य आत्माका विकास है और जीवन उसका साधन मात्र है। जिस दिन उसे यह प्रतीत होने लगे कि शरीर शिथिल हो गया है, वह धर्मसाधना में सहायक होने के स्थान पर विघ्न बाधाएं उपस्थित करने लगा है तो उससमय यह उचित है कि उसका परित्याग कर दे। इसी परित्याग विधि को सल्लेखना वृत कहा जाता है।

सम्यक्रीति से काय और कषाय को क्षीण करने का नाम सल्लेखना है। जब मरण समय निकट आ जावे तो गृहस्थ को समस्त पदार्थों से ममत्व का परित्याग करके शनैः शनैः आहार-पानी का भी त्याग कर देना चाहिये। शरीर को कृश करने के साथ-साथ ही कषायों को भी कृश करना तथा धर्मध्यानपूर्वक मृत्यु का आनन्द-पूर्वक आलिंगन करना सल्लेखना वृत है। वस्तुतः गृहस्थ अथवा साधु के लिये आत्मशुद्धि का अन्तिम अस्त्र सल्ले-खना है। सल्लेखना के द्वारा ही जीवन पर्यन्त किये गये वृताचरण को सफल किया जाता है।

सल्लेखनावृत के सम्बन्धमें अनेक भ्रांतियां अनभिज्ञ लोगों में चली आ रही हैं। सल्लेखनावृत के स्वरूप, विधि और महत्ता से अपरिचित लोग इसे आत्महत्या कहने तक का दुःसाहस करते हैं। व्यक्ति आत्महत्या तो तब करता है कि जब वह अपनी किसी मनोकामना को पूरा नहीं कर पाता और वह मनोकामना इतनी बलवती हो जाती है कि उसकी पूर्ति के बिना जीवन बोझ लगने लगता है। उस बोझ को उतारे बिना उसे शान्ति असम्भव प्रतीत होती है। आत्म हत्या का एक और कारण यह होता है कि मानव के जीवन में मार्मिक मानसिक आघात

लग जाता है जिसे वह सहन नहीं कर पाता और कषाय के वशीभूत होकर वह उसके प्रतिकार स्वरूप आत्महत्या कर डालता है। आत्महत्या में जीवन की आकांक्षा करते हुए मानव की निर्बलता स्पष्ट झलकती है, जबकि सल्लेखनाव्रत धारण करने में वीरता प्रगट होती है। एकमें मात्र जीवन की आकांक्षा प्रधान है तो दूसरी का आधार स्तम्भ आत्मविकास और उसके कारणभूत व्रतों की सुरक्षा की भावना। आत्महत्या करनेवाला मानव जीवन से निराश होता है और निराश व्यक्ति की विवशता ही आत्महत्या से प्रगट होती है। सल्लेखना में किसी प्रकार का कषायावेश नहीं होता है। अतः सल्लेखना व्रत को आत्महत्या कहना बहुत बड़ी भूल है।

सल्लेखनाव्रत के अतिचार :

"जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि" जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये पांच सल्लेखनाव्रत के अतिचार हैं। सल्लेखनाव्रत धारण करने के पश्चात् मनमें जीवित रहने की भावना होना जीविताशंसा है। सल्लेखना रत होने के पश्चात् किसी शारीरिक वेदना आदि कारणों से शीघ्र मरण की भावना करना मरणाशंसा है। मित्रों के प्रति अनुराग उत्पन्न होना मित्रानुराग है। पूर्वमें भोगे हुए सुखों का पुनः पुनः स्मरण करना सुखानुबन्ध है। तपश्चर्या-व्रतपालन का फल पंचेन्द्रिय के विषयभोगरूप में चाहना निदान है।

जैनदर्शनमें मृत्यु को एक कला कहा गया है, सल्लेखना उसी का दूसरा नाम है। अतः अणुव्रती गृहस्थ और महाव्रती साधु दोनों ही के लिये सल्लेखना अनिवार्य है। सल्लेखना जीवन पर्यन्त पालन किये व्रतरूपी महामन्दिर का स्वर्ण कलश है अतः सल्लेखना विधि से मृत्यु के लिये तत्पर रहना चाहिये।

श्रावकाचार के मूलभूत द्वादश व्रतोका विवेचन किया। इसी आधार शिला पर स्थित होकर सोपान क्रम से आगे बढ़ते हुए आत्मविकास की ओर अग्रसर होना।

एकादश प्रतिमा-श्रावकसोपान :

श्रावक अपने विकास के लिये मूलभूत व्रतोका पालन करते हुए सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के साथ चारित्र में प्रवृत्त होता है। चारित्र विकास जिस क्रमसे होता जाता है वह श्रावक अपने योग्य ११ सयमस्थानों को प्राप्त हो जाता है। यहां संयमस्थान से अभिप्राय एकादश प्रतिमाओ से है जिन्हे श्रावकापेक्षा आध्यात्मिक उन्नति के सोपान कहा जा सकता है। इन प्रतिमारूप सोपानों पर आरोहणकर उत्तरोत्तर चारित्रका विकास करते हुए श्रमण-जीवन के निकट पहुँचने का अधिकारी बन जाता है। एकादश प्रतिमाएं इसप्रकार हैं—

१. दर्शन प्रतिमा २. व्रत प्रतिमा ३. सामायिक प्रतिमा ४. प्रोषधोपवास प्रतिमा ५. सचित्तत्याग प्रतिमा ६. रात्रिभुक्ति त्यागप्रतिमा ७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा ८. आरम्भत्याग प्रतिमा ९. परिग्रहत्याग प्रतिमा १०. अनुमति-त्याग प्रतिमा और ११. उद्दिष्ट त्यागप्रतिमा।

उपर्युक्त प्रतिमाक्रम श्रावक जिस-जिस प्रतिमारूप व्रतों को उत्तरोत्तर धारण करता जाता है उससे पूर्ववर्ती समस्त प्रतिमाव्रतों का परिपालन अनिवार्य है। लेख विस्तार के भय से प्रतिमाओं का विस्तृत स्वरूप इच्छा होते हुए भी न लिखकर मात्र प्रतिमाओ के नामों का ही उल्लेख किया है। विशेष जिज्ञासुओं को श्रावकाचार प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थों से सविस्तार स्वरूप जानना चाहिये तथा जानकर आध्यात्मिक विकास के इन सोपानो पर आरोहणकर श्रावकदशा की उत्कृष्टावस्था (एकादशमप्रतिमा) तक पहुंचकर पुनः महाव्रतों को धारण कर नरजन्म की सार्थकता करना चाहिये।

गृहस्थों के अष्ट मूलगुण

❖ १०५ विदुषी आर्यिका जिनमतीजी

[प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्थ]

प्रमुख गुणों को मूलगुण कहते हैं। वैसे तो 'मूल' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं जैसे—वृक्षका मूल-जड़। मूलनायक या मूलकार्य इत्यादि में मूलका अर्थ प्रधान है। श्रावकों के जिन आठमूलगुणों के बिना शेष व्रत या प्रतिमा आदि रूप कोई गुण लाभ कारक नहीं होते, अतः इन मद्य-मास आदि के त्यागरूप आठ नियमों को मूलगुण-प्रधानगुण माना जाता है। श्रावकाचार प्रतिपादक सबसे प्राचीन आर्षग्रन्थ रत्नकरण्ड श्रावकाचार में स्वामी समन्तभद्र ने कहा है—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रत पंचकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमः ।।

"मद्य (शराब, व्हिस्की, वाईन) मांस और मधु (शहद) इन तीन निंद्य (निंदायोग्य) वस्तुओं का त्याग करना तीन मूलगुण हैं तथा पंचाणुव्रतों का पालन करना इसप्रकार आठमूलगुण गृहस्थों के लिये कहे गये हैं।"

गुड़-आटा-महुआ आदि पदार्थों को कई दिनों तक सड़ाकर मद्य बनाया जाता है अथवा ताड़वृक्षों से जो रस निकलता है उससे भी मद्य बनाते हैं। अन्य प्रकारों से भी मद्य का निर्माण देश की बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियां करती हैं। मद्य निर्माण में उपयोग में आने वाले पदार्थों को सड़ाया जाता है, जिसके कारण असंख्य कीटाणु उसमें उत्पन्न होते रहते हैं और वहीं मरते रहते हैं, जिससे मद्य में विशेष मादकशक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण उसका प्रयोग करने वाला-पीने वाला विशेष प्रकार की मूर्च्छा से मोहित होकर उन्मत्त हो जाता है और हिताहित, कर्त्तव्या-कर्त्तव्य को भूल जाता है मदिरा (शराब) से मस्त हुए मानव की स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो जाती है। उसमें धर्म विचारका, पवित्र आचरण का नामो-निशान भी समाप्त हो जाता है। क्रूरता उसके जीवन का अभिन्न अङ्ग बन जाती है। कहा भी है—

मद्यं मोहयति मनो, मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मं ।
विस्मृतधर्मा जीवो, हिंसामविशंकमाचरति ।।१।।
रसजानां बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम् ।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ।।२।।
अभिमानभयजुगुप्सा-हास्यारतिशोककामकोपाद्याः ।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेपि च शरकसन्निहिताः ।।३।।

'मद्य मन को मोहित करता है, मोहित मनवाला व्यक्ति धर्म को भूल जाता है और विस्मृतधर्मा पुरुष निःशङ्क होकर हिंसा करने लगता है। रससे उत्पन्न हुए बहुत से जीवों का योनिस्थान मद्य है, ऐसे मद्य का सेवन करनेवाले मानवों द्वारा हिंसा अवश्य होती है। अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, कामोद्रेक, क्रोधादि जितनी भी भाव हिंसा की पर्यायें हैं वे सब मद्यपायी के सन्निकट हैं।'

इसप्रकार मद्य के दोषों को जानकर मुमुक्षु इससे विरक्त होता है।

मांस—पंचेन्द्रिय जीव के कलेवर की मांस संज्ञा है। मांस घृणित, वीभत्स, दुर्गन्धमय और अति निंद्य वस्तु है। 'मांस' यह नाम ही ग्लानिकारक है। यह तो सर्वथा हिंसामय है। कहा भी है—

न विना प्राणघातान् मांसस्योत्पत्ति रिष्यते यस्मात् ।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ।।१।।
यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रित निगोत निर्मथनात् ।।२।।
आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानेषु मांसपेशीषु ।
सातत्येनोत्पाद स्तज्जातीनां निगोतानाम् ।।३।।

"प्राण घात के बिना मास की उत्पत्ति सम्भव नहीं है अतः मांस भक्षक के नियम से हिसा होती है। स्वयं मरे हुए भैस-बैल आदि प्राणी के भी मांस होता है, किन्तु उसमें भी हिसा है, क्योंकि उक्त कलेवर में स्थित निगोत जीवों का निर्मथन हो जाता है। मास चाहे कच्चा हो चाहे पका हो या पक रहा हो सब प्रकारकी अवस्थाओं में निरन्तर उसी जाति के निगोद जीवो की उत्पत्ति होती रहती है।"

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशित पेशीं ।
स निहंति सतत निचितं पिंडं बहुजीवकोटीनाम् ।।४।।

जो व्यक्ति मांसपिण्ड को फिर वह चाहे कच्चा हो या पका भक्षण करता है या मात्र स्पर्श भी करता है तो वह अवश्य ही करोड़-करोड़ क्या असंख्यजीवों का घात करता है। इसप्रकार आर्षवचन सुनकर बुद्धिमान मांस से विरक्त होता है।

मधु (शहद) मधुमक्खियों का वमन है, अस्पृश्य है, औषधिमात्र के लिये भी जो इसका सेवन करता है वह असंख्य जीवों का घातक है। कहा है—

मधु शकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके ।
भजति मधुमूढधीको यः सभवति हिंसकोऽत्यन्तम् ।।१।।

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद् वा छलेन मधुगोलात् ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ।।२।।

इस लोकमें मधुमक्खियोंकी हिंसा स्वरूप होनेसे मधुका बिन्दु मात्र भी हिंसामय है अतः मधुकी आसक्ति रखनेवाला जो मनुष्य उसका भक्षण करता है वह अत्यन्त हिंसक कहलाता है। यदि किसी छलसे मधु के छत्ता से स्वयं झरा हुआ मधु लिया जाता है तो उसमे भी तदाश्रित प्राणियों का विघात होने के कारण हिंसा होती ही है। इसप्रकार मधुके दोषको देखकर उससे विरक्त होना चाहिये।

पंच उदुम्बरफल—बड़, पीपल, पाकर, कठूमर और ऊमर इन पंच क्षीरोफलों से विरक्त होना भी आवश्यक है, क्योंकि—

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि ।
त्रसजीवानां तस्मात् तेषां तद् भक्षणे हिंसा ।।१।।

"उदुम्बर युग्म और प्लक्ष, न्यग्रोध, पिप्पल अर्थात् ऊमर, कठूमर, पाकर, बड़ और पीपल इन पांच प्रकार के फलों को त्रस जीवोंकी योनि माना गया है। अतः इन फलो का भक्षण करनेमें हिंसा होती है इसलिये अष्टमूलगुणो में इस पंच फली का त्याग बताया है।"

इसप्रकार तीन मकार और पंचउदुंबर फलों का त्याग करना जघन्य श्रेणिका अष्टमूलगुण पालन तथा मद्य-मांस-मधु त्यागमें पंचउदुंबर फलोंके त्यागको गर्भित करके पंचाणुव्रत धारण करना उत्कृष्ट श्रेणिके अष्टमूलगुण है। यहां गर्भित करने का यह अभिप्राय है कि जिसप्रकार मद्य-मांस-मधु सेवनमें असंख्य जीवों की हिंसा होती है उसीप्रकार असंख्य जीवों की हिंसा पंचउदुंबर फलों के भक्षणमें भी होती है। अतः मद्य-मांस-मधुके त्यागके साथ ही पंचउदुम्बर फलों का त्याग भी करना चाहिये। मध्यमश्रेणि के अष्टमूलगुणो का कथन भी आर्ष ग्रन्थों में पाया जाता है—

मद्य-पल-मधु-निशाशन-पंचफलीविरति पंचकाप्तनुती ।
जीवदया-जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ।।१।।

'मद्य, मांस, मधु, रात्रिभोजन और पंचफली इन पांचों का त्यागरूप पांच गुण तथा पंचपरमेष्ठी को नमस्कार अर्थात् देवदर्शन, जीवदया और जल छानकर पीना इसप्रकार इन तीन क्रियाओं का करना ये मिलकर अष्टमूलगुण माने गये हैं।'

ये मूलगुण सद्गृहस्थ-श्रावकके लिये अत्यन्त आवश्यक एवं उपयोगी हैं, अन्य व्रत, यम, नियम की जड हैं। जिसप्रकार नींव बिना प्रासाद का निर्माण अशक्य है उसी प्रकार उक्त गुणोंके बिना श्रावकों के अन्य व्रतादिक का होना अशक्य है।

प्राचीन ग्रन्थो में अधिक विस्तृतरूप से मूलगुणों का उल्लेख यदि नही मिले तो उसका कारण यही समझना चाहिये कि अन्य प्रतिपादित यम-नियमों मे उनका अन्तर्भाव अवश्य है, क्योंकि किसी भी पदार्थ की विधि या प्रतिषेध तब किया जाता है जब उसका प्रतिपालन आमतौर से लुप्त सा हो गया हो। जैसे कि रत्नकरण्ड-श्रावकाचार मे तीन मकार का त्याग और पंच अणुव्रतों को मूलगुण कहा है सो उसका अर्थ यह नहीं है कि रात्रि-भोजन का त्याग कराना समन्तभद्रस्वामी को इष्ट नहीं है या जल छानकर लेना इष्ट नहीं है। यह क्रिया तो तब स्वतः सद्गृहस्थ के अणुरेणु में स्थित थीं अतः उनका नियम ग्रहण कराना समन्तभद्रस्वामी ने आवश्यक नहीं समझा या स्वयमेव इसका प्रतिपादन उनकी दृष्टिसे ओझल हुआ। श्रावक की प्रत्येक क्रिया स्वतः स्वाभाविकरूपसे

पवित्र हो तो उनके लिए पृथक्-पृथक् नियम-कानून बताना आवश्यक नहीं रहता, किन्तु जब वैसी बात नहीं रहती तब भिन्न-भिन्न करके प्रतिपादन करना पड़ता है। उदाहरण के लिए—वर्तमान में बहुत से युवक यह तर्क देते हैं कि मांसत्याग के साथ अण्डे का त्याग कहा होता है ? हमने तो मांसका त्याग किया है। आज ऐसे भी व्यक्ति हैं जो मांस की ग्लानि तो करते हैं, किन्तु अण्डे को त्याज्य नहीं मानते अपितु ग्राह्य मानते हैं। अतः इस बातसे भिज्ञ साधुगण मांसत्याग के साथ अण्डे का त्याग भी स्पष्ट खुलासा करके करवाते हैं। यह एक दृष्टान्त दिया, ऐसी हम सैकड़ों बातों का निर्देश कर सकते है कि वे सब पूर्वकाल में किसप्रकार सदाचार का अविभाज्य अंग होकर सहज-रूपसे पालन की जाती थीं और आगे-आगे हीनाचरण के कारण किसप्रकार पृथक्-पृथक् होकर प्रतिपादित होने लगी। अस्तु !

उपर्युक्त मूलगुणों का महत्त्व निम्नलिखित आर्ष वाक्यों से सुस्पष्ट है—

अष्टावनिष्टदुस्तर दुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्रा त्रिशुद्धधियः ।।१।।

'सम्यग्दर्शन से शुद्ध है बुद्धि जिनकी ऐसे व्यक्ति पापों के आयतन (स्थान) स्वरूप इन मांसादि आठ वस्तुओं का त्यागकर अनन्तर जिनधर्म की देशना के पात्र होते हैं अन्यथा नहीं।'

अतः सभी व्यक्तियों को इन अष्टमूलगुणों का पञ्चपरमेष्ठी की साक्षीपूर्वक अवश्य त्याग करना चाहिये।

इस लेख के अन्त में अनेक श्रावकाचार-प्रतिपादक ग्रन्थोंमें मूलगुणोंका वर्णन प्राप्त है उसे देना उचित प्रतीत होने से तद्-तद् ग्रन्थों के प्रमाण सहित उन श्लोको को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते है—

मधु-मांसपरित्यागः पञ्चोदुम्बरवर्जनम् ।
हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात्सार्वकालिकम् ।।महापुराण.

मद्य मांस-मधुत्यागः सहोदुम्बरपंचकैः ।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ।।उपासकाध्ययन.

मद्य-मांस-मधु रात्रिभोजनं क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा ।
कुर्वते व्रत जिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतं ।।अमितगति श्राव.

तत्रादौ श्रद्धधज्जैनीमाज्ञां हिंसा मपासितुम् ।
मद्य-मांस-मधून्युज्झेत् पंचक्षीरीफलानि च ।।सागार धर्मा.

मद्य-मांम-मधुत्याग-पंचोदुम्बरवर्जनम् ।
सातिचारं बुधा आहुरष्टौ मूलगुणानिति ।।धर्मसंग्रह श्रा.

मद्य-मांम-मधून्नेव तथोदुम्बरपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ता श्रीजिनैर्गृहमेधिनाम् ।।प्रश्नोत्तर श्रा.

मैरेप पलल क्षौद्र पञ्चोदुम्बरवर्जनं ।
व्रतं जिघृक्षया पूर्व विधातव्यं प्रयत्नतः ।।उमास्वामी श्रा.

मद्य-मांस-मधुत्यागैः सहोदुम्बरपञ्चकैः ।
गृहिणां प्राहुराचार्या अष्टौ मूलगुणानिति ।।पूज्यपाद श्रा.

मद्य-मांस-मधुत्यागसंयुक्ताणुव्रतानि नुः ।
अष्टौ मूलगुणाः पंचोदुम्बरैश्चार्भकेष्वपि ।।रत्नमाला.

महु-मज्ज-मंस विरइ चाओ पुण उंबराण पंचण्हं ।
अट्ठेदो मूलगुणा हवंति फुड्ड देसविरयम्मि ।।प्रा. भावसंग्रह.

त्याज्यं मांसं च मद्यं च मधूदुम्बरपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ता गृहिणो दृष्टिपूर्वकाः ।।पद्मनंदी पं. वि.

मद्य-मांस-मधुत्यागैः सहोदरपंचकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहु र्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ।।व्रतसार.

गृहस्थ के षडावश्यक

❖ डा० चेतनप्रकाश पाटनी
एम ए पी. एच. डी.
प्राध्यापक
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

'आवश्यक' शब्द का सामान्य अर्थ है जिसे अवश्य होना चाहिये; जरूरी या सापेक्ष। निरुक्तिपरक अर्थ है—वश्य उसे कहते हैं जो किसी के अधीन होता है और जो ऐसा नहीं होता उसे अवश्य कहते है और उसके कर्म को आवश्यक कहते हैं।

अवश्य करने योग्य जो कोई भी कार्य हो वह आवश्यक शब्दमे कहा जाना चाहिये, परन्तु आवश्यक शब्द यहा पारिभाषिक अर्थ मे साधु और श्रावक की विशेष क्रियाओं के लिये प्रसिद्ध है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में कहा है—
१. जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्म भणंति आवास ।गाथा १४१।
२. ण वसो अवसो, अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोधव्वा ।गाथा १४२।

मूलाचार (गाथा २१५) में कहा है कि जो कषाय रागद्वेष आदि के वशीभूत न हो वह अवश है, उस अवश का जो आचरण वह आवश्यक है।

'अनगार धर्मामृत' में 'आवश्यक' शब्द को परिभाषित करते हुए पण्डित आशाधर जी कहते हैं—

> "यद्व्याध्यादिवशेनापि क्रियतेऽक्षावशेन तत् ।
> आवश्यकमवश्यस्य कर्माहोरात्रिकं मुने: ।।८/१६।।"

रोग आदि से पीड़ित होने पर भी इन्द्रियों के अधीन न होकर मुनि के द्वारा जो दिन रात के कर्तव्य किये जाते है, उन्हें आवश्यक कहते है। जो 'वश्य' अर्थात् इन्द्रियों के अधीन नही होता उसे अवश्य कहते हैं और अवश्य के कर्म को आवश्यक कहते है।

'आवासक' ऐसा शब्द मान कर 'आवासयन्ति रत्नत्रयमपि इति आवश्यका:' ऐसी भी निरुक्ति होती है अर्थात् जो आत्मा में रत्नत्रय का निवास कराते हैं, उनको आवासक/आवश्यक कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि चाहे अनगार हो या सागार—आगम में दोनों ही के लिये अपनी-अपनी स्थिति के अनुरूप कुछ ऐसी

क्रियाएँ निर्दिष्ट की गई हैं जो उन्हें मोक्षमार्ग में सतत गतिमान रखती हैं और जिन्हें नियमत: कर्त्तव्यरूप में बिना प्रमाद किए सोल्लास प्रतिदिन सम्पन्न करना चाहिये। इन क्रियाओं को 'आवश्यक' संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

गृहस्थ या सागार या श्रावक की आवश्यक क्रियायें या कर्त्तव्य प्रस्तुत लेख का विषय है।

विवेकवान, विरक्तचित्त गृहस्थ को श्रावक कहते हैं जो पाक्षिक, नैष्ठिक व साधक के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। आचार्यों ने श्रावकों के मूल व उत्तरगुणों का निर्देश किया है। प्रत्येक श्रावकको मूलगुण अवश्य धारण करने चाहिये, क्योंकि (अष्ट) मूलगुण धारण व (सप्त) व्यसनों के त्याग के बिना नाम से भी श्रावक नहीं हो सकता। पंचाध्यायीकार का कथन है—

एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथवा ।।उत्तरार्द्ध ७२५।।

सागार धर्मामृतकार ने विभिन्न आचार्यों की मूलगुण सम्बन्धी स्थापनाओं का उल्लेख किया है जिनका सुष्ठु समाहार निम्नलिखित श्लोक में हो जाता है—

मद्यपलमधुनिशासन पञ्च फलीविरति पञ्चकाप्तनुती।
जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ।।२/१८।।

मद्य, मांस, मधु, रात्रिभोजन व पांच उदुम्बर फलों का त्याग, देववन्दना, जीवदया करना और पानी छान कर पीना ये आठ मूलगुण माने गये हैं। इन आठ मूलगुणों में एक पाक्षिक श्रावक के योग्य सभी आचार आ जाता है। 'मूल' जड़ को कहते हैं, जैसे दृढ़ जड़ के अभाव में वृक्ष की स्थिति सम्भव नहीं है, उसी प्रकार इन मूलगुणों के अभाव में श्रावक भी धार्मिक क्रियाओं का सम्यक् निर्वाह नहीं कर सकता है। अतः प्रत्येक श्रावक या गृहस्थ को 'पात्र' कहलाने के लिये इन आठ मूलगुणों को अवश्य धारण करना चाहिये।

मूलगुणों के बाद आचार्यों ने श्रावक के अनेक उत्तर गुणों की भी विशद चर्चा की है। गृहस्थ के आवश्यक या गृहस्थ के कर्त्तव्य भी उत्तरगुणों के अन्तर्गत ही आते हैं।

अनेक आचार्यों ने अपेक्षाभेद से श्रावक के २, ४, ५ और ६ तक आवश्यक कर्त्तव्य निश्चित किये हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य ने 'रयणसार' में दान और पूजा को श्रावक का प्रमुख कर्त्तव्य माना है, इनके बिना वह श्रावक नहीं। "दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा" १० (श्रावकाचार संग्रह पृ. ४८०) भाग ३

'व्रतोद्योतन श्रावकाचार' में अभ्रदेव ने भी आचार्य के उक्त कथन को ही वाणी दी है—

बहुना जल्पितेनात्र किं प्रयोजनमुच्यते।
श्रावकाणामुभौ मार्गौ दानपूजाप्रवर्तिनौ ।।१८४; (श्रावकाचारसंग्रह भाग ३, पृ. २२६)

कषाय पाहुड में श्रावक के चार धर्म कहे गये हैं—"दाणं पूजा सीलमुववासो चेदि चउव्विहो सावयधम्मो" दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावक के धर्म हैं।

सागार धर्मामृतकार ने भी एक स्थान पर श्रावकों के लिये चार प्रकार का आचार निर्दिष्ट किया है—

"दानशीलोपवासार्चाभेदादपि चतुर्विधः।
स्वधर्मः श्रावकैः कृत्यो भवोच्छित्त्यै यथायथम्" ।।५१।।
ज्ञानपीठ संस्करण—पृ. ३०५

अमितगति आचार्य ने भी अपने श्रावकाचार में श्रावकों के संसार-कान्तार को जलाने के लिये चार प्रकार का धर्म कहा है—

दानं पूजा जिनैः शीलमुपवासश्चतुर्विधः ।
श्रावकाणां मतो धर्मः संसारारण्यपावकः ।।६/१।।पृ० ३४४ श्रा. संग्रह भाग १

पण्डित आशाधरजी ने सागार धर्मामृत के प्रथम अध्याय के १८वें श्लोक में श्रावक के पांच धर्म-कर्म गिनाये हैं—

नित्याष्टाह्निक सच्चतुर्मुखमहान्कल्पद्रुमैन्द्रध्वजा–
विज्याः पात्रसमक्रियान्वयदयादत्तीस्तपः संयमौ ।
स्वाध्यायं च विधातुमाहतकृषी सेवावणिज्यादिकः
शुद्धयाऽऽप्तोदितया गृही मललवं प्रक्षादिभिश्च क्षिपेत् ।।१८।।पृ० ३४ ज्ञानपीठ सं.

कृषि, सेवा, व्यापार आदि छह आजीवन कर्मों को यथायोग्य स्वीकार करनेवाले गृहस्थ को नित्यपूजा, आष्टाह्निक पूजा, सच्चतुर्मुख पूजा, कल्पद्रुम पूजा और इन्द्रध्वज पूजा को तथा पात्रदत्ति, समक्रियादत्ति, अन्वय-दत्ति और दयादत्ति को तथा तप, संयम और स्वाध्याय को करने के लिये गुरुओं के द्वारा कहे हुए प्रायश्चित्त के द्वारा तथा पक्षचर्या साधन के द्वारा पाप के लेश को दूर करना चाहिये ।

आचार्य जिनसेन ने महापुराण में गृहस्थ के षट्कर्म इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम तथा तप बतलाए है । "इज्या वार्ता च दत्ति च स्वाध्यायः संयमं तपः" ३८/२४ ।

पण्डित आशाधरजी ने वार्ता को छोड़कर—जो आजीविका से सम्बद्ध है, शेष पांच ही गिनाए है ।

चामुण्डराय प्रणीत चारित्रसारमें भी गृहस्थोके छह आर्य कर्म उल्लिखित हुए है—"गृहस्थस्येज्या वार्ता दत्तिः स्वाध्यायः संयमः तप इत्यार्य षट्कर्माणि भवन्ति ।।" (श्रा सं. १/२५८)

आचार्य सोमदेव ने श्रावक के छह दैनिक कर्म बतलाए हैं—

"देवसेवा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयम तपः ।
दानं चेति गृहस्थाना षट्कर्माणि दिने दिने" ।।उपासकाध्ययन पृ. ज्ञानपीठ सं.

आचार्य पद्मनन्दि ने अपनी पंचविंशतिका में यही छह आवश्यक कर्म बताये हैं—

"देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थाना षट्कर्माणि दिने दिने" ।।६/७।। (श्रा. सं. भाग ३ पृ ४२७)

मेधावी पण्डित विरचित धर्म संग्रह श्रावकाचार में गृहस्थ के छह कर्म बताए गए हैं । इसमें गुरुपास्ति के स्थान पर 'वार्ता' को गृहस्थ का आवश्यक कर्म माना है—

इज्या वार्ता तपो दानं स्वाध्यायः संयमस्तथा ।
ये षट्कर्माणि कुर्वन्त्यन्वहं ते गृहिणो मताः ।।६/२६।।श्रा संग्रह भाग २ पृ १५४.

महापुराण, चारित्रसार और मेधावी पण्डित रचित श्रावकाचार में 'वार्ता' को गृहस्थ के षट्कर्मों में गिनाया गया है, परन्तु वार्ता तो कृषि आदि षट्कर्मरूप है जो आजीविका से सम्बद्ध है अतः धर्म कर्म में सम्भवतः उसे स्वीकृति न देकर गुरुपासना को सम्मिलित किया गया है ।

उमास्वामि-श्रावकाचार में भी गृहस्थ के छह कर्म बताये गए हैं—

देवपूजादिषट्कर्मनिरतः कुलसत्तमः ।
अद्यषट्कर्मनिर्मुक्तः श्रावकः परमो भवेत् ।।६४।।

देवपूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ही यहां षट्कर्म के रूप में उल्लिखित हुए हैं।

इसतरह भिन्न २ आचार्यों ने २, ४, ५, ६ तक षडावश्यक निश्चित किये हैं तथा आवश्यक, दैनिक कर्म, धर्म-कर्म, आर्य कर्म, कर्त्तव्य, मुख्यकर्म आदि विविध संज्ञाओं से अभिहित किया है। इन धार्मिक कर्त्तव्यों को प्रत्येक गृहस्थ को प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये। गृहस्थ दशा में शुभोपयोगरूप धर्म की सिद्धि होती है। उपर्युक्त सभी आवश्यक कर्त्तव्य-कर्म पुण्यबन्ध के हेतु है तथा वीतराग भाव को ओर लक्ष्य ले जाने में अत्यन्त सहायक हैं।

१. देवपूजा :

मन, वचन, काय से भगवान जिनेन्द्र-अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी—के गुणों का विशेष रूप से वर्णन, चिंतन व मनन करते हुए अष्ट द्रव्यों से पूजन करना देवपूजा है। यह गृहस्थ का सर्वाधिक प्रमुख कर्त्तव्य है। यदि किसी कारणवश अष्ट द्रव्य से पूजन न कर सके तो स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहन कर मन्दिर मे जाकर अति विनय और बहु हर्ष के साथ देवाधिदेव का दर्शन करे। दर्शन, स्तवन, नमस्कार, प्रदक्षिणा आदि भी एक लघु-पूजन है।

(अ) दर्शन विधि—जिनेन्द्र देव के सम्मुख जाते ही अत्यन्त विनयपूर्वक हाथ जोड़ कर सिर झुकावे। णमोकार मन्त्र पढ कर कोई स्तवन, स्तोत्र या श्लोकादि पढ कर अक्षत या फल चढावे। अनन्तर अष्टांङ्ग अथवा पञ्चाङ्ग नमस्कार करे (धोक देवे)। फिर मन्द किन्तु स्पष्ट स्वर में शुद्ध उच्चारण पूर्वक संस्कृत या हिन्दी भाषा का स्तोत्र पढते हुए अपनी बांयी ओर से चलकर वेदी को धीरे-धीरे तीन प्रदक्षिणा दे। स्तोत्र पूरा होने पर फिर नमस्कार पूर्वक धोक देवे। दर्शन करते समय अपनी दृष्टि जिनबिम्ब पर ही केन्द्रित रखनी चाहिये। स्तोत्र का वाचन उसके अर्थ को ध्यान में रखते हुए करना चाहिये दर्शन करते समय या प्रदक्षिणा लगाते समय इस बात की विशेष सावधानी रखनी चाहिये कि कही मेरी इन क्रियाओं से अन्य व्यक्तियो के दर्शन-पूजन मे तो विघ्न नहीं पड़ रहा है।

दर्शन के बाद भगवान के अभिषेक का 'गन्धोदक' शरीरके उत्तम (नाभि से ऊपर के) अंगों से लगाना चाहिये। देव दर्शन-पूजन करने हेतु गृहस्थ को खाली हाथ नही आना चाहिये—

"रिक्तपाणिर्नैव पश्येद् राजानं देवता गुरुम् ।"

चढ़ाने के लिये चावल आदि अवश्य साथ में ले जाने चाहिये। चावल चढ़ाने का अभिप्राय यह है कि जिस तरह धान से छिलका उतर जाने पर फिर धान में उगने की शक्ति नहीं रहती, इसीप्रकार भगवान के दर्शन पूजन-भक्ति करने से आत्मा भी फिर जन्म लेने योग्य न रहे।

(आ) पूजन विधि—पूजा करने के लिए पूजक को शुद्ध छने जल से स्नान करके शुद्ध, स्वच्छ एवं अखण्ड वस्त्र (धोती, दुपट्टा) पहनना चाहिये। धोती और दुपट्टा अलग-अलग होना चाहिये। धोती को ही ऊपर नहीं ओढ़ना चाहिये। दुपट्टा सिर पर भी ओढ़ लेना चाहिये।

पूजन की सामग्री कुए के जल से ही धोनी चाहिये, क्योंकि वह जल शुद्ध होता है। जहां तक हो सके पूर्व या उत्तरदिशा की ओर मुख करके पूजन आदि शुभ कार्य करने चाहिये। पूजन प्रारम्भ करने से पूर्व अभिषेक एवं शान्तिधारा करनी चाहिये। यह पूजन का ही एक अंग है।

अभिषेक कर लेने के बाद विधि पूर्वक, अष्टद्रव्य से पूजन प्रारम्भ करना चाहिये । अष्टद्रव्यों को चढ़ाते समय जलधारा झारी से, चन्दन अनामिका अंगुली से, अक्षत बँधी हुई मुट्ठी से, पुष्प दोनों हाथों से, धूप अग्नि में तथा नैवेद्य, फल और अर्घ्य रकेबी से चढ़ाने का विशेष ध्यान रखना चाहिये । जितनी पूजाएँ करनी हों उतनी सब करने के पश्चात् भगवान् की आरती करके शांतिपाठ और विसर्जन करना चाहिये । अभिषेक, आह्वान, स्थापना, सन्निधिकरण, पूजन, शांतिपाठ और विसर्जन ये सब पूजा के अंग हैं । इनको किए बिना पूजा अपूर्ण रहती है । जो अभिषेक करें उन्हें भगवान का पूजन अवश्य करना चाहिये । पूजा भी अभिषेकपूर्वक ही की जानी चाहिये ।

प्रात:काल दर्शन-पूजन करने से हमारा मन पवित्र रहता है । अपने आदर्श के स्मरण के लिये सबको प्रात:काल सबसे प्रथम शुभपदार्थ को देखना चाहिये, वीतराग भगवान से बढ़कर शुभ दर्शन और किसका हो सकता है ? अत: अन्य कोई घर व्यापार आदि का कार्य आरम्भ करने से पूर्व भगवान का दर्शन-पूजन करना अत्यन्त आवश्यक कर्म है ।

२. गुरु उपास्ति :

पूजन के बाद समस्त परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ गुरुओं (आचार्य, उपाध्याय, साधु, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका) के पास जाकर उन्हें अक्षत या फल आदि चढ़ाकर यथायोग्य नमोस्तु, वन्दामि आदि करके भक्ति भाव से उनकी स्तुति एवं पूजन करना चाहिये । धर्मोपदेश सुनना चाहिये । उनकी सेवा सुश्रूषा करना, आवश्यकतानुसार कमण्डलु, पीछी शास्त्र आदि उपकरण देना, विधिपूर्वक प्रफुल्ल हृदयसे निर्दोष आहार कराना आदि क्रियाएँ भी गुरु उपासना ही हैं । यदि निकट में गुरुओं का समागम लाभ न हो तो बड़ी भक्ति सहित उनकी स्तुति आदि पढ़नी चाहिये ।

३. स्वाध्याय :

अर्हन्त भगवान-द्वारा उच्चरित, गणधरों द्वारा ग्रथित तथा आचार्यों द्वारा लिखित चारों अनुयोग (प्रथमं, करणं, चरणं, द्रव्यं) रूप आगम का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना, पूछना व बताना, चिन्तन व मनन करना, चर्चा करना, स्वाध्याय नामका तीसरा आवश्यक कर्म है ।

स्वाध्याय शब्द का अर्थ तीन प्रकारसे किया जाता है—१ स्व+अध्याय (स्वस्य आत्मन: अध्ययनम्) अपनी आत्मा का अध्ययन, आत्मनिरीक्षण २ स्व+अध्याय (स्वयं अध्ययन)=अपने आप अध्ययन, मनन ३. सु+अध्याय=उत्तम अध्ययन, आत्महित करने वाली वाणी का अध्ययन । प्रारम्भिक स्थिति सु+अध्याय की है और विकसित स्थिति स्वाध्याय की ।

आचार्यों ने स्वाध्याय को आभ्यन्तर तप माना है और इसके पाँच भेद किए हैं—"वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशा." ९/२५ त सू. वाचना (पढ़ना), पृच्छना (संशय को दूर करने के लिये अथवा कृत निश्चय को दृढ़ करने के लिये प्रश्न पूछना), अनुप्रेक्षा (जाने हुए पदार्थ का बार-बार चिंतवन करना), आम्नाय (निर्दोष उच्चारण करते हुए पाठ करना) और धर्मोपदेश-धर्म का उपदेश करना ।

संसारी प्राणी रातदिन सुख शान्ति पाने के लिये प्रयत्नशील रहता है, किन्तु उसे मन की स्थिरता के अभावमें प्राय: निराशा ही मिलती है । अत: चित्त की चञ्चलता को कम करने का प्रयत्न अपेक्षित है । स्वाध्याय मनको स्थिर करने का प्रथम और अमोघ उपाय है । अत: प्रतिदिन नियमितरूप से कुछ समय निकाल कर स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये । आत्महित स्वाध्याय से ही होता है ।

प्रथमानुयोग के ग्रन्थ चरित्रों के माध्यम से हमारा लक्ष्य प्रस्तुत करते हैं तो करणानुयोग के ग्रन्थों के माध्यम से सम्पूर्णलोक का स्वरूप ज्ञात होता है । चरणानुयोगके ग्रन्थ पापरूप कर्म से बचने व जीवन में सदाचार

को ग्रहण करने की प्रेरणा देते हैं तथा द्रव्यानुयोग के ग्रन्थों से तत्त्व विवेक जागृत होता है । सभी विषयों में ज्ञान के विकास के लिये सभी ग्रन्थ पठनीय हैं । मुक्तिमार्ग पर अग्रसर होने वाले प्रत्येक मानवको सभी सद्शास्त्रों का अध्ययन, मनन और चिन्तन करना चाहिये ।

४. संयम :

इच्छाएँ आकुलता की जननी हैं । मोक्षमार्ग पर चलने वाले पथिक को अपनी बढ़ती हुई इच्छाओं पर नियन्त्रण करना चाहिये तथा हिंसादि पांच पापों से बचना चाहिये । संयम शब्द का अर्थ है सम्यक् प्रकार से नियमन करना, दमन करना-किसको ? आकुलता व्याकुलता उत्पादक विकल्पों को—जो विषयभोगों के दृढ़ सस्कारवश प्रतिक्षण नवीन रूप धारण करके चित्त को चञ्चल किए रहते हैं, मुक्तिपथमें बाधक बनते हैं । इन्द्रिय संयम एवं प्राणिसंयम के भेद से संयम दो प्रकार का होता है । गृहस्थों को शक्त्यनुसार पांचो इन्द्रियों और मनके प्रसार को रोकना चाहिये तथा त्रस जीवों की दया करते हुए बिना प्रयोजन स्थावर प्राणियों की हिंसा भी नहीं करनी चाहिये । संयम के बिना जीवन निष्फल है । स्वच्छन्द प्रवृत्ति आत्मा को संसार में भटकाने वाली है अतः प्रतिदिन भोजन-पान, वस्त्राभूषण, मनोरंजन, काम सेवन आदि भोगोपभोग की सामग्री का नियम करना चाहिए तथा जीवों की विराधना से बचना चाहिये ।

५. तप :

"इच्छा निरोधः तपः" इच्छाओं को रोकना ही तप है । तपसे कर्मों का संवर होता है साथ ही निर्जरा भी होती है । यद्यपि पुण्यकर्म का बन्ध होना भी तप का फल है, तथापि तप का प्रधान फल कर्मों की निर्जरा ही है । जब तपमें कुछ न्यूनता होती है तब उससे पुण्यकर्म का बन्ध होता है इसलिये पुण्य का बन्ध होना तप का गौण फल है ।

मुनिधर्म तपश्चरण प्रधान है । आचार्यों ने ६ अन्तरग और ६ बहिरंग तप माने हैं—

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥१९॥ प्रायश्चित्त-विनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥ तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९॥

श्रावक भी मोक्षमार्ग पर आगे बढने के भाव रखता है अर्थात् उसके भाव भी मुनि बनने के रहते है अतः वह भी अभ्यासरूपमे इन तपों को धारण करता है, किन्तु शक्ति के अनुसार । गृहस्थ दशा में पूर्ण तप का पालन तो नही किया जा सकता है, परन्तु फिर भी शक्ति के अनुसार ही तप, व्रत आदि करना चाहिये, शक्ति से अधिक नही । व्रतो या उपवासों के माध्यम से जिनगुणसम्पत्ति आदि व्रत करना भी तपमें शामिल है ।

सम्यक् श्रद्धा व संयमके साथ किया गया तप ही मुक्तिपथ की ओर ले जाने वाला होता है, आत्माको निर्मल बनानेवाला होता है । भावोंके बिना किया गया तप सार्थक नहीं होता । तप ख्याति लाभसे परे हो, छलकपट से रहित हो, इच्छाओं से रहित हो तभी उसकी सार्थकता है । उसी से आत्मशुद्धि सम्भव है । इसलिये भले ही तप थोड़ा हो, परन्तु भावसहित समीचीन हो । गृहस्थको यथाशक्ति प्रतिदिन इन तपोंका अभ्यास करना चाहिये ।

६. दान :

मोक्षमार्ग में वर्धमान सत्पात्रों के रत्नत्रय की वृद्धि के लिये, धर्मक्षेत्रों के निर्माण विकास के लिए तथा दीनदुःखी जीवों की प्राण रक्षा के लिए आवश्यकतानुसार, न्यायपूर्वक अर्जित अपने धन का त्याग करना, हमेशा के लिए दे देना दान कहलाता है ।

शास्त्रों में दान की महती महिमा गाई गई है ।

"पञ्चसूनाकृतं पापं यदेकत्र गृहाश्रमे ।
तत्सर्वमतये वासौ दाता दानेन लुम्पति" ।।५६।।रत्नमाला; श्रावकाचार संग्रह भाग ३, पृ. ४१४।।

आरम्भ परिग्रह से उत्पन्न पाप दान से नष्ट होता है ।

आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान और अभयदानके भेद से दान चार प्रकार का होता है । उत्तम पात्रों (रत्नत्रयधारी नग्न दिगम्बर साधु), मध्यम पात्रों (आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका, व्रती श्रावक) तथा जघन्य पात्रों (अविरत सम्यग्दृष्टि) को आहार आदि चतुर्विध दान देना दानदत्ति है ।

साधर्मियों के लिए धर्म अर्थ काम के साधनभूत पदार्थों का देना समदत्ति दान है ।

दीन दु:खी जीवों को करुणापूर्वक भोजन वस्त्र औषधि आदि देने के साथ-साथ उन्हें पूर्ण अभय प्रदान करना दयादत्ति दान है ।

गृहस्थ दशा का सम्पूर्ण भार स्वपुत्र को सौंप कर निश्चिन्त होकर दीक्षा धारण करना या पूर्णत: धर्माराधन में तत्पर हो जाना अन्वयदत्ति दान है ।

जिस दान के प्रदान करने से दाता और पात्र की आत्मा का कल्याण होता हो और जिस दान से मोक्ष-मार्ग की प्रवृत्ति निरन्तर वृद्धिगत होती रहे, वही दान वास्तव में दान है ।

गृहस्थ को प्रतिदिन अपने बनाए हुए भोजन में से कुछ भोजन तथा अपनी आमदनी में से कुछ न कुछ द्रव्यका अवश्य दान करना चाहिये ।

ये छह कर्त्तव्य या आवश्यक गृहस्थ को प्रतिदिन अवश्य करने चाहिए । इनके बिना गृहस्थ धर्म सार्थक नहीं होता ।

पद्मनन्दि आचार्य ने पंचविंशतिका में षडावश्यकों से शून्य गृहस्थजीवन को पत्थर की नाव के समान बताया है जो नियम से भवसागर में डूबने वाला है—

यैर्नित्यं न विलोक्यते जिनपतिर्न स्मर्यते नार्च्यते, न स्तूयेत न दीयते मुनिजने दानं च भक्त्या परम् ।
सामर्थ्ये सति तद् गृहाश्रमपदं पाषाणनावा समं, तत्रस्था भवसागरेऽतिविषमे मज्जन्ति नश्यन्ति च ।।
।।१८, देशव्रतोद्योतन।।

षडावश्यकों का गृहस्थजीवन में अनिवार्यत: प्रतिदिन पालन करना चाहिये । अन्यथा मनुष्य पर्याय और तिर्यञ्च पर्याय में क्या अन्तर रहेगा ? आहार, निद्रा, भय, मैथुन इन संज्ञाओं की अपेक्षा तो मनुष्य और पशु समान ही हैं । आचार्य ने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया है कि—

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न । निष्फलं जीवितं तेषां, तेषां धिक् च गृहाश्रमम् ।।
ये गुरुं नैव मन्यन्ते तदुपास्ति न कुर्वते । अन्धकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे ।।
ये पठन्ति न सच्छास्त्रं सद्गुरुप्रकटीकृतम् । तेऽन्धा: सचक्षुषोऽपीह सम्भाव्यन्ते मनीषिभि: ।।
सत्पात्रेषु यथाशक्ति दानं देयं गृहस्थितै: । दानहीना भवेत्तेषां निष्फलैव गृहस्थता ।।
दृषन्नावसमो ज्ञेयो दानहीनो गृहाश्रम: । तदारूढो भवाम्भोधौ मज्जत्येव न संशय: ।। (पंचविंशतिका)

और अन्त में नीतिकार के शब्दों में—

येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणं न धर्म: ।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ।।

अत: गृहस्थ दशा की सार्थकता के लिए षडावश्यकों का प्रतिदिन पालन करना अनिवार्य है ।

ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह

❖ श्री १०५ गरिणनि आर्यिका
विजयमती माताजी

जीवन का सार है संसार की समाप्ति और मुक्ति की प्राप्ति। आत्म विकास और विषयों का ह्रास। आध्यात्म जगत का जागरण और भौतिक जगत का मरण-नाश। यह कार्य दृष्टि के फेर पर अवलम्बित है। दृष्टि बदली कि सृष्टि बदली, सुखदुःख दोनों ही पर स्वभाव हैं। स्व तो आत्मा है, जो मात्र ज्ञानानन्द स्वरूप है। यही है चिद्-चिदानन्द स्यन्द जिसके स्रोत माया मिथ्यात्व अज्ञान से रुद्ध हो रहे हैं। संसार की परिपाटी का यही आधार है। सबका निचोड़-सार है अब्रह्म और परिग्रह भाव। इनका संयोग ही संसार है। सागारधर्मामृत में गृहकी परिभाषा करते हुए द्वितीय अध्याय में लिखा है—गृहणी का नाम ही घर है न कि दीवाल, कपाट आदि का संयोजन। कन्यादान के प्रकरण में लिखा है—

सत्कन्यां ददता दत्तः स त्रिवर्गो गृहाश्रमः।
गृहं हि गृहणीमाहुर्न कुड्यकट संहतिम् ।।५६।।

अर्थात् धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ की साधक गृहणी है। ये तीनों पुरुषार्थ संसार के रंगमञ्च पर ही प्रदर्शित होते हैं। गृहणी के मूल में काम, भोगवासना अन्तर्हित है, जो अब्रह्म और परिग्रह की द्योतक है। राग-द्वेषकी जननी और संसार की मूल है। यों भी संसार का प्रसार मूलतः जर जोरू और जमीन पर ही आधारित है। जर और जमीन परिग्रह के प्रतीक हैं तो जोरू-पत्नी अब्रह्म की। स्पष्ट ही जोरू शब्द मध्यान्तर स्थित हो प्रकट करता है कि परिग्रह का हेतु नारी और नारी का हेतु परिग्रह है। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इनके योग से संसार की परिपाटी वृद्धिगत होती है। अस्तु ! यह सुनिश्चित है कि जहां परिग्रह है, वहां अब्रह्म भी किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। अब्रह्म भाव के साथ परिग्रह अपना अस्तित्व जमाये रखते हैं। यही है संसार। इसके विपरीत है मुक्ति।

श्री पद्मनन्दी आचार्य अपने ग्रन्थ पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में ब्रह्मचर्यरक्षावर्तिः प्रकरण में लिखते हैं—

दारा एव गृहं न चेष्टकचितं तत्तैर्गृहस्थो भवेत् ।
तत्त्यागे यतिरादधाति नियतं स ब्रह्मचर्यं परम् ।।
वैकल्यं किल तत्र चेत्तद परं सर्व विनष्टं व्रतम् ।
पुंसस्तेन विना तदा तदुभय भ्रष्टत्त्वमापद्यते ।।११।।

अर्थात् स्त्री ही घर है, ईंटों से निर्मित घर वास्तविक घर नहीं है । उस स्त्री के संसर्ग से ही श्रावक, गृहस्थ कहलाता है । रमणी रमण का त्याग करने पर ही साधु निर्दोष नियमित उत्तम ब्रह्मचर्य को धारण करता है । ब्रह्मचर्य व्रत के विषय में दोष आने पर अन्य सर्व व्रत नष्ट हो जाते है । इसप्रकार उस ब्रह्मचर्यव्रतके बिना वह पुरुष उभयलोक भ्रष्ट हो जाता है ।

उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थ सूत्र में "मैथुनमब्रह्म" कहा है अर्थात् स्त्री संसर्ग, रमणी रमण भाव या रतिकर्म ही अब्रह्म है । इसी ग्रन्थ मे परिग्रह की परिभाषा करते हुए लिखा है "मूर्च्छा परिग्रहः" अर्थात् मूर्च्छा-मोह ममकारबुद्धि परिग्रह है । सुनिश्चित है नारी के प्रति अनुराग परिग्रह और उसके साथ सम्भोग अब्रह्म है । ये दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं । इस विश्लेषण के निष्कर्ष मे यह स्पष्ट हो जाता है कि परिग्रह पिशाच से रक्षण करने के लिए ब्रह्मचर्यव्रत पालन अत्यावश्यक है । सर्वोपरि है ।

ब्रह्म का अर्थ है आत्मा और चर्य का अर्थ है आचरण-रमण करना । अर्थात् आत्मा में रमण करना लीन होना है ब्रह्मचर्य । यह कार्य अहंकार और ममकार का त्याग किए बिना नहीं हो सकता । अतः ब्रह्मचारी के निकट परिग्रह आ ही नहीं सकता । इस व्रत का महान महत्त्व है । इसे असिधाराव्रत संज्ञा प्रदान की है । तलवार की धार पर चलना और इस व्रत का पालन करना समान है । यह आत्मस्वरूप का द्योतक है-आत्मस्वरूप ही है । ब्रह्मचर्य साहचर्य से ब्रह्मचारी का माहात्म्य वर्णन करते हुए कहा है—

विद्यामंत्राश्च सिद्धयति किंकरन्त्यमराण्यपि ।
क्रूरा साम्यन्ति नाम्नाऽपि निर्मल ब्रह्मचारिणः ।।

आत्मा ज्ञानघन है और विद्या मन्त्रादि ज्ञान के ही रूप हैं । ब्रह्मचारी का आत्म स्वरूप ही प्रकट होने लगता है, स्वाधीन बल, वीर्य जाग्रत हो जाता है । स्वशक्ति के जाग्रत रहते भला अन्य क्रूर हिंस्रप्राणी क्या आक्रमण कर सकते हैं ? नहीं कर सकते । अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत में एकत्व विभक्त भाव निहित है । उस एकत्व में स्थिति को ही श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वसमय कहा है । जहां परमाणु मात्र भी पर द्रव्य मे मूर्छा ममत्व है वहां स्व-स्वरूप की सिद्धि अशक्य है । इसीलिये तो ब्रह्मचर्य को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है ।

ब्रह्मचर्यव्रत को जीवन में लाने के लिए दो भागो में विभक्त किया है, अणु—एक देश और महा—सर्वदेश के भेद से । अर्थात् अणुव्रत और महाव्रत के भेद से । अणुव्रत को स्वदार संतोषव्रत भी कहते हैं । नव कोटि पूर्णत. स्त्रीमात्र का त्याग करना महाव्रत है । गृहस्थाश्रम में अणुव्रत रूप स्वदार संतोषव्रत पालन हो सकता है और यति-साधु सर्वदेश महाव्रत रूप में ब्रह्मचर्यव्रत पालते हैं । यह क्रम स्पष्ट करता है कि ज्यों-ज्यों ब्रह्मचर्यव्रत का विकास होता जाता है, परिग्रह का त्याग भी होता जाता है । ममेदं तवेदं का द्वन्द्व नष्ट होता जाता है और संसारका मूल राग-द्वेष भी कम होता जाता है । समता भाव जाग्रत होने लगता है । शीलके १८००० भेदों का विश्लेषण करने पर यह विषय और भी सुस्पष्ट हो जाता है । सर्व प्रथम स्त्री के २ भेद किये । १—चेतन और २—अचेतन । चेतन स्त्री की अपेक्षा निम्न भेद हैं—

मानुषी, तिर्यञ्ची और देवांगना के भेद से स्त्री के ३ भेद हैं। इनके साथ ३ योग, ३ कृत-कारित-अनुमोदना, ४ संज्ञा (आहार-भय-मैथुन-परिग्रह) १६ कषाय, १० इन्द्रियों (५ द्रव्य व ५ भावेन्द्रियां) का गुणा करने पर ३×३×३×४×१६×१०=१७२८० भेद चेतन स्त्री की अपेक्षा से हैं।

इसी प्रकार अचेतन स्त्री सम्बन्धी ७२० भंग होते हैं—

काष्ठ, पाषाण, चित्राम के भेद से ३ भेद, योग २–मन और काय, कृत-कारित-अनुमोदना ३, कषाय ४ और इन्द्रियां १०, इनका परस्पर गुणा करने से ३×२×३×४×१०=७२० भेद हो जाते हैं। इनको चेतन स्त्री के १७२८० में मिलाने पर १७२८०+७२०=१८००० भेद हो जाते हैं।

इन भेदों को निकालने के अन्य भी निम्न प्रकार हैं—

(१) विषयाभिलाषा, (२) वस्तिमोक्ष, (३) प्रणीतरस सेवन, (४) संसक्त द्रव्य सेवन, (५) शरीराङ्गोपाङ्गावलोकन, (६) प्रेमी का सत्कार-पुरस्कार, (७) शरीर संस्कार, (८) अतीत भोग स्मरण (६) अनागत भोगाकांक्षा, (१०) इष्ट विषय सेवन। चिन्तादि १० (चिन्ता, दर्शनेच्छा, दीर्घ निश्वास ज्वर, दाह, आहार की अरुचि, मूर्च्छा, उन्माद, जीवन सन्देह और मरण) इन्द्रियां ५, योग ३, कृतादि ३, जाग्रत-स्वप्न २, चेतन-अचेतन २ सबका—१०×१०×५×३×३×२×२=१८००० भेद हो जाते हैं। अन्य प्रकार भी हैं—

स्त्री के ४ भेद, योग ३, कृतादि ३, इन्द्रिय ५, शृङ्गार रस के भेद १०, काय चेष्टा के भेद १० से गुणा करने पर ४×३×३×५×१०×१०=१८००० भेद प्राप्त हो जाते हैं। इनकी पूर्णता क्रमशः होते होते १४ वें गुणस्थान में पहुँचने पर होती है। यही आत्मा का शुद्ध स्वभाव प्रगट होता है। और यहीं चारित्र गुण की भी पूर्णता होती है, जिस चारित्र गुण को परिग्रह ने चारों ओर से आच्छादित कर रक्खा था। प्रथम अवस्थामें "राग द्वेष निवृत्ति चरणं प्रतिपद्यते साधु" कहा है। शंका—यह राग-द्वेष क्या है? समाधान—अन्तरङ्ग परिग्रह, जो बाह्य परिग्रह के त्याग से ही छूटते हैं। बाह्य परिग्रह के तीन भेद हैं—(१) सचित्त, (२) अचित्त (३) मिश्र। सचित्त परिग्रह है—स्त्री, पुत्र पुत्री, बंधु-बांधव पशु मित्रादि। मकान, दुकान, सुवर्ण, रजत, धन-सम्पत्ति इत्यादि अचेतन द्रव्य है, और मिश्र है वस्त्रालंकार युक्त पुत्र-कलत्रादि। यहां भी नारी का ही प्रामुख्य है, उसके साथ ही अन्य सर्व सम्बन्ध हैं। ये सभी महाव्रत के घातक हैं। ब्रह्मचर्याणुव्रत का लक्षण करते हुए श्री आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है—

न तु परदारान् गच्छति, न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदार निवृत्ति, स्वदार संतोषनामापि ।।५६।।

यहां 'पापभीते' शब्द विशेष विचारणीय है। "लोभ पापका बाप बखाना।" युक्ति के अनुसार पाप शब्द कषाय या राग का द्योतक है, यह मैथुन के साथ परिग्रह का भी संकेत करता है। अतः स्वदार संतोषव्रती परस्त्री का सेवन न स्वयं करता है और न अन्य को ही प्रेरणा देता है। वह सतत पापसे-परिग्रह भावसे भयभीत रहता है। अन्तरङ्ग मूर्च्छा बिना बाह्य परिग्रह में प्रवृत्ति नहीं होती। पूज्यपादस्वामी ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में कहा है—

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषया सुलभा अपि ।।३७।।
यथा यथा न रोचन्ते विषया सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्वमुत्तमम् ।।३८।।

अर्थात् ज्यों-ज्यों संसार गृहणी-विषयाकांक्षा से भीति होती है, जीव अक्लिष्ट प्राप्त विषयों में भी रुचि प्रीति नहीं करता। सुलभता से प्राप्त भोग सामग्री से भी उसे घृणा हो जाती है और उत्तरोत्तर वैराग्यभाव जाग्रत होता जाता है। स्व-स्वरूपोन्मुख हो बाह्याभ्यन्तर परिग्रह को त्याग अखण्ड महाव्रत में रमण करता है।

अपरिग्रहमहाव्रत की क्या बात, परिग्रह परिमाणुव्रत का लक्षण ही देखिये—

धनधान्यादि ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहता।
परिमित परिग्रह स्यादिच्छा परिमाण नामापि ॥६१॥

अनावश्यक धन, धान्य, स्त्री, परिवार से मूर्च्छा भाव नही रखना, ममत्व त्यागना, इच्छाकृत परिग्रह परिमाणुव्रत है। वस्तुतः परिग्रही सतत पापास्रव करता है। उसी प्रकार विषयी-काम सेवी भी निरन्तर कलुषित परिणामों का आस्पद बना रहता है।

परिग्रह और कामसेवन की दुर्लालसा प्राप्य और अप्राप्य उभय अवस्थामें जीव को धुंधकाती सुलगाती रहती है, श्री गुणभद्र स्वामी ने अपने "आत्मानुशासन" में बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है—

लब्धेन्धनो ज्वलत्यग्नि प्रशाम्यति निरेन्धना।
उभयथाऽपि ज्वलत्युच्चै अहो मोहाग्नि उत्कटा॥

बाह्य अग्नि ईंधन का सहयोग पाकर उत्तरोत्तर बढ़ती है और ईधन के नही मिलने पर शांत हो जाती है, किन्तु अन्तरङ्ग मोहाग्नि अपना विषय पाकर तो जलती ही है, नही मिलने पर और अधिक भयंकर हो प्राणी को जलाती है।

वेदमार्गणा में श्री नेमिचन्द्रजी सिद्धान्त चक्रवर्ती कामवेदना का चित्रण करते हुए लिखते हैं—

जो न स्त्री है, न पुरुष ही है—उभयलिंग रहित नपुंसक की कषाय भट्टी में पकती हुई ईंट के समान अति तीव्र होती है "इट्ठावग्गि समाणवेदण गरुओ कलुषचित्ते" तीव्र कषाय से निरन्तर कलुषित चित्त रहता है, परन्तु स्त्री सम्भोग नहीं मिलता। अहर्निश मूर्च्छाभाव से आच्छादित हुआ आतुर बन दुःखानुभव करता है। अपगत वेदियों का निरूपण करते हुए लिखते है—

तिण कारिसिट्ठ पागग्गि सरिस परिणाम वेदगुम्मुक्का।
अवगयवेदा जीवा सग संभव णंतवर सोक्खा ॥२७६॥गो.जी.

अर्थात् तृण की अग्नि, कारीष अग्नि और इष्टपाक के समान वेद परिणामों से रहित जीव अपगतवेदी हैं, ये स्वात्मा से उत्पन्न अनन्त और सर्वोत्कृष्ट परमानन्द का उपभोग करते हैं। अर्थात् पुरुषवेद की कषाय तृण (तिनके) की अग्नि के सदृश क्षणिक है, कारीष कण्डे की अग्नि के समान स्त्रीवेद की कषाय तीव्रतर है और नपुंसकवेद की कषाय अवा में पकनेवाली ईंटके समान तीव्रतम है। इन अग्नित्रय से निकलने वाले जीव ही आत्मोत्थ चिर सुख और शांति का अनुभव करते हैं।

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहवाद आत्मा के स्व-स्वरूप हैं। जितने अंश में इनकी प्राप्ति होगी जीव उतने ही अंशों में सुख, शांति, आनन्द, निराकुलता और संतोष का अनुभव कर सकेगा।

जन समुदाय का क्रमिक विकास इन दोनों (ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहवाद) पर ही निर्भर है। ब्रह्मव्रत और अपरिग्रहभाव जितने अंशोंमें वृद्धिगत होगा, जीवन उतना ही सौम्य, शांत, सुगठित और उन्नत होता जायेगा।

नैतिक उत्थान के साथ सर्वाङ्गीण विकास होगा। व्यष्टि के उन्नत होने पर परिवार, समाज, राष्ट्र व देश सभी विकासोन्मुख हो सकते हैं, क्योंकि व्यष्टि का समुदाय ही परिवार समाज एवं राष्ट्र है।

यदि अब्रह्म और परिग्रह संचय सुख संवृद्धि के द्योतक होते तो उमास्वामि आचार्यवर्य स्वर्ग सुख के निरूपण में यह क्यों लिखते कि "गति शरीरपरिग्रहाभिमानतो हीना:" अर्थात् प्रथमादि स्वर्गों से ऊपर-ऊपर स्वर्ग वाले देव गमन, शरीर अवगाहना, परिग्रह-ऋद्धि आदि वैभव एवं अहंकार आदि से हीन-हीन होते हैं, परन्तु इससे उनके सुखादि इसके विपरीत वृद्धिगत होते जाते हैं। यथा—"स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषय-तोऽधिका:" ।।२०।। वे स्वर्गवासी अमरगण ऊपर-ऊपर के स्वर्ग में स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, कान्ति, लेश्या-विशुद्धि-भावविशुद्धि, इन्द्रिय विषय की प्रखरता, अवधिज्ञान विषय की वृद्धि अपेक्षा विशेष अधिक-अधिक होते हैं। अर्थात् अब्रह्म और परिग्रह की हीनताके साथ-साथ उनके आत्मीय गुण ज्ञान-दर्शनादि वृद्धि को प्राप्त होते जाते है।

उपर्युक्त सिद्धान्त के विपरीत नारकियों की स्थिति है। "नपुंसकानि" वे सभी नारकी नपुंसक ही होते हैं, किन्तु उनकी कषाये उग्रतम होती जाती है। दु:ख संताप उग्रोग्र होता जाता है। तीव्र वेदोदयसे अहर्निश भट्टी की भांति संक्लेशभावाग्नि में जलते रहते है। यह तो रहा सिद्धात। जरा इसे व्यावहारिक जीवन में भी तो विचार कर देखें।

वर्तमान भौतिकयुग तेजो से दौड़ रहा है। विज्ञान के चकाचौंध में उछालें मार रहा है। भोग विलास की दलदल में आपादमस्तक डूबकर आजका मानव कराह रहा है। बाह्य सुख सुविधा के साधन, वर्षा ऋतु में बढ़ने वाले पतंगों की भाति बढ़ रहे हैं। प्रतिदिन नये नये आविष्कार हो रहे है। तार, बेतार, रेडियो, टेलीवीजन, टेलीग्राम, सिनेमा, लिफ्ट, बिजली, पंखा, गैस का चूल्हा आदि। संक्षेप में विज्ञान आज अपने प्रभुत्व से जल, थल, आकाश पर बे रोक-टोक आधिपत्य जमाये हुये है। वर्तमान मानव पक्षी की भांति आकाशमें गमन कर सकता है, एरोप्लेन, रॉकेटादि साधनों से घंटों में लाखों मील पार करने में समर्थ है। समुद्र पर तैरता है और भूमि पर तो रेल, मोटर, स्कूटर, साइकिल न जाने क्या-क्या साधनों से दौड़ लगा रहा है। यही नहीं ट्रैक्टर आदि से भूगर्भ को चीर फाड कर भी उसका निरीक्षण कर सकता है। मशीनरी, औषधि परीक्षण यन्त्र आदि से सर्वत्र नाना आवि-ष्कारों के चमत्कार दृष्टिगोचर हो रहे है। इन बनावटी, अप्राकृतिक उपादानों में सनकर आजका मानव और उसके भाव विचार भी प्राय: बनावटी हो गये है। सिनेमा, सरकस, क्लब आदि ने मानव को भयङ्कर रूप प्रदान किया है।

विचारणीय है इन असंख्य साधनों के बीच रहने वाला मानव क्या सुखी है? कञ्चन कामिनी का वीभत्स नग्न दृश्य प्रदर्शित करने वाला क्या सच्चा आनन्द लेने में समर्थ हुआ है? एक क्षण भी उसे संतोष मिल सका क्या? सभी प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक ही प्राप्त होगा। क्यों? इसका हेतु क्या? सुख सामग्री की वृद्धि और दु:खों का उत्पाद। भला यह विरोधी क्रिया क्यों? उत्तर पूर्व में ही लिखा जा चुका है, भोग भौतिक जीवन को भले ही क्षणिक बनावटी सुख प्रदान कर दें, किन्तु अन्तर्जगत को वे एकक्षण भी शांति प्रदान नही कर सकते। ये सभी साधन प्रमाद को प्रोत्साहन देकर मानव के अन्दर छिपे वासना पिशाच को उभारने वाले हैं। प्रमाद के कथन में आचार्यों ने उसके ३७५०० भेद बतलाये हैं। वर्तमान युग में ऐसा लगता है कि ये सभी भेद एक साथ प्रगट होकर हमारी तितली बनी माताओंके सुन्दर मधुमक्खियों के छत्ते समान जूड़ों में, ओठो की लाली में, झिल-मिल झिनी ड्रेसों में और पुरुषवर्गके सीधे खड़े कॉलरों, मांगों और लम्बे लम्बे बढे हुए बालों में उलझकर आ बसे हैं। इनकी उलझन में ही वे सुखाभास में पड़कर सुख के स्थान पर दु:खका अनुभव कर रहे हैं।

आज ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भाव प्राय: उड़ सा गया है। गृहवासियों की तो क्या बात, आश्रमवासियों में भी इनका पूर्ण सद्भाव पाना दुर्लभ प्राय: हो गया है।

परिग्रह संचय की धक्का धुक्की में अन्याय, अत्याचार और दुराचार का खुला प्रदर्शन हो रहा है। मानव दानव बना जा रहा है। मोह के प्रसार और प्रचार में वे अपने कर्त्तव्य को भूल चुके हैं। आचार्य पूज्यपाद स्वामि ने लिखा है—

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिनयेत् ।।२६।।इष्टो. दे. ।

पञ्चेन्द्रिय विषयों में अंधा प्राणी भला निर्मम भाव का स्वप्न भी देख सकता है क्या ? कभी नहीं। फिर बन्ध का अभाव होना तो खरगोश के सींग की भांति असंभव ही है। बद्धदशा में सुख की कल्पना गाय के सींग से दूध दुहने के समान है। अतः संसार बन्धन से छुटकारा पाने के लिये ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रहवाद ही समर्थ है। ये भुक्ति मुक्ति उभयपद प्रदान करनेवाले हैं। राग के मूल कारण स्त्री एवं अन्य परिग्रह है। रागयुक्त गृहस्थ ही नहीं साधु भी है तो भी वह प्रशंसनीय नहीं कहा है।

आत्मानुशासन में लिखा है कि—

स्नेहानुबद्धहृदयो ज्ञान चारित्रान्वितोऽपि न श्लाघ्यः ।
दीप इवापादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य ।।२३१।।

अर्थात् संयम धारण कर चारित्र पालन करता हुआ भी यति यदि स्नेह-राग भाव से सहित है, मूर्च्छा-भाव है तो वह दीपक के समान कालिमा ही उत्पन्न करने वाला होगा, प्रशंसनीय नहीं हो सकता। कर्म मलोत्पादक होने से वह मुक्ति का भाजन किसप्रकार हो सकता है ? नहीं हो सकता।

जहां राग है वहां स्व-स्वरूप से च्युति है अब्रह्म है और कर्मास्रव का निमित्त है। श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने समयसार में लिखा है—

रत्तो बंधदि कम्मं मुञ्चदि जीवो विराग संपण्णो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ।।१५०।।

पुण्य-पापरूप कर्म के आने और बंधने का मूल स्रोत राग है और उसका अवरोधक एवं नाशक विराग है। राग अब्रह्म और परिग्रह का प्रतीक है, तो विराग ब्रह्मव्रत और अपरिग्रह का द्योतक। बंधन क्लेश-दुःख का कारण है, तो मुक्ति सुख और शांति का सफल उपाय।

आत्म विकास के लिए ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की उतनी ही आवश्यकता है जितनी प्राण संरक्षण को अन्न-जलकी। नैतिक स्तर को उन्नत बनाने का एक मात्र यही उपाय है। आध्यात्मिक जीवन की समुन्नति इन्हीं पर आधारित है। आत्माराम के ये ही क्रीड़ास्थल हैं, जहां विहार कर वह पूर्ण स्वातंत्र्य का अनुभव कर सकता है। सच तो यह है कि ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह आत्मस्वरूप ही है। जिसप्रकार रत्नत्रय को छोड़कर आत्मा नहीं और आत्मा के सिवाय रत्नत्रय नहीं। उसी प्रकार ये भी आत्मा ही है। इनका जीवन में आना ही आत्मा का पाना है। आत्मोपलब्धि प्रत्येक भव्य को अभिप्रेत है, वह एकमात्र ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह से ही उपलब्ध हो सकती है।

जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तत्रय

☼

अहिंसा अपरिग्रह और अनेकान्त

☼

❖ धर्म दिवाकर १०५ क्षुल्लक
सिद्धसागरजी महाराज

आज संसार में चारों ओर जो अशान्ति, अभाव और वैर-विरोध के बादल छा रहे हैं, उन सबके कारणों पर यदि हम गम्भीरता से विचार करें, तो स्पष्ट मालूम पड़ेगा कि लोगों ने धर्मभावना, मानवता और नैतिकता आदि मानवोचित गुणों को छोड़-छाड़ कर अधर्मता, दानवता और अनैतिकता जैसे दुर्गुणों को अपना लिया है, जिससे उन्हें चारों ओर सन्तापित होना पड़ रहा है; वास्तव में ज्यों-ज्यों मानव धर्म (स्वभाव) से विमुख होकर अधर्म को अपना रहे हैं; त्यों-त्यों उन्हे भीषण दु:खोंका सामना करना पड़ रहा है; वे मानवता के अभाव मे दानवता का रूप धारण कर रहे हैं; फलस्वरूप अधर्म (अनैतिकता) रूपी राक्षस ने हिंसा, संग्रहवृत्ति तथा वाद-विवाद के रूपमें अपना आधिपत्य जमा लिया है, जिससे धार्मिक विचार वाले प्राणियों के लिये मानो जीने का अधिकार ही नहीं रहा। ऐसी विकट परिस्थिति में यदि व्यक्ति अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त विचारधारा को अपनावे, तो आज भी विश्वमें पुन: शांतिका साम्राज्य स्थापित हो सकता है; तात्पर्य यह है कि, यदि ससार में सहयोग, परस्पर सहायता, सहानुभूति, ऐक्य, उदारता, प्रेम, प्रामाणिकता, संतोष, अहिंसा स्पष्टवादिता, निर्भीकता, स्वस्त्रीसंतोष तथा संयम सदृश सद्गुणों की अभिवृद्धि हो जावे, तो विश्व में सर्वत्र सुख-शांति का राम-राज्य कायम हो सकता है और प्रत्येक मानव में सर्वांग अभ्युदय होकर शांति की धारा प्रवाहित हो सकती है।

मुझे तो दृढ़ विश्वास है कि उपरोक्त सद्-भावना प्रसारित होने से संसार में अमन-चैन होकर एक नया मंगलमय विश्व बन सकता है अर्थात् विश्व-

शांति होकर युद्ध तथा पारस्परिक वैमनस्यता मिट सकती है। यथार्थ में जैनधर्मके ये प्रमुख सिद्धात आजके संघर्षाकुल युगके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं, इन सिद्धान्तों की शरण में आकर मानव साम्प्रदायिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी प्रकार की समस्याओं से अहिंसात्मक रीति से निपट सकता है अर्थात् संघर्ष व द्वन्दों को समाप्त कर सकता है; जिनकी उपयोगिता का आज संसार में अत्यन्त समादर है।

अहिंसा :

आचार्यों ने अहिंसाधर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि—राग-द्वेष, क्रोध, मान-माया, लोभ, भीरुता, शोक और घृणा आदि विकृत भावों का त्याग करना अहिंसा है। वैसे संसार के सभी धर्मों ने अहिंसा की महत्ता स्वीकार की है, अहिंसा एक ऐसी सुन्दर व्यवस्था है कि वह प्राणी मात्र को बिना भेद-भाव के अपना पूर्ण अध्यात्मिक विकास करने का समान अवसर प्रदान करती है, "सर्व्वसत्त्वानां हिताय, सर्व्वसत्त्वानां सुखाय" अर्थात् प्राणी मात्र का हित और सुख सम्पादन जिसका मुख्य लक्ष्य रहा है, ऐसी अहिंसा ही मानव को मानवता का पाठ पढ़ाने में समर्थ है तथा मानव को सत्यनिष्ठ, अहिंसक, निश्छल, निर्लोभी, क्षमाशील और आत्मोन्मुख बनने का संकेत करतो है, उसमें कृत्रिमता, अनीति और अन्याय आदि के लिये स्थान ही नहीं होता है, अहिंसा तो मानवको विश्वप्रेम व विश्वबन्धुत्व का अवसर प्राप्त कराती है; जिसमे भय, कायरता, निराशा, घृणा, द्वेष, मायाचारी, शोषण, निर्दयता, झूठ और बेईमानी आदि कुप्रवृत्तियों का अभाव रहता है। याद रहे, उपरोक्त सद्‌गुणों का प्रसव अहिंसा माता की कुक्षि (गोद) में होता है और दुर्गुण हिंसा के।

वास्तव में प्रेमनगर में जानेवाली सीधी सड़क अहिंसा ही है, जिसपर चलकर मानव वैर-विरोधरूपी उबड-खाबड गड्ढों को पार कर सकता है; सच तो यह है कि मानव-जीवन का महल अहिंसा की ईंटों से बनता है, जिसमें प्रेमरूपी गारा (चूना) लगता है अर्थात् अहिंसा ही एक ऐसा अनोखा और अद्‌भुत हथियार है, जो हिंसक को मारे बिना ही उसकी हिंसा को निकाल फेंकता है। व्यक्ति के हृदय में जो विश्व-बन्धुत्व का सागर उमड़ता है तथा उसमें जो प्रेमकी लहरे उठती है, उन्हीं लहरो को आचार्य 'अहिंसा' नामसे पुकारते हैं, वस्तुत: अहिंसा तन-मन की नही; किन्तु अन्तर आत्मा की एक तडप है। मानव का मन प्रेम का फूल है, तो अहिंसा उसकी गंध है, वह गंध प्राणीमात्र को अपनी सुवास से मुग्ध करती है तथा अहिंसा आनन्ददायिनी जड़ी है, जिससे समस्त प्रकार के पापरूपी रोगों का निवारण होता है, विद्वानों का कथन है कि धर्म की जड़ दया है, यदि उस जड़मे हिंसा का कीड़ा लगना शुरू हो जाता है, तो वह धर्मरूपी वृक्ष सूखने लग जाता है, फिर कुछ दिनों बाद वह वृक्ष फल और फूल देना बन्द कर देता है और मात्र ईंधन रह जाता है। 'धर्म की जड़ हरी होती है' ऐसी कहावत अनुभवी जीवों की देन है; इसके अतिरिक्त इसी अहिंसारूपी वृक्ष का गोंद, जो कि समाज को आपस मे चिपकाए रखता है तथा एकताके सूत्रमे बांधकर रखता है, अन्यथा हिंसारूपी आगसे समाज का विनाश भी हो सकता है।

संसार मे जितने भी धर्म है, वे सब एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि "अहिंसा परमोधर्म:" अर्थात् अहिंसा सर्वोपरि उत्तमधर्म है। हाँ ! अन्य बातों में मत-भेद हो भी सकता है, परन्तु अहिंसा के विषय में दो मत कदापि नहीं हो सकते हैं। जगत् के समस्त धर्मों का यदि निष्पक्षता से सार निकाला जाय, तो अहिंसाधर्म सर्व मान्य सिद्धान्त होगा, इस तत्त्वज्ञान पर जैनाचार्यों ने जितना वैज्ञानिक और तर्कसंगत प्रकाश डाला है, उतना अन्यत्र कही देखने में नही आता। सच तो यह है कि जैनधर्म ने इतिहासातीत कालसे लेकर आजतक इसी अहिंसा रूपी तत्त्वज्ञान का संरक्षण किया था, जितना किसी भी मत ने नही, इसीलिये तो आज विश्व के सभी धर्म इस अहिंसामय धर्म की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं। यह अहिंसाधर्म प्राणीमात्रके साथ प्रेम व मित्रता का द्वार खोलता है, किन्तु हिंसा मानवता को खंडित करके मानव-मानवके बीच दीवार खडी करती है; अत: विभक्त मानवता को जोड़ने के लिये अहिंसाधर्म की आराधना करनी चाहिये तथा मानवों को दीवार न बनकर द्वार बनना चाहिये।

जगत् में कई लोग अहिंसाधर्म के अन्त:स्थल में प्रवेश किए बिना ही कह देते हैं, कि अहिंसा निर्बलों (कायरों) का अस्त्र है, यह उन लोगों का मात्र भ्रम है, वास्तव में अहिंसा कायरों का नहीं, वरन् शक्तिशाली

शूरवीरों का शस्त्र है, इसका पालन करने वाला व्यक्ति सिंह की भाँति निर्भीक होता है। अर्थात् अहिंसा मानव के निडरता की परिचायक होती है, दुर्बलता की नहीं; देखो ! अहिंसाशक्ति को अपनाने से मानव शत्रु को भी मित्र के रूपमें जान सकता है। उदाहरण स्वरूप—महात्मा गांधी ने अहिंसा की अमोघ शक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव देश-वासियों को कराया था, जिससे यह जाना जाता है कि मानव अहिंसारूपी अस्त्र से दानवता को भी पराजित करके मानवता अपना सकता है। इसके अलावा इतिहासकी परम्परा में भी मानव को अनादिकालसे अहिंसा का आराधक प्रमाणित किया है; सच तो यह है कि अहिंसा माता का दुग्ध पान करके ही मानव आत्म-विजय तथा लोक विजय का ध्वज फहरा सकता है अर्थात् अहिंसा ही नर को नारायण बनाने में समर्थ है, या यूं कहो कि अहिंसा और मानवता का सम्बन्ध चोली-दामन जैसा है।

अहिंसा का क्षेत्र व्यापक होता है, जो कि प्राणीमात्र की रक्षा में कारण होता है तथा अहिंसाधर्म स्व-कल्याण व जनकल्याण सहचर होता है, नीतिकारों ने बताया है कि जो व्यक्ति जनकल्याण नहीं कर सकता, वह भला स्व-कल्याण कैसे करेगा ? वर्तमान में जनकल्याण की विश्वव्यापी स्थापना एवं अध्यात्मिक चेतना की संसार में सर्वत्र गहरी मांग है तथा भौतिक क्षेत्र में भी इसका समादर हो रहा है। आज भारतीय विचारधाराने भी साम्राज्यवाद, पूंजीवाद, साम्यवाद और संकुचितवाद आदि विशेषों का परित्याग करके अहिंसावाद को प्रथम स्थान दिया है; जिसका उद्देश्य विश्वमैत्री और विश्वबंधुत्व है, सिर्फ धार्मिक संदर्भ में ही नहीं, परन्तु राजनैतिक परिवेश मे भी मानवीय उदात्तता व अहिंसा जन कल्याण में ही अन्तर्निहित है। संसार में कई ऐसे भी विचारक हैं जिनकी मान्यता है कि हिंसा तथा युद्ध से विश्वशांति की स्थापना हो सकती है, किन्तु यह उनका मात्र भ्रम और मनोरोग है; यथार्थ में हिंसा और युद्ध के परिणामों से विश्व के समस्त राष्ट्र एवं मानव भलीप्रकार परिचित हैं, क्या ! प्रथम और द्वितीय युद्ध के पीछे और अन्तराल में जगत के प्राणियों को शान्ति मिल सकी ? अर्थात् नहीं। यह सर्वविदित बात है कि युद्ध से अनेकानेक अबोध एव निरपराध आत्माओं को पीड़ा होती है तथा अनेक विधवाओं तथा नन्हें-नन्हें बेवस बालकों की बद्दुआएं व करुणाभरी पुकार से देशवासियों को हानि ही होती है। पृथ्वी पर अकाल, बाढ, भूकम्प और दंगों जैसी परिस्थितियों का मुकाबला करना पड़ता है; यह है युद्ध और हिंसा के साक्षात् परिणाम। मानना होगा कि प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका और विनाशकारी लीला ने संसार को किस प्रकार झंझोड़ फेंका था; जो कि सर्व विदित है; ऐसी परिस्थिति में युग नेता महात्मा गांधी ने समस्त समस्याओं का समाधान इस अहिंसा, जो कि जैनधर्म का प्राण है, मे ढूंढ़ा था; जिसका सुपरिणाम देश-वासी युग-युग तक विस्मृत नहीं कर सकते।

आज संसार के बुद्धिजीवी लोग भी स्थायी शान्ति की खोज में विश्वास करते हैं, वे सब भली प्रकार जान गये हैं, कि हिंसा और युद्ध से शक्ति प्राप्ति का परीक्षण असफल हो चुका है; इसके अतिरिक्त वे लोग अनुभव करने लगे हैं कि पाप प्रवृत्तियां तथा अनैतिकता को रोकने के लिए मात्र बड़े-बड़े शस्त्र तथा सरकारी कानूनों से जगत् पर काबू नहीं पाया जा सकता है, परन्तु इन्हें रोकने हेतु अहिंसा का बिगुल बजाने की अत्यन्त आवश्यकता है, अर्थात् अहिंसा की उज्ज्वल ज्योति को जलाये बिना विश्वमें बढ़ते हुए अपराध एवं हिंसा के अन्धकार को दूर नहीं किया जा सकता है। सचतो यह है कि अहिंसा आत्मा की अद्वितीय और अक्षय निधि है, इसके सद्भाव में मानव के तीव्ररोष का वातावरण भी स्नेह पूर्ण अवस्था में बदल जाता है। संसार के बड़े-बड़े वैज्ञानिक जन भी आज अहिंसाधर्म की विशेषताओं को जनहित व मानवता पूर्ण लोक कल्याणकारी सूचित कर रहे हैं, उनका कहना है कि पूरे विश्व में स्थायी शान्ति का साम्राज्य प्रसारित कराने में अहिंसा का सिद्धान्त ही समर्थ है। किं बहुना महापुरुषों ने अहिंसा के विषय में अपना निर्णय देते हुए कहा है कि-अहिंसा, माता की गोद है और हिंसा आसुरी सम्पत्ति है, अहिंसा जीवन है और हिंसा मृत्यु का निगम है, अहिंसा अमृत है और हिंसा विष है, अत: हिंसा को मिटाकर समाज में नैतिकता और मानवता को पुनः जीवितरूप में साक्षात्कार करने के लिए अहिंसा माता की शरण लेनी चाहिये।

अपरिग्रह :

आज के मानव अपने मानवोचित गुणों को छोड़कर भौतिकवाद की चकाचौंध में दानवता के समीप पहुँच गये हैं और अमर्यादित लालसाओं के कारण अपने मनोदेवता को प्रसन्न करने हेतु संग्रहवृत्ति में लग रहे हैं, जिसके लिए हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और अतितृष्णा करने को बाध्य हो रहे हैं,उनके हृदय में एक प्रकार से आन्दोलन व संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिससे वे चोर बाजारी, मिलावट, घूसखोरी, जीवघात जैसे जघन्य कामों को करने में भी नहीं चूकते, इसके अतिरिक्त उनके मनकी इच्छाएें इतनी बढ गई हैं कि वे वर्तमान से भविष्य की ओर बढ़ते-बढते शतक पीढियों तक के सामान संग्रह करने को आवश्यक समझ बैठे हैं,साराश यह है कि संग्रहवृत्ति वाले लोगों के मनका ओर-छोर नहीं रहता, उनका वस्तुओं पर ममत्व व मेरापन इतना बढ जाता है, कि वे दूसरों की सम्पत्ति पर भी अपना अधिकार जमाने मे नही चूकते । इसी तृष्णा के वश मानव अन्यजनो का घात कर देता है और अपने बचाव के लिए औरों की बड़ी से बड़ी हानि भी कर देता है अर्थात् समस्त पाप एवं अशान्ति का कारण परिग्रह (मूर्च्छा) ही है ।

जैनाचार्यो ने ऐसे तृष्णामें आकण्ठ मग्न प्राणियों को सम्बोधन करते हुए कहा है कि आप लोगों को अपने भोग और उपभोग की सामग्रियों की सीमा बाधकर, उन सीमित आवश्यकताओं के अतिरिक्त जो भी बचे, उसे जन-कल्याण तथा धर्मायतनों में लगा देनी चाहिये, जिससे आपको अशान्ति की ज्वाला में जलना नही पड़े, वैसे जैनधर्म में गृहस्थो को पुरुषार्थ द्वारा उपार्जन और उत्पादन पर कोई रोक नही लगाई है, उसका तो मात्र इतना ही कहना है कि व्यक्तियों को अपने व्यापारादि कामों मे सच्चाई और ईमानदारी से काम करके धन उपार्जन करना चाहिये तथा अन्याय-अत्याचार आदि दुष्कृत्यो से बचना चाहिये, जिससे देश और समाज मे भी शान्ति बनी रहे । जिन प्राणियो के मनमें संतोष भावना जागृत हो जाती है, उनके पूर्वोपार्जित पुण्य से प्राप्त कम से कम साधन सम्पत्ति में भी तृप्ति रहती है, वे तृष्णातुर होकर दुःखी नहीं देखे जाते है, क्योंकि उन्हे विश्वास रहता है कि इन नाशवान् सामग्रियों से हमारी आत्मा का हित तो होने वाला है नही, किन्तु कल्याण पथ तो इनसे विरक्तता में है ।

जैनाचार्यों ने अभाव का अभाव करने के लिए प्राणियों को संकेत किया है, उन्होंने बताया है कि आत्मा में अभाव है ही नही, अभाव तो मानवों की मान्यताओं में है, यदि मानव अभाव और अतिअभाव को पराजित करता हुआ अपने स्वभाव में गति करना सीखजाय, तो वह अल्प समय मे ही परम सुख और शान्ति का स्वामी हो सकता है । वास्तवमे जिन व्यक्तियो के हृदयमे आत्मसाधना की भावना उत्पन्न होती है, उनकी चित्तरूपी लता पर संतोषरूपी पल्लव तथा शान्तिरूपी पुष्प विकसित होते है, फिर शनैः शनैः मोक्षरूपी फल भी उस वृक्ष पर पक जाता है, याद रहे यदि उस वृक्ष पर वैराग्यरूपी बादलों की वर्षा नही होती है, तो वह पौधा हरा-भरा न रहकर सूख जाता है, अतः मानवों को निरन्तर आत्मसाधना की अलख जगाते रहना ही उचित है, जिससे संतोष आदि गुणों की अभिवृद्धि होकर तृष्णारूपी दुर्गुणों का नाश हो सके, सच तो यह है कि संतोषी प्राणी के मनमें निरन्तर आनन्द की गंगा बहती है, जबकि असतोषी प्राणी दुःख के सागर मे डूबा हुआ संतापित रहता है, इसके अतिरिक्त संग्रह वृत्ति वाले लोगो के सिर पर इच्छारूपी तलवार लटकती रहती है, जिससे उन्हे शान्ति का दर्शन भी नहीं होता । संग्रहवृत्ति वाले लोगों का मन कभी नहीं भरता, क्योंकि उन्हे जितना मिलता है, उतना उनकी तृष्णा खाजाती है, जिससे वे सदा रिक्तता का अनुभव करते हैं, अर्थात् तृष्णा एक फूटे घड़े के समान होती है, जिसमें सागर के सागर उड़ेलने पर भी वह रिक्त ही रहता है, ठीक यही दशा असंतोषी व्यक्तियों की होती है ।

देखो ! जगत् के मोही और अज्ञानी प्राणी संतोष के अभाव में पर वस्तुओं में ममत्व भाव रखते हैं और अपनी तृष्णा की खाई को भरने में लगे रहते हैं तथा पदार्थों को बटोरने में व सग्रह करने में अपने जीवन का अधिकांश समय व्यतीत कर देते हैं, परन्तु सफलता उनसे कोसों दूर रहती है, उनके पल्ले तो मात्र आकुलता व असंतोष ही पड़ता है, दूसरी बात यह है कि—जो लोग आवश्यकता से अधिक संचय करते हैं, वे स्वयं तो तृष्णा

की प्राग में जलते ही हैं साथ-साथ में अन्यजनों को भी अभाव जनित संकटों का सामना करने के लिए बाध्य कर देते हैं । यथार्थ में मानव जितने अंशों में अपने को भावात्मक और बाह्यरूप में पाये जाने वाले परिग्रहों से बचाता है तथा अलग रखता है, उतने अंशों में वह स्वयं को समस्याओं से मुक्त करता हुआ औरों के भी सुख-साधनमें सहायक होता है, किन्तु इसके विपरीत जो लोग सम्पत्तिरूपी ईंधन से अपनी वासनारूपी अग्नि को शमन करना चाहते हैं, वे अपनी भूलसे स्वयं का घात करते हैं, क्योंकि ऐसा होना असम्भव होता है, परन्तु वह आग उत्तरोत्तर द्विगुणित होकर भभकती हुई और भी ज्यादा प्रज्वलित होती है । ऐसी हालतमें यदि मानव अपनी अज्ञान जनित समस्याओं से निपटना चाहें, तो उन्हे संतोषरूपी परमधर्म की शरण ग्रहण करना चाहिये । मेरा तो यह विश्वास है कि मानव चाहे जितनी साधना करता रहे और ज्ञानके गीत गाता रहे, परन्तु उसके हृदय में संतोष का दीपक तो उस समय जलेगा, जिस समय वह अपने हृदयरूपी दीपक में विवेक और वैराग्य का तेल, ज्ञानरूपी रुई की बाती और आत्मचिन्तनरूपी माचिस की रगड़ से उसे प्रज्वलित करेगा, अन्यथा जिस साधक के उपरोक्त सद्गुणों का अभाव है, तो वह मात्र मिट्टी का दीपक ही रहेगा, जो न तो मिट्टी का काम देता है और न प्रकाश का ।

अनेकान्त :

संसारमें अनेकान्त (स्याद्वाद) वह मंत्र है, जो सत्यके विभिन्न खण्डों को जोड़कर एक अखण्ड सत्य का निर्माण करता है अर्थात् प्राणियों के विचारों के भेद एवं आग्रह की खाइयों को पाटकर अभेद और अनाग्रह के सेतु का निर्माण करता है, इसके विपरीत एकान्त पक्ष के दुराग्रह से मानव समन्वय की शृंखला के खण्ड-खण्ड कर डालते हैं, अर्थात् जो लोग वाद-विवाद एवं पक्ष-व्यामोहता को अपनाकर एकान्त बात को पकड़कर बैठ जाते हैं, उनके सामने वस्तुस्वरूप धुंधला पड जाता है । जब तक वे अपने पूर्वाग्रह की सांकल को नहीं खोलते हैं, तब तक उनके चिन्तन का द्वार उन्मुक्त नहीं होता है । इसीसे आचार्यों ने एकान्त दृष्टि को अपना कर, दूसरों की नहीं सुनने वालों को मिथ्यादृष्टि की संज्ञा दी है, क्योकि एकान्ती मानव सत्य को स्वीकार करने के लिए तैयार ही नहीं होते हैं, अर्थात् वे दुराग्रह से अपने मनरूपी कमरे के चारों ओर दीवार खड़ी करते हुए अपनी बुद्धि की खिड़कियां बंद करके अपने अनुभवके द्वार पर मानो ताला लगा लेते हैं, जिससे आगमोक्त सत्यवाणी की प्राणवायु और चिन्तन का शाश्वत् प्रकाश उनके मनरूपी कमरे में प्रवेश ही नहीं करता । उनके मनमें तो मात्र मान-कषाय और दुराग्रह का अन्धेरा भरा रहता है तथा विवादों की दुर्गन्ध से उनका मन भीतर ही भीतर घुटता रहता है । ऐसे लोगों को अनेकांत धर्म की छाया में अपने-पराये की दीवार हटाकर अपनी दृष्टि को समीचीन बनानी चाहिये, जिससे धर्म सहिष्णुता की भावना बनकर "आत्मवत् सर्व भूतेषु" के विचारों का प्रसव हो सके ।

सच तो यह है कि एकान्त दृष्टि से तत्त्वकी वास्तविकता का अवलोकन नहीं हो सकता है, उससे तो मानवों के परस्पर मनमुटाव उत्पन्न होकर विध्वंसकारी व दुरभिमान जैसी स्थिति पैदा हो जाती है । लोक में आज तक परस्पर वैर-विरोध, कलह-झगड़ा तथा अशान्ति हुई है, उन कारणों पर यदि स्वस्थ मन से विचार किया जाय, तो मानना होगा, कि लोगों ने धर्मके नाम पर अन्याय-अत्याचार और रक्तपात करके प्राणियों को धर्म के नाम से ग्लानि पैदा करदी, इतिहास के पृष्ठ इस बात के साक्षी हैं, वर्तमान में भी आये दिन यही दुःखद संवाद सुनने को मिलते हैं, जिन सबका मूल कारण एकान्त धार्मिक विद्वेष ही जचता है, लोगों ने अपने-अपने मन्तव्यों को सर्वथा निर्दोष बताकर अन्यजनों को एकदम झूठा बताकर अपनी संकुचितता का प्रदर्शन करते हुए विद्वेष व युद्ध आदि का वातावरण उत्पन्न कर दिया, सारांश यह है कि देश और समाज मे धार्मिक कलह और झगड़ों के लिए यदि एकान्तवाद को कारण मान लिया जाय, तो मेरे ख्याल से कोई अतिशयोक्ति नही होगी ।

वास्तवमें अनेकान्तधर्म वस्तुस्वरूप का ज्ञान प्रदान करता हुआ सहिष्णुता एवं समन्वय का बोध प्राप्त करता है और पक्षपात से ग्रसित मानवों को संकेत करता है कि आप जो कह रहे हो सो तो ठीक है, परन्तु वस्तु का स्वरूप मात्र उतना ही तो नहीं है अर्थात् उसके अतिरिक्त वस्तुमें अन्य विशेषताऐं व धर्म भी पाये जाते हैं, जिससे मानने में आप आना कानी क्यों करते हो ? आप अपने अभिप्राय के साथ "ही" के स्थान पर यदि "भी"

का प्रयोग करना स्वीकार करो, तो अनेकान्तात्मक वस्तु का विवेचन समीचीन रीति से हो सकता है, फलतः अनेकान्तधर्म पर विश्वास होनेसे वाद-विवाद व कलह-झगडों के लिए स्थान ही नहीं रहता; परन्तु उदारता और समन्वय का मार्ग खुलकर समस्त समस्याओं का समाधान सरलता से हो जाता है। नीतिकारों ने कहा है कि अनेकान्त के माध्यम से मानव अपने जीवन की विविध व्यग्रताओं में भी सही मार्ग का अवलोकन कर सकता है अर्थात् यह अनेकान्तधर्म उन समस्याओं का समाधान है, जो समस्याऐं पक्ष-व्यामोह और हठवादिता से समुद्भूत होती हैं।

वर्तमानमें लोग थोथी प्रतिष्ठा और वचन व्यामोह में पड़कर अपनी गलत अभिव्यक्ति की पुष्टि में तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर विपरीत दिशामें गमन करते देखे जाते है और आरोपप्रत्यारोपों का अम्बार लगा देते हैं; यह सब हठवादिता, वैचारिक असहिष्णुता तथा एकान्त पक्षव्यामोहता का ही भीषण परिणाम है; जिससे वे यथार्थता को न समझकर गड़-बड़ी करते है, आगे चलकर वही गड-बड़ी विवाद और प्रतिष्ठा का विषय बनकर अप्रभावना व विनाश का कारण बन जाती है; जैसे—धागे में पिरोई हुई रत्नमाला को यदि दो व्यक्ति अपनी २ ओर खींचते हैं, तो उस खीचातानी से वह धागा टूटकर माला के दाने बिखर कर नष्ट हो जाते है, ठीक उसीप्रकार आज लोग अपनी-अपनी बात तथा एकान्तपक्ष की खीचातानी करते है, जिससे तत्त्वरूपी रत्नमाला नष्ट होकर बिखरती नजर आ रही है। जिस समय मानव एकान्तपक्ष को प्राथमिकता देते हैं, उस समय वस्तु का यथार्थस्वरूप धूमिल हो जाता है, यदि वे अपनी पक्ष व्यामोहता का चश्मा उतार कर देखें, तो उन्हें वस्तुस्वरूप का रंग यथावत् दिखाई दे सकता है; परन्तु एकान्ती मानव समीचीन व दूरदृष्टि से काम नही लेता है, उसे तो अपनी बात रखने की लगी रहती है। सचमुच में एकान्ती पुरुष वस्तु का एक धर्म व एक अश को जान सकेगा ! तो भला सोचो ! अनन्तधर्मात्मक वस्तु का यथार्थ स्वरूप उसकी पकड़मे कैसे आ सकेगा ? अर्थात् कदापि नही। जैनाचार्यों ने वस्तुको अनन्तधर्मात्मक बताकर सत्यको अनेक पहलुओं से समझने का संकेत किया है; किन्तु खेद है, आज कई विद्वान भी सत्य के एक-एक पहलु को पकड़ अन्य पहलुओ को निरादर एवं तिरस्कार करते हुए अपने को संघर्ष की भट्टीमें झोंकते हुए भी नजर आ रहे है, यह सब पंचमकाल का अचिन्त्य प्रभाव है। जैनधर्म मूलतः एक विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म है, इसका तत्त्वज्ञान अनेकान्त पर आधारित है और आचार अहिसा पर प्रतिष्ठापित है, यह धर्म ऐहिक और पारलौकिक मान्यताओं पर अन्ध श्रद्धा रखकर चलने वाला सम्प्रदाय नहीं है; यह तो प्राणी मात्रके हित में तथा वस्तुस्वभाव व मनोविज्ञानके अति निकट है; इस धर्म के सिद्धान्त मानवों को सार्वभौमिक एवं शाति की ओर ले जानेके लिये प्रेरणा करते हैं; तभी तो तत्त्वज्ञों ने इस धर्म को "सर्वोदय तीर्थ" कहा है, जिसमें सबका उदय हो वह सर्वोदय कहलाता है।

मेरा तो यह विश्वास है, कि संसार के इतिहास मे इस धर्मका मुकाबला करनेवाला सिद्धांत भी अन्यत्र नहीं मिल सकता, साराश यह है कि अनेकान्त धर्म की श्रद्धा यदि मानवो के उदित हो जाय, तो धर्मांधता, अनुदारता, अशांति और विवादादि आज ही ससार से समाप्त होकर, शान्तिका साम्राज्य हो सकता है।

अहिंसा-दर्शन

एक अनुचिन्तन

❖ डॉ० कुसुम पटोरिया
आजाद चौक, सदर, नागपुर

अहिंसा वह विराट् व्यापक व उदात्त भावना है, जिसमें विश्व-कल्याण की सामर्थ्य निहित है। वह समस्त प्राणियों के प्रति अहिंसक के हृदय से सतत प्रवाहित होनेवाला स्नेह-निर्झर है। प्राणिमात्र के प्रति समदृष्टि है। एकता की प्रगाढ अनुभूति है।

जिजीविषा और सुखलिप्सा प्राणिमात्र की सहजवृत्ति है। अहिंसक, प्राणीमात्र की जिजीविषा और सुखैषणा की प्रवृत्ति को उतना ही महत्त्व प्रदान करता है, जितना स्वयं की जिजीविषा और सुखैषणा को। अहिंसा की नीव प्राणिमात्र के प्रति वही नैसर्गिक प्रीति है, जो प्राणी की अपनी आत्मा के प्रति होती है। अहिंसक अपनी आत्मा के प्रति जितना प्रेम करता है, उतना ही प्रेम उसे अन्य आत्माओं से होता है। उसमें समानता की अनुभूति इतनी तीव्र होती है कि परपीड़न आत्मपीडन तुल्य कठिन हो जाता है। परत्व और ममत्व विगलित हो जाता है। विभाजक रेखायें टूट जाती हैं। सारी सृष्टि आत्मवत् हो जाती है। सर्वत्र समदृष्टि व स्नेह की सरसता व्याप्त हो जाती है। यही अहिंसा की पूर्णावस्था है। यही वीतरागता है। प्राणिमात्र के विकास की चरमस्थिति भी यही है।

अहिंसा मानवीय गुणों का समुच्चय है। धर्मों का सार है। जीवन का सर्वस्व है। प्रेमप्रसार की पराकाष्ठा है। विकास की चरम परिणति है। आत्मविस्तार का चरम-बिन्दु है। इस बिन्दु पर आकर मानव महामानव हो जाता है। आत्मा महात्मा हो जाती है। जैनदर्शन में इसीलिये अहिंसा को अतिशय महत्त्व प्रदान किया जाता है। जैन आचार-विचार सूत्ररूप से इसी अहिंसादर्शन व अहिंसा आचरण में समाहित है। सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य शेष व्रत इसी अहिंसा के परिकर में बँधे हुये हैं। आचार्य समन्तभद्र ने अहिंसा को ही परमब्रह्म कहा है। अहिंसा के तत्त्वज्ञान का क्रमिक, सुव्यवस्थित, वैज्ञानिक तथा सर्वाङ्गीण विवेचन एवं परिपालन जैनसंस्कृति की मौलिक विशेषता है।

परपीड़न हिंसा है । मन-वचन-काय से प्राणवध न करना, रागद्वेषादिरूप प्रवृत्ति न करना अहिंसा है । यह अहिंसा की निषेधात्मक व्याख्या है । प्राणों के दो भेद हैं—द्रव्यप्राण और भावप्राण । ५ इन्द्रिय, मन-वचन-काय बल, आयु और श्वासोच्छ्वास द्रव्यप्राण हैं । आत्मा की शाश्वत ज्ञान-दर्शनरूप चेतना भाव-प्राण । द्रव्यप्राणों का नाश होने पर भावप्राणों का विनाश होता ही है, किन्तु भावप्राणों के विनाश के साथ द्रव्यप्राणों का विनाश अनिवार्य नहीं है ।

हिंसा का मूल कारण प्रमाद है । प्रमाद की उत्पत्ति के कारण है क्रोध, मान, माया और लोभ । इनसे अभिभूत होकर स्वपर के प्राणों का विघात हिंसा है । क्रोधादि के वशीभूत होकर अपने शरीर इन्द्रियादि का घात करना अथवा दूसरे के प्राणों का नाश करना हिंसा है । क्रोधादि के वशीभूत अपने परिणामों को कलुषित करना अथवा दूसरों के परिणामों को कलुषित करना हिंसा है ।

प्राणियों के शरीर और आत्मा का विच्छेदन मात्र हिंसा नहीं है । हिंसा का सम्बन्ध हिंसक की भावनाओं से है । अनुदात्त भावनाओं की स्थिति ही हिंसा है । हिंसा हिंस्य प्राणी के जीवन-मरण से सम्बद्ध न होकर हिंसक की भावनाओं पर निर्भर है ।

जड़-शरीर और चेतन-आत्मा का पृथक्करण हिंसा है । हिंसा की इस व्याख्या में शंका की जा सकती है कि शरीर और आत्मा सदैव भिन्न हैं । उनका विच्छेदन औपचारिक है । निश्चय से जीव मरता नहीं और देह जड़ है । जड़ को मार देने से हिंसा नहीं हो सकती ।

अहिंसा के तत्त्वज्ञान की इसी दुर्बोधता को हृदयंगम करके आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि "अहिंसा का तत्त्वज्ञान अतीव गहन है और इसको न समझने वाले अज्ञों के लिये सद्गुरु ही शरण है, जिनको अनेकांत विद्या द्वारा प्रबोध प्राप्त हो चुका है ।"

द्रव्यार्थिकनय से यह सत्य है कि आत्मा और पुद्गल अनादिकाल से पृथक्-पृथक् हैं । पर्यायार्थिकनय से यह भी उतना ही सत्य है कि कर्मों के कारण आत्मा अनादिकाल से पुद्गल से संयुक्त है । आत्मा की इस अनादि अशुद्ध अवस्था के कारण प्राणी जन्म-मरण के बन्धनों से बँधा हुआ है । आचार्य अमितगति का कथन है कि (द्रव्यार्थिक नय से कथंचित् भिन्न व पर्यायार्थिक नय से कथंचित् अभिन्न) भिन्नाभिन्न आत्मा के शरीर से पार्थक्य होने पर अत्यन्त घोर पीड़ा होती है, अतएव किसी जीव के शरीरघात होनेपर हिंसा अवश्य होती है ।

भिन्नाभिन्नस्य पुनः पीड़ा संजायतेतरां घोरां ।
देहवियोगे यस्मात्तस्मात् निवारिता हिंसा ।।

सम्पूर्ण सृष्टि दृश्यादृश्य असंख्य जीवराशि से समाकुल है । हमारी प्रत्येक शारीरिक प्रवृत्ति में हिंसा होती ही है । ऐसी स्थिति में यह प्रश्न सहज उद्भूत होता है कि अहिंसा का पालन सम्भव है क्या ?

अहिसा व्यक्ति की भावनाओं पर निर्भर है । यदि व्यक्ति सदय है, तो वह सदैव इस बातके लिये तत्पर रहेगा कि मेरी किसी भी प्रवृत्ति से प्राणीमात्र को पीड़ा न पहुंचे । प्राणीमात्र को पीड़ा न हो इस भावनासे प्रेरित होकर जब व्यक्ति यत्नपूर्वक (प्रयत्नपूर्वक, सावधानीपूर्वक) प्रवृत्ति करता है, तब वह अहिंसक है । हिंसा का कारण प्रमाद है । अप्रमाद अहिंसा का आधार है ।

प्रमाद की उत्पत्ति के कारण हैं कषाय-क्रोध, मान, माया और लोभ । क्रोधादि से अभिभूत होकर स्व-पर के प्राणों का विघात हिंसा है । अपने तथा दूसरों के परिणामो को कलुषित करना भी हिंसा है । कषायों का मूल है रागद्वेष । अज्ञान के वशीभूत होकर भी मनुष्य हिंसा मे प्रवृत्त होते हैं ।

चेतन सक्रिय है। इसकी सक्रियता जिससे प्रकट होती है, वे तीन द्वार हैं जिन्हें प्रवृत्ति कहते हैं। मन कुविचारों में प्रवृत्त होकर अपने सद्भावो को हिंसा करता है। दुर्वचन अपने और दूसरे के भावो की हिंसा करते हैं। शारीरिक क्रिया क्रोधादि से आविष्ट होकर स्व-पर द्रव्य हिंसा मे प्रवृत्त होती है। इन प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाना अहिंसा है। समिति और गुप्ति अहिंसा पालन के साधन हैं।

अहिंसा के लिये अहिंसक को, मेरे किसी कृत्य से किसी भी प्राणी को पीड़ा न हो, यह संकल्प रखना अनिवार्य है। अन्यथा वे एकेन्द्रिय प्राणी जो अव्यक्त चेतनावाले हैं, जिनसे किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं पहुंचती अहिंसक कहलायेंगे। अहिंसा का आधार सम्यक्त्व है, ज्ञान है। अज्ञानी परपीड़ा न करते हुए भी अहिंसक नही है। एकेन्द्रिय प्राणियों की भांति व्यक्त चेतना वाले भी परपीडा न करते हुए भी अहिंसक नहीं है, क्योंकि परप्राणियों को पीड़ा न पहुंचाने का संकल्प नही लिये हुये हैं।

सर्वजीव समभाव अहिंसा का विधेयात्मक स्वरूप है। मैत्री, करुणा, सेवा आदि उसकी विविध अभि-व्यक्तियां हैं। अहिंसा के इस विधेयात्मक रूप मे निषेधात्मक रूप स्वतः समाविष्ट है। जहां मैत्री भावना होगी, वहां व्यक्ति परपीड़न में उद्यत ही नही होगा। मैत्री, करुणा, सेवा आदि उदात्त भावनाओं से युक्त व्यक्ति हिंसा-त्यागी ही होगा। अहिंसा में आत्मा के समस्त सद्गुण अन्तर्भूत हो जाते है। सम्यक्त्व, क्षमा, करुणा, अभय, समत्व, मैत्रीभाव अहिंसा के सोपान है।

सम्यक्त्व गुणों की आधारभूमि है। आत्मा के प्रति श्रद्धान सम्यक्त्व है। आत्मश्रद्धानी व्यक्ति ही दया, क्षमा, प्रमोद, मैत्री, समता आदि गुणों का धारक हो सकता है। क्रोध का बाह्य कारण उपस्थित रहने पर भी चित्त में क्रोध की उत्पत्ति न होना क्षमा है। क्षमा सम्यक्त्व का अनुगमन करती है। क्रोध का वास्तविक कारण बाह्यदृष्टि है, अन्य वस्तुओं में रागद्वेष करना है। जहां आत्मदृष्टि जागृत हो जाती है, पर वस्तुओं मे रागद्वेष तिरोहित हो जाता है, वहां उन वस्तुओं, व्यक्तियो के सम्पर्क से अनुकूल-प्रतिकूल दुर्भाव नही जगते। यही स्थिति उत्तम क्षमा है। करुणा इसका अगला चरण है। भेदविज्ञान के कारण परवस्तुओं में रागद्वेष न होने से क्रोध-कषाय के आन्तरिक कारण का नष्ट हो जाना क्षमा है। अज्ञानी व्यक्ति का अपनी आत्मा की निर्मल वृत्तिको कलुषित करने की ओर प्रवृत्ति देखकर उनके प्रति करुणा दया है। उन्हे सन्मार्ग में प्रेरित करना करुणा का फल है। भीतिग्रस्तों को अभय का वरदान देना अहिंसा का कार्य है। प्राणीमात्र के प्रति समता की अनुभूति अहिंसा की आधारशिला है। प्राणियो के प्रति मैत्री भाव अहिंसा है। क्षमा, करुणा, अभय, समता, मैत्रीभाव अहिंसा की ही उत्तरोत्तर सीढ़ियां हैं।

अहिंसा केवल सैद्धान्तिक नहीं प्रयोगात्मक है। वह कोरा आदर्श नहीं, यथार्थ व्यवहार है। अहिंसा का आरम्भ होता है सम्यक्त्व से, पालन होता है सयम और अप्रमाद से, विकास होता है अभेदानुभूति से। सर्वजीव समभाव दृष्टि द्वारा अहिंसा का विराट्रूप व्यक्त होता है। अहिंसापथ पर अग्रसर होने के लिये गृहस्थधर्म व साधुधर्म-रूप द्विविध सोपान निर्मित किये हैं। गृहस्थधर्म प्रथम सोपान है, जिसमें संकल्पी हिंसा का पूर्ण त्याग विहित है। शेष विरोधी, आरम्भी और उद्यमी हिंसा की मर्यादायें हैं। मुनि के लिये चारों ही प्रकार की हिंसा त्याज्य है। अणुव्रत और महाव्रत की व्यवस्था व्यावहारिकता का ही सुपरिणाम है।

अहिंसा कायरता नही है, वीरता है, निर्भयता है। निर्भयता ही वीरता है। अहिंसक स्वयं निर्भय होता है। दूसरों को अहिंसा का अमृत वितरित करता है। शस्त्रोपजीवी क्षत्रिय भी निरर्थक हिंसा का त्याग कर देनेपर अहिंसक है।

आत्मघात महापातक है, हिंसा है। जीवन में असफल व्यक्ति आत्मघात करते हैं। प्राणी स्वभावतः जिजीविषु है। आत्मघात करनेवाले की जिजीविषा और अधिक तीव्र होती है, कारण वह अपने मनोनुकूल जीवन जीना चाहता है, वैसा जीवन न मिलने पर निराशा में आत्मघात करता है, यह उसकी तीव्रतम जिजीविषा है।

जिजीविषु व्यक्ति का जीवन नष्ट करना निश्चित ही हिंसा है। इसके अतिरिक्त आत्मघाती व्यक्ति अपने आत्मगुणों की भी हिंसा करता है।

समाधिमरण आत्मघात न होकर धार्मिक अनुष्ठान है। आत्मश्रद्धानी व्यक्ति शरीर को धर्म का साधन समझता है। धर्मसाधन के रूपमें ही उसका रक्षण करता है, किन्तु जब शरीर धर्मसाधन में असमर्थ हो जाता है अथवा बाधक बन जाता है उस स्थिति में शरीर का त्याग करना समाधिमरण है। यह आत्मघात नहीं है। इसमें आत्मिक गुणों का उत्कर्ष होता है।

अहिंसा को व्यावहारिकरूप देने में आज का मानव असफल हो रहा है, उस असफलता का कारण है अहिंसा के प्रति विश्वास की कमी। अहिंसा विश्वशांति की स्थापना के लिये सफल साधन हो सकता है या नहीं यह शंका उसे अहिंसा-मार्ग पर चलने नहीं दे रही है। वस्तुतः अहिंसा समस्याओं के समाधान का साधन नहीं साध्य है। अहिंसा प्राप्ति जीवन का लक्ष्य है। इस लक्ष्य को पा लेने पर शेष समस्यायें स्वतः सुलझ जाती हैं। यह नैतिक और आत्मिक बल है। असंख्य प्राणियों के निर्विघ्न जीवन की मंगलकामना है। क्रोध, अभिमान, भय, जुगुप्सा, हास्य, अरति, शोक, काम आदि दुर्भावनाओं का निषेध है।

अहिंसा के स्तवन में एक आचार्य की विनम्राञ्जलि है "जिसे संसार निरन्तर नमस्कार करता है, विनम्र अञ्जलि प्रदान करता है, वह तीर्थंकरों द्वारा निर्दिष्ट सम्पूर्ण संसार का मान्य धर्म अहिंसा है। इस अहिंसा धर्म के एक पार्श्व में स्याद्वाद और दूसरे पार्श्व में अनेकान्तरूप कल्पद्रुम स्थित है, मानों किसी सम्राट के दोनों ओर दो चामरधारी स्थित हों।"

यं लोका असकृन्नमन्ति ददते यस्मै विनम्राञ्जलिं
मार्गस्तीर्थकृतां स विश्वजगतां धर्मोऽस्त्यहिंसाभिधः।
नित्यं चामरधारणमिव बुधाः यस्यैकपार्श्वे महान्
स्याद्वादः परतो बभूवतु स्थानैकान्तकल्पद्रुमः॥

अहिंसा का सार्वजनीन स्वरूप

❖ श्री कमलकुमार शास्त्री, कलकत्ता

अहिंसा स्वरूप :

'अहिंसा' यह निषेध परक शब्द है। इसका अर्थ है हिंसा नहीं करना। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि हिंसा का मौलिक अर्थ क्या है? भगवान महावीर की दिव्य देशना से प्रसूत जगत् हितकारी सप्ततत्त्वों का संस्कृत भाषा में सूत्रात्मक सांगोपांग विवेचन करनेवाले गागर में सागर के समान अद्वितीय ग्रन्थरत्न 'तत्त्वार्थसूत्र' अपरनाम मोक्षशास्त्र के सप्तम अध्याय के प्रथमसूत्र में उमास्वामी आचार्य ने व्रत की परिभाषा करते हुए बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही है कि सर्व पापों का मूल हिंसा है शेष चार उसके ही आज्ञाकारी अनुचर हैं। इन पांचों पापों से अभिप्रायपूर्वक विरक्त होना व्रत कहलाता है। यहां अभिप्राय पूर्वक का तात्पर्यार्थ यह है कि ये हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांचों ही पाप, आत्मा को नरक-तिर्यंच (जिसमें एकेन्द्रिय से लेकर असञ्ज्ञीपंचेन्द्रिय तक के सभी जीव आ जाते हैं तथा सञ्ज्ञी जीवों में गाय-भैंस प्रभृति पशु भी गर्भित हैं) रूप दुर्गतियों में असह्य वेदनाएं तथा निगोद आदि दुर्गतिरूप महानगर्त में डालने वाले हैं अतः हितेच्छुओं को उन पाचों पापों का बुद्धिपूर्वक यथाशक्ति त्यागकर व्रती बनना परमकर्त्तव्य है। प्रकृत में "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्योविरतिर्व्रतम्" यह सूत्र उमास्वामी आचार्य ने कहा है। हिंसा का लक्षण करते हुए उन्होंने कहा है—"प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा" इस सूत्र का निर्गलितार्थ यह है कि—क्रोधादि कषायों से संयुक्त आत्मा के परिणामों-विचारों-भावों को प्रमाद कहते हैं। ऐसे प्रमादसे प्रमत्त जीवके मन-वचन-कायरूप योगों के द्वारा अपने और अपने से भिन्न किसी चर-अचर त्रस या स्थावर जीवों के उनके यथायोग्य इन्द्रियादि दश प्राणों-द्रव्यप्राणों का तथा चेतनरूप भावप्राणों का विघात या विनाश करना हिंसा कहलाती है।

आचार प्रधान अहिंसा :

अहिंसामहाव्रती साधु—उपर्युक्त लक्षण हिंसा के पूर्ण त्यागी एक मात्र नग्न दिगम्बर जैन साधु ही होते हैं। वे महात्मा प्राणीमात्र को आत्मसम

समझते हैं। वे अपनी पूर्ण अहिंसक अलौकिक वृत्ति के कारण अकारण जगदबन्धु कहलाते हैं जीवमात्रके परम हितैषी वे ही होते हैं। वे क्रोधादि कषायों से अपनी रक्षा करने में सदा दक्ष रहते हैं। ऐसे महात्माओं द्वारा जीव मात्र सुरक्षित रहता है, क्योंकि वे स्वभावतः प्रमाद रहित होते हुए समितियों का परिपालन करते हैं। क्रोधादि कषायोंसे सदैव दूर रहते हुए उनकी समीचीनदृष्टि में जैसे आत्मरक्षा सर्वोपरि होती है वैसे ही पररक्षा भी। कारण कि स्व-पर रक्षा का नाम ही परम अहिंसा है। जो आत्मरक्षा में निरन्तर सावधानी पूर्वक तत्पर होता है उसके द्वारा पर रक्षा हो ही जाती है। इसमें सन्देह के लिए स्थान ही नहीं है। बुद्धिपूर्वक पर जीवों की हिंसा उसके द्वारा आकाश कुसुम के समान असम्भव ही है, ऐसा निर्बाधरूप से कहा जा सकता है।

अहिंसा देशव्रती श्रावक :

जो मानव जीवमात्र की हिंसा का त्याग करने में असमर्थ-अक्षम है उसे अपनी मर्यादा में रहकर यथा-सम्भव जीव हिंसा का त्याग करते हुए दयामय धर्म का निर्बाधरूपेण परिपालन करना चाहिए। गृहस्थ जीवन में रहते हुए पंचसूना (पानी भरना, बुहारी लगाना, चूल्हा जलाना, चक्की पीसना, ओखली-धान्यादि कूटना) कर्म करने पड़ते है और इन कार्यों के संकल्प के बिना भी जीव हिंसा सम्भव है। उक्त आरम्भयुक्त क्रियाओ को किये बिना गृहस्थ जीवन का निर्वाह कथमपि सम्भव नही है। इन कार्यों मे सावधानी रखना श्रावक का अपना परम कर्त्तव्य है। सावधानी का तात्पर्य यही है कि इन कार्यों के करते समय जीव रक्षा का पूर्णतया ध्यान रखे। त्रस जीवों का घात न हो इसकी वह पूर्णतया सावधानी रखता है, हा ! स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग उसके लिए सम्भव नहीं तथापि वह स्थावर जीवों को हिसा भी संकल्पपूर्वक नहीं करते हुए प्रमाद चर्या से अपने को सुरक्षित रखता है। यहां प्रमादचर्या का यही अभिप्राय है कि वह ऐसे निष्प्रयोजन कार्य नही करता जिनसे जीव हिसा होती है। देशव्रती श्रावक के लिए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में महान प्रभावकाचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा है —

संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान् ।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणा: ॥५३॥

अर्थात् जो गृहस्थ-देशव्रती श्रावक होता है वह मन-वचन-काय, कृत-कारित और अनुमोदना इन नौ प्रकारसे द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवो की हिसा नही करता। इनको मन-वचन-काय से न स्वयं मारता है, न दूसरों से मरवाता और न मारते हुए की अनुमोदना करता। वह नवधा सकल्पी हिंसा का त्यागी होता है।

गृहस्थ-देशव्रती श्रावक मात्र संकल्पी हिसा का ही त्यागी होता है। बुद्धिपूर्वक किसी द्वीन्द्रियादि जीवों की हिसा नही करता। हा ! वह घर गृहस्थी मे रहते हुए आरम्भी, उद्योगी और विरोधी इन तीनप्रकार की हिसाओं का त्याग नही कर सकता। ये हिसाये तो उससे अनिच्छा पूर्वक भी होती ही रहती हैं, वह करना नही चाहता, तथापि इनमें भी वह यत्नाचार-सावधानी का पूरा ध्यान रखता है, क्योंकि आखिर वह अहिसा-देशव्रती तो है ही। वह स्वप्नमे भी अपने द्वारा गृहीत अहिसा देशव्रतको भूल नही सकता।

आध्यात्मिक अहिंसा :

इसप्रकार आचारात्मक अहिसा की संक्षिप्त चर्चा की, किन्तु आध्यात्मिक अहिसा और आध्यात्मिक हिसा क्या है, इन दोनो की यत्किंचित् चर्चा करना आवश्यक प्रतीत होता है। अस्तु ! अमृतचन्द्राचार्य के शब्दों मे—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिः हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥

"राग-द्वेषादि का उत्पन्न नही होना अहिंसा है और उन्हीं राग-द्वेषादि की उत्पत्ति हिंसा है यह जिनागम का संक्षेप है।" तात्पर्य यह है कि स्वात्मा या स्व से भिन्न अन्य आत्मा में राग द्वेष, काम-क्रोध मोहादि विकारी भावों की उत्पत्ति का न होना ही वस्तुत: आध्यात्मिक अहिंसा है तथा उन्हीं राग-द्वेष-मोहादि विकृत-भावों का आत्मा में उत्पन्न होना आध्यात्मिक हिंसा है, क्योंकि उक्त प्रकार के दोषोत्पादक विचारों की परम्परा से आत्मा के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप गुणों का विघात होता है। अतः प्रत्येक मुमुक्षुका यह परम धर्म है कि वह अपने आत्मिक गुणों की सुरक्षा के हेतु निरन्तर रागादि दोषों से बचता रहे। अर्थात् आत्मा के ज्ञानादिगुणों के घातक मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप बहिर्मुखी प्रवृत्तिसे निरन्तर दूर रहने का प्रयत्न करता रहे और अन्तर्मुखी प्रवृत्तिसे निरन्तर दूर रहते हुए सदा रागादि दोषों से सावधान रहे। परोन्मुखी वृत्ति को छोड़े और स्वोन्मुखी वृत्ति को ग्रहण करे।

लौकिक अहिंसा :

यह तो सभी जानते हैं कि सभी प्राणधारी अपने-अपने प्राणों की सुरक्षा करने में सदा प्रयत्नशील रहते हैं। छोटे-छोटे कीड़े, मकोड़े, चींटी, भौंरा, बर्र, ततैया, बिच्छु, डांस, मच्छर आदि भी अपने प्राणों की रक्षा में निरन्तर प्रयास करते रहते हैं। यहां तक कि विष्ठा में रहने वाले कीड़े भी उसीमें रहकर अपनी जीवन रक्षा में लगे रहते हैं। यदि कोई करुणावान् मनुष्य चाहे कि विष्ठा जैसी अपवित्र वस्तु में रहने वाले प्राणी को हम उसमें से बाहर निकालकर किसी सुरक्षित सुरम्य स्थान में उसे रख दें तो वह भी मृत्यु के भय से उसमें से बाहर निकलना नहीं चाहता, किन्तु उसीमें वह अपनी जीवन-लीला समाप्त करने के लिए तत्पर रहता है। इसी विषय में किसी शास्त्रकार ने ठीक ही लिखा है—

अमेध्यमध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये।
समाना जीविताकांक्षा समं मृत्यु भयं द्वयोः॥

अर्थात् विष्ठा में रहनेवाले कीड़े को मृत्यु का जितना भय है उतना ही भय देवालय (स्वर्ग) में रहनेवाले सुरेन्द्र-देवों के स्वामी इन्द्र को भी मृत्युका डर है, क्योंकि दोनों ही अपने-अपने स्थान में रहकर जीना चाहते हैं। जीने की इच्छा दोनों की एक समान है। वे मरना नही चाहते, किन्तु उनका मरना अवश्यंभावी है। यही प्रत्येक संसारी प्राणधारी जीव की स्थिति है, चाहे वह मनुष्य हो या देव हो, नारकी हो या तिर्यंच हो किसी भी योनि का जीव क्यों न हो। अतः करुणावन्त महापुरुषो ने अपने अनुभव से यह सिद्धान्त निश्चय किया कि—

प्राणा यथात्मनो भीष्टाः भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्तु साधवः॥

—'जिस प्रकार हमें हमारे प्राण अभीष्ट हैं, उसी प्रकार दूसरे भूतों अर्थात् नारकी, देव, मनुष्य तथा तिर्यंच इन चारों गतियों में विचरण करने वाले सभी जीवों को अपने प्राण अभीष्ट हैं अतएव सत्पुरुषों का यह परम कर्तव्य है कि वे अपने ही समान सभी जीवों पर दया करें, उनके कष्टों को अपने कष्ट समझकर उन्हें दूर करने का सर्वत: (मन-वचन-काय से) उपाय करें तभी वे सच्चे अर्थों में दयालु कहलाने के अधिकारी बन सकेंगे। "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" इस आर्ष वाक्य के अनुरूप अपने जीवन को ढालना ही सच्ची अहिंसा का परिपालन है। इस पंक्ति का अर्थ है जो हमें प्रतिकूल लगता है वैसा आचरण हम दूसरों के साथ भी नहीं करें।

जैनेतर धर्मों में भी अहिंसा का स्थान :

'अहिंसा परमो धर्मो यतोधर्मस्ततो जय:' अहिंसा–जीव रक्षा ही सर्व श्रेष्ठ धर्म है । ऐसा सर्वोपरि धर्म जहां होता है वहां सर्व-प्रकार की विजय होती है—सफलता प्राप्त होती है ।

'अहिंसा परमो धर्म इत्यत्र सर्वेषां मतैक्यमस्ति' आज विश्व में जितने भी मत प्रचलित हैं उन सभी का यह सुनिश्चित सिद्धान्त है कि अहिंसा ही एकमात्र सर्वोत्तम धर्म है । इसमें किसी भी धर्म (मत) को कोई विरोध नही है । सभी धर्म मुक्तकण्ठ से समवेत स्वर मे इसे स्वीकार करते हैं ।

वीरशासन के अनन्य उद्घोषक आद्यस्तुतिकार आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अपने 'स्वयंभूस्तोत्र' (चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तुति) में २१ वे तीर्थंकर नमिनाथ भगवान की स्तुति करते हुए एक श्लोक मे भगवती अहिंसा को परम ब्रह्मस्वरूप कहा है—

अहिंसाभूतानां जगति विदितं ब्रह्मपरमं ।
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणोग्रन्थमुभयं ।
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ।।

भावार्थ यह है कि इस जगत् में— त्रिभुवन में नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव इन चारों गति के प्राणी नाना प्रकार के शारीरिक, वाचनिक, मानसिक और आकस्मिक, आगन्तुक आदि दुःखों को भोग रहे जीवों की रक्षा करना ही अहिंसा है । ऐसी अहिंसा ही परमब्रह्म है, परमात्मारूप है । यह बात संसार प्रसिद्ध है, किन्तु गृहस्थाश्रम के विधि-विधान में जरा भी आरम्भ होने से वहा भगवती परमब्रह्मस्वरूप अहिंसा रह नही सकती, क्योंकि जहां किंचित् भी आरम्भ है वहा हिंसा अवश्यंभावी है । इसीलिए हे नमिनाथ स्वामिन् ! आपने परम करुणावान् होते हुए भगवती परमब्रह्मस्वरूप अहिंसा की परिपूर्ण सिद्धि हेतु दशप्रकार के बहिरंग और चौदह प्रकारके अन्तरंग इस प्रकार २४ प्रकार के परिग्रह का त्याग किया । आप किसी भी विकारी वेष वाले परिग्रह में नाम मात्र को भी रत नहीं हुए ऐसे अनुपम अपरिग्रही भगवान् के गुणो की स्तुति करने के लिए मैं तत्पर हुआ हूं ।

इससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि सकल लोकोपकारिणी भगवती अहिंसा ही साक्षात् परमब्रह्म है वही वस्तुत: परम आत्मा है । ऐसी परमात्मस्वरूप अहिंसा मेरी और समस्त संसारी जीवों की आत्मा में अपना अविनश्वर उज्ज्वल प्रकाश प्रकट करे । ऐसी भगवती अहिंसा को मेरा बारम्बार अनन्त-अनन्त प्रणाम है ।

।। भगवत्यै अहिंसामहादेव्यै नमो नमः ।।

इन्द्रिय निरोध

❖ डा० शेखरचन्द्र जैन
M.A.Ph.D.LL.B.
भावनगर (गुजरात)

विश्व के प्राय: सभी धर्मों ने तप की महत्ता को स्वीकार किया है, और जीवन की अन्तिम परिणति मुक्ति या मोक्ष को स्वीकार किया। विशेषरूप से भारतीय संस्कृति में पनपे सम्प्रदायों और धर्मों ने तपस्या को सर्वाधिक महत्व दिया है और इस तपस्या की पूर्णता और सफलता के लिए योग,साधना आदि तत्त्वों को महत्व-पूर्ण माना है और इन माध्यमों की पूर्णता का आधार इन्द्रियों का संयम है। तात्पर्य यह हुआ कि तपस्या का मूल आधार इन्द्रियसंयम है इन्द्रियों के इस संयम पर भारतीय धर्मों में सबसे अधिक महत्व या जोर जैनधर्म में परिलक्षित है। इसीलिये आचार्यों ने "इच्छा-निरोधस्तप:" कहा है अर्थात् इच्छाओं को रोकना ही तप है।

इससे पहले कि हम इन्द्रिय निरोध की बात करें हम यह समझने की कोशिश करेंगे कि इन्द्रियों के मुक्त रहने से क्या हानि है? हमें यह भेद-विज्ञान स्पष्टरूप से जानना होगा कि शरीर और आत्मा दो भिन्न तत्त्व हैं। शरीर पुद्गल है, नश्वर है, अनेक रोगों और वासनाओं का आश्रय स्थान है जबकि आत्मा-चेतन, अनन्त वीर्य-युक्त, मोक्ष प्राप्त करने की क्षमता वाला है। मोह के अन्धकार में डूबे हुए हम भ्रम वश इस शरीर को ही सर्वस्व मानकर उसके प्रति अपना सारा ध्यान केन्द्रित कर देते हैं और भूल जाते हैं उस चैतन्य स्वरूप आत्मा को जो मुक्ति का ऊर्ध्वगमनकारी अंश है।

मनुष्य पंचेन्द्रिय जीव है यद्यपि अनेक पशु भी पचेन्द्रिय हैं, लेकिन सृष्टि का श्रेष्ठ निर्माण और पूर्व जन्म के उत्तम कर्मों के कारण मनुष्य को वाणी और विचारने का वरदान मिला है। मनुष्य की इन्द्रिय निरन्तर इस शरीर की एषणाओं की पूर्ति के लिये उसे उत्तेजित करती रहती है और संसार के बाह्य भोग-विलास जो क्षणिक है उनके पीछे वह अहर्निश दौड़ा करता है। अत: वह उस निर्मल आत्मा के दर्शन कर ही नहीं पाता। सच्चे सुखरूप हीरे के स्थान पर वह संसार के भौतिक सुखरूप कांच के टुकड़ों में ही भ्रमित रहता है। जो महान आत्मायें हुई हैं उन्होंने इस भेद को समझा और देह के सुख को त्यागकर इन्द्रियों के वशीभूत न होकर

उल्टे इन्द्रियों को अपने आधीन बनाकर शास्वत सुख की खोज में निकल पडे । एक ही इन्द्रिय के वशीभूत हुआ जीव अपने जीवन से हाथ धो बैठता है । कामान्ध हाथी बनावटी हथनी की चाहत में अपने प्राणोंको संकट में डाल देता है । गन्ध का लोभी भ्रमर जो बांस को भी फोड़ कर बाहर निकल सकता है वही कमल पत्र के भीतर गन्ध के लोभ में बन्द होकर प्राणों को त्याग देता है । संगीत का लोभी मृग बधिक द्वारा प्रसारित संगीत के जाल में फँसकर बाण से बिंध जाता है । तात्पर्य यह है कि जब एक ही इन्द्रिय का असंयम जीवन का अन्त कर सकता है तब पांचों इन्द्रियों के भोग में आसक्त इस मनुष्य का क्या होगा जिसने निरन्तर पाचों इन्द्रियों के द्वारा मात्र इस पुद्गल के पोषण के लिए ही प्रयास किये ।

हम अनुभव से यह कह सकते हैं कि हमारी इच्छाएं कभी पूरी नहीं होती वे सुरसा की तरह अनेक गुनी होकर बढ़ती ही जाती हैं और हम पागलो की तरह कामान्ध होकर उनके पीछे भटकते हैं । इन्द्रियोंकी तृप्ति के लिए विवेक-बुद्धि खोकर अच्छे और बुरे का भेद भी भूल जाते हैं और फिर उत्तरोत्तर अनेक पापों के गर्त में धंसते चले जाते हैं अगर हम गहराई से सोचें तो हम जितने भी पाप करते हैं, फिर चाहे वह चोरी हो, असत्य कथन हो, किसी को मार डालने को भावना या क्रिया हो, व्यभिचार आदि जो भी पाप हैं वह सब इन्द्रियों की उच्छृंखलता के कारण ही होते हैं; और फिर हम गन्दी नाली के कीड़े की तरह इन पापों से मुक्त नही हो पाते । हमारे मन में क्रोध, मान, माया या लोभ जो भी कषाये उत्पन्न होती है उनके मूल मे तो ये इन्द्रियां हैं । इन्हीं की अतृप्ति से ये दुर्भाव पैदा होते है; और इनकी तृप्ति के लिए हम कुछ भी ऊँच-नीच करने के लिए तत्पर होते हैं ।

जिस शरीर और इन्द्रियों की तृप्ति के लिए हम असंयमित होते हैं उसी शरीर को ये इन्द्रियां दुःखी भी करती हैं हम जानते हैं कि हमारे शरीर में जितने भी रोग उत्पन्न होते है वे इन्द्रियो के असंयमित होने के कारण ही होते हैं । उदाहरण के तौर पर जीभ की लोलुपता शरीर को रोगों का घर बना देती है । सम्भोग की निरन्तर इच्छा शरीर को दुर्बल बना देती है । इस प्रकार प्राथमिक दृष्टि से यह भी सिद्ध हुआ कि शरीर के दुःखों का मूल कारण भी इन्द्रियां हैं ।

लगता तो यह है, और कभी कभी प्रश्न भी उठता है कि जब इन्द्रियां इतनी दुःख-दायी हैं तो फिर इन की रचनायें ही क्यों की गई ? किन्तु बुद्धि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि जिस शरीर में यह आत्मा निवास कर रहा है उसे उस आत्मा की पुष्टि के लिए, उसे ब्रह्म तक ऊर्ध्वगमन कराने के लिए ये इन्द्रियां पोषक तत्त्व प्रदान करके सहायक बनें । आत्मा के उन्नयन के लिए इन्द्रियां साधन हैं और साधन की शुद्धि सर्वाधिक आवश्यक है, परन्तु उलटा हो गया । हम साधन को ही साध्य बना बैठे और भटक गए इन्द्रियों के अन्धकार मे । सच तो यह था कि ये इन्द्रियां जब तक दृढ मन की आज्ञा-कारिणी थी तब तक आत्मा के परिमार्जन में कोई बाधा नहीं थी, लेकिन जब इन इन्द्रियो ने छल-बल से मनरूपी राजा पर आधिपत्य जमा लिया तभी से आत्मा कैद होकर रह गया ।

इन्द्रियों के इस मोह और माया जाल को जिसने समझा उसने मानों स्वयं को समझा, आत्मा को समझा । चंचल इन्द्रियां हमेशा दीवाल के समान इस प्रकाशित आत्मा के चारों ओर आड़ बन कर उसे ढक रही हैं, लेकिन ज्यों ही व्यक्ति के ज्ञान-चक्षु खुले, उसने आत्मा को परखा, त्यों ही ये दीवारें ढह गई और प्रकाशित आत्मा की ज्योति जगमगा उठी । प्रश्न तो यह उठता है कि क्या ये इन्द्रियां इतनी सरलता से आधीन की जा सकती हैं ? उत्तर कुछ कठिन हो सकता है । एकाएक त्वरित गति से दौड़ने वाले घोडे के सदृश इन इन्द्रियों पर एकाएक अंकुश नही लगाया जा सकता लेकिन क्रमशः उन्हें अंकुशित अवश्य किया जा सकता है इसके लिए आवश्यक है योग और साधना । योग का मतलब ही है जोडना अर्थात् व्यक्ति इन इन्द्रियों पर संयम रखते हुए आत्मा से परमात्मा को जोड़ने का प्रयत्न करता है—वही योग है; और साधना के तौर पर उसे संयम धारण करना होगा । उसे इन्द्रियों की वाचालता और एषणाओं पर अंकुश लगाना होगा । धीरे धीरे उसे अभ्यास

करना होगा। प्रारम्भ में उसे अटपटा लगेगा, कष्ट लगेगा, परन्तु वह जितना दृढ़ होता जायेगा उतना ही उसे अधिक परमात्मा का योग प्राप्त होगा। फिर जो वह कहेगा वही इन्द्रियां करेंगी—अर्थात् इन्द्रियों पर उसका वर्चस्व होगा और जिस दिन वह इन्द्रियों का राजा बन जायेगा उस दिन उसकी साधना और तपस्या सफल होगी। तब वह सिद्धि प्राप्त कर सकेगा। हम यों भी कह सकते हैं कि—"हर तपस्या की सिद्धि अर्थात् इन्द्रियों का संयम है।" इन्द्रियों के संयम का ही दूसरा नाम है तपस्या। प्रारम्भ में हमें बाह्य खान-पान-आचार-व्यवहार—इन सब पर संयम लाना होगा। इसके लिए व्रत-उपवास आदि जैसे प्राथमिक कार्य अपनाने होंगे। जब शरीर को प्रसन्नता पूर्वक भूख सहन करने की आदत होने लगेगी तब अन्य इन्द्रियां स्वतः अनुकूल होने लगेगी। इन क्रियाओं के साथ-साथ शरीर के मोह को धीरे-धीरे दूर करते हुए निरन्तर आत्मा पर ध्यान केन्द्रित करना होगा।

जितने भी बड़े बड़े महात्मा मुनि या तीर्थंकर हुए है उन सबने वैभवो को छोड़ा, शरीर का मोह त्यागा अनेक कष्टों को सहन करते हुये स्थिर रहकर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किया तभी वे जितेन्द्रिय कहलाये।

कुछ लोग इन्द्रियों के संयम के लिए, उन्हे मारने के लिए, शरीर को दिये जाने वाले कष्ट की आलोचना करते हैं; लेकिन वे भूल जाते हैं कि बढ़े हुए रोग को मिठाई से नहीं बल्कि कड़वी दवा से ही दूर किया जाता है। मैं तो कहता हूं कि इन्द्रियों को इतना बेलगाम न होने दो, इच्छाओं को इतना मत बढने दो कि उन्हें मारना पडे। मैं यों कहना चाहूंगा कि इन्द्रियों का निरोध अर्थात् इन्द्रियों को योग-मार्ग पर मोड़ना है। जो इन्द्रियां आत्म उन्नयन में अवरोधक हों उन्हें आत्मा के उन्नयनमें सहयोगी बनाना है।

हमने प्रारम्भ में इच्छाओं के निरोध को तप कहा। उसका और स्पष्टीकरण हम यों कर सकते हैं कि जैन सिद्धांत मे जहा स्वर्ग की प्राप्ति को भी संसार माना है, किन्तु इस आत्मा को चारों गतियों से जिसमें देव-गति भी सम्मिलित है—उससे भी ऊपर मोक्ष प्राप्ति कर सिद्ध शिला पर विराजमान होना है। इन्द्रियों के असंयम के कारण निरन्तर कर्मों का आस्रव होता है, कर्म बढ़ते हैं, किंतु ज्योंही इन्द्रिय निरोध के लिए संसार और शरीर का मोह छोड कर—इस शरीर को अपवित्रता का घर मानकर, संसार के भौतिक सुखों को तृणवत् समझकर व्यक्ति संयम धारण करता है तो उसके कर्म रुक जाते हैं। तपस्या की उग्रता से वह इन कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष की स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

जैन धर्म की नीव ही इन्द्रियनिरोध पर है। जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है वही सच्चा जिन है और ऐसे ही इन्द्रिय-विजेता तीर्थंकरों के अनुयायी जैन कहे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जैनधर्म में इन्द्रिय संयम को ही कर्मों के क्षय का मूल आधार माना है, और उन्हीं कर्मो के क्षय के आधार पर सुख-दुख की उपलब्धि निर्भर है। प्रायः सभी आगम ग्रन्थों में, सभी आचार्यों ने इन्द्रियनिरोध पर ही सर्वाधिक ध्यान केन्द्रित किया है।

आज विश्व के रंग-मंच पर जो अशाति, अराजकता एवं युद्ध का भय, अनेक रोग एवं दूषण फैल रहे हैं उन सबके भीतर मनुष्य का असंयम और इन्द्रियविकृति ही कारण है। इतने संघर्षों के बाद भी यदि भारतीय संस्कृति अमर रही हो तो उसका श्रेय है यहां की उस संस्कृति और साधना को, जिसने मनुष्य को निरन्तर त्याग की ओर इंगित किया। राम, कृष्ण, गौतम और महावीर वर्तमान युगमें गांधी इस संस्कृति के वाहक रहे।

इतनी चर्चा के पश्चात् हम निर्विवाद रूप से यह कह सकते हैं कि शारीरिक सुख और आत्मिक सुख के लिए इन्द्रिय-संयम सर्वश्रेष्ठ साधन है। इन्द्रियों का असंयम एक स्त्री को-वेश्या बना सकता है तो संयम से वही सीता, अनन्तमती, चन्दनबाला भी बन सकती है। यदि हम अपने जीवन को सचमुच सुखी बनाना चाहते हैं तो हमें आहार-व्यवहार में संयम का पालन करना होगा इन्द्रियों को संयमित रखना होगा तभी हम आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

मुक्ति के लिये परमावश्यक

सम्यक्चारित्र

❖ पं० तनसुखलालजी काला, बम्बई

अनादिकाल से यह प्राणी मिथ्यात्वरूपी अन्धकार में भटक कर संसार में भ्रमण कर रहा है। आत्महित का लक्ष्य नहीं होने से मिथ्यात्व के उदय में वह कुदेव, कुगुरु तथा कुशास्त्र की उपासनामें ही सतत संलग्न है। आचार्यों ने जन्म मरणादि रूप संसार संतति का विच्छेद करने मे समर्थ, निश्चय सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में कारणभूत सर्वज्ञ-वीतराग-हितोपदेशी गुणों से संयुक्त अर्हन्तदेव; उनके द्वारा प्रणीत आगम-शास्त्र तथा विषयों की आशा से रहित, ज्ञान-ध्यान-तपो रत, आरम्भ, परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ गुरु के यथार्थ श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन प्रथम उपादेय है। यह निश्चय सम्यग्दर्शन का साधन है। बिना साधन के साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। यद्यपि निश्चय सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा का निजगुण है आत्मा से भिन्न वह नहीं है, किन्तु संसारी आत्मा का उन गुणों का विकास कभी नही हो सकता, क्योंकि उस जीव के मिथ्यात्व बना हुआ है तथा वह ज्ञानावरणादि कर्मों से आवृत्त है। उक्त कर्मों से छूटने के लिए सम्यक्चारित्र का अवलम्बन करना अत्यावश्यक है। भगवान् अमृतचन्द्र आचार्य के कथनानुसार "जितने-जितने अंशो में आत्मा मे राग है, उपरोक्त रत्नत्रयका अभाव है आत्मा कर्म के बन्ध से बंधता रहता है। निश्चय से स्वर्ण यद्यपि शुद्ध है, किट्टकालिमादि उसका स्वभाव नहीं, किन्तु स्वर्णपाषाण और स्वर्ण मे जितना अन्तर है उतना ही संसारी तथा मुक्त आत्मा में भेद है। स्वर्ण में जितने अशो मे किट्टकालिमादि का संयोग है उतने अंशों में वह अशुद्ध है। ऐसी ही दशा संसारी आत्मा की है। स्वर्ण को तेजाब आदि में डालकर भट्टी मे देकर जलाने से उसमें जितनी अशुद्धि पर पदार्थ के संयोग से बनी हुई है वह दूर होकर सौ टंच का शुद्ध स्वर्ण हो जाता है उसी प्रकार आत्मा सम्यक्चारित्र के द्वारा कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध पद को प्राप्त हो जाता है।

चारित्र के साथ जो सम्यक् विशेषण है वह सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानका उद्बोधक है। अर्थात् जब सम्यक्चारित्र है तो उसके साथ सम्यग्दर्शन-ज्ञान अवश्यंभावी है। यहां यह अवश्य ध्यातव्य है कि सम्यग्चारित्रका देशव्रतरूप से प्रारम्भ पंचम गुणस्थान से होता है और सकलरूप से छठे-सातवे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है। चतुर्थ गुणस्थान में पाये जाने वाले सम्यक्त्व के योग्य आचरण को—सदाचार प्रवृत्ति को भगवान कुन्दकुन्द देव ने सम्यक्त्वाचरण नाम तो दिया है, परन्तु सम्यक्चारित्र का प्रारम्भ वहां से नहीं माना है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी के अभाव मे देश अथवा सकलचारित्र की प्रकटता किसी भी अनुयोग के आर्षग्रन्थ में नहीं कही गई है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव में देशचारित्र और प्रत्याख्यानावरण कषायके अभावमें सकलचारित्र प्रकट होता है, किन्तु चतुर्थगुणस्थान में दोनो का सद्भाव है। देशचारित्र और सकलचारित्रके अतिरिक्त सामान्यरूप से चारित्र के दो ही भेद किये गये हैं। हां! सामायिक, छेदोपस्थापना आदि

पांच भेद चारित्र के कहे गये हैं वे सकलचारित्र की अवस्थाएं विशेष हैं। अस्तु आत्मा को कर्मों के बन्धन से छुड़ाने के लिए सम्यक्चारित्र को धारण करने की महती आवश्यकता है। उसके बिना मात्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान से तो सर्वार्थसिद्धि के देव तो ३३ सागर पर्यन्त तत्वचर्चा में निमग्न रहते हुए भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकते। अतः यह निर्बाध सिद्ध है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान की चर्चाओं से नहीं अपितु उसके साथ सम्यक्चारित्र से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। सम्यग्दर्शन का अपना अस्तित्व है उसके बिना तो चारित्र समीचीनता को प्राप्त नहीं होगा, किन्तु मात्र सम्यग्दर्शन के ही गीत गाते रहने से तो मुक्ति महल में प्रवेश नहीं हो सकता।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए करणलब्धि का होना आवश्यक है जो कि कर्माधीन है। यही कारण है कि पंचलब्धियों में आदि की चारलब्धियां भव्य और अभव्य दोनों को होती है, किन्तु अन्तिम करणलब्धि भव्य को ही होती है। जब तक जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो तब तक भी अशुभकर्म एवं पापनिवृत्ति के हेतु चारित्र (जो कि पुरुषार्थ है।) विवेकी तथा ज्ञानवान के लिए सदा आदरणीय है। बिना उसके अशुभ की निवृत्ति हो नहीं सकती। पुण्य-पाप दोनों यद्यपि मोक्षके कारण नहीं हैं तथापि पुण्य से स्वर्ग और पापसे नरक की प्राप्ति होती है। अतएव नरकादि कुगतियों से बचने के लिए भी आचार्यों ने संयम या चारित्र को ही आचरणीय बताया है। उसके धारण किये बिना मनुष्य पशु तुल्य है।

मानव जन्म को धारण करके भी जिसको अपने हेयोपादेय का ज्ञान नहीं, मद्य, मांस, मधु, अभक्ष्य-पदार्थ, रात्रिभोजन तथा अनछने पानी का त्याग नहीं, नित्य देवदर्शन करने का नियम नही है, जो हिंसा-झूठ-चोरी-कुशीलसेवन तथा परिग्रह संग्रह में ही अपने ज्ञान का उपयोग कर रहा है अतः उसका वह ज्ञान मिथ्या है। जिसे न किसी प्रकार का व्रत है न संयम तथापि जो अपने को ज्ञानी समझते हुए सम्यक्चारित्र की परिकर सामग्री स्वरूप व्रत, संयम आदि को जड़ की क्रिया मानता है, द्रव्यरूप अणुव्रत-महाव्रतों को मात्र विकार कहता है भोग तथा विषयादिकों का सेवन आत्मा नहीं, शरीर करता है इत्यादिरूप से जिनागम के विरुद्ध कहने और आचरण करने वाला कदापि सम्यक्त्वी नही हो सकता, वह चाहे जितनी मात्र तत्त्व ज्ञानकी चर्चा करनेवाला क्यों न हो उसकी गणना मिथ्यादृष्टियों में ही होगी। वह कुन्दकुन्दकी वाणी का, सद्गुरु तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों का समागम प्राप्त होने पर भी कभी रत्नत्रय की उपलब्धि नही कर सकेगा।

भगवान आदिनाथ से महावीर पर्यन्त तथा उनके बाद भी इस पंचमकाल में होनेवाले भगवान् कुन्द-कुन्द, अकलंक, पूज्यपाद, विद्यानन्द, जिनसेन, गुणभद्र आदि समस्त आचार्यों ने पाक्षिक, नैष्ठिक, साधक गृहस्थों को सम्यक्चारित्र तथा संयमाचरण का ही उपदेश दिया है। उन्होंने स्वयं व्रत समिति गुप्तिरूप चारित्र का पालन किया। उनकी महान आत्माएं आज भी हमारे लिए आदर्श हैं और उनके द्वारा आचरित सम्यक्चारित्र का पालन करने वाले २० वीं शताब्दि में भी आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज प्रभृति सम्प्रति मुनिराजों के दर्शन हो रहे हैं यह सम्यक्चारित्र का मार्ग पंचमकाल के अन्त तक चलेगा और सम्यक्चारित्रके पालयिता मुनिजनों का अस्तित्व निर्बाधरूप से बना रहेगा।

अतः कहना होगा कि मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र साक्षात् उपाय निश्चय सम्यक्रत्नत्रय है तथा व्यवहार रत्नत्रय उसका साधन है। उस व्यवहार रत्नत्रय का भी जिसके पालन नही वह अपने को निश्चय मोक्षमार्गी समझे यह प्रत्यक्ष भगवद्वाणी की अवहेलना है। उसको दूर करने का प्रयत्न करना प्रत्येक धर्मात्मा का कर्तव्य है।

अहिंसा का प्रतीक

❖ १०५ क्षुल्लिका श्री प्रवचनमतीजी

वास्तव में आत्मा का धन आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण हैं। इन गुणों को विकसित करने के लिये हमें संयम, तप, ध्यानादि की आवश्यकता है। जैसे शरीर रक्षा के लिए आहार (भोजन), पानी और श्वासोच्छ्वास की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आत्म रक्षा के लिये संयम की आवश्यकता होती है। संयमी प्राणी इन्द्रादि देवों से भी आदरणीय एवं पूजनीय होता है और वही परम पद को प्राप्त करने वाला होता है। जितने भी अरहंत और सिद्ध हुये हैं और होंगे वे सब इस संयम को धारण करके ही हुये हैं। बिना दिगम्बरत्व को धारण किये मुक्ति नहीं हो सकती। संयम अहिंसा का एक सर्वोत्कृष्ट माध्यम है; संयम में ही अहिंसा निहित है, बिना संयम के अहिंसा पल नहीं सकती। जैसे—एक व्यक्ति शिकार नहीं खेलता है, किन्तु जब तक वह मन-वचन-काय से शिकार न खेलने का नियम नहीं लेगा, तब तक उसे हिंसा का दोष बराबर लगेगा। इसीप्रकार रात्रि भोजन, अभक्ष-भक्षण आदि के विषय में भी समझना चाहिये।

अत: हमें यदि अहिंसामय बनना है तो व्रत नियमादि ग्रहण करना होंगे। वर्तमान में कुछ लोग अणुव्रत-महाव्रतादि को कोरा क्रियाकाण्ड समझते हैं और हंसी मजाक करते हैं, लेकिन उनका यह विचार पूर्णतया गलत व जिनागम के विरुद्ध है। वे कर भी क्या सकते हैं? उनके मस्तिष्क में द्रव्यलिंगी मुनि घुस गया है, इसलिये उनका विचार ही ऐसा बन रहा है। कर्मों का अन्धेरा इतना है कि रस्सी भी सर्प दिखने लगती है। वैसे ही भावलिंगी मुनि भी उनको द्रव्यलिंगी ही नजर आ रहे हैं। फिर इसमें किसका अपराध है? इसमे तो अनन्तानुबन्धी कषाय का ही तो दोष है। अप्रत्याख्यानादि तो ठीक है, लेकिन अनन्तानुबंधी कैसे? वहा तो दर्शन मोहनीय का उदय है। जिस व्यक्ति का अनन्तानुबन्धी आदि सात प्रकृतियो का यदि उपशम या क्षयोपशम हुआ हो तो वह व्यक्ति भले ही संयम को धारण नहीं किये हो, लेकिन वह अपने आप मे यही समझता है कि अभी मेरा चारित्र-मोहनीय का उदय है, मेरी कमजोरी है, मेरे पास, संयम धारण करने का पुरुषार्थ नहीं, आदि २ बातें करता है और संयमियों को देखकर आनन्दित होता है तथा ऐसे जीवन को धन्य मानता है, न कि संयमसे चिढ़ता है। इससे विपरीत जीवोंका दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय दोनों का ही उदय समझना चाहिये।

संयम

जिसको सच्चा साधु बनना होता है वह चुपचाप बन जाता है। वह किसी की बुराई नहीं करता। जैसे—जौंहरी बाजार में सभी तरह की दुकानें होती हैं (असली और नकली जेवरों की) जिसे जैसा खरीदना होता है वह व्यक्ति उसी दुकान में पहुँच जाता है और इच्छित वस्तु खरीदता है तथा जिसे नहीं खरीदना होता है वह मौन रहता है, किन्तु कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो न तो खरीददारी करते हैं और न मौन ही रहते हैं, वे दोनों से ही जलते रहते हैं। असली वालों से तो कहते हैं, यह वस्तु हमारे वश की नहीं, बहुत महंगी है तथा नकली वालों से कहते तुम्हारा माल नकली है। इसी प्रकार अज्ञानी अपनी इन्द्रियों को अनावश्यक कार्यों में लगाकर कर्मों के आस्रव का द्वार खोलते हैं और असंयमरूप प्रवृत्ति कर दुर्गति का पात्र बनते हैं।

शास्त्रों में कहा भी है—

"भावे अ असंजमो सत्थं।"

अर्थात् भावदृष्टि से संसार में असंयम ही सबसे बड़ा शस्त्र है जैसे—शरीर के लिये सेमल, भांग, अफीम आदि घातक हैं वैसे ही आत्माके लिये हिंसा विषय—कषायादि घातक हैं। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार भोजन-कथा से क्षुधा निवृत्ति का उपाय ज्ञात होगा, किन्तु क्षुधा की निवृत्ति नहीं होगी, ठीक इसीप्रकार आत्मा के सुख में बाधक कारणों को हेय समझने मात्र से बाधकता दूर नहीं होगी। जब तक उन बाधक कारणों को हटाया नहीं जायेगा तब तक वे बाधक ही रहेंगे। अतः हमें समझने के साथ-साथ उन्हें हटाना भी पड़ेगा। जैसे—रोगी रोग से मुक्त होना चाहता है उसीप्रकार ज्ञानी भोग रूपी रोग से मुक्त होना चाहता है। लोहे की जंजीर शारीरिक बल से तोड़ी जा सकती है, किन्तु मोह की जंजीर वैराग्य के अतिरिक्त किसी भी शक्ति से नहीं तोड़ी जा सकती है। इन सभी को आचार्यों ने निम्न गाथाओं में स्पष्ट किया है—

"णाणं पयासगं सोहओ तवो संजमो य गुत्ति करो।
तिण्हं पि समाजोगे मोक्खो जिनसासणे भणिओ ।।"

अर्थात्—ज्ञान प्रकाश करने वाला है, तप विशुद्धि एवं संयम पापों का निरोध करता है, तीनों के समयोग से ही मोक्ष होता है, यही जिनशासन का कथन है।

"अज्जवितितिरियण सुद्धा, अप्पाझाए विलहदि इंदत्तं।
लोयंतिय देवत्तं, तत्थं चुआ णिव्वुदिं जंति ।।"

(कुन्दकुन्द, मोक्ष पाहुड़ गा०-७७)

अर्थात्—आज भी धर्मध्यान से मुनि सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र और ब्रह्म स्वर्ग के अन्त में रहने वाले लौकान्तिक देव हो सकते हैं जो कि वहां से चलकर नियम से मोक्ष जाते हैं ऐसा आचार्य कुन्दकुन्द का कहना है।

"इह इन्दराय सिस्सो वीरांगद साहु चरिमसव्वसिरि।
अज्जा अग्गिलसावय, वर साविया पंगुसेणावि ।।

(त्रिलोकसार गाथा—३५६)

अर्थात्—एक-एक हजार वर्ष बाद इस पंचमकाल में एक-एक कलकी होगा तथा बीस कलकियों का अतिक्रम हो जाने पर सन्मार्ग का मंथन करने वाला जल मंथन नाम का अन्तिम कलकी होगा, उसी काल में इन्द्र राजा नामके आचार्य के शिष्य वीराङ्गद नामक अन्तिम साधु, सर्वश्री नाम की आर्यिका, अग्गिल नाम का श्रावक तथा पंगुसेना नाम की श्राविका होगी।

अतः जो वर्तमान काल में सच्चे मुनियों का अभाव बताते हैं, उन्हें ध्यान से पूर्वाचार्यों के लिखित ग्रन्थ पढ़कर अपने विचार और श्रद्धा बदल देनी चाहिये।

विषयोरगदृष्टस्य, कषायविषमोहितः ।
संयमो हि महामंत्रः त्राता सर्वत्र देहिनाम् ॥३०॥

(कुलभद्राचार्य कृत सारसमुच्चय)

अर्थात्—जिसको विषयरूपी नाग ने काट खाया हो तथा जो कषायरूपी जहर से मूर्च्छित हो ऐसे प्राणियों के लिये संयमरूपी महामन्त्र ही सर्व स्थानों में रक्षा करने वाला है । इसप्रकार संयम के महत्त्व को जान कर विषय-कषाय से विरक्त होना चाहिये । जब तक यह जीव विषयों मे प्रवृत्त है, तब तक आत्मा को नही जान सकता है । जो जीव इन विषयों से विरक्त चित्त है वही आत्मा को जान सकता है अन्यथा नहीं । जिसको परद्रव्य में परमाणु मात्र भी मोह रहता है वह मूढ अज्ञानी आत्मस्वभाव से सर्वथा विपरीत है ।

कर्मपाश विमोक्षाय, यत्नं यस्य न देहिनः ।
संसारे च महागुप्तौ, बद्धः संतिष्ठते सदा ॥१८२॥

(कुलभद्राचार्य, सारसमुच्चय)

अर्थात्—जिस प्राणी का उपाय कर्मजाल से छूटने का नही है वह महान गम्भीर कैद के समान इस संसार में सदा बंधा हुआ ही रहेगा । अतः हमें ससार जाल से छूटने के लिये व्रत, तप, संयमादि का अवलम्बन लेना होगा ।

जैनागम के परिप्रेक्ष्य में

मृत्यु

❖ विद्यावारिधि डा० महेन्द्रसागर प्रचंडिया
डी० लिट्०

वैदिक, बौद्ध और जैन मान्यताएँ भारतीय दर्शन को जन्म देती हैं। वैदिक वाङ्मय को वेद, बौद्ध-वाङ्मय को पिटक और जैन वाङ्मय को आगम की संज्ञा प्राप्त है। आगम के अनुसार मृत्यु या मरण के विषय में यहां सक्षेप में चर्चा करना हमारा मूलाभिप्रेत है।

पट्खण्डागम (धवला) आगम का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। धवला नामक महाग्रन्थ में मरण आयुकर्म के क्षय होने को कहा गया है। यथा

"आयुष्म क्षयस्य मरण हेतुत्वात:।"

विचार कर देखें तो यह सहज में ज्ञात हो जाता है कि जीव तत्त्व का स्वभाव गत्यात्मक है। गत्यात्मकता जीवन-प्रक्रिया की आधारभूत इकाई है। गति जब अगति का रूप धारण करती है तभी वस्तुत: मृत्यु या मरण का अभ्युदय होता है।

समुदाय और समाज में मरण या मृत्यु के प्रति सामान्यत: शुभभाव नहीं है। इसके आगमन पर स्वागत करने की बात तो कोसों दूर, मांगलिक अवसर पर इसके नाम की चर्चा करना भी अशुभ तथा अप्रिय माना जाता है। सामाजिक स्तर पर मृत्यु वस्तुत: एक अमांगलिक घटना है। विचारकर देखें तो वास्तविकता इसके सर्वथा विपरीत प्रतीत होती है।

जीवन के साथ जन्म और मरण दो अनिवार्य घटनाएँ हैं। जब-जब जन्म होता है, मृत्यु तब-तब हुआ करती है। इसप्रकार मृत्यु जन्म को निमन्त्रण देती है। जन्म मांगलिक है, तब जन्म को निमन्त्रण देने वाला भला अमांगलिक कैसा हो सकता है? वास्तविकता यह है कि जन्म और मरण दोनों कर्म

विशेष के दो महत्त्वपूर्ण परिणाम हैं । कर्म-बन्ध चाहे वह सुखद हो अथवा दु:खद, बन्धन ही है । बन्ध जब निर्बन्ध होता है, वास्तविक मांगलिकता तभी हुआ करती है ।

अब देखना यह है कि मृत्यु किस प्रकार सुखद और मांगलिक हो सकती है ? इस सत्य को जानने से पहिले यह जानना वस्तुतः परमावश्यक है कि मृत्यु क्या है और उसके कितने भेद-प्रभेद हो सकते हैं ?

जैन आगम में मरण के विषय में वैज्ञानिक तथा सूक्ष्म विवेचन हुआ है । उसे पढ़कर लगता है कि मृत्यु वस्तुत: एक आवश्यक और उपयोगी अनुष्ठान है । लोक में इसे महोत्सव की संज्ञा तक दी गई है । संसार की सभी धार्मिक मान्यताओं में मृत्यु को हेय की दृष्टि से देखा गया है । जैनधर्म ही एक ऐसी विचार प्रधान व्यवस्था देता है जिसमें मृत्यु पूर्णत: समादृत है । मृत्यु-महोत्सव मनाने का निर्देश जैनधर्म में ही उपलब्ध होता है ।

सर्वार्थ सिद्धि नामक दार्शनिक ग्रन्थ में मृत्यु के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा गया है कि अपने परिणामों से प्राप्त हुई आयु का, इन्द्रियों का और मन, वचन, काय इन तीन बलों का कारण विशेष के मिलने पर नाश होना वस्तुत: मरण कहलाता है । यथा—

"स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात्संक्षयो मरणम् ।"

नरक और देव गतियों के जीव और उनकी चर्याकला सामान्यत: हमारे नेत्रों के सामने परिलक्षित नहीं हो पाती परन्तु तिर्यंच और मनुष्य गति के जीवों का लेखा-जोखा अथवा जन्म-मरण हमारे द्वारा सामान्यत: देखा-सुना जाता है । अस्तु मृत्यु की यह लोक मान्यता सत्य प्रतीत होती है कि शरीर से प्राण का बहिर्गमन होना मृत्यु कहलाता है और किसी योनि विशेष में जीव का प्रवेश वस्तुत: जन्म माना जाता है । इस मान्यता के मूल मे भी आयु कर्म के चय और क्षय होने की बात सर्वथा उपस्थित रहती है । चय होने पर जन्म प्रक्रिया सक्रिय रहती है और क्षय हो जाने पर मृत्यु-मान्यता मुखर हो उठती है ।

राजवार्तिक नामक ग्रन्थ-राज में मरण की दो प्रमुख कोटियाँ सामान्यत: स्थिर की गई है । यथा—

"मरणं द्विविधम्— नित्य मरणं तद्भव मरण चेदि ।" अर्थात् मरण दो प्रकार का होता है ।

१ नित्य मरण

२ तद्भव मरण

नित्य मरण की चर्चा करते हुए विद्वान आचार्य स्पष्ट करते हैं कि प्रतिक्षण आयु आदि प्राणों का बराबर क्षय होते रहना वस्तुत: नित्य मरण है । यथा

"तत्र नित्य मरणं समये समये स्वायुरादीनां निवृत्ति: ।"

इसी नित्य मरण को भगवती आराधना नामक ग्रन्थ में 'आवीचि मरण' भी कहा गया है । तद्भव मरण के विषय में ज्ञातव्य है कि—

"तद्भव मरणं भवान्तर प्राप्त्यनन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभव विगमनम् ।" अर्थात् नूतन शरीर पर्याय को धारण करने के लिये पूर्व पर्याय का नष्ट होना तद्भव मरण कहलाता है । तद्भव मरण ही वस्तुत: सर्वदृष्ट है । जैनागम में इसके अनेक भेद-प्रभेद किए हैं तथापि यहां इसके पंच भेदों की मान्यता का उल्लेख करना आवश्यक समझता हूं क्योंकि इन्हीं के अन्तर्गत शेष प्रभेद वस्तुत: स्वयं समाहित है । भगवती आराधना में मरण के भेद-प्रसंग में स्पष्ट कहा गया है । यथा—

"पंडिदपंडिद मरणं पंडिदमरणं पंडिदयं बालपंडिदं चेव । बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च ।" अर्थात् मरण पांच प्रकार का होता है—

१ पण्डित पण्डित मरण

२ पण्डित मरण

३ बाल पण्डित मरण

४ बाल मरण

५ बाल-बाल मरण

भगवती आराधना नामक ग्रन्थ में इन पांच प्रकार के मरण की पात्रता निम्न प्रकार चर्चित की गई है। क्षीण कषाय केवली के मरण को पण्डित-पण्डित मरण कहा जाता है। चारित्रवान मुनिवृन्द प्रायः पण्डित मरण को प्राप्त होते हैं। विरताविरत जीव के मरण को बाल पण्डित मरण कहा जाता है। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के मरण को बालमरण कहते है। इसी बालमरण को दूसरे शब्दों में रत्नत्रय का नाश करके समाधिमरण के बिना मरना वस्तुतः बालमरण कहलाता है। मिथ्यादृष्टि जीव के मरण को बाल-बाल मरण कहा जाता है।

मृत्यु और जन्म जीव-तत्त्व की दो प्रमुख अवस्थाएँ हैं। अभी मृत्यु अथवा मरण के रूप और उसके वैविध्य स्वरूप पर संक्षेप में विचार किया जा चुका है। जब तक आयुकर्म के साथ वसु-कर्मों का पूर्णतः क्षय नहीं हो जाता तब तक पुरुषार्थ चतुष्टय के चरम रूप अर्थात् मोक्ष पद को उपलब्ध नहीं किया जा सकता। प्रश्न यह है कि यदि जन्म और मरण को पाना ही है तो हमें उसके किस रूप को पाना अधिक श्रेयस्कर है।

अभी उपर्यंकित मृत्यु और उसके स्थूल प्रकारों पर संक्षेप में चर्चा की गई है। इसमें पण्डित-पण्डित मरण उत्कृष्ट कोटि का उल्लिखित है और बाल-बाल मरण निकृष्ट कोटिका। सामान्यतः सांसारिक प्राणी इसी प्रकार की मृत्यु को पाकर भव-चक्र के चंक्रमण को गतिशील बनाते हैं। जो बुद्धिहीन, अज्ञानी, आहारादिक वांछा-रूप संज्ञावाले मन, वचन, काय की कुटिलता रूप परिणामवाले जीव आर्त, रौद्र ध्यान रूप असमाधिमरण कर परलोक मे जाते हैं वे वस्तुतः आराधक नही हैं। शस्त्र से, विषपान से, अग्नि द्वारा जलने से, जल मे डूबने से, अनाचार रूप वस्तु के सेवन से, अपघात करना जन्म-मरण रूप संसार को बढाने वाले हैं। अर्थात् वह बालमरण रूप को प्राप्त होते हैं।

निर्मम, निरहंकार, निष्कषाय, जितेन्द्रिय, धीर, निदान रहित, सम्यग्दर्शन सम्पन्न जीव मरते समय आराधक होता है, वह वस्तुतः पण्डितमरण से मरण करता है। अज्ञानी जीव के मरण को प्रायः बालमरण कहा जाता है। बाल मरण को आगम में पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—

(१) अव्यक्त बालमरण

(२) व्यवहार बालमरण

(३) ज्ञान बालमरण

(४) दर्शन बालमरण

(५) चारित्र बालमरण

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को जानता नहीं तथा उनका आचरण करने में जिसका शरीर प्रायः असमर्थ है, वह वस्तुतः अव्यक्त बालमरण को प्राप्त करता है। जिसको लोक-व्यवहार, वेद का ज्ञान तथा शास्त्र ज्ञान नहीं है वह वस्तुतः व्यवहार बालमरण को प्राप्त करता है। जीवादि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान जिसको नहीं है उसका प्रायः ज्ञान बाल मरण होता है। तत्त्वार्थश्रद्धान रहित मिथ्यादृष्टि जीव दर्शन बालमरण

को प्राप्त करता है। चारित्रहीन प्राणी को चारित्र बालमरण मिला करता है। इस प्रकार बालमरण से भी हमें सामान्यतः दूर, बहुत दूर रहना चाहिये अर्थात् वर्तमान में हम इस प्रकार के मरण से अपने को बचा सकते हैं।

इस प्रकार पण्डित मरण सामान्य संसारी जीव के लिये हितकारी मरण है। हमें अपने पुरुषार्थ द्वारा कम से कम पण्डित मरण को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। आगम में पण्डित मरण को चार कोटियों में विभाजित किया गया है।

(१) व्यवहार पण्डित मरण
(२) सम्यक्त्व पण्डित मरण
(३) ज्ञान पण्डित मरण
(४) चारित्र पण्डित मरण

लोक, वेद, समय के व्यवहार में जो निपुण हैं वे व्यवहार पण्डित मरण को प्राप्त होते हैं। ऐसे मृतक जीवों में शास्त्रों की जानकारी तथा सुश्रूषा, श्रमण, धारणादि बुद्धि के गुणों की सम्पन्नता रहती है। क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शन से जीव दर्शन-पण्डित मरण को पाता है। मति आदि पांच प्रकार के सम्यग्ज्ञान से जो जीव परिणत है, उसको ज्ञान पण्डितमरण होता है। सामायिक छेदोपस्थापना आदि पांच प्रकार के चारित्र धारक जीवों को चारित्र पण्डित मरण प्राप्त होता है।

सल्लेखना, मरण का एक विशिष्ट प्रकार है। अतिवृद्ध अथवा असाध्य रोगग्रस्त हो जाने पर, अप्रतिकार्य उपसर्ग आ पड़ने पर दुर्भिक्ष आदि के होने पर साधक साम्यभाव पूर्वक अन्तरंग कषायों का सम्यक् प्रकार दमन करते हुए, भोजन आदि का त्याग करके, धीरे-धीरे शरीर को कृश करते हुए, इसका त्याग कर देते है। इसे ही सल्लेखना कहते हैं। शास्त्रो मे इसका अपर नाम समाधिमरण भी उल्लिखित है। सम्यग्दृष्टि जनों को यथावत: सम्भव होने से उसे पण्डित मरण भी कहा जाता है। शरीर के प्रति जो स्वभाव से ही उपेक्षित हैं, ऐसे श्रावक या साधु को ऐसे अवसरों पर अथवा आयु पूर्ण होने पर ही इसप्रकार की वीरता से शरीर का त्याग वस्तुतः सल्लेखना कहलाता है। अज्ञजन सल्लेखना को आत्मघात कहते हैं किन्तु यह आत्मघात न होकर वीर मरण कहलाता है।

लोक में अकालमृत्यु भी प्रचलित है। इसे कदलीघात भी कहा जाता है। विष खाने से, वेदना से, रक्त का क्षय होने से, तीव्र भय से, शस्त्र घात से, संक्लेश की अधिकता से, आहार और श्वासोच्छ्वास के रुक जाने से आयु क्षीण हो जाती है, उसे सामान्यतः कदलीघात कहा जाता है। देव, नारकियों, भोगभूमियों तथा चरम शरीरियों की सामान्यतः अकालमृत्यु नहीं हुआ करती। अकाल मृत्यु से मरने पर संसार-चक्र की गत्यात्मकता प्रोन्नत होती है।

इसप्रकार हमें मृत्यु अथवा मरण की अनिवार्यता को सावधानी पूर्वक समझना चाहिये। मरण-आगमन से हमें निरर्थक भयभीत नहीं होना चाहिये। ज्ञानबल से भयका शमन होता है। सल्लेखना अथवा पण्डित मरण को प्राप्त कर हमें जीवन पर्याय में उत्पन्न शुभ परणति प्राप्त करना चाहिये। अज्ञान-मृत्यु, अंधकार पूर्ण जीवन को जन्म देती है। हम मरें, तो ज्ञान पूर्वक मरें, सल्लेखना पूर्वक मरें और उत्तम कुल पर्याय में जन्म पाकर आत्म कल्याण करने को अपने मे पात्रता प्राप्त करें।

मृत्यु के रूप-स्वरूप को समझ लेने पर जीवन में उसकी अनिवार्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अपने जीवन से हमें राग-द्वेष परक वृत्तियों का परित्याग करना परम आवश्यक है तभी हम मृत्यु की महिमा का अनुभव कर सकते हैं। पदार्थ-ममत्व द्वारा इस दिशा मे बाधक की भूमिका निभाई जाती है। समत्व आने पर इसकी अनिवार्यता स्पष्ट हो जाती है। तब हम निर्बाध रूप से मृत्यु-महोत्सव मनाकर स्वस्तिमार्ग के शुभ संचालन में सहयोग प्रदान कर सकते है।

✿

कर्म सिद्धांत

❖ १०५ आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी

[आर्यिका १०५ श्री इन्दुमतीजी संघस्थ]

सभी आस्तिक दार्शनिकों ने एक ऐसी सत्ता अंगीकार की है जो जीव तत्त्व को प्रभावित करती है उसके स्वीकार किये बिना जीवोंमें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होनेवाली विषमता की तथा एक ही जीव में विभिन्न कालों में होने वाली विरूप अवस्थाओं की संगति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। यदि सब जीव स्वभावत: समान हैं तो एक मानव और दूसरा कीट के रूप में क्यों है ? अगर जीव नित्य है तो मृत्यु उसे क्यों अपना शिकार बना लेती है ? यदि विराट चैतन्य उसका स्वरूप है तो जड़ता और अज्ञान के गहन अन्धकार में जीव क्यों ठोकरें खा रहा है ? अमूर्त है तो शरीर के कारागार में क्यों बद्ध है ? इस प्रकार की प्रश्न माला का जीव विरोधी दूसरी सत्ता को स्वीकार किये बिना समाधान नहीं हो सकता है।

वह सत्ता वेदान्त में माया या अविद्या, सांख्य में प्रकृति और वैशेषिक दर्शन में अदृष्ट नाम से स्वीकार की है। जैनदर्शन उसे "कर्म" कहता है। प्रत्येक दर्शन मे उसका लक्षण और नाम करण भिन्न २ प्रकार का है, किन्तु जैनदर्शन में कर्म का जैसा सांगोपांग और तर्कसंगत विवेचन है वह अन्य किसी दर्शन में नहीं देखा जाता है। जैनाचार्यों ने कर्म सिद्धान्त पर अनेक विध साहित्य का सृजन किया है।

"प्रत्येक दार्शनिकों की कर्म व्याख्या"

भारतीय दार्शनिकों ने "कर्म" शब्द का प्रयोग भिन्न २ अर्थों में किया है।

(१) वैयाकरण—जो कर्त्ता के लिये अत्यन्त इष्ट हो उसे 'कर्म' कहते हैं।

(२) मीमांसक—यज्ञ आदि क्रियाकाण्ड को कर्म कहते हैं।

(३) वैशेषिक—दर्शन में कर्म की इस प्रकार परिभाषा है—जो एक द्रव्य में समवाय से रहता हो जिसमें कोई गुण न हो और जो संयोग तथा विभाग में कारणान्तर की अपेक्षा न करें वह कर्म है।

सांख्यदर्शन में 'संस्कार' को कर्म कहा है। अथवा अन्त:करण की वृत्तिको कर्म मानते हैं। गीता में क्रियाशीलता को कर्म माना है।

कुमारिल भट्ट धर्म को द्रव्य, गुण और कर्मरूप मानते हैं अर्थात् जिन द्रव्य-गुण और कर्म से वेद विहित योग किया जाता है वह कर्म है।

बौद्ध—चित्तगत वासना को कर्म मानता है।

महाभारत में आत्मा को बांधने वाली शक्ति को कर्म कहा है। इसलिये महाशांति-पर्व के २४०—७ में लिखा है—

"प्राणी कर्म से बंधता है और विद्या से मुक्त होता है"

पांतजल योग सूत्र मे वासना को कर्म माना है। उसी कर्म के अनुसार जीव सुखी व दुःखी होता है। इसप्रकार भारतीय दार्शनिकों के कर्म पर विशेष विचार व्यक्त हुए हैं।

जैन सिद्धान्त में इस कर्मविज्ञान पर जो प्रकाश डाला गया है वह अन्य दर्शनो में नही पाया जाता है। जैनागम में कर्मविज्ञान पर बहुत गम्भीर, विशद वैज्ञानिक, चिन्तना की गई है। इस कर्मवाद का मूल प्रयोजन है जगत की दृश्यमान विषमता की समस्या को सुलझाना।

जैनवाङ्मय के कर्मसाहित्य नामक विभाग के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि जैन आगम की यह मौलिक विद्या रही है।

कर्मसिद्धान्त के बिना जैनसिद्धान्त का विवेचन पगु हो जाता है। जैनसिद्धान्त प्रत्येक प्राणी को अपना भाग्य-विधाता मानता है। इसलिये ईश्वर की सहायता के बिना विश्व की विविधता का व्यवस्थित समाधान करना जैन-दार्शनिकों के लिये अपरिहार्य है—अर्थात् ससार मे जो अनेक प्रकार की विषमता है उसका कारण कर्म ही है। जैनाचार्यों का कथन है कि—

योगों के निमित्त से आत्म-प्रदेशों में प्रकम्पन होते हैं और उस कम्पन से पुद्गल परमाणु का पुंज आकर्षित होकर आत्मा के साथ मिल जाता है उसे 'कर्म' कहते हैं। प्रवचनसार की टीका के कर्त्ता अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है—

आत्मा के द्वारा प्राप्य होने मे क्रिया को कर्म कहते है। उस क्रिया के निमित्त से परिणमन विशेष को प्राप्त पुद्गल भी कर्म कहलाता है। भावकर्म और द्रव्यकर्म के भेद से कर्म दो प्रकार का होता है। जिन रागद्वेषादि भावों से पुद्गलपिण्ड आकर्षित होकर आत्मा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं, वह भाव भावकर्म है।

"मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः"।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच बंध के कारण हैं। वह मिथ्यात्व आदि भावकर्म हैं और उन भावों से आकर्षित आत्मा मे विकृति उत्पन्न कराने में निमित्त पुद्गल पिंड द्रव्यकर्म है।

स्वामी अंकलंक देव का कथन है—

जिस प्रकार पात्र विशेष में रखे गए अनेक रस वाले बीज, पुष्प तथा फल मद्यरूप से परिणमित होते हैं, उसी प्रकार आत्मा में स्थित पौद्गलिक विस्रसोपचय क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषायों का तथा मन, वचन, काय से निमित्त से आत्म-प्रदेशों के परिस्पदनरूप योगके कारण कर्मरूप परिणत हो जाते हैं।

पंचाध्यायी में लिखा है कि—

"आत्मा मे एक वैभाविक शक्ति है जो पुद्गल पुंज के निमित्त को पाकर आत्मा में विकृति उत्पन्न करती है।"

कर्मके उदयसे जब यह जीव मोह, राग-द्वेषरूप विकारीभाव करता है, तब उन भावों को भावकर्म कहते हैं। तथा इन्हीं भावकर्मों का निमित्त पाकर कार्माण वर्गणाएं जब कर्मरूप परिणत होकर आत्मा से सम्बद्ध हो जाती है तब उन्हें द्रव्यकर्म कहते हैं।

द्रव्यकर्म सामान्यत: सब एक होते हैं द्रव्यकर्म-भावकर्म या घाति, अघाति, पुण्य-पाप की अपेक्षा दो प्रकार के हैं—

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय के भेद से कर्म आठ प्रकार का है। तथा उत्तर प्रकृति की अपेक्षा १४८ प्रकार का है वा बध्यमान की अपेक्षा से असंख्यातलोक प्रमाण भी इसके भेद हैं। असंख्यातलोक प्रमाण भेदों की गणना करना असम्भव है इसलिये संक्षेप में कर्मों के आठ भेद कहे गये हैं।

संसारी जीव किसी पदार्थ को देखता है, जानता है तत्पश्चात् उसका श्रद्धान करता है। इसलिये दर्शन, ज्ञान और श्रद्धान (सम्यक्त्व) यह जीव के तीन प्रधान गुण प्रतीत होते हैं। इन्हीं गुणों पर आवरण करने वाले कर्मों को क्रम से रखा जाये तो दर्शनावरण, ज्ञानावरण और मोहनीय यह क्रम प्राप्त होता है, परन्तु आत्मा में ज्ञानगुण पूज्य माना गया है और पूज्य को पहला स्थान दिया जाता है, ऐसा व्याकरण सम्बन्धी नियम और लौकिक परिपाटी भी है। अत: ज्ञान गुण के पूज्य होने से उसके प्रतिपक्षी ज्ञानावरणकर्म को आचार्यों ने आत्म स्वभाव के प्रतिपक्षी कर्मों की पंक्ति में प्रथम स्थान दिया है। इसप्रकार ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय यह क्रम प्राप्त हुआ।

अन्तराय कर्म घातिया है फिर भी अघातिया कर्मों के अन्त में उसे स्थान दिया गया है, क्योंकि वह घातिया होकर भी अघातिया कर्मों की तरह समस्तपने से गुणों को घातने में समर्थ नहीं है तथा वह नामकर्म, गोत्रकर्म और वेदनीय कर्म के निमित्त से ही कार्यकारी होता है। अत: अन्तराय कर्मको सबसे अंत में गिनाया है।

नामकर्म चारगति या शरीर की स्थितिरूप है और शरीर की स्थिति आयु के बिना नहीं हो सकती है, इसलिए आयुकर्म पहले कहकर पश्चात् नामकर्म का उल्लेख किया है तथा शरीर के आधार पर ही नीचपना और उच्चपना कहा जा सकता है, अत: उस उच्च-नीच अवस्था को करनेवाला गोत्रकर्म नामकर्म के पश्चात् कहा गया है।

अब प्रमुख बात यह है कि वेदनीय कर्म अघातिया है फिर भी उसे घातिया कर्मों में मोहनीय कर्म के पहले रखा गया है। इसका कारण यह है कि वेदनीयकर्म मोह राग-द्वेष के उदय के बल से घातिया कर्मों की तरह जीव के गुणों का घात करता है, अत: घातने रूप क्रिया का सद्भाव होने से घातिया कर्मों के बीच में वेदनीयकर्म रखा गया है तथा मोहनीयकर्म के पूर्व रखने का कारण यह है कि वेदनीयकर्म राग और द्वेष इन दोनों का निमित्त पाकर सुख-दु:ख रूप साता, असाता का अनुभव कराकर जीवका उपयोग ज्ञानादि गुणों में नहीं लगने देता पर-स्वरूप मे लगाता है इसप्रकार ज्ञानादि गुणों का प्रतिषेधक होने से ज्ञानावरण और दर्शनावरण के पश्चात् तथा मोहनीय के पूर्व वेदनीयकर्म का स्थान निश्चित होता है इसप्रकार विवक्षित क्रम सार्थक ही है।

ज्ञानावरणादि आठों कर्मों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं।

(१) घातिया कर्म और (२) अघातिया कर्म।

जो जीव के देवत्वरूप गुणों के घात करने में निमित्त हों वे घातिया कर्म हैं तथा जो जीव के देवत्वरूप गुणों के घात में निमित्त न हों वे अघातिया कर्म हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय ये चारों ही घातिया और शेष चार अघातिया कर्म हैं। इन कर्मों का संक्षिप्त स्वरूप निम्न है—

ज्ञानावरण—आत्मा के ज्ञान गुण के घात में जिस कर्म का उदय निमित्त रहता है । उसे ज्ञानावरण कर्म कहते हैं । जिसप्रकार वस्त्र चित्र को ढक लेता है । उसका ज्ञान भी नहीं होने देता, परन्तु वस्त्र के मात्र ढकने से चित्र का कुछ भी नहीं बिगड़ता है उसीप्रकार ज्ञानावरणकर्म ज्ञान के ऊपर आवरण डाल देता है । आवरण डालकर ज्ञान की प्रगटता में बाधक तो बनता है पर, ज्ञान का बिगड़ता कुछ भी नहीं है ।

दर्शनावरण—आत्मा के दर्शनगुण के घात करने में जिस कर्म का उदय निमित्त होता है, उसे दर्शनावरण कर्म कहते हैं । जिस प्रकार प्रतिहारी राजा से मिलने में बाधक बनता है, उसी प्रकार दर्शनावरणकर्म वस्तु स्वरूपके दर्शन (सामान्य अवलोकन) में बाधक बनता है ।

वेदनीय कर्म—आत्मा में सुख-दुःखरूप आकुलता करने में जिस कर्म का उदय निमित्त होता है उसे वेदनीयकर्म कहते है । इसको शहद लिपटी तलवार के समान कहा गया है । जिस प्रकार उक्त तलवार की धार को चाटने से पहले तो मीठा स्वाद आता है, परन्तु बाद मे जीभ कट जाने से दुःख ही होता है, उसीप्रकार वेदनीय कर्म के उदय में साता-असातारूप वेदन होता है ।

मोहनीयकर्म—जब जीव अपने स्वरूप को भूलकर पर में प्रवृत्ति करता है तब जिस कर्म का उदय निमित्त होता है, उसे मोहनीयकर्म कहते हैं । जिस प्रकार मदिरा, मदिरापायी को अचेत कर देती है उसी प्रकार मोहनीयकर्म इस आत्मा को स्वरूप भुलाकर अचेत कर देता है ।

मोहनीयकर्म सभी कर्मो का अधिपति है, इसलिये इसके सद्भाव मे किसी भी कर्म का अभाव नहीं होता है और मोहनीयकर्म के अभाव में शेष कर्म स्वतः नष्ट होते जाते हैं । इसलिये मोहनीयकर्म अन्य नवीनकर्म बंध में कारण है ।

आयुकर्म—जो जीव को नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव पर्याय में रोक कर रखता है । अर्थात् संसार पर्याय में आत्मा के रोकने में जो निमित्त बनता है उसको आयुकर्म कहते है । जैसे साकल, बेडी आदि अपराधी को कैद खाने में बांधकर रखती है, वैसे ही आयुकर्म जीवको नर-नरकादि पर्यायो मे बाधकर रखता है ।

नामकर्म—संसार पर्याय मे जीव के नाना आकार बनाने में जो निमित्त होता है या जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की रचना होती है उस कर्म को नामकर्म कहते है । उसे चित्रकार की उपमा दी गई है, क्योंकि जैसे चित्रकार अनेक प्रकार के चित्र बनाता है उसी प्रकार नामकर्म जीव के नर-नरकादि अनेक रूप बनाता है ।

गोत्रकर्म—जीव के उच्च कुल में वा नीच कुल में उत्पन्न होने में निमित्त कारण बनता है । जिसप्रकार कुम्भकार वर्तनों का छोटा-बड़ा आकार बनाता है उसी प्रकार गोत्रकर्म जीव को उच्च और नीच कुल में उत्पन्न करता है ।

अन्तरायकर्म— जिस कर्म का उदय जीव के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य के विघ्न करने में निमित्त हो उसे अन्तरायकर्म कहते हैं । जैसे खजांची राजा को दानादि कार्यों मे धनव्यय करने में रोक लगाता है अर्थात् बाधक होता है उसी प्रकार अन्तरायकर्म जीव को दान-लाभादि कार्यों में विघ्न उत्पन्न करके बाधक बनता है । यह आठ मूल भेद हैं ।

कर्मों के उत्तर भेद १४८ हैं । ज्ञानावरणीय के ५, दर्शनावरणीय के ६, वेदनीय के २, मोहनीय के २८, आयु के ४, नाम के ६३, गोत्र के २ और अन्तराय के ५ भेद हैं । तथा इनके विशेष भेद-प्रभेद किये जावें तो असंख्यातलोक प्रमाण भेद हैं । जैसे मतिज्ञान के ३३६ भेद हैं तो उसका आवरण करनेवाला मतिज्ञानावरणीय-कर्म भी ३३६ प्रकार का होता है । इनका विशेष कथन गोम्मट्टसारादि ग्रन्थों में देख लेना चाहिये गणना विस्तार भय से यहां नही की जा रही है ।

प्रत्येक प्रकृति की चार-चार अवस्था होती हैं।

(१) बंध (२) उदय (३) सत्त्व (४) उदीरणा।

(१) बंध—कर्मप्रदेशों का आत्मप्रदेशों में दूध-पानी के समान एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध हो जाना बंध है।

(२) उदय—स्थिति पूर्ण करके जो कर्म उदय में आकर फल देते हैं उस कर्म विपाक के अनुभवकाल को उदय कहते हैं।

(३) सत्त्व—धान्य के संग्रह के समान जो पूर्व संचित कर्मों का आत्मा में अवस्थित रहना सत्त्व है।

(४) उदीरणा—अपनी स्थिति पूर्ण किये बिना ही किसी निमित्त वशात् कर्मो का उदय में आकर फल देने के काल को उदीरणा कहते हैं।

विषयानुसार इन चारों में बन्ध का वर्णन ही अपेक्षित है। अत: उसे कहा जाता है—बन्ध के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये चार भेद कहे है।

प्रकृतिबंध—"ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मणा तत्तद्योग्यपुद्गलद्रव्य स्वीकार:" अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्मों के योग्य पुद्गल वर्गणाओं को स्वीकार करना या ज्ञानादि गुणों को आच्छादन करने का स्वभाव प्रकृतिबन्ध है।

स्थितिबंध—"जोग वसेण कम्मस्सरूवेणपरिणदाणं पोग्गलखंधाणं कसायवसेण जीवे एग सरूवेणाव-ट्ठाण कालो ठिदिणाम।" योग के वश से कर्मरूप से आई हुई वर्गणाओं का कषाय के कारण आत्मा के साथ एक स्वरूप से रहने के काल को स्थितिबध कहते हैं।

अनुभागबंध—"कम्माणं जो दु रसो अज्झवसाण जणिद सुह असुहो वा।
बंधो सो अणुभागो पदेसबन्धो इमो होई ॥"

कषायादि परिणाम जनित ज्ञानावरणादि कर्मों को जो शुभ और अशुभ रस है या फल देने की शक्ति है उसको अनुभागबन्ध कहते हैं।

प्रदेशबन्ध—"इयत्तावधारणं प्रदेश: कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणु परिच्छेदेनाव धारणं प्रदेश:" इयत्ता (सख्या) का अवधारण करना प्रदेश है और कर्म रूप से परिणत पुद्गलस्कन्धों के परमाणुओं की जानकारी करके निश्चय करना प्रदेशबन्ध है।

उक्त चारों प्रकार के बंध का मूलकारण कषाय और योग है। कषाय के निमित्त मे स्थिति और अनु-भागबन्ध तथा योग के निमित्त से प्रकृति और प्रदेशबन्ध होता है। कषाय और योग में जैसे प्रकर्षाप्रकर्ष भेद होते हैं वैसे बन्ध के भी नाना भेद होते हैं इस सन्दर्भ में निम्न गाथा दर्शनीय है—

जोगापयडि पदेसा ठिदि-अणुभागा कसायदो होंति।
अपरिण दुच्छिण्णेसु य बंधट्ठिदि कारणं णत्थि ॥ गो कर्म गाथा २५७॥

इससे यह सिद्ध होता है बंध के मुख्य कारण कषाय और योग हैं। इनके अभाव में कर्मबन्ध नहीं हो सकता। दसवें गुणस्थान तक कषाय और योग इन दोनों से बन्ध होता है ११-१२-१३ वें गुणस्थान में योग के निमित्त से बन्ध होता है स्थिति और अनुभाग के कारणभूत कषाय नहीं होने से केवल सातावेदनीयरूप प्रकृति का ही बन्ध होता है। इसलिये इन गुणस्थानों में ईर्यापथ आस्रव होने से कर्म (सातावेदनीय) आते हैं और चले जाते हैं उनका २-३ आदि समय तक अवस्थान नहीं होता इसलिये स्थितिबंध से इन गुणस्थानों में प्राप्त होने वाला

अनुभागबन्ध अनन्तगुणा हीन होता है[1]। यद्यपि कर्मबन्ध के मुख्यकारण कषाय और योग हैं और उसमें विशेष भेद किये जायें तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं और विशेष विश्लेषण किया जाये तो भिन्न २ कर्मों के बन्ध के कारण भी भिन्न-भिन्न है जैसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण के बन्ध के कारण (१) शास्त्र और शास्त्रज्ञाताओं का अनादर करना, ज्ञान के साधनों का विच्छेद करना, निर्दोष और प्रशंसनीय ज्ञान में दूषण लगाना अथवा उनमें द्वेष बुद्धि रखना, तत्त्व ज्ञानमें हर्ष नहीं मानना, तत्त्व ज्ञानियों को देखकर ईर्ष्यारूप परिणाम होना, तत्त्वोपदेश की उपेक्षा करना, ईर्ष्या के वशीभूत होकर जानते हुए भी, मैं नहीं जानता हूं ऐसा कहकर ज्ञानादिका अपलाप करना, ज्ञान के साधनों में बाधा डालना, अपनी दृष्टि का गर्व करना आदि कारणों से ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीयकर्म का बन्ध होता है।

असातावेदनीयकर्म के बन्ध के कारण—दुःख करना, शोक करना, दूसरों की चुगली करना, ऐसा रुदन करना जिससे दूसरों को भी सन्ताप हो जावे आदि प्रवृत्ति असाता के बन्ध की कारण है। इससे विपरीत अनुकम्पा के भाव दानपूजा की प्रवृत्ति, शांति, क्षमा, लोभका अभाव आदि भावों से साता वेदनीय का आस्रव होता है।

मोहनीयकर्म के बन्ध का कारण—देव, शास्त्र, गुरु की प्रतिकूलता बताकर, प्रतिकूलता को ग्रहण करने से, तीव्र कषाय या राग-द्वेष से युक्त होने से दर्शन मोहनीयकर्मका बन्ध होता है सम्यक्चारित्र के विपरीत जिसका स्वभाव हो ऐसा जीव कषाय वेदनीयरूप चारित्रमोहनीयकर्म को बांधता है।

पृथक् पृथक् आयुकर्म बन्ध के कारण—मिथ्यात्व से युक्त, बहुत आरम्भ परिग्रह, शीलरहित जीव नरकायु बाँधता है। जो जीव मन्दकषाय वाला, दानादि मे प्रीतिवाला, मरणान्तकालमे संक्लेशपरिणाम नही करने वाला है वह मनुष्य आयु के बन्ध को करता है। देशसंयम व सकलसंयम के धारण से, धर्मानुराग से और सम्यक्त्व से देवआयु का बन्ध होता है।

यह विशेषता है कि चारों गति का बन्ध अति जघन्य भी नही और अति उत्कृष्ट भी नहीं, मध्यम परिणामों से होता है।

नामकर्म के बन्ध योग्य परिणाम—जो मन, वचन, काय से कुटिल हो, मायावी, अपनी प्रशंसा चाहने वाला हो, वह अशुभनामकर्म को बाधता है और इससे विपरीत शुभ नामकर्म का भागी होता है तथा सर्वोत्कृष्ट पुण्य प्रकृति तीर्थंकर नामकर्म है, जिसके बन्ध की कारण सोलहकारण भावना है।

गोत्रकर्म के बन्ध का कारण—देवभक्ति, शास्त्रभक्ति, गुरु विनय, इनसे उच्चगोत्र का बंध होता है और इससे विपरीत कारणों से नीचगोत्र का बन्ध होता है।

अन्तरायकर्म बन्ध के कारण—दान में अन्तराय करना, प्राणियों को बांधकर रखना तथा अंगछेदनादि से, दूसरों की शक्ति का अपहरण करना तथा धर्म कार्यच्छेद करना इन कारणों से अन्तरायकर्म बंधता है। इस प्रकार यह विशेष रूपसे बन्ध के कारण कहे है, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि सभी कर्मों के बन्ध में रागादिभावों की प्रधानता है।

कर्मों के उत्तर भेदो में जो १४८ प्रकृतियां हैं उनमें बन्ध योग्य १२० ही प्रकृति हैं क्योंकि अभेद विवक्षा से २८ प्रकृतियां इन्ही में अन्तर्भूत हो जाती हैं। जैसे मोहनीय की सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व-

---

१. यहां लेखक ने ११-१२-१३ वें गुणस्थान में होनेवाले सातावेदनीय कर्म के (ईर्यापथ आस्रव से) एक समय वाले स्थिति बन्ध से अनुभागबन्ध को अनन्तगुणा हीन लिखा है, किन्तु ध. पु. १३ पृ. ५३ पर कहा है कि एक समय की स्थिति सहित सातावेदनीय का अनुभाग अनन्तगुणा होता है।

प्रकृति का बन्ध नहीं होता, किन्तु करणलब्धि के समय तीन खण्ड हो जाते हैं इसलिये मिथ्यात्व में गर्भित हो जाती है, क्योंकि इनका आधार मिथ्यात्व ही है। अर्थात् यह मिथ्यात्व का ही भेद है। नामकर्म की औदारिक आदि पांच बन्धन और पांच संघात का पांचों शरीर में अन्तर्भाव हो जाता है, क्योकि जिस शरीर का बन्ध होगा उसके साथ तत्सम्बन्धी बन्धन और संघात का बन्ध होगा ही तथा वर्ण के कृष्णादि पांच रसप्रकृति मधुरादि पांच, गंधके दुर्गंध, सुगन्ध, स्पर्शके शीत-उष्णादि आठ भेदों का मूलभूत स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इन चारों मे अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिये नामकर्म की २६ प्रकृति और मोहनीय की दो इनको कम देनेपर बंध योग्य १२० प्रकृति है।

मोह और योग के निमित्त से जीवों के औपशमादिक भावों के तारतम्यरूप जो स्थान होते हैं, उन्हें गुणस्थान कहते हैं। मुख्यत: ये १४ माने गये हैं तथा अमुक गुणस्थान में रहनेवाला मिथ्यात्वगुणस्थानवर्त्ती कहलाता है। इसप्रकार गुणस्थान की अपेक्षा जीवो की संज्ञा कर उनमें किन-२-प्रकृतियों की बन्ध व्युच्छित्ति होती है एतदर्थ विशेष व्याख्यान के लिए गोम्मटसार कर्मकाण्ड का अध्ययन करना चाहिए।

इस प्रकार कषाय और योग से होने वाले गुणस्थान में कर्मो का बंध होता है। उन कर्मों का नाशक वा उच्छेदक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। जैसे-जैसे सम्यग्दर्शनादि गुणों का विकास होता है वैसे-वैसे कर्म बन्धन ढीले पड़ते जाते है। कषाय मन्द-मन्दतर-मन्दतम होकर नष्ट हो जाती है। कषायों का अभाव होना ही कर्मों के नाश का मुख्य कारण है। इसलिए मानव का कर्तव्य है— विषय और कषायो पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। ये विषय, कषाय ही आत्मा के शत्रु है। ये ही जीव को शरीररूपी कारागृह में बांधकर अनादिकाल से संसार में भ्रमण करा रहे है। इन कषायो पर विजय प्राप्त करने के लिये परम पुरुषार्थ की आवश्यकता है और उस पुरुषार्थ को करना प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है।
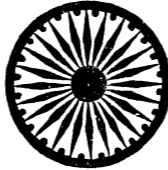
जीवन का सार समय है और समय का सार स्वसमय है। जो समय का चिन्तन करने के लिये सामायिक में आत्म मग्न होता है वही स्वात्मा को प्राप्त करता है। आत्मा में स्थिति करना ही तो सामायिक है। समय हो समय की सहायता से समय में स्थित हो रहा है, ऐसा वह समय स्वद्रव्य आत्मा ही है।

आत्मस्वातन्त्र्य प्रेरक

कर्म सिद्धान्त

❖ आर्यिका १०५ श्री आदिमतीजी

[प० पू० १०८ आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज की शिष्या]

सम्पूर्ण विश्व पर दृष्टिपात करने पर यह अनुभव होता है कि प्रत्येक जिजीविषु प्राणी अपनी स्वाभाविक परिणति को विकृत किये हुए है और जब यह अनुभव सिद्ध है तो उस विकृतावस्था का कोई कारण भी अवश्य होना चाहिए, क्योंकि विश्व में देखा जाता है कि कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं होता है । कारण की खोज करने पर 'कर्म' यह कारण प्राप्त होता है । अर्थात् संसार का प्रत्येक प्राणी कर्मशृंखला से प्रतिबद्ध है और संसार परिभ्रमण करते हुए जो उसकी विविध अवस्थाएं हैं वे सभी कर्मप्रेरित हैं । यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त 'कर्मसिद्धान्त' नाम से अभिहित किया गया है । यही कर्म प्रत्येक प्राणी की स्वतन्त्र सृष्टि का विधाता है । 'कर्म' शब्द से इसी विधाता का ग्रहण अभीष्ट है । वैसे तो कर्म के पर्यायवाची शब्द अनेक हैं—यथा—[1]"विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृतकर्म, ईश्वर आदि कर्मरूपी ब्रह्मा के वाचक शब्द हैं ।" कर्म शब्द अनेक प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है जैसे—कर्मकारक, क्रिया तथा जीवके साथ बंधने वाले विशेष जाति के पुद्गलस्कन्ध । इनमें से तृतीय अर्थ ही अभीष्ट है और उसी का प्रतिपादन प्रस्तुत निबन्ध का विषय है । जीव के साथ बंधने वाले कर्मरूप से परिणत पुद्गलस्कन्ध ही कर्म कहलाते हैं और उन्हीं कर्मों के कारण यह जीव अनादिकाल से परतन्त्र हो रहा है तथा अपनी वैभाविक परिणति के कारण स्वयं की सृष्टि का सृजन करता है अन्य कोई सृष्टिकर्ता ईश्वर या विधाता नहीं है ।

हम प्रतिदिन देखते हैं कि जो जीवित हैं वे एक दिन मर जाते है और उनका स्थान दूसरे प्राणी ले लेते हैं । जीवन-मरण की यह प्रक्रिया अनादिकालीन है । साथ ही हम यह भी अनुभव करते हैं कि विभिन्न देशों या कुलों मे जन्म लेने वाले लोगों में विषमता तो है

---

१ विधि स्रष्टा विधाता च दैवं कर्म पुराकृतम् ।
ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेयाः कर्मवेधसः ।।४।३७।।महापुराण.

ही, किन्तु एक ही माता से उत्पन्न होनेवाली सन्तानों में भी विषमता दिखाई देती है। मानवों में ही नहीं किन्तु तिर्यंचों में भी हम वैषम्य का सुतरां प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। मानवों में कोई अमीर है, कोई गरीब है, कोई सुन्दर है, कोई कुरूप है, कोई बलवान है, कोई कमजोर है, कोई बुद्धिमान तो कोई मूर्ख है। यहां तक कि तिर्यंच पर्याय में जन्म लेने वाले कुत्ते आदि भी इस विषमता से ग्रसित हैं। कोई कुत्ता तो पेट-भर दूध रोटी खाता है, एयरकंडीशन्ड मकानों में रहता है, मोटरों मे घूमता है, उसे साबुन से नहाने को भी मिलता है, किन्तु दूसरे वे हैं जिन्हें घर-घर की ठोकरें और फटकार मिलकर भी पेट भर रोटी नही मिल पाती। इन विषमताओं के कारणों की खोज के फलस्वरूप आस्तिकवादी भारतीयदर्शनों ने आत्मवाद, परलोकवाद और कर्मवाद सिद्धांत स्वीकार किये। कर्मवाद सिद्धांत को आत्मवादी दर्शनों ने तो स्वीकार किया ही है, किन्तु अनात्मवादी बौद्धदर्शन ने भी स्वीकार किया है।

कर्मस्वरूप-जैनेतर भारतीयदर्शनों के परिप्रेक्ष्य में :

कर्मसिद्धान्त को एकमत से स्वीकार करते हुए भी उसके स्वरूप में ऐक्य नहीं रहा। सभी जैनेतर भारतीय दर्शनो ने उसे भिन्न-भिन्न नामों मे स्वीकार करते हुए उसका पृथक्-पृथक् स्वरूप स्वीकार किया है। जैनेतर भारतीयदर्शनों मे कर्म के स्थान पर विभिन्न शब्दो का प्रयोग हुआ है—

"माया, अविद्या, प्रकृति, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, भाग्य, अपूर्व, शक्ति, लीला आदि।"

वेदान्तवादियों ने माया, अविद्या और प्रकृति शब्दों को स्वीकार किया है। अपूर्वशब्द मीमांसकों का है, बौद्धों ने वासना कहा। आशय योगदर्शन में स्वीकृत है। धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार न्याय-वैशेषिक दर्शन में व्यवहृत हैं। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप प्रायः सभी दर्शनों ने स्वीकार किये है।

विभिन्न दर्शनों मे प्रतिपादित कर्म स्वरूप सम्बन्धी मन्तव्यों से यह प्रतिफलित होता है कि कर्म नाम क्रिया अथवा प्रवृत्ति का है। यद्यपि वह क्रिया या प्रवृत्ति क्षणिक है, किन्तु उसका संस्कार फलकाल तक स्थायी रहता है। संस्कार से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से संस्कार की यह परम्परा अनादि है। विस्तार भय से यहां विशेष उल्लेख न करते हुए अत्यन्त संक्षिप्त कथन किया है विशेष जिज्ञासुओं को तद् तद् दर्शनसम्बन्धी ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए। मिलिन्दप्रश्न, व्यासभाष्य, सांख्यकारिका, प्रशस्तपादभाष्य, न्यायमजरी आदि प्रमुख ग्रन्थ हैं जिनमें विशेष कथन पाया जाता है।

जैनदर्शन में कर्मस्वरूप :

"जो जीव को परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है उन्हें कर्म कहते हैं अथवा मिथ्यादर्शनादि परिणामों से जो उपार्जित किये जाते हैं वे कर्म हैं।[1]" यह कर्म पौद्गलिक है। अन्यदर्शनों के समान जैनदर्शन में कर्म मात्र संस्कार नहीं है, किन्तु वह एक वस्तुभूत पदार्थ है। तेईस प्रकार की पौद्गलिक वर्गणाओं में एक कार्मणवर्गणा भी है जो सर्वत्र आत्मप्रदेशों में विस्रसोपचयरूप से विद्यमान हैं। ये कार्मणवर्गणारूप पुद्गल परमाणु रागी-द्वेषी जीव को मानसिक-वाचिक और कायिक शुभ अथवा अशुभरूप क्रिया का निमित्त पाकर शुभ या अशुभरूप में विभाजित होते हुए दूध और पानी के संयोगवत् आत्मा के साथ बंध जाते हैं तथा यथाकाल अपना शुभ या अशुभरूप फल देते हैं।

---

१ "जीवं परतन्त्रीकुर्वन्ति, स परतन्त्री क्रियते वा यस्तानि कर्माणि, जीवेन वा मिथ्यादर्शनादिपरिणामैः क्रियन्ते इति कर्माणि" (आप्त परीक्षा टीका पृ. ११३/२९६)

जहां अन्यदर्शन राग-द्वेष से आविष्ट जीव की क्रिया को कर्म कहते हैं और इस कर्म के क्षणिक होने पर भी तज्जन्य संस्कार को स्थायी मानते हैं वहां जैनदर्शन मानता है कि राग-द्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया के साथ एक प्रकार का द्रव्य आत्मा की ओर आकृष्ट होता है और उसके राग-द्वेषरूप परिणामों का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होता है तथा कालान्तर में वही द्रव्य आत्मा को अच्छा या बुरा फल मिलने में निमित्त होता है।

महर्षि कुन्दकुन्दाचार्य ने इसका विशेष स्पष्टीकरण करते हुए पंचास्तिकाय ग्रन्थ में कहा है कि "यह लोक सर्वत्र सब ओर से विविध प्रकार के अनन्तानन्त सूक्ष्म और बादर कर्मरूप होने योग्य पुद्गलों से ठसाठस भरा है। जहां आत्मा है वहां भी ये पुद्गलकाय विद्यमान रहते हैं। संसारावस्था मे प्रत्येक आत्मा अपने स्वाभाविक चैतन्यस्वभाव को नहीं छोड़ते हुए भी अनादिकाल से कर्मबंधन से बद्ध होने से अनादि से मोह, राग-द्वेष आदिरूप अशुद्ध ही परिणाम करता है। वह जब जहा मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप भाव करता है तब वहां उसके उन भावों का निमित्त पाकर जीवप्रदेशों में परस्पर अवगाहरूप से प्रविष्ट हुए पुद्गल स्वभाव से ही कर्मरूपता को प्राप्त होते है।[1]"

जीव की क्रिया के साथ इसप्रकार के पौद्गलिक कर्मबन्ध को अन्य किसी दर्शन ने स्वीकार नहीं किया। जैनदर्शन की अपनी यह मौलिक विशेषता है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है—

शंका—आत्मा का और कर्म का सम्बन्ध कबसे है और किसने किया है तथा किस प्रकार होता है?

समाधान – आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि से है। जिसप्रकार खान से स्वर्णपाषाणरूप में सोना किटट्कालिमा को लिये हुए ही निकलता है उसी प्रकार संसार में अनादिकाल से जीव कर्मबन्धन को प्राप्त है तथा अपनी अशुद्ध दशा के कारण परिभ्रमण करता है। यदि जीव पहले शुद्ध और पीछे उसके साथ कर्मों का बन्ध हुआ, ऐसा मानते हैं तो आन्तरिक अशुद्धता के बिना उसने कर्मों का बन्ध कैसे किया यह आपत्ति आती है।

जैनदर्शन सृष्टि का कर्त्ता-धर्त्ता और हर्ता कोई ईश्वर है, ऐसा नहीं मानता। यह विश्व (त्रिलोक) अनादि-अनन्त है। न तो इसे किसी ने बनाया है और न ही कोई इसे सर्वथा नष्ट करता है। अखिल विश्व में छह द्रव्य पाये जाते हैं उनमें से जीव और पुद्गल द्रव्य के संयोग-वियोग का क्रम सदा चलता रहता है और इसी का नाम संसार है। छहों द्रव्य की व्यवस्था भी अनादि है अतः जीव और पुद्गल भी अनादि सिद्ध हैं। जब दोनों द्रव्य अनादि हैं तो इनका सम्बन्ध भी अनादि ही है। जीव के अशुद्ध रागादि भावों का कारण कर्म है और जीव के अशुद्ध रागादि भाव उस कर्म के कारण हैं। तात्पर्य यह है कि पूर्व मे बद्ध कर्म के उदय से जीव के रागादिभाव होते हैं और रागादि भावों के कारण जीव के नवीनकर्म बन्ध होते हैं और जब ये कर्म यथाकाल उदय में आते हैं तो उनका निमित्त पाकर जीव के पुनः रागादि भाव होते हैं तथा उन भावों का निमित्त पाकर पुनः नवीन कर्मबन्ध होता इसप्रकार जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध सिद्ध है।

जिसप्रकार गर्म लोहे का गोला जल में डुबो दिया जाने पर चारों ओर से शीतल जल के परमाणुओं को अपनी ओर खीचता है उसी प्रकार शरीरनामा नामकर्म के उदय से जड़ कर्मपरमाणु आत्मा के सम्पूर्ण

---

१ ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकाएहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविहेहिं ॥६४॥
अत्ता कुणदि सहाव तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं।
गच्छंति कम्मभाव अण्णोण्णागाहमवगाढा ॥६५॥

प्रदेशों में एक साथ खिचकर प्रवेश करते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मपरिणामों में कषाय की अनादिकालीन अधिकता या मंदता से सर्व आत्मप्रदेशों में कम या अधिक सकम्पता होती है तदनुसार कम अथवा अधिक कर्म-परमाणु आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होते हैं। आत्मा और जड़कर्मों का यह सम्बन्ध एकक्षेत्रावगाही है।

समान क्षेत्र में रहने वाले जीव के विकारी परिणाम को निमित्त करके कार्मणवर्गणाएं स्वयमेव अपनी अन्तरंग शक्ति के कारण कर्मरूप में परिणमित हो जाती हैं और आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त हो जाती हैं।

अमूर्त पर मूर्त का प्रभाव कैसे :

शंका—आत्मा अमूर्त है, तब उसका मूर्त कर्म से सम्बन्ध कैसे हो सकता है, क्योंकि मूर्तिक के साथ मूर्तिक का बन्ध तो सम्भव है, किन्तु अमूर्तिक के साथ मूर्तिक का बन्ध कैसे हो सकेगा ?

समाधान—यथार्थतः संसारी आत्माएं कथंचित् मूर्त हैं, क्योंकि स्वभावतः (स्वरूपतः) आत्मा अमूर्त होते हुए भी अनादिकाल से कर्मबद्ध होने से यह आत्मा विकारी अवस्था को प्राप्त है। अनादि से यह आत्मा अशुद्ध है अतः व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा मूर्तिक है और कर्म भी मूर्तिक हैं इसलिए कथंचित् मूर्तिक आत्मा पर ही मूर्तिक कर्मों का प्रभाव पड़ता है।

कर्म के भेद :

"कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावोत्ति होदि दुविहं तु" कर्मत्व रूप सामान्यापेक्षा कर्म एक प्रकार का है, किन्तु द्रव्य और भाव की अपेक्षा कर्म दो प्रकार का है। जीव से सम्बद्ध कर्मपुद्गलों को द्रव्यकर्म कहते है और द्रव्य कर्म के प्रभाव से होने वाले जीवके राग-द्वेषरूप भावों को भाव कर्म कहते हैं। द्रव्य कर्म के मूल भेद आठ हैं और उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस हैं तथा उत्तरोत्तर भेद असंख्यात हैं। ये सब पुद्गल के परिणाम स्वरूप हैं, क्योंकि जीव की परतन्त्रता में निमित्त हैं। भावकर्म चैतन्य परिणामरूप क्रोधादि भाव हैं, उनका प्रत्येक जीव को अनुभव होता है; क्योंकि जीव के साथ उनका कथचित् अभेद है। इसीकारण वे पारतन्त्र्य स्वरूप हैं, परतन्त्रता में निमित्त नहीं हैं। द्रव्यकर्म परतन्त्रता में निमित्त होता है और भावकर्म चैतन्य परिणाम होने में पारतन्त्र्यरूप होता है। यही द्रव्यकर्म और भावकर्म में अन्तर है। द्रव्यकर्म पौद्गलिक हैं और भावकर्म आत्मा के चैतन्यपरिणामात्मक हैं, क्योंकि आत्मा से कथंचित् अभिन्नरूप प्रतीत होते हैं और वे क्रोधादि रूप हैं।

द्रव्यकर्म और भावकर्म में कारण-कार्य का सम्बन्ध है; द्रव्य कर्म कारण है और भावकर्म कार्य। न बिना द्रव्यकर्म के भावकर्म होते हैं और न बिना भावकर्म के द्रव्यकर्म ही। इन दोनों में बीज-वृक्ष सन्तति के समान कार्य-कारण भाव सम्बन्ध विद्यमान है।

कर्मबन्ध के कारण :

जब हम कर्म बन्ध के कारणों पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से कर्मों का बन्ध होता है। अन्यत्र बन्ध के चार कारण भी कहे हैं। कहीं-कहीं कषाय और योगरूप दो भेद भी माने हैं। बन्ध के कारणों की संख्या पर हमें यहां विचार नहीं करना है संख्या भेद तो मात्र संक्षिप्त और विस्तृत कथन की अपेक्षा है, किन्तु वस्तुतः कषाय और योग ये दो ही कर्मबन्ध के कारण हैं। मन-वचन-कायरूप योगशक्ति से कर्म आकृष्ट होते हैं और कषाय-रागद्वेषरूप भावों के निमित्त से उनका बन्ध होता है। योगरूप वायु से कर्म धूलि उड़कर कषायरूप स्नेह युक्त आत्मारूपी दिवाल पर चिपक जाती है। कर्म धूलि का अधिक या कम चिपकना कषायरूप स्नेह की अधिकता या हीनता पर निर्भर करता है।

यदि चिकनाई कम होगी तो कर्मधूलि प्रगाढ़रूप से बंध को प्राप्त नहीं होगी और यदि कषाय रूप चिकनाई अधिक होगी तो कर्म धूलि प्रगाढ़रूप से बंधेगी। अतएव संक्षेप में योग और कषाय ही बन्ध के कारण हैं।

बन्ध के भेद :

बन्ध चार प्रकार का होता है—१ प्रकृतिबन्ध, २. प्रदेशबन्ध ३ स्थितिबन्ध ४. अनुभागबन्ध। इनमें से प्रकृति और प्रदेशबन्ध योग के निमित्त से तथा स्थिति और अनुभागबन्ध कषाय के निमित्त से होता है।

प्रकृति बन्ध और प्रदेशबन्ध—प्रकृति का अर्थ स्वभाव है। कर्मका बन्ध होते ही उसमें ज्ञान और दर्शनादि को रोकने, सुख-दुःख देने आदि का स्वभाव पडता है, वह प्रकृतिबन्ध है।

इयत्ता (संख्या) का अवधारण करना प्रदेश है। अर्थात् कर्मरूप से परिणत पुद्‌गलस्कन्धों का परमाणुओं की जानकारी करके निश्चय करना प्रदेशबन्ध है। वस्तुतः कर्मपरमाणुओं की संख्या का नियत होना प्रदेशबन्ध है।

स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध - स्थिति का अर्थ काल मर्यादा है। योग के निमित्त से कर्मस्वरूप से परिणत पुद्‌गलस्कन्धों का कषाय के वश से जीव में एक स्वरूप से रहने के काल को स्थिति कहते है। प्रत्येक कर्म का बन्ध होते ही उसका सम्बन्ध आत्मा से कब तक रहेगा यह निश्चित हो जाता है।

अनुभाग का अर्थ फलदानशक्ति है। कर्मों के अपना कार्य करने की (फल देने की) शक्ति को अनुभाग कहते हैं। अतः ज्ञानावरणादि कर्मों का कषायादि परिणामजन्य जो शुभ अथवा अशुभ रस है वह अनुभागबन्ध कहलाता है। यह फलदानशक्ति अथवा अनुभाग कर्मबन्ध के समय ही उसमे यथायोग्य रूप से तीव्र या मंदरूप में पड़ जाता है।

कर्मों में विभिन्न प्रकार के स्वभावों का पड़ना और उनकी संख्या का हीनाधिक होना योग पर निर्भर करता है तथा जीव के साथ कम या अधिक समय तक स्थित रहने की शक्ति का पड़ना और तीव्र या मन्द फलदान शक्ति का स्थिर होना कषाय पर निर्भर है।

उक्त चारों प्रकार के बन्ध में प्रकृतिबन्ध के भेद प्रभेद का संक्षिप्त विवेचन उचित प्रतीत होने से सर्व प्रथम उसका कथन किया है—

प्रकृतिबन्ध के भेद—आत्मा की योग्यता और अन्तरंग-बहिरंग निमित्तों के अनुसार नाना प्रकार के परिणाम होते हैं। इन परिणामों से ही बधनेवाले कर्मों का स्वभाव निर्मित होता है। बंधनेवाले कर्मों के स्वभावों का विभाग किया जावे तो अनेक प्रकार का हो सकता है, किन्तु विविध स्वभावो कर्मों को आठ भागों में विभक्त किया जा सकता है अतः प्रकृतिबन्ध के मूल में आठ भेद हैं तथा इन्ही के उत्तरभेद १४८ भेद हैं। तद्यथा—

१. ज्ञानावरण २ दर्शनावरण ३. वेदनीय ४ मोहनीय ५ आयु ६ नाम ७ गोत्र ८ अन्तराय। ये आठ मूल भेद हैं।

ज्ञानावरण कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को आवृत करता है। दर्शनावरण कर्म दर्शनगुण को ढकता है। वेदनीयकर्म बाह्यनिमित्तवश सुख-दुःख का वेदन कराता है। राग-द्वेष और मिथ्या-असमीचीन दृष्टि मोहनीय कर्म के निमित्त से होती है। आयुकर्म आत्मा को नर-नारकादि पर्यायों को प्राप्त कराने में निमित्त होता है। जीव की गति, जाति आदि तथा पुद्‌गल की शरीर आदि विविध अवस्थाएं नामकर्म के कारण होती हैं। आत्मा

की ऊंच-नीच अवस्था में गोत्रकर्म निमित्त है। दानादिरूप आत्म परिणामों में अन्तर-व्यवधान डालनेवाला अन्तरायकर्म है।

कर्मों के उत्तरभेद :

उपर्युक्त ज्ञानावरणादि आठ मूल कर्मों के उत्तरभेद निम्नप्रकार हैं—

ज्ञानावरण—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। ये पांच ज्ञानावरणकर्म के उत्तरभेद हैं।

दर्शनावरण—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि इन ९ उत्तरभेदों से युक्त दर्शनावरण कर्म है।

वेदनीय—साता और असाता इन दो प्रकार का वेदनीयकर्म होता है।

मोहनीय—मोहनीय कर्म २८ भेदवाला है। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के भेद से मोहनीयकर्म मूल में दो भेद वाला है। इनमें भी दर्शनमोहनीय के सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वरूप तीन भेद हैं। चारित्रमोहनीय के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ये चारों क्रोध-मान-माया व लोभ के भेद से चार-चार प्रकार की होने से कषायों के १६ भेद तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नो कषाय इसप्रकार २५ भेद है।

आयु—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायुरूप चारभेद वाला आयुकर्म है।

नाम—अभेदविवक्षा में ४२ और भेदविवक्षा में इसके ९३ भेद कहे गये हैं। अभेदविवक्षा से ४२ भेद इसप्रकार हैं—

१ गति (४) २ जाति (५) ३. शरीर (५) ४ अगोपांग (३) ५. निर्माण ६ बन्धन (५) ७. संघात (५) ८. संस्थान (६) ९ संहनन (६) १० स्पर्श (८) ११ रस (५) १२. गन्ध (२) १३ वर्ण (५) १४. आनुपूर्वी (४) १५ अगुरुलघु १६. उपघात १७. परघात १८ आतप १९. उद्योत २०. उच्छ्वास २१. विहायोगति (२) २२ साधारणशरीर २३ प्रत्येकशरीर २४ स्थावर २५ त्रस २६ दुर्भग २७ सुभग २८. दुःस्वर २९. सुस्वर ३० अशुभ ३१ शुभ ३२. बादर ३३. सूक्ष्म ३४ अपर्याप्त ३५ पर्याप्त ३६. अस्थिर ३७ स्थिर ३८ अनादेय ३९ आदेय ४०. अयशःकीर्ति ४१ यशःकीर्ति ४२ तीर्थकरत्व।

गोत्र—उच्च और नीच के भेद से गोत्रकर्म दो प्रकार का है।

अन्तराय—दान अन्तराय, लाभ अन्तराय, भोग अन्तराय, उपभोग-अन्तराय और वीर्य अन्तरायरूप पांच भेदवाला अन्तरायकर्म है।

इसप्रकार ज्ञानावरणादि मूल भेदों के १४८ उत्तर भेद हैं। इनका विस्तारपूर्वक स्वरूप गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिए।

कर्मों की स्थिति :

कर्मों की स्थिति उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीनप्रकार की हैं। मोहनीयकर्म की उत्कृष्टस्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम, नाम और गोत्रकर्म की उत्कृष्टस्थिति बीस कोड़ाकोड़ीसागरोपम, आयुकर्म की उत्कृष्टस्थिति ३३ सागरोपम हैं। ज्ञानावरण-दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चारकर्मों की उत्कृष्टस्थिति

३० कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। आठों ही मूलकर्मों की जघन्य स्थिति—वेदनीयकर्म की जघन्यस्थिति १२ मुहूर्त। नाम और गोत्र की जघन्यस्थिति आठ मुहूर्त और शेष ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-आयु तथा अन्तरायकर्म की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट और जघन्य स्थितियों के मध्य की जितनी भी तरतम स्थितियां है वे सभी कर्मों की मध्यम स्थितियां हैं। उत्कृष्ट और जघन्य स्थितियां तो नियत हैं उससे अधिक और हीन नहीं बंधेंगी। हां! आत्मा के राग-द्वेषादि रूप तरतम परिणामों के कारण मध्यम स्थितियां अनेकप्रकार तरतमता से युक्त होती हैं।

कर्मों का अनुभाग :

कर्मों में विविधप्रकार के फल देने की शक्ति का पड़ना ही अनुभाग है यह पहले ही बताया जा चुका है। जिस कर्मका जैसा नाम है उसीके अनुसार फल प्राप्त होता है तथा फल प्राप्त हो जाने के पश्चात् कर्म की निर्जरा हो जाती है।

कर्म बन्ध के समय जिस जीव के कषाय की तीव्रता या मन्दता रहती है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप जैसा निमित्त मिलता है उसी के अनुसार कर्म में फल देने की शक्ति आती है। कर्मबन्ध के समय यदि शुभ परिणाम होते हैं तो पुण्यप्रकृतियों में उत्कृष्ट और पापप्रकृतियों में निकृष्ट फलदानशक्ति होती है अर्थात् पुण्यप्रकृतियों में अधिक अनुभाग और पापप्रकृतियों में हीन अनुभाग पडता है। यदि कर्मबन्ध के समय अशुभ परिणामों की तीव्रता होती है तो पापप्रकृतियों का अनुभाग अधिक और पुण्यप्रकृतियों का अनुभाग हीन होता है।

अनुभागानुसार तीव्र या मंद रूप फल कर्म अपने स्थिति के काल के अनुरूप स्वयं देते हैं उसके लिए किसी ईश्वरीय शक्ति की कल्पना निरर्थक है, उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। जीव की प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिकप्रवृत्ति के साथ जो कर्म परमाणु आत्मा की ओर आकृष्ट होकर राग-द्वेष का निमित्त पाकर बंध जाते हैं उनमें बन्ध के समय शुभ या अशुभ परिणामों के अनुसार जैसी अच्छी या बुरी फलदानशक्ति होती है विपाकसमय में उनका अच्छा या बुरा प्रभाव आत्मा पर पडता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्मफल का नियामक ईश्वर नहीं है। वस्तुतः कर्म परमाणुओं में विचित्रशक्ति निहित है और उसके नियमन के विविध प्राकृतिक नियम भी विद्यमान हैं जो स्वतः सिद्ध हैं। अतः कर्मों का फलद-अनुभाग स्वयं प्राप्त होता है।

कर्म की विविध अवस्थाएं—

आत्मा के बंधने वाले कर्मों की विविध अवस्थाएं होती है जिन्हे जैनाचार्यों ने 'करण' नाम से अभिहित किया है। करण अथवा कर्मों की अवस्थाएं १० प्रकार की होती हैं।

बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, सत्त्व, उदय, उदीरणा, उपशामना, निधत्ति और निकाचना ये १० करण कर्मप्रकृतियों के होते हैं। इनका स्वरूप विचार निम्न प्रकार से आगम में किया गया है—

बन्ध—यह सर्वप्रथमकरण है इसके बिना अन्यकरण सम्भव नहीं है। मिथ्यात्वादि जीवपरिणामों के निमित्त से कार्मणवर्गणाओं का ज्ञानावरणादिरूप से आत्मप्रदेशों के साथ सम्बद्ध होना बन्ध कहलाता है। जिसप्रकार एक साथ पिघलाए हुए स्वर्ण और चांदी का एक पिण्ड बनाए जाने पर परस्पर प्रदेशों के मिलने से दोनों में एकरूपता प्रतीत होती है उसीप्रकार बन्धदशा में जीव और कर्मप्रदेशों के परस्पर में एकीभाव को प्राप्त होने से अथवा कर्म और जीव के द्वित्व का त्याग कर एकत्वप्राप्ति होने से एकरूपता प्रतीत होती है।

उत्कर्षण—स्थिति और अनुभाग में वृद्धि होना उत्कर्षण कहलाता है। नवीन बन्ध के सम्बन्ध से पूर्व की स्थिति में कर्म परमाणुओं की स्थिति का बढ़ना उत्कर्षण है। अर्थात् जिस कर्म की स्थिति और अनुभाग में

उत्कर्षण होता है उसका पुनः बन्ध होने पर पिछले बन्धे हुए कर्म का नवीन बन्ध के समय स्थिति-अनुभाग बढ़ सकता है।

अपकर्षण—कर्मों की स्थिति व अनुभाग में हानि का होना अपकर्षण है। अर्थात् कर्मप्रदेशों की स्थितियों के अपवर्तन का नाम अपकर्षण है। शुभपरिणामों से अशुभ कर्मों का स्थिति और अनुभाग कम होता है तथा अशुभ परिणामों से शुभ कर्मों का स्थिति और अनुभाग कम होता है।

कर्मबन्ध के पश्चात् उत्कर्षण और अपकर्षण ये दो क्रियाएं सम्भव हैं। अशुभ कर्म का बन्ध करने के पश्चात् यदि जीव शुभकर्म का बन्ध करता है तो उसके पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों की स्थिति और फलदानशक्ति नवीन बंधे शुभ कर्मों के प्रभाव से घट जाती है। अशुभ कर्मों का बन्ध करने के पश्चात् यदि जीव के भाव और अधिक कलुषित हो जाते हैं और वह भी अधिक अशुभ कार्य के द्वारा नवीन अशुभकर्मों का बन्ध करता है तो उन अशुभ कर्मों के प्रभाव से पूर्वबद्ध अशुभकर्मों की स्थिति और फलदानशक्ति और अधिक बढ़ जाती है। इसीप्रकार यदि जीव अशुभकर्म का बन्ध करता है तो उस नवीन कर्म बन्ध के प्रभाव से उसके पूर्वबद्ध शुभ कर्मों की स्थिति और फलदानशक्ति घट जाती है। शुभ कर्मों का बन्ध करने के पश्चात् यदि जीव के भाव और अधिक विशुद्ध हो जाते हैं और वह और अधिक शुभ कार्य के द्वारा नवीन शुभकर्म का बन्ध करने लगता है तो शुभ-कर्मों के प्रभाव से पूर्वबद्ध शुभकर्मों की स्थिति और फलदानशक्ति वृद्धिगत हो जाती है। यही उत्कर्षण-अपकर्षण करण का कार्य है। यहां यह ध्यातव्य है कि उत्कर्षण-अपकर्षण प्रतिसमय बंधने वाले नवीनकर्मों के कारण होता ही हो ऐसा नियम नहीं है। जब भी किन्हीं विशेष परिणामों से होने वाले नवीन कर्म बन्ध के निमित्त से पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति में व अनुभाग में हानि-वृद्धि हो जावे उसी समय वह उत्कर्षण-अपकर्षण कहलाता है।

संक्रमण– बन्ध के द्वारा जिन्होंने कर्मभाव को प्राप्त किया है और मिथ्यात्वादि अनेक भेदरूप हैं ऐसे कर्मों का यथाविधि स्वभावान्तर हो जाना संक्रमण करण है। अर्थात् संक्रमण करण में एक कर्म दूसरे सजातीय कर्मरूप हो जाता है। यह संक्रमण ज्ञानावरणादि मूल कर्मप्रकृतियों में नही होता। उत्तर प्रकृतियों में ही होता है। आयुकर्म के उत्तर भेदों का परस्पर संक्रमण नही होता और न दर्शनमोहनीय का चारित्रमोहनीय रूप से अथवा चारित्रमोहनीय का दर्शनमोहनीयरूप से संक्रमण होता है।

एक कर्म का अवान्तर भेद अपने सजातीय अन्य भेदरूप हो सकता है। जैसे वेदनीय कर्म के दो भेदों में से सातावेदनीय असातावेदनीयरूप और असातावेदनीय सातावेदनीयरूप हो सकता है। प्रकृतिसंक्रमण, स्थितिसंक्रमण और अनुभागसंक्रमण, प्रदेश संक्रमण के भेद से संक्रमण चार प्रकार का है।

एकप्रकृति अन्यप्रकृतिस्वरूपता को प्राप्त कराई जाती या होती है यह प्रकृतिसंक्रमण है। जैसे क्रोध-प्रकृति का मानादि में संक्रमण होना। जो स्थिति अपकर्षित, उत्कर्षित और अन्यप्रकृतिरूप से संक्रमित होती है वह स्थितिसंक्रमण है। अपकर्षित हुआ अनुभाग, उत्कर्षित हुआ अनुभाग, तथा अन्यप्रकृति को प्राप्त हुआ अनुभाग अनुभागसंक्रमण कहलाता है। जो प्रदेशाग्र जिस प्रकृति से अन्यप्रकृति को ले जाया जाता है वह प्रदेशाग्र चूंकि ले जाया जाता है अतः उस प्रकृतिका वह प्रदेशसंक्रम है। इस वचन द्वारा परप्रकृतिसंक्रमण लक्षण ही प्रदेशसंक्रम है, अपकर्षण-उत्कर्षण लक्षण नहीं, क्योंकि जिसप्रकार अपकर्षण-उत्कर्षण के द्वारा स्थिति और अनुभाग अन्यरूप होता है उसप्रकार उनके द्वारा प्रदेशाग्र अन्यरूप नहीं होता।

नवीन बन्ध होने पर ही बन्धप्रकृति में अन्य स्वजाति प्रकृतियों का संक्रमण होता है, क्योंकि जिस प्रकृति का बन्ध नहीं हो रहा है उस प्रकृति में अर्थात् उस प्रकृतिरूप संक्रमण नहीं होता।

सत्त्व—बन्ध के पश्चात् कर्म का वेदन होकर जब तक वह कर्म अकर्मभाव को प्राप्त नहीं होता तब तक उस कर्म का आत्मप्रदेशों में स्थित रहना सत्त्व कहलाता है। तात्पर्य यह है कि बंधने के बाद कर्म तत्काल फल नहीं देता, कुछ समय पश्चात् ही उसका फल प्राप्त होता है। जब तक वह कर्म विपाकादिरूप अपना कार्य

नहीं करता तब तक उसकी वह अवस्था ही सत्त्व कही गई है। जिसप्रकार मदिरापान करने के तुरन्त पश्चात् उसका प्रभाव नहीं दिखाई देता कुछ समय पश्चात् ही उन्मत्तता का प्रभाव दिखाई देता है। इसीप्रकार कर्म भी बंधने के कुछ समय तक सत्त्व रूप से रहता है, इस काल को आबाधाकाल कहते हैं। यह आबाधाकाल कर्म की स्थिति के अनुसार होता है। जिस कर्म की जितनी अधिक स्थिति रहती है उसका आबाधाकाल भी उतना ही अधिक होता है। एक कोड़ाकोडी सागर की स्थितिवाले कर्म की उत्कृष्ट आबाधा १०० वर्ष होती है। अर्थात् अधिक से अधिक १०० वर्ष के पश्चात् वह कर्म अपना फल देना प्रारम्भ करता है और स्थिति पूर्ण होने तक फल देता रहता है। आयुकर्म बिना शेष कर्मों के सम्बन्ध में यही बात जानना, क्योंकि आयुकर्म का आबाधाकाल उसकी स्थिति पर निर्भर नही है।

उदय—जीव से सम्बद्ध हुए कर्मस्कंधो का यथाकाल अपना फल देने की सामर्थ्यरूप अवस्था को प्राप्त होना उदय कहलाता है। उदयकाल में कर्मस्कंध अपकर्षण, उत्कर्षणादि प्रयोग बिना स्थिति-क्षय को प्राप्त होकर अपना-अपना फल देते हैं। प्रत्येक कर्म का फल-काल निश्चित रहता है। फल देने के पश्चात् उस कर्म की निर्जरा हो जाती है।

उदीरणा—जिनकर्मों का उदयकाल प्राप्त नही हुआ है उनको उपाय विशेष से पकाना अर्थात् असमय में ही उनको उदय में लाना उदीरणा कहलाता है। जिसप्रकार आम्र आदि फलो को शीघ्र पकाने हेतु पेड़ से तोड़कर पाल में रख देते हैं जिससे वे आम जल्दी ही पक जाते है, उसी प्रकार उदय मे आने के पहले ही कर्मों की उदीरणा कर दी जाती है।

उपशामना—कर्मस्कन्धों की उदीरणा के अयोग्य अवस्था उपशामना कहलाती है। उपशामना करण के द्वारा कर्मों को उदय में नही आ सकने योग्य कर दिया जाता है। उपशामना के प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार हैं। अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के द्वारा मोहनीयकर्म की जो उपशामना होती है वह प्रशस्तोपशामना है। इसका यहां प्रकरण नहीं है, यहा तो अप्रशस्तोपशामना प्रकरण प्राप्त है। अप्रशस्तोपशामना के द्वारा उपशान्त किये गये कर्मप्रदेशाग्र का अपकर्षण-उत्कर्षण और अन्यप्रकृतिरूप सक्रमण तो हो सकता है, किन्तु वह उदयावली के अयोग्य है।

निधत्ति—कर्मस्कंधों की वह अवस्था, जो उदीरणा और संक्रमण के तो अयोग्य है अर्थात् निधत्ति अवस्था को प्राप्त कर्म की उदीरणा और सक्रमण तो नहीं हो सकता, किन्तु उत्कर्षण और अपकर्षण हो सकता है।

निकाचना—कर्म की वह अवस्था विशेष, जो उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा और संक्रमण इन चार के अयोग्य है निकाचना कहलाती है।

उपर्युक्त दश करणों में संक्रमणकरण के पाच अवान्तर भेद हैं जिनका संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है—

संक्रमणकरण पांच प्रकार का है—१ उद्वेलनसंक्रमण २. विध्यातसंक्रमण ३. अध:प्रवृत्तकरण ४. गुणसंक्रमण ५. सर्वसंक्रमण। गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे इनका स्वरूप पंचभागाहारचूलिका में किया गया है।

उद्वेलनसंक्रमण—अध:प्रवृत्तादि तीन करणों के बिना ही बटी रस्सी को उकेलने के समान कर्मप्रकृतियों के परमाणुओं का अन्य प्रकृतिरूप परिणमन होना उद्वेलन संक्रमण है।

विध्यातसंक्रमण—मंदविशुद्धतावाले जीव की, स्थिति-अनुभाग घटानेरूप भूतकालीन स्थितिकाण्डक और अनुभागकाण्डक तथा गुणश्रेणी आदि में प्रवृत्ति होना विध्यातसंक्रमण है।

अध:प्रवृत्तसंक्रमण—बंध प्रकृतियों का अपने बन्ध के सम्भव विषय में जो प्रदेशसंक्रम होता है उसे अध:प्रवृत्तसंक्रमण कहते हैं।

गुणसंक्रमण—प्रतिसमय असंख्यातगुणित श्रेणिरूप से जो प्रदेशसंक्रमण होता है उसे गुणसंक्रमण कहते हैं।

सर्वसंक्रमण—उद्वेलना, विसंयोजना और क्षपणा में अन्तिमकाण्डक की अन्तिमफाली सम्बन्धी सर्वप्रदेशों में से जो प्रदेश अन्य रूप नहीं हुए हैं उनका अन्यरूप होना सर्वसंक्रमण कहलाता है।

किन-किन कर्मप्रकृतियों में उक्त पांच संक्रमणों में से कौन-कौन सा संक्रमण होता है उसको जानने के लिए नवम्बर १९८० में आचार्य श्री शिवसागर दि० जैन ग्रन्थमाला, शांतिवीरनगर से २६ वें पुष्परूप में प्रकाशित 'गोम्मटसार कर्मकाण्ड' की सिद्धान्तज्ञानदीपिका हिन्दी टीका के पृष्ठ ४४६ से ४५० तक की संदृष्टि देखना चाहिए।

गुणस्थान और प्रकृतियों में करण :

उपर्युक्त कर्मों की विविध दशाओं के अन्तर्गत जो १० करण कहे गये हैं उनमें से कौनसा करण किस गुणस्थान और कौन-कौन सी प्रकृतियों में होता है इसका युगपत् कथन इसप्रकार है—

नरकादि चारों आयुकर्मों में संक्रमणकरण बिना ९ करण होते हैं। आयुकर्म की उत्तर प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता—एक आयु अन्यरूप नहीं होती। शेष सर्व प्रकृतियों में दशों ही करण होते हैं। गुणस्थानों की अपेक्षा विचार करने पर मिथ्यादृष्टि से अपूर्वकरण गुणस्थान तक दशों ही करण होते हैं। अपूर्वकरण से आगे सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक उपशामना, निधत्ति और निकाचना करण के बिना शेष सात करण होते है। आगे उपशांतकषायगुणस्थान से सयोगकेवलीगुणस्थान तक संक्रमण, उपशामना, निधत्ति और निकाचनाकरण के बिना शेष ६ करण होते हैं, किन्तु उपशान्तकषाय गुणस्थान में कुछ विशेषता है कि मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व का संक्रमणकरण भी होता है अर्थात् इन दोनों प्रकृतियों का सम्यक्त्व प्रकृतिरूप परिणमन हो जाता है, शेष प्रकृतियों का संक्रमण नहीं होने से छह करण ही होते है। अयोगकेवलीगुणस्थान में सत्त्व और उदय ये दो करण होते हैं।

बन्ध और उत्कर्षणकरण अपने-अपने बन्धस्थान तक ही होते हैं। अर्थात् जिस प्रकृति की जहां तक बन्धव्युच्छित्ति होती है वहीं तक होते हैं। संक्रमणकरण मूलप्रकृतियों में तो होता नहीं, उत्तरप्रकृतियों में ही होता है और वह भी अपनी-अपनी जाति की प्रकृतियों मे। जैसे ज्ञानावरण कर्म की मतिज्ञानावरणादि पांचप्रकृतियां स्वजातीय प्रकृतियां हैं इन्हीं में संक्रमण होता है।

अयोगकेवली के जिन ८५ प्रकृतियों की सत्ता है उनका अपकर्षणकरण सयोगकेवली के अन्त समय तक होता है। क्षीणकषायगुणस्थान में जिनकी सत्त्व-व्युच्छित्ति होती है ऐसी १६ प्रकृतियों तथा सूक्ष्मसाम्पराय-गुणस्थान में व्युच्छिन्न एक सूक्ष्मलोभ इन १७ प्रकृतियों का अपकर्षणकरण उनके क्षयदेश पर्यन्त होता है। क्षयदेश का काल यहां एक समय अधिक आवलिप्रमाण जानना चाहिए।

देवायु का अपकर्षणकरण उपशान्तकषायगुणस्थान तक होता है। मिथ्यात्वादि तीन तथा अनिवृत्ति-करणगुणस्थान में क्षय होनेवाली १६ प्रकृतियों का अपकर्षणकरण क्षयदेश-अन्तिमकाण्डक की चरमफालीपर्यन्त होता है। इसीप्रकार क्षपकश्रेणी के अनिवृत्तिकरणगुणस्थान में क्षय होनेवाली आठकषायादि २० प्रकृतियों का अपकर्षणकरण भी अपने-अपने क्षयदेश तक होता है। उपशमश्रेणी में दर्शनमोह की मिथ्यात्वादि तीन और नरकगति-नरकगत्यानुपूर्वी आदि १६ प्रकृतियों का अपकर्षण उपशान्तकषायगुणस्थान तक होता है तथा आठ कषायादिकों का अपने-अपने उपशमस्थान तक होता है। अनन्तानुबन्धीचतुष्क का असंयतादि चारगुणस्थानों में यथासम्भव विसंयोजन के स्थान तक ही अपकर्षणकरण होता है। नरकायु के असंयतगुणस्थान तक और तिर्यञ्चायु के देशसंयतगुणस्थान तक उदीरणा, सत्त्व और उदय ये तीन करण होते हैं। मिथ्यात्वप्रकृति का

उदीरणाकरण उपशमसम्यक्त्व के अभिमुखजीव के मिथ्यात्वगुणस्थान के अन्त में एकसमय अधिक आवलिकाल होता है। सूक्ष्मलोभ का उदीरणाकरण सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान तक ही होता है।

उपशान्तकरण, निधत्तिकरण और निकाचितकरण अपूर्वकरणगुणस्थान तक ही होते हैं आगे नहीं।

इसप्रकार कर्मों की दश अवस्थायें होती हैं। संक्षेप से तो बन्ध, उदय और सत्त्व ये तीन दशायें मानी गई हैं। बन्ध की बन्ध-अबन्ध और बन्धव्युच्छित्ति रूप बन्धत्रिभंगी, उदय की उदय-अनुदय और उदयव्युच्छित्ति-रूप उदयत्रिभंगी, सत्त्व की सत्त्व-असत्त्व और सत्त्वव्युच्छित्तिरूप सत्त्वत्रिभंगी से गुणस्थान और मार्गणाओं में चर्चा की गई है।

समयप्रबद्धप्रमाण कर्मद्रव्य का मूलकर्मप्रकृतियों में विभाजनक्रम :

जैसे भुक्त भोजन का परिणमन सप्त धातु और उपधातुरूप से यथाविधि हो जाता है वैसे ही स्वकीय परिणामों से जीव प्रतिसमय समयप्रबद्धप्रमाण कर्मद्रव्य को ग्रहण करता है उस द्रव्य का विभाजन विधिवत् ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में होता है। पुनश्च मूलप्रकृतियों में विभाजितद्रव्य का बटवारा तत्-तत् कर्मों की उत्तर प्रकृतियों मे भी होता है। जैसे शरीरयंत्र मे पहुचा भोजन स्वयमेव धातु रूप से परिणमित हो जाता है उसीप्रकार समयप्रबद्धप्रमाण कर्मद्रव्य का विभाजन भी मूल-उत्तर प्रकृतियों मे स्वयमेव हो जाता है।

यदि आगामी आयु का बन्ध हो चुका है तो समयप्रबद्धप्रमाण कर्मद्रव्य में से सबसे कम द्रव्य आयु कर्म के हिस्से में, उससे अधिक नाम और गोत्रकर्म के हिस्से में (नाम-गोत्र कर्म का द्रव्य समान होता है), उससे अधिक द्रव्य अन्तराय, दर्शनावरण और ज्ञानावरण के हिस्से में (इन तीनों कर्मों का द्रव्य भी समानरूप मे विभाजित होता है), उससे अधिक मोहनीयकर्म के हिस्से में तथा सबसे अधिक द्रव्य वेदनीयकर्म के हिस्से में जाता है, क्योंकि जीव प्रतिसमय सुख या दुःख का अनुभव करते हैं अतः इसकी निर्जरा अधिक होती है। इसप्रकार मूल प्रकृतियों विभाजितद्रव्य का विभाजन यथासम्भव उत्तर प्रकृतियों में भी होता है। द्रव्य विभाजन की प्रक्रिया गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि कर्मसिद्धान्त प्ररूपक ग्रन्थों से जानना चाहिए।

मूल कर्मप्रकृतियों में घाती-अघातीरूप विभाजन :

ज्ञानावरणादि आठकर्मों के घातिया-अघातिया के भेद से दो विभाग हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार प्रकृतियां घातियारूप है, क्योंकि ये जीव के देवत्वरूप गुणों का घात करने वाली हैं तथा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र जीव के देवत्वरूपगुणों का घात नही करती है अतः वे अघातियारूप हैं।

घातिया कर्मों की फलदानशक्ति (अनुभाग) लता, काष्ठ, हड्डी और पत्थर सदृश उत्तरोत्तर कठोरता को लिये हुए है। घातिया कर्मो के भी देशघाती और सर्वघातीरूप दो भेद हैं। लताभाग से काष्ठभाग के अनन्तवें भाग तक के शक्तिरूप स्पर्धक देशघातिरूप एवं काष्ठ के शेष बहुभाग से शैल (पत्थर) तक के स्पर्धक सर्वघातिरूप हैं। अघातिया कर्मों मे भी प्रशस्त और अप्रशस्तरूप दो भेद है। प्रशस्तकर्मों की फलदानशक्ति गुड़-खाड-मिश्री और अमृत के समान है तथा अप्रशस्तप्रकृतियों का अनुभाग नीम, कांजी, विष और हलाहलरूप है। इसप्रकार सांसारिक सुख-दुःख के कारणभूत-पुण्य-पापरूप कर्मों की शक्तियों को उक्त चार-चार प्रकार से तरतमरूप समझना चाहिए।

उक्त आठ मूल कर्मप्रकृतियों में मोहनीयकर्म सम्राट स्थानीय है। सम्पूर्ण विश्व मोहनीयकर्म से मोहित हो रहा है। मोहनीयकर्म का एकछत्र शासन सभी प्राणियों पर है। युद्ध में राजा के मरने के बाद उसकी सेना भी शक्ति हीन होती हुई इधर-उधर बिखर जाती है उसीप्रकार मोहनीयकर्म के नष्ट हो जाने पर अन्यकर्म भी शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। यही कारण है योगिराज सर्वप्रथम मोहनीयकर्म को नष्ट करने का उद्यम करते हैं।

क्षपकश्रेणी पर आरोहण करके १० वें गुणस्थान के अन्त में मोहनीयकर्म का पूर्णतया नाश हो जानेपर १२ वें क्षीणकषायगुणस्थान में ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय इन शेष तीन घातियाकर्मों का क्षय करके कैवल्यश्री को प्राप्त सयोगकेवली भगवान सर्वज्ञ अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। शेष जो चार अघातियाकर्म बचे हैं वे तो जली जेवड़ी के समान हैं। योगनिरोध होते ही १४ वे गुणस्थान को प्राप्त अयोगकेवली भगवान शीघ्र ही उन कर्मों का नाश करके शाश्वत सुखधाम सिद्धालय में ज्ञानशरीर से युक्त होते हुए अनन्तकाल तक मात्र अपने आत्मानन्द में ही लीन रहते हैं। वहां कर्मों का किंचित् भी सम्बन्ध आत्मा से नहीं होता है। इसप्रकार कर्मसिद्धांत को समझकर और उसकी विविध दशाओं का परिज्ञानकर आत्मा के अहित करनेवाले इन कर्मो से आत्मा को पृथक् करने का पुरुषार्थ करना ही हमारा चरमलक्ष्य होना चाहिए। जो भव्यजीव हैं वे नियम से अपने सम्यक्चारित्ररूप पुरुषार्थ से कर्मों का नाशकर मोक्षसुख को प्राप्त करते हैं।

आधुनिक साम्यवाद और कर्मसिद्धान्त :

विश्व की विषम सामाजिक स्थिति को देखकर साम्यवाद या समाजवाद का नारा देकर सभी को समान बनाने की बात विश्व के तथाकथित नेतागण करते हैं, किन्तु यह सर्वथा असम्भव है। विषमता को या ऊंच-नीच, अमीर-गरीब के भेद को मिटाकर सभी को समान करने से पूर्व यह भली-भांति विचार करना चाहिए कि विश्व में इसप्रकार की विषमता होने का कारण क्या है ? जब हम विषमता के मूलकारण को भली भांति समझेंगे तो निश्चित ही आधुनिक समाजवाद या साम्यवाद की थोथी बातें करना छोड़ देंगे। समाजवाद को हमने मात्र अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति का माध्यम भर बना लिया है। जब तक कर्मसिद्धान्त है तब तक समाजवाद या साम्यवाद की स्थापना मात्र कल्पना अथवा स्वप्न ही सिद्ध होगी, क्योकि यह निर्बाध सिद्ध है कि पुण्य और पाप की व्यवस्था संसार में अनादिकालीन है और जब तक पुण्य-पाप की स्थिति है तब तक संसार में साम्यवाद स्थापित हो नहीं सकता। यदि जैनदर्शन के चिंतन की गहराई मे उतरें तो हम कह सकते हैं कि संसारावस्था में साम्यवाद की बात करना बालू पेलकर तेल निकालने के समान है। हां ! संसारातीत सिद्धावस्था में कर्ममल का आत्मा से सर्वथा नाश हो जाने से अनन्त सिद्ध भगवन्त आत्मानन्द में लीन होने से सभी समान हैं। वस्तुत: समाजवाद या साम्यवाद तो वह है जहां सभी समानरूप बिना किसी बाधा के आत्मोत्थ शाश्वत सुख का अनुभव निरन्तर कर रहे हैं।

संसारी प्राणी जैसा अच्छा या बुरा कर्म करता है पुण्य या पाप का उपार्जन करता है उस कर्मफल के विपाक (उदय) समय में वह स्वयं ही अपने द्वारा पूर्वकृत कर्मों का अच्छा या बुरा फल भोगता है। हमारी परोपकार की भावना तो होना ही चाहिए। कर्मसिद्धांत यह नहीं कहता कि परोपकार मत करो। संसार के मानव ही नही अपितु एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीव सुखी हों इसी भावना के साथ प्रत्येक प्राणी मात्र के प्रति हम बैर-विरोध का परित्याग करें, सभी से मैत्रीभाव रखें। जीवत्व की दृष्टि से तो सभी जीव समान हैं और सभी में साक्षात् परमात्मा बनने की शक्ति-विद्यमान है, किन्तु परमात्मशक्ति की अभिव्यक्ति तो जब हम अनादिकालीन कर्मकालिमा को दूर करने का पुरुषार्थ करेंगे तभी हो सकेगी। परमात्मत्व की प्रकटता होने पर सभी समान रूप से कर्मकलंक रहितहोकर एक समान हैं। अत: जिसने स्वयं के पुरुषार्थ से अपने भीतर विद्यमान अनन्तचतुष्ट्य को प्रगट कर लिया वही सच्चा साम्यवादी है। संसार में रहकर तो ऊंच-नीच, अमीर-गरीब, राजा-रंक आदि का भेद बना ही रहेगा, क्योंकि प्रत्येक प्राणी के कर्म पृथक्-पृथक् हैं और भावनाओं की विभिन्नता ही पुण्य-पाप रूप कर्म की विषमता में कारण है तब हम तो क्या साक्षात् भगवान भी सभी संसारी प्राणियों में समानता स्थापित करने में समर्थ नहीं हैं। यह तो प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है कि एक ही मा से जन्म लेने वाली संतानें ही एक समान नहीं होती उनमें भी अपने-अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार विभिन्नता है कोई सुखी है, कोई दु:खी है, कोई बुद्धिमान है, कोई मूर्ख है। अत: जब हम हमारे घर में ही समानता की स्थापना नहीं कर सकते तो सम्पूर्ण विश्व में हम साम्यवाद को कैसे स्थापित कर सकते हैं ? इसलिये कर्मसिद्धान्त को भलीभांति समझकर हम स्वयं भी पाप प्रवृत्ति को छोड़ें और पुण्यार्जन करें तथा क्रमश: चारित्रसोपान के आरोहण

से पुण्य का भी विसर्जन करते हुए परमशुद्ध अवस्था को प्राप्त करने का लक्ष्य रखते हुए उस दिशा में पुरुषार्थ करें तथा अन्य प्राणियों को भी इस सम्यक् मार्ग पर चलने की प्रेरणा दें। यही हमारा परम कर्त्तव्य है और कर्मसिद्धान्त को समझने की सार्थकता है।

साधारणतया कहा जाता है कि आत्मा कर्तृत्वकाल में स्वतंत्र और भोक्तृत्वकाल में परतंत्र है। जैसे विष खा लेना हमारे हाथ की बात है, किन्तु मृत्यु से बच पाना हमारे हाथ में नहीं है। यह तो अत्यन्तस्थूल दृष्टांत है, क्योंकि विष को भी विष से निर्विष किया जा सकता है। मृत्यु से बचा जा सकता है। आत्मा भी कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्वकाल में परतन्त्र और स्वतन्त्र है।

सहजतः आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है वह चाहे जैसे भाग्य का निर्माण कर सकती है, कर्मों पर विजय प्राप्तकर पूर्ण विशुद्ध बन सकती है, किन्तु कभी-कभी पूर्वजनित कर्म और बाह्य निमित्त को पाकर परतन्त्र भी बन जाती है। चाहते हुए भी इच्छानुसार कार्य वह नहीं कर सकती है। सन्मार्ग पर बढ़ना चाहते हुए भी नहीं बढ़ सकती। यह तो आत्मा का कर्तृत्व काल में स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य है।

कर्म करने के बाद आत्मा सर्वथा कर्माधीन ही हो जाती हो ऐसी बात नहीं है। वहां भी आत्मा का स्वातन्त्र्य सुरक्षित है। वह चाहे तो अशुभ को शुभ में संक्रमित कर सकती है। अशुभ प्रकृतियों के स्थिति-अनुभाग को कम कर सकती है और शुभकर्मों के स्थिति-अनुभाग को वृद्धिगत कर सकती है। उपशामना के द्वारा कर्मविपाक को अनुदय रूप भी कर सकती है और क्षपण के द्वारा उनका सर्वथा नाश भी कर सकती है। इसप्रकार अपकर्षण-उत्कर्षण-संक्रमण और उपशामना करण कर्मों की परिवर्तित अवस्थाएं ही तो है, जिन्हें आत्मा स्वयं करती है इनमें भी आत्मा का स्वातन्त्र्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। इतना अवश्य है कि तीव्रोदय में पुरुषार्थ कार्यकारी नहीं होता और मन्दोदय में पुरुषार्थ कार्यकारी होता है। वस्तुतः कर्मसिद्धान्त आत्मस्वातन्त्र्य का प्रेरक है।

जैनागम के आलोक में

जीवों के परिणाम

और

अवस्थाओं का

दिग्दर्शन

❖ १०५ आर्यिका श्री श्रुतमती माताजी

[प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज की शिष्या]

संसारी प्राणियों की विविध अवस्थाओं का निश्चय करने के लिए मार्गणा सबसे अधिक प्रयोजनीभूत है, क्योंकि संसारी जीवों का परिणमन मार्गणास्थानों में ही हुआ करता है। जिन परिणामों के द्वारा अथवा जिन अवस्थाओं में जीवों का अन्वेषण किया जाय उसे मार्गणा कहते हैं।

चौदह राजू ऊंचा तथा ३४३ घन प्रमाण यह समस्तलोक अनंतानंत जीवराशि से खचाखच भरा हुआ है, मार्गणा जीवके उन असाधारण करण रूप परिणामों का बोध कराती है जिनसे कि गुणस्थानों की सिद्धि होती है, यद्यपि मोह और योग से होने वाले ये परिणाम और नर नारकादि अवस्था विशेष-पर्यायें अशुद्ध जीवों की होती हैं तथापि ये जीवों को शुद्धावस्था प्राप्त करने मे साधन भी हैं अत: जैनागम के अनुसार इनको समझकर तदनुरूप उपयोग में लाने पर निश्चितरूप से परिणाम-पर्यायें कार्यकारी हो सकती हैं। मुख्यरूप से मार्गणा के चौदह भेद हैं। यथा—

गइइंदियेसु काये, जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्सा, भवियासम्मत्तसण्णि आहारे॥

कथित प्रमाण इन अवस्थाओं में जीव निरन्तर पाये जाते हैं इसलिए इनको निरन्तर मार्गणा कहते हैं और जिनमें विच्छेद पडता है वे सान्तर-मार्गणा कहलाती हैं, ये आठ भेद युक्त हैं—

उपशमसम्यक्त्व, सूक्ष्मसाम्परायसंयम, आहारककाययोग, आहारकमिश्रयोग, वैक्रियिकमिश्र-काययोग, अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्तमनुष्य, सासादनसम्यक्त्व और मिश्र।

किसी भी विवक्षित गुणस्थान या मार्गणास्थान को छोड़कर पुन: उसी को प्राप्त करने में जीव को जो समय लगता है उसे विच्छेद कहते हैं, यह अंतर उत्कृष्ट तथा जघन्यरूप से दो प्रकार का है, तथा यह विच्छेद एक जीव तथा नाना जीव की अपेक्षा से वर्णित है।

उपशमसम्यक्त्व का उत्कृष्ट विरहकाल सातदिन, सूक्ष्मसाम्पराय का छह महीना, आहारकयोग व आहारकमिश्रयोग का पृथक्त्ववर्ष, वैक्रियिकमिश्र का बारह मुहूर्त, अपर्याप्तमनुष्य का पल्य के असंख्यातवें भाग तथा सासादन और मिश्रका भी अन्तर पल्यके असंख्यातवें भाग है। जघन्य अंतर सबका एक समय ही है। आशय यह है कि यदि तीनों लोकों में कोई भी उपशमसम्यक्त्वी न रहे इस प्रकार का विच्छेद सात दिन का पड़ सकता है, उसके बाद कोई न कोई उपशमसम्यग्दृष्टि अवश्य उत्पन्न हो जायगा, इसीप्रकार अन्य का भी जानना, परन्तु इतनी विशेषता है कि प्रथमोपशमसम्यक्त्व सहित पंचमगुणस्थान का उत्कृष्ट विरहकाल चौदह दिन का है और छठे-सातवे गुणस्थान का विरहकाल पन्द्रहदिन का है।

प्रत्येक संसारी प्राणी के चारगतियों में कोई एक गति, पांच इन्द्रियों में से कोई भी विकल या पूर्ण इन्द्रियां, छह काय में से कोई भी काय, पन्द्रह योगों मे से यथायोग्य योग, तीन वेदो में से कोई एक वेद, पच्चोस कषायों में से स्वयोग्य कषायें, आठ ज्ञानों में से योग्यतानुसार ज्ञान, सात संयम में से पर्याय एवं अवस्थानुरूप कोई भी संयम, चार दर्शनों में से कोई भी दर्शन, छह लेश्या मे से यथायोग्य लेश्या, भव्य-अभव्य मे से कोई भी एक, छह सम्यक्त्व में से कोई भी सम्यक्त्व, संज्ञी-असंज्ञी में से कोई एक, तथा आहारक और अनाहारक में से कोई भी एक इसप्रकार अनेक अवस्थाओं को विश्व के सभी शरीरी धारण करके संसार मे संमरण करते हुए अत्यन्त त्रसित हैं।

गतिमार्गणा :

गतिनामकर्म के उदय से जीवों के निवास रूप जो पर्याय विशेष हैं अथवा जो चारों गतियों में गमन करने के लिए कारण है उसे गति कहते हैं। गति के चार भेद हैं—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति।

नरकगति—नरकगति नाम कर्म के उदय से नरक में जाकर जो द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव के निमित्त को प्राप्त करके परस्पर प्रीति को प्राप्त नहीं करते तथा जो अत्यन्त भयानक दारुण दु:खों को सागरों पर्यन्त सहन करते हैं उन्हें नारकी कहते है और इनके निवास स्थान को नरक कहते हैं। नरक सात हैं—रत्नप्रभा, शर्करा प्रभा, बालुका प्रभा, पंक प्रभा, धूम प्रभा, तम प्रभा और महातम प्रभा। इन सातो नरकों के नारकी स्वाभाविक, मानसिक, आगन्तुक, शारीरिक और क्षेत्रजन्य दु.खो को आयुपर्यन्त प्रतिक्षण भोगते हैं।

नरकों के दुःख—नरकों में क्षेत्रजन्य वेदना इतनी भयङ्कर है कि हजारों बिच्छुओं के एक साथ काटने से भी उतना दु:ख नहीं हो सकता जितना कि यहां की भूमि के स्पर्श मात्र से होता है, नारकी जीव आपस में एक दूसरे के शरीर के खण्ड-खण्ड कर देते हैं, परन्तु आयु पूर्ण होने के पहले मरण नहीं होता, इनको भूख-प्यास की असह्य वेदना होने पर खाने को दाना नहीं, पीने को पानी नहीं मिलता। यहां का स्पर्श-रस-गंध-वर्ण और शब्द अत्यंत भयप्रद हैं, नारकियों की लेश्या कृष्ण नील व कापोत होती है।

ये विक्रिया से अपने शरीर को शस्त्र बनाकर एक दूसरों का परस्पर घात करते हैं, पहले-दूसरे नरक में कापोत लेश्या होती है, तीसरे नरक के ऊपर के पटल में कापोत लेश्या और नीचे के पटल में नील लेश्या होती है। चौथे नरक में नील लेश्या है। पांचवे नरक के ऊपर के पटल में नील लेश्या और नीचे के पटल में कृष्ण लेश्या, छठे नरक में कृष्ण लेश्या और सातवे नरक में परम कृष्ण लेश्या है। ये सभी नारकी हुण्डक संस्थान वाले होते हैं। पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे नरक वासियों को उष्णता का कष्ट सहन करना पड़ता है, पांचवे नरक के ऊपर

के दो लाख बिलों में उष्णता और नीचे के एक लाख बिलों में शीत, छठे और सातवें नरक में शीत का ही वेदन है। यहाँ की भयंकर गर्मी से सुमेरु पर्वत बराबर एक लक्ष योजन प्रमाण लोहे का गोला भी गिरते-गिरते गल सकता है, तथा इतना बड़ा गोला सर्दी से बिखर कर कण-कण बराबर हो जाय इसप्रकार की उष्ण और शीत की बाधा है इन असह्य यातनाओं को ये जीव अपनी-अपनी आयु पर्यंत सहन करते हैं।

नरकों में आवागमन सम्बन्धी कथन—असंज्ञी जीव पहले नरक तक उत्पन्न होते हैं, सरी सर्प दूसरे नरक पर्यन्त, पक्षी तीसरे नरक तक, सर्प चौथे, सिंह पांचवें, स्त्री छठे, तथा मनुष्य और महामच्छ सातवें नरक पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। एकेन्द्रिय तथा विकलत्रय जीव नरकों में नही जाते, क्योंकि इनके घोर पाप करने की सामर्थ्य एवं परिणाम नहीं हैं। पहले दूसरे और तीसरे नरक से निकले नारकी तीर्थंकर भी हो सकते हैं। चौथे नरक के नारकी मोक्ष तो जा सकते हैं, परन्तु तीर्थकर नही होते। पांचवें नरक से निकले जीव महाव्रत धारण कर सकते हैं, किन्तु मोक्ष नहीं जा सकते छठे नरक से निकले जीव सम्यक्त्वी हो सकते है, परन्तु महाव्रतों के ग्राहक नही तथा सातवे नरक से निकले केवल तिर्यंच ही होते हैं।

तिर्यंचगति—जिनमें कौटिल्य एवं अविवेक प्रधान हो और जिनकी आहारादि चारों संज्ञा व्यक्त हों वे तिर्यंच कहलाते हैं, प्राय. सभी तिर्यंच मन की बात को वचन से व्यक्त करने में असमर्थ रहते हैं तथा काय से भी नहीं कर सकते। श्रुतज्ञान का अभ्यास न होने से और विशेषरूप से शुभोपयोगरूप प्रवृत्ति न होने से ये अत्यन्त अज्ञानी हैं मनुष्य की तरह महाव्रतादिक को धारण न कर सकने के कारण तथा सम्यग्दर्शन की विशुद्धि न होने से पापों की बहुलता है इसलिए इन्हे तिर्यच कहते हैं। तिर्यंच गर्भज और सम्मूर्च्छन होते है, एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रियपर्यन्त सभी तिर्यच सम्मूर्च्छन असंज्ञी ही होते है पंचेन्द्रिय में कोई गर्भज और कोई सम्मूर्च्छन दोनों ही प्रकार हैं जैनागम में तिर्यंचों के पांच भेद बतलाये हैं। यथा—सामान्यतिर्यंच, पंचेन्द्रियतिर्यंच, पर्याप्ततिर्यंच, योनिमतितिर्यंच और अपर्याप्ततिर्यंच। कर्म भूमिज और भोग भूमिज की अपेक्षा तिर्यच दो भेद युक्त भी हैं। भोग भूमिज तिर्यंच वही होते हैं, जिन्होंने पहले आयुबंध कर लिया पश्चात् सम्यक्त्व हुआ हो। चारों गतियों में सबसे अधिक तिर्यच जीव हैं। निरुक्ति के अनुसार मायाचार की प्रधानता को बतलाने वाली तिर्यंच गति है यथा—"तिर:-तिर्यग्भावं—कुटिलपरिणामं अञ्चति इति तिर्यंच." ८४ लक्षयोनि में बासठ लक्षयोनि तिर्यंचों की होती है, इनमें चौदह जीवसमास है। गुणस्थान पहले से पाँच तक हो सकते है। सभी तिर्यंचों में से संज्ञी-पंचेन्द्रिय-गर्भज-पर्याप्तक तिर्यंचों में ही प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन ग्रहण करने की योग्यता होती है, सम्मूर्च्छन में नहीं इनमें उत्कृष्ट आयु तीन पल्य और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त होती है।

मनुष्यगति—मानव एक बुद्धि जीवी प्राणी है यह अपने बौद्धिक बल से चाहे तो सिद्धस्थान की ऊंचाई का स्पर्श कर सकता है और चाहे तो रसातल मे भी प्रवेश पा सकता है। संसार में रहते हुए इस मानव ने इसप्रकार के भौतिक चमत्कार प्रस्तुत किये हैं जिस चकाचौध मे ये अपनी चेतना को विलीन कर रहा है, परन्तु मनुष्य वही है जो नित्य ही हेयोपादेय का विचार करे तद्नुरूप मन की उत्कटता से गुणदोषादि का विचार स्मरण आदि करे तथा कर्मभूमि की आदि में ऋषभ भगवान और चौदह कुलकरों द्वारा जिनको जीवनोपाय आदि व्यवहारवृत्ति का उपदेश दिया गया अथवा मनुओं की संतान होने से इनको मनुष्य कहते हैं। मनुष्य चार प्रकार के होते हैं, सामान्य मनुष्य, पर्याप्त मनुष्य, योनिमतिमनुष्य और अपर्याप्त मनुष्य ये भी कर्मभूमिज और भोगभूमिज होते हैं। कर्मभूमिज मनुष्य अत्यधिक पापोपार्जन करके सप्तमनरकपर्यंत गमन करते हैं, तथा उत्कृष्ट पुण्यकार्य करते हुए अंत में सर्व कर्मों का निर्मूलन करके मोक्ष भी जाते हैं। मध्यलोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं उनमें मनुष्यों के रहने का क्षेत्र केवल ढाई द्वीप ही है आगे मानुषोत्तर पर्वत के बाहर मनुष्य नही जा सकते, मनुष्य पर्याय मनुष्यगति नामकर्म के उदय से प्राप्त होती है।

देवगति—देवशब्द दिव्धातु से बना है जिसका अर्थ क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोह, मद आदि अनेक अर्थ हैं, अतएव निरुक्ति के अनुसार जो देवगति में होनेवाले परिणमन अर्थात् इच्छानुसार कुला-

चलों पर महासमुद्रों में क्रीड़ा करते हैं, तथा अकृत्रिम चैत्य, चैत्यालयों की पूजन, वंदन, स्तुति करते हैं, देवों का शरीर सप्त धातु से रहित होता है ये अणिमा, महिमादि अष्ट ऋद्धियों से सम्पन्न होते हैं, अविच्छिन्न रूप लावण्य से युक्त, सदा नवयौवन अवस्था में रहते हैं। लक्षणानुसार जिनके देवगतिदेवगत्यानुपूर्वी नामकर्म के उदय से प्राप्त पर्याय है वे देव कहलाते हैं। देव चार प्रकार के हैं—भवनवासी, व्यन्तरवासी, ज्योतिषी और वैमानिक। सबसे अधिक संख्या ज्योतिषी देवों की है इनमें भवनवासी के असुरकुमारादि दश भेद हैं। व्यन्तरवासी के किन्नर, किंपुरुषादि आठ प्रकार ज्योतिष्क सूर्य, चन्द्रादि ५ भेद हैं जिनके गमन से कालकृत विभाग होता है। ये तीनों ही भवनत्रिक कहलाते हैं इन देवों में सम्यग्दृष्टि जीव मरण करके उत्पन्न नहीं होते। वैमानिकदेव कल्पोपपन्न और कल्पातीत दो प्रकार युक्त हैं, इनमें सोलहस्वर्गवासी कल्पोपपन्न तथा नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश, पंचअनुत्तरवासी कल्पातीत कहे जाते हैं, क्योंकि कल्पातीत विमानों के निवासी सभी अहमिंद्र हैं, कोई किसी के आधीन नहीं हैं। देवों में पहले से चौथे तक चार गुणस्थान होते हैं ये सभी देव जिनेन्द्र भगवान के उपासक होते हैं परन्तु मिथ्यादृष्टि देव वीतराग प्रभू की उपासना कुलदेवता मानकर करते हैं। हंस, परमहंसादि अन्यमतावलम्बी साधु मरण करके बारहवें स्वर्ग पर्यंत उत्पन्न होते हैं, इसके आगे नहीं, सम्यग्दृष्टि सोलहवें स्वर्ग तक, द्रव्यलिंगी मुनि नौ ग्रैवेयक तक उत्पन्न होते हैं तथा आगे भावलिंगी साधु ही उत्पन्न होते है, देवों की जघन्यायु दशहजारवर्ष और उत्कृष्टायु तैंतीससागर प्रमाण है।

देवियों की उत्पत्ति दूसरे स्वर्ग तक ही है, परन्तु आगे स्वर्गों के देव अपने-अपने नियोग के अनुसार देवियों को ले जाते हैं इसप्रकार देवियों का निवास सोलह स्वर्ग पर्यंत ही है। इन स्वर्गों से ऊपर के सभी देव ब्रह्मचारी होते हैं अत: प्रविचार रहित हैं। सौधर्मेंद्र, शची, दक्षिणेंद्र, लोकपाल, लौकान्तिकदेव, सर्वार्थसिद्धि के देव, ये सभी मनुष्य का एक भवधारण करके अष्टकर्मों को नष्ट करके शिवपुरी मे अनंतकाल तक निवास करते हैं।

इन्द्रियमार्गणा—इन्द्रिय प्राणी और अप्राणी में स्पष्ट भेद रेखा खींचने वाला चिह्न है। अथवा 'इन्द्रस्यलिंगम् इन्द्रियम्' जो सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान कराने मे कारण है उसे इन्द्रिय कहते हैं, यद्यपि आत्मा ज्ञस्वभावी है तथापि मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम के रहते हुए भी स्वयं पदार्थों को जानने में असमर्थ है। अत: संसारी जीवों के पदार्थों का ज्ञान कराने में कारण है वह इन्द्रिय है। जिसप्रकार अहमिंद्र देवो में एक दूसरे की अपेक्षा नहीं है, प्रत्येक देव इन्द्र हैं, दूसरों की आधीनता से रहित स्वतन्त्र हैं उसी प्रकार इन्द्रियां भी अपने-अपने स्पर्शादि विषय को ग्रहण करने में दूसरी रसनादि इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रखती अर्थात् स्पर्शइन्द्रिय का कार्य रसना नहीं करती इसलिए इन्द्र के समान इन्द्रियों को कहा है। इन्द्रियों के सामान्य से दो भेद है—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न आत्मिक विशुद्धि तथा इस विशुद्धि से होनेवाला उपयोगात्मक व्यापार भावेन्द्रिय कहलाता है। शरीरनामकर्म के उदय से शरीर के चिह्न विशेष को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। भावेंद्रिय के भी दो प्रकार हैं लब्धि और क्षयोपशम। पदार्थों को ग्रहण करने की शक्ति लब्धि कहलाती है और विषय को ग्रहण करने रूप व्यापार उपयोग है। इसीप्रकार द्रव्येन्द्रिय के दो भेद कहे गये हैं—निर्वृत्ति और उपकरण। शरीरनामकर्म के उदय से स्व-स्व इन्द्रिय के आकार आत्मप्रदेशों की रचना निवृत्ति है, तथा जो निर्वृत्ति आदि की रक्षा में सहायक आकृतियां बनती हैं उनको उपकरण कहते हैं। इन्द्रियों की अपेक्षा जीवों के पांच भेद हैं—एकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिंद्रिय, पंचेन्द्रिय, इन इन्द्रियों के विषय क्रम से स्पर्श, रस, गंध वर्ण और शब्द हैं।

इन्द्रियों का विषयक्षेत्र—असंज्ञी जीवों में एकेन्द्रिय के स्पर्श का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र चार सौ धनुष है, द्वीन्द्रिय के ८००, त्रीन्द्रिय के १६००, चारइन्द्रिय के ३२००, पंचेंद्रिय के ६४०० धनुष स्पर्शनेन्द्रिय का विषय है। द्वीन्द्रिय के रसनेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र ६४ धनुष है इसके आगे पंचेन्द्रिय तक दूना-दूना जानना। त्रीन्द्रिय के घ्राण का विषयक्षेत्र १०० धनुष है आगे दूना-दूना है। चतुरिन्द्रिय के चक्षु का विषयक्षेत्र २९५४ है और असंज्ञी पंचेन्द्रिय के ५९०८ धनुष है असंज्ञी पंचेन्द्रिय के कर्ण का विषय ८००० धनुष है।

संज्ञी जीवों के स्पर्शन, रसना और घ्राण का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र नौ-नौ योजन है। और चक्षु का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र ४७२६३ योजन से कुछ अधिक है, तथा कर्णेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र बारह योजन है।

इन्द्रियों के आकार—चक्षु का आकार मसूर के समान है, कर्ण का यवनाली के समान है, नासिका का तिल के फूल के समान है, जिव्हा का खुरपे के समान आकार है, तथा स्पर्शन इन्द्रिय के अनेक प्रकार के आकार हैं।

सबसे जघन्य अवगाहना सूक्ष्मनिगोदिया लब्धअपर्याप्तक की उत्पन्न होने के तीसरे समय में होती है और उत्कृष्ट अवगाहना महामच्छ के एक हजार योजन की होती है।

एकेंद्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेंद्रिय के एक मिथ्यात्वगुणस्थान ही होता है। जीवन मुक्त सयोगी और अयोगीजिन तथा सिद्धभगवान इन्द्रियों के व्यापार से रहित हैं अतः वे अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करते हैं।

कायमार्गणा—विश्व में समस्त जीवों का अवस्थान शरीर के माध्यम से ही होता है, इस शरीर की प्राप्ति जातिनामकर्म के सहचारी त्रस-स्थावर नामकर्म के उदय से होती है, संसारी आत्मा की इस पर्याय को काय कहते हैं, इसके छह भेद हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस। इनमें एकेंद्रिय तथा स्थावर नामकर्म से स्थावरकाय की प्राप्ति होती है, तथा द्वीन्द्रियादि और त्रसनामकर्म के उदय से प्राप्त शरीर को त्रसकाय कहते हैं। स्थावर जीवों के बादर और सूक्ष्म की अपेक्षा दो भेद हैं। बादरनामकर्म से प्राप्त बादर जीव आधार पर रहते हैं तथा सूक्ष्म जीवों से तीनोंलोक खचित है इन जीवों में यह विशेषता है कि ये जीव किसी को भी बाधा नहीं पहुंचाते न किसी से बाधित होते हैं अतः इनके सूक्ष्मनामकर्म का उदय है। वनस्पतिकाय के दो भेद हैं—प्रत्येक एवं साधारण।

वनस्पतिनामकर्म के उदय से पूरे एक शरीर का मालिक एक ही जीव हो उसे प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। तथा जिस एक शरीर मे अनेक जीव समानरूप से रहें उस शरीर को साधारण वनस्पति कहते हैं। प्रत्येक वनस्पति के भी दो भेद हैं—सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित। ये वनस्पतियां अनेक प्रकार की होती हैं, कोई मूल से उत्पन्न होती हैं, जैसे—अदरख, हल्दी आदि। गुलाबादि अग्र से उत्पन्न होते हैं। पर्व से उत्पन्न होने वाले इक्षु, बेंतादि हैं। कंद से उत्पन्न होनेवाले पिंडालू आदि हैं। स्कंध से जिसकी उत्पत्ति है वे सल्लकी, पलास आदि हैं। गेहूं चना आदि बीज से उत्पन्न होते हैं, तथा कोई सम्मूर्च्छन उत्पत्तिवाले भी है जैसे घास आदि। ये सभी वनस्पतियां सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित दोनों ही प्रकार की होती हैं, जिनकी शिरा, सधिपर्व आदि स्पष्ट दिखाई देवे वे अप्रतिष्ठित हैं, तथा जिनकी शिरा-संधि अप्रकट हों छेदने पर पुनः वृद्धि हो जाय और निगोदिया जीव जिनके आश्रित रहें वे सप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं।

जिन जीवों को साधारण नामकर्म के उदय से निगोदावस्था प्राप्त है वे साधारण जीव कहलाते हैं, इनके दो भेद हैं, बादर-सूक्ष्म।

जिन जीवों का एक साथ आहार, स्वासोच्छ्वास, जन्म तथा मरण होते हैं वे साधारण कहे जाते हैं। इन जीवों में इतना विशेष है कि एक बादरनिगोद शरीर में सूक्ष्मनिगोद एक साथ उत्पन्न होनेवाले अनन्तानन्त साधारण जीव या तो पर्याप्त होते हैं या अपर्याप्त ही होते है, मिश्र नहीं हैं, क्योंकि इनके समान ही कर्म का उदय है। एक निगोद के शरीर में सिद्धराशि और अतीत काल के समयों से अनंतगुणे जीव रहते हैं। संसार में ऐसे अनंतानंत जीव हैं जिन्होंने अभी तक त्रस पर्याय ही नहीं पाई है ये निगोदराशि अक्षयानन्त है। यद्यपि नित्यनिगोद से छह महिना आठ समय में ६०८ जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं तथापि निगोदराशि का कभी भी अन्त नहीं होगा। नित्यनिगोद और इतरनिगोद की अपेक्षा निगोद के दो भेद हैं। नित्यनिगोद तो वे हैं जिन्होंने अभी तक त्रसपर्याय को प्राप्त ही नहीं की है, तथा जो त्रस पर्याय को प्राप्त करके पुनः निगोद पर्याय को प्राप्त हो गये वे इतरनिगोद (चतुर्गतिनिगोद) कहलाते हैं।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुकाय जीवों का शरीर तथा केवलियों का शरीर, आहारक शरीर, देव-नारकियों का शरीर निगोद जीवों से रहित है, तथा शेष वनस्पतिकाय विकलत्रय, पंचेंद्रिय तिर्यंच-मनुष्यों के शरीर में निगोदिया जीव पाये जाते हैं। पृथ्वीकाय का आकार मसूर के समान है, जलकाय जीवों का आकार जलबिंदु सदृश, अग्निकाय काय का सुइयों के समूह के समान, वायुकाय का ध्वजा के समान तथा वनस्पतिकाय और त्रसकाय जीवों के अनेक आकार हैं।

स्थावरकाय में एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है और त्रसकाय में चौदह गुणस्थान होते हैं। त्रसजीवों का निवासस्थान त्रसनाड़ी मे ही है, जब कि स्थावर जीवों का निवास तीनों लोकों में सर्वत्र पाया जाता है, त्रसजीवों का सद्भाव यदि त्रसनाडी के बाहर भी पाया जाता है तो उपपाद, मारणांतिक समुद्घात और लोकपूरण समुद्घात अवस्था में ही होता है अन्य अवस्थाओ में नही।

जिसप्रकार एक भारवाहक पुरुष कावड़ आदि के द्वारा बोझा ढोता रहता है, उसीप्रकार समस्त संसारी जीव भी निरंतर शरीर (काय) रूपी कावड़ में कर्मरूपी भार को चारों गतियों में लिए हुए भ्रमण कर रहे हैं, इस काय और कर्म के अभाव में ही प्राणी परम सुखी होता है। सोलह ताव के द्वारा तपाने पर जिस प्रकार स्वर्ण किट्टकालिमा रहित होकर शुद्ध होता है, उसीप्रकार बाह्य व्रतादिक और अभ्यंतर में ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा सुसंस्कृत होने पर बाह्यकाय और अंतरंगकर्म से अलिप्त होकर सदा के लिए शुद्ध एवं सिद्ध हो जाते हैं।

योगमार्गणा :

आत्मा में अनंत शक्तियां हैं, उनमें एक योग नाम की शक्ति भी है, उस शक्ति के दो रूप हैं, भावयोग और द्रव्ययोग।

आंगोपांग और शरीरनामकर्म के उदय से मन, वचन, काय पर्याप्तिया जिसकी पूर्ण हो चुकी हों तथा जिसमें मन, वचन, काय का अवलम्बन अपेक्षित है ऐसे संसारी जीवों के समस्त आत्म प्रदेशो मे कर्मो को ग्रहण करने में कारणभूत जो शक्ति है उसे भावयोग कहते है और उस योग से आत्मप्रदेशों मे सकम्पता होती है वह द्रव्ययोग है।

जिसप्रकार लोहे में दहनशक्ति अग्नि के सम्बंध से उत्पन्न होती है, उसीप्रकार समस्तलोक कर्म-नोकर्म वर्गणाओं से व्याप्त है। यद्यपि उन वर्गणाओं को ग्रहण करने की शक्ति जीव में है तथापि शरीर और आंगोपांग कर्म के उदय से प्राप्त मन, भाषा और आहारवर्गणारूप पुद्गलस्कंधो के संयोग से ही जीव कर्म और नोकर्मों को ग्रहण करता है। जीवों की मन, वचन की प्रवृत्ति पदार्थों को जानने के लिए होती है तथा जानने योग्य पदार्थ सत्य, असत्य, उभय और अनुभयरूप से चार प्रकार के है। जनपदादि दशप्रकार के सत्यपदार्थों को जानने के लिए किसी मनुष्य की मन की या कहने के लिए वचन की प्रवृत्ति होती है उसे सत्यमन, और वचन को सत्य वचन कहते हैं और इससे होनेवाला योग सत्यमन-वचनयोग कहलाता है। इसीप्रकार असत्य, उभय और अनुभय को भी जानना चाहिये। सम्यग्ज्ञान के विषयभूत पदार्थ को सत्य कहते हैं जैसे जल को जल कहना। इससे विपरीत असत्य है। दोनों के विषयभूत पदार्थ को उभय कहते हैं जैसे—कमडलू को घट कहना क्योंकि यह घटका काम करता है इसलिए कथंचित् सत्यासत्य है, तथा जो दोनों प्रकार के ज्ञान का विषय न हो उसे अनुभय कहते है, जैसे "कुछ है" इसमें सत्यासत्य का कुछ भी निर्णय नही है अतः अनुभय है। द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेंद्रिय पर्यंत सभी अमनस्क जीवों की अनक्षरात्मक भाषा और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवो की आमन्त्रणी आदि नौ प्रकार की अनुभयात्मक भाषाएं हैं, क्योंकि इन भाषाओं के सुनने से व्यक्त और अव्यक्त दोनों अंशों का ज्ञान होता है। तथा इन भाषाओं को बोलने के लिए जो प्रयत्न होता है वह अनुभयवचनयोग है।

काययोग—काययोग का वर्गीकरण सात प्रकार से किया गया है। इनमें से मनुष्य और तिर्यंचों के औदारिक शरीर होता है यह औदारिक शरीर स्थूल शरीर का वाचक है, औदारिक शरीर बनने योग्य नोकर्म वर्गणाओं को आकर्षित करने की आत्मा में जो शक्ति है अथवा इस शरीर के अवलंबन से आत्मप्रदेशों में जो सकम्पावस्था होती है उसे औदारिक काय योग कहते हैं। तथा पर्याप्ति से पूर्व कार्मणशरीर की सहायता से होने वाले योग को औदारिक मिश्रयोग कहते हैं।

अनेक प्रकार की शक्तियों एवं गुणों से युक्त देव व नारकियों के शरीर को वैक्रियक शरीर कहते हैं। विक्रिया का अर्थ स्वाभाविक मूलशरीर को छोड़कर विभिन्न अनेक आकार-प्रकार के शरीरों को बना लेना अथवा अपने उस एक शरीर को ही अनेक अशुभ एवं शस्त्राकारादि शक्लों में परिवर्तित कर देना। इनमें पृथक्विक्रिया करनेवाले देव होते हैं और अपृथक्विक्रिया को नारकी किया करते हैं। इस शरीर के निमित्त से होनेवाला योग वैक्रियककाय योग है तथा इसके पूर्व अपर्याप्तावस्था में मिश्र योग होता है। विशेष बात यह है कि स्थूलशरीर को धारण करनेवाले मनुष्य, तिर्यंच भी विक्रिया की योग्यता वाले होते हैं, बादर वायुकाय, अग्निकाय अपृथक्विक्रिया करते हैं, तथा भोगभूमिज मनुष्य-तिर्यंच और चक्रवर्ती पृथक्विक्रिया करते हैं। अर्थात् अनेक औदारिक शरीरों का निर्माण करते हैं, चक्रवर्ती तो एक कम ९६ हजार शरीरों को एक साथ उत्पन्न करते हैं।

आहारक शरीर—असंयम का परिहार करने के लिए अर्थात् ढाई द्वीप में स्थित तीर्थक्षेत्रों की वन्दना, दर्शन आदि करने के लिए जाने में असंयम होना अवश्यंभावी है, उस असंयम के निवारणार्थ अथवा कदाचित् तत्त्वों में उत्पन्न संदेह को दूर करने के लिए आहारक ऋद्धि के धारक प्रमत्तसंयत छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के उत्तमांग (मस्तक) से शुभाकृति-शुभ-आकार, श्वेतवर्ण, सप्तधातु रहित, मनुष्याकार एक हस्तप्रमाण पुतला निकलता है। उसके द्वारा केवली अथवा श्रुतकेवली के दर्शन मात्र से उन मुनिराज के संदेह का निवारण हो जाता है विशेषता यह है कि यह शरीर औदारिक व वैक्रियक की भांति जीवन पर्यंत नहीं रहता, इसका काल अंतर्मुहूर्त है इसके पश्चात समाप्त हो जाता है। इसी शरीर के योग्य आई हुई वर्गणाओं के निमित्त जो आत्म-प्रदेशों में परिस्पंदन होता है वह आहारकयोग है तथा अपर्याप्तावस्था में मिश्रयोग होता है।

ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों के समूह को कार्मणशरीर कहते हैं, कर्माकर्षण के समय आत्मप्रदेशों में सकम्पता होने से यह कार्मणकाययोग कहलाता है, यह योग विग्रहगति में एक, दो अथवा तीन समय तक रहता है, और केवली समुद्घात में भी होता है। इसप्रकार अल्पज्ञानी जीवों की शक्ति का परिचय योगों के द्वारा ही हुआ करता है, परन्तु इन योगों से रहित अयोगीजिन अनुपम अनंतशक्ति के धारक होते हैं।

वेदमार्गणा :

वेदों की व्याख्या आचार्यों ने द्रव्यवेद और भाववेद इसप्रकार दो प्रकार से की है। इनमें प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं। पुरुष, स्त्री और नपुंसकवेद के उदयसे भाववेद होता है तथा नामकर्म के उदय से पुरुष, स्त्री या नपुंसकरूप शरीर की निष्पत्ति होती है यह द्रव्यवेद है। प्राय: जीवों में द्रव्य और भाववेद समान होते हैं, परन्तु किन्हीं में विषमता भी देखी जाती है, यथा—देव-नारकी तथा भोगभूमिज मनुष्य एवं तिर्यंचों में जो द्रव्यवेद हैं वही भाववेद है, शेष कर्मभूमिज मनुष्य एवं तिर्यंचों में क्वचित् वैषम्य भी देखा जाता है। संसारी प्राणियों के वेदनामक नोकषाय के उदय से परिणामों में बड़ाभारी क्षोभ उत्पन्न होता है जिसके फलस्वरूप वे गुण दोषोंके चिंतन में असमर्थ होते हुए उनके मन, वचन, काय की प्रवृत्ति उसी रूप होने लगती है।

पुरुष उत्कृष्ट गुणों को धारण करने की योग्यता रखता है तथा उत्तमोत्तम पदों को धारण भी करता है।

मायाचार की बहुलता से जो स्वयं एवं परको दोषों से आच्छादित करे वह स्त्री है यह निरुक्त्यर्थ है, परन्तु विशिष्टस्त्रियों में यह लक्षण घटित नहीं होता।

जो न स्त्री है न पुरुष दोनों ही लिंगों से रहित तथा भट्ट की अग्नि के सदृश तीव्र रूप से जिनका चित्त कलुषित है वे नपुंसक हैं, परन्तु जो विशिष्ट आत्मा इन तीनों वेदों से रहित हैं वे आत्मोत्थ उत्कृष्ट सुखों के भोक्ता होते हैं।

कषायमार्गणा :

'कृषि-विलेखने' धातु से कषाय शब्द की निष्पत्ति हुई है इसका अर्थ जोतना है। जिसप्रकार अधिक से अधिक धान्य की उत्पत्ति के लिये कृषक खेत में बीज बोता है उसी प्रकार संसारी जीव भी सुख-दुःख रूपी धान्य को उत्पन्न करने के लिये कर्मरूपी क्षेत्र को कषायों से जोतते हैं। अथवा हिंसार्थक कष् धातु से भी कषाय शब्द की उत्पत्ति होती है अर्थात् "सम्यक्त्वादि आत्मपरिणामान् कषति हिनास्ति इति कषायः"। कषाय आत्मा की वैभाविक परिणति है, इस प्रकार से जो कषाय सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र और यथाख्यात चारित्ररूप आत्म-परिणामों को कषे—घातकरे उसे कषाय कहते हैं। कषाय के चार भेद हैं—अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन इसप्रकार प्रत्येक के क्रोध, मान, माया व लाभ की अपेक्षा चार-चार भेद होने से कषाय के १६ भेद होते हैं, परन्तु उदय की अपेक्षा असंख्यातलोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थान है। इन कषायों का कार्य भिन्न-भिन्न है, यथा अनंतानुबंधी सम्यक्त्व की प्रतिबंधक है, अप्रत्याख्यान देशचारित्र की घातक है, प्रत्याख्यान सकलचारित्र की रोधक है, और संज्वलन यथाख्यातचारित्र की प्रतिरोधक है।

शक्ति की अपेक्षा से भी प्रत्येक क्रोध की शक्ति तरतम स्थानों की विवक्षा में चार-चार रूप से वर्णित है यथा—पाषाणरेखासदृश, पृथ्वीरेखा, धूलिरेखा और जलरेखा के समान। जिसप्रकार पाषाण, पृथ्वी, धूलि और जलमें की गई रेखा उत्तरोत्तर अल्प-अल्प समय में ही नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार क्रोधकषाय परिणाम भी अपनी-अपनी जाति के अनुसार हीनाधिकरूप से टिकते हैं। क्रोध की तरह मानके भी चार भेद हैं, पत्थर, हड्डी; काष्ठ तथा बेत के समान। जिस प्रकार पाषाण किसी भी प्रकार नम्र नहीं होता उसे शैल सदृश मान जानना चाहिए।

कौटिल्यता की अपेक्षा माया के भी चार प्रकार जानना चाहिए। बांस की जड के समान, मेढ़े के सींग के समान, गोमूत्र के समान और खुरपा के समान। प्राणी के मनोभाव जितने अधिक वक्रता को लिए हुए होंगे वह उतना ही अधिक मायावी कहलाता है।

इसीप्रकार लोभकषाय भी चार भेद वाली है। जिस प्रकार किरमिज का रंग अत्यंत (गाढ़) गहराई लिये होता है और धोनेपर बहुत ही कठिनता से छूटता है उसीप्रकार जिस लोभ को उद्भूति अत्यधिक मात्रा में हो वह व्यक्ति को अधोगति की ओर उन्मुख करता है। इसप्रकार संसारी जीवों के परिणाम इन कषायों से रंजित हैं तथा ये कषाय परिवर्तनशील है इनको क्रम से हानि होते हुए जिनके स्वयं अथवा दूसरे जीवों को बाधा पहुंचाने रूप असंयम भाव नहीं हैं वे अकषायी जीव कहलाते हैं। गुणस्थान परिपाटी को अपेक्षा दशवें गुणस्थान पर्यंत के जीव सकषायी हैं तथा ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर सभी जीव अकषायी हैं।

ज्ञानमार्गणा :

संसार में जो कुछ चमत्कार दिखाई देता है वह ज्ञान का ही कार्य है। ज्ञान आत्मा का निजी गुण है तथा वही आत्मा को संसार से मुक्त करने की शक्ति रखता है। यह ज्ञान अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करके आत्मा में अपना पवित्र प्रकाश फैलाता है और आत्मा के निजी गुणों को आलोकित करता है, त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्य और गुण तथा त्रैकालिक विविध अवस्थाओं को प्रतिभासित करनेवाला ज्ञान ही है। अवबोधार्थक 'ज्ञ' धातु से यह शब्द निष्पन्न हुआ है। जीव की चैतन्यशक्ति के साकार परिणमनरूप उपयोग को ही ज्ञान कहते हैं, यह विशेष गुण जीव को छोड़कर अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता, परन्तु इस ज्ञान का विकास संसारावस्था में

अनेक खंडरूप में दिखाई देता है, इसके सामान्य से दो भेद हैं-प्रत्यक्ष और परोक्ष। जो इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा रखता है अथवा जो पराधीन या मलीन है वह परोक्षज्ञान है, परन्तु इससे विपरीत परापेक्षारहित विशद, स्पष्ट व स्वाधीन ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यय और केवलज्ञान इसप्रकार सम्यग्ज्ञान के पांच भेद भी हैं, इन पांच ज्ञानों में मतिज्ञान श्रुतज्ञान परोक्ष हैं और अवधिज्ञान-मन:पर्ययज्ञान देश प्रत्यक्ष हैं तथा केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है, क्योंकि यह ज्ञान पूर्ण निरावरण है। पांचज्ञानों में आदि के चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं जो कि प्रत्यक्षरूप से संसारी जीवों के हीनाधिक अवस्था में दिखाई देते हैं। अंत का ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञानावरण के अभाव में उत्पन्न होने से क्षायिक है। मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञानों में वास्तविकता का अभाव होने से विपरीतता भी देखी जाती है जिनको कुमति, कुश्रुत, कुअवधि कहते हैं, वर्तमान में कुमति, कुश्रुत ज्ञान का प्रभाव अधिक दिखाई दे रहा है। जैनदर्शन में कहा है कि जिस बुद्धि का अपव्यय अणुबम आदि अनेक प्रकार के हिंसक अस्त्र-शस्त्रादि के निर्माण करने में किया जाता है वह कुबुद्धि है तथा जिन शस्त्रों के प्रयोग से लाखों, अरबों प्राणियों का एक साथ संहार हो जाता है और भी इसी प्रकार के वध बंधनादि करनेवाले यंत्र विषादि के बनाने में प्रयुक्त बुद्धि कुमति कही जाती है।

मतिज्ञान—जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है वह मतिज्ञान है, इसका दूसरा नाम आभिनिबोधिकज्ञान भी है। तत्त्वार्थसूत्र में मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, आभिनिबोधिक को एकार्थ कहा है। जो ज्ञान केवल इन्द्रियों से उत्पन्न होता है वह इन्द्रिय जन्य है, जो केवल मन से उत्पन्न होता है वह अनिन्द्रिय जन्य है तथा जो इन्द्रिय और मन दोनों के संयुक्त प्रयत्न से होता है वह इन्द्रिय अनिन्द्रिय जन्य ज्ञान है। इसप्रकार मतिज्ञान इन्द्रिय और मन से होता है।

अवग्रह—इन्द्रिय और अर्थ का संबंध होने पर नामादि की विशेष कल्पना से रहित सामान्यमात्र का ज्ञान होना अवग्रह है इस ज्ञान में निश्चित प्रतीति नहीं होती कुछ है इतना मात्र ज्ञान होता है। इसके पूर्व जो सत्ता सामान्य का भान होता है वह दर्शन है।

अवग्रह के दो भेद हैं व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह। अर्थ और इन्द्रियों का संयोग व्यंजनावग्रह है यह ज्ञान अव्यक्त है व्यंजनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता। व्यंजनावग्रह अर्थावग्रहरूप किस प्रकार बनता है इसे समझने के लिए आचार्यों ने एक दृष्टांत दिया। एक कुंभकार अवे से नवीन सराव निकालता है और उस पर एक, दो बूंद पानी की डालता है, और वे बूंदें तत्काल सूख जाती हैं, परन्तु जब उसके ऊपर पानी की बूंदें पड़ती जाती हैं तो वह सकोरा बूंदों को सुखाने मे असमर्थ हो जाता है अत: उसका गीलापना व्यक्त होने लगता है इसीप्रकार कोई सोया हुआ व्यक्ति है उसे जब पुकारा जाता है तो उसे प्रारंभ में सुनाई नही देता अर्थात् उन शब्दों की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती यह व्यंजनावग्रह है, परन्तु बराबर आवाज लगाने पर उसके कान में शब्द प्रविष्ट हो जाने से उसे सुनाई आने लगता है कि मुझे कोई पुकार रहा है, इस व्यक्त प्रतिभास को अर्थावग्रह कहते हैं। यह अर्थावग्रह पांचइन्द्रियो और छठे मन से होता है।

मतिज्ञान का दूसरा भेद ईहा है, अवग्रह के पश्चात् ज्ञान ईहा मे परिणत हो जाता है अवग्रह के द्वारा अवग्रहीत पदार्थ के विषय में विशेष को जानने को ओर झुकी हुई ज्ञानपरिणति को ईहा कहते है, जैसे—जो शब्द सुना वह किसका है स्त्री का है कि पुरुष का।

मतिज्ञान का तीसरा भेद अवाय है, ईहा के द्वारा ईहित पदार्थ का निर्णय करना अवाय है। जैसे आवाज की मधुरता आदि के द्वारा निश्चित होना कि यह शब्द स्त्री का ही है, पुरुष का नहीं है।

मतिज्ञान का चौथा भेद धारणा है। अवाय के पश्चात् धारणा होती है इसमें ज्ञान इतना दृढ़ हो जाता है कि उसका संस्कार अंतरात्मा पर अंकित हो जाता है। इसप्रकार से मतिज्ञान सामान्य की अपेक्षा एक प्रकार है, व्यंजनावग्रह, अर्थावग्रह के भेद से दो प्रकार है तथा अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा की अपेक्षा चार

प्रकार है। तथा यह चारों प्रकार का ज्ञान पांच इन्द्रिय और मन से होता है इसलिए ४×६=२४ भेद होते हैं तथा ये ज्ञान बारह प्रकार के बहु-बहुविधादि पदार्थों का ज्ञान कराने वाला होने से २४×१२=२८८ भेद अर्थावग्रह मतिज्ञान के हैं। व्यञ्जनावग्रह चार इन्द्रियों से ही होता है चक्षु और मन से नहीं। अतएव इसके ४८ भेद हैं, इसप्रकार २८८+४८=३३६ मतिज्ञान के भेद हैं।

श्रुतज्ञान—मतिज्ञान के पश्चात् जो चिंतन-मनन के द्वारा परिपक्व ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है, इसकी उत्पत्ति मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थ के अवलंबन से होती है, यद्यपि श्रुतज्ञान की उत्पत्ति का मूलकारण श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम है तथापि मतिज्ञान के विषय का अवलंबन अपेक्षित है।

श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। इनमें अंगबाह्यश्रुत के अनेक भेद हैं, तथा अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं। अंगप्रविष्ट उसे कहते हैं जो साक्षात् तीर्थंकर द्वारा प्रकाशित हो तथा गणधरों द्वारा सूत्ररूप से निबद्ध किया जाय तथा जिसके अर्थ के प्ररूपक तो तीर्थंकर हों, परन्तु सूत्रों के रचयिता अन्य आचार्य हों वह अंगबाह्य है। अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक अथवा शब्दज-लिंगज की अपेक्षा भी श्रुतज्ञान के दो भेद हैं, किन्तु शब्दज श्रुतज्ञान ही मुख्य है, क्योंकि समस्त लोकव्यवहार तथा उपदेश, शास्त्राध्ययनादि की अपेक्षा मोक्षमार्ग में भी शब्द और तज्जन्य श्रुतज्ञान की ही मुख्यता है। अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान एकेंद्रियसे पंचेन्द्रिय पर्यंत सभी जीवों के पाया जाता है, परन्तु यह लौकिकव्यवहार में तथा मोक्षमार्ग में उतना उपयोगी न होने के कारण मुख्य नहीं है। अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के असंख्यात भेद हैं और अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के संख्यात भेद हैं।

सर्वजघन्य पर्यायनाम का श्रुतज्ञान सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के अपने छहहजार बारह भवों में से अंतिम भव में तीन मोड़ा के द्वारा शरीर को ग्रहण करनेवाले के प्रथम मोड़ा के समय यह स्पर्शनेन्द्रियजन्य लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञान होता है। यह लब्ध्यक्षरज्ञान निरावरण है, क्योंकि इतना क्षयोपशम तो अवश्यंभावी है। श्रुतज्ञान द्वादशांगरूप है, ज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान सदृश है, परन्तु श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के संबंध में कुछ विशेष-संसार में प्रत्येक जीवों के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पाया जाता है परन्तु प्रश्न यह है कि ये दोनों ज्ञान कब तक रहते हैं? इसके विषय में आचार्यों ने बतलाया है कि मतिज्ञान श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है और केवलज्ञान क्षायिक है परन्तु जब पूर्ण ज्ञानावरण का क्षय हो जाता है तब क्षायिकज्ञान प्रकट होता है जिसे कि केवलज्ञान कहते हैं, उस समय क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रह सकता, अतः केवलज्ञान होने पर इन दोनों ज्ञानों की सत्ता नहीं रहती।

अवधिज्ञान—अवधि का अर्थ सीमा है अर्थात् जिस ज्ञान की सीमा है उसे अवधिज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से भूत, वर्तमान और भविष्य के परिमित रूपी पदार्थों को ही विषय करता है अरूपी को नहीं अतः परमागम में इस ज्ञान को सीमा ज्ञान भी कहा है। मूर्तिमान द्रव्य ही इस ज्ञान के ज्ञेय विषय की मर्यादा है, छह द्रव्यों में से केवल पुद्गल द्रव्य ही अवधिज्ञान का विषय है। इसके दो भेद हैं—भवप्रत्यय, गुणप्रत्यय। नरकादि भव की अपेक्षा अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होकर जो अवधिज्ञान होता है उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं। तथा जो सम्यग्दर्शनादि कारणों की अपेक्षा से अवधिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से होता है उसे गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव-नारकियों के तथा तीर्थंकरों के जन्म के साथ ही उत्पन्न होता है तथा मिथ्यादृष्टियों के अंतर्मुहूर्त के अनंतर उत्पन्न होता है और गुणप्रत्यय मनुष्य तथा संज्ञी पंचेंद्रिय तिर्यंचों के शंखादि चिन्हों से होता है।

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छह भेद है-अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित। ये भेद देशावधिगुणप्रत्यय के भेद हैं, भवप्रत्ययअवधिज्ञान नियम से देशावधि ही होता है तथा परमावधि,

सर्वावधि गुणप्रत्ययरूप ही होते हैं। जघन्य देशावधि संयत तथा असंयत दोनों के ही होता है, परन्तु परमावधि और सर्वावधि चरमशरीरी महाव्रती के ही होता है। देशावधिज्ञान प्रतिपाती भी है, परन्तु परमावधि और सर्वावधि अप्रतिपाती ही हैं। अवधिज्ञान के अधिकारी चारोंगति के जीव हैं, लेकिन इतनी विशेषता है कि देशावधि तो चारों गतियों के जीवों के होता है, परन्तु परमावधि और सर्वावधि तो मनुष्यों में भी संयमी मुनियों के ही होता है।

मन:पर्ययज्ञान—दूसरों के मन में स्थित पदार्थ को मन कहते हैं उस पदार्थ को जो पर्येति अर्थात् जानता है यह निरुक्ति है। ईहामतिज्ञान पूर्वक जो त्रिकाल विषयक चिंतित और अर्धचिंतित पर के मनमें स्थित पदार्थों को जानता है वह मन.पर्ययज्ञान है। इस ज्ञान के दो भेद हैं–ऋजुमति और विपुलमति। जो ऋजु अर्थात् सरल मन, वचन, काय के द्वारा चिंतवन किये गये पदार्थ को विषय करे वह ऋजुमति है। वर्तमान जीव के द्वारा जिसका चिंतवन किया जा रहा है ऐसे त्रिकाल विषयक रूपी पदार्थ को जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा से जानता है वह ऋजुमति है। तथा ऋजु या वक्ररूप से जिसका भूत में चिंतन किया अथवा भविष्य में जिसका चिंतवन किया जावेगा ऐसे रूपी पदार्थों को जाननेवाला विपुलमतिज्ञान है। मन:पर्यय ज्ञान की उत्पत्ति द्रव्यमन के स्थान पर जो आत्मप्रदेश हैं वहां से होती है। इस ज्ञानका उद्भव चारों गतियों में से एक मनुष्यगति में ही है और मनुष्यों में भी कर्मभूमि के मनुष्यों में ही योग्यता है इनमें भी यह ज्ञान प्रमत्तसंयत गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक के संयमी जीवों के होता है इनमें से भी सात ऋद्धियों में से कोई एक ऋद्धि को धारण करने वालों के होता है, ऋद्धि में भी वर्धमान तथा विशिष्ट चारित्रवालों के ही यह मन:पर्यय ज्ञान होता है। ऋजुमति प्रतिपाती भी है, क्योंकि इस ज्ञान सहित उपशम तथा क्षपक श्रेणी दोनों पर चढता है। उपशमश्रेणी में चारित्रमोह के उद्रेक के कारण कदाचित् पतन भी सम्भव है, परन्तु विपुलमति सर्वथा अप्रतिपाती है इसके धारण करनेवालों के नियम से केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

मन:पर्ययज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र मनुष्यलोक है यहां मनुष्यलोक से विष्कम्भ ग्रहण किया है न कि वृत्त, क्योंकि मानुषोत्तर पर्वत के बाहर चारों कोणों में स्थित तिर्यंच अथवा देवों के द्वारा चिंतित पदार्थ को भी विपुलमति जानता है। कारण यह है कि मन:पर्ययज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र ऊंचाई में कम होते हुए भी समचतुरस्र घनप्रतररूप पेंतालीसलक्ष योजन प्रमाण है।

द्रव्य—द्रव्य की अपेक्षा मन:पर्ययज्ञान का जघन्य द्रव्य औदारिकशरीर के निर्जीर्ण समय प्रबद्ध प्रमाण है।

क्षेत्र—मन:पर्ययज्ञान का जघन्य क्षेत्र दो, तीन कोस तक है तथा उत्कृष्ट मनुष्यलोक प्रमाण है।

काल—काल की अपेक्षा जघन्य से यह ज्ञान अतीत तथा अनागत के दो, तीन भव को जानता है और उत्कृष्ट से पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण भवों को जानता है।

भाव—भाव की अपेक्षा मन:पर्ययज्ञान का जघन्य विषय आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण है तथा उत्कृष्ट विषय असंख्यातलोक प्रमाण है।

केवलज्ञान—केवल शब्द का अर्थ एक या असहाय है, ज्ञानावरण कर्म के नाश से ज्ञान के आवान्तर भेद मिट जाते हैं और ज्ञान एक हो जाता है इसके पश्चात् इन्द्रिय और मन के सहयोग की आवश्यकता नहीं होती एतदर्थ वह केवल कहलाता है। ज्ञानावरणीय का नाश हो जाने से यह ज्ञान परिशुद्ध हो जाता है इसमें अशुद्धि का अंश किंचित् भी नहीं रहता अत: यह केवल कहलाता है। यह ज्ञान निरावरण होने से त्रिकालवर्ती समस्त लोकालोक के संपूर्ण पदार्थों को युगपत् जानता है, जीवद्रव्य की ज्ञानशक्ति के जितने अंश हैं वे इस ज्ञान के उदय होने पर व्यक्त हो जाते हैं। मोहनीय और वीर्यांतराय के सर्वथा क्षय हो जाने से अप्रतिहत शक्ति से युक्त है अतएव निश्चल है। इन्द्रियों की सहायता के बिना रूपी-अरूपी समस्त द्रव्यों को विषय करता है इसलिए केवल

है। चारों घातियाकर्मों का अभाव होने से इस ज्ञान में क्रम तथा व्यवधान नहीं हैं निराबाध होने से अनंतकाल तक यह ज्ञान अस्त नहीं होता है इसलिए असपत्न अर्थात् प्रतिपक्षरहित कहलाता है।

इसप्रकार संसार में ज्ञानी और अज्ञानी दोनों प्रकार के प्राणी पाये जाते हैं। ज्ञानी पुरुष वे होते हैं जो अपने विवेक और विशुद्ध विचारों के द्वारा अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखते हैं तथा ज्ञान के आलोक में आत्ममुक्ति के मार्ग को खोज निकालते हैं, परन्तु इसके विपरीत अज्ञानी विषयभोगों को उपादेय मानकर निरंतर कर्म बंध करते हुए संसार की वृद्धि करते हैं।

संयममार्गणा :

जीवमात्र का एक ही लक्ष्य है दुःख से मुक्त होना सुख एवं शांति को प्राप्त करना इसलिए प्रत्येक विचारक एवं चिंतक ने जीव और जगत का चिंतन करते हुए दुःख से निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के उपायों पर विचार किया है तथा बंधन से मुक्त होने का मार्ग बतलाया है, इस कथन का एक ही उद्देश्य रहा है कि व्यक्ति जीवन के स्वरूप को समझे, बंध और मुक्ति के कारणों का परिज्ञान करे तदनंतर साधना के द्वारा अपने साध्य लक्ष्य को प्राप्त करे, मुक्ति के लिए महर्षियो ने संयम को ही साधना का मार्ग बतलाया है।

संयम का व्युत्पत्ति अर्थ है-सं-सम्यक् प्रकारेण यमनं-निरोधः संयमः। पंचमहाव्रतों को धारण करना, पंचसमितियों का पालन करना, क्रोधादिकषायों का निग्रह करना, मन-वचन-काय इन तीन दंडों का त्याग करना तथा पांचों इन्द्रियों का जय इसे संयम कहते हैं। संयम के पांच भेद हैं यथा-सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात तथा संयमासंयम और असंयम मिलकर सात भेद भी हैं। संयम की उत्पत्ति के कारण बादर संज्वलन कषाय के देशघाति स्पर्धकों के उदय से अथवा सूक्ष्मलोभ के उदय से तथा मोहनीयकर्म के उपशम या क्षय से संयम भाव का प्रादुर्भाव होता है, सज्वलन का अर्थ है कि जो सं अर्थात् संयम के साथ ज्वलित-रहे वह संज्वलन है यह कषाय संयम की सर्वथा विरोधी नहीं है।

सामायिकसंयम—उपर्युक्त पांच संयमों में संग्रहनय की अपेक्षा अभेदरूप से 'मैं सर्व सावद्ययोग का त्यागी हूं' इस प्रकार जो संपूर्ण सावद्य का त्याग करता है उसे सामायिक संयमी कहते है, यह संयम अनुपम है इसके पालक सामायिक संयमी कहलाते हैं।

छेदोपस्थापना—प्रमाद के निमित्त से सामायिक संयम से च्युत होकर जो सावद्यक्रिया को करने रूप परिणति होती है उसको प्रायश्चितविधि के अनुरूप छेदकर जो जीव अपनी आत्मा को पुनः व्रतों में अर्थात् संयम मे स्थापित करता है उसे छेदोपस्थापना संयम कहते है।

तथा "छेदेन-प्रायश्चित्तेन यः आत्मानं संयमे उपस्थापयति", अथवा छेदेसति पुनः यः आत्मानं संयमे उपस्थापयति सः छेदोपस्थापकः।

परिहारविशुद्धिसंयम—जो जीव पांच समिति, तीन गुप्तियों से युक्त होता हुआ सदा सावद्य का त्याग करता है वह पुरुष परिहार विशुद्धि संयमी है। अर्थात्-'परिहरणं परिहारः प्राणिवधान्निवृत्तिः तेन विशिष्टा शुद्धि र्यस्मिन् स संयमों यस्य स परिहारविशुद्धि संयमः'। इस संयम में परिहार के साथ विशुद्धि है, परिहार प्राणी पीड़ा के त्याग को कहते हैं। परिहार विशुद्धि संयमी जीवराशि में विहार करता हुआ भी जल में कमल के सदृश हिंसा से अलिप्त रहता है अतएव इस संयमी के वर्षायोग का भी कोई नियम नहीं है। यह संयम दुर्धर है, जो जीव जन्म से लेकर तीस वर्ष तक घर में सुख से रहता है पुन दीक्षा लेकर तीर्थंकर भगवान के पादमूल में आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नौवे पूर्वका अध्ययन करता है उसके ही यह संयम होता है यह संयमी तीन संध्याकालों को छोड़कर दो कोस पर्यंत प्रतिदिन विहार करता है, तथा रात्रि में गमन नहीं करता है।

सूक्ष्मसांपरायसंयम– उपशमश्रेणीवाला अथवा क्षपकश्रेणीवाला जो जीव सूक्ष्मलोभ का वेदन कर रहा है उसको सूक्ष्मसाम्परायसंयमी कहते हैं, इस संयमी के परिणाम यथाख्यात चारित्रवाले से कुछ ही न्यून होते हैं, क्योंकि यह संयम दशवेंगुणस्थान में होता है।

यथाख्यातसंयम—यथावस्थित आत्मस्वभाव की उपलब्धि को यथाख्यात संयम कहते है। अशुभरूप जो मोहनीयकर्म है उसके सर्वथा उपशम होने से ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती के यथाख्यातसंयम कहते हैं तथा मोहनीय के सर्वथा क्षय होने स बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान वाले जीवों के यथाख्यात संयम होता है।

संयमासंयम—जो सम्यग्दृष्टि पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत इसप्रकार बारह व्रतों से युक्त है तथा त्रस हिंसा से विरक्त है और स्थावर की हिंसा से अविरत है उसे विरताविरत कहते हैं तथा इसको देशव्रत या संयमासंयम कहते हैं। देशव्रती के ग्यारह दर्शन, व्रत, सामायिकादि निलय है।

असंयम—जो अट्ठाईस प्रकार के इन्द्रियविषयों से विरक्त नहीं है तथा इन्द्रियसंयम तथा प्राणीसंयम से भी रहित है वह असंयमी है।

संयमी जीवों की संख्या—प्रमत्तादि चारगुणस्थानवर्ती जीवों का प्रमाण आठकरोड़, नव्वेलाख, निन्यानवें हजार, एक सौ तीन है (८,९०,९९,१०३)। इतने ही छेदोपस्थापनावाले हैं। सामायिक संयमी जीवों का प्रमाण भी इतना ही है। परिहारविशुद्धि संयमवाले तीन कम सात हजार हैं। सूक्ष्मसाम्पराय संयमवाले तीन कम नौ सौ हैं तथा यथाख्यात संयम वाले तीन कम नौ लाख हैं। पल्य के असंख्यातवे भाग देशसंयमी जीवों का प्रमाण है।

दर्शनमार्गणा :

यद्यपि वस्तु सामान्य विशेषात्मक है तो भी वस्तु में आकार भेद न करके तथा गुणपर्यायादि के बिना स्व-पर का सामान्य ग्रहण है उसे दर्शन कहते हैं। आगम में दर्शन को निर्विकल्प कहा है अथवा 'आत्मावलोकनं-दर्शनं' किसी भी पदार्थ को जानने के पूर्व आत्मा स्व की ओर अभिमुख होता है पश्चात् पदार्थ को जानता है, इसमें स्वोन्मुख होना ही दर्शन है, यह दर्शन निराकार है इसलिए इसका शब्दों के द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।

दर्शन के चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, और केवलदर्शन। चक्षुइन्द्रिय सम्बन्धी जो सामान्य अवभास है वह चक्षुदर्शन है।

चक्षुइन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों के द्वारा अथवा मनके द्वारा जो-जो वस्तु का सामान्य ग्रहण है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं।

अवधिज्ञान होने के पूर्व समय में अवधिज्ञान के विषयभूत पदार्थ परमाणु से लेकर महास्कंधपर्यंत मूर्तद्रव्य को जानने के लिए जो सामान्य अवभास होता है उसे अवधिदर्शन कहते है।

अनेक अवस्थाओं की अपेक्षा और सूर्य चन्द्रादि अनेक प्रकाशयुक्त पदार्थ विश्व में पाये जाते हैं ये पदार्थ परिमित क्षेत्र को ही प्रकाशित करते हैं, किन्तु जिसका प्रकाश लोक और अलोक दोनों में अभिव्याप्त है ऐसे आत्मा के सामान्य अवभासनरूप प्रकाश को केवलदर्शन कहते हैं।

चक्षुदर्शन दो प्रकार का है एक शक्तिरूप तथा दूसरा व्यक्तिरूप। इनमें से चक्षुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय-लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के शक्तिरूप चक्षुदर्शन है, तथा पर्याप्तक जीवों के व्यक्तिरूप चक्षुदर्शन है।

लेश्यामार्गणा :

प्राणी जिस पुण्य एवं पाप के द्वारा स्वात्मा को लिप्त करता है वह लेश्या है । अथवा कषायोदय से अनुरक्त योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं इसका कार्य बंध चतुष्क है, क्योंकि कषायोदय से स्थिति अनुभागबंध होता है परन्तु जहां कषाय का अभाव है वहां केवल उपचार से लेश्या कही गई है, उपचरित लेश्या का कार्य प्रकृतिबंध व प्रदेशबंध रूप ही होता है ।

मौलिकरूप से आचार्यों ने लेश्या को दो भागों में विभक्त किया है यथा-द्रव्यलेश्या और भावलेश्या । इनमें वर्ण नामकर्म के उदयसे शरीर के वर्ण को द्रव्यलेश्या कहते है तथा भावलेश्या को प्रकरण के प्रारंभ में बतला चुके हैं । लेश्या के छह भेद हैं-कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल । इन्द्रिय, स्कंध और परमाणुओं की अपेक्षा से द्रव्य-लेश्या के संख्यात, असंख्यात और अनंतानंत भेद भी हैं । प्रत्येकगति में विभिन्न प्रकार की द्रव्य-लेश्या होती है । नारकी जीव कृष्णवर्ण के हैं, कल्पवासी देवों की द्रव्यलेश्या-भावलेश्या के समान हैं । भवनत्रिक, मनुष्य, और तिर्यंचों में छहों प्रकार की द्रव्यलेश्या होती है । बादरजलकाय, शुक्लवर्ण, अग्निकायपीतवर्ण, वायुकाय क्रम से गोमूत्र, मूंगा और अव्यक्तवर्ण वाले हैं । सम्पूर्ण सूक्ष्म जीवों का शरीर कपोतवर्ण का है, विग्रहगति में सभी जीवों का शरीर शुक्लवर्ण वाला होता है, तथा पर्याप्ति के प्रारंभ में सभी जीवों का मिश्र शरीर कपोतवर्ण वाला होता है ।

भावलेश्या में होनेवाले चिह्न विशेष :

कृष्णलेश्या—इस लेश्या वाला तीव्र क्रोधी, दया धर्म से रहित क्रूर स्वभावी होता है ।

नीललेश्या—कार्य करने में मंद-विवेक, चातुर्य विहीन, विषयलम्पट, मायाचारी आदि अनेक दुर्गुणों का भाजन होता है ।

कापोतलेश्या—दूसरों को दु:खी करना, शोक-भयाकुल स्वभावी, ईर्ष्यालु, परनिंदा, अपनी प्रशंसा में संतुष्ट होना आदि कपोतलेश्या के चिह्न हैं ।

पीतलेश्या—जो कार्य, अकार्य सेव्य-असेव्य को समझने वाला हो, जिसकी दृष्टि सेवा के प्रति समान हो तथा कोमल हृदय युक्त, दया-दानादि में तत्पर रहनेवाला पीतलेश्यावाला कहलाता है ।

पद्मलेश्या—संसार में श्रेष्ठ कार्य करनेवाला, भद्रपरिणामी, गुरु आदि पूज्य पुरुषों के वात्सल्य एवं सेवाभाव, सहिष्णुता का होना आदि पद्मलेश्या के लक्षण है ।

शुक्ललेश्या—इष्टानिष्ट में राग द्वेष का न होना, पक्षपात, निदानबंध तथा स्नेहादि का न होना शुक्ल-लेश्या वाले के चिह्न है ।

इसप्रकार प्रत्यक्षदर्शी ने जीवों के लेश्यारूप परिणामों का विशद वर्णन किया है । वर्तमान में वैज्ञानिकों ने भी अपनी खोज पूर्ण दृष्टि से ऐसे कैमरे तैयार किये हैं जिनके द्वारा अंतरंग के भाव चित्रित होते हैं, व्यक्ति के भाव जिस लेश्यारूप होते हैं उस भाव के अनुरूप उस व्यक्ति के चारों तरफ उसी वर्ण की आभा फैलती हुई दिखाई देती है और तदनुसार उसका मानसिक व्यवहार होता है !

लेश्या के अंश—लेश्या के २६ अंश हैं उनमें से आठ मध्यम अंशों में ही आयु का बंध होता है और ये अंश अपकर्षकाल में ही होते हैं । जिसप्रकार किसी भी व्यक्ति की वर्तमान आयु ६० वर्ष है, उस आयु में से दो भाग व्यतीत होने पर अवशिष्ट एक भाग के प्रथम अंतर्मुहूर्त में आयु बंध की योग्यता प्राप्त हुई इस समय को ही अपकर्षकाल कहते हैं यदि इस समय आयु का बंध नहीं हुआ तो शेष आयु के दो भाग बीतने पर आयु बंध का काल प्राप्त होगा इसमे यदि आयु बंध नहीं हुआ तो अवशेष आयु के दो हिस्से निकलने पर आयु बंध का काल प्राप्त होगा इसी क्रम से भुज्यमान आयु में आठ बार अपकर्षकाल आ सकता है, इन आठ अपकर्षों में लेश्या

के आठ मध्यम अंशों में से जो कोई अंश जिस अपकर्ष में होगा उसही अपकर्ष में आयु बंध होगा दूसरे काल में नहीं, परन्तु इन आठ अपकर्षों में आयु का बंध होगा ही यह कोई नियम नहीं मात्र इन अपकर्षों में आयुकर्म के बंध की योग्यता बतलाई गई है, इसप्रकार यदि किसी भी अपकर्ष में आयु का बंध न हो तो मरण के अतर्मुहूर्त पहले तो कोई भी आयु का बंध अवश्य हो ही जायगा यह नियम है, क्योंकि बिना स्थान निश्चित किये कहीं विराम नहीं मिल सकता। उपर्युक्त नियम सोपक्रमायुष्क वाले मनुष्य व तिर्यंचों के लिए है, किन्तु अनुक्रमायुष्कों में देव-नारकी अपनी आयु के छह महीने अवशेष रहने पर ही आयु बंध के योग्य होते हैं तथा इन छह महीनों के आठ अपकर्ष काल में आयु बंध करते हैं। भोगभूमि के मनुष्य-तिर्यंचों के आयु के नौ माह शेष रहने पर और उन्हीं नौ महीने के आठ अपकर्षों में से किसी भी अपकर्ष में आयु का बंध होता है।

लेश्या के इन आठ मध्यम अंशों को छोड़कर अवशेष अठारह अंश चारों गतियों में गमन के कारण हैं, यह सामान्य नियम है, परन्तु विशेष नियम यह है कि शुक्ल लेश्या के उत्कृष्ट अंश से मरकर जीव सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न हाता है इत्यादि।

गुणस्थान की अपेक्षा लेश्या—पहले गुणस्थान से चतुर्थ गुणस्थान पर्यंत छहों लेश्या होती हैं, देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्त इन तीन गुणस्थानों में तीन शुभ लेश्या ही होती है, परन्तु इसके आगे अपूर्वकरण गुणस्थान से लेकर सयोग केवली नामक तेरहवें गुणस्थान पर्यंत केवल शुक्ल लेश्या ही होती है। तथा अयोग केवली लेश्या से रहित हैं।

यहां पर कषाय रहित जीवों के जो लेश्या बतलाई वह भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा अथवा 'योग प्रवृत्ति' की लेश्या कहते हैं इस अपेक्षा से भी लेश्या का सद्भाव कहा गया है।

भव्य मार्गणा :

नाना प्रकार के दुःखों से आकुलित पंचपरावर्तन रूप संसार में यह जीव स्वयं के विपरीत अभिप्राय के निमित्त से अनन्तकाल से परिभ्रमण कर रहा है इस भ्रमण के कारण भूत कर्मों का ध्वस कर मुक्ति प्राप्त करने की जिस जीव में योग्यता है वह भव्य कहलाता है। इससे विपरीत जिसमें कर्मों को नष्ट करने की योग्यता नहीं है वह अभव्य कहा जाता है। कितने ही भव्य जीव भी ऐसे हैं जिनके सम्यक्त्व प्राप्ति की योग्यता होते हुए भी उनको सिद्धि नहीं होगी, जैसे बन्ध्यादोष से रहित सती विधवा स्त्री में पुत्रोत्पत्ति की योग्यता होते हुए भी उसके संतानोत्पत्ति नहीं होती है अथवा बहुत से कनकोपल ऐसे है जिनमें निमित्त मिलने पर शुद्ध स्वर्णरूप होने की योग्यता है, परन्तु उनको योग्यता की अभिव्यक्ति नहीं होती। अथवा जिसतरह अहमिंद्र देवों में नरकादि में गमन करने की योग्यता पाई जाती है, परन्तु वे गमन नहीं करते। ऐसे जीवों को दूरान् दूर भव्य कहा है तथा ये सदाकाल ससार में ही निवास करेंगे। कितने ही भव्य जीवकर्म कलक को दूर कर सदा के लिए आवागमन के चक्कर से छुटकारा प्राप्त करेंगे जैसे बन्ध्यापने से रहित पतिव्रता स्त्री के निमित्त मिलने पर संतानोत्पत्ति होती है। इसप्रकार योग्यताके भेदसे भव्यजीव दो प्रकारके होते हैं परतु इन दोनों प्रकार की योग्यता से रहित जीव अभव्य कहलाते हैं।

एवं जिन जीवों का पंचपरावर्तनरूप अनंत संसार सर्वथा छूट गया है तथा जो अनंत सुखादि के भोक्ता हैं वे जीव न तो भव्य हैं और न अभव्य हैं, क्योंकि अब उनको कोई भी नवीन अवस्था प्राप्त नहीं करनी है, अतः ये भव्य भी नहीं तथा अनंत चतुष्टय को प्राप्त कर चुके हैं इसलिए अभव्य भी नहीं हैं।

संख्या—जघन्ययुक्तानंत प्रमाण अभव्य जीव हैं, शेष भव्य जीव हैं अर्थात् भव्य राशी बहुत अधिक है और अभव्य राशी बहुत थोड़ी है।

सम्यक्त्वमार्गणा :

सम्यग्दर्शन आत्म सत्ता की आस्था है, जड़ और चेतन में भेद दिखाना ही सम्यग्दर्शन का वास्तविक उद्देश्य है। जब आत्मा और अनात्मा में इसप्रकार मूलतः स्वस्वरूपतः विभेद है तब दोनों को एक मानना

अध्यात्मक्षेत्र में सबसे बड़ा अज्ञान और मिथ्यात्व है दृष्टि की निर्मलता से ही जीवन अमल और धवल बनता है यही कारण है कि जैन दर्शन में आचार और विचार के पहले दृष्टि की विशुद्धि पर विशेष लक्ष्य और बल दिया गया है, साधनावस्था में सम्यक्त्व मूल है यदि मूल का विच्छेद हो जाय तो सम्यग्ज्ञानादि का विकास नहीं हो सकता है। जीवमात्र के विकास का बीज सम्यग्दर्शन ही है, सम्यक्त्व आत्मा का गुण है, लेकिन उसकी प्राप्ति आत्मा को हो चुकी या नहीं इसका अनुमान प्रशम संवेग अनुकंपा और आस्तिक्य लक्षणों द्वारा होता है।

कषाय की मंदता को प्रशम कहते हैं, भव-भीति को संवेग, अनुकम्पा दया को तथा विश्वास को आस्तिक्य कहते हैं।

सम्यक्त्व नाम समीचीन श्रद्धा का है सर्वज्ञ प्रतिपादित ध्रुव सत्य छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थादि की यथावत प्रतीति होना हो सम्यक्त्व का कार्य है तथा इस प्रकार का श्रद्धान होना कि तत्त्व यही है इसी प्रकार ही हैं अन्य नहीं हैं, अन्य प्रकार भी नहीं हैं अतः सर्वज्ञ कथित वाक्य या तत्त्व किसी भी हेतु-युक्ति के द्वारा खंडित नही किये जा सकते अतएव सर्वज्ञ की आज्ञानुसार ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान अन्यथावादी नहीं होते ऐसी दृढ़ प्रतीति को सम्यक्त्व कहते हैं। तत्त्वार्थ सूत्रमें सम्यक्त्व के दो भेद किये हैं निसर्गज और अधिगमज।

परोपदेश पूर्वक होने वाले जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान को अधिगमज कहते है तथा परोपदेश बिना स्वतः ही जो तत्त्वों पर श्रद्धान होता है उसे निसर्गज सम्यक्त्व कहते हैं।

दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा सम्यक्त्व के तीन भेद हैं।

उपशमसम्यक्त्व—सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्य-लब्धि और करणलब्धि क्रमशः अपेक्षित है इनमे से पहले को चार लब्धिया तो सामान्य हैं अर्थात् भव्य और अभव्य दोनों के होती हैं, परन्तु अंत की करण लब्धि तो भव्य के ही होती है, करणलब्धि के अनंतर नियम से सम्यक्त्व या चारित्र होता है। सम्यक्त्व ग्रहण करने के योग्य सामग्री की प्राप्ति होना लब्धि कहलाती है, एवं अशुभ कर्मों का अनुभाग उत्तरोत्तर हीन होने को क्षयोपशमलब्धि कहते है। निर्मलता विशेष को विशुद्धि कहते है। योग्य उपदेश का मिलना देशना है।

सभी कर्मों की स्थिति अंतःकोटाकोटी सागर प्रमित रह जाना प्रायोग्यलब्धि है। तथा अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरणरूप परिणामों का होना करणलब्धि है। अतः जो जीव चार गतियों मे से किसी एक गति का धारक, भव्य, संज्ञी, पर्याप्त विशुद्ध (सातादि के बध योग्य परिणामों से युक्त) स्त्यानगृद्धि आदि तीन निद्राओं से रहित, साकार उपयोग युक्त और शुभलेश्या से युक्त होकर ही करणलब्धिरूप परिणामों का धारण करनेवाला होता है, इन करणरूप परिणामों से मिथ्यात्वरूप द्रव्य के तीन खंड हो जाते हैं इसप्रकार अनादि मिथ्यादृष्टि के सर्व प्रथम प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व की विरोधी अनंतानुबंधी चतुष्क और मिथ्यात्व इन पांच प्रकृतियों का तथा सादिमिथ्यादृष्टि के अनतानुबधी चार, मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्प्रकृति इन सात प्रकृतियों के उपशम से जीवादि पदार्थों का श्रद्धान होता है उसे उपशमसम्यक्त्व कहते है, जिस प्रकार निर्मली आदि पदार्थों के निमित्त से कीचड़ नीचे बैठ जाती है और ऊपर का जल निर्मल हो जाता है उसी प्रकार इन प्रकृतियों की अनुदभूति होने से परिणाम निर्मल हो जाते है यह उपशमसम्यक्त्व है।

वेदकसम्यक्त्व—अनंतानुबधी चतुष्क, मिथ्यात्व और मिश्र इन छह प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय, और उपशम होने से तथा अवशिष्ट सम्यक्प्रकृति के उदय होते हुए जो पदार्थों का श्रद्धान होता है उसे वेदक-सम्यक्त्व कहते हैं। यद्यपि इस सम्यक्प्रकृति के उदय से चल, मलिन और अगाढ़ ये तीन दोष होते हैं तथापि यह सम्यक्त्व नित्य ही कर्मों के क्षय में कारण हैं।

क्षायिकसम्यक्त्व—उपर्युक्त सात प्रकृतियों के सर्वथा क्षय हो जाने से सम्यग्दर्शन गुण में जो अत्यंत निर्मलता आ जाती है उसे क्षायिकसम्यक्त्व कहते हैं, क्योंकि इस सम्यक्त्वी के प्रतिपक्षी कर्मों का एक देश भी अवशिष्ट नहीं रहा इसलिए यह अन्य सम्यक्त्व की तरह सात नहीं है। क्षायिकसम्यक्त्व के प्राप्त हो जाने पर जीव या तो उसही भव में सिद्धि प्राप्त करता है। यदि सम्यक्त्व होने के पूर्व देवायु या नरकायु का बध कर लिया तो तीसरे भव में मुक्ति को प्राप्त करता है, अथवा सम्यक्त्व होने के पहले मिथ्यात्वावस्था में मनुष्य अथवा तिर्यंचायु का बंध कर लिया तो चतुर्थभव में अविनाशी पद प्राप्त करता है, किन्तु इससे अधिक भव धारण नहीं करता। यह सम्यक्त्व साद्यनन्त हैं, क्योंकि यह उपशम और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की तरह उत्पन्न होकर छूटता नहीं है। यह क्षायिक सम्यक्त्वी इतना दृढ होता है कि त्रैलोक्य को क्षुभित करने वाले तथा भयप्रद कारणों के उपस्थित होने पर भी अपने श्रद्धान से भ्रष्ट नहीं होता। 'ष. खं.'—में कहा भी है—

रुपं भयंकरंर्वाक्यं हेतुदृष्टांत सूचिभिः।
जातु क्षायिक सम्यक्त्वो न क्षुभ्यति विनिश्चलः॥

विशेष—दर्शनमोहनीयकर्म के क्षय का प्रारंभ कर्मभूमिज मनुष्य के ही केवली अथवा श्रुतकेवली के पाद मूल में होता है। यदि कदाचित् पूर्णक्षय होने के पूर्व ही मरण हो जाय तो क्षपणा की समाप्ति आयुबंध के अनुसार चारों गतियों में से किसी भी गति में हो सकती है।

काल—क्षायिक सम्यक्त्व का काल सादि अनंत है। क्षयोपशम सम्यक्त्व का काल ६६ सागर है, और उपशमसम्यक्त्व का काल अंतर्मुहूर्त है।

इसप्रकार यह सम्यक्त्व अध्यात्मसाधना का दिव्य आलोक है जिससे जीव स्व-स्वरूप की उपलब्धि कर सकता है।

संज्ञीमार्गणा :

संज्ञी शब्द का संबंध मन से है अर्थात् नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम को अथवा तज्जन्यज्ञान को संज्ञा कहते हैं इस संज्ञा से युक्त प्राणी संज्ञी कहलाता है। सुगति में गमन योग्य क्रिया मन के अभाव में असम्भव है तथा लौकिक-कार्यों मे भी मनः पुरस्सर क्रियायें ही अपेक्षित है। मन ही विवेक को जागृत करता है विवेक रूपी ज्योति ही मुख्यतया आत्मज्योति को प्राप्त कराने में कारण है अतः बध और मोक्ष का कारण मन ही है, क्योंकि सप्तम नरक एव निगोदादि कुगतियों में अग्रसर करानेवाले घोर पापों को समनस्क प्राणी ही कर सकते है तथा स्वर्ग, मोक्षरूप उत्कृष्ट सुखद स्थान को भी मन सहित प्राणी ही प्राप्त करता है। मनरहित इतने भंयकर पाप एवं अतिशय पुण्यकर्म नही कर सकते।

जीव दो प्रकार के है–संज्ञी और असंज्ञी। मुख्यतया संज्ञा शब्द से तीन अर्थ घोषित होते हैं। यथा–नामनिक्षेपरूप–जो कि व्यवहारार्थ किसी का नाम ऋषभ-महावीरादि रखा जाता है। दूसरा–आहार, भय, मैथुन और परिग्रहरूप वांछा। तीसरा–धारणात्मक, ऊहापोहरूप, विचारात्मक ज्ञान विशेष, किन्तु प्रकरणवश अंतिम अर्थज्ञान विशेष ही अपेक्षित है। इस ज्ञान की उपलब्धि दो प्रकार से हुआ करती है–एक लब्धिरूप और दूसरी उपयोगरूप। प्रतिपक्षी नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त हुई विशुद्धि को लब्धि और अपने योग्य विषय में प्रवृत्ति को उपयोग कहते हैं। यह लब्धि और उपयोगात्मक मन, ज्ञान विशेष जिसको प्राप्त है वह संज्ञी है, और इस मानस ज्ञान से रहित असंज्ञी होते हैं।

अमनस्क जीव अपने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, हिताहित के विचार से शून्य होता है, एकेन्द्रिय से लेकर चारइन्द्रिय पर्यंत जीव मन रहित ही होते हैं तथा पंचेंद्रिय में मनवाला और मन से रहित दोनों प्रकार के जीव होते हैं। इनमें मनुष्य, देव और नारकी सभी मन युक्त हैं तथा पंचेंद्रिय तिर्यंचों में दोनों प्रकार के प्राणी हैं।

आहारमार्गणा :

अखिल विश्व के प्राणियों का भ्रमण सदा संसार में ही होता रहता है। इस भ्रमण के अंतर्गत जीवों का जो अवस्थान होता है वह कोई एक शरीर के माध्यम से ही होता है तथा प्रत्येक शरीरी (जीव) मरण के अनंतर नवीन शरीर को प्राप्त करने के लिए जो गमन करता है वह विग्रहगति कहलाती है। इसका काल एक, दो, अथवा अधिक से अधिक तीन समय तक होता है। अनंतर औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीरों में से किसी भी एक शरीर के योग्य तथा वचन और द्रव्यमनरूप बनने योग्य नोकर्मवर्गणाओं को ग्रहण करता है वह आहार कहलाता है। आहारक अवस्था का काल जीवों की स्व आयु प्रमाण होता है। अत: जीव आहारक और अनाहारक की अपेक्षा दो प्रकार के बतलाये गये हैं इनमें विग्रहगति युक्त चारों गति संबंधी जीव प्रतर और लोकपूरणसमुद्घात करनेवाले सयोग और अयोगकेवली तथा समस्त सिद्धजीव अनाहारक होते हैं, शेष आहारक होते हैं। आहारक का उत्कृष्ट काल सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। कार्मण शरीर में अनाहारक का उत्कृष्टकाल तीन समय का है और जघन्यकाल एक समय है तथा अनाहारक का जघन्यकाल तीन कम श्वांस के अठारहवें भाग प्रमाण है।

इसप्रकार गति आदि चौदह मार्गणाओं का स्वरूप आगम के परिप्रेक्ष्य में कहा है। इन चौदह मार्गणाओं के अन्तर्गत जीवों का मार्गण-अन्वेषण किया जाता है। इनमें अनादिकाल से यह जीव परिभ्रमण कर रहा है।

इच्छा कभी तृप्त नहीं होती अत: यदि कोई मनुष्य अपनी समस्त इच्छाओं का सर्वथा त्याग कर दे तो जिस मार्ग से आने की वह आज्ञा देता है मुक्ति उसी मार्ग से आकर उससे मिलती है।

जैन दर्शन का गम्भीर चिन्तन

गुणस्थान

❖ मुनि श्री वर्धमानसागरजी

[प० पू० १०८ आचार्य धर्मसागरजी महाराज के शिष्य]

विश्व के समस्त दर्शनों में जैनदर्शन का स्थान सर्वोपरि है। जैनदर्शन अद्‌भुत, अनन्य और अपराजित दर्शन है। यद्यपि भारतीयदर्शनों में जितने भी आस्तिकवादी दर्शन हैं, वे पुनर्जन्म स्वीकार करते है और इसीकारण उन्होंने आत्मा का अस्तित्व भी स्वीकार किया है, तथापि आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में सभी दर्शनों की मान्यताएं भिन्न-भिन्न हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में भारतीयदर्शनों के अन्तर्गत सर्वोत्कृष्ट अनादि-अनन्त जैनदर्शन की भी आत्मा और परमात्मा सम्बन्धी मान्यता अपने आपमें एक विशिष्ट मान्यता है। जैनदर्शन के अपने मौलिक सिद्धान्त हैं और उन सभी के सम्बन्ध मे इस दर्शन ने गम्भीर चिन्तन किया है। आत्मा से परमात्मा बनने मे जो आत्मा का क्रमिक विकास होता है उसे जैनदर्शन मे गुणस्थान नाम से अभिहित किया गया है। प्रस्तुत लेख में गुणस्थान नाम से विहित आत्मा के क्रमिक विकास को इस प्रक्रिया पर ही यत्किंचित् विचार जैनागम के परिप्रेक्ष्य में लिखने का प्रयास किया है। आत्मा के क्रमिक विकास का वर्णन वैदिक और बौद्ध धर्मों में भी उपलब्ध है। वैदिक दर्शन में योगवाशिष्ठ और पातञ्जलि योग मे भूमिकाओं तथा बौद्धदर्शन में अवस्थाओं के नाम से इसका अत्यन्त स्थूल वर्णन मिलता है, किन्तु जैसा जैनदर्शन में गुणस्थान का विचार सूक्ष्म, स्पष्ट व विस्तृतरूप से किया गया है वैसा अन्यदर्शनों में नहीं है।

गुणस्थान जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। गुणों अर्थात् आत्मशक्तियों के स्थानों-विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते है। मोहनीयकर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम तथा योग के रहते हुए जिन मिथ्यात्वादि परिणामों के द्वारा जीवों का विभाग किया जावे वे परिणाम विशेष गुणस्थान कहलाते

हैं।[1] यथा ज्वराक्रान्त रोगी का तापमान थर्मामीटर (ज्वरमापक यंत्र) द्वारा मापा जाता है, तथैव आत्मा का आध्यात्मिक विकास या पतन जानने के लिए गुणस्थान एकप्रकार से थर्मामीटर है।

अनादिकाल से यह जीव अज्ञान के वशीभूत होकर विषय और कषाय में प्रवृत्ति करता हुआ संसारमें परिभ्रमण करता रहा है। आत्मस्वरूप के यथार्थ ज्ञान के अभाव में भव-बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करने पर भी वह सफलता प्राप्त नहीं कर सका। आत्मस्वरूप का दर्शन नहीं होने का प्रमुख कारण यह रहा कि इस जीव की दृष्टि अनादि काल से ही विपरीत रही और आत्मा से भिन्न पर पदार्थों में अपनत्वबुद्धि-आत्मबुद्धि करते हुए उन्हीं की प्राप्ति और उनके संरक्षण में अहर्निश प्रयत्नशील रहा, किन्तु इच्छानुसार उनकी प्राप्ति नहीं हो सकने से आकुल-व्याकुल होता रहा है। इस विपरीत दृष्टि वाले जीव को ग्रन्थकारों ने बहिरात्मा कहा है। बहिरात्मा अपनी विपरीत-मिथ्यादृष्टि को छोडकर यथार्थ-सम्यग्दृष्टि वाला अन्तरात्मा होकर किस प्रकार आत्मविकास करते हुए परमात्मा बन जाता है, उसके क्रमिक विकास के सोपान ही तो गुणस्थान कहे जाते हैं। अथवा यों कहें कि मोह और मन-वचन-कायरूप योग की प्रवृत्ति के कारण जीव के अन्तरंग परिणामों में प्रतिक्षण होने वाले उतार-चढ़ाव का नाम गुणस्थान है।

परिणाम यद्यपि अनन्त हैं, किन्तु उत्कृष्ट मलिन-अशुद्ध परिणामों से उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों तक तथा उससे आगे वीतराग परिणाम तक की अनन्त वृद्धियों के क्रम को कहने के लिए उनको १४ श्रेणियों में विभाजित किया गया है, वे ही चौदह गुणस्थान कहे जाते हैं। उन चौदह गुणस्थानों के नाम इसप्रकार हैं—

१. मिथ्यादृष्टि २. सासादनसम्यग्दृष्टि ३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) ४. अविरत-सम्यग्दृष्टि ५. देशसंयत ६. प्रमत्तसंयत ७ अप्रमत्तसंयत ८. अपूर्वकरणसंयत ९. अनिवृत्तिकरणसयत १०. सूक्ष्मसाम्परायसंयत ११. उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थसंयत १२. क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थसयत १३. सयोगकेवली और १४. अयोगकेवलीगुणस्थान।

शंका—परिणाम तो अनन्त प्रकार के है अतः जितने परिणाम हैं उतने ही गुणस्थान क्यों नही कहें?

समाधान—नहीं, क्योकि जितने परिणाम होते है उतने ही गुणस्थान यदि माने जावें तो (समझने, समझाने या कहने का) व्यवहार नही चल सकता अतः द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा नियत सख्यावाले ही गुणस्थान कहे गये हैं।

मिथ्यादृष्टिगुणस्थान—दर्शनमोहनीय कर्म की मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से अतत्त्व श्रद्धानरूप परिणाम रहता है इसी कारण जब तक जीव को आत्मस्वरूप का यथार्थ श्रद्धान नही होता तब तक मिथ्यादृष्टि कहलाता है। अनादिकाल से ससार के बहुभाग प्राणी इसी प्रथमगुणस्थान की भूमिका में रह रहे हैं। एकान्त, विपरीत, सशय, अज्ञान और वैनयिक मिथ्यात्वरूप परिणामों के कारण यह जीव इस पर्याय में तो दुःखी रहता ही है, किन्तु नवीन कर्मबन्ध करके आगामी पर्यायों मेंभी दुःखी रहने के कारण सामग्री संचित करता रहता है। मिथ्यात्वकर्म के उदय से यह जीव शरीर की उत्पत्ति को ही आत्मा की उत्पत्ति और शरीर के नाश को ही आत्मा का नाश मानता है। पुण्य-पाप के निमित्त से होने वाली इन्द्रियजनित सुख-दुःख की सामग्री के संयोग-वियोग में हर्ष-विषादरूप परिणामों के द्वारा आकुल-व्याकुल होता रहता है। मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में जीव को 'स्व' और 'पर' का भेदज्ञान नहीं रहता, न तत्त्व का श्रद्धान होता और न आप्त, आगम और निर्ग्रन्थ गुरु पर श्रद्धान ही होता है। यह उक्त कथन का संक्षिप्त अभिप्राय है।

मिथ्यादृष्टिगुणस्थान के स्वस्थान और सातिशय की अपेक्षा दो भेद हैं। मिथ्यात्वरूप अवस्था में ही जो रच-पच रहा है वह स्वस्थान मिथ्यादृष्टि है। सद्गुरु के उपदेश से आत्मस्वरूप का ज्ञान होने पर कषायों की

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. ८, अ. पु. १ पृ. १०४।

मन्दता तथा आत्मपरिणामों की विशुद्धि बढ़ती है तब उस आत्मविशुद्धि के कारण इस जीव के अनादि कालीन बन्ध को प्राप्त कर्मों का मन्द उदय तथा नवीनकर्मों का बन्ध हलका होने लगता है। उस समय में यह जीव करणलब्धि के प्राप्त होने पर अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में आत्मविशुद्धि करता हुआ सम्यक्त्वाभिमुख होता है यही सातिशय मिथ्यात्वावस्था है। सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव अपनी विशुद्धता के द्वारा नवीन बध्यमान कर्मों को स्थिति को अन्तःकोड़ाकोड़ीसागर से अधिक नहीं बांधता और सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति को उससे संख्यातहजारसागर कम करता है। इसी विशुद्धि के द्वारा मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन सात का उपशम करके सम्यग्दृष्टि होता हुआ चतुर्थगुणस्थान को प्राप्त होता है। मिथ्यादृष्टि गुणस्थान आत्मविकास की प्रारम्भिक अवस्था है। यद्यपि यह गुणस्थान आत्मा के ह्रास की अवस्था का द्योतक है, तथापि आत्मा की उन्नतावस्था का प्रारंभ यहीं से होता है।

सासादन सम्यग्दृष्टिगुणस्थान—सासादन का अर्थ है सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन की विराधना। जिस आत्मा ने मिथ्यात्व का क्षय तो नहीं किया है, किन्तु मिथ्यात्व को उपशान्त करके सम्यक्त्वावस्था प्राप्त की थी उस आत्मा के मिथ्यात्व के साथ उपशमित शेष ६ प्रकृतियों में अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ में से किसी एक कषाय के उदय से सम्यक्त्वरूप पर्वत से नीचे गिरने पर और मिथ्यात्वभूमि को प्राप्त नहीं होने से पूर्व की जो अवस्था है वह सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान की अवस्था है। इस गुणस्थान में जीव १ समय से लेकर ६ आवलिकाल तक अधिक से अधिक रहता है। तत्पश्चात् नियम से वह मिथ्यादृष्टिगुणस्थान को प्राप्त हो जाता है। काल का सबसे सूक्ष्म अंश समय कहलाता है ऐसे असंख्यात समयों की एक आवली होती है। छह आवली-प्रमाण काल एक मिनट से भी बहुत छोटा होता है।

शंका—सासादन गुणस्थान वाला जीव मिथ्यात्व का उदय नहीं होने से मिथ्यादृष्टि भी नहीं है, समीचीन तत्त्वरुचि का अभाव होने से सम्यग्दृष्टि भी नहीं है तथा समीचीन और असमीचीनरूप उभय तत्त्वरुचि (सम्यग्मिथ्यात्वरूप रुचि) का अभाव होने से सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी नहीं है। इनके अतिरिक्त और कोई चौथी दृष्टि नहीं है, क्योंकि समीचीन, असमीचीन तथा उभयरूप दृष्टि के आलम्बनभूत वस्तु के अलावा अन्य कोई वस्तु नहीं पायी जाती है अतः सासादन गुणस्थान असत् सिद्ध होता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि इस गुणस्थान में विपरीताभिनिवेश पाया जाता है अतः उसे असद्दृष्टि ही मानना चाहिए।

शंका—तो फिर इसे मिथ्यादृष्टि ही कहना चाहिए, सासादन कहना उचित नहीं है।

समाधान—नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन और चारित्र का प्रतिबन्ध करनेवाली अनन्तानुबन्धीकषाय के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश सासादन गुणस्थान में पाया जाता है अतः इस गुणस्थानवर्ती जीव असद्दृष्टि तो है, किन्तु मिथ्यात्वकर्म के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश वहां नहीं पाया जाता अतः उसे मिथ्यादृष्टि नहीं कहते हैं। केवल सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं। अथवा जिस अनन्तानुबन्धी के उदय से द्वितीय-गुणस्थान में जो विपरीताभिनिवेश होता है वह अनन्तानुबन्धी दर्शनमोहनीय का भेद न होकर चारित्र का आवरण करनेवाली होने से चारित्रमोहनीय का भेद है। अतः इस गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि न कहकर सासादन-सम्यग्दृष्टि कहा है।

शंका—सासादनगुणस्थान विपरीत अभिप्राय से दूषित है अतः सम्यग्दृष्टि व्यपदेश कैसे बन सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि वह पहले सम्यग्दृष्टि था इसलिए भूतपूर्व प्रज्ञापन नय की अपेक्षा उसके सम्यग्दृष्टि व्यपदेश बन जाता है। बात यह है कि उपशम सम्यक्त्व का काल जब कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवली प्रमाण शेष रह जाता है तब अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्टय में से किसी एक का उदय होने से सासादन गुणस्थान होता है अतः सम्यक्त्व के काल में यह गुणस्थान सम्यक्त्व से च्युत होते हुए बनता है अतः सम्यग्दृष्टि व्यपदेश बन जाता है।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान—उपशम सम्यग्दर्शन के काल में ही यदि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आ जाता है तो चतुर्थगुणस्थान से च्युत आत्मा तृतीयगुणस्थान को प्राप्त हो जाती है। अतः यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि अनादिमिथ्यादृष्टि जीव के सासादन और सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) गुणस्थान सम्यक्त्व से गिरते हुए ही बनते हैं चढ़ने की अपेक्षा से नहीं। हां ! सादिमिथ्यादृष्टि जीव चढते हुए भी सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से मिश्र-गुणस्थान को प्राप्त करता है। चढ़ने वाले जीव के परिणाम विशुद्ध हैं और उतरने वाले जीव के परिणाम निकृष्ट हैं यही सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति के उदय की समानता होते हुए भी दोनों में अन्तर है। इस गुणस्थानवर्ती जीव के परिणाम न तो शुद्ध सम्यक्त्वरूप ही रहते और न शुद्ध मिथ्यात्वरूप ही रहते, किन्तु उभयात्मक होते हैं। अर्थात् जिसप्रकार मिले हुए दही और गुड का स्वाद खट्टा-मीठा मिश्रितरूप होता है उसीप्रकार इस गुणस्थानवर्ती जीव के परिणाम सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की मिश्रितावस्था के कारण सम्यग्मिथ्यात्वरूप होते हैं। यद्यपि मिथ्यात्व-गुणस्थान की अपेक्षा यह गुणस्थान ऊंचा है तथापि मिश्रपरिणामों के कारण यथार्थ प्रतीति नहीं रहती है। इस गुणस्थान का काल अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त है। इस गुणस्थान वाला जीव सम्यक्त्व प्रकृति का यदि उदय आ जावे तो चतुर्थगुणस्थान को प्राप्त हो जाता है और नहीं तो नीचे के गुणस्थानों में उसका पतन अवश्यभावी है। यहां यह ध्यातव्य है कि नीचे गिरता है तो सीधा मिथ्यात्वादय से मिथ्यादृष्टिगुणस्थान को ही प्राप्त होता है। अर्थात् तृतीयगुणस्थानवर्तीजीव प्रथम और चतुर्थगुणस्थान को ही प्राप्त करता है। इस गुणस्थान में मरण नहीं होता है।

शंका—संशय व वैनयिक मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि में क्या अन्तर है ?

समाधान—वैनयिक व संशयमिथ्यादृष्टि तो सभी देवों मे तथा सभी शास्त्रों में से किसी एक की भी भक्ति के परिणाम से मुझे पुण्य होगा ऐसा मानकर सशयरूप से भक्ति करता है उसको किसी एक देव या शास्त्र में निश्चय नहीं है, किन्तु सम्यग्मिथ्यादृष्टि को दोनो मे ही निश्चय है। यही अन्तर है।

असंयतसम्यग्दृष्टि—जो पांचों इन्द्रियो के विषयो से विरत नही है और न त्रस-स्थावर जीवों के घात से ही विरक्त है, किन्तु केवल जिनेन्द्रकथित तत्त्व का श्रद्धान करता है वह असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानवर्ती जीव है। इस गुणस्थान में दर्शनमोहनीय की तीन और अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन सप्तप्रकृतियों के उपशम से औपशमिक, क्षय से क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह सर्वघाति प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय तथा उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम और सम्यक्त्व-रूप देशघातिप्रकृति के उदय से क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन होता है जिससे तत्त्वश्रद्धान तो उत्पन्न होता है, किन्तु अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों का उदय रहने से संयमभाव जागृत नही होते अतः इसे असयत या अविरतसम्यग्-दृष्टि गुणस्थान कहते है।

असंयतसम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि पचेन्द्रिय के विषयो से विरक्त नहीं होता, तथापि इन्द्रियविषयों को अन्यायपूर्वक नहीं भोगता। इसके प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यभाव प्रकट होते हैं। इस गुणस्थानवर्ती जीव की बाहरी क्रियाओ मे और मिथ्यादृष्टि की बाह्य क्रियाओ मे कोई खास अन्तर नहीं दिखाई देता, किन्तु दोनों की अन्तरंग परिणति में बहुत बडा अन्तर होता है। मिथ्यादृष्टि की परिणति सदैव मलीन और आर्त-रौद्र-ध्यानरूप होती है, किन्तु सम्यग्दृष्टि की परिणति प्रशस्त, विशुद्ध और धर्मध्यानमय होती है। अन्याय और अनीति पूर्वक व्यापार आदि कार्यों में प्रवृत्ति नही करता है तथा विषयभोगों में मिथ्यादृष्टि के समान तीव्रासक्ति से युक्त न होता हुआ उनमे अनासक्त रहते हुए उनका सेवन करता है। इससे अतिरिक्त सम्यक्त्व की भूमिका योग्य वह जो कुछ भी आचरण करता है उसे आचार्यों ने सम्यक्त्वाचरण नाम दिया है। शुद्धोपयोग के अंश की प्रकटता या स्वानुभूति, स्वरूपाचरणचारित्र आदि की प्राप्तिरूप ऐसी कोई बात वहां उपलब्ध नहीं होती। हां ! दृष्टि की समी-चीनता हो जाने से वह आत्म-अनात्मा के भेदज्ञान (विवेक) से सम्पन्न अवश्य होता है।

इसप्रकार प्रारम्भ के चार गुणस्थान दर्शनमोहनीय कर्म की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के उदय, उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय की अपेक्षा के कहे गये हैं तथा सासादनगुणस्थान सम्यक्त्वकाल में

अनन्तानुबन्धी चतुष्क में से किसी एक के उदय की अपेक्षा बनता है । मिथ्यात्व के उदय में प्रथम, अनन्तानुबन्धी के उदय से द्वितीय और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में तृतीय गुणस्थान बनता है जबकि उक्त सप्तप्रकृतियों के क्षय या उपशम अथवा यथासम्भव क्षयोपशम से चतुर्थ गुणस्थान बनता है ।

देशसंयतगुणस्थान—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया व लोभ कषाय के क्षयोपशम से जिस गुणस्थान में एकदेशरूप चारित्र प्रकट होता है वह गुणस्थान देशसंयतगुणस्थान कहलाता है । संयतासंयत या देशविरत इसी के नामान्तर है । इस गुणस्थानवर्ती जीव हिंसादि पांच पापों का एकदेशरूप से त्याग करता है । चतुर्थगुणस्थान में श्रद्धा और विवेक की उपलब्धि होने पर जब उसके मन में यह विचार उठता है कि मैं जिन भोगो को भोग रहा हूं वे कर्मबन्ध के कारण हैं, विनश्वर हैं तथा अन्त में दुःखों को देने वाले है तो देशसंयम की प्रतिबन्धक कषाय का क्षयोपशम होते ही वह हिंसा-झूठ-चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन पांच पापों का स्थूल रूप से त्याग करता है । संकल्पपूर्वक त्रसहिंसा के त्याग से अहिंसाणुव्रत, राज्यविरुद्ध, समाज-विरुद्ध, देशविरुद्ध, धर्म विरुद्ध असत्य भाषण का त्याग कर सत्याणुव्रत, राजकीय दण्ड प्राप्त कराने मे कारणभूत चोरी का परित्याग कर अचौर्याणुव्रत, अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त अन्य समस्त स्त्री मात्र को अपनी माता-बहिन और बेटी की दृष्टि से देखते हुए उन पर बुरी भावना से दृष्टिपात करने का त्याग करके ब्रह्मचर्याणुव्रत तथा आवश्यकताओं को सीमित रखते हुए अनावश्यक परिग्रह संचय का परित्याग करके परिग्रह परिमाणाणुव्रत को धारण करता है । इन पाचों अणुव्रतो की अभिवृद्धि एवं रक्षा के लिए तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप सात शीलों का भी परिपालन करता है । अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम अथवा प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय की तरत-मता के कारण देशसंयत भावों के दर्शन, व्रत, सामायिकादि प्रतिमारूप एकादश सोपान होते है जिनपर आरोहण कर आत्मविकास की पूर्णता की ओर अग्रसर होता है । इस गुणस्थान से चारित्रिक विकास का प्रारम्भ होता है तथा पूर्ण संयम को प्राप्त करने का अभ्यास भी यहीं किया जाता है ।

प्रमत्तसंयत गुणस्थान—

प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम और संज्वलनकषाय का तीव्र उदय रहने पर प्रमाद सहित संयम का होना प्रमत्तसंयत गुणस्थान है । इस गुणस्थान मे प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम हो जाने के कारण हिंसादि पांच पापो का सर्वदेशरूप त्याग होने से महाव्रतो हो जाता है, किन्तु संज्वलन कषाय का तीव्र उदय रहने से प्रमाद विद्यमान रहता है अतः इस गुणस्थानवर्ती जीव को प्रमत्तसंयत कहते हैं ।

गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी जब यह जीव अनुभव करता है कि इस कुटुम्ब के निमित्त या धनोपार्जन आदि में अत्यन्त सावधानी रहते हुए भी मेरी आत्मिक शान्ति में बाधा ही है और हिंसादि पापों से पूर्णतया आत्मा अलिप्त नही है तो वह परिजनों से ममत्व हटाकर उनसे अपना सम्बन्ध तोड़कर प्रत्याख्याना-वरण कषाय के उत्तरोत्तर मन्दोदय होने से आचार्यपरमेष्ठी के पादमूल में उपस्थित होता है और मुनि दीक्षा के लिए प्रार्थना करता है, आचार्यदेव उसकी योग्यता की परीक्षा कर उसे आज्ञा प्रदान करते हैं तब वह उक्त कषाय के उसी मन्द उदयकाल में केशलोंच करके वस्त्रादि बाह्यपरिग्रह का परित्याग कर अहिंसादि पांच महाव्रतों को तथा उसके परिकर स्वरूप पांच समिति पंचेन्द्रियनिरोध, छह आवश्यक और शेष केशलोंचादि ७ गुण इसप्रकार २८ मूलगुणों को धारण कर दिगम्बर मुनि अवस्था को प्राप्त होता है उस समय उसे सीधा सप्तमगुणस्थान होता है, किन्तु संज्वलन कषाय का तीव्र उदय होने से सातवें अप्रमत्तगुणस्थान से गिरकर प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है । प्रथम, चतुर्थ या पंचम-गुणस्थान से मुनिदीक्षा धारण करने वाला जीव सीधा सप्तमगुणस्थान को ही प्राप्त होता आरोहण की अपेक्षा छठे गुणस्थान को प्राप्त नहीं होता गिरने की अपेक्षा ही छठा गुणस्थान होता है । इसप्रकार सातवे से छठे और छठे से सातवें गुणस्थान में सहस्रों बार आवागमन होता है । यह आरोहण-अवरोहण परिणामों की विचित्रता वश ही होता है । यद्यपि २८ मूल गुणों का निर्दोष पालन करता है तथापि क्रोध-मान-माया व लोभ रूप चार कषाय, स्त्री कथा-राजकथा-

भोजनकथा-देशकथा रूप चार विकथा, पंचेन्द्रियविषयों की ओर झुकाव, स्नेह और निद्रा इन पंद्रह प्रमादों के कारण महाव्रतों के परिपालन में किंचित् दोष लगते हैं। साधु सदा आत्मचिन्तन मे निरत नहीं रह सकता, उक्त १५ प्रमादों में से किसी न किसी प्रमाद की ओर किंचित् समय के लिए प्रवृत्ति हो जाती है अतः अप्रमत्तावस्था से गिरकर प्रमत्तदशा को प्राप्त हो जाता है। इस गुणस्थान का काल सामन्यतः अन्तर्मुहूर्त ही है।

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान :

संज्वलन क्रोध, मान, माया व लोभ का उदय मन्द पड जाने पर जब प्रमाद का अभाव हो जाता है तब अप्रमत्तसंयत गुणस्थान प्रकट होता है। अथवा दूसरे शब्दों मे हम कह सकते हैं कि साधु की सावधान दशा ही सप्तम गुणस्थान है। जितनी देर आत्मचिन्तन में जागरूक रहता है उतनी देर अप्रमत्त होने से सप्तमगुणस्थान की भूमिका मे स्थित होता है और ज्यों ही प्रमादरूप परिणति प्रकट होती है त्यों ही वह छठे गुणस्थान में आ जाता है। इस गुणस्थान का काल भी सामन्यतः अन्तर्मुहूर्त ही है तथापि वह छठे गुणस्थान के अन्तर्मुहूर्त से आधा काल है। इस गुणस्थान के दो भेद है—स्वस्थान अप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त। सातवें से छठे और छठे से सातवें गुणस्थान मे आना स्वस्थान अप्रमत्त दशा है और जो आगे श्रेणी चढ़ने का उपक्रम कर रहा है अर्थात् श्रेणी के सम्मुख जा अप्रमत्तसंयत जीव है वह सातिशय अप्रमत्त है। उपशम और क्षपक की अपेक्षा श्रेणी दो प्रकार की है। चारित्रमोह का उपशम जिसके फलस्वरूप होता है उसे उपशम श्रेणी, चारित्रमोह का क्षय जिसके फलस्वरूप होता है वह क्षपक श्रेणी है। क्षपक श्रेणी का आरोहण क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही करता है, किन्तु उपशम श्रेणी का आरोहण द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायिकसम्यग्दृष्टि दोनों ही करते है।

सप्तमगुणस्थान की सातिशय अप्रमत्तावस्था में चारित्रमोह की उपशामना या क्षपणा के लिए होने वाले अधःकरण रूप परिणाम होते हैं। इस गुणस्थान में नाना जीवो की अपेक्षा सम समयवर्ती और विषम-समयवर्ती जीवों के परिणामों मे समानता और असमानता दोनो ही पाई जाती है। यहां पाये जानेवाले परिणामों के निमित्त से सातिशय अप्रमत्तसंयत चारित्रमोह के उपशम या क्षपण के लिए उद्यत होता हुआ आगे के गुणस्थानों मे प्रवेश करता है। सातिशय अप्रमत्त अवस्था से आत्मा पूर्ण विकास की ओर अग्रसर होने में समर्थ होता है।

वर्तमानकाल में कोई भी साधु सातवे गुणस्थान से और उसमें भी स्वस्थान-अप्रमत्तदशा से ऊपर नहीं चढ़ सकता, क्योंकि ऊपर चढने के योग्य उत्तमसंहननादि के अभाव मे श्रेण्यारोहण की पात्रता ही नहीं है, किन्तु जिसकाल में सर्वप्रकार की पात्रता और साधन सामग्री सुलभ होती है उस समय साधु ऊपर के गुणस्थानों में भी चढता है।

आगे के गुणस्थानों का स्वरूप लिखने से पूर्व यह बता देना उचित प्रतीत होता है कि—आठवे गुणस्थान से दो श्रेणियां प्रारम्भ होती है उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी। आठवां, नौवा, दशवां और ग्यारहवां ये चार गुणस्थान उपशम श्रेणी की अपेक्षा और आठवां, नौवा, दशवा और बारहवां ये चार गुणस्थान क्षपकश्रेणी की अपेक्षा होते हैं। क्षपकश्रेणी पर तद्भवमोक्षगामी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव ही आरोहण करते है किन्तु उपशम श्रेणी पर तद्भव मोक्षगामी और अतद्भवमोक्षगामी तथा औपशमिक और क्षायिकसम्यग्दृष्टि दोनों ही प्रकार के जीव चढ सकते हैं। इतना निश्चित है कि उपशमश्रेणी चढ़ने वाला साधु ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचकर मोहनीयकर्म का पूर्ण उपशम करता है और उपशमजन्य वीतरागता का अनुभव करके भी कालक्षय या आयुक्षय के निमित्त से नीचे गिरता है। आयुक्षय से गिरनेवाला तो मरण हो जाने से देवगति में चतुर्थगुणस्थान को प्राप्त हो जाता है, किन्तु कालक्षय की अपेक्षा गिरनेवाला जीव क्रम से गिरते हुए छठे-सातवें गुणस्थान को भी प्राप्त होता है और यदि वहा परिणाम सँभल जावे तो आगे पुनः भी बढ़ जाता है, अन्यथा और भी नीचे के गुणस्थानों को प्राप्त कर सकता है। यह कथन अतद्भवमोक्षगामी उपशमसम्यक्त्वसहित उपशम श्रेणी चढ़नेवाले जीव की अपेक्षा से है, किन्तु जो तद्भव मोक्षगामी क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव हैं वे ग्यारहवें गुणस्थान से क्रम से गिरते हुए सातवें गुणस्थान में पहुँचकर भी वहां पुनः चारित्रमोह की क्षपणा का प्रारम्भ करते

हुए आठवें आदि गुणस्थान में पहुंचते हैं। अतः आगे के गुणस्थानों का स्वरूप यथायोग्य दोनों श्रेणियों की अपेक्षा लिखा जावेगा।

अपूर्वकरणसंयत गुणस्थान :

करण का अर्थ अध्यवसाय या परिणाम है। जहां प्रतिसमय अपूर्व-अपूर्व अर्थात् नये-नये परिणाम होते हैं उस गुणस्थानका नाम अपूर्वकरण है। जब कोई सातिशय अप्रमत्तसंयतजीव चारित्रमोह के उपशमन या क्षपण के लिए अधःकरण परिणामों को करके इस गुणस्थानमें प्रवेश करता है तब प्रतिक्षण उसके परिणाम अपूर्व-अपूर्व ही होते हैं। यहां परिणामों की विशुद्धि का वेग बढता जाता है। यदि अनेक जीव इस गुणस्थान को प्राप्त हो तो उनमें से एकसमयवर्ती जीवों के परिणामों मे सादृश्य और वैसादृश्य भी पाया जाता है, किन्तु भिन्नसमयवर्ती जीवो के परिणामों में सादृश्यता होती ही नहीं। इस गुणस्थानमे रहते हुए जीव अपने परिणामो की अनन्तगुणी विशुद्धिके द्वारा चारित्रमोहनीयकर्म के उपशमन या क्षपण की भूमिका बनाता है। यहां यद्यपि चारित्रमोहकर्म की किसी भी प्रकृति का उपशम या क्षय नही कर पाता तथापि स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, गुणश्रेणीनिर्जरा और गुणसक्रमण इन कार्यों को प्रारम्भ करता है जिससे उसकी परिणामविशुद्धि वृद्धिगत होती है तथा प्रतिसमय असंख्यातगुणितरूप से कर्मप्रदेशों की निर्जरा करता है।

अनिवृत्तिकरणसंयत गुणस्थान :

आठवे गुणस्थानमें अन्तर्मुहूर्तकालपर्यंत रहकर तथा अपूर्व-अपूर्व परिणामों के द्वारा आत्मविशुद्धि प्राप्त करते हुए विशिष्ट आत्मशक्ति का सचय करके अनिवृत्तिकरणगुणस्थान में प्रवेश करता है। इस गुणस्थान में एकसमयवर्तीजीवो के परिणामोंमे निवृत्ति अर्थात् विषमता नही पायी जाती अतः उन अनिवृत्तिपरिणामों के कारण ही इस गुणस्थान को अनिवृत्तिकरण कहा जाता है। इस गुणस्थान मे आयुकर्म को छोडकर शेष सात कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात करता है। उपशमश्रेणीवाला जीव इस गुणस्थान में चारित्रमोहनीय कर्म की सूक्ष्म लोभ प्रकृति को छोड़कर शेष सर्व प्रकृतियों का उपशम कर देता है तथा क्षपकश्रेणीवाला उन्हीं का क्षय कर देता है। यहा विशेष ध्यातव्य है कि क्षपकश्रेणीवाला चारित्रमोहनीयकर्म प्रकृतियों के साथ अन्य कर्मों की क्षपणा भी करता है।

सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान :

इस गुणस्थान में परिणामों को उत्कृष्टविशुद्धि के द्वारा चारित्रमोहनीयकर्म की शेष बची एक सूक्ष्मलोभ प्रकृति रही है वह प्रतिसमय क्षीण-शक्ति होती चली जाती है। उस सूक्ष्मलोभ प्रकृति को उपशमश्रेणीवाला जीव तो अन्तिम समय में उपशमन करके ग्यारहवें गुणस्थान मे जाता है तथा क्षपकश्रेणीवाला जीव उसका क्षय करके १० वें से सीधा बारहवे गुणस्थान में पहुंचता है। जिसप्रकार धुले हुए कसूमी रंग के वस्त्र में लालिमा की सूक्ष्म आभा रह जाती है उसीप्रकार इस गुणस्थान मे लोभकषाय परिणामविशुद्धि के द्वारा अत्यन्त सूक्ष्मरूप में रहता है अतः इस गुणस्थान को सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं। यहां विशेष ध्यातव्य है कि क्षपकश्रेणीवाला सूक्ष्मलोभ की क्षपणा के साथ अन्य कर्मों की भी अनेक प्रकृतियो का क्षय करता है।

उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थ गुणस्थान :

सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान में सूक्ष्मलोभ का उपशम होते ही समस्त कषायों का उपशमन होने से यह जीव उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है। जिसप्रकार गन्दले जल में कतकफल या फिटकरी आदि डालने पर उस जल का गन्दलापन नीचे बैठ जाता है और निर्मल जल ऊपर रह जाता है अथवा शरद्काल में सरोवर का पानी जिसप्रकार निर्मल होता है उसीप्रकार उपशमश्रेणी में शुक्लध्यान से मोहनीयकर्म

एक अन्तर्मुहूर्त के लिए उपशान्त कर दिया जाता है जिससे जीव के परिणामों में एकदम निर्मलता आ जाती है, किन्तु यह निर्मलता ऊपरी सतह के स्वच्छ जल के समान है सत्ता मे तो मोहनीयकर्म अभी भी विद्यमान है। चूंकि मोहनीयकर्म का उपशम एक अन्तर्मुहूर्त के लिए ही होता है अतः उस काल के पश्चात् मोहनीयकर्म की प्रकृतियों का उदय होते ही यह जीव पतनोन्मुख होता हुआ अधस्तनवर्ती गुणस्थानों में चला जाता है। इस गुणस्थान में औपशमिक-यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है। कर्ममल के उपशान्त हो जाने से वीतरागता तो प्रगट हुई है, किन्तु ज्ञानावरण-दर्शनावरण विद्यमान होने से अभी छद्मस्थता है। अतः इस गुणस्थान का उपशान्तकषायवीतराग-छद्मस्थ यह नाम अन्वर्थ है।

क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थ गुणस्थान :

क्षपकश्रेणीवाला जीव सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान के अन्त में सूक्ष्मलोभ का क्षय करके सीधे १२ वें क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान में पहुंचता है। इस गुणस्थान मे शुक्लध्यान का एकत्ववितर्क नामक द्वितीय भेद प्रकट होता है, जिससे वह ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायरूप तीन घातिया कर्मों का तथा नामकर्म की १३ प्रकृतियों का क्षय करता है मोहनीयकर्म का सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान में क्षय कर ही चुका था अतः चारों घातियाकर्मों के तथा नामकर्म की १३ प्रकृतियों के क्षय से अन्तर्मुहूर्तकाल मे ही यह जीव कैवल्यावस्था को प्राप्तकर केवलज्ञानी होता है।

इसप्रकार उपर्युक्त १२ गुणस्थानों में आदि के चार गुणस्थान दर्शनमोह की प्रधानता से उदय, उपशम या क्षय से तथा शेष आठ गुणस्थान चारित्रमोह की प्रधानता से (उदय, उपशम या क्षय से) होते है। आगे के दो गुणस्थान योग के सद्भाव और अभाव मे होते हैं। सातवे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक का काल परम समाधिका काल है। छद्मस्थ जीवके परम समाधि की स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रह सकती अतः सातवे, आठवें आदि गुणस्थानों का पृथक्-पृथक् काल भी अन्तर्मुहूर्त है और सभी का सामूहिक काल भी अन्तर्मुहूर्त है।

सयोगकेवली गुणस्थान :

बारहवें गुणस्थान तक ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्म के सद्भाव में जीव अल्पज्ञ कहलाता है अतः वहा तक जीवों की छद्मस्थ संज्ञा है, किन्तु १२ वें गुणस्थान के अन्त मे उनकर्मों का एक साथ क्षय होते ही जीव सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाता है। उसके केवलज्ञान मे विश्व के चराचर समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। यही अरहन्त अवस्था है, केवलज्ञान के साथ अभी योग विद्यमान है अतः इस गुणस्थान को सयोगकेवली कहते हैं। चार घातियाकर्मों के क्षय हो जाने से इस सयोगकेवली गुणस्थान में अरहन्त भगवान के नव केवल लब्धियां प्रकट हो जाती हैं। ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अनन्तज्ञान, दर्शनावरणकर्म के क्षय से अनन्तदर्शन, मोहनीयकर्म के क्षय से अनन्तसुख और क्षायिकसम्यक्त्व, अन्तरायकर्म के क्षय से अनन्त दान-लाभ-भोग-उपभोग और वीर्य की प्राप्ति होती है। जिन्होंने तीर्थंकरप्रकृति सहित केवलज्ञान प्राप्त किया है उनके बाह्यविभूति स्वरूप समवशरण की रचना होती है, दिव्यध्वनि खिरती है। सामान्यकेवली के समवशरण विभूति का अभाव रहता है मात्र गन्धकुटी की रचना होती है, और दिव्यध्वनि खिरती है, किन्तु अन्तकृतकेवली और मूक केवलियों की दिव्यध्वनि नहीं खिरती। बाह्य विभूति में अन्तर होते हुए भी सभी प्रकार के केवलियों की अन्तरंग में अनन्त चतुष्टयरूप विभूति समान ही होती है। केवली भगवान की विहार और दिव्यध्वनि आदि रूप क्रियायें बिना इच्छा के भव्यों के भाग्य के वश से तथा वचनयोग के निमित्त से होती है। इस गुणस्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल आठवर्ष एवं अन्तर्मुहूर्त कम (देशोन) एक कोटिपूर्व वर्ष है। इस गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाती नामक तृतीय शुक्लध्यान होता है जिससे कर्मों की अत्यधिक निर्जरा तो होती है, किन्तु क्षय किसी भी प्रकृति का नही होता। वीरसेनाचार्य इस शुक्लध्यान का फल योग निरोध मानते हैं।

जब १३ वें गुणस्थान का अन्तर्मुहूर्त काल शेष रह जाता है और केवलीभगवान की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु से शेष अघातियाकर्मों की स्थिति अधिक रहती है तब उनकी स्थिति को बराबर करने के लिए भगवान के केवलीसमुद्घात होता है। प्रथम समय मे चौदह राजू प्रमाण लम्बे दण्डाकार आत्मप्रदेश फैलते है। दूसरे समय में आत्मप्रदेश कपाट के आकार में चौड़े हो जाते हैं, तृतीय समय में प्रतर के आकार विस्तृत होते हैं और चौथे समय में समस्त लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं इसे लोकपूरण समुद्घात कहते हैं। इसीप्रकार चारो समयों में आत्मप्रदेशों की संकोचन क्रिया भी होती है और संकुचित होते हुए आत्मप्रदेश शरीर में प्रवेश कर जाते है। इस केवलीसमुद्घात के द्वारा नाम, गोत्र और वेदनीयकर्म की स्थिति भो आयुकर्म के बराबर अन्तर्मुहूर्तप्रमाण रह जाती है, तभी योग निरोधकर चौदहवे गुणस्थान में प्रविष्ट होते है।

अयोगकेवलीगुणस्थान :

जिसमें योगों का सर्वथा अभाव हो जाता है उसे अयोगकेवली गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में शुक्लध्यान का व्युपरतक्रियानिवर्ति नामक चतुर्थ भेद प्रकट होता है। इस गुणस्थान के उपान्त्य समय में या द्विचरमसमय में केवली भगवान् अघातिया कर्मों की ७२ प्रकृतियो का क्षय करते हैं और अन्तिम समय मे १३ प्रकृति का क्षय करके एक क्षण में सर्वकर्म विप्रमुक्त होकर अयोगकेवली भगवान लोकके अन्तमें तनुवातवालय के उपरितन भाग मे ५२५ धनुष प्रमाण सिद्धक्षेत्र में जाकर विराजमान हो जाते है। सिद्धों की जघन्यतम अवगाहना ३½ हाथ और उत्कृष्टअवगाहना पांचसो पच्चीस धनुष की रहती है। अयोगकेवलीगुणस्थान का काल यद्यपि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही कहा है, किन्तु वह 'अ इ उ ऋ लृ' इन पांच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण में लगने वाले काल के बराबर ही है।

इसप्रकार कर्ममल से संयुक्त संसारी आत्मा अपने पुरुषार्थ के द्वारा इन चौदहगुणस्थानरूप सोपानों पर आरोहण करते हुए लोकान्त में स्थित सिद्धालय में पहुंच जाता है तथा संसार के अनन्त दुःखों से छूटकर अनन्त और शाश्वत अव्याबाध सुख का अनुभव करता है। प्रारम्भ के तीन गुणस्थानवर्ती जीव बहिरात्मा हैं, चतुर्थ से १२ वें गुणस्थानतक के जीव अन्तरात्मा और १३-१४ वे गुणस्थान वाले जीव परमात्मा हैं। इसप्रकार बहिरात्मा से परमात्मा बनने के लिए गुणस्थान सोपानों पर आरोहण करके उत्तरोत्तर आत्मविकास का प्रयत्न करना चाहिए। गुणस्थान आत्मविकास के क्रमिक मणिसोपान है जिसपर चढ़कर सिद्धालय में पहुंचा जाता है। वहां पहुंचकर जीव पूर्ण परमात्मत्व को प्राप्त हो जाता है।

जैनागम में लेश्या

❖ धर्मालंकार पं० हेमचन्द्रजी शास्त्री, एम ए.

[न्याय–काव्यतीर्थ, प्रभाकर, अजमेर]

लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पण्णो ।
जीवाजीवेहिं फुडो सव्वागासवयवो णिच्चो ।।

लोकस्वरूप—सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्रस्वामी जैनागम में वर्णित लोककी रचना के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण कहते हैं कि "यह लोक अकृत्रिम, अनादिनिधन, स्वभावनिष्पन्न, जीव और अजीव पदार्थों द्वारा व्याप्त, सर्वाकाशावयव और नित्यस्वरूप है। लोक का स्वरूप वीतरागप्रभु ने केवलज्ञान द्वारा जैसा जाना है वह उक्त गाथा में सभी भारतीयदर्शनों की लोकस्वरूपसम्बन्धी मान्यताओं को दृष्टि में रखते हुए अनादि से अनन्त काल तक विद्यमान, शाश्वत लोकरचना का वास्तविकस्वरूप आचार्य देव ने प्रकट किया है। लोकरचना के सम्बन्ध में भारतीयमनीषियों की अनेक मान्यताए हैं उनका निराकरण करने हेतु आचार्य श्री ने अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है।

यह लोक ३४३ घनराजू प्रमाण है जिसका आकार पैर पसारे, कमर पर हाथ रक्खे हुए पुरुष की आकृति से मिलता-जुलता है। चित्रकारों ने इस लोक का शास्त्रीय आधारों पर चित्रपट तैयार किया है उसी आधार पर हिन्दी कवियों ने आत्मा को पाप से निवृत्त और शुभ मे प्रवृत्त कराने के लिए एकाधिक पूजा-पाठों की रचना की है; जिसमे कृत्रिम, अकृत्रिम जिनागारों का वर्णन किया है, क्योंकि जैनधर्म प्रकृतिमय है और इसके आराधक निवृत्ति त्याग कर स्वय प्रकृतिस्थ होना ही धर्म का चरमलक्ष्य स्वीकार करते है। अतः प्रकृति की गोद में अनादि से स्वय परिणमित जिनागार और जिनबिम्बों का ही आराधन जैनवर्ग को उपादेय रहा है। यही कारण है कि मध्यलोक में विद्यमान तथा अन्यत्र भी विराजित जिन चैत्यचैत्यालयों की पूजा भव्यजन सदा से करते आ रहे हैं। ये पूजन-पाठ विशालकाय हैं और संगीतमय तत्वज्ञान के पुंज हैं। गृहस्थ इनके माध्यम से अपने पुण्यफल स्वरूप न्यायोपार्जित द्रव्यादि का इष्टदेव के प्रति समर्पण कर महापापरूप परिग्रह का त्यागकर पुण्योपार्जन करता है। गृहस्थों के लिए पूजा और दान जो कि एक दूसरे के पूरक हैं, के अतिरिक्त जीवन सार्थक करने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है अस्तु !

लोक का चित्रपट—तीन लोक के चित्रपट को सामने रखकर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्वयं का शास्त्रीयज्ञान प्रस्फुटित होने लगता है कि क्या यह सम्पूर्ण लोक मेरे द्वारा परिभ्रमण कर लिया गया है ? जैन तत्त्ववेत्ताओं ने पंच परावर्तन रूप अनादि-निधन संसार के स्वरूप का वर्णन करते समय यह स्पष्ट घोषणा की कि इस जीव ने अष्ट कर्मों के वशीभूत होकर अनन्तबार लोकस्थित प्रायः सभी द्रव्य, क्षेत्र और काल के निमित्त को पाकर भावों में परिणमन किया है । यह कर्म की ही कृपा है कि एक जीव लोक का लगभग कोना-कोना छान आया, किन्तु अपनी ही भूल के कारण अपना शाश्वत निवास सिद्धपद प्राप्त नहीं कर पाया जबकि कर्म की कृपा इसे अनेक बार प्राप्त भी हुई । कुछ पद इसप्रकार के अवश्य हैं जिन्हें प्राप्त कर अनिवार्यरूप से कर्मभार छुटता हो है । ये आत्मा के निजो पुरुषार्थ की देन है । आसन्न भव्य प्राणी ही इन पदों को प्राप्त कर क्रमशः मुक्ति लाभ करते हैं ।

लोक चित्रपट में परिणामों के प्रतीक वर्ण—लोक के चित्रपट में भिन्न-भिन्न जीवों के विभिन्न ज्ञान परिणमन को नानाप्रकार के रंगों (वर्णों) द्वारा अंकित किया गया है । जैसे लोक के नीचातिभाग का वर्ण चित्रपट में कुत्सित कृष्णवर्ण द्वारा दर्शाया गया है । यह अधोलोक का अन्तिम भाग है, जहां नित्यनिगोद का नियत क्षेत्र है । यह सामान्य जीवों की अपेक्षा उसीप्रकार अनादिनिधन है जैसे एक जीव जीवस्वरूप की अपेक्षा से अनादिनिधन है । कर्मबन्धन से मुक्त होने के कारण मुक्ति सादि-अनिधन है । लोक का अधोभाग जहां प्रचुर तथा सतत दुःखमय है उसी का प्रतिपक्षी मुक्तिस्थान सतत सुखमय है ।

अधोलोक से ऊपर की ओर देखें तो यहां कृष्णवर्ण से लेकर अशुभनील और कापोतवर्णों का ही दर्शन होता है जो अशुभता का प्रतीक होते हुए दुःखों की कमी की ओर हमारी दृष्टि ले जाते हैं । ऊर्ध्वलोक का एकलाख योजन का क्षेत्र मध्यलोक है जिसमें सभी प्रकार के वर्णों में, द्वीप-समुद्रों का प्राकृतिक चित्रण है । इनकी महत्ता और समादरणीयता केवल उन धर्मायतनों से है, जिनसे आत्मस्वरूप की ओर उन्मुख होने की भव्य जीवों को प्रेरणा मिलती है ।

ऊर्ध्वलोक में केवल उन्हीं वर्णों (रंगों) का सद्भाव है जिन्हें शुभ सूचक कहा जाता है । पीत, पद्म, शुक्ल वर्णों की भव्यता विश्व में विदित है । ऊर्ध्वलोकवासी देवों की भावना का प्रतीक वह-वह वर्ण है जो नीचे से ऊपर की ओर समुज्ज्वल हो जाता है । सर्वार्थसिद्धि विमान इसका अन्तिम स्थल है । इससे मुक्ति समीप व अनिवार्य है । इसप्रकार अधोलोक के दुःखों को दर्शाते हुए ऊर्ध्वलोक के सुखों की ओर जाते हुए जीवों की प्राकृतिक प्रवृत्ति है अतः जीव का ऊर्ध्वगमन स्वीकृत किया है । निगोद से निकलकर सिद्धिपद प्राप्ति तक पहुंचना जीव का अन्तिम पुरुषार्थ है और उस पुरुषार्थ का वर्णन ही चतुरनुयोगों की लक्ष्यणीयता है ।

अभिप्राय यह है कि वीतरागी धर्मोपदेष्टाओं ने जनसाधारण के भावज्ञान के लिए कृष्णादि वर्णों का अवलम्बन लेकर जीवों की भाव (विचार) प्रणाली के शुभाशुभरूप को हृदयगम कराने का यह सरलतम प्रयत्न किया है और यह भाव प्रणाली ही संसार का बीज है । संसार नृत्यस्थली का रंगमंच है, जहां विभिन्न भावों वाले जीव अपनी-अपनी योग्यता व पुरुषार्थ द्वारा सांसारिक कष्ट व इन्द्रिय सुखों का फल भोगते हुए इतस्ततः भ्रमण कर रहे हैं ।

लेश्या का स्वरूप :

लिप्पइ अप्पीकीरइ एदाए णियअपुण्णपुण्णं च ।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा ॥४८८॥

अर्थात् लेश्या के स्वरूप को जानने वाले प्रवर गणधरादि ने "जो जीवों को पुण्य-पाप से लिप्त करे" उसे लेश्या कहते हैं । आगे और कहा है—

जोगपउत्ती लेस्सा कसाय उदयाणुरंजिया होइ।
तत्तो दोण्हं कज्जं बंधचउक्कं समुद्दिट्ठं ॥४८६॥

—'कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है। इसलिए कषाय और योग, इन दोनों का ही कार्य चार प्रकार का बन्ध कराना है।'

द्रव्य संग्रह ग्रन्थ में कहा है कि "जोगा पयडि पदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति" अर्थात् प्रकृति और प्रदेशबन्ध योग से तथा स्थिति और अनुभागबन्ध कषाय से होते है। ये चारों बन्ध संसारबन्धन के कारण हैं और इनका मूल लेश्या है। यह भावलेश्या है, इसी भाव लेश्या को स्पष्ट किया गया है द्रव्यलेश्या या वर्णभेद की दृष्टि से।

'वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा।'

— वर्ण नामकर्म के उदय से जो शरीर का वर्ण होता है उसे द्रव्य लेश्या कहते हैं। यह द्रव्यलेश्या सामान्यत: छहप्रकार की होती है—१ कृष्ण २. नील ३. कापोत ४. पीत ५. पद्म ६. शुक्ल। ये छह भेद तो संक्षेप कथन की दृष्टि से कहे गये हैं, किन्तु लेश्याओं के असंख्यात लोकप्रमाण भेद परमागम में कहे गये हैं। उक्तवर्णों में जिसप्रकार नानाविध तारतम्य पाया जाता है उसीप्रकार भावो के तारतम्य से भावलेश्या भी असंख्यातलोकप्रमाण भेद युक्त हो जाती है।

साधारणत: अशुभ लेश्याओं में तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र तथा शुभलेश्याओ मे मन्द, मन्दतर और मन्दतम परिणाम होते है। इन परिणामों को चित्रात्मक बनाकर लेश्या वृक्ष की कल्पना इस प्रकार की गई है।

लेश्यावृक्ष का रूप—फलो से लदा हुआ एक सघन लहलहाता हुआ वृक्ष वनप्रदेश में विद्यमान था। पथभ्रष्ट होकर छह यात्री आये, वे क्षुधा, पिपासा और श्रम से पीडित होकर उस वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगे। इन छहों व्यक्तियों का वर्ण कृष्णादिरूप था। बाह्य शरीर वर्ण के साथ अन्तरंग योग-कषाय प्रवृत्ति भी विभिन्न थी। कृष्णलेश्या (वर्ण) धारी व्यक्ति विचार करता है कि मै इस वृक्ष को मूल से उखाड़कर फलों को खाऊंगा। नीललेश्यावाला विचारता है कि मै वृक्ष के स्कन्ध को काटकर फलो का भक्षण करूंगा। कपोत लेश्यावाला वृक्ष की शाखाओं को तोडकर फल खाने का विचार करता है, परन्तु पीतलेश्यावाला वृक्ष की छोटी-छोटी टहनियों (शाखाओं) को गिराकर फल खाना चाहता है। पद्मलेश्यावाला फलों को ही तोड़कर खाने की इच्छा करता है तथा शुक्ललेश्यावाला जीव केवल टूटकर नीचे गिरे हुए फलों को ही खाने में संतुष्ट है। सभी व्यक्ति फल तो खाना चाहते हैं, किन्तु उनकी प्रक्रिया भिन्न है। इसप्रकार कषायों का तरतम भाव ही लेश्या के अनेक भेदों का जन्मदाता है, जिसका फल पुण्य और पाप है।

लेश्याओं के भेद युक्त परिणाम—इन्ही परिणामों के अनुसार जीवों की बाह्य एवं अन्तरंग प्रवृत्ति का तारतम्य करते हुए निम्नलिखित लेश्यालक्षणों का विवरण आगमग्रंथों में पाया जाता है जैसे—

तीव्रक्रोधी, वैर को दीर्घकाल तक बांधनेवाला, युद्ध करने की सतत प्रवृत्ति रखनेवाला, धर्म और दया से रहित, अत्यन्त दुष्ट, उग्रस्वभावी, अनियंत्रित, उद्दण्डस्वभावी जीव कृष्णलेश्या का धारक होता है।

कार्यसम्पादन मे मन्द, स्वच्छंद, विवेकशून्य, पंचेन्द्रियलम्पट, अभिमानी, मायाचारी, आलसी, पराभिप्राय-अनभिज्ञ, वंचक, निद्रालु, धन-धान्यादि का लोभी व्यक्ति नीललेश्यावान् होता है।

कपोतलेश्यावाला व्यक्ति दूसरों पर क्रोध करनेवाला, परनिन्दक, परदु:खदाता, परस्पर वैरी, भयशोककारी, अन्य वैभव को सहन न करनेवाला, तिरस्कारक, स्वप्रशंसक, अविश्वासी तथा कार्य-अकार्य का अपरीक्षक स्वभाववाला होता है।

पीतलेश्यापरिणामी अपने कार्य-अकार्य, सेव्य-असेव्य का परीक्षक, कोमल परिणामवाला, दान व दया में तत्पर सर्वत्र विवेकवान समदर्शी एवं सरलस्वभावी होता है।

दानशील, भद्रपरिणामी, उत्तमकार्यों के सम्पादन में अभिरुचि रखनेवाला, उपद्रव आदि सहन करने वाला, देव, शास्त्र और गुरु का भक्त, दानादि कार्यों में उत्साही व्यक्ति पद्मलेश्या का धारक होता है।

पक्षपातरहित, निदान-अबंधक, सर्वजीवों में समता परिणामी, रागद्वेषरहित, पारिवारिक मोहरहित, सरल व मृदु व्यवहारी जीव शुक्ललेश्या परिणामी होता है।

उक्त लक्षण केवल जीवों की प्रवृत्ति का आधार लेकर ही बताये गए हैं। प्रतिसमय भावपरिवर्तन के कारण लेश्याओं का अंकन छद्मस्थज्ञानियों द्वारा सम्भव नहीं है।

गतियों में द्रव्य लेश्याएं—गतियों की अपेक्षा जीवों की द्रव्यलेश्या निम्नप्रकार होती हैं—

सम्पूर्ण नारकी कृष्णवर्णी हैं। कल्पवासी देवों के भावलेश्या के समान द्रव्य लेश्याएं भी पीत, पद्म और शुक्लरूप होती हैं। भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवों में तथा मनुष्य व तिर्यंचों के छहों द्रव्यलेश्याओं का सद्भाव पाया जाता है। स्थूल जलकायिक जीव शुक्ल और बादर अग्निकायिक जीव पीतलेश्या वाले होते है। सम्पूर्ण सूक्ष्मजीव कपोतलेश्यावाले है। विग्रहगति मे जीवों का वर्ण शुक्ल होता है। वायुकायिक जीव गोमूत्रादि वर्णवाले होते हैं।

गुणस्थानापेक्षा लेश्याएं—गुणस्थानों की अपेक्षा १-२-३-४ गुणस्थानों में छहों लेश्याएं पायी जाती हैं। ५-६-७ गुणस्थानों में तीन शुभ लेश्याएं ही होती है। इसके आगे ८-९-१०-११-१२-१३ गुणस्थानों में केवल शुक्ललेश्या है। १४ वां गुणस्थान लेश्यारहित ही होता है। कषायरहित गुणस्थानों में योगसद्भाव होने से उपचाररूप लेश्या कही गई हैं।

गतियों में भावलेश्या—भावलेश्या की अपेक्षा चारों गतियों में लेश्या का सद्भाव निम्नप्रकार से पाया जाता है—

प्रथम नरक में कपोतलेश्या का जघन्यअंश है। दूसरे नरक में कपोतलेश्या का मध्यमअंश है। तृतीय नरक में कपोतलेश्या का उत्कृष्ट अंश और नीललेश्या का जघन्यअंश भी होता है। चौथी पृथ्वी में नील लेश्या का मध्यम अंश, पांचवीं पृथ्वी में नीललेश्या का उत्कृष्टअंश एवं कृष्ण लेश्या का जघन्य अंश होता है। छठे नरक में कृष्णलेश्या का मध्यमअंश होता है। सप्तम पृथ्वी में कृष्णलेश्या का उत्कृष्ट अंश पाया जाता है।

मनुष्य और तिर्यंचों में सामान्यतः छहों लेश्याएं होती हैं। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों के कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याएं होती हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के कृष्ण, नील, कपोत और पीत ये चार लेश्याएं तथा संज्ञी अपर्याप्तक, सासादनगुणस्थानवर्ती जीव, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देवो मे तीन अशुभ लेश्याएं होती हैं। भोगभूमिज निवृत्यपर्याप्तक सम्यग्दृष्टि के कपोत लेश्या का जघन्य अंश होता है और पर्याप्तावस्था में सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि के पीत आदि तीन शुभलेश्याएं होती हैं।

देवो में विशेष रूप से भवनत्रिक के देवों में पीतलेश्या का जघन्यअंश होता है। सौधर्म-ईशान स्वर्गवासी देवों के पीतलेश्या का मध्यमअंश होता है। सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग में पीत लेश्या का उत्कृष्ट अंश और पद्मलेश्या का जघन्यअंश है। ब्रह्मादि छह स्वर्गवासी देवों में पद्मलेश्या का मध्यमअंश और शतार-सहस्रार स्वर्गवासियों के पद्मलेश्या का उत्कृष्टअंश एवं शुक्ललेश्या का जघन्यअंश होता है। आनतादि ४ स्वर्गों तथा

नवग्रैवेयक में शुक्ललेश्या का मध्यमअंश और इससे ऊपर नवानुदिश और पांच-अनुत्तर विमानवासी देवों के शुक्ल लेश्या का उत्कृष्टअंश होता है, किन्तु भवनत्रिक में अपर्याप्तावस्था में तीन अशुभ लेश्याएं ही होती हैं।

इसप्रकार चारों ही गतियों में लेश्या के विभिन्न अंश पाये जाते हैं। ये सब कषाय और योग के ही कार्य हैं, जिनमें कषाय की प्रमुखता है।

लेश्या धारियों का उत्पाद—कषायों के तारतम्यके कारण उनके फलमें भी अन्तर होता है, तथापि नानाजीवों की अपेक्षा आगम में यह व्यवस्था पाई जाती है। कृष्ण लेश्याके उत्कृष्ट अंशों के साथ मरे हुए जीव सप्तमपृथ्वी के अवधि नामक इन्द्रक विलमे उत्पन्न होते है। जघन्य अंशवाले जीव पचमपृथ्वी के तिमिस्र नामक अन्तिम पटलके इन्द्रकबिलमें उत्पन्न होते है। मध्यम अशो से मरे हुए इन दोनो नरकों के मध्यमें यथासम्भव नरकबिलोंमें जन्म लेते हैं।

नीललेश्या के उत्कृष्ट अशों मे मरे हुए जीव पचमपृथ्वी के अन्ध्रनामक इन्द्रक बिल तथा पांचवे पटल में भी उत्पन्न होते है। इसी लेश्या के जघन्य भावो मे मृत प्राणी तृतीयपृथ्वी के अन्तिम सम्प्रज्ज्वलित नामक इन्द्रक बिलमें जन्म लेते हैं। मध्यम अश वाले जीव उक्त दोनो के मध्यस्थानो में यथायोग्य जन्म लिया करते हैं।

कपोत लेश्याके उत्कृष्ट अंशों से मरण को प्राप्त जीव तीसरे नरकके अन्तिम सज्वलित नामक इन्द्रक बिलमे उत्पन्न होते हैं और जघन्य अशों वाले प्रथम पृथ्वी के सीमन्तनामक पटलमें प्रथम इन्द्रक बिलमें उत्पन्न होते हैं। मध्यम अंशवाले मध्यम नरकोंमें यथायोग्य जन्म धारण किया करते हैं।

कृष्ण, नील, कपोत इन तीन लेश्याओं के मध्यम अशो से मरे हुए कर्मभूमियां मिथ्यादृष्टि-तिर्यञ्च और मनुष्य तथा पीतलेश्या के मध्यम अशो के साथ मरे हुए भोगभूमिया मिथ्यादृष्टि तिर्यंच-मनुष्यमे और भवन-वासी-व्यंतर-ज्योतिषि देवों मे उत्पन्न होते हैं। कृष्ण, नील, कपोत, पीत लेश्या के मध्यम अशो में मरे हुए तिर्यंच, मनुष्य, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी व सौधर्म-ईशान स्वर्गों के मिथ्यादृष्टि देव, बादरपर्याप्त पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक जीवो में उत्पन्न होते हैं। कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याओं के मध्यम अशों के साथ मरण को प्राप्त जीव मनुष्य या तिर्यंच-तेजकायिक, वायुकायिक, विकलत्रय, असज्ञीपचेन्द्रिय और साधारण-वनस्पति मे यथायोग्य उत्पन्न होते है।

भवनत्रिक आदि सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त के देव और सातो पृथ्वी सम्बन्धी नारकी अपनी-अपनी लेश्याके अनुसार मनुष्य या तिर्यंच होते है। शुभलेश्याओ का विशेष वर्णन निम्न प्रकार है—

पीतलेश्या के जघन्य अशों के साथ मरे हुए जीव सौधर्म-ईशान स्वर्ग के ऋतु-इन्द्रकविमान अथवा श्रेणि-बद्ध विमान में जन्म लेते है। पीतलेश्याके उत्कृष्ट अशों में मृत जीव सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के अन्तिम पटल में चक्रनामक श्रेणिबद्ध विमानमें उत्पन्न होते हैं। मध्यम अशवाले जीव सौधर्म-ईशान स्वर्ग के विमलनामक इन्द्रक-विमानसे लेकर सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के बलभद्र नामक इन्द्रक विमानतक उत्पन्न होते हैं।

पद्मलेश्याके जघन्य अंशों से मरण को प्राप्त जीव सनत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्गतक जाते हैं और मध्यम अंशों में मरण करनेवाले प्राणी सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग से ऊपर शुक्र-महाशुक्र स्वर्गतक जाते हैं। उत्कृष्ट अंशों से मृत पद्मलेश्यावाले जीव नियमसे सहस्रारस्वर्ग को प्राप्त होते हैं।

शुक्ल लेश्या के जघन्य अंशसे मरण को प्राप्त जीव सहस्रार स्वर्गपर्यन्त, मध्यम अंशों से मरण को प्राप्त जीव सर्वार्थसिद्धि से पूर्वतक तथा आनतादि स्वर्ग से ऊपरतक यथासम्भव जाते हैं। शुक्ल लेश्याके उत्कृष्ट अंशों से मरे हुए जीव नियम से सर्वार्थसिद्धि विमान में जन्म लेते हैं।

इसप्रकार कषायों के प्रतिफल स्वरूप जीवों का संसार में कर्मबन्ध होता है और उसीके अनुसार फल भी पुण्य और पापरूप भोगना पड़ता है। जबतक कषाय है तब तक संसार वृद्धि होती रहती है। शुभलेश्याओं से संसारनिवृत्ति का संयोग बैठता है। जैसे व्रत, नियम, तप, संयम आदि मोक्षानुकूल पुरुषार्थ जब जीव द्वारा होता है तब मलिन वस्त्र की मलीनता किसी मलनाशक सोडा, साबुन आदि द्वारा दूर करके शुद्ध वस्त्र प्राप्त किया जाता है वैसे ही आत्मा के कर्ममल भी हटाये जाते है। ससार का कोई पुरुषार्थ ऐसा नही है जो आत्मा के साथ लगी हुई अनादिकालीन कर्मकालिमा को क्षणभर में सर्वथा नष्ट कर दे। मिथ्यात्वी जीवों के तो यह पूर्णशुद्धता प्राप्त होने का प्रश्न ही नही है, किन्तु सम्यक्त्वी जीव भी सभी लेश्याओं के केन्द्र बने रहते है। जब चारित्ररूपी साबुन का वे क्रमशः प्रयोग करते हैं तब उन्हें क्रमशः ही स्वच्छता (स्वस्वरूपता) प्राप्त होती है। राजमार्ग यही है। यह सब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की महिमा है।

।। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेभ्यो नमः ।।

लेश्या :

जीव की मानसिक दशा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

❖ ब्र० विद्युल्लता हीराचन्द शाह

[श्राविका संस्था नगर, सोलापुर]

❖ ❖ ❖ ❖

❖ ❖ ❖

❖ ❖

❖

❖ ❖

❖ ❖ ❖

❖ ❖ ❖ ❖

श्राविका-संस्थानगर सोलापुर में भगवान महावीर का अति मनोज्ञ मन्दिर है। वहां एक विशाल भित्ति-चित्र बनवाया गया है जिसे देखकर एक जैनेतर धर्मी व्यक्ति ने जिज्ञासा से प्रश्न किया कि "यह वृक्ष और ६ आदमियों का चित्र क्यों बनाया गया है ? मैंने कहा कि जरा आप ध्यान से देखिये और सोचिये इसमें संसारी जीवों की भाव दशा का कैसा विचित्र एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है।

फलों से लदे हरे भरे इस वृक्ष के नीचे और शाखाओं पर विभिन्न रगो से बनाये गये ये पुरुष जीवों के विभिन्न जातीय परिणामों के द्योतक हैं। इनमें से कोई पुरुष वृक्ष के फलों की प्राप्ति के लिए वृक्ष को जड़मूल से ही उखाड़ना चाहता है, कोई पुरुष वृक्ष को स्कध से काटकर फल प्राप्त करना चाहता है। तीसरा व्यक्ति वृक्ष की दीर्घकाय शाखाओ को काटकर फल खाने की इच्छा कर रहा है। एक पुरुष वृक्ष की छोटी-छोटी टहनियों (शाखाओं) पर लगे फलों को प्राप्त करने के लिए उन लघुकाय शाखाओं को ही गिराना चाहता है तो पांचवां व्यक्ति ऐसा भी है जो मात्र फलों को ही तोड़कर अपनी क्षुधा शांत करना चाहता है, किन्तु छठा व्यक्ति सहज गिरे हुए फलों को खाना चाहता है। इन छहों व्यक्तियों के जैसे तीव्र-मन्द कषाय परिणाम हैं उनका दिग्दर्शन कराने हेतु ही चित्र में उनके शरीर को विभिन्न रंगों में दर्शाया गया है। प्रथम पुरुष से छठे पुरुष तक सभी के मानसिक परिणामों की स्थिति उत्तरोत्तर उज्ज्वल और विशुद्ध है। जैन-दर्शन के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण 'लेश्या' को समझाने के लिए ही इसका चित्रांकन किया गया है।

मेरे इस स्पष्टीकरण से वह जैनेतरधर्मी व्यक्ति सहसा आश्चर्यान्वित हुआ और उसने अपने मनोभाव इन शब्दों में अभिव्यक्त किये—"यह चित्र तो बड़ा मनोवैज्ञानिक है और जैनदर्शन के तत्त्वज्ञान का ज्वलत दृष्टान्त है। जीव के मनोभावों की सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम छटा से स्थूल भाव छटा इस चित्रमें दर्पण की भांति स्पष्ट प्रतिबिम्बित हो रही है। मैं इस लेश्या तत्त्वका गहनतम अध्ययन करना चाहूंगा।" इसी के साथ जैनसाहित्य के उन आर्षग्रन्थों की उस व्यक्ति ने जानकारी चाही, जिन ग्रन्थों में इस विषयक निरूपण किया गया है। उसकी इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए शीघ्र ही ग्रन्थभण्डार खोलकर गोम्मटसार जीवकाण्ड, तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, पंचसंग्रह, षट्खंडागम भाग १, तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रन्थ दिखाये जिनमें हमारे आचार्यों ने 'लेश्या-मार्गणा' का विस्तृत और सूक्ष्मतम विवेचन लिपिबद्ध किया है। वह व्यक्ति तो ग्रन्थसामग्री देखकर चला गया। उसने लेश्या का गहन अध्ययन किया या नहीं, किन्तु उस प्रसंग से मुझे अवश्य प्रेरणा मिली कि मैं भी कुछ दिन 'लेश्या' विषय पर चिंतन-मननन्पटन करूं। अपनी अन्तस्प्रेरणा के अनुसार मैंने यथाशक्य पठन-मनन और चिंतन इस विषय मे किया उसीका परिणाम यह संक्षिप्त निबन्ध है जो यहां प्रस्तुत है।

लेश्या का सामान्य लक्षण :

क्रोधादि कषाय से अनुरंजित जीव की मन-वचन-काय की प्रवृत्ति भाव लेश्या है। यह प्रवृत्ति छह प्रकार की होती है और उसका निर्देश कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल इन रंगों के रूप मे किया गया है। इनमें पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभ तथा कृष्ण, नील, कापोत ये तीन अशुभ लेश्याएं है ;

> लिप्पइ अप्पीकीरइ एयाए णियय पुण्ण पावं च।
> जीवो त्ति होइ लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खाया ॥१४२॥
> जह गेरुवेण कुड्डो लिप्पइ लेवेण आम पिट्ठेण।
> तह परिणामो लिप्पइ सुहासुह य त्ति लेव्वेण ॥१४३॥

—जिसके द्वारा जीव पुण्य-पाप से अपने को लिप्त करता है, उनके आधीन करता है उसको लेश्या कहते हैं। जिसप्रकार आमपिष्ट से मिश्रित गेरु मिट्टी के लेप द्वारा दीवाल लीपी या रंगी जाती है, उसी प्रकार शुभ और अशुभ भावरूप लेप के द्वारा जो आत्मा का परिणाम लिप्त किया जाता है उसको लेश्या कहते है। अथवा—

आत्मा और कर्म का जो सम्बन्ध कराती है, उसे लेश्या कहते है।

लेश्या के भेद-प्रभेद :

द्रव्य और भाव के भेद से लेश्या दो प्रकार की है। इन दोनों ही प्रकार की लेश्याओं के छह-छह उत्तर भेद हैं।

द्रव्यलेश्या—शरीर नाम कर्मोदय से उत्पन्न द्रव्य लेश्या कहलाती है। अर्थात् वर्ण नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुआ जो शरीर का रंग है उसे द्रव्य लेश्या कहते हैं। कृष्णादि छह प्रकार के शरीरवर्णों की अपेक्षा यह द्रव्यलेश्या छह प्रकार की हैं। यथा– कृष्णलेश्या–भौरे के समान, नीललेश्या–मयूरकठ या नीलमणि सदृश, कपोतलेश्या–कबूतर के सदृश, पीत लेश्या-सुवर्ण सदृश, पद्मलेश्या–कमल सदृश और शुक्ललेश्या–शख के समान श्वेतवर्णवाली होती है।

भावलेश्या—"कषायानुरञ्जिता कायवाङ्मनोयोगप्रवृत्तिर्लेश्या" कषाय से अनुरंजित मन-वचन-कायरूप योग की प्रवृत्ति को भावलेश्या कहते हैं। अथवा—

मोहनीय कर्म के उदय, क्षयोपशम, उपशम अथवा क्षय से उत्पन्न हुआ जीव का स्पन्द भावलेश्या है। कृष्णादि के भेद से भावलेश्या भी छह प्रकार की है। भावलेश्याओं के लक्षण इसप्रकार हैं—

कृष्णलेश्या – तीव्र क्रोध करने वाला, वैर को नहीं छोड़नेवाला, लड़ना जिसका स्वभाव हो, धर्म व दया से रहित हो, दुष्ट हो, जो किसी के वश में नहीं हो, वर्तमान कार्य करने में विवेकरहित हो, कलाचातुर्य से रहित हो, पंचेन्द्रिय के विषयों में लम्पटी हो, मानी, मायावी, आलसी और भीरु हो, अपने ही गोत्रीय तथा एक मात्र स्वकलत्र को भी मारने की इच्छा करनेवाला हो ऐसा जीव कृष्णलेश्या का धारक होता है।[१]

नीललेश्या—जो बहुत निद्रालु हो, परवंचन में अतिदक्ष हो और धन-धान्य के संग्रह में तीव्र लालसा वाला हो विषयों में अत्यन्त आसक्त हो, प्रचुर मायाप्रपंच में संलग्न, लोभी तथा आहारादि संज्ञाओं में आसक्त हो अनृत भाषण करनेवाला हो अतिमानी, कार्य करने में निष्ठा रखने वाला न हो, कायरता युक्त हो और अतिचपल हो वह नीललेश्या का धारक होता है।[२]

कापोतलेश्या– जो दूसरों पर रोष करता हो, दूसरों की निन्दा करता हो, अत्यन्त दोषों से युक्त हो, भय की बहुलता से सहित हो, दूसरों से ईर्ष्या करने वाला हो, पर का पराभव करने वाला हो, स्वात्म प्रशंसक हो, कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विवेक से रहित हो, जीवन से निराश हो गया हो, दूसरों पर विश्वास न करता हो, दूसरों के द्वारा स्तुति किये जाने पर अतिसन्तुष्ट हो तथा युद्ध में मरने की इच्छा रखता हो वह कापोतलेश्या का धारक होता है।[३]

पीतलेश्या– जो अपने कर्तव्य और अकर्तव्य को, सेव्य-असेव्य को जानता हो, सभी में समदर्शी हो, दया और दान में रत हो, मृदुस्वभावी और ज्ञानी हो, दृढ़ता-मित्रता-सत्यवादिता स्वकार्यपटुता आदि गुणों से समन्वित हो, वह तेजोलेश्या (पीतलेश्या) का धारक होता है।[४]

पद्मलेश्या - जो त्यागी हो, भद्रपरिणामी हो, देव-गुरु गुण पूजन में रुचि, चोखा (सच्चा) हो, बहुत अपराध या हानि होने पर भी क्षमाशील हो, पाण्डित्य युक्त हो वह पद्मलेश्या का धारक होता है।[५]

शुक्ललेश्या—जो पक्षपात न करता हो, निदान नहीं करता हो, सबमें समान व्यवहार करता हो,पर में राग-द्वेष-स्नेह न करता हो, निर्वैर हो, पाप कार्यों से उदासीन हो, श्रेयोमार्ग में रुचि रखता हो, परनिन्दा नहीं करता हो, शत्रु के भी दोषों पर दृष्टि न देता हो वह शुक्ललेश्या का धारी है।[६]

उपर्युक्त लक्षणवाली छहों लेश्याएं यथासम्भव सभी संसारी जीवों में पायी जाती हैं। मिथ्यात्व-गुणस्थान से सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान तक कषाय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति से होने वाली लेश्याएं है तथा ११-१२-१३ वें गुणस्थान में कषायों का अभाव हो जाने पर भी योग विद्यमान होने से वहां एक शुक्ललेश्या का सद्भाव पाया जाता है। अयोगकेवली और सिद्ध भगवान् लेश्या रहित हैं, क्योंकि वहां योग का भी अभाव हो गया है। सिद्ध भगवान तो संसार से मुक्त ही हो चुके हैं।

---

१. गो जी गा. ५०९-५१० । ध. पु १ पृ. ३८८ गा. २००-२०१। ति. प. अधि २ गा २९५-९६। प्रा. प सं अ १ गा १४४-१४५। त. राज वा. इत्यादि।

२. गो. जी गा ५११। ध पु. १ पृ. ३८९ गा. २०२। ति. प. अ २, गा २९७-९८। प्रा पं सं. अ. १ गा. १४६। त रा. वा. इत्यादि।

३. गो. जी गा. ५१२-५१४। ध. पु. १ पृ. ३८९ गा. २०३-२०५। ति प. अ. २, गा. २९९-३०१। प्रा पं. स. अ. १ गा. १४७-१४८।

४. गो जी. गा. ५१५। ध. पु १ पृ ३८९ गा. २०६। प्रा. पं. स. अ. १ गा. १५०। त. राजवार्तिक इत्यादि।

५. गो जी. गा. ५१६। ध. पु १ पृ. ३९० गा २०७। प्रा पं. सं. अ. १ गा १५१। त. राजवा. इत्यादि।

६. गो जी. गा. ५१७। ध. पु. १ पृ ३९० गा. २०८। प्रा पं. सं. अ. १ गा १५२। त. राजवा. इत्यादि।

लेश्यासम्बन्धी विशेष शंका-समाधान निम्नप्रकार है—

शंका—कषाय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं यह अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस अर्थ के ग्रहण करने पर सयोगकेवली को लेश्या रहितपने की आपत्ति होती है।

समाधान—ऐसा नहीं है, सयोगकेवली के भी लेश्या पायी जाती है। कषायरहित जीवों मे भी शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त काययोग भी तो कर्मबन्ध में कारण है अत: उस योग प्रवृत्ति से ही वहां लेश्या का सद्भाव मानने में सयोगकेवली के लेश्या होती है इन वचनो का व्याघात नही पाया जाता है। तात्पर्य यह है कि कषाय तो १० वें गुणस्थान तक ही पाई जाती है आगे के गुणस्थानों में कषाय नहीं है, क्योंकि ११ वें गुणस्थान में कषायों का उपशम हो गया है तथा १२वे गुणस्थान में कषाएं क्षीण हो चुकी हैं अतः ११-१२-१३ वें गुणस्थान में कर्मलेप का कारण योग तो विद्यमान है इस अपेक्षा वहां शुक्ल लेश्या मानी है।

शंका—लेश्या को औदयिक भाव कहा गया है। ११वें-१२वे और १३वें गुणस्थान में शुक्ललेश्या है ऐसा आगम वचन है, किन्तु वहां कषायों का उदय नही होने से लेश्या को औदयिकपना नहीं बन सकता।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जो योगप्रवृत्ति कषायोदय से अनुरंजित है वही यह है, पूर्वभाव प्रज्ञापन नय की अपेक्षा उपशान्तकषायादि गुणस्थानों मे भी लेश्या को औदयिक कहा गया है।

शंका—लेश्या योग को कहते हैं अथवा कषाय को या योग और कषाय दोनों को कहते हैं? इनमें से आदि के दो विकल्प (योग और कषाय) तो मान नही सकते, क्योंकि वैसा मानने पर योग और कषाय मार्गणा मे ही उसका अन्तर्भाव हो जावेगा। तीसरा विकल्प भी नही मान सकते, क्योंकि वह आदि के दोनों विकल्पो के समान है।

समाधान—कर्मलेप रूप एक कार्य को करने वाले होने की अपेक्षा एक पने को प्राप्त हुए योग और कषाय को लेश्या माना है। यदि कहा जावे कि एकता को प्राप्त हुए योग और कषाय रूप लेश्या होने से उन दोनों में लेश्या का अन्तर्भाव हो जावेगा सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि दो धर्मों के संयोग से उत्पन्न हुए द्वयात्मक एक धर्म का केवल एक के साथ एकत्व अथवा समानता मानने में विरोध आता है। केवल योग या केवल कषाय को लेश्या नही कह सकते हैं, किन्तु कषायानुविद्ध योगप्रवृत्ति को ही लेश्या कहते है यह बात सिद्ध हो जाती है। इससे बारहवे आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागियों के केवल योग को लेश्या नही कह सकते ऐसा नहीं मान लेना, क्योंकि लेश्या में योग की प्रधानता है, कषाय प्रधान नहीं हैं, कारण कि वह योगप्रवृत्ति का विशेषण है। क्षीणकषायादि जीवों में लेश्या के अभाव का प्रसंग तो तब आता जब केवल कषायोदय से ही लेश्या की उत्पत्ति मानते।

शंका—योग और कषाय से पृथक् लेश्या मानने की क्या आवश्यकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि विपरीतता को प्राप्त हुए मिथ्यात्व, अविरति आदि के आलम्बनरूप आचार्यादि बाह्य पदार्थों के सम्पर्क से लेश्याभाव को प्राप्त हुए योग और कषायों से केवल योग और केवल कषाय के कार्य से भिन्न संसार की वृद्धि रूप कार्य की उपलब्धि है जो केवल योग और केवल कषाय का कार्य नहीं कहा जा सकता है अत: लेश्या उन दोनों से भिन्न है यह सिद्ध हो जाता है।

शंका—लेश्या का कषायों में अन्तर्भाव क्यों नही कर देते?

समाधान—यद्यपि लेश्या और कषाय दोनों औदयिक भाव हैं तथापि कषायोदय के तीव्र, मंद आदि तारतम्य से अनुरंजित लेश्या पृथक् ही है।

शंका—नारकी जीवों के अशुभ लेश्याएं ही हैं फिर वहां सम्यक्त्व कैसे सम्भव है ?

समाधान—यद्यपि नारकियों के नियम से अशुभ लेश्या है तथापि उस लेश्या में कषायों के मन्द अनुभागोदय के वश से तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप गुण के कारण परिणामरूप विशुद्धि विशेष की असम्भावना नहीं है।

इसप्रकार लेश्यामार्गणा में निर्देश, वर्ण, परिणाम, संक्रम, कर्म, लक्षण, गति, स्वामी, साधन, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन १६ अधिकारों द्वारा सिद्धान्त ग्रन्थों में अति विस्तृत कथन किया गया है। विशेष जिज्ञासुओं को धवलादि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए। करणानुयोग प्रधान सिद्धान्त ग्रन्थों में अशुद्धनय से जीव की कर्मोपाधिसहित भावावस्था का वर्णन किया गया है। विस्तार रुचि शिष्य के लिए १४ मार्गणाओं द्वारा जीव का अन्वेषण किया गया है। उन मार्गणाओं में लेश्या भी एक मार्गणा है।

छह लेश्याओं द्वारा जैनदर्शन में भावनाओं का, विचार तरंगों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, भावों का पृथक्करण अत्यन्त सरल व सूक्ष्मतम गहन दृष्टि से समझाया गया है। मन के विचारों की श्रेणियां ही जैनदर्शन में लेश्या नाम से अभिहित हैं। लेश्या मार्गणा का विस्तृत और स्पष्ट अथवा संक्षेप पठन-मनन-चिंतन करने का उद्देश्य और उसकी सार्थकता यही है कि द्रव्यदृष्टि से स्वभावतः शुद्ध आत्मा में कषायोदय का निमित्त पाकर मन-वचन-काय की सकंपता से कर्मों का जो अनादिकालीन गहनतम कर्म लेप लगा है उसे हम पृथक् करने का पुरुषार्थ करें। कषाय अथवा लेश्या आदि रूप औदयिक भावों का स्वरूप जानकर यह निर्णय करे कि ये औदयिकादि भाव हमारी आत्मा का अहित करनेवाले है आत्मा के लिए उपादेय नहीं है और निर्णयकर औदयिक भावों को छोड़ने के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप भेद-अभेद रत्नत्रय को स्वीकार कर आत्मा की शुद्धदशा पर लगी कर्मकालिमा को दूर करते हुए अलेश्यभाव को परम पारिणामिक भाव स्वरूप चैतन्यदशा को प्राप्त करें।

❖ आर्यिका १०५ श्री विशुद्धमती माताजी

[प० पू० १०८ आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज की शिष्या]

अनन्तानन्त आकाश के मध्य में लोक है, इसका आकार पुरुषाकार है। ऊर्ध्व, मध्य और अधो लोक के भेद से वह तीन प्रकार का है, इनमें मध्य लोक पूर्व-पश्चिम एक राजू लम्बा, उत्तर-दक्षिण सात राजू मोटा एवं एक लाख ४० योजन ऊँचा है। इस मध्यलोकमें सर्व प्रथम एक लाख योजन (४०००००००० मील) विस्तार (व्यास) वाला थाली के आकार का जम्बूद्वीप है, इसे वेष्टित किए हुए दो लाख योजन विस्तार वाला लवण समुद्र है, इसी प्रकार एक दूसरे को (द्वीप को समुद्र और समुद्र को द्वीप) वेष्टित किये हुए एक दूसरे से दूने-दूने विस्तार वाले असंख्यातों द्वीप और असंख्यातों समुद्र है, इन समस्त द्वीप समुद्रों के ऊपर अर्थात् मध्य लोक में ज्योतिर्वासी (चन्द्रसूर्यादि) देवों का अवस्थान है। विशेष इतना है कि अढ़ाई द्वीप सम्बन्धी चन्द्र सूर्य सुदर्शन मेरु की प्रदक्षिणा स्वरूप नित्य गमन करते हैं और शेष द्वीप समुद्र सम्बन्धी ग्रह अवस्थित हैं। यहाँ प्रधानतः जम्बूद्वीप सम्बन्धी ज्योतिर्वासी देवों का वर्णन किया जा रहा है।

जो देवगति नाम कर्म का उदय होने पर नाना प्रकार की बाह्य विभूतियों एवं अणिमादि आठ गुणों से युक्त होते हुए द्वीप समुद्रादि अनेक स्थानों में इच्छानुसार नित्य क्रीड़ा करते हैं, वे देव कहलाते हैं। भवनवासी, व्यन्तरवासी, ज्योतिर्वासी और वैमानिकों के भेद से ये चार प्रकार के होते हैं, इनमें से चन्द्र-सूर्यादि ही ज्योतिर्वासी देव हैं और यहां उन्हीं का कथन प्रयोजनीय है।

ज्योतिर्मय स्वभाव होने के कारण इन देवों की सामान्य संज्ञा ज्योतिषी है, अर्थात् इनके विमान चमकीले हैं इसलिए इन्हें ज्योतिषी देव कहते हैं तथा चन्द्र-सूर्य आदि इनके विशेष नाम हैं।

चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा के भेद से ज्योतिर्वासी देव पांच प्रकार के होते हैं इन पांचों प्रकार के देवों के विमान लोक के अन्त में पूर्व-पश्चिम दिशागत घनोदधि वातवलय का स्पर्श करते हुए अवस्थित हैं, किन्तु उत्तर-दक्षिण दिशागत लोक को स्पर्श नहीं करते है।

ज्योतिर्विमान :

ये सब ज्योतिर्विमान अर्धगोले के सदृश ऊर्ध्वमुख स्थित हैं, अर्थात् जैसे गेंद के आकार वाली एक गोल वस्तु के मध्य से दो खण्ड करके उन्हें ऊर्ध्व मुख रखा जावे तो चौड़ा भाग ऊपर और गोलाई वाला संकरा भाग नीचे रहता है, उसी प्रकार इनकी अवस्थिति है। इन विमानों का मात्र नीचे वाला गोलाकार भाग ही हमारे द्वारा दृश्यमान है शेष भाग नहीं।

सूर्य विमान :

पृथ्वी के परिणाम स्वरूप अत्यन्त चमकीली धातु से बना है, अकृत्रिम है, इसका वर्ण मणिमय है। इस सूर्य के बिम्ब में स्थित पृथ्वीकायिक जीवों के आतप नामकर्म का उदय होने से उसकी किरणें चमकती हैं, तथा उसके मूल में उष्णता न होकर किरणों में ही उष्णता होती है। सूर्य की किरणें १२००० प्रमाण है। सूर्य विमान के व्यास का प्रमाण $\frac{४८}{६१}$ योजन (३१४७$\frac{३३}{६१}$ मील) तथा मोटाई $\frac{२४}{६१}$ योजन (१५७३$\frac{४७}{६१}$ मील) है। सूर्य के विमान को पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में क्रमशः सिंह, हाथी, बैल और घोडो के रूप को धारण करने वाले वाहन जाति के चार-चार हजार देव ले जाते है।

चन्द्र विमान :

चन्द्र विमान भी पृथ्वीकायिक हैं, इसमे स्थित पृथ्वीकायिक जीवों के उद्योत नामकर्म का उदय होता है अतः इसके मूल एवं किरणों में सर्वत्र शीतलता पाई जाती है। चन्द्र विमान की किरणों का प्रमाण १२००० है। इसका व्यास $\frac{५६}{६१}$ योजन (३६७२$\frac{८}{६१}$ मील) और बाहुल्य $\frac{२८}{६१}$ योजन (१८३६$\frac{४}{६१}$ मील) है। चन्द्र विमान को भी चारों दिशाओं में क्रमशः चार-चार हजार सिंह, हाथी, बैल तथा घोड़ो के रूप को धारण करने वाले देव ले जाते है।

शुक्र विमान :

भी पृथ्वी कायिक है, इसमें रहने वाले जीवों के उद्योत नाम कर्म का उदय है। यह विमान रजतमयी अर्थात् चांदी से निर्मित है, किरणे २५०० हैं। विमान का विस्तार एक कोश (१००० मील) और मोटाई इससे आधी (५०० मील) है।

बृहस्पति विमान :

स्फटिक मणि सदृश पृथ्वी से निर्मित हैं, पृथ्वीकायिक जीवों के उद्योत नामकर्म का उदय है। किरणे अतिमन्द है। व्यास एवं बाहुल्य शुक्र विमान सदृश है।

बुध विमान :

स्वर्णमय चमकीले हैं, किरणे शीतल एवं मन्द हैं,

मंगल विमान :

पद्मरागमणि से निर्मित लाल वर्ण वाले है, किरणें मन्द हैं,

शनि विमान :

स्वर्णमय पृथ्वी से निर्मित हैं, किरणें मन्द हैं. इन तीनों विमानों में रहने वाले पृथ्वीकायिक जीवों के भी उद्योत नामकर्म का उदय है। तीनों का व्यास आधा-आधा कोश (५००-५०० मील), और बाहुल्य इसके अर्ध प्रमाण है। इन तीनों के वाहन देव प्रत्येक दिशा में दो-दो हजार हैं।

नक्षत्रों के विमान :

विविध रत्नों से निर्मित तथा मन्द किरणों से युक्त हैं। व्यास १००० मील और मोटाई ५०० मील है। ताराओं के विमान उत्तम उत्तम रत्नों से निर्मित तथा मन्द मन्द किरणों से युक्त हैं। उत्कृष्ट ताराओं का व्यास एक कोश, मध्यम का ३/४ एवं १/२ कोश और जघन्य का १/४ कोश प्रमाण है तथा बाहुल्य व्यास का अर्ध-अर्ध है। नक्षत्र विमानों को प्रत्येक दिशा मे एक-एक हजार तथा ताराओं के विमानो को ५००-५०० सिंह, हाथी, बैल एवं घोड़ों के रूप धारी देव ले जाते है।

चन्द्र-सूर्य आदि सभी ज्योतिर्देवों के विमानो के मध्य में उत्तम वेदी सहित एक एक राजाङ्गण (मध्यवर्ती आंगन) है। राजाङ्गण के ठीक मध्य में एक एक रत्नमय दिव्य कूट है, उन प्रत्येक कूटों पर चार-चार तोरण द्वारो से युक्त एक एक जिन मन्दिर है, जो उत्तम वज्रमय किवाड़ों से युक्त, मोती एवं स्वर्णमय मालाओं से रमणीक, दिव्य चन्द्रदीपकों से सुशोभित, अष्टमहामगल द्रव्यों से समन्वित और विविध प्रकार के दिव्य वाद्यों से नित्य शब्दायमान है। उन जिन मन्दिरों में तीन छत्र, सिंहासन, भामण्डल और चामरो से युक्त अकृत्रिम जिन प्रतिमाएँ विराजमान हैं, तथा जिनेन्द्र प्रतिमाओं की दोनों बाजुओ (अगल-बगल) में श्रीदेवी, श्रुतदेवी, सर्वाण्ह यक्ष तथा सनत्कुमार यक्ष की मूर्तियां भी विराजमान है।

प्रगाढ़ भक्ति से भरे समस्त देव उत्तम जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलों से नित्य भगवान की पूजन करके सातिशय पुण्य सचय करते है।

चन्द्र भवन :

इन जिन मन्दिरों के चारों ओर अर्थात् राजाङ्गण के चारों कोनों पर समचतुष्कोण, लम्बे और नाना प्रकार के विन्यास से रमणीय चन्द्र के प्रासाद है, जिनमें कितने ही प्रासाद मरकत वर्ण के, कितने ही कुन्द-पुष्प, चन्द्र, हार एवं बर्फ जैसे वर्ण वाले हैं, कोई स्वर्ण सदृश और कोई मूंगा सदृश वर्ण वाले भी हैं, इन प्रासादों में उपपाद गृह, स्नानगृह, भूषणगृह, मैथुन शाला, क्रीड़ा शाला, मन्त्रशाला तथा सभा भवन आदि भी हैं। ये प्रासाद सात–आठ मंजिल ऊँचे, उत्तम परकोटों एवं विचित्र गोपुरों से संयुक्त, मणिमय तोरणोंसे रमणीक, चित्रमयी दीवालों से संयुक्त, विचित्र उपवन वाटिकाओं एवं सुवर्ण मय विशाल खम्भों से शोभायमान, शयन–आसन आदि सामग्रियों से परिपूर्ण दिव्य धूप की गध से व्याप्त तथा अनुपम एवं शुद्ध रूप, रस, गंध आदि पंचेन्द्रियों को सुख देने में समर्थ हैं।

इन चन्द्र भवनों के मध्य में मणिमय सिंहासन पर चन्द्रदेव रहते है। चन्द्र की अग्र-महिषी ४ हैं, चन्द्राभा, सुसीमा, प्रभंकरा और अर्चिमालनी। सूर्यदेव की भी द्युति-श्रुति, प्रभंकरा, सूर्यप्रभा और अर्चिमालनी नाम की चार अग्रमहिषी हैं। चन्द्र-सूर्य की इन एक-एक प्रधान देवियों की ४-४ हजार परिवार देवियां हैं एवं एक-एक अग्रमहिषी विक्रिया से ४–४ हजार प्रमाण रूप बना लेतीं हैं।

चन्द्र का परिवार :

ज्योतिर्लोक का इन्द्र (राजा) चन्द्रदेव है। एक चन्द्रदेव के परिवार में सूर्य प्रतीन्द्र (युवराज) है, सामानिक (पत्नी सदृश) देव, तनुरक्षक (अंग रक्षक सदृश), पारिषद (सभासदो के सदृश), अनीक (सेना

सदृश), प्रकीर्णक (व्यापारी सदृश), आभियोग्य (दास दासी सदृश), किल्विषिक (गा बजाकर आजीविका चलाने वालों के सदृश) तथा ८८ ग्रह, २८ नक्षत्र और ६६९७५ कोड़ाकोड़ी तारे होते हैं।

इन सभी ज्योतिर्देवों का जन्म उपपाद गृह में उपपाद शय्या पर होता है, अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनिट से कम समय) में ही पर्याप्त एवं नवयौवन सम्पन्न हो जाते है। जन्म होने के बाद स्नान करके सर्व प्रथम भगवान जिनेन्द्र की पूजन करते हैं। समचतुरस्र संस्थान शरीर के धारी इन देवों के शरीर में हड्डी, नस, रुधिर, चर्बी, मल, मूत्र, केश, रोम, चमड़ा और मांस आदि तथा दाढ़ी मूंछ आदि नहीं होते। देव कभी वृद्धावस्था को प्राप्त नहीं होते, इनके नेत्रों में टिमकार नहीं होता। इनके शरीर का निर्माण वैक्रियक दिव्य स्कन्धों से होता है अतः इनके शरीर में कभी रोग उत्पन्न नहीं होते। ये देव अमृतमय, दिव्य, अनुपम एवं तुष्टि-पुष्टि कारक मानसिक आहार करते हैं। इनका शरीर सात धनुष (२८ हाथ) का होता है। ये स्त्री-पुरुषों के सदृश काम सेवन करते हैं। इनमें चन्द्र देव की उत्कृष्ट आयु एक पल्य-एक लाख वर्ष, सूर्य की एक पल्य, एक हजार वर्ष, शुक्र की एक पल्य १०० वर्ष, गुरु की एक पल्य, बुध, मंगल और शनि आदि की आधा-आधा पल्य, नक्षत्रों और ताराओं की उत्कृष्टायु पाव-पाव पल्य एवं जघन्यायु पल्य के आठवें भाग है। सूर्यादिकों की जघन्य आयु ¼ पल्य प्रमाण है। समस्त ज्योतिष्क देवांगनाओं की आयु अपने अपने (भर्तार) देवों की आयु के अर्धभाग प्रमाण होती है।

ज्योतिर्देवों का अवस्थान :

इस मध्यलोक की जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं, उसका नाम चित्रा पृथ्वी है। मध्य लोक के ठीक मध्य में सुदर्शन मेरु पर्वत है। सुदर्शन मेरु को ११२१ योजन (४४,८४००० मील) छोड़कर अर्थात् मेरु पर्वत से ११२१ योजन दूर और चित्रा पृथ्वी से ७९० योजन (३१,६०,००० मील) ऊपर तारागण स्थित हैं, ताराओं से दश योजन अर्थात् ८०० योजन (३२,००,००० मील) ऊपर सूर्य, सूर्य से ८० योजन अर्थात् ८८० योजन (३५,२०.००० मील) ऊपर चन्द्र, इससे ४ योजन अर्थात् ८८४ योजन (३५३६००० मील) ऊपर नक्षत्र, (८८४+४) =८८८ यो० (३५,५२,००० मील) ऊपर बुध, (८८८+३=) ८९१ यो० (३५,६४,००० मील) ऊपर शुक्र, (८९१+३=) ८९४ योजन (३५७६००० मील) ऊपर गुरु, ८९७ योजन (३५,८८,००० मील) ऊपर मंगल और ९०० योजन (३६,००,००० मील) ऊपर शनि ग्रह स्थित है।

इस प्रकार चित्रा पृथ्वी से ७९० योजन ऊपर जाकर और मेरु से ११२१ योजन हटकर (दूर) एक राजू लम्बा, एक राजू चौड़ा और (१०+८०+४+४+३+३+३+३) =११० योजन (४,४०,००० मील) मोटा आकाश क्षेत्र ज्योतिषी देवों के निवास करने व संचार करने का स्थान है, इससे ऊपर नीचे या बाजू आदि में नहीं।

राहु-केतु ग्रहों का अवस्थान आदि :

अरिष्ट मणि से निर्मित राहु-केतु के विमानों का वर्ण अञ्जन सदृश व्यास कुछ कम एक-एक योजन, बाहुल्य कुछ कम अर्ध-अर्ध योजन और अवस्थान चन्द्र-सूर्य के विमानों के नीचे है। अर्थात् राहु के विमान की ध्वजा दण्ड से चार प्रमाणांगुल [आठ जौ का एक उत्सेधांगुल, व्यवहारांगुल या सूच्यंगुल होता है; तथा पाँच सौ उत्सेधांगुलों का एक प्रमाणांगुल होता है। यह प्रमाणांगुल अवसर्पिणी काल के भरत (प्रथम) चक्रवर्ती का एक अंगुल है] ऊपर चन्द्र का विमान और केतु विमान की ध्वजा दण्ड से चार प्रमाणांगुल ऊपर सूर्य का विमान है।

अन्य ग्रहों का अवस्थान :

सम्पूर्ण ग्रह ८८ हैं, उनमे से बुध, शुक्र, गुरु, मंगल और शनि इन पांच ग्रहों को छोड़ कर शेष ८३ ग्रहों की ८३ नगरियाँ बुध और शनि ग्रह के अन्तराल में अवस्थित हैं।

चारक्षेत्र :

चन्द्र-सूर्य के गमन करने के मार्ग को चार क्षेत्र कहते हैं। अर्थात् आकाश के जितने भाग में ये गमन करते हैं, उस सीमा का नाम चारक्षेत्र है। जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्र हैं, इन दो-दो चन्द्र सूर्य का एक-एक चार क्षेत्र है। यह चारक्षेत्र ५१० ४८/६१ योजन (२०४३१४७ १३/६१ मील) चौड़ा और परिधि प्रमाण लम्बा है, विशेष इतना है कि जम्बूद्वीप के चार क्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप में तो मात्र १८० योजन (७२०००० मील) है शेष ३३० ४८/६१ योजन विस्तार लवण समुद्र में है। इस ५१० ४८/६१ योजन प्रमाण वाले चार क्षेत्र में चन्द्रमा की १५ गलियाँ हैं। प्रत्येक गली का विस्तार चन्द्र बिम्ब के प्रमाण ५६/६१ योजन (३६७२ ८/६१ मील) सदृश है तथा एक गली (वीथी) से दूसरी गली का अन्तर ३५ ३०/६१ ४/७ योजन (१४२००४ ३/४ १२/६१ मील) है। प्रतिदिन दोनों चन्द्र आमने-सामने रहते हुए एक-एक गली का परिभ्रमण पूर्ण करके दूसरी गली में चले जाते हैं। अर्थात् एक चन्द्र पूर्वदिशागत अर्धगली में और दूसरा चन्द्र पश्चिम दिशागत अर्ध गली में पक्तिक्रम से संचार करते हैं शेप अर्धभाग में नहीं जाते।

सूर्य के चार क्षेत्र का प्रमाण भी ५१० ४८/६१ योजन प्रमाण है. इसमें सूर्य की १८४ गलियाँ हैं, प्रत्येक गलीका विस्तार सूर्य बिम्ब के प्रमाण सदृश ४८/६१ योजन (३१४७ १३/६१ मील) है, तथा एक गली से दूसरी गली का अन्तराल २ योजन (८००० मील) है। प्रतिदिन दोनों सूर्य एक-एक गली मे आमने-सामने रहते हुए एक-एक गली को पूर्ण करके दूसरी गली मे जाते है।

अभ्यन्तर (प्रथम) गली की परिधि का प्रमाण ३,१५,०८९ योजन (१,२६,०३,५६००० मील) है। दो सूर्य इस परिधि को एक दिन-रात्रि में पूर्ण करते हैं, जब एक सूर्य भरत क्षेत्र में रहता है, तब दूसरा उसके ठीक सामने ऐरावत क्षेत्र में रहता है, अत: उस समय भरत-ऐरावत क्षेत्रों में दिन और पूर्व-पश्चिम विदेह मे रात्रि रहती है, किन्तु जब परिभ्रमण करते हुए ऐरावत क्षेत्र का सूर्य पूर्व विदेह में और भरत क्षेत्र का सूर्य पश्चिम विदेह मे आ जाते है तब इन दोनों क्षेत्रों मे दिन और भरतैरावत क्षेत्रों मे रात्रि रहती है। जब सूर्य प्रथम वीथी में रहता है तब भरतैरावतक्षेत्र मे दिन १८ मुहूर्त (१४ घण्टे २४ मिनिट) का एवं रात्रि १२ मुहूर्त (९ घ. ३६ मि०) की होती है और जब सूर्य प्रथम वीथी को पूर्ण कर दो योजन प्रमाण अन्तराल के मार्ग को पार करता हुआ दूसरी गली में जाता है, तब दूसरी गली का प्रमाण उसे १७ ३८/६१ योजन (७०४९१ ४९/६१ मील) अधिक मिलता है और मेरु से भी सूर्य की दूरी कुछ अधिक और बढ जाती है अत: दूसरे दिन २/६१ मुहूर्त (१ ३५/६१ मिनिट) दिन घट जाता है और रात्रि बढ जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक परिधि में प्रतिदिन १ ३५/६१ मिनिट दिन घटता जायगा और रात्रि बढती जायेगी। इसी प्रकार परिभ्रमण करते हुए जब सूर्य मध्य की ९२ वी गली मे पहुँचता है तब १५ मुहूर्त (१२ घण्टे) का दिन और १५ मुहूर्त (१२ घण्टे) की रात्रि होती है। इसी प्रकार प्रत्येक गली में प्रतिदिन २/६१ मुहूर्त अर्थात् १ ३५/६१ मिनिट घटते घटते अन्तिम गली में पहुँचने पर १२ मुहूर्त (९ घण्टे ३६ मिनिट) का दिन और १८ मुहूर्त (१४ घण्टे २४ मिनिट) की रात्रि हो जाती है।

श्रावण मास में सूर्य कर्क राशि पर विचरण करते हुये प्रथम गली में रहता है। कार्तिक एवं वैशाख मास में मध्य की ९२ वीं गली में रहता है तथा मकर राशि का सूर्य माघ मास मे अन्तिम गली में रहता है। प्रथम गली की परिधि का प्रमाण ३१५०८९ योजन (१२६०३५६००० मील) है, इस गली में सूर्य एक मिनिट में ४३७६२३ २३/६० मील चलता है। मध्यम (९२ वीं) वीथी की परिधि का प्रमाण ३१६७०२ योजन (१२६६८०८००० मील) है, इसमें सूर्य एक मिनिट में ४३९८६३ २/३ मील चलता है। अन्तिम (बाह्य) वीथी की परिधि का प्रमाण ३१८३१४ योजन (१२७३२५६००० मील) है, इस वीथी में सूर्य एक मिनिट में ४४२१०२ २/९ मील चलता है।

ताप का प्रमाण :

अभ्यन्तर (प्रथम) वीथी में स्थित सूर्य का प्रकाश उत्तर दिशा में ४९,८२० योजन (१९,९२,८०,००० मील) तक, दक्षिण दिशा में लवण समुद्र के छठवें भाग पर्यंत अर्थात् ३३,५१३ १/३ योजन (१४,२०,५३,३३३ १/३

मील) तक, ऊपर ज्योतिर्लोक पर्यन्त अर्थात् १०० योजन (४,००,००० मील) तक और नीचे १८०० योजन (७२,००,००० मील) तक फैलता है।

दक्षिणायन-उत्तरायण :

अभ्यन्तर वीथी से प्रारम्भ कर बाह्य वीथी पर्यन्त गमन करने में सूर्य को ६ माह लगते हैं, और यह समय दक्षिणायन कहलाता है, इसी प्रकार बाह्य वीथी से अभ्यन्तर वीथी पर्यन्त के परिभ्रमण में भी छह माह लगते हैं, अतः यह समय उत्तरायण कहलाता है।

अधिक मास होने का कारण :

जब सूर्य एक वीथी से दूसरी वीथी में प्रवेश करता है तब मध्य के दो योजन (८००० मील) के अन्तराल को पार करता हुआ ही जाता है। प्रत्येक दिन एक एक अन्तराल को पार करता है जिसमें उसे एक मुहूर्त (४८ मिनिट) अधिक लगते है। अर्थात् एक दिन में ४८ मिनिट की ३० दिन में एक दिन, एक वर्ष मे १२ दिन की, अढ़ाई वर्ष मे एक मास की वृद्धि होती है, इसीलिए प्रत्येक अढ़ाई वर्ष में एक लौद का मास होता है।

चन्द्र का एक मिनिट का गमन क्षेत्र :

चन्द्र की प्रथम वीथी की परिधि का प्रमाण ३,१५,०८९ योजन (१२६,०३,५६,००० मील) है, इसे पूर्ण करने मे चन्द्र को ६६$\frac{२३}{२२१}$ मुहूर्त (कुछ कम २५ घण्टे) लगते हैं। इसका त्रैराशिक लगाने पर चन्द्र प्रथम वीथी मे एक मिनिट में ४२२७९७$\frac{३}{१३२६०}$ मील चलता है। बाह्य पथ की परिधि का प्रमाण ३१८३१४ योजन (१२७३२५६००० मील) है, इसमे चन्द्र एक मिनिट में ४३१६७८$\frac{२७४}{१३२६०}$ मील चलता है।

चन्द सूर्यादि का गमन :

चन्द्र सूर्य की प्रथम वीथी से आगे आगे की वीथियों का प्रमाण वृद्धिगत होता गया है और वापिस लौटते हुए बाह्य वीथी से प्रत्येक वीथी का प्रमाण क्रमशः हीन होता गया है, चन्द्र इन छोटी, बड़ी प्रत्येक वीथियों को ६६$\frac{२३}{२२१}$ मुहूर्त (कुछ कम २५ घंटे) में और सूर्य ६० मुहूर्त (२४ घंटे) में नियम से पूर्ण कर लेते हैं, कारण कि ये अभ्यन्तर वीथियो में हाथी की चाल के सदृश अत्यन्त मन्द गति से चलते हैं, और जैसे-जैसे आगे की वीथियों मे पहुँचते जाते है, वैसे ही गति क्रमशः तेज होते हुए मध्यम वीथियों में अश्व सदृश और अन्तिम वीथियों मे सिंह सदृश तेज गति से चलने लगते है, वापिस लौटते हुए भी गति इसी क्रम मे मन्द मन्द होती जाती है।

कृष्णपक्ष-शुक्लपक्ष का क्रम :

चन्द्र विमान का विस्तार $\frac{५६}{६१}$ योजन ३६७२$\frac{८}{६१}$ मील) है। चन्द्रमा की कुल १६ कलाएँ होती है। एक कला का विस्तार २२९$\frac{३१}{६१}$ मील का है। नेमिचन्द्राचार्य के मत से प्रतिदिन चन्द्र की एक-एक कला कृष्ण रूप परिणमन करती जाती है। १५ दिन बाद जब मात्र एक कला श्वेत रूप बचती है तब उसे अमावस्या कहते हैं। प्रतिपदा से पुनः एक-एक कला श्वेत रूप परिणमन करती है तब चन्द्र १५ दिन में क्रमशः शुक्ल रूप होते हुए पूर्ण शुक्ल हो जाता है, इसे पूर्णिमा कहते है।

अन्य-मतानुसार :

अञ्जन वर्ण राहु विमान के ध्वजा दण्ड से चार प्रमाणांगुल ऊपर चन्द्र विमान है। राहु का विमान प्रतिदिन एक-एक वीथी में पन्द्रहकला पर्यन्त चन्द्र बिम्ब के एक-एक भाग को आच्छादित करता है, जो कृष्णपक्ष

कहलाता है, पुनः वही राहु प्रतिपदा से एक-एक वीथि में अपने गमन विशेष के द्वारा पूर्णिमा पर्यन्त एक-एक कला को छोड़ता जाता है, जो शुक्ल पक्ष कहलाता है ।

चन्द्र ग्रहण-सूर्य ग्रहण :

राहुका विमान चन्द्र विमान के नीचे और केतु का विमान सूर्य विमान के नीचे गमन करते हैं अपनी गति विशेषों के द्वारा प्रत्येक छह माह बाद पर्व के अन्त में अर्थात् राहु का विमान चन्द्र विमान को पूर्णिमा के दिन और केतु का विमान सूर्य विमान को अमावस्या के दिन आच्छादित कर लेते हैं; इसीको क्रमशः चन्द्र ग्रहण और सूर्य ग्रहण कहते हैं ।

गमन विशेष :

चन्द्रमा सबसे मन्द गति वाला है । चन्द्र से शीघ्र गति सूर्य की, इससे शीघ्र गति ग्रहों की, ग्रहों से शीघ्र गति नक्षत्रों की और नक्षत्रों से भी अधिक शीघ्र गति ताराओं की है ।

सुदर्शन मेरु से चन्द्र सूर्य की दूरी, एक चन्द्रसे दूसरे चन्द्र की, एक सूर्य से दूसरे सूर्य की, सूर्य से चन्द्रों की, तारागणों आदि की दूरी का प्रमाण; परिधि प्रमाण आकाश के कुल गगन खण्ड, प्रत्येक नक्षत्रों के गगन खण्ड, सूर्य, चन्द्र, राहु आदि के द्वारा इन गगन खण्डों का भुक्तिकाल तथा उत्तरायण-दक्षिणायन सूर्य की आवृत्तियों के वर्ष, मास, तिथि एवं नक्षत्रों आदि का तथा ज्योतिर्लोक सम्बन्धी अन्य सभी विषयों का सांगोपांग वर्णन त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ति, लोक विभाग एवं राजवार्तिक आदि ग्रंथों से जानना चाहिये तथा चन्द्र सूर्य आदि के विषय-जन्य लोक प्रचलित मिथ्याभ्रान्ति का परित्याग करना चाहिए ।

समय चिन्तामणि है, कामधेनु है, वाञ्छित धन है । उससे कुछ भी मांगो पा जाओगे । समय श्रमाग्नि में तपकर सुवर्ण बन जाता है, अवसर की सीपी में गर्भधारण कर मुक्ताफल हो जाता है, दुरधिगम समुद्र को मथकर रत्नराशि निकाली जाती है । संसार में जो कुछ किया गया है तथा किया जा सकता है, वह समय द्वारा ही सम्भव है ।

द श ल क्ष ण धर्म

❖ प्रीति जैन

[जयपुर]

धर्म क्या है ? यह एक सार्वभौमिक व सार्वकालिक प्रश्न है । समय-समय पर, देश-काल-वातावरण के अनुसार चिन्तन-मनन के आधार पर इस प्रश्न के विभिन्न उत्तर दिये गये हैं। कुछ चिन्तकों ने दया को धर्म माना, कुछ ने दान को, किसी ने कहा कि परोपकार ही धर्म, तो किसी ने क्रिया-काण्ड को धर्म की संज्ञा दी । इस प्रकार धर्म की अनेकों परिभाषाये दी गई । इन सब परिभाषाओं के आधार पर धर्म एक बाह्य दुनियादारी का विषय बन कर सामने आता है । ऐसी परिभाषाओ के आधार पर 'धर्म' अत्यन्त सीमित होकर रह जाता है । गहराई से विचार करने पर ज्ञात होता है कि ऐसी सभी परिभाषायें एकांगी हैं, पूर्ण नहीं हैं। 'दया धर्म है' यह तथ्य सही है, परिभाषा गलत नही है पर क्या यह परिभाषा पूर्ण है ? क्या धर्म दया में ही सीमित है ? धर्म की परिधि मे परोपकार, दान आदि का समावेश नही है ? 'दया धर्म है' यदि यह परिभाषा पूर्ण है तो 'परोपकार' धर्म है । यह परिभाषा गलत है ? नही यह परिभाषा भी सही है, पर यह भी एकांगी है, अपूर्ण है । वस्तुत: ये परिभाषाएं धर्म के एक एक अंश की व्याख्या करती हैं अत: धर्म के बाहर नहीं हैं ।

धर्म अत्यन्त विशाल व विस्तृत विषय है । वह परिभाषाओं की सीमाओं मे सिमटने वाला नही, वह अनुभूति का विषय है । विश्व की प्रत्येक वस्तु का अपना एक धर्म है । चाहे चेतन सत्ता हो या अचेतन सत्ता, सब अपने-अपने धर्म से अनुप्राणित हैं । अत: धर्म की परिभाषा चेतन-अचेतन सभी के सन्दर्भ मे पूर्ण होनी चाहिए । उपरोक्त परिभाषाएं इस दृष्टि से भी अपूर्ण व एकांगी ठहरती है, क्योकि, परोपकार-दान-दया-क्रियाकाण्ड आदि केवल चेतन सत्ताओं के सन्दर्भ मे ही धर्म सिद्ध हो सकते हैं, अचेतन सत्ताओं के सन्दर्भ में नहीं ।

जैनाचार्यों ने अपने अनुभव चिन्तन व मनन के आधार पर कहा-'वत्थु सहावो धम्मो'-वस्तु का स्वभाव ही धर्म है । धर्म की यह परिभाषा अत्यन्त विस्तृत, विशाल व परिष्कृत है । यह परिभाषा चेतन-अचेतन दोनो सत्ताओं के सन्दर्भ में पूर्ण है ।

वस्तु का अपना स्वभाव अपना गुण ही उसका धर्म है। जैसे अग्नि का स्वभाव है उष्णता और जल का स्वभाव है शीतलता, यही इनके धर्म हैं। वस्तु के स्वभाव (स्व–भाव) का अभाव किसी भी परिस्थिति में सम्भव नहीं है, किन्तु अपने स्वभाव से विपरीत स्वभाव वाली वस्तु का संयोग पाकर वह विभावरूप हो सकती है। विभाव-परिणमन, स्वभाव से किंचित् स्खलन जैसा परिणमन वस्तु के स्व व पर दोनों के लिए घातक है। अग्निके संयोग से शीतल जल उष्ण हो जाता तो वह तृषा शान्त नहीं कर पाता।

हम संसारी प्राणी भी पर पदार्थ (पुद्गल-कर्म) के संयोग के कारण विभावरूप परिणमन कर रहे हैं। हम अपने ज्ञान, आनन्द, सुख आदि स्वभाव को भूल रहे हैं और क्रोध-मान-माया व लोभ कषायों में आर्त्तरौद्र ध्यान में ही झूल रहे हैं। प्रतिक्षण, हमारा चिन्तन-मनन, वृत्ति-प्रवृत्ति, दृष्टिक्रिया अर्थात् प्रत्येक गतिविधि सांसारिक वस्तुओं की ओर ही समर्पित है। परिणाम-स्वरूप अत्यन्त दु:खी हो रहे है और सुख के आकांक्षी हैं। सुख, प्राणी मात्र का चिर-अभीप्सित लक्ष्य है। सुख प्राणी का स्वभाव है, धर्म है। जब हम विभाव से मुड़कर स्वभाव में स्थित होंगे तभी सुखी हो सकेंगे।

प्राणी का स्वभाव विविधरूपा है। हमारे तीर्थंकरों ने, आचार्यों ने, विद्वानों-मनीषियों ने प्राणी मात्र को अपने स्वभाव में स्थित कराने हेतु स्वभाव को अत्यन्त सहज व सरल रूप में समझाया है। उन्होने जीव को लक्ष्य करके स्वभाव के, धर्म के लक्षण समझाए हैं, जिससे वह सहज रूपसे उन्हें समझे और विभाव से स्वभाव की ओर प्रवृत्त हो सके। उन्होंने आत्म-धर्म के दश लक्षण समझाए हैं–क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य व ब्रह्मचर्य। ये धर्म के दशलक्षण हैं। अत: इन्हें भी धर्म कहा जाता है। इनके धारण करने से प्राणी विभाव से मुक्त हो कर स्वभाव में स्थित हो जाते हैं अत: धारण करने के कारण से इन्हें धर्म कहा जाता है।

सांसारिक प्राणी कषायादि विभाव में ही अत्यन्त फंस रहा है, स्वभाव की ओर उसकी दृष्टि ही नहीं जाती, स्वरूप की ओर उसका ध्यान ही नहीं है। कुछ विशेष अवसरों पर ही वह अपने पुरुषार्थ द्वारा कषायों को मंद-मंदतर व मंदतम करने का प्रयास करे इस अभिप्राय से सदैव भाद्रपद शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक धर्म के इन दशलक्षणों की आराधना हेतु 'दशलक्षण पर्व' भी मनाया जाता है। पर्व का अर्थ है, विशेष अवसर, पुण्यकाल, जीने की सीढी। सामान्यत: पर्व का प्रचलित अर्थ है—उत्सव, जिसमें आमोद-प्रमोद व खानपान पर ही महत्व दिया जाता है। पर दशलक्षणपर्व खान-पान व आमोद-प्रमोद का पर्व नहीं है, यह आध्यात्मिक पर्व है, आत्माराधना का पर्व है। हमारे यहां मात्र आमोद-प्रमोद व खानपान हेतु ही पर्वों की स्थापना नहीं की गई, अपितु विभाव से स्वभाव की ओर, अनात्मा से आत्मा की ओर प्रवृत्ति हेतु भी पर्वों की स्थापना की गई है। वस्तुत: वास्तविक पर्व ही वे हैं जिनमें आत्माराधना का महत्व है, वह पुण्यकाल जिसमें आत्मा की ओर, स्वभाव की ओर प्रवृत्ति हो वही वास्तविक पुण्यकाल है।

ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार पर्व का अर्थ है –'पूर्णिमा' अर्थात् वह दिन जिस दिन चन्द्रमा अपनी पूर्णता प्राप्त कर लेता है। इसी अर्थ में—जिन दिनों हम भी अपनी पूर्णता को प्राप्त करने का प्रयास करें, पूर्णता की ओर पहुंचने का उद्यम करें वही काल (वही समय-दिन) हमारे लिए पर्वकाल है। वास्तव में पर्व प्राणी-मात्र को पूर्णता की ओर अग्रसर होने का संकल्प दिलाने हेतु ही है।

क्षमादि दशलक्षण या धर्म जीव (आत्मा) के स्वभाव हैं, निजी गुण हैं। ये कहीं बाहर से नहीं लाने होते। क्रोध-मान-माया व लोभ कषायों तथा हिंसादि विकारी भावों के शमन से आत्मा के ये दशगुण-दशलक्षण अभिव्यक्त होते हैं, प्रगट होते हैं। क्रोधादि चारों कषायें ही विकार व विभाव (परिणामस्वरूप बंध) के प्रमुख कारण हैं। इन्हीं कषायों के उदय से हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील आदि पापों में–विकारों में प्रवृत्ति होती है। इन चार कषायों व पांच पापों की प्रवृत्ति के अभाव में आत्मा में क्षमादि दशगुण प्रकट होते हैं।

ये दशलक्षण अथवा दशगुण-क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य व ब्रह्मचर्य आध्यात्मिक हैं जो क्रोध-मान-माया-लोभ-हिंसा-झूठ-चोरी-परिग्रह व कुशील आदि कायिक व मानसिक विषमताओं-विसंगतियों व विकृतियों को शान्त करते है।

'दशलक्षण पर्व' को पर्युषण भी कहा जाता है। 'पर्युषण' शब्द संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसका उद्‌गम 'प्राकृत भाषा' के पजूषण या पज्जूषण शब्द से हुआ है। पेज्ज याने राग व द्वेष और 'उषण' का अर्थ है जलाना; इस प्रकार पजूषण का अर्थ हुआ—राग द्वेष का जलाना। जिन दिनों में राग-द्वेष को जलाने का संकल्प-उपक्रम किया जाये वे पजूषण कहलाते हैं। पर्युषण—परित: समन्तात् उष्यन्ते, दह्यन्ते, यस्मिन् पर्वणि तत्पर्युषणपर्वम्—अर्थात् जिसके द्वारा या जिस पर्व में कर्मो का सब ओर से दहन किया जावे उस पर्व को पर्युषण कहते हैं।

यह पर्व, समस्त कर्मों का दहन कर आत्मगुणों को विकसित करने के लिए प्रेरणा देता है। अत: अन्य व्यावहारिक पर्वों की अपेक्षा दशलक्षण या पर्युषण पर्व की विशेष महत्ता है।

जब तक हमारी आत्मा मे कषायादि विकार विद्यमान रहेंगे तब तक आत्मा के क्षमादि धर्म अभिव्यक्त नही हो सकते। क्रोध मान आदि चार कषायो के निर्विष हो जाने-शात हो जाने पर ही क्षमादि की अभिव्यक्ति होती है।

आचार्य उमास्वामी ने "तत्त्वार्थसूत्र" मे कहा है—

"उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्म: ।"

उपरोक्त सूत्र में क्षमादि लक्षणो के पूर्व "उत्तम" शब्द है। "उत्तम" शब्द किसलिये? इसके लिए राजवार्तिककार ने लिखा है—"उत्तमविशेषणं दृष्ट प्रयोजनपरिवर्जनार्थम्"—ये क्षमादि धर्म किसी दृष्ट प्रयोजन की प्राप्ति के लिये धारण नही किये जाते, इसलिए ये संवर के कारण है और संवर के कारण होने से उत्तम हैं। अर्थात् किसी बाह्य लौकिक प्रयोजन की पूर्ति के लिए नही आत्मत्व की प्राप्ति में हेतु होने के कारण ये धर्म उत्तम है। दूसरे रूप मे—क्षमादि दश धर्मों के साथ सम्यग्दर्शन की सूचना हेतु 'उत्तम' शब्द कहा गया है अर्थात् सम्यग्दर्शन के साथ होने वाली—क्षमादि ही उत्तम क्षमादि धर्म है। धर्मग्रन्थो मे इन धर्मों की सर्वोत्कृष्ट स्थिति का वर्णन प्राप्त होता है। जो मुनिचर्या से सबधित है, पर इसका तात्पर्य यह नही कि हम सामान्य गृहस्थी-श्रावकगण इनकी अवहेलना करें, इन्हे बिसार दें। गृहस्थियों को भी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार आवश्यकरूप से इनका पालन करना चाहिए। प्राप्तव्य तो इनका उत्तम रूप ही है, किन्तु प्रारम्भ मे इनके व्यावहारिक रूप का पालन करें, लक्ष्य को ध्यान मे रखें, परिपक्वता, उत्कृष्टता स्वत: प्रगट होती जायेगी। प्रस्तुत है संक्षेप में दशलक्षणों का स्वरूप।

क्षमा धर्म—क्रोध का सर्वथा अभाव ही क्षमा है। क्षमा आत्मा का स्वभाव है और क्रोध विभाव। क्रोध, क्षमा के अभाव रूप उत्पन्न होता है। क्रोध कषाय है जो आत्मा के सहज स्वरूप को कृश करता है।

पर-पदार्थ को अपने सुख-दुख का व इष्ट-अनिष्ट का कारण मानने पर उनकी प्रतिकूलताओं में क्रोध की उत्पत्ति होती है। अनुकूल-प्रतिकूल सभी परिस्थितियो मे सहज-भाव, सम-भाव रखना क्षमा है। क्रोध को कारणवश दबा लेना क्षमा नही है। अपितु उसका उत्पन्न ही न होना क्षमा है, यह स्थित अभ्यास से संभव है।

क्रोध, विवेक हरण करने वाला है; क्षमा, विवेक प्रदात्री है, शांतिदायिनी है, आकुलता विनाशिनी है। क्रोध हलाहल है जो दूसरों की हानि के साथ साथ क्रोधी की स्वयं की भी हानि करता है; क्षमा अमृत है जिसे पीकर मनुष्य आध्यात्मिक व भौतिक दोनों ही क्षेत्रों में उन्नत होकर लक्ष्य की प्राप्ति में सक्षम होता है, सफल होता है। क्रोध दोनों क्षेत्रों के लिए अहितकर है।

गृहस्थी व गृह-विरत के स्तर के अनुसार क्षमा-भाव का उत्तरोत्तर विकास होता है—जिसकी सर्वोत्कृष्ट स्थिति है "उत्तम क्षमा"। गृहस्थी की क्षमा प्रतिकार सहित होती है और गृह-विरत की प्रतिकार रहित। गृह-विरत, जिसका चिन्तन "जहां देह अपनी नहीं तहां न अपना कोय" की भावना से ओत प्रोत होता है, वह किसलिए प्रतिकार करना चाहेगा? किन्तु गृहस्थी विरोधियों व आक्रमणकारियों का मात्र अपनी रक्षा हेतु प्रतिकार कर सकता है, क्रोध विह्वल होकर नहीं।

"उत्तम क्षमा" उन्हीं के प्रकट होती है, जिनके किसी भी उपसर्ग पर प्रतिक्रिया-प्रतिकार की भावना व क्रिया का अभाव होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि "क्षमा" हमें अकर्मण्यता सिखलाती है। क्षमा, क्रोध व वैर का विनाश कर समता व 'सर्वेषुमैत्री' का पाठ पढाती है। क्षमा का अर्थ दुर्बलता नहीं, वीरता है। दुर्बल की सहिष्णुता-कायरता है और वीर की सहनशीलता क्षमा। दुर्बल में तो सहनशक्ति की अल्पता होती है, तभी तो वह "दुर्बल" कहलाता है, बलवान वही है जो सहन करने की सामर्थ्य रखता है। हम गृहस्थी उत्तम क्षमा के धारक नहीं हो सकते, यह सोचकर "क्षमा" की अवहेलना करना उचित नही, हमें गृहस्थ रूप में "क्षमा" धारण कर उत्तरोत्तर "उत्तमक्षमा" की ओर अग्रसर होने का प्रयास करना चाहिए। व्यावहारिकतः भी समाज में दैनिक व्यवहार मे "क्षमा" की अधिक उपादेयता है।

क्रोध का खतरनाक रूप है वैर। क्रोध मे तत्काल प्रतिक्रिया हो जाती है और वैर में भविष्य में योजना-बद्ध रूप से प्रतिक्रिया की जाती है। क्रोध की दाहकता पर क्षमा की शीतलता ही विजय प्राप्त कर सकती है, अन्यथा उसकी दाहकता में सर्वस्व दग्ध हो जाता है। जैसे—अग्नि अपने सम्पर्क में आने वाली प्रत्येक वस्तु को अपना लेती है, अग्नि मे परिवर्तित कर लेती है, उसका विनाश कर देती है। उसी प्रकार क्रोध (क्रोधी) भी अपने सम्पर्क में आने वाले प्राणियों को भी क्रोधी बना देता है, विवेक का विनाश कर देता है। कहा भी है—यह क्रोध रूपी आग मनुष्यों के धर्मवन को जलाती है अज्ञानरूपी काष्ठ से उत्पन्न होती है, अपमानरूपी वायु उसे भड़काती है, कठोर वचन उसके स्फुलिंग है, हिंसा उसकी शिखा है और वैर उसकी धूम्र।

अग्नि जड पदार्थ है, पर हम तो चैतन्यरूप हैं, ज्ञानस्वरूप हैं। यदि हम किंचित् मात्र भी विवेक से काम लें तो क्रोध को दहकता शमन कर सकते है। एक ओर से क्रोध की (गाली आदि) दग्ध क्रियाओं को यदि पुन. दूसरी ओर से दग्धता प्राप्त न हो तो युद्ध, वैर आदि की सभावना ही न रहे। जैसे—तृणहीन भूमि पर पडी हुई अग्नि स्वत: ही शान्त हो जाती है उसी प्रकार क्रोध के निमित्त बनने वाले वचन-क्रियादि को दूसरी ओर से पुन: ज्वलनशील वचन-क्रियादि न मिले तो वह क्रोधाग्नि भड़कने ही न पाये, वहीं शान्त हो जाये।

"क्षमा" मात्र विचार हेतु नहीं है, अपितु आचरण हेतु है। यह केवल वाणी का विषय नहीं है, अपितु अन्त:करण की निधि है। क्रोध निवारण हेतु हमें विचार करना चाहिए कि मैं किस पर क्रोधित हो रहा हूं, किस पर रोष कर रहा हूं, इस क्रोध से, रोष से किसकी हानि होगी?

एक कृषक, बीजवपन से पूर्व अपने खेत की भूमि को साफ करता है, कंटक आदि हटाता है। हम भी जब क्षमा द्वारा क्रोध कंटक को हटायेंगे और चारित्र का बीज बोयेंगे तभी धर्मवृक्ष पल्लवित होगा।

मार्दव धर्म—मार्दव अर्थात् मृदु परिणाम, कोमल परिणाम।
मानकषाय का नितान्त अभाव हो मार्दवधर्म है ॥

पर-पदार्थ को अपना मान कर कुल, जाति, रूप, धन, बल, ऐश्वर्य, तप ज्ञान आदि के संयोग पर अभिमान करना, अपने को महान समझना मान कषाय है।

मानकषायवश मानी स्वयं को महान व दूसरों को हीन समझने लगता है। इच्छा की प्रतिकूल परिस्थितियों में क्रोध उत्पन्न होता है और इच्छा की अनुकूल परिस्थितियों में मान उत्पन्न होता है। मानकषाय

भी आत्मस्वभाव को कृश करता है पर क्रोध कषाय की भांति बाह्य-वातावरण पर विनाशकारी प्रभाव नहीं छोड़ता ।

मार्दवधर्म का बाधक है—मिथ्याज्ञान । वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होने पर मान-कषाय उत्पन्न होने की संभावना क्षीण होने लगती है । यद्यपि उत्तम मार्दवधर्म मुनिदशा में प्रकट होता है, तथापि हमें गृहस्थ रूप में भी व्यावहारिक मार्दवधर्म की प्रकटता हेतु विचार करना चाहिए कि जगत का कोई पदार्थ स्थिर नहीं फिर किसका मान करना, अभिमान करना ? भगवती आराधना में कहा है—

को इत्थ मज्झ माणो बहुसो णीचत्तणं पि पत्तस्स ।
उच्चत्ते य अणिच्चे उवट्टिदे चावि णीचत्ते ।१४२२।
अधिगेसु बहुसु सन्तेसु ममादो एत्थ को महं माणो ।
को विम्मओ वि बहुसो पत्ते पुव्वम्मि उच्चत्ते ।१४२३।

—ज्ञान, कुल, रूप, तप, धन, प्रभुत्व आदि में मैं ऊंचा भी होऊं तो उसका गर्व कैसा ? क्योंकि अनेक मैं इनसे नीचा भी हो चुका हूँ । उच्चता और नीचता ये दोनों अनित्य है ।

इस लोक में बहुत से प्राणी, ज्ञानादि में मुझसे भी अधिक हैं, इसलिए मुझे इनका अभिमान कैसा ?

व्यावहारिक रूप में 'मान' का मर्दन करे, मार्दव-भाव को अपनावे, आंशिकरूप मे भी जीवन में उतारें तो जीवन अत्यन्त सहज व शान्त हो जाये, भविष्य के लिये भी सुसंस्कार की नींव सुदृढ़ हो जाये । दंभ, बार दर्प, मान, दुराभिमान के निवारण हेतु मार्दव-भाव आवश्यक है ।

आर्जवधर्म—छल, कपट, धोखा, माया के अभाव का नाम आर्जव है । आत्मा को स्वभावरूप जानना-मानना ही उत्तम आर्जव है । 'ऋजोर्भावं आर्जवं'-सहज-स्वभाव ही आर्जव है । आत्मामे उत्पन्न वक्र-कुटिल भावका नाम माया कषाय है जो मन-वचन व क्रिया की एकता को नष्टकर भिन्नता में प्रकट होती है । मन-वचन व क्रिया का भिन्न व्यवहार मायाचार का लक्षण है ।

मायाचारी, छलपूर्वक अपने कार्य सिद्ध करने का इच्छुक होता है । किसी ने कहा है—माया—अविद्या की जन्मभूमि, अपयश का घर, पाप रूपी पंक का गड्ढा, नरकरूपी घर का दरवाजा व शील के वृक्ष को जलाने वाली अग्नि है ।

संसार मे होने वाले भीषण युद्ध, हिंसात्मक कार्यवाहियां सब मायाचार के ही परिणाम हैं । मायाचार ससार बढ़ाने वाला है । आज हम सांसारिक प्राणियों के प्रत्येक कार्य में मायाचारी भरी हुई है । राजा—प्रजा सब मायाचार से लिप्त है । राजनीति तो मायाचार का गढ़ है ।

तत्वार्थसूत्र के सूत्र 'निशल्यो व्रती' १७/१८ में आर्जव धर्म का मर्म निहित है । अणुमात्र भी शल्य हो तो आत्मा स्वभाव में स्थित नही रह सकता, परमलक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता । स्वभाव की अभिव्यक्ति हेतु परिणाम ऋजु होने चाहिए ।

'उत्तम आर्जव' के धारक 'निशल्योव्रती' ही हो सकते हैं पर हम गृहस्थियों को भी सुखी व निश्चिन्त जीवन जीने के लिए माया, छल, कपट से दूर रहना चाहिए, मायाचारी सदा सशंक रहता है ।

शौचधर्म—शुचेर्भावः शौचम् । शौच शब्द शुचि से बना है । शुचि अर्थात् पवित्र । निज की पवित्रता ही वास्तविक पवित्रता है । लोभ का अभाव ही पवित्रता है, शुचिता है । लोभ कषाय को पाप का बाप माना है, क्योंकि प्रत्येक दुराचार-अनाचार की तह में, पाप में लोभ निहित होता है । लालच, तृष्णा लालसा, चाह आदि लोभ के ही नाम है ।

वैभाविक परिणमन से आत्मा में पवित्रता का अभाव होकर अपवित्रता विद्यमान हो रही है। यह अपवित्रता शौच-धर्म के माध्यम से ही नष्ट होगी। यहां शुचिता, कायिक अर्थ में नहीं है। यदि कायिक शुचिता ही शौच धर्म होता तो मछली, मेंढकादि जलचर के तो सदैव शौचधर्म की प्रकटता रहती। केवल चर्म धुलने से पवित्रता प्रकट नहीं हो जाती। लोभ कषाय के विसर्जन से शुचिता प्रकट होती है। लोभ की पूर्णतः समाप्ति के पश्चात् क्रोध, मान व माया की उपस्थिति सम्भव नहीं है। इसलिए पूजनकार ने लिखा है—

'शौच सदा निरदोष, धर्म बड़ो संसार में।'

संप्रति धन-सम्पत्ति के लोभ को ही लोभ समझा जाता है। पर लोभ धन का ही नहीं होता, यश का लोभ, रूप का लोभ, नाम का लोभ इस प्रकार लोभ के विभिन्न मुखड़े हैं। लोभ की पूर्ति के लिए अनेकों प्रकार के छल-कपट की प्रवृत्तिरूप माया को प्रोत्साहन मिलता है, लोभ पूर्ति हो जाने पर मानकषाय को और पूर्ति में बाधा उत्पन्न होने पर क्रोध को प्रोत्साहन मिलता है। इन तीनों कषायों को पोषण देने वाला यह लोभ ही तो है। लोभ के विसर्जन का अर्थ है शेष तीनों कषायों का भी विसर्जन।

क्रोध-मान-माया के साथ लोभ के नाश के पश्चात् ही अर्थात् शुचिता के पश्चात् ही सत्यादि धर्म प्रकट हो सकते है। आज समाज मे लोभ की सीमा नही रही परिणामस्वरूप शोषण व अत्याचार भी अपनी सीमा लांघ चुके है।

चारों कषायों से मुक्त हो जाने के पश्चात् जीव पापों की निवृत्ति की ओर बढ़ता है।

सत्य धर्म—सत्य आत्मा का धर्म है। जिस पदार्थ की जिस रूप में सत्ता है उसे सम्यग्दर्शन पूर्वक वैसा ही जानना उत्तम सत्य धर्म है। सत्य धर्म आत्मसाक्षात्कार का साधन है, आत्मानुभूति का विषय है। सत्य धर्म—सत्यवचन मे ही सीमित नहीं है, जैसा कि प्राय: समझ लिया जाता है, अथवा यो कहें कि 'सत्यवचन' उत्तम सत्यधर्म नही है। सत्यवचन तो आंशिक धर्म है, पूर्ण सत्यधर्म तो आत्मा का अनुभव है।

उत्तमसत्य को वीतरागी ही परिपूर्णतः अभिव्यक्त कर सकते हैं। गृहस्थी, स्थूलसत्यव्रती बन सकता है और बनना भी चाहिए। आचार्यों ने क्रोध-मान-माया व लोभ के विसर्जन के पश्चात् सत्य को स्थान दिया, सत्य को समझाया है। प्राणी, लोभवश भी असत्य व्यवहार व असत्यभाषण कर देता है। अतः लोभ की समाप्ति के पश्चात् ही सत्यधर्म की अभिव्यक्ति होगी।

गृहस्थ जीवन में भी हमें व्यवहार-सत्य का पालन करना चाहिए। (व्यवहार) सत्य (भी) दया से पूर्ण है, सुख-उत्पादक है। भगवती आराधना मे कहा है—

'सच्चेण जगे होदि पमाणं अण्णो गुणो जदि वि से णत्थि।' (८३७)

—यदि मनुष्य में अन्य गुण न हों तब भी वह केवल एक सत्य के कारण जग में प्रमाण माना जाता है।

सयम धर्म—अपनी समस्त वृत्ति को, आचरण को, पर पदार्थ से समेट कर आत्माभिमुख करना, स्व-में सीमित करना, स्व में लगाना ही उत्तम संयम है। आत्म-नियन्त्रण ही संयम है। संयम मुक्ति का द्वार है, दुखों से छूटने का उपाय है, संसार-सागर से तारणहार है।

व्यवहार में, संयम आचरण के चारों ओर लगाई जाने वाली बाड़ है, एक सीमा है, एक परिधि है। प्राणीसंयम व इन्द्रिय संयम के भेद से संयम को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। षट्काय जीवों का घात एवं घात के भावों के त्याग को प्राणी संयम एवं पंचेन्द्रिय व मन के विषयों के त्याग को इन्द्रियसंयम कहते हैं।

व्यवहार-संयम में इन्द्रिय-भोग पक्ष ही प्रमुख है। इन्द्रिय-भोग, संयम को भंग कर देते हैं। आज समाज खान-पानमें, व्यवहारमें अत्यन्त असंयमित व स्वेच्छाचारी होता जा रहा है। खान-पानमें समय-असमय का,

भक्ष्य-अभक्ष्य का ध्यान नहीं है, आचार-विचार में उचित-अनुचित का ध्यान नहीं है। परिणामस्वरूप अराजकता-अनाचार अनैतिकता का ताण्डव नृत्य हमारे सम्मुख ही है। व्यवहार में देखते हैं कि संयम की सीमा तोड़ देने पर मनुष्य अपने को भयंकर खतरों में डाल लेता है। संयमहीन जीवन दुर्गुणों-दुर्व्यसनों का घर हो जाता है। संयम के अभाव से जीवन में शांति-सन्तोष व आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। लौकिक शासन में भी असंयम सुखकर नहीं है तो आत्मानुशासन में सुखकर कैसे हो सकता है?

एकमात्र मनुष्य-भव ही ऐसा है जिसमें संयम धारण किया जा सकता है। मनुष्य जन्म की सार्थकता संयम धारण करने में ही है। कहा भी है—

संजमु विणु णर-भव सयलु सुण्ड,
संजमु विणु दुग्गइ जि उववण्णु।
संजमु विणु घडिय म इत्थ जाउ,
संजमु विणु निहलिय अत्थि आउ॥

संयम के बिना पूरा मनुष्य भव शून्य के समान है। सयम के बिना यह जीव नियम से दुर्गति में जन्म लेता है। संयम के बिना एक घड़ी भी व्यर्थ मत जाओ। संयम के बिना सम्पूर्ण आयु विफल है।

तपधर्म समस्त रागादि भावों को त्यागकर आत्मलीन हो विकारों पर विजय प्राप्त करना तप है। व्यवहार में, इच्छाओं को उच्छृंखल होकर खेलने न देना तप है। चाहे लौकिक कार्य हो या आध्यात्मिक दोनों के लिए तप आवश्यक है। आभूषण बनाने हेतु स्वर्ण को पहले अग्नि में तपाना होता है, बिना तपाये आभूषण नहीं बनाये जा सकते। संयमी प्राणी ही सच्चा तपस्वी हो सकता है–इसीलिए संयम के बाद तप का क्रम है। यह सत्य है इच्छाओं के निरोध होने पर ही तप होगा। इच्छाओं के रहते तप होना असम्भव है।

तप निर्जरा का हेतु है, कहा भी है—'तपसा निर्जरा च' (तत्त्वार्थ सूत्र ३-६) मुख्यतः तप के दो भेद हैं—अन्तरंग तप व बाह्य तप। इन दोनों तपों के भी छः छः भेद हैं। इस प्रकार तप के कुल बारह भेद हैं। अन्तरंग तप के प्रकार है—प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युतसर्ग और ध्यान। बाह्य तप के भेद हैं—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश। अन्तरंग तप आत्मशुद्धि के कारण हैं और बाह्य तप उसके साधन हैं। बाह्यतप साधन होने से उनसे अन्तरंग तप की वृद्धि होती है। केवल शरीर को सुखाने का नाम तप नहीं है। इच्छाओं का निरोध कर वीतराग-भाव की वृद्धि करना ही तप का मूल प्रयोजन है।

'उत्तमतप' की महिमा अपार है। भगवती आराधना में कहा है—

तं णत्थि जं ण लब्भइ तवसा सम्म करण पुरिसस्स।
अग्गीव तणं जलिओ कम्मतणं डहदि य तवग्गी।१४७२।

—जगत में ऐसा कोई पदार्थ नही जो निर्दोष तप से पुरुष को प्राप्त न हो सके अर्थात् तप से सब उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है। जिसप्रकार प्रज्वलित अग्नि तृण को जलाती है, उसी प्रकार तपरूपी अग्नि कर्मरूप तृण को जलाती है।

हम गृहस्थियों को भी बहिरंग तप का (शक्ति अनुसार) अवश्य पालन करना चाहिए और अन्तरंग तप की ओर अग्रसर होने का प्रयास करना चाहिए। अनशन आदि बहिरंग तप मानसिक व आध्यात्मिक दृष्टिकोण से तो लाभकारी हैं ही साथ ही कायिक दृष्टिकोण से भी लाभकारी हैं।

त्यागधर्म—निज शुद्धात्मा में लीन होकर बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह से निवृत्ति ही उत्तम त्याग है। अपने से भिन्न सम्पूर्ण पर पदार्थों को 'ये पर हैं' ऐसा जानकर राग-द्वेष रूप परिणति छोड़कर संसार, देह व भोगों से उदासीन होना त्याग धर्म है। पर-पदार्थ से ममत्व छोड़ना ही त्याग है। राग-द्वेष परिणति का त्याग ही वास्तविक त्याग है। पर-पदार्थ का त्याग राग-द्वेष के त्याग से स्वत: हो हो जाता है। राग-द्वेष का त्याग 'उत्तम त्याग' है, व्यवहार में दान ही त्याग है। मात्र दान 'उत्तम त्याग धर्म' नहीं है। दान तो त्याग धर्म का व्यावहारिक रूप है। द्यानतरायजी ने पूजा में कहा भी है—

"उत्तम त्याग कहो जग सारा-औषधि शास्त्र अभय आहारा।
निश्चय राग-द्वेष निरवारे, ज्ञाता दोनों दान संभारे।"

निश्चय से राग-द्वेष निवारण ही त्याग है। व्यवहार में दान ही त्याग है।

प्रत्येक प्राणी को अपनी शक्ति अनुसार दान अवश्य करना चाहिए। दान चार प्रकार के हैं—औषधदान, ज्ञानदान, अभयदान व आहारदान। वृक्षादि एकेन्द्रिय प्राणी, गाय-भैंस आदि तिर्यंचप्राणी भी फल-फूल, दूध को प्रदान करते हैं। हम तो पंचेन्द्रिय प्राणी हैं, मनुष्य भव में हैं। दान गृहस्थों का पुनीत कर्तव्य है। वर्तमान वातावरण में बढती हुई असमानता को, सद्गृहस्थ दान के माध्यम से पर्याप्तरूप से दूर कर सकते हैं।

आहारदान-क्षुधा शांति के पश्चात्, औषधदान रोग समाप्ति के पश्चात्, अभयदान-भयमुक्ति के पश्चात् अल्पप्रभावी हो जाते हैं, किन्तु ज्ञान-दान भव-भवान्तर तक साथ चलता है, प्रभावी रहता है।

इस देह के साथ यत्किचित् वस्तु भी साथ जाने वाली नही है, यह सोचकर त्याग का महत्व समझें। सत्य है—जो जोडते गये वे डूबते गये, जो छोडते (त्यागते) गये वे पूज्य होते गए।

उत्तम आकिंचन्य धर्म—एक मात्र आत्मा ही अपना है, शेष सब पर पदार्थ हैं, वे मेरे नहीं हैं—ऐसा मानना, जानना और उनमें लीन न होना ही उत्तम आकिचन्य धर्म है। कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—गुण विशिष्ट आत्मा के एकत्व का चिन्तन व अनुभव करना, अपनी आत्मा का ध्यान करना ही आकिचन्य धर्म है। आकिंचन्य धर्म भेद-विज्ञान का सेतु है।

परिग्रह का नितान्त अभाव होने पर आकिंचन्य भाव प्रकट होता है। परिग्रह दो प्रकार का है—आभ्यन्तर व बहिरंग। आभ्यन्तर परिग्रह के चौदह भेद हैं—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (ग्लानि) स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। बहिरंग परिग्रह दस प्रकार के हैं—क्षेत्र (खेत), मकान, चांदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्र और बर्तन। अन्तर-बहिरंग परिग्रह के त्यागी ही उत्तम आकिचन्य धर्म के धारी होते हैं।

प्राय: परिग्रह के सन्दर्भ में हमारा ध्यान बहिरंग-परिग्रह धन-धान्य आदि की ओर ही जाता है। अन्तरंग परिग्रह की ओर तो सूक्ष्म चर्चाओं के दौरान ही ध्यान जाता है। वास्तव में धन-धान्यादि स्वयं में परिग्रह नहीं हैं, जीव का उनके प्रति ग्रहण का भाव, संग्रह का भाव ही परिग्रह है। उमास्वामी आचार्य ने कहा भी है "मूर्च्छा परिग्रह:" (तत्वार्थ सूत्र ७-१०) और ममत्व परिणाम ही मूर्च्छा है। यह वस्तु मेरी है—इसप्रकार का संकल्प रखना; काश यह वस्तु मेरे पास भी होती—ऐसा विकल्प रखना हो परिग्रह है। पर-पदार्थों के प्रति हमारा ममत्व-राग ही परिग्रह है।

परिग्रह सबसे बड़ा पाप है और आकिंचन्य सबसे बड़ा धर्म। जगत् में होने वाली हिंसा, चोरी, कुशील आदि प्रवृत्तियों का कारण परिग्रह ही है। मन के अन्दर उठने वाले अनेक दुष्ट संकल्पों-विकल्पों से मुक्त कराने में आकिंचन्य धर्म ही समर्थ है। आकिंचन्य धर्म निवृत्ति प्रधान धर्म है। यह भय से मुक्त करने

वाला है। हम, लोक में भी देखते हैं कि बाह्य-परिग्रह की अधिकता पर शासन की ओर से विभिन्न प्रकार के टैक्स लगा दिये जाते हैं।

गृहस्थों को बाह्य-परिग्रह में भी एक निश्चय परिणाम रखना चाहिए और उत्तम आकिंचन्य की ओर लक्ष्य रख उसे प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। जिस शरीर को साथ लाते हैं, उसकी खूब सेवा-सुश्रुषा करते हैं, शृंगार करते हैं, वह भी यहीं छूट जाता है—साथ नहीं जाता तो फिर ये स्त्री-पुत्र-धन-धान्य-खेत-गाड़ी आदि कैसे मेरे हो सकते हैं; जो मेरा है वह कैसे छूट सकता है, जो छूट सकता है वह मेरा कैसे हो सकता है? हमें व्यवहार में ऐसा विचार करते रहना चाहिए, जिससे परिग्रह की नश्वरता का ध्यान रहे। कहा भी है—

आकिंचणु भावहु अप्पउ, झावहु, देहहु भिण्णउ णाणमउ।
णिरुवम गय—वण्णउ, सुह संपण्णउ परम अतिंदिय विगंयमउ॥

आकिंचन्य धर्म की भावना इसप्रकार करो कि आत्मा देह से भिन्न है, ज्ञानमय है, उपमा रहित है, वर्ण रहित है सुख से परिपूर्ण है, परमोत्कृष्ट है, अतीन्द्रिय है और भय रहित है। इसप्रकार आत्मा का ध्यान ही आकिंचन्य धर्म है।

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म—ब्रह्म अर्थात् निज शुद्धात्मा में रमण करना ही ब्रह्मचर्य है। पंचेन्द्रिय के विषयों को त्याग कर आत्मलीन होना ही ब्रह्मचर्य है। आत्मा अतीन्द्रिय पदार्थ है, वह इन्द्रियों के माध्यम से नहीं जाना जा सकता। आत्मा को जानने के लिये अन्तर में लीन होना होगा।

अल्पज्ञ प्राणी (आत्मा) एक समय में एक को ही जान सकता है, एक में ही लीन हो सकता है। जब वह पर को जानेगा, पर मे लीन होगा तब स्व में लीन होना, स्व को जानना संभव नही। जब तक वह स्वयं में, स्व-आत्मा में लीन नही होगा तब तक किसी न किसी इन्द्रिय का विषय चलता ही रहेगा। जब स्व मे लीन हो जायेगा तो किसी भी इन्द्रिय का विषय शेष नहीं रह पायेगा। अतः उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म की अभिव्यक्ति हेतु स्व में लीन होना होगा।

आज 'ब्रह्मचर्य' शब्द का जो अर्थ प्रचलित है वह अत्यन्त स्थूल अर्थ है। आज मात्र स्पर्शन-इन्द्रिय के विषय सेवन के त्यागरूप 'व्यवहार ब्रह्मचर्य' को ही उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म मान लिया जाता है।

हम गृहस्थ जीवन में उत्तम ब्रह्मचर्य का पालन नही कर सकते, किन्तु व्यवहार में काम-विकार को जीतने का प्रयास करना चाहिए, सद्‌गृहस्थ बनना चाहिए, स्वपति व स्वपत्नि मे संतोष धारण करना चाहिए और उत्तम ब्रह्मचर्य को लक्ष्य रखकर उसकी अभिव्यक्ति हेतु प्रयास करना चाहिए।

आज देश में, समाज में नैतिकता का ह्रास होता जा रहा है। हम 'व्यवहार-ब्रह्मचर्य' को भी भूलते जा रहे हैं। आज का इन्सान वासना की दृष्टिसे पशुसे भी हीन होता जा रहा है जिसे उचित-अनुचित का, मर्यादा का ध्यान ही नहीं है। नित्य समाचार पत्रों मे बलात्कार, अपहरण आदि के समाचार प्रकाशित होते हैं, जिन्हें पढकर हृदय में कोलाहल मच जाता है। एक धर्म-प्राण देश में, समाज में ऐसा अनाचार देख कर ग्लानि होने लगती है।

जिसप्रकार मन्दिर निर्माण के पश्चात् उस पर स्वर्णकलश चढ़ाते हैं उसी प्रकार 'उत्तम ब्रह्मचर्य' धर्म-मन्दिर पर चढ़ा हुआ स्वर्णकलश है, धर्म-मन्दिर की पूर्णता है।

इस प्रकार उत्तम क्षमा-मार्दव-आर्जव शौच गुणों की अभिव्यक्ति होने पर जीव को सत्य की प्रतीति होती है, तब जीव संयम धारण करता है जिससे शक्ति उत्पन्न होती है, यही तप है। तप से वैभाविक मैल को

त्याग कर आत्मा अकिंचन होकर ब्रह्म में चर्या करने लगता है—यही मुक्त दशा है। ये दशों लक्षण उत्तरोत्तर मोक्ष की ओर ले जाने वाले हैं। तभी तो द्यानतरायजी ने लिखा है—

"द्यानत धर्म दश पैड़ि चढ़के शिवमहल में पग धरा।'

ये दशलक्षण आत्मावलोकन व आत्मप्रवेश के साधन हैं। ये आन्तरिक वैभव के दसरत्न हैं। कषायों व विकारों को कठोर तपन, इन दशधर्मों की सघन छांव तले, स्वतः ही तिरोहित हो जाती है। निश्चित ही, आचार्यों ने दशलक्षणपर्व का विधान स्वयं को परखने हेतु ही किया है। यह महापर्व है, यही एकमात्र ऐसा पर्व है जो परमोदात्त भावनाओं का प्रेरक, वीतरागता का पोषक तथा संयम व साधन का पर्व है। यह पर्व भीतर की दीवाली है जिसमें अन्तरंग से कषायादि कूड़े को निकाल कर इन दशलक्षणरूपी दीपो की आवलि प्रज्वलित करने का अवसर प्राप्त होता है। यह पर्व बाहर के कोलाहल से सिमट कर अन्तरंग के शांत उपवन में प्रवेश करने का साधन है।

हमारी रुचि-दृष्टि स्वभाव की ओर जितनी जायेगी सम्यग्दर्शन की, निर्मलता की भूमि उतनी ही पुष्ट होती जायगी और पर-पदार्थ की ओर जितनी बढ़ती जायेगी आत्मा की मलीनता उतनी ही बढती जायेगी। पर पदार्थ से पूर्णतः ममत्व रहित स्थिति ही क्षमादि दशलक्षण हैं।

आज विश्व भौतिक चकाचौंध से आत्मविस्मृत हो रहा है। सम्पूर्ण मानवता प्रायः पलायन कर चुकी है। चहुं ओर अनुशासनहीनता-अराजकता-अनाचार-अशान्ति का साम्राज्य है, हिंसा अपना ताण्डव नृत्य प्रस्तुत कर रही है, वासनायें-व्यसनादि समस्त सीमाये तोड़ अपना घिनौना रूप दिखा रहे हैं, अत्याचार-बर्बरता की सीमा को लांघ चुके हैं, ऐसे विषाक्त, पैशाचिक व नारकीय वातावरण में मानव असुरक्षित है, भयभीत है, उसकी शेष मानवता भी दम तोड़ रही है। ऐसे वातावरण में किंचित् मात्र भी शांति व सुरक्षा चाहने वालों के लिए, सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए इन धर्मों का, इन लक्षणों का प्रतिपल आचरण आवश्यक है। अन्यथा इस पृथ्वी पर नारकीय दुखों को साकार होने में अब कोई कसर शेष नहीं है, कोई विलम्ब नही है।

❖ बाबूलालजी जैन,

[आरोग्य भारती, जयपुर]

वैयावृत्य

वैयावृत्य एक शब्द नहीं परम्परा है, एक प्रयोग नहीं पद्धति है, एक कार्य नहीं, एक साधन नहीं, वह तो सिद्धि है और है सर्वार्थसिद्धि। शास्त्रकारों ने तो यहां तक कहा कि वैयावृत्य तप नही तप की आत्मा है और तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध में कारण-भूत एक आध्यात्मिक सोपान है। जिसप्रकार वीतराग भाव के बिना सर्वहित, सर्वमांगल्य की कामना असम्भव है उसीप्रकार अनपेक्षित भाव के बिना वैयावृत्य भी निष्फल है, अर्थहीन है। साधुसस्था के बीच धर्म चर्चा, सेवा-सुश्रुषा और अनेक कार्यकलाप वैयावृत्य के अग गिने जाते है, किन्तु वे सब आज वैयावृत्य के अतिचार हो गये हैं। जो भी मुखर है वह 'भैयाभृत्य' है वैयावृत्य नहीं, वैयावृत्य तो मूक साधना है, मूक सेवा है और एक ऐसा व्रत है जिसमें अहंकार की वृत्ति निर्मू ल हो जाती है, अन्तरानन्द जाग्रत होता है, प्राणोंके परागमे आत्म ज्योति सुवासित होती है।

आचारग्रन्थों मे कहा गया है कि "यदि एक साधु अपने रोगग्रसित साधु साथी की वैयावृत्य नहीं करता है तो उसका यह कृत्य शोभनीय नही है और एक हजार उपवास करने पर भी उसका प्रायश्चित नही हो सकता। एक निर्ग्रन्थ साधु, एक मुनि ज्वर की असाध्य स्थिति में कष्ट सह रहा हो तीव्र तृषा से कण्ठावरोध के कारण दर्शन और चारित्र से विचलित हो रहा हो अपने सम्यक्त्व का निर्बाध निर्वहन करने मे असमर्थ हो उस समय उसके साथी उसे छोड़कर धर्माचरण का रूढ़ अभ्यास करते रहें तो यह कहा तक मान्य होगा कि वे सम्यग्दृष्टि हैं। हो सकता है कि ऐसी संकटापन्न स्थिति में वह साधु अपने प्राणों का विसर्जन कर दे और वैयावृत्य के अभाव में आकुल-व्याकुल होता हुआ असद्गतिका बन्ध कर ले। इसलिए इतने कठोर प्रायश्चित की व्यवस्था वैयावृत्य के महत्त्व को स्पष्टरूपसे प्रकट करती है।

वर्तमान में किसी आचार्य अथवा प्रभावशाली मुनिराज के पाद-पद्मों की सार-सम्हाल करना मात्र वैयावृत्य मानी जाने

लगी है, जबकि वैयावृत्य का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है। उसका शारीरिक और मानसिक पक्ष परमोत्कर्ष के मार्ग का प्रबल पोषक है। मोक्षमार्ग की उत्तरोत्तर व्यवस्था है।

वैयावृत्य सुख-साधनरूप है और जिसने भी जन्म धारण किया है वह सुख की कामना करता है, दुःख से भयभीत है। भयभीत होने से और सौख्य की परिकल्पना से जीवन पूर्णता को उपलब्ध नहीं होता। पूर्णता को उपलब्ध होता है सम्यक् आचरण से और वैयावृत्य उसका सही रूप है। जैसे दर्शन और ज्ञान होते हुए भी आचरण के अभाव में वे अधूरे हैं और सम्यक्त्व के बिना सर्वथा निरर्थक हैं उसी प्रकार श्रद्धा के बिना वैयावृत्य सूखे सरोवर की तरह है। प्राय: जन समुदाय आशीर्वादों के गुम्फन में अपने वैयावृत्य के उपक्रम ऐसे ही विक्रय कर देते हैं जैसे कोई चांदी के सिक्कों के बदले अपनी सेवाएं समर्पित कर देता है। अधिकांश व्यक्ति वर्तमान में वैयावृत्य के इसी स्वरूप की उपासना कर रहे हैं और वह स्वरूप मिथ्यात्व से ग्रसित होता जा रहा है। वैयावृत्य है कहा? उस नैर्मल्य की परिकल्पना, उस संजीवनी का बोध-व्यापार, उस अन्तर्ज्योति का अबोध प्रकाश कैसे उपलब्ध हो सकता है? क्या दो कौड़ी के चिलमची वैयावृत्य के पात्र हैं? नहीं, कदापि नहीं। तो क्या व्रती ही वैयावृत्य के पात्र हैं, नही, ऐसा भी एकान्त नहीं है। सम्यक्त्व में श्रद्धान्वित कोई भी श्रावक अपने आड़े समय में वैयावृत्य का पात्र हो जाता है। इसलिये वैयावृत्य का रूढ़ अर्थ नहीं हो सकता वह तो यौगिक है और अनेक अर्थों में देश, काल, भाव की मर्यादाओं के अनुसार व्यवहृत है. कार्यकारी है. सद्यः और सत्वर है। 'डूबते को तिनके का सहारा' के समान वैयावृत्य अन्धकार मे डूबे पथभ्रष्टो को प्रकाश किरण की तरह सहारा है। वैयावृत्य मरण के मुखमें पड़े भव्यप्राणियों को जीवन की ज्वलन्त चेतना है। वैयावृत्य के होने पर जीवन में शेष रह ही क्या जाता है? क्या वैयावृत्य से ऊंचा और कोई धर्म हो सकता है, धर्म की विद्या हो सकती है, धर्माचरण हो सकता है? नहीं, वैयावृत्य तो वह धर्म है जो धार्मिकों को धर्म में स्थिर करता है। यह वह विद्या है जिसमें सम्यक्त्व की सुवास, सल्लेखना का सातत्य और समाधि का मांगल्य सन्निहित है। वैयावृत्य को इसलिए सर्वोपरि स्थान दिया गया है धर्म के क्षेत्र मे, आचार के क्षेत्र में।

एक पिता अपने पुत्र से अपेक्षा करता है कि वह उसकी सेवा करे, उसको प्रणाम करे, उसकी सार सम्हाल करे, किन्तु वही पिता साधु-सन्तों की वैयावृत्य का उपहास करते हुए अपने पुत्र को उनके पास जाने का भी निषेध करता है तो क्या उस बालक के हृदय में वैयावृत्य का बीज अंकुरित हो सकता है, नहीं। बीज तो पड़ता है व्रतियों के सान्निध्य मे, अंकुरित होता है धर्मानुराग के वातावरण में और पराग तभी विकीर्ण होता है जबकि उसे सम्यक्त्व का संसर्ग प्राप्त होता है। इन सबके अभाव मे हम अपना जीवन जी रहे हैं, जिन्दगी से थके हुए बिलख रहे हैं किंतु वस्तुस्थिति को समझने से विवश हैं। वैयावृत्य का यह रहस्य यदि समझ में आ जावे तो सकल सम्भावनाओं का जन्म हो सकता है। हमें चाहिए कि हम इस वैयावृत्य के समीचीन साहचर्य से अपने सम्पूर्ण परिवार को सराबोर कर दें, स्वयं भी सुखद जीवन जीये और दूसरों को भी जीने दे।

निश्चय वैयावृत्य और व्यवहार वैयावृत्य को लेकर आज सारा प्रबुद्धवर्ग विवाद में अपने अमूल्य समय का घात, प्रतिघात करने पर तुला है। श्रुतिविलास, सिद्धान्तविमर्श एवं शास्त्रीय चर्चा में ही हमारी शक्ति का अपव्यय हो रहा है, वैयावृत्य नहीं हो रहा है। शास्त्रों में पढा है वैयावृत्य के लिए बड़े-बड़े सम्राटों, दिग्गज-पंडितों, मनीषी विद्वानों और सुधी सन्तों ने अपने अनन्यभाव समर्पण किये है। इतिहास इसका साक्षी है कि अनेकों जीवों ने सल्लेखना ले लेने पर सद् वैयावृत्य के कारण सुखद मरण को प्राप्त किया है। भयंकर रोग के निमित्त से मृत्यु के मुख में पहुंचे हुए व्यक्ति भी सद् वैयावृत्य से जीवनदान प्राप्त करते हुए देखे गये हैं। पूज्यपाद आचार्य एवं सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य आदि महापुरुषों को किसप्रकार से श्रावक सन्तों ने वैयावृत्य उपलब्ध कराई और उनकी शतायु को सुखायु बनाया यह अव्यक्त नहीं है। वैयावृत्य तो जीवन के प्रथम चरण से अन्तिम चरण सल्लेखना तक की एक व्यवस्थित, निर्बाध और समीचीन व्यवस्था है।

यह धारा अनवरत रूप से आज भी प्रवाहित है। वैयावृत्य, ऐसा वैयावृत्य परम्परागत है और आगे भी होता रहेगा। तीर्थों या अतिशय क्षेत्रों पर विकलांग व्रती यदि भिक्षावृत्ति अपना ले तो इससे और अधिक

कष्ट कर क्या होगा कि वैयावृत्य के अभाव में एक आचारवान व्यक्तित्व जीवनकला से ही निराश हो जावे। ऐसे निराश, उदासीन एवं पराश्रित व्यक्तियों के लिए ही वैयावृत्य अपेक्षित है।

चार दानों की युगपद् समायोजना वैयावृत्य के भव्य वातावरण में सम्भव है। रोग भय से आतुर को सर्वप्रथम अभय चाहिए, अभय के पश्चात् औषध, तत्पश्चात् आहार और आहार के पश्चात् ज्ञान चाहिए ताकि भविष्य में फिर कभी वह आतुरता से ग्रसित न हो सके, तो वैयावृत्य इन सबका एक मात्र उपचार है। अभय उसमें है, औषध उसमें है, आहार उसमें है और ज्ञान भी उसमें है इन सबके समुच्चय का नाम ही तो वैयावृत्य है। वैयावृत्य की यह परिकल्पना सचमुच ही एक महानतम परिकल्पना रही है और रहेगी। आवश्यकता इस बात की है कि इसको पुनर्जीवित किया जाय। तीर्थंकरों, ऋषि-मुनियों की इस आद्य परम्परा को यदि पुनरुज्जीवित किया जावे तो इसमें मुमुक्षुजनों (मोक्षमार्ग मे स्थित मुनिजनो) का तो कल्याण निहित है ही, साथ ही वैयावृत्य में तत्पर साधारण श्रावक भी तीर्थंकर प्रकृति जैसे सातिशय पुण्य लाभ से वंचित न रहे और उस सातिशय पुण्य से परम्परा से मुक्ति-भाजन बने। अन्तर्मन में यही भावना है कि सबका मंगल हो, सबका कल्याण हो और सर्वत्र शांति की स्थापना।

जैसे सूर्य के पीछे प्रकाश आता है, बादलों के साथ-साथ विद्युत् भी चमकती है और जल के साथ शीतलता चली आती है, वैसे ही स्वाधीनता के साथ सभ्यता, संस्कृति, आत्मगौरव, शक्ति और सर्वगुण-सम्पन्नता के समूह चले आते हैं। शरीर में जो स्थान प्राणों का है वही संसार में स्वतंत्रता का है।

वैराग्य जननी द्वादशानुप्रेक्षा

❖ मुनि श्री अभिनन्दनसागरजी महाराज

[संघस्थ पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी]

जैन धर्म निवृत्ति मार्ग का पोषक है और अध्यात्म-प्रधान है, अतः जैन धर्म मे भाव शुद्धि पर तो अधिक बल दिया ही गया है। साथ ही द्रव्यशुद्धि को भी कम महत्व नहीं दिया गया। यहाँ भाव शुद्धि का विवेचन अधिकृत होने से उसे ही प्रमुखता दी गई है। यही कारण है कि मुक्ति पथ में संवरतत्त्व के अन्तर्गत द्वादशानुप्रेक्षा का भी संवर की कारणभूत होने से महत्व पूर्ण स्थान है। द्वादशानुप्रेक्षा के विवेचन से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड, गुजराती आदि अनेकविध भाषाओ मे जैन साहित्य अनुप्राणित है। हिन्दी भाषा में भी द्वादशानुप्रेक्षा की विवेचना कम महत्वपूर्ण नहीं है। उक्त भाषाओं में द्वादशानुप्रेक्षा का वर्णन प्रायः पद्यमय शैली में किया गया है।

द्वादशानुप्रेक्षाएं हिन्दी भाषा में प्रायः बारह भावनाओं के नाम से अभिहित हैं। अनुप्रेक्षाओ या भावनाओं का जीवन में यही प्रयोजन है कि उनके चिन्तन-मनन से साधक की मननशक्ति का विकास हो तथा बाह्यजगत के प्रति उसका आकर्षण कम हो। आध्यात्मिक जीवन की ओर अग्रसर होने मे बारह भावनाओं के चिन्तन से आत्मिक बल की अभिवृद्धि होती है। इनके चिन्तन से साधक की मनःशुद्धि होती है, साम्यभाव की वृद्धि होती है, राग-द्वेष क्षीणता को प्राप्त होते हैं और त्याग की भावना बलवती होती है और जब चिन्तनधारा शुद्ध से शुद्धतम होती चली जाती है तब आत्मानुभूति होने लगती है।

अनुप्रेक्षा, स्वरूप विचार :

"शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा; अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा" [महर्षि पूज्यपादाचार्य]

"अनुप्रेक्ष्यन्ते शरीराद्यनुगतत्वेन स्तिमितचेतसा दृश्यन्ते इत्यनुप्रेक्षा" [अनगारधर्मामृत]

"पुनः पुनः प्रेक्षणं चिन्तनं स्मरणमित्यनुप्रेक्षा" [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका]

उक्त आर्षवाक्यों से अनुप्रेक्षा का अर्थ बार–बार चिन्तन करना ध्वनित होता है। उस चिन्तन के अवलम्बन से शरीरादि के स्वभाव के पुन: पुन: चिंतन की प्रेरणा आचार्यों ने दी है। जाने हुए अर्थ का बार-बार चिन्तन करना, अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है। चूंकि शरीरादि के स्वभाव के बार-बार चिन्तन से संसार की अस्थिरता के सतत मनन से भेद-विज्ञान की उद्भूति होती है और साधक आत्मा-शरीर का भेद ज्ञान करते हुए कर्म निर्जरा करके स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धि को प्राप्त करता है। द्वादशांग का सार भी यही है कि–"जीव अन्य और पुद्गल अन्य है" सम्पूर्ण द्वादशांग वाणी में इसी कथन का विस्तार पाया जाता है। श्रुत में विभिन्न कथन पद्धतियों से इसी भेद-विज्ञान को समझाया गया है। इसीलिए "कर्मनिर्जरा के लिए अस्थि-मज्जानुगत" अर्थात् पूर्णरूप से हृदयंगम किये गये श्रुतज्ञान के सतत परिशीलन को वीरसेनाचार्य ने अनुप्रेक्षा कहा है।

भेद विचार :

अनुप्रेक्षा के द्वादश भेदों का उल्लेख आगम में पाया जाता है तद्यथा—

अद्धुव असरण भणिया संसारामेगमण्णमसुइत्तं।
आसव-संवर-णामा णिज्जर-लोयाणुपेहाओ ।।२।।
इय जाणिऊण भावह दुल्लह-धम्माणुभावणा णिच्चं।
मण-वयण-काय-सुद्धी एदा दस दो य भणिया हु ।।३।। [स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

—अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, दुर्लभ और धर्म ये १२ अनुप्रेक्षा हैं, इनको जानकर शुद्धमन-वचन-काय से सदा भावो।

अनित्यानुप्रेक्षा :

इस दृश्यमान जगत में जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है वह नाश को प्राप्त होगा पर्यायरूप से कुछ भी शाश्वत नहीं है। शाश्वत तो द्रव्य रहता है. उसकी पर्यायों में ही उत्पाद और विनाश प्रतिसमय होता रहता है। हमारा जन्म, मरण से अनुबद्ध है, यौवन बुढापे से सम्बद्ध और लक्ष्मी, ऐश्वर्य-वैभव का सद्भाव पुण्य से तथा विनाश पाप से अनुबंधित हैं। परिवार, बधु-बाधव, पुत्र, स्त्री, योग्य मित्र, शरीर की सुन्दरता, सुन्दर महल-मकान, पंचेन्द्रिय के विषय, आज्ञाकारी सेवक इत्यादि सभी दिखाई देने वाले मुह्यमान चेतन-अचेतन पदार्थ अशाश्वत हैं, अनित्य हैं, क्षणभंगुर हैं। कहा तक कहें उक्त सभी पदार्थ तो आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं, ही किन्तु आत्मा के अतिनिकट हमारा जो यह शरीर है जिसका हम बड़े यत्न से लालन-पालन करते हैं, उसके सुख-दु:ख का ध्यान रखते हुए अनेकविध प्रयत्नों से उसे बलशाली, सुन्दर बनाते हैं वह भी तो नाशवान ही है।

"जातस्य ध्रुवं मृत्यु" इस उक्ति के अनुसार जो जन्मा है वह अवश्य मरण को प्राप्त होता है। इसीलिये कहा जाता है जन्म-मरण अभिन्न मित्रवत् साथ-साथ रहते है। जन्म को मरण का आलिंगन करना पड़ता है। यही कारण है कि तीर्थंकर आदि महापुरुषो ने जन्म-मरण की संतति का नाश करके आत्मोपलब्धिरूप सिद्धावस्था को प्राप्त करने का पुरुषार्थ किया। जिस लक्ष्मी, ऐश्वर्य अथवा प्रभुता को आचार्य परमेष्ठियों ने समुद्र में उठनेवाली लहरों के समान चंचल कहा है वह एक ही स्थान पर शाश्वतरूप से नहीं रहती है। धनार्जन और उसके संचय में अहर्निश लगे रहते हुए हम सुन्दर स्त्री के मोहपाशवत् उसके रक्षण का प्रयत्न करते हैं। और अपना अमूल्य जीवन नष्ट कर देते हैं, किन्तु संचय करके भी उसका सदुपयोग नहीं कर पाते। धनसंचय करने में हम कितना शारीरिक कष्ट सहन करते हैं, मान-अपमान भी सहते हैं, किन्तु फिर भी यह ऐश्वर्य शाश्वत रहने वाला नहीं है। स्त्री, पुत्र, बन्धु-बांधव, पंचेन्द्रिय के विषय इत्यादि मेघपटल के समान अध्रुव हैं, इन्द्रधनुष और विद्युतचंचल हैं। यौवन जल के बुदबुदे के समान अस्थिर और बुढ़ापा सदैव उसके पीछे चलने के लिए तत्पर रहता है, किन्तु संसारी जीव मोह के वशीभूत होकर सदैव अशाश्वत रहने वाले इन आत्म-व्यतिरिक्त चेतन-अचेतन पदार्थों के प्रति मुग्ध

होकर अपनी आत्मा का पतन अनादि काल से कर रहा है। इसीलिए आचार्य भगवन्तों ने अनवस्थित स्वभावी इन पर पदार्थों के प्रति अनासक्त भाव रखने का उपदेश देते हुए ज्ञान-दर्शनोपयोगी सदा शाश्वत रहने वाले ध्रुवस्वभावी आत्मा के स्वरूप चिंतन की प्रेरणा दी है। नाशवान इस दृश्यमान जगत में सभी कुछ अनित्य होते हुए भी एक मात्र हमारा चैतन्य-आत्मा ध्रुव है, नित्य है, स्थायी है और सदा शाश्वत रहने वाला है। इसप्रकार अनित्यभावना के चिन्तन में संसार, शरीर, भोगों की नश्वरता का चिन्तन करते हुए स्वात्मोपलब्धि का पुरुषार्थ जागृत होता है।

अशरणानुप्रेक्षा :

जिस संसार में देवों के स्वामी इन्द्रों का विनाश होते हुए देखा जाता है, हरिहर-ब्रह्म तक भी काल के ग्रास बन चुके हैं उस संसार में कुछ भी शरण नहीं है। जिसप्रकार वनराज-सिंह के पंजे में फंसे हुए मृग को कोई नहीं बचा सकता है वैसे ही मृत्यु के मुख में पड़े हुए प्राणी की कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है। मणि, मंत्र, तंत्र औषधि आदि कोई भी पदार्थ आयु की समाप्ति होने पर मरने से हमें बचा नहीं सकता।

देव, इन्द्र, चक्रवर्ती, सुभट, कोटिभट और पुत्रादि चेतन तथा पर्वत, किला, महल आदि अचेतन पदार्थ मरण के समय हमारी कुछ भी सहायता नहीं करते हैं। जिन कुटुम्बीजनों को हम अपना समझते थे, हमारे सुख-दुःख में जो हमारे अभिन्न मित्र थे और अपने परिवार के पालन-पोषण के लिए तथा अनेक प्रकार के सुखोपभोगों को प्राप्त करने के लिए अन्याय-अनीति पूर्वक भी जिस धन का हमने संग्रह किया था अथवा जो हमारे आज्ञाकारी सेवक थे, हमारे अत्यन्त विश्वस्त वैद्यराज आदि सभी हमारे मरण समय में काम नहीं आ सकते, मृत्यु से हमारी रक्षा नहीं कर सकते हैं। इसीलिए जिनागम में कहा गया है कि भली भांति आचरण किया हुआ हमारा धर्म ही हमारे लिए शरणभूत है। वस्तुतः निश्चयरत्नत्रय-अभेद रत्नत्रय से परिणत हमारी शुद्धात्मा ही हमारे लिए इस विश्व में शरणभूत है तथा उस शुद्धात्मावस्था को प्राप्त कराने में समर्थकारणभूत पंचपरमेष्ठियों की निष्काम आराधना और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भेदरत्नत्रय ही शरणभूत हैं। इसप्रकार चिन्तन करना अशरणानुप्रेक्षा है।

संसारानुप्रेक्षा :

एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण करना, उसे भी छोड़कर अन्य शरीर ग्रहण करना। इसप्रकार अनेकबार शरीर ग्रहण करना और छोड़ना मिथ्यात्व-कषाय के निमित्त से अनादि काल से चल रहा है। स्वकृत कर्मों के अनुसार चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करना ही तो ससार का स्वरूप है। अनेक योनियों और कुलकोटिलक्ष से व्याप्त इस संसार में परिभ्रमण करता हुआ कर्मयंत्र से प्रेरित यह जीव पिता होकर भाई, पुत्र, पौत्र आदि होता है। माता होकर भगिनी, भार्या, पुत्री इत्यादि होता है। स्वामी होकर दास तथा दास होकर स्वामी भी हो जाता है। अधिक कहने से क्या स्वयं अपना ही पुत्र तक भी हो जाता है। जिसप्रकार रंगस्थल में नट नानारूप धारण करता है उसीप्रकार संसारी प्राणी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पंचपरावर्तनरूप संसार में परिभ्रमण करते हुए नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति सम्बन्धी नानाविध पर्यायों को धारण करके शारीरिक, मानसिक और कायिक यंत्रणाओं को सहन करता है। इसप्रकार कर्मनिमित्त पाकर गहन संसाराटवी में भटकते हुए संसार की स्थिति को देखकर यह जीव अपने आत्मा के स्वरूप का चिंतन करता है तथा शुद्धात्मज्ञान के नाशक तथा संसार की वृद्धि में कारणभूत, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग में आत्मपरिणामों को नहीं जाने देता। संसार स्वरूप का चिन्तन करते हुए उससे विरक्त हो संसारातीत सुख के अनुभव में लीनता प्राप्ति हेतु परमात्मा का ध्यान करता है जिससे स्वयं भी संसारातीत होकर साक्षात् परमात्मा बन जाता है। चतुर्गति के दुःखों का तथा पंचपरावर्तन का स्वरूप स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि आर्षग्रन्थों से विस्तार पूर्वक जानने के लिए उन आर्षग्रन्थों का स्वाध्याय-मनन-चिंतन जिज्ञासु आत्मसाधकों को करना चाहिए।

एकत्वानुप्रेक्षा :

जन्म, जरा, मरण की आवृत्तिरूप महादुःख का अनुभव करने के लिए मैं अकेला हूं, न मेरा कोई स्व है और न पर है। मैं स्वयं ही जन्म लेता हूं, स्वयं ही मरण को प्राप्त होता हू। मेरा कोई स्वजन या परजन व्याधि-जरा से उत्पन्न मेरे दुःखों में हिस्सा नही बटाता और न ही कोई उन्हें दूर कर सकता है। जैसे शुभ या अशुभ कर्म मैंने किये हैं उनके शुभ अथवा अशुभरूप फल का भोक्ता मैं स्वयं ही हूं। मेरा धर्म ही आत्मीय है, क्योकि यह जग प्रसिद्ध है कि जो हमें सुख देता है उसे ही हम आत्मीय मानते हैं। इसलिए शाश्वत सुखदाता धर्म को आत्मीय मानते हुए 'मैं अकेला हूं, ममता रहित हू, शुद्ध हूं और ज्ञानदर्शन स्वरूप हूं अतः शुद्ध एकत्व ही मेरे लिए उपादेय है' ऐसी भावना भानी चाहिए। एकत्वानुप्रेक्षा के लिए पद्मनंदी पंचविंशतिका में 'एकत्वसप्ततिका' अधिकार में बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया है।

अन्यत्वानुप्रेक्षा :

माता-पिता, भाई-पुत्र, स्त्री-भगिनी आदि सर्व कुटुम्बीजन स्वार्थसिद्धि के लिए ही मुझसे सम्बन्ध रखते हैं। मोह के वशीभूत प्राणी पुत्रादि मेरे हैं, यह धन, ऐश्वर्य मेरा है इत्यादि चेतनाचेतन पदार्थों के प्रति अपनत्वबुद्धि करता है, किन्तु बन्धुजन, सुवर्ण आदि धन-वैभव और इन्द्रिय सुख आदि कर्मों के आधीन होने से विनश्वर हैं। निश्चयनय से निज-परमात्म पदार्थ से ये सब पृथक् हैं और इनसे मेरी आत्मा भिन्न है। यहां तक अत्यन्त निकट सम्पर्क में स्थित मेरा यह शरीर भी जब आत्मा से पृथक् है तब प्रत्यक्ष भिन्न दिखाई देने वाले अन्य पदार्थों से मेरा कैसा संबंध ? यद्यपि बंधकी अपेक्षा दूध-पानी के समान मेरा आत्मा और यह शरीर एकत्व को प्राप्त है तथापि लक्षण की अपेक्षा दोनों में महदन्तर है। शरीर ऐन्द्रियक है, मै अतीन्द्रिय हू। शरीर अज्ञ है–जड है, मैं चेतन हूं–ज्ञाता हूं। शरीर अनित्यधर्मी है तो मैं नित्यस्वभावी हूं। शरीर आद्यन्तस्वभावी है और मै अनाद्यन्त धर्मी हूं। संसारपरिभ्रमण करते हुए मै लाखो-करोडों शरीरों को प्राप्त किया उन सभी से मै भिन्न धर्मी हूं। इसप्रकार शरीरादि बाह्य द्रव्यो से अपने को पृथक् ज्ञान-दर्शनस्वरूप अनुभव करना, अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

शंका—एकत्व और अन्यत्व अनुप्रेक्षा में क्या अन्तर है ?

समाधान—एकत्व अनुप्रेक्षा में 'मैं अकेला हू' इत्यादि प्रकार से विधिरूप चिन्तन की प्रेरणा है और अन्यत्वानुप्रेक्षा में 'ये देहादि पदार्थ मुझ से भिन्न हैं, ये मेरे नही हैं' इत्यादि निषेधरूप चिन्तन की प्रेरणा दी गई है। अतः एकत्व और अन्यत्व-अनुप्रेक्षा में विधि-निषेधात्मक अन्तर ही है। तात्पर्य दोनों का एक ही है।

अशुचि-अनुप्रेक्षा :

शरीर अशुचिमय है, सप्तधातुमय है, अशुचिपदार्थों का आधारभूत है, शुक्र और शोणितरूप अशुचि पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त हुआ है, शौचगृह के समान अशुचि पदार्थों का भाजन है। अति दुर्गन्धित रस निरन्तर इसमें प्रवहमान रहते हैं, नव मलद्वारों से युक्त है जिनसे निरन्तर मल बहता रहता है। अंगारों के समान अपने आश्रयभूत पदार्थों को भी शीघ्र ही नष्ट कर देता है। स्नान, अनुलेपन, चन्दन आदि से भी इसकी अपवित्रता को दूर करना शक्य नही है। सड़न-गलन स्वभावी और ऊपरी चर्म लपेटे इस शरीर की सेवा में ही हमारे जीवन का बहुभाग नष्ट हुआ चला जाता है। शरीर के शिथिल हो जाने पर, उसमें झुरियां पड़ जाने तक भी हम उसका शृंगार करना बन्द नहीं करते। नये २ कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधनों से उसे सजाते हैं फिर भी वह अशुचिता को छोड़ता नही है। अच्छे से अच्छे व्यंजन बनाकर खाते है और इसकी बुभुक्षा को शान्त करते हैं, किन्तु शरीर का सम्पर्क पाकर वे खाद्य पदार्थ भी मलरूप होकर बाहर निकलते हैं। शरीर के ऊपर मढ़ी हुई चर्म के गौरवर्ण या सुन्दरता को देखकर हम उसमें आसक्त होते हैं। हमें अपने रूप में घमण्ड होता है और उस अभिमान में हम अपने आपको रूपवान या रूपमती मानने लगते हैं, किन्तु जवानी ढलते ही वह हमारा सुन्दर शरीर असुन्दर दिखाई

देने लगता है। रूप का मद करते हुए हम यह भी भूल जाते हैं कि "शरीर व्याधियों का मंदिर है" इस शरीर में ५ ६८,९९,५८४ रोग हैं उनमें से कोई भी एक, दो रोग प्रगट होकर हमारे बलशाली, सुन्दर युवा शरीर को धराशायी करने के लिए पर्याप्त हैं। हमारा बाह्य दृश्यमान चर्माच्छादित शरीर चाहे कितना भी सुन्दर क्यों न हो मरने के पश्चात् उसका कोई मूल्य नही है नि:सार है। कहने का अभिप्राय यही है कि इस अपवित्र देह को किसी भी प्रकार पवित्र नहीं किया जा सकता, समुद्र जल या गंगाजल के निरन्तर स्नान से भी वह शुचिता को प्राप्त नहीं हो सकता है। अत: स्वभाव से अपवित्र इस देह को रत्नत्रय की आराधना में लगाते हुए आत्मरूपी तीर्थ में अवगाहन करके कर्ममल को धोना चाहिए यही इस नि:सार शरीर की सारभूतता है। "यह तन पाय महातप कीजे यामे सार यही है"

आस्रवानुप्रेक्षा :

"**कायवाङ्मन:कर्मयोग:**" "**स आस्रव:**" तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामी आचार्यदेव ने आस्रव का विवेचन करते हुए बताया है कि काय-वचन और मन की क्रिया योग है और वही आस्रव है। इसका अभिप्राय यही है कि मन-वचन-काय के शुभ अथवा अशुभ परिणमन के द्वारा आत्मप्रदेशों में भी परिस्पंदन होने से शुभ-अशुभ कर्मों का आस्रव होता है और जब आस्रव होता है तो उनका बन्ध भी होता है। अत: अनादिकाल से दूध और पानी के समान आत्मा और कर्मों का एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध है। वह आस्रव साम्परायिक और ईर्यापथ के भेद से दो प्रकार का है। संसारी प्राणियों में जब तक कषाय का सद्भाव पाया जाता है तब तक साम्परायिक आस्रव होता है और यह आस्रव संसारवृद्धि करने वाला होता है। ईर्यापथ आस्रव कषाय रहित जीवों के होता है और वह संसारवृद्धि मे कारण नही होता। संसारी प्राणियों में अयोगकेवली भगवान आस्रव रहित हैं शेष सयोगकेवली पर्यन्त सभी जीवों के आस्रव होता है। यह अवश्य है कि आस्रव की तरतमता कषाय सहित और कषाय रहित जीवों में पायी जाती है। कषाय सहित जीवों में तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव अधिकरण और वीर्य (शक्ति) के निमित्त से आस्रव में विशेषता (हीनाधिकता) होती है। कषायों का सद्भाव १०वे गुणस्थान तक है और इनमें भी बुद्धि पूर्वक कषायों का अस्तित्व तो छठे गुणस्थान तक है आगे अबुद्धिपूर्वक कषाये पायी जाती हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से प्रतिसमय आत्मा में कर्मों का आस्रव होता है। इनमें भी आस्रव का मूल मिथ्यात्व है अत: मिथ्यात्व का नाश सर्वप्रथम करना चाहिए। सम्यग्दर्शन प्राप्ति होने के पश्चात् भी यद्यपि आस्रव बन्ध होता है, किन्तु वह अनन्तससाररूप नही होता है। मुक्तिपथ की प्राप्ति उसे हो जाती है अब यदि वह अधिक से अधिक संसारपरिभ्रमण करेगा तो अर्द्धपुद्गल-परावर्तन काल तक। इसीलिए आचार्यों ने कहा—मोह को सदा धिक्कार हो, धिक्कार हो, क्योंकि मोह के हृदय में स्थित रहते हुए यह जीव मोहित होता हुआ मोक्षसुख में कारणभूत हितकारी जिनधर्म को नहीं समझ पाता और उसमे प्रवृत्ति नहीं करता है। क्रमश: अविरति, प्रमाद, कषाय और योगों को भी नष्ट करने से ही उस अविनाशी सुख को प्राप्त कर सकते हैं जो मोक्ष में प्राप्त होता है। सक्षेप में, आस्रव इहलोक और परलोक में दु:खदायी है। महानदी के प्रवाह के वेग सदृश तीक्ष्ण है तथा इन्द्रिय, कषाय और अव्रतरूप है। इनमें स्पर्शादिक इन्द्रियां वनगज, कौआ, सर्प, पतङ्ग, हरिण आदि प्राणियो को दु:खरूप समुद्र में अवगाहन कराती हैं। कषायादि भी इस लोक में वध, बन्ध, अपयश और क्लेशादि दु:खो को उत्पन्न करने वाली हैं। इस प्रकार आस्रवों के दोषों का चिन्तन करना चाहिए और उन आस्रवों को जड़स्वभावी, अध्रुव, अशरण, दु:खमय दु:खरूप फल देने वाले, आकुलता उत्पन्न करने वाले तथा अशुचिरूप जानकर उनसे अपनी आत्मा को निवृत्त (पृथक्) करना चाहिए।

संवरानुप्रेक्षा :

"आस्रवनिरोध: संवर:" आस्रवका निरोध करना संवर है। जिस प्रकार नाव में छिद्र हो जाने से उसमें पानी भरने लगता है और नाव के जलमग्न होने की सम्भावना बनी रहती है। अत: कुशल नाविक पहले उन छिद्रों को बन्द करता है जिनसे नावमें पानी आ रहा है। यदि पहले छिद्रों को बन्द नही करे और नावमें आये हुए

पानी को बाहर फेंकता रहे तो कोई लाभ होनेवाला नहीं है, क्योंकि जितना पानी वह बाहर फेंक रहा है उतना पानी उन छिद्रों से पुन: नावमें आ रहा है। ऐसी स्थिति में सर्वप्रथम पानी के अन्दर आने का द्वार बन्द किया जाना चाहिये, उसीप्रकार सर्वप्रथम जिनकारणों से आत्मामें कर्मोका आस्रव हो रहा है उन कारणों को दूर करना चाहिए। मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद-कषाय और योग को क्रमशः सम्यक्त्व-विरति-अप्रमाद-कषायका उपशम या क्षय और योगों के अभाव के द्वारा आत्मा से पृथक् करना चाहिये यही संवर कहलाता है।

द्रव्यसंवर और भावसंवर के भेदसे संवर दो प्रकार का है। संसार की कारणभूत क्रिया की निवृत्ति होना 'भावसंवर' है। संसार की निमित्तभूत क्रिया का निरोध होनेपर तत्पूर्वक होनेवाले कर्म-पुद्गलोंके ग्रहण का विच्छेद होना द्रव्यसंवर है। चतुर्थगुणस्थानमें सम्यक्त्व होनेपर मिथ्यात्वका, पाचवें गुणस्थानमें पांच अणुव्रत, तीनगुणव्रत और चार शिक्षाव्रतरूप १२ व्रतों से (देशसंयम से) अविरति का एकदेशरूप अभाव तथा छठे गुणस्थानमें अहिंसादि पाच महाव्रतों के पूर्ण होनेपर अविरतिका पूर्ण अभाव हो जाता है। सप्तमगुणस्थान में अप्रमत्त होने से प्रमाद का तथा ग्यारहवें गुणस्थानमें उपशमापेक्षा और बारहवें गुणस्थानमें क्षयापेक्षा कषायों का अभाव हो जाता है। चौदहवे गुणस्थानमें योगों का निरोध होनेसे योगाभाव हो जाता है।

"सगुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः" गुप्ति, समिति, धर्म अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र से संवर होता है। "तपसा निर्जरा च" तपसे भी संवर तो होता ही है, निर्जरा भी होती है। ३ गुप्ति, ५ समिति, १० धर्म, १२ अनुप्रेक्षा, २२ परिषहजय और ५ चारित्र ये ५७ भेद संवर के हैं अर्थात् ५७ प्रकार से आस्रव का निरोध होता है। इसप्रकार संवर के कारणों का चिन्तन करना संवरानुप्रेक्षा है।

आत्मा स्वयं सुखरूप है, किन्तु मन-वचन-कायरूप कर्मागम द्वारों को निष्क्रिय बनाकर जब हम आत्मा में लीन होते है तभी संवर पूर्ण हो सकता है। संवर चर्चणीय विषय नही है वह तो सम्यग्दर्शनपूर्वक धारण किये व्रतादि, समिति एवं त्रिगुप्ति की समीचीन परिपालना से ही संभव है। इसप्रकार मन-वचन-काय को शुभप्रवृत्तिमें लगाने से अशुभोपयोग का संवर और आत्मध्यान से शुभोपयोग का संवर होता है। शुद्धोपयोग से शुक्लध्यान होता है। अतः संवर का कारण ध्यान है इसप्रकार चिन्तन और तदनुसार आचरण करना चाहिये।

निर्जरानुप्रेक्षा :

आत्मा से कर्मों का एकदेश क्षय होना निर्जरा कहलाती है। सविपाक और अविपाक के भेद से निर्जरा दो प्रकार की है। सविपाक निर्जरा तो चारों गति के प्राणियों के प्रति समय होती है, किन्तु अविपाक निर्जरा व्रती मनुष्यों के ही होती है। सम्यग्दर्शनपूर्वक अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इन बहिरंग-अन्तरंग तपों को करने से असमय मे कर्मों को उदयावली में लाकर ठीक उसी प्रकार निर्जीर्ण कर दिया जाता है जिसप्रकार माली कच्चे फलो को पाल में डालकर समय से पूर्व पका देता है।

सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती, महाव्रती, अनन्तानुबन्धी का विसंयोजक, दर्शनमोहनीय की क्षपणा करनेवाला उपशमक, उपशान्तमोह गुणस्थानवर्ती, क्षपक, क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती तथा जिन इन सबके उत्तरोत्तर असंख्यात-गुणी कर्मों की निजराका क्रम है। यहा यह ध्यातव्य है कि निर्जरा के उक्त स्थानो में गुणश्रेणी निर्जरा को प्राप्त द्रव्य तो असंख्यातगुणा-असंख्यातगुणा है, किन्तु इनमें उत्तरोत्तर काल का प्रमाण संख्यातगुणा-संख्यातगुणा हीन कहा गया है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि अन्तर्मुहूर्त काल में असंख्यातगुणे कर्मों की निर्जरा करता है उससे श्रावक (अणुव्रती) संख्यातगुणे हीनकालमे ही सम्यग्दृष्टिको अपेक्षा असंख्यातगुणे कर्मों को निर्जरा करता है। अन्यत्र भी ऐसा ही जानना।

जिन्होंने कषायशत्रुओं को जीत लिया है, दूसरों के द्वारा दुर्वचन कहे जाने पर या अपमानित करने पर भी जिनकी क्रोधादि कषायें उपशान्त रहती हैं, पूर्वजन्म के बैर के कारण अन्य लोगों के द्वारा किये जाने वाले उपसर्गों को जो पूर्वकृत कर्मों का फल जानकर प्रसन्नतापूर्वक सहन करते हैं तथा जो अपने आत्मस्वरूप में लीन होते हुए शरीरादि के दोषों का चिन्तन करके उससे निर्मम होते हुए अर्थात् उसके प्रति पाये जानेवाले मोह को दूर करते हैं तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी पालना एवं उक्त द्वादशतपों की निर्दोष, निष्काम आराधना करते है ऐसे महामुनि ही निर्जरा के पूर्ण अधिकारी है, क्योंकि उनकी सभी आराधनाएं समीचीनता पूर्वक होती है।

लोकानुप्रेक्षा :

अनन्तप्रदेशी आकाश के बहुमध्यभागमें ३४३ राजू-घन प्रमाण असंख्यातप्रदेशी लोक है। यह लोक अकृत्रिम और अनादिनिधन है। यह लोक घनोदधि-घनवात-तनुवातवलय के आधार पर अवस्थित है। न तो किसी ब्रह्मा ने इसे बनाया, न कोई विष्णु इसका पालन करता और न कोई महेश इसका संहार करने मे समर्थ है। यह शेष नाग के मस्तक पर भी आधारित नही है। इन्ही सब मान्यताओं का निरसन ही लोकस्वरूप के उक्त विवेचन से हो जाता है। ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक के भेद से उस लोक को तीन प्रकार आचार्य परमेष्ठियो ने बताया है।

इस लोक में जीव अपने द्वारा उपार्जित कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का अनुभव करते है। इस भयंकर भवसागर मे जन्म-मरण की सन्तति का बार-बार अनुभव करते है। इस लोक मे कर्मों की विचित्रतावश जो सुखी है वह दुःखी हो जाता है, स्त्री है वह पुरुष, माता है वह पुत्री, पुत्री है वह माता, बलवीर्य युक्त महाप्रतापी सुन्दर राजा अशुचि स्थान मे लट हो जाता है। विश्व का ऐसा कोई प्राणी नहीं है जिससे इसका कभी सम्बन्ध नही हुआ हो अर्थात् त्रिलोकवर्ती सभी जीवों के साथ त्रिकाल मे किसी न किसी प्रकार सम्बन्ध अवश्य हुआ है। कुछ पर्यायों और स्थानो को छोड़कर ऐसी कोई पर्याय या स्थान शेष नही है जहा इस जीव ने जन्म धारण नही किया हो। इतना सब होते हुए भी अनादि कालीन इस लोकव्यवस्था मे परिभ्रमण करते हुए कभी भी इस जीव को हमें सुख की प्राप्ति नहीं हुई। इस लोक मे इस जीव ने शारीरिक, मानसिक, आगतुक आदि अनेकविध दु.खो का अनुभव किया है। इसप्रकार लोकस्वरूप का विचार करते हुए लोकानुप्रेक्षा के चिन्तन से लोक-संसारकी निस्सारता का अनुभव करके इस लोक परिभ्रमण से अपने आत्मा को छुडाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। लोक का विस्तृत स्वरूप जानने के लिए जिज्ञासु आत्मसाधकों को त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ति, जम्बूद्वीपपण्णत्ति, तत्त्वार्थसूत्र आदि आर्षग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए।

बोधि दुर्लभानुप्रेक्षा :

बोधि अर्थात् यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति अथवा बोधि-रत्नत्रय की प्राप्ति होना इस लोक में अत्यन्त कठिन है और उसकी प्राप्ति बिना सभी प्राप्तियां निष्फल हैं अप्रयोजनीय हैं, क्योंकि अन्य सभी उपलब्धिया तो हमें कठिन होते हुए भी अनेकों बार प्राप्त हुई है, किन्तु बोधि की प्राप्ति हमे अभी तक नही हुई, अन्यथा हम मुक्ति प्राप्त कर लेते। इसप्रकार बोधि प्राप्ति की दुर्लभता का चिन्तन करना बोधिदुर्लभ भावना है।

एक निगोदजीव के शरीर में सिद्धों से अनन्त गुणे जीव हैं। इसप्रकार के स्थावर जीवों से यह लोक ठसाठस भरा हुआ है। अतः इस लोक में त्रसपर्याय की प्राप्ति को चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति के समान अत्यन्त दुर्लभ बताया है। त्रसपर्याय भी विकलेन्द्रिय जीवों की बहुलता से व्याप्त होने के कारण कृतज्ञतागुण की प्राप्ति की दुर्लभता के समान पंचेन्द्रिय पर्याय का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। पंचेन्द्रियों में भी सैनी पर्याय और उनमें पशु, मृग, पक्षी आदि तिर्यंचों की बहुलता होने से चौराहे पर रखी रत्नराशि की प्राप्ति की दुर्लभता के समान मनुष्य पर्याय की प्राप्ति होना कठिन है। मनुष्य पर्याय की प्राप्ति हो भी जावे तो उसके नष्ट हो जाने पर पुनः उसकी प्राप्ति होना उतना ही कठिन है जितना एक वृक्ष के जल जाने पर उन जले हुए भस्मरूप पुद्गल

परमाणुओं का पुनः उसी वृक्ष रूप होना अत्यन्त कठिन है। पुनः मनुष्य पर्याय की प्राप्ति हो भी जावे तो उत्तम देश, उच्च कुल, इन्द्रियों की परिपूर्णता, सम्पदा, नीरोगता आदि की प्राप्ति होना उत्तरोत्तर अति दुर्लभ हैं। इन सबके मिल जाने पर भी समीचीन धर्म की प्राप्ति नहीं होवे तो दृष्टि बिना मुख की व्यर्थता के समान मनुष्य जन्म और उक्त समस्त सामग्री प्राप्त होना व्यर्थ है। अति कठिनता से प्राप्त होने योग्य उस धर्म को प्राप्त करके भी विषय सुखों में रममाण होना भस्म के लिए चन्दन जलाने के समान ही होगा। कदाचित् विषय सुखों से विरक्त भी हो जावे तो तप की भावना, धर्म की प्रभावना और सुख पूर्वक मरणरूप समाधि का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है और इसके होने पर ही बोधि लाभ सफल है।

संक्षेप में, यदि काकतालीय न्याय से मनुष्य गति, आर्यत्व, तत्त्वश्रवणादि सभी की प्राप्ति हो भी जावे तो इनकी प्राप्तिरूप ज्ञान और उसमें भी शुद्धात्मा के ज्ञानस्वरूप निर्मल धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानरूप परम समाधि फलभूत है, उसी की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। इसलिए उसी की निरन्तर भावना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है।

धर्मानुप्रेक्षा :

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥

उक्त गाथा में स्वामीकार्तिकेयाचार्य ने धर्म का स्वरूप विभिन्न दृष्टिकोणों से समझाया है। वे कहते हैं—'वस्तु का स्वभाव धर्म है, दस प्रकार के क्षमादिभाव धर्म है, रत्नत्रय धर्म है और जीवों की रक्षा करना धर्म है।" जीवों की रक्षारूप दयामय धर्म के परिपालन से प्रारम्भ होकर यह जीव रत्नत्रय धर्म को प्राप्त करता है तथा उस रत्नत्रय धर्म की आराधना से उत्तमक्षमादि दशधर्मों की साधना यह जीव करता है तब वह वस्तु-स्वभावरूप धर्म को प्राप्त होता है।

उक्त कथन का यही अभिप्राय है कि वस्तु का स्वभावरूप धर्म प्राप्तव्य है और शेष उसके साधन हैं। अथवा वस्तुस्वभावरूप धर्म चरमविकास है तो शेष क्रमशः विकास की उत्तरोत्तर अवस्थाएं हैं।

भवभ्रमणशील संसारी जीव अनादि से सुखकी खोज में लगा हुआ है, किन्तु फिर भी वह अभी तक सुख को प्राप्त नही कर सका। यथार्थ मे सुखप्राप्ति का मूलभूत साधन धर्म ही है, धर्माराधना के बिना हम अपने इष्ट सुखको प्राप्त नही कर सकते हैं। धर्म के बिना ही यह जीव सहज सुखसे दूर रहकर पंचेन्द्रिय के विषयों में आसक्ति और कषायोंमें प्रवृत्तिके कारण ससारकी ८४ लाख योनियो में जन्म-मरण करते हुए दुःखकी श्रृंखला से बद्ध हो रहा है अर्थात् दुःखका अनुभव कर रहा है। संक्षिप्त मे, "आतमके अहित विषय कषाय" आत्मा के अहित करनेवाले विषय और कषाय हैं। इन विषय-कषायों से हटाकर इष्ट सुख-मोक्ष सुखको प्राप्त कराने में धर्म ही समर्थ है। ऐसे आर्षवचन है।

गृहस्थधर्म और श्रमणधर्म रूप से धर्म का निरूपण जिनागम में किया गया है। गृहस्थधर्म इहलौकिक अभ्युदय पूर्वक परम्परया मुक्तिमार्ग है तो श्रमणधर्म साक्षात् कर्मास्रव के संवरपूर्वक निर्जरा का हेतु है और मुक्ति-लाभ करानेवाला है। भव्य जीव सम्यग्दर्शनपूर्वक यथाशक्ति गृहस्थधर्म के एकादश सोपानों मे अपनी आत्मा का विकास करते हुए चरमावस्था (उत्कृष्ट श्रावक) को प्राप्त करता है तत्पश्चात् श्रमणधर्म को प्राप्त होता है। उभय-धर्मों में अहिंसा-दया या जीवरक्षारूप धर्म की प्रधानता है। श्रमणधर्म रत्नत्रयाराधनारूप है। सम्यक्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की त्रिपुटी ही साक्षात् मोक्षमार्ग है और इनमें भी सम्यक्चारित्र की प्रधानता है, क्योंकि क्षायिकसम्यग्दर्शन को प्राप्त सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र भी निरन्तर ज्ञानमय तत्त्वचर्चा में लीन रहते हुए भी चारित्र के बिना मुक्तिमंदिर में प्रवेश नही पा सकते। अतः कुन्दकुन्दाचार्य ने "चारित्तं खलु धम्मो" कहकर चारित्र की प्रधानता को स्वीकार किया है तथा उस धर्मका मूल "दंसणमूलो धम्मो" कहकर सम्यग्दर्शन को बताया है। रत्न-

त्रयाराधना से कषायप्रवृत्ति की रागद्वेष की निवृत्ति होती जाती है तथा कषायों के अभाव से उत्तमक्षमादि दशलक्षण धर्मों की प्रकटता आत्मामें होती चली जाती है तथा वस्तुस्वभावरूप धर्म आविर्भूत हो जाता है, क्योंकि विषय-कषाय आत्मा के विभाव हैं, विकार हैं उन्हें दूर करके ही तो स्वभाव प्राप्त होता है। जब आत्माकी रागद्वेष परिणति समाप्त हो गई तो वीतरागतारूप आत्मस्वभाव प्राप्त होता है और अनन्तकाल पर्यन्त सर्वकर्म विप्रमुक्त ज्ञानशरीरी आत्मानन्द में यह जीव लीन हो जाता है। इसीलिए—

"धर्म परमरसायन है, धर्म अनन्तचतुष्टयरूप निधियों का भण्डार है, धर्म कल्पवृक्ष है और धर्म चिन्तामणिरत्न है। धर्म जगदुद्धारक है अतः धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है।" इसप्रकार चिन्तन करना धर्मानुप्रेक्षा है।

अनुप्रेक्षा का माहात्म्य व फल :

जो पुरुष अनादिकालसे आज तक मोक्ष गये हैं, जा रहे हैं तथा भविष्य में जावेंगे वह सब द्वादशानुप्रेक्षा के चिन्तन का ही माहात्म्य है। इन अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन से पुरुषों के हृदयमें कषायरूप अग्नि बुझ जाती है तथा परद्रव्यों के प्रति रागभाव गल जाता है और अज्ञानरूपी अन्धकार का विलय होकर ज्ञानरूप दीप का प्रकाश होता है। द्वादशअनुप्रेक्षाएं धर्मध्यान के लिये आधारभूत है। अनुप्रेक्षा चिन्तन के बल पर ध्याता धर्मध्यान में स्थिर रहता है अर्थात् अनुप्रेक्षा एकाग्रता के लिये अवलम्बनरूप है। अधिक कहने से क्या द्वादशानुप्रेक्षा का चिन्तन कर्मक्षय का कारण है।

उद्दिष्ट–मीमांसा

❖ पं० छोटेलालजी बरैया

[धर्मालंकार, उज्जैन]

साध्वाचार या क्षुल्लक-ऐलक की चर्या से सम्बन्धित उद्दिष्ट त्याग सम्प्रति श्रावकों में विशेष चर्चणीय विषय हो गया है। जो लोग उद्दिष्ट का शाब्दिक अर्थ भी नहीं जानते वे भी इस चर्या में प्रायः सलग्न दिखाई देते हैं, किन्तु आचार सम्बन्धी ग्रंथों का अवलोकन कोई भी नही करना चाहता। वस्तुतः यदि श्रावकाचार और साध्वाचार सम्बन्धी पूर्वाचार्य प्रणीत मूलग्रन्थों का सूक्ष्म पठन-मनन चिन्तन किया जावे तो उद्दिष्ट के सम्बन्ध में जो भ्रम पूर्ण वातावरण यत्र-तत्र दिखाई देता है और जो वितर्कणाएं उद्दिष्ट के सम्बन्ध मे दी जा रही हैं उनको कोई अवकाश प्राप्त नहीं हो सकता है।

सर्वप्रथम उद्दिष्ट के सम्बन्ध में जो कुछएक वितर्कणाएं हैं उन्हींको पाठको के समक्ष रखूं—

१ "आज हमारे गांव में मुनिश्वर आये हैं उनके लिये हमने आहार बनाया है" इसप्रकार आहार दान देने में उद्दिष्ट दोष होता है। उद्दिष्ट का जन-साधारण ने सामान्य से यही अर्थ समझ लिया है कि मुनिजनों के लिये ही आजकल आहार बनाया जाता है और इसप्रकार उनके लिये बनाया गया आहार उद्दिष्ट दोष से दूषित है। अतः वर्तमान में प्रायः साधुगण उद्दिष्ट आहार ही ग्रहण करते हैं।

२ कुछ लोग कहते हैं कि हम नीरस भोजन नहीं करते और न गर्म जल का उपयोग अपने भोजन में करते। फल-दूध आदि का सेवन भी भोजन के साथ नहीं करते। अतः यह सब आहार साधुओं के लिए ही बनाया जाता है इस कारण वह आहार उद्दिष्ट दोषसे दूषित है। इत्यादि अन्य अनेक प्रकार की वितर्कणाएं लोग करते हैं। साथ ही यह भी कहते

हैं कि वर्तमान में जब प्रतिमाधारी श्रावक ही नहीं हो सकते तब मुनि कैसे हो सकते हैं ? वर्तमान की आहारविधि मुनियों के योग्य नहीं है। इसप्रकार के विचारों से उद्दिष्ट शब्द के अर्थ को अत्यन्त जटिल कर दिया है। अतः आचार ग्रंथों के परिप्रेक्ष्य में उद्दिष्ट-मीमांसा ही इस निबन्ध का प्रमुख लक्ष्य है।

सर्वप्रथम हमें यह सोचना है कि उद्दिष्ट दोष पात्र के आश्रित है या दाता के आश्रित ? उद्दिष्ट का क्या लक्षण है ? इत्यादि।

उद्दिष्ट दोष दाता के आश्रित न होकर पात्र के आश्रित है। अर्थात् पात्र-साधु अपने मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना रूप नव कोटी की प्रेरणा से उत्पन्न आहार ग्रहण करता है तो वह आहार उद्दिष्ट दोष से दूषित है। अभिप्राय यह है कि यदि साधु उक्त नवकोटी पूर्वक स्वयं आहार बनाने की प्रेरणा करते हैं तो वह उद्दिष्ट दोष होता है। मुनिजन इसप्रकार के उद्दिष्ट के त्यागी होते हैं। कहा भी है—

स्वनिर्मितं त्रिधा येन कारतोऽनुमतः कृतः।
नाहारो गृह्यते पुंसा त्यक्तोद्दिष्टः स मण्यते ॥ [सुभा रत्न. सं०श्लो० ८४३ पृ०९६]।

—जो दिव्य आत्मा अपने मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से अपने लिए उद्देश्यकर स्वयं आहार बनवाकर उस (अपने लिये बने हुए) आहार को ग्रहण नहीं करता वह उद्दिष्ट-त्यागी कहलाता है।

सकलकीर्ति आचार्य के शब्दों में—"कृतादिभिर्महादोषैस्त्यक्ताहारावलोकिनः" (प्रश्नोत्तरश्रावकाचार) मुनिगण अपने लिए आहार बनवाने के लिए कृत-कारित-अनुमोदना नहीं करते अतः वे उद्दिष्ट के त्यागी कहे जाते हैं। अथवा यदि श्रावक स्वयं आकर मुनिराज से यह कहे कि महाराज मैने आज अमुक व्यंजन बनाये हैं अतः आप मेरे यहां ही आज पधारे, या दूसरों से भी कहलावे और महाराज उसके यहा आहार के लिए पहुंच जाते हैं तो वह भी उद्दिष्ट दोष है, इसप्रकार साधुगण आहार करने के त्यागी है।

दाता के आश्रित औद्देशिक दोष होता है। नाग-यक्षादि देवता के लिए, अन्यमती पाखण्डियों के लिए, दीन-अनाथजनों के लिए उद्देश्य करके बनाया गया भोजन औद्देशिक है। संक्षेप में औद्देशिक भोजन के चार प्रकार कहे हैं। तद्यथा—

१. जो कोई आवेगा सबको देंगे ऐसे उद्देश से किया अन्न यावान्नुद्देश है। २ पाखण्डी अन्यलिंगीके निमित्त से बनाया भोजन समुद्देश है। ३. तापस परिव्राजक आदिके निमित्त बनाया भोजन आदेश है। ४ दिगम्बर साधुओं के निमित्त से बनाया गया भोजन समादेश दोष से दूषित है।

उद्दिष्ट का विशेष स्पष्टीकरण :

उद्दिष्ट त्यागी, श्रावक को अपने लिए आहार बनवाने के लिए नही कहता है कि "आज तुम मेरे लिए अमुक आहार बनाओ, मैं तुम्हारे घर पर ही आज आहार ग्रहण करूंगा।" इसीप्रकार अपनी शारीरिक चेष्टा से ईशारा भी नहीं करता कि "आज तुम मेरे लिए अमुक आहार बना लेना मै तुम्हारे यहा ही आऊंगा" और न मनमें ही इसप्रकार का चिन्तन करता है कि "अमुक सेठ के रा सामान्य भी गृहस्थ के घर नानाविध व्यंजनयुक्त उत्तम आहार बनाया सो आज मैं उसी के यहां आहार ग्रहण करूंगा।" इत्यादि नवकोटी से अपने लिये स्वयं आहार बनवाकर उसको ग्रहण नहीं करता वह उद्दिष्ट त्यागी है।

उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उद्दिष्ट त्यागी स्वयं अपने लिए मन-वचन और काय से किसी श्रावक को आहार बनाने की प्रेरणा नहीं देता, न दूसरों से कहलवाता और न कहकर बनाये गये को अनुमोदना ही करता। आहार सम्बन्धी समस्त संकल्प-विकल्पों का मन-वचन-काय, कृत-कारित और अनुमोदनारूप नवकोटी पूर्वक त्याग होता है।

श्रावक का मुख्य कर्तव्य ही यह है कि अपने ग्राम या नगरमें साधुओं का आगमन होने पर अपने घर भक्ति पूर्वक साधुओं को आहार देवे। जो अपने आवश्यक कर्तव्यस्वरूप दान नहीं देता वह वास्तव में श्रावक ही नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्य ने रयणसार में कहा भी है—

"दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मे, ण सावया तेण विणा" दान और पूजा श्रावक का मुख्य कर्तव्य है उसके बिना श्रावक, श्रावक नहीं कहा जा सकता। अतः श्रावक को चाहिए कि वह अपने नगर या ग्राम में आये हुए मुनिजनों एवं अन्य त्यागीजनों को आहार दान अवश्य देवे। व्यर्थ के झमेले में पड़कर आहारदान से वंचित न रहे।

मुनिजन प्रायः व्रतपरिसंख्यान नामक तपके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की प्रतिज्ञाएं लेकर आहार को जाते हैं यदि यथा चिंतित व्रतपरिसंख्यान जिस भी श्रावक के यहा मिल जाता है वहां ४६ दोष और ३२ अन्तराय टालकर निर्दोष-एषणासमिति युक्त आहार ग्रहण करते है। फिर श्रावकों की यह कल्पना करना कि "हमने तो महाराज के लिए आहार बनाया" बिल्कुल अयथार्थ है, क्योंकि यदि महाराज के लिए ही आहार बनाया होता तो महाराज का आहार अवश्य ही उस घर में होना चाहिए था, किन्तु ऐसा तो हुआ नही। अतः उक्त प्रकार मिथ्या कल्पना करना व्यर्थ है।

यदि उद्दिष्ट शब्द की उक्त व्याख्या न मानी जावे तो आगम और व्यवहारके लोप की सम्भावना होगी। दूसरी बात यह है कि उद्दिष्ट दोष मात्र आहारदान मे ही नही होता वरन् चारो ही प्रकार के दानो में माना गया है। यह बात पहले भी बतायी जा चुकी है कि उद्दिष्ट दोष पात्रके आश्रित है न कि दाता के आश्रित।

आचार्यप्रणीत मूलग्रंथों को नही पढने से तथा मात्र हिन्दी ग्रंथो को पढ़ने से कई बन्धुओं की यह धारणा बन रही है कि उद्दिष्ट दोष केवल आहार से ही सम्बन्धित है, अन्य औषधि वसतिका आदि में नही, किन्तु यह मान्यता भूल भरी है, क्योंकि आचार्यों ने वसतिका, उपकरण आदि पदार्थो को भी उद्दिष्टादि दोषों से रहित ग्रहण करने की आज्ञा बतलाई है और उसीके अनुसार अपनी समाचर्या मुनिजन करते हैं। कहा भी है—

'पिण्डं सेज्जं उवधि उग्गमउप्पायणेसणादीहिं।
चारित्तरक्खणट्ठं सोधणयं होदि सुचरित्तं ॥' [मूलाचार-द्वि. भाग-समाचारविभाग]

—पिण्ड, शय्या, उपकरण उद्गम, उत्पादनादि दोषों से रहित ही ग्रहण करने से मुनिगणों के चारित्र की रक्षा व शुद्धि होती है। अथवा उद्दिष्टादि दोषो से रहित पिण्ड, शय्या, उपकरणादि पदार्थ ग्रहण करनेवाला मुनि हो विशुद्ध चारित्र का धारी होता है।

पिण्ड—आहार-पानी औषधादि। शय्या—वसतिका, चटाई, फलक, तृणादि। उपकरण—शास्त्र, पिच्छिका, कमण्डलु आदि। मूलाचार ग्रन्थ मुनियों के आचारसम्बन्धी ग्रन्थों मे प्रधानग्रन्थ है, उक्त प्रकरण के संबंध मे पुनः वहां कहा है कि—

"जो साधु पिण्ड, उपधि और शय्या आदि का उद्गम-उत्पादनादि दोषों से सहित ग्रहण करता है वह अपने मूलगुणों से रहित होता हुआ मूलस्थान (श्रावकपद) को प्राप्त हो जाता है तथा वह लोक में यति धर्मविहीन होकर श्रमणों में तुच्छ समझा जाता है।

अतः जो दाता प्रासुक दान (आहारदानादि) और उपधि (वसतिका, तृणादि) अपने हाथ से शोधकर देता है एवं जो पात्र (मुनि) ऐसे आहार अथवा उपधि को ग्रहण करते है तो दाता और पात्र दोनों को महाफल की प्राप्ति होती है। कहा भी है—

'फासुगदाणं फासुग-उवधि तह दोवि अत्ति सोधोए।
जो देदि जो य गिण्हदि दोण्हं वि महाफलं होई ॥'

दाता को उद्दिष्ट का त्याग नहीं होता, पात्र को होता है, क्योंकि दाता तो पिच्छिका, कमण्डलु, औषधि आदि समस्त वस्तुएं पात्र को लक्ष्य करके ही तैयार करता है यदि वह उद्दिष्ट समझकर दान ही नही करे तो दान का अभाव होगा तथा बहुत बड़ी अव्यवस्था हो जावेगी, कारण कि दाता और पात्र परस्पर मे यथायोग्य एक दूसरे पर आश्रित होते हैं तभी दोनों गृहस्थ-मुनिधर्म निर्बाधगति से चल सकते हैं। साथ ही निम्न शंकाओं की सन्तति को भी नहीं रोका जा सकेगा।

यदि कहा जावे कि वर्तमानकाल में तो उद्दिष्ट आहार होता है, क्योंकि हम नीरस भोजन नहीं करते, गर्मपानी नहीं पीते, शुद्ध भोजन नही करते इत्यादि कारण कहे जाते हैं। इसप्रकार की शंकाओं की प्रतिशंकाएं की जा सकती हैं और वे ही समाधान स्वरूप भी होंगी।

१ न तो सभी श्रावक चतुर्थकाल में गरमपानी पीते थे और न ही आज पीते हैं तो गरमपानी करना ही उद्दिष्ट माना जावे अथवा मुनिराज चतुर्थकाल में भी एक-दो-तीन या समस्त रसों का परित्याग कर भोजन ग्रहण करते थे और आज प्रायः मुनिराज रसपरित्यागतप के अन्तर्गत रसों का यथासमय कुछ काल की मर्यादा पर्यंत या जीवनपर्यंत एक-दो-तीन या समस्त रसों का त्याग कर भोजन ग्रहण करते है। श्रावक तो चतुर्थकाल में प्रायः सभी सरस भोजन करते थे और अब भी सरस भोजन ही प्रायः करते हैं। चतुर्थकाल मे रसरहित भोजन की व्यवस्था होती थी और अब भी होती है तब फिर उद्दिष्ट दोष मानने से आहारदान का ही अभाव हो जावेगा।

२ किसी मुनिराज को कोई व्याधि विशेष हो जाने पर श्रावक अपना परम कर्तव्य समझते हुए उनके रोग निवारण हेतु औषधोपचार की व्यवस्था बनाता है और मात्र वह तत्‌रोग से ग्रसित मुनिराज के लिये ही बनाता है श्रावक स्वयं तो उस रोग से ग्रसित नहीं है। अतः इसप्रकार तैयार की गई औषधि को उद्दिष्ट दोष से दूषित माना जावेगा तो फिर औषधदान का ही अभाव मानना पड़ेगा। ऐसी व्यवस्था वर्तमानवत् ही चतुर्थकालमें भी होती थी, क्योंकि रोगादि तो उस समय भो होते थे।

३. वसतिका दान का भी अभाव प्राप्त होता है, क्योंकि वसतिका भी उद्दिष्ट दोष से दूषित होना चाहिए ऐसी आगम आज्ञा है तब फिर कोन्नूर के राजा ने साधुओं के लिये ७०० गुफाओं को बनवाया था। तेरदाल आदि स्थानों में भी सैकड़ों की संख्या मे वसतिकाएं मुनिराजों के लिये बनवाई गई थी। उड़ीसा प्रान्त में भी खण्डगिरी-उदयगिरी क्षेत्र पर दिगम्बर मुनिश्वरों के लिये महाराजा खारवेल ने अनेकों गुफाएं बनवाई थी जिनका अस्तित्व आज भी है। यदि इसमें भी उद्दिष्टदोष माना जावे तो अभयदान के प्रतिस्वरूप वसतिकादान भी नही बन सकेगा।

४. पिच्छी-कमण्डलु आदि उपकरण गृहस्थों के लिए नहीं होते हैं। तब फिर मुनिराजों के निमित्त से कमण्डलु मंगवाकर प्रदान करते हैं अथवा मयूर पिच्छिका तो खासकर दिगम्बर साधुओं के लिए ही बनाई जाती हैं और उन्हें संयमोपकरण के रूप में प्रदान की जाती हैं तो यदि उनको उद्दिष्ट दोष से दूषित माना जावेगा तब उपकरण दान कैसे बनेगा और पिच्छिका आदि उपकरण के बिना तो मुनिराज का आवागमन भी नहीं बन सकेगा।

५. इसीप्रकार आर्यिकागण की साड़ी, क्षुल्लक, ऐलक आदि के रंगीन वस्त्र उनके उद्देश्य पूर्वक बनाये जाते हैं। कोई भी श्राविका मात्र १६ हस्त प्रमाण एक साटिका नहीं पहनती और न ही श्रावकगण मात्र लंगोट-चादर का उपयोग करते। अतः वे उक्त वस्त्र आर्यिका आदि के निमित्त ही तैयार करवाकर उन्हें प्रदान करते हैं। यदि इन्हें उद्दिष्ट दोष से दूषित माना जावे तो फिर वस्त्रदान का अभाव होगा।

इत्यादि अन्य अनेकों शंकाओं का परित्याग होना दुस्तर होगा तथा आगम मर्यादा का भी लोप हो जावेगा। अतः आगम के परिप्रेक्ष्य उद्दिष्ट का स्वरूप भली भांति समझकर उद्दिष्ट का त्यागी पात्र होता है यह

निर्णय करके अपने आपको आहारदान आदि में प्रवृत्त करते हुए गृहस्थ धर्म के आवश्यक कर्तव्य की परिपालना अवश्य करना चाहिए।

अब यह तो अच्छी प्रकार सिद्ध हो गया है कि उद्दिष्ट दोष पात्र के आश्रित होता है, किन्तु उद्गम आदि १६ दोषो मे औद्देशिक नाम का एक दोष है जो पात्र के आश्रित न होकर दाता के आश्रित होता है। उस औद्देशिक दोष से दूषित भोजन की जानकारी मिलने पर साधु उसका परित्याग करते हैं और आहार ग्रहण के पश्चात् ज्ञात होने पर उसका प्रतिक्रमण करके आत्मविशुद्धि करते हैं।

औद्देशिक के सम्बन्ध मे मूलाचारादि आचार ग्रन्थो में कहा गया है कि जो आहार, वसतिका, उपकरणादि किसी भी एक पात्र विशेष का उद्देश्य करके तैयार किये जावे वह औद्देशिक कहलाता है। ऐसे औद्देशिक आहारादि का पता चलने पर साधु उस आहारका परित्याग करते है। इसप्रकार उद्गम के १६ दोषो में दाता आश्रित जो औद्देशिक दोष है वह स्वल्प दोष है। "अध: कर्मण: पश्चात् औद्देशिकं सूक्ष्मदोषमपि परिहर्तुकाम: प्राह" अर्थात् अध:कर्म के पश्चात् औद्देशिक नामक स्वल्प दोषको भी दूर करने के लिए कहते है। इन वचनों का यही अभिप्राय है कि औद्देशिक दोष बहुत बड़ा दोष नही है। सूक्ष्म या स्वल्प होने पर भी उस दोष को भी टालने की आगम आज्ञा है।

औद्देशिक दोष के सम्बन्ध में विशेष स्पष्टीकरण :

पात्र विशेष के निमित्त से बना भोजन औद्देशिक है। पात्र विशेषके सम्बन्धमे कहा गया है कि–"अन्य पाखण्डी जो कोई आवेगे उनको सभी को दूंगा, परिव्राजक आदि जो भी आवेगे उन सभी को दूंगा अथवा जितने आवेगे उन सभी निर्ग्रन्थ साधुओं को दूंगा।" इसप्रकार भिन्न-भिन्न प्रकारके पात्रों को उद्देश्य करके बनाया हुआ अन्नादि औद्देशिक दोष से दूषित होता है। उक्त कथन का मूल अभिप्राय यह है कि किसी खास व्यक्ति के लिए संकल्प पूर्वक कोई उत्तम वस्तु तैयार की गई हो तो वह उद्देश्य युक्त होने से निर्दोष नही है। यदि वह अन्य पात्र को दान में दे दी जावे तो वह वस्तु जिनके लिए तैयार की गई थी उनके परिणाम में मोह-लोभ आदि के निमित्त से असूया के भाव उत्पन्न हो सकते है जिससे उनके मन को आघात पहुंच सकता है और दाता के मन में भी अनेक प्रकारके संकल्प-विकल्प होने की सम्भावना बनी रहती है। अत: किसी विशेष व्यक्ति को लक्ष्यकर बनाई वस्तु अन्य को दे देना औद्देशिक दोष से दूषित है ऐसा श्रावक आश्रित दोष है यदि मुनिराज को ज्ञात हो जावे तो वे उस आहार को ग्रहण नहीं करते हैं। इतना ही नही यदि श्रावक अपने को उद्देश्य करके भी कोई विशेष भोज्य पदार्थ बनाता है और उसमें यह सकल्प कर लेता है कि यह मै ही खाऊंगा तत्पश्चात् पात्र का निमित्त मिलने पर वह वस्तु उन्हें दे देता है तो वह औद्देशिक होने से ज्ञात होने पर मुनिराज ग्रहण नहीं करते और यदि ज्ञात नहीं हो सकने पर श्रावक दे भी देता है तो श्रावक आश्रित वह दोष होता है। इसीप्रकार नाग, यक्षादि के सकल्प पूर्वक बनाया भोजन, पाखण्डी, कुलिगियों के उद्देश्य से बनाया भोजन भी मुनिराज आदि पात्रों को देना औद्देशिक दोष युक्त है।

"श्रावक अपने लिये भोजन बनावे और उसमें ही मुनिराज को भी आहार दे" इसका यही अभिप्राय है कि श्रावक किसी वस्तु विशेष मे खास व्यक्ति का उद्देश्य कर भोजन न बनावे सामान्य से भोजन बनावे और पात्रदान के पश्चात् शेष बचे उस भोजन को स्वयं भी खावे। ऐसा नहीं होना चाहिए कि महाराज को आहार देने के पश्चात् उस भोजन में से स्वयं नही खावे। यदि ऐसा करता है तो वह आहार तो मुनिराज का उद्देश्य कर बना हुआ ही कहलावेगा। औद्देशिक दोष का परिहार मात्र आहार के सम्बन्ध में नहीं वसतिका उपकरण आदि के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

जैसे कि पूर्वमें कहा गया है कि निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनियों में भी जितने आवेंगे उन सभी को भी दूंगा ऐसा उद्देश्य करना समादेश दोष युक्त है। इसी बात पर लोगों की यह धारणा बन गई है कि मुनियों के उद्देश्य से बनाया आहार उद्दिष्ट है, किन्तु यह धारणा आगम का रहस्य समझे बिना भ्रान्ति युक्त है। आगम में ऐसा अभिप्राय सर्वथा नहीं है। चार प्रकार के उद्देश्यों "मुनिजनों के लिए बनाया गया भोजन औद्देशिक दोष युक्त है" उसका अभिप्राय आचार ग्रन्थों में इसप्रकार कहा है कि—

"जो मुनि मेरी वसतिका मे (गृह) में ठहरे हैं या मेरी धर्मशालादि में ठहरे हैं उन्हे ही मैं आहार दूंगा अन्य मुनियों को नहीं। इसप्रकार किसी कारणवश मुनि विशेषको लक्ष्यकर उनके उद्देश्य से भोजन बनाकर उन्हे ही देना सो औद्देशिक दोष युक्त है। अथवा किसी नवीन वसतिका का निर्माण कराकर यह संकल्प करना कि अमुक मुनिराज को ही ठहराऊंगा अन्य को नहीं। इसीप्रकार उपकरण आदि के तथा आर्यिका, क्षुल्लक, ऐलक के वस्त्रों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।" इस सम्बन्ध में मूलाचार, आचारसार, भगवती आराधना, चारित्रसार, मूलाचार प्रदीप, प्रवचनसार तृतीय अधिकार, षट्प्राभृत, अनगार धर्मामृत, आदि साध्वाचार सम्बन्धी ग्रन्थों का परिशीलन कर उद्दिष्ट-मीमांसा करते हुए अपनी भ्रान्त धारणाओं को मिटाना चाहिए।

जिसप्रकार वस्त्रादि परिग्रह का अभाव साधु के लिए आवश्यक है उसीप्रकार उद्दिष्ट या औद्देशिक दोष युक्त आहार, शय्या, उपधि आदि का परित्याग भी परमावश्यक है। इसप्रकार आगम ग्रन्थों के स्वाध्याय से उद्दिष्ट-मीमांसा करके यथार्थ मार्ग का अनुसरण करना ही हमारा परमकर्तव्य है।

सदाचार

जिस मनुष्य का आचरण पवित्र है सभी उसकी वन्दना करते हैं। सदाचारी पुरुष का समाज में सम्मान होता है, किन्तु जो लोग सदाचार रूप सन्मार्ग से च्युत हो जाते हैं, अपकीर्ति और अपमान ही उनके भाग्य में रह जाते हैं। सदाचार सुख-सम्पत्ति का बीज बोता है, किन्तु दुष्ट प्रवृत्ति असीम आपत्तियों की जननी है। अतः अपने आचरण की पूरी देख रेख रखना हमारा परम कर्तव्य है।

जैन दर्शन और आधुनिक मानस

❖ डॉ भागचन्द्र भास्कर

[डी. लिट्., नागपुर]

महावीर कालीन जैन साहित्य कला और दर्शन पर दृष्टिपात करने के बाद एक सहज प्रश्न खड़ा होता है कि आधुनिक मानस के लिए वह कहाँ तक उपयोगी है ? इसका सीधा उत्तर यह है कि साहित्य युगीन अवश्य होता है पर उसे सार्वभौमिक भी होना चाहिये। सार्वभौमिकता साहित्य की वास्तविक निकस है! महावीर के साहित्य की सार्वभौमिकता यही है कि वह आज के संत्रस्त जीवन के लिये भी उसी प्रकार उपयोगी है जिस प्रकार २५०० वर्ष पहले था। इस दृष्टि से वह हमारी कसौटी पर खरा उतरता है।

समता और अहिंसा तथा अपरिग्रह और अनेकान्त इन चार महास्तम्भों पर महावीर का समूचा उपदेश प्रासाद निर्मित हुआ है इनमे भी अहिंसा प्रधान है जो सत्य गर्भित है और सभी को समाहित किये हुये है। जीवन की हर समस्या का समाधान अहिंसा और सत्य के आचरण में सन्निहित है। यह श्रमण संस्कृति की आधार शिला है उनका प्रत्येक सिद्धान्त अहिंसात्मक भावना से अनुप्राणित है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावो का अनुवर्तन, समता और अपरिग्रह का अनुचिंतन, नय और अनेकान्त का अनुग्रहण तथा संयम और सच्चरित्र का अनुसाधन, अहिंसा के प्रमुख रूप हैं। उसकी पुनीत पृष्ठभूमि अहिंसा और सत्य से अनुरञ्जित है।

अहिंसा समत्व पर प्रतिष्ठित है। समत्व की प्राप्ति सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त सम्यक्चारित्र पर अवलम्बित है। इसी चारित्र को धर्म कहा गया है। यही धर्म सम है। यह समत्व राग, द्वेषादिक विकारों के प्रणष्ट होने पर उत्पन्न होने वाला विशुद्ध आत्मा का परिणाम है धर्म से परिणत आत्मा को ही धर्म कहा गया है। धर्म की परिणति ही निर्वाण है।

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयराय विहवेहिं ।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ।।
चारित्तं खलु धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ।।[1]

इसप्रकार धर्म वस्तुतः आत्मा का स्पन्दन है जिसमें कारुण्य, सहानुभूति, सहिष्णुता, परोपकारवृत्ति आदि जैसे गुण विद्यमान रहते हैं । वह किसी जाति या सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं । उसका स्वरूप तो सार्वजनिक, सार्वभौमिक और लोकमाँगलिक है । व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र और विश्व का अभ्युत्थान ऐसे ही धर्म की परिसीमा में संभव है ।

धर्म और अहिंसा में शब्द भेद है, गुण भेद नहीं । धर्म अहिंसा है और अहिंसा धर्म है । क्षेत्र उसका व्यापक है । अहिंसा एक निषेधार्थक शब्द है । हिंसा का मूल कारण है—प्रमाद और कषाय । उनके दूर हो जाने पर स्वभावतः अहिंसा भाव जागृत हो जाता है दूसरे शब्दों में समस्त प्राणियों के प्रति संयम भाव ही अहिंसा है । "अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्व भूएसु संजमो ।।"

जगत् का प्रत्येक प्राणी अधिकाधिक सुख-प्राप्ति के साधन जुटाता है । उसे मरने की आकांक्षा नहीं होती । उसके ये सुख प्राप्ति के साधन अहिंसा और संयम की पृष्ठभूमि में जुटाये जाने चाहिये । व्यक्ति समाज और राष्ट्र के अभ्युत्थान के लिये यह आवश्यक है कि वे परस्पर एकात्मक कल्याण मार्ग में आबद्ध रहें । उसमें सौहार्द्र, आत्मोत्थान, स्थायीशान्ति, सुख और समृद्धि के पवित्र साधनों का उपयोग होता रहे । यही यथार्थ मंगल है ।

अहिंसा के एक देश का पालन गृहस्थ वर्ग करता है और सर्व देश का पालन मुनिवर्ग करता है । उसी को जैन शास्त्रीय परिभाषा में क्रमशः अणुव्रत और महाव्रत कहा गया है । सकल चारित्र और विकल चारित्र इसीके पर्यायार्थिक शब्द हैं । गृहस्थ वर्ग आरम्भी, उद्योगी और विरोधीरूप स्थूल हिंसा का त्यागी नहीं रहता जबकि मुनिवर्ग सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार की हिंसा से दूर रहता है ।

मन, वचन और काय से संयमी व्यक्ति स्व-पर का रक्षक तथा मानवीय गुणों का आगार होता है । शील, संयमादि गुणों से आपूर व्यक्ति ही सत्पुरुष है । जिसका चित्त मलीन व पापों से दूषित रहता है, वह अहिंसा का पुजारी कभी नहीं हो सकता । जिस प्रकार घिसना, छेदना, तपाना और रगड़ना इन चार उपायों से स्वर्ण की परीक्षा की जाती है उसी प्रकार श्रुत, शील, तप और दया रूप गुणों के द्वारा धर्म और व्यक्ति की परीक्षा की जाती है ।

संजमु सीलु सउच्चु तवु सूरि हि गुरु सोई ।
दाह छेदक संघायकसु उत्तम कंचणु होई ।।[2]

संयमी व्यक्ति सदैव इस बात का प्रयत्न करता है कि दूसरों के प्रति वह ऐसा व्यवहार करे जो स्वयं को अनुकूल लगता हो । तदर्थ उसे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावना का पोषक होना चाहिए । सभी सुख और निरामय रहें किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट न हो, ऐसा प्रयत्न करे ।

सर्वेऽपि सुखिन सन्तु सन्तु सर्वे नरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख माप्नुयात् ।।
मा कार्षित् कोऽपि पापानि मा च भूत कोऽपि दुःखितः ।
मुच्यतां जगदप्येषा मति मैत्री निगद्यते ।।[3] यशस्तिलक चंपू

---

१. प्रवचनसार १, ६-७ २. भावपाहुड़ गाथा १४३ की टीका । ३. यशस्तिलक चम्पू उत्तरार्ध ।

विशिष्ट ज्ञानी और तपस्वियों के क्षम, दम, धैर्य, गांभीर्य आदि गुणों में पक्षपात करना अर्थात् विनय, वन्दना, स्तुति आदि द्वारा आन्तरिक हर्ष व्यक्त करना प्रमोद भावना है। इस भावना का मूल साधन विनय है। जिसप्रकार मूल के बिना स्कन्ध, शाखायें, प्रशाखायें, पत्ते, पुष्प, फल आदि नहीं हो सकते, उसी प्रकार विनय के बिना धर्म व प्रमोद भावना में स्थैर्य नहीं रह सकता। इसीप्रकार मज्झिमनिकाय के पोत्तलिप सुत्त में भी आर्य विनय का उपदेश दिया गया है।

कारुण्य अहिंसा भावना का प्रधान केन्द्र है। उसके बिना अहिंसा जीवित नहीं रहती। समस्त प्राणियों पर अनुग्रह करना इसकी मूल भावना है। हेय-उपादेय भाव से शून्य दीन पुरुषों पर, विविध सांसारिक दुःखों से पीड़ित दुःखित पुरुषों पर, स्वयं के जीवन याचक जीव जन्तुओं पर, अपराधियों पर, अनाथ बाल, वृद्ध, सेवक आदि पर तथा दुःख पीड़ित प्राणियों पर प्रतीकात्मक बुद्धि से उनके उद्धार की भावना ही कारुण्य भावना है।

माध्यस्थ भावना के पीछे तटस्थ बुद्धि निहित है निःशंक होकर क्रूर कर्म कारियों पर, देव, धर्म व गुरु के निंदकों पर तथा आत्म प्रशंसकों पर उपेक्षा भाव रखने को माध्यस्थ भावना कहा गया है। इसीको समभाव भी कहा गया है। समभावी व्यक्ति निर्मोही, निरहंकारी, निष्परिग्रही त्रस, स्थावर जीवों का संरक्षक तथा लाभ अलाभ में, सुख दुख में, जीवन मरण में, निंदा प्रशंसा में, मान अपमान में, विशुद्ध हृदय से समदृष्टा होता है। समभावी व्यक्ति ही मर्यादाओं व नियमों का प्रतिष्ठापक होता है। वही उसकी समचारिता है। ऐसा व्यक्ति पंचव्रतों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करने वाला होता है। अहिंसा के क्षेत्र में महावीर की यह एक विशेष देन है।

छठी शताब्दी ई० पू० में समाज विविध सम्प्रदायों और मतवादों की संकीर्ण विचारधारा की पृष्ठ भूमि में घुटन भरी सांसों से जी रहा था। उसे बाहर आकर समता और सहानुभूति के स्वर खोजने पर भी सुनाई नहीं दे रहे थे। भगवान महावीर ने समाज की उस तीव्र अन्तर्वेदना को भली भाँति समझा तथा विश्व को एक सूत्र में अनुस्यूत करने के लिये अहिंसा और अनेकान्त के माध्यम से स्वानुभवगम्य विचारों को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया।

जगत् सृष्टि के सर्जक तत्वों से आपूर है। उसके प्रत्येक तत्व में अनन्त रूप समाहित हैं जिन्हें पूरी तरह से समझना एक साधारण व्यक्ति के लिये असम्भव है। उसके ज्ञान की सीमा में तत्वों के असीमित रूप युगपत् कैसे प्रतिभाषित हो सकते हैं? जितने रूप प्रतिभाषित होंगे उसमें परस्पर विरोध की सम्भावना उतनी ही अधिक दिखाई देगी। इसी तथ्य को भगवान महावीर ने अनेकातवाद की उपस्थापना में स्पष्ट किया है। परस्पर विरोध को बचाने की दृष्टि से अपने कथन के पूर्व 'स्यात्' शब्द का प्रयोग कर पदार्थ में रहने वाले अन्य गुणों को भी अभिव्यक्त कर दिया जाता है। अभिव्यक्ति की इस शैली मे कदागृह या हठवादी दृष्टिकोण नहीं रहता बल्कि दूसरे के दृष्टिकोण के प्रति समादर की भावना रहती है। इसे संदेहवाद या शायदवाद नहीं कहा जा सकता इस शैली से अभिमान वृत्ति और वैषम्य के बीज समाप्त हो जाते हैं।

स्याद्वाद और अनेकांतवाद सत्य और अहिंसा की भूमिका पर प्रतिष्ठित भगवान महावीर के सार्वभौमिक सिद्धान्त हैं जो सर्वधर्म समभाव अर्थात् प्रत्येक द्रव्य में पाये जाने वाले अनन्त धर्मों के चिंतन से अनुप्राणित है। उनमें लोकहित और लोकसंग्रह की भावना गर्भित है। धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को दूर करने के अमोघ अस्त्र हैं। समन्वयवादिता के आधार पर सर्वथा संक्रातवादियों का एक प्लेटफार्म पर ससम्मान बैठाने का उपक्रम है। दूसरे के दृष्टिकोण का अनादर करना और उसके अस्तित्व को अस्वीकार करना ही संघर्ष का मूल कारण होता है।

महावीर के धर्म की यह अन्यतम विशेषता है कि उसमें अपरिग्रह को व्रत के रूप में स्वीकार किया गया है। अपरिग्रह का तात्पर्य है आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना। पदार्थ में विशेष आसक्ति

रखना परिग्रह है। किसी पदार्थ से ममत्व न रखा जाये यही अपरिग्रह है। यहाँ दीन दु:खी जीवों के प्रति कारुण्य जाग्रत करना और उनके प्रति कर्तव्य बोध कराना मुख्य उद्देश्य है। द्रव्यार्जन न्याय पूर्वक करना सद्गृहस्थ का लक्षण है। आवश्यकता से अधिक संगृहीत वस्तुओं को उस वर्ग में वितरित कर देना आवश्यक है जिसमें उनकी कमी हो। समाजवाद का भी यही सिद्धान्त है कि सम्पत्ति किसी एक व्यक्ति या वर्ग विशेष में केन्द्रित न होकर समान रूप से हर घटक में विभाजित हो। यह समाजवाद जैनाचार्यों ने २५ सौ वर्ष पहले लाने का प्रयत्न किया था। समन्तभद्र ने इसीको "सर्वापदामन्तकरं निरंतं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव" कहा था।

सत्य से हटकर संघर्षों का जन्म होता है। इसलिये मानसिक शान्ति तथा सामाजिक समता बनाये रखने के लिये दूसरों के दृष्टिकोण का समादर करना, सामञ्जस्य बनाये रखना, सत्य शोधक होना, अहिंसा की साधना करना, धर्म के वास्तविक तथ्य को समझना आदि जैसे तत्त्व आत्मविकास तथा राष्ट्रविकास के आवश्यक अंग हैं जीवन के सत्य को इससे जोड़े बिना समझा नहीं जा सकता।

इस प्रकार विश्वबंधुत्व के स्वप्न को साकार करने में भगवान महावीर के विचार नि:संदेह पूरी तरह सक्षम हैं। आज भी उनसे समाज और राष्ट्र के बीच पारस्परिक समन्वय बढ़ सकता है और मन मुटाव दूर हो सकता है। इसलिये वे विश्वशान्ति को प्रस्थापित करने में अमूल्य कारण बन सकते हैं। महावीर इस दृष्टि से सही दृष्टार्थ और सर्वोदय तीर्थ के सही प्रणेता थे। मानव मूल्यों को प्रस्थापित करने मे उनकी यह विशिष्ट देन सदैव अविस्मरणीय रहेगी।

जिसप्रकार एक पंख से पक्षी उड़ नहीं सकता अथवा एक पहिये से रथ चल नहीं सकता उसी प्रकार सम्यक्चारित्र बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का रथ नहीं चल सकता।

जैन धर्म में

तप एवं वृत का स्थान

❖ विदुषीरत्न आर्यिका १०५ विशुद्धमती माताजी

[प० पू० आचार्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराज की शिष्या]

अनादिकाल से परिभ्रमण करने वाले संसारी जीवों की शान्ति का एक मात्र उपाय है समीचीन धर्माचरण। यह धर्माचरण अनेक प्रकार से किया जाता है, किन्तु इसमें तप धर्म की महत्ता सर्वोपरि है, क्योंकि जैसे मक्खन में से घी निकालने के लिए बर्तन गरम करना आवश्यक है, उसी प्रकार पापों (कर्मों) से आत्मा को पृथक् करने के लिए शरीर को तपाना भी आवश्यक है। सर्वार्थसिद्धि मे पूज्यपाद स्वामी ने इसीलिए कहा है कि "कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः" अर्थात् कर्म क्षय के लिए जो तपा जाता है उसे तप कहते हैं।

वैसे तप शब्द सुनते ही कुछ भय उत्पन्न होने लगता है, किन्तु तत्त्व दृष्टि से विचार किया जाय तो तप भयावह नहीं है। अपितु वीतरागता व साम्यता की उत्पत्ति, वृद्धि एवं रक्षा करनेवाला एक महान धर्म है। पं० आशाधर जी ने अनगार धर्मामृत में कहा है कि "तपः दृगाद्याविर्भावायेच्छा-निरोधनम्" अर्थात् रत्नत्रय का आविर्भाव करने के लिए इष्टानिष्ट इन्द्रिय विषयों की आकांक्षा के निरोध का नाम तप है। यह तप बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। जिस प्रकार समुचित अग्नि की ताप स्वर्ण को सुसंस्कृत करती है, उसी प्रकार बाह्याभ्यन्तर तप की ताप आत्मगुणों को सुसंस्कृत करती है।

बाह्य तप के अनशन, ऊनोदर आदि छह भेद हैं। यहाँ अनशन तप का विवेचन वाञ्छनीय है। "अनशनं नाम अशन-त्यागः" अर्थात् भोजन त्याग करने का नाम अनशन तप है। यथार्थ में तो भूखों मरने से, कोई धर्म नहीं होता किन्तु फिर भी शरीर से उपेक्षित होने के लिए अथवा अपनी चेतन वृत्तियों को भोजन आदि के विकल्पों से मुक्त करने के लिए अथवा क्षुधा वेदनादि के समय भी साम्यरस में लीन रह कर आत्मिक बल की वृद्धि के लिए अनशन तप किया जाता है, अतः अनशन तप मोक्षमार्ग में सहयोगी है।

अनशन तप का लक्षण लिखते हुए कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि [1]जो पुरुष मन और इन्द्रियों को जीतता है, इह-पर भव के विषय सुखों की अपेक्षा नहीं करता, अपने आत्मसुख में निवास करने हेतु निरन्तर स्वाध्याय में तत्पर रहता है, वह कर्मों की निर्जरा हेतु एक, दो, तीन आदि दिनों का परिमाण करके आहार का त्याग करता है, उसके अनशन तप होता है।

[2]धवल पुस्तक १३ पृ० ५५ पर श्री वीरसेन स्वामी ने भी चौथे, छठे, आठवें, दशवें और बारहवें एषण का ग्रहण करना तथा एक पक्ष, एक माह आदि के उपवास करना अनेषण (अनशन) नामक तप कहा है।

यह अनशन तप सकृत भुक्ति (प्रोषध) और उपवास के भेद से दो प्रकार का है। दिन में एक बार भोजन करने को प्रोषध तथा भोजन का सर्वथा त्याग करना उपवास कहलाता है। यह उपवास भी अवधृत और अनवधृत के भेद से दो प्रकार का है। अवधृत (नियत) कालीन अनशन तप—एक दिन में भोजन की दो बेला होती है। चार भोजन बेला के त्याग को चतुर्थ अर्थात् एक उपवास कहते हैं। जैसे—सप्तमी और नवमी को एक बार भोजन तथा अष्टमी का उपवास, इस प्रकार एक उपवास में चार बेला भोजन का त्याग, दो उपवास में छह बेला त्याग, तीन उपवास में आठ बेला त्याग होता है। इसीप्रकार दशम, द्वादश पक्ष, मास, कनकावलि, एकावलि मुरज तथा मद्यविमान आदि जो जितने भी भेद हैं, वे सब अवधृत काल अनशन तप के अन्तर्गत ही हैं।

मरण (जीवन) पर्यन्त के लिए भोजनादि का त्याग करना अनवधृत या सर्वाशन त्याग तप कहलाता है, यह सल्लेखना के समय ही किया जाता है।

अवधृत (नियमित) काल अनशन तप में व्रतों का अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि जैसे [3]तप इस लोक में क्षमा, शान्ति एवं विशिष्ट ऋद्धि आदि दुर्लभ गुणों को प्राप्त कराता है, तथा परलोक में मोक्ष पुरुषार्थ को सिद्ध कराता है, उसी प्रकार व्रत[4] भी जीवों को देव और मनुष्य इन्द्रिय जन्य सुखों को देकर पश्चात् देवेन्द्रों से स्तुत्य मोक्ष पद प्रदान करता है, अतः जीवन शोधन हेतु व्रत धारण अवश्य करना चाहिए। "[5]व्रत रहित प्राणी पशु

---

१. जो मण-इंदिय विजई, इह-भव पर-लोय-सोक्ख णिरवेक्खो।
अप्पाणे विय णिवसई सज्झाय-परायणो होदि ॥४४०॥
कम्माण णिज्जरट्ठं आहारं परिहरेइ लीलाए।
एक-दिणादि-पमाणं तस्स तवं अणसणं होदि ॥४४१॥ कार्ति०

२. तत्थ चउत्थ-छट्ठट्ठम-दसम-दुवालस-पक्ख-मास-उडु-अयण-संवच्छरेसु एसण-परिच्चाओ अणेसणं णाम तवो।

३ इहैव सहजान् रिपून्............ तपसि तापसंहारिणि ॥आत्मानुशा० ॥११४॥

४. फलमेयस्से मोत्तूण देव-मणुएसु इंदियज-सुक्खं।
पच्छा पावइ मोक्खं थुणिज्ज-भागो सुरिं देहिं ॥वसुनन्दी श्रा०

५. व्रतेन यो विना प्राणी, पशुरेव न संशया।
योग्यायोग्य न जानाति, भेदस्तत्र कुतो भवेत् ॥

सदृश होता है। व्रत गुरु के पास लिए जाते हैं, यदि गुरु न हों तो जिनेन्द्र देव के सम्मुख निम्न संकल्प पढ़ कर व्रत ग्रहण करना चाहिए।

ॐ अद्य भगवतो महापुरुषस्य ब्रह्मणे मते मासाना मासोत्तम मासे........मासे........पक्षे........तिथौ ....वासरे जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आर्यखण्डे ...... प्रान्ते........नगरे एतत् अवसर्पिणी-कालावसान-चतुर्दश-प्राभृत-मानिमानित-सकल-लोक-व्यवहारे श्रीगौतमस्वामि-श्रेणिक-महामण्डलेश्वर-समाचरित-सन्मार्गविशेषे २५०७ वीर निर्वाण-संवत्सरे अष्टमहाप्रातिहार्यदि-शोभित-श्रीमदर्हत्परमेश्वर-प्रतिमा-सन्निधौ अहम्........व्रतस्य संकल्पं करिष्ये। अस्य व्रतस्य समाप्ति-पर्यन्तं मे सावद्य-त्यागः गृहस्थाश्रम-जन्यारम्भ-परिग्रहादीनामपि त्यागः।

सामान्यतः व्रतों के नौ भेद है—सावधि, निरवधि, दैवसिक, नैशिक (रात्रिक), मासावधि, वर्षावधि, काम्य (कामना पूर्वक), अकाम्य एवं उत्तमार्थ।

इन उपर्युक्त नौ भेदों के अन्तर्गत आनेवाले व्रतों में से कुछ व्रतों का विवेचन किया जा रहा है—

१ **अक्षय तृतीया व्रत**—यह व्रत वैशाख शुक्ला तृतीया को होता है। इस दिन उपवास करे, अहर्निश धर्मध्यान में बितावे तथा "ॐ ह्रीं ऋषभजिनेन्द्राय नमः" मन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे। इस प्रकार तीन वर्ष पर्यन्त करे, पश्चात् तीन-तीन उपकरण मन्दिर जी में भेंट करे। पात्र दान दे, साधर्मी को भोजन करावे और गरीबों को आहार आदि दान देवे।

२ **अक्षय दशमी व्रत**—श्रावण शुक्ला दशमी को पूजन विधान पूर्वक धर्म प्रभावना के साथ व्रत करे। "ॐ ह्री ऋषभजिनेन्द्राय नमः" मंत्र की त्रिकाल जाप देवे। १० वर्ष में व्रत पूरा कर उद्यापन करे।

३ **अक्षय निधि व्रत**—१० वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष श्रावण शुक्ला दशमी और भाद्रपद्र कृष्णा दशमी को उपवास करे, इनके बीच २८ दिन एकाशन करे एव महामन्त्र (णमोकार) का त्रिकाल जाप करे। १० वर्ष में २० उपवास और २८० एकाशन होंगे। पश्चात् उद्यापन करे।

४ **अनन्तचतुर्दशी व्रत**—भाद्रपद शुक्ला ११-१२-१३ को विशेषतया श्री अनन्तनाथ जिनेन्द्र की पूजनकर एकाशना करे, चतुर्दशी को उपवास करे, अहर्निश धर्मध्यान मे तल्लीन रहते हुए "ॐ ह्रीं अर्हं हं सः अनन्तकेवलिने नमः" मन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे, पूर्णिमा को सुपात्र दान देने के पश्चात् एकाशना करे, व्रत पूर्ण होने पर उद्यापन करे।

५ **अनस्तमी व्रत**—प्रतिदिन सूर्योदय के दो घड़ी पश्चात् तथा सूर्यास्त से दो घड़ी पूर्व भोजन कर ले, बीच के शेष समयों में चारों प्रकार के आहार का त्याग करे और महामंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

६ **अश्विनी व्रत**—अश्विनी नक्षत्र जिस दिन हो उस दिन उपवास करना इस प्रकार एक वर्ष में २८ उपवास करे, और उपवास के दिन महामंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

७ **अष्टमी व्रत**—प्रत्येक मास की प्रत्येक अष्टमी को उपवास करे। इसप्रकार आठ वर्ष की १९२ अष्टमी तथा दो अधिक मासों की चार अष्टमी। कुल १९६ अष्टमियों के १९६ उपवास करे और "ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं सिद्धाधिपतये नमः" मन्त्र का त्रिकाल जाप करें।

८ **अष्टाह्निक व्रत**—यह व्रत प्रतिवर्ष आषाढ, कार्तिक व फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष में अष्टमी से पूर्णिमा पर्यंत किया जाता है। इस व्रत की पांच मर्यादाएं हैं—(१) १७ वर्ष में (१७×३) ५१ अष्टाह्निकाएँ, ८ वर्ष

में २४, ५ वर्ष में १५, ३ वर्ष में ६ और एक वर्ष में ३ अष्टाह्निकाओं में से अपनी शक्ति के अनुसार करना चाहिये। यह व्रत उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार है। उत्कृष्ट—सप्तमी के पूर्वार्ध भाग में एकाशन कर अष्टमी से पूर्णिमा पर्यंत (आठ) उपवास करे, पश्चात् प्रतिपदा को दोपहर के बाद पारणा करे। मध्यम—सप्तमी को एकाशन, अष्टमी को उपवास, नवमी को पारणा, दशमी को भात, जल, एकादशी को ऊनोदर, द्वादशी को पूरा भोजन, त्रयोदशी को जल सहित नीरस एक अन्न, चतुर्दशी को भात, मिर्च व जल, पूर्णिमा को उपवास और प्रतिपदा को पारणा करे। जघन्य—सप्तमी को दोपहर पश्चात् से पड़िमा को दोपहर तक पूर्ण शील का पालन धर्मध्यान सहित मन्दिर जी में निवास मौन सहित, अन्तराय टालकर दिन में एक बार भोजन करे, शक्ति हो तो अष्टमी और पूर्णिमा का उपवास करे। प्रत्येक दिन अपने-अपने दिन वाले त्रिकाल जाप करे।

अष्टमी को—ॐ ह्रीं नन्दीश्वर-संज्ञाय नमः। नवमी को—ॐ ह्रीं अष्टमहाविभूति-संज्ञाय नमः। दशमी को—ॐ ह्रीं त्रिलोकसार-संज्ञाय नमः। एकादशी को—ॐ ह्रीं चतुर्मुख-संज्ञाय नमः। द्वादशी को—ॐ ह्रीं महालक्षण-संज्ञाय नमः। त्रयोदशी को—ॐ ह्रीं स्वर्गसोपान-संज्ञाय नमः। चतुर्दशी को—ॐ ह्रीं सर्वसम्पत्ति-संज्ञाय नमः। पूर्णिमा को—ॐ ह्रीं इन्द्रध्वज-संज्ञाय नमः।

९ **आकाशपंचमी व्रत**—भाद्रपद शुक्ला पंचमी को चारों प्रकार के आहार-जल का त्याग कर उपवास करे, जिनालय मे जाकर अष्टद्रव्य से जिनेन्द्र का अभिषेक पूजन करे। पश्चात् रात्रि के समय खुले मैदान मे या छत पर बैठकर भजन पूर्वक जागरण करे, तथा वही सिहासन पर चौबीस-तीर्थंकरों की प्रतिमा विराजमान करे और प्रत्येक पहर में अभिषेक पूजन करे। यदि उस समय उस स्थान पर वर्षा आदि के कारण उपसर्ग आवे तो शान्ति पूर्वक सहन करे परन्तु स्थान न छोड़े। तीनों समय महामन्त्र (णमोकार मंत्र) का जाप्य करे। इस प्रकार पाच वर्ष पर्यंत व्रत करके पश्चात् उद्यापन करे।

१० **आचाम्ल वर्धन (सौवीर भुक्ति) व्रत**—व्रत प्रारम्भ करने के पहिले दिन एक स्थानपर बैठकर एक बार का परोसा हुआ भोजन सन्तोष पूर्वक करे। अगले दिन एक उपवास करें, पश्चात् एक ग्रास वृद्धि के क्रम से एक ग्रास से लेकर १० ग्रास पर्यन्त दस दिन तक भात और इमली का भोजन करे, उससे अगले दिन से पुनः एक एक ग्रास कम करते हुए दसवे दिन एक ग्रास ग्रहण करे, पश्चात् अगले दिन दोपहर के बाद एक बार का परोसा भोजन करे। त्रिकाल महामन्त्र का जाप करे।

११ **आचार-वर्धन व्रत**—इस व्रत में ११६ दिन लगते है, जिसमें १०० उपवास और १६ पारणा होतीं हैं। एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा इसी प्रकार ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ९, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २ और एक उपवास करे तथा बीच बीच में एक एक पारणा करे। यह व्रत निर्भंग (अखण्ड) रूप से करे। त्रिकाल महामत्र का जाप करे।

१२ **आदिनाथ जयन्ती व्रत**—आदिनाथ भगवान की जन्म तिथि चैत्र कृष्णा ९ वीं को उपवास व अभिषेक पूर्वक पूजन करें। "ॐ ह्रीं श्री वृषभनाथाय नमः" इस मन्त्र का त्रिकाल जाप करें।

१३ **आदिनाथ निर्वाण महोत्सव व्रत**—भगवान आदिनाथ की निर्वाण तिथि माघ कृष्णा १४ को उपवास करे, अभिषेक पूर्वक पूजन करे और "ॐ ह्रीं वृषभनाथाय नमः" इस मन्त्र का त्रिकाल जाप करें।

१४ **आदिनाथ शासन जयन्ती व्रत**—भगवान की दिव्यध्वनि के प्रथम दिन फाल्गुन कृष्णा ११ को उपवास अभिषेक पूजन करे और "ॐ ह्रीं श्री वृषभनाथाय नमः" इस मन्त्र का त्रिकाल जाप करे।

१५ **ऋषिपंचमी व्रत**—यह व्रत आषाढ़ शुक्ला पंचमी से प्रारम्भ कर ५ वर्ष ५ माह पर्यंत प्रत्येक माह की शुक्ल पंचमी को उपवास करे और महामन्त्र का त्रिकाल जाप करे।

१६ एकावली व्रत—एक वर्ष पर्यन्त बराबर प्रत्येक मास के शुक्ल पक्ष की १, ५, ८ और १४ तथा कृष्णपक्ष की ४, ८, १४ इन सात तिथियों में अभिषेक पूजन पूर्वक उपवास करे। अर्थात् एक वर्ष में इन सात तिथियों के ८४ उपवास करे और णमोकार मन्त्र का त्रिकाल जाप करे।

१७ एसोनव व्रत—पहिले एक वृद्धि क्रम से १ से लेकर ९ उपवास तक करे, फिर एक हानि क्रम से ९ से लेकर १ उपवास तक करे, बीच में एक एक पारणा करे। इस प्रकार करने से ४५ उपवास होंगे। यही पूर्ण विधि नौ बार निरन्तर करता जाए, जिससे (४५ × ९) = ४०५ उपवास ८१ पारणाओं पर ४८६ दिनों में व्रत पूर्ण होगा। व्रत के दिन अभिषेक पूजन करे तथा णमोकार मन्त्र का त्रिकाल जाप करे।

१८ एसोदश व्रत—पहिले एक वृद्धि क्रम से एक से लेकर १० उपवास तक करे पश्चात् एक हानि क्रम से १० से प्रारम्भ कर एक उपवास करे, बीच में एक एक पारणा करे। इस प्रकार ५५ उपवास होंगे। यही पूर्ण विधि दश बार निरन्तर करने से कुल ६५० दिनों में ५५० उपवास और १०० पारणाएँ होंगीं। उपवास के दिन अभिषेक पूजन तथा महामंत्र का त्रिकाल जाप करे।

१९ कंजिक व्रत—किसी भी मास की पड़वा से प्रारम्भ करके ६४ दिन पर्यंत मात्र कांजी आहार (भात और जल) लेना। शक्ति हो तो दुगना, तिगुना व्रत भी कर सकते हैं। अभिषेक, पूजन एवं नमस्कार मंत्र का त्रिकाल जाप करें।

२० कनकावली व्रत—मासिक कनकावली—आश्विन शुक्ला प्रतिपदा, पञ्चमी और दशमी तथा कार्तिक कृष्णा दोज, षष्ठी और द्वादशी इस प्रकार छः उपवास करे।

वार्षिक कनकावली—प्रत्येक मास के शुक्ल पक्ष की १, ५, १० और कृष्ण पक्ष की २, ६, १२ तिथियों के उपवास करे। इस प्रकार एक वर्ष में ७२ उपवास करे। इस व्रत में मास गणना अमावस्या से अमावस्या पर्यंत ली जाती है।

वृहद्कनकावली—इस विधि में ५२२ दिनों में ४३४ उपवास और ८८ पारणा होती हैं। एक उपवास, एक पारणा, दो उपवास, एक पारणा, पश्चात् ९ बार ३-३ उपवास और एक एक पारणा करे। पश्चात् एक-एक के वृद्धिक्रम से एक से प्रारम्भ कर १६ तक उपवास करे, बीच बीच में एक एक पारणा करे। पश्चात् ३४ बार ३-३ उपवास और एक-एक पारणा करे, पश्चात् एक एक के हानि क्रम से १६ से एक तक उपवास और बीच मे एक एक पारणा करे, पश्चात् ९ बार तीन-तीन उपवास और एक एक पारणा करे और इसके पश्चात् दो उपवास एक पारणा तथा एक उपवास एक पारणा करे। नमस्कार मंत्र का त्रिकाल जाप तथा अभिषेक पूर्वक पूजन करे।

२१ कर्मक्षय व्रत—आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियाँ होतीं हैं, इनके नाशार्थ १४८ उपवास निम्न प्रकार से करना चाहिए। सात चतुर्थियों के ७ उपवास, तीन सप्तमियों के ३ उपवास, ३६ नवमियों के ३६ उपवास, एक दशमी का एक उपवास, सोलह द्वादशियों के १६ उपवास और ८५ चतुर्दशियों के ८५ उपवास करे। "ॐ ह्री णमो सिद्धाणं" इस मन्त्र का त्रिकाल जाप तथा अभिषेक पूजन करे।

अन्य विधि—२९६ दिन तक लगातार एक उपवास और एक पारणा करते हुए १४८ उपवास १४८ पारणा करें तथा "ॐ ह्री सर्वकर्मरहिताय सिद्धाय नमः" इस मन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

२२ कर्मचूर व्रत—इस व्रत की दो विधियां है। प्रथम विधि—प्रथम आठ अष्टमियों के ८ उपवास; दूसरी आठ अष्टमियों को कांजिक (भात और जल का) आहार; तीसरी आठ अष्टमियों को केवल तन्दुलाहार; चौथी आठ अष्टमियों को एक ग्रास आहार; पाँचवीं आठ अष्टमियों को मात्र एक कुरछी आहार; छठी आठ अष्टमियों को एक रस व एक अन्न का आहार; सातवीं आठ अष्टमियों को एक बार का परोसा

(एकलठाना) भोजन करे; आठवीं आठ अष्टमियों को रूक्ष अन्न का आहार करे, तथा "ॐ ह्री णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिने नमः" इस मन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

दूसरी विधि—उपर्युक्त क्रम में ही–नं० १ वाले में आठ उपवास, (२) में एकलठाना; नं० ३ में एक ग्रास; नं० ४ में नीरस भोजन; नं० ५ में एक ही प्रकार के फलों का आहार; नं० ६ में केवल चावल; नं० ७ मे लाडू; नं० आठ में कांजी आहार करे, और त्रिकाल जाप्य करे।

२३ **कर्मनिर्जरा व्रत**—सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिए आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी का उपवास करे और "ॐ ह्रीं दर्शन-विशुद्धये नमः" का जाप्य करे। सम्यग्ज्ञान की भावना हेतु श्रावण शुक्ला १४ का उपवास और "ॐ ह्रीं सम्यग्ज्ञानाय नमः" का जाप्य करे। सम्यक्चारित्र की भावना के लिए भाद्रपद शुक्ला १४ का उपवास और "ॐ ह्रीं सम्यक्चारित्राय नमः" का जाप्य करे और सम्यक् तप की भावना के लिए आसौज शुक्ला १४ का उपवास और 'ॐ ह्रीं सम्यक्-तपसे नमः" का त्रिकाल जाप्य करे।

२४ **कलिचतुर्दशी व्रत**—आषाढ, श्रावण, भाद्रपद और आसौज मास के शुक्ल पक्ष की चतुर्दशियों के उपवास निरन्तर चार वर्ष तक करना और नमस्कार मन्त्र का त्रिकाल जाप्य करना।

२५ **कल्याणक व्रत**—जिस दिन कल्याणक की तिथि हो उसके एक दिन पहिले दोपहर को एक बार का परोसा भोजन करे, तिथि के दिन उपवास और पारणा के दिन आचाम्ल (इमली भात) खावे। इस प्रकार पंचकल्याणक की १२० तिथियो के १२० उपवास ३६० दिन में पूरे करे, तथा जिस तीर्थंकर का कल्याणक हो उसका त्रिकाल जाप्य करे।

२६ **कवलचन्द्रायण व्रत**—किसी भी मास की अमावस्या को उपवास, इससे आगे प्रतिपदा को एक ग्रास, दोज को दो ग्रास, तीज को तीन ग्रास इत्यादि क्रम से एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए चतुर्दशी को १४ ग्रास, पूर्णिमा को उपवास इसके आगे विपरीत क्रम से कृष्णा एकम को १४ ग्रास, दोज को तेरह इत्यादि क्रम से घटाते हुए कृष्णा १४ को एक ग्रास और अमावस्या को उपवास कर एक मास में व्रत पूर्ण करे तथा महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

२७ **कांजी बारस व्रत**—१२ वर्ष पर्यंत प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ला बारस को उपवास करे और पूजन-विधान एवं महामंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

२८ **कृष्ण पंचमी व्रत**—पांच वर्ष पर्यंत प्रत्येक वर्ष ज्येष्ठ कृष्णा पचमी को उपवास करे, और महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

२९ **कोकिला-पंचमी व्रत**—आषाढ़ कृष्णा पंचमी से पांच मास तक प्रत्येक मास के कृष्ण पक्ष की पंचमी का उपवास करे और "ॐ ह्रीं पञ्चपरमेष्ठिभ्यो नमः" इस मन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

३० **क्षमावणी व्रत**—आसौज कृष्णा एकम को उपवास करे, सबसे क्षमा याचना करे और साधर्मियों को फल बांटे।

३१ **गंध अष्टमी व्रत**—३५२ दिन पर्यन्त कुल २८५ उपवास और ६४ पारणा करे तथा महामंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

३२ **गरुड़ पञ्चमी व्रत**—पांच वर्ष पर्यन्त, प्रतिवर्ष श्रावण शुक्ला पंचमी का उपवास करे और 'ॐ ह्रीं अर्हद्भ्यो नमः" इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

३३ ज्ञानपच्चीसी व्रत—श्रावण शुक्ला चतुर्दशी से प्रारम्भ कर एक वर्ष या बारह वर्ष पर्यन्त चौदहपूर्वों की १४ चतुर्दशी और ग्यारह अंगों को ११ एकादशो इस प्रकार २५ उपवास करे और "ॐ ह्रीं जिनमुखोद्-भूत-द्वादशाङ्गाय नमः" इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

३४ चन्दनषष्ठी व्रत—छह वर्ष पर्यन्त प्रत्येक वर्ष के भाद्रपद कृष्णा षष्ठी को उपवास करे, अभिषेक पूर्वक पूजन तथा महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

३५ चन्द्र कल्याणक व्रत—क्रमशः ५ उपवास, ५ कांजिक (पानी भात), ५ एकलठाना (एक बार का परोसा) ५ रूक्षाहार और ५ मुनि वृत्ति से (मौन पूर्वक अन्तराय टालकर) भोजन करे। इस प्रकार २५ दिन तक लगातार करे और महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

३६ चतुर्दशी व्रत—१४ वर्ष पर्यन्त प्रत्येक मास की दोनों चतुर्दशियों को १६ पहर का उपवास करे। लौंद के मासों सहित कुल ३४४ उपवास होते हैं। "ॐ ह्रीं अनंतनाथाय नमः" इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

३७ चारित्रशुद्धि व्रत—तेरह प्रकार के चारित्र के १२३४ अंग हैं, अतः १२३४ उपवास करना चाहिए। एक उपवास और एक पारणा के क्रम से यदि यह व्रत निरन्तर किया जाय तो ६ वर्ष, १० मास और ८ दिन में पूरा होता है। व्रत का प्रारंभ भाद्रपद शुक्ला एकम से किया जाता है। व्रतों की संख्या का विवरण—अहिंसामहाव्रत=१४ जीव समास×नव कोटि [मन, वचन, काय×कृत, कारित अनुमोदना] = १२६ उपवास। सत्यमहाव्रत=भय, ईर्षा, स्वपक्षपात, पैशुन्य, क्रोध, लोभ, आत्मप्रशंसा और परनिन्दा ये ८×६ कोटि=७२ उपवास। अचौर्यमहाव्रत=ग्राम, अरण्य, खल, एकान्त, अन्यत्र, उपाधि, अमुक्त और पृष्ठ ग्रहण ये ८×६ कोटि = ७२ उपवास। ब्रह्मचर्य महाव्रत=मनुष्यनी, देवांगना, तिर्यंचिनी एव अचेतनी ये चार प्रकार की स्त्रियाँ × ५ इन्द्रियाँ × ६ कोटि = १८० उपवास। परिग्रह महाव्रत=परिग्रह के प्रकार २४×६ कोटि = २१६ उपवास। गुप्ति ३×६ कोटि = २७ उपवास। समितियो में से ईर्या, आदान-निक्षेपण एवं उत्सर्ग ये ३×६ कोटि = २७+भाषा समिति के १० प्रकार के सत्य×६ कोटि = ६०+एषणा समिति के ४६ दोष×६ कोटि = ४१४ (१२६+७२+७२+१८०+२१६+२७+५३१) = १२३४ हुये। उपवास के दिन अभिषेक पूजन करे एवं "ॐ ह्रीं अ सि आ उ सा चारित्रशुद्धि-व्रतेभ्यो नमः" इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

३८ चौंतीस अतिशय व्रत—इस व्रत के ४६ उपवास करें। (१) जन्म के दश अतिशयों के लिए १० दशमियों के; (२) केवलज्ञान के दश अतिशयों के लिए १० दशमियों के, (३) देवकृत १४ अतिशयों के लिए १४ चतुर्दशियों के, (४) चार अनन्त चतुष्टयों के लिए ४ चौथ के (५) आठ प्रातिहार्यों के लिए ८ अष्टमियों के आठ उपवास, इस प्रकार कुल ४६ उपवास होते है। "ॐ ह्रीं णमो अरहन्ताणं" मंत्र का त्रिकाल जाप्य करें।

३९ जिनगुण सम्पत्ति व्रत—इस व्रत की तीन विधियाँ हैं। उत्तम विधि—अर्हन्त भगवान् के (१) जन्म के १० अतिशयों की १० दशमियाँ (२) केवलज्ञान के १० अतिशयों को दश दशमियाँ, देवकृत १४ अतिशयों की १४ चतुर्दशियाँ, ८ प्रातिहार्यों की आठ अष्टमियाँ, षोडशकारण भावनाओं की १६ प्रतिपदाएँ, पंचकल्याणकों की ५ पंचमियाँ इस प्रकार ६३ तिथियों के ६३ उपवास १० मास में पूरे करे और महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

मध्यम विधि—क्रमशः एक बेला, और एक एक कर पांच उपवास, पुनः एक बेला और एक एक कर पांच उपवास; पुनः १ बेला और एक एक कर पाँच उपवास, पुनः एक बेला और एक एक कर

पाँच उपवास तथा ५ वीं बार पुन: एक बेला और एक एक कर ५ उपवास, इस प्रकार ५ बेला, २५ उपवास अर्थात् ३५ उपवास और ३० पारणाएँ करे "ॐ ह्रीं अर्हन्तपरमेष्ठिने नमः" इस मन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

जघन्य विधि—उपर्युक्त ६३ गुणों के उपलक्ष्य में ६३ एकाशना करे तथा महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

४० **जिनपूजा-पुरन्दर व्रत**—किसी भी मास की शुक्ला एकम से अष्टमी पर्यन्त आठ उपवास या एकाशना करे। जिनेन्द्र का अभिषेक पूजन एवं महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

४१ **जिनमुखावलोकन व्रत**—भाद्रपद कृष्णा एकम से आसौज कृ० एकम तक अर्थात् एक मास पर्यन्त प्रतिदिन प्रातः उठ कर अन्य किसी का मुख देखे बिना भगवान जिनेन्द्र के दर्शन करे, तथा महामंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

४२ **जिनरात्रि व्रत**—१४ वर्ष पर्यन्त प्रत्येक वर्ष फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को उपवास करे रात्रि को जागरण करे। प्रत्येक पहर में जिन दर्शन करे तथा नमस्कार मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

४३ **जेष्ठजिनवर व्रत**—उत्तम २४ वर्ष, मध्यम १२ वर्ष और जघन्य एक वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष ज्येष्ठ कृष्णा एकम और शुक्ला एकम को उपवास करे, तथा उस मास के शेष २८ दिन एकाशना करे। "ॐ ह्रीं ऋषभजिनाय नमः" इस मन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

४४ **णमोकार पंतीसी व्रत**—आषाढ़ शुक्ला ७ से आसौज शु० ७ तक की सात सप्तमियाँ; कार्तिक कृष्णा ५ से पौष कृ० ५ तक ५ पंचमियाँ; पौष कृ० १४ से आषाढ़ शुक्ला १४ तक १४ चतुर्दशियाँ; श्रावण कृ० ६ से आसौज कृ० ६ तक ६ नवमियाँ इस प्रकार ३५ तिथियों के ३५ उपवास करे। णमोकार मन्त्र की पूजन और इसी महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

४५ **तपोनिधि व्रत**—वृहद् और लघु के भेद से इस व्रत की दो विधियां हैं। वृहद् विधि—प्रथम दिन उपवास करे, दूसरे दिन एक ग्रास, दो ग्रास आदि एक एक ग्रास वृद्धि क्रम से सातवें दिन सात ग्रास लेवें, आठवें दिन उपवास अगले दिन उपवास करे पश्चात् पुन: पूर्ववत् एक एक ग्रास की वृद्धि करते हुए सातवें दिन सात ग्रास ग्रहण कर अगले दिन पुन: उपवास करे पश्चात् पुन: पूर्ववत् ग्रास ग्रहण करे इस क्रम से ऐसा सात बार करता चला जाये, जब सातों बार निर्दोष रूप से समाप्त हो जाए तब उसे सप्तसप्तमतपो विधि कहते हैं। इस उत्तम सप्तसप्तमतपो विधि के अनुसार अष्टअष्टमतपो विधि, नवनवमतपो विधि, दशदश-मतपोविधि, एकादशएकादश तपोविधि आदि के क्रम से द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशत् तपो विधि तक करना चाहिए।

लघुविधि—यह विधि उपर्युक्त प्रकार ही है, अन्तर केवल इतना है कि यहाँ उपवास नहीं करना चाहिए, केवल वृद्धिगत क्रम से ग्रास ग्रहण करें। महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

४६ **तपो-शुद्धि व्रत**—बाह्य तप के अन्तर्गत अनशन तप के २, अवमौदर्य का १, वृत्ति परिसंख्यान का १, रस परित्याग के ५, विविक्त-शय्यासन का १, कायक्लेश का १, इस प्रकार ये ११ उपवास हुए। अन्तरंग तप के अन्तर्गत प्रायश्चित के १६, विनय के ३०, वैयावृत्ति के १०, स्वाध्याय के ५, व्युत्सर्ग के २, ध्यान का १, इस प्रकार ये ६७ उपवास हुए, तथा कुल मिलाकर ७८ उपवास करे और महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

४७ **तपोञ्जलि व्रत**—श्रावण मास की प्रतिपदा से एक वर्ष पर्यंत सूर्यास्त के दो घड़ी पूर्व से लेकर सूर्योदय के दो घड़ी पश्चात् तक चारों प्रकार के आहार का अर्थात् जल का भी त्याग रखे। एक वर्ष पर्यन्त पूर्ण ब्रह्मचर्य अथवा स्वदार संतोष व्रत से रहे तथा प्रत्येक मास के प्रत्येक (कृष्ण-शुक्ल) पक्ष में जिस किसी भी तिथि का उपवास करे किन्तु इतना ध्यान रखे कि उपवास की दोनों पक्ष की दोनों तिथियां एक न हों, अलग अलग हों। तथा एक ही पक्ष में दो उपवास न करे। प्रतिदिन "ॐ ह्रीं चतुर्विंशति-तीर्थंकरेभ्यो नमः" इस मन्त्र का १०८ बार जाप्य करे।

४८ **तीन चौबीसी व्रत**—तीन वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष भाद्रपद कृष्णा ३ को उपवास करे और महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

४९ **तीर्थंकर व्रत**—चौबीस तीर्थंकरों के उपलक्ष मे लगातार २४ दिन पर्यन्त २४ उपवास करे, "ॐ ह्रीं वृषभादि-चतुर्विंशति-तीर्थंकरेभ्यो नमः" इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे और अभिषेक पूर्वक पूजन विधान करे।

५० **तीर्थंकरबेला व्रत**—वृषभनाथ का सप्तमी-अष्टमी का उपवास और नवमी को तीन अंजुली शर्बत का पारणा करे। अजितनाथ का त्रयोदशी-चतुर्दशी का बेला तथा १५ को तीन अंजुली दूध का पारणा करे, इसी प्रकार सम्भवनाथ, सुमतिनाथ, सुपार्श्वनाथ, पुष्पदन्त, श्रेयान्सनाथ, विमलनाथ, धर्मनाथ, कुन्थुनाथ, मल्लिनाथ, नमि और पार्श्वनाथ भगवान का ऋषभनाथ वत् तथा अभिनन्दन नाथ, पद्मप्रभ, चन्द्रप्रभ, शीतलनाथ, वासुपूज्य, अनन्तनाथ, शान्तिनाथ, अरनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नेमिनाथ एवं महावीर इन तीर्थंकरों का अजितनाथ भगवान के सदृश करे। "ॐ ह्रींवृषभादि-चतुर्विंशति-तीर्थंकराय नमः" इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

५१ **तेला व्रत**—किसी मास में प्रथम दिन दोपहर को एकाशन करके मन्दिर जी जावे, तीन दिन तक उपवास करे, पाँचवे दिन अभिषेक पूजन करके घर आवे पात्र दान देकर दोपहर को एक स्थान पर मौन पूर्वक एक बार का परोसा भोजन करे। महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

५२ **त्रिगुणसार व्रत**—क्रमशः १,१, २, ३, ४, ५, ४, ४, ३, २, और १ इस प्रकार ३० उपवास करे, बीच के १० पारणा और आदि अन्त मे एक एक धारणा-पारणा करे। नमस्कार मन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

५३ **त्रिमुखशुद्धि व्रत**—किसी भी मास की किसी भी तिथि को प्रातः, मध्याह्न और अपराह्न काल में द्वार पर खड़े होकर पात्र की प्रतीक्षा करना तथा पात्र उपलब्ध हो जाने पर आहार दान देने के उपरान्त भोजन ग्रहण करना। जब तक पात्र दान न दिया जाय तब तक उपवास करना पड़ता है।

५४ **त्रिलोक तीज व्रत**—तीन वर्ष पयन्त प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ला तीज को उपवास करे। "ॐ ह्री त्रिलोक सम्बन्धी अकृत्रिम-जिन-चैत्यालयेभ्यो नमः" इस मन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

५५ **त्रिलोकसार व्रत**—त्रिलोकाकार रचना के अनुसार नीचे से ऊपर की ओर ५, ४, ३, २, १, २, ३, ४, ३, २ और एक इस प्रकार ३० उपवास व बीच बीच के स्थानो मे ११ पारणाएँ करे। नमस्कार मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

५६ **त्रेपन क्रिया व्रत**—आठ मूलगुणो की ८ अष्टमी; पाँच अणुव्रतों की ५ पंचमी; तीन गुणव्रतों की ३ तीज; चार शिक्षाव्रतों की ४ चौथ; बारह तप की १२ द्वादशी; समता भाव की एक प्रतिपदा; ग्यारह प्रतिमाओं की ११ एकादशी; चार दान की ४ चौथ; जलगालन की १ प्रतिपदा; रात्रि भोजन त्याग की १ प्रतिपदा; और रत्नत्रय की ३ तीज, इस प्रकार त्रेपन तिथियो के ५३ उपवास करे तथा महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

५७ दर्शन-विशुद्धि व्रत—उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक इन तीनों सम्यक्त्वों के निःशंकादि आठ अंगों की अपेक्षा २४ अंग होते हैं, अतः एक उपवास और एक पारणा के क्रम से २४ उपवास करे। महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

५८ दशलक्षण व्रत—उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से इस व्रत की विधि तीन प्रकार से कही गई है—

उत्तम विधि—१० वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष तीन बार अर्थात् माघ, चैत्र और भाद्रपद की शुक्ला ५ से १४ पर्यंत दश दश दिनों के उपवास करना।

मध्यम विधि—१० वर्ष पर्यन्त वर्ष में तीन शुक्ला ५, ८, ११ और १४ इन चार तिथियों के उपवास और शेष ६ दिन एकाशन करे।

जघन्य विधि—१० वर्ष पर्यन्त वर्ष में तीन बार दशों दिन एकाशन करे। "ॐ ह्रीं अर्हन् मुख-कमल-समुद्भूतोत्तमक्षमादि-दशलक्षणैकधर्माय नमः" इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करें।

५९ दारिद्रनिवृत्ति व्रत—आसोज मास के शुक्ल पक्ष में प्रथम गुरुवार को एक बार भोजन करे। शुक्रवार को अभिषेक पूर्वक पूजन करे, सहस्र नाम पाठ करे, सामायिक, स्वाध्याय करे तथा उपवास करे और "ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अर्हंत-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय-सर्वसाधुभ्यो नमो स्वाहा" इस मंत्र का सुगन्धित १०८ पुष्पों से जाप्य करे, शनिवार को सत्पात्रों को आहार दान देकर पारणा करे। इस प्रकार पांच शुक्रवारों तक करे।

६० दीपमालिका व्रत—वीर निर्वाण अर्थात् कार्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन उपवास करे, महावीर भगवान की पूजन करे, सन्ध्या समय दीपमालिका प्रज्ज्वलित करे और "ॐ ह्रीं श्री महावीर-स्वामिने नमः" इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

६१ दुःखहरण व्रत—उत्तम विधि—इस विधि में चारों गतियों के आधार से उपवास अर्थात् बेला किए जाते हैं। सात नरकों के ७ बेला, तिर्यञ्चों के पर्याप्त-अपर्याप्त के दो बेला, मनुष्यों के पर्याप्त-अपर्याप्त के २ बेला, सौधर्मैशान का १ बेला, सानत्कुमार से अच्युत पर्यंत के ११ बेला, नव ग्रैवेयकों के ९ बेला, नव अनुदिश का एक बेला और पांच अनुत्तरों का एक बेला, इस प्रकार (७+२+२+१+११+९+१+१)=३४ बेला और बीच के ३४ स्थानों में ३४ पारणा, अर्थात् यह व्रत १०२ दिनों में समाप्त होता है।

जघन्य विधि—एक उपवास और एक पारणा के क्रम से १२० उपवास पूर्ण करे। महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

६२ दुग्धरसी व्रत—१२ वर्ष पर्यन्त प्रत्येक वर्ष में भाद्रपद शुक्ला १२ को मात्र दूध का आहार ले। महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

६३ द्वादशी व्रत—१२ वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ला १२ को उपवास करे। 'ॐ ह्रीं अर्हद्भ्यो नमः" इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

६४ द्वारावलोकन व्रत—द्वारावलोकन व्रत में दो पहर का नियम कर द्वारपर खड़े होकर उत्तम पात्र की प्रतीक्षा करना और मुनिराज को आहार करा कर भोजन करना, यदि मुनिराज का योग न मिले तो ऐलक-क्षुल्लक आदि जो मिलें उन्हें आहार करा कर भोजन करे। यदि किसी भी पात्र का योग न मिले तो दोपहरों [६ घंटे] बाद भोजन करले।

६५ द्विकावली व्रत—उत्तम विधि—एक बेला एक पारणा के क्रम से ४८ बेले करना।

मध्यम विधि—एक वर्ष पर्यंत प्रतिमास शुक्लपक्ष की एकम-दूज का, पंचमी-षष्ठी का, अष्टमी-नवमी का और चतुर्दशी-पूर्णिमा का तथा कृष्णपक्ष की चतुर्थी-पंचमी का, अष्टमी-नवमी का और चतुर्दशी-अमावस्या का इस प्रकार ७ बेले करे। इस प्रकार १२ मास में ८४ बेले करे।

जघन्य विधि—एक बेला, दो पारणा, १ एकाशना, इस क्रम से २४ बार दुहराने पर १२० दिन में २४ बेला, ४८ पारणाएँ और २४ एकाशना होती हैं। सर्वत्र महामन्त्र का या "ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्राय सर्वशान्तिकराय सर्व-क्षुद्रोपद्रव-विनाशनाय श्री क्लीं नमः स्वाहा" मन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

६६ **दिव्य लक्षण पंक्ति व्रत** - बत्तीस व्यंजन, चौसठ कला और एक सौ आठ लक्षण इस प्रकार दो सौ चार लक्षणों का ग्रहण किया है, इसलिए इस व्रत विधि में किसी भी मास से प्रारम्भ कर दो सौ चार उपवास और दो सौ चार पारणाएँ कर चार सौ आठ दिन में यह व्रत समाप्त होता है। व्रत के दिन महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

६७ **धनदकलश व्रत**—इस व्रत की निम्नलिखित दो विधियाँ हैं।

प्रथमविधि—भाद्रपद कृष्णा एकम से पूर्णिमा पर्यन्त (पूरे एक माह) प्रतिदिन चन्दनादि मंगलद्रव्य युक्त कलशों में जिनेन्द्र देव का अभिषेक पूजन करे और महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे, ब्रह्मचर्य से रहे तथा भोजन मौन पूर्वक और शुद्ध करे।

दूसरीविधि—पांच वर्ष पर्यंत भाद्रपद शुक्ला प्रतिपदा के दिन उपवास करे, अभिषेक पूर्वक पूजन करे और "ॐ ह्रीं श्री क्लीं ऐं अर्हं आदिनाथ तीर्थंकराय नमः स्वाहा।" इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

भाद्रपद से पांच माह पर्यंत प्रत्येक शुक्ला प्रतिपदा को भी यह व्रत करने का विधान है।

६८ **धर्मचक्र व्रत**—उत्तम विधि—धर्मचक्र के १००० आरों की अपेक्षा एक उपवास, एक पारणा के क्रम से १००० उपवास करे और आदि अन्त में एक एक बेला पृथक् करे। इस प्रकार कुल २००४ दिन (५३ वर्ष और २४ दिनों) में यह व्रत पूर्ण होता है।

मध्यम विधि— १०१० दिन तक प्रतिदिन एकाशना करे।

जघन्य विधि—क्रमशः एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, पांच उपवास एक पारणा और एक उपवास एक पारणा। इस प्रकार कुल १६ उपवास और ६ पारणाओं द्वारा २२ दिन में व्रत पूर्ण होता है। सर्वत्र महामन्त्र का अथवा "ॐ ह्रीं अरहन्तधर्मचक्राय नमः" इस मन्त्र का गुग्गल और धूप द्वारा त्रिकाल जाप्य करे।

६९ **नन्दसप्तमी व्रत**—सात वर्ष पर्यन्त भादों सुदी ७ को उपवास करे, इस व्रत में षष्ठी तिथि से ही संयम ग्रहण करना चाहिए। महामन्त्र का अथवा "ॐ ह्रां ह्रीं सर्वविघ्न निवारकाय श्री शान्तिनाथ-स्वामिने नमः स्वाहा", इस मन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे। [निर्दोष सप्तमी व्रत की भी यही विधि है]

७० **नन्दीश्वर व्रत**—अष्टाह्निक व्रत की जो मध्यम विधि आगे लिखी गई है, वही विधि नन्दीश्वर व्रत की है।

७१ **नन्दीश्वर पंक्ति व्रत**—यह व्रत १०८ दिन में पूर्ण होता है, जिसमें ५६ उपवास और ५२ पारणाएँ होती हैं। इस व्रत में प्रत्येक दिशा सम्बन्धी ४ एकान्तर उपवास पश्चात् एक बेला, पश्चात् ८ एकान्तर उपवास करे। इस प्रकार सम्पूर्ण व्रत में ४ बेला, ४८ उपवास और ५२ पारणाएँ होतीं हैं।

लघु विधि—समयानुसार जब कभी करके भी ४ बेला और ४८ उपवास करके व्रत पूर्ण करे। सर्वत्र "ॐ ह्रीं नन्दीश्वर-द्वीपस्थाकृत्रिम-जिनालयस्थ-जिनबिम्बेभ्यो नमः" इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

७२ **नमस्कार पंतीसी व्रत**—णमोकार मन्त्र में ३५ अक्षर हैं, अतः किसी भी मास से प्रारम्भ कर निम्नलिखित तिथियों के ३५ उपवास करे। सप्तमी के सात, पंचमी के पांच, चतुर्दशी के १४ और नवमी के नौ उपवास करे। अभिषेक पूर्वक पंचपरमेष्ठी का पूजन करे और "ॐ ह्रां णमो अरिहंताणं, ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं, ॐ ह्रूँ णमो आइरियाणं, ॐ ह्रौ णमो उवज्झायाणं, ॐ ह्रः णमो लोए सव्वसाहूणं" इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे। पारणा के दिन एकाशन करें।

७३ **नवकार व्रत**—लगातार ७० दिन एकाशना करे और त्रिकाल णमोकार मंत्र का जाप्य करे।

७४ **नवनिधि व्रत**—किसी भी मास की चतुर्दशी से प्रारम्भ करके १४ रत्नों की १४ चतुर्दशी, नवनिधियों की ६ नवमी, रत्नत्रय की ३ तीज, और ५ सम्यग्ज्ञानों की पाँच पंचमी, इस प्रकार ३१ उपवास करे तथा महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

७५ **नक्षत्रमाला व्रत**--किसी भी मास में जिस दिन अश्विनी नक्षत्र हो उस दिन से लेकर एकान्तरा क्रम से ५४ दिन में २७ उपवास पूरे करे। महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

७६ **निःशल्य अष्टमी व्रत**—१६ वर्ष पर्यन्त प्रति भाद्रपद शुक्ला ८ को उपवास करे, दिन में तीन बार पूजन करे, तथा णमोकार मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

७७ **निस्यरसी व्रत**—यह व्रत वर्ष में एक बार आता है। उत्कृष्ट २४ वर्ष तक, मध्यम १२ वर्ष तक और जघन्य एक वर्ष तक किया जाता है। ज्येष्ठ कृष्णा एकम को उपवास और दोज से अमावस्या पर्यन्त एकाशना करे। पश्चात् शुक्ल पक्ष एकम का उपवास और दोज से पूर्णिमा पर्यन्त एकाशना करे। "ॐ ह्री श्री वृषभजिनाय नमः" इस मन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

७८ **निर्जर पंचमी व्रत**—प्रतिवर्ष आषाढ शुक्ला ५ से प्रारम्भ कर कार्तिक शुक्ला ५ तक की कुल ६ पंचमियों के उपवास ५ वर्ष पर्यन्त करे तथा णमोकार मन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

७९ **निर्वाण कल्याणक व्रत**--चौबीस तीर्थंकरों की २४ निर्वाण तिथियो में उनसे अगले दिन सहित दो-दो उपवास अर्थात् बेला करे, और उन्हीं-उन्हीं तीर्थंकर सम्बन्धी त्रिकाल जाप्य करे।

८० **नैशिक व्रत**—यह व्रत दो प्रकार का है। तथा यम और नियम दोनों प्रकार से किया जाता है। (१) इस व्रत में रात्रि में खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चारों प्रकार के आहार का, स्त्री सेवन का एवं दिवा मैथुन का त्याग किया जाता है। (२) अमुक रात्रि में अमुख संख्या में भोगोपभोग की (पान, शय्या, आभूषण, पुष्पमाला आदि) वस्तुओं का सेवन करूँगा, शेष का त्याग है, इस प्रकार प्रतिज्ञा की जाती है।

८१ **पंच-कल्याणक व्रत**—बृहद् विधि—प्रथम वर्ष में २४ तीर्थकरों की गर्भ तिथियों के २४ उपवास; द्वितीय वर्ष में जन्म तिथियों के २४ उपवास; तृतीय वर्ष में तपकल्याणक की तिथियों के २४ उपवास; चतुर्थ वर्ष में ज्ञान कल्याणक के २४ उपवास; पंचम वर्ष में निर्वाण कल्याणक के २४ उपवास—इस प्रकार ५ वर्ष में १२० उपवास करे।

लघुविधि—एक ही वर्ष में उपर्युक्त सर्व तिथियों के १२० उपवास पूर्ण करे। सर्वत्र "ॐ ह्रीं वृषभादिचतुर्विंशति-तीर्थंकराय नमः" इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

८२ पंचमी व्रत—पाँच वर्ष पर्यन्त भाद्रपद शुक्ला ५ को उपवास करे, तथा महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

८३ पंचविंशति-कल्याण भावना व्रत – कल्याण भावनाएँ पच्चीस हैं, उन्हें लक्ष्य कर एकान्तर २५ उपवास और २५ पारणाएँ करना, त्रिकाल महामन्त्र का जाप्य करना। पच्चीस भावनाओं के नाम—१ सम्यक्त्व, २ विनय, ३ ज्ञान, ४ शील, ५ सत्य, ६ श्रुत, ७ समिति, ८ एकान्त, ९ गुप्ति, १० ध्यान, ११ शुक्लध्यान, १२ संक्लेशनिरोध, १३ इच्छानिरोध, १४ संवर, १५ प्रशस्तयोग, १६ संवेग, १७ करुणा, १८ उद्वेग, १९ भोगनिर्वेद, २० संसारनिर्वेद २१ भुक्तिवैराग्य, २२ मोक्ष, २३ मैत्री, २४ उपेक्षा और २५ प्रमोदभावना।

८४ पंचश्रुतज्ञान व्रत – एक उपवास एक पारणा के क्रम से १६८ उपवास पूरे करे। "ॐ ह्रीं पञ्चश्रुतज्ञानाय नमः" इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

८५ पञ्चपरमेष्ठी व्रत—(१) इस व्रत में कुल १४३ उपवास किये जाते हैं। अरिहन्त के ४६ गुणों के लिए चार चतुर्थियों के चार उपवास, आठ अष्टमियों के ८, बीस दशमियों के २० और चौदह चतुर्दशियों के १४ उपवास करे और "ॐ ह्रीं अर्हद्भ्यो नमः" इस मन्त्र का जाप्य करे। सिद्ध परमेष्ठी के आठ मूलगुणों के लिए आठ अष्टमियों के आठ उपवास और 'ॐ ह्रीं सिद्धेभ्यो नमः' का जाप्य करे। आचार्य के ३६ मूलगुणों के लिए बारह द्वादशियों के १२, छः षष्ठियों के ६, पाँच पञ्चमियों के ५, दश दशमियों के १० और तीन तृतीयाओं के ३ उपवास और "ॐ ह्रीं आचार्येभ्यो नमः" का जाप्य करे। उपाध्याय के २५ मूलगुणों के लिए, ग्यारह एकादशियों के ११ और चौदह चतुर्दशियों के १४ उपवास तथा "ॐ ह्रीं उपाध्यायेभ्यो नमः" का जाप्य करे। साधु परमेष्ठी के २८ मूलगुणों के लिए पन्द्रह पञ्चमियों के १५, छह षष्ठियों के ६, एवं सात प्रतिपदाओं के ७ उपवास और "ॐ ह्रीं सर्वसाधुभ्यो नमः" मन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

(२) निम्न विशेष तिथियों में क्रम से १४३ उपवास करे और महामंत्र का त्रिकाल जाप्य करे। ३ तीज, ४ चौथ, २० पंचमी, १२ छठ, ७ सप्तमी, १६ अष्टमी, नवमी नहीं, ३० दशमी, ११ एकादशी, १२ द्वादशी, त्रयोदशी नहीं, और २८ चतुर्दशी = १४३ उपवास करे।

८६ पंचमास चतुर्दशी व्रत—इस व्रत की दो मान्यताएँ है। (१) आषाढ, श्रावण, भाद्रपद, आसौज एवं कातिक मासों की शुक्लपक्ष की चतुर्दशी के उपवास अर्थात् ५ उपवास करना। (२) उपर्युक्त मासों के दोनों पक्षों की दो-दो चतुर्दशियों के १० उपवास करे और महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

८७ परस्परकल्याणक व्रत – बृहद् विधि—पंचकल्याणक के ५, प्रातिहार्यों के ८ और चौतीस अतिशयों के ३४, ये सब मिलकर एक तीर्थंकर सम्बन्धी ४७ उपवास हुये, अतः २४ तीर्थंकरों के (४७×२४)=११२८ उपवास हुए, जो एकान्तरे रूप मे २२५६ दिन मे पूरे करे।

मध्यम विधि—क्रमशः एक उपवास, ४ दिन एक बार का परोसा, ३ दिन भात व जल, दो दिन रूक्षाहार, दो दिन अन्तराय टाल कर मौन से मुनिवृत्ति से भोजन और एक दिन उपवास, इस प्रकार लगातार १३ दिन तक करे।

लघुविधि—क्रमशः एक उपवास, एक दिन भात व जल, एक दिन एक बार का परोसा, एक दिन रूक्षाहार और एक दिन मुनिवृत्ति से भोजन, इस प्रकार लगातार ५ दिन करे। सर्वत्र महामंत्र का जाप्य करे।

८८ पल्लव विधान व्रत—लघु विधि—क्रमशः १, २, ३, ४, ५, ४, ३, २, १ इस प्रकार २५ उपवास करे, बीच बीच में एक एक पारणा करे।

बृहद् विधि—आश्विन मास कृष्ण पक्ष में ६ और १३ का उपवास तथा १०-११ का बेला, शुक्ल पक्ष में चतुर्दशी का उपवास करे। कार्तिक मास कृ० १२ और शु० ३-१२ का उपवास करे। मगसिर कृ० ११ का और शु० ३, १३ का उपवास करे। पौष कृ० २-३० और शु० ५, ७, १५ का उपवास करे। माघ कृ० ४, ७, १४ का उपवास और शुक्ला ७-८ का बेला तथा १० का उपवास करे। फाल्गुन कृ० ५, ६ का बेला, शु० १, ११ का उपवास करे। चैत्र कृ० ४, ६, ८, ११ का उपवास, १-२ का बेला और शु० ७, १० का उपवास करे। वैशाख कृ० ४, १० का उपवास और शु० २-३ का बेला तथा ६, १३ का उपवास करे। जेष्ठ कृ० १० का उपवास और १२-१३-१४ का तेला और शु० ८, १०, १५ का उपवास करे। आषाढ़ कृ० १३-१४-१५ का तेला और १० वीं का उपवास और शुक्ला ८, १०, १५ का उपवास करे। श्रावण कृ० ४, ६, ८, १४ के उपवास और शु० ३, १५ का उपवास तथा १२-१३ का बेला करे। भाद्रपद कृ० २, १२ का उपवास, ६-७ का बेला, शुक्ला ६, १५ का उपवास, ५-६-७ का तेला तथा ११-१२-१३ का तेला करें। इस प्रकार कुल ४ तेला, ७ बेला एवं ४८ उपवास करे। सर्वत्र महामंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

८६ **पात्रदान व्रत**—प्रतिदिन पात्र दान देने का नियम करना, यदि प्रतीक्षा एवं द्वारा प्रेक्षण करने पर भी पात्र न मिले तो रस परित्याग कर भोजन करे।

६० **पुष्पांजली व्रत**—पांच वर्ष तक प्रतिवर्ष भाद्रपद, माघ और चैत्र में शुक्ल पक्ष की (उत्तम विधि) ५ से ६ तक लगातार पाच-पाच उपवास करना। मध्यम—५, ७, ६ का उपवास तथा ६, ८ को एकाशन करे। जघन्य—५-६ को उपवास तथा ६, ७, ८ का एकाशन करे। सर्वत्र "ॐ ह्रीं पंचमेरुस्थ अस्सी जिनालयेभ्यो नमः" इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

६१ **पुरन्दर व्रत**—(१) किसी भी मास मे शुक्लपक्ष को एकम से अष्टमी तक के आठ उपवास करके नौवी को पारणा करना। (२) प्रतिपदा का उपवास द्वितीया का पारणा इस क्रम से अष्टमी पर्यन्त एकान्तर उपवास करना। (३) प्रतिपदा से लगातार चार उपवास कर एक अनाज अर्थात् एक ही प्रकार की वस्तु से पारणा करना। (४) प्रतिपदा और अष्टमी का उपवास, शेष दिनों में एकाशना करे। सर्वत्र महामन्त्र का १००८ बार त्रिकाल जाप्य करे।[1] यह व्रत किसी भी माह के शुक्ल पक्ष में किया जा सकता है।

६२ **बारह तप व्रत**—किसी भी मास के शुक्ल पक्ष की किसी भी तिथि से प्रारम्भ कर लगातार १२ उपवास, आगे १२ एकाशन, १२ कांजिकाहार, १२ गोरस रहित भोजन, १२ अल्पाहार, १२ एक बार का परोसा मौन सहित भोजन, १२ दिन मात्र मूंग का आहार, १२ दिन मोठ का आहार, १२ दिन चोला का आहार, १२ दिन चनों का आहार, १२ दिन मात्र जल और १२ दिन घृत रहित आहार। इस प्रकार अन्तराय टाल कर मौन सहित भोजन करे। महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे। यह व्रत १४४ दिन में पूर्ण होता है।

६३ **बारह बिजोरा व्रत**—एक वर्ष की २४ द्वादशियों के २४ उपवास करे तथा महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

६४ **बेला व्रत**—प्रथम दिन दोपहर को एकाशन पश्चात् लगातार दो उपवास और अगले दिन पारणा या एकाशन करे। महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

---

१. यह व्रत दारिद्र नाशक है यथा — दारिद्र्य-वृक्षदाहूकं, मूलं मोक्षस्य निश्चयम्।
पुरन्दरविधि विद्धि, सर्वसिद्धिप्रद नृणाम् ॥१॥

९५ **माद्यवनसिंहनिष्क्रीड़ित व्रत**—१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १३, १२, ११, १०, ९, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २ और एक उपवास क्रम से करे, बीच बीच में पारणा करे। महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

९६ **भावना पच्चीसी व्रत**—किसी भी माह से प्रारम्भ कर दश दशमी के १०, पांच पंचमियों के ५, आठ अष्टमी के ८ और दो पड़िमा के २, इस प्रकार पाँच माह में २५ उपवास करे तथा महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

९७ **भावनाविधि व्रत**—प्रत्येक व्रत की ५-५ भावनाओं के हिसाब से पाँच व्रतों की २५ भावनाओं को भाते हुए एक उपवास, एक पारणा के क्रम से ५० दिन में २५ उपवास करे तथा महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

९८ **मंगल त्रयोदशी (धन तेरस) व्रत**—कार्तिक कृष्णा १२ के दिन एक बार भोजन करे त्रयोदशी को उपवास करे, आदिनाथ से विमलनाथ पर्यन्त तेरह जिनेन्द्रों की पूजन करे तथा "ॐ ह्रीं क्लीं ऐं अर्हं विमलनाथ-तीर्थंकराय नमः" स्वाहा इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे। अथवा महामंत्र का जाप्य करे। इस प्रकार १३ माह तक प्रत्येक माह की त्रयोदशी को (१३) उपवास करे।

९९ **मुकुट सप्तमी व्रत**—सातवर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष श्रावण शुक्ला ७ को उपवास करे। "ॐ ह्रीं तीर्थंकरेभ्यो नमः" इस मन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

१०० **मुक्तावली व्रत**—बृहद् विधि—१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ६, ५, ४, ३, २, १ इस क्रम से ४९ उपवास और १३ पारणा करे। मध्यम विधि—१, २, ३, ४, ५, ४, ३, २, १ इस क्रम से २५ उपवास और ८ पारणा करे। जघन्यविधि—९ वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष भाद्र० शु० ७, आश्विन, कृ० ६, १३ तथा शुक्ला ११, कार्तिक कृ० १२ तथा शु० ३, ११; मगसिर कृ० ११ तथा शुक्ला ३ इस प्रकार एक वर्ष के ९ एवं ९ वर्ष के ८१ उपवास करे। सर्वत्र महामन्त्र का या "ॐ ह्रीं वृषभजिनाय नमः" इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

१०१ **मुरजमध्य व्रत**—बृहद् विधि ५, ४, ३, २, २, ३, ४, ५ इस क्रम से २८ उपवास ८ पारणा करे। लघु विधि—२, ३, ४, ५, ५, ४ ३ इस क्रम से २६ उपवास ७ पारणा करे। सर्वत्र महामंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

१०२ **मुष्टिविधान व्रत**—प्रतिवर्ष भाद्रपद, माघ व चैत्र मास में कृष्णा १ से शुक्ला पूर्णिमा पर्यन्त अर्थात् पूरे एक एक माह तक प्रतिदिन १ मुष्टि प्रमाण शुभ द्रव्य भगवान् के चरणों में चढ़ा कर अभिषेक पूर्वक चतुर्विंशति जिन पूजन करे। "ॐ ह्रीं वृषभादिवीरान्तेभ्यो नमः" इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करें।

१०३ **मृदंगमध्य व्रत**—बृहद् विधि—१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २, १ इस क्रम से ८१ उपवास और बीच बीच में एक एक पारणा करे। लघु विधि—२, ३, ४, ५, ४, ३, २ इस क्रम से २३ उपवास और एक एक पारणा करे। सर्वत्र महामत्र का त्रिकाल जाप्य करें।

१०४ **मेघमाला व्रत**—५ वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष भाद्रपद कृ० १, ८, १४ तथा शु० १, ८, १४ तथा आसौज कृ० १ इन सात तिथियों में सात-सात करके कुल ३५ उपवास करे। महामंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

१०५ **मेरुपंक्ति व्रत**—अढ़ाई द्वीप में पांच मेरु पर्वत हैं, प्रत्येक मेरु पर चार चार वन हैं तथा प्रत्येक वन में चार-चार चैत्यालय हैं, अतः प्रत्येक वन के चार चैत्या० के एकान्तर क्रम से चार उपवास व चार पारणा, पश्चात्

एक बेला और अन्त में एक पारणा करे, इस प्रकार कुल ८० उपवास २० बेले और १०० पारणा करे। "ॐ ह्रीं पंचमेरु-सम्बन्धी-अस्सी जिनालयेभ्यो नमः" इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करें।

१०६ **मोक्षसप्तमी व्रत**—सात वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष श्रावण शुक्ला ७ को उपवास करे "ॐ ह्रीं श्री पार्श्वनाथाय नमः" इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करें।

१०७ **मौन व्रत**—एक वर्ष पर्यन्त पौष शु० ११ से प्रारम्भ करके प्रत्येक मास के प्रत्येक ११ वें दिन मौनपूर्वक १६ पहर का उपवास करे। इस प्रकार कुल २४ उपवास करे। महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

१०८ **रक्षाबन्धन व्रत**—श्रावण शुक्ला पूर्णिमा को उपवास करे, हाथ में पीला सूत बांधे, तथा 'ॐ ह्रीं विष्णुकुमार मुनये नमः' इस मन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

१०९ **रत्नत्रयव्रत**—३ या ५ वर्ष पर्यन्त प्रत्येक वर्ष के भाद्रपद, माघ व चैत्र मास की शु० द्वादशी को धारणा कर १३, १४ और पूर्णिमा का उपवास करे, पश्चात् आसौज कृ० १ को दोपहर में पारणा करे, तथा 'ॐ ह्रीं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रेभ्यो नमः' इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

११० **रत्नमुक्तावली व्रत**—१, २, १, ३, १, ४, १, ५, १, ६ १, ७, १, ८, १, ९, १, १०, १, ११, १, १२, १, १३, १, १४, १, १५, १, १६, १, १५, १, १४, १, १३, १, १२, १, ११, १, १०, १, ९, १, ८, १, ७, १, ६, १, ५, १, ४, १, ३, १, २, और १ उपवास, इस प्रकार अर्थात् १ उपवास १ पारणा, २ उपवास १ पारणा, १ उप० १ पारणा, ३ उप० १ पा०, ४ उप० १ पारणा, १ उप० १ पारणा के क्रम से २८४ उपवास और ६० पारणाएँ करे। यह व्रत ३४४ दिनों में पूर्ण होता है। महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

१११ **रत्नावली व्रत**—श्रावणकृष्णा एकम को एकाशन कर २, ५ और अष्टमी के उपवास तथा शुक्ला ३, ५, ८ के उपवास, इस प्रकार प्रत्येक मास में ६ उपवास करते हुए एक वर्ष में ७२ उपवास करके उद्यापन कर दे। 'ॐ ह्रीं त्रिकाल-सम्बन्धी-चतुर्विंशति-तीर्थंकरेभ्यो नमः' इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

११२ **रविवार व्रत**—९ वर्ष पर्यन्त आषाढ शुक्ल पक्ष का अन्तिम रविवार तथा श्रावण एवं भाद्रपद के ८ रविवार, इस प्रकार ९ रविवारों के उपवास करे। अथवा आषाढ के अन्तिम रविवार से अगले आषाढ़ के अन्तिम रविवार तक के ४८ रविवारों के उपवास करे। महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

११३ **रुक्मणि व्रत**—८ वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ला ७ को एकाशन, ८ को उपवास ९ को पारणा, १०उप०, ११ पा०, १२ उप० १३ पा०,१४ उप० और पूर्णिमा को पारणा करे। त्रिकाल महामंत्र का जाप्य करे।

११४ **वज्रवसंत व्रत**—किसी भी मास से प्रारम्भ कर क्रमशः २, ३, ४, ५, ६, ६, ४, ३, २ इस प्रकार ३५ उपवास और ९ पारणा करे। महामंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

११५ **रोहिणी व्रत**—सात वर्ष या पांच वर्ष पांच मास अथवा पांच वर्ष पर्यन्त रोहणी नक्षत्र के दिन उपवास करे। अभिषेक पूर्वक श्री वासुपूज्य भगवान की पूजन करे तथा महामंत्र का या 'ॐ ह्रीं श्री चन्द्रप्रभ जिनेन्द्राय नमः' का त्रिकाल जाप्य करे।

११६ **वज्रमध्य व्रत**—इस व्रत की दो विधि हैं। (१) किसी भी माह में ५, ४, ३, २, १, २, ३, ४, ५ के क्रम से २९ उपवास और बीच के नो स्थानों में ९ पारणाएं करे। (२) यहां भी १, २, ३, ४, ५, ५, ४,३, २ के क्रम से २९ उपवास और ९ पारणाएं करे। महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

११७ बसन्तभद्र व्रत—किसी भी समय प्रारम्भ कर क्रमशः ५, ६, ७, ८, ९ इस प्रकार ३५ उपवास और बीच के स्थानों में एक एक पारणा करे। त्रिकाल महामंत्र का जाप्य करे।

११८ वीरजयन्ति व्रत—भगवान महावीर की जन्म तिथि अर्थात् चैत्र शुक्ला १३ को उपवास करे। 'ॐ ह्रीं श्री महावीराय नमः' मन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

११९ वीरशासन जयंती व्रत—भगवान महावीर की दिव्यध्वनि की प्रथम तिथि श्रावण कृष्णा १ को उपवास करे। 'ॐ ह्रीं श्री महावीराय नमः' मंत्र का जाप्य करे।

१२० शिवकुमार बेला व्रत—प्रत्येक मास की ७-८ का बेला, ९ वी का पारणा तथा १३-१४ का बेला और अमावस्या या पूर्णिमा का पारणा, इस प्रकार एक माह में ४ बेला, ४ पारणा के क्रम से १६ माह में ६४ बेला और ६४ पारणा करे। महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

१२१ शीलकल्याणक व्रत—मनुष्यनी, तिर्यंचनी, देवांगना और अचेतन इन चार प्रकार की स्त्रियों में पाँचों इन्द्रियों, मन, वचन, काय तथा कृत, कारित और अनुमोदना से गुणा करने पर १८० भंग होते हैं। ३६० दिन में एकान्तर के क्रम से १८० उपवास करे। महामन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

१२२ शीलव्रत—५ वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष वैशाख शु० ६ (अभिनन्दन भगवान के मोक्ष) के दिन उपवास करे तथा 'ॐ ह्रीं अभिनन्दन-जिनाय नमः' इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

१२३ श्रावण द्वादशी व्रत—१२ वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष भाद्रपद शु० १२ को उपवास करे तथा महामंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

१२४ श्रुतज्ञान व्रत—बृहद् विधि—६ वर्ष ७ माह पर्यन्त निम्न प्रकार उपवास करें। मतिज्ञान के २८ प्रतिपदा के २८ उपवास २८ पारणा; ११ अंगो के ११ एकादशियों के ११ उपवास, ११ पारणा; परिकर्म के दो दूज के २ उपवास; २ पारणा; ८८ सूत्रों के ८८ अष्टमियों के ८८ उपवास, ८८ पारणा; प्रथमानुयोग का नवमी का १ उपवास, १ पारणा; १४ पूर्व के १४ चतुर्दशियों के १४ उप० १४ पारणा; ५ चूलिका के ५ पंचमियों के ५ उप०, ५ पारणा, अवधिज्ञान के ६ षष्ठियों के ६ उप० ६ पारणा; मनःपर्ययज्ञान के २ चौथों के २ उप०, २ पारणा, केवलज्ञान के एक दशमी का १ उप० एक पारणा, इस प्रकार १५८ उपवास और १५८ पारणाएँ करे।

लघुविधि—१२ वर्ष ८ माह पर्यन्त—१६ उपवास पडिमा के, ३ तीज के, ४ चौथ के, ५ पंचमी के, ६ छठ के, ७ सप्तमी के, ८ अष्टमी के, ९ नवमी के, १० दशमी के, ११ एकादशी के, १२ द्वादशी के, १३ त्रयोदशी के, १४ चतुर्दशी के, १५ पूर्णिमाओ के और १५ अमावस्याओं के, इस प्रकार कुल १४८ उपवास करे। प्रत्येक उपवास के साथ १ पारणा आवश्यक है। सर्वत्र—'ॐ ह्रीं द्वादशांग-श्रुतज्ञानाय नमः' इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

१२५ श्रुतपंचमी व्रत - ५ वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष ज्येष्ठ शुक्ला ५ का उपवास करे तथा 'ॐ ह्रीं द्वादशांग-श्रुतज्ञानाय नमः' इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

१२६ श्रुतस्कन्ध व्रत—उत्तम—भाद्रपद कृष्णा १ से आश्विन कृ० २ तक ३२ दिन में एक उपवास एक पारणा के क्रम से १६ उपवास करे। मध्यम—भाद्रपद कृ० ६ से शुक्ला १५ पर्यन्त एकान्तर क्रम से १० उपवास

करे। जघन्य विधि—भाद्रपद शुक्ला १ से आश्विन कृ० १ तक १६ दिनों में उपर्युक्त प्रकार ८ उपवास करे। सर्वत्र 'ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भूत-स्याद्वाद-नय-गर्भित-द्वादशांग-श्रुतज्ञानाय नमः' इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करें।

१२७ श्रुतिकल्याणक व्रत—क्रमशः ५ दिन लगातार उपवास, ५ दिन जल व भात, ५ दिन एक बार का परोसा, ५ दिन रूक्षाहार और ५ दिन मुनिवृत्ति से अन्तराय टाल कर मौन पूर्वक भोजन करें। इस प्रकार लगातार २५ दिन तक करे, तथा महामंत्र का जाप्य करे।

१२८ श्वेत पंचमी व्रत—आषाढ़, कार्तिक व फाल्गुन, इन तीन मासों में से किसी भी मास में प्रारम्भ कर ६५ महिनों तक बराबर प्रत्येक मास की शुक्ल ५ का उपवास करे। महामंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

१२९ षड्रसी व्रत—उत्कृष्ट २४ वर्ष, मध्यम १२ व जघन्य १ वर्ष। ज्येष्ठ कृ० १ से ज्येष्ठ पूर्णिमा तक—कृ० १ को उपवास और २-१५ तक एकाशन करे। शु० १ को उपवास २-१५ तक एकाशन करे। 'ॐ ह्रीं वृषभजिनाय नमः' मन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे।

१३० षष्ठीव्रत—६ वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष श्रावण शु० ६ का उपवास करे तथा 'ॐ ह्रीं श्री नेमिनाथाय नमः' इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

१३१ षोडशकारण भावना व्रत—१६ वर्ष, ५ वर्ष अथवा एक वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष भाद्रपद, माघ व चैत्र महिनों में कृ० १ से अगले मास की कृ० १ तक अर्थात् ३२ दिन के ३२ उपवास करे या एकान्तर क्रम से १६ उपवास १६ पारणा करे या ३२ एकाशना करे। सर्वत्र 'ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्धयादि-षोडशकारणेभ्यो नमः' का त्रिकाल जाप्य करें।

१३२ संकट हरण व्रत—३ वर्ष पर्यन्त भाद्र, माघ व चैत्र मास में शुक्ल १३ से १५ तक उपवास करे तथा 'ॐ ह्रौं ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा सर्वशान्तिं कुरु कुरु स्वाहा।' इस मत्र का त्रिकाल जाप्य करें।

१३३ सप्तकुम्भ व्रत—उत्तमविधि—क्रमशः १६, १५, १४, १३, १२, ११, १०, ९, ८, ७, ६ ५, ४, ३, २, १; १५, १४, १३, १२, ११, १०, ९, ८, ७, ६ ५, ४, ३, २, १; १५, १४, १३, १२, ११, १०, ९, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २, १; १५, १४, १३, १२, ११, १०, ९, ८ ७, ६, ५, ४, ३, २, १ इस प्रकार ४९६ उपवास और बीच के स्थानो में एक एक पारणा अर्थात् ६१ पारणा करे।

मध्यम विधि—९, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २, १; ८, ७, ६, ५, ४, ३, २, १, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २, १; ८, ७, ६, ५, ४, ३, २, १ इस प्रकार १५३ उपवास ३३ पारणा करे। जघन्य विधि—५, ४, ३, २, १; ४, ३, २, १, ४, ३, २, १; ४, ३, २, १ इस प्रकार कुल ४५ उपवास १७ पारणा करे। सर्वत्र महामंत्र का त्रिकाल जाप्य करें।

१३४ सप्तपरमस्थान व्रत—सज्जाति, ऐश्वर्य, गार्हस्थ्य, उत्कृष्ट तप, इन्द्रपद, चक्रवर्ती पद, एवं अर्हंत पद की प्राप्ति कराने वाला सप्तपरमस्थान व्रत ७ वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष श्रावण सुदी प्रतिपदा से सप्तमी पर्यन्त सात दिन किया जाता है। सातों दिन उपवास करे शक्ति न हो तो एक ही वस्तु का आहार ले। दो अनाज या दो वस्तुएँ नहीं लेना चाहिए। प्रत्येक दिन क्रमशः त्रिकाल जाप्य करें। (१) ॐ ह्रीं अर्हं सज्जाति-परमस्थानप्राप्तये श्री अभयजिनेन्द्राय नमः। (२) ॐ ह्रीं अर्हं सद्गृहस्थस्थानप्राप्तये श्री चन्द्रप्रभ-जिनेन्द्राय नमः। (३) ॐ ह्रीं अर्हं परिव्राज्यपरमस्थान प्राप्तये श्रीनेमिनाथ जिनेन्द्राय नमः। (४) ॐ

ह्रीं अर्हं श्री सुरेन्द्र-परमस्थान-प्राप्तये श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्राय नमः। (५) ॐ ह्रीं अर्हं श्रीसाम्राज्य-परम-स्थान-प्राप्तये श्रीशीतलनाथ-जिनेन्द्राय नमः (६) ॐ ह्रीं अर्हं श्रीआर्हन्त्यपरमस्थानप्राप्तये श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्राय नमः। (७) ॐ ह्रीं अर्हं श्रीनिर्वाणपरमस्थानप्राप्तये श्रीवीरजिनेन्द्राय नमः

१३५ समवसरण व्रत—एक वर्ष पर्यन्त प्रत्येक चतुर्दशी को एक उपवास करें। इस प्रकार २४ उपवास करे, तथा 'ॐ ह्रीं जगदापत्-विनाशनाय सकलगुणकरण्डाय श्री सर्वज्ञाय अर्हत्परमेष्ठिने नमः' इस मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

१३६ सर्वतोभद्र व्रत—बृहद् विधि—यह व्रत २४५ दिन में समाप्त होता है।

सर्वतोभद्र बृहद् विधि यंत्र

पा०	१	१	१	१	१	१	१
उप०	१	२	३	४	५	६	७
पा०	१	१	१	१	१	१	१
उप०	३	४	५	६	७	१	२
पा०	१	१	१	१	१	१	१
उप०	५	६	७	१	२	३	४
पा०	१	१	१	१	१	१	१
उप०	७	१	२	३	४	५	६
पा०	१	१	१	१	१	१	१
उप०	२	३	४	५	६	७	१
पा०	१	१	१	१	१	१	१
उप०	४	५	६	७	१	२	३
पा०	१	१	१	१	१	१	१
उप०	६	७	१	२	३	४	५

सर्वतोभद्र लघु विधि

पा०	१	१	१	१	१
उप०	१	२	३	४	५
पा०	१	१	१	१	१
उप०	४	५	१	२	३
पा०	१	१	१	१	१
उप०	२	३	४	५	१
पा०	१	१	१	१	१
उप०	५	१	२	३	४
पा०	१	१	१	१	१
उप०	३	४	५	१	२

यह विधि १०० दिन में समाप्त होती है।

१३७ सर्वार्थसिद्धि व्रत—कार्तिक शुक्ला ७ को धारणा करके ८ से पूर्णिमा पर्यन्त ८ उपवास करे, प्रतिपदा को पारणा करे। 'श्री सिद्धाय नमः' मंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

१३८ सिंहनिष्क्रीड़ित व्रत—उत्तम विधि—१, २, १, ३, २, ४, ३, ५, ४, ६, ५, ७, ६, ८, ७, ९, ८, १०, ९, ११, १०, १२, ११, १३, १२, १४, १३, १५, १४, १५, १६, १५, १४, १५, १३, १४, १२, १३, ११, १२, १०, ११, ९, १०, ८, ९ ७, ८, ६, ७, ५, ६, ४, ५, ३, ४, २, ३, १, २, १ = ४९६ उपवास और ६१ पारणा करें।

मध्यमविधि—१, २, १, ३, २, ४, ३, ५, ४, ६, ५, ७, ६, ८, ७, ८, ९, ८, ७, ८, ८, ६, ७, ५, ६, ४, ५, ३, ४, २, ३, १, २, १ = १५३ उपवास और ३३ पारणा करें।

जघन्य विधि—१, २, १, ३, २, ४, ३, ५, ४, ५, ५, ४, ५, ३, ४, २, ३, १, २, १ = ६० उपवास और २० पारणा करे। इस प्रकार उत्तम व्रत १३ माह २८ दिन में.

मध्यम व्रत—६ माह ६ दिन में और जघन्य व्रत २ माह २० दिन में पूर्ण होता है। सर्वत्र महामंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

१३९ सुखकारण व्रत—जिस किसी मास में प्रारम्भ करके एक उपवास, एक पारणा के क्रम से ४½ माह तक लगातार ६८ उपवास करे। महामन्त्र का जाप्य करे।

१४० सुखसम्पत्ति व्रत—उत्तमविधि—किसी भी मास से प्रारम्भ कर १५ महिने तक १ प्रतिपदा, २ दोज, ३ तीज, ४ चौथ, ५ पंचमी, ६ छठ, ७ सप्तमी, ८ अष्टमी, ९ नवमी, १० दशमी, ११ एकादशी, १२ द्वादशी, १३ त्रयोदशी, १४ चतुर्दशी, १५ अमावस्या और १५ पूर्णिमा, इस प्रकार कुल १३५ दिन के लगातार १३५ उपवास उन तिथियों मे पूरे करे। मध्यम विधि—पाँच वर्ष में १२० उपवास केवल प्रतिमास की पूर्णिमा और अमावस्या को करके पूरे करे।

जघन्य विधि—जिस किसी भी मास की कृष्णा १ से शुक्ला १ तक के लगातार १६ उपवास करे। सर्वत्र महामंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

१४१ सुगन्धदशमी व्रत—१० वर्ष पर्यन्त भाद्रपद शुक्ला १० को उपवास करे तथा महामंत्र का त्रिकाल जाप्य करे।

इस प्रकार इन व्रतों को अथवा अन्य भी और व्रतों को पूर्ण विधि विधान पूर्वक करना चाहिए। यहाँ उपर्युक्त व्रतों की विधि संक्षिप्त लिखी गई है, अतः कोई भी व्रत ग्रहण करने के पूर्व उसकी पूर्ण विधि गुरु मुख से समझ लेना चाहिए। अथवा व्रतविधान संग्रह, वर्धमान पुराण, हरिवंश पुराण, किशनसिंह क्रिया कोश, एवं व्रत तिथि निर्णय आदि ग्रन्थों में देख लेना चाहिए।

व्रत के दिनों में अभिषेक, पूजन, आरती, स्तोत्रपाठ, स्वाध्याय, जाप्य एवं आत्मचिन्तन अवश्य करना चाहिए। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन तथा यथाशक्य आरम्भ-परिग्रह का त्याग, भोगोपभोग की वस्तुओं का प्रमाण एवं रात्रि जागरण करना चाहिए। आत्म परिणामों को निर्मल एवं विशुद्ध रखने का प्रयास भी अत्यावश्यक है।

कषाय एवं रागद्वेष करना, हंसी मजाक में दिन व्यतीत करना, ताश आदि खेलना, दिन में सोना, शरीर का विशेष संस्कार एवं श्रृंगार आदि करना, धारणा-पारणा के दिन, दिन में अनेकों बार एवं रात्रि में भोजन-पानादि करना अति वर्जनीय है।

व्रत पूर्ण हो जाने के बाद उद्यापन अवश्य करना चाहिए। अर्थात् मण्डल विधान का पूजन करना, शक्त्यानुसार मन्दिर बनवाना, प्रतिष्ठा कराना, जीर्णोद्धार कराना, शास्त्र प्रकाशित कराना, चारों प्रकार का दान देना, साधर्मियों को भोजन कराना एवं गरीब अनाथ विधवाओं को भोजन, वस्त्र तथा औषधि आदि देना चाहिए। यदि उद्यापन की शक्ति न हो तो व्रत दूना करना चाहिए। उद्यापन के बाद निम्नलिखित संकल्प-पूर्वक व्रत का समापन करना चाहिए।

ॐ आद्यानाम् आद्ये जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे शुभे···· मासे····· पक्षे·· ····अद्य ····· तिथौ श्रीमदर्हत्प्रतिमा-सन्निधौ पूर्वं यद् व्रतं गृहीतं तस्य परिसमाप्ति करिष्ये-अहम्। प्रमादाज्ञान-वशात् व्रते जायमान-दोषाः शान्ति-मुपयान्ति। ॐ ह्रीं क्ष्वीं स्वाहा। श्री मज्जिनेन्द्रचरणेषु आनन्दभक्तिः सदास्तु, समाधिमरणं भवतु, पापविनाशनं भवतु। ॐ ह्रीं अ सि आ उ साय नमः सर्वशान्ति-र्भवतु स्वाहा।

यह संकल्प पढकर श्रीफल, सुपाडी अथवा अन्य कोई फल जिनेन्द्र भगवान या गुरु के समक्ष चढ़ाकर नमस्कार करे और नौ बार णमोकार मंत्र का जाप्य करे।

इस दुर्लभ मनुष्य भव में जिसे जिनेन्द्र भक्ति मिली, उसे अन्य कुछ प्राप्तव्य शेष नहीं रहा। उसने दान का फल पा लिया, उग्र तपश्चर्या कर ली, पूजा-प्रक्षाल के शत-संवत्सर पूर्ण कर लिये, सभी पवित्र गुणों के साथ शील का सर्वग्राही रूप प्राप्त कर लिया।

दिगम्बर जैन सन्त और उनका आदर्श

❖ श्री सत्यन्धरकुमार सेठी
[उज्जैन]

भारतीय-धर्मों ने सन्त जीवन को एक आदर्श जीवन माना है। उनके सम्बन्ध में काफी साहित्य लिखा गया है, लेकिन जैन संत जीवन में जो साधना, त्याग, संयम और समर्पण का आदर्श मिलता है वह अन्यत्र आज भी दुर्लभ है। संत जीवन का सम्बन्ध घर छोड़ने मात्र से ही नहीं है उसके साथ बहिर्मुखी दृष्टि से पृथक् होकर अन्तर्दृष्टि पर स्वयं को अर्पित करना भी है। इस दृष्टि की प्राप्ति के लिये मानव एक ऐसे जीवन में जाना चाहता है, जिस जीवन में जाने के पश्चात् वह पीछे की ओर नहीं देखता। वह साधना के क्षेत्र में इतना आगे बढ़ जाता है कि उसका लक्ष्य एक ही रहता है ज्ञान-ध्यान और तप। संत जीवन की ये तीन अमूल्य निधियां हैं, जिनसे जीवन का निर्माण होता है और साधक को मुक्त होने की प्रेरणा मिलती है। दिगम्बर सन्तों का वर्तमान में भी जिन्होंने दर्शन किया है वे जानते हैं कि वे सांसरिक सम्पत्तियों, पुत्र, स्त्री, धन, वैभव आदि से पूर्ण विरक्त होते हैं। संसार में उनका कोई परिवार नहीं होता वे एकाकी रहते हैं तथापि गुरुकुल (संघ) मे निवास करते हैं। वे सबके और सब उनके होते हैं। जमीन उनका बिछौना आकाश ओढ़ना और दिशाएं ही उनके वस्त्र होते हैं। उनका जीवन समस्त विकल्प जालों से पृथक् रहता है। न उनके पास असवारी होती है और न साथ में किसी भी प्रकार का परिकर होता है। वे इतने वीतरागी होते है कि उनके विचारों में किसी भी प्राणी के प्रति कोई अनुराग नहीं होता। यहां तक कि वे स्वयं के शरीर में भी किसी प्रकार अनुराग नहीं रखते हैं।

भयंकर शीत में भी नग्न दिगम्बर रहते हैं तो अति ग्रैष्म में भी उनकी वही स्थिति रहती है। वे शीत ऋतु में न तो अग्नि का उपयोग करते और न ग्रीष्म ऋतु में पंखे आदि का उपयोग करते हैं।

जैनशास्त्रों में दिगम्बर मुनि की चर्या बहुत उत्कृष्ट मानी गई है। उनकी प्रत्येक चर्या अहिंसात्मक होती है। खाना भी अहिंसात्मक होता है और बोलना भी अहिंसात्मक, कहने का तात्पर्य वे अपने जीवन की प्रत्येक गतिविधि में अहिंसा का पूर्णरीत्या परिपालन करते हैं। विकथाओं से सदैव दूर रहने वाले वे मुनिराज शत्रु के प्रति भी बुरे शब्दों का प्रयोग तो दूर रहा मन में भी उसके लिये बुरा नहीं सोचते। वे सदैव हित-मित-प्रिय भाषी होते हैं। पद विहारी वे मुनिराज खड़े-खड़े कर पात्र में २४ घण्टे में एक बार आहार-जल ग्रहण करते तथा २-३ या ४ माह स्वहस्त से घास के समान केशों का लुंचन करते हैं। इसलिए दिगम्बर वीतरागी मुनिराजों को मुक्ति का साक्षात् पात्र आगम ग्रन्थो मे वर्णित किया है। वस्तुतः ऐसे ही साधु वन्दनीय हैं। दिगम्बर जैन समाज में आज भी ऐसे सन्त उपलब्ध हैं, जिनके जीवन से सन्त जीवन का आदर्श बचा हुआ है। आज के इस विकट युग में भी दिगम्बर जैन सन्त का जीवन कितना ऊंचा है यह उनके जीवन की चर्या से ही उपलब्ध होता है. क्योंकि जैन धर्म इस बात को मानता है। वे सन्त जीवन में किसी भी प्रकार के शिथिलाचार को प्रश्रय नहीं देते। शिथिलाचार के कारण उनके जीवन मे यदि कमी आती है तो वह साधु अपने पद से गिर जाता है। जैन धर्म में व्यक्ति को अथवा मात्र बाह्य वेष को कोई महत्त्व नही दिया गया है। महत्त्व व्यक्ति के आचरण और गुणों को दिया गया है। निर्मल परिणामो एवं निर्मल चारित्र से युक्त व्यक्ति की ही पूजा की जाती है। व्यक्ति पूजा मानव के आदर्श को समाप्त कर देती है।

गुरु उपासना का भी अपना स्थान है। वे ही गुरु उपास्य है जो अपने पद के अनुरूप निर्मल चारित्र का परिपालन करते हुए मोक्षमार्ग में स्थित हैं। मूर्ति पूजा का आदर्श भी जैन धर्म में इसी बात का प्रतीक है कि वहां मूर्तिमान के गुणो की उपासना की जाती है, क्योंकि उपासक स्वयं उपास्य के गुणों को प्राप्त करना चाहता है। जिन मन्दिरो मे स्थापित प्रतिमाओ मे वीतराग भगवान की स्थापना, निक्षेप द्वारा की गई जो कि उपासक की आदर्श हैं। इस प्रकार मूर्ति मे भी अन्तर्दृष्टि के महत्त्व को सुरक्षित रखा गया है। आत्म निरीक्षण हेतु ही उन वीतराग भगवन्तो के प्रतिबिम्बों की उपासना जैन धर्म का अभिन्न अंग है। आत्म निरीक्षण का अर्थ है स्वयं को देखना, स्वयं का मार्जन करना। जैन संतो की यही दृष्टि आज तक भी विद्यमान है। इसी आत्म साधना के लिए उनका यह आदर्श त्याग होता है। भारतीय मानव का सौभाग्य है कि यह भारतभूमि आज भी दिगम्बर जैन संतों की चरण रज से पवित्र है और उनके कल्याणकारी विचारों से राष्ट्र के प्रत्येक मानव को आत्मसाधना का पथ प्राप्त हो रहा है। ऐसे महान् संतों के चरणों में वन्दन करके लेखक भी अपना सौभाग्य मानता है।

षष्ठम खण्ड

विविध लेखमाला
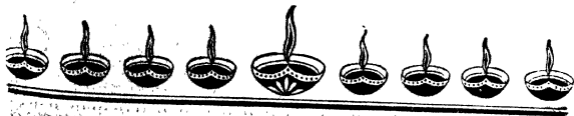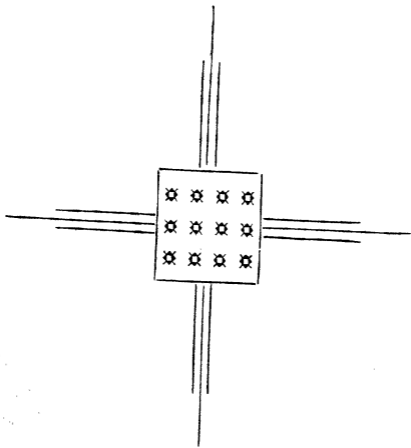
श्रमण विहार चर्या
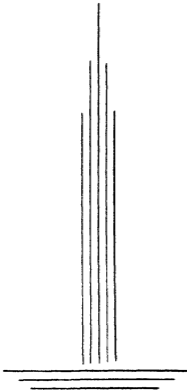
❖ प० पू० १०८ आचार्यकल्प

श्री श्रुतसागरजी महाराज

गणितशास्त्र के ज्ञाताओं का कहना है कि एक की संख्या का कोई महत्व ही नहीं, कारण कि वह अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकती। जैसे एक को एक से गुणाकर एक की बाकी निकालने पर उसका अस्तित्व ही नहीं रहता। इसी प्रकार दो की संख्या अपनी वृद्धि नहीं कर सकती। दो को दो से गुणा करने पर व दो की बाकी निकालने पर शेष दो ही बचते हैं हजारों बार गुणा करने पर व इसी प्रकार बाकी निकालने पर संख्या की वृद्धि नहीं होती। तीन की संख्या ही ऐसी संख्या है कि जो अपनी रक्षा करती हुई वृद्धि को प्राप्त होती जाती है जैसे तीन को तीन से गुणा करने पर नौ हुए इसमें से तीन निकालने पर शेष छह (६) बच गये।

इसी प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि में जो केवल (मात्र) ज्ञान के बल पर अपने को ज्ञानी मानता हुआ श्रद्धान व आचरण से विमुख है ऐसा आत्मघाती आत्मस्वरूप की रक्षा नहीं कर सकता– "ज्ञान मात्रादेव बन्ध निरोधो भवति 'नास्ति' सांख्यादिमत प्रवेशः"। तथा ६६ सागर तक अपने स्थान में डटे रहनेवाला क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि ज्ञान व श्रद्धान के बल से अपने निर्दिष्ट स्थान (निर्वाण) पर नही पहुंच सकता।

जब वह जीव तीन की संख्या अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप अभेद रत्नत्रय धारण (आचरण) करता है तभी चार घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान का विकास कर सकता है अन्यथा नहीं। लौकिक में भी फरसा तीक्ष्ण, कठोर व प्रभायुक्त न हो तो अपना कार्य नहीं कर सकता।

इसी प्रकार चरणानुयोग (आचार ग्रंथों) में भी आचार्यों का स्थान २ पर कहना है कि एकाकी विहार करनेवाला साधु अपने संयम व चारित्र की रक्षा नहीं कर सकेगा, क्योंकि जो एकाकी भ्रमण करते हैं उस समय यदि एक ही गृहस्थ पड़गाहन करनेवाला है तो पड़गाहन की तो मात्र रस्म ही पूरी करनी (खाना पूर्ति) है क्योंकि जाना तो वहीं है ऐसी अवस्था में भिक्षाचरण नहीं होता। कदाचित् दो चार भी यदि प्रतिग्रह

करनेवाले हैं तो भी उन्हें यह ज्ञान है कि महाराज अमुक रस व अमुक पदार्थ लेने वाले हैं, तब वह आहार यथालब्ध नहीं होगा ऐसी अवस्था में रस निरपेक्ष व ऊनोदर भी नहीं है जैसा कि भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार गाथा २२६ में वर्णित किया है—एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदर जहालद्धं, चरणं भिक्खेण दिवा न रसावेक्खं न मधुमं सं।

मूलाचार, मूलाराधना आदि आचार ग्रंथों में सामान्य साधुओं का एकल विहारी होने का निषेध किया है। एकल विहारी साधु वही होने योग्य है जिनका श्रुतज्ञान प्रबल है, उत्तम संहनन का धारी है, बहुत काल से दीक्षित होकर गुरु चरणों में निरतिचार चारित्र पालन किया है, अन्तःकरण की भावना से बलवान है आदि गुणों से सुशोभित है। इन गुणों से रहित साधु यदि एकाकी विहार करते हैं तो उनके द्वारा श्रुत संतान की व्युच्छित्ति होती है आहारपानादि की मर्यादा नही रहती व जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का उल्लंघन भी होता है।

अतः भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य देव के द्वारा कथित आगम के आलोक में विहार संबंधी तथा अन्य समस्त चर्या का अवलोकन कर हम अपनी चर्या को आगमानुकूल बनावें यही कुन्दकुदान्वय की सन्तति स्वरूप हम साधुजनो का परम कर्त्तव्य है तथा अपने साध्वोचित गुणों की रक्षा के लिये परम आवश्यक भी है। क्योंकि–

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुःख परिमोक्खं ॥२७०॥

प्रवचनसार परमागम कथित उक्त गाथा के अनुसार यदि हम दुःख से परिमुक्त होना चाहते हैं तो समान गुणवाले श्रमण के अथवा अधिक गुणवाले श्रमण के सग में सदा निवास करे। इसी सन्दर्भ में उक्त गाथा की टीका करते हुये श्री अमृतचन्द्राचार्य ने इस प्रकार कहा है—"आत्मा परिणाम स्वभाववाला है इसलिये अग्निके संग में रहे हुए पानी की भांति (संयत के भी) लौकिक संग से विकार अवश्यंभावी होने से संयत भी असंयत ही हो जाता है। इसलिये दुःखों से मुक्ति चाहने वाले श्रमण को (१) समान गुणवाले श्रमण के साथ (२) अधिक गुणवाले श्रमण के साथ सदा ही निवास करना चाहिये। इस प्रकार उस श्रमण के (१) शीतल घर के कोने में रखे हुये शीतल पानी की भांति समान गुणवाले की सगति से गुणरक्षा होती है और (२) अधिक शीतल हिम (बर्फ) के सपर्क में रहनेवाले शीतल पानी को भांति अधिक गुणवाले के संग से गुणवृद्धि होती है।

जिन भक्ति का माहात्म्य

❖ आर्यिका श्री सुपार्श्वमती माताजी

[पू० १०५ आर्यिका श्री इन्दुमती माताजी संघस्थ]

धर्मात्मा श्रावक का कर्तव्य है कि प्रतिदिन परमभक्ति और श्रद्धापूर्वक जिनेन्द्र भगवान का दर्शन, स्वाध्याय, दान आदि शुभ क्रियाओं को करके अपने जीवन को सफल करने का प्रयत्न करें। जो श्रावक प्रतिदिन वीतराग प्रभु के दर्शन-पूजन नहीं करता है और घर पर आए हुये मुनियों को भक्ति पूर्वक दान नहीं देता है उसका गृहस्थपन पत्थर की नौका के समान भव समुद्र में डबोने वाला है। उक्तं च आचार्यैः:—

यो नित्यं न विलोक्यते जिनपतिः न स्मर्यते नार्च्यते।
ना स्तूयते ना दीयते मुनिजने दानं च भक्त्या परम्॥
सामर्थ्ये सति तद् गृहाश्रमपदं पाषाणनावासमम्।
तत्रस्था भवसागरेऽतिविषमे मज्जन्ति नश्यन्ति च॥

अर्थात् सामर्थ्यशाली गृहस्थ भी यदि प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन, पूजन नहीं करता है तथा भक्ति से निर्ग्रन्थ साधु-साध्वियों को आहारदान नहीं देता है तो उसका गृहस्थाश्रम पद पत्थर की नौका के समान है। जैसे पाषण की नौका में बैठने वाला समुद्र के मध्य में डूब जाता है उसीप्रकार जिनेन्द्र भगवान की पूजा और निर्ग्रन्थ साधुओं को दान नहीं देने वाला गृहस्थ संसार समुद्र में डूब जाता है और नष्ट हो जाता है इसलिये जिनेन्द्रदेव का दर्शन, अर्चन तो श्रावक को प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये यह उसका कर्तव्य है। रयणसार में कुन्दकुन्दाचार्य स्वामी ने लिखा है—

जिन पूजा मुणिदाणं, करेई जो देई सत्ति रूवेण।
सम्माइट्ठी सावय-धम्मी सो होई मोक्खमग्गरओ॥

अर्थात् देव पूजा और दान श्रावकों का मुख्य कर्तव्य है, ध्यान और अध्ययन मुनियों का मुख्य कर्तव्य है। ध्यान और अध्ययन के बिना साधु का साधुत्व नहीं रहता और जिन पूजा एवं दान बिना श्रावक का श्रावकत्व नही रहता है। उक्तं च :—

देव पूजा गुरूपास्ति स्वाध्याय संयम स्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥

अर्थात् देव पूजा गुरु की उपासना (वैय्यावृत्ति आदि) स्वाध्याय, संयम, तप, और दान यह गृहस्थ श्रावक के छह आवश्यक कर्तव्य हैं। उनमें मुख्य कर्तव्य जिनपूजा और दान है। प्रातःकाल भगवान के दर्शन के द्वारा अपने ध्येयरूप इष्टपद का स्मरण करके पश्चात् ही श्रावक का अन्य कार्यों में प्रवृत्ति करना चाहिये। इसी प्रकार स्वयं भोजन करने के पूर्व मुनियों को आहार दान देकर तथा साधुसमागम के अभाव में उनका स्मरण करके कि अहो ! कोई सन्त मुनिराज अथवा आर्यिका, उत्तम श्रावक-श्राविका मेरे घर पर पधारें तो उन्हें भक्ति पूर्वक आहारदान देकर पश्चात् ही मैं भोजन करूँ। इस प्रकार श्रावक के हृदय में देव-गुरु की भक्ति का प्रवाह अखण्डरूप से बहता रहता है जिस घर में देव और गुरु की भक्ति नहीं वह घर तो श्मशान के समान है।

प्रातःकाल उठते ही जिसको वीतरागी भगवान का स्मरण नहीं होता है, धर्मात्मा संसार तारक संत परम गुरु मुनिराजों की याद नही आती है और ससार के व्यापार धन्धे की तथा स्त्री पुत्रादिक की याद आती है तो वह अशुभयोग भव-भव में भटकाने वाला है जो हमारी मानसिक, वाचनिक और कायिक परिणति, विषय वासनाओं में जा रही है उसको रोकने का उपाय एक जिन भक्ति है। श्रीमान् पं० बनारसीदासजी ने कहा है कि "जिन प्रतिमा जिन सारखी" अर्थात् जिन प्रतिमा में जिनेन्द्र भगवान की स्थापना है उस जिन बिम्ब के दर्शन करके जो जिनेन्द्र भगवान के स्वरूप को जान लेता है वह अपने आप को जान लेता है। उस जीव की भवस्थिति अति अल्प हो जाती है वह अल्प समय मे ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है। षट् खण्डागम पु० ६ पृष्ठ ४२७ में भी जिन बिम्ब दर्शन को भी सम्यक्त्व की उत्पत्ति का निमित्त कहा है तथा उससे निद्धत्त तथा निकाचित रूप मिथ्यात्वादि कर्म कलाप का भी क्षय होना कहा है। नियमसार की टीका में पद्मप्रभ मलधारि देव कहते हैं कि भव भय को भेदन करने वाले वीतराग प्रभु के प्रति यदि तेरी भक्ति नहीं है, तो हे जीव ! तू भव समुद्र के बीच मगरमच्छ के मुख में है।

बड़े-बड़े महर्षि भी जिनेन्द्र देव के दर्शन और स्तुति करते हैं यदि श्रावक होकर के भी जो जीव भगवान् के दर्शन नहीं करता है वह महापापी है। जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से अनेक भवके पाप क्षण में नष्ट हो जाते हैं। उक्तं च :—

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो शिथिली भवन्ति ।
जन्तोः क्षणेन निबिड़ा अपि कर्म बन्धाः ॥
सद्यो भुजंगममया इव मध्य भाग ।
मभ्यागते वन शिखण्डिनि चन्दनस्य ॥

अर्थात् जैसे चन्दन के वृक्ष की शाखा पर मयूर के आ जाने से सर्प की कुंडलियां चन्दन के वृक्ष को छोड़ कर भाग जाते हैं। उसीप्रकार हे प्रभो ! जो मानव आपको हृदय में धारण करता है उसके निबिड़-घोर कर्मबन्ध शीघ्र नष्ट हो जाते है। अतः श्री जिनेन्द्र भगवान की भक्ति का महात्म्य अचिन्त्य है। उक्तं च सोमदेवाचार्ये :—

एकैव समर्थेयं जिनभक्ति दुर्गति निवारयितुम् ।
पुण्यानि च पुरयितुं दातुं मुक्तिश्रियम् कृतिनाम् ॥

अर्थात् एक ही जिन भक्ति भक्तों के दुःख को निवारण करने में और पुण्य को बढ़ाने में समर्थ है तथा मुक्ति श्री को प्रदान करने वाली है। रत्न करण्ड श्रावकाचार में स्वामी समंतभद्र ने जिन भक्त को ही सम्यग्दृष्टि कहा है और "जिनेन्द्र भक्त" शब्द सम्यग्दृष्टि के साथ प्रयुक्त किया है।

सम्यग्दृष्टि जीवों के परिणामों में जिनेन्द्र देव के प्रति अनुराग होता है वह अनुराग विशिष्ट पुण्य बन्ध का कारण एवं परम्परा से मुक्ति का हेतु है श्री पूज्यनीय देवसेन स्वामी ने भाव संग्रह नामक ग्रंथ में कहा भी है—

सम्यग्दृष्टि का पुण्य संसार का कारण नहीं है यह नियम है यदि सम्यग्दृष्टि द्वारा किये हुये पुण्य में निदान नहीं है तो वह पुण्य नियम से मोक्ष का कारण होता है।

जिन भक्ति वा जिन दर्शन की महिमा अगम्य है मोक्षरूपी महल में लगी हुई मोहरूपी आर्गल को खोलने के लिये कुँजी के समान है कर्मरूपी पर्वत को भेदने के लिये वज्र के समान है। पापरूपी बादलों की काली घटाओं को उड़ाने के लिये प्रचण्ड पवन के समान है। अनादि काल से हमारी आत्मज्योतिरूपी निधि प्रकृतिबंध, प्रदेश बंध, अनुभाग बंध और स्थिति बंध रूप महान कठोर कर्मरूपी पृथ्वी से आच्छादित है उसको छेद करके आनन्ददायक आत्म निधि को प्राप्त करने के लिये जिन भक्तिरूपी खुदाली ही समर्थ है। उक्तं च वादिराज मुनिना:—

> आत्म ज्योति निधि रनवधि र्द्रष्टुरानन्द हेतुः।
> कर्मक्षोणीपटलपिहितो योऽनवाप्यः परेषाम् ॥
> हस्ते कुर्वन्त्यनतिचिरतस्तं भवद् भक्ति भाज.।
> स्तोत्रैर्बंधप्रकृति पुरुषोद्धाम धात्री खनित्रैः ॥

अर्थात् कर्मरूपी पृथ्वी पटल से आच्छादित आत्मज्योतिरूपी निधि को वही मानस प्राप्त करता है जिसके समीप कर्मरूपी पृथ्वी को भेदने वाली जिन भक्ति रूपी कुल्हाड़ी है। जिनेन्द्र भक्ति के द्वारा जीव के शारीरिक, आर्थिक व मानसिक सभी प्रकार के कष्ट दूर हो जाते हैं, समस्त कामनाये पूर्ण हो जाती है और अन्त में जिन भक्त अपनी सारी इच्छाओं का क्षय कर वीतराग पद को प्राप्त करता है। जिन भक्ति के द्वारा सिद्धस्वरूप की प्राप्ति होती है।

आत्मयोगी पूज्यपाद महर्षि ने लिखा है:—

> अव्याबाध मचिन्त्यसार मतुलं त्यक्तोपमं शाश्वतम्।
> सौख्यं त्वच्चरणारविंदयुगलस्तुत्यैव सम्प्राप्यते॥

हे जिनेन्द्र! आपके चरण युगल की स्तुति से ही अव्याबाध, अचिन्त्यसार पूर्ण अतुलनीय, उपमातीत तथा अविनाशी सुख की उपलब्धि होती है।

जिनेन्द्र भक्ति का अंतस्तत्त्व आत्मशुद्धि है जिसके आधार पर जीव का सर्वांगीण, भौतिक तथा आध्यात्मिक विकास होता है इस अपार संसार के सिंधु में क्लेशरूपी अगाध जल भरा है उससे पार होने के लिये भगवान की भक्तिरूपी नौका ही समर्थ है। जिन भक्तिरूपी औषधि के सेवन करने से भयंकर भगंदर गलित कुष्ट क्षय रोग आदि सारे रोग दूर हो जाते है। भयंकर युद्ध में बाणों से बचाने के लिये जिन भक्ति दृढ कवच है। यह जिन भक्ति ही सर्प आदि के विष को दूर करने के लिये विषापहार मणितुल्य है जिन भक्ति के महात्म्य का कथन करना अशक्य है। श्री मानतुंग आचार्य कहते हैं-आपका स्तोत्र तो दूर रहे, किन्तु आपके नाम मात्र का उच्चारण भी संसारी प्राणियों के पापों का नाश कर देता है।

पद्मपुराण में एक सुन्दर कथानक आया है। लंकाधिपति की भक्ति से प्रसन्न होकर नागेन्द्र रावण के पास आया और कहने लगा हे दशानन ! तुम्हारी जिनभक्ति से मेरा अंतःकरण गद्गद् हो गया है, परम आनन्द से आह्लादित हो गया है, मेरी इच्छा है कि मैं आपको कुछ सामग्री भेंट करूँ। लंकाधिपति ने पूछा—जिनेन्द्र भगवान की आराधना से बढ़कर क्या कोई वस्तु है जिसको आप मुझे देना चाहते हैं? नागेन्द्र ने उत्तर दिया "जिनवन्दनया तुल्यं अन्यं किमपि न विद्यते" अर्थात् जिनेन्द्र भक्ति से बढकर और कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकार जिन भक्ति के महात्म्य को जानकर ऋषि-मुनियों ने आत्मकल्याण तथा संसार के अभ्युदय हेतु जिन भक्ति की महत्ता कही है। इसी से महान् पुण्य का लाभ होता है। तथा कर्मों की निर्जरा होती है। जिस आत्मबली सम्राट भरतेश्वर ने दीक्षा लेकर अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त किया था वे जिनेन्द्र भक्तों के चूणामणि थे निरन्तर जिन भक्ति में लीन रहते थे। भरतेश वैभव कन्नड काव्य में रत्नाकार कवि ने भरतराज को "जिनचरणाब्ज सुरभि मधुवत्" अर्थात् श्री जिनेन्द्रदेव के चरणकमल की सुगंध का प्रेमी भ्रमर कहा है। भरत महाराज ने कैलाशपर्वत पर भगवान आदीश्वर प्रभु के समवशरण मे जाकर अत्यन्त विशुद्ध भाव पूर्वक स्तुति की और कहा—

भगवंस्त्वद् गुणस्तोत्रात् यन्मया पुण्यमार्जितम्।
महापुराणं तेनास्तु त्वत्पदाम्भोजे परामक्ति सदापि मे ॥

अर्थात् हे भगवान आपके गुणों का स्तवन करने से जो मुझे पुण्य का लाभ हुआ है उससे मैं इसी फल की अभिलाषा करता हूँ कि मुझको आपके प्रति सदा उत्कृष्ट भक्ति प्राप्त होवे। वीतराग प्रभु की महिमा अगम्य है।

सारी पृथ्वी को कागज बना लिया जावे, सारे समुद्रों के पानी की स्याही बनाली जाये तो भी जिनभक्ति की महिमा का वर्णन नहीं कर सकती। अतः हे प्रभु ! अचिन्त्य फलदायक जिनभक्ति हमारे हृदय में निरन्तर वास करे।

जैनसाहित्य में भक्तिरस को अविरल धारा प्रवाहित करने वाली अनेक पुनीत एवं आत्मकल्याणकारी रचनाएं हैं। जिनके शब्द-शब्द-से भक्तिरस की कल-कल-निनादकारिणी शत्-शत्-धारायें प्रवाहित होती हैं जो भक्त के हृदय को रस विभोर कर देती हैं। जिन भक्त के हृदय में पवित्रता की धारा और आत्मीय अनुभूतियों की तरंगें हिलोरें लेती है। यह आत्मकल्याण और आत्मविश्वास का प्रमुख साधन है। जिनभक्ति से भक्त के हृदय के अन्तर्तम उद्गार पवित्र और शात हो जाते है इसमे सर्व संकटों और कष्टो से मुक्त करने की अपार महिमा है। पद्मप्रभमलधारी ने कहा है—

नानानून नराधिनाथ विभवानाकर्ण्य चालोक्य च।
त्वं क्लिश्नासि मुधात्र किं जडमते पुण्यार्जितास्ते ननु ॥
ताच्छक्तिर्जिन नाथ पादकमल द्वन्द्वार्चनायामिय।
भक्तिस्ते यदि विद्यते बहुविधा भोगाः स्युरेते त्वयि ॥

अर्थात् हे जीव ! तू राजा महाराजाओं की विभूति को देखकर क्यों खेद खिन्न होता है ? हे जड़बुद्धि ! यह सांसारिक भोग पुण्य से प्राप्त होते हैं यदि तेरी जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों में भक्ति है तो यह सांसारिक भोग अपने आप प्राप्त हो जाते हैं। जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से संसार के अभ्युदय प्राप्त होते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। यह भक्ति कर्मरूपी ईंधन को जलाने के लिये अग्नि के समान है संसाररूपी लता को छेदने के लिये कुल्हाड़ी के समान है इसके प्रसाद से भक्त मुक्तिरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करता है। उक्तं च कुन्दकुन्दाचार्येण—

एण थोत्तेण जो पंच गुरु वंदिए, गुरु य संसार घण वल्लि सो छिंदए।
लहई सो सिद्धि सोक्खाई बहुमाणणं, कुणई कम्मि धणं पुंज पज्जालणम् ॥

जो पुरुष इस स्तोत्र से पंच परमेष्ठी की वंदना करते हैं, वे संसाररूपी सघन बेलि को छेद देते हैं। कर्मरूपी ईंधन के पुञ्ज को जलाकर मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं। यह जिनभक्ति आत्मानुभूति की कारण है, क्योंकि नियमसार में पद्मप्रभमलधारी देव ने लिखा है—

अथ नययुगयुक्ति लंघयंतो न संतः।
परमजिन हृयपदाब्ज ह्न्वमत्तद्विरेफाः।
सपदि समयसारं ते ध्रुवं प्राप्नुवन्ति।
क्षितुषु परमतोक्ते किं फलम् सज्जनानाम्॥

अर्थात् जो सत्पुरुष दोनों नयों की युक्तियों को उल्लंघन नहीं करते हुये परम जिनेन्द्र के चरण कमलों के मत्त भ्रमर हो जाते हैं अर्थात् भौंरे के समान जिनेन्द्र की भक्ति में लीन हो जाते हैं वे सज्जन शीघ्र ही समयसार को प्राप्त करते हैं। इस अन्य कथन से क्या प्रयोजन है?

इस प्रकार जिनभक्ति के महात्म्य के वर्णन से अनेक ग्रन्थ भरे हुये हैं। सैंकड़ों उदाहरण जिनभक्ति की प्रेरणा देते हैं। सहस्रों नर और नारियों ने भक्ति का अपूर्व फल प्राप्त किया है उनकी कथाये हमारे हृदय में जिनभक्ति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करती हैं। इस युग के समन्तभद्र, वादिराज, मानतुंग आदि महर्षियों ने संकट के समय अनेक भक्तिरस से भरे हुये स्तोत्र रचे हैं तथा उनके बल पर जिन धर्म की महान प्रभावना की है। यदि उनका उल्लेख किया जाये तो महान ग्रन्थ बन सकता है। उस जिनभक्ति मे दत्तचित्त होकर अपना कल्याण करना चाहिये। प्रभुभक्ति को छोड़कर कुमार्ग में नहीं लगना चाहिये।

जिनभक्ति सिद्धि को प्राप्त हुये शुद्धात्माओं की भक्ति द्वारा आत्मोत्कर्ष साधने का नाम ही "भक्ति योग" अथवा भक्ति मार्ग है और भक्ति उनके गुणों में अनुराग को तदनुकूलवर्तन को अथवा उनके प्रति गुणानुराग पूर्वक आदर सत्कार रूप प्रवृत्ति को कहते हैं जो कि शुद्धात्मवृत्ति की उत्पत्ति एवं रक्षा का साधन है। स्तुति, प्रार्थना, बंदना उपासना, पूजा, श्रद्धा, सेवा और आराधना ये सब भक्ति के ही रूप अथवा नामान्तर हैं। स्तुति, पूजा, वंदना, उपासना आदि के रूपमें इस भक्ति क्रिया को सम्यक्त्ववर्द्धिनी क्रिया बतलाया है। इसी को शुभोपयोगरूप चारित्र कहा है और 'कृतिकर्म' भी लिखा है जिसका अभिप्राय है, पापकर्म छेदन का अनुष्ठान। सद्भक्तिके द्वारा औद्धत्य तथा अहंकार के त्याग पूर्वक गुणानुराग बढ़ने से प्रशस्त अध्यवसाय की (कुशल परिणामों की) उपलब्धि होती है और प्रशस्त परिणामों की विशुद्धि से अनादिकाल से संचित कर्म एक क्षण मे नष्ट हो जाते हैं। जैसे काष्ठ के एक सिरे में अग्नि लगाने से सारा काष्ठ भस्म हो जाता है तथा संचित कर्मों के नाश होने से अथवा उनकी शक्ति का शमन होने से, आत्मीय गुणों के अवरोधक कर्मों की निर्जरा होती है या उनका बलक्षय (अनुभाग खंडन) होता है तथा स्थितिखंडन व स्थिति बंधापशरण हो जाता है, जिससे आत्मगुणों का विकास होता है। इसलिये जिन भक्ति आत्मगुणों के विकास में कारण है।

"श्रेयो मार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।

अर्थात् श्रेयोमार्ग की (रत्नत्रय मार्ग की) सिद्धि परमेष्ठी के प्रसाद से होती है इसलिये शास्त्र की आदि में मुनि पुंगव ने परमेष्ठी को नमस्कार किया है जिन सेनाचार्य ने कहा है—

"स्तुति पुण्यगुणोत्कीर्तिः, स्तोता भव्य प्रसन्नधीः।
निष्ठितार्थो भवेत्स्तुत्यः फलं निश्रेयसं सुखं॥"

इस तरह उन्होंने स्तुति का फल मोक्ष सुख कहा है। इसलिए भक्ति मोक्ष का कारण है।

पूजा—भक्ति का ही एक भेद पूजा है जो द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार की होती है इसमें द्रव्य पूजा कारण है और भाव पूजा कार्य है। उक्तं च :—

द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं, भावस्य शुद्धिमधिकामधिगन्तुकामः।
आलम्बनानि विविधान्यवलम्ब्य वल्गन्, भूतार्थयज्ञपुरुषस्य करोमि यज्ञम्॥

'अर्थात् अपनी शक्ति अनुसार द्रव्य शुद्धि को करके भावों की शुद्धि की अधिक से अधिक इच्छा करने वाला मैं अनेक प्रकार स्तोत्र आदि का अवलम्बन लेकर अत्यन्त उल्लास से भूतार्थ यज्ञ पुरुष का यज्ञ (पूजा) करता हूं।" भावों की शुद्धि में कारणभूत पूजाद्रव्य आठ प्रकार का कहा है—जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल।

जिस प्रकार जल मलिनता को दूर करके वस्त्र को निर्मल करता है। उसी प्रकार पूजक जल अर्पण करते समय विचार करता है कि इस जल के माध्यम से अपने परिणामों को निर्मल बनाकर आत्म रूपी वस्त्र के कर्म रूपी मल का प्रक्षालन करके निर्मल बनाता हू। जिस प्रकार दुःख देने वाले शत्रुओं के पीछे तीन अंजुलि पानी दिया जाता है उसी प्रकार जन्म जरा मृत्यु रूपी शत्रुओं का नाश करने के लिये पूजक तीन जल की धारा देता है।

जिसप्रकार दाह ज्वर चंदन के लेप से शान्त हो जाता है एवं चंदन शीतलता देने वाला है। उसी प्रकार भगवान की पूजा शीतलता देने वाली है। संसारताप की नाशक है ऐसा दृढ़ विश्वास करके भव्य प्राणी चन्दन के अवलम्बन से अपने ताप को दूर करने के लिये चंदन से पूजा करता है।

जैसे शालि धन्य के बाहरी छिलका और भीतरी लालिमा यह दोनों नष्ट हो जाने से धान्य अक्षत (अंकुर की उत्पत्ति से रहित) बन जाता है उसी प्रकार मैं बहिरंग, धन, धान्य, पुत्रादि, परिग्रह तथा अंतरंग कषायादि लालिमा के कारण संसार में परिभ्रमण करता हूं भगवत्पूजा से मेरे अंतरग-बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह नष्ट हो जाये और मैं अक्षत (समारोत्पत्ति से रहित) हो जाऊ। इस भावना से प्रेरित होकर अक्षत अर्पण करता हूं।

पुष्प कामोत्पादक वस्तु होने से उसको काम का बाण या शस्त्र कहा जाता है। जब मारक का शस्त्र छीन लिया जाता है तब वह घातक शक्ति से हीन हो जाता है। संसारी प्राणियों का मारक, काम है काम के समान और कोई व्याधि नही है। सारे संसार के प्राणी काम की व्यथा से दुःखी हैं। तीन लोक के नाथ जिनदेव ने ही काम की व्यथा को भस्मसात् किया है। इसलिये भव्य जिन भक्त काम शत्रु के शस्त्र स्वरूप इन पुष्पों को भगवान् के समक्ष अर्पण करके प्रार्थना करता है कि प्रभो मेरी काम व्याधि दूर हो जाये और निःशस्त्र हो जाने से काम मुझे घायल न कर सके।

संसार के जितने भक्ष्य पदार्थ हैं उनको अनंतवार भक्षण किया परन्तु क्षुधाज्वाला शान्त नहीं हुई जैसे-जैसे उत्तमोत्तम पदार्थों का आस्वादन करता गया वैसे-वैसे तृष्णा की ज्वाला और अधिक बढ़ती है, जैसे घृत की आहूति से अग्नि की शिखा। इसलिये जिन भक्ष्य पदार्थों के देखने से उनका चिंतवन करने से आहार संज्ञा उत्पन्न होती है। उन पदार्थों के ममत्व दूर करने के लिये भगवान के समक्ष भक्त वे भक्ष्य पदार्थ नैवेद्य अर्पण करता है। और समझता है कि जैसे ईंधन नहीं डालने से अग्नि शान्त हो जाती है उसी प्रकार इन पदार्थों की ममता नष्ट हो जाने से मेरी क्षुधाग्नि भी शान्त हो जायेगी। इसलिये नैवेद्य से भगवान की पूजा की जाती है।

दीपक अंधकार को दूर कर जगत को प्रकाशित करता है पूजक कल्पना करता है कि जैसे दीपक स्वपर प्रकाशित है, अन्धकार का नाशक है उसीप्रकार मेरा स्वभाव भी स्वपर प्रकाशक दर्शन-ज्ञान स्वरूप है।

अनादिकाल से मोहनीय कर्म के उदय से मेरा ज्ञान विपरीत हो रहा है, इस प्रभु भक्ति से मेरा मोहान्धकार नाश होकर ज्ञान सूर्य प्रकाशित होगा इसलिये अपने ज्ञान ज्योति की तुलना स्वरूप दीपक से भगवान की पूजा की जाती है ।

जैसे किसी का कोई शत्रु होता है तब उसका नाश करने के लिये अनेक उपायों का अन्वेषण किया जाता है तथा शत्रु का अशुभ चिंतक उसका पुतला बनाकर अग्नि में जलाता है उस पुतले के शरीर में शस्त्र का घात करता है और कल्पना करता है कि शत्रु की हानि हो । उसी प्रकार हमारे शत्रु कर्म हैं उसके नाश करने के लिए अनेक उपाय हैं । पूजा भी कर्म नाश का एक उपाय है धूप चढ़ाते समय पूजक अपने मनमें चितवन करता है यह पूजा अग्नि है कर्म धूप है, मैं धूप के बहाने से अपने कर्मों को जलाता हूँ । मेरे कर्म जलकर भस्म हो रहे हैं और यह धुआं निकल रहा है इस प्रकार के विचारों से अपने परिणामों को निर्मल करने के लिये अग्नि में दशांग सुगंधित धूप क्षेपण करके भगवान की पूजा करने का विधान है ।

सर्वफलों में उत्तम फल मोक्ष है मोक्ष का इच्छुक मोक्षफल प्राप्त करने के लिये भगवान के समक्ष उत्तमोत्तम फल अर्पण करता है इन आठ द्रव्यों के सिवाय अन्य पदार्थों के साथ इस प्रकार का संबंध नहीं बैठता है ।

अथवा सम्यग्दर्शन ज्ञान आदि सिद्धों के आठ गुणों की प्राप्ति के लिये यह आठ द्रव्य चढ़ाये जाते हैं । श्री भैय्यालालजी ने तेरह द्वीप की पूजा में प्रथम सिद्धों की पूजा है उसमें आठ गुणों की प्राप्ति के लिये अष्टद्रव्य चढ़ाया जाता है, ऐसा लिखा है ।

इस प्रकार देवदर्शन, देवपूजा, जिनभक्ति कर्मनिर्जरा की साधक है श्रावक का मुख्य कर्तव्य है । जैसे बाँस के आश्रय से नट ऊँचा चढ़ने में सफल हो जाता है उसी प्रकार भक्तिरूपी सोपान के द्वारा मानव उन्नत अवस्था को प्राप्त हो जाता है ।

भक्ति और मुक्ति के लिये जिन चरणारविन्द का मधुप (भ्रमर) होना अनिवार्य है—जिनेन्द्र कमलों का भ्रमर जन्म जरा और मरण की बाधा से मुक्त हो जाता है । जिनेन्द्र बिम्ब के दर्शन से नाशवंत विषय सुखों से विरक्ति हो जाती है ।

जिनके समक्ष सुमेरु की दृढ़ता, सागर की गंभीरता, वसुधा की क्षमाशीलता, व्योम की विशालता, वायु की निर्मलता, तरणि (सूर्य) की तेजस्विता, शशि की शीतलता, नवनीत की कोमलता, शकेन्द्र की शासकता सदैव श्रद्धावनत है, जिनके मधुर वचनों से संसारीप्राणियों को परम शान्ति प्राप्त होती है, जिनके दर्शन से नेत्र पवित्र होते हैं, हृदय में स्थित अज्ञान अन्धकार नष्ट हो जाता है, जिनके शरीर की परम पुनीत प्रकाश किरणों से कोटि सूर्य का तेज लुप्त हो जाता है, जिन्होंने मोहनीय कर्म रूपी अंधक असुर का घात करके स्वतन्त्रता प्राप्त की है, जो जन्म-जरा और मृत्यु रूपी तीन पुरों को सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूपी अग्नि की ज्वाला से भस्म कर त्रिपुरारी पद को प्राप्त हुये हैं, जिनका ध्यान स्वानुभव का कारण है, जिनका संस्तवन मुक्ति रूपी स्त्री के समीप पहुँचने का अनुमति पत्र है, जिनका नामोच्चारण संसार सर्प के विष को दूर करने के लिये गारुड़ी मन्त्र है, उन देवाधिदेव अरहंत के चरणों में जो भक्ति भाव पूर्वक नमस्कार करता है उसके अनादि कालीन पापकर्म क्षण में नष्ट हो जाते हैं और परम पद की प्राप्ति होती है । इसलिये आत्म शुद्धि प्राप्त करने के लिये जिन भक्ति में लीन होना चाहिये, क्योंकि जो गुण-द्रव्य-पर्याय के द्वारा अरहन्त को जानता है वह अपने को जानता है और जो अर्हन्त की पूजा करता है वह अपनी पूजा करता है, जो अर्हन्त देव का ध्यान करता है वह अपना ध्यान करता है, उसकी मोह ग्रन्थि नष्ट हो जाती है और स्वात्मोपलब्धि की प्राप्ति होती है । इसलिये सर्व प्रथम बहिरात्मा को हेय जानकर अन्तर-आत्मा बन और परमात्मा का ध्यान कर । उन परमात्मावाची "अरहन्त सिद्ध इन दो अक्षरों के ध्यान को आचार्यों ने धर्म-ध्यान कहा है । इससे असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा होती है । ✡

मंगलाचरण

❖ पू० आर्यिका १०५ शुभमती माताजी

[प० पू० ग्राचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्थ]

मगलमय जीवन की सभी कामना करते हैं। कामना की प्राप्ति उपाय चिन्तन से होती है। ग्राज प्रतिक्षण मंगल विरुद्ध परिणति में लोक-मानस ग्राकंठ मग्न है। भौतिकता के रंगमहल तो ऊँचे से ऊँचे उठ रहे है, परंतु ग्राध्यात्मिक मन्दिरों की नीव के लिए ग्राधार शिलाग्रो की न्यूनता प्रतीत हो रही है। ग्राज जन जन का मन ग्रसन्तोष, चिन्ता, उद्वेग, ग्रभाव इत्यादि ग्राकुलताग्रो से पीड़ित है। ग्रतिभौतिक जीवन का यह ग्रनिवार्य परिणाम है। मनुष्य को शान्ति, सुख तथा निराकुलता पाने के लिये ग्रपने पूर्वजो की ग्रोर देखना होगा। भले ही वह विज्ञान की उपलब्धियो के लिए ग्राधुनिकता का ऋणी रहे। ग्रपनी दैनिक-चर्या मे देवदर्शन, स्वाध्याय, जप नियमो का ध्रुव परिपालन ही वह पूर्वजों की निधि है, जिसे ग्रहण कर ग्राज का त्रस्त मानव सुख शान्ति प्राप्त कर सकता है। ग्राध्यात्मिकता का प्रत्येक चरण मगलमय है। 'मंगलाचरण' शब्द का ग्रर्थ है मंगल का ग्राचरण करना, मगलरूप क्रिया को स्वयं करना। किसी भी कार्य के प्रारंभ मे इसको ग्रवश्य किया जाता है। प्रबुद्ध मानव प्रात: उठ कर यह विचार करता है कि मेरे इस दिन के पूरे क्षण सुखमय मंगलमय कैसे हो? इसके उत्तर में एक कवि ने कितना ग्रच्छा कहा है—

सुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमंगलाय—
दृष्टव्यमस्ति यदि मंगलमेव वस्तु।
ग्रन्येन किं तदिह नाथ तवैव वक्त्र।
त्रैलोक्यमंगलनिकेतनमीक्षणीयम् ॥१॥

तथा ग्रनादि निधन मंगल पाठ को भी वह प्रबुद्ध प्रतिदिन पढ़ता है—चत्तारिमंगलं, ग्ररहंतमंगलं, सिद्धमंगलं, साहूमंगलं, केवलीपण्णत्तो धम्मोमंगलं।

अब यहां पर इसी मंगल के लिए सर्वांगीण विषय प्रस्तुत करते हैं। मंगलशब्द की व्युत्पत्ति—'मगि' धातु से मंगल शब्द निष्पन्न हुआ है। अर्थात् 'मगि'धातु में 'अलच्' प्रत्यय जोड़ देने पर मंगल शब्द बन जाता है।

मंगल के भेद:—नाममंगल, स्थापनामंगल, द्रव्यमंगल, क्षेत्रमंगल, कालमंगल और भावमंगल।

नाममंगल—उनमें से अन्य निमित्तों की अपेक्षा रहित किसी की 'मंगल' ऐसी संज्ञा करने को नाम-मंगल कहते हैं। वाच्यार्थ अर्थात् शब्दार्थ की अपेक्षा से रहित 'मंगल' शब्द नाममंगल है। उस मंगल का आधार आठ प्रकार का है। जैसे—एक जीव एक अजीव, एक अजीव और अनेक अजीव, एक जीव और एक अजीव, अनेक जीव और एक अजीव, एक जीव और अनेक अजीव, अनेक जीव अनेक अजीव। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—१. साक्षात् एक जिनेन्द्र देव के आश्रय से जो मंगल किया जाता है उसे एक जीवाश्रित मंगल कहते हैं। यहां जिनेन्द्र देव के स्थान पर एक जिनयति भी लिया जा सकता है। २. अनेक यतियों के आश्रय से जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीवाश्रित मंगल कहते हैं। ३. एक जिनेन्द्र देव की प्रतिमा के आश्रय से जो मंगल किया जाता है उसे एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। ४. अनेक जिनप्रतिमाओं के आश्रय से जो मंगल किया जाता है उसे अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। ५. एक जिनेन्द्र देव और एक ही उनकी प्रतिमा के आश्रय से एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे एक जीव और एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। ६. अनेक यति और एक जिनेन्द्र देव की प्रतिमा के आश्रय से एक ही समय में जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीव और अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। ७. एक जिनेन्द्र देव और अनेक जिनप्रतिमाओं के आश्रय से एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे एक जीव और अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। ८. अनेक यति और अनेक जिनप्रतिमाओं के आश्रय से एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीव और अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं।

अब स्थापना मंगल को बतलाते हैं—किसी नाम को धारण करनेवाले दूसरे पदार्थ की 'वह यह है' इस प्रकार स्थापना करने को स्थापना मंगल कहते हैं। वह स्थापना दो प्रकार की है, सद्भावस्थापना और असद्-भावस्थापना। इन दोनों में से, जिस वस्तु की स्थापना की जाती है, उसके आकार को धारण करने वाली वस्तु में सद्भावस्थापना समझना चाहिए तथा जिस वस्तु की स्थापना की जाती है उसके आकार से रहित वस्तु में असद्भाव स्थापना जानना चाहिए।

लेखनी से लिखकर अर्थात् चित्र बनाकर, और खनन अर्थात् छैनी, टांकी आदि के द्वारा, बन्धन अर्थात् चिनाई, लेप आदि के द्वारा तथा क्षेपण अर्थात् सांचे आदि में ढलाई आदि के द्वारा मूर्ति बनाकर स्थापित किये गए, और जिसमें बुद्धि से अनेक प्रकारके मंगलरूप अर्थ के सूचक गुणसमूहों की कल्पना की गई है ऐसे मंगल-पर्याय से परिणत जीव के रूप को अर्थात् तदाकार आकृति को सद्भावस्थापना-मंगल कहते हैं।

नमस्कारादि करते हुए जीव के आकार से रहित अक्ष अर्थात् शतरंज की गोटों में वराटक अर्थात् कौड़ियों में तथा इसी प्रकार की अन्य अतदाकार वस्तुओं में मंगल पर्याय से परिणत जीव के गुणस्वरूप की बुद्धि से कल्पना करना असद्भावस्थापना मंगल है।

अब द्रव्य मंगल का कथन करते हैं—आगे होने वाली मंगल पर्याय को ग्रहण करने के सन्मुख हुए द्रव्य को द्रव्य मंगल कहते हैं। अथवा, वर्तमान पर्याय की विवक्षा से रहित द्रव्य को ही द्रव्य मंगल कहते हैं। वह द्रव्यमंगल आगम और नो-आगम के भेद से दो प्रकार का है। मंगल-प्राभृत अर्थात् मंगल के विषय का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को जानने वाले, किन्तु वर्तमान में उसके उपयोग से रहित जीव को आगम-द्रव्यमंगल कहते हैं। अथवा, मंगल विषय के प्रतिपादक शास्त्र की शब्द रचना को आगम-द्रव्यमंगल कहते हैं। अथवा मंगल विषय को प्रतिपादन करने वाले उस मंगल प्राभृत शास्त्र के अर्थ की स्थापनारूप अक्षरों की रचना को आगमद्रव्यमंगल कहते हैं।

नो आगमद्रव्यमंगल तीन प्रकार का है—ज्ञायक शरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त। उनमें जो ज्ञायक शरीर नो-आगमद्रव्यमंगल है वह भी तीन प्रकार का समझना चाहिये। मंगल विषयक शास्त्र का अथवा केवल-ज्ञानादिरूप मंगल पर्याय का आधार होने से भाविशरीर, वर्तमानशरीर, और अतीतशरीर, इस प्रकार ज्ञायक शरीर नो-आगमद्रव्यमंगल के तीन भेद हो जाते है।

जो जीव भविष्यकाल में मंगल-शास्त्र का जानने वाला होगा, अथवा मंगलपर्याय से परिणत होगा उसे भव्य नो आगमद्रव्यमंगल निक्षेप कहते हैं। कर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल और नोकर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल के भेद से तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यमंगल दो प्रकार का है। उनमें दर्शनविशुद्धि आदि सोलह प्रकार के तीर्थंकर नामकर्म के कारणों से जीव के प्रदेशों से बंधे हुए तीर्थंकर नामकर्म को कर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यमगल कहते हैं, क्योकि, वह मंगलपने का सहकारी कारण है।

नोकर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यमंगल दो प्रकार का है। एक लौकिक नोकर्म-तद्व्यतिरिक्त नोआगम-द्रव्यमंगल और दूसरा लोकोत्तर नोकर्मतद्व्यतिरिक्त-नोआगमद्रव्यमगल।

लौकिकमंगल— **सिद्धत्थ-पुण्ण-कुंभो वंदणमाला य मंगलं छत्तं।**
सेदो वण्णो आदंसणो य कण्णा य जच्चस्सो ॥१॥

उन दोनों में से लौकिकमंगल सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का है। इनमें 'सिद्धार्थ' अर्थात् श्वेत सरसो, जल से भरा हुआ कलश, वदनमाला, छत्र, श्वेत-वर्ण, और दर्पण आदि अचित्तमगल हैं और बालकन्या तथा उत्तम जाति का घोड़ा आदि सचित्त मगल हैं।

पंचास्तिकाय की टीका मे भी जयसेन आचार्य ने इन पदार्थों को मंगलरूप मानने में भिन्न भिन्न कारण दिये हैं। वे इस प्रकार हैं—जिनेन्द्रदेव ने व्रतादिक के द्वारा पदार्थ को प्राप्त किया और उन्हे सिद्ध यह संज्ञा प्राप्त हुई, इसलिए लोक में सिद्धार्थ अर्थात् श्वेत सरसो मगलरूप माने गए। जिनेन्द्रदेव संपूर्ण मनोरथों से अथवा केवलज्ञान से परिपूर्ण हैं, इसलिए पूर्णकलश मंगलरूप से प्रसिद्ध हुआ। बाहर निकलते समय अथवा प्रवेश करते समय चौबीस ही तीर्थंकर वदना करने योग्य है, इसलिए भरत चक्रवर्ती ने वन्दनमाला की स्थापना की। अरहंत परमेष्ठी सभी जीवों का कल्याण करने वाले होने से जग के लिए छत्राकार है, अथवा सिद्धलोक भी छत्राकार हैं, इसलिए छत्र मंगलरूप माना गया है। ध्यान, शुक्ललेश्या इत्यादि को श्वेतवर्ण की उपमा दी जाती है। इसलिए श्वेतवर्ण मंगलरूप माना गया है। जिनेन्द्रदेव के केवलज्ञान मे जिस प्रकार लोक और अलोक प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार दर्पण मे भी अपना बिम्ब झलकता है अतएव दर्पण मगलरूप माना गया है। जिसप्रकार वीतराग सर्वज्ञदेव लोक में मंगलस्वरूप है, उसी प्रकार बालकन्या भी रागभाव मे रहित होने के कारण लोक में मंगल मानी गई है। जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव ने कर्म-शत्रुओं पर विजय पाई, उसी प्रकार उत्तम जाति के घोड़े से भी शत्रु जीते जाते हैं, अतएव उत्तम जाति का घोडा मंगलरूप माना गया है।

ऊर्जयन्त, चम्पापुर, पावापुर आदि नगर क्षेत्र मगल हैं। अथवा, साढे तीन हाथ से लेकर पांच सौ पच्चीस धनुष तक के शरीर मे स्थित और केवलज्ञानादि से व्याप्त आकाश प्रदेशो को क्षेत्रमगल कहते हैं।

जिस काल में जीव केवलज्ञानादि अवस्थाओं को प्राप्त होता है। उसे पाप रूपी मल का गलाने वाला होने के कारण काल मंगल कहते हैं। उदाहरणार्थ -दीक्षाकल्याणक केवलज्ञान की उत्पत्ति और निर्वाण प्राप्ति के दिवस आदि कालमंगल समझना चाहिए जिनमहिमा संबधी काल को भी कालमगल कहते हैं। जैसे आष्टाह्निक पर्व आदि।

वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को भाव कहते हैं। वह आगम भावमंगल और नोआगमभावमंगल के भेद से दो प्रकार का है। आगम सिद्धान्त को कहते है, इसलिये जो मंगलविषयक शास्त्र का ज्ञाता होते हुए वर्तमान में उसमें उपयुक्त है उसे आगमभावमगल कहते है। वह आगमभावमंगल और नोआगमभावमंगल के भेद

से दो प्रकार का है। आगम सिद्धांत को कहते हैं, इसलिए जो मंगल विषयक शास्त्र का ज्ञाता होते हुए वर्तमान में उसमें उपयुक्त है उसे आगमभावमंगल कहते हैं। नो-आगमभावमंगल, उपयुक्त और तत्परिणत के भेद से दो प्रकार का है। जो आगम के बिना ही मंगल के अर्थ में उपयुक्त है उसे उपयुक्त नो-आगमभावमंगल कहते हैं और मंगलरूप पर्याय अर्थात् जिनेन्द्र देव आदि को वंदना, भावस्तुति आदि में परिणत जोव को तत्परिणत नोआगम-भावमंगल कहते हैं।

मंगल की विवक्षा में सर्वत्र इसी तत्परिणत नोआगमभावमंगल का ग्रहण होता है।

इस प्रकार मंगल सम्बन्धी यह सुविस्तृत विवेचन है। यदि इसका संक्षिप्त उपसंहार करें तो इस प्रकार समझना कि नाममंगल वह है जो किसी का भी मंगल या शुभरूप नाम रखना जैसे सुमंगला, मंगलकुमार आदि। मंगल आकार परिणत जिनप्रतिमा आदि स्थापना मंगल है। आगे मंगल स्वरूप होने वाले पदार्थ को द्रव्यमंगल कहना चाहिये जैसे कोई आगामी काल में साधु या अरहंत होगा। सम्मेदशिखर, पावापुर आदि स्थान क्षेत्रमंगल हैं। वीरनिर्वाणकाल, कार्तिक अमावस्यादि काल मंगल है।

किसी व्यक्ति के स्वयं के शुभपरिणाम होना भावमंगल है या जिनस्तुति आदि में संलग्न होना भावमंगल है।

इस प्रकार मंगल का स्वरूप भली भांति ज्ञातकर अपना जीवन मंगलमय बनाना चाहिये।

अनजाने मनुष्य पर विश्वास करना और जाने हुए योग्य पुरुष पर सन्देह करना, ये दोनों बातें एक समान अगणित आपत्तियों की जननी हैं।

भारत की प्राचीन और अर्वाचीन शासन पद्धति का धर्म से सामंजस्य

❖ क्षुल्लिका अनंगमतीजी

[प॰ पू॰ आचार्य श्री विमलसागरजी संघस्थ]

वर्तमान युग आध्यात्मिक युग है क्योंकि आचार्य कहते हैं—

वारिस सहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण।
तं संपहि वरिसेणहु णिज्जरयइ होण संहणणे ।।
[भावसंग्रह, १३१]

"पूर्व में हजार वर्ष तप करने पर जितना कर्मों का नाश होता था वहा आज हीन संहनन में एक वर्ष के तप द्वारा कर्मों का नाश होता है।" आश्चर्य है कि ऐसे स्वर्णमयी युग को हमने कलयुग की संज्ञा दी तथा इसकी उपेक्षा कर रहे हैं। यह वास्तव में हास्यास्पद सी बात है। आदिकाल में भगवान आदिनाथ ने जिस प्रकार लौकिक जीवन के निर्वाह हेतु असि, मसि, कृषि, शिल्प, कला और वाणिज्य जैसे षट् कर्मों का उपदेश दिया वैसे ही उन्होने आत्मोत्थान के मार्ग मे अग्रसर होने हेतु देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, और दान का भी उपदेश दिया।

आदि प्रभु ने ब्राह्मी-सुन्दरी जैसी विदुषी कन्याओ को पूर्ण लौकिक ज्ञान के साथ ही भरत बाहुबली जैसे पुत्रों को भी पूर्ण ज्ञान सिखाया। उन्हें अध्यात्म विद्या में भी इतना निष्णात किया कि ब्राह्मी सुन्दरी जैसी कोमलांगी राजकुमारियों ने जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की एवं संघ की गणिनी बनीं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि भरत जैसे पुत्र का यज्ञोपवीत संस्कार कर आदिनाथ ने आर्षमार्ग का बीज बोया। पिता के योग्य संस्कार का फल भरत जैसा चक्रवर्ती अन्तर्मुहूर्त में कैवल्य ज्योति को प्राप्त हुआ तथा बाहुबली ने अपने उग्र तप के द्वारा तीन जगत को आश्चर्यान्वित किया। इस प्रकार धर्म की अक्षुण्ण धारा भारत देश में बही।

राम राज्य आया। मर्यादा पुरुषोत्तम राम जैसे लोकप्रिय शासक ने प्रजा वात्सल्य हेतु अपने सर्वसुखों को तिलांजलि दे दी। उस समय प्रजावात्सल्य शासकों में कूट-कूट कर भरा पड़ा था। अत्याचार अनाचार को कहीं स्थान नहीं था। पिता-पुत्र का, भाई-भाई का अपूर्व स्नेह था। प्रजा का पालन पुत्रवत् होता था। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह रूप मूल सिद्धान्तों का चारों ओर बोल बाला था। सर्वजन मानस के हृदय में जहां वात्सल्य और प्रेम की गंगा बहती थी वहां देश की सुख समृद्धि की सूचक घी-दूध रूप गंगा-यमुना का संगम यहां हिलोरें लेता था।

श्री कृष्ण के समय में भक्ति का विशेष प्रवाह रहा। आचार-विचार की उच्चता के कारण देश में किसी प्रकार की क्रांति नहीं जम पाई।

भगवान महावीर तक यह धर्मधारा अपने अक्षुण्ण रूप में प्रवाहित होती रही थी कि देश को अन्दरूनी फूट ने अपना रूप दिखाया। देश मे क्रांति का बीज फूटा, अत्याचार बढ़ा, आचार-विचार का लोप होने लगा धर्म संस्कृति खतरे में आ पड़ी।

कुछ समय बाद पुन: देश में शान्ति का वातावरण आया। यह युग चन्द्रगुप्त का युग था। इतिहासकारों ने इसे स्वर्णयुग के नाम से पुकारा यह देश का एक अलौकिक क्षण था, अन्याय-अत्याचार, दुर्भिक्ष का नाम नहीं था, देश में पूर्ण शान्ति का वातावरण था, आर्थिक स्थिति अच्छी थी। धार्मिक लौकिक, कलाकौशल की ख्याति चारों ओर बिखर रही थी। विदेशों में भी भारतीय शिक्षण-पद्धति ने अपना रंग जमा लिया था। अत: विदेशी लोग भारतीय आदर्शों को ग्रहण कर शान्ति प्राप्त करना चाहते थे।

इस युग की उन्नति का मूल कारण चाणक्य जैसे कुशल शासक की राजनीति कला थी। विश्व के इतिहास मे चाणक्य जैसा कुशल प्रजापालक आज तक नहीं हुआ। चाणक्य ने पीढी तक गुप्त वंश की ध्वजा को अविरुद्ध रूप से फहराया। चन्द्रगुप्त का पुत्र बिम्बसार हुआ, बिम्बसार का पुत्र अशोक। अशोक के सारे सस्कार चाणक्य ने किये थे। अत: अशोक एक लोकप्रिय शासक रहे। तक्षशिला में एक समय विशेष अन्तर्द्वंद हुआ, अशोक को वहां बुलाया गया। तक्षशिला में अशोक का भव्य स्वागत किया परन्तु अशोक ने कहा—"मैं आप लोगों के स्वागत से प्रसन्न नहीं हूं "मैं आपके आपसी प्रेम को देखकर प्रसन्न हो सकता हूं" मैं आपमें आपसी प्रेम देखना चाहता हूं" यही कारण था अशोक उस समय "अशोकप्रिय" के नाम से पुकारे जाते थे।

"आचार विचार में प्रमाद ही समाज के. देश के, विश्व के पतन का कारण बनता है।" इसी अशोक ने वृद्धावस्था में एक नीच कुलीन कन्या से विवाह किया। एक दिन रानी ने राजा से प्याज खाने के लिये कहा। "अशोक ने कहा मैं उच्च कुल का राजा कभी भी प्याज नहीं खा सकता। मैं अपनी भारतीयसंस्कृति का सच्चा उपासक ऐसा निंद्य कार्य नहीं कर सकता हूं। नारी के बहुत आग्रह करने पर नारी के पाश मे बंधा राजा अपने को नहीं सम्हाल पाया और उसने प्याज का सेवन किया। यहीं से देश की सभ्यता एवं संस्कृति के पतन का बीजारोपण हुआ। इसी वंश में अशोक के बाद एक धर्मविद्रोही राजा हुआ। वह साधु को मारकर उसका सिर लाने वाले के लिये स्वर्णमुद्राएं भेंट देता था। उसने साधु को संरक्षण देनेवाले घरों में आग लगा दी। उसके पश्चात् जो शासक हुआ वह स्वधर्म के अलावा, अन्य धर्मों को मिटा देना चाहता था। आचार की हीनता के कारण करीब १२५ वर्षों तक भारत में विशेष द्वन्द्व चलता रहा।

आज प्राचीन आध्यात्मिकयुग देशके सामने कलहयुगके रूपमें आकर खड़ा है। धर्म आचार-विचार से रहित मानव चारों ओर त्रस्त नजर आ रहा है। राजा और प्रजा दोनों ही अपने कर्तव्य को भूले हुए हैं। शासक को शासन पद्धति का ज्ञान नहीं, देश की सभ्यता व संस्कृति पर जब तक शासन का स्वाभिमान जाग्रत नहीं होगा देश कभी उत्थान नहीं कर सकता।

आदिप्रभु ने त्याग का उपदेश दिया, शिक्षा दी, परन्तु सबका स्रोत इन्हीं के घर से बहा। ज्ञान गंगा ब्राह्मी, सुन्दरी ने बहायी, त्याग गंगा स्वयं के परिवार से बहाई, तप का प्रवाह स्रोत भी यहीं से आरम्भ हुआ तब कहीं शासन उत्तम रीति से चल पाया था। आज का रक्षक ही भक्षक बना हुआ है त्याग, तपस्या, सभ्यता एवं संस्कृति की ओर लक्ष्य ही नहीं तो कैसे शासन सुखी रह सकता है।

विदेशी लोग भारत की सभ्यता संस्कृति को अपनाते जा रहे हैं और भारतीय अपने गुणों को खोते जा रहे हैं। भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं। दुर्व्यसनों में फंसा मानव परस्त्री सेवन अन्याय-अत्याचार जैसे कार्यों को करता है। आज का शासक और प्रजा दोनों दूषित हैं। हम विदेशी सभ्यता, आचार-विचार की नकल कर अपना उत्थान करना चाहते हैं। नकल में अकल की कमी रही हमने खान-पान की नकल की, रहन-सहन पहनावा आदि की नकल तो की, किन्तु वास्तविक उनके गुणों की नकल हम नहीं कर पाये। विदेशी मानवों में अपने देश की सभ्यता संस्कृति, राष्ट्रीय गौरव के प्रति जो स्वाभिमान है, निस्वार्थ वृत्ति है यदि वही इस देश के नागरिकों में भी आजावे तो यह अवश्य उन्नति की ओर अग्रसर हो सकता है। हमारे देश का शासक अनियंत्रित है, गुरु अनियंत्रित है, तो प्रजा और शिष्यों में नियंत्रण कैसे आ सकता है?

आज के शासकों की स्थिति क्या है—एक रोगी एक डॉक्टर के पास गया और अपनी सारी शारीरिक स्थिति कह सुनाई डॉक्टर ने गोली दे दी। मरीज दूसरे डॉ० के पास गया उसने एक पुड़िया दे दी। मरीज तीसरे के पास गया उसने मिक्सचर दे दिया, मरीज चौथे डॉ० के पास गया डॉ० ने कुछ औषधि और दे दी। अब क्या हुआ? मरीज (रोगी) ने सभी दवाइयां एक साथ ले लीं। पेट में जाते ही सब में युद्ध छिड़ गया मैं रोग अच्छा करूंगी, मैं रोग अच्छा करूंगी। और फल यह होता है रोग वैसा ही बना रहता है। यही हालत शासकों की है प्रत्येक कुर्सी के लिये लड़ रहा है। मैं देश का उद्धार करूंगा, मैं देश का उद्धार करूंगा की लड़ाई मे देश का निरन्तर पतन हो रहा है।

अब प्रजा की स्थिति देखिये—प्रजा मे देश प्रेम नाम को भी नहीं। अपनी सभ्यता संस्कृति का गौरव भी नहीं है। सरकारी देशीय वस्तुओं का मखौल उड़ाया जाता है। पूर्वजों के आचार-विचार को रूढ़िवाद, ढ़कोसला मानकर उसका मजाक किया जाता है। याद रखे पूर्वजों की एक-एक क्रिया के पीछे गूढ़ रहस्य छिपा है।

राष्ट्र की निधि का अपव्यय किया जाता है। दिन दहाड़े सरकारी वस्तुओं की चोरी, तोडफोड में आज का विद्यार्थी अपनी बुद्धिमत्ता समझता है। गुरुजन के स्वय भ्रष्टाचार के जाल में फसे होने से विद्यार्थी भी उन्हें चाकू लेकर मारने के इरादे में घूमते नजर आते है। शिक्षा की, ज्ञान की, कोई कीमत ही नहीं है।

इन सब दुर्व्यवस्थाओं का कारण शासक एवं प्रजा दोनों ही अपने कर्तव्य और अधिकारों को भूले हैं। शासकों में निर्लोभता का अभाव है, निस्पृह वृत्ति का अभाव है प्रजा वात्सल्य नहीं है तो प्रजा में भी देश प्रेम का गौरव नहीं रह गया है।

प्र० १ किन सिद्धान्तों के द्वारा भारत देश पुन: अपने गौरव को प्राप्त कर सकता है?

उत्तर–पतन के गर्त में गिरते हुए देश को भगवान वीर के तीन अनमोल सिद्धान्तों के द्वारा ही बचाया जा सकता है १–ब्रह्मचर्य २–अपरिग्रह ३–स्याद्वाद।

ब्रह्मचर्य—बढ़ती आबादी को रोकने के लिये महावीर के कहे "ब्रह्मचर्य" की आज देश को सख्त आवश्यकता है। जिस देश में लक्ष्मण ने सीता को मां कहा और कभी मुख की ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देखा वही आज का युवक-युवतियों को ओर आंखें गड़ाता हुआ नजर आ रहा है। ब्रह्मचर्य के अभाव में आज विदेशी

लोग इतने संत्रस्त हैं कि वे भारत में आकर शांति से जीना चाहते हैं, किन्तु दुख इस बात का है यहां भी आज का वर्ग उन्हें बलात् हरण करने की कोशिश करता है। यह देश की विश्व के लिये अत्यंत घृणास्पद बात है।

बढ़ती आबादी को रोकना है तो जीवन में ब्रह्मचर्य को अंगीकार करना होगा।

अपरिग्रह—आज का परिग्रही जीवन आशाओं में डूबा हुआ है। निरन्तर धन की प्यास को बुझाने में लगा हुआ है। एक ओर घर में आनन्द से सैर सपाटे उड़ाये जा रहे हैं तो दूसरी ओर भाई, पड़ोसी भूखे सो रहे हैं। परिग्रह सीमित हो जाय तो, इस सिद्धान्त के द्वारा देश की गरीबी, भूखमरी दूर की जा सकती है।

स्याद्वाद—देश में सामंजस्य का अभाव है। प्रत्येक अपने विचारों को मूर्त रूप देना चाहते हैं। एक दर्शनशास्त्री ने दर्शनशास्त्रियों को फटकारते हुए लिखा है "हे दर्शनशास्त्रियो ! अपने-अपने विचारों को लेकर आपस में क्यों विवाद करते हो यदि जैन धर्म के "स्याद्वाद" सिद्धान्त को अपने जीवन मे अपनावो तो सारे विवाद दूर हो जायेंगे।"

इसप्रकार यदि जैन धर्म को विश्व धर्म और वीर के सिद्धान्तों को विश्व सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो भारत अपने प्राचीन गौरव को पुनः शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर सकेगा।

मुक्ति के प्रत्यक्ष पात्र

निर्ग्रन्थ मुनिवर

❖ श्री सागरमलजी जैन, विदिशा

लोक के सभी जीवों के लिये मुक्ति का मार्ग खुला है—कहीं बन्धन नहीं है। किसी भी गति या पर्याय में हो मुक्ति के मार्ग का पथिक बन सकता है बन्धन केवल इतना ही है कि वह सैनी पंचेन्द्री हो-भव्य हो। चलने की पात्रता वाला तो भव्य होगा ही, किन्तु चलने के काल में उसे निमित्त का संयोग भी मिलना चाहिये और वे तीन हैं—देव, शास्त्र गुरु। कविवर द्यानतराय जी ने बहुत ही सीधे शब्दों में चित्रण किया है। पूजा की इन पंक्तियों को प्रतिदिन हम सभी पढते ही हैं—

> **प्रथम देव अरिहन्त सुश्रुत सिद्धान्त जू।**
> **गुरु निर्ग्रन्थ महन्त मुकतिपुर पन्थ जू ।।**
> **तीन रतन जगमांहि सो ये भवि ध्याइये।**
> **तिनकी भक्ति प्रसाद परम पद पाइये ।।**

देव, शास्त्र, गुरु के निमित्त बिना यह जीव इस मार्ग पर चल ही नही सकता। इस पंचमकाल में भगवान केवली अरिहंत परमात्मा नही है, किन्तु उनका स्वरूप मुनिवर के रूप में है, केवली परमात्मा की वाणी शास्त्ररूप मे आचार्य परम्परा से आज हमारे पास है। अतः देव, शास्त्र, गुरु इन तीनों की एकरूपता में मात्र निर्ग्रन्थ मुनिवर हैं। वे ही मुक्ति के प्रत्यक्ष पात्र हैं और उनके उपासक श्रद्धावान मोक्ष-मार्गी। यह गुरु परम्परा अन्तिम तीर्थंकर देव भगवान महावीर के निर्वाण के बाद अविरलरूप से आज तक चली आ रही है। इतना ही नहीं पचमकाल के अत तक चलती रहेगी। यह पंचम काल २१ हजार वर्ष का है इसमें मुनिवरों का अभाव नहीं रहेगा। सदा से ही निर्ग्रन्थ मुनिवर जैनधर्म के साक्षात् स्वरूप रहे हैं वर्तमान मे हैं और आगे के काल तक रहेंगे। मुक्ति के प्रत्यक्ष पात्र भी मात्र मुनिवर ही हैं। यह परम्परा महावीरस्वामी के निर्वाण से आज तक इसी प्रकार चली आ रही है—

निर्ग्रन्थ परम्परा :

१	गौतम स्वामी अनुबद्ध केवली	वीर नि० सं० १ से १२ तक कुल वर्ष	१२
२	सुधर्म स्वामी अनुबद्ध केवली	वीर नि० सं० १३ से २४	१२
३	जम्बू स्वामी अनुबद्ध केवली	वीर नि० सं० २५ से ६२	३८
			६२

६२ वर्षों तक केवली भगवन्तों की दिव्यध्वनि बराबर भव्य जीवों को मिलती रही अर्थात् ई० पू० ५०२ तक भारत में केवली परमात्मा का साक्षात्कार रहा। इसके बाद १२ अंग व १४ पूर्व के धारी श्रुतकेवली का काल इस प्रकार रहा :—

१	विष्णुनन्दी	वीर नि० सं० ६३ से ७६ तक कुल वर्ष	१४
२	नन्दीमित्र	७७ से ९२	१६
३	अपराजित	९३ से ११४	२२
४	गोवर्धन	११५ से १३३	१९
५	भद्रबाहु प्रथम	१३४ से १६२	२९
			१००

केवली परमात्मा की दिव्य ध्वनि के पश्चात् सौ वर्षों तक श्रुतकेवली परम्परा भारत में रही। वीर नि० सं० १६३ से ३४५ तक ११ अंग व १० पूर्व शास्त्र के ज्ञाता आचार्य निम्न प्रकार से रहे—

१	विशाखाचार्य	वीर नि० सं० १६२ से १७२ तक कुल वर्ष	१०
२	प्रौष्ठिलाचार्य	१७३ से १९१	१९
३	क्षत्रियाचार्य	१९२ से २०९	१७
४	जयसेनाचार्य	२०९ से २२९	२१
५	नागसेनाचार्य	२३० से २४७	१८
६	सिद्धार्थाचार्य	२४८ से २६४	१७
७	धृतसेनाचार्य	२६५ से २८४	२०
८	विजयाचार्य	२८५ से २९७	१३
९	बुद्धिषेणाचार्य	२९८ से ३१७	२०
१०	देवसेनाचार्य	३१८ से ३३१	१४
११	धर्मसेनाचार्य	३३२ से ३४५ तक	१४
			१८३

आचार्य एवं श्रुत परम्परा अविरलरूपसे इस देश में वीर नि० सं० ३४५ तक आबाध गति से चलती रही यह काल ई० पू० १९५ तक है। पंचमकाल के प्रभाव से ज्ञान की धारा घटती गई, किन्तु निर्ग्रन्थ मुनिवर उसी परम्परा में रहे। इसके बाद एकादशांग शास्त्र के ज्ञाता ५ आचार्य इस प्रकार हुये :—

१	नक्षत्राचार्य	वीर नि० सं० ३४६ से ३६३ तक कुल वर्ष	१८
२	जयपालाचार्य	३६४ से ३८३	२०

३ पांडवाचार्य	३८४ से ४२२	३६
४ ध्रुवसेनाचार्य	४२३ से ४३६	१४
५ कंसाचार्य	४३७ से ४६८ तक	३२
		१२३

इन महामुनियों का काल वीर नि० सं० ४६८ तक यानि ई० ५६० तक रहा पश्चात् ११ अंग १४ पूर्व के एक देश धारक शास्त्रज्ञ चार आचार्य निम्न प्रकार हुये—

१ सुभद्राचार्य	वीर नि० सं० ४६९ से ४७४ तक कुल काल	६ वर्ष
२ यशोभद्राचार्य	४७५ से ४९२	१८
३ भद्रबाहु द्वितीय	४९३ से ५१५	२३
४ लोहाचार्य	५१६ से ५६५	५०
		९७

इन आचार्यों में अन्तिम दोनों निमित्त ज्ञानी थे इसी आचार्य परम्परा में पांच आचार्य एक अंग के एक देश शास्त्रज्ञ रहे जो वीर नि० सं० ६८३ तक रहे।

१ अहिवल्याचार्य	वीर नि० सं० ५६६ से ५९३ तक कुल वर्ष	२८
२ माघनन्द्याचार्य	५९४ से ६१४	२१
३ धरसेनाचार्य	६१५ से ६३३	१९
४ पुष्पदंताचार्य	६३४ से ६६३	३०
५ भूतबल्याचार्य	६६४ से ६८३	२०
		११८

इस तरह भगवान महावीर निर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्ष तक आचार्य परम्परा क्रम से चलती रही और श्रुत की, ज्ञान-गंगा की धारा प्रवाहित होती रही। इन्हो निर्ग्रंथ महामुनियो के कारण हमारे पास आज श्रुत का भण्डार है इसी क्रम में ५ सिद्धात के चक्रवर्ती हुये—१ वसुनन्दी आचार्य २ वीरनन्दी ३ कनकनन्दी ४ इन्द्रनन्दी और पाँचवें नेमिचन्द्राचार्य अंतिम सिद्धांतचक्रवर्ती हुये।

निर्ग्रन्थ मुनिवर आज तक इस भारत भूमि को अपने श्री चरणों से पवित्र करते रहे हैं। जिनकी परम्परा का कभी अभाव नही हुआ। महान् आचार्यों का क्रम बराबर पाया जाता रहा है। जिनके महान ग्रंथ आज भी हमें तीर्थंकरों की वाणी के रूप में साक्षात् दे रहे है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी, उमास्वामी, समन्तभद्राचार्य, पूज्यपाद, पात्रकेशरी, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दी, वीरसेन, जिनसेन प्रथम, जिनसेनाचार्य द्वितीय, गुणभद्राचार्य, प्रभाचन्द्र, वादीभसिंह, सोमदेवसूरि, अमितगति, वादिराज, शुभचन्द्र, अमृतचन्द्राचार्य, अकलंकदेव, हरिषेण, पद्मनन्दि पद्मप्रभमलधारिदेव, अनन्तकीर्ति, मल्लिषेण, दुर्गदेव, नयसेनाचार्य, वज्रनन्दी, ब्रह्मदेव, श्रुतसागरसूरि, शुभकीर्ति। इन सभी आचार्यों के महान ग्रंथ आज उपलब्ध हैं। इन्हीं आचार्य परम्परा में इस बीसवीं सदी में चारित्र चक्रवर्ती शान्तिसागरजी महाराज हुये जिनके हमने-आपने अपने जीवनकाल में दर्शन किये हैं अमृतवाणी सुनी है। सल्लेखना महाव्रत देखा है। उन्हीं की शिष्य परम्परा में आचार्य धर्मसागरजी महाराज श्री हैं जिनके चरण कमल इस देश को पवित्र कर रहे हैं। ये प्रत्यक्ष मुक्ति के पात्र हैं। इतना ही नहीं

इस पंचमकाल के अंत तक यानि २१ हजार साल के काल में ३ वर्ष ८ माह १५ दिन पूर्व तक मुनिवर अपने चरणों से इस भारत भूमि को पवित्र करते रहेंगे। श्रुत की गंगा बहती रहेगी। मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका पाये जाते रहेंगे।

अन्त तक निर्ग्रन्थाचार्य :

करणानुयोग का महानग्रंथ तिलोयपण्णत्ती आचार्य यतिवृषभ द्वारा रचित चतुर्थ महा अधिकार में गाथा १५१६ से १५३५ तक अवलोकन कीजिये—

"इसप्रकार एक हजार वर्षों के पश्चात् पृथक्-पृथक् एक-एक कल्की तथा पाँच सौ वर्षों के पश्चात् एक-एक उपकल्की होता है। प्रत्येक कल्की के प्रति एक-एक दु:खमाकालवर्ती साधु को अवधिज्ञान प्राप्त होता है उसके समय चातुर्वर्ण्य संघ भी अल्प हो जाते हैं।

ध्यान देने योग्य बात है कि प्रत्येक कल्की के काल में एक मुनिवर को देशावधिनाम का अवधिज्ञान उत्पन्न होगा। मति, श्रुतज्ञान तो सभी जीवों को जन्म से होता है, किन्तु अवधिज्ञान के धारी मुनिवर इस विषम पंचमकाल में भी पाये जावेंगे। अंत में विषम स्वभाववाला इक्कीसवा कल्की उत्पन्न होता है। उसके समय में वीरांगद नामक एक मुनि, सर्व श्री नामक आर्यिका तथा अग्निदत्त और पंगु श्री नामक श्रावक युगल (श्रावक-श्राविका) होते हैं। वह कल्की अपनी आज्ञा से अपने योग्य जनपदों को सिद्ध करके मंत्रीवरों से कहता है कि ऐसा कोई पुरुष तो नहीं है जो मेरे वश में न हो। तब मंत्री निवेदन करते हैं—हे स्वामिन्! एक मुनि आपके वश मे नहीं है तब कल्की कहता है कि कहो वह अवनीत मुनि कौन है? इसके उत्तर मे सचिव अर्थात् मंत्री कहते हैं हे स्वामिन्! सकल अहिंसादि व्रतों का आधारभूत वह मुनि विमुक्त संग तथा परिग्रह से रहित होता हुआ शरीर की स्थिति के निमित्त दूसरे के घर द्वारों पर काय को दिखाकर मध्याह्नकाल में अपने हस्तपुर मे विघ्नरहित प्रासुक अशन को ग्रहण करता है।

इसप्रकार मंत्री वचन को सुनकर वही कल्की कहता है कि वह अहिंसाव्रत का धारी पापी कहां जाता है यह तुम स्वयं सर्व प्रकार से पता लगाओ और उस आत्मघाती मुनि के प्रथम पिण्ड को शुल्क के रूप में ग्रहण करो। तत्पश्चात् कल्की की आज्ञानुसार प्रथम पिण्ड के मांगे जाने पर मुनीन्द्र तुरन्त उसे देकर और अंतराय करके वापिस चले जाते हैं तथा अवधिज्ञान को भी प्राप्त करते हैं। उस समय वे मुनीन्द्र अग्निल श्रावक पंगु श्री श्राविका और सर्व श्री आर्यिका को बुलाकर प्रसन्नचित्त होते हुये कहते हैं अब दु:खमांकाल का अत आ चुका है तुम्हारी और हमारी तीन दिन की आयु शेष है और यह अन्तिम कल्की है। तब वे चारों जन चारप्रकार के आहार और परिग्रहादिक को जन्मपर्यंन्त छोड़कर सन्यास ग्रहण करते हैं। वे सब कार्तिक मास के कृष्णपक्ष के अंत में अर्थात् अमावस्या के दिन सूर्य के स्वाति नक्षत्र के ऊपर उदित रहते हुए सन्यास धारण करके समाधिमरण को प्राप्त करते हैं। समाधिमरण के पश्चात् वीरांगद मुनि एक सागरोपम आयु से युक्त होते हुये सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न होंगे और वे तीनों जन भी एक पल्योपम से कुछ अधिक आयु को लेकर वहां पर ही सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न होंगे।

उसी दिन मध्याह्न काल में क्रोध को प्राप्त हुआ कोई असुरकुमार जाति का उत्तम देव कल्की राजा को मारता है और सूर्यास्त समय में अग्नि नष्ट होती है। इस प्रकार इक्कीस कल्की और इतने ही उपकल्की धर्म के द्रोह से सागरोपम आयु से युक्त होकर घर्मा पृथ्वी में जन्म लेते हैं। इसके पश्चात् तीन वर्ष आठ मास और एक पक्ष के बीत जाने पर महा विषम ऐसा अति दु:खमा नामका छठा काल प्रविष्ट होता है।

इस कथन से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं : —

१. पंचमकाल के अंत तक निर्ग्रन्थ मुनिवर रहेंगे। मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका संघरूपमें पाये जावेंगे। महाव्रती-अणुव्रती अपने आचरण से इस देश को अहिंसा धर्म से पवित्र करते रहेंगे। श्रुतका ज्ञान प्रवाहित होता रहेगा। मुनिचर्या चरणानुयोग की पद्धति से चलती रहेगी।

२. देशावधिनामका अवधिज्ञान मुनिवरों को उत्पन्न होता रहेगा जिसका वे उपयोग करेंगे।

३. मुनिवरों का विरोध अंत तक होता रहेगा, किन्तु मुनिवर अपनी परम्परा नहीं छोड़ेंगे।

वीर भगवान का निर्वाण होने के पश्चात् ३ वर्ष ८ मास और एक पक्ष के व्यतीत हो जाने पर दु:खमा काल प्रवेश करता है।

प्रथम कल्की एक हजार वर्ष के पश्चात् उत्पन्न हुआ इसका नाम चतुर्मुख था आयु ७० वर्ष राज्यकाल ४२ वर्ष रहा। इस तरह भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् ३ वर्ष ८ मास १५ दिन व्यतीत हो जाने पर पंचम काल के १ हजार वर्ष में प्रथम कल्की हुआ।

वीर नि० सं० १००० में प्रथम कल्की
१५०० में प्रथम उपकल्की
२००० में द्वितीय कल्की
२५०० में द्वितीय उपकल्की

इस समय वीर नि. सं. २५०७ चल रहा है क्या हम यह मानलें कि द्वितीय उपकल्की का जन्म हो चुका है ? जबकि मुनिवरों के चरण बराबर इस देश को पवित्र कर रहे हैं। कैसे हैं वे गुरुवर—

गुरु आचारज उवझाय साधु, तन नग्न रत्नत्रय निधि अगाध।
संसार देह वैराग्यधार, निरवांछि तपें शिवपद निहार ॥
गुण छत्तिस पच्चीस आठ बीस, भव तारन-तरन-जिहाज ईश।
गुरु की महिमा वरनी न जाय गुरु नाम जपों मन-वचन-काय ॥
कीजे शक्तिप्रमान शक्तिबिना श्रद्धा धरं।
द्यानत श्रद्धावान अजर अमर पद भोगवे ॥

क्या पूजा का मर्म हमारे हृदय में नहीं उतर पा रहा है ? जिसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है वह नियम से इन तीनों का भक्त होता ही है यदि किसी एक की भी पूज्यता को गौण कर दिया जावे तो उसे सम्यक्त्व सम्भव नहीं है। यदि कोई गुरु की उपेक्षा करता है और केवल शास्त्र पढता है उसमें भी अनुयोग विशेष को तो वह केवल अपनी कषाय की पुष्टि करता है, वह मात्र पाप का आस्रव करता है किसी भी प्रकोष्ठ से वह सम्यक्त्व का पात्र नहीं है।

हमारा कर्त्तव्य है कि हम गुरुभक्ति में अपने आपको समर्पित कर दें, क्योंकि मुनिवर सदा काल पूज्य हैं। आज भी मुनिवरों को धर्मध्यान होता है। वे ही मुक्ति के प्रत्यक्ष पात्र हैं। प्रभावना अंग के मुख्य साधक मुनिवर हैं। वे अब भी महाव्रत, समिति आदि के पालन में श्रेष्ठ हैं अतः मुनिवर ही साक्षात् जिन मार्ग के पथिक हैं श्रुत के स्वरूप हैं और सदा रहेंगे।

'देव, शास्त्र, गुरु रतन शुभ तीन रतन करतार।'

मोक्षमार्ग में ये ही तीन रत्न हैं सौभाग्य से दो प्रत्यक्ष हैं एक परोक्ष। ये तीनों ही शुभ हैं सदा काल शुभ आस्रव के हेतु हैं। मनुष्य की पाप प्रवृत्ति इनके निमित्त से दूर होती है पुण्य के निमित्त तो प्रत्यक्ष हैं और मोक्ष के परोक्ष।

मुक्ति के प्रत्यक्ष पात्र निर्ग्रन्थ मुनिवरों के श्री चरणों में शत-शत वन्दन। ❖

निर्विकार

प

द

दिगम्बर मुनि

❖ ब्र० धर्मचन्द्रजी शास्त्री (संघस्थ)

एक समय वह था कि विश्व के अधिकांश प्राणी आध्यात्मिकता की ओर थे। उस समय संसार में सर्व प्रकार शान्ति थी। हजारों दिगम्बर साधु सन्त यत्र तत्र भ्रमण किया करते थे, बच्चे से लेकर वृद्ध तक सभी नर नारी उनके विषय की पूरी जानकारी रखते थे। कोई भी उस प्रकृतिदत्त नग्नत्व को देख कर नाक भौं नहीं सिकोड़ता था, इन तपस्वियों के चरणों में सहज ही सबका मस्तक झुक जाता था।

दिगम्बरत्व प्रकृतिक रूप है, वह प्रकृति का दिया हुआ मनुष्य का वेष है। दिशायें ही जिनके अम्बर हैं, वस्त्रविन्यास उनका वही प्रकृतिदत्त नग्नत्व था। वह प्रकृति के अञ्चल में सुख की नींद सोते और आनन्दरेलियां करते थे। इसीलिये कहते हैं कि मनुष्य की आदर्श स्थिति दिगम्बर है। नग्न रहना ही उनके लिये श्रेष्ठ है इसमे उनके लिये अशिष्टता और असभ्यता की कोई बात नहीं है, क्योंकि दिगम्बरत्व अथवा नग्नत्व स्वयं अशिष्ट अथवा असभ्य वस्तु नहीं है वह तो मनुष्य का प्राकृतिक रूप है। बच्चे को लीजिये, उसे कभी भी अपने नग्नत्व के कारण लज्जा का अनुभव नहीं होता, और ना उसके माता पिता अथवा अन्य लोग ही उसकी नग्नता पर नाक भौं सिकोड़ते हैं। असक्त रोगी की परिचर्या स्त्री, धाय, नर्स करती है। वह रोगी अपने कपड़ों की सारसंभाल स्वयं नहीं कर पाता, किन्तु नर्स, स्त्री, धाय आदि रोगी की सब सेवा करते हुए जरा भी अशिष्टता अथवा लज्जा का अनुभव नहीं करती। कुछ उदाहरण इस बात को स्पष्ट करते हैं, कि नग्नत्व वस्तुतः कोई बुरी चीज नहीं है। प्रकृति भला कभी किसी जमाने में बुरी हुई भी है? तो फिर मनुष्य नङ्गेपन से क्यों झिझकता है? क्यों आज लोग नग्न होना समाज मर्यादा के लिये अशिष्ट और घातक समझते हैं। इन प्रश्नों का एक सीधा

सा उत्तर है। मनुष्य का नैतिक आचरण आज पतन की सीमा पर पहुँच चुका है। वह पाप में इतना सना हुवा है कि उसे मनुष्य की आदर्श स्थिति-दिगम्बरत्व पर घृणा आती है। अपनेपन को गवांकर पाप के पर्दे में कपड़ों की आड़ लेना ही वह श्रेष्ठ समझता है, किन्तु वह भूलता है पर्दा पाप की जड़ है, वह गंदगी का ढेर है। जो जरा सी समझ, विवेक से काम लेना जानता है वह ना ही गंदगी को अपना सकता और ना ही अपनी आदर्श स्थिति दिगम्बरत्वसे चिढ़ सकता है।

वस्त्रों का परिधान मनुष्य के लिये लाभदायक नहीं है और ना वह आवश्यक ही है। प्रकृति ने प्राणी मात्र के शरीर का गठन इस प्रकार किया है कि यदि वह प्राकृत वेश में रहे तो उसका स्वास्थ्य निरोग और श्रेष्ठ हो तथा उसका सदाचार भी उत्कृष्ट रहे। जिन विद्वानों ने भील आदि को अध्ययन की दृष्टि से देखा है जो नग्न रहते हैं वे इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि उन प्राकृत वेश में रहने वाले जंगली लोगों का स्वास्थ्य शहरों में बसने वाले सभ्यताभिमानी सज्जनों से लाख दर्जा अच्छा होता है। तथा आचार-विचार में भी वे शहर वालों से बढ़े-चढ़े होते हैं। उनका यह कथन है भी ठीक, क्योंकि प्रकृति की होड़ कृत्रिमता नहीं कर सकती।

महात्मा गांधीजी के निम्न शब्द भी इस विषय में दृष्टव्य हैं।[1]

वास्तव में देखा जाय तो कुदरत ने धर्म के रूप में मनुष्य को योग्य पोषाक पहनाई है। नग्न शरीर कुरूप दिख पड़ता है ऐसा मानना हमारा भ्रममात्र है। उत्तम-उत्तम सौन्दर्य के चित्र तो नग्न दशा में ही दिखाई पड़ते हैं। पोषाक से साधारण अंङ्गों को ढ़क कर हम मानों कुदरत के दोषों को दिखला रहे हैं। जैसे-जैसे हमारे पास बहुत धन होता जाता है वैसे-वैसे हम सजावट-फैशन बढ़ाते जाते है। कोई किसी भांति और कोई किसी भांति रूपवान बनना चाहते हैं और बनठन कर दर्पण में मुंह देखकर प्रसन्न होते हैं, 'कि वाह, मैं कैसा सुन्दर हूँ? बहुत दिनों के ऐसे ही अभ्यास से यदि हमारी दृष्टि खराब ना हो गई होती तो हम तुरन्त देख सकेंगे कि मनुष्य का उत्तम से उत्तम रूप उसकी नग्नावस्था में ही है और उसी में उसका आरोग्य है। इस प्रकार सौन्दर्य और स्वास्थ्य के लिये दिगम्बरत्व अथवा नग्नत्व एक अमूल्य वस्तु है, और वस्तुतः मानव समाज में सदाचार की सृष्टि करने में ही उसका महत्व है। नग्नता और सदाचार का अविनाभावी सम्बन्ध है। सदाचार के बिना नग्नता का कोई मूल्य नहीं, नग्न मन और नग्न तन ही मनुष्य की आदर्श स्थिति है। इसके विपरीत गन्दा मन नग्न तन तो निरी पशुता है। उसे कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा।

लोगों की यह धारणा है कि कपड़े पहनने से मनुष्य शिष्ट और सदाचारी रहता है, किन्तु बात वास्तव में इसके विपरीत है, कपड़े के सहारे तो मनुष्य अपने पाप और विकार को छुपा लेता है दुर्गुणों और दुराचार का आगार बना रह कर भी वह कपडे की ओट में पाखण्डरूप बना सकता है, किन्तु दिगम्बर वेष में यह असम्भव है। शुक्राचार्य जी के कथानक से यह बिलकुल स्पष्ट है कि शुक्राचार्य युवा थे, पर दिगम्बर वेष में रहते थे। एक रोज वह वहाँ से जा निकले जहाँ तालाब मे कई देव कन्यायें नग्न होकर जल-क्रीड़ा कर रही थीं। उनके नग्न तन ने देव रमणियों में कुछ भी क्षोभ उत्पन्न न किया, वे जैसे को तैसी स्नान करती रहीं और शुक्राचार्य अपने मार्ग से निकल कर चले गये। इस घटना के थोड़ी देर बाद शुक्राचार्य के पिता वहाँ आ निकले। उनको देखते ही देवकन्यायें नहाना धोना भूल गई। झटपट वे जल से बाहर निकली और अपने वस्त्र उन्होंने पहन लिये। एक नङ्ग युवा को देख कर तो उन्हे ग्लानि और लज्जा न आई, किन्तु एक वृद्ध-शिष्ट-से-दिखते 'सज्जन' को देखकर लज्जा आ गई। इसका क्या कारण? यही न कि नग्न युवा अपने मन में भी नंगा था उसे विकार ने नहीं आ घेरा था, इसके विपरीत उनके वृद्ध और शिष्ट पिता विकार से रहित न थे। वह अपने शिष्ट वेश में इस विकार को छिपाये रखने में सफल थे, किन्तु दिगम्बर युवा के लिये वैसा करना असंभव था, इसी कारण वह निर्विकारी और सदाचारी था? अतः कहना होगा कि सदाचार की मात्रा नंगे रहने में अधिक है।

---

१. आरोग्य पृ० ५७

नग्नता दिगम्बरत्व का वह भूषण है। विकार भाव को जीते बिना ही कोई नंगा रह कर प्रशंसा नहीं पा सकता, विकारी होना दिगम्बरत्व के लिये कलङ्क है। न वह सुखी हो सकता और न उसे विवेक नेत्र मिल सकता इसीलिये आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने भाव पाहुड में लिखा है[1] कि नगा दुख पाता है वह संसार सागर में भ्रमण करता है उसे बोध विज्ञान दृष्टि प्राप्त नहीं होती, क्योंकि नंगा होते हुए भी वह जिन भावना से दूर है।[2] इसका मतलब यही है कि जिन भावना से युक्त नग्नता ही पूज्य है–उपयोगी है।

जो प्रकृति का होकर प्राकृतिक वेष में रह रहा है संसार के पाप, पुण्य, बुराई-भलाई का जिसे भान तक नहीं है वह दिगम्बरत्व धारण करने का अधिकारी है। चूँकि सर्व साधारण गृहस्थों के लिये इस परमोच्च स्थिति को प्राप्त कर लेना सुगम नहीं है, इसीलिये भारतीय ऋषियों ने इसका विधान गृहत्यागी, अरण्यवासी साधुओं के लिये किया है। दिगम्बर मुनि ही दिगम्बरत्व को धारण करने के अधिकारी हैं।

आज का संसारी प्राणी पाप-ताप में इतना झुलस गया है कि वह एक दम दिगम्बर मुद्रा धारण नहीं कर सकता। दिगम्बर साधु लोक कल्याण मे निरत रहते हैं। उनको देख कर लोगों के मस्तक स्वयं झुक जाते हैं तथा वीतराग निर्विकार रूप को देख कर सुख-शांति का अनुभव करते हैं। भला-प्रकृति मन को भावे क्यों नहीं ? दिगम्बर साधु प्रकृति के अनुरूप है, वे सदाचार की मूर्ति होते हैं।

जो महान् होना चाहता है, दीर्घ जीवन की कामना करता है कुछ कर दिखाने का संकल्प रखता है उसे सात्विक होना होगा। सात्विकता जीवन का वह समतल है, जिसपर प्रगति के पद चिन्ह आसानी से अङ्कित किये जा सकते हैं।

---

१. णग्गो पावइ दुक्खं, णग्गो संसार सागरे भमई।
णग्गो न लहई बोहिं, जिण भावणज्जिओ सुइरं॥
२. जिन भावना—रागद्वेषादि विकार भावों को जीत लेना।

जीवन का लक्ष्य — शाश्वत सुख

❖ डॉ पन्नालाल जैन, सागर

यह जीव चतुर्गतिरूप संसार में कब से परिभ्रमण कर रहा है ? यह केवलज्ञान का भी विषय नहीं है, क्योंकि केवलज्ञान अनादि को अनादि और अनन्त को अनन्तरूप ही जानता है। यदि अनादि को सादि और अनन्त को सान्त जानने लगे तो वह मिथ्याज्ञान हो जावे। तात्पर्य यह है कि संसारी जीव इस चक्र में अनादिकाल से फंसा हुआ है। कुन्दकुन्दस्वामी ने पञ्चास्तिकाय प्राभृत में इस संसारचक्र का बहुत ही मार्मिक वर्णन किया है। वे लिखते है –

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मा कम्मादो होदि गदिसु गदी ।।
गदिमधिगदस्य देहो देहादो इंदियाणि जायंते ।
तेहि दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ।।
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहि भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ।।

अर्थात् जो संसारी जीव है उसके रागादि परिणाम होते है, रागादि परिणामो से कर्म आते हैं, कर्मों से उसका एक गति से दूसरी गति में गमन होता है, गति को प्राप्त हुए जीव को शरीर प्राप्त होता है, शरीर से इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं, इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण होता है और विषयों से राग-द्वेष उत्पन्न होते है। इस प्रकार जीव का यह परिणमन संसाररूपी चक्र में अनादिकाल से चला आ रहा है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है, परन्तु अनादि होने पर भी जीव का यह परिणमन अनादि अनिधन और अनादि सनिधन अर्थात् अनादि अनन्त और अनादि सांत होता है। अभव्य तथा दूरान् दूर भव्य का यह परिणमन अनादि-अनन्त है और भव्य जीव का अनादि होने पर भी सान्त है।

छह माह आठ समय में छह सौ आठ जीव नियम से इस संसार चक्र से निकलकर परम धाम को प्राप्त होते हैं। आशा की एक किरण यही है कि भव्य जीव कभी न कभी इस संसार चक्र से अवश्य निकलेगा। जिस पुरुषार्थ से निकलेगा वह पुरुषार्थ इस जीव को स्वयं करना पड़ता है। अन्य व्यक्ति की देशना, इसमें निमित्त तो हो सकती है, परन्तु कार्य रूप परिणमन उपादान ही करेगा, अन्य नहीं।

जीव इस संसार चक्र से निकलने का पुरुषार्थ तो करता है, परन्तु मिथ्यात्वयामिनी के सघन तिमिर में सही मार्ग न सूझने से विपरीत दिशा में भटक जाता है। समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्त संज्ञा नः।
राग द्वेष निवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥

अर्थात् मोहरूपी अन्धकार के दूर होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने से जिस भद्र परिणामी जीव को सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है वही रागद्वेष की निवृत्ति के लिये सम्यक्चारित्र को प्राप्त होता है। यहां सर्वप्रथम मोह-तिमिर को नष्ट करने की बात कही गई है। अर्थात् जीव और पुद्गल के संयोग से निर्मित इस मनुष्य पर्याय में शुद्ध आत्मा का दर्शन आवश्यक बतलाया गया है। जब तक यह जीव विविधरङ्गवाले इस शरीर में आत्मबुद्धि करता रहेगा—शरीर को ही आत्मा मानता रहेगा—तब तक उसे आत्मा की श्रद्धा कहां है? जिस आत्मा का वह कल्याण करना चाहता है उसकी पहिचान तो उसे है ही नहीं, कल्याण किसका करेगा? अतः मैं शरीर से भिन्न एक स्वतन्त्र आत्म द्रव्य हूं, यह द्रव्य कर्म, नोकर्म और भावकर्म रूप पदार्थ मेरे नहीं हैं, मैं इनसे सर्वथा भिन्न हूं, ऐसी श्रद्धा होना अनिवार्य—आवश्यक है, इसके बिना कल्याण के मार्ग में प्रवेश नहीं हो सकता। शरीरादिक से भिन्न आत्मा को उसके ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव के द्वारा ही जाना जा सकता है। जिस प्रकार हम उष्ण स्पर्श से अग्नि का ज्ञान करते हैं और शीतल स्पर्श से जल का, उसी प्रकार ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से आत्मा को जानते हैं। यह ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव निगोदिया से लेकर सिद्धावस्था तक समस्त पर्यायों में पाया जाता है और जीव से भिन्न पुद्गलादि द्रव्यों में सर्वथा नहीं पाया जाता। अतएव अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदि दोषों से रहित होने के कारण निर्दोष लक्षण है। स्वभावदृष्टि से यह जीव वीतराग और सर्वज्ञ स्वभाव वाला है, परन्तु पर्यायदृष्टि से वर्तमान में अज्ञान दशा और सराग परिणति को प्राप्त कर रहा है। जिसकी श्रद्धा में वीतराग-सर्वज्ञ स्वभाववाले आत्मा का अस्तित्व पृथक् प्रतिभासित होने लगता है वह रागद्वेष रूप पर्याय को अपना नहीं मान सकता। वह उसे दूर करने के लिये शक्ति भर पुरुषार्थ करता है।

यह भेद विज्ञान ही मोक्ष का मूल कारण है। अमृतचन्द्र स्वामी ने कलश काव्य में कहा है—

भेद विज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

अर्थात् आज तक जितने जीव सिद्ध हो सके हैं वे भेद विज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जितने संसार में बद्ध हैं वे इसी भेद विज्ञान के अभाव से बद्ध हैं।

कुन्दकुन्द स्वामी ने समयप्राभृत के मोक्षाधिकार में आत्मा और बन्ध के पृथक् होने के साधन बतलाते हुए कहा है—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा॥२९४॥

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
बंधो छेदेदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो ।।२६५।।
कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा ।
जह पण्णाए विभत्तो तह पण्णाए व घित्तव्वो ।।२६६।।
पण्णाए घेत्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ।।२६७।।
पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ।।२६८।।
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा से भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ।।२६६।।

संदर्भगत गाथाओं का भाव यह है कि जीव और उसके साथ सम्बन्ध को प्राप्त हुए कर्म-नोकर्म भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। इन्हे अपने अपने लक्षणो से जानकर जीव को ग्रहण करना चाहिये और कर्म-नोकर्म आदि को छोड़ना चाहिये। प्रज्ञा-भेद विज्ञान रूपी छैनी के द्वारा ही ये दोनो पृथक्-पृथक् किये जा सकते हैं, इसलिये इस संयोगी पर्याय में आत्मद्रव्य का विभाजन करने के लिये प्रज्ञारूपी छैनी का निरन्तर प्रयोग करते रहना चाहिये।

मोक्षमार्ग का प्रथम चरण इसी भेद विज्ञान से शुरु होता है। इसकी उपेक्षा करने वाले मोक्षमार्ग में एक कदम भी नहीं चल सकते। यद्यपि आत्मा और कर्म-नोकर्म आदि पर पदार्थों का पृथक्करण मुक्त अवस्था में ही होता है, उसके पूर्व नहीं, क्योकि परमार्थ से यह जीव चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक संसारी ही है। फिर भी श्रद्धा की दृष्टि से इनका विभाजन चतुर्थगुणस्थान में ही हो जाता है। इस गुणस्थान में दोनों को पृथक्-पृथक् समझ उन्हें पृथक् करने का प्रयत्न पञ्चम गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है। यह प्रयत्न चारित्र कहलाता है। जिसप्रकार बन्धन में बद्ध जीव अपने बन्धन और उससे छूटने के उपाय को जानता हुआ भी तब तक बन्धन से नहीं छूट सकता जब तक बन्धन को काटने का प्रयत्न नही करता। बन्धन को काटने का प्रयत्न है छेनी हथौड़ा लेकर उसे काटने का पुरुषार्थ करना। प्रकृत में आत्मा और कर्म-नोकर्म के अस्तित्व को पृथक् पृथक् जानता हुआ भी यह जीव तब तक उनसे पृथक् नही होता जब तक चारित्ररूपी पुरुषार्थ नहीं करता। आगम मे चतुर्थगुणस्थान का उत्कृष्ट काल एक समय कम तेतीस सागर और अन्तर्मुहूर्त कम एक कोटि वर्ष प्रमाण बताया गया है अर्थात् इतने लम्बे समय तक आत्मा और कर्म-नोकर्म को पृथक् पृथक् जानता हुआ भी जीव चतुर्थगुणस्थान में रहा आता है, परन्तु जीवन के अन्तिम मुहूर्त में जब चारित्र धारण करता है तब उस एक मुहूर्त के भीतर ही समस्त कर्मों का क्षय कर मुक्त हो जाता है। अचिन्त्य महिमा है सम्यक् चारित्र की।

यह सम्यक्चारित्र एकदेश की अपेक्षा मनुष्य और तिर्यञ्च गति में होता है, परन्तु सर्वदेश की अपेक्षा मात्र मनुष्य गति में ही हो सकता है। देव और भोगभूमिज मनुष्यो में यद्यपि पञ्च पाप रूप प्रवृत्ति नहीं होती तथापि उनके हृदय मे व्रत धारण करने का भाव न होने से असयमी ही कहलाते हैं। सोलहवें स्वर्ग के आगे के देव स्त्री का मुख भी नही देखते तो भी वे ब्रह्मचारी नही कहलाते। उसका कारण यही है कि उन्होंने अभिप्राय पूर्वक स्त्री का परित्याग नहीं किया।

समन्तभद्र स्वामी ने हिंसादि पांच पापों के परित्याग को ही चारित्र कहा है और सकल-विकल के भेद से उसके दो भेद बतलाए हैं। पाच पापों का एकदेश त्याग होने से विकल चारित्र होता है। उसके पांच

अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत के भेद से १२ भेद बतलाये हैं। इनमें पांच अणुव्रत और सात शील कहलाते हैं। जिस प्रकार वाड़ी (बाड़) से खेत की रक्षा होती है, उसी प्रकार सात शीलों से अणुव्रतों की रक्षा होती है। सकल-चारित्र मुनियों के होता है, उसमें पांच महाव्रतों, पांच समितियों और तीन गुप्तियों की प्रधानता है। अतः वह तेरह प्रकार का होता है। पांच समितियां और तीन गुप्तियां अहिंसादि पांच महाव्रतों की संरक्षिका हैं। इनके बिना महाव्रतों का संरक्षण असंभव है।

जिस प्रकार नदी, तीर्थ-घाट से ही पार की जाती है उसी प्रकार संसार रूपी सागर भी तीर्थ-घाट से ही पार किया जाता है, तीर्थ के बिना नहीं। वह घाट रत्नत्रय से सहित मनुष्य पर्याय ही है। जब भी मोक्ष प्राप्त होगा तब कर्मभूमि की मनुष्य पर्याय से ही होगा, देव आदि पर्याय से नहीं। तात्पर्य यह है कि घाट पर आकर यदि कोई नदी में उतरने का भाव नहीं करता है तो यह घाट का अपराध न होकर उस व्यक्ति का ही अपराध समझा जाता है, इसी प्रकार मनुष्य पर्याय प्राप्त करके भी कोई जीव विषयासक्ति से निर्वृत्त नहीं होता है तो यह अपराध उस व्यक्ति का ही है। चारित्र या संयम कर्मभूमिज मनुष्य पर्याय को छोड़कर अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति चारों गतियों में सम्भव है और चारों गतियों की आगामी आयु का बन्ध होने पर भी हो जाता है, परन्तु सम्यक्‌चारित्र की प्राप्ति की बात निराली ही है। वह पूर्णता की अपेक्षा कर्मभूमिज मनुष्य को ही होता है अथवा आगामी पर्याय के लिये मात्र देवायु का बन्ध होने पर ही होता है, अन्य आयु का बन्ध होने पर न अणुव्रत धारण किये जा सकते हैं और न महाव्रत। यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि सम्यक्‌चारित्र प्राप्त कर लेना ही मनुष्य पर्याय का सर्वप्रमुख कार्य है और उसे प्राप्त नहीं किया तो समझना चाहिये—हमने मनुष्य पर्याय का काम नहीं किया।

हम भोगोपभोग की सामग्री अनादिकाल से एकत्रित करते चले आ रहे हैं, परन्तु उसमें पूर्णता नहीं ला सके और न उससे वास्तविक सुख ही प्राप्त कर सके। इसका तात्पर्य यह है कि भोगोपभोग की सामग्री में सुख नहीं है, किन्तु उसकी इच्छा के न होने में सुख है। भोगोपभोग की पूर्णता तो वे शान्ति, कुन्थु और अरहनाथ भी नहीं कर सके जो तीर्थंकर होने के साथ चक्रवर्ती भी थे। उन नौ निधियों के स्वामी भी थे जिनसे इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति होती रहती है। यही कारण रहा है कि वे इन निधियों का परित्याग कर नग्न दिगम्बर मुद्रा के धारक हुए और तपश्चरण कर वास्तविक सुख को प्राप्त हुए।

आचार्य बार बार प्रेरणा करते हैं—देशना देते हैं, कि—

सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान्
धर्माय पापानि समाचरन्ति।
तैलाय बालाः सिकता समूहं
निपीडयन्ति स्फुटमत्वदीयाः ॥

हे भगवन्! जो आपके नहीं हैं—आपकी श्रद्धा से बहिर्भूत हैं वे सुख प्राप्त करने के लिये दुःखों का, गुण प्राप्त करने के लिये दोषों का और धर्म प्राप्त करने के लिये पापों का आचरण करते हैं। उनकी यह चेष्टा उन बालकों के समान है जो तेल प्राप्त करने के लिये बालू के समूह को पेलते हैं।

लोक में प्रसिद्ध है कि जिस व्यक्ति को सर्पदंश का विष चढ़ा हुआ है उसे नीम कड़वी नहीं लगती। इसी प्रकार जिसे मिथ्यात्वरूपी सर्पदंश का विष चढ़ा हुआ है उसे संसार परिभ्रमण के कारण रागादि भाव कड़वे नहीं लगते—दुःखदायक प्रतीत नहीं होते। इसीलिये वह उन्हें संगृहीत करने में संलग्न रहता है। जब आत्मा में श्रद्धा की यह किरण प्रकट होती है कि सुख आत्मा का अनुजीवी गुण है, जब भी प्रकट होगा तब आत्मा में ही प्रकट होगा, जड़ पदार्थों में नहीं। जिस प्रकार श्वान, मुख से निकलने वाले रक्त के स्वाद को

हड्डी का स्वाद समझता है और उसे छोड़ना नहीं चाहता, इसी प्रकार यह अज्ञानी जीव भोगोपभोग की आंशिक इच्छा निवृत्ति को सुख का कारण न मान भोगोपभोग को ही सुख का कारण मानता है और फलस्वरूप उन्हीं की प्राप्ति में निरन्तर संलग्न रहता है।

यह रहस्य, मोह तिमिर-मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के दूर होने पर ही प्रकट होता है, उसके पहले नहीं। कषाय की मन्दता में मिथ्यादृष्टि मनुष्य यदि महाव्रत धारण करता है तो अन्तरङ्ग में भोगोपभोग की लालसा से ही करता है, कर्मक्षय की भावना से नहीं। कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है—

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥

यह अभव्य-मिथ्यादृष्टि जीव, भोग के लिये ही धर्म की श्रद्धा करता है, उसी की रुचि करता है और उसी का बार बार स्पर्श करता है, परन्तु यह सब भोग के निमित्त करता है, कर्मक्षय के निमित्त नहीं। कुन्दकुन्दस्वामी ने इस परणतिवाले जीव को अभव्य कहा है। उनकी इस देशना को सुनकर हम लोगों को विचार करना चाहिये—कहीं ऐसी परिणति मेरी तो नहीं हो रही है। विषयासक्ति का मार्ग तो हमने अनादिकाल से अङ्गीकृत किया है पर उससे तृप्ति नहीं हुई—गन्तव्य स्थान की प्राप्ति नहीं हुई। कविवर दौलतरामजी की निम्नाङ्कित पंक्तियों का प्रशान्त चित्त से विचार कीजिये—

यह राग आग दहै सदा तातैं समामृत सेइये
चिर भजे विषय कषाय अब तो त्याग निज पद वेइये।
कहा रच्यो पर पद में न तेरो पद यहै क्यों दुख सहे
अब 'दौल' होहु सुखी स्वपर रच दाव मत चूको यहै ॥

यह राग रूपी आग सदा से जला रही है—दाह उत्पन्न कर रही है, इसलिये समता रूपी अमृत का पान कर। तू पर पद में क्यों अनुरक्त हो रहा है? तेरा पद तो यह है, व्यर्थ ही क्यों दु.ख उठा रहा है। अब स्वपद में रचकर सुखी हो जा, यह अवसर मत छोड़।

जीव का पद और अपद क्या है? इसका उत्तर अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश में इस प्रकार दिया है—

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥

अर्थात् अनादि संसार से ये प्राणी पद-पद पर रागी हो निरन्तर मत्त होते हुए जिसमें सो रहे हैं, वह उनका पद नहीं है—विश्राम का स्थल नहीं है। अरे अन्धे प्राणियों! जागो, यहां आओ—आओ, यह-यह है तुम्हारा पद, जिसमें अतिशय शुद्धता को प्राप्त हुआ चैतन्य धातु—परम ज्ञायक भाव आत्म रस से पूर्ण हो स्थायिभाव को प्राप्त हो रहा है। तात्पर्य यह है कि राग द्वेष के स्थल तेरे विश्राम के स्थल नहीं हैं, विश्राम का स्थल तो एक ही है—शुद्धज्ञायक भाव। उसी में तू विश्राम कर।

यह जीव सुखी कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार के चारित्राधिकार में दिया है।

"पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छसि दुक्ख परिमोक्खं ।।"

यदि तू दु:ख से सर्वथा छुटकारा चाहता है तो श्रामण्य पद-दिगम्बर मुनि मुद्रा को धारण कर। क्योंकि—

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीस सामण्णे ।
होज्जं समसुह दुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ।।

शाश्वत सुख को वही प्राप्त करता है जो मोह की गांठ को नष्ट कर राग द्वेष को छोडता है तथा मुनिपद धारण कर सुख दु:ख में समताभाव रखता है।

तात्पर्य यह है कि शुद्धात्म स्वरूप का संवेदन करने वाला प्राणी विषयजन्य सुख को हेय समझता है। उसकी दृष्टि मे इन्द्रिय जन्य सुख पराधीन है, बाधा सहित है, बीच-बीच में उसकी सन्तति टूटती रहती है। जिसकी दृष्टि में अक्षय-अनन्त सुख का सागर लहरा रहा है वह गोष्पद में संतुष्ट कैसे हो सकता है ? ज्ञानी और अज्ञानी जीव की सुखानुभूति में बड़ा अन्तर है। ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि नारकी निरन्तर घात-प्रतिघात के बीच रहता हुआ भी जिस आत्म सुख का वेदन कर लेता है वह अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि देव को सुलभ नही है। इसी अभिप्राय से कविवर दौलतरामजी ने कहा है—

"समकित सहित नरक पद वासा खासा बुधजन गीता"

अर्थात् सम्यग्दर्शन के साथ नरकपद भी अच्छा है, उसके बिना देवपद अच्छा नही है। सम्यग्दर्शन का नि:कांक्षित अङ्ग भी यही बतलाता है कि संसार का सुख कर्माधीन है, अन्त सहित है, दु:खों से मिला हुआ है और पापों का मूल कारण है अत: इसमें उपेक्षा बुद्धि होनी चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानी जीव शाश्वत सुख को ही अपना लक्ष्य बिन्दु मानता है। उसकी प्राप्ति के लिये ही सतत प्रयत्नशील रहता है।

श्रमणबेलगोल

❖ धर्म दिवाकर विद्वद्रत्न पं० सुमेरुचन्द्र दिवाकर

[शास्त्री, बी ए, एल एल.बी., न्यायतीर्थ, सिवनी]

श्रमणबेलगोल मैसूर रियासत का अत्यन्त महत्वशाली स्थल है। यह हासन रेल्वे स्टेशन से ३२ मील और मैसूर से करीब ६० मील पर है। बेंगलोर से यह ६० मील के लगभग है। मैसूर के दीवान साहब ने एक बार कहा था कि "सम्पूर्ण सुन्दर मैसूर राज्य में श्रमणबेलगोल सदृश अन्य स्थान नहीं है, जहां सुन्दरता एवं भव्यता का मनोहर सम्मिश्रण पाया जाता हो।"

यह स्थान जैनियो के लिए तो अत्यन्त पूज्य है ही, किन्तु कला के पुजारियों के लिये भी अत्यंत आदरणीय एवं दर्शनीय स्थल है। श्रमणबेलगोल मे जैन श्रमण-तपस्वी भगवान गोमटेश्वर (बाहुबली) की अत्यंत उन्नत और नयनाभिराम मूर्ति विद्यमान है, साथ ही वहाँ का मनोज्ञ कल्याणी सरोवर जो कन्नड़ में बेलगोल कहा जाता है, विशेष आकर्षक है। वहाँ से श्रमण गोम्मटेश्वर का सुन्दर दर्शन नगर-वासियों को होता है, इस प्रकार उस प्रदेश को श्रमणबेलगोल कहना संगत है।

गत महा-मस्तकाभिषेक महोत्सव पर श्रमणबेलगोल जाने का हमें शुभावसर प्राप्त हुआ था। उस समय एक दिन रात्रि को करीब ४ घंटे भगवान बाहुबली की भव्य मूर्ति के शरण में बैठने का सौभाग्य मिला था, तब प्रभु का दर्शन कर चित्त में अनेक कल्पनाये उत्पन्न होती थी, खेद इतना ही था लेखन की सामग्री पास न होने से उन कल्पनाओ को न लिख सका, फिर भी कुछ कल्पनाएं स्मृति-पथ पर विद्यमान ही रही आई। कई बार ऐसा विचार हुआ कि श्रमणबेलगोल के संस्मरण स्वरूप मैं कुछ लिखूं, किन्तु साथ में यह भी विचार होता था, कि यदि पुनः दर्शन करके लिखूं तो विशेष आनन्द प्राप्त होगा। सौभाग्य की बात है, कि बेंगलोर गोमटेश्वर संरक्षणी कमेटी की बैठक में सम्मिलित होने के लिये २१ दिसम्बर को जाना पड़ा अतः दक्षिण के जैन तीर्थों की वन्दना के साथ साथ पुनः भगवान गोमटेश्वर के लोकोत्तर दर्शन का पूर्ण अवसर प्राप्त हो गया।

मै ३ जनवरी को वहाँ पहुंचा। रात्रि को भगवान की मूर्ति पर प्रकाश (Flood Light) व्यवस्था हासन के श्रेष्ठि श्री पुट्टस्वामी तथा उनके पुत्रों की सहायता से

हो गई है, किन्तु जब जब हम वहां पहुँचे तो ज्ञात हुआ कि महायुद्ध के कारण प्रकाश का कार्य बन्द कर दिया गया है, ताकि भावी अनिष्ट की सम्भावना न हो। प्रभु बाहुबली की मूर्ति के दर्शन की तीव्र उत्कंठा थी, अतः हम जैन बैद महा-पाठशाला के एक छात्र को साथ में लेकर पर्वत पर चले गये। उसी समय चन्द्रदेव अपनी चतुर्दश कलाओं से अलंकृत हो उदित हुए थे। जिस पर्वत पर प्रभु विराजमान हैं उसे इन्द्रगिरि, विन्ध्यागिरि अथवा दोड्डबेट (बड़ा पहाड़) कहते हैं। यह जमीन से तो ४७० फीट ऊंचाई पर है, किन्तु समुद्र तट से ३३४७ फीट पर है। पर्वत का व्यास चौथाई मील के लगभग है। नीचे से ऊपर तक पहुंचने के लिए लगभग ५०० सीढ़ियां पहाड़ में ही उत्कीर्ण हैं। प्रवेश द्वार बड़ा आकर्षक है, वहां से पर्वत बड़ा मनोहर दिखाई देता है। अन्य पर्वतों के समान वह भीषण और दुर्गम नहीं दिखाई देता है पाषाण अत्यन्त चिकना और ढाल लिए हुये चित्त को हरा करता है। पर्वत के आसपास की संपूर्ण सामग्री ऐसी है जो नेत्रों को आनन्द एवं शांति प्रदान करती है। हम प्रवेश द्वार में से होकर पर्वत पर चढने लगे। क्षणभर में अर्थात् १० मिनिट के भीतर ही हम गोम्मटेश्वर के समीप पहुँच गए। उस समय चित्तवृत्ति सबसे प्रथम भगवान बाहुबली के दर्शन को आकुलित हो रही थी। अतः आसपास में अन्य अनेक सुन्दर मंदिरों के विराजमान होते हुए भी हम प्रभु के चरण कमलों के दर्शनार्थ सीधे पहुँचे।

उनके चरणों की वंदना के अनन्तर हम एक जगह से उनकी वीतराग मुद्रा का दर्शन करने लगें। उस समय जो आनन्द तथा शांति प्राप्त हुई, वह वाणी के द्वारा प्रकाश मे नहीं लाई जा सकती। पहले हम कुछ स्तोत्र पाठ कर रहे थे, किन्तु भगवान के सौन्दर्य निरीक्षण में चित्तवृत्ति ऐसी लगी कि स्तोत्र पाठ रुक गया। जैसे बहुत दिनों के भूखे व्यक्ति को अमृत तुल्य पदार्थ का आहार प्राप्त हाता है और वह महान आनन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार हमारे नेत्र भी अत्यन्त आसक्ति पूर्वक भगवान का दर्शन कर रहे थे। उस समय यह समझ में आया कि भगवान की रूप-मधुरिमा के पान करने को क्यों इन्द्र महाराज आश्चर्य युक्त हो सहस्र नेत्रधारी बने? वास्तव में जी यही चाहता था कि क्यों नेत्रों के पलक बीच में बन्द होकर व्यवधान करते है और ऐसे सौन्दर्य के सिन्धु को कैसे छोटे से नयन-पात्रों से पीऊं? प्रतीत होता था कि यदि इन्द्र भी दर्शन को आवे, तो वह पुनः सहस्राक्ष बने बिना न रहेगा। विचित्र बात है कि यहां के सौन्दर्य का अगणित रसज्ञ-नेत्रों ने पान किया, किन्तु उस सौन्दर्य के सिन्धु में कोई कमी नही आई, जो सम्भवतः शास्त्रों में वर्णित संसारी जीवराशि के समान कही जा सकती है, जिसमें व्यय होते हुए भी पूर्ण क्षय की कल्पना नहीं की जा सकती।

भगवान बाहुबली महान थे, इस बात को समझने के लिये हमें वहां कल्पनाशक्ति को जोर देने की कोई भी जरूरत नही पड़ती। यदि छोटी सी मूर्ति होती तो हमें यह कल्पना करनी पड़ती है कि इस लघु शरीर में महान आत्मा की स्थापना की गई है। विशालकाय मूर्ति को देखकर स्वयं हृदय उनकी महत्ता का अनुभव करता है। प्रभु बाहुबली यथार्थ में जैसे महान महिमाशाली हुए हैं, उसी प्रकार का भाव उनकी मूर्ति में प्रकट होता है। वृद्ध हो अथवा बालक, अज्ञ हो, अथवा विज्ञ, प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में भगवान की महान् महत्ता अंकित हो जाती है और वह लघुता का अनुभव करता है और बड़ा बनने की आकांक्षा करता है।

प्रभु का दर्शन करते समय यह विचार ही नहीं आता है कि यह मूर्ति है, प्रतिबिम्ब है, अचेतन है, इसमें वीतराग प्रभु की स्थापना की गई है। हृदय तो यह अनुभव करता है कि मूर्ति सजीव है, साक्षात् गोम्मटेश्वर है। दर्शन करते हुए क्षणभर नेत्रों को बन्द करने पर ऐसा अनुभव होता है मानों योगीश्वर बाहुबली के साक्षात् सम्पर्क मे हों।

कभी यह भी भाव उत्पन्न होता था कि मूर्ति में ही जब भावों को प्रभावित करने की सामर्थ्य है तब फिर साक्षात् कामदेव भगवान बाहुबली का जिन-मुद्रा धारण करने पर कितना न असर पड़ता होगा?

यही भाव महाकवि शेक्सपियर के पद्य में शब्दमात्र के परिवर्तन द्वारा प्रस्तुत प्रसंग के लिये स्व० जस्टिस जुगमन्दरलाल जैनी ने लिखा है—

Ah me how sweet Jina itself possessed, When but Jina's shad ws are so rich in joy.

"अहा ! स्वरूप में निमग्न जिनेन्द्र कितने मनोहर न होंगे, जबकि उनकी छायामात्र इतने आनन्दरस से परिपूर्ण है।" हजार वर्ष के लगभग जिस मूर्ति को प्रतिष्ठित हुए व्यतीत हो गए, वह आज भी देखने में नवीन सरीखी मालूम होती है। मैसूर में कुछ प्रोफेसर दर्शनार्थ अनेक बार आए। हाल ही दर्शन कर लौटते समय कहने लगे 'ऐसा प्रतीत होता है कि ५-७ वर्ष पूर्व मूर्ति का निर्माण हुआ होगा। साधारण दृष्टि से देखने पर तो यह मालूम पड़ता है कि कुछ ही दिन पूर्व प्रतिमा बनाई गई होगी।'

मूर्ति का प्रत्येक अंग नवीनता के अमृतरस से परिपूर्ण मालूम होता है। जितने बार भी दर्शन करो, वह सदा दर्शनीय ही रहती है। प्रभु के दर्शन करने से प्रतीत होता है, कि वास्तव में जो रमणीय वस्तु होती है उसके सौन्दर्य का भण्डार अक्षय होता है। संस्कृत के कवि का यह कथन यहां अक्षरशः चरितार्थ होता है कि—

"पदे पदे यन्नवतामुपैति, तदेव रूपं रमणीयतायाः"

'पद पद में जिसमें नवीनता पाई जाती है, वही रमणीयता का स्वरूप है'।

अंग्रेज कवि कीट्स (Keets) की उक्ति भी गोमटेश्वर स्वामी का दर्शन करने पर पूर्ण संगत मालूम होती है। वह कहता है—

A thing of beauty is a joy for ever, Its loveliness increases, it will never pass into nothingness.

'सौन्दर्य सम्पन्न पदार्थ सतत् आनन्द प्रदान करता है। उसकी रमणीयता बढ़ती है और कभी भी उसका अभाव नहीं होता।'

हमारा अनेक बार का अनुभव है कि गोमटेश्वर स्वामी का बार-बार निरीक्षण करने पर भी सदा नवीनता विद्यमान रहती है, इसीसे पुनः पुनः दर्शन करके चित्त तृप्त नहीं होता। हमने ता० ३ की रात्रि को प्रभु का बहुत समय तक दर्शन किया, जबकि चन्द्रदेव अपनी विमल चंद्रिका से ज्योतिर्मय भगवान का अभिषेक कर रहे थे। ता० ४ को प्रभात से मध्याह्न तक भी हमने चार-पांच घन्टे दर्शन किये जबकि सूर्य-प्रकाश से भगवान की छवि का पूर्णतया दर्शन होता था। ता० ५ को भी हमने प्रभु का दर्शन किया, किन्तु दर्शन की पिपासा शांत नहीं हुई। मूर्ति का सौन्दर्य और नवीनता पूर्ववत् ही दिखाई देती थी।

इन्द्रगिरि-शिखर पर निराश्रय स्थित ५७ फीट ऊंची भगवान की मूर्ति के पृष्ठभाग में आकाश की नीलिमा बहुत भोली मालूम पड़ती है। सूर्य का आना तथा जाना, चन्द्रमा का नक्षत्र-मलिका सहित उदित होना और अस्ताचलगामी होना यह बताते हैं मानो प्रकृति देवी अपने तेजस्वी प्रकाशपुन्जों से भगवान की नीराजना-आरती करती हो।

न मालुम वहां कितनी जाड़ा-गर्मी-वर्षा ऋतुओं का आगमन हुआ, किन्तु गोमटेश्वर अपने प्राकृतिक रूप से सदा विद्यमान हैं। आसपास की क्षण-भंगुरता प्रकृति में परिवर्तन का तमाशा सदा दिखाता है, किन्तु अविनाशी आनन्द के अधिपति प्रभु में कोई चंचलता या क्षण-भंगुरता का दर्शन नहीं होता। उनकी वही शांत गम्भीर-आत्मनिमग्न-मुद्रा, आत्म-विजय, काम-विजय तथा स्वाधीनवृत्ति को प्रकाशित करती है। उनके नेत्र यद्यपि खुले हुए हैं, किन्तु उनके सूक्ष्मदर्शन से प्रतीत होता है कि भगवान बहिर्जगत को देखते हुए भी अंतर्द्रष्टा के रूप में विद्यमान हैं। उनके नेत्र स्वयं अनेकांत दृष्टि के भाव को व्यक्त करते हैं। यह पता नहीं चलता कि गोमटेश्वर चुपचाप

खड़े होकर सामने क्या देख रहे हैं ? मालुम पड़ता है कि उनकी अविचल दृष्टि सर्वांगीण अविनाशी सत्य को देख रही है। ओठों पर स्मित की सूक्ष्म आभा दीखती है, जो संभवतः उनके चिद्रूप दर्शन से उत्पन्न आत्मानन्द की उद्भूति ही है। वह स्मित सदा विद्यमान रहता है। भयंकर वर्षा, तीव्र शीत एवं भीषण उष्णता उस स्मित पर कुछ भी असर नहीं पहुँचाती, कारण वह अविनाशी आत्मा के स्वाभाविक आनन्द का उद्योतक है और बाह्य सामग्रियां उस प्रभु के शक्ति-रस पान में बाधा नहीं पहुंचा सकती, क्योंकि वह आत्म-निमग्नता योगीश्वरों के भी आराध्यदेव भगवान गोमटेश्वर की है।

दिशा की अपेक्षा मूर्ति उत्तरमुखी कही जाती है, किन्तु गुण आदि की दृष्टि से वह अनुत्तर है। उनकी शांत मुद्रा, क्रोध, मान, माया, लोभ, काम, भय, शोक, मोह, क्षुधा, तृषा, मृत्यु आदि विकारों के विजेतापने को घोषित करती है।

आज का विश्व अनेक व्याधियों में, विविध आपत्तियों में निमग्न होकर पीड़ा के कारण कष्ट पा रहा है। वह यदि भगवान गोमटेश्वर के चरणों का आश्रय ले, तो उसे प्रभु की मौनी मूर्ति यह उपदेश देगी कि यदि तुम्हें शांति चाहिये, तो मेरे पास आ जाओ और मेरे समान जगत के मायाजाल का त्यागकर प्रकृति प्रदत्त मुद्राको धारण करो। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का परित्याग करो देखें तुम्हारा दुःख कैसे दूर नहीं होता है ? जब गोमटेश्वर के चरणों के समीप बैठने से दुःख ज्वाला शांत होती है, तब उनकी मुद्रा को धारण करके उनके मार्ग पर चलने से क्यों न दुःखों का क्षय होगा ?

प्रकृति की मौन वाणी को समझने की जिसे योग्यता प्राप्त है वह जान सकता है कि प्रभु की मूर्ति कितनी अमूल्य शिक्षायें प्रदान करती है। प्रकृति का उपासक कवि वर्ड्सवर्थ तो यह कहता है कि—

"One impulse from a vernal wood teaches me more of moral good and bad than all the sages can."

"बसंत-श्री-संपन्न वन से प्राप्त भावना मेरे हृदय को इतना शिक्षित करती है कि जितनी शिक्षा-नैतिक युग का परिज्ञान बड़े-बड़े साधुओं के द्वारा नहीं प्राप्त होता है।"

जिस व्यक्ति की आत्मा प्रकृति से शिक्षा प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त कर चुकी है, वह, शेक्सपियर के शब्दों में—

"Book in the brooks, sermons in stones and good in every thing"

"बहने वाले झरनों में ग्रन्थों को, पाषाणों में धर्मोपदेशों को एवं प्रत्येक वस्तु में भली बातों को पाता है।"

गोम्मटेश्वर स्वामी का दर्शन करने वाला प्रत्येक विचारशील व्यक्ति उनकी मौनी मुद्रा से बहुत कुछ सीखकर आता है और इतना अधिक सीखता है, कि उनकी वीतरागता की छाप हृदय-पटल पर सदा अंकित रहती है। उनके दर्शन से यह बात समझ में आ जाती है कि वीतराग भावों से पूर्ण दिगम्बर मुद्रा सर्वत्र शांति तथा निर्विकारता का साम्राज्य उत्पन्न करती है। पूज्यपाद स्वामी के शब्दों में कहना होगा कि वाणी के बिना प्रयोग किये वे आकृति से ही मोक्षमार्ग का उपदेश देते रहते हैं।'

शिक्षा-मर्मज्ञों का कथन है कि चित्रों के द्वारा भी बहुत शिक्षा दी जा सकती है। इस बात का प्रशस्त उदाहरण गोम्मटेश्वर स्वामी की मूर्ति है, कि जिनके दर्शन से पुण्यवृत्तियों का अनायास एवं स्थायी उपदेश प्राप्त होता है। जिस प्रकार चुम्बक लोहे को अपने पास आकर्षित करता है। उसी प्रकार वीतराग प्रभु की मूर्ति दर्शकों के चित्तों को अपनी ओर आकर्षित करके अपनी गहरी मुद्रा अंकित कर देती है। कैसा ही मलिन

मनोवृत्ति वाला मानव उनके दर्शन को जावे उसके हृदय में उज्ज्वल विचारों का प्रकाश फैले बिना नहीं रहेगा। जो जैनधर्म की आदर्श पूजा के भाव को समझना चाहते हैं वे एक बार भगवान के दर्शन करें तब उनको विदित होगा, कि यहां आदर्श के गुणों की आराधना किस प्रकार की जाती है।

भगवान बाहुबली लोकोत्तर पुरुष थे। उन्होने चक्रवर्ती भरत को जीत लिया था और अन्त में साधु वेश अंगीकार किया था। उनके प्रतिबिम्ब में भी विश्वविजयीपने का भाव पूर्णतया अंकित मालूम पड़ता है, यही कारण है, कि बड़े-बड़े राजा-महाराजा तथा देश-विदेश के प्रमुख पुरुष प्रभु की प्रतिमा के पास आते और अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

संसार में कठिन होने के कारण पाषाण को अभिमान का प्रतीक बताते हैं। वही मान का उदाहरण कहा जाने वाला पाषाण, जब प्रभु की अनुपम मुद्रा से अंकित हो गया, तो वह मानका नाशक एवं मार्दव भाव का उद्बोधक कहा जाने लगा। क्या यह अनुपम बात नहीं है? उन प्रभु की दृष्टि जहां पडती है वहां समता और मृदुता का प्रकाश फैला मालूम होता है इसी भाव को उद्योतित करने के लिए विध्यागिरि के सामने की पाषाण राशि एवं चन्द्रगिरि का प्रस्तर-समूह स्निग्ध एव चिकना बन गया और उसका ऊंचा-नीचापना दूर होकर उसमें भी समता एवं सौदर्य का वास हो गया।

भगवान बाहुबली का प्रभाव और प्रताप त्रिभुवन में विख्यात था। प्रतीत होता है, कि इसी कारण उस पाषण पिण्ड ने कठोर होते हुए भी मृदुता धारण की है और कुशलशिल्पी ने जहां जैसा भाव अंकित करना चाहा वहाँ उसको अनुकूलता प्रदान की। तभी तो ऐसी भावमयी मूर्ति का निर्माण हुआ जो मनुष्यों की तो बात ही क्या, देवताओं के द्वारा भी वन्दनीय एवं दर्शनीय है।

भगवान के दर्शन करते हुए उक्त शका का समाधान हमें इस रूप मे प्राप्त हुआ कि—यदि बाहुबली स्वामी ने दीक्षा न ली होती तो क्या होता? भले ही बाहुबली ने भरतेश्वर को पराजित कर दिया था, फिर भी भरत महाराज के चित्त में न्यायानुसार राज्य देने की भावना नही थी। तभी तो उन्होने हार जाने पर भी बाहुबली पर चक्र का प्रहार किया था। यह दूसरी बात है कि वह चक्ररत्न कुटुम्बी होने के कारण बाहुबली स्वामी का कुछ न कर सका। इस घटना से बाहुबली को भरत के अन्तःकरण को समझने का मौका मिल गया। उन्होने सोचा और समझा यदि मैं राज्य करना चाहता हूँ तो भरत के साथ सदा कलह हुआ करेगी, इससे मुझे मेरी प्रिय शान्ति नही मिलेगी और हमारे पिता भगवान आदिनाथ को भी लोग बुरा भला कहेगे। तथा उपहास करते हुए कहेगे, कि 'उनके पुत्र बहुत अयोग्य निकले, कि जो बन्धुत्व को छोड़कर पतित प्राणियों की तरह निरन्तर झगड़ते है।' इस तरह राज्य धारण मे न मुझे शांति लाभ होगा, और न पिता की कीर्ति का ही रक्षण होगा। अतः वे सोचने लगे, कि ऐसा मार्ग अंगीकार करना चाहिये, जिससे शांति लाभ हो, कीर्ति का रक्षण हो और भरत की भी अभिलाषा पूर्ण हो, आखिर यह मेरा ही ज्येष्ठ भाई है। इन सब बातों की प्राप्ति एक राज्य परित्याग से हो सकती है। भरत राज्य को बहुत भला ही मानते हों, किन्तु बाहुबली की दृष्टि मे राज्य बहुत चिंता का बढाने वाला ही था। यही कारण है, कि जब भरत का दूत बाहुबली के समीप यह कहने को पहुँचा, कि आप भरत की आधीनता स्वीकार कर लीजिये, तब बाहुबली ने कुशल क्षेम की चर्चा करते हुए पूछा था—"बहु चिन्त्यस्य चक्रिणः कुशलं किम्?" अधिक चिंताओ से लदे हुए चक्रवर्ती की कुशल तो है न? यहां 'बहुचिन्त्यस्य' शब्द के द्वारा बाहुबली की आत्मा को आचार्य ने पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है, कि वे राज्य को आनन्द का साधन न मानकर उसे भार रूप तथा चिंता का कारण समझते थे। उनकी मनोवृत्ति का एक अंग्रेज कवि भी इस प्रकार समर्थन करता है—

"Uneasy lies the head that wears a crown."

'जिसके मस्तक पर राजमुकुट विराजमान रहता है, वह सदा बेचैनी का अनुभव करता है।' बाहुबलि राज्यवृद्धि को आकुलता का वर्धन अनुभव करते थे, इसीसे जहाँ उनके भाई भरत राज्य पर राज्य जीतते करते जाते थे, वहाँ बाहुबली अपने पोदनपुर में पूर्णतया सन्तुष्ट थे और उनके चित्त में साम्राज्य वृद्धि की लालसा नहीं थी। यदि बाहुबली का आत्मगौरव संकट में न आता तो वे भरत के साथ युद्ध के लिए भी तैयार न होते। भरत के साथ युद्ध करने में बाहुबली की राज्य-कामना कारण नहीं थी, किन्तु अपने दायित्व तथा वीरत्व की मर्यादा का संरक्षण करना था। अपने गौरव की रक्षा करते हुए साम्राज्य की प्राप्ति आनुषंगिक फल था। इस कारण बाहुबलि ने क्षण-भर में यही गम्भीर विचार किया कि मेरे लिए अपनी शांति और कुल के गौरव की रक्षार्थ सम्मानपूर्ण तथा कल्याणप्रद एक ही मार्ग है और वह यह कि मैं राज्य के संकीर्ण क्षेत्र से निकल कर प्राकृतिक दिगम्बर-मुद्रा धारण करूँ और विश्व मैत्री का अनुभव करूँ।

भगवान बाहुबली के दीक्षा लेने को इस प्रकार भी युक्तियुक्त बताया जा सकता है कि संसार के पदार्थों का कुछ ऐसा स्वभाव है, कि उन्हें जितना-जितना भोगो उतनी उतनी तृष्णा की वृद्धि होती जाती है। इस सम्बन्ध मे अग्नि और ईंधन का उदाहरण प्रसिद्ध है। जब बाहुबली ने षट्खण्ड विजेता भरत को पराजित कर दिया तब उनकी जयाकांक्षा और बढ़ गई तथा उनकी इच्छा विश्व-विजयी बनने की हुई। चारों दिशाओं में दृष्टिपात करने पर उनको कोई शत्रु नहीं दिखाई दिया, किन्तु जब अन्तःकरण में दृष्टि गई तो एक नहीं अपरिमित शत्रुओं का महाशत्रुओं का समुदाय देखा, जो मोह के नेतृत्व में इस आत्मा के गुणों का नाश कर इसे सदा दुःख दिया करते थे। उस समय वीर-शिरोमणि बाहुबली का पौरुष जागा। उनने सोचा, यदि मैंने इन शत्रुओं का दमन न किया, तो मेरा वीरत्व वृथा है। अतः जयशील बाहुबली ने पाप वासनाओं को निर्मूल करने के लिये विशाल साम्राज्य का त्याग किया और एक आसन से खडे होकर कर्मों का नाश करने के लिये घोर तपश्चर्या आरम्भ कर दी, और अन्त मे कैवल्य का लाभ करके "कर्मारिविजयी जेता" की प्रतिष्ठा प्राप्त की। अतः यह विचार भी संगत प्रतीत होता है, कि विश्व विजेता बनने के लिये बाहुबली स्वामी ने साम्राज्य का परित्याग किया।

यह भी कहा जाता है, कि जब भरत ने राज्य की ममता के कारण नीति-मार्ग के विपरीत बाहुबली पर चक्र-प्रहार कर उनके प्राण लेने का भाव व्यक्त किया तब सहज-विरक्ति ने जन्म लिया कि "धिक्कार है, इस राज्य-तृष्णा और भोगाकांक्षा को, जिसके कारण भाई भाई के प्राणों का ग्राहक बनता है।" यथार्थ में सांसारिक विभूतियों में एक न एक आपत्ति लगी रहती है। सच्ची निर्भीकता तो वैराग्य भाव में ही प्राप्त होती है—'वैराग्यमेवाभयम्।" उनके करुणापूर्ण अन्तःकरण में यह विचार उत्पन्न होना सम्भव है कि मैंने व्यर्थ ही नश्वर राज्य के पीछे अपने जयशील चक्रवर्ती बनने वाले भाई की आशाओं पर पानी फेर दिया और उनके संताप का कारण बन बैठा। ऐसे ही कुछ सत्कारण थे जिनने विजयी बाहुबली के अंतःकरण को प्रभावित किया प्रकाशित किया और इसीसे उन्होने उस मुद्रा को धारण किया, जो प्रकृति से प्राप्त है, जिससे सम्पूर्ण विश्व अंकित देखा जाता है, और जो निर्विकारता तथा पूर्ण पवित्रता को प्रकट करती है।

भगवान के शरीर पर माधवीलता और सर्प आदि का समूह इस बात को ज्ञापित करते हुए प्रतीत होते हैं कि अब बाहुबली मानव समाज के प्रेम-पात्र नहीं हैं, वे तो जीवमात्र के हितैषी हो गये, इसीलिये हर प्रकार के प्राणी उनके प्रति आत्मीय भाव धारण कर अपना स्नेह व्यक्त करते हैं।

ऐसा भी विचार आता है कि माधवीलता और सर्पराज उन पुण्य और पाप वासनाओं के उद्योतक है, जिनको बाहुबली ने वीतराग, वीत द्वेष बनने के कारण अपने अन्तःकरण से बाहर निकाल दिया है। अतएव वे बाहर ही विद्यमान रहकर उनका संसर्ग नहीं छोड़ना चाहते हैं।

हमारे चित्त में एक प्रश्न उत्पन्न हुआ कि महाराज चामुंडराय ने ही यदि भगवान की मूर्ति का निर्माण करवाया, यह इतिहासज्ञों की मान्यता सत्य है तब चामुंडराय ने बाहुबली की मूर्ति को क्यों पसन्द किया

वे चाहते तो आदि ब्रह्मा भगवान ऋषभदेव की या अन्य तीर्थंकर परमदेव की मूर्ति बनवाकर धर्म की महिमा प्रकाशित करने के साथ-साथ अपनी आत्मा का भी कल्याण कर सकते थे। आखिर तीर्थंकर का पद विशेष महत्व का है, इसे सभी स्वीकार करते हैं।

तत्काल ही इसका समाधान यह सूझ पड़ा कि—मूर्ति का निर्माण कराने वाला व्यक्ति महान सैनिक था, इसी से उसको समरमार्तण्ड, वैरिकुलकालदण्ड आदि क्षत्रियोचित पदों से अलंकृत किया जाता था। वह बाहुबली के समान पराक्रम, शक्ति तथा मनोवृत्ति चाहता था। जिस प्रकार बाहुबली ने अपने पराक्रम एवं बाहुबल से चक्रवर्ती तक को पराजित कर दिया और अन्त में जिनेश्वरी मुद्रा धारण कर कर्मचक्र को निर्मूल किया, उसी प्रकार चामुंडराय भी अत्यन्त समुल्लत शत्रु को परास्त करके कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्ति की कामना करता था। इससे बाहुबली का आदर्श चामुंडराय के लिए अत्यंत आकर्षक था।

आचार्य विद्यानन्दि ने कहा है—'जो जिसके गुणो की प्राप्ति की आकांक्षा करता है वह उसकी वन्दना करते हुए देखा जाता है। इसो नियम के अनुसार लौकिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र के सफल सैनिक बाहुबली के आदर्श को अपना लक्ष्य बनाना चामुंडराय जैसे सैनिक के लिए अत्यंत उपयुक्त तथा संगत था। इसी कारण उसने शिल्पी को बाहुबली की अनुपम मूर्ति बनाने को कहा। मूर्ति की अलौकिकता को देखकर प्रतीत होता है कि उसने शिल्पी को यह प्रेरणा अवश्य की होगी, कि जैसे इस कल्पकाल मे बाहुबली की विजय का इतिहास एक अनूठी घटना है उसी प्रकार उनकी मूर्ति भी इतनी अपूर्व हो जो संसार भर को विस्मय सागर में निमग्न कर दे। हुआ भी ऐसा ही, महाराज चामुंडराय की मनोकामना शतप्रतिशत पूर्ण हुई। इसीसे सिद्धांतचक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य, अपने गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे इस मूर्ति के निर्माता चामुंडराय (गोमट्टराय) को आशीर्वाद देते हुए लिखते हैं—

जेण विणिम्मिय-पडिमा-वयणं सव्वट्ठ सिद्धि देवेहिं।
सव्वपरकोहि-जोगेहिं दिट्ठं सो गोम्मटो जयउ ॥

अर्थात् जिसके द्वारा निर्मापित को गई मूर्ति के मुख का सर्वार्थसिद्ध के देवों और परमावधि-सर्वावधि ज्ञान के धारक योगीन्द्रों ने दर्शन किया है वह गोम्मटराजा[१] जयवन्त हो।

इस अप्रतिम सौन्दर्य—समन्वित प्रतिमा को देखकर कभी तो चित्त चामुण्डराय के महत्व एवं सौभाग्य की ओर आकर्षित होता है, कभी उस शिल्पी को और जिसके मस्तक में सबसे पहले गोम्मटेश्वर को लोकोत्तर काल्पनिक चित्र आया, और जिसने अपनी कला के द्वारा ऐसी मूर्ति उस पाषाण पिण्ड में से निकाल दी, जैसी कि आज तक लोगों के देखने सुनने में भी अन्यत्र नही आई। आज शिल्पी के नाम का पता नही है, किन्तु अमर कलामय कृति करके वह वास्तव में अमर हो गया। उसकी पवित्र कला के प्रति सम्पूर्ण विचारक अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते है। वैसे तो अपूर्व कला की अन्य वस्तुयें भी विश्व-विख्यात हैं, किन्तु इस मूर्ति निर्माण की कला को कोई नहीं पाता है। इस प्रकार की उज्ज्वल तथा जीवन में निर्मलता की पुण्य धारा बहाने वाली चमत्कारपूर्ण कलामयकृति और कहां है? यहाँ हमें अन्य वस्तु के साथ उपमान-उपमेय-भाव का सम्बन्ध करना असंगत प्रतीत होता है और यह कहना पड़ता है कि गोम्मटेश्वर की मूर्ति गोम्मटेश्वर के समान है। जब अन्य तत्तसदृश वस्तु ही नही तब तुलना किसके साथ की जाये। अतः अतुलनीय कहना पूर्णतया संगत है।

कहते हैं कि जिस कलाकार ने इस कलामय मूर्ति का निर्माण किया था वह लगभग १२ वर्ष तक अत्यंत पवित्रता के साथ रहा था और उसने उच्च सात्विक जीवन बिताया था। उसकी सच्ची पवित्र साधना को इतनी सफलता मिली कि उसकी महिमा के लिए शब्द नहीं है।

१. चामुंडराय का खास नाम 'गोम्मट' होने से उनके आराध्य बाहुबली को "गोम्मटेश्वर" (गोम्मट का ईश्वर) कहते हैं।

गोमटेश्वर के समीप आने पर मस्तक सदा उन्नत रहता है, चित्त में किसी प्रकार की चिन्ता या भीति नहीं रहती, घरेलू आकुलताएँ नहीं सतातीं।[1] ठीक है महान् आत्मा का आश्रय पाकर कौन महान नहीं बनता है? गोम्मटेश्वर के चरणों के समीप बैठने पर ऐसा प्रतीत होता है मानों हम सब प्रकार की झंझटों से मुक्त होकर ऐसे आश्रय को प्राप्त कर चुके हैं जहाँ भविष्य में कोई आपत्ति की आशंका नहीं है।

फर्गुसन महाशय का कथन है कि—"मिश्र देश के सिवाय संसार भर में अन्यत्र इस मूर्ति से अधिक विशाल और प्रभावशाली मूर्ति नहीं है। मिश्र में भी कोई मूर्ति इससे ऊंची नहीं है।"

डा० कृष्ण एम० ए०, पी-एच० डी० लिखते हैं—"शिल्पी ने जैनधर्म के सम्पूर्ण त्याग की भावना इस मूर्ति के अंग-अंग में अपनी छैनी से पूर्णतया भर दी है। मूर्ति की नग्नता जैनधर्म के सर्वत्याग की भावना का प्रतीक है। एकदम सीधे और मस्तक ऊंचा किये खड़ी इस प्रतिमा का अंग विन्यास पूर्ण आत्म-निग्रह को सूचित करता है। ओठो की दयामयी मुद्रा से स्वानुभूत आनन्द और दुःखी दुनियां के साथ सहानुभूति व्यक्त होती है।

गोम्मटेश्वर की मूर्ति कवियों, भावुक हृदयों के लिए सदा नवीन कल्पनाओं को प्रदान करती है। बारहवीं सदी के विद्वान बोप्पण पंडित ने 'नक्षत्रमालिका' नाम की २७ पद्यमय कविता द्वारा भगवान का गुण-कीर्तन कन्नड़ भाषा में किया है। इसके एक पद्य में कवि बड़ी मार्मिक बात कहता है कि--

"अत्यन्त उन्नत आकृति वाली वस्तु में सौन्दर्य का दर्शन नहीं होता है। जो अतिशय सुन्दर वस्तु होती है वह अतीव उन्नत आकार वाली नहीं होती है, किन्तु गोमटेश्वर की मूर्ति में यह लोकोत्तर विशेषता है कि अत्यन्त उन्नत आकृतिधारी होने पर भी अनुपम सौन्दर्य से विभूषित है।"

यथार्थ में महिमाशाली भगवान गोम्मटेश्वर का जितना भी वर्णन किया जाय थोड़ा है। उनके दर्शन का आनन्द स्वानुभव का विषय है, जिसे मनुष्य कभी भी भूल नहीं सकता।

इस प्रसंग में हमें महाकवि भगवज्जिनसेनाचार्य की भगवान् बाहुबली को लक्ष्य करके लिखी गई यह अमर उक्ति स्मरण हो आती है कि—

जयति जयिनमेनं योगिनं योगिवर्यैः, अधिगतमहिमानं मानितं माननीयैः।
स्मरति हृदि नितान्तं यः सशान्तान्तरात्मा, भजति विजय लक्ष्मीमाशु जैनीमजय्याम्॥

जग में जयशील योगीश्वरों के द्वारा जिनकी महिमा परिज्ञात है, आदरणीय व्यक्तियों के द्वारा सम्मानित इन योगिराज बाहुबली भगवान को जो हृदय में वारम्बार स्मरण करता है, उसकी आत्मा शांत अन्तःकरण वाली होती हुई जैनेश्वरी तथा अजेय विजय श्री को प्राप्त करती है।"

गोम्मटेश्वर बाहुबली का दर्शन कर लौटे हुए कई दिन बीत गए, किन्तु वह पुण्यस्मृति सदा ही चित्त में बनी रहती है। उन बाहुबली प्रभु के चरणों को परोक्ष प्रणाम है।

---

१. कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ऐसे ही प्रदेश की कामना अपनी गीतांजलि में व्यक्त करते हैं—

Where the mind is without fear and head is held high,
Where knowledge is free,
Where the world has not been broken upin to fragments by narrow domestic walls.......
.......Into that heaven of freedom, my father let my country awake (Gitanjali)

आचार्य अमृतचन्द्र

❖ सिद्धांताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री
[वाराणसी]

आध्यात्मिक विद्वानों में आचार्य कुन्दकुन्द के बाद यदि किसी का नाम लिया जा सकता है तो वे आचार्य अमृतचन्द्र हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार में जिस अध्यात्मरूपी अमृत को निबद्ध किया था उसे आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी टीकाओं के द्वारा उसी प्रकार प्रवाहित किया जिसप्रकार वीरप्रभु की वाणी को गौतम गणधर ने प्रवाहित किया था। यदि आचार्य कुन्दकुन्द अध्यात्म तीर्थंकर थे तो अमृतचन्द्र अध्यात्मगणधर थे। यह विदित है कि गणधर की उपलब्धि न होने से वीरप्रभु की दिव्यध्वनि नहीं खिर सकी थी। उसी तरह जब तक अमृतचन्द्र जैसे व्याख्याता उपलब्ध नहीं हुए तब तक कुन्दकुन्द की अध्यात्मवाणी भी उनकी कृतियों में ही अवरुद्ध रही, और किसी ने कुन्दकुन्द का स्मरण तक नहीं किया, किन्तु अमृतचन्द्र के द्वारा टीकाएं निर्मित होते ही कुन्दकुन्द जैनाकाश में सूर्यवत् प्रकाशमान हो उठे। वे मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय के प्रवर्तक माने गये। प्रायः सब भट्टारक पन्थों ने उन्हें अपना गुरु माना। उसी समय के आसपास इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार[1] में इस रहस्य को उद्घाटित किया कि आचार्य कुन्दकुन्द ने षट्खण्डागम के आद्य तीन खण्डों पर प्रथम टीका रची थी। तथा देवसेन ने अपने दर्शनसार[2] में लिखा कि यदि आचार्य पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द) विदेह में जाकर सीमन्धर स्वामी से ज्ञान प्राप्त करके प्रबुद्ध न करते तो श्रमण कैसे सुमार्ग में गमन करते।

---

१. एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगत. समागच्छन्।
गुरुपरिपाट्या ज्ञात. सिद्धान्त. कुण्डकुन्दपुरे ॥१६०॥
श्री पद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादश सहस्र परिमाणः।
ग्रन्थपरिकर्मकर्ता षट्खण्डाद्य त्रिखण्डस्य ॥१६१॥ [श्रुतावतार]

२ जइ पउमणंदिणाहो सीमंधर सामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥ [दर्शनसार]

उक्त सब घटनाएं प्रायः दसवीं शताब्दी से सम्बद्ध हैं, किन्तु अमृतचन्द्र ने तो अपनी टीकाओं में न तो अपने सम्बन्ध में ही कुछ लिखा और न कुन्दकुन्द का ही नामोल्लेख तक ही किया। उनकी रचनाओं के अन्त में अपनी कृति के भी प्रति अन्यमनस्कता ही वह प्रकट करते हैं। समयसार की टीका के अन्त में वह कहते हैं—

'स्वशक्तिसंसूचितवस्तु तत्त्वै:
व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति
कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ॥'

'अपनी शक्ति से ही वस्तु तत्त्व को सम्यक् रूप से सूचित करने वाले शब्दों ने ही समयसार की यह व्याख्या की है। अपने स्वरूप में प्रविष्ट अमृतचन्द्रसूरि के लिये कुछ भी करणीय नहीं है।'

प्रवचनसार की टीका के अन्त में लिखा है—

'व्याख्येयं किल विश्वमात्मसहितं व्याख्या तु गुम्फे गिराम्
व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाज्जनो वल्गतु।
वल्गत्वद्य विशुद्धबोधिकलया स्याद्वादविद्याबलात्
लब्ध्वैकं सकलात्मशाश्वतमिदं स्वं तत्त्वमव्याकुलः ॥'

'आत्मा सहित विश्व व्याख्या करने के योग्य है। वाणी का गुम्फन व्याख्या है और व्याख्याता अमृतचन्द्र सूरि है, ऐसा मोहवश होकर लोग नाचे नहीं। निर्मल ज्ञान कला के प्रकाश से स्याद्वाद विद्या के बल से इस एक समस्त शाश्वत स्व तत्त्व को प्राप्त करके निराकुल होकर नाचो।' अर्थात् प्रवचनसार का अर्थ अमृतचन्द्र सूरि ने किया है ऐसा कोई न समझना। यह तो स्वतः सिद्ध है। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय और तत्त्वार्थसार के अन्त में भी दूसरी प्रकार का कथन पाया जाता है।

आचार्य अमृतचन्द्र की रचनाएं :

अमृतचन्द्रजी ने तीन टीका ग्रन्थों के सिवाय दो स्वतंत्र ग्रन्थ भी रचे हैं। उनमें से एक है पुरुषार्थ सिद्धयुपाय और दूसरा तत्त्वार्थसार। इनमें से प्रथम श्रावकाचार है और दूसरा है तत्त्वार्थसूत्र का सार जैसा उसके नाम से प्रकट है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय नाम ही उसके रचयिता के वैशिष्ट्य को सूचित करता है। इस पर समयसार की स्पष्ट छाप है। इसके प्रारम्भ में ही निश्चय और व्यवहार को क्रमशः भूतार्थ और अभूतार्थ बतलाकर कहा है कि प्रायः समस्त संसार भूतार्थ के ज्ञान से विमुख है। मुनीश्वर ना समझ को समझाने के लिये ही अभूतार्थ व्यवहारनय का उपदेश देते हैं। जो केवल व्यवहार को ही जानता है वह उपदेश का पात्र नहीं है। जैसे जिसने सिंह को नहीं देखा वह बिल्ली के समान सिंह होता है ऐसा सुनकर बिलाव को ही सिंह मानने लगता है उसी प्रकार निश्चय को न जानने वाला व्यवहार को ही निश्चय समझ बैठता है, किन्तु जो व्यवहार और निश्चय को जानकर तात्त्विकरूप से मध्यस्थ रहता है वही शिष्य उपदेश के सम्पूर्ण फल को प्राप्त करता है।'

ये वचन परमागम को समझ कर उसके द्वारा कल्याण करने के लिये सूत्ररूप हैं। इन्हें हम परमागम का सार भी कह सकते हैं। इनसे ऐसा प्रतीत होता है कि अमृतचन्द्रजी ने समयसार का अवगाहन करने के पश्चात् इस श्रावकाचार को रचा है, जो आज समयसार को पढ़कर श्रावकाचार को बन्ध का कारण होने से हेय मान बैठते हैं उन्हें इससे शिक्षा लेना चाहिये।

यतः मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है। और जो सम्यक्चारित्र का एक देश पालन करता है वह श्रावक होता है। अतः उसी के अणुव्रतादि का इसमें वर्णन है, किन्तु अमृतचन्द्रजी के अध्यात्म की छाप सर्वत्र है, वे लिखते हैं—

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम् ।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थ सिद्ध्युपायोऽयम् ॥१५॥

विपरीत अभिप्राय को नष्ट करके और निज आत्मतत्त्व को सम्यक् रीति से सुनिश्चित करके उससे विचलित न होना ही पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है।

इसी तरह वह सम्यग्दर्शन के लक्षण में कहते है—'जीव अजीव आदि तत्त्वों का सदा श्रद्धान करना चाहिये। वह विपरीत अभिनिवेश रहित आत्मरूप है', इसमें श्रद्धानवाली बात तो सर्वत्र देखी जाती है, किन्तु आत्मरूप है यह अध्यात्मवाणी अन्यत्र लक्षणों में नहीं है।

सम्यक्चारित्र के सम्बन्ध में कहते हैं—

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनरूपं तत् ॥३९॥

'क्योंकि समस्त सावद्ययोग के परित्याग से चारित्र होता है अतः वह चारित्र समस्त कषायों से रहित स्पष्ट उदासीनतारूप है।' इस लक्षण में 'स्वरूपे चरणं चारित्रम्' की स्पष्ट ध्वनि है।

अमृतचन्द्र जी की रचनाओं का अन्त भी अत्यन्त मूल्यवान होता है। उसके अन्त में वह एक तरह से समस्त जिनागम का सार उपस्थित कर देते हैं। इस ग्रन्थ के भी २११ से २२२ तक के पद्य अत्यन्त मूल्यवान हैं। इस तरह का कथन अन्यत्र नहीं पाया जाता।

यह सब जानते हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है और वह पंचम गुणस्थान से प्रारम्भ होता है। तथा उसकी वास्तव में पूर्ति चौदहवें गुणस्थान में होती है। तेरहवें तक बराबर कर्मबन्ध होता है। प्रश्न होता है कि एकदेश रत्नत्रय के होते हुए भी जो कर्मबन्ध होता है क्या उसका कारण अपूर्ण रत्नत्रय है ?

अमृतचन्द्र जी कहते हैं—'नहीं'। वह बन्ध तो अवश्य ही विपक्ष रागादिकृत है, क्योंकि जो मोक्ष का उपाय है वह बन्ध का उपाय नहीं होता।

इसको स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं—जितने अंश से दर्शन-ज्ञान चारित्र है उतने अंश से बन्ध नहीं है, जितने अंश से राग है उतने अंश से बन्ध है। क्योंकि योग से प्रदेश बन्ध होता है कषाय से स्थितिबन्ध होता है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो योगरूप भी नहीं, कषायरूप भी नहीं। तब इनसे बन्ध कैसे हो सकता है ?

तब पुनः प्रश्न हुआ। कर्मसिद्धान्त के ग्रन्थों में कहा है कि सम्यग्दृष्टि के ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि के ही आहारक शरीर आहारक अंगोपांग का बन्ध होता है। तब सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र बन्ध के कारण क्यों नहीं है ?

अमृतचन्द्रजी कहते हैं उस कथन में कोई दोष नहीं है। उसका अभिप्राय यह है कि सम्यक्त्व और चारित्र के रहते हुए जो योग और कषाय रहते हैं वे तीर्थंकर और आहारक कर्मों के बन्धक होते हैं। सम्यक्त्व और चारित्र बन्धक नहीं है।

इस तरह का विश्लेषण किसी ने नहीं किया । यह सब समयसार के प्रभाव की महिमा है । उसकी गाथा १७२ में कहा है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र जो जघन्य भाव से परिणमन करता है उसके कारण ज्ञानी विविध पुद्गल कर्म से बंधता है । उसीका यह भाष्य है ।

अन्य श्रावकाचारों में बारह व्रत, और सल्लेखना को ही श्रावक का आचार कहा है । सागारधर्मामृत में कहा है—

सम्यक्त्वममलममलान्यणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते ।
सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागारधर्मोऽयम् ॥–१।१२ ।

अर्थात् निरतिचार सम्यक्त्व, निरतिचार अणुव्रत गुणव्रत और शिक्षाव्रत तथा मरते समय विधिपूर्वक सल्लेखना, यह गृहस्थ धर्म है ।' किन्तु अमृतचन्द्रजी ने तप का चारित्र में अन्तर्भाव होने से मोक्ष का कारण मानकर उसे भी पालन करने की प्रेरणा श्रावकों को की है । अतः छह प्रकार का बाह्य तप, छह प्रकार का अन्तरंग तप, छह आवश्यक, तीन गुप्ति, दस धर्म, बाईस परीषह, बारह भावना, जो मुनि धर्म है उसे भी कहा है । यह इस श्रावकाचार की विशेषता है जो अध्यात्म के पुरस्कर्ता के द्वारा रचा गया है । शुभोपयोगरूप व्यवहार निर्विकल्पसमाधिरूप निश्चय में स्थित होने पर स्वयं ही छूट जाता है अशुभोपयोग में स्थित रहकर शुभोपयोग को त्याज्य मानते रहने से मोक्षमार्ग नहीं बन सकता ।

तत्त्वार्थसार—यह अमृतचन्द्रजी की दूसरी स्वतंत्र कृति है । इसमें तत्त्वार्थसूत्र तथा उसके टीका ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्त्तिक को आधार बनाया है, किन्तु इस पर भी अध्यात्म की छाप है । सात तत्त्वों में हेय उपादेय का चित्रण करते हुए लिखा है—जीव उपादेय है, अजीव हेय है । हेय, अजीव का उपादान कारण आस्रव है । आस्रवपूर्वक बन्ध होता है । संवर और निर्जरा हेयरूप अजीव तत्त्व को छुड़ाने में कारण है और उसका सर्वथा छुटकारा मोक्ष है ।

तीसरे अधिकार में द्रव्य के वर्णन में पञ्चास्तिकाय की गाथाओं को संस्कृत में रूपान्तरित करते हुए द्रव्य-गुण-पर्याय में अभेद कहा है ।

चतुर्थ अधिकार में पुण्य और पाप में भेदाभेद बतलाते हुए लिखा है—

हेतुकार्यविशेषाभ्यां विशेषः पुण्यपापयोः ।
हेतू शुभाशुभौ भावौ कार्ये चैव सुखासुखे ॥१०३॥
संसारकारणत्वस्य द्वयोरप्यविशेषतः ।
न नाम निश्चयेनास्ति विशेषः पुण्यपापयोः ॥१०४॥

हेतु और कार्य के भेद से पुण्य और पाप में भेद है । पुण्य का हेतु शुभभाव है और पाप का हेतु अशुभभाव है । पुण्य का कार्य सुख है और पाप का कार्य दुःख है, किन्तु दोनों ही संसार के कारण हैं । अतः निश्चयनय से पुण्य और पाप में कोई भेद नहीं है ।

इस ग्रन्थ के अन्त में भी अमृतचन्द्रजी ने अमृत भर दिया है । इसमें निश्चय मोक्ष मार्ग, व्यवहार मोक्ष मार्ग, व्यवहारी मुनि, निश्चय मुनि तथा अभेदरूप षट्कारकों का कथन किया है । वस्तुतः यही तत्त्वार्थ का सार है जो अन्त में दिया है ।

टीकाओं का अन्तिम भाग :

अमृतचन्द्रजी ने अपनी दोनों उक्त कृतियों के अन्त में ही अमूल्य चर्चा निबद्ध करके अपने वैशिष्ट्य की छाप से उन्हें अंकित नहीं किया । उनकी तीनों टीकाओं का अन्तिम भाग भी उनके इस वैशिष्ट्य की छाप से अंकित है ।

पञ्चास्तिकाय की टीका के अन्त में उन्होंने कहा है—तात्पर्य दो प्रकार का है—सूत्रतात्पर्य और शास्त्रतात्पर्य। सूत्रतात्पर्य तो प्रत्येक गाथा सूत्र में ही कहा है। शास्त्रतात्पर्य यहां कहते हैं। परमार्थ से तात्पर्य तो वीतरागता है। वह वीतरागता व्यवहार और निश्चय के अविरोधपूर्वक अनुगमन करने पर ही इष्टसिद्धि के लिये होती है, अन्यथा नहीं। जिनकी बुद्धि अनादि भेदवासना से वासित है। ऐसे प्राथमिक जन व्यवहार नय के द्वारा भिन्न साध्य-साधन भाव का अवलम्बन लेकर सुखपूर्वक तीर्थ में अवतरण करके उसे प्राप्त करते हैं।

आगे उसकी विधि दी है। और पश्चात् केवल व्यवहारावलम्बियों और केवल निश्चयावलम्बियों का चित्रण करके दोनों से सम्बद्ध एक एक गाथा उद्धृत की है—

'चरणकरणप्पहाणा ससमयपरमत्थमुक्कवावारा।
चरणकरणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण जाणंति॥'

अर्थात् जो चारित्रपरिणाम प्रधान हैं, और स्वसमयरूप परमार्थ में व्यापार रहित हैं, वे चारित्र-परिणाम का सार जो निश्चयशुद्ध आत्मा है उसे नहीं जानते।

यह कथन केवल व्यवहारालम्बियों के सम्बन्ध में है। केवल निश्चयनय का अवलम्बन लेने वालों के सम्बन्ध में कहा है—

'णिच्छयमालंबंता णिच्छयदो णिच्छयमजाणंता।
णासंति चरणकरणं बाहिरकरणालसा केई॥'

इसको संस्कृत मे पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी दिया है—

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः॥५०॥

अर्थात् जो केवल निश्चयनयावलम्बी हैं, परन्तु निश्चय से निश्चय को नहीं जानते। ऐसे कोई जीव बाह्य चारित्र में आलसी होते हुए चारित्ररूप परिणाम को नष्ट कर देते हैं।

इस प्रकार अमृतचन्द्रजी जिनशासन के एक प्रभावक आचार्य हुए हैं और उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द के तीन ग्रन्थों पर वैदुष्यपूर्ण टीकाएं रचकर जैन अध्यात्म को अनुप्राणित किया है। मोक्षमार्ग के पथिकों को और उनमें भी विशेषरूप से साधुजनों को तो उस त्रिवेणी मे गोता लगाना ही चाहिये, उसके बिना संसार के ताप से शान्ति मिलना दुर्लभ है।

गोम्मटेश-गाथा

आचार्य भद्रबाहु श्रुतकेवली और सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य की अन्तर्कथा

❖ नीरज जैन, एम. ए.

'गोमटेश गाथा' श्री नीरज जैन का ललित ऐतिहासिक उपन्यास है। श्रवणबेलगोल में चन्द्रगिरि पर्वत के मुख से श्रवणबेलगोल तीर्थ का और गोमटेश्वर बाहुबली के निर्माण का पूरा इतिहास इस उपन्यास में अत्यन्त रोचकता के साथ समाविष्ट किया गया है। भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली से उपन्यास का प्रकाशन विचाराधीन है। यहां इस उपन्यास के दो परिच्छेद प्रस्तुत हैं। अपने सम्माननीय अतिथियों के रूप में आचार्य भद्रबाहु और सम्राट चन्द्रगुप्त का स्मरण करता हुआ चन्द्रगिरि पर्वत अपने स्मृतिकोष से उन ऐतिहासिक घटनाओं के मोती निकाल निकाल कर उपन्यास के पन्नों पर बिखेरता हुआ जब पाठक के दृष्टिगत होता है तब सहज ही पाठक काल और स्थान के भेद को सहसा भूल सा जाता है। पर्वत के मुख से इतिहास का कथन रोचक बन पड़ा है।

—सम्पादक

मेरे महान अतिथि, समाधिनिष्ठ आचार्य भद्रबाहु

पंथी ! आज मुझे स्मरण आती है वह महान् घटना जब तुम्हारे अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु अपने संघ सहित यहां पधारे थे। उज्जयिनी से कई माह की दीर्घयात्रा करके, यहाँ पहुंचे थे वे महामुनि। बहुत तेजस्वी था उनका व्यक्तित्व और बड़ा ही विशाल था उनका संघ। द्वादश सहस्र दिगम्बर मुनिराजों का एक साथ दर्शन करने का मेरे लिये वह प्रथम और अंतिम अवसर ही था। उस साधु संघ के पधारने से सचमुच मैं धन्य हो उठा था। प्राचीन मन्दिरों से युक्त, निराकुल साधना भूमि के रूप में मेरी जो ख्याति देश देशान्तर में फैल चुकी थी, वही मेरे उस सौभाग्य का कारण बनी थी।

अभी कल की ही बात है, इसी पंथ से जाते हुए तुम्हारे कुछ बंधु-बांधव कह रहे थे—'आचार्य भद्रबाहु के पधारने से इस चिक्कबेट्ट पर्वत की बड़ी ख्याति हुई।' मैं तब यदि मुखर हो पाता तो ऐसा उनसे

कहलवाता कि—'चिक्कवेट्ट का यह छोटा सा पर्वत, पूर्व में ही इतना विख्यात था, कि इसकी कीर्ति सुनकर ही भद्रबाहु महाराज ने उत्तरापथ से इसे अपना गन्तव्य बनाया और अपनी सल्लेखना की साधना के लिये चुना।'

आचार्य भद्रबाहु, तीर्थंकर महावीर की परम्परा के अंतिम श्रुतकेवली थे। तप के बल से अपने अज्ञान को निःशेष करके जो तपस्वी पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, तीनों लोकों को, तीनों काल के सन्दर्भ में जो जान लेते हैं, सकल चराचर जगत अपनी भूत भविष्यत और वर्तमान की दशा सहित स्वयं जिनके ज्ञान में प्रत्यक्ष प्रतिभासित होने लगता है, और जो अपने उसी जन्म से मोक्ष प्राप्त करने वाले होते हैं, उन्हें केवली या केवलज्ञानी कहा जाता है। जो महामुनि तीर्थंकर की द्वादशांग वाणी के सम्पूर्ण ज्ञाता होते हैं वे 'श्रुतकेवली' कहलाते हैं। श्रुतकेवली का ज्ञान, परोक्ष ज्ञान होता है और इसी भव से मोक्ष जाने की उनकी पात्रता निश्चित नहीं होती।

महावीर के उपरान्त अविच्छिन्न परम्परा में गौतम स्वामी, सुधर्मा और जम्बूस्वामी ये तीन ही केवलज्ञानी हुए हैं। इनके उपरान्त नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पांच श्रुतकेवली थोड़े थोड़े अन्तराल से इस भारत भूमि पर हुए। भद्रबाहु के उपरान्त सम्पूर्ण श्रुत के ज्ञाताओं की यह परम्परा समाप्त हो गयी।

भद्रबाहु गोवर्द्धन आचार्य के शिष्य थे। भविष्यज्ञानी गुरु ने, उनके शुभ लक्षणों से प्रभावित होकर किशोरावस्था में ही उन्हें अपनी शरण में ले लिया था। प्रारभ में गुरु के साथ, और आचार्यपद ग्रहण करने पर अपने संघ के साथ, उन्होंने अनेक बार देशाटन किया था। वे अत्यन्त क्षमतावान् और प्रतिभाशाली आचार्य थे। उन दिनों देश में सर्वत्र भगवान महावीर के 'अचेलक धर्म' को धारण करने वाले साधु संघों का विहार होता था। जैनों में दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद तब तक प्रारभ नहीं हुआ था। उस समय तुम्हारा देश मौर्य साम्राज्य के संस्थापक सम्राट चन्द्रगुप्त के अधीन था। तुम्हारे इतिहास काल में इतने विशाल एकछत्र साम्राज्य का स्वामी, इतना शक्तिशाली सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के पश्चात् फिर दूसरा नहीं हुआ।

मौर्य साम्राज्य की स्थापना के समय से ही चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों पर आचार्य भद्रबाहु का प्रभाव था। इसी का फल था कि उन दोनों हो महापुरुषों ने दिगम्बरी दीक्षा धारण करके, अपने जीवन का परिष्कार किया। चाणक्य ने मुनिपद की साधना वहीं उत्तरापथ में सम्पन्न की। आचार्य के सम्पर्क के कारण चन्द्रगुप्त के विचारों में भी धीरे-धीरे उदासीनता आती गयी। मगध का शासन अपने पुत्र बिन्दुसार को सौंपकर, शान्त जीवन व्यतीत करने के लिये, उन्होने साम्राज्य की उपराजधानी उज्जयिनी को अपना निवास बना लिया। तुम्हारा आज का उज्जैन ही यह उज्जयिनी है।

एक दिन उज्जयिनो नगर में आहार के लिये जाते समय आचार्य भद्रबाहु को कुछ अपशकुन हुआ। उन अष्टांग निमित्तज्ञानी महामुनि ने उसका यह अर्थ फलित किया कि—

"समस्त उत्तरापथ में बारह वर्ष के लिये भयंकर दुष्काल होगा। क्षुधा पीड़ित मनुष्य, उदर पोषण के प्रयत्न में, बड़ी से बड़ी अनीति ग्रहण करने के लिये बाध्य होंगे। साधुओं के लिये संयम का निर्वाह असंभव हो जायेगा। इस अकाल में मुनियों और त्यागियों को संयम पालन करने की अनुकूलता नहीं होगी। उन्हें अपने कठोर नियम त्यागने पड़ेंगे, या उनमें शिथिलता स्वीकार करनी पड़ेगी।"

आचार्य भद्रबाहु समूचे जैन संघ के नायक थे। देश भर में फैला हुआ विशाल जैन साधु समुदाय, प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से उनके अनुशासन में निबद्ध था। महावीर की अचेलक परम्परा को अकाल के इस दुर्दान्त चक्र से बचाकर, निर्दोष रूप में प्रवर्तमान रखने का उत्तरदायित्व, उस समय भद्रबाहु पर ही था। पूरे भारत

की भौगोलिक और प्राकृतिक स्थितियां उनकी दृष्टि में थी । वर्तमान समस्या के प्रति चिन्तित होते हुए भी, भविष्य को वे भली भांति जान रहे थे । सारी परिस्थितियों पर विचार करके उन विवेकवान् आचार्य ने, उत्तरापथ के समूचे साधु संघों के लिये आदेश प्रसारित किया—

उत्तरापथ में बारह वर्ष की अवधि का दारुण दुर्भिक्ष होगा । संयमकी साधना और मुनिपद की रक्षा यहां असंभव हो जायेगी । सभी साधुओं को उचित है कि तत्काल उत्तरापथ छोड़कर दक्षिण की ओर प्रस्थान करें । कर्नाटक और तमिल देशों में वातावरण उपयुक्त है । वहां प्रकृति सामान्य रहेगी । संयम की साधना में कोई प्राकृतिक व्यवधान दक्षिणा पथ में उपस्थित नहीं होगा ।

साधु समुदाय के अधिकांश मुनियों ने इस घोषणा को गुरु आज्ञा की तरह स्वीकार किया । अपने आचार्य द्वारा घोषित भविष्यवाणी की सत्यता पर उन्हें तनिक भी सन्देह नहीं था । शतशः योजनों से विहार कर करके, भारी संख्या में मुनियों के समूह, निर्धारित अवधि के भीतर, निश्चित स्थानो पर एकत्र हो गये । द्वादश सहस्र मुनियों के समुदाय के साथ, श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु ने, उत्तरापथ का त्याग करके इस ओर प्रस्थान किया । इस संघ में श्रावक भी बड़ी संख्या में साथ चल रहे थे । सम्राट चन्द्रगुप्त स्वयं अपने पुत्र बिन्दुसार को सिंहासन सौंपकर, संसार, देह और भोगों से विरक्त होते हुए, आचार्य के अनुगामी हुये । तुम्हारे पुराणकार और इतिहासकार एक मत से स्वीकार करते हैं कि देशान्तर के लिये इतने बड़े साधु समुदाय का वह प्रस्थान 'न भूतो न भविष्यति' ही था ।

उत्तरापथ में कुछ साधुओं ने आचार्य भद्रबाहुके आदेश की अवज्ञा करदी उन्होंने गुरु की आज्ञा पालने में प्रमाद किया, पर दुर्भिक्षकाल में वे अपने संयम की रक्षा नहीं कर पाये । कालान्तर में उनके आचरण में शिथिलताओ और विकृतियों का समावेश होता गया । परिस्थितियों से,समझौता करके उन मुनियो ने अर्द्धफालक आदि वस्त्र धारण कर लिये । उनके अनुयायी श्रावकों ने साधु के परम्परागत निर्ग्रन्थ दिगम्बर स्वरूप के स्थान पर, वस्त्रधारी स्वरूप को मान्यता प्रदान कर दी । सचेलक सप्रदाय का यह प्रारम्भ था । आचार्य स्थूलभद्र उनके आदि गुरु थे ।

दिगम्बर मुनियों का एक समुदाय ऐसा भी था जिसने उत्तरापथ का त्याग तो नहीं किया परन्तु निर्ग्रंथ परम्परा के प्रति अपनी आस्था को जीवित रखा । उनमे से कुछ ने दुर्भिक्ष काल में सल्लेखना अगीकार करके शरीर त्याग दिये । कुछ ने आस्थावान समृद्ध श्रावकों की सहायता से, अचेलक धर्म का निर्वाह करते हुए कालयापन किया । ऐसे भी कुछ साधु थे जिन्होंने अकाल के उपरान्त, सुभिक्ष आ जानेपर, प्रायश्चित लेकर अथवा दीक्षा-छेद आदि दण्ड स्वीकार करके, अपने दोषों का परिमार्जन किया । उन्होंने पुन: शास्त्र सम्मत आचरण अगीकार किये । इस प्रकार उस भयंकर दुष्काल के समय भी उत्तरापथ में निर्ग्रंथ मुनियों की परम्परा विद्यमान रही । उसका उच्छेद नहीं हुआ । उन मूलसंघी मुनियो ने आचार्य भद्रबाहु को ही अपना आचार्य माना और उन्हीं की परम्परा का अनुशासन स्वीकार किया । अब पाटलिपुत्र के स्थान पर मथुरा उन अचेलक साधुओ का केन्द्र हो गया था ।

इस चिक्कबेट्ट पर साधना करते हुए आचार्य भद्रबाहु का, उत्तरापथ के उन अचेलक दिगम्बर मुनि संघों से निरन्तर सम्पर्क बना रहा । उत्तरापथ से समय-समय पर श्रावक और साधु, दक्षिणापथ की यात्रा पर आते रहे और दीर्घकाल तक संघ के नियामक आदेश-निर्देश, यहीं से प्राप्त करते रहे । भद्रबाहु के उपरान्त उनके शिष्य विशाखाचार्य को भी साधु समुदाय में वैसी ही मान्यता प्राप्त हुई ।

तुम्हारे इतिहास के उस घोर दुर्भिक्ष काल में, यह जो मुनि संस्था उत्तरापथ से स्थानान्तरित होकर दक्षिणापथ में स्थापित हुई, वह वर्तमानकाल तक अविच्छिन्न रूप से यहां विद्यमान है । यदि कभी जान पाओगे

अपने आचार्यों का इतिहास, तो तुम्हें ज्ञात होगा कि जैसे तीर्थंकरों को जन्म देने का एकाधिकार उत्तरापथ ने अपने पास सुरक्षित रखा है, उसी तरह जिनवाणी की प्रभावना करने वाले आचार्य दक्षिणावर्त की भूमि ने ही तुम्हारे देश को प्रदान किये हैं।

आचार्य भद्रबाहु ने कुछ दिवस तक संघ सहित यहां विश्राम किया। पश्चात् उन्होंने स्वयं यहीं ठहरने का संकल्प लेकर, मुनिसंघ को तमिल देश की ओर प्रस्थान करने का आदेश दिया। यह जो चन्द्रगुप्त बसदि देख रहे हो, उसकी जगह तब वहां एक लघुकाय जिनालय था। उसीके प्रांगण में विराजमान थे उस दिन आचार्य भद्रबाहु, जब उनका साधु संघ उनके श्रीचरणों में प्रणिपात करके, अपनी यात्रा पर अग्रसर हुआ। तब ये अनेक जिनालय यहां अस्तित्व में नहीं आये थे। यह प्राचीर भी तब नहीं बनी थी। नीचे सामने जहां वह कल्याणी सरोवर और आवासगृहों की पंक्तियां दिखाई दे रही हैं, तब वहां नारिकेल और पूगीफल के विशाल वृक्ष समूह ही थे। यत्र तत्र सर्वत्र, दृष्टि की सीमा तक, उस दिन गमनोद्यत साधुओं का समूह ही यहां दृष्टिगोचर होता था। पिता के समान कल्याण चाहने वाले, अपने महान् आचार्य की अन्तिम वन्दना करके, क्वचित् खिन्नता से भरा हुआ यतियों का वह समूह, निःशब्द और शान्त चला जा रहा था। अब उस संघ के नायक थे विशाखाचार्य।

भद्रबाहु स्वामी को अपनी आयु की क्षीणता का पूर्वानुमान हो गया था। सल्लेखनापूर्वक, क्षेत्र सन्यास धारण करके, वे उसी गुफा में समाधि साधना कर रहे थे। इस साधना में संलग्न वे तपस्वी, शरीर से जितने श्लथ, जितने कृश होते जा रहे थे, उनकी संकल्पशक्ति उतनी ही दृढता प्राप्त करती जाती थी। महाराज अपनी दैनिकचर्या में अत्यंत सावधान और आत्मचिन्तन में सतत् जागरूक थे। उनके जरा जर्जर मुखमण्डल पर इधर एक अलौकिक दीप्ति दिखाई देने लगी थी। उग्र तपश्चरण से उत्पन्न तेज का एक सहज प्रकाशपुंज, उनके चतुर्दिक व्याप्त दिखाई देता था।

सम्राट चन्द्रगुप्त मुनिदीक्षा प्राप्त कर चुके थे। 'प्रभाचन्द्र' अब उनका नाम था। गुरु की सेवा के लिये वे प्रभाचन्द्र मुनिराज उनके समीप यहीं रहे। अनुपम निष्ठा-भक्तिपूर्वक वे समाधिकाल में गुरु चरणों की सेवा-सुश्रूशा करते रहे। बारह वर्ष उपरान्त यहीं उनकी भी समाधि सम्पन्न हुई।

इस कुलिश कठोर चिक्कबेट्ट का वातावरण, उन योगीराज की महती साधना से, निर्बैर और प्रभाभिभूत हो उठा था। तब यहा मृग और मृगराज को एक ही स्थान पर शान्त निर्द्वन्द विचरते देखना मेरा नित्य का कुतूहल था। नृत्यरत मयूर मण्डली के समक्ष फणधर व्यालों का डोलना, कोई अनूठी घटना नहीं रह गई थी। उनके सानिध्य में प्रकृति और पुरुष, समता के एक अद्भुत आलोक का अनुभव करते थे।

उधर इस सबसे निस्पृह निर्लिप्त, भद्रबाहुस्वामी, अपनी एकान्त साधना में तल्लीन होकर, सल्लेखना के हवनकुण्ड में, अति निरपेक्ष भाव से आयु के एक-एक निषेक की आहुति दे रहे थे। शान्तिपूर्वक एक दिन प्रातःकाल उनके जीवन दीप का निर्वाण हुआ। देह जीव की पृथक्ता के वीतराग दर्शन को जैसा अपने जीवन में प्रतिपादित किया था, वैसा ही वह तत्त्व, उन्होंने अपने सहज और पीड़ारहित मरण के द्वारा प्रमाणित कर दिया।

सच रे पथिक ! जीवन का इतना सार्थक समापन, और मरण का ऐसा उज्ज्वल आह्वान, तब मैंने पहिली बार देखा।

राजर्षि चन्द्रगुप्त मौर्य

श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के शिष्य, चन्द्रगुप्त मुनिराज ने भी, द्वादश वर्षों की कठोर साधना के उपरान्त, अपने गुरु के चरणचिन्हों की वन्दना करते हुए, वैसी ही निर्मम साधनापूर्वक, यहीं, इसी गुफा में देहोत्सर्ग किया।

मैंने देखा और सुना है पथिक ! महावीर के पश्चात् इस देश का अनेक शताब्दियों का राजनैतिक इतिहास, इसी श्रमण-संस्कृति का इतिहास है। श्रेणिक बिम्बिसार के संबंध में महावीर का आख्यान अत्यंत मुखर है। उपरांत थोड़े बहुत व्यवधान को छोड़कर उत्तरापथ के राज्याध्यक्षों और सम्राटों का मस्तक जैन मुनियों के चरणों में सदैव नमनशील रहा है। जैन संस्कृति के संरक्षण में इन सबका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त इसी श्रृंखला की एक कड़ी थे।

आचार्य भद्रबाहु चन्द्रगुप्त के कुल गुरु थे। चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनों पर उनका बड़ा प्रभाव था। यही कारण था कि इन दोनों महापुरुषों ने जीवन के अंत में समस्त परिग्रह का त्याग करके मुनि दीक्षा स्वीकार की। चन्द्रगुप्त मुनिराज यहां तपस्या करते हुये, अपने गुरु भद्रबाहु को प्रायः स्मरण किया करते थे। गुरु का नामोल्लेख करते हुए श्रद्धा से उनका हृदय गद्‌गद् हो उठता था और अनायास ही उनके दोनों हाथ नमस्कार की मुद्रा में मस्तक तक पहुंच जाते थे।

चन्द्रगुप्त इस विशाल देश के साम्राज्य को त्यागकर, दुर्लभ राजसी भोगों को ठुकराकर, इस कठिन साधना मार्ग में दीक्षित हुए थे। जब वे मेरे इस कठोर धरातल की, नंगी चट्टानों पर बैठते या घड़ी दो घड़ी शयन करते, आठ प्रहर में केवल एक बार, जब वे अपने फैले हुए हाथों में भिक्षान्न ग्रहण करके, उस नीरस भोजन से उदर पोषण करते थे, तब उनकी आज की चर्या से, उनके विगत ऐश्वर्यपूर्ण जीवन के भोगों की तुलना करते हुये लोग उनके महान् त्याग को धन्य धन्य कह उठते थे।

चन्द्रगुप्त मुनिराज की साधना और सल्लेखना के दो स्मृति चिन्ह आज भी मेरे पास सुरक्षित हैं। उन्हीं के नाम पर मुझे चिक्कबेट्ट को 'चन्द्रगिरि' का कोमल और श्रुति मधुर सम्बोधन प्राप्त हुआ उन्हीं के नाम पर उस छोटे से जिनालय का पुनर्निर्माण होने पर उसका नाम 'चन्द्रगुप्त बसदि' निर्धारित किया गया। पश्चात्‌वर्ती कितने ही आचार्य और मुनि, साधक और भक्त, उस अनुपम त्यागी की गुणगाथा बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ, यहां बैठकर दोहराते रहे हैं। उन्होंने अपने इतिहास के उन स्वर्णाक्षरों को समय-समय पर यहां अनेक स्थानों पर शिलांकित भी किया है। उन गुरु-शिष्यों का गुणानुवाद इस चन्द्रगिरि के लिये प्रतिक्षण नवीन है।

चन्द्रगुप्त के स्वर्गारोहण के उपरान्त, लगभग पंद्रह सौ वर्ष पश्चात् एक शिल्पकार 'दासोज' ने भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की वह गौरव गाथा सुन-सुनकर, उससे अनुप्राणित और प्रभावित होकर, उत्तरापथ से दक्षिणापथ के लिये उनके निष्क्रमण का सम्पूर्ण आख्यान, पाषाण-फलकों पर अंकित ही कर दिया। तुम्हारे उदार पूर्वजों ने शिलाफलक चन्द्रगुप्त बसदि में स्थापित करके दीर्घकाल के लिये सुरक्षित कर लिये। गागर में सागर की तरह छोटे संकीर्ण फलकों पर, उस विशाल आख्यान का अंकन, उस कलाकार की मौलिक प्रतिभा का अनुपम उदाहरण है।

मौर्य सम्राट के घटनापूर्ण जीवनवृत्त का श्रवण मुझे आज भी प्रिय है। उनकी महानताओं का स्मरण करके फिर यह स्मरण करना कि उन महाभाग ने एक निरीह भिक्षु की तरह मेरा आतिथ्य स्वीकार किया, मुझे बड़ा सुखद लगता है। यदि उस काल तुम्हारे पूर्व पुरुषों में अपने इतिहास को लिपिबद्ध करने के प्रति थोड़ी भी रुचि होती, तो उसे पढ़कर तुम जान पाते पथिक ! कि चन्द्रगुप्त के जीवन में कितने आरोह-अवरोह घटित हुए थे। इतिहास के उस अद्वितीय ऐश्वर्यशाली सम्राट का राजसिंहासन से असमय उतर जाना, सम्राट के मुकुट और छत्र का अनायास त्याग कर देना, अकारण नहीं था। चिन्तन की ठोस धरा पर ही सम्राट चन्द्रगुप्त के अनुपम त्याग का भवन स्थापित हुआ था।

जीवन के प्रारंभ में अपनी महत्वाकांक्षाओं से प्रेरित, चाणक्य के मार्गदर्शन में, उत्कर्ष की ओर एक-एक पग धरता हुआ, हर पग पर बाधाओं का संहार और कण्टकों का विमोचन करता हुआ चन्द्रगुप्त साम्राज्य

के सिंहासन तक पहुँचा था। वह सिंहासन किसी का त्यक्त उपकरण नहीं था, किसी का भोगा हुआ विभव नहीं था। यह वह सिंहासन था, जिसका निर्माण चन्द्रगुप्त ने अपने पुरुषार्थ से किया था। हिमालय से लेकर दक्षिणी समुद्र तक, दक्षिणावर्त आर्यावर्त और उसकी सीमाओं के पार तक, एक-एक अंगुल भूमि पर अपनी भुजाओं के बल से ही चन्द्रगुप्त ने अपनी प्रभुता स्थापित की थी। वह साम्राज्य सही अर्थों में उसका 'स्वभुजोपार्जित' साम्राज्य था।

इतने बड़े साम्राज्य के विधिवत संचालन के लिये चन्द्रगुप्त ने प्रान्तीय राजधानियों की स्थापना की थी, जहां से उसके राज्यपाल शासनसूत्र का संचालन करते थे। गृह प्रदेश में पाटलिपुत्र से सम्राट स्वयं शासन की बल्गा सम्हालते थे। यूनानी राजा सेल्यूकस से जीते हुए सीमावर्ती प्रान्तों का शासन कपिशा से होता था। तक्षशिला उत्तरापथ की राजधानी थी। दक्षिणापथ पर सम्राट का शासन सुवर्ण गिरि से संचालित होता था। गिरिनगर में बैठकर उसका राज्यपाल तुषास्प, सौराष्ट्र पर शासन करता था और पश्चिमी भारत के शासन का संचालन उज्जयिनी से होता था।

चन्द्रगुप्त के जीवन मे कुछ ऐसी घटनायें घटी थीं जिनसे उसे चिन्तन के अनेक आयाम प्राप्त हुए थे। नन्दों का मूलोच्छेद करके उसने अपने हाथों ही एक शक्तिशाली राजवश को इतिहास के गर्त मे गाड़ दिया था। दक्षिणावर्त की विजय के अभियान में उसने महाराष्ट्र, कोंकण, आन्ध्र और कर्नाटक की राजकीय ध्वजाओं को अपने चरणों मे नत किया। मध्य एशिया के शक्तिशाली यूनानी राजा सेल्यूकस की सेनाओं को युद्ध क्षेत्र में पराजित करके काबुल, हेरात, कन्दहार और बलूचिस्तान पर भी अपने साम्राज्य के सीमाचिन्ह उसने स्थापित किये। इस प्रकार उस प्रतापी सम्राट ने अपनी मातृभूमि के सीमान्तो से भी विदेशी सत्ता का उन्मूलन कर दिया था।

चन्द्रगुप्त की राज्य सीमाओं को आदर्श मानकर ही कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ में चक्रवर्ती क्षेत्र की परिभाषा का विधान किया। उत्तरापथ के अनेक यात्रियो ने समय-समय पर मेरे देवालयों में जो मुद्रायें अर्पित की हैं, उनमें मौर्य सम्राट के द्वारा प्रचलित की गई अनेक मुद्रायें मैंने देखी हैं। त्रिरत्न, चैत्यवृक्ष और दीक्षावृक्ष आदि अनेक जैन प्रतीक इन मुद्राओ पर अंकित है।

राजनीति के सचालन में किस प्रकार राजे और सम्राट कठपुतली बनकर रह जाते हैं, सिंहासन की मर्यादा कितनी पराधीनताओ मे उन्हें जकड़ देती है, यह अनुभव चन्द्रगुप्त प्राप्त कर चुके थे। तात्कालिक कूटनीति में प्रयुक्त होने वाली विष कन्याओं से चन्द्रगुप्त के जीवन की सुरक्षा के लिये, उन्हें बताये बिना, चाणक्य उनके भोजन मे सन्तुलित विष का प्रयोग करते थे। धीरे-धीरे उन्होंने चन्द्रगुप्त को विष का ऐसा अभ्यस्त बना दिया, जिससे विषकन्याओ का सम्पर्क उन्हे हानि न पहुचा सके। एक दिन अपने उसी क्वचित विषाक्त भोजन का एक ग्रास, कौतुक और स्नेहवश, उन्होने अपनी प्रिया को खिला दिया। क्षणमात्र में ही उस गर्भवती रानी पर विष का प्रभाव परिलक्षित होने लगा। चाणक्य ने शल्य चिकित्सा के साधन जुटाकर गर्भस्थ शिशु को जीवित बचा लिया, किन्तु रानी की प्राण रक्षा नही हो सकी। विष के प्रभाव से मस्तक पर एक श्याम बिन्दु लेकर अवतरित हुआ वही बिन्दुसार, युवा होकर साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ।

आज एक दीर्घ अन्तराल के उपरांत भी, अपनी उस प्राणवल्लभा की, मरण वेदना से छटपटाती हुई देह का स्मरण कर चन्द्रगुप्त कांप जाते थे। अन्त समय उसके नेत्रों की निरीहता ने और उसकी विवशता ने महीनों तक चन्द्रगुप्तका निद्रावरोध किया था। जब-जब वे ऐसा सोचते कि षडयन्त्र भरी राजनीति के चक्र का एक निर्जीव सा यन्त्र बन जाने के कारण ही, उन्हें वह अप्रिय घटना झेलनी पड़ी थी, वह दारुण दुःख उठाना पड़ा था, तब अपने साम्राज्य की अटूट सम्पदा के प्रति उनका मन विरक्ति से भर उठता था।

सम्राट चन्द्रगुप्त अपने निष्कण्टक सिंहासन पर बैठकर, अनेक बार विचार करते थे—

"असीम आकांक्षाओं के वशीभूत होकर महत्वाकांक्षाओं की महाज्वाला में झुलसते हुए, साम्राज्य का यह प्रासाद खड़ा किया, परंतु यह तो मन को सुख का तनिक भी संवेदन नहीं दे पा रहा है। उल्टे उसके संरक्षण की आकुलता, अब उससे भी अधिक दाह पहुंचा रही है। संतोष के साथ परिग्रह का, निराकुलता के साथ वैभव और ऐश्वर्य का, क्या दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं?"

चिन्तन की इसी धारा का प्रभाव था जिसने चन्द्रगुप्त के जीवन की दिशा ही बदल दी। राजकाज वे करते थे परंतु उसमें कोई आनन्द अब उनके लिये शेष नहीं था। राज्य, लक्ष्मी और भोगों के रस अब उन्हें बेरस लगने लगे थे। चाणक्य की अनेक वर्जनाओं को टालते हुए उन्होंने साम्राज्य के संचालन से अपने आपको मुक्त करने का निर्णय लिया। अपने इस निर्णय को कार्यान्वित करने के लिए एक सुदृढ़ योजना बनाई। बिन्दुसार को पाटलिपुत्र का उत्तरदायित्व सौंपकर, चन्द्रगुप्त का उज्जयिनी निवास, इसी योजना का प्रथम चरण था।

सम्राट के उज्जयिनी पहुंचने पर, उसी वर्ष ऐसा सुयोग हुआ, कि उनके गुरु आचार्य भद्रबाहु ने, उज्जयिनी में ही अपना वर्षावास स्थापित किया। चार मास तक गुरु के सान्निध्य में दार्शनिक ऊहापोह का दुर्लभ अवसर, चन्द्रगुप्त को इस वर्षायोग में प्रतिदिन प्राप्त होता रहा। गुरु के प्रति अत्यंत श्रद्धा और भक्ति होते हुए भी, चन्द्रगुप्त के व्यस्त जीवन में ऐसे अवसर बहुत कम आए थे, जब निश्चिन्त और निर्द्वन्द्व भाव से गुरु वाणी का श्रवण करने की, उस पर चिन्तन-मनन करने की सुविधा उन्हें उपलब्ध हुई हो। इस बार दार्शनिक पृष्ठभूमि में संसार की स्थिति का वास्तविक आंकलन करने का अवसर सम्राट को प्राप्त हुआ। वीतराग, निर्ग्रन्थ आचार्य की जीवन पद्धति को भी पहली बार उन्होंने निकट से देखा। आचरण में अहिंसा, वाणी में स्याद्वाद और चिन्तन में अनेकान्त का समावेश हो जाने पर, मनुष्य का जीवन कितनी महानताओं से मण्डित हो जाता है, यह चमत्कार वे प्रत्यक्ष देख रहे थे। समता परिणामों से जिस निराकुलता की प्राप्ति होती है, उसका अनुभव उन्हें हो रहा था।

चातुर्मास के थोड़े दिन शेष थे तब एक दिन, रात्रि के पिछले प्रहर में सम्राट चन्द्रगुप्त ने सोलह दु:स्वप्न देखे। आचार्य महाराज ने निमित्त ज्ञान के आधार पर इन स्वप्नों का जो अर्थ कहा, उस वाणी ने सम्राट के भीतर पनपती हुई वैराग्य की भावना को और प्रोत्साहित कर दिया।

भद्रबाहु आचार्य ने सम्राट के स्वप्नों का विश्लेषण करके इस प्रकार भविष्यवाणी की—

- डूबते हुए सूर्य का दर्शन इस बात का संकेत है, कि महावीर के मार्ग को प्रकाशित करनेवाला आगम का ज्ञान उत्तरोत्तर अस्त होता हुआ समाप्त होगा।
- कल्पवृक्ष का शाखा भंग बतलाता है कि भविष्य में राजपुरुष वैराग्य धारण नहीं करेंगे।
- सछिद्र चन्द्रमण्डल का अर्थ यही है कि विधर्मियों और नास्तिकों द्वारा धर्म का मार्ग छिन्न-भिन्न किया जायेगा।
- बारह फण वाला सर्प अपने अस्तित्व से स्वप्न में घोषित कर गया है कि इस उत्तरापथ में बारह वर्ष के लिये भीषण दुर्भिक्ष होगा।
- लौटता हुआ देव विमान कहना चाहता है कि अब इस काल में देव, विद्याधर और ऋद्धिधारी संतों का अवतरण पृथ्वी पर नहीं होगा।

❖ दूषित स्थान में खिले हुए कमल से फलित होता है कि कुलीन और प्रबुद्धजन भी अनीति और अधर्म की ओर आकर्षित होंगे ।

❖ भूत-प्रेतों का वीभत्स-नृत्य स्पष्ट करता है कि जनमानस पर अब प्रायः उन्हीं की छाया रहेगी ।

❖ जुगनू चमकने का संकेत यह सन्देश देता है, कि धर्म की ज्योति जिनके भीतर प्रज्ज्वलित नहीं है, ऐसे पाखण्डी लोग भी धर्मोपदेशक बनकर, धर्म के नाम पर लोकरंजन और स्वार्थ-साधन करेंगे ।

❖ क्वचित्-किंचित् जल सहित, शुष्क सरोवर देखकर यह समझना चाहिये, कि धर्म की स्व-पर कल्याणी वाणी का तीर्थ, धीरे-धीरे शुष्क हो जायेगा । कहीं कहीं क्वचित् ही उसका अस्तित्व शेष बचेगा ।

❖ स्वर्णथाल में खीर खाता हुआ श्वान देखने से फलित होता है कि आगामी काल में नीच वृत्ति वाले चाटुकार ही लक्ष्मी का उपभोग करेंगे । स्वाभिमानी जनों को वह प्रायः दुष्प्राप्य होगी ।

❖ स्वप्न मे गजारूढ मर्कट इतनी ही घोषणा करने आया था कि भविष्य में राजतंत्र, चंचल मतिवाले, अन्धानुकरण पटुजनों के हाथों से विद्रूपित होगा ।

❖ मर्यादा का उल्लंघन करके समुद्र की लहरों ने यह संकेत दिया है, कि अब शासक और लोकपाल, न्याय नीति की सीमाओं का उल्लंघन करेंगे वे उच्छृंखल होकर स्वयं अपनी प्रजा की लक्ष्मी, कीर्ति, स्वाधीनता आदि का हरण करेंगे और नारियों की लज्जा, सतीत्व आदि से खिलवाड़ करेंगे ।

❖ बछड़ों के द्वारा रथ का वहन इस बात का प्रतीक है कि अब लोगों में युवावस्था में ही, धर्म और संयम के रथ को खींचने की शक्ति पायी जायेगी । वृद्धावस्था में वह शक्ति क्षीण हो जायेगी ।

❖ गज पर आरूढ़ होने वाले राजपुत्रों का, ऊंट पर आसीन दिखाई देना, यह संकेत देता है कि अब राजपुरुष, व्यवस्थित और शान्तिपूर्ण मार्गों का परित्याग करके, असन्तुलित और हिंसा से भरे मार्ग पर चलेंगे ।

❖ धूल-धूसरित रत्नों का अवलोकन यह अप्रिय सन्देश देता है कि भविष्य में संयम रत्न के रक्षक, निर्ग्रन्थ तपस्वी भी एक दूसरे की निन्दा और अवर्णवाद करेंगे ।

❖ काले हाथियों का द्वन्द्व युद्ध बताता है कि गरजते हुए मेघ, सानुपातिक जलवृष्टि अब प्रायः नहीं करेंगे। यत्र तत्र अवर्षण और अतिवर्षण से प्रजा को कष्ट होगा ।

सम्राट के स्वप्नों की इस परिभाषा ने सभी को आकुलित कर दिया । आचार्य भद्रबाहु द्वारा विचारित बारह वर्ष के अकाल की भविष्यवाणी, लोगों को अब और भी भयानक लगने लगी । सम्राट चन्द्रगुप्त की मनोदशा इन स्वप्नों के उपरांत और भी अशान्त हो गयी । उनके मन का वैराग्य, समुद्र में ज्वार की तरह हिलोरें लेने लगा ।

एक दिन बड़े महोत्सवपूर्वक बिन्दुसार के मस्तक पर अपना मुकुट धर कर उन्होंने वैराग्य का संकल्प कर लिया । समस्त परिजनों, पुरजनों और प्रजाजनों के प्रति, समतापूर्वक क्षमाभाव दर्शाते हुए, सबके प्रति समताभावपूर्वक उन्होंने आचार्य भद्रबाहु से दिगम्बरी मुनि दीक्षा धारण कर ली ।

अब वे समस्त परिग्रह से रहित, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिराज, दिनमें एक बार खड़े-खड़े, हाथों में लेकर स्वल्प आहार करते और वन की किसी गुफा या शैलाश्रय आदि में निर्भीक होकर तपस्या करने लगे। योग और ध्यान का उन्होंने शीघ्र ही अच्छा अभ्यास कर लिया। सम्राट चन्द्रगुप्त के साथ अनेक पुरुषों ने मुनि दीक्षा धारण की थी। वे सभी मुनि भद्रबाहु के इस विशाल संघ के साथ, उत्तरापथ से इस ओर आने के लिये प्रस्थित हुए।

दक्षिणापथ पर चन्द्रगुप्त का यह प्रथम पदार्पण नहीं था। इसके पूर्व अपनी दिग्विजय यात्रा में, उनकी अपराजेय चतुरंगिणी, समूचे दक्षिणापथ को रौंद चुकी थी। पूर्व से पश्चिम तक, समुद्र से समुद्र तक की सारी भूमि, उस यात्रा में उनके साम्राज्य का अंग बन चुकी थी। गिरिनार की चन्द्रगुफा और सुदर्शन झील के शिलांकन आज भी उनकी उस विजय यात्रा के प्रमाण हैं। इस प्रकार तीन खण्ड पृथ्वी पर एकाधिकार स्थापित करनेवाले अर्द्धचक्री राजाओं के उपरान्त, इतने बड़े भूमि भाग को अपने साम्राज्य के अन्तर्गत लाने वाले, चन्द्रगुप्त ही प्रथम और अंतिम सम्राट थे।

इस बार चन्द्रगुप्त की यह द्वितीय दक्षिणी यात्रा, एक विलक्षण यात्रा थी। अब वे मौर्य साम्राज्य के सीमा विस्तार के लिये 'विजय यात्रा' पर नहीं निकले थे, वरन् स्व-साम्राज्य का स्वामित्व पाकर, श्रमण संस्कृति के प्रचार और प्रसार के लिये 'विहार' कर रहे थे। अब उनके साथ चतुरंगिणी की नहीं, दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप-रूप, चार आराधनाओं की शक्ति थी। अब पूर्व-पश्चिम, उत्तर और दक्षिण, इन चार दिशाओं की विजय के लिये नहीं, क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार कषायों को जीतने के लिये उनका यह अभियान था। अब धनुष-वाण और तलवार के स्थान पर सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान और चारित्र के रत्नत्रय का त्रिशूल ही उनका अस्त्र था। जन-मन को आतंकित करने वाले राजदण्ड के स्थान पर, अब उनके हाथों में जीव मात्र के लिये अभय का आश्वासन देने वाली, मयूर पंख वाली पीछी, शोभायमान थी।

स्वामी चन्द्रगुप्त शरीर से अत्यंत सुकुमार और प्रकृति से बहुत मृदुल थे। उनका राजसी भोगों से परिपुष्ट सुचिक्कण-गौर शरीर, तपस्वी जीवन के कठोर कायक्लेश के कारण श्यामल और रूक्ष हो गया था। वे शरीर के प्रति निर्ममत्व और निरपेक्ष होकर उत्कृष्ट तपाचार के आराधन में संलग्न थे। तब उनकी लोकोत्तर साधना की कीर्ति दूर-दूर तक प्रसारित हो रही थी। उनके दर्शनार्थी श्रावक स्त्री पुरुषों का यहां मेला लगा रहता था। दूर-दूर से आगत मुनि और आचार्य उन यशस्वी तपस्वी की चरण वन्दना करके अपने को धन्य मानते थे। सुदूर उत्तर से भी प्रायः अनगिनत लोग, सामान्यजन और राजपुरुष भी, उन राजर्षि के दर्शनार्थ आते मैंने देखे हैं। उन लोगों के शीघ्रगामी, सधे हुए अश्वों की पंक्तियां, और पशु-लोम से बनाये हुए विचित्र वर्णाकार वाले वस्त्राभरण, कर्नाटकवासी जनों के लिए कुतूहल की वस्तु होते थे।

चन्द्रगुप्त मुनिराज की समाधि साधना भी उनके गुरु भद्रबाहु की साधना की तरह, निर्दोष और दृढ परिणामों के साथ सम्पन्न हुई। भारत भूमि के विशालतम साम्राज्य के अधिपति, उस महान् सम्राट ने जीवन के सन्ध्याकाल में समस्त बहिरंग और अंतरंग परिग्रह का त्याग करके, उत्कट आराधनापूर्वक, अपनी पर्याय के विसर्जन को, बड़ी कुशलता से नियोजित किया। जीवन के अन्तिम चरण में, अवश्यंभावी मरण के सोत्साह वरण को साधने वाला, उनका वह संयत आचरण सचमुच अनुकरण करने योग्य था।

इस प्रकार भगवान महावीर की परम्परा की दो अनुपम और अंतिम विभूतियों ने, अपनी साधना द्वारा, इस चन्द्रगिरि को पवित्र किया। समस्त आगम के पारगामी श्रुतज्ञों की श्रृंखला में जैसे आचार्य भद्रबाहु अंतिम श्रुतकेवली थे, वैसे ही मुकुट उतारकर केशलोंच करनेवाले, राजभवन से सीधे ही वनगमन करने वाले, अंतिम मुकुटधर नरेश थे सम्राट चन्द्रगुप्त। उनके पश्चात् किसी मुकुट बद्ध नरेश ने जिनदीक्षा धारण करने का साहस नहीं दिखाया।

इन गुरु शिष्य की सल्लेखना के उपरांत, मेरी निराकुल गोद में समाधिमरण का पावन अनुष्ठान सफल करने की भावना, सहस्रों साधुओं का अभीष्ट बनती रही। ऐसी ख्याति हुई इस साधनाधाम के निराकुल वातावरण की, इतनी कीर्ति फैली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के उत्कृष्ट समाधि विधान की, कि शत-शत योजनों से आकर सल्लेखनाकांक्षी यतियों ने मुझे पावनता प्रदान की। नाना प्रकार के साहसपूर्ण प्रत्याख्यान करके उन निरीह, निस्पृह, यथाजात यतियों ने और यतिनायकों ने, यहीं अपने तपस्वी जीवन के धवल सौधों पर समाधिमरण के उज्ज्वल कलश स्थापित किये। आस्थावान गृहस्थ भी, राजा और प्रजा, स्त्री और पुरुष इसी पवित्र भूमि पर शांति सहित अपने जीवन का, निराकुल अन्त, करने के लिये लालायित रहते थे। तुम्हारे पुराशास्त्री बतायेंगे कि ऐसे लगभग एक सहस्र दिगम्बर मुनियों के समाधिमरण अनुष्ठानों का उल्लेख, इस नगर के शिलालेखों में आज भी उपलब्ध है। जिन अज्ञात साधकों के नाम शिलाओं पर अंकित नहीं हुए, उनकी संख्या तो और भी अधिक है।

धर्मशास्त्र भी यदि विस्मृत हो जावें तो पुनः याद कर लिये जा सकते हैं, किन्तु सदाचार से स्खलित व्यक्ति सदा के लिये अपने स्थान से भ्रष्ट हो जाता है। दुराचारी कलङ्कित लोगों की श्रेणी में बैठा दिया जाता है, क्योंकि दुराचार कलङ्क है। जगत में सदाचार के समान अन्य कोई मित्र नहीं है।

अनुयोग चतुष्टय की सार्थकता

❖ पं० हेमचन्द्रजी शास्त्री, अजमेर

आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज
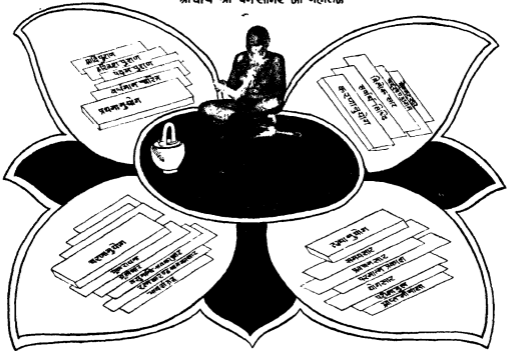
आज से लगभग २५३५ वर्ष पूर्व श्रावणकृष्णा प्रतिपदा के मंगलमय-प्रभातमें अपने द्वारा प्रथम दीक्षित, बुद्धयातिशय ऋद्धिप्राप्त, प्रकाण्डविद्वान् श्री गौतम-गणधर का निमित्त पाकर जगद्वंद्य अन्तिम तीर्थंकर महावीरप्रभु की दिव्यवाणी का प्रादुर्भाव हुआ-दिव्यध्वनि खिरी। संसार के अद्वितीयभक्त, सर्वोच्चधनिक, एकभवावतारी सौधर्मइन्द्र ने जिस सुव्यवस्थित धर्मसभाका आयोजन किया उसे समवशरण कहा जाता है। इसकी सम्पूर्णव्यवस्था देवकृत है, कठोर अनुशासनपूर्ण है। द्रव्यमिथ्यादृष्टि तथा अभव्य जीवों को उसमें प्रवेश निषिद्ध है। उस धर्म-सभा में द्वादश विभाग हैं, जो नियत हैं। १२ सभाओं का विभाजन इसप्रकार का है—मुनिगण, चतुर्निकाय के देव-देवियां (८), श्रावक, आर्यिका एवं श्राविकाएं तथा १२ वीं सभा संज्ञी पंचेन्द्रिय पशुवर्ग के लिये है। तीर्थंकरप्रभु

की अनक्षरी दिव्यध्वनि त्रिकाल अथवा चतु:काल प्रतिदिन लगभग १० घन्टे तक अबाध-प्रवाह की तरह प्रवाहित होती है–खिरती है, जिससे श्रोतागणों का निःशेष सन्देह दूर होता रहता है। इस विचित्र एवं महती धर्मसभा में क्षोभ व अशान्ति से रहित सम्पूर्ण प्राणियों को हित-मित एवं प्रिय, तथ्यपूर्ण, आत्मोपकारिणी दिव्यदेशना का लाभ मिलता है। भव्यजीव वीर-हिमालय से निकली और गणधरों द्वारा बुद्धिगत की गई इस ज्ञान-गंगा में स्नान कर अपने कर्ममलों को सर्वथा धोने का सुयोग्य अवसर प्राप्त करते हैं। पुरुषार्थी प्राणी अपना उद्यम कर भगवद्वाणी से अपना उपकार करने में समर्थ होते हैं।

भगवान महावीर के गणधरों की कुल सख्या ११ उपलब्ध होती है, किन्तु आगे चलने वाली गुरुपरम्परा में केवल एक ही धारा प्राप्त होती है। भगवान के प्रधान-शिष्य गौतम प्रमुख कुलपति हैं और तत्कालीन प्रधान-शासक श्रेणिक प्रमुख शिष्य हैं, जिनके प्रश्नो की माला द्वारा छद्मस्थ श्रेणिक के गौतम-गणधर द्वारा समाधान किये गये हैं। ऐसा लगता है कि क्रमवर्ती छद्मस्थ कुलपति द्वारा छद्मस्थ शिष्यों को उन्ही के अनुरूप उन्हीं की वाणी के माध्यम से वस्तु स्वरूप समझाया गया है। अर्धमागधीभाषा का साधारणरूप वह जनभाषा जो तत्क्षेत्रीय रही होगी और वह जनभाषा होगी।

गणधरमण्डलने भगवान की दिव्यदेशना का विभाजन किया, विषयों की तालिका बनी, साततत्त्व नव-पदार्थ आदि आत्मोपयोगी विषयों का विश्लेषण हुआ। वीतरागप्रभु की वाणी को जनोपयोगी बनाने में अनुपम-मेधावी, निर्ग्रन्थगणधरों का प्रमुख हाथ था। "गणधर गू थे बारह सु अंग" वाक्य का ध्वनित अर्थ यही है कि उस वाणी को गुम्फित करने का श्रेय गणधरों को ही था। वाणी द्वादशागरूप में सोमित हुई और कालक्रम से आचार्य-परम्परा में आई। आज अनेकानेक शास्त्रो का जो साहित्य उपलब्ध है उसमें एक ही धारा प्रवाहित होती है जिसे मोह, राग-द्वेषरहित वीतरागता कह सकते हैं यानि ससार में अनादिकाल से परिभ्रमण करनेवाले जीवको कर्म-बन्धन मुक्त करना। तीर्थंकरों के जीवन मे जो प्रक्रिया प्रयुक्त हुई उसीका कथन धर्म नाम से विख्यात हुआ।

सभी प्राणियों का ज्ञान और अभिरुचि एकसी नही होती। कुछ तो संक्षिप्त शैली पसन्द करते हैं और कुछ अत्यन्त विस्तृत। विषय, शरीर, सांसारिकभोगों से लिप्त प्राणी को किसप्रकार आत्मोन्मुख किया जावे यह समस्या संसार के सभी धर्माचार्यों के समक्ष रही है। उन्होने उसका उचित समाधान भी देश-कालानुकूल निकाला ही है। जैनाचार्यों ने प्रमुखरूप से चार-शैलियां अपनाई और सभी के योग्य आत्मकल्याण की सामग्री उपस्थित की।

ये चारों शैलिया अथवा कथन प्रणालियां जैनसाहित्य मे अनुयोगरूप मे पाई जाती हैं। श्रुतकी वन्दना करते समय 'प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः' यह वाक्य पाया जाता है। इससे इनके क्रम का भी पता चलता है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग।

प्रथमानुयोग :

मनोविज्ञान के आधार पर यह सुनिश्चित है कि मानव जाति अनुकरणप्रिय रही है। अनुकरण सदा से है और सदा ही रहेगा। अनुकरण दोनों ही रूप में संभव है। सदनुकरण और असदनुकरण, क्योंकि पुरुष आत्मा का अर्थवाची है इसलिये आत्मा पुरुषार्थशील है और उसका प्रयोजन पुरुषार्थ कहलाता है। भारतीयसंस्कृति चार पुरुषार्थों को प्रमुखता देती है और इन्ही पुरुषार्थों द्वारा उक्त संस्कृति ने मानव का चरम उद्देश्य अभ्युदय, निःश्रेयस या मोक्ष स्वीकार किया है। इन्हीं चारों पुरुषार्थों का विभिन्न फल प्रथमानुयोग में बतलाया गया है। इसकी नीति है कि सारे पुरुषार्थों की मूल (जड़) धर्म है और अन्तिमफल मुक्ति है। इसका सांसारिक क्रम धर्म-पूर्वक अर्थ और काम का सेवन जनसाधारण को करना उपादेय है। अर्थात् प्रथम पुरुषार्थक्रम गृहस्थ अव्रती या

देशव्रती का है और दूसरा साधु बनकर मोक्षप्राप्ति करने का है। इन्हीं पुरुषार्थियों की जीवनगाथा प्रथमानुयोगी शास्त्रों में पाई जाती है। २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलभद्र ये ६३ शलाका पुरुष हैं। इन्हीं के पूर्वजन्म एवं उत्तरजन्म के क्रियाकलापों का साहित्यिकों ने काव्यप्रतिभा द्वारा चित्रण किया है। इनमें वे महानुभाव भी शामिल हैं, जिन्होंने अपने जीवन कृत्यों द्वारा पुण्य-पापके फलों को प्राप्त कर मानव के लिये जीवन-दिशा दी है। प्रथमानुयोग का प्रथमदृष्टिकोण यही रहा है।

जैन तीर्थंकरों ने आत्मा का सदाकालीन अस्तित्व स्वीकार किया एवं कर्मकृत विकृति से उसका अनादि अनन्त संसरण प्रतिपादन किया। कर्मजनित पुण्य-पाप एवं उनके फल सुख-दुःख का स्पष्टीकरण किया। उसीका फलित अंकन प्रथमानुयोग है जो जनसाधारण को धर्मरुचि उत्पन्न करता है तथा गत-जीवनगाथाओं द्वारा श्रोता को आश्वस्त करता है कि यदि वह भी इस पुरुषार्थ में उत्साही हो तो उसे भी तीन फलों की प्राप्ति हो सकती है। प्रथमानुयोग वह जीवनदर्शन है जिसे पढ़कर अल्पज्ञानी भी अपनी धर्मरुचि जागृत कर सकता है तथा पुरुषार्थी बनकर साधना का चरमलक्ष्य प्राप्त कर सकता है। वर्तमान-साहित्य में इसका प्रमुख स्थान है। विभिन्न आचार्यों ने इसकी रचना कर अपनी लेखनी का चमत्कार बताया है। इस अनुयोग में पुराण, महाकाव्य, चरित्र, नाटक, खंडकाव्य आदि की अनेक रचनाएं उपलब्ध हैं। महापुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, पांडवपुराण, प्रद्युम्नचरित्र, सुदर्शनचरित्र आदि ग्रन्थ इसी कोटि के महान, विशालकायग्रन्थ जिनवाणी की गरिमा धारण किये हुए हैं।

करणानुयोग :

यह दूसरी प्रणाली है, जिसका लक्ष्य है संसार की शाश्वती अवस्थिति का दिग्दर्शन करना। लोकव्यवस्था क्या है ? षट्द्रव्यों का परिणमन किसप्रकार होता है ? कालपरिवर्तन कैसा होता है ? लोक का अस्तित्व किसप्रकार का है ? आदि बातों का विश्लेषण इस अनुयोग में विस्तार से पाया जाता है। अलोकाकाश के बहुमध्यभाग में स्थित लोकव्यवस्था किसी शक्ति विशेष द्वारा संचालित नहीं है, किन्तु स्वाभाविक है, प्रतिक्षण परिवर्तनशील षट्द्रव्यों द्वारा यह लोकपरिपूर्ण है। इस लोक में जीवमात्र की स्थिति अपने-अपने कर्मों द्वारा विभिन्न प्रकार की है। कर्मजनित ही नित्यनिगोद का अति दुःख स्थल है और तज्जन्य अभाव ही मोक्ष का परम सुखद सिद्धस्थल है। वेदना की अपेक्षा सुख की सीमा जहां सर्वार्थसिद्धि के विमान में ३३ सागरप्रमाण है वहां दुःखकी सीमा भी सप्तमनरक मे ३३ सागर प्रमाण ही है। जीव का पंचपरावर्तन अंकन करना करणानुयोग का ही विषय है। जीव अपनी त्रिकाल-स्थिति को इस अनुयोग द्वारा हृदयगम कर सकता है। जैनसाहित्य में इसका बड़ा सूक्ष्म व गम्भीर विश्लेषण पाया जाता है। षट्खडागम, कषायपाहुड़, महाबन्ध, त्रिलोकप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्र-सूर्यप्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार, गोम्मटसार आदि अनेक रचनाएं आज उपलब्ध है। वस्तुस्वरूप के चिन्तन द्वारा आत्मा में ध्यानैकाग्रता लाने में यह अनुयोग अत्यन्त उपयोगी है।

चरणानुयोग :

यह अनुयोग-सोपानक्रम का तृतीयचरण है। गृहस्थ और साधुओं के आचरणसम्बन्धी क्रियाकलापों का क्रमशः उत्थान करने का कथन करता है। आत्मा को कर्म बंधन से मुक्त होने के लिए नियम व्रत, संयम, तप और ध्यान का आचरण-पालन करना अनिवार्य है बिना इन क्रियाओं के किये आत्मशुद्धि होना असम्भव है। जीव की दृष्टि समीचीन होने पर उसका चरित्र किसी न किसी रूप मे त्याग मय होना चाहिए। इसके लिए आठ मूलगुण व १२ उत्तरगुण श्रावकों के लिए विहित हैं और मुनियों के लिए २८ मूलगुण एवं ८४ लाख उत्तरगुणों का विधान है। इस अनुयोग में जीव को ८४ लाख योनियों से बचने के लिये उत्तरगुणों का पालन करना अत्यावश्यक है। व्रत-नियम से प्रारंभ होकर ध्यान तक इस अनुयोग के कथन की प्रक्रिया समाप्त होती है। रत्नकरण्ड आदि ३४ श्रावकाचार तथा मूलाचार, भगवती आराधना, अनगार धर्मामृत आदि ग्रन्थ इसी अनुयोग प्रधान है। धर्म का साक्षात्रूप लोक में इसी अनुयोग के आश्रित चलता है।

द्रव्यानुयोग :

इस अनुयोग में साततत्त्व, नवपदार्थ, षड्द्रव्य, पुण्य-पाप, बन्धन-मुक्ति का सुन्दर विवेचन पाया जाता है। अशुद्ध जीव से शुद्ध जीव होने तक सात अवस्थाएं जीव की किसप्रकार होती है। द्रव्यों के स्वभाव, उनके परिणमन, जीवका विभिन्न-पदार्थों से सम्बन्ध आदि द्रव्यानुयोग-कथनी का प्रमुख रूप है। जैनाचार्यों ने तत्त्व-मंथन की यह अपूर्व-शैली अपनाई है। आचार्य कुन्दकुन्द इस अनुयोग के वर्तमान आचार्य परम्परा के महान् उद्घोषक हैं। समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, द्रव्यसंग्रह आदि अध्यात्मप्रधान ग्रन्थ तथा इन ग्रन्थों पर की गई अनेकानेक टीकाएं मूलग्रन्थों के अन्तर-रहस्य का उद्घाटन करती हैं। नयसापेक्षता इनका प्राण है। कई रचनाएं निश्चयनय प्रधान भी हैं जिनका लक्ष्य वस्तुतत्त्व को श्रद्धास्पद बनाने मे अपूर्व है।

इन चारों ही अनुयोगों की कथनी का सार इसप्रकार भी लिया जा सकता है—१. सिद्धांतशैली २. अध्यात्मशैली। सिद्ध अवस्था ही अन्तिम-लक्ष्य जिस कथनशैली का है वह सिद्धांतशैली है। जिनवाणी का बहुभाग इस प्रणाली से ओतप्रोत है। संसारी प्राणियों के लिये वह बड़ा सम्बल है, आचरणीय, श्रवणीय एवं चिन्तनीय है। आत्मा में स्वधर्म का विकास क्रमशः कैसे सम्भव है? भावविशुद्धि किसप्रकार बढ़ती जाती है? कर्मविकार क्षीण कैसे होता है यह सिद्धान्तशैली से ही पूर्णतया अवगत होता है। वर्तमान तथा गत सैकड़ों वर्षों से इसी शैली का पठन-पाठन होता आया है जो स्वाध्याय की नीव को सुस्थिर बनाता रहा है जैन मनीषियों के पठन-पाठन की यही शैली-प्रमुख रही है।

दूसरी अध्यात्मशैली है जिसका प्रमुख दृष्टिकोण वस्तुतत्त्व का ज्यों का त्यों कथन करना है। इसमें द्रव्यों का स्वातंत्र्य, स्व-पर भेद, उनका स्वतंत्रपरिणमन, अनेकान्तात्मकता आदि कथन हुआ है। इस शैली को स्वाध्यायियों ने समय-समयपर अपनाने का प्रयत्न किया है पर यह जनसाधारण के लिये ग्राह्य नहीं हो सकी।

विचारणीय यह है कि इन चारों ही अनुयोगों तथा दोनो ही शैलियों में से किसको प्रमुखता व गौणता दी जावे या किसको उपादेय या हेय कहा जावे? इसका साधारण उत्तर यही हो सकता है कि जिस भी अनुयोगके माध्यम से जिसका भी आत्मकल्याण हो जावे वही उसके लिये प्रमुख या उपादेय है। रोगी-व्यक्ति के लिये अनेक औषधियां वैद्य के पास विद्यमान है और वैद्य स्वयं रोग निवारणार्थ ही उनका उपयोग करता है, किन्तु रोगी का रोग जिस औषधि से नष्ट हो वही उसके लिये उपयोगी है। इसी प्रकार जिनवाणी का एक ही गुण है कि वह कषाय, राग, द्वेष, मोहयुक्त संसारी प्राणी को इनसे मुक्त करा देती है अर्थात् जिनवाणी का कार्य संसारी जीवको सिद्धपद प्राप्त कराना है। यदि किसी जीवको प्रथमानुयोगी शास्त्रों को सुनकर धर्मरुचि हुई और वह आत्म-कल्याण में लग गया तो वह उसे ही हितकर मानता है। चरणानुयोगी आचरणों से आत्मशुद्धि प्राप्त करनेवाले उसे महत्त्व देते हैं। द्रव्य चर्चा से आत्मरुचि हुई तो वह भी श्लाघनीय है और संसार के सुख-दुःख चिंतन से जीव का मार्गप्रशस्त हुआ तो वह भी आत्मकल्याण कर्ता है। अतः यह कदापि नहीं कहा जा सकता है कि कोई एक अनुयोग या शास्त्र उपयुक्त है, अन्य नहीं। वीतरागता ही जिनवाणी है और उसका पोषण करनेवाली यावन्मात्र कथनप्रणाली भगवान-तीर्थंकर प्रभु की वाणी है इसमें कोई दुराग्रह नही होना चाहिये। प्रथमानुयोग में हरिवंश-पुराण सदृश करणानुयोगी कथन भरे हैं। आचारग्रंथों मे पुण्य-पाप के कथन की व्यवस्था होते हुए भी द्रव्यों का बड़ा सुन्दर वर्णन पाया जाता है। करणानुयोग द्रव्यसम्बन्धी विवादों को समाप्त करनेवाला न्यायाधीश है।

द्रव्यानुयोग का चिन्तन यदि चरणानुयोग से सम्बन्धित नहीं है तो हाथ क्या आवेगा यह मनीषीजन हो जानें।

निष्कर्ष यह है कि वर्तमान में वीतरागधर्म के सर्वप्रथम शिक्षक देव-शास्त्र-गुरु ये तीन ही हैं जो मूलतः वीतरागस्वरूप हैं और प्रत्येक जिज्ञासु जीव को स्व-स्वरूप प्राप्ति के प्रेरणास्रोत हैं। इस निमित्त को प्राप्तकर धर्म-

प्रेमी बंधुओं को चाहिये कि इस शिक्षाशाला में अपने-आपको लावे और अपनी योग्यतानुसार सिद्धान्त ग्रन्थों को प्रक्रिया से क्रमश: स्वाध्याय करें ।

जैसे-जैसे ज्ञानका विकास होता जावे वैसे-वैसे शास्त्रकथनी को जीवन में उतारें ताकि स्वाध्याय का तत्काल फल प्राप्त हो जावे । बाद में विरक्ति अपनाते हुए अध्यात्मग्रन्थों का मनन करें । जिससे उनका मोक्षमार्ग में गमन दृढ़तर होता जावे ।

यही समुचित आत्मकल्याण की प्राचीन प्रणाली है । यदि आत्मशुद्धयर्थी कथनी ही करता रहे और करनी पर ध्यान न दें तो उसकी दशा उस डॉक्टर की सी हो सकती है जो औषधियों का विशेषज्ञ तो है, परन्तु स्वयं औषधि-सेवन नहीं करता है । उसका रोग-विज्ञान सही है, किन्तु आचरण के बिना अकार्यकारी है । वर्तमान में स्वाध्याय-परिपाटी विशेष विकसित हुई है, परन्तु उसका जो प्रतिफल होना चाहिये वह विचारणीय है । वस्तु स्वरूप अनेकान्तात्मक है । वचन प्रणाली नयाधीन है । अनेक नयसापेक्ष होकर वस्तुस्वरूप सिद्धि करते हैं अतः नयों की खींचतान वस्तुस्वरूप प्रतिपादन में बाधक ही है, साधक नहीं । श्रोता और वक्ताओं को आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी की निम्न सम्मति शिरोधार्य करनी चाहिये ।

**'एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ति वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनीनीतिर्मन्थान नयमिव गोपी ॥'**

भवसागर से तिर जाते जो करते तप आराधन,
मुक्तिनगर के पथ पर बढ़ते कर निज आतमसाधन ।
निज कल्याण तो करें बहुत पर उनसे श्रेष्ठ है कोई,
आप तिरें पर को भी तारें वे 'श्री धर्म' तपोवन ।।

जैनधर्म : विश्व शांति में सहायक

'महाभारत' में वर्णित 'वन-पर्व' के यक्ष-प्रश्न-प्रसंग में पूछा गया कि "दिशा कौन-सी है ?" और इसके उत्तर में कहा गया कि 'संत ही दिशा हैं' (सन्तो दिक्)। आज जब हम भगवान महावीर के जीवन और उपदेशों को देखते है तो मालुम होता है कि भारत ही नही, वरन् विश्व की सुख-शांति के लिए वे अनुकरणीय हैं। उनकी अहिंसा, अनेकान्त दृष्टि और अपरिग्रह की भावना हमारे लिए आज भी प्रासंगिक हैं। उनका 'जियो और जीने दो' का सिद्धान्त किसे उपादेय नहीं लगता ? महावीर का लोकधर्म, व्यक्ति-विकास की पूर्ण प्रतिष्ठा हमारे युग के परिवेश मे बंधी हुई है। उनकी वाणी की सहज उद्भूति–'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत्' में द्रव्य की जो परिभाषा अभिव्यंजित है वह वैज्ञानिको के परीक्षण-अन्वीक्षण द्वारा मान्यता प्राप्त कर चुकी है। भगवान महावीर ने अपने भेद-विज्ञान के दर्शन मे जड़-चेतन की सम्पूर्णता का जो अति सूक्ष्म ज्ञान दिया, आज विज्ञान उसी की ओर अग्रसर है। उनका अनेकान्त-वाद का सिद्धात 'सर्वधर्मसमभाव' (अर्थात् द्रव्यों में पाये जाने वाले अनन्त धर्मों के समन्वय) का प्रतीक है और बदलते युग के सदर्भों में उसकी उपादेयता और बढ गई है। वर्तमानयुग के परिप्रेक्ष्य मे यदि भगवान महावीर की जीवन-दृष्टि, उनका अहिंसा-दर्शन से, हम अपनी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक समस्याओ का समाधान प्राप्त कर सकते हैं। यह माना कि महावीर के युग और हमारे युग के बीच तीन हजार वर्षों का लम्बा फासला है, परन्तु उनके सिद्धान्त उतने ही अधिक निकट है, उतने ही अधिक उपयोगी है जितने तद्युगीन थे अत: महावीर की प्रासंगिकता पर प्रश्न-चिह्न नहीं लगाया जा सकता और नि:संदेह विश्व-शांति के लिए वह आज भी पथदर्शक हैं।

❖ डा० निजाम उद्दीन

अहिंसा का दर्शन महावीर के महावीरत्व का उद्घोषक है। अहिंसा की भावना का प्रचार-प्रसार महावीर से पूर्व भी तीर्थंकरों और ऋषि-मुनियों ने किया, परन्तु महावीर ने उसमें अधिक व्यापकता भरी। उनका प्राणी-तंत्र का यह दर्शन मनुष्य के साथ असंख्य पशु-पक्षी और कीड़े-मकोड़ों तक फैला हुआ है। उन्होंने कहा—'मेत्तिं भूएसु कप्पए।' (उत्तरा० ६/२) अर्थात् सब जीवों के प्रति मैत्री भाव रखना चाहिए। जब मैत्री इतनी व्यापक हो तो शत्रुता कहाँ रहेगी, किसके साथ वैर होगा? हम देखते हैं कि एक देश से दूसरे देश में मैत्री-सम्बंध रखने के लिए, मैत्री बढाने के लिए राजदूत को भेजा जाता है, दूतावास-स्तर पर सम्बंध गाढ़े व गहरे बनाये जाते हैं, जब कभी परस्पर किसी बात पर मतभेद होता है। तो ये देश इसी दूतावास-स्तर पर वार्ता द्वारा उसे दूर कर लेते हैं। भारत के अपने पड़ोसी देशों के साथ जब कभी कोई मत-भेद होता है तो उसे मैत्री भाव से मैत्रीपूर्ण वातावरण में दूर कर लिया जाता है। यदि इसी प्रकार की मैत्री को बनाये रखा जाये, एक सम्मानजन्य और समताजन्य वातावरण हमेशा कायम रखें तो कोई बात नहीं कि संसार के सभी देशों में शांतिपूर्ण सम्बंधों का विकास हो, उन्हें मजबूती मिले। आचार्य उमास्वामी ने 'तत्त्वार्थसूत्र' (५/२१) में कहा है—'परस्परोपग्रहोजीवानाम्', अर्थात् जीवों का परस्पर उपकार। जैनदर्शन का यह सूत्र सकल संसार को शांति एवं सह-अस्तित्व की प्रेरणा देता है। मैत्री, उपकार या सह-अस्तित्व के आदर्श खोखले या अव्यावहारिक नहीं हैं, इनकी व्यावहारिकता असंदिग्ध है। राजनीतिक स्तर पर राष्ट्रसंघ की स्थापना (१९४५) का प्रमुख उद्देश्य यही था। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने बाण्डुंग-सम्मेलन (१९५४) में सह-अस्तित्व (Co-existence) की बात कहकर जो पंचशील के सिद्धान्त स्थापित किये थे उनके पीछे क्या जैनधर्म की अहिंसा, मैत्री या 'परस्परोपग्रहोजीवानाम्' का आदर्श काम नहीं कर रहा था? गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के कर्णधारों—पं० जवाहर लाल नेहरू, मिस्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर, युगोसलावाकिया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो ने मैत्री और सह-अस्तित्व को बढ़ावा देने के लिए इस गुट को स्थापित किया था। और हम देखते हैं कि भारत की यह गुट-निरपेक्ष नीति बहुत सफल है—इसका आधार समानता के स्तर पर मैत्रीभाव है।

जैनधर्म में हिंसा चार प्रकार की मानी जाती है— (१) स्वभाव हिंसा—जो क्रोधादि कषायों से उत्पन्न होती है। (२) स्वद्रव्य हिंसा—अंग को, शरीर को कष्ट देना, आत्मघात करना। (३) परभाव हिंसा—कुवचन बोलकर, दूसरों के अन्तरंग को पीड़ा पहुंचाना। (४) परद्रव्य हिंसा - दूसरे को आघात पहुंचाना, प्राणों का हनन करना। हिंसा के इन सभी प्रकारों-रूपों का विनाश जैनधर्म का प्रमुख लक्ष्य है। भारत यों भी अहिंसा में विश्वास करता रहा है, परन्तु जैनधर्म मे प्रतिपादित अहिंसा अधिक व्यापक है, बहुआयामी है। यहां वचनों से भी यदि किसी के हृदय को ठेस पहुंचती है तो उसी का निषेध है, किसी की भावना को धक्का लगता है तो वह हिंसा भी त्याज्य है। ऐसी व्यापक अहिंसा को आचरण के सांचे में ढाला जाये तो मनुष्य के व्यक्तित्व को दूसरा रूप क्यों न प्राप्त होगा। संसार का यह विषमताजन्य वातावरण क्यों न समतामय बनेगा, क्यों न यहां एकता की भावना परवान चढेगी। देखने में आता है कि सशस्त्रीकरण की होड़ लगी है, प्रत्येक देश सैनिक शक्ति जुटाने में लगा है, करोड़ों रु० गोलाबारूद, घातक अस्त्र, अणुबम आदि बनाने मे पानी की तरह बहाया जा रहा है। यदि सब देश ठण्डे मन से जैनधर्म की अहिंसा पर विचार करें और उसे अपने जीवन में ढालें, उस पर अमल करें तो विश्व में अशांति के और शीत युद्ध के बादल शीघ्र छट सकते हैं।

हम कहते हैं कि प्रदूषण पर्यावरण में है, कभी जल-पर्यावरण की बात कही जाती है, कभी वायु के प्रदूषण की चर्चा की जाती है, यह सब तो है ही और इसका जिम्मेदार भी मनुष्य है, उसकी स्वार्थबद्ध दृष्टि है। बागों, उपवनों, वनों का कटाव कितना घातक सिद्ध हुआ है यह किसी से छिपा नहीं, तभी मनुष्य को कुछ होश आया और उसने वृक्षारोपण या वन-महोत्सव का कार्य शुरू किया। परन्तु इससे कहीं घातक है विचारों का प्रदूषण। विचारों में प्रदूषण के कारण हम दूसरों की निन्दा करते हैं, उनकी अवमानना करते हैं। यदि जैनधर्म के अनेकान्तवाद पर दृष्टि डाली जाये तो यहां सभी प्रकार का विचार-वैभिन्न्य समाप्त हो जाता है। यह एक अना-ग्रही दृष्टिकोण है। इसमें दुराग्रह या हठधर्मी के लिये कोई स्थान नहीं। जहां दुराग्रह होगा वहीं संघर्ष और द्वन्द्व

का घोर-गर्जन सुनाई पड़ेगा। जब भी कोई विकट समस्या उत्पन्न होती है तो उसका प्रमुख कारण हठधर्मी और दुराग्रह होता है। इस्राईल, वियतनाम आदि की समस्याए इसका उदाहरण मानी जा सकती हैं। महावीर ने दुराग्रहों को समाप्त करने के लिये एक उदार दृष्टिकोण दिया—'अनेकान्तवाद'। इस दृष्टि से वैचारिक सहिष्णुता का उदय होता है, किसी प्रकार का विचारद्वन्द्व नहीं रहता क्योंकि यह अनेक मतों-धर्मों को सामने रखता है, किसी एक के प्रति आग्रही नहीं होता। यदि इस वैचारिक सहिष्णुता के आलोक में प्रवेश करे तो सभी प्रकार का तिमिर दूर हो सकता है, संसार को शांति का आलोक मिल सकता है।

भय का वातावरण दूर करने के लिये जैनधर्म की, भगवान महावीर की शरण में आना पड़ता है। महावीर तो निर्भय होकर वनों, पर्वतों, उपत्यकाओं में घूमते फिरे। हिंस्र पशुओं, बटमारों से भी उन्होंने मैत्री की, अहिंसापूर्ण व्यवहार किया, वह किसी से भी नहीं डरते थे। आज हम घर के बाहर ही नहीं, घर में भी डरते हैं, स्त्रियों का इधर-उधर आना-जाना खतरे से खाली नहीं। सारा समाज हिंसा के अभिशाप में जकड़ा है, चारों ओर अशांति है, लूटमार है, बलात्कार और व्यभिचार है। इसके पीछे कारण है अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और अस्तेय का अभाव। स्मगलिंग का सामान धड़ाधड़ इधर-उधर पहुचता है, दिन दहाड़े घरो को लूटा जाता है, हत्याएं भी धन लूटने के लिये की जाती हैं। धन-लिप्सा न जाने कैसे-कैसे अपराध कराती है ? यदि जैनधर्म के उक्त महान्-व्रतों को जीवन मे उतारें तो संसार का आर्थिक संघष नष्ट हो सकता है, वस्तुओं के मूल्य भी निश्चित रूप में घट सकते हैं। अपरिग्रह में धन बटोरने या धन-संग्रह करने के लिये लूट-खसोट नही की जाती। यहां दूसरों को निर्धन बनाकर, उनके अभाव की उपेक्षा करके हम वैभवपूर्ण जीवन बिताते है, फिर शांति कैसे हो ? समाज में, विश्व में शांति स्थापित करने के लिये अपरिग्रहवाद के राजमार्ग पर चलना होगा और परिग्रह की अंधकारपूर्ण, भ्रमित करने वाली, अशांति की ओर ले जाने वाली सकीर्ण पगडंडियों को छोडना होगा। जैनधर्म के सिद्धांत निश्चित रूप से संसार मे शांति स्थापित करने मे कारगर साबित होगे, जरूरत केवल उन्हें पढ़ने या देखने की नही, जीवन में, व्यवहार में उतारने की है।

धर्म आत्मज्ञान का सम्बल है, परलोक यात्रा का उत्तम पाथेय है और धर्मराज के बहीखाते में लिखाने योग्य उत्तम वित्त (पूंजी) है। अतः धर्माचरण में प्रमाद नहीं करना चाहिये, क्योंकि धर्म आत्मदृष्टि देता है और उससे मनुष्य को प्राप्ति और नाश का हर्ष-विषाद नही होता है।

जैन पद्मपुराण में नारी का पारिवारिक आदर्श स्वरूप

❖ डॉ० कैलाशचन्द्र जैन
[बड़ौत–मेरठ (उ० प्र०)]

धर्मग्रन्थों, धर्म-शास्त्रों को आध्यात्मिक श्रद्धाभाव से पढ़ लेना एक धार्मिक परम्परा के रूप में बनता चला जा रहा है। मनन, चिन्तन कर उनसे आदर्श, नैतिक मानवीय, व्यवहारिक, निर्देशों उपदेशों एवं शिक्षाओं को जीवन में समाहित कर, नैतिक आदर्शों से युक्त जीवन यापन की प्रक्रिया को अपनाना चाहिए, परन्तु स्वाध्याय में संलग्न अधिकांश साधकों में इस व्यावहारिक तथ्य का नितांत अभाव पाते हैं। केवल अक्षर ज्ञान सीखने वाले बालक की भांति बार-बार आगमों को पढने वाले व्यक्तियों को झूठे गर्व से दम्भित पाया जाता है। उनकी शिक्षाओं और जीवन में समाहित करने वाले पक्षों से विहीन, ऐसे गर्वित व्यक्ति निरर्थक ही ज्ञानी होने का दावा करते रहते हैं।

महिलाएँ बड़ी श्रद्धा व अनन्य भक्ति से, धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत होकर जैन पद्मपुराण एवं अन्य आगमों को नित्य-प्रति अध्ययन करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु पद्मपुराण में निर्देशित नारी के लिए उपयोगी आदर्शों को जीवन में न अपनाकर ग्रन्थ अध्ययन की महत्ता को पूरा करने में असक्षम रहती हैं। पद्मपुराण के कथानकों, विभिन्न नारी चारित्रों से सम एवम् विषम परिस्थितियों में नारी के लिये अति उपयोगी अनुकरणीय आदर्शों, व्यवहारिक जीवन में धारण करने योग्य शिक्षायें मिलती हैं। उनको अपने जीवन में समन्वित करने से ही नारियां अध्ययन के उद्देश्य की पूर्ति कर स्व-जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर, परिवार, समाज, राष्ट्र और भावी पीढ़ी के नव-निर्माण के कार्यों को सुगमता से पारित कर सकती हैं। प्रस्तुत समीक्षात्मक अध्ययन में नारी के लिये उपयोगी शिक्षाओं पर प्रकाश डालते हुए सृष्टि निर्मात्री, पोषक नारी को आदर्श जीवन निर्माण की प्रेरणा देने का प्रयास किया गया है।

पितृकुल में अविवाहित कन्या के लिये लज्जाशील होकर, माता-पिता, भाई-बहन एवं परिवार के सदस्यों की सलाह से कार्य करना हो श्रेष्ठतम् पारिवारिक धर्म है। महाभारत[१] में इस आर्य सत्य को स्वीकार करते हुए अविवाहित तरुणी, शकुन्तला कहती है कि 'पिता ही मेरे प्रभु है। कुमारावस्था में पिता, जवानी में पति, और बुढ़ापे में पुत्र रक्षा करता है'।[२] अतः स्त्री को कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिए। राजा दशानन की कुंवारी बहन चन्द्रनखा, भाई की आज्ञा का पालन करते हुए, निर्जनवन में स्थित दुर्ग में भी प्रसन्नता पूर्वक रहते हुए, गौरव का अनुभव करती थी।[३] कन्याओं को घर में लज्जा-शील होकर ही रहना चाहिये। उपस्थित अतिथियों के साथ लज्जा-युक्त विनम्र व्यवहार का परिचय देना चाहिये।[४]

वर-चयन अवसर पर कन्या को लज्जाशील होकर माता-पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिये। राजा सुग्रीव की पुत्री को जब विभिन्न योग्य वरों के चित्रपट दिखाये गये, तो वह लज्जाशील होकर मौन ही धारण किये रही।[५] पद्मपुराण में अनेकानेक अवसर पर योग्य कन्याओं के पिता को स्वयं योग्य वर चयन के लिये अति चिन्तित पाते हैं।[६] योग्य वर की खोज करते हुए, माता-पिता न रात में सुख से निद्रा लेते हैं, और न दिन में चैन रखते हैं।[७] सती अञ्जना के पिता कहते है कि 'मेरा मन तो निरन्तर कन्या के अनुरूप सम्बन्ध ढूंढने की चिन्ता में व्याकुल रहता है। अपनी एक कन्या को योग्य वर देने की चिन्ता मन में हर क्षण विद्यमान रहती है'।[८] राजा पृथु अपनी कन्या कनकमाला के वर चयन की स्थिति में नौ गुणों—कुल, शील, धन, रूप, समानता, बल अवस्था, देश और विद्यागम पर विचार करने के उपरान्त 'कुल' गुण से सन्तुष्ट न होने के कारण दूत को अपनी कन्या, अन्य सभी गुणों से युक्त राजकुमार कुश को देने से इंकार कर देते हैं।[९] स्वतः अभिव्यक्त है कि माता-पिता कन्या के लिये हर दृष्टिकोण से योग्य वर के लिये स्वयं अत्यधिक-प्रयत्नशील, उद्यमी होकर, योग्यवर प्राप्त होने पर ही उसका विवाह करते हैं। अतः कन्याओं के लिये माता-पिता, परिवार जनों से निश्चित किया गया विवाह ही श्रेष्ठ एवं सामाजिक दृष्टि से सम्मानजनक है। पद्मपुराण मे जहा अनेक स्थलों पर तरुणियों ने स्वय वर पसन्द कर विवाह किया, वहां भयंकर युद्ध अवसर उपस्थित हुए।[१०]

विवाह के उपरान्त नारी को पति के मन, हृदय-इच्छा के अनुरूप जीवन-साधना में संलग्न हो जाना चाहिए। उच्च-कुलों की मनीषी नारियां पति के अभिप्राय के अनुसार ही परिवार-निर्णयों में उत्साह से भाग लेती हैं।[११] महाभारत[१२] मे पतिव्रता नारी को निर्देशित किया गया है "जो हृदय से अनुराग के कारण स्वामी के आधीन रहती है, चित्त को प्रसन्न रखती है, देवता के समान पति की सेवा और परिचर्या करती है, पति के लिये सुन्दर वेष धारण करती है, प्रसन्नचित्त रहती है तथा जो स्वामी के कठोर वचन कहने या

---

१. महाभारत-आदिपर्व-७३/५, तृतीय स०।

२. जनको भर्ता पुत्रः स्त्रीणामेतावदेव रक्षा निमित्तम्।
रविषेणाचार्य-पद्मपुराण-७८/९ भारतीय ज्ञानपीठ।

३. पद्मपुराण—८/३२ से ३८। ४. पद्मपुराण—८/३४ से ३५। ५ पद्मपुराण—१९/१११ से ११५।

६ पद्मपुराण—८/४-५, १०/७ से १०। देखिये, पुष्पदन्त-जसहरचरिउ-१/२५/१० से १५, सं० एव अनु० पण्डित हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी।

७. विचिन्तयन्तौ पितरौ च तस्या योग्यं वरं शोभनविभ्रमाया. नक्तं न निद्रा सुखतो लभेता दिवा.........पद्मपुराण—१६/११०।

८. पद्मपुराण—१५/२० से २४, १५/८२ से ८५ तक। ९. पद्मपुराण—१०१/११ से १७ तक।

१०. पद्मपुराण—८/१०० से १२५ तक, ९/२४ से ३० तक। ११. भर्तुश्छन्दानुवर्तिन्यो भवन्ति कुल बालिका [पद्मपुराण ८/११, १७/७०] १२. महाभारत-अनुशासन पर्व १४६/४१-४२।

दोषपूर्ण दृष्टि से देखने पर भी प्रसन्नता से मुस्कराती रहती है, वही पतिव्रता स्त्री है।" कवि कुलगुरु कालिदास ने उपदेशित किया है कि 'नारी का सौन्दर्य एवं वेष तब ही सार्थक है, जब वह पति को प्रसन्नचित कर दें।" पति के साथ सुख दुःख में समभाव से सहभागी होनी चाहिए। पति के कष्टों में होने पर कुलवती नारियों के मुख शोक से कान्ति हीन हो जाते हैं।[1] कष्ट आने पर नारी को धैर्य धारण कर बुद्धि से कार्य करते हुए समस्याओं का निराकरण करना चाहिए। क्रोध, उतावलेपन एवं द्वेष की अग्नि परिवार को भस्म कर देती है। पर-स्त्री आसक्त दशानन को पति के कल्याणकारी भविष्य निर्माण की इच्छुक उसकी अग्रमहिषी रानी मन्दोदरी धैर्य व कुशलता से अपने पति के गुणों एवं चरित्र की प्रशंसा करते हुए, व्यवहारिक व ऐतिहासिक कथानकों एवं उपमाओं से सद्‌मार्ग पर लाने के प्रयास में लगी रहती है।[2] मन्दोदरी रावण से प्रार्थना करती है—"हे विद्वान ! हे सुन्दर ! ... हे यशस्विन् ! विष के समान दुष्ट, निन्दनीय तथा परम अनर्थ का कारण जो यह लोकापवाद है, इसका परित्याग करो"—इस प्रकार प्रयत्न करती तथा उसका परम हित चाहती हुई, मन्दोदरी हस्तकमल जोड़कर रावण के चरणों में गिर पड़ी।[3]

वास्तव में पतिव्रता नारी प्रारम्भ में पति के द्वारा स्नेह से वंचित होने पर भी धैर्य से पति के सुखों की कामना करती हुई, कालान्तर में पति के असीम स्नेह को प्राप्त होती है। सती अन्जना पति के विमुख होने पर भी पतिव्रत धर्म का पालन करते हुए पति के स्नेह की आकांक्षा रखती है। युद्ध में जाते समय उसका पति अपशब्दों का प्रयोग करता है, तो भी वह शान्ति एवं धैर्य से हाथ जोड़कर प्रार्थना करती है—"हे नाथ ! इस महल में रहते हुए भी मैं आपके द्वारा त्यक्त हूं, फिर भी मैं आपके समीप ही रही हूँ इतने मात्र से ही सन्तोष धारण कर अब तक बड़े कष्ट से जीवित रही हूं, पर हे स्वामिन् ! अब आपके दूर गमन करने पर मैं आपके सद्‌वचनरूपी अमृत के स्वाद बिना किस प्रकार जीवित रहूंगी।"[4] उदार नारी स्वभाव को धारण कर अन्जना ने कालान्तर में पति का ऐसा स्नेह प्राप्त किया, जिसे प्राप्त करने वाली नारियां सर्वस्व प्राप्त कर, स्वर्गानुभूति करते हुए, ऐतिहासिक बन जाती है।[5] निर्दोष सती जानकी, राजा राम द्वाराधोखे से जंगली, हिंसक पशुओं से व्याप्त भयंकर वनों में परित्यक्त कर देने पर भी राम के सुखों की कामना करती है।[6] स्नेह समन्वित, आगमानुचित, कल्याणकारी, श्रद्धायुक्त भावनाऐं अभिव्यक्त करते हुए कहती है—"हे गुण भूषण ! यद्यपि आत्महित को नष्ट करने वाले अनेकानेक विचारों का स्मरण करेगे, परन्तु पागल की भांति उन्हे हृदय में धारण नहीं करना, विचार पूर्वक ही कार्य करना,........कभी विकार को प्राप्त नहीं होने से सूर्य के समान सबको प्रिय रहना........ क्षमा से क्रोध को, मार्दव से मान को, आर्जव से माया को और सन्तोष से लोभ को कृश करना। हे नाथ ! आप तो समस्त शास्त्रों में प्रवीण हैं। अतः आपको उपदेश देना योग्य नहीं है। यह जो मैंने कहा है वह आपके प्रेम रूपी ग्रह से संयोग रखने वाले मेरे हृदय की चपलता है।"[7] महापुराण में चित्रित किया गया है कि अत्यधिक धैर्यशील नारी, पर-स्त्री में संलग्न अपने पति के कठोर शब्दों से युक्त सन्देश को भी चुपचाप सहन कर रही थी।[8]

पतिव्रता नारी अन्ततोगत्वा परिवार को संजोए रखने में सफल होती है। उसकी अनुपस्थिति में पति उसके गुणों, चरित्र, कार्य-क्षमता आदि गुणों को स्मरण कर दारुण विलाप में संलग्न हो जाता है। राम, सीता के वियोग में कहते हैं कि "सूर्य के बिना आकाश क्या ? और चन्द्रमा के बिना रात्रि क्या ? इसी प्रकार

---

१. जिनसेनाचार्य-महापुराण ३५/१५९, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

२. पद्मपुराण ७३/२१ से ११४ तक। ३. पद्मपुराण ७३/११५-११६।

४. पद्मपुराण १६/८० से ९२ तक। ५. पद्मपुराण १६/१७० से २३०, १८ वां पर्व भी देखिये।

६. पद्मपुराण ९७ वां पर्व। ७. पद्मपुराण ९७/१२६ से १३२।

८. 'अनुरक्ततया दूरं नीतया प्रणयोचिताम्। भूमि यूनाऽन्यया सोढः सन्देशः परुषाक्षरः।' महापुराण ३५/१६५।

स्त्री रत्न के बिना अयोध्या क्या ?[१] सती अञ्जना को न पाकर पवनंजय का हृदय वज्र से चूर्ण हो गया, कान तपाये हुए खारे पानी से भर गये और वह स्वयं निर्जीव की भांति निश्चल रह गया। शोक-रूपी तुषार के सम्पर्क से उसका मुख कमल की भांति कान्ति रहित हो गया।[२] इस तरह नारी पति के जीवन का एक पूरक अंग है। महाभारत में युधिष्ठिर को नीति का उपदेश देते हुए, पितामह भीष्म ने कहा कि "संसार में स्त्री के समान कोई बन्धु नहीं है, स्त्री के समान कोई आश्रय नहीं है और स्त्री के समान धर्म-संग्रह में सहायक भी कोई दूसरा नहीं है।"[३] अस्तु नारी के बिना मनुष्य का जीवन निरर्थक है, नर्क है, नारी विहीन पुरुष को सन्यास लेकर जंगलों में चला जाना चाहिए।[४]

नारी को अपने शील की सुरक्षा के लिये सबसे अधिक प्रयत्नशील होना चाहिए। कुमार्ग पर चलने वाली नारी अपने परिवार का विनाश कर देती है। राजा नलकुबार की नारी उपरम्भा रावण पर आसक्त हो गयी, उसने रावण को पाने की अभिलाषा में अपने पति को रावण से पराजित करा दिया, फिर भी वह अपनी पापमयी, भोग इच्छा पूर्ण न कर सकी और अपने चरित्र को कलंकित बना लिया।[५] नारी का चरित्र, शील, नैतिक जीवन परिवार के लिये अतिआवश्यक है। पतिव्रता, शीलवती नारी परिवार में ही अद्वितीय स्थान प्राप्त कर परिवार संचालन में ही सफल नहीं होती है, वरन् समाज और राष्ट्र में भी उसका त्याग, संयम, अनुकरणीय एवं पूज्य होता है। नारी शीलव्रत के पालन से स्वर्गगामिनि होती है।[६] पति त्यक्ता सीता, सती–शीलवती नारी थी, तब ही पराये घर में राजा की कान्ति को धारण करने वाले बड़े-बूढ़े लोग भेंट ले लेकर उसकी वन्दना करते थे। देवतुल्य राजा उसे प्रणाम कर पद-पद पर उसकी अत्यधिक प्रशंसा करते हुए कहते थे कि–"हे मान्ये भगवति ! हे श्लाघ्ये ! तुम्हारे दर्शन से हम संसार के प्राणी निष्पाप और कृत-कृत्य हो गये।"[७] अस्तु मानव को भी पतिव्रता, शीलवती नारी का आदर करते हुए उसकी सुरक्षा करनी चाहिए, यही मानव धर्म है।[८]

नारी को पति-कुल मे इस तरह समाहित हो जाना चाहिए, मानो वह जन्म से ही उसका एक अंग है। वह अन्यत्र किसी घर से नहीं आई है। पतिकुल के सभी सदस्यो को यथा योग्य पिता-माता, भाई-बहन के अनुरूप मानकर अतिस्नेह से प्रेममयी स्नेह समन्वित प्रीति-कुल का आदर्श-स्थापित करना चाहिए। सास को माँ के समान मानकर आदर से सास के चरणो मे नमस्कार कर उसकी सेवा करनी चाहिए।[९] सीता अपनी सास को अत्यधिक प्रिय थी, क्योंकि वह अपने सास को माता तुल्य मानकर उसकी सेवा पूजा करती थी। सास को भी अपनी बहू को स्व-पुत्री के समान स्नेह देना चाहिए। रानी कौशल्या ने हृदय से एक आदर्श सास का चरित्र प्रस्तुत किया है। वह सीता के वियोग मे इतनी व्याकुल है, मानो उसकी स्वयं की पुत्री उससे दूर है।

---

१. ....स्त्री रत्नेन बिना तेन साकेता वापि कीदृशी। पद्मपुराण ९९/५। २. पद्मपुराण १८/२५-२६।

३ नास्तिभार्यासमो बन्धु नास्ति भार्यासमा गति।
नास्ति भार्या समो लोके सहायो धर्मसंग्रहे ॥ महाभारत-शान्तिपर्व–१४५/१६।

४. देखिए जैन के० सी०, "जातकों का सामाजिक और सांस्कृतिक अध्ययन।" पृ०–१६९।
[मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ स पी० एच० डी० उपाधि प्राप्त शोध प्रबन्ध, १९७९]

५. पद्मपुराण १२/१००-१५१ तक।

६. एकेन व्रतरत्नेन पुरुषान्तर वर्जिना।
स्वर्गारोहणसामर्थ्यं योषितामपि न विद्यते ॥ पद्मपुराण ८०/१४७।

७. पद्मपुराण ९९/७ से ११ तक।

८. 'स्वदार परिपालन धर्मं गृहमेधिना धर्मः'।
धनपाल-तिलक मंजरी पृ० ३१८, सं० १९३८, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

९ 'पणवमइ देविय तहुणवइ पाय'। जसहरचरिउ १/२७/१९।

वह दारुण विलाप करते हुए कहती है–"सुख से जिसका लालन पालन हुआ तथा जो वन की हरिणी के समान भोली है, ऐसी राजपुत्री बेटी सीता बन्दीगृह में पड़ी हुई दुःख से समय काट रही होगी..........हाय मेरी पतिव्रते बेटी सीते ! तुम समुद्र के मध्य इस भयंकर दुःख को कैसे प्राप्त हो गयी ?"[१] सती अञ्जना के गर्भवती होने पर उसकी सास ने धैर्य और बुद्धि से कार्य नहीं किया। उसने निर्दोष अञ्जना पर चरित्रहीन का आरोप लगाकर घर से बाहर निकाल दिया।[२] अञ्जना दीन वचनों से अपनी सास के प्रति मन में कोई अनादर की भावना न रखते हुए, उसके उतावलेपन को स्पष्ट करते हुए स्मरण करती है—"हे सास ! बिना परीक्षा किये ही क्या मेरा त्याग करना तुम्हें उचित था, जिसके शील में संशय होता है उसकी परीक्षा करने के भी तो बहुत उपाय हैं।[३] यही अंजना की सास जब सत्य से परिचित होती है, तो घर का विनाश की सीमा पर पहुँचने की अवस्था में पश्चाताप करते हुए स्वीकार करती है "कि सत्य को जाने बिना मुझ पापिनी ने क्या कर डाला, जिससे पुत्र जीवन संशय को प्राप्त हो गया।"[४]

नारी को पति-बहन (ननन्द) के प्रति भी अति स्नेह का भाव रखते हुए उसके सफल भावी जीवन में सहायक होना चाहिए। रावण की बहन चन्द्रनखा को जब विद्याधर राजा हर कर ले गये, रावण उन्हें मारने के लिये उद्यत होकर युद्ध करने के लिये चला, तो मन्दोदरी ने अपनी ननन्द के उचित भविष्य के स्वरूप की व्याख्या करते हुए, रावण को स्नेह से समझाया।[५] अतः वास्तव में घर-परिवार का स्थायित्व एवं परम सुख तभी विद्यमान रहता है, जब घर में सभी नारियां राग द्वेष से मुक्त होकर, धैर्य, लज्जाशील, बुद्धि-प्रवीण होकर, एक दूसरे का गहन विश्वास कर, गृहस्थ-कार्यों की पूर्ति धर्मानुकूल करने में प्रयत्नशील होकर, परिवार, कुल-वंश, के सम्मान की सुरक्षा में अपने व्यक्तिगत हितों को गौण कर तत्पर हो जाती है।

परिवार में नारी का पति के भाईयों के साथ उज्ज्वल सम्बन्ध होते हुए नैतिक आदर्शों, मधुर, स्नेह एवं सम्मान से युक्त व्यवहार होना चाहिए। पति के ज्येष्ठ भ्राता (जेठ) को पिता तुल्य मानकर, उनकी आज्ञाओं के पालन में सचेत रहना चाहिए। भरत के गृह-परित्याग के समय भरत की रानियां–अपने जेठ राम की आज्ञा मिलने पर ही उपस्थित हुईं थी।[६] देवर लक्ष्मण अपनी भाभी सीता का मां तुल्य आदर करते हुए, उनको चरणों में नमस्कार करते थे, सीता भी लक्ष्मण को महाज्ञानी मानकर अतिस्नेह एवं आदर करती थीं।[७] भरत जब दीक्षा लेने के लिये उद्यत होता है, तो उसकी भाभियां हार्दिक स्नेह से उससे परिवार में ही रहने की प्रार्थना करती हुई कहती हैं–'हे देवर ! हम पर प्रसन्न होईये हम लोग आपके साथ जलक्रीड़ा करना चाहती हैं।'[८] लक्ष्मण ने एक निस्वार्थी ईर्ष्यारहित, बुद्धिमान देवर के आदर्श का परिचय तब दिया, जब राम, सीता के परित्याग का विचार विमर्श उनके साथ कर रहे थे। लक्ष्मण ना केवल स्नेह से वरन् बुद्धि से कहते हैं कि हे राजन् ! सीता के विषय में शोक नहीं करना चाहिए, समस्त सतियों के मस्तक पर स्थित एवं सर्व प्रकार से अनिन्दित सीता को आप मात्र लोकापवाद के भय से क्यों छोड रहे हैं ?...... कुत्ते के भौंकने से हाथी लज्जा को प्राप्त नहीं होता है ...... चुगली करने में एवं दूसरों के गुणों को सहन नहीं करने वाला दुष्टकर्मा-दुष्ट मनुष्य निश्चित दुर्गति को प्राप्त होता है।'[९] परिवार में लक्ष्मण और सीता का देवर–भाभी सम्बन्धी स्वरूप अति आदर्शमयी शिक्षा-प्रद है। भाभी के शील, गौरव, चरित्र एवं उज्ज्वलता की सुरक्षा करने वाले लक्ष्मण जैसे देवर का निर्मल चरित्र, आधुनिक युग के परिवारों के लिये अत्यधिक अनुकरणीय है।

---

१. पद्मपुराण ८१/३५ से ३७।
२. पद्मपुराण १७/१ से १३ तक।
३. पद्मपुराण १७ वां पर्व, १७/७१-७२।
४. पद्मपुराण १८/६५।
५. पद्मपुराण ९/२५ से ३५ तक।
६. पद्मपुराण ८३/९२।
७. पद्मपुराण ७९/५८ से ६०।
८. पद्मपुराण ८३/६३ से १०१ तक।
९. पद्मपुराण ९७/२५ से ३३ एवं ४५ से ४९ तक।

नारी को पति-कुल को ही अपना स्थायी घर समझकर अपने पितृकुल को आवश्यकता से अधिक महत्त्व न प्रदान कर सद्‌बुद्धि से कार्य करना चाहिए। स्त्रियों को भाई-बन्धुओं के घर अधिक रहने से उनके कीर्ति, शील तथा पतिव्रत धर्म का नाश होता है।[1] डा० शकुन्तला तिवारी लिखती हैं कि "भारतीय धर्म-शास्त्रों में स्त्री को पति के घर में ही अधिक रहने से स्त्री की मान-मर्यादा बढ़ती है।'[2] व्यवहार में देखने में आता है कि सती; शीलवती पतिकुल त्यक्त नारी को उसके स्नेही माता-पिता भी सम्मान न देकर अपने घर से ही विदा कर देते हैं। सती अंजना के पिता राजा महेन्द्र ने पतिकुल से त्यक्त प्रिय पुत्री से भेंट किये बिना ही एवं सत्य का अवलोकन किये बिना ही उसे पापकारिणी की संज्ञा देते हुए घर में घुसने ही नहीं दिया।[3] अतः नारी जीवन का यही संयम-व्रत होना चाहिए कि पतिकुल में कष्टों को सहन करते हुए भी शान्ति सन्तोष, उत्साह, आशा से प्रीतिमय वातावरण स्थापित कर घर को स्वर्ग-तुल्य बनाना चाहिए। घर में अपने पितृकुल के सदस्यों से अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं कराना चाहिए।

नारी के जीवन का सबसे एक अन्य महत्त्वपूर्ण पद माता के रूप में है। जहां नारी सन्तान को सुयोग्य बनाकर अपने हृदय के प्रेम-स्नेह की क्षुधा को शान्त कर, अपने कर्त्तव्यों का पालन करती है, वहां समाज एवं राष्ट्र के लिये एक सुचरित्र सशक्त युवा-पीढ़ी का निर्माण करती है, जिस पर राष्ट्र का भविष्य टिका हुआ है। माता को सर्वश्रेष्ठ बन्धु की भी संज्ञा दी गयी है।[4] माता का कर्त्तव्य है, कि सन्तान को समयानुकूल शिक्षा दे जिससे उनका भविष्य कल्याणमय हो। सीता ने अपने दोनों पुत्रों को युद्ध में उद्यत होने पर रोकते हुए कहा–'हे बालकों! यह तुम्हारा युद्ध के योग्य समय नहीं है, क्योंकि महारथ की धुरा के आगे बछड़े नहीं जोते जाते हैं।[5] महान तपस्विनी, मनीषिनी, सती सीता ने पुत्रों का पिता से मिलन होने के उपयुक्त अवसर पर समझाया–'मैं वन में छोड़ी गयी हू,' इस का विवाद मत करो। पिता के साथ विरोध करना रहने दो ....बड़ी विनय के साथ जाओ, और नमस्कार कर पिता के दर्शन करो–यह मार्ग न्याय संगत है।'[6] संकटग्रस्त काल में भी माता का कर्तव्य है कि वह सन्तान को सुयोग्य पथ की ओर ही अग्रसर करे। एक पतिव्रता ब्राह्मणी स्त्री, जो विधवा और दुःखों से पीड़ित थी, वह अपने पुत्र के शिक्षा प्राप्त करने में उद्यमी न होने के कारण, दुःखी होकर उससे पिता की विद्वत्ता का स्मरण दिलाकर, स्नेहपूर्वक विद्या प्राप्त करने का आग्रह कर रही थी।[7] अतः माता के रूप में नारी को बुद्धि से सन्तान के भविष्य निर्माण के प्रति सचेत होकर, उनमें चारित्रिक गुणों का विकास कर, उनको जीवन साधना को आध्यात्मिक, धार्मिक एवं नैतिक-गुणों से विभूषित करने में तत्पर रहना चाहिये। इस तरह नारी का जीवन परिवार संचालन में मुख्य भूमिका रखता है। नारी की अवहेलना से परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है। नारी वास्तव में पृथ्वी के समान परिवार की पालक है।

नारी को सामान्य बुराईयों का परित्याग कर गम्भीरता से अपने कर्त्तव्य पालन में सजग रहना चाहिये। पुराणकार एक नारी के जन्मों का उल्लेख करते हुए लिखते है कि 'गुणवती' समीचीन-धर्म से रहित हो, कर्मों के

---

१. नारीणां चिरवासो हि बान्धवेषु न रोचते।
   कीर्ति चारित्रधर्मघ्नस्तस्मान्नयत मा चिरम्॥ महाभारत आदि पर्व ७४/१२।

२. तिवारी शकुन्तला, 'महाभारत मे धर्म' पृ० ४००।

३. निरस्यित्यं पुराऽस्माद्‌दर सा पापकारिणी....... पद्मपुराण १७/३६।

४. एतस्मिन्न संसारे बन्धुर्माता प्रधानतः। पद्मपुराण ८१/७०।

५. पद्मपुराण १०१/३०-३५।

६. पद्मपुराण १०२/७९-८०।

७. पद्मपुराण ८०/१६८ से १७२।

प्रभाव से तिर्यंचयोनि में चिरकाल तक भ्रमण करती रही । वह मोह, निन्दा, स्त्री पर्याय सम्बन्धी निदान तथा अपवाद आदि के कारण बार-बार तीव्र दु:ख से युक्त स्त्री-पर्याय को प्राप्त करती रही ।[1] निरर्थक पर-निन्दा में रत नहीं रहना चाहिए । वेदवती नाम की रानी मुनि पर झूठा आरोप लगाकर पर-निन्दा करने से रोग ग्रस्त हुई ।[2] प्रवीण नारी को निरर्थक गृह-कलह में अभिवृद्धि करने वाले सत्य-तथ्यों को चतुरता एवं गम्भीरता से छिपाकर परिवार की सुरक्षा करनी चाहिये । समयानुकूल गम्भीर सत्य रहस्यों को प्रकट करने में तत्पर रहना चाहिये । जिससे परिवार में सुदृढ़ता एवं एकता बनी रहे । सीता उचित अवसर आने पर अपने पुत्रों को नि:संकोच भाव से अपना पूर्व चरित्र बताते हुए, भावी विनाशकारी युद्ध को रोक कर पितृकुल से मिला दिया ।[3] अत: नारी धैर्यशील होकर, चंचलता का परित्याग कर बुद्धिमानी से परिवार का संचालन कर घर में धर्मसागरमयी वातावरण बनाकर स्वर्ग की स्थापना कर सकती है । इस स्वर्गमयी, धर्मसागर में परिवार के ही नहीं अपितु सम्बन्धित अन्य व्यक्ति भी समाहित होकर स्व जीवन का कल्याण कर सकते हैं । अस्तु नारी का गृह संचालन में सर्वोपरि स्थान है ।

---

१ पद्मपुराण १०६/१३७ ।

२. पद्मपुराण १०६/२२५ से २३१ तक ।

३. पद्मपुराण १०२/७५ से ८० तक ।

जिसप्रकार उष्ण तवे पर पतित जल बिन्दु तरलता व शीतलता आदि गुणों का अस्तित्व खो देता है उसीप्रकार संसारी जीव कषायों की परिणति के फल स्वरूप प्रेम, विनय, वात्सल्यता आदि मानवीय गुणों का विसर्जन कर देता है ।

जैन न्याय में वाद की मौखिक तथा लिखित परम्परा

❖ श्री विशनस्वरूप रुस्तगी

[दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली]

वाद का स्वरूप (नैयायिकों का मत)—जबसे मनुष्य में विचारशक्ति का विकास हुआ, तभी से पक्ष-प्रतिपक्ष के रूप में विचारधाराओं का संघर्ष भी हुआ है। इसीसे वाद-प्रवृत्ति का जन्म हुआ। नैयायिक इस वाद-वृत्ति को 'कथा' का नाम देकर इसके तीन भेद करते है—वाद, जल्प और वितण्डा। इनके अनुसार—'वाद' वीतराग-कथा तथा 'जल्प' और 'वितण्डा' विजिगीषु कथाए है।

वाद—जब तत्त्व-निर्णय के उद्देश्य से समानधर्मियों या गुरु-शिष्यों मे पक्ष-प्रतिपक्ष को लेकर चर्चा चलती है, तब यह चर्चा 'वाद' कहलाती है। इसमे स्वपक्ष का स्थापन प्रमाण से, प्रतिपक्ष का निराकरण तर्क से, परन्तु सिद्धान्त से अविरुद्ध होता है और यह अनुमान के पांच अवयवों से सम्पन्न होती है।[1]

जल्प—तत्त्व संरक्षण के ध्येय से होनेवाला शास्त्रार्थ 'जल्प' कहलाता है। इसमें प्रमाण और तर्क के अतिरिक्त छल, जाति, निग्रह-स्थान जैसे असत्-उपायों का आलम्बन लिया जाता है।[2]

वितण्डा जब यही जल्प अपने पक्ष की स्थापना न करके केवल प्रतिपक्ष का खण्डन करता है, तो 'वितण्डा' बन जाता है।[3]

---

१. 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ: सिद्धान्ताविरुद्ध: प चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहोवाद', न्यायसूत्र १/२/१।

२. 'यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्प:,' न्या० सू० १/२/२।

३. 'स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा', न्या० सू० १/२/३।

जैनमत—जैन न्याय में वाद को वीतराग-कथा नहीं, अपितु विजिगीषु-कथा माना गया है। आचार्य अकलंकदेव[1] ने स्पष्ट रूप से जिगीषापूर्वक वाद की प्रवृत्ति का उल्लेख किया है। आचार्य विद्यानन्द[2] आदि भी इसी मत का समर्थन करते हैं। मार्तण्डकार[3] नैयायिकों द्वारा निर्धारित वाद-लक्षण का विवेचन करते हुए कहते हैं—जब 'सिद्धान्ताविरुद्ध' से अपसिद्धान्त तथा 'पञ्चावयवोपपन्नः' से न्यून, अधिक और पांच हेत्वाभास—इन आठ निग्रह-स्थानों का वाद-लक्षण से ग्रहण होता है, तो वाद भी जल्प और वितण्डा की भांति तत्त्व-संरक्षण के उद्देश्य से होने वाली विजिगीषु-कथा ही हो सकती है, वीतराग-कथा नहीं।

मार्तण्डकार[4] अपने पक्ष को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—एक अधिकरण में रहने वाले परस्पर विरोधी और एक काल में होने वाले अनिश्चित वस्तु-धर्म- पक्ष-प्रतिपक्ष होते हैं। इस प्रकार के पक्ष-प्रतिपक्ष का परिग्रह करके जल्प और वितण्डा में प्रमाण और तर्क से स्थापन और निराकरण संभव नहीं है; अतः वाद ही तत्त्व संरक्षण कर सकता है। यहां तत्त्व-संरक्षण से तात्पर्य है कि न्याय के बल से समस्त बाधक तत्त्वों का निराकरण कर देना। जल्प और वितण्डा से समस्त बाधक-तत्त्व निराकृत नहीं हो सकते, क्योंकि छल आदि असत् उपायों के प्रयोग से संशय-विपर्यय उत्पन्न हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि—छल आदि के प्रयोग से प्रतिवादी को पराजय की ओर प्रवृत्त करते हुए वादी के प्रति प्राश्निक संदेह करते हैं – 'इसका तत्त्व-संरक्षण हुआ या नहीं, शायद नहीं ही हुआ।' इस प्रकार जय-पराजय की प्रवृत्ति मात्र होने के कारण जल्प और वितण्डा तत्त्व-संरक्षण की प्रवृत्ति से रहित हैं। अकलंकदेव[5] ने भी छलादि असत्-उपायों का प्रयोग सर्वथा अन्याय्य और परिवर्जनीय माना है। इसीलिए, सम्भवतः वे वाद और जल्प का एक ही अर्थ में ऐच्छिक प्रयोग करते हैं।[6] और वितण्डा को 'वादाभास' कहते हैं।[7] परन्तु वादिराज,[8] मार्तण्डकार[9] आदि वितण्डा के साथ-साथ जल्प को भी तत्त्व-संरक्षण में अनुपयोगी बताकर उनका पूर्णतः बहिष्कार करते हैं।

एवंविध, विजिगीषु के विषय और स्वाभिप्रेत अर्थव्यवस्थापन फल वाले वाद को अकलंकदेव[10] ने चार अङ्गों से युक्त माना है। अनन्तवीर्य[11] ने वे चार अङ्ग इस प्रकार कहे हैं—सभापति, प्राश्निक, वादी और प्रतिवादी। प्रमेयकमलमार्तण्ड[12] में इन अङ्गों की कार्य-सीमा एवं उपयोगिता का भी उल्लेख है। उनके अनुसार—'सभापति' योग्य, समर्थ मन्त्रणा-कुशल तथा पक्षपात रहित होना चाहिए। 'प्राश्निक' पक्षपात में न पड़कर वादी या प्रतिवादी किसी से भी प्रश्न कर सकते हैं। ये असद्वाद का निषेध करते हैं और लगाम की भांति वादी या प्रतिवादी को इधर-उधर न जाने देकर ठीक मार्ग पर रखते हैं। ये तथा सभापति वाद-व्यवस्था के नियामक हैं। प्रमाण तथा प्रमाणाभास को ज्ञान-सामर्थ्य से सम्पन्न वादी और प्रतिवादी के बिना तो वाद की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। ये चारो अंग वाद के लिए अत्यावश्यक हैं, इनमें से एक भी अङ्ग के कम होने

---

१. 'न्यायविनिश्चय',–२/२/३; प्रमाणसंग्रह पृ० १११।
२. 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' पृ० २८०।
३ 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' पृ० ६४६-४७।
४. प्र० क० मा०–पृ० ६४७-४८।
५ द्रष्टव्य-सिद्धिविनिश्चय-पञ्चम प्रस्ताव।
६. 'समर्थवचनं वादः', प्रमा० स० श्लोक ५१; 'समर्थवचनं जल्पं', सि० वि० ५/२।
७. 'तदाभासो वितण्डादिरभ्युपेता व्यवस्थितेः', न्यायविनिश्चयविवरण २/२१५।
८. 'न्यायविनिश्चयविवरण' भाग २–पृ० २४४।
९. प्र० क० मा०–पृ० ६४७-४८।
१०. 'सिद्धिविनिश्चय'–५/२।
११. 'सिद्धिविनिश्चयटीका',–पृ० ३१३।
१२. 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' पृ० ६४८-४९।

पर वाद-व्यवस्था की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यदि नैयायिकों द्वारा स्वीकृत वाद के गुरु और शिष्य ये ही दो अङ्ग माने जाएं, तो सभापति और प्राश्निकों के बिना वाद का नियमन कौन करेगा ? अतः वाद चतुरङ्ग ही है।

जय-पराजय व्यवस्था—वाद को विजिगीषु-कथा माना गया है। इसीसे स्पष्ट है कि वादी प्रतिवादी में एक-दूसरे को जीतने की इच्छा से इसका संयोजन होता था। जब नैयायिकों ने जल्प और वितण्डा में छल, जाति और निग्रह-स्थान जैसे असत् उपायों का ग्रहण किया, तो जय-पराजय व्यवस्था उन्हीं असत् उपायों के आधार पर बनी। वे असत्-उपाय यहां वर्णित हैं—

(१) **छल**—वादी के वचन से भिन्न अर्थ की कल्पना करके उसके वचन में दोष देना 'छल' है।[१] जो तीन प्रकार का माना गया है—वाक्छल, सामान्य-छल और उपचार-छल।

(क) **वाक्छल**—सामान्येन कथित अर्थ में वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध अर्थ की कल्पना वाक्छल[२] कहलाती है। जैसे 'आढ्यो वै वैधवेयोयं वर्तते नवकम्बलः' ऐसा कहे जाने पर प्रतिवादी 'नव' के असम्भाव्यमान अन्य अर्थ 'नौ' की कल्पना करके कहे—इसके नौ कम्बल कैसे हैं ? जबकि वक्ता का अभिप्राय है—इसका कम्बल नया है।

(ख) **सामान्य-छल**—अतिसामान्य योग से सम्भव अर्थ की असम्भव अर्थ कल्पना करना 'सामान्य-छल[३] है। जैसे—'विद्याचरणसम्पत्तिर्ब्राह्मणे सम्भवेत्' ऐसा कहने पर प्रतिवादी अर्थ-विकल्पोपपत्ति द्वारा असंभूत अर्थकल्पना करके कहे–यदि ब्राह्मण में विद्या-आचरणरूप सम्पत्ति हो सकती है। तो व्रात्य में भी हो सकती है, क्योंकि व्रात्य भी जाति से तो ब्राह्मण ही है। यहां 'ब्राह्मणत्व' अर्थ अतिसामान्य है।

(ग) **उपचार-छल**—स्वभावविकल्पनिर्देशक वाक्य मे अर्थ की सत्ता का निषेध करना 'उपचार-छल'[४] कहलाता है। जैसे— मञ्चाः क्रोशन्ति' ऐसा कहने पर प्रतिवादी अभिप्रेतार्थ की सत्ता का निषेध करके शब्दके उपचार से कहे —मञ्च नहीं, अपितु मञ्चस्थ पुरुष रो रहे हैं।

(२) **जाति**— साधर्म्य-वैधर्म्य से जो प्रत्यवस्थान (दूषण) दिया जाता है, वह 'जाति'[५] कहलाता है। यह जाति वादी द्वारा स्थापना हेतु के उपस्थित किए जाने पर प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध के लिए प्रयुक्त होती है। यह चौबीस प्रकार की मानी गई है[६]—

१. साधर्म्यसम, २. वैधर्म्यसम, ३. उत्कर्षसम, ४. अपकर्षसम, ५. वर्ण्यसम, ६ अवर्ण्यसम, ७. विकल्पसम, ८ साध्यसम, ९. प्राप्तिसम, १०. अप्राप्तिसम, ११. प्रसङ्गसम, १२. प्रतिदृष्टान्तसम, १३. अनुत्पत्तिसम, १४. संशयसम, १५. प्रकरणसम, १६. हेतुसम, १७. अर्थापत्तिसम, १८. अविशेषसम, १९ उपपत्तिसम, २० उपलब्धिसम, २१. अनुपलब्धिसम २२. नित्यसम, २३ अनित्यसम तथा २४. कार्यसम।

(३) **निग्रह-स्थान**—विप्रतिपत्ति या अप्रतिपत्ति 'निग्रह-स्थान'[७] माने गए हैं। विपरीत या निन्दित प्रतिपादन 'विप्रतिपत्ति' होता है। 'अप्रतिपत्ति' उसे कहते हैं कि जातिवादी आवश्यक विषय में भी

---

१. न्या० सू० १/२/१०-११ २. –वही–१/२/१२। ३. –वही–१/२/१३।
४. न्या० सू० १/२/१४ ५. –वही–१/२/१८। ६. –वही–५/१/१।
७. –वही–१/२/१९।

आरम्भ न करे, पक्ष को जानते हुए उसकी स्थापना न करे या प्रतिवादी द्वारा स्थापित पक्ष का खण्डन न करे और वादी द्वारा निराकृत पक्ष का परिहार न करे। विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्तिरूप निग्रह (पराजय) स्थान बाईस कहे गए हैं[१]—

१. प्रतिज्ञाहानि, २. प्रतिज्ञान्तर, ३. प्रतिज्ञाविरोध, ४. प्रतिज्ञासंन्यास, ५. हेत्वन्तर, ६. अर्थान्तर, ७. निरर्थक, ८. अविज्ञातार्थ, ९. अपार्थक, १०. अप्राप्तकाल, ११. न्यून, १२. अधिक, १३ पुनरुक्त, १४. अननुभाषण, १५. अज्ञान, १६. अप्रतिभा, १७. विक्षेप, १८. मतानुज्ञा, १९. पर्यनुयोज्योपेक्षण, २०. निरनुयोज्यानुयोग, २१. अपसिद्धान्त तथा २२ हेत्वाभास। इनमें अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा और पर्यनुयोज्योपेक्षण अप्रतिपत्तिरूप निग्रह स्थान हैं, शेष विप्रतिपत्तिरूप।[२] उपर्युक्त निग्रह-स्थानों में क्रमशः बताया गया है कि यदि कोई वादी प्रतिज्ञा की हानि करे, दूसरी प्रतिज्ञा करे; हेतु विरोधी प्रतिज्ञा करे, प्रतिज्ञा को छोड़ दे, एक हेतु के दूषित होने पर उसमे कोई विशेषण जोड दे, असम्बद्ध अर्थ कहे, अवाचक प्रयोग करे, इस प्रकार बोले कि तीन बार कहने पर भी प्रतिवादी या परिषद् न समझ सके, परस्पर साकांक्षा रहित अर्थ कहे, पञ्चावयवों का क्रम भङ्ग करे, अवयव न्यून या अधिक कहे, पुनरुक्ति हो, ज्ञातवाक्यार्थ का उच्चारण न करे, समझ न सके, उत्तर न दे सके, अन्य कार्य में आसक्ति दिखाकर वाद को रोके, प्रतिवादी द्वारा दिए गए दूषण को स्वीकार करके खण्डन करे, निग्रहस्थान प्राप्त का निग्रह न करे, अनिगृहीत को निगृहीत कहे, सिद्धान्त-विरुद्ध बोले और हेत्वाभासों का प्रयोग करे, तो उसकी पराजय होगी।[३]

बौद्धोक्त निग्रह-स्थान—बौद्ध दर्शन में जय-पराजय व्यवस्था के लिए स्वीकृत छल, जाति और निग्रह-स्थान का निराकरण करते हुए वादी और प्रतिवादी के लिए क्रमशः असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन ये दो ही निग्रह-स्थान[४] माने गए हैं। वहां असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन के विविध व्याख्यान करके कहा है—त्रिरूप हेतु का वचन साधनाङ्ग है। उसका कथन न करना, चुप रहना या जो कुछ बोलना 'असाधनाङ्ग'[५] है। प्रतिज्ञा निगमन आदि साधन के अंग नहीं हैं, उनका कथन असाधनांग है। साधर्म्य हेतु के वचन में वैधर्म्य का प्रतिपादन या वैधर्म्य हेतु के वचन में साधर्म्य का 'असाधनांग'[६] ही है। प्रसज्यप्रतिषेध में दोष का उद्भावन न करना 'अदोषोद्भावन'[७] है।

जैन मत—जैन न्याय परम्परा में सभी नैयायिकों ने छल, जाति, निग्रह-स्थान जैसे असत् उपायों का निषेध किया है। वे सभी इन्हें स्वपक्षसिद्धि में बाधक मानते हुए कहते हैं—पक्ष में वादी-प्रतिवादी की विप्रतिपत्ति से प्रवृत्ति होने पर तथा उसके सिद्ध होने पर ही एक की जय और अन्य की पराजय होती है।[८] मार्तण्डकार भी स्वपक्षसिद्धि से जय-पराजय व्यवस्था स्वीकार करते हैं, उनके अनुसार[९] वाक्छल से अनेक अर्थों का प्रतिपादन

---

१. —वही—५/२/१। २. न्या० सू० भा० १/२/२०।

३. न्या० सू० पंचम अध्याय, द्वितीय आह्निक।

४. वादन्याय, पृ० १। ५. —वही—पृष्ठ ५-६।

६. —वही—पृ० ६५। ७. प्र० क० मा०, पृ० ६७४।

८. सिद्धिविनिश्चयवृत्ति ५/२; सिद्धिविनिश्चयटीका पृ० ३१५-१७ अष्टसहस्री पृ० ८७; प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ६४९

९. प्र० क० मा० पृ० ६४९-५१।

करके या सामान्य छल से असम्भूत अर्थ की कल्पना करके या उपचार छल से अभिप्रेतार्थ का निषेध करके जय-पराजय नहीं हो सकती। इसी प्रकार अकलंक[१] वादिराज[२] आदि जातियो को मिथ्या उत्तर करते हैं। मिथ्या उत्तर जैनन्याय में अनन्त माने गए हैं, अतः जातियों की सख्या चौबीस उचित नहीं है, परन्तु मार्तण्डकार[३] जातियों को दूषणाभास मानते हैं। उनके अनुसार—यदि जातियों को उपयुक्त माना जाए, तो साधनाभास में साधर्म्य आदि से होने वाला प्रत्यवस्थान भी जाति कहलाएगा, जबकि साधनाभास मे जाति प्रयोग का उद्योत कर स्वयं ही निषेध करते हैं। साधनाभास की प्रतिपत्ति में जातियों का प्रयोग फलहीन ही होता है। इस प्रकार ये जातियां ऐकान्तिक पराजय कराने वाली है। इसलिए स्वपक्ष की सिद्धि-असिद्धि से ही जय-पराजय व्यवस्था उचित है।

छल जाति के अतिरिक्त निग्रह-स्थान भी जैन न्याय मे नही माने गए, क्योंकि इन निग्रह-स्थानों के अन्तर्गत प्रतिपादित नियमों से दुष्टसाधन साधनवादी भी जय लाभ कर सकता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है नैयायिकों के अनुसार शास्त्रार्थ के नियमो का बारीकी से पालन करने, न करने का प्रदर्शन ही जय और पराजय का आधार हुआ। बौद्ध भी इस प्रपञ्च से अछूते नहीं रहे। जबकि अकलक[४] ने तत्त्वसंरक्षण के ध्येय को सम्मुख रखते हुए स्वपक्षसिद्धि को ही जय-पराजय का आधार माना। अन्य जैन नैयायिकों ने भी इन्हीं का अनुसरण किया। मार्तण्डकार[५] इस मत को तार्किक पुट देते हुए कहते है—'यथावत् प्रतिपन्न स्वरूप वाले प्रमाण से जय और अप्रतिपन्न स्वरूप वाले प्रमाणाभास से पराजय का निबन्धन होता है। तात्पर्य यह है कि वादी प्रमाण और प्रमाणाभास के विज्ञात स्वरूप से स्वपक्षसिद्धि के लिए उपन्यस्त सम्यक् प्रमाण मे और उनके अविज्ञात स्वरूप से प्रमाणाभास में प्रवृत्त होता है। उनके अनिश्चित स्वरूप से प्रतिवादी दोषरूप से सम्यक् प्रमाण में भी प्रमाणाभास का उद्भावन कर सकता है। एवं वादी द्वारा प्रयुक्त प्रमाण प्रतिवादी से दोषरूप में उद्भावित होने पर परिहृत दोषवाला होता है, जिससे वादी का साधन और प्रतिवादी का दूषण होता है और वादी द्वारा प्रयुक्त प्रमाणाभास प्रतिवादी से दोषरूप मे उद्भावित होने पर अपरिहृत दोषवाला होता है, जिससे वादी का साधनाभास और प्रतिवादी का भूषण होता है।'

अकलंक[६] जय-पराजय व्यवस्था को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—स्वपक्षसिद्धि करनेवाला यदि कुछ अधिक बोल जाए तो कोई हानि नहीं। आचार्य विद्यानन्द[७] के अनुसार वादी के द्वारा कहे गए सत्य-हेतु में प्रतिवादी का चुप रह जाना अथवा सत्य हेतु में दोषो का प्रसग न उठाना ही वादी के पक्ष की सिद्धि है, अन्य प्रकार नहीं। मार्तण्डकार[८] इसी प्रसग को तार्किक शैली मे कहते है—पञ्चावयव प्रयोग में कमी होने पर भी साध्य की सिद्धि हो सकती है, दो हेतु या दो दृष्टान्त अर्थात् अधिक अवयव होने पर भी। हां, यदि प्रतिवादी प्रतिपक्ष स्थापित करते समय सिद्धान्त विरुद्ध बोले तो उसकी पराजय होगी।

इसके अतिरिक्त, वादी यदि विरुद्ध हेतु का उद्भावन करता है तो प्रतिवादी का पक्ष स्वतः सिद्ध हो जाता है और वादी की पराजय हो जाती है। असिद्धादि हेत्वाभासों के उद्भावन करने पर प्रतिवादी को अपने पक्ष की सिद्धि करनी आवश्यक है।[९]

---

१ न्या० विनि०–२/२०३।
२. न्यायविनिश्चयविवरण–पृ० २३३।
३ प्र० क० मा०–पृ०६४६–६३।
४ सिद्धिविनिश्चय–५/१०; अष्टसहस्री–पृ० ८७।
५. प्र० क० मा०–पृ० ६४५।
६. 'सिद्धिविनिश्चयवृत्ति',–५/१६।
७. त० श्लो० वा० भाग–४ –पृ० ३४३–४४।
८. प्र० क० मा०—पृ० ६७०–७१।
९ त० श्लो० वा० –पृ० २८०, प्र० क० मा०–पृ० ६७१।

इस प्रकार छल आदि असत् उपायों के निबन्धन से ग्रहाग्रह को छोड़कर विचारक भाव को लेकर निर्मल मन से प्रामाणिक स्वयं ही प्रमाण और उसके स्वरूपाभासों से जय-पराजय का निश्चय कर सकते हैं।[1]

पत्रविचार—जैनन्यायपरम्परा में लिखित शास्त्रार्थ का उल्लेख भी मिलता है, इसमें वादी-प्रतिवादी परस्पर जिन लेख-प्रतिलेखों का आदान-प्रदान करते हैं, उन्हें 'पत्र' कहा जाता है। इन पत्रों का विवेचन सर्वप्रथम आचार्य विद्यानन्द[2] ने किया है। प्रमेयकमलमार्तण्ड में भी उसीका अनुसरण करते हुए पत्र विचार किया गया है। अपने अभिप्रेत अर्थ को सिद्ध करने वाला, निर्दोष और गूढ़ पदसमूह से युक्त और प्रसिद्ध अवयव वाला 'पत्र'[3] कहा जाता है। अपने अभिप्रेत अर्थ को सिद्ध न करने वाले अपशब्द अथवा सुस्पष्ट पदों से युक्त वाक्य पत्र नहीं हो सकते। क्रियापद आदि से गूढ़ काव्य भी पत्ररूप में स्वीकार नहीं किए जा सकते।

यद्यपि वाक्य श्रोत्रपथप्रस्थायी वर्णात्मक पद-समुदाय रूप विशेष स्वभाव वाले होते हैं, तथापि लिपि में उनका उपचार होता है और लिपि में उपचरित वाक्य का लिखित पत्र में उपचार होता है, अतः उपचरितोपचार से पत्र को वाक्य कहा जा सकता है। जिस प्रकार व्यवहर्ताजन इन्द्र का पुरुष या काष्ठ में उपचार करते हैं, उसी प्रकार वाक्य का पत्र में उपचार माना गया है। इसकी व्युत्पत्तिपरक व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—स्वयं विजिगीषु के द्वारा प्रयुक्त जिस वाक्य में पद प्रतिवादी से त्राण करते हैं, गुप्त रखते हैं अथवा रक्षा करते हैं, उसे 'पत्र' कहते हैं।[4] पत्रवाक्य में प्रकृति और प्रत्यय गुप्त रखकर उसे गूढ़ बनाया जाता है। इसमें प्रतिज्ञा, हेतु—दो ही अवयव प्रयोग किए जाते हैं, क्योंकि व्युत्पन्न पुरुष को इन्हीं से साध्य की सिद्धि हो जाती है। जैसे—

स्वान्तभासितभूत्याद्यत्र्यन्तात्मतदुभान्तवाक्।
परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीतस्वात्मकत्वतः ॥[5]

यह पत्रवाक्य 'विश्वम् अनेकान्तात्मकं प्रमेयत्वात्' इस अनुमान वाक्य के लिए प्रस्तुत किया गया है। इसमें 'स्वान्तभासितभूत्याद्यत्र्यन्तात्म = अनेकान्तात्मकम्' साध्य का धर्म है और 'तदुभान्तवाक् = विश्वम्' धर्मी है; 'परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीतस्वात्मकत्वतः = प्रमेयत्वात्' साध्य-धर्म है। इस प्रकार दृष्टान्त आदि के अभाव में भी हेतु अपने साध्य का प्रतिपादन कर सकता है, क्योंकि उसमें अन्यथानुपपत्ति से गमकता होती है।

पत्रवाक्य में प्रतिपाद्य के आशय से तीन, चार या पांच अवयवों का प्रयोग भी हो सकता है।[6] जैसे—

प्रतिज्ञा—चित्रात् यदन्तराणीयम् (विश्वमनेकान्तात्मकं)।

हेतु—आरेकान्तात्मकत्वतः (संशयात्मकत्वात्)।

---

१. प्र० क० मा०—पृ० ६७४।

२. द्र०—पत्रपरीक्षा।

३. "प्रसिद्धावयवं वाक्यं स्वेष्टस्यार्थस्य साधकम्।
साधु गूढपदप्राय पत्रमाहुरनाकुलम् ॥" पत्रप० पृ० १; प्र० क० मा०—पृ० ६८४।

४ "पदानि त्रायन्ते गोप्यन्ते रक्ष्यन्ते परेभ्यः स्वयं विजिगीषुणा यस्मिन् वाक्ये तत्पत्रम्", 'प्र० क० मा०—पृ० ६८५।

५. —वही—, पृ० ६८५।

६. "चित्राद्यदन्तराणीयमारेकान्तात्मकत्वतः।
यदित्थं न तदित्थं न यथा किञ्चिदिति त्रयः॥
तथा चेदमिति प्रोक्तौ चत्वारोऽवयवा मताः।
तस्मात्तथेति निर्देशे पञ्च पत्रस्य कस्यचित् ॥" 'पत्रपरीक्षा'—पृ० १०; प्र० क० मा० पृ० ६८६।

उदाहरण—यदित्थं न तदित्थं न यथाऽकिञ्चित् ।

यह तीन अवयव वाला पत्रवाक्य कहा गया है । यदि उपर्युक्त तीन अवयवों के साथ 'उपनय—तथा च इदम्' को और जोड़ दिया जाए, तो यह चार अवयव वाला पत्रवाक्य हो जाएगा ।

'निगमन—तस्मात् तथा' को भी जोड़ देने पर पाच अवयव वाला पत्रवाक्य कहलाएगा ।

यौगाभिमत पत्रवाक्य—प्रमेयकमलमार्तण्ड[1] में योगों द्वारा उपन्यस्त पत्रवाक्य का उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

प्रतिज्ञा—सैम्यलङ्भाग् नाऽनन्तरानर्थार्थप्रस्वापकृदाऽऽशैट्स्यतोऽनीट्कोनेनलड्युक्कुलाद्भवो वैषोप्य-नैश्यतापस्तन्नऽनृरड्लड्जुट् परापरतत्त्ववित्तदन्यः (देहः प्रबोधकारीन्द्रियादिकारणकलापः, आसमुद्रात् अचलोगिरिनिकरः भुवनसन्निवेशः वा, सूर्याचन्द्रमसौ पृथिव्यादिकार्यद्रव्यसमूहः वा, प्रतीयमानः समुद्रादिः, अन्धकारादिः, औष्ण्यम्, मेघः न पुरुषस्य निमित्तकारणम्, अपितु बुद्धिमत्कारणम्)

हेतु—अनादिरवायनीयत्वतः (कार्यत्वात्) ।

उदाहरण—एवं यदीदृक्तत्सकलविद्वर्गवत् (एवं यत्कार्य तदीदृग् बुद्धिमत्कारणम् पटवत्) ।

उपनय—एतत् च एवम् ।

निगमन—एवं तत् ।

मार्तण्डकार[2] के अनुसार यह पत्रवाक्य प्रतिज्ञा हेतु, उदाहरण के कालात्ययापदिष्ट आदि अनेक दोषों से दूषित होने के कारण अनुमानाभास सिद्ध होता है । इसके अतिरिक्त प्रतिज्ञावाक्य में प्रयुक्त 'प्रस्वाप' शब्द से बौद्धों के 'स्वाप' का भी ग्रहण होता है,[3] बौद्धों ने सकलसन्तान के निवृत्तिरूप मोक्ष को प्रस्वाप माना है तो योगों ने उसीके असमकक्ष बुद्धि आदि गुणों से वियुक्त आत्मा की अवस्था विशेषरूप मोक्ष को । इसप्रकार ऐसे पत्रवाक्य समीचीन नहीं माने गए ।

एवंविध, पत्रवाक्य के निराकृत होने पर वादी कहे कि 'यह मेरे पत्र का अर्थ नहीं है, तब उससे पूछना चाहिए कि 'जो आपके मन मे है, वह इसका अर्थ है' या 'जो इस वाक्यरूप पत्र से प्रतीत हो रहा है, वह' या 'जो आपके मन मे भी है और वाक्य से भी प्रतीत हो रहा है ।'[4] प्रथमपक्ष[5] में पत्र का अवलम्बन निरर्थक है; क्योंकि जो अर्थ आपके मन में वर्तमान है, वह किसी के द्वारा नही जाना जा सकता; दूसरे की चित्तवृत्तियों का निश्चय करना दु:साध्य होता है । यदि कहा जाए कि पत्र से अप्रतीयमान, चित्त में वर्तमान पत्रार्थ संकेतकाल में होगा, तो यह संकेत कौन करेगा ? यदि पत्रदाता करेगा, तो पत्रदानकाल में करेगा या वादकाल में और प्रतिवादी में करेगा या अन्यत्र ? यदि पत्रदानकाल में प्रतिवादी में करता है, तो यह व्यावहारिक नही है, क्योंकि कोई भी वादी यह नही कह सकता कि 'इस पत्र का यह अर्थ मेरे मन में विद्यमान और यही अर्थ वादकाल में प्रतिपन्न किया जाना चाहिए' । और, यदि इस प्रकार होता है, तो पत्रदान का कोई लाभ ही नहीं है । वादकाल मे भी वादी प्रतिवादी को पत्रार्थ नही बता सकता, क्योंकि इस प्रकार पत्र-ग्राहक के उपक्रम का अवसर ही नही बचेगा । इसके अनन्तर अन्यत्र संकेत किया जाए, तो अन्य ही अर्थज्ञ होगा और

---

१. 'प्र० क० मा०' –पृ० ६८६-८६ ।
२. –वही–, पृ० ६८६ ।
३. –वही–पृ० ६८७ ।
४. –वही–, पृ० ६८९ ।
५. –वही–पृ० ६८९-९० ।

इस प्रकार अर्थ का ज्ञान न होने पर प्रतिवादी उसमें साधन आदि किस प्रकार बताएगा ? एवं प्रथम पक्ष में पत्र का अवलम्बन फलहीन हो जाता है।

द्वितीय पक्ष[1] में, जो शब्द आदि से प्रतीत होता है, वह पत्रार्थ हो सकता है। मार्तण्डकार के अनुसार यह पक्ष उचित है, क्योंकि इसमें प्रकृति प्रत्यय के विभाग से प्रतीयमान पत्रार्थ व्यवस्थापित हो सकता है। इसमें पत्रार्थ का वादी के द्वारा इष्ट होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि शब्द के प्रमाण होने के कारण उससे भी अर्थ प्रतीत होंगे, वे सभी उस पत्र के अर्थ माने जायेंगे।

तृतीय पक्ष[2] में जो शब्द आदि से प्रतीत होता है और जो पत्रदाता के मन में है, वह पत्रार्थ हो सकता है। इसमें प्रतिवादी द्वारा वादी के मन में स्थित अर्थ के अनुकूल पत्र की व्याख्या किए जाने पर भी वादी धृष्टतावश कह सकता है कि 'मेरे मन में यह अर्थ है ही नहीं', तो महामध्यस्थ और प्राश्निकों के द्वारा जय-पराजय की व्यवस्था असम्भव प्राय हो जाएगी। इसलिए जो पत्र से प्रतीत हो, वही पत्रका अर्थ मानना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि जैन परम्परा में नैयायिकों की भांति वाद को वीतराग-कथा नहीं,' अपितु विजिगीषु-कथा माना गया है। यह वाद सभापति, प्राश्निक, वादी और प्रतिवादी—चार अंगों से युक्त माना गया है। विजिगीषु-कथा नाम होने से स्पष्ट है कि वादी-प्रतिवादी एक-दूसरे को जीतने की इच्छा से वाद का संयोजन कराते थे। नैयायिकों ने इस जय-पराजय के लिए छल, जाति, निग्रह-स्थान जैसे असत्-उपायो को आधार माना। बौद्धों ने नैयायिकाभिमत छल, जाति और निग्रह-स्थानों का निराकरण तो किया, परन्तु वादी के लिए असाधनांगवचन और प्रतिवादी के लिए दो नये निग्रह-स्थानों का निरूपण कर दिया। जैन न्याय परम्परा में नैयायिकोक्त और बौद्धोक्त सभी असत्-उपायों को अनावश्यक माना गया। जैनों ने स्वपक्षसिद्धि से ही जय-पराजय व्यवस्था का औचित्य माना। इसी प्रसंग मे लिखित शास्त्रार्थ का उल्लेख भी हुआ है, जिसमें आदान-प्रदान किए जाने वाले लेख-प्रतिलेखों को 'पत्र' की संज्ञा दी गई है। पत्र को प्रकृति-प्रत्यय गुप्त रखकर गूढ बनाने का निर्देश किया गया है। पत्र मे प्रतिज्ञा और हेतु दो ही अवयव प्रयोग किए जाते थे। इस प्रसंग में नैयायिक-वैशेषिकों के पत्र का उल्लेख करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड ने उसका निराकरण भी किया है। इस प्रकार जैन न्याय में मौखिक और लिखित दोनो वाद-व्यवस्थाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

---

१. प्र० क० मा०–पृ० ६९०–९१।

२. –वही–, पृ० ६९१–९२।

जैन गणित में श्रेणी व्यवहार

❖ डा० मुकुटबिहारीलाल अग्रवाल

[एम. एस. सी., पी. एच. डी., आगरा]

विषय प्रवेश : अंकों की श्रेणियों में लोगों की रुचि प्राचीन काल से ही दृष्टिगोचर होती है। वैदिक-साहित्य में अकों के अनेक समुच्चय मिलते हैं, जो समान रूप से बढते है। 'तैत्तिरीय संहिता' में निम्नलिखित समुच्चय वर्णित है—

१, ३, ५, ७,............१६, २१, २३,........६६
२, ४, ६, ८, ...२०
४, ८, १२, ...
१०, २०, ३०, ...

इसी प्रकार 'वाजसनेयी संहिता' में निम्नलिखित समुच्चयों का वर्णन किया गया है—

४, ८, १२, १६,.... .. ..४८
१, ३, ५, ७,..................३१
उपर्युक्त समुच्चय समान्तर श्रेणी में है।

'पंचविंश ब्राह्मण' में निम्नलिखित समुच्चय मिलता है—

१२, २४, ४८, ९६,........... ....१९६६०८, ३९३२१६ जो गुणोत्तर श्रेणी में है।

'वृहद्देवता' नामक ग्रन्थ में २+३+४+........ ....+१००० श्रेणी दी गई है, और इसका योग ५००४९९ बताया गया है।

जैन-साहित्य में श्रेणी का प्रथम बार प्रयोग जैन भद्रबाहु (३१२ ई० पू०) कृत 'कल्पसूत्र नामक'[1] ग्रन्थ में मिलता है, वह श्रेणी इस प्रकार थी—

१ + २ + ४............ ... + ८१९२

इस श्रेणी में १४ पद हैं और उनका योग १६३८३ दिया गया है, जो कि आधुनिक गणित के अनुसार शुद्ध है।

जैन भूगोल के अनुसार पृथ्वी एक ऐसी समतल भूमि है, जो क्रमशः एक केन्द्रीय वृत्ताकार भूभागों और जलभागों में बँटी हुई है। मध्य में भूभाग है, जिसका नाम जम्बूद्वीप है। इस द्वीप का व्यास एक लाख योजन है, तथा अन्य द्वीपों और समुद्रों की चौड़ाई क्रमशः दूनी होती जाती है। इसलिये उनके व्यास की श्रेणी, लाख योजन में इस प्रकार बनती है—

१, ५, १३, २९, ६१, १२५, २५३, ५०९ .. ..

उनकी चौड़ाइयों को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

a, २a, $२^{२}$a, $२^{३}$a, $२^{४}$a, ... $२^{n-१}$a

अतः उनके व्यास इस प्रकार हुए—

a, ($२^{२}$ + १)a, ($२^{३}$ + $२^{२}$ + १)a, ...

तथा n वे वलय का व्यास = (१ + $२^{२}$ + $२^{३}$ + ... + २^{n})a
= ($२^{n+१}$ — ३)a
= $२^{n+१}$a — ३a.

यही बात आगे चलकर आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा 'त्रिलोकसार' में बतायी गई है।[2] जैन लोगों ने धार्मिक कृत्यों के अन्तर्गत प्रायश्चित करने के लिये उपवासों में श्रेणियों का उपयोग किया है। इसके उदाहरण 'अन्तगड दसाओं' में मिलते हैं जो इस प्रकार हैं—[3]

७ + १४ + २१ + २८ + ३५ + ४२ + ४९ = १९६

८ + १६ + २४ + ३२ + ४० + ४८ + ५६ + ६४ = २८८

९ + १८ + २७ + ३६ + ४५ + ५४ + ६३ + ७२ + ८१ = ४०५[4]

१० + २० + ३० + ४० + ५० + ६० + ७० + ८० + ९० + १०० = ५५०[5]

१ + २ + ३ + ... १०० + १०० = ५०५० + १०० = ५१५०[6]

१—एच० याकोबी द्वारा सम्पादित लाइपजिग १८९० 'भद्रबाहु कृत कल्पसूत्र'।
२—नाथूराम प्रेमी द्वारा सम्पादित नेमिचन्द्र का त्रिलोकसार बम्बई १९१९ सूत्र ३०१।
३—एल० डी० बार्नेट द्वारा सम्पादित 'अन्तगड दशाओं' १९०७ पृष्ठ १०२।
४—वही ,, ,, ,, ,, पृष्ठ १०२।
५—वही ,, ,, ,, ,, पृष्ठ १०२।
६—एल डी० बार्नेट द्वारा सम्पादित 'अन्तगड-दशाओं' १९०७ पृ० १०६।

श्रेणियों में समानन्तर और गुणोत्तर श्रेणियों के योग निकालना तथा विभिन्न रूप से श्रेणियों की संरचना करना आदि जैनाचार्यों की मौलिक वस्तु प्रतीत होती है। 'तिलोयपण्णत्ति' के दूसरे महाधिकार में गाथा २७ से १०४ तक नारक बिलों के विषय में उनके सकलन का विवरण महत्वपूर्ण है। श्रेणियों को इतने विस्तृत रूप में वर्णन करने का श्रेय जैनाचार्यों को ही है। यदि 'तिलोयपण्णत्ति' का यह विवरण पूर्वाचार्यों से लिया गया है तो जैन ग्रन्थों में आर्यभट्ट से पूर्व, श्रेणी संकलन सूत्रों का होना सिद्ध होता है।[1]

यूनान में इस विषय पर विशेष ध्यान नही दिया गया, और यद्यपि ऐतिहासिक अभिलेखों के आधार पर पायथोगोरियन सम्प्रदाय मे प्राकृतिक संख्याओं के संकलन का प्रमाण मिलता है।[2] परन्तु श्रेणी गणित में विशेष उन्नति नहीं हुई।

'स्थानांगसूत्र नामक' जैन ग्रन्थ में, जो कि ३०० ई० पू० का है, गणित के अन्तर्गत दस विषय[3] दिये गये हैं जिनमें से एक विषय व्यवहार भी है। इस ग्रन्थ के टीकाकार श्री अभयदेव सूरि (१०५० ई०) ने व्यवहार की व्याख्या करते हुए बताया है कि 'व्यवहार' शब्द का तात्पर्य 'श्रेणी व्यवहार' से है।

महावीर कृत 'गणितसार संग्रह' के ५वे अध्याय का शीर्षक 'मिश्रक व्यवहार' है इस अध्याय का अन्तिम भाग 'श्रेणी बद्ध संकलित' है। उक्त भाग में महावीराचार्य ने समान्तर श्रेणी, प्राकृतिक संख्याओं, उनके वर्गों और घनों के योग तो दिये ही हैं साथ ही गुणोत्तर श्रेणी का प्रकरण भी दिया है। इसी विषय के कुछ सूत्र 'परिकर्म व्यवहार' नामक अध्याय के 'संकलितम्' शीर्षक के अन्तर्गत भी दिये हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अति रोचक प्रश्न भी दिये हैं। अन्त मे दो एक नियम छन्द शास्त्र की मात्राओं की संख्याओं के सम्बन्ध में हैं।[4]

महावीराचार्य ने अपने 'गणितसारसंग्रह' नामक ग्रन्थ मे ऐसी समान्तर श्रेणियों का भी उल्लेख किया है, जिनमें पदों की संख्या पूर्णांक न होकर भिन्नात्मक है। यद्यपि ऐसी श्रेणियाँ जिनमे पदों की संख्या भिन्नात्मक होती है, सारहीन समझकर आधुनिक बीज गणित मे व्यवहार मे नही लाई जाती है, परन्तु प्राचीन भारतीय गणित में प्रचुर मात्रा में मिलती है। ऐसी श्रेणियों की व्याख्या सीढी अथवा पीने के गिलास से मिलती हुई आकृतियों से की जाती है। ऐसी श्रेणियो की सहायता से उस समय की दैनिक जीवन से सम्बन्धित अनेक समस्याये हल हो जाती थीं। इसलिये उनको ऐसी श्रेणियों की भी आवश्यकता पड़ी।

ऐसी श्रेणियां सबसे पहले 'बक्षाली गणित' मे दृष्टिगोचर होती हैं। इसके बाद तो महावीराचार्य के 'गणितसार संग्रह' में ही मिलती हैं। इस ग्रन्थ के कलसवर्ण व्यवहार' नामक अध्याय मे इस प्रकार की श्रेणियों के उदाहरण दिये है जो इस प्रकार है—

(१) जिस श्रेणी में प्रथम पद, प्रचय और पदों की संख्या क्रमश: २/३, १/६ और ३/४ हो तथा ऐसी ही एक और श्रेणी में ये क्रमश: २/५, ३/४ और २/३ हो तो इन श्रेणियों का योग बतलाओ।[5]

१-तिलोयपण्णत्ति का गणित–प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन पृ० ९।
२–हैल्थ वोलयूम प्रथम पेज ७६, वोलयूम द्वितीय पृ० ५१५-५१६।
३–स्थानागसूत्र, आगमोदय समिति सस्करण, सूत्र ७४७।
४-डा० बृजमोहन द्वारा सम्पादित 'गणित का इतिहास' पृष्ठ १७५।
५–ग० सा० स० अ० ३ गाथा २३।

(२) समान्तर श्रेणी में दी गई एक श्रेणी के प्रथम पद, प्रचय और पदों की संख्या क्रमश: २/५, १/५ और ३/४ हैं। इन सब भिन्नात्मक राशियों के अंश और हर उत्तरोत्तर २ और ३ द्वारा क्रमश: बढ़ाये जाते हैं जब तक कि सात श्रेणियां इस प्रकार तैयार नहीं हो जातीं। बतलाओ कि इनमें से प्रत्येक श्रेणी का योग क्या है ? [१]

तत्पश्चात् यह विषय इतना लोकप्रिय होता गया कि बाद के बहुत से गणितज्ञों ने इसके विकास में अपना योगदान दिया। १०वी शताब्दी के लगभग गणित के इस विषय 'श्रेणी व्यवहार' पर एक विशाल ग्रन्थ के लिखे जाने की आवश्यकता अनुभव होने लगी 'वृहद्धारा परिकर्म' श्रेणी व्यवहार पर एक विशाल ग्रन्थ के बारे में (जो कि इस समय उपलब्ध नहीं है) ९७८ ई० में नेमिचन्द्र ने बतलाया है तथा उसके कुछ भाग का सार भी लिखा है। [२]

समान्तर तथा गुणोत्तर श्रेणी में विभाजन सबसे पहले नवीं शताब्दी में महावीराचार्य के 'गणितसार संग्रह' में ही मिलता है। [३] यद्यपि इससे पूर्व विभाजन वैदिक-काल में भी मिलता है, परन्तु उस समय का विभाजन दूसरे आधार 'युग्म' तथा 'अयुग्म' श्रेणी पर था। [४]

१० वीं शताब्दी में धारा (Saquences) विभाजन १४ प्रकार का किया गया है, जिसमें उपरोक्त दो युग्म तथा अयुग्म भी सम्मिलित हैं। [५] यह १४ प्रकार की किस्में 'वृहद्धारा' में उल्लिखित की गई हैं, जिनका सारांश 'त्रिलोकसार' (९७८ ई०) में दिया गया है।

(१) **सर्वधारा** [६]—इसमें एक से प्रारम्भ करके सभी क्रमागत संख्याएं सम्मिलित हैं—

यथा—१, २, ३, ...n.

(२) **समधारा**— [७] इसमें दो से आरम्भ करके सभी समसंख्याएं सम्मिलित होती हैं—

यथा—२, ४, ६, ८, १०...... ....२n

यही श्रेणी वेदांग काल में 'युग्म श्रेणी' के नाम से प्रचलित थी।

(३) **विषमधारा**— [८]इसमें एक से आरम्भ करके सभी विषम संख्याएं होती है—

यथा—१, ३, ५,..................(२n— १)

यही श्रेणी वेदांगकाल में 'अयुग्म श्रेणी' के नाम से प्रचलित थी।

(४) **कृतिधारा**— [९]इसमें प्रत्येक पद पूर्ण वर्ग होता है—यथा

१, ४, ९,..................n^2

१—वही, पृ० ३ गाथा २४। २—नेमिचन्द्र की त्रिलोकसार गाथा ९१।

३—'Growth and Development of Progressive series in India' by Guru Govind chakravarti.

४—वाजसनेयी—संहिता १८, २४—२५। ५—नेमिचन्द्र की त्रिलोकसार गाथा ५३।

६—त्रिलोकसार गाथा ५४। ७—वही, गाथा ५५।

८—वही, गाथा ५६। ९—त्रिलोकसार गाथा —५८।

(५) **अकृतिधारा**—[१] इसमें प्रत्येक पद अपूर्ण वर्ग होता है। यथा—

२, ३, ५, ६, ७, ...

(६) **घनधारा**—[२] इसका प्रत्येक पद पूर्ण घन होता है—यथा—

१, ८, २७ .... $+ n^3$

(७) **अघनधारा**—[३] इसमें प्रत्येक पद अपूर्ण घन होता है—यथा –

२, ३, ५, ६, ७, ९ ....

(८) **कृतिमातृकधारा**—[४] इसे वर्ग मातृक धारा भी कहते हैं। इस श्रेणी में एक से प्रारम्भ करके सभी संख्याएं होती हैं, जिनमें से प्रत्येक पद वर्ग किया जा सकता है। 'सर्वधारा' और 'कृतिमातृक धारा' में अन्तर केवल यही है कि 'सर्वधारा' को अन्तिम पद 'n' होता है परन्तु 'कृतिमातृक धारा' में अन्तिम पद '$\sqrt{n}$' होता है यथा—१, २, ३, ४, ... $+ \sqrt{n}$

(९) **अकृतिमातृक धारा**– [५] यह ऐसी श्रेणी होती है जिसका वर्ग करने पर अकरणीगत राशि प्राप्त न हो। यथा—

$(\sqrt{n} + १), (\sqrt{n} + २), (\sqrt{n} + ३), \ldots \ldots (\sqrt{n} + n)$

(१०) **घनमातृक धारा**—[६] इसका प्रत्येक पद घन किया जा सकता है। यथा—

१, २, ३ .... ३$\sqrt{n}$

(११) **अघनमातृक धारा**—[७] इसका कोई भी पद घन करने पर अकरणीगत राशि प्राप्त नहीं होती। यथा –

$(३\sqrt{n} + १), (३\sqrt{n} + २), (३\sqrt{n} + ३) \ldots \ldots (३\sqrt{n} + n)$

(१२) **द्विरूपवर्ग धारा**—[८] इस प्रकार की श्रेणी में प्रथम पद २ का वर्ग और अन्य प्रत्येक पद अपने पिछले पद का वर्ग होता है। यथा—

$२^२, २^४, २^८$ ....अथवा ४, १६, २५६, ...

(१३) **द्विरूपघन धारा**—[९] इस श्रेणी में प्रथम पद २ का घन और अन्य प्रत्येक पद अपने पिछले पद का वर्ग होता है। यथा—

$२^३, (२^३)^२, (२^३)^४$, ... अथवा ८, ६४, ४०९६......... ....

१–वही, गाथा ५९।
२–वही, गाथा ६०।
३–वही, गाथा ६१।
४–वही, गाथा ६२।
५–वही, गाथा ६३।
६–त्रिलोकसार गाथा ६४।
७–वही, गाथा ६५।
८–वही, गाथा ६६।
९–वही, गाथा ७७।

(१४) द्विरूप घनाघन धारा—[1] इस श्रेणी में प्रथम पद $(२^३)^३$ होता है और अन्य प्रत्येक पद अपने पिछले पद का वर्ग होता है। यथा—

$(२^३)^३, (२^३)^६, (२^३)^{१२}$ ....

आचार्य नेमिचन्द्रजो लिखते हैं—"जिन्हें धारा प्रकरण में विशेष रुचि हो, वे वृहद्धारा प्रकरण[2] को देखें क्योंकि यहाँ यह प्रकरण लोगों को परिचय देने तथा त्रिलोकगणित की आवश्यकता पूर्ण करने के लिये (सूक्ष्म में) दिया गया है"। परन्तु खेद की बात है कि आचार्य द्वारा उल्लिखित पुस्तक इस समय अनुपलब्ध है।

नामकरण—'श्रेणी' शब्द का प्रयोग सबसे पहले जैन ग्रन्थों में मिलता है।[3] ९वीं शताब्दी से इसी नाम का सामान्यरूप से प्रयोग हुआ।[4] 'वृहद्धारा प्रकरण' ग्रन्थ में श्रेणी के लिये 'धारा' शब्द प्रयोग किया गया है।[5]

'वृहद्धारा-प्रकरण' ग्रन्थ में गुणोत्तर श्रेणी के लिये 'गुणसंकलित' शब्द प्रयोग किया गया है और 'गुणहानि'[6] शब्द उस गुणोत्तर श्रेणी के लिये प्रयोग किया गया है जिसका पदानुपात एक से कम होता है। जैन ग्रन्थों में पद के लिये 'धन' शब्द प्रयोग किया गया है। किसी श्रेणी में प्रथम स्थान पर जो प्रमाण रहता है, उसे 'आदि' 'मुख' 'वदन' 'प्रभाव' व 'वक्त्र' कहते है तथा अन्तिम पद के लिये 'अन्त' अन्त्यधन' तथा 'भूमि' शब्द काम मे लाये गये हैं। अनेक स्थानों में समान रूप से होने वाली वृद्धि अथवा हानि के प्रमाण को 'चय', 'प्रचय या उत्तर' कहते है। ऐसी वृद्धि या हानि होने वाले स्थानों को 'गच्छ' या 'पद' कहते हैं। समान्तर श्रेणी के मध्य पद के लिये 'मध्य' अथवा 'मध्यधन' शब्द प्रयोग किये गये है। किसी श्रेणी के योग के लिये 'सर्वधारा' 'श्रेणीफल' 'गणित सर्वधन' तथा 'संकलितधन' शब्दों का उल्लेख मिलता है। 'त्रिलोकसार' मे गुणोत्तर श्रेणी के योग के लिये 'गुण गणित' शब्द प्रयोग हुआ है। 'गणितसारसंग्रह' में दो शब्द और प्रयोग किये गये हैं— 'आदिधन' तथा 'उत्तरधन' प्रथम पद मे श्रेणी के पदों की संख्या गुणा करने पर प्राप्त राशि 'आदिधन' कहलाती है यथा—आदिधन $= a \times n$। प्रचय द्वारा गुणित श्रेणी के पदों की संख्या तथा एक कम पदों की संख्या के आधे का गुणनफल 'उत्तरधन' कहलाता है। यथा—

$$\text{उत्तरधन} = \frac{n(n-१)d}{2}$$

उत्तरधन के लिये 'कर्मकाण्ड' ग्रन्थों में 'प्रचयधन' प्रयोग किया है।[7] 'आदिधन' भी 'कर्मकाण्ड' में मिलता है। इसमें प्रचयधन और आदिधन का सम्बन्ध भी दिया गया है।

१—वही, गाथा ८३।   २—वही, गाथा ६१।

३—गुरुगोविन्द चक्रवर्ती द्वारा लिखित लेख, Growth and Development of Progressive Series in India, Page-9.

४—यद्यपि बक्षाली गणित जो ई० की प्रारम्भिक शताब्दियों में लिखी गई थी, उसमें श्रेणी के लिये वर्ग शब्द प्रयोग किया है। इसका अर्थ समूह से है। इसी ग्रन्थ में 'रूपानकरण' शब्द भी प्रयोग किया है। इसका अर्थ एक कम करके है। यह ग्रन्थ कहीं नहीं मिलता है।

५—त्रिलोकसार गाथा—६१।

६—The Jain Gem Dictionary, Page 46-47

७—'कर्मकाण्ड' गाथा ९०१ मनोहरलाल कृत श्री रामचन्द्र जैन शास्त्रमाला द्वारा प्रकाशित वि० सं० १९६९।

समान्तर श्रेढी—'तिलोयपण्णत्ति' में समान्तर श्रेढी $a + (a+d) + \ldots\ldots + [a+(n-\text{१})d]$ के विषय में निम्नलिखित सूत्रों का वर्णन है—

(१) T_n अर्थात् n वाँ पद $= a + (n-\text{१})d$ [1]

(२) $$s = \frac{n}{\text{२}}[\text{२}a + (n-\text{१})d]$$ [2]

(३) $$a = \frac{(s \div n/\text{२}) + (d\ \text{७}) - (\text{७} - \text{१} + n)d}{\text{२}}$$ [3]

(४) $$d = s - [(n-\text{१})\tfrac{d}{\text{२}}] - (A \div \tfrac{n-\text{१}}{\text{२}})$$ [4]

(५) $$d = \frac{l-a}{n-\text{१}}$$ [5]

इसमें l अन्तिम पद का मान है।

'गणितसारसंग्रह' में महावीराचार्य ने समान्तर श्रेढी $\text{२} + (a+d) + (a+\text{२}d) + \ldots\ldots + n$ पदों तक के समस्त पदों के योग के लिये निम्न सूत्र दिये है—

"पहले श्रेणी के पदों की संख्या मे से एक घटाते है फिर प्राप्त फल को आधा करते हैं और तब प्रचय द्वारा गुणा किया जाता है। इसे फिर श्रेणी के प्रथम पद के साथ जोड़ा जाता है। योग को पदों की संख्या से गुणा करने पर योग प्राप्त होता है।" इसे बीजीय रूप से इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं—

[१] $$S_n = \left(\frac{n-1}{2}d + a\right)n$$ [6]

जहाँ a = प्रथम पद, b = प्रचय और n = पदों की संख्या है। योग प्राप्त करने की दूसरी विधि इस प्रकार है—

श्रेणी के पदों की संख्या को एक द्वारा ह्रासित कर प्रचय द्वारा गुणित करते हैं। प्राप्त फल में श्रेणी के प्रथम पद की दुगुनी राशि मिलाते है। योगफल मे श्रेणी के पदों की संख्या से गुणा करके आधा कर देने पर श्रेणी का योग प्राप्त होता है। इसको बीजीय रूप से इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते है—

[२] $$S_n = [(n-1)b + 2a] \times \frac{n}{\text{२}}$$

समान्तर श्रेढी के पदों की संख्या (गच्छ) निकालने का नियम महावीराचार्य ने इसप्रकार दिया है—

"प्रथम पद की दुगुनी राशि और प्रचय के अन्तर के वर्ग में श्रेणी के योग द्वारा गुणित प्रचय की आठ गुनी राशि जोड़ते हैं। फिर इसका वर्गमूल निकालते हैं। वर्गमूल मे प्रचय जोड़ते हैं, और इस प्रकार प्राप्त जोड़

१–तिलोयपण्णत्ति गाथा २ सूत्र ५८।
२–वही, गाथा, २ ६४।
३–वही, गाथा, २ ८२–८३।
४–वही, गाथा, २ ८४।
५–वही, गाथा, २ १०५।
६–'गणितसारसंग्रह' अध्याय २, गाथा ६१-६२।

का आधा करते हैं। इसे प्रथम पद द्वारा ह्रासित कर प्रचय द्वारा विभाजित करते हैं। तो श्रेणी के पदों की संख्या ज्ञात होती है।[१] इसको बीजीय रूप में इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं।

$$n = \frac{\dfrac{\sqrt{(२a - b)^२ + ८bs} + b}{२} - a}{b}$$

महावीराचार्य ने आदि और प्रचय निकालने के लिये भी सूत्रों का उल्लेख किया है। "श्रेणी के योग को उत्तरधन द्वारा ह्रासित किया जाता है फिर प्राप्त फल को पदों की संख्या द्वारा विभाजित करने पर आदि प्राप्त होता है।"[२] यथा—

$$a = \frac{S - \dfrac{n(n-1)}{२} b}{n}$$

"आदि ज्ञात करने के लिये दूसरा सूत्र इसप्रकार दिया गया है—श्रेणी में पदों की संख्या द्वारा भाजित श्रेणी का योग जब प्रचय और एक कम पदों की संख्या की आधी राशि के गुणनफल द्वारा ह्रासित कर दिया जाता है, तो आदि प्राप्त होता है।[३] यथा—

$$a = \frac{S}{n} - \frac{(n-१)b}{२}$$

श्रेणी के योग की दुगनी राशि को पदों की संख्या से विभाजित कर एक कम पदों की संख्या और प्रचय के गुणनफल द्वारा ह्रासित करते है। प्राप्त फल को प्रचय द्वारा गुणित कर, जब दो द्वारा विभाजित करते है, तो आदि प्राप्त होता है।[४] यथा—

$$a = \frac{\left(\dfrac{२s}{n}\right) - (n-1)b}{२}$$

प्रचय प्राप्त करने के लिये महावीराचार्य लिखते है कि "श्रेणी का योग आदि धन द्वारा ह्रासित किया जाता है। पुनः इसे पदों की संख्या द्वारा, ह्रासित पदों की संख्या के वर्ग द्वारा, निरूपित राशि की आधी राशि द्वारा विभाजित करने पर प्रचय प्राप्त होता है। इसे बीजीय रूप में इसप्रकार निरूपित करते है।[५]

यथा— $$b = \frac{s - n \times a}{\frac{१}{२}(n^२ - n}$$

प्रचय प्राप्त करने के लिये 'गणितसारसंग्रह' में दूसरा सूत्र इस प्रकार वर्णित है—"योग को पदों की संख्या से भाजित कर प्रथम पद ह्रासित करते हैं, प्राप्त फल भी एक कम पदों की संख्या की आधी राशि द्वारा विभाजित करने पर प्रचय प्राप्त होता है। इसे बीजीय रूप में इसप्रकार प्रदर्शित करते हैं।[६]

$$b = \frac{\left(\frac{s}{n}\right) - a}{\frac{१}{२}(n-1)}$$

१—गणितसारसंग्रह अध्याय २, गाथा ६९। २—गणितसारसंग्रह अध्याय २, गाथा ७३।
३—गणितसारसंग्रह, अध्याय २, गाथा ७४। ४—वही, अध्याय २, गाथा ७६।
५—वही, अध्याय २, गाथा ७३। ६—वही, अध्याय २, गाथा ७४।

प्रचय प्राप्त करने के लिये तीसरा नियम इस प्रकार उल्लिखित है "श्रेणी के योग को २ से गुणित कर और पदों की संख्या से विभाजित कर प्रथम पद की दुगुनी राशि से ह्रासित करते है ।

प्राप्त फल को एक कम पदों की सख्या द्वारा विभाजित करने पर प्रचय प्राप्त होता है ।[1] इसका बीजीय रूप इस प्रकार है—

यथा— $$b = \frac{\left(\frac{2s}{n}\right) - 2a}{n-1}$$

इसके अतिरिक्त महावीराचार्य ने कुछ विशेष दशाओं के हल भी दिये हैं, जो कठिन, परन्तु उपयोगी हैं वे अधो वर्णित हैं—

(१) किसी समान्तर श्रेणी के ज्ञात योग से दूसरी समान्तर श्रेणी का प्रथम पद और प्रचय जहां मन से चुना हुआ योग दी हुई श्रेणी के योग का दुगुना, तिगुना, आधा, तिहाई अथवा इसी तरह का गुणक अथवा भिन्नीय रूप है, निम्नलिखित नियम से प्राप्त करते है ।

"चुने हुये योग को ज्ञात योग द्वारा विभाजित करते हैं । इस भजनफल को जब ज्ञात प्रचय द्वारा गुणित करते हैं तो इष्ट प्रचय प्राप्त होता है । यदि उसी भजनफल को जब ज्ञात प्रथम पद से गुणा करते है तो इच्छित प्रथम पद उस श्रेणी का ज्ञात होता है, जिसका कि योग ज्ञात श्रेणी के योग का या तो अपवर्त्य अथवा भिन्नात्मक भाग होता है ।[2] इसको बीजीय रूप मे इस प्रकार लिख सकते हैं ।"

यथा— $a_1 = \frac{S_1}{S} \times a$ और $b_1 = \frac{S_1}{S} \times b$ जहाँ S_1, a_1

और b_1 ऐसी श्रेणी के क्रमश: योग, प्रथम पद तथा प्रचय हैं, जिनका योग चुन लिया जाता है । यदि दो श्रेणियों का योग दिया गया हो तो उन के प्रथम पदों की निष्पत्ति तथा उनके प्रचयो की निष्पत्ति सदैव $:1$ ही नहीं रहती । अत: यहां जो हल दिये गये हैं, वे कुछ विशिष्ट दशाओं में ही प्रयुक्त होते हैं ।

(२) जिनके पदों की सख्या मन से चुनी जाती है, ऐसी दो श्रेणियो के पारस्परिक विनिमत प्रथम पद और प्रचय तथा उन श्रेणियो के योगों को जो बराबर हो अथवा जिनमें से एक दूसरे का दुगुना, तिगुना, आधा आदि हो, निकालने का नियम इस प्रकार है—[3]

यथा — $a = n\,(n-1)\,p - 2n$, तथा $b = (n1)^2 - n - 2pn.$

जहाँ a, b और n क्रमश: प्रथम पद, प्रचय और श्रेणी के पदो की संख्या है, n, द्वितीय श्रेणी के पदों की संख्या है और p दोनो योगों की निष्पत्ति है । a और b इस प्रकार निकालने के बाद दूसरी श्रेणी के प्रथम पद और प्रचय क्रमश: b और a होगे ।

(३) असमान प्रचयों, समगच्छ और समयोगधन वाली दो श्रेणियों के प्रथम पद ज्ञात करने के लिये नियम इस प्रकार हैं—[4]

$$a_1 = \frac{n-1}{2}(b_1 - b) + a$$

१—गणितसारसग्रह अध्याय २, गाथा ७५ ।
२—वही, अध्याय २, गाथा ८४ ।
३—वही, अध्याय २, गाथा ८६ ।
४—वही, अध्याय २, गाथा ८९ ।

जहाँ a और a_1 दो श्रेणियों के प्रथम पद हैं, b तथा b_1 उनके क्रमशः प्रचय हैं। स्पष्ट है कि यदि b, b_1 और n दिये हुए हों तो a का कोई मान मानकर a_1 का मान निकाल सकते हैं।

(४) ऐसी समान्तर श्रेढ़ियों के प्रचयों की, जिनके प्रथम पद असमान परन्तु गच्छ और योग समान हों, ज्ञात करने का नियम इस प्रकार है—[१]

$$b_1 = \frac{\frac{a-a_1}{n-१}}{२} + b$$

(५) जब समान्तर श्रेढ़ी का योग उसके गच्छ का वर्ग अथवा घन हो तो चुने हुए गच्छ वाली श्रेणी के सम्बन्ध में प्रथम पद, चय और योग निकालने का नियम इस प्रकार है—[२]

$$S = n^2 \text{ जब } a = १ \text{ और } b = \frac{२(n-a)}{n-१}$$

स्पष्ट है कि $S = \frac{n}{२}\,[२a + (n-१)\,b]$ में $a = १$ और $b = \frac{२(n-a)}{n-१}$ रखने पर S का मान n^2 के बराबर आ जाता है।

$$S = n^3 \text{ जब } a = n \text{ और } b = \frac{(n-a)\times २n}{n-१}$$

(६) समान्तर श्रेढ़ी के दिये हुये योग के, (जो कि इष्ट राशि का घन हो) सम्बन्ध में प्रथम पद, प्रचय और गच्छ निकालने का नियम इस प्रकार है—[३]

$$\frac{K}{४} + \frac{K३}{४} + \frac{५K}{४} + \ldots\ldots \quad २\,K \text{ पदों तक}$$

$$= \frac{K}{४}\,(२\,K)^2 = K^3$$

इस क्रिया की साधारण प्रयोज्यता, समीकरण $\frac{K}{P^2}(PK)^2 = K^3$ से शीघ्र स्पष्ट हो सकता है। इन सब दशाओं में श्रेणी के पदों की संख्या, प्रथम पद को P^3 से गुणित करने पर प्राप्त हो सकती है, क्योंकि पद $\frac{K}{P^2}$ हैं। प्रत्येक दशा में प्रचय, प्रथम पद से द्विगुणित किया जाता है।

'त्रिलोकसार' में आचार्य नेमिचन्द्र जी ने भी अन्तिम पद, प्रथम पद तथा सब पदों के योग निकालने के लिये सूत्रों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—

"एक कम पद संख्या को चय से गुणा करो। गुणनफल को मुख्य (प्रथम पद) में जोड़ने से भूमि (अन्तिम पद) आवेगा।" इसका बीजीयरूप इस प्रकार है—[४]

१—गणितसारसंग्रह, अध्याय २, गाथा ९१। २—वही, अध्याय २, गाथा ९५।
३—वही, अध्याय ३, गाथा २७। ४—त्रिलोकसार गाथा १६३।

$l = a + (n-१)\, b$ जब कि l भूमि है।

प्रथम पद ज्ञात करने के लिये आचार्य कहते हैं कि 'भूमि में से एक कम पद संख्या और चय के गुणनफल को घटाने पर मुख मिलेगा'।[१] बीजीयरूप में इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं—

$$a = l - (n-१)\, b$$

श्रेणी के समस्त पदों का योग मालूम करने के लिये आचार्य लिखते हैं—'मुख और भूमि' को जोड़ कर आधे की पद संख्या से गुणा करने पर सब स्थानों का प्रमाण (योगफल) आ जाता है।[२]

यथा—
$$S_n = \frac{n}{२}\, [\, a + l\,]$$

समान्तर श्रेढी के समस्त पदों का योग निकालने के लिए आचार्य ने एक अन्य नियम इस प्रकार लिखा है—"पद संख्या में से एक घटाकर, दो का भाग दो और फिर चय से गुणा करो। जो गुणनफल आवे, उसमें प्रथम पद जोड़ो, तथा योग को पद संख्या से गुणा करो तो सब स्थानों का प्रमाण आ जावेगा।[३]

यथा—
$$S_n = n\, [\, a + \frac{(n-१)}{२}\, b\,]$$

यदि मुख (प्रथम पद), चय और भूमि (अन्तिम पद) ज्ञात हो तो पद संख्या निकालने के लिये आचार्य इस प्रकार लिखते हैं—[४]

$$n = \frac{l-a}{b} + १$$

पंडित टोडरमल जी ने भी समान्तर श्रेढी के समस्त पदों के योग के सूत्र का वर्णन किया है, जिसका बीजीयरूप इस प्रकार है—[५]

$$\text{योग} = n\, (\frac{n-१}{२}\, b = a)$$

गुणोत्तर श्रेणी—गुणोत्तर श्रेढी के सकलन के लिए सूत्र 'जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति' में भी दिये गये हैं।[६]

'तिलोयपण्णत्ति' में गुणोत्तर श्रेढी के संकलन का सूत्र चमरेन्द्र की भैंसों की सेना की गणना तथा वैरोचन आदि के अनीकों की गणना के सम्बन्ध में किया गया है। वह सूत्र इस प्रकार है—[७]

१–त्रिलोकसार, गाथा १६३।   २–वही, गाथा १६३।

३–वही, गाथा १६४।

४–त्रिलोकसार, गाथा ५७।

५–पं० टोडरमल का गणित, वीरवाणी विशेषांक पर्व १९६७।

६–जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति २/९, ४/२०४, २०५, २२२ आदि।   ७–तिलोयपण्णत्ति का गणित पृष्ठ १८।

यथा— $$S_n = \frac{(r^n - १) \times a}{r - १}$$

इसके अतिरिक्त 'तिलोयपण्णत्ति' में गुणोत्तर श्रेढी का उपयोग अन्तिम पाठ द्वीप समुद्रों के विस्तार बतलाने में किया है।[1]

'गणितसारसंग्रह' में भी गुणोत्तर श्रेढी का योग ज्ञात करने के लिये सूत्र दिये हैं, जो इसप्रकार हैं।

$$S = \frac{\text{अन्त्यधन} \times \text{गुण} - \text{आदि}}{\text{गुण}}$$ [2]

मान लीजिये कि किसी गुणोत्तर श्रेढी में गुण= r और आदि=a हो तो योग=

$$S = \frac{ar^{n-१} \times r - a}{r - १} = \frac{a(r^n - १)}{r - १}$$

योग निकालने के लिये महावीराचार्य ने गुणधन के रूप में भी सूत्र दिया है, जो इस प्रकार है—[3]

योग = $\frac{\text{गुणधन} - a}{r - १}$ जहाँ गुणधन = ar^n है।

'कर्मकाण्ड' में भी भंगों की संख्या निकालते समय गुणोत्तर श्रेढी का प्रयोग किया गया है उसमें लिखा है—"यदि भंग संख्या एक से प्रारम्भ होती है, तो उत्तरोत्तर दुगुनी होती जाती है। अतः भंगों की संख्या का योग निकालने के लिये अन्तिम पद का दूना करके और एक घटा देना चाहिये।[4]

इसको बीजीयरूप में इस प्रकार लिख सकते हैं:—$S = २l - १$ चूँकि यह गुणोत्तर श्रेढी है, जिसका प्रथम पद एक और गुणानुपात २ है।

अतः $l = ar^{n-१} = १ \cdot २^{n-१} = २^{n-१}$

इस l का मान उपरोक्त सूत्र में लिखने पर—

$$S = २ \cdot २^{n-१} - १ = २^n - १$$

उपरोक्त सूत्र निम्नलिखित का सरलतम रूप है।

$$S = \frac{a(r^n - १)}{r - १} = \frac{१(२^n - १)}{२ - १} = २^n - १$$

'कर्मकाण्ड' में भंग की संख्या निकालने में गुणोत्तर श्रेढी के अन्तिम पद के सूत्र का भी प्रयोग किया गया है। उसमें लिखा है "यह संख्या एक से प्रारम्भ होती है, और उत्तरोत्तर दुगुनी होती जाती है। अतः अन्तिम पद २ के ऊपर पद संख्या से कम की घात लगाकर ज्ञात हो जाती है।" इसको बीजीयरूप में इसप्रकार कहते हैं—

$$l = २^{n-१}$$

१—तिलोयपण्णत्ति का गणित, पृष्ठ ६६। २—गणितसारसंग्रह अध्याय २, गाथा ९५।

३—वही, अध्याय २, गाथा ६३।

४—कर्मकाण्ड, गाथा ८६१, मनोहरलाल कृत श्री रामचन्द्र जैन शास्त्र माला द्वारा प्रकाशित सम्वत् १९९९ वि०।

आधुनिक सूत्र के अनुरूप l = a^{n-1} = $१ \times २^{n-1}$ = २^{n-1}

गुणोत्तर श्रेढी के गुण निकालने की विधि :—

यदि किसी गुणोत्तर श्रेढी का योग, आदि और गच्छ दिये हों तो गुण निकालने के लिये योग को आदि से भाग देकर भजनफल में से एक घटाओ फिर किसी (मन से सोची हुई किसी) संख्या से शेष को भाग दो। भजनफल में से एक घटाकर फिर उसी जाँच भाजक से भाग दो। इसी प्रकार बार-बार करते जाओ। यदि अन्त में भजनफल एक आ जाये तो जाँच भाजक ही गुण का मान होता है। यदि अन्त में भजनफल एक न आवे तो अन्य किसी जाँच भाजक से प्रारम्भ करो।[1]

उदाहरण: किसी गुणोत्तर श्रेढी में आदि = ३, गच्छ = ६ और योग = ४०९५ है तो उसका गुण ज्ञात करो।[2]

४०९५ को ३ से भाग देने पर १३६५ आता है।

भजनफल १३६५ मे से एक घटाने पर १३६४ आता है।

चूँकि ४ से १३६४ भाज्य है, अतः हम ४ को जाँच भाजक मान कर आगे बढ़ते है। शेष क्रिया इस प्रकार होगी—

$$\frac{१३६४}{४} = ३४१$$
$$३४१ - १ = ३४०$$
$$\frac{३४०}{४} = ८५$$
$$८५ - १ = ८४$$
$$\frac{८४}{४} = २१$$
$$२१ - १ = २०$$
$$\frac{२०}{४} = ५$$
$$५ - १ = ४$$
$$\frac{४}{४} = १$$

अतः ४ ही अभीष्ट गुण का मान है।

उपरोक्त विधि का आधार मूल सिद्धान्त यह है—

$$\frac{a(r^n - १)}{r - १} - a = \frac{r^{n-१}}{r - १}$$

$$\frac{r^n - १}{r - १} - १ = \frac{r^n - १}{r - १}$$ जो कि स्पष्टतः r के द्वारा भाज्य है।

आदि निकालने की विधि—यदि किसी गुणोत्तर श्रेढी के योग, गच्छ और गुण ज्ञात हों तो उसका आदि निकालने का सूत्र इस प्रकार है।[3]

१—गणितसारसंग्रह, अध्याय २, गाथा १०१। २—वही, अध्याय २, गाथा १०२।
३—गणितसारसंग्रह, अध्याय २, सूत्र १०१ का दूसरा भाग।

गुण में से एक घटाकर शेष का योग से गुणा करो। गुण का गच्छवाँ घात लेकर उसमें से एक घटा दो। इस शेष से पिछले गुणनफल को भाग देने पर आदि प्राप्त हो जावेगा। इस क्रिया में यह सिद्धान्त निहित है–

$$\frac{a(r^n-१)\times(r-१)}{r-१}=a(r^n-१),\ \frac{a(r^n-१)}{r^n-१}=a$$

गच्छ निकालने की विधि:—यदि किसी गुणोत्तर श्रेढी का गुण, योग और आदि ज्ञात हो तो उसका गच्छ निकालने के लिये नियम इस प्रकार है—[1]

"गुण में से एक घटाकर शेष से योग को गुणा करो। गुणनफल को आदि से भाग देकर एक जोड़ो, प्राप्त योगफल को बार-बार गुण से भाग दो। जितनी बार भाग जाता है, वही संख्या अभीष्ट गच्छ होता है।" यह क्रिया इस नियम पर आधारित है—

$$\frac{a(r^n-१)}{r-१}\times(r-१)=a(r^n-१)$$

$$a(r^n-१)\div a=r^n-१$$

$$(r^n-१)+१=r^n$$

उदाहरण—यदि किसी गुणोत्तर श्रेढी का आदि=५, गुण=२ तथा योग=१२७५ हो तो गच्छ ज्ञात करो।[2]

१२७५ × (२—१) = १२७५
१२७५ — ५ = २५५
२५५ + १ = २५६
२५६ — २ = १२८
१२८ ÷ २ = ६४
६४ ÷ २ = ३२
३२ ÷ २ = १६
१६ ÷ २ = ८
८ ÷ २ = ४
४ ÷ २ = २
२ ÷ २ = १

अत: २५६ में २ का भाग ८ बार जाता है, इसलिये गच्छ ८ है, 'त्रिलोकसार' में भी गुणोत्तर श्रेढी का उल्लेख किया गया है। उसमें आचार्य नेमिचन्द्रजी ने गुणोत्तर श्रेढी को 'गुणधारा' कहकर सम्बोधित किया है। इस प्रकार की श्रेणी के समस्त पदों का योग निकालने के लिये नियम इस प्रकार बतलाया गया है—

१—गणितसारसंग्रह अध्याय २, गाथा १०१ का दूसरा भाग।

२—वही, अध्याय २, गाथा १०५।

"धारा के गुण को आपस में उतनी बार गुणा करो जितने कुल पद है। गुणनफल में से एक घटाओ तथा गुण में से एक घटाकर इस शेषफल का उपरोक्त शेषफल में भाग दो। भागफल में मुख का गुणा करने पर सर्वस्थान प्रमाण आवेगा।"[१]

$$S=\frac{a(r^n-१)}{r-१}$$

समान्तरी गुणोत्तर श्रेढी—'तिलोयपण्णत्ति' में[२] समान्तरी-गुणोत्तर श्रेणी का उल्लेख आया है। इसमें बतलाया है—"लवण समुद्र की खंड शलाकाओं से धातकी खडद्वीप की शलाकाएँ (१४४—२४) या १२० अधिक है। कालोदधि की खंड शलाकाएँ धातकी खंड तथा लवण समुद्र की शलाकाओं से ६७२—(१४४+२४) या ५०४ अधिक है। यह वृद्धि का प्रमाण (१२०)×४+२४ लिखा जा सकता है। इसी प्रकार अगले द्वीप की इस वृद्धि का प्रमाण {(५०४)×४}+(२×२४) है। इसलिये यदि धातकीखंड से n^1की गणना प्रारम्भ की जावे तो इष्ट n^1 वें द्वीप या समुद्र की खंड शलाकाओं की वर्णित वृद्धि का प्रमाण प्रतीक रूप से $\left\{\left(\frac{Dn^1}{१०००००}\right)^2-१\right\}$ ८ होता है। यहाँ Dn^1, n^1 वें द्वीप या समुद्र का विष्कम्भ है। यह प्रमाण उस समान्तरी गुणोत्तर श्रेढी का n' वा पद है, जिसके उत्तरोत्तर पद पिछले पदों के चौगुने से क्रमशः $२४\times२^{n^1-1}$ अधिक होते हैं।" यद्यपि इसे Arith metico Geometric Series कहा गया है, तथापि यह आधुनिक वर्णित श्रेणियों से भिन्न है।

En^2 का मान—एक से प्रारम्भ होने वाली विभिन्न श्रेणियां दी गई संख्या की प्राकृतिक संख्याओं के वर्गों का योग निकालने के नियम 'गणितसारसंग्रह' में इस प्रकार दिया हुआ है—[३]

'दी हुई पद संख्या में एक जोड़ते है और तब वर्गित करते हैं। यह वर्गित राशि दुगुनी की जाती है, और फिर इसमें से पद संख्या और एक के योग को घटाते है इस प्रकार प्राप्त शेष को दी हुई पद संख्या के आधे द्वारा गुणा करते हैं। इस कुल राशि को ३ से भाग देने पर प्राकृतिक संख्याओं के वर्ग का योग प्राप्त होता है। इसको बीजीयरूप में इस प्रकार लिखते हैं—

$$En^2=१^2+२^2+३^2+४^2+\dots\dots\dots n^2=\left[\frac{२(n+1)^2-(n+1)}{3}\right]\frac{n}{2}$$

समान्तर श्रेढी के कुछ पदों के वर्गों का योग निकालना जब कि प्रथम पद, प्रचय और पदों की संख्या ज्ञात हो—

इसके लिये दो नियम दिये हुये है। पहला नियम इस प्रकार है—[४]

"पदों की संख्या को दुगुनी राशि एक द्वारा ह्रासित किया जाता है तब प्रचय के वर्ग द्वारा गुणित की जाती है और ६ द्वारा भाजित की जाती है। प्राप्त फल मे प्रथम पद और प्रचय के गुणनफल को जोड़ते हैं। परिणामी योग को एक द्वारा ह्रासित पदो की संख्या से गुणित करते हैं। इस प्रकार प्राप्त गुणनफल में प्रथम पद की वर्गित राशि को जोड़ा जाता है। प्राप्त योग को पदो की संख्या से गुणित करने पर अभीष्ट योग प्राप्त होता है।"

१–त्रिलोकसार, गाथा २३१। २–तिलोयपण्णत्ति गाथा ५, २६३।

३–गणितसारसंग्रह अध्याय ६, गाथा २९६। ४–गणितसारसंग्रह, अध्याय ६, गाथा २९८।

यथा— $a^{२} + (a+b) + (a+२b)^{२} + \ldots\ldots$ n पदों तक

$$=[\{ \frac{(२n-1)b^{२}}{6} + ab \}(n-1) + a]n$$

दूसरा नियम इस प्रकार है—[१]

"श्रेणी के पदों की संख्या की दुगुनी राशि एक द्वारा ह्रासित की जाती है, और तब प्रचय के वर्ग द्वारा गुणित की जाती है। प्राप्त फल एक कम पदों की संख्या द्वारा गुणित किया जाता है। यह गुणनफल ६ द्वारा भाजित किया जाता है। इस परिणामी भजनफल में प्रथम पद का वर्ग तथा एक कम पदों की संख्या, प्रथम पद तथा प्रचय इन तीनों का सतत् गुणनफल जोड़ा जाता है। इस प्रकार प्राप्त फल पदों की संख्या द्वारा गुणित होकर इष्ट फल को उत्पन्न करता है।"

$a^{२} + (a+b)^{२} + (a+२b)^{२} + \ldots\ldots$ n पदों तक

$$=[\{ \frac{(२n-१)b^{२}\}(n-१)}{६} + a^{२} + (n-१)ab]n$$

En^3 का मान निकालना—इसके लिये नियम इस प्रकार दिया है।[२]

"पदों की संख्या की अर्द्ध राशि के वर्ग के एक अधिक पदों की संख्या के वर्ग द्वारा गुणित करते हैं।"

यथा—$En^3 = १^3 + २^3 + ३^3 + \ldots\ldots n^3 = (\frac{n}{२})^२(n+१)^२$

प्रथम पद, प्रचय और पद संख्या द्वारा होने पर पदों के घन का योग ज्ञात करना—इसके लिये दी हुई श्रेणी के योग को प्रथम पद द्वारा गुणित कर प्रथम पद, प्रचय के अन्तर से गुणित करते हैं। तब श्रेणी के योग के वर्ग को प्रचय द्वारा गुणा करते हैं। यदि प्रथम पद प्रचय से छोटा हो तो उपरोक्त गुणनफलों में से पहले को दूसरे में से घटाया जाता है। यदि प्रथम पद प्रचय से बड़ा होता है तो प्रथम गुणनफल को दूसरे गुणनफल में जोड़ देते हैं। इस प्रकार अभीष्ट योग प्राप्त होता है, यथा—

$a^3 + (a+b)^3 + (a+२b)^3 + \ldots\ldots$ n पदों तक।

$= s^{२}b + (a-b)\ s\ a$ यदि $a > b$

और $s^{२}b - (a-b)\ s\ a$ जब $a > b$

यहां पर $s = a + (a+b) + (a+२b) + \ldots\ldots$ n पदों तक

महावीराचार्य की 'श्रेणी व्यवहार' की सर्वोच्च देन 'जटिल श्रेणी' का योग निकालना है।[३] इसके लिये आचार्य का कहना है कि यदि श्रेणी इस प्रकार की हो।

१—गणितसारसंग्रह, अध्याय ६, गाथा २९९।

२—गणितसारसंग्रह, अध्याय ६, सूत्र ३०१।

३—वही, अध्याय ६, गाथा ३१४।

$a+(ar\pm m)+\{(ar\pm m)r\pm m\}+\{(ar\pm m)r\pm m\}r\pm m+$ .... n पदों तक

तो इसका योग इस प्रकार लिख सकते हैं—

$$\text{योग} = y \pm \frac{(\frac{y}{a}-n)m}{r-1}$$

जहाँ कि $y = a + ar + ar^2 +$ .... $+ n$ पदो तक है ।

निष्कर्षः—अध्याय का अवसान करते हुए कहा जा सकता है कि अंकों की श्रेणियों के आनन्द में जन मन अत्यधिक रमा है । यही कारण है कि यह प्राचीनता को धारण करती है । वैसे तो वैदिक साहित्य में भी इसकी महिमा की गरिमा दीख पड़ती है, परन्तु जैन साहित्य में इसका महिला सौन्दर्य और निखर कर आया है । कहने का अभिप्राय यह है कि जैनाचार्यों ने इस गाणिनिक विषय पर गहन विचार करते हुए इसको एक समुचित एवं सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया है । महावीराचार्य ने इस क्षेत्र के अन्तर्गत अपना महान योगदान देकर अपने स्तुत्य-प्रयास का परिचय दिया है । सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने अपने प्रिय ग्रन्थ 'त्रिलोकसार' में धारा विभाजन १४ प्रकार का किया है जो अद्वितीय है ।

अन्ततः कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों ने गाणितिक श्रेणी व्यवहार के अन्तर्गत अथक परिश्रम करके गणित-शास्त्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है । वस्तुतः इन जैनाचार्यों ने इस गाणितिक विषय के प्रतिपादन में जो भगीरथ प्रयत्न किये है उनको कदापि विस्मृत नहीं किया जा सकता ।

जैनाचार्यों द्वारा कर्म सिद्धान्त के गणित का विकास

❖ श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, प्राचार्य

[शासकीय महाविद्यालय, सिहोरा]

एवं

❖ [illegible]शकुमार जैन

[रिसर्च स्कालर]

> "यह निश्चित है, कि प्राकृतिक घटनाओं के साथ हस्तक्षेप करनेवाले व्यक्तिगत ईश्वरका सिद्धान्त विज्ञान के द्वारा वस्तुत: कभी भी झूठ सिद्ध नहीं किया जा सकेगा; क्योंकि यह सिद्धान्त सदैव ऐसे क्षेत्रों में शरण ले सकता है, जिनमे विज्ञानमय ज्ञान अपने कदम नहीं जमा सका है" —अलबर्ट आइन्स्टाइन

प्रस्तुत लेख में अतिसंक्षेप में गणित के उस पक्ष का विवरण है जो जैनाचार्यों द्वारा कर्मसिद्धान्त को पुष्ट करने में विकास को प्राप्त हुआ है । यह एक परमविज्ञान है जो बिना गणित की सहायता के न तो सहीरूप में प्रदर्शित किया जा सकता है और न ही सहीरूप मे समझा जा सकता है । अतः गणित साधन द्वारा परमलक्ष्य और साध्य की प्राप्ति का प्रयास परम अहिंसा के उपदेशक एवं वीतरागी जिनसाधुओं ने किया है ।

कर्मविज्ञान-साहित्य निर्माता—

गहन कर्मसाहित्य, जिसमें गणित ने अप्रतिमरूप से प्रवेश किया, मुख्यतः दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा निर्मित प्रतीत होता है । सर्वप्रथम प्रायः ईसा की प्रथम सदी में आचार्य गुणधर ने कसायपाहुडसुत्त का २३३ (१८०) गाथाओं में निर्माण किया । यह श्रुतके चतुर्थ अङ्ग के ज्ञानप्रवाद नामक पांचवें पूर्व की दसवी वस्तु के पेज्जदोस (राग-द्वेष) नामक तृतीय पाहुड से निर्मित हुआ है । तत्पश्चात् प्रायः ईसा की

द्वितीय सदी में आचार्य धरसेन के विलक्षण शिष्यों, आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबली ने महाबन्धसहित षट्खंडागम ग्रन्थों की रचना की । यह श्रुतके दृष्टिवाद नामक बारहवें अंगके चतुर्थ पूर्वगतके अग्रायणी नामक द्वितीयपूर्व की च्यवनलब्धि नामक पंचमवस्तु के कर्मप्रकृति नामक चौथे प्राभृत के २४ वे अनुयोगद्वार से अवतरित माना जाता है ।

इसप्रकार द्वादशांगश्रुतका अत्यन्त अल्पभाग सुरक्षित रहा आया जिसमे से कर्मविज्ञान को गणित की आधारशिला पर भव्यग्रन्थों के रूपमें विशाल रचनाएं बनाने का श्रेय इन आचार्यों तथा उनकी शिष्य परम्परा को है । यद्यपि उपरोक्त ग्रन्थों पर विशालतम टीकाएं आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र, आचार्य तुम्बुलूर आदि द्वारा लिखी गईं मानी जाती हैं तथापि जो ग्रन्थ अब हमारे समक्ष सुरक्षित परम्परागत चले आये उनके सम्बन्धमें जानकारी देना आवश्यक है ताकि विज्ञानके विद्यार्थी कर्मविज्ञान के गणितीय पक्ष में रुचि लेकर शोध को गहराई तक ले जा सकें । सारिणी सूचना निम्न प्रकार है—

प्राय: ईस्वी सदी	जैनाचार्य नाम	ग्रन्थ (कर्मसिद्धान्तमय एव सम्बन्धित)
तृतीय	कुन्दकुन्द	(१) पंचास्तिकाय (१७३ गाथाएं) (२) समयसार (४१५ गाथाएं) (३) प्रवचनसार (२७५ गाथाएं)
तृतीय	उमास्वामी	तत्त्वार्थसूत्र (प्रवेशपक्ष)
४७३ से ६०९	यतिवृषभ	(१) कषायपाहुड़ पर चूर्णिसूत्र (गहनपक्ष-कर्मविज्ञानपक्ष) (७००९ गाथा प्रमाण) (२) तिलोयपण्णत्ति (प्रमाणविज्ञान पक्ष—५६७७ गाथाएं)
पांचवी	पूज्यपाद	सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्र की टीका) (अर्थ एवं सख्या पक्ष)
आठवीं	अकलङ्क	तत्त्वार्थराजवार्तिकम् (तत्त्वार्थसूत्र की टीका) (विज्ञान, न्याय एवं तर्क पक्ष)
८१६	वीरसेन	(१) धवला टीका सहित षट्खंडागम (गणित विज्ञान, न्याय एव तर्क पक्ष) (७२००० गाथा प्रमाण) (२) जय धवला टीका (अपूर्ण) सहित कषायपाहुडसुत्त (गणित विज्ञान, न्याय एवं तर्क पक्ष) (२०००० गाथा प्रमाण)
८३७	जिनसेन	शेष जय धवला टीका सहित शेष कषायपाहुड सुत्त (गणित विज्ञान, न्याय एवं तर्क पक्ष) (४०००० गाथा प्रमाण)
११वीं सदी	नेमिचन्द्र	(१) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) (गणित, विज्ञान पक्ष— ७३४ गाथाएं) (२) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) (गणित, कर्म विज्ञान पक्ष— ९७२ गाथाएं) (३) लब्धिसार—क्षपणासार (गणित चरम कर्मविज्ञान पक्ष— ६४९ गाथाएं) (४) त्रिलोकसार (गणित प्रमाण-विज्ञानपक्ष—१०१८ गाथाएं)

१३वीं सदी	अभयचन्द्र सैद्धान्ती	मंदप्रबोधिनी संस्कृतटीका सहित गोम्मटसार (सरल पक्ष)
१३वीं सदी	माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव	त्रिलोकसार पर एवं क्षपणासार पर संस्कृत टीकाएं[1] (अर्थसंदृष्टिमय प्रमाण एवं कर्म विज्ञान)
१४वीं सदी	केशववर्णी	जीवतत्त्वप्रदीपिका कन्नड़ (संस्कृत मिली जुली) टीका सहित गोम्मटसार (अर्थसंदृष्टि गणित सहित कर्मविज्ञान पक्ष)
१६वीं सदी	भट्टारक नेमिचन्द्र (ज्ञानभूषण शिष्य) चित्तौड़वासी	केशववर्णी टीका पर आधारित संस्कृतटीका सहित गोम्मटसार (अर्थसंदृष्टि गणितसहित कर्मविज्ञान पक्ष)
१७६१ (आसपास)	पंडित टोडरमल	(१) सम्यग्ज्ञानचंद्रिका ढूंढारी टीका सहित गोम्मटसार (अर्थसंदृष्टि गणितमय कर्मविज्ञान) (२) लब्धिसार एवं क्षपणासार की अर्थसंदृष्टि अधिकारसहित ढूंढारी भाषा में टीका (अर्थसंदृष्टिमय कर्मविज्ञान) (३) त्रिलोकसार की टीका (प्रमाण विज्ञानपक्ष)

इस प्रकार कर्मविज्ञान को यथासम्भव गणित सिद्धान्त द्वारा प्रदर्शित करते हुए विश्व की सूक्ष्मतम तथा स्थूल घटनाओं को समझाने के प्रयास में उक्तग्रन्थों में जैनाचार्यों तथा पंडितों द्वारा अगम्य सामग्री निर्मित की गई। विगत २००० वर्षों का इतिहास हो अहिंसा और सत्यपक्ष को उज्ज्वल बनाने के उपरोक्त रचनात्मक निर्माण कार्यों से भरपूर है।

कर्मविज्ञान सम्बन्धित गणितीय शब्द—

यह सुनिश्चित है कि कर्मसम्बन्धी विज्ञान (जिसे वीतरागविज्ञान भी कहा जा सकता है) के साहित्य का निर्माण करने हेतु नवीन पदों का निर्माण करना आवश्यक था। तीर्थङ्कर वर्धमानस्वामी के काल से ही क्या हम इन शब्दों के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ होना नही मान सकते हैं. क्रान्ति के उस युग में इन गणितीय शब्दों का निर्माण इसलिए माना जा सकता है कि गणितीय प्रमाण देना आवश्यक हो गया होगा। नवीं सदी तक दक्षिण में महावीराचार्य के गणितसारसंग्रह का विशेष प्रचार था, उनका 'ज्योतिषपटल' ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। उक्तग्रन्थ में लौकिकगणित का समावेश था। शेष का अध्ययन आगम ग्रन्थों में प्रचलित था। महावीराचार्य ने वास्तवमें एक विशाल गणितग्रन्थ की रचना की थी। जगत् इतिहास में १६१२ ई० के पश्चात् अब उनका नाम अत्यन्त श्रद्धा से लिया जाता है उनके ग्रन्थ मे निम्नलिखित गणितीय प्रकरण हैं जिन सभी का उपयोग आगम के गणित में भी होता है—[2]

संज्ञा अधिकार—गणित शास्त्र प्रशंसा, क्षेत्र परिभाषा, काल परिभाषा, धान्य परिभाषा, सुवर्ण परिभाषा, रजत-परिभाषा, लोह परिभाषा, परिकर्म नामावलि, शून्य तथा धनात्मक एवं ऋणात्मक राशि सम्बन्धी नियम, संख्या परिभाषा, स्थान नामावलि, गणक गुणनिरूपण।

---

१. इस लेख के लेखक को यदि क्षपणासार की टीका माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव कृत मिली हो तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु जयपुर के एक मन्दिर में सरस्वती भण्डार में माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव कृत संस्कृत क्षपणासार अवश्य है जो कि प्रकाशित होने योग्य है।

२. देखिए, लक्ष्मीचन्द्र जैन द्वारा सम्पादित गणितसार संग्रह (महावीराचार्यकृत), शोलापुर १९६३।

परिकर्म व्यवहार—प्रत्युत्पन्न (गुणन), भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल संकलित, संकलित (श्रेणियों का संकलन), व्युत्कलित।

कलासवर्ण व्यवहार—भिन्न प्रत्युत्पन्न, भिन्न भागहार, भिन्न सम्बन्धी वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भिन्न संकलित, भिन्न व्युत्कलित, कलासवर्ण षड्जाति, भागजाति, प्रभाग और भाग-भाग जाति, भागानुबन्ध जाति, भागापवाहजाति, भागमातृ जाति।

प्रकीर्णक व्यवहार—भाग और शेष जाति, मूल जाति, शेष मूल जाति, द्विरग्र शेष मूल जाति, अंश मूल जाति, भाग संवर्ग जाति, ऊनाधिक अंश वर्ग जाति, मूल मिश्र जाति, भिन्न दृश्य जाति।

त्रैराशिक व्यवहार—अनुक्रम त्रैराशिक, व्यस्त त्रैराशिक, व्यस्त पंचराशिक, व्यस्त सप्तराशिक, व्यस्त नवराशिक, गति निवृत्ति, भाण्ड प्रति भाण्ड (विनिमय), क्रय-विक्रय।

मिश्रक व्यवहार—संक्रमण और विषम संक्रमण, वृद्धि विधान (ब्याज), प्रक्षेपक कुट्टीकार (समानुपात), वल्लिका कुट्टीकार, विषम कुट्टीकार, सकल कुट्टीकार, सुवर्ण कुट्टीकार, विचित्र कुट्टीकार, श्रेणिबद्ध सकलित।

क्षेत्रगणित व्यवहार—व्यावहारिक गणित, सूक्ष्म गणित, जन्य व्यवहार, पैशाचिक व्यवहार।

खात व्यवहार—सूक्ष्म गणित, चिति (ईंट) गणित, क्रकचिका (आरा) व्यवहार।

छाया व्यवहार—छाया सम्बन्धित गणित।

इस ग्रन्थ में संख्याओं का अभिधान करने वाले सामान्य और संख्यात्मक अर्थबोधक शब्द निम्नलिखित हैं, कोष्ठक में वह संख्या है जिसे निरूपित करते है :

अक्षि (२), अग्नि (३), अंक (९), अग (६), अचल (७), अद्रि (७), अनन्त (०), अनल (३), अनीक (८), अन्तरिक्ष (०), अब्धि (४), अम्बक (२), अम्बर (०), अम्बुधि (४), अम्भोधि (४), अश्व (७), आकाश (०), इन (१२), इन्दु (१), इन्द्र (१४), इन्द्रिय (५), इभ (८), इषु (५), ईक्षण (२), उदधि (४), उपेन्द्र (९), ऋतु (६), कर (२), करणीय (५), करिन (८), कर्मन् (८), कलाधर (१), कषाय (४), कुमार वदन (६), केशव (९), क्षपाकर (१), ख (०), खर (६), गगन (०), गज (८), गति (४), गिरि (७), गुण (३), ग्रह (९) चक्षुस् (२), जिन (२४), तत्त्व (७), तनु (८), तर्क (६), तीर्थंकर (२४), दुर्गा (९), दिक् (८) दिक् (१० भी), दिक् (० भी), द्रव्य (६), द्वीप (७), धातु (७), धृति (१८), नग (७), नन्द (९), नय (२), नाग (८), निधि (९), पदार्थ (९), पन्नग (७), पुर (३), बन्ध (४), बाण (५), भ (२७), भय (७), भाव (५), भास्कर (१२), भुवन (३), भूत (५), मद (८) मुनि या ऋषि (७), रुद्र (११), रत्न (३), रत्न (९ भी), रस (६), रन्ध्र (९) रूप (१), लब्धि (९), लेश्य (६), लोक (३), वर्ण (६), वसु (८), विषय (५), विश्व (१३), वेद (४), व्यसन (७), व्रत (५), शिलीमुखपद (६), स्वर (७), हरनेत्र (३)।

उपर्युक्त के अतिरिक्त कुछ और भी शब्द हैं जो आगम में आने वाले शब्दों से सम्बन्धित हैं यथा—आदि धन, अंगुल, अन्त्य धन, अणु, अर्बुद, आवलि, अयन, बीज, दण्ड, दश, कोटि, सहस्र, लक्ष, घटी, गुण धन, ह्रस्व, इच्छा, कर्मान्तिक, खर्व, क्रोश, कृति, क्षेपपद, क्षित्या, क्षोभ, क्षोणि, लव, मध्यधन, शंख, पद्म, मेरु, मृदंग, माष मुख, मुरज, न्यर्बुद, पाद, पक्ष, पल, पण, पणव, फल, प्रक्षेपक-करण, प्रमाण, प्रस्थ, प्रवर्तिका, ऋतु, समय, सर्वधन, शतकोटि, शोडशिका, शोध्य, स्तोक, त्रसरेणु, त्रिप्रश्न, तुला, उच्छ्वास, उत्तरधन, वाह, यव, योजन।

तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ में जो गणितीय शब्द हैं उनका यथोचित उपयोग कर्मग्रन्थों में हुआ है । ऐसा प्रतीत होता है मानों गणितीय सामग्री को समझने हेतु सर्वप्रथम तिलोयपण्णत्ती पढना पड़ती रही हो, क्योंकि गणितीय प्रमाण, संख्या, राशि आदि विषयक सामग्री उसी ग्रन्थमें उपलब्ध रही चली आई । यथा—अक्षोभ, अनित्य, अचलात्म, अटट, अटटांग, अद्धापल्य, अनुभाग, अर्थकर्त्ता, अवसर्पिणी, अव्याबाध, असंख्येय, गुणश्रेणि, अंगुल, आवलि, आवृत्ति, उच्छ्वास, उत्सर्पिणी, उत्सेधसूच्यंगुल, उदय, उदीरणा, उद्धारपल्य, उवसन्नासन्न, काल, कुमुदांग, कोश, राशि, घनलोक, गगनखण्ड, घनांगुल, जगत्प्रतर, जगच्छ्रेणी, त्रसरेणु, त्रुटितांग, त्रुटिरेणु, दण्ड, दिवस, ध्रुव भागहार, ध्रुवराशि, नभखण्ड, नोकर्म, परमाणु, पल्योपम, पाद, पुद्गल प्रतरांगुल, प्रदेश, प्रमाणांगुल, भिन्नमुहूर्त, मध्यम, महालतांग, मास, मुहूर्त, मूल, मूसल, यव, युग, योजन, रथरेणु, रिक्कु, राजू, लक्षण, लतांग, लव, लीख, लोक, वर्ष, व्यवहारपल्य, विक्रिया, वितस्ति, विषुप, विस्रसोपचय, शंख, श्रेणी, सन्नासन्न, सप्तभंगी, समचतुरस्र, समय, सागरोपम, सूच्यंगुल, स्कन्ध, हस्त, हस्तप्रहेलित, हाहांग, हुण्डावसर्पिणी, हूहांग ।

उपरोक्त कथन में अगुल स्कन्ध से और योजन अंगुल से परिभाषा क्रम में उत्पन्न किया गया है । इन्हीं से जगश्रेणी, जगत्प्रतर और घनलोक उत्पन्न होते हैं । राजू जगच्छ्रेणी का सातवां भाग होता है । पल्य और सागर समय से परिभाषा क्रम में उत्पन्न होता है । इसीप्रकार प्रदेश संख्या और समयसंख्या में निम्नसूत्रों द्वारा सम्बन्ध स्थापित किया गया है—

$$\text{जगश्रेणि} = (\text{घनांगुल})^{(\text{पल्यके अर्द्धच्छेद} \div \text{असंख्यात})}$$

$$\text{सूच्यंगुल} = (\text{पल्य})^{(\text{पल्यके अर्द्धच्छेद})}$$

इसप्रकार ये सूत्र क्षेत्रप्रमाण और कालप्रमाण में सम्बन्ध स्थापित करते हुए एक दूसरे में परिवर्तित किये जा सकते है ।

त्रिलोकसार में उपरोक्त शब्दावलि परिभाषा क्रमसे उत्पन्न शब्दों के बारे में मिलती है, किन्तु चौदह धाराओं का विवरण जो 'वृहद्धारापरिकर्म' से अवतरित किया गया है, विलक्षण है । ये चौदह धाराए क्रमश: इसप्रकार हैं—

सर्व, सम, विषम, कृति, अकृति, घन, अघन, कृतिमातृका, अकृतिमातृका, घनमातृका, अघनमातृका, द्विरूपवर्ग, द्विरूपघन तथा द्विरूपघनाघन धारा । आधुनिक गणित की दृष्टिसे इन धाराओं का विकास अभूतपूर्व है । इसमें अर्द्धच्छेदोका प्रयोग तथा स्थल विज्ञान का प्रयोग अप्रतिम है ।

उपर्युक्त ग्रन्थोंमें उपमा प्रमाण तथा संख्या प्रमाण (संख्येय, असंख्येय और अनन्त) का विशद विवरण मिलता है । लोक के विभिन्न प्रकारके आकार सम्बन्धी क्षेत्रगणित भी अतिविस्तार से प्राप्य है । संख्याप्रमाण की सिद्धि हेतु चौदह धाराओं का विवरण महत्वपूर्ण है ।

त्रिलोकसार में प्राप्य शब्दावली जो अन्तकी तीन धाराओं में प्राप्य है अत्यन्त महत्वपूर्ण है । द्विरूप-वर्गधारा में निम्नलिखित शब्द हैं—

बादाल, एकट्ठी, जघन्यपरीतासंख्यात, वर्गशलाका, अर्द्धच्छेद, प्रथमवर्गमूल, आवली, प्रतरावली, असंख्येयस्थान, अद्धापल्यकी वर्गशलाका, पल्य, सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, जगश्रेणीका प्रथम घनमूल, जघन्य परीतानन्त, जघन्ययुक्तानन्त, जघन्य अनन्तानन्त, जीवराशि, पुद्गलराशि, कालराशि, आकाशश्रेणिराशि, आकाशप्रतरराशि, अनन्तस्थान, धर्म एवं अधर्मद्रव्यके अगुरुलघुगुणके अविभाग प्रतिच्छेद, एक जीवद्रव्यके अगुरुलघुगुणसम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेदों की राशि, सूक्ष्मनिगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीवके जघन्यपर्याय नामक श्रुतज्ञानकी अविभागप्रतिच्छेदराशि, जघन्य क्षायिक लब्धिकी वर्गशलाकाएं, अर्द्धच्छेद, आठवा, सातवां आदि वर्गमूल, केवलज्ञानराशि के अविभागी प्रतिच्छेद । केवलज्ञानराशि प्रत्येकराशिके अन्तिमस्थानके अन्तिमपद से किसी न किसी रूपमें सम्बन्धित है ।

द्विरूपघनधारामें प्राप्य शब्द इसप्रकार हैं– आवलिघन, प्रतरावलीघन, पल्यघन, घनागुल, जगश्रेणी, जगत्प्रतर, जीवराशिका घन, सर्वाकाशका प्रथमवर्गमूल तथा सर्वाकाश संख्येय-असंख्येय व अनन्त वर्गस्थान, केवलज्ञानके द्वितीयवर्गमूल की घन अविभागप्रतिच्छेदराशि, केवलज्ञानकी वर्गशलाकाराशि से दो कम स्थान ।

इसीप्रकार द्विरूपघनाघनधारामें निम्नलिखित शब्दों का उपयोग है । ये सभी राशियां है जो धारा के स्थानक्रमसे उत्पन्न होती हैं—

द्विरूपवर्गधारा में वर्गरूप राशि का घनाघन, लोक, गुणाकारशलाका, वर्गशलाका, अर्द्धच्छेद और प्रथमवर्गमूल, तेजस्कायिक जीवराशि, असंख्यात वर्गस्थान जाने पर तेजस्कायिक स्थिति की वर्गशलाका, अर्द्धच्छेद एवं प्रथममूल, अवधिज्ञानके उत्कृष्ट क्षेत्र की वर्गशलाका, अर्द्धच्छेद, प्रथमवर्गमूल तथा ये राशियां, स्थितिबन्धमें कारणभूत कषाय परिणाम के स्थानों की वर्गशलाकाएं अर्द्धच्छेद एवं प्रथम वर्गमूल तथा स्थान राशि, अनुभागबन्धस्थान के कारणभूत परिणामो की वर्गशलाकाएं अर्द्धच्छेद, प्रथमवर्गमूल तथा परिणामराशि, निगोदजीवों के शरीरों की उत्कृष्ट संख्या, निगोदकाय स्थिति की वर्गशलाकाएं, अर्द्धच्छेद, प्रथमवर्गमूल तथा स्थितिराशि, वर्गशलाकादि भय के साथ योग के सर्वोत्कृष्ट अविभाग प्रतिच्छेदराशि, अनन्तस्थान ऊपर जाकर केवलज्ञानराशि के चतुर्थ वर्गमूलके घनको इसी चतुर्थ वर्गमूल के घनके वर्गसे गुणा करने पर प्राप्त राशि ।

अब कर्मग्रन्थों की शब्दावलि पर विचार करना उपर्युक्त होगा । कषायपाहुड़सुत्त मे स्थिति और अनुभाग, प्रदेश तथा प्रकृतिसम्बन्धी प्रमाणो में गणितीय शब्दों का प्रयोग है । संक्रम सम्बन्धी प्रक्रियाओ में भी गणितीय शब्दों का उपयोग है । इसप्रकार सम्यक्त्वलब्धि तथा क्षपणा की प्रक्रियाओं को गणितीयरूप देकर शब्दों की नयी रचना है । यतिवृषभाचाय द्वारा चूर्णि सूत्रों में जो शब्द गणितीय आये है वे निम्नलिखित हैं—

प्रकृतिस्थानराशिके काल-अन्तर-नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय-अल्पबहुत्व; भुजाकार-अल्पतर अवस्थित विभक्ति-कालनिरूपण; प्रकृतिविभक्तिमे पदनिक्षेप और वृद्धिका अनुमार्गरण; मिथ्यात्वादिकर्मों की उत्कृष्टस्थिति विभक्ति; जघन्य, सन्निकर्ष, अवक्तव्य, स्थितिसत्कर्मस्थानराशि; अनिवृत्तिकरण आदि पदोंका कालसम्बन्धी अल्पबहुत्व; कर्म सर्वघाती-देशघाती अश विभाजन, अनुभागविभक्ति अल्पबहुत्व; प्रदेशविभक्ति; जघन्य प्रदेश सत्कर्म अल्पबहुत्व; उत्कर्षण; अपकर्षण, संक्रमण; उदय; क्षीणस्थितिक; उत्कृष्टनिषेक-यथानिषेक उदयस्थिति प्राप्तक; स्थिति प्राप्तक कर्मों का अल्पबहुत्व, प्रतिग्रहस्थानों में संक्रमस्थान; सत्त्वस्थान-गुणस्थान-मार्गणास्थानमें संक्रम एवं प्रतिग्रहस्थान; मोहकम सत्व-बन्धस्थानों में संक्रमस्थान; स्थितिके निक्षेप तथा अतिस्थापना; निर्व्याघातापेक्ष निक्षेप एव अल्पबहुत्व; पदनिक्षेप एव वृद्धि; अनुभागसंक्रम सन्निकर्ष भंगविचय एवं अल्पबहुत्व; प्रदेशसंक्रमसन्निकर्ष अल्पबहुत्व; उदीरणास्थानराशिभग-काल-अन्तर-भंगविचय-सन्निकर्ष अल्पबहुत्व; स्थिति एवं अनुभाग उदीरणा; प्रदेश उदीरणा; प्रकृति उदीरणादि; कषायोपयोग काल अल्पबहुत्व; कषायोपयोग परिवर्तन बार एवं उनका अल्पबहुत्व; कषायोदयस्थानों में कषायोपयोग कालसम्बन्धी अल्पबहुत्व; कषायोपयोग वर्गणाएं; अतीतकालमें मान-नोमान और मिश्रकाल, कषायत्रिविधकाल; अल्पबहुत्व श्रेणियां;

अधःप्रवृत्तादि तीनकरण; चरमसमय; क्षपणा; स्थितिघात-स्थितिकाण्डकघात; कृतकृत्यवेदक; पूर्वबद्ध कर्मस्थिति; गुणश्रेणी; एकान्तानुवृद्धि; तीव्रमन्दता अल्पबहुत्व; लब्धिस्थानराशि अल्पबहुत्व; चारित्रमोहोपशम क्रियाएं, अन्तरकरण; अनुभागकृष्टिकरण; लेश्या; अपवर्तना; आनुपूर्वी संक्रमण; अवस्थान; निक्षेप; अतिस्थापन; अश्वकर्णकरण; अपूर्वस्पर्धक; सत्त्व; प्रदेशाग्र; यवमध्यरचना भजनीयता-अभजनीयता; समयबद्ध; भवबद्ध; बध्यमान; सम्भवता; समयप्रबद्ध शेषप्रदेशाग्र; निर्लेपन स्थान; अबध्यमान; संग्रहकृष्टिराशि; दृश्यमानप्रदेशाग्रश्रेणि; वेदक-अवेदक; सम्भववीचार; समुद्घात इत्यादि ।

इसीप्रकार षट्खण्डागम (पांच खण्डों) में कुछ और नवीनगणितीय शब्द आते हैं—

अक्खरसंजोग, अगहण दव्ववग्गणा, अगुरुलहुअणाम, अग्ग, अणंतगुणपरिवड्ढी, अणंतगुणहीण, अणंत भागहाणी, अणंतर, अणंताणंत, अणुगामी, अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाण, अणेयखेत्त, अण्णोण्णब्भास, अद्धपोग्गलपरियट्ट, अद्धाअप्पबहुअ; अप्पाबहुअाणुगम, अवत्तव्वकदी, अवलंबणा, अवहारकाल, अविभागपडिच्छेद, अविभागपच्चय, असखेज्जगुणब्भहिय, वस्साउअ, असंखेपद्धा, असादद्धा, अंगुलपुधत्त, अंगुलवग्गमूल अंतोकोडाकोडी, अंतोमुहुत्त, आबाधा, आबाधाकंडय, आयाम, आवलियपुधत्त, उदिण्णफलपत्तविवागा, उदिण्णवेयणा, उस्सप्पिणी, एयक्खेत्त, एयपदेसिय परमाणु, ओगाहणगुणगार, ओज जुम्म, ओरालियपदेस, ओसप्पिणी, कम्मअणंतरविहाण, कम्म अप्पाबहुअ, कम्मकाल, खेत्त, गइ, ट्ठिदि विहाण, दव्वविहाण, कम्म, णिक्खेव, णिसेअ, पच्चय, परिमाण, फास, भागाभागविहाण, भावविहाण, भूमिपडिभाग, करणकदी, कालहाणी, केवलणाण, कोडाकोडाकोडाकोडि, कोडिपुधत्त, कंदयवग्गावग्ग, खेत्तहाणि, खंधवग्गण, गच्छ, गणणकदि, गणिद, गाउअपुधत्त, गुणगार, गुणसेडिकाल, गुणहाणि, घणहत्थ, छेदणा, जगपदर, जवमज्झ, जहण्णोहि, जुग, जुम्म, जोयणपुधत्त, ठिदिखंडयघात, णिकाचिद, णिधत्त, णोकदी, णोजीव, दव्वपमाण, दिवसपुधत्त, धुवखंध, सुण्ण, पओग परिणदखंध, संठाण, पक्ख, पदेसग्ग पमाण, पुव्वकोडिपुधत्त, भावपमाण, भासद्धा, भिण्णमुहुत्त, भंगविधि, भंगविचय, महाखंधदव्ववग्गणा, रज्जु, लोग, वग्ग, वग्गणा, वग्गमूल, फड्ढय, समयपबद्ध, सागरोवमसदपुधत्त, सादद्धा, साहिय, संखेज्जगुणब्भहिय, संगह, सांतरणिरन्तर दव्ववग्गणा ।

इसीप्रकार गोम्मटसारादि ग्रन्थों में कुछ और नवीन शब्द भी प्राप्य हैं—

संखा, पत्थार, परियट्टण, णट्ठ, समुद्दिट्ठं, भंग, अक्ख, णिक्खिविय, पिण्ड, अंतगद, आदिगद, संकम, पद, रूवपक्खेव, संगुणित्तु, सगमाण; अवणिज्ज, उद्दिट्ठ, सरिस, अणाइणिहण, आसव, अणंतकम्मंस, गुणक्कम, विदंगुल, अवरं, उग्गाहण, जहाजोग्ग, विच्चाल, विअप्प, रासि, कदिहद, आउट्ठरासिवार, दिण्णच्छेदेणवहिद, इट्ठच्छेद, पयदधण, ओरालिय, गुणिदकम्मंसे, संचय, गलिदवसेस, सलागा, संदिट्ठि, ठिदिरयण, दलसला, णिसेयछिदी, सहत्थणकाल, तिरिच्छेण वट्टमाण, तियकोणसरूव, हेट्ठिमखड, णिवग्गं ।

लब्धिसार में भी कुछ और नवीन गणितीय शब्द हैं यथा—

पडलसत्ती, बंधोमरण, अणुक्कस्स पदेसबंध, अपुणरुत्ता, ठिदिरसखंडं, विसोहि वड्ढीहिं, पडिवज्जमाणगस्स, अणुकट्टीए, अद्धा, पडिखंडना, छट्ठाणाणी, अट्ठुव्वंकादिअंतगया, असरिसखंडाणोली, वरपंती, अहिगदिणा, पूरण, खंडुक्कीरणकाला, गलिदवसेसे, उदयावलिबाहिर, समकरण, वज्जिय, सुज्झमाण, फालि, सत्तग्ग, बोलिय, अदि, जुदा, जेट्ठ, अग्ग, उदयाणमावलि, खिवणट्ठं, उक्कट्टणो हारो, सिचदि, णिसेयहार, संचदिय, अप्पसत्थ, बंधुज्झिय, संजादि, संजोजण, सायरपुधत्त, णिवडण, अइत्थावण, णिप्पत्ती, थोवाणि, सीसं, संखुहदि, अंतरकड, पडि आवलि, णत्थि आगाला, पडिआगाला, उवइट्ठादूण, तिधा, भजियकमा, विज्झादो, हदिकाल, गुणियकमा, णिरासाण, तियरण, पव्व, दूरावकिट्टि, उच्छिट्ठ, उदधि, णासेइ, वस्स, किचूणदिवड्ढ, कमोवट्टण, सपहियं, पुव्विल्लादो, णिसिंचिदे, गोउच्छ, तक्काले, दिस्सं, उवरिमठिदि, दस्तिकमो, मूल, कदकणि-

उजोपत्ती, परावत्ती, अणुसमम्रोवट्टणयं, पुव्वकिरिया, संकिलेस, त्रिसेसाहिय, पदसंखा, णादिक्कदि, सेस, सगजोग्गं, एयंतवुद्धि, पडिउट्ठदे, अणुभय, पडिवादगया, उक्कोरयं, वोच्छिण्णा, तेत्तियमेत्ते, परिभोगं, अंतरसमत्ती, थीयद्धा, जाव, संछुहदि, णंतगुणूणं, संधी, लोह, विवरीयं, कमकरण, लक्खपुधत्तं, तावदियं, चडपड, अंतरयं, अणुभवण, पदेसअंगेण, गणणादिकंत सेढी, ओव्वट्टणि उट्टण, आदोल, पक्खेवकरण, वग्गण अविभागा, हृयकण्ण, संगह अंतरजादो, लोकपूरण, आवज्जिदकरण, अणुसमग्रोवट्टण ।

इसप्रकार ईस्वी सदी के प्रारम्भ से लेकर प्राय: १००० वर्ष तक लगातार कर्मसिद्धान्त की गाथाओं पर विशाल पैमाने पर कार्य चलता रहा । उसका गणितीय रूप आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती के गोम्मटसार, लब्धिसार आदि ग्रन्थों की टीकाओं में निखरा है । इसीमें संदृष्टियों पर विशेष जोर दिया गया है । इसके पूर्वके ग्रन्थों, यहां तक कि धवला टीका में भी गणित के समीकरणों आदि को केवल वाक्यों में ही लिखा गया है । एक साथ संदृष्टिमय प्ररूपण आश्चर्यजनक है । केशववर्णी कृत कर्णाटकीवृत्तिमें ही यह सब आजाना केवल २०० वर्ष का प्रयास यदि है तो अत्यन्त श्रेयस्कर है । धवला टीका की विकल्पपद्धति अन्यत्र उपलब्ध नहीं है । वीरसेनाचार्य द्वारा राशियों के प्रमाणका विश्लेषण खण्डित, भाजित, विरलित आदि प्रक्रियाओं से सिद्ध किया गया है । अनन्तसे बडे अनन्तकी सिद्धि की विधियां वीरसेनाचार्य की धवला टीका में उपलब्ध हैं । इन अनन्तात्मक राशियों के बीच लागयेरद्म (logarithm) विधि से सम्बन्ध स्पष्ट किये गये है ।

अगले खंडमें हम देखेंगे कि किसप्रकार अर्थसंदृष्टियों का खुलकर गोम्मटसारादि की टीकाओं में उपयोग होने लगा । कुछ अर्थसंदृष्टियों का उपयोग यतिवृषभ एवं धवलाकार वीरसेनाचार्य ने भी किया है, किन्तु वह भी कहीं-कहीं । उदाहरणार्थ १६ ☰ ख ख ख तिलोयपण्णत्ति में उपयोग में आया है । १६ जीवराशि का प्रतीक है; ☰ लोक का प्रतीक है, १६ ख पुद्गलका प्रतीक तथा १६ ख ख काल समयराशि का प्रतीक है । १६ ख ख ख आकाश प्रदेश राशि का प्रतीक है । धवलाकार ने + चिन्ह ऋण के लिए; 'रि' भी ऋण के लिए यतिवृषभाचार्य ने, तथा ॱ भी रिण के लिए तिलोयपण्णत्ति में उपयोग में आया है ।

कर्मगणितके विकासमें अर्थसंदृष्टि—

पंडित टोडरमलजी के समय कोई ऐसा शिक्षक नही था जो आगम में प्रयुक्त संदृष्टियों का यथोचित बोध करा सके । केशववर्णी ने भी अर्थसंदृष्टियो पर प्रकाश डालने हेतु कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ तैयार नहीं किया । इससे प्रतीत होता है कि या तो उनके द्वारा लिखा ऐसा कोई ग्रन्थ विलुप्त हो गया । अथवा उनके पूर्व से ही उनके काल तक इन संदृष्टियों को जानने वाले रहे होगे अथवा इन सदृष्टियो का विशेष प्रचार रहा होगा तथा पाठशालाओं मे पढाने की कोई मौखिकपद्धति रही होगी । उनके पश्चात् चार सौ वर्षो के पश्चात् पंडित टोडरमलजी हुए जिन्हे इस ओर जानने को रुचि हुई । इस मध्य कर्णाटकीवृत्ति की सस्कृत टीका अवश्य बनी, किन्तु अर्थसंदृष्टि पर कोई स्वतन्त्रग्रन्थ नही लिखा गया । चामुण्डराय द्वारा कोई टीका लिखे जाने की चर्चा मिलती है, किन्तु उक्त ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है । इसके पूर्व का कोई ऐसा ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं है जो इस तथ्य पर प्रकाश डाल सके । यह भी हो सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्रादि की टीकाओ में अर्थ संदृष्टियोंका विकास हुआ हो जिसे साधारण विद्वानों की पहुच के बाहर होने से अधिक प्रचार न हो पाया हो । यह अवश्य है कि कही-कही तिलोयपण्णत्ती एवं धवला टीका मे अर्थसंदृष्टियो तथा खुलेरूपमे अंकसंदृष्टियों का उपयोग हुआ है । कर्णाटकीवृत्ति आदि में इन दोनों का पृथक्-पृथक् उपयोग हुआ है । इसीप्रकार रेखा रूप संदृष्टियों का भी उपयोग पहले से चला आया है, किन्तु इन सभी को समझाने का अथकप्रयास पंडित टोडरमलजी द्वारा हुआ है ।

पंडित टोडरमलजी के समक्ष गोम्मटसारकी संस्कृतटीकाएं थी तथा लब्धिसार की माधवचन्द्र त्रैविद्य देव की संस्कृत टीका (?) थी । उन्होंने उक्त सभी टीकाओ का सर्वप्रथम अध्ययन किया । इसके पश्चात् उन्होंने यह योजना बनाई कि अर्थसंदृष्टि विधिपूर्वक पृथक् से बनाई जावे तथा शेष सामग्री गणितरहितरूप में पृथक् संकलित कर टीका निर्मित की जावे । तदनुसार उन्होंने दो अर्थसदृष्टि अधिकार निर्मित किये जो क्रमश: गोम्मट-

सार और लब्धिसार में आयी गणितीय सामग्री को समाविष्ट किये हुए थे। साथ ही इनके प्रारम्भ में भूमिका थी, जिसमें समस्त प्रतीकों का विवरण, उनके प्रयोगसम्बन्धी विधि तथा उदाहरण दिये हुए थे। प्रतीकों के सम्बन्ध में एक और कठिनाई थी। एक ही प्रतीक विषयानुसार विभिन्न अर्थ के संकेतरूप में प्रयुक्त हुआ था तथा एक ही अर्थ हेतु विभिन्न प्रतीक भी प्रयुक्त हुए थे। अतएव इन सभी का विश्लेषण करते हुए पंडित टोडरमलजी ने अगली पीढ़ियो के लिए महान् अंशदानरूप में उक्त दो अर्थसंदृष्टि अधिकार निर्मित किये। इसप्रकार जो जैन कर्मसिद्धान्त में प्रतीकबद्ध गणितका विकास हुआ उसका संक्षेप में विवरण निम्नप्रकार है—

(१) शून्यका उपयोग बिन्दु अथवा लघुवृत्तरूप में हुआ है।

(अ) ऋण चिन्ह के रूप में, यथा कोटि ऋण दो को २̊ अथवा को २̊ रूप में लिखा गया है। को (अर्थसंदृष्टि—१)

(ब) एकेन्द्रियजीव, दो इन्द्रियजीव आदि को ०, ००, आदि रूपमें निरूपित किया गया है। (देखो ध० पु० १०)

(स) जीव की अगृहीतावस्था के लिए जबकि पुद्गल परिवर्तन काल मे वह कर्मग्रहण नही करता है। (अर्थसंदृष्टि—१)

(द) रिक्तस्थानों की आपूर्त्ति हेतु (यथा महाबन्धमें)। अर्थसंदृष्टि में भी ९ से ५१२ के बीच निषेकों को प्ररूपित करने हेतु ९ इत्यादि।

०
०
०
५१२

(इ) स्थानमान संकेतना में : तिलोयपण्णत्ती में गुणनफल के पूर्व ऽ० का अर्थ तीन शून्य बढ़ाये जाने हेतु हुआ है। (पृ० ३ भाग १ ....?)

(फा) अर्थसंदृष्टि में ६५००० को लिखने हेतु निम्नलिखितरूप में व्यक्ति है ६५३̊

(क) शून्यका उपयोग स्थानमान संकेतना मे कईप्रकार से हुआ है : षट्खंडागमग्रन्थमें कोडाकोडाकोडि अर्थात् $(10^7)^4$ के बीच की संख्याका उल्लेख है जो 2^{64} और 2^{96} के बीच भी स्थित बतलाई गई है। (ध० पु० ३ पृ० २५३, १–२–४५)

इसीप्रकार धवलाकार ने अनेक गाथाओं मे विभिन्न प्रकार से द्रव्य प्रमाणानुगम में प्रचलित संख्याओं का दसार्हपद्धति के विभिन्न रूपों में निरूपित किया है यथा—

६१,९७,०८,४६,६६,८१,६४,१६,२०,००,००,००० संख्या को निम्नलिखितरूप में गाथा द्वारा प्रस्तुत किया है। (ध० पु० ३, पृ० २५५, १–२–४५–७१)

गयणट्ठ-णय कसाया चउसट्ठि-मियंक-वसु खरा बच्चा।
छायाल-वसु-णभाचड-पयत्थ चंदो रिदू कमसो॥

इसीप्रकार निम्न संख्या भी दृष्टव्य है (पृ० ९८, वही १–२–१४–५१)

सत्तादी अट्ठंता छण्णव मज्झा य संजदासव्वे।
तिगभजिदा विगगुणिदापमत्त रासी पमत्ता दु॥

इसीप्रकार तिलोयपण्णत्ती भाग—१ में अ० ४ सू० ३०८ पृ० १७८ पर $(८४)^{३१}(१०)^{८०}$ संख्या अचलात्म को निरूपित करती है। इसे ग्रन्थकार ने ८४।३१।८० रूपमें दर्शाया है तथा निम्नलिखित गाथा प्रस्तुत की है—

एक्कत्तीसट्ठाणे चउसीदिं पुह पुह ठुवेदूणं।
अण्णोण्णहदे लद्धं अचलप्पं हो णउदि सुण्णंगं॥

इस संख्याके आगे इसी क्रमसे उत्कृष्ट संख्यात तक की संख्याओं को उत्पन्न करने हेतु ग्रन्थकार ने संकेत किया है।

(२) घटाने हेतु स्थानमानका प्रयोग विलक्षण है। एक गुणनफल निम्न रूप में दिया गया है—

ल × ५ × ४ × ३ जहां ल लक्ष संख्या की प्ररूपक है।

एक लाख इसमें घटाने हेतु ल।५।४।३ प्ररूपण है।

इसीप्रकार गुणनफल में से ५ लाख कम करने हेतु ल।५।४।३ प्ररूपण है।

गुणनफल में से २० लाख घटाने हेतु ल।५।४।३ प्ररूपण है।

गुणनफल में से ३ लाख घटाने हेतु ल।५।४।३ प्ररूपण है।

गुणनफल में से १२ लाख घटाने हेतु ल।५।४।३ प्ररूपण है।

गुणनफल में से १५ लाख घटाने हेतु ल।५।४।३ प्ररूपण है।

गुणनफल में से ३० लाख घटाने हेतु ल।५।४।३ प्ररूपण है।

इसीप्रकार के प्रयोगों में एक उदाहरण निम्नप्रकार भी है—

≡ a।2 ७ ७ ७।७ 2 वास्तव में $\frac{\text{श्रे}^{3}\, a\, [2+\text{आ}\; ७\; ७\; \{७(2\,७-1)-1\}]}{(\text{आ}\; ७\; ७\; ७)(\text{आ}\; ७\; ७\; ७)(७)(2)}$ है

जहाँ श्रे जगश्रेणि है, a असंख्येय है, आ आवलि है तथा ७ संख्येय है।

क्षैतिज रेखा (—) को निम्नलिखित अर्थों में प्रतीकरूप माना गया है—

(क) जगश्रेणि के रूप में, अथवा ७ राजू दूरी के रूपमें (ति० प० १, गा० १०९)

(ख) घन चिन्ह के रूप में, जैन व२ का अर्थ [छे२ छे२ (अं) + १] है। जहां 'अं' अंगुल है और छे२ अर्द्धच्छेद तथा छे२ छे२ वर्गशलाका फलन है। अर्थात् अंगुलके प्रदेशरूप राशिकी वर्गशलाकाएं निकालने के प्रतीक रूप होकर उसमें एक जोड़ना है। (अर्थसंदृष्टि—१ पृ० ६ आदि) 'छे' का अर्थ पल्यके अर्द्धच्छेद होता है।

(ग) ऋण चिन्ह के रूपमें, यथा—ल–२ का अर्थ है लक्ष–२ है।

(घ) किंचिदून के अर्थ में, यथा—ख का अर्थ अनन्त से किंचित् ऊन है।

पुनः दो क्षैतिज रेखाओं का अर्थ जो (=) रूप में हो निम्नलिखित है—

(अ) रिक्तस्थान की पूर्ति हेतु, यथा ६५=का अर्थ ६५५३६ है। ज=का अर्थ जघन्य है।

(ब) जगत्प्रतर के अर्थ में अथवा ४९ वर्ग राजू क्षेत्र के अर्थ में। क्षेत्रफल प्रदेशसंख्या को निरूपित करने में भी किया गया है। पुनः '२' का उपयोग निम्न अर्थ में हुआ है।

(क) जघन्य संख्येय हेतु

(ख) संख्या २ के रूप में

(ग) आवली प्रतीक अर्थ में।

(घ) सूच्यंगुल प्रतीक अर्थ में।

इसीप्रकार (१) ऊर्ध्व रेखा निम्न अर्थ का प्रतीक है—

(अ) गुणनफल प्रतीकरूपमें। जैसे १६।२ का अर्थ ३२ है।

(ब) यहां १६ का अर्थ जघन्यपरीतसंख्यात भी है।

(स) किंचिदून के प्रतीकरूप में। यथा ख का अर्थ अनन्त से किंचिदून है।

(द) योगके अर्थमें, यथा १।$\frac{1}{2}$ का अर्थ १$\frac{1}{2}$ है।

(इ) राशि योग के प्रतीकरूप में।

(फ) आबाधा और अचलावलिके प्रतीकरूप में।

(च) यहां १६ का प्रतीक मध्यम अनन्तानन्त अथवा जीवराशि भी है।

व का उपयोग निम्नरूप में हुआ है—

(अ) वर्ग करने के रूप में। यथा ज जु' अव का अर्थ जघन्य अनन्त अनन्त ऋण एक है, जो उत्कृष्ट युक्तानन्त है। साथ हीं यह दृष्टव्य है ज जु अ का अर्थ जघन्ययुक्तानन्त है जिसका वर्ग जघन्य अनन्तानन्त अथवा ज जु अ व है।

(ब) $\log_2[\log_2(\text{प})]$ के अर्थ में जहां $\log_2$ का अर्थ अर्द्धच्छेद निकालने वाला फलन है तथा 'प' पल्यका प्रतीक है।

केवल ऋण चिन्ह ही के लिए निम्नलिखित चिन्ह मिलते हैं—

(अ) ॱ, जैसे २ॱ का अर्थ जघन्ययुक्त असंख्येय ऋण एक है जो उत्कृष्टपरीतासंख्येय है।

(ब) –, यथा ल–३ का अर्थ लक्ष ऋण ३ है।

(स) ०, यथा ल५ का अर्थ लक्ष ऋण ५ है।
दूसरे रूपमें $\frac{२}{≡}$ का अर्थ घनलोक ऋण २ है।

पुन: ल का अर्थ लक्ष ऋण आठ है ।
　　　८

(द) ˇ, अथवा) ल) का अर्थ लक्ष ऋण ९ है ।

(इ) वीरसेनाचार्य द्वारा काक पद + भी ऋण के लिए प्रयुक्त हुआ है । (ध० पु० १० पृ० १५१, ४, २, ४, ३२) उन्होंने स्पष्टरूप में भी लिखा है—बख्शाली हस्तलिपि में भी यही चिन्ह है । ''............... सोज्झमाणादो एदिस्से रिण सण्णा''

(फ) *mm*, उदाहरणार्थ को *mm* ३ का अर्थ करोड़ ऋण ३ है ।

(क) रि अथवा रिण प्रतीक । तिलोयपण्णत्ति मे इन दोनों का उपयोग हुआ है । यथा—‾१४ ३। रि. यो. १०००००।[3] मे रि का उपयोग घटाने के लिए हुआ है । ब्राह्मी लिपि के विकास से भी पता लगता है कि रि का उपयोग ⊦ प्रतीक मे ऋण के लिए हुआ होगा ।

उपरोक्त सामग्री अर्थसंदृष्टिरूप में अनेक दिगम्बर जैन ग्रन्थो मे विकास को प्राप्त हुई है ।

आगे अर्थसंदृष्टि में कुछ और कर्मगणित सम्बन्धी प्रतीक मिलते है । समयप्रबद्ध के लिए 'स' है और गुणसंक्रम भागहार 'गु' है । अपकर्षणभागहार के लिए 'ओ' है । किंचिदूनद्वयर्धगुणहानिको १२–लिखा गया है जहां ८ गुणहानि का प्रतीक है ।

अनुभागकाण्डकमे जघन्यवर्गणा को 'व', स्पर्धकशलाका को ९, नानागुणहानि को 'ना' लिया गया है । अन्तर्मुहूर्त का संख्यातवां भाग २z गुणश्रेणी शीर्ष मे लिया गया है । सर्व कर्म परमाणु स व १२— लिए गये हैं । यह एक जीवकी अपेक्षा से है । इसमें ७ का भाग देने पर मोह द्रव्य स व १२ — होता है । मोहसर्वघाती

द्रव्य स व १२— है । दर्शनमोह द्रव्य— स व १२— मिथ्यात्वद्रव्य स व १२—गु है । इत्यादि प्रकरणानुसार
　　७ । ख　　　　　　　　　　७।ख।१७　　　　　　　　७।ख।१७।गु

अर्थसंदृष्टिका विभिन्नरूपों में निरूपण हुआ है ।

लब्धिसार की टीकामें पंडित टोडरमलजी द्वारा रेखागणितीय संदृष्टियोंका स्पष्टीकरण करने में बहुत कठिन परिश्रम किया गया होगा फिर भी अनेक प्रकरणों में प्रयुक्त अर्थसंदृष्टिया समझमे नहीं आ सकी है । यहां ऊर्ध्वरूप रचनाएं प्रदेशसंख्या का निरूपण करती है तथा क्षैतिजरूप रचनाएं अनुभागसंख्या का निरूपण करती हैं । दोनों में ही घटता हुआ रूप क्रमश: △ और ▷ रूप मे लिया गया है । समरूप रचना अवस्थित स्थितिका द्योतक है जैसे ▭ प्रतीक समपट्टिका कहलाती है । ऐसे प्रतीकों को मिलाकर विभिन्न प्रकार की निषेक तथा अनुभाग की दशाएं निरूपित की जाती हैं । यथा निषेक स्थिति प्रतीक रूपमें ये हैं—

कर्मनिषेक सूत्र—

कर्मसम्बन्धी घटनाओं का निरूपण जैनाचार्यों की विश्व के लिए एक अभूतपूर्व प्रयोगात्मक सिद्धि और अनुदान रही होगी। अभी भी प्रयोग द्वारा इनकी सिद्धि आवश्यक है और नाभिकीय भौतिक शास्त्र द्वारा इनका अध्ययन अब अत्यन्त सरल होगा।

सर्वप्रथम तो विभिन्न कर्मसमूहों में समस्त कर्मराशिका विभाजन हुआ। कर्मराशि भी परमाणुओं के चार अवयवों से प्रदर्शित हुई। किसी भी समयप्रबद्ध अर्थात् एक समय में बंधने वाली कर्मपरमाणुराशि जो योग और कषाय द्वारा प्रत्येक परमाणुमें अनुभाग स्थिति लिए हुए है तथा प्रदेशसंख्या और प्रकृतिमें निबद्ध है, क्रमश: वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक और गुणहानि द्वारा निरूपित होती है।

समयप्रबद्ध को स्थिति रचना द्वारा विभक्त किया जाता है। स्थिति रचना में निषेक बनाए जाते हैं। प्रत्येक निषेकमें विशिष्ट अनुभाग अथवा वर्गवाले कर्मपरमाणु होते हैं जिनकी संख्या भी विशिष्ट होती है। साथ ही निषेकमें विशिष्ट प्रकृति वाले कर्मपरमाणु होते हैं। निषेक के बंधे हुए रहने की किसी विशेष अवस्थामें स्थिति समय द्वारा दी गई होती है। बंधने पर उसके निर्जरित होने की काल स्थिति तथा आबाधाकालस्थिति भी होती है। इसप्रकार प्रदेश, प्रकृति, अनुभाग और स्थितिके प्रमाणों में निबद्ध निषेकके कर्म परमाणुओं में अनेक प्रयोगों द्वारा परिवर्तन होता रहता है। इन्हीं परिवर्तनों का अध्ययन कर्मसम्बन्धी गणितका विषय बनता है। यह गणित विशेषकर लब्धिसार की टीकाओं में उपलब्ध है।

कुछ प्राथमिक सूत्रोंका उपयोग हुआ है जो निम्नप्रकार हैं—

$$\left.\begin{matrix}\text{श्रेढियोग या}\\ \text{सर्वधन}\end{matrix}\right\} = \frac{\text{गच्छ}}{२} \left[\, २ \, (\text{आदि}) + (\text{गच्छ} - १) \, \text{चय} \, \right]$$

इत्यादि, जहां गच्छ पदों की सख्या है, आदि प्रथमपद है तथा चय पदों के बीच का अन्तर है। कुछ सूत्र कूटस्थितिके प्रयोग पर आधारित बनाये गये। गुणितरूप से प्राप्त चयसम्बन्धी श्रेढि योग का सूत्र भी उपलब्ध है, यथा—

$$\{ (\text{चय})^{\text{न}} - १ \} \div \{ \text{चय} - १ \} \times \text{आदि} = \text{श्रेढि योग न पदों तक}$$ (तिलोयपण्णत्ति भाग १, अ० ३ गा० ३२ के आगे)

इसप्रकार यह आश्चर्य की वस्तु है कि प्रकृतिमें इन समान्तर तथा गुणोत्तर श्रेढियों का भावों की गणनामें तथा भावों से फलित होनेवाले कर्मपरमाणुओं की संरचना में संवाद स्थापित हुआ है। तिलोयपण्णत्ती में भी लोक संरचनामें इन श्रेढियों के सूत्रोंका स्वरूप एक सा ही प्रतीत होता है। इसीप्रकार द्वीप-समुद्रों के व्यासों अथवा आयामोंका द्विगुणित-द्विगुणित होते जाना तथा उनके प्रमाणों के आधार से जीवों के भावों का उनकी कर्म आदि स्थिति का निरूपण एक शृङ्खलाबद्ध निरूपण की कल्पनाका या तो विकास है अथवा प्रकृतिके

नियमोंके रहस्यका उद्‌घाटनरूप प्रतीत होता है। नाभिकीय भौतिकी की संरचनाएं भी सम्मितीयता लिये हुए दो पर आधारित शृङ्खलाबद्ध प्रक्रियाओंका उद्‌घाटन करती हैं। जैनाचार्यों ने भी आधुनिक काम्प्युटर संयंत्रों की भांति २ को आधारभूत बनाकर अनेक स्पर्श से होनेवाली बंध, निर्जरा रूप प्रक्रियाओं का सिद्धान्त बनाया।

उपरोक्त लेख हजारों पृष्ठोंमें पाये जाने वाले कर्म सिद्धान्तसार की एक बूंद मात्र है। इसप्रकार कर्म-सिद्धान्तके अध्ययन की गणित साधना द्वारा बड़ी आवश्यकता है। इस हेतु अब भारतीयज्ञानपीठ, दिल्ली द्वारा गोम्मटसारादि की कर्णाटकवृत्ति प्रकाशित हो चुकी है जिनके लिए स्व० डॉ० उपाध्ये तथा पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री अभिनन्दनीय हैं। गांधी देवकरण ग्रन्थमाला से प्रकाशित टीकाएं मन्दिरों में उपलब्ध हैं जिसमें पंडित टोडरमलजी कृत अर्थसंदृष्टि अधिकार अत्यन्त उपयोगी है। वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, गुणहानि आदिके बीच जो सम्बन्ध स्थापित किये गये हैं तथा निषेकस्थिति रचना प्रक्रिया बतलाई गई है उससे आधुनिक तन्त्र सिद्धान्त (System theory) की तुलना की जा सकती है तथा गहरे अध्ययन किये जा सकते हैं।

चारित्र मनुष्य की स्वसम्पत्ति है। चारित्रवान् कहीं भी जा सकता है। इससे विपरीत चारित्र का उल्लंघन महान अपराध है, क्योंकि चारित्र नैतिक पुस्तक का प्रथमाध्याय, प्रथमवर्ण और प्रथम पद है।

जैन इतिहास का आदिकाल

❖ विद्यावारिधि डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन

['इतिहासमनीषी' लखनऊ]

प्रावेशिक :

व्यावहारिक व लौकिक ज्ञान-विज्ञान एवं अध्ययन-अध्यापन का एक महत्त्वपूर्ण विषय है इतिहास' शिक्षाव्यवस्था के अन्तर्गत निर्धारित पाठ्यक्रम मे इस विषय की उपयोगिता सदैव से स्वीकृत होती आई है। प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति, जाति, राष्ट्र, देश तथा परम्परा या संस्कृति का अपना-अपना अतीत होता है, और उक्त अतीत की ही प्रमाणाधारित कहानी को इतिवृत्त या इतिहास कहा जाता है। राजनैतिक, आर्थिक आदि शुद्ध लौकिक क्षेत्रों मे नेतृत्व करनेवाले व्यक्तियों और घटित घटनाओं का काल क्रमिक वृत्तान्त लौकिक इतिहास का विषय होता है, जबकि संस्कृति या परम्पराविशेष के इतिहास में उसके विकास में पथ-चिह्न बननेवाली घटनाओं और लोक को कल्याण का सुपथ दिखानेवाले तथा मानव जीवन के उन्नयन में योगदान करनेवाले महापुरुषों का चरित्र-चित्रण होता है। इसका एक उद्देश्य तो उन पुराण पुरुषों के पुण्यचरित्रों की स्मृति का संरक्षण होता है, और दूसरा उनके आदर्शों से प्रेरणा लेकर स्वयं अपना जीवनपथ प्रशस्त करना होता है।

जैन इतिहास का अर्थ है जैन परम्परा का अर्थात् जैनधर्म और संस्कृति का इतिहास। जैन सिद्धांत के अनुसार वस्तुस्वरूप का नाम धर्म है —जो जिस वस्तु का परानपेक्ष निजी स्वभाव है, वही उसका धर्म है। विश्व के उपादानों में मनुष्य के लिये सर्वाधिक प्रयोजनभूत वस्तु आत्मा है, अतः जैनधर्म या जिनधर्म आत्मधर्म का ही पर्यायवाची है, क्योंकि आत्मतत्त्व, अर्थात् लोक में जितनी भी आत्माएं हैं, सब अनादि-निधन हैं, आत्मवस्तु का स्वभाव या धर्म भी अनादिनिधन है। व्यवहारतः उक्त स्वभाव का साधनापथ भी, कारण में कार्य के उपचार द्वारा, 'धर्म'

संज्ञा प्राप्त करता है। इसप्रकार जैनधर्म या जिनधर्म भी अनादिनिधन है। और अनादिनिधन पदार्थ का कोई इतिहास नहीं होता – उसे इतिहास की सीमित परिधि में बांधा ही नहीं जा सकता।

किन्तु, व्यवहार में हम वर्तमान को पकड़कर उसका अतीत खोजते हुए कालक्रम से पीछे की ओर चलते जाते हैं, और जहां तक अतीत के गर्भ में पहुंच पाते हैं वहीं से विवक्षित परम्परा आदि का इतिहास प्रारंभ हुआ मानकर तबसे अब तक का इतिहास निर्माण कर डालते हैं। सुविधा की दृष्टि से उसे उपयुक्त कालखण्डों में भी विभाजित कर लेते हैं। अतएव आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति द्वारा स्वीकृत सत्यापित साक्ष्य जिस समय से मिलने लगता है, वह शुद्ध इतिहास का प्रारम्भ माना जाता है। उससे पूर्व का भी जो कुछ इतिवृत्त परम्परा अनुश्रुतियों के माध्यम से प्राप्त होता है, उसे अनुश्रुतिगम्य इतिहास या प्रोटो-हिस्टरी (Proto-History) कहते हैं। उससे पूर्व का मनुष्य के अतीत का जो कुछ भी ज्ञातव्य उपलब्ध होता है वह इतना अनाम, अस्पष्ट एवं अव्यवस्थित होता है कि उसे इतिहास की परिधि से बाहर रखकर प्रागैतिहासिक कहते हैं।

इसी दृष्टि से यहां जैन इतिहास के आदिकाल का चित्र प्रस्तुत किया जा रहा है, किन्तु उसकी पूर्व-पीठिका समझने के लिये यह उचित होगा कि विश्वतत्त्व एवं कालचक्र विषयक जैनमान्यता का सामान्य परिचय कर लिया जावे।

यह एक असंदिग्ध मौलिक जैन सिद्धान्त है कि यह चराचर जगत, अत: विश्व के विभिन्न उपादान भी, अनादि और अनन्त हैं। असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं होती, और सत् का कभी विनाश नही होता। इससे स्पष्ट है कि इस विश्व का न कभी किसी के द्वारा सृजन हुआ है और न कभी अन्त होगा, किन्तु, इस शाश्वत एवं प्रवहमान जगत में उसके उपादान द्रव्यों में निरन्तर परिणमन, पर्याय से पर्यायान्तर होते रहते हैं, और सतत् परिवर्तन का निमित्त है कालचक्र।

काल का प्रवाह भी अनादि अनन्त है। उसका सबसे छोटा अविभाज्य अंश 'समय' कहलाता है, और सबसे बड़ी व्यवहार्य इकाई 'कल्पकाल' एक कल्पकाल का परिमाण बीस कोटाकोटी सागर होता है, जो स्थूलत: संख्यातीत वर्षों का होता है। प्रत्येक कल्पकाल के दो विभाग होते हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी, जो एक के अनन्तर एक आते रहते हैं। अवसर्पिणी उत्तरोत्तर ह्रास एवं अवनति का युग होता है, जबकि उत्सर्पिणी उत्तरोत्तर विकास एवं उन्नति का। इनमें से प्रत्येक छ: भागों में विभक्त होता है, जिनकी गणना अवसर्पिणी के प्रवेश से प्रारम्भ होती है, यथा—प्रथम (सुखमा-सुखमा), द्वितीय(सुखमा), तृतीय (सुखमा-दुखमा), चतुर्थ (दुखमा-सुखमा), पंचम (दुखमा) और छट्ठा (दुखमा-दुखमा)।

इनमें से प्रथम काल में मनुष्यो एवं अन्य प्राणियों के शरीर का बल, आकार, आयु आदि सर्वाधिक होते हैं और सर्वप्रकार का शारीरिक एवं मानसिक सुख अत्यन्त होता है। दूसरे कालमें इन सब चीजों में उत्तरोत्तर कमी होती जाती है, तीसरे में और अधिक कमी होती है तथा साथ में दु:ख का भी समावेश होने लगता है। तथापि, ये तीनों काल सुख एव भोगप्रधान होते है, और जीवन पूर्णतया प्रकृत्याश्रित होता है। अतएव सामूहिक रूप से ये तीनों काल भोगयुग या भोगभूमिकाल कहलाते हैं। चौथे काल के प्रारम्भ से कर्मभूमि या कर्मयुग का उदय होता है। इस कालमें शरीर के आकार, बल, आयु, सुख और भोग में उत्तरोत्तर ह्रास होता जाता है, तथा दु:ख की प्रधानता होने लगती है। मात्र प्रकृति पर निर्भर रहने से काम नहीं चलता। स्वपुरुषार्थ एवं कृत्रिम साधनों का अवलम्बन अनिवार्यत: आवश्यक होता जाता है। अतएव इस चौथे काल में ही तीर्थंकरों के रूप में सर्वमहान लोकोपकारी जन नेताओं का आविर्भाव होता है, जो अपने-अपने समय में मनुष्यों को सुकर्म और धर्म की शिक्षा देते हैं पांचवें काल में जोवन संघर्ष में और अधिक वृद्धि एवं जटिलता होती जाती है तथा सुख नाम-मात्र का ही रह जाता है। छठे काल में आत्यंतिक दु:ख की प्रधानता रहती है और उसके अन्त तक सर्वव्यापी पतन अपनी चरमावस्था को पहुंच जाता है। उसके उपरांत घड़ी के पेन्डुलम की भांति कालचक्र पीछे को लौटता

है—उसका प्रत्यावर्तन होता है, और पुनः छठे से आरम्भ करके क्रमशः पांचवा, चौथा, तीसरा, दूसरा और पहला काल आते हैं। यह उत्सर्पिणी उत्तरोत्तर विकास एवं उन्नति का युग होता है। इसके प्रथम तीन कालों में कर्म-भूमि की व्यवस्था रहती है, और अन्तिम तीन में भोगभूमि की इस अनादिकाल चक्र में युगारम्भ एवं वर्षारम्भ श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से होता है।[1]

अनन्त आकाश के एक भाग में पुरुषाकार परिमित लोक है। उसी में जीव-अजीव आदि विभिन्न द्रव्य पाये जाते हैं। यही चराचर जगत हमारा विश्व है। इसके मध्यभाग को मध्यलोक कहते हैं। उसके ठीक मध्य में जम्बूद्वीप है जिसके केन्द्र में सुमेरुपर्वत स्थित है, और चारों ओर लवण समुद्र है। इस जम्बूद्वीप के ही एक भाग में, उत्तर में हिमवन् पर्वत तथा दक्षिण में तीन और लवण समुद्र से वेष्ठित भरतक्षेत्र है, जिसके मध्यमें विजयार्ध पर्वत फैला है। हिमवन् पर्वत से निकलकर अनेक सहायक नदियों के परिवार से युक्त होकर, एक पूर्व की ओर और दूसरी पश्चिम की ओर बहकर महासमुद्र में मिलने वाली गंगा और सिन्धु नामक दो महानदिया भरतक्षेत्र को छः खण्डों में विभाजित करती हैं। इन खण्डों में से गंगा और सिन्धु का मध्यवर्ती प्रदेश आर्यखण्ड कहलाता है। यही प्राचीन भारत का वह मध्यदेश है जहां तीर्थंकरों एवं अन्य पुराण पुरुषों का जन्म हुआ।[2] यही भारतीय धर्म, विज्ञान, कला और सभ्यता का तथा भारतीय संस्कृति की विभिन्न धाराओं का उदय, विकास एवं पोषण हुआ।

इस समय कल्पकाल का अवसर्पिणी विभाग चल रहा है, क्योंकि वर्तमान अवसर्पिणी में कतिपय अप-वाद या सनातननियम विरुद्ध कुछ अनोखी बातें भी हुई हैं, सामान्य अवसर्पिणी से भेद करने के लिए इसे हुंडाव-सर्पिणी कहते हैं।[3] इसके प्रथम चार भाग (काल) व्यतीत हो चुके हैं, और पाचवा भाग काल चल रहा है, जिसके लगभग अढ़ाई सहस्र वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, और साढ़े अठारह सहस्र वर्ष शेष हैं।

२. कुलकर युग :

वर्तमान अवसर्पिणी के प्रथम तीनों कालों में इस क्षेत्र में जीवन अत्यन्त सरल, स्वच्छ, स्वतन्त्र एवं प्राकृतिक था। मनुष्यों की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति दश प्रकार के तथाकथित कल्पवृक्षों से स्वतः हो जाया करती थी। मनुष्य शांत एवं निर्दोष था, कोई सघर्ष या द्वन्द्व भी नहीं था, अतः कोई मनुष्यकृत व्यवस्था भी नहीं थी।[4] आधुनिक भूतत्त्व एवं नृतत्त्व विज्ञान सम्मत आदिमयुगीन प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय युगों की वस्तु स्थिति के साथ उपरोक्त जैन मान्यता का अद्भुत सादृश्य है।[5] अवसर्पिणी के तीसरे काल के अन्तिम पाद में जब भोग-भूमि का अवसान होने लगा और कालचक्र के प्रभाव से होनेवाले अवस्था-परिवर्तनों को देखकर लोक शंकित एवं भयभीत होने लगे तो उनका समाधान, मार्गदर्शन एवं नेतृत्व करने के लिये इस देश में, एक के बाद एक, चौदह कुलकरों या मनुओं का प्रादुर्भाव हुआ। इस युग की वस्तुस्थिति आधुनिक पुराशास्त्रियों को प्रागैतिहासिक पाषाणयुगीन स्थिति से मेल खाती है।[6]

कुलकरों की संख्या १४ है। जीवन की रक्षा तथा जीवननिर्वाह की आवश्यकताओं के लिए बढ़ते हुए संघर्षों के कारण उस युग के मनुष्य की सहज शक्ति जब भंग होने लगी तो उसने स्वयं को कुलों (जनों, समूहों या कबीलों) में संगठित करना प्रारम्भ कर दिया। इन कुलों की व्यवस्था करनेवाले और उनका नायकत्व एवं नेतृत्व

---

१. देखिए तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार, आदिपुराण आदिआर्षग्रन्थ २. वही ३. वही

४. डा० हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० ६

५. डा० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय इतिहास : एक दृष्टि (द्वि० सं०), पृ० २०–२१।

६. वही, तथा कामताप्रसाद जैन, दी रिलीजन आफ तीर्थंकराज, पृ० ३७–३८।

करने वाले कुलमान्य पुरुष श्रेष्ठ कुलकर कहलाये। वे आवश्यकतानुसार आदेश-निर्देश भी देते थे, मर्यादाएँ निर्धारित करते थे और व्यवस्था देते थे, इसलिये 'मनु' भी कहलाते थे। उन्हीं की सन्तति होने के कारण इस देश के निवासी मानव कहलाये।

प्रथम कुलकर या मनु का नाम प्रतिश्रुति था। उन्होंने लोगों को चन्द्रमा और सूर्य के उदय एवं अस्त होने जैसी प्राकृतिक घटनाओं का रहस्य बताया। चन्द्रास्त एवं सूर्योदय एक साथ पहली बार जब लक्ष्य में आये तभी से दिन और रात्रि का व्यवहार का प्रारम्भ माना जाने लगा।[1] दूसरे कुलकर सन्मति ने लोगों को नक्षत्रों एवं तारिकाओं का ज्ञान कराया—वह सर्वप्रथम ज्योतिर्विद थे। तीसरे कुलकर क्षेमंकर ने वन्य पशुओं से निर्भय रहना और उनमें से कई एक को पालतू बनाना सिखाया। चौथे कुलकर क्षेमंधर ने सिंह आदि हिंसक पशुओं से स्वरक्षा के लिये दण्ड (डण्डे), पाषाण आदि का प्रयोग सिखाया। पांचवें कुलकर सीमंकर के समयतक अधिकतर कल्पवृक्ष नष्ट हो चुके थे, और जो बचे रहे थे, उनके स्वामित्व को लेकर परस्पर झगड़े होने लगे। अतएव इन कुलकर ने प्रत्येक कुल के अधिकारक्षेत्र की सीमा निर्धारित करके उन्हें संघर्षों से बचाया। इन पाँचों कुलकरों ने भोगयुग के अवसान और कर्मयुग के आगमन की पूर्व सूचना देते हुए अपने-अपने समय के मानव-कुलों को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल जीवन बिताने की शिक्षा दी। अपराधियों के लिये वे 'हाकार' नीति का प्रयोग करते रहे, अर्थात् अपराधी को 'हा' कह देना भर पर्याप्त था, अन्य किसी दण्ड की आवश्यकता नहीं होती थी।

छठे कुलकर सीमंधर ने बचे-खुचे कल्पवृक्षों पर वैयक्तिक अधिकार की सीमाएँ निश्चित कर दीं—व्यक्तिगत सम्पत्ति की कल्पना का प्रारंभ यहीं से हुआ समझा जा सकता है। सातवें कुलकर विमलवाहन ने हाथी आदि पशुओं को पालतू बनाकर बांध रखना और सवारी आदि के लिये उनका उपयोग करना सिखाया। आठवें कुलकर चक्षुष्मान के समय में भोगभूमिज युगलियां स्त्री-पुरुष अपनी युगलिया सन्तान को जन्म देकर भी जीवित रहने लगे और उन्हें देखने का आनन्द प्राप्त करके मरने लगे—इसके पूर्व वे सन्तान को जन्म देकर तुरन्त मर जाते थे। इस कुलकर ने उन्हें सन्तान-सुख प्राप्त करना सिखाया। नौवें कुलकर यशस्वन ने लोगों को अपनी सन्तान से स्नेह करना और उनका नामकरण आदि करना सिखाया। दसवें कुलकर अभिचन्द्र ने बालकों का रोना चुप कराने, उन्हें खिलाने, बुलवाने और उनका पालन-पोषण आदि करने की शिक्षा दी। छठे से दसवें कुलकर पर्यंत 'हा' के साथ 'मा' (नहीं, मत करो!) का भी दण्डनीति के रूप में प्रयोग हुआ।

ग्यारहवें कुलकर चन्द्राभ के समय में लोग अति शीत, तुषार एवं वायु के प्रकोप से त्रस्त और भयभीत होने लगे तो कुलकर ने उनका समाधान किया। उन्होंने शिशुओं का लालन-पालन करना व अन्य उपयोगी बातें भी लोगों को सिखाईं। बारहवें कुलकर मरुदेव के समय में मेघ-गर्जन एवं बिजली की चमक के साथ वर्षा होने लगी, नदी-नाले बहने लगे, जिससे लोग भयभीत हुए। कुलकर ने नाव बनाकर नदी आदि पार करना तथा पर्वतों पर चढ़ना सिखाया। उन्होंने लोगों को समझाया कि भोगभूमि की व्यवस्था समाप्त होनेवाली है और कर्मभूमि का काल अतिनिकट है, अतः कर्म करना प्रारम्भ करो। तेरहवें कुलकर प्रसेनजित ने सद्यःजात शिशुओं की जरायु हटाने की और उनका भली प्रकार पालन-पोषण करने की शिक्षा दी। चौदहवें कुलकर महाराज नाभिराय थे। जिन्होंने सद्यःजात शिशुओं की नाभिनाल काटने की विधि बताई। इन्हीं के नाम पर इस देश का प्राचीनतम ज्ञात नाम अजनाभ या अंजनाभ प्रसिद्ध हुआ। इस समय तक समस्त कल्पवृक्ष नष्ट हो चुके थे, किन्तु साथ ही सहज उत्पन्न विविध वानस्पतिक औषधियां, धान्य, फल-फूल आदि उगने लगे। कुलकर ने लोगों को क्षुधानिवारणार्थ इन स्वतः उत्पन्न शालि, यव, बल्ल, तुवर, तिल, उडद आदि का भक्षण करने का उपदेश दिया।[2] अन्तिम चार कुलकरों के समय में दण्डनीति में 'धिक्' या 'धिक्कार' शब्द का भी प्रयोग होने लगा।

---

१ डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, रिषभदेव : फाउण्डर आफ जैनिज्म, पृ० ६२-६४

२. तिलोयपण्णत्ति, अ० ४, गा० ४२१-५०६, हरिवंशपुराण, सर्ग ७, आदिपुराण, पर्व ३, पृ० १४३-१४६।

जैन परम्परा में मान्य भोगभूमि की व्यवस्था तथा कुलकरों से सम्बन्धित वर्णन आधुनिक चिन्तकों एवं मनीषियों के उन निष्कर्षों के साथ अद्भुत सादृश्य रखते हैं, जो वे मनुष्यजाति की आदिमशैशवावस्था में मानवी सभ्यता के उदयकाल तक हुए उसके विकासक्रम के सम्बन्ध में प्रतिपादित करते हैं। कुलों, जनों, कबीलों आदि की मान्यता भी अमरीका, यूनान एवं रोम के आदिवासियों में उसीप्रकार रही मानी व जानी जाती है।[1] ये तथ्य जहां इस जैन परम्परा को वितर्कणा से युक्त आधुनिक बुद्धिजीवियों के लिये विश्वसनीय सिद्ध करते हैं, वहीं जैनधर्म एवं संस्कृति की अत्यन्त प्राचीनता के भी सूचक हैं।

तीसरे काल अर्थात् भोगभूमि और कुलकर-युग के साथ वास्तविक प्रागैतिहासिक युग समाप्त हो जाता है और अनुश्रुतिगम्य इतिहास (प्रोटोहिस्टरी) का प्रारम्भ होता है। कर्मयुग और सभ्यता एवं संस्कृति के इतिहास का भी वहीं से ॐ नमः होता है, और इस आने वाले युग के प्रधान नेता चौबीस तीर्थंकर हैं, तथा गौण नेता अन्य उनतालीस विशिष्ट पुरुष हैं, जो सब मिलकर त्रिषष्ठिशलाकापुरुष कहलाते हैं।[2]

तीर्थ नाम धर्मशासन का है, अतएव जो महापुरुष जन्म-मरण रूपी दुःख के आगार संसार-सागर को पार करने के लिये धर्मतीर्थ की स्थापना या प्रवर्त्तन करते हैं, वे तीर्थंकर कहलाते हैं। आगे के युग में ऐसे चौबीस तीर्थंकर हुए। उनके अतिरिक्त, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण और नौ बलभद्र, इसप्रकार कुल त्रेसठ शलाका (परमश्लाघनीय) पुरुषपुंगव हुए।

३. तीर्थंकर-युग एवं कर्मभूमि का प्रवेश :

अन्तिम कुलकर नाभिराय की चिरसंगिनी मरुदेवी की कुक्षि से चैत्रकृष्ण नवमी के शुभदिन, अयोध्यानगरी में, प्रथम तीर्थंकर वृषभ-लांछन भगवान ऋषभ का जन्म हुआ था। इनके अन्य अनेक सार्थक नाम, यथा वृषभनाथ, आदिनाथ या आदिदेव, महादेव, स्वयंभू, प्रजापति, हिरण्यगर्भ, पुरुदेव, इक्ष्वाकु, काश्यप आदि भी लोकप्रसिद्ध हुए। वह अन्तिम मनु और प्रथम मानव थे। इन्हीं आदि पुरुष ने मनुष्य को मानव बनाया—उसे असि-मसि-कृषि-शिल्प-वाणिज्य-विद्या नामक षट्कर्मों द्वारा जीविकोपार्जन करने की शिक्षा दी, पुरुषों को बहत्तर और स्त्रियों को चौसठ कलाएँ सिखाईं, लिपिज्ञान और अंकज्ञान दिया, कच्छ-सुकच्छ की पुत्रियों नन्दा एवं सुनन्दा के साथ अपना विवाह करके समाज मे विधिवत् विवाह प्रथा प्रचलित की, और समाज में क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र नामक कर्मभेदसूचक त्रिवर्ण की स्थापना की। भगवान के भरत, बाहुबली आदि एक सौ एक पुत्र और ब्राह्मी एवं सुन्दरी नामकी दो पुत्रियाँ हुई। उन्होंने पुत्रों तथा पुत्रियों को समान रूपसे सुशिक्षित किया और चिरकाल तक प्रजा का सम्यक्रीत्या पालन, पथप्रदर्शन एवं नेतृत्त्व किया। इसप्रकार, ज्ञान-विज्ञान एवं विविध कलाओं और कर्म की शिक्षा, सामाजिक संगठन, अर्थव्यवस्था, राज्य-शासन आदि के रूपमें कर्मयुग के प्रारम्भ और मानवी सभ्यता एवं संस्कृति के बीजारोपण का श्रेय इन्हीं आदिपुरुष ऋषभदेव को है।

एकदा अपनी राजसभा में नीलांजना नामक अप्सरा की नृत्य के मध्य में हो आयु पूरी हो जाने पर मृत्यु की घटना देखकर भगवान को संसार से वैराग्य हो गया। उन्होने सर्वस्व का परित्याग करके तथा वन में जाकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और दुर्द्धर तपश्चरण द्वारा आत्मसाधना प्रारम्भ कर दी। इन योगिराज का प्रथम पारणा गजपुर (हस्तिनापुर) मे राजा सोमयश के अनुज कुमार श्रेयांस के हाथों इक्षुरसपान द्वारा वैशाख शुक्ल तृतीया के दिन हुआ, जो तभी से अक्षयतृतीया के नाम से प्रसिद्ध हुई। कालान्तर में, पुरिमतालनगर (प्रयाग) के बाहर त्रिवेणी संगम के निकटवर्ती एक वटवृक्ष के नीचे उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ, और वह वृक्ष अक्षयवट के नाम से लोकप्रसिद्ध हुआ। अपने दिव्य उपदेश द्वारा चिरकाल पर्यंत लोकहित करने के उपरांत फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी (मतान्तर से माघ कृ० १३) की रात्रि में कैलास पर्वत पर भगवान ने निर्वाण लाभ किया और मुक्तिरूपी शिव-

१. वही, पृ० १४२–१४३, १५०; एन्जेल्स, दी ओरिजिन आफ दी फैमिली पृ० २४–२९, ८३–८४।

२. देखिए महापुराण।

लक्ष्मी का वरण किया—तभी से शिवरात्रि पर्व प्रसिद्ध हुआ। यह युगादिपुरुष भगवान ऋषभदेव वर्तमान अवसर्पिणी में धर्म के सर्वप्रथम प्रवर्त्तक तथा जैन परम्परा के प्रथम तीर्थंकर थे।[1]

भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत इस युग के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट थे, जिन्होंने छःखण्ड पृथ्वी का साधन करके चिरकाल तक वसुन्धरा का उपभोग किया। इन्हीं भरतेश्वर ने चतुर्थ वर्ण, ब्राह्मणवर्ण की स्थापना की। इनके अनुज बाहुबली अत्यन्त स्वतन्त्रचेता, वीर, कामदेवोपम सुदर्शन और बलशाली थे। वह चक्रवर्ती के सन्मुख भी नहीं झुके। अन्ततः संसार से विरक्त होकर उन्होंने दुर्द्धर तपश्चरण किया—उनकी विशालकाय प्रतिमाएँ अनेक स्थानों में विद्यमान हैं, जिनमें से श्रवणबेलगोल (कर्णाटक) की अद्वितीय प्रतिमा तो विश्व के आश्चर्यों में परिगणित है।

४. अन्य तीर्थंकर :

प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के निर्वाणोपरान्त, अल्पाधिक विभिन्न अन्तरालों को लिये हुए, एक-एक करके तेईस अन्य तीर्थंकरों का इस भारत भू में प्रादुर्भाव हुआ, जिनके नाम हैं क्रमशः—अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, सुविधिनाथ (पुष्पदन्त), शीतलनाथ, श्रेयोनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत, नमिनाथ, नेमिनाथ (अरिष्टनेमि), पार्श्वनाथ और वर्द्धमान महावीर।[2]

दसवें तीर्थंकर शीतलनाथ के तीर्थ में धर्म की अस्थायी व्युच्छित्ति हुई और ब्राह्मण वैदिक सभ्यता का उदयारम्भ हुआ, किन्तु अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ के समय तक भी गंगा-यमुना के अन्तर्वेद (दो आबे) में वैदिक सभ्यता एवं धर्म का विशेष प्रसार नहीं हो पाया था—तदनन्तर वहां भी वह द्रुतवेग से हुआ। बीसवें तीर्थङ्कर मुनिसुव्रत के तीर्थ में जैन रामायण में वर्णित घटनाएँ घटीं और राम, लक्ष्मण, हनुमान, रावण आदि शलाका-पुरुष हुए। मुनिसुव्रत से नेमिनाथ तक का समय वैदिक सभ्यता का उत्कर्षकाल था, याज्ञिक हिंसा का जोर भी उसी काल में बढ़ा। इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ के समय से ब्राह्मणधर्म में औपनिषदिक आत्मवाद की लहर चली। बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के ही चचेरे भाई नारायण कृष्ण और बलराम थे, जिनका प्रतिद्वन्द्वी मगध नरेश जरासंध था। इसी समय कुरुक्षेत्र में महाभारत नाम से प्रसिद्ध कौरव-पाण्डव महायुद्ध हुआ। इस युद्ध ने वैदिक सभ्यता को बड़ा धक्का पहुंचाया, वैदिक क्षत्रिय सत्ताएँ पराभूत हुईं, और श्रमणधर्मपुनरुद्धार प्रारम्भ हुआ।[3]

आधुनिक इतिहासकार अब बहुधा महाभारत युद्ध के उपरांत से ही प्राचीन भारत के शुद्ध ऐतिहासिक युग का प्रारम्भ करते हैं, अतएव जैन इतिहास के आदियुग की समाप्ति का भी यही समय अनुमानित है।

यतः उक्त भारतयुद्ध और कृष्ण को ऐतिहासिक स्वीकार किया जाता है, तीर्थंकर अरिष्टनेमि की ऐतिहासिकता स्वयंसिद्ध है, और उनके परवर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ (ईसापूर्व ८७७-७७७) तथा वर्द्धमान महावीर (ई० पू० ५९९-५२७) की ऐतिहासिकता तो सर्वथा असन्दिग्ध है ही। अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का ही तीर्थ या धर्मशासन गत अढ़ाई सहस्र वर्षों से चला आ रहा है। उन्हीं की परम्परा के आचार्य पुंगव, तपोधन मुनिराज, दिग्गज साहित्यकार और भक्त श्रावक-श्राविकाएँ उसका अनुपालन, पोषण और प्रभावना करते चले आ रहे हैं।

---

१. वही; सी० आर० जैन, वही; हीरालाल जैन, वही, पृ० ११: का० प्र० जैन, वही, पृ० ४१–४५; ज्यो० प्र० जैन, वही, पृ० २२–२४, ओल्डेस्ट लिविंग रिलीजन पृ० ४७, तथा भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ० २४।

२. इन तीर्थंकरों के परिचय के लिए देखिए गुणभद्रीय उत्तर पुराण तथा अन्य महापुराण; और ज्योतिप्रसाद जैन 'जैन संस्कृति का विकास' जिनवाणी का 'जैन संस्कृति और राजस्थान विशेषांक, ३२/४-७६ अप्रेल-जुलाई ७५ पृ० ९६–११४।

३. वही; तथा जैन जर्नल, ६/२, पृ० ६०–६२ और ६/३, पृ० १०९–११३ में प्रकाशित ज्यो० प्र० जैन का लेख 'रिवाइवल आफ श्रमणधर्म इन लेटर वेदिक एज।

जैन धर्म में प्रथमानुयोग का स्थान

❖ क्षुल्लक सिद्धसागरजी

[मौजमाबाद वाले]

प्रथमानुयोग द्वादशांग के चौथे हिस्से के बराबर है। पुराण (इतिहास) चरित वगैरह कथा भाग इसमें सम्मिलित हैं। चारों अनुयोगों में सर्वप्रथम इसका नाम आता है। यह बोधि तथा समाधि का निधान है। यह तो अर्थाख्यानों का गहरा समुद्र है। पुण्य तथा पुण्यपुरुषों की कथाओं का परम खजाना है। अनुत्तरोपपादिक तथा अंतकृत दशांग भी कथा भाग से परिपूर्ण हैं। ज्ञातृकथा धर्माङ्ग भी कथाओं तथा उप कथाओं का बड़ा भंडार है। यह समझ में सरलता पूर्वक आ जाता है। यह अनुयोग गृहस्थ से लेकर साधु तक सर्व संघ के लिये परम उपयोगी है। इसके पढ़ने से सद्धर्म में आस्था बुद्धि दृढ़ हो जाती है। इससे मति प्रगति करने लगती है। "दृष्टांते स्फुटामतिः" इस उक्ति के अनुसार समीचीन धर्म साफ साफ बुद्धि में इस अनुयोग के निमित्त से उभर आता है। विश्व की जनता के लिये यह विश्राम घाट है। इसके मनन करने से चारों अनुयोगों के कई विषय आस्था में जमे रहते हैं। कथा भाग की प्रधानता से यह प्रथमानुयोग है, किन्तु महा-पुराण हरिवंश पुराण, पद्मपुराण गत कथाएं जो संस्कृत में विभाजित होकर खण्ड-खण्ड रूप में लोक में भी फैली हुई है। जैन-अजैन सभी इस कथा के ऋणी हैं।

इस अनुयोग में असंख्य वर्ष पुराने भी कथानक प्रवाह से पाए जाते हैं। चक्रवर्तियों का इतिहास इसमें बहुत महत्व पूर्ण है। आर्य खंड के आर्य विजय करने के लिए शेष खण्डों में भी जाया करते हैं विजय के पश्चात वे पुनः भारत के आर्य खण्ड

में लौट आते हैं। अंत का चक्रवर्ती भी विजय के लिए म्लेच्छ खण्डों में गया था। अत: यहां से जो आर्य उसके साथ गये थे वापस आगए। आर्य भारत में आये इसका जो आधुनिक वर्णन है वह गलत है। वास्तव में आर्य खण्ड के भारतीय आर्य, वापस आर्य खण्ड में लौट आये, ऐसा अर्थ लगाना तो ठीक है व आगमानुकूल भी है। भारत में आर्य और म्लेच्छ सदा से रहते चले आरहे हैं, किन्तु गलत इतिहासकार आर्यों को यहां का रहने वाला नहीं मानते हैं। भारत में फूट डालने वाले गलत या भ्रात कथानक हैं वे तो अवश्य त्याज्य हैं। वे अविद्यारूप हैं।

सर्वज्ञ प्रणीत विद्या का अनुसरण करने वाले अविद्या से दूर रहकर प्रथमानुयोग का अध्ययन करके अपनी आत्मा को पावन करते रहें। शेष अनुयोगो की विद्या भी इसके पढ़ने से हस्तगत हो सकती है। "बंदर अदरख का स्वाद न जाने" इस उक्ति के अनुसार अविद्या के अभ्यास से अपने मन को चंचल करने वाले, सर्वज्ञ प्रणीत विद्या से वंचित होकर, सिनेमा तथा उपन्यास की डालियों पर उछल कूद करते हुए देश के सभ्यता रूपी बगीचे को उजाड़ते रहते है। अकलमंद को इशारा पर्याप्त है।

वास्तव में स्तुति पुण्य प्रसाधक परिणामों की कामधेनु है, अचिन्त्य महाफलों की चिन्तामणि है।

अजेय आत्मशक्ति

❖ कमला, जैन 'जीजी'

प्रत्येक साधक को साधना के माध्यम से ही साध्य की प्राप्ति होती है और साध्य-प्राप्ति के लिये की जाने वाली साधना के लिये अजेय आत्मशक्ति की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। दृढ़ आत्मशक्ति के अभाव में साधनों की प्रचुरता होने पर भी साधना संभव नहीं होती। विश्व में जितने भी संत और महापुरुष हुए हैं उन्होंने सर्वप्रथम अपनी आत्मशक्ति को पहचाना है, उसका विकास किया है साथ ही उपयोग करते हुए अपने सर्वोच्च साध्य को प्राप्त किया है। आत्मशक्ति प्रत्येक मानव में होती है, किन्तु उसकी पहचान करने वाले पुरुष विरले ही होते हैं। जिन महापुरुषों ने उसे जान लिया और उसका सम्यक् प्रयोग किया वे अपनी कार्यसिद्धि करके विश्ववंद्य बन गए तथा मानव जीवन को सार्थक कर गए। ऐसे महामानवों की सूचि बहुत लम्बी है, किन्तु जिस प्रकार काल की गणना संभव नहीं है उसी प्रकार उन महान् आत्माओं की गणना भी संभव नहीं है। फिर भी इतिहास के माध्यम से हम कतिपय महापुरुषों अथवा साधकों के विषय में जान सकते हैं।

मनुष्य की शक्तियाँ :

यद्यपि मानव के पास आत्मशक्ति या आत्मबल के अलावा और भी बल होते हैं, जिनके द्वारा वह अनेक दुरूह व चमत्कारिक कार्य करता है—यथा बाहुबल और बुद्धिबल। इतिहास बताता है कि प्राचीन काल में अनेक विश्व विजयी शूरवीर हुए हैं जिन्होंने अपनी भुजाओं के बल से पृथ्वी को भी कंपा दिया तथा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हुए अपने साम्राज्य को अनेक गुना बढ़ाया। भर्तृहरि ने लिखा भी है कि "जिस प्रकार एक तेजस्वी सूर्य सारे जगत को प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार एक ही शूरवीर सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतकर अपने वश में कर लेता है।"

अश्वमेध यज्ञादि के उदाहरण मनुष्य की भुजाओं की शक्ति के ही प्रमाण हैं। अपनी इसी शक्ति के बल पर व्यक्ति साम्राज्य का अपूर्व विस्तार करता था साथ ही शरणागतों की एवं अबलाओं की रक्षा भी जान पर खेलकर कर जाता था।

बाहुबल के समान बुद्धिबल भी मानव की महान शक्ति का परिचायक है। यह शक्ति भुजाओं की शक्ति से भी असंख्यगुणी अधिक ताकतवर एवं चमत्कारिक साबित हुई है। मनुष्य के मस्तिष्क की अद्भुत शक्ति ने ही इस युग को वैज्ञानिक युग बनाया है। यद्यपि संसार की प्रत्येक जड़ व चेतन वस्तु में असीम शक्ति निहित होती है जिसे देखा नहीं जा सकता पर विज्ञान उसे खींचकर प्रकाश में लाता है तथा उससे अपनी इच्छानुसार कार्य करवाता है। आज के मनुष्य ने अपनी दिमागी शक्ति के बल पर कोयले के कणों और जल की बूँदों से ही जो करिश्मे कर दिखाए हैं इनके विषय में अधिक बताने की आवश्यकता नहीं है। विद्युत के प्रचंड प्रभाव के बारे में आज बच्चा बच्चा जानता है। नाना प्रकार की महाकाय मशीनें, बम, तोपें, टैंक, वायुयान या रॉकेट ही नहीं अपितु मनुष्य के द्वारा आविष्कृत यह विज्ञान का खजाना एक ऐसा जादू का पिटारा प्रमाणित हुआ है जिसमें से निरंतर अभूतपूर्व करिश्मे होते दिखाई देते हैं।

स्पष्ट है कि मनुष्य की बाहुओं की शक्ति से भी बढ़कर उसकी दिमागी शक्ति आज के युग का प्रतिनिधित्व करती है, किन्तु इन दोनों से भी श्रेष्ठ और अतुलनीय शक्ति जो उसके पास है वह है उसकी आत्मशक्ति। इस आत्मशक्ति की तुलना में उपरोक्त दोनों ही शक्तियां गौण हैं। आत्मशक्ति के द्वारा मानव जो कुछ कर सकता है वह उसकी किसी भी अन्य शक्ति के द्वारा संभव नहीं है। अन्य शक्तियां केवल उसकी सहायक बन सकती हैं। इसीके विषय में अब हमें जानना है।

अजेय आत्मशक्ति :

आत्मशक्ति एक ऐसी दिव्य शक्ति है जिसकी पहचान कर लेने पर साधक अपने सम्पूर्ण कृत-कर्मों से संघर्ष करके इस संसार से मुक्त हो सकता है। ऐसी ताकत अथवा शक्ति न भुजाओं में होती है और न बुद्धि में ही। एक आत्मवीर असंख्य विरोधियों पर विजय प्राप्त कर लेता है। अपनी बुद्धि को भी जब वह आत्मशक्ति में मिला लेता है तो उसका जीवन अनुपम तेजस्वी, प्रतिभायुक्त तथा असाधारण शक्ति-पुंज बन जाता है। आत्म-शक्ति के द्वारा ही मानव अपने मन पर और इन्द्रियों पर शासन करता है तथा आस्रव के द्वार को सर्वथा बंद करके निर्जरापथ की ओर उन्मुख हो जाता है। मन की प्रचंड शक्ति को आत्मशक्ति ही काबू में कर सकती है और उसे सम्यक् मोड़ देकर मुक्ति रूपी साध्य की सिद्धि करने में समर्थ हो सकती है। कहा भी है—

'यः सप्तमीं क्षणार्धेन, नयेद्वा मोक्षमेव च।"

—योगसार

जिस आधे क्षण में सातवें नरक का बंध पड़ सकता है, उसी आधे क्षण में कर्मों का सर्वनाश करके मोक्ष की प्राप्ति भी की जा सकती है।

अभिप्राय यही है कि मन की महा-प्रचंड शक्ति को अगर वश में न रखा जाय तो वह क्षणार्ध में ही सातवें नरक का बंध कर देती है और वश मे कर लिये जाने पर उसी आधे क्षण में संपूर्ण कर्मों का क्षय करके मोक्ष की प्राप्ति भी करा सकती है। पर यह होता तब है, जबकि दृढ़ आत्म-शक्ति जागृत हो जाय। केवल आत्म शक्ति में ही इतनी सामर्थ्य है कि वह मन को अपने अंकुश में रखते हुए कर्म-नाश के कार्य में संलग्न करे। विश्व की अन्य किसी भी शक्ति में इतनी ताकत संभव नहीं है। इसीलिये भगवान महावीर ने आत्मा की अनंत शक्ति को ही महत्त्व दिया है क्योंकि आत्मा में ईश्वरीय रूप विद्यमान रहता है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा परमात्मारूप है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति है। आवश्यकता सिर्फ उसे

पहचानने और जगाने की है, क्योंकि आत्मा की उस अनन्त शक्ति पर राग, द्वेष एवं कषायादि के अनेक प्रगाढ़ आवरण हैं, जिन्हें बिरले साधक ही हटा सकते हैं। जो ऐसा कर लेते हैं वे अपने समस्त कर्म-शत्रुओं को परास्त कर स्वयं अजेय बन जाते हैं।

आत्मशक्ति की पहचान एवं उसका विकास :

आत्मशक्ति की पहचान करने के लिये पहले हमें आत्मा का ज्ञान करना आवश्यक है और इसके लिये आत्मा की शरीर से पृथक्ता करनी होगी। शरीर और आत्मा एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। शरीर नाशवान है, किन्तु आत्मा अविनश्वर। देह के साथ आत्मा का कभी नाश नहीं होता इसीलिये वह अजर अमर कहलाती है। मनुष्य प्रायः कहते देखे जाते हैं 'मैं अस्वस्थ हूँ. निर्बल हूँ अथवा सबल हूँ।' पर ये कथन केवल शरीर के लिये होते हैं आत्मा के लिये नही। निर्बल या अंतिम सांस लेते हुए मरणासन्न रोगी के अन्दर भी आत्मापूर्ण स्वस्थ एवं तेजवान रहती है। अन्तर केवल समझने और मानने का होता है। मानव जिसे 'मैं' कहता है वह आत्मा के लिये होता है। और जिसे मेरा कहा जा सकता है वह सब आत्मा से भिन्न 'अन्य' या 'पर' की श्रेणी में आ जाता है। यद्यपि आत्मा के सबसे अधिक समीप रहने वाले शरीर मन और पांचों इन्द्रियाँ हैं, किन्तु ये सब भी 'मेरे' अर्थात् आत्मा से भिन्न की श्रेणी में आते हैं। इसलिये अगर कोई शरीर के सुख-दुख, मान-अपमान अथवा जन्म-मरण को अपना माने तो वह उसका भ्रम है। हमें भली-भांति यह समझना चाहिये कि शरीर, इन्द्रियाँ और हमारा मन हमारे 'मैं' से बिलकुल पृथक है। अन्यथा कोई भी व्यक्ति यह कैसे कह सकता है कि— 'मेरे मन में अमुक विचार आया।' मन के लिये जहाँ 'मेरे' कहा गया, वहीं उसकी 'मैं' अर्थात् आत्मा से पृथक्ता साबित हो गई। आत्मा न शरीर है न इन्द्रियाँ और न ही मन है। वह इन सबसे अलग असीम या अनन्त शक्ति की स्वामिनी है, किन्तु जब मोह का आवरण इस पर छाया हुआ रहता है तब मनुष्य मन व इन्द्रियों के वश में रहता है तथा इनमें होने वाली विकृतियों से सुख या दुःख का अनुभव करता है। ऐसा जब तक होगा तब तक वह आत्मा की और उसकी अद्‌भुत शक्ति की पहचान कभी नहीं कर सकेगा और पहचान न होने पर उस शक्ति से लाभ भी नही उठा पायेगा। इसलिये सर्वप्रथम आवश्यक है कि आत्मा की पहचान की जाय। एक लघु सूत्र में कहा गया है—"आत्मानं विजानीहि" अर्थात् आत्मा को जानो, अपने आपको पहचानो। आत्मा को जाने बिना इस संसार सागर से पार उतरने का अन्य कोई तरीका या मार्ग नहीं है। आत्मा की सच्ची पहचान एवं इसकी शक्ति का उत्तरोत्तर विकास करने पर ही साधक मुक्ति-पथ पर निरन्तर अग्रसर हो सकता है तथा कालांतर में अपने इच्छित लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है।

अब देखना यह है कि आत्म शक्ति का विकास कैसे किया जा सकता है? शरीर की शक्ति तो मनुष्य नाना प्रकार के आसन, व्यायाम करके तथा पौष्टिक पदार्थों का सेवन करके सरलता पूर्वक बढ़ा सकता है, किन्तु आत्म-शक्ति को बढ़ाना इतना सरल नहीं है। उसके लिये सतत साधना एवं दृढ़ आत्म-संयम की आवश्यकता होती है। साधक जब दृढ़ संकल्प करता हुआ सोच लेता है– "कार्यं वा साधयामि देहं वा पातयामि।" तभी वह आत्मोन्नति के महा दुरूह पथ पर चल सकता है। यह मार्ग अनेक संकटों और संघर्षों से भरा होता है पर इन कसौटियों पर जो खरा उतरता चला जाए तथा मेरु पर्वत के समान अडिग रहे वही अपनी आत्मा को महात्मा और फिर परमात्मा बना सकता है भगवान महावीर का साधनाकाल उपसर्गों से भरा हुआ रहा है, किन्तु उनकी आत्मिक शक्ति अडिग एवं महान थी अतः वे अपनी घोर साधना में अविचलित रहते हुए कर्ममुक्त हो सके। आशय यही है कि परीषहों तथा उपसर्गों के तूफानों में भी उनकी आत्म-शक्ति निरन्तर वृद्धि करती रही, उत्तरोत्तर दृढ़ होती चली गई। परमात्मपद प्राप्त करने का यही गूढ़ रहस्य है।

आत्मशक्ति बढ़ाने के लिये मुमुक्षु को सर्वप्रथम अन्तर्ज्ञान प्राप्त करना चाहिये तभी आत्म-बल का विकास हो सकेगा। कारण यही है कि जब तक व्यक्ति किसी वस्तु के गुणावगुणों को सम्यक्‌रूप से न जान ले,

उससे कोई लाभ हासिल नहीं कर सकता। हमारी आत्मा में भी जो ईश्वरीयतत्त्व हैं उसकी महत्ता को जाने बिना कैसे उसे पुष्ट और विकसित करके ईश्वरत्व को प्राप्त किया जा सकता है।

अन्तर्ज्ञान के द्वारा मानव को सर्वप्रथम यह जान लेना चाहिये कि उसकी आत्मा में अनंत शक्ति निहित है। यह एक ऐसी दिव्यज्योति है जो चकमक में अग्नि की तरह व्याप्त है। बाहर से दिखाई न देने पर भी पत्थर पर घिसते ही चकमक से अग्नि निकल आती है और वह छोटी सी चिनगारी किसी भी महानगर को भस्म करने की क्षमता रखती है। इसीप्रकार आत्मा में भी ऐसी प्रचण्ड शक्ति छिपी रहती है जिसे संयम और साधना के द्वारा अगर प्रकाशित कर लिया जाय तो वह कर्मों के असख्य मेरु पर्वत के सदृश ढेरों को भी जैसा कि पूर्व में बताया गया है, आधेक्षण में ही नष्ट कर देने की सामर्थ्य रखती है इसलिये साधक को अपनी इस महान शक्ति पर विश्वास रखते हुए इसे केवल जगा लेना है तथा निरन्तर विकसित करते रहना है। अंतर्ज्ञान के द्वारा मोक्षाभिलाषी को यह भी भलीभांति समझ लेना चाहिये कि मेरी आत्मा अनंत शक्ति शालिनी है तथा मन, इन्द्रियां व शरीर इससे पृथक् हैं और इसके अनुचर हैं। आत्मा की आज्ञा के बिना इन सबमें कुछ भी करने की सामर्थ्य नहीं है सभी आत्मा के द्वारा ही संचालित होते हैं। यद्यपि शरीर का महत्त्व भी कम नहीं है, क्योंकि यह साधना के लिये माध्यम है। शरीर के अभाव में न मनुष्य साधना कर सकता है और न ही तपस्या। उदाहरण स्वरूप कोई बहन अगर मक्खन से घी निकालना चाहती है तो वह मक्खन के गोले को सीधा ही आग में नहीं झोंक देती। वह किसी पात्र में मक्खन को रखकर ही अग्नि पर तपाती है और तब घी हासिल करती है। इसी प्रकार साधक आत्मा पर लिपटे हुए कर्मों के आवरणों को नष्ट करने के लिये इसे शरीररूपी पात्र में रखे हुए तप की अग्नि मे तपाते हैं, तभी कर्म-मल भस्म होता है तथा आत्मा विशुद्ध होती चली जाती है। अन्तर्ज्ञान द्वारा समझने की यह बात भी है कि हमारी आत्मा ने अब तक असंख्य योनियों में तथा पर्यायों में भ्रमण किया है, किन्तु ऐसा मानव पर्याय कभी नहीं मिला जिसके द्वारा हम जीवन व जगत के रहस्य को जान सकते, आत्मा व परमात्मा की पहचान कर सकते तथा तप एवं साधना के द्वारा आत्म-शक्ति को चरमोत्कर्ष पर ले जाकर कर्म-बन्धनों से पीछा छुड़ा सकते। केवल मानव पर्याय ही एक ऐसी नाव है जिसके द्वारा भवसागर को पार किया जा सकता है।

विद्वद्वर्य पं० शोभाचन्द्रजी 'भारिल्ल' ने ज्योतिपुंज आत्मा को जगाने के लिये तथा इस दुर्लभ मानव भव को पाकर निरर्थक न खो देने के लिये कितने प्रभावोत्पादक शब्दों में मानव को चेतावनी दी है:—

जगत जलधि से पार उतरने को शरीर नौका है,
मानव-भव शाश्वत सुख पाने का अनुपम मौका है।
जाग जाग हे ज्योतिपुंज ! अवसर बीता जाता है,
जो क्षण गया गया सदैव को फिर न हाथ आता है।

आत्म-शक्ति के विकास का दूसरा साधन या उपाय है "इन्द्रिय निग्रह"। इन्द्रिय निग्रह का अर्थ है पांचों इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना और उन्हे उच्छ्रंखल न होने देते हुए विवेक पूर्वक अपनी इच्छानुसार चलाना। प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन मर्यादित रखना चाहिये। जीवन मर्यादा में तभी रह सकता है जबकि व्यक्ति इन्द्रियों को अपनी स्वामिनी नही वरन् सेविका बनाकर रखे। इन्द्रियों को अपनी इच्छानुसार चलाने वाला मनुष्य ही जितेन्द्रिय कहलाता है तथा वही अपनी आत्म-शक्ति को प्रगट करने में समर्थ होता है। अज्ञानी पुरुष इन्द्रिय-जनित सुखों को ही सर्वोच्च सुख मानकर इन्द्रियों के द्वारा अधिक से अधिक सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। अन्तर्ज्ञान के अभाव में वे नहीं समझ पाते कि जब इन्द्रियाँ ही नश्वर व पराश्रित हैं तो इनसे प्राप्त होने वाला सुख कैसे सच्चा और स्थायी हो सकता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने बताया है:—

सपरं बाधासहियं, विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इन्दियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥
—प्रवचनसार १।७६

अर्थात्—जो सुख इन्द्रियों से प्राप्त होता है, वह पराश्रित, बाधासहित, विच्छिन्न, बन्ध का कारण तथा विषम होने से वस्तुत: सुख नहीं, दुख ही है।

इसलिये आत्मार्थी को इन्द्रियों पर अंकुश रखने का प्रयत्न करना चाहिये। इन्द्रिय-दमन का अभ्यास हो जाने पर जीवन शांत, सहिष्णु एवं उन्नत बनता है। वैसे भी प्रकृति में सभी कुछ नियमबद्ध है अतः मनुष्य को अपना जीवन भी मर्यादित बनाना चाहिये। जितेन्द्रिय पुरुष के जीवन में स्वाभाविक शक्तियां बढ़ती हैं, अन्तर्द्वन्द्व मिटता है तथा वासनाएँ शान्त हो जाती हैं। इसके परिणाम स्वरूप आत्मिक शक्ति का बड़ी तीव्रता से विकास होता है। इन्द्रियों को अनुशासन में रखने का महत्त्व बताते हुए एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा भी है—

"Most powerful is he who has himself in his power" अर्थात् सबसे शक्तिशाली वह व्यक्ति है जो स्वयं को अपने अनुशासन में रखता है।

इन्द्रियों को जीतने के साथ-साथ मन को भी जीतना अथवा अपना बनाये रखना आवश्यक है। हमारी आत्मा में अनन्त शक्ति है पर उसे जागृत करने और विकसित करने के लिये मन पर नियन्त्रण अनिवार्य है। मन के नियंत्रित रहने पर ही आत्मा की शक्ति को सही मार्ग पर लगाया जा सकेगा अगर मुमुक्षु इन्द्रियों पर और मन पर संयम नहीं रखेगा तो वह अपनी आत्मशक्ति का विकास भी नहीं कर पाएगा। जब तक मन पर काबू नहीं रहेगा क्रोध, मान, माया तथा लोभादि लुटेरे आत्म-गुणों पर आक्रमण करते रहेंगे और उन्हें अपने फौलादी पंजों में जकड़ते हुए नष्ट करने का प्रयत्न करेंगे इसलिये मन को साधना आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है। साधक को भली भांति समझ लेना चाहिये कि उसकी प्रत्येक प्रकार की आध्यात्मिक-साधना की धुरी मन ही है और मन को साधे बिना साधना करना असम्भव है। कहा भी है:—

"मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है। विषयासक्त मन बन्धन का कारण बनता है तथा निर्विषय मन मुक्ति का प्रदाता कहा जाता है।"

स्पष्ट है कि जब तक मन को नहीं जीता जाता तब तक राग-द्वेष शांत नहीं होते और मनुष्य इन्द्रियों का दास बना रहता है। मन को जीत लेने वाला शूरवीर ही अपनी आत्म-शक्ति को इतनी विकसित कर लेता है कि समग्र संसार उसके चरणों में नत हो सके। इसके विपरीत जो व्यक्ति मनके वश में रहता है उसे संसार की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती है तथा कभी भी वह उससे मुक्त नहीं हो सकता।

आत्मशक्ति के विकास का तीसरा साधन है तपस्या। तपस्या का जितना महत्त्व बताया जाय कम है। विश्व में जितनी भी महान् आत्माए हुई है सभी ने तप को साधना का अनिवार्य अंग माना है तथा तपाचरण के द्वारा अपनी आत्म शक्ति को विकास के चरमोत्कर्ष पर पहुंचाकर कर्म बन्धनों को तोड़ा है। कर्मों की निर्जरा के लिये तप सर्वोत्तम साधन है। जिसप्रकार अग्नि के द्वारा ईंधन जला दिया जाता है, उसीप्रकार तपाग्नि के द्वारा कर्मरूपी ईंधन को भस्म किया जाता है। तप का अग्नि ज्यों-ज्यों प्रज्वलित होती है, वैसे-वैसे ही अन्तःकरण निर्मल होता चला जाता है। तपकी आग में तपकर ही आत्मा उज्ज्वल बनती है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि तप कर्मों की निर्जरा के प्रयोजन से ज्ञान पूर्वक किया जाय। पूजा, प्रतिष्ठा, कीर्ति तथा प्रसिद्धि की कामना से अज्ञानपूर्वक किया जाने वाला घोर तप भी आत्म-सिद्धि में साधक नहीं बनता। कहा भी है:—

जं अण्णाणी कम्मं, खवेदि भवसयसहस्स कोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेदि उस्सास मेत्तेण॥

—प्रवचनसार ३।३८

अर्थात् साधक बालतप के द्वारा लाखों-करोड़ों जन्मों में जितने कर्म खपाता है, उतने कर्म मन, वचन काया को संयत रखने वाला ज्ञानी साधक एक श्वास मात्र में खपा देता है।

सज्ञान तपस्या का कितना महत्त्व है, आचार्य कुन्द कुन्द की सूक्ति से यह सहज ही समझ में आ जाता है, किन्तु आज इस बात को न समझने वालों की संख्या ही अधिक है। आज के समय में अनेकों तपस्वी ऐसे मिलते हैं जो वैशाख तथा ज्येष्ठ की प्रचण्ड धूप में भी अपने चारों ओर अग्नि जलाकर शरीर को तपाते रहते हैं। इसी प्रकार भयंकर शीत के समय नग्न प्राय: रहकर शीतल जल में घंटों खड़े रहने वाले भी अनेक दृष्टिगोचर होते हैं। इतना ही नहीं कोई कीलों की शैय्या पर लेटा रहता है, कोई वृक्ष की डाल पर उलटा लटका रहता है। कोई एक पैर पर खड़ा तपस्या करता है और कोई हाथ ऊँचा करके महीनों खड़ा रहता है, किन्तु ऐसे तपस्वियों को सच्चे तपस्वी नही कहा जा सकता है। अज्ञानपने से किया गया ऐसा तप उनकी कर्म-निर्जरा में सहायक नहीं होता। यद्यपि कायक्लेश भी जैनदर्शन के अनुसार तप का एक प्रकार है, किन्तु उसकी सार्थकता इन्द्रिय-दमन के साथ ही है। जब इन्द्रियां निरंकुश और बलवान होकर मन को विषयों की ओर उन्मुख करती हैं, तब काय-क्लेश के द्वारा उनका दमन करके मन को स्थिर किया जाता है। इसके अलावा तप के और भी प्रकार हैं जिन्हें बाह्य एवं आभ्यन्तर दो भागों मे हमारे जैन दर्शन में विभाजित किया गया है। उमास्वामि द्वारा प्रणीत तत्त्वार्थसूत्र में दोनों प्रकार के तपों के विषय मे बताया है:—

"अनशनावमौदर्यवृत्ति परिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाबाह्यं तपः।" ९।१९

"प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्याय व्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।" ९।२०

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छः बाह्य तप हैं।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छः आभ्यन्तर तप हैं।

ये बारह प्रकार के बाह्य एवं आभ्यन्तर तप वासनाओ को क्षीण करके आत्म-शक्ति या आध्यात्मिक शक्ति को इतनी प्रचण्ड कर सकते है कि जैसा अभी बताया गया है ज्ञान पूर्वक इन तपो का आराधन करने वाला साधक एक श्वास मात्र मे अपने समग्र कर्मो का नाश करके जन्म-मरण से सदैव के लिये मुक्त हो सकता है। इसलिये इनके विषय में संक्षेप मे जानना आवश्यक है। सक्षेप में इनका अर्थ है:—

बाह्य तप :

(१) अनशन —मर्यादित समय तक अथवा जीवनान्त तक सभी प्रकार के आहार का त्याग करना।

(२) अवमौदर्य (ऊनोदरी)—जितनी भूख हो उससे कम आहार करना।

(३) वृत्ति परिसख्यान—विविध वस्तुओं की प्रतिज्ञा ग्रहण कर उसके मिलने पर भोजन ग्रहण करना।

(४) रस परित्याग—घी दूध, दही, तेल मीठा और नमक इन षट् रसों मे से एक-दो-तीन अथवा छहो रसो का मर्यादित काल अथवा जीवन्तपर्यन्त के लिए त्याग करना।

(५) विविक्त शय्यासन—स्त्री-नपु सक-पशु आदि को बाधा से रहित एकान्त स्थान में रहना और शयन करना।

(६) कायक्लेश—सर्दी, गर्मी अथवा विविध आसनादि द्वारा शरीर को होने वाले कष्ट सहन करना।

आभ्यन्तर तप :

(१) प्रायश्चित्त—धारण किये हुए व्रतों में दोष होने पर अपने अपराधों के लिये पश्चाताप करते हुए उनकी आलोचना करना।

(२) विनय—ज्ञानादि सद्गुणों में बहुमान रखना एवं गुरुजनों का सम्मान करना।

(३) वैयावृत्य—आचार्य, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान आदि दस प्रकार के साधुओं की निरपेक्ष भाव से श्रद्धापूर्वक सेवा शुश्रूषा करना।

(४) व्युत्सर्ग—अहं एवं ममत्व का त्याग करना।

(५) स्वाध्याय—ज्ञान प्राप्ति के लिये धर्मग्रन्थों का वाचन एवं मनन करना।

(६) ध्यान—चित्त के विक्षेप, आर्त तथा रौद्रभाव का त्याग करके समाधि सहित धर्म एवं शुक्ल ध्यान करना।

इस प्रकार हमारा जैनदर्शन छः प्रकार से आभ्यंतर तप एवं छः प्रकार से ही बाह्यतप करने की प्रेरणा देता है। उच्च लक्ष्य की सिद्धि के लिये साधन भी उच्च होने चाहिये। बारहों प्रकार के तप ऐसे ही उच्च साधन हैं। तपस्या का सरल अर्थ किया जाय तो इस प्रकार है—"संयम के साथ कष्ट सहन करना"। भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, हर्ष, शोक तथा मानापमान को समभाव से सहन करना। शरीर, इन्द्रिय तथा मन की साधना करना। जीवन में शुद्धता एवं निर्मलता लाना। सात्त्विक श्रम, साधना, अभ्यास, योग एवं मनोयोग को प्रबल बनाना।

जो साधक इन सब बातों का समुचित ध्यान रखते हुए आन्तरिक एवं बाह्य तप के द्वारा अपनी आत्मा की शक्ति को अजेय बना लेता है वही मुक्ति का अधिकारी बनता है। अगर उपरोक्त सभी बातें उसके जीवन में नहीं आती या ये सभी विशेषताएँ उसके मन को निर्मल नहीं बनातीं तो यही समझना चाहिये कि उसने तप किया ही नहीं। ऐसी स्थिति में वह दिग्भ्रान्त होकर आध्यात्मिक सुखों से वंचित रह जाता है तथा कर्म निर्जरा का उसका उद्देश्य कभी पूरा नहीं हो पाता।

इसलिये प्रत्येक मोक्षाभिलाषी को अपनी आत्मा की सही पहचान करते हुए उसमें निहित शक्ति को जगाना चाहिए तथा अन्तर्ज्ञान, इन्द्रिय निग्रह एवं अन्तरङ्ग तथा बाह्य तपों के द्वारा उसे विशुद्ध बनाना चाहिये। **आत्म-शक्ति की विशुद्धता और सुदृढ़ता के बिना आध्यात्मिक साधना का होना संभव नहीं है।** साधना-पथ पर कदम रखने वाले साधक को सर्वप्रथम आत्म-शक्तिरूपी हथियार से स्वयं को सुसज्जित कर लेना चाहिये तभी वह मार्ग में आने वाली समस्त विघ्न बाधाओं का सामना कर सकेगा। आत्म-शक्ति ही साधना का सर्वस्व है, परन्तु वह अन्तर्मुख होनी चाहिये न कि बहिर्मुख अर्थात् वह आत्मप्रधान होनी चाहिये, देह-प्रधान नहीं, अन्यथा वह हठयोग का रूप ग्रहण कर लेगी तथा अतिवादी कहलाने लग जाएगी।

भारत में हठवादी साधना की जाती रही है। ऐसे तपस्वी उग्र तप करते थे। पंचाग्नि तप के द्वारा व अन्य नानाप्रकार के कष्टों से शरीर को सुखा देते थे, किन्तु उन उग्रवादी और अतिवादी तपस्वियों की क्रिया के साथ विवेक, आत्मबोध अथवा अन्तर्ज्ञान नहीं होता था। परिणाम यह होता था कि जिस साध्य की अभिलाषा वे करते थे, उससे कोसों दूर ही रह जाते थे। शरीर को घोर कष्ट देना ठीक उसी तरह होता है, जिस तरह बाँबी में बैठे हुए नाग को मारने के लिये बाँबी पर चोटें मारते रहना, किन्तु बाँबी पर प्रहार करने से जिस तरह अन्दर बैठा हुआ सर्प नहीं मरता उसी प्रकार मात्र शरीर को यातनाएँ दे-देकर कृश कर देने से विकारों का नाश भी नहीं मरता। इतिहास बताता है कि दुर्वासा ऋषि अथवा विश्वामित्र का तप जितना उग्र

था, उनका क्रोध भी उतना ही उग्र था। भला ऐसे तप से क्या कर्मों की निर्जरा सम्भव है? नहीं, साधना का लक्ष्य तो आन्तरिक विकारों और विकल्पों को नष्ट करना होता है और वे तभी नष्ट हो सकते हैं जबकि अन्तर्शान एवं इन्द्रियनिग्रह के द्वारा मन को साध लिया जाय तथा आत्म-शक्ति को उत्तरोत्तर बढ़ाया जाय। आत्म-शक्ति के अभाव में साधक अपनी अन्य किसी भी शक्ति का समुचित उपयोग नहीं कर सकता अर्थात् किसी भी शक्ति को सम्यक् मोड़ नहीं दे सकता। सम्यक् मोड़ से तात्पर्य है शक्ति का सदुपयोग किया जाना। शक्ति के सदुपयोग से साधक आत्मोत्थान कर सकता है और दुरुपयोग से पतन के गर्त में गिर जाता है। आत्म-शक्ति भी केवल शक्ति है अपने आपमें वह उत्तम अथवा अधम नहीं है। समझने की आवश्यकता यही है कि इसका उचित प्रयोग कर्मनिर्जरा का कारण बनता है तथा गलत प्रयोग पुन: कर्म-बंध कारण बन जाता है। आत्मशक्ति पापी और पुण्यात्मा में समान होती है केवल प्रयोग के फर्क से ही फल में अन्तर होता है।

अन्त में यही कि, प्रत्येक मुमुक्षु को आत्म-स्थित होकर आत्मरूप को पहचानना चाहिये तथा अनन्त सुख की प्राप्ति कराने वाली आत्मशक्ति को बड़ी सतर्कता व सावधानी से निरन्तर बढाने में संलग्न हो जाना चाहिये। सतत् अभ्यास से यह शक्ति अजेय बनेगी और इसके अजेय बन जाने के पश्चात् आत्मा को परमात्मा बनने से कोई शक्ति रोक नहीं सकेगी। अजेय आत्म-शक्ति का स्वामी कालान्तर में अनन्त सुख का अधिकारी बनेगा तथा जन्म-मरण के दु:खों से सदा सर्वदा के लिये मुक्त हो जाएगा।

जैसे सर-सरिता मे डुबकी लगाने वाले को जल की शीतलता, पीने वाले को तृषाशामकता, स्वत: प्राप्त होती है, वैसे ही प्रभुपद शरणागतों को आत्मिक शांति अवश्य प्राप्त होती है।

योगी आचार्य प्रेरणा सागर धर्मसागरजी
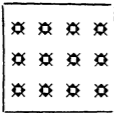
योग धारण कर लेना, आडम्बरी योगी बनकर, प्रशंसा के भौतिक जगत मे, भक्तों के एक समूह को अपने साथ संलग्न कर, प्रचार से अपने को एक अलौकिक प्रतिभा के स्वरूप में सामान्य जनो के मध्य खडा करना, एक सामान्य प्रक्रिया बन गया है। वास्तव में त्यागी, तपस्वी, सयंमी, ज्ञानी के उद्देश्यों को जीवन में समन्वित कर सच्चे योगी के पद को विरले ही प्राप्त करते हैं। दर्शनविज्ञ. महान तपस्वी, युवा पीढी के आध्यात्मिक दिग्दर्शक, आचार्य श्री धर्मसागर जी ने अपनी जीवन साधना में धर्म, दर्शन आध्यात्मिकता के यथार्थवादी स्वरूप को संजोकर, जहाँ स्व-आत्मा के वास्तविक स्वरूप प्राप्ति के मार्ग में साधना की है, वहां लोककल्याण की भावना को अपनाकर, आधुनिक भौतिक-चमक-दमक वाले युग में समाज के प्रत्येक वर्ग में विशेष रूप से युवा पीढी के हृदय में आध्यात्म, दर्शन, कर्मवाद संयम, त्याग आदि सत्य गुणों से समन्वित प्रकाश पुंज को स्थापित किया है।

यह प्रकाश पुंज न केवल व्यक्तिगत जीवन-यापन की प्रक्रिया को सुगम व यथार्थवादी बनाने के लिये है, वरन् परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के प्रत्येक क्षेत्र में अति सार्थक एवं आवश्यक बना है। मानव समुदाय एवं चेतन जगत के लिये आचार्य श्री ऐसे सूर्य हैं, जिनके गुणों और विशेषताओं के महत्त्व को परिभाषित करने के लिये शब्द कोषों में क्षमता नहीं है। धर्मसागर नाम स्वत: सर्वस्व अपने में समाए हुए है, जिसके महत्त्व को लेखनी की अल्प क्षमता के कारण बहुत कम अंशों में अभिव्यक्त कर मैं अपने अभिवन्दन पुष्प दर्शनचन्द्र, ज्ञानसागर, आगमाचार्य, आचार्य श्री के चरणों में अर्पित करता हूँ।

❖ श्री श्रेयांसकुमार जैन

[बी कॉम., सरधना (मेरठ)]

'आ'—से आत्मानुशासन, आध्यात्मिकता, आत्मा आदि के दर्शन में योगी बनने की प्रेरणा मिलती है। आध्यात्मिकता को जीवन में धारण कर स्वयं में अनुशासित होकर, आत्मा के वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में अनुसरण करना चाहिए। जैन आगम में भी उपदेशित किया गया कि 'आत्मा का ही दमन करना चाहिए, क्योंकि आत्मा ही दुर्दम है। दमित आत्मा ही इस लोक और परलोक में सुखी होता है।'

'चा'—चारित्र में योगी बनने का प्रकाश देता है। मनुष्य को चारित्र निर्माण में सबसे सजग रहना चाहिए। मोक्षमार्ग प्राप्ति के लिये निर्देशित-मार्ग में सम्यक-चरित्र एक उपाय माना जाता है।[१] नि:सन्देह रूप से प्रकाट्य सत्य है कि सद्चरित्र इस लोक और परलोक में मानव के जीवन में शान्ति, सुख, सन्तोष, सम्पन्नता आदि से भर देता है। समाज के सभी वर्गों के लिये वह अनुकरणीय होता है। जैन पद्मपुराण में स्वीकार किया गया है कि सत्पुरुष का सद्चरित्र दूसरों के शोक को मिटाने वाला होता है।[२] बौद्ध जातको में स्वीकार किया गया है कि 'सद्चरित्र नारी को देवता भी स्वर्ग से आकर पूजते हैं। जीवलोक में जो स्त्री मेधाविनी होती है, जो शीलवती है, जिसे सास-ससुर देवता तुल्य प्रतीत होते हैं, जो पतिव्रता होती है, वैसी मेधाविनी, पवित्र कर्मों वाली नारी का दर्शन करने के लिये देवता आते हैं।'

'र'—रज्जुओं (बन्धन) के विनाश के लिये प्रयत्नशील उद्यमी योगी बनने में संलग्न रहना चाहिए। जिन रुढिग्रस्त एवं मानसिक बुराइयों से मन, मस्तिष्क, हृदय जकड़ा हुआ है, उनका निर्जर करना अनिवार्य है। ये दुर्गुण ही आत्मा को कर्मों के बन्धन में डालकर निरन्तर आवागमन के चक्कर में भटका रहे हैं। जैन आगम में भी स्वीकार किया गया है—'जो कामगुणो मे आसक्त होता है—वह क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, तथा हर्ष, विषाद आदि विविध भावों में अनुरक्त होता है।' इस प्रकार अनेक प्रकार के विकारों को और उसमें अन्य परिणामों को प्राप्त होता है। वह करुणास्पद, दीन, लज्जित और अप्रिय बन जाता है। मानव तब अपनी वास्तविक सत्ता को भूल जाता है। अन्यत्र भी कहा है—हमारा अस्तित्त्व वासना की शैवाल से ढका हुआ है। भीतर के ज्योति कण बाहर को प्रकाशित नहीं कर पा रहे हैं और बाहर खड़े लोग भीतर की ज्योति को नही पहचान पा रहे हैं ज्योति के होते हुए अन्धकार है उस अन्धकार में वे सब लोग भटक रहे हैं, जो मुक्त होने का रहस्य नहीं जानते, शैवाल को समाप्त करने का उपाय नही जानते है।'

'य' यति बनने का उत्साह देता है। काम भोग—विष तुल्य है, ऐसा जानकर इनका परित्याग ही *सन्तोष, सुख का देने वाला है। जैन पद्मपुराण में रावण की अग्रमहिषी मन्दोदरी अपने पति को समझाते हुए* कहती है कि एक पर-स्त्री त्याग व्रत द्वारा ही उत्तम शील को धारण करने वाला पुरुष दोनों जन्मों में प्रसंशा को प्राप्त होता है.......... देव जिस पर अनुग्रह करता है अथवा जो चक्रवर्ती का पुत्र है वह भी पर-स्त्री की आसक्ति रूपी कर्दम से लिप्त होता हुआ, परम अकीर्ति को प्राप्त होता है, जो मूर्ख परस्त्री के साथ प्रेम करता है मानों वह पापी आशीविष नामक सर्पिणी के साथ रमण करता है।[३] आचार्य वसुनन्दि[४] स्वीकार करते हैं

---

१. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः १/१, तत्त्वार्थसूत्र।

२. रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराण—९८/१०४, भा० ज्ञानपीठ, वाराणसी।

३. रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराण-७३/५८ से ६२ तक।

४. वसुनन्दिकृत श्रावकाचार—गाथा १२४।

कि परस्त्री लम्पटी परलोक में इस संसार समुद्र के भीतर अनन्त दुःख को पाता है इसलिये परिग्रहीत या अपरिग्रहीत परस्त्रियों का मन, वचन, काय से त्याग करना चाहिए।

'ध'—से धरती (पृथ्वी) के समान, विशाल हृदय वाला योगी बनने की प्रेरणा मिलती है। धरती के अनुरूप सुख-दुःख को सहन करते हुए, राग-द्वेष से दूर समयानुसार परिस्थितियों का निर्वाह करते हुए धर्म-मार्ग पर अबाध गति से बढ़ते रहना चाहिए। बौद्धदर्शन में इस तथ्य को उपेक्षा पारमिता के रूप में स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि जिस प्रकार पृथ्वी खुशी और क्रोध छोड़कर अपने ऊपर शुचि और अशुचि दोनों के फेंकने की उपेक्षा करती है, इसी प्रकार तू भी सदैव सुख-दुःख के प्रति तुल्य हो। उपेक्षा की चरम सीमा के अन्त पर जाने से बुद्धपद को प्राप्त होगा। पृथ्वी के समान हर सुख दुःख में समभाव से रहकर धर्म क्रियाओं में संलग्न रहकर, मानव को अपने नैतिक कर्त्तव्यों का पालन कर पर-कल्याण के लिये सदैव उत्साहित रहना चाहिए। समभाव की साधना करने से श्रमण होता है।

'र'—रवि (सूर्य) के तुल्य योगी बनने का निर्देश देता है। सूर्य स्वयं जल कर दूसरों को प्रकाश, ऊर्जा, शक्ति देता है। सूर्य की भांति पर-कल्याण की भावना के अनुरूप जीवन-साधना को निर्मित करना चाहिए। पृथ्वी के हर चेतन जीव को अपने परिवार का सदस्य स्वीकार करने वाले सम्राट अशोक कल्याण को श्रेष्ठतम एवं कठिन साधना मानते हुए उपदेशित करते है। कल्याण दुष्कर है, जो कल्याण का प्रारम्भ करता है वह दुष्कर कार्य करता है। अतः दूसरों के दर्द को अपने दर्द के समतुल्य समझकर उसके निवारण में संलग्न रहना ही सच्चा मानव धर्म है।

'म'—से मानवता को धारण कर योगी बनकर मानवीयता के सिद्धांतों के निर्वाह की प्रेरणा प्राप्त होती है। जैन आगम में मनुष्यत्व को मूलधन स्वीकार किया गया है। मानव को मानव से प्रेम करते हुए, नैतिक, मानवीय गुणों का धारक होना चाहिए। मानवता परम-धर्म है, परम-सत्य है, परम-तप है। आडम्बरों, रूढियों, संकीर्ण विचारो में न उलझ कर चेतन जगत के प्रत्येक जीव के कष्टों के निवारण के लिये तत्पर रहना चाहिए।

'सा'—से साधना (तपस्या), संयम में सच्चा योगी बनने का बल मिलता है। साधना में दर्शन, आध्यात्म, सामाजिकता, मानवीयता आदि सभी सद्गुणों का समावेश होना चाहिए। कठोर साधक बनकर क्रोध, गर्व से अपने को विशिष्ट श्रेणी में प्रतिष्ठित कर लेने वाला साधु नही बनना चाहिए। तर्क, वितर्क उपयोगी, अनुपयोगी तथ्यों का स्पष्टीकरण कर, संयम, तप से आत्मिक प्रकाश को प्राप्त कर लेना ही साधक का गुण होना चाहिए, वरना कोल्हू के बैल समतुल्य सारा दिन असंख्य चक्करों के उपरान्त भी वहीं के वहीं रह जाना पड़ता है।

'ग'—से गतिशील, उत्साही होने की प्रेरणा मिलती है। गति के अभाव में चेतन-अचेतन जगत की प्रत्येक वस्तु पर्यायापेक्षा विनाश की दशा में अग्रसर होती है। जीवन के प्रत्येक आयाम में विकास हेतु उत्साह, आशा, सक्रियता से गतिशीलता अनिवार्य है। एक स्थान पर कहा है कि—एक त्यागी सन्यासी एक राजा को उपदेशित करते हुए कहते हैं—'हे तात ..! आनन्दित रहकर, अप्रमादी रहकर कार्य करें। कर्त्तव्यों को करने में प्रयत्नशील हों, आलसी आदमी को सुख प्राप्त नहीं होता है' मानव को उत्साह से अपने सभी प्रकार के कर्त्तव्यों का निर्वाह करना चाहिए, वरना मेरे दृष्टि कोण में निरुत्साही-कर्त्तव्यों से मन चुराने वाला व्यक्ति चोर कर्म का दोषी है।

'र'—से राग-द्वेष से मुक्त होने का उपदेश मिलता है। राग-द्वेष अनेकानेक पापमयी प्रवृत्तियों में उलझाए रखता है। राग-द्वेष की भावना से मनुष्य निरर्थक चिन्ताओं में उलझकर स्व-विनाश में लगा रहता है। पापकर्मों का बन्ध करता है। जैन आगम में निर्धारित किया गया कि राग और द्वेष ये दोनों कर्म के प्रवर्तक हैं, राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। मोह जन्म-मरण का मूल है। राग-द्वेष का विनाश कर कर्मों के बन्धन को निर्जर कर धर्मसागर में गोते लगाना चाहिए।

'जी'—से जीवन को धर्मसागरमयी हो जाने की भावना मिलती है। जीवन धर्मसागर में विलीन हो जाये। धर्मसागर से फलित-फूलित मनीषि से विमल जीवन की प्रक्रिया में सदैव संलग्न रहे। विशाल कैलास पर्वत समतुल्य उदार हृदय बनाकर धर्म पर अडिग रहकर जीवन साधना यापन हो, ऐसी प्रेरणा जिनदर्शन धर्मसागर से प्राप्त हो यही अरहंत भगवान से उपासना है।

अग्नि और उष्णता के समान चारित्र और चारित्रवान में एकीभाव होना चाहिए। यदि अग्नि से उष्णता अविभाज्य है तो चारित्रवान में से उसका चारित्र बाहर निकालना असम्भव होना चाहिए।

हरिवंशपुराण में राजनीति-तत्त्व

डॉ० विजयलक्ष्मी जैन
[बिजनौर (उ० प्र०)]

विक्रम सं० ८४० में लिखा गया हरिवंशपुराण एक आकर ग्रंथ है, इसमें अन्य तत्त्वों के साथ राजनीति का भी पर्याप्त निर्देश मिलता है, जो इस प्रकार है—

देश—हरिवंशपुराण के अनुसार देश के जो लक्षण प्राप्त होते हैं उनमें उर्वरा और शालि-व्रीहि सब प्रकार के धान्यों के समूह से सफलता को धारण करनेवाली भूमि,[1] सफल वाणिज्य, व्यापारियों के क्रय विक्रय की बहुलता तथा उत्तम गायें तथा भैंसों[2] का होना प्रमुख हैं। वही देश उत्तम माना जा सकता है जो सब प्रकार के उपसर्ग (विघ्न-बाधाओं) से रहित हो तथा जहां प्रजा सुखपूर्वक निवास करे।[3] देश की सीमा के अन्दर खेट, खर्वट, मटम्ब, पुटभेदन, द्रोणमुख, खानें, खेत, ग्राम, घोष,[4] पुर (नगर), पर्वत, नदी, वन, जिनमन्दिर (जिनगृह[5]), व्रज[6] तथा सरोवर[7] सभी आते थे।

राजा और उसका महत्त्व—जिसप्रकार समुद्र हजारों नदियों और उत्तम रत्नों की खान है उसी प्रकार राजा भी इस लोक में अनर्घ्य वस्तुओं की खान है[8]। वह प्रभु है और पृथ्वी को वश में करनेवाला है। वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य इन छह अन्तरङ्ग शत्रुओं को जीतने वाला तथा धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्ग का प्रवर्त्तक है[9]। धर्म, अर्थ और काम विषयक कोई भी वस्तु उसे दुर्लभ नहीं है[10]। मनुष्यों की रक्षा करने के कारण नृप, पृथ्वी की रक्षा करने के कारण भूप और प्रजा को अनुरञ्जित करने के कारण राजा कहते हैं।[11]

---

१ जिनसेन : हरिवंश पुराण १९/१८ — २ वही १९/२०
३ वही २/२ — ४ वही २/३
५ वही २/१५० — ६ वही ३५/६८
७ वही ४२/८३ — ८ वही १७/१२
९ वही १७/१ — १० वही १४/२६
११ वही १९/१६

उत्तम राजा के गुण—उत्तम राजा के राज्य में प्रजा का सब समय आनन्द से बीतता है।[१२] घर के उपयोग के लिये साधारण रीति से तैयार किया हुआ थोड़ा सा अन्न भी दान के समय धर्मात्माओं के भोजन में आने से सायंकाल तक भी समाप्त नहीं होता है।[१३] जिसप्रकार सूर्य प्रकृष्ट सन्ताप का कारण होता है उसी प्रकार राजा भी उत्कृष्ट प्रभाव का कारण (प्रताप प्रभवः) होता है। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से दिक्चक्र को व्याप्त कर लेता है (कराक्रांतदिक्चक्रः) उसी प्रकार राजा भी अपने कर (टैक्स) से दिक्चक्र को व्याप्त करता है। जिसप्रकार सूर्य उत्तम आकाश सहित होता है उसीप्रकार राजा भी उत्तम सुख से सहित (सुखी) होता है।[१४] राजा को धर्म शास्त्र का अर्थ करने में कुशल, कला और गुण से विशिष्ट, दुष्टों का निग्रह और सज्जनों का अनुग्रह करने में समर्थ और प्रजा का अनुपालक होना चाहिये।[१५] उत्तम राजा के विद्यमान होने पर प्रजा शत्रुओं का भय छोड़ देती है।[१६] नीतिवेत्ता राजा पृथ्वी को स्त्री के समान वश में कर लेता है।[१७] न्यायमार्ग का वेत्ता होने के कारण किसी विषय में विसंवाद होने पर लोग उसके पास न्याय के लिये आते हैं।[१८] राजा की अध्यक्षता में विद्वानों के सामने लोग जय अथवा पराजय को प्राप्त करते है। न्याय द्वारा वाद के समाप्त होने पर वेदानुसारी लोगों की प्रवृत्ति सन्देह रहित एवं सब लोगों का उपकार करने वाली हो जाती है।[१९] राजा धर्म, अर्थ और काम में परस्पर बाधा नहीं पहुंचाता है।[२०]

राजाओं के भेद—'हरिवंश पुराण' मे राजाओं के कुलकर, चक्रवर्ती, विद्याधर, भूचर (भूमिगोचरी) तथा अर्द्धचक्री भेद प्राप्त होते हैं।

मन्त्री—गुप्तचर रूपी नेत्रों से युक्त राजा के मन्त्री ही निर्मल चक्षु हैं।[२१] अतः मन्त्रियों का अत्यधिक महत्त्व है। मन्त्री अत्यन्त निकटवर्ती आपत्तियों को दूर करते हैं।[२२] मन्त्रियों को मन्त्र की यत्नपूर्वक रक्षा करना चाहिए; क्योंकि छह कानों में पहुंचा हुआ मन्त्र फूट जाता है।[२३] मन्त्रियों के विशेषणों में एक विशेषण मंत्रमार्गविद्[२४] आता है अर्थात् मंत्री को मत्रमार्ग का ज्ञाता होना चाहिए। भरत और बाहुबलि दोनों समान बलशाली थे। उनका यदि युद्ध होता तो जनपद का क्षय होता अतः 'हरिवंशपुराण' के ११ वें सर्ग मे कहा गया है कि दोनो ओर के मन्त्रियों ने परस्पर सलाह कर कहा कि देशवासियों का क्षय न हो इसलिये दोनों में धर्मयुद्ध होना चाहिये।[२५] भरत और बाहुबलि दोनों ने मन्त्रियों की बात मान ली।[२६] मन्त्री के लिए सचिव शब्द का भी प्रयोग हुआ है। अश्वग्रीव राजा के हरिश्मश्रु नामका एक सचिव था। उसने तर्क शास्त्र रूपी महासागर को पार कर लिया था।[२७] मन्त्रियों की संख्या कितनी होना चाहिये, इसका यहां कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। राजा श्री धर्मा के वृहस्पति, बलि, नुमुचि और प्रहलाद ये चार मन्त्री थे।[२८] इससे यह अनुमान होता है कि सामान्यतः राजा के चार ही मन्त्री हुआ करते थे।[२९]

---

१२ वही १९/२२ १३ वही १९/२१ १४ हरिवंशपुराण १४/६
१५ वही १४/९ १६ वही २/१४ १७ वही १७/५४
१८ वही १७/९४ १९ वही १७/९६-९७ २० वही १४/१०
२१ मन्त्रिणो हि प्रभोश्चक्षुर्निर्मलं चारचक्षुषः ॥हरि० ५०/११ २२ वही १४/६६
२३ षट्कार्यं भिद्यते मन्त्रो रक्षणीयः सयत्नत ॥ वही १४/८३ २४ वही २०/४
२५ उभयो मन्त्रिणो मन्त्र मन्त्रयित्वा हुरीशयोः।
माभूज्जनपदक्षयो धर्मयुद्धमिहास्त्विति ॥हरि० ११/८०
२६ वही ११/८१ २७ वही २८/३२
२८ वही २०/४ २९ वही ११/५९

अन्य अधिकारी—मन्त्रियों के अतिरिक्त अन्य अधिकारियों में पुरोहित,[३०] सामन्त,[३१] महासामन्त,[३२] प्रतिहारी,[३३] द्वारपाल.[३४] युवराज[३५] तथा महामंत्री[३६] के नाम 'हरिवशपुराण' में आए हैं। पुरोहित राजा को सलाह देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता था। जब सुदर्शनचक्र ने अयोध्या में प्रवेश नहीं किया तब भरत ने संदेह युक्त हो बुद्धिसागर पुरोहित से पूछा कि समस्त भरतक्षेत्र को वश में कर लेने पर भी यह दिव्यचक्ररत्न अयोध्या में क्यों नहीं प्रवेश कर रहा है ? अब तो हमारे युद्ध के योग्य कोई नहीं है। इस पर पुरोहित ने कहा—आपके जो महाबलवान् भाई हैं वे आपकी आज्ञा नहीं सुनते हैं।[३७] सामन्त और महासामन्तों का राज्य में महत्त्वपूर्ण स्थान होता था। अपने पति दक्ष प्रजापति से रुष्ट होकर इलादेवी महासामन्तों से घिरी होकर अपने ऐलेय पुत्र को ले दुर्गम स्थान में चली गई और उसने वहां निवास का निश्चय किया।[३८] राजा अपने राज्यकाल में ही अपने किसी पुत्र को युवराज बनाकर उसका पट्टबन्ध करता था।[३९] अथवा राज्यकार्य से विरत होने पर एक पुत्र को राजा और दूसरे को युवराज बनाता था।[४०]

मित्र—समस्त लोग प्राणतुल्य सखा या मित्र के लिये मन का दुःख बाँटकर सुखी हो जाते हैं, यह जगत की रीति है।[४१] मित्र पर आपत्ति आने के समय मित्र दुःखी हो जाता है।[४२] मित्रमण्डल के प्रताप रहित हो अस्त हो जाने पर, उद्यमी मनुष्य भी उद्यम रहित हो जाते हैं।[४३] मित्रता दुष्ट मनुष्यों से नही करना चाहिये; क्योंकि दुष्ट मनुष्य से की गई मित्रता राग रहित होती है।[४४] सज्जनों से मैत्री करना चाहिये; क्योंकि सज्जन से की गई मैत्री उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है।[४५]

नगर—'हरिवंशपुराण' में नगर रचना का जो रूप प्राप्त होता है उसमें प्राकार (कोट) परिखा[४६] (खाई), बहुभूमिक प्रासाद[४७] (अनेक खण्डों के भवन), बावड़ी (वापी), पुष्करिणी, दीर्घदीर्घिका (बड़ी-बड़ी बावड़ियां), सरोवर, ह्रद,[४८] विचित्र मणिकुट्टिम[४९] (रंग बिरंगे फर्श), प्याऊ सदावर्तरथ्यायें[५०] (सड़कें) प्राकार और तोरणों से युक्त बाग बग चे उत्तुंग जिनमंदिर,[५१] बड़े बड़े धूलिकुट्टिम[५२] (महावप्र) तथा वनों[५३] के सद्भाव की विशेषतायें प्रमुख हैं। जो नगरी राजधानी होती थी उसमें सभी दिशा में राजा के परिवार के व्यक्तियों के महल[५४] होते थे। बीच में राजा का भवन बनाया जाता था।[५५] अन्तःपुर तथा पुत्र आदि के योग्य महलों की पंक्तियाँ राजा के भवन का आश्रय कर चारो ओर होती थी।[५६]

अन्य निवास स्थान—नगर के अतिरिक्त किन्हीं विशेष अवसरों पर राजा लोग पहाड़ी दुर्गों (गिरिदुर्ग) का आश्रय कर शक्तिशाली शत्रु के विरुद्ध उठ खड़े होते थे।[५७] ऐसी दशा मे शत्रु को पकड़ना या वश में करना बहुत बड़ी सफलता मानी जाती थी,[५८] क्योंकि यह कठिन कार्य था। कभी कभी कोई भूला भटका राजा या राजकुमार गोष्ठों (ग्वालों की बस्तियों) की शरण लेता था। ग्वाल बधुयें उनकी भूख प्यास तथा परिश्रम को दूर करने में सहायक होती थी।[५९]

---

३० वही २/१४६ — ३१ वही १४/८३ — ३२ वही १७/१७
३३ वही २३/१ — ३४ वही २९/१७ — ३५ वही २७/५४
३६ वही २/१४९ — ३७ वही ११/५७-५६ — ३८ हरिवंशपुराण १७/१७
३९ वही ४३/५७ — ४० वही २७/५४ — ४१ वही १४/५७
४२ वही १४/७४ — ४३ वही १४/७१ — ४४ वही ७/८२
४५ हरि० ७/८२ — ४६ वही ४१/१६ — ४७ वही ४१/२०
४८ वही ४१/२१ — ४९ वही ४१/२३ — ५० वही ४१/२४
५१ वही ४१/२५ — ५२ वही २/११ — ५३ वही ८/१४७
५४ वही ४१/२६ — ५५ वही ४१/२७ — ५६ वही ४१/२८
५७ वही ४३/१६२ — ५८ वही २०/१७ — ५९ वही २३/२५

सेना और युद्ध—'हरिवंशपुराण' में हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल, सैनिक, बैल, गंधर्व और नर्तकी इन सात प्रकार की सेनाओं का उल्लेख मिलता है।[५९] ३८ वें सर्ग में भगवान् नेमिनाथ के जन्मोत्सव के समय देव, अश्व, वृषभ, रथ, हाथी, गंधर्व और नर्तकी इस तरह सात प्रकार की सेना के आने का वर्णन प्राप्त होता है। सबसे पहले देवों की सेना थी, इसने सात कक्षाओं का विभाग किया था और गोल आकार बनाया था। यह स्वाभाविक पुरुषार्थ से युक्त थी और शस्त्रधारण किए हुए थी।[६०] इसके पश्चात् वेग मे वायु को जीतने वाली घोड़ों की सेना थी। तदनन्तर बैलों की वह सेना चारों ओर खडी थी जो सुन्दर मुख, सुन्दर अण्डकोश नयनकमल, मनोहर कन्दोल, पूँछ, शब्द, सुन्दर शरीर, सास्ना, स्वर्णमय खुर और सींगों से युक्त थी तथा चन्द्रमा के समान उसकी उज्ज्वल कान्ति थी।[६१] वृषभ सेना के बाद वलयाकार रथसेना सुशोभित थी।[६२] इसके पश्चात् विशालकाय हाथियों की सेना थी।[६३] हाथियों की सेना के बाद गन्धर्वों की सेना सुशोभित थी। इसने मधुर मूर्च्छना से कोमल वीणा, उत्कृष्ट बाँसुरी और ताल के शब्द से सातों प्रकार के स्वरों से संसार के मध्यभाग को पूर्ण कर दिया था। यह सेना देव, देवाङ्गनाओं से सुशोभित और सबको आनन्दित करने वाली थी।[६४] गन्धर्वों की सेना के बाद उत्कृष्ट नृत्य करने वाली नर्तकियों की सेना थी।[६५] प्रत्येक सेना मे सात-सात कक्षाये थी। प्रथम कक्षा में चौरासी हजार घोड़े, बैल आदि थे। दूसरी तीसरी आदि कक्षाओं में ये क्रमश: दूने-दूने थे।[६६] जिसमें नौ हजार हाथी, नौ लाख रथ, नौ करोड घोड़े और नौ करोड़ पैदल सैनिक हो, उसे एक अक्षौहिणी सेना कहते है।[६७] जरासन्ध के पास इस प्रकार की अनेक अक्षौहिणी सेना थी।[६८]

शस्त्रयुद्ध के साथ-साथ धर्मयुद्ध के भी उल्लेख मिलते हैं। यह युद्ध उसी स्थिति में होता था जब दो समान बल वाले राजाओं का विरोध हो। धर्मयुद्ध से तात्पर्य ऐसे युद्ध से है जिसमें दो राजा आपस में युद्ध करे, किन्तु जिसमें सेना आदि की सहायता न ली जाय। इस प्रकार के युद्ध के तीन रूप प्राप्त होते हैं—(१) दृष्टि युद्ध (२) जलयुद्ध तथा (३) मल्लयुद्ध। भरत और बाहुबली मे आरम्भ में यही तीन युद्ध हुए, जिनमें बाहुबली की विजय हुई।[६९] सेना का एक सेनापति[७०] होता था; जिसके लिए सेनानी[७१] और चमूनाथ[७२] शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। सेनापति का विधिपूर्वक अभिषेक होता था।[७३] युद्ध का कारण प्राय: कन्याप्राप्ति[७४] और दूसरे पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना था। एक का अनेक के साथ युद्ध होना अन्यायपूर्ण माना जाता था, अत: एक का एक के साथ युद्ध होने का प्रयास किया जाता था।[७५]

युद्ध के समय सेना की अनेक प्रकार से व्यूहरचना की जाती थी। इनमें से कतिपय व्यूहों का विवरण 'हरिवंश पुराण' में प्राप्त होता है।

चक्रव्यूह—इसमें चक्राकार रचना की जाती थी। चक्र के एक हजार आरे होते थे। एक-एक आरे में एक-एक राजा स्थित था, एक एक राजा के सौ-सौ हाथी, दो-दो हजार रथ, पाँच-पाँच हजार घोड़े और सोलह-सोलह हजार पैदल सैनिक होते थे। चक्र की धारा के पास छह हजार राजा स्थित होते थे और उन राजाओं के हाथी घोड़ा आदि का परिमाण पूर्वोक्त परिमाण से चौथाई भाग प्रमाण था। पाँच हजार राजाओं के साथ में प्रधान राजा उसके मध्य मे स्थित होता था। कुल के मान को धारण करने वाले धीरवीर, पराक्रमी पचास-

---

५९ वही ८/१३३ | ६० वही ३८/२२ | ६१ वही ३८/२४
६२ वही ३८/२५ | ६३ वही वही ३८/२६ | ६४ वही ३८/२७
६५ वही ३८/२८ | ६६ वही ३८/२९ | ६७ वही ५०/७६
६८ वही ५०/७५ | ६९ वही ११/८१-८६ | ७० वही ५१/१३
७१ वही १८/१०१ | ७२ वही २३/९२ | ७३ वही ५१/१२-१३
७४ वही २८/७-९ | ७५ वही ३१/९२-९३

पचास राजा अपनी-अपनी सेना के साथ चक्रधारा की सन्धियों पर अवस्थित होते थे। आरों के बीच-बीच के स्थान अपनी-अपनी विशिष्ट सेनाओं से युक्त राजाओं सहित होते थे। इसके अतिरिक्त व्यूह के बाहर भी अनेक राजा नाना प्रकार के व्यूह बनाकर स्थित होते थे।[७६]

गरुड़ व्यूह—चक्रव्यूह को भेदने के लिए गरुड़ व्यूह की रचना की जाती थी। उदात्त, रण में शूर वीर तथा नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों को धारण करने वाले पचास लाख योद्धा उस गरुड़ के मुख पर खड़े किए जाते थे। प्रधान राजा उसके मस्तक पर स्थित होते थे। मुख्य राजा के रथ की रक्षा करने के लिए अनेक राजा उनके पृष्ठरक्षक बनाए जाते थे। एक करोड़ रथों सहित एक राजा गरुड़ के पृष्ठ भाग पर स्थित होता था। उस राजा की पृष्ठरक्षा के लिए अनेक रणवीर राजा उपस्थित होते थे। बहुत बड़ी सेना के साथ एक राजा उस गरुड़ के दायें पंख पर स्थित होता था और उनकी अगल-बगल रक्षा के लिये चतुर शत्रुओं को मारने वाले सैकड़ों प्रसिद्ध राजा पच्चीस लाख रथों के साथ स्थित होते थे। गरुड के बायें पक्ष का आश्रय ले महाबली बहुत से योद्धा अथवा राजागण युद्ध के लिए खड़े होते थे। इन्हीं के समीप अनेक लाख रथों से युक्त शस्त्र और अस्त्रों में परिश्रम करने वाले राजा स्थित होते थे। इनके पीछे अनेक देशों के राजा साठ-साठ हजार रथ लेकर स्थित होते थे। इस प्रकार ये बलशाली राजा गरुड़ की रक्षा करते थे। इनके अतिरिक्त और भी अनेक राजा अपनी अपनी सेनाओं के साथ मुख्य राजा के कुल की रक्षा करते थे।[७७]

चतुरङ्ग सेना—रथ, घोड़े, हाथी और पैदल सेना को मिलाकर चतुरङ्ग सेना कहते थे। राजा रुधिर की चतुरङ्ग सेना में दो हजार रथ, छह हजार मदोन्मत्त हाथी, चौदह हजार घोड़े और एक लाख पैदल सैनिक थे।[७८] प्रत्येक राजा के रथ पर उसकी विशिष्ट ध्वजा होती थी; जिससे वह पहचाना जाता था। 'हरिवंशपुराण' में गरुड़ ध्वजा, वृषकेतु,[७९] ताल की ध्वजा,[८०] वानर की ध्वजा,[८१] हाथी की ध्वजा,[८२] सिंहों की ध्वजा,[८३] कदली की ध्वजा,[८४] हरिण की ध्वजा,[८५] शुशुमाराकृति ध्वजा,[८६] पुष्कर ध्वज,[८७] कलशध्वज[८८] इस प्रकार अनेक ध्वजाओं का उल्लेख मिलता है। रथ पर कुशल सारथी रहने पर शत्रुओं को भली भाँति नष्ट किया जा सकता था।[८९]

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध :

दूत[९०]—एक राजा दूसरे राजा के पास सन्देश भेजने के लिए साम, दाम आदि नीति के साथ दूत भेजता था।[९१] प्रत्युत्तर स्वरूप भी राजा दूसरे राजा के पास दूत भेजा करते थे। जैसे भरत के प्रति अपनी प्रतिकूलता प्रकट करने के लिए बाहुबली ने-'मैं आपके आधीन नहीं हूँ', यह कहकर दूत भेज दिए थे।[९२] दूत के लिए वचोहर[९३] अथवा वचनहर[९४] शब्द का प्रयोग होता था। कन्या के पिता अपनी कन्या के विवाह सम्बन्ध के लिए भी दूसरे राजा के पास दूत भेजते थे।[९५] दूत सावधानी से परिषद् अथवा राजसभा में प्रविष्ट हो नमस्कार कर बैठता था, अनन्तर अवसर जानकर अपनी बात राजा के समक्ष रखता था।[९६]

---

७६ वही ५०/१०२-११०
७७ हरिवंशपुराण ५०/११३-१२९
७८ वही ३१/७०-७२
७९ वही ५२/५
८० वही ५२/६
८१ वही ५२/७
८२ वही ५२/८
८३ वही ५२/१०
८४ वही ५२/१२
८५ वही ५२/१३
८६ वही ५२/१६
८७ वही ५२/१८
८८ वही ५२/२०
८९ वही ५२/२२
९० वही ३१/६८
९१ वही ३६/५३
९२ वही ११/६०
९३ हरि० ११/७८
९४ वही ११/६०
९५ वही ३६/६०
९६ वही ३६/५५-५७
९७ वही ३६/५५

गुप्तचर—गुप्तचर राजाओं के नेत्र होते थे।[९८] उनके द्वारा वे गूढ से गूढ बातों का पता लगा लेते थे।

तीन शक्तियां—दूसरों पर विजय प्राप्त करने में तीन शक्तियाँ प्रमुख रूप से सहायक होती हैं—(१) प्रभु शक्ति (२) मन्त्र शक्ति (३) प्रोत्साह शक्ति[९९]

नीति विधान—'हरिवंशपुराण' में साम, दाम आदि नीतियों का निर्देश किया गया है।[१००] जिसमें अपना और दूसरे का समय सुख से व्यतीत हो वही अवस्था प्रशंसनीय मानी जाती है।[१०१] जो दैव और काल के बल से युक्त हो, देव जिसकी रक्षा करे उसे सोते हुए सिंह के समान बतलाया है।[१०२] ऐसे व्यक्ति से युद्ध करना खतरे से खाली नहीं है। साम स्वपक्ष और परपक्ष के लोगों के लिए शान्ति का कारण होता है अतः साम का ही प्रयोग करना चाहिए।[१०३] जिस प्रकार अपनी सेना मे कुशल योद्धा हों उसी प्रकार प्रतिपक्षी की सेना में भी कुशल योद्धा हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त युद्ध में यदि एक भी स्वजन की मृत्यु होती है तो जैसे वह शत्रु के लिए दुःखदाई होगी, उसी प्रकार अपने लिये भी दुःखदाई हो सकती है। अतः सबकी भलाई के लिये साम ही प्रशंसनीय उपाय है। इसलिये अहङ्कार छोड़कर शाम के लिये दूत भेजना चाहिये।[१०४] साम के द्वारा भी यदि शत्रु शांत नहीं होता है तो फिर उसके अनुरूप कार्य कर सकते हैं।[१०५]

जहां तक दण्डनीति का सम्बन्ध है, सबसे पहले कुलकरों द्वारा स्थापित हाकार, माकार और धिक्कार नीति के दर्शन होते हैं।[१०६] यदि कोई स्वजन या परजन कालदोष से मर्यादा का लङ्घन करने की इच्छा करता था तो उसके साथ दोषों के अनुरूप उक्त तीन नीतियों का प्रयोग किया जाता था। तीन नीतियों से नियन्त्रण को प्राप्त समस्त मनुष्य इस भय से तृप्त रहते थे कि हमारा कोई दोष दृष्टि में न आ जाय और इसी भय से वे दोषों से दूर रहते थे।[१०७] इस प्रकार की नीति को अपनाने के कारण ये राजा प्रजा के पितातुल्य माने जाते थे।[१०८] बाद में प्रजा की मनोवृत्ति बदलने के कारण अपराधों में बढोत्तरी होती गई, फलतः दण्ड विधान भी कठोर बना। दूसरे के धन का अपहरण करने की तीन सजायें[१०९] थीं—

(१) सब धन छीन लेना।

(२) गोबर खिलाना।

(३) मल्लों के मुक्कों से पिटवाना।

एक राजा दूसरे राजा को दण्ड स्वरूप बन्धनागार[११०] (कारागृह) में बन्दी रखता था, जिससे छुटकारे का उसके स्वजन प्रयत्न करते थे। यदि कोई व्यक्ति किसी पशु के अङ्ग का छेदन करता था तो राजा उस व्यक्ति को मारने की आज्ञा देने में संकोच नहीं करता था।[१११] परस्त्री का अपहरण करने वाले की सजा हाथ पाँव काटकर भयङ्कर शारीरिक दण्ड देने की थी।[११२]

---

९८ वही ४०/४   ९९ वही ८/२०१   १०० वही ११/६०
१०१ वही ५०/२९   १०२ वही ५०/२८   १०३ वही ५०/५०
१०४ हरिवंश पुराण ५०/५२-५४   १०५ वही ५०/५५   १०६ वही ७/१४०-१४१
१०७ वही ७/१४२-१४३   १०८ वही ७/१७६   १०९ वही २७/४१
११० वही २५/७१   १११ वही २८/२६-२७   ११२ वही ४१/१८०-१८२

इच्छाएँ
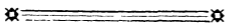
पतन का कारण

❖ श्री बसन्तकुमार जैन, शास्त्री

[शिवाड़]

जितने भी प्राणी शरीरधारी दृष्टिगोचर हो रहे हैं उनमें मनुष्य भी एक शरीरधारी प्राणी है। सभी शरीरधारी प्राणियों में मनुष्य सर्वोत्कृष्ट प्राणी है। इसका एक मात्र कारण इसकी समझ, सूझ, और सम्यक्त्व ग्रहण करने की विशिष्ट योग्यता है। यही मनुष्य अपनी सूझ-बूझ और संयम उपलब्धि के कारणों से आत्मा से परमात्मा बन जाता है।

किन्तु यही सर्वोत्कृष्ट मनुष्य अपने आपसे तब गिरने लग जाता है जबकि इसकी इन्द्रियों की चंचलता बढ़ने लग जाती है और यह इच्छाओं के व्यामोह में उलझकर अपने हित अहित के विवेक को भी खो बैठता है।

स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण और मन की लालसायें जब संयम से बाहर हो जाती है तो इच्छाएँ बन कर सांसारिक विषय भोगों में आसक्त होने लगती है। जन्म-शिशु अवस्था को पार कर जब यह मानव युवावस्था में प्रवेश करता है तो सर्व प्रथम लालसायें, वासनायें और तृष्णा सहेलियों के साथ इच्छाएँ स्वागत करने को आगे आती हैं।

युवावस्था एक ऐसी अवस्था होती है जिसके आधार से मानव अपनी मंजिल, अपना लक्ष्य, चुन सकता है। यदि बेलगाम घोड़े की तरह इच्छाएँ सरपट दौड़ती रहीं तो मानव पतन के गर्त में गिरे बिना नहीं रह सकता और लगाम को मजबूती के साथ पकड़े रहते यदि घोड़ा दौड़ाया जाये तो जैसे वह लक्षित स्थान पर सुरक्षित पहुँच जाता है वैसे ही संयमित भावनाओं के साथ इच्छाओं को निरोधित करते हुए यह मानव भवसागर से भी पार हो सकता है।

लेकिन यह मानव ! इच्छाओं का दास बनकर रह जाता है और जैसे खुजली को खुजाते हुए मीठा मीठा (दु:खदायी) आनन्दप्रद मानता है वैसे ही इच्छाऐं बढ़ाता हुआ सांसारिक दु:खों के जाल में स्वत: ही फँसता जाता है ।

भला इच्छाऐं भी किसी की आज तक पूर्ण हुई है ? लेकिन जैसे मानव की सभी इच्छाऐं पूर्ण हो जायेगी ऐसा मानकर वह इच्छाओं का जाल फैलाता ही जाता है ।

खाने पीने, पहिनने ओढ़ने, महल मकान, जेवर, जमीन और अटूट वैभव बढा लेने की इच्छाऐं मानव को यह भी सोचने का अवसर नहीं देती कि अंजुलि के जल के समान यह आयु पल पल क्षीण होती जा रही है ।

लक्ष्मीचन्द ने घर के अन्दर प्रवेश करते हुए अपनी पत्नी सुशीला को बताया............

"अरी सुनती हो भाग्यवान ! आज तो मजा आ गया । पार्टी में क्या क्या चीजें थी बस खाता ही रहा । भई ! हम भी ऐसी ही फाकरी, ऐसे ही समोसे, ऐसे ही गुलाबजामुन और ऐसा ही सलाद बनायेंगे जब पार्टी देंगे । अरे हाँ ! कब है मेरी साल गिरह ?"

सुशीला ने उन्हें तसल्ली से बैठाते हुए कहा............आप भी खूब हैं ! कितनी कितनी इच्छाऐं आपको घेरी हुई हैं । दुनियां भर की चीजें ला-लाकर घर को अजायबघर बना दिया है । ....मेरी मानों तो थोड़ा जीवन के बारे में भी सोचना शुरु कर दो ।"

"क्या मतलब ?" लक्ष्मीचंद ने चौंकते हुए पूछा । तो पत्नी ने मतलब स्पष्ट करते हुए कहा—कि देखो खाने पीने और विषयभोगों में रचते पचते आपने अपना जीवन का बहुत सा भाग यों ही खो दिया है । थोड़ा जीवन को संयमित बनालो, अपनी इच्छाओं के घोड़े को लगाम लगा लो । यह जीवन........ ।

सुशीला को बात पूरी भी नहीं कहने दी लक्ष्मीचद ने और जोर से ठहाका मार कर बोला........" यह भी क्या बेतुकी बात ले बैठी । अरी बावली अभी तो जीवन बहुत है ! करलेंगे संयम भी ।" —और इतना कह वह उठ कर चला गया अपने कमरे में ।

कुछ दिनों बाद लक्ष्मीचन्दजी बीमार हो गए । डाक्टर आया । दवा लिख गया और देख कर चला गया । सुशीला ने दवा मंगवाई और आलमारी में रख दी । लक्ष्मीचन्द ने उससे कहा "....... भई, दवा तो तुमने दी ही नहीं । क्या भूल गई ?"

लापरवाही से सुशीला ने जवाब दिया........मुझे सब याद है । पर इतनी भी क्या जल्दी है । अभी तो बहुत जीवन है । कल परसों तक भी दवा ली जा सकती है ।

घबराया सा पति बोला........अरे ! यदि तुमने दवा नहीं दी तो मैं मर जाऊंगा ! क्या तू यही चाहती है ?

अपने पति के पास पलंग पर बैठकर उसके सिर पर हाथ फेरती हुई वह बोली........आप नाराज क्यों होते हो । आपने ही तो एक दिन कहा था कि अभी तो जीवन बहुत है । तो मैंने सोचा........"

लक्ष्मीचंद को होश आया और द्रवीभूत होता हुआ बोला........ओह ! सच, सुशीला ! तुमने मेरी आँखे खोल दी ! पत्नी हो तो तुम जैसी ?

आचार्यों ने कहा है—इच्छाएें मानव के पतन की कारण होती हैं। इच्छाओं का निरोध करने से तप होता है और तप की अग्नि में तपा मानव का जीवन पावन पवित्र होकर निर्विकार हो जाता है।

इच्छाओं का निरोध होता है, त्याग करने से। कहा है—"पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणमई।" अर्थात् त्याग करने से इच्छाओं का निरोध होता है। और भी...... इन्द्रियमनसो नियमानुष्ठानं तपः। —मन और इन्द्रियों पर संयम करने का नाम तप है। इच्छाओं पर कन्ट्रोल रखने वाले की गिनती साधु सन्तों में आती है।

सांसारिक प्रत्येक वस्तु में दुःख का लेप चढ़ा हुआ है। आग का गोला दीखने में सोना जैसा दिखाई देता है लेकिन है बड़ा कष्ट कारक। संसार के सभी साधन आग के समान हैं और उसमें इच्छा का घी और डाल देने से क्या वह सुखदायी हो सकता है। कहा भी है—

जितने सुख संसार में, सारे दुःख की खान।
जो सच्चा सुख चाहिए, ले समता उर ठान॥

आज के इस भौतिक युग में मानव इच्छाओं का दास बनकर रह गया है। ऐन-केन धन कमा कर विषय भोग की सामग्री एकत्रित करना और इधर उधर पत्ते चाटते रहना मानव ने अपना स्टेन्डर्ड समझ लिया है। इच्छाओं के गुलाम आज के मानव का इतना पतन हो गया है कि वह धर्म-कर्म से दूर करुणा, दया से रहित मन माना हो गया है। लेकिन उसे क्या मालूम कि—

पास तेरे है कोई दुःखिया तूने मौज उड़ाई क्या?
भूखा प्यासा पड़ा पड़ौसी, तूने रोटी खाई क्या?

इच्छाओं के दास इस मानव को क्या मालूम कि एक दिन यह तेरी युवा-इच्छाएें और तेरा यह युवा शरीर सब जर्जर हो जायेंगे! तब—

जिन दांतों से हंसते थे हमेशा खिल खिल।
अब दर्द से वही सताते हिल हिल॥
कहाँ है, अब वे जवानी के मजे?
ऐ जोक बुढ़ापे से है दांत किल किल॥

अरे भैया! तेरी यह इच्छाएें पतन का कारण है। तुझे ले डूबेगी, और जब डूबने लगेगा तो पश्चाताप की आग में जलेगा, और फिर तब तुझे याद आयेगी कि—

रहती है कब बहारें जवानी तमाम उम्र।
मानिन्द बूये गुल इधर आई उधर गई॥

यह युवावस्था फूल की खुशबू की तरह है जो एक झोंके में इधर से उधर चली जाती है।

महारानी त्रिशला ने कुमार वर्धमान से कहा था—बेटा! कहा मान और विवाह कर ले! तेरे विवाह कर लेने से एक सुन्दर बहु आयेगी, सन्तान होगी और वंश चलेगा। तब वर्धमान ने मुस्कराते हुए कहा था—पूज्य मां मैं संसार के कीचड़ में इच्छाओं का पत्थर सीने पर बाँध कर फँस जाऊंगा। ....क्या तू, यही चाहती है मां कि मैं इस संसार के मायाजाल में फँसकर विषय भोगों की इच्छाओं का गुलाम बन कर रह जाऊँ? यह शरीर इच्छाओं की मिट्टी से सजाने का नहीं है मां, बल्कि संयम की साधना से तपाकर कल्याण करने के लिए है।

आज इच्छाओं का शिकार मानव—कैंसर, टी० बी०, हार्ट अटेक, एवं भयंकर वात-पित्त-कफ के रोगों से पीड़ित हुआ पतन के कगार पर है। यहाँ किसको इच्छाओं की पूर्ति हुई है? ....किसी की भी नहीं।

मार-काट, लूट-पाट करता हुआ सिकन्दर जब भारत की भूमि पर आया तो उसका सामना एक सन्त से हो गया। सन्त ने उससे पूछा—क्या चाहता है तू? ... .. सिकन्दर ने जबाब दिया—मेरी इच्छा है कि मैं विश्व विजेता बनूं, सम्राट कहलाऊं, सारे बादशाह मेरे आगे झुकें और.... ... तभी सन्त ने पूछ लिया इतना सब कुछ कर लेने के बाद तू करेगा क्या? ....तब सिकन्दर ने मूंछ पर हाथ फेरते हुए कहा—तब मैं आराम से पैर फैलाकर सोऊंगा।

सन्त ने मुस्कराकर सिकन्दर को बोध कराया—केवल आराम से पैर फैलाकर सोने के लिए, इतनी हिंसा, अत्याचार, डकैती करने की क्या जरूरत है। आज भी तुम्हें आराम से पैर फैलाकर सोने से कौन रोकता है?

और सिकन्दर की आँखें खुल गई। वह वापिस चला गया। सिकन्दर की तो आँखे खुल गई, लेकिन आज के इस मानव की आँखें कब खुलेंगी—यह वह ही जाने। लेकिन यह हमेशा याद रखिए कि इच्छाएँ पतन का कारण होती हैं।

मोह दुःखमय है, धर्म का द्वेष्टा है, मोह-ममत्व से बंधा हुआ जीव संसार परिभ्रमण करता है। इससे विपरीत मोक्ष सुखमय है और है मोह-ममत्व के अभाव में प्रगट होने वाला। संक्षिप्त में समस्त विकारों का मूल है अतः निर्विकारी-वीतराग होने के लिए मोह पर विजय प्राप्त करना चाहिये।

एक ऐतिहासिक रासा कृति

❖ डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल

[जयपुर]

राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों में साहित्य की अनुपम निधियां संग्रहीत हैं। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश राजस्थानी एवं हिन्दी सभी भाषाओं में इनमें लाखों की संख्या में पाण्डुलिपियां अपने पाठकों, लिपिकारों एवं लिपि करने वालों की यशोगाथा गा रही हैं। उनको पूर्ण श्रद्धा एवं भक्ति से श्रावकों ने लिखवा कर शास्त्र भण्डारों में विराजमान किया था। उन्हे क्या पता था कि उनके आगे आने वाली पीढ़ियां उन्हें पढ़ना भी बंद कर देगी। लेकिन जब से राजस्थान के शास्त्र भण्डारों की सूचीकरण का कार्य हुआ है तथा ग्रंथ सूचियों के पांच भाग प्रकाशित हुए हैं तब से इन शास्त्र भण्डारों में सैकड़ों ऐसे ग्रंथों का पता लगा है :जिनकी उपलब्धि ही साहित्यिक क्षेत्र की महान घटना समझी जाती है।

जयपुर नगर के एक शास्त्र भण्डार में संग्रहीत किसनदास बघेरवाल रासा की पाण्डुलिपि की उपलब्धि इतिहास जगत् के लिये महान् उपलब्धि है। रास पूर्णतः इतिहास कृति है जिसमें राजस्थान के प्रसिद्ध आदिनाथ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र चाँदखेड़ी के इतिहास पर पूर्णतः प्रकाश डाला गया है। सिद्ध क्षेत्रों एवं अतिशय क्षेत्रों के इतिहास के लिये बहुत ही कम सामग्री उपलब्ध होती है इसलिये उनके इतिहास एवं स्थापना काल के सम्बन्ध में दूसरे तथ्यों को आधार मान कर इतिहास लिखना पड़ता है। श्री आदिनाथ दिगम्बर जैन अ० क्षेत्र चांदखेड़ी के इतिहास के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बात थी। चाँदखेड़ी क्षेत्र की

कार्यकारिणी समिति ने जब से हाडौती प्रदेश के इतिहास लिखने की योजना बनाई तथा लेखन का उत्तरदायित्व लेखक को दिया तब से इतिहास लेखन की सामग्री सकलन का कार्य चल रहा है। क्षेत्र के इतिहास के सम्बन्ध में मूर्त्ति लेखों, शिलालेखों, एवं पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठाओं से सम्बन्धित पाठों का संकलन किया जा चुका है। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि क्षेत्र की स्थापना की प्रमुख इतिहासात्मकृति 'किसनदास बघेरवाल रासा' की पाण्डुलिपि भी प्राप्त हो चुकी है। यह रासा कृति क्षेत्र के इतिहास पर कितने ही नये तथ्यों को उद्घाटित करती है इसीलिये यहाँ उसका सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

रासाकृति एक गुटके मे लिपिबद्ध की हुई है। जो वर्तमान मे जयपुर के ठोलियों के मन्दिर में संग्रहीत है। इसमें १७ से १०५ पत्र है। इसमें 'किसनदास बघेरवाल रासा'' पत्र सख्या ४४ से ८६ तक लिपिबद्ध है। जिसका लिपिकाल निम्न प्रकार दिया हुआ है।

संवत् १७५२ का काती वदि पुन्यो। परति उतारो। दसम्वत लछीराम गगाराम व्यास का बेटा। इसमें ३७१ पद्य है।

रासा के कवि का नाम ठकुरसी है जो बघेरवाल जाति के पडित थे। उनका ठग गोत्र था। जिनका निवास टोंक था।[१] कवि ने प्रस्तुत रासा काव्य को सवत् १७४६ माह सुदी ६ सोमवार के शुभ दिन समाप्त किया था।

संवत् सतरासे छियालं माह सुदी छठ सो सही
सुभ सोमवार ग्रनोप सोमित ठकुरसी सोभा कही।

पूरे रासा काव्य मे ३७१ छन्द है। अन्तिम छन्द निम्न प्रकार है—

हुकमि सुकवि थो पूजहित रासौ रच्यौ रसाल।
किस्नादास संगपति सकल, पालग तु प्रतिपाल॥

उस समय मूलसंघ बलात्कारगण एव सरस्वती गच्छ के भट्टारक जगत्कीर्त्ति भट्टारक गादी पर विराजमान थे। उस समय बघेरवाल जाति का अभ्युदय था तथा वह दिगम्बर जैन धर्मानुयायी थी। कवि ने बघेरा (राजस्थान) ग्राम से बघेरवालो की उत्पत्ति होना लिखा है। इस जाति के ५२ गोत्र है। कवि ने आगे ९ से ३६ पद्य तक ५२ गोत्रों का वर्णन किया है। वर्णन ऐतिहासिक है। एक-एक गोत्र मे कौन ऐतिहासिक श्रावक हुए तथा उन्होंने क्या-क्या कार्य किया इसका भी वर्णन किया गया है।

किसनदास मंडिया गोत्र के थे।[२] वे धार्मिक प्रवृत्ति के श्रावक थे तथा अपनी दानशीलता से पृथ्वी पर अपार यश अर्जन करते रहते थे। कवि ने किशनदास की दानशीलता का निम्न शब्दों मे वर्णन किया है—

---

१. समधरा सतव्रत हेम हीसल, टौंकि गढि अंगि लाजए।
ध्रम धरि ध्रमविधान धज बध छवि प्रसादसु छाजए।
ठग कुलि ठकुरसी सुजम गणे सुयौहीद्रवि विलसेऽसा।
अनमुद्रवि अचल भडार भरिया, गवै गढि प्रगटिसा॥२१॥

२. बावन गोतै स अणिया करत वास अधिकार।
किस्नदास मडिया कुले बढिय धकवी वार॥३५॥

आजि करण विक्रम नहीं, आजि न भोज पवार।
आजि किस्न जिग आरंभ्यौ, सयल संग साधार ।।५६।।

कृष्णदास के हृदय में जब मन्दिर निर्माण एवं पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा के भाव उत्पन्न हुये। कवि ने संवत् ६२६ से १६६४ तक खण्डेलवाल जैनों द्वारा सम्पन्न करायी गयीं १५ प्रतिष्ठाओं के सवत् एव गोत्र सहित प्रतिष्ठाकारको का नाम दिया है। यह वर्णन पूर्णत: ऐतिहासिक है।

सर्व प्रथम संवत् ६२६ में खंडेले में वीरचन्द द्वारा सम्पन्न प्रतिष्ठा महोत्सव का उल्लेख किया गया है। इसके पश्चात् संवत् ७७७ में अजमेर में वीरम काला ने प्रतिष्ठा करवायी थी। उसी तरह संवत् ७८२, ७६२, ६०० में होने वाली प्रतिष्ठाओं के स्थान का नाम, प्रतिष्ठाकारकों के नाम व गोत्र एवं उसमें खर्च होने वाली राशि का भी उल्लेख किया गया है। संवत् १०१० में सांभर में प्रतिष्ठा हुई थी। इसी तरह संवत् १०२६, ११६०, ११६२, १२२२, १२२७, १२७२, १३१६, १४३५, १५३५, १६६४ में सम्पन्न प्रतिष्ठाओं का उल्लेख किया गया है। इन्हीं में १२२७ में वस्तुपाल तेजपाल द्वारा आबू में प्रतिष्ठा करवायी गयी थी इसका भी उल्लेख किया गया है। सभी प्रतिष्ठाएं खण्डेलवाल जैनों द्वारा सम्पन्न करायी गयी थीं। इन्ही का वर्णन सुन कर कृष्णदास को भी प्रतिष्ठा कराने का विचार हुआ।

उस समय झालावाड़ का प्रदेश खीची खंड कहलाता था। जहां हाडा वंशीय राजपूतो का राज्य था। हाडा राजपूतों के कारण यह प्रदेश हाडौती प्रदेश कहलाता है। उसी प्रदेश में चांदखेड़ी स्थान है जिसको अयोध्या, जूनागढ़ (गिरनार) शत्रुंजय आदि की तरह पवित्र स्थान अथवा तीर्थ स्थल माना जाता है।[1] झालावाड़ के राजा किशोरसिंह थे जो अपने पराक्रम, शौर्य्य एवं युद्ध कौशल के लिये प्रसिद्ध थे।[2] राजकुमार का नाम राजसिंह था।[3] कृष्णदास उनके प्रधान अमात्य थे। वे राजा के अत्यधिक विश्वस्त मंत्री थे। इसीलिए राजा ने अपने राज्य का पूरा प्रबन्ध इन्हीं के हाथों में सौंप दिया था। कवि ने मंत्री की निम्न शब्दों में प्रशंसा की है—

कलम बांण विधा सकल बल खग वान दुबाह।
बुधि विवेक नागर प्रबल, वितपुनि बडौ अगाह ।।१०८।।

कृष्णदास के पितामह का नाम भोपति एवं पिता का नाम नैतल था। दोनों ही पुण्यवान थे। कृष्णदास के चांदखेड़ी में मन्दिर बनवाने के भाव उत्पन्न हुए जिससे वह सदा के लिये अपने नाम को कायम रख सके। अपने भावों के अनुरूप एक विशाल मन्दिर निर्माण की योजना बनायी गयी। सबसे पहले भौहरा बनवाने का कार्य प्रारम्भ किया गया और संवत् १७३० वैशाख सुदी ८ के शुभ दिन यह कार्य प्रारम्भ कर दिया। ६ वर्ष तक यह कार्य चलता रहा और संवत् १७३६ माह सुदी पंचमी सोमवार को शुभ मुहूर्त्त में भौंहरे में भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा विराजमान की गयी। भगवान की प्रतिमा अत्यधिक चमत्कारिक थी जिसकी देव और मनुष्य दोनों ही सेवा करते थे।

---

१. चदखेडी चहू तक प्रगट जेम अयोध्या जाणि।
जूनागढ सेत्रुज जिय इसी वोपमा आणि ।।६१।।

२. करैहि राज किसोर सिंघ अचल सुभट अवताण।
प्रचड अगि प्रगटित धरा, ते गिन्माणि अपार ।।६२।।

३. कवरागुर का इस कहिस रामसिंघ रज रूप।
पुनि रूप उदयो अर्धा अंगि भ्रम नेह अनूप ।।६३।।

रासाकाव्य में उक्त ऐतिहासिक तथ्यों का निम्न शब्दों में वर्णन किया गया है—

उपजास भाव चित में अपार, विधि करि प्रसाद मोटा विचार।
भेंहू मै थप्यो श्री रिषभदेव, सुरनर सुवीन दोउ करै सेव ॥१११॥
संवत् सत्रासे तीस जांणि, बैसाख कृस्न आठं बखाणि।
सनिवार पाटि श्री रिसहथामि, अनेक विप्र परिवार आदि ॥११२॥
संवत् सत्रहंसे छत्तीस साल, पांचे सुमाह मणि सुकल पांख।
रेवतो सोमवारस बसंत, हव सुकृत जोग हो भौह संत ॥११३॥

वह भौहरा क्या था मानों पृथ्वी पर नाग लोक था। उसे विश्वकर्मा ने बनवाया था तथा उसके समान पृथ्वी पर दूसरा भौहरा नही था। उसकी महिमा चारों ओर फैल गयी थी तथा वहां पर्याप्त यात्रीगण आने लगे थे। भौंहरे में उस समय पीलसोत दिनरात जला करते थे। जिससे चौबीस घण्टे ही दर्शन का आनन्द रहता था।[1]

चारों ओर कोट बनाया गया। परिक्रमा देने का स्थान एव पोल बनायी गई। वहां प्रवेश द्वार पर द्वारपाल बनाये गये जिसका सदा डर लगता था। चारों खूट पर चार छत्रिया बनायी गयीं। वहां का चौक भी चौकोर था। जो सदैव चमकता रहता था। वहां देवतागण निवास करते थे। धीरे-धीरे भौहरे के ऊपर पूरा मन्दिर बन गया। जिसका यश चारों ओर फैलने लगा तथा आबू एवं गिरनार के समान जिसको प्रसिद्धि प्राप्त हो गयी।[2] चैत्र सुदी पुरिणमा का वहां मेला भरने लगा जिसमे चारों ओर से हजारों यात्री आने लगे। वहां चोर, डाकू आदि कोई नहीं था तथा मन में किञ्चित भी विकार नहीं आता था। इस प्रकार चादखेड़ी में आठों प्रहर आनन्द बरसने लगा।[3]

पञ्चकल्याण प्रतिष्ठा का आयोजन :

मन्दिर एवं परकोटा आदि पूर्ण होने पर कृष्णदास के मन में पञ्चकल्याणक कराने की इच्छा हुई तथा आपने हाथ जोड़कर राजा किशोरसिंह से निम्न शब्दो में प्रार्थना की—

जस स्वामिसौ अरज करि, सिरि धरि सिसतौ नाम।
जिण प्रसाद परणाविजे, तौ जनमंतर लाभ ॥१३२॥

इसके उत्तर में महाराजा किशोरसिंह ने निम्न शब्दों में उत्तर दिया—

स्वामी कहैं संगपति सुणो, थौ परमारथ काज।
कालि करै सो ही आजि करि, मेलो संग समाज ॥१३३॥

---

१. भौंहरो महा उदित सुभाइ, परसं सती पर पातिग जाइ।
दानी बिहु तहा पलिसोत, अहि निसि दरसै आनन्द होत ॥११६॥

२. अति सं अनंत आबु समान, थिय अचल तेम थीर नारि थान।
दिस दिसा लोक दरसै जिहान, धर सकल सोह धमहि निधान ॥१२२॥

३. आनंद रूप सब दिवस रैन, सासता चंद्रखेड़ी सु चंन।
इस वस सो भओ जिणवर आवास, संगपति अचल श्री किस्नदास ॥१२६॥

स्वामी की आज्ञा मिलते ही पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। राज्य की ओर से सभी आवश्यक सामग्री उपलब्ध कराने के आदेश हो गये। सर्व प्रथम पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा के समाचारों को चारों ओर प्रचारित किया गया। मूर्त्तियों का निर्माण करवाया जाने लगा। सब जगह निमन्त्रण भेजे जाने का निर्णय किया। उस समय चार गादियों के भट्टारकों की प्रमुखता थी। चारों को ही प्रतिष्ठा महोत्सव में आने का निमन्त्रण दिया गया।

भट्टारकों में आमेर के भट्टारक प्रमुख भट्टारक थे और वे थे जगत्कीर्त्ति। उनको सादर निमन्त्रण देने के लिए विशेष दूत भेजे गये। भट्टारक जगत्कीर्त्ति ने पचंकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रतिष्ठाचार्य बनने के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और प्रारम्भिक तैयारी के लिये अपने प्रमुख शिष्य पं० लिखमीदास का चयन किया। लिखमीदास पं० तेजा के सुपुत्र थे। उनका पाटनी गोत्र था। भट्टारक जी ने शुभ मुहूर्त्त में पुस्तक हाथ में देकर लिखमीदास को वहां भेज दिया।[1]

पं० लिखमीदास का चांदखेड़ी पहुंचने पर भव्य स्वागत किया गया तथा उनके आते ही प्रतिष्ठा के कार्यों में तीव्रता आ गयी। सर्व प्रथम प्रतिमा निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया गया। तथा शास्त्रोक्त विधि से मूर्त्तियां निर्मित होने लगी। सब मिलाकर ५२७२ बिम्बो का निर्माण कराया गया। सभी प्रतिमाएं संगमरमर के पाषाण की थीं। इनमें कितनी ही धातु प्रतिमाएं भी थीं। सबसे अधिक प्रतिमाएं आदिनाथ एवं महावीर स्वामी की थीं।[2] प्रतिमाओं के पश्चात् यन्त्रों का निर्माण हुआ। जिनमें दशलक्षण यंत्र, सिद्ध यंत्र, ऋषिमंडल यंत्र, शांति यंत्र, गणधरवलय यंत्र, कर्मदहन यंत्र, चिंतामणि यंत्र, कलिकुण्ड यंत्र, रत्नत्रय यंत्र आदि के नाम उल्लेखनीय है। पद्मावती एवं क्षेत्रपाल की मूर्त्तियों का भी निर्माण कराया गया। कुछ प्रतिमाएं नवरत्नों की भी घड़ी गयीं।

मूर्त्तियों एव यन्त्रों के अतिरिक्त पञ्चकल्याणक के लिए खाद्य सामग्री का संग्रह किया गया। इसके लिये कवि ने निम्न विचार प्रकट किये हैं—

सकल वस्तु सामो कियो नव निधि भरे भंडार।
जो चाहिजे खरचि जे अति करि चित्त उदार ॥१७१॥

पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा में बड़ा भारी मेला लगा था। कर्नाटक, मुलतान, आगरा, सांगानेर आदि विभिन्न नगरों के व्यापारी आये थे और मेले में अपनी दुकानें लगायी थी। यही नहीं केशर, चंदन, मिश्री, नारियल, दाख, सुपारी, आदि वस्तुएं भी बिकने के लिए आयी थीं। छत्तीस कारखाने लगे थे। विभिन्न प्रकार की मिठाइयों की दुकानें थीं। इन सबके अतिरिक्त वहां की उज्ज्वल भूमि, वृक्षों की शीतल छांह रूपरेल नदी एवं उसका शीतल एवं मीठा पानी, आदि सभी मेले की शोभा बढा रहे थे।

---

१. मूलसग मैं है मुकुटमणि विद्या सकल विलास।
पठयो के परि आदेस दे, लाइक लिखमीदास ॥१४०॥

प्रगट वंस मन पाटणी, महा उदार सुमन।
जस जिहाज बड जैनि मैं, तेजा साह सु तन ॥१४१॥

सुगह पाइ आग्या सकल, आर पुस्तक दीय हाथि।
भलै महूरति भेजियो, सुभ आडंबर साथि ॥१४२॥

२. सिलावट बिश्वकर्मा समान, संघपति तीया वीप महत मान।
बावन बहैत्तरि रचे बिंब, सुध वे बो गति अति करहु सिब ॥१५१॥

उजल मोमि अथाह जही, छबि सीतल तहां छांह ।
प्रांबु नींबु तर जल प्रबल, सुख तहां रंनि सबाह ।।

रुपारेलि नदी सुरी निधि जाल तणो निवास ।
सघम मिष्ठ सीतल सु, पंच पुनि तणो प्रकास ।।२१४।।

मेले की तैयारी पूर्ण होने पर भट्टारक जगत्कीर्त्ति को लेने के लिये ग्रामेर प्रतिष्ठित व्यक्तियों को भेजा गया। साथ में दो साहूकार, दस असवार, बोस सिपाही भेजे गये। उनको खर्च के लिए ४०० चांदी की मुद्राएं दी गयी। उन्हें ग्रामेर पहुंचने में २० दिन लगे। जब वे ग्रामेर पहुंचे तो भट्टारक जगत्कीर्त्ति ने संघपति अजितदास को बुलाया। संघपति के साथ पंचलोक आये तथा भट्टारक जी के साथ तैयारी करने लगे। जाने वालों की पहिरावणी की गयी। रामचन्द्र एवं बिहारीदास उनमे प्रमुख थे। जब भट्टारक जगत्कीर्ति संघ के साथ चांदखेड़ी के लिये रवाना हुए तो नौबत बाजने लगी, नगारा बजाया गया। हाथी को सजाया गया। उनके साथ नगर के लोग पहुंचाने के लिये आये। जो सूर्य उगते ही रवाना हो गये। जगत्कीर्त्ति के साथ कनककीर्त्ति, सोमकीर्त्ति, विमलकीर्त्ति, भुवनभूषण, विश्वभूषण, चन्द्रकीर्त्ति, महीचन्द, विशालकीर्त्ति, ज्ञानकीर्त्ति, शुभचन्द, श्री भूषण, ब्र० प्रेम, नवल, ब० कर्मचन्द, पंडित हीरा आदि बत्तीस पंडित साथ गये थे।

जब जगत्कीर्त्ति चांदखेड़ी के निकट पहुंचे तो सघपति कृष्णदास को सूचित किया गया। भट्टारक जी के आने से चारों ओर हर्षोल्लास छा गया। हाथी, घोडे, रथ, पालको, आदि के साथ, हजारों लोगों को साथ लेकर उनका स्वागत किया गया। सब कृतकृत्य हो गये।

असु गजराज वहौ असवार, पाइक कवण पार्व पार।
जहै महै मिल्या श्री गुरराज, सुम दिन आजि रौ सिरताज ।।२४४।।

पुनि पेसक सधारिया पाइ, जंय ग्रासिका ठौस जालिराइ।
धनि धनि धरा श्री ध्रमधीर, संगपति किस्नदास सुधीर ।।२५०।।

प्रतिष्ठा महोत्सव मे काष्ठासंघ के सुमतिकीर्त्ति बागड देश से आये थे तथा अपने साथ बहुत से गृहस्थ आचार्य, ब्रह्मचारी, पंडित एवं गंधर्वों को साथ लाये थे। इसी तरह मूलसंघ के भट्टारक नरेन्द्रकीर्त्ति एवं सुरेन्द्रकीर्त्ति भी वहां आये थे। उनके साथ पंडित गंगादास भी थे। इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर यति भी प्रतिष्ठा महोत्सव में आये थे।

कृष्णदास ने बड़ी उदारता से पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव कराया था। दशों दिशाओं को उर्ध्वलोक, पाताल लोक, सागर एवं नदी के देवताओ को सादर निमन्त्रण दिया था। मेवाड़, ढूंढाहड़, गुजरात, सौराष्ट्र, चदेरी, मालवा, चितौड़, जालौर, उज्जयिनी, अहमदाबाद, कारंजा, आगरा, अजमेर पचमोरा, मेवात, बासोरा, ललितपुर, सांगानेर, मोजमाबाद, मालपुरा, टोडारायसिह, चंपावती, टोंक, बणहृत, ग्रामेर, उदयपुर, आदि सभी प्रदेश एवं नगरों में निमन्त्रण भेजे गये और उनसे चांदखेड़ी में मिलने की प्रार्थना की गयी। किशनदास स्वयं बघेरवाल थे। मंडिया उनका गोत्र था। इसीलिये बघेरवालों के हजारों परिवार वहां आये जिनमें सभी ५२ गोत्रों के बघेरवाल थे। ८४ गोत्रों वाले खण्डैलवाल जाति के श्रावक भी आये। इन दोनों जातियों के अतिरिक्त श्री माल, वेसवाल, मेडतवाल, पल्लीवाल, जैसवाल, अग्रवाल, हरसौरा, चितौडा, नागद्रहा, घनौरा, सौरस्या, गोलसिंघाड़ा, गोलापूरब, कठनेरा हूमड़ आदि जातियों के श्रावक वहां हजारों की संख्या में एकत्रित हुए थे।

मेले में विविध वस्तुओं की दुकाने लगायी गयीं। तथा ब्राह्मण, वैश्य एवं अन्य जातियों के स्त्री-पुरुष भी हजारों की संख्या में आये थे। क्षत्रिय-जाति के राजपूत भी भारी संख्या में आये जिनके रामकुमार सिरताज थे। हाथी घोड़ों की संख्या में कमी नहीं थी। वेश्याएं भी मेले में सम्मिलित होने आयी थीं। जो अपने नृत्य से सबका मन मोह लेती थीं। मेले में आने वाले सभी का एक ही आशीर्वाद था—

नेतल तर्ण करि बात नेकी अचल वसुधा इंव।
दावचि विक्रम भोज सम वडि क्रतब सुपरि करिव।
धन खरचि जनमंतर सुघोर उपर्ज नहउरा।
तु जिसा किसनेस कमधि कलि कति करे बोओ कुरा।।३०६।।

माह वदि ग्यारस के दिन जलयात्रा का कार्यक्रम सम्पन्न किया गया और इसी कार्यक्रम से पञ्च-कल्याणक प्रतिष्ठा का कार्य प्रारम्भ हो गया। गजरथ सजाया गया। जिसमें दो हाथी जोड़े गये। वे हाथी मानों ऐरावत हाथी के समान ही सुशोभित होते थे। वह सूर्य रथ के समान लगने लगा। जो चांदी एवं स्वर्ण से वेष्ठित था। रथ का मुख मानस्तंभ के मुख के समान बनाया गया। वह देव-विमान के समान सुशोभित होने लगा। चंवर ढुलने लगे और जब रथ चलता था तो छोटी-छोटी घुंघरी बजती थीं। रथ के दोनों हाथी चिंघाड़ते थे जो इन्द्र के समान लगता था। रथ के मध्य में जिनेन्द्र देव विराजमान थे। रथ यात्रा का जलूस सुभावना लग रहा था।

तीन बार जल यात्रा हुई। प्रथम बार माल की बोली १५००) रुपयों की हुई जिसको लेने का सौभाग्य पृथ्वीराज बाकलीवाल को प्राप्त हुआ। दूसरी माला १५३५) रु० में हुई जिसको रूपचन्द ने ली थी।

प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर दीपकों की पंक्ति से सारा प्रतिष्ठा स्थल जगमगा उठा और दीपमालिका के समान लगने लगा।

इसके पश्चात् अंकुरारोपण विधि सम्पन्न हुई। सभी पंडितों को वस्त्रों से लाद दिया गया। दुपट्टा आदि दिये गये। कर्मदहन, रिषि मंडल, तीस चौबीसी, पंचमेरु आदि के मंडल मांड कर पूजा की गयी। अष्टद्रव्य से पूजा की गयी। यागमंडल पूजा सम्पन्न हुई। इसके पश्चात् फिर माल की बोली हुई। जिसे २५०० रु० खेतसी ने ली।

करि स होम बेहो उकति, धर्मधार जगबीस।
माल खेतसी भावसं, रुपया सौ पच्चीस।।३५।।

पूरी प्रतिष्ठा होने पर सभी अर्हंत प्रतिमाओं को सूरिमंत्र दिया गया तथा केशर से चर्चित किया और इस प्रकार माघ सुदी ६ सोमवार को प्रतिष्ठा विधि सम्पन्न हुई। अन्त में कलशाभिषेक हुए तथा २२० मोहरों में माला की बोली स्वयं कृष्णदास बघेरवाल ने लेकर प्रतिष्ठा महोत्सव में चार चांद लगा दिये।

प्रतिष्ठा समाप्ति के पश्चात् कृष्णदास के द्वारा चारों भट्टारकों के सम्मान के लिए नये पीछी कमंडलु दिये गये। इसके अतिरिक्त यात्रियों एवं पंडितों को इतनी अधिक भेंट दी कि चारों ओर प्रशंसा होने लगी। श्रावकों तथा कार्यकर्ताओं को पहिरावणी की गयी। तथा एक विशाल जीमणवार देकर प्रतिष्ठा महोत्सव की समाप्ति की घोषणा की गयी। उस दिन माघ सुदी ६ सोमवार संवत् १७४६ था।

संवत् सत्रासै छियालै माह सुदी छठ सो सही।
सुभ सोमवार अनोप सोभित ठकुरसी सोमा कही।।

इस प्रकार किसनदास बघेरवाल रासा में वर्णित पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा के कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों की प्रस्तुत निबन्ध में जानकारी दी गयी है। रासा पूर्णतः ऐतिहासिक एवं तत्कालीन सामाजिक स्थिति, रीति रिवाजों विभिन्न नगरों में जैन परिवारों की स्थिति, विभिन्न जैन जातियों के नाम प्रतिष्ठा महोत्सव की लोकप्रियता, समाज में भट्टारकों एवं भट्टारकीय पंडितों की स्थिति पर अच्छा प्रकाश डालती है। रासा का विस्तृत अध्ययन फिर कभी किया जावेगा। ❀

जैन न्याय के पुरस्कर्ता

प्रमुख आचार्य

❖ श्री गुलाबचन्द्र जैन, दर्शनाचार्य

[प्राचार्य दि० जैन सं० महा विद्यालय, जयपुर

तर्कसम्मत वस्तुसिद्धि एवं पदार्थसिद्धि ही न्याय है। जैनन्याय के प्रमुख आचार्यों के उन सन्तों का नाम है जिन्होंने अन्य दार्शनिकों को तार्किक बुद्धिबल द्वारा परास्त कर वास्तविक वस्तुतत्त्व को प्रस्तुत किया है।

वैसे आध्यात्मिकविद्या के प्रमुख आचार्य भगवान कुन्दकुन्द उन आचार्यों में सर्वोपरि हैं, जिन्होंने आत्मविद्या को अपने ग्रन्थों में हस्तामलवकवत् कर दिखाया है। जिन अन्य भारतीय या पाश्चात्य दार्शनिको ने आत्मा स्वरूप ही नही समझा उनको अपनी तार्किक-शैली द्वारा समझाते हुए बता दिया कि चैतन्य स्वरूपी आत्मा शुद्ध-बुद्ध, एकत्व-स्वभाव को लिये हुए अरूपी है तथापि संसार दशा में प्रत्येक शरीर में निवास करता है और मुक्तावस्था में अशरीरी होकर तीनों प्रकार के कर्ममल से रहित होता हुआ अनन्तकाल तक निवास करता है। एकबार निर्विकार होने के पश्चात् विकारी नहीं बनता और स्वात्मदशा में स्थिर रहता है।

इस आत्मविद्या के प्रतिपादयिता आचार्य कुन्दकुन्द ने समय-सार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड, बारस अणुवेक्खा आदि कई प्राभृत ग्रन्थों का निर्माण कर अध्यात्म संसार में अपना नाम प्रथम स्थानीय किया।

अध्यात्मविद्या के पश्चात् तत्त्वविद्या का युग प्रारम्भ होता है। इसके प्रमुख आचार्य उमास्वामी हैं। उमास्वामी ने सप्त तत्त्व और नव पदार्थ का स्वरूप तो यथावत् निरूपित किया ही है, किन्तु षट्द्रव्य और पंचास्तिकाय का विवेचन भी इनकी तार्किक बुद्धि का बेजोड़ नमूना है। यद्यपि इनके द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्र अथवा मोक्षशास्त्र ग्रंथ अत्यन्त

लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध एक ही ग्रन्थ है, किन्तु यह ग्रन्थ प्रथमानुयोग को छोड़कर अन्य सभी अनुयोगों की पूर्ति करता है।

आचार्य उमास्वामी के पश्चात् ही जैनन्याय का विशेष अभ्युदय हुआ और वह आचार्य समन्तभद्र स्वामी से प्रारम्भ हुआ। यदि आचार्य समन्तभद्र स्वामी नहीं हुए होते तो जैनन्याय का सूर्य अस्तंगत हो गया होता। इन्होंने ही अपने बुद्धिबल एवं तर्कबल से जैनदर्शन में न्यायदर्शन की प्रतिष्ठा को दार्शनिक जगत में स्थापित किया।

श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं० १०५ में आपको वादीरूपी हस्तियों को वश में करने के लिये वज्रांकुश की संज्ञा दी है। आचार्य शुभचन्द्र ने आपको 'कवीश्वर भास्वान्' विशेषण से विभूषित किया है। आप जैन सिद्धान्त के मर्मज्ञ तो थे ही साथ में तर्क, छंद, व्याकरण, अलंकार, काव्य, कोष आदि के भी निष्णात विद्वान थे।

दक्षिण भारत में उच्चकोटि के संस्कृत ज्ञान को प्रोत्तेजना, प्रोत्साहन, प्रसारण देनेवाले श्री समन्तभद्राचार्य ही थे। आप ऐसे युग संस्थापक आचार्य थे, जिन्होंने जैनविद्या के क्षेत्र में एक नया आलोक विकीर्ण किया। आपने अपने समय के प्रचलित नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, क्षणिकवाद, ब्रह्माद्वैतवाद, पुरुष एवं प्रकृतिवाद आदि अनेकोंवादों की सम्यक् समीक्षा कर स्याद्वाद सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित किया।

आचार्य समन्तभद्र का जन्म दक्षिण भारत के उरगपुर या उरेपुर के राजवंश में हुआ था। आपका जन्मनाम शान्ति वर्मा बताया जाता है। मुनिदीक्षा के पश्चात् आपको भस्मकव्याधि हो गयी थी जिसके कारण आपको गुरु आज्ञा के अनुसार मुनिपद छोड़कर रोगकी शांति करनी पड़ी थी। ज्योंही रोग शान्त हुआ आपने पुनः दीक्षा ग्रहण की और जैनदर्शन की रक्षार्थ ग्यारह उच्चकोटि के ग्रन्थ रचे जिनमें कतिपय को छोड़कर प्रायः सभी उपलब्ध हैं। वृहत् स्वयभू स्तोत्र, स्तुतिविद्या, देवागमस्तोत्र अथवा आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन, प्राकृतव्याकरण, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृत टीका, गन्धहस्तिमहाभाष्य, रत्नकरण्डश्रावकाचार ये ग्यारह ग्रन्थ इनके द्वारा रचित हैं, किन्तु इनमें जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन, प्राकृतव्याकरण, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृतटीका और गन्धहस्ती महाभाष्य ये छः ग्रन्थ अनुपलब्ध है। आपका वैदुष्य एवं प्रतिभा जैनजगत में ही नहीं जैनेतरों मे भी विख्यात है। आपने एकान्तवादियों का निरसन कर अनेकान्त की स्थापना की और वह भी दार्शनिक शैली में। जैनजगत आपसे सदा सर्वदा उपकृत रहेगा।

डॉ० दरबारीलाल कोठिया के मतानुसार आचार्य समन्तभद्र ने जैनदर्शन को निम्नलिखित सिद्धान्त प्रदान किये हैं—

१. प्रमाण का स्व-पराभास लक्षण २. प्रमाण के क्रमभावि और अक्रमभावि भेदों की परिकल्पना ३. प्रमाण के साक्षात् और परम्परा फलों का निरूपण ४ प्रमाण का विषय ५. नय का निरूपण ६. हेतु का स्वरूप ७. स्याद्वाद का स्वरूप ८ वाच्य-वाचक का स्वरूप ९. भावएकान्त-अभावएकान्त १०. आप्त का तात्त्विक निरूपण ११. वस्तु तथा अवस्तु का स्वरूप १२. अनुमान से सर्वज्ञसिद्धि १३. स्यात् निपात का विवेचन।

आचार्य सिद्धसेन :

आचार्य सिद्धसेन को उनके दार्शनिक विचारों के अनुसार श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही जैन सम्प्रदाय अपना-अपना आचार्य मानती है। आदिपुराण में जिनसेनाचार्य ने इन्हें कवि और वादिगजकेसरी दोनों कहा है। आपका जन्म विक्रम सम्वत् के ४७० वें वर्ष में हुआ। आप उज्जयिनी के ब्राह्मणवंश में उत्पन्न हुए थे। आपके द्वारा रचित सन्मतिसूत्र में आपने केवली के ज्ञानदर्शनोपयोग में अभेद सिद्ध किया। आपके इस अभेदवाद की मीमांसा अकलंक देव ने की है उन्हें यह अभेदवाद सिद्धान्त इष्ट प्रतीत नहीं हुआ। आपके द्वारा रचित कल्याण

मन्दिर स्तोत्र में आपने भावशून्यक्रिया को निरर्थक तथा भावपूर्ण क्रिया को सार्थक बताया है । आप ही का दीक्षा नाम कुमुदचन्द्र था ।

आचार्य अकलंक देव :

जैनन्याय के क्षेत्र में आचार्य समन्तभद्र के पश्चात् आचार्य अकलंक देव का नाम प्रख्यात है । आपको जैनदर्शन में उसीप्रकार स्थान प्राप्त है जिस प्रकार बौद्धदर्शन में धर्मकीर्त्ति को प्राप्त है । आपके द्वारा रचित प्रायः सभी ग्रन्थ जैनदर्शन और न्यायविषयक है । आप दक्षिण में मान्यखेट के राजा शुभतुंग के मंत्री पुरुषोत्तम के पुत्र थे । आपका समय ७७८ ई० माना जाता है । आपकी रचनाओं को दो धाराओं में विभक्त किया गया है—प्रथम स्वतंत्र ग्रन्थ और द्वितीय टीका ग्रन्थ । स्वतंत्र ग्रन्थों में १. स्वोपज्ञ टीका सहित लघीयस्त्रय । २. न्यायविनिश्चय ३ सिद्धिविनिश्चय ४. प्रमाणसंग्रह तथा टीकाग्रन्थों में तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) और अष्टशती ग्रन्थ प्रधान हैं । तत्त्वार्थ वार्तिक आचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थ सूत्र की तथा अष्टशती आचार्य समन्तभद्र के देवागमस्तोत्र की टीका है ।

उक्त सभी ग्रन्थ न्याय-दर्शन विद्या के रत्न हैं । इनमें न्याय सम्मत वस्तु तत्त्व को सिद्ध करने वाले हैं । नित्य क्षणिक पक्ष का खण्डन और कथञ्चित् क्षणिक का मण्डन इनकी विशेषता रही है ।

आचार्य विद्यानन्द :

आचार्य विद्यानन्द ऐसे सारस्वत आचार्य है जिन्होंने प्रमाण और दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना करके श्रुत परम्परा को गतिशील बनाया । आप दक्षिण भारत के कर्णाटक प्रान्त के निवासी थे । आपका जन्म ब्राह्मण वर्ण में हुआ था । आपने कुमारावस्था में ही न्याय, वैशेपिक, मीमांसा, वेदान्त आदि दर्शनों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था । इसके अतिरिक्त आप दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और प्रज्ञाकर आदि बौद्ध-दार्शनिकों की विचारधाराओं से भी पूर्ण परिचित थे । आपका समय ईसा की १० वी–११ वीं शताब्दी के मध्य का माना जाता है । आपने भी अपनी स्वतन्त्र ग्रन्थ रचना और टीका ग्रन्थों के माध्यम से जैनन्याय का श्रुतभण्डार समृद्ध किया है ।

आपकी स्वतन्त्र रचनाएं—आप्तपरीक्षा-स्वोपज्ञवृत्ति युक्त, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासन परीक्षा, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र, विद्यानंदमहोदय आदि है । टीकाग्रन्थ—अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और युक्त्यानुशासनालङ्कार हैं । अष्टसहस्री देवागम (अष्टशती टीका संयुक्त) की वृहद टीका है । तत्त्वार्थ श्लोक-वार्तिक मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) की तथा युक्त्यानुशासनालंकार युक्त्यानुशासन की टीकाएं हैं ।

आचार्य माणिक्यनन्दी :

आचार्य माणिक्यनन्दी न्यायशास्त्र के महापण्डित थे । इनका परीक्षामुख ग्रन्थ जैन न्याय का आद्य न्यायसूत्र ग्रन्थ है । आप नन्दि संघ के प्रमुख आचार्य थे आपका निवास धारा नगरी को प्रमुख रूप से बताया गया है । आपका समय ११ वीं शती का प्रथम चरण माना गया है । आपकी रचना मात्र "परीक्षामुख सूत्र" ही प्राप्त होती है, किन्तु यह उसी प्रकार न्यायविद्या का महानग्रंथ है जिस प्रकार तत्त्वविद्या के क्षेत्र में उमास्वामी आचार्य का मोक्षशास्त्र । आपके इस ग्रन्थ रत्न में दो प्रमुख न्यायविद् आचार्यों की अत्यन्त विस्तृत टीकाएं रची हैं ।

आचार्य प्रभाचन्द्र :

जैन न्यायशास्त्र जगत् में आपका योगदान भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । आपने आचार्य माणिक्यनन्दि द्वारा विरचित परीक्षामुख सूत्र ग्रन्थ पर १२००० श्लोक प्रमाण टीका ग्रन्थ निर्मित किया है । आपकी यह

रचना प्रमेयकमल मार्तण्ड के नाम से सुप्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से प्रभाचन्द्राचार्य का वैदुष्य पूर्ण व्यक्तित्व स्पष्टतया परिलक्षित होता है। आपने वैदिक और अवैदिक सभी दार्शनिक ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया था। आपका समय १११८ के लगभग माना जाता है। आपकी निवास स्थली भी धारा नगरी ही आंकी जाती है। आपकी रचनाएं निम्न मानी जाती हैं—१. प्रमेयकमलमार्तण्ड २. न्यायकुमुदचन्द्र ३. तत्त्वार्थवृत्ति पद विवरण ४. शाकटायनन्यास ५ शब्दाभोज भास्कर ६. प्रवचनसारसरोज भास्कर ७. रत्नकरण्ड श्रावकाचार टीका ८. समाधितंत्र टीका ९ दशभक्तियों पर टीका १०. आत्मानुशासन टीका ११. महापुराण टिप्पण। आपके ये सभी टीका ग्रन्थ हैं। गद्यकथा कोश नाम से आपने एक स्वतंत्र ग्रन्थ की भी रचना की है।

लघु अनन्तवीर्य :

जैन न्याय जगत् में अनन्तवीर्य नाम के दो आचार्यों का उल्लेख मिलता है। एक वृहद् अनन्तवीर्य हैं जिन्होंने अकलंकदेव के सिद्धिविनिश्चय की टीका लिखी है और ये लघु अनन्तवीर्य वे हैं जिन्होंने प्रमेयरत्न माला बनायी है। यह ग्रन्थ परीक्षामुख की विशद टीका रूप है। यह ग्रन्थ अत्यन्त सुगम एवं न्यायशास्त्र में प्रवेशार्थियों के लिये अत्यन्त उपयोगी है।

इन सभी आचार्यों के अतिरिक्त जैनन्याय के और भी प्रमुख पुरस्कर्त्ता आचार्य हुए हैं। इसी श्रृंखला में अपनी लघुकाय किन्तु महत्त्व रचना न्यायदीपिका के रचयिता अभिनव धर्मभूषण यति का नाम भी स्मरणीय है। लेख विस्तार के भय से मैंने कुछ प्रमुख आचार्यों का अत्यन्त संक्षिप्त परिचय इस लघुकाय में निबद्ध किया है। हमें न्याय-दर्शन सम्बन्धी आचार्यों का परम उपकार मानना चाहिए जिन्होने जैनदर्शन की महती सेवा एवं उसकी महनीयता को दिग्दिगन्त व्यापी किया है।

तीर्थंकर प्रभु की दिव्य ध्वनि हो अथवा गणधरादि के द्वारा रचित द्वादशांग वाणी या इनके अनुकूल प्रतिपादयिता गुरुओं की वाणी हो वह सब द्रव्य श्रुत अवश्य है, किन्तु उस द्रव्य श्रुत के बिना भावश्रुत प्रगट नहीं होता। अतः द्रव्यश्रुत के अभीक्षण स्वाध्याय में सदैव तत्पर रहना चाहिए।

दुःख का कारण
समता का अभाव

राग द्वेष

❖ डॉ० कन्हैयालाल जैन, एम. ए.,
[शासकीय महाविद्यालय, शहडोल]

रूस के दार्शनिक विद्वान् टालस्टाय ने अपने एक लेख में कुछ लोगों की ओर से व्यक्त किये गए दुःख के भिन्न २ कारणों का उल्लेख किया था, उनमें एक व्यक्ति दुःख का कारण भूख को बताता है। उसने अपने मत की पुष्टि में तर्क दिया कि प्रत्येक मनुष्य तथा अन्य पशु-पक्षी आदि प्राणियों को भूख लगती है इसलिए भोजन की खोज में प्राणी को इधर-उधर भटकना पड़ता है, भोजन को पाने और बनाने के लिए अनेक प्रकार का श्रम और कार्य करने पड़ते है, इसी भोजन को जुटाने के कारण सभी प्राणी दुःखी हैं अतः दुःख का कारण भूख है।

दूसरे व्यक्ति ने दुःख का कारण गरीबी को बताया, जिस मनुष्य के पास धन नहीं है वह दुखी है और जिसके पास धन है वह सुखी है। प्रत्येक मनुष्य धन को पाने के लिए नाना प्रकार के कष्ट उठाता है इसलिए निर्धनता दुःख का कारण है।

तीसरे व्यक्ति का कहना था कि दुर्बलता और शक्ति हीनता दुःख का कारण है। जो प्राणी बलवान होते हैं वे निर्बल प्राणियों को दबाए रहते हैं, यहां तक कि बलवान प्राणी निर्बल, दुर्बल, अशक्त जीवों को मारकर खा जाते हैं जो बलवान है वह दूसरों का धन छीनकर सुखी रहता है। इसलिए निर्बलता दुःख का कारण है।

चौथा व्यक्ति कहता था कि दुःख का कारण प्रेम है। प्रत्येक प्राणी किसी न किसी व्यक्ति (पति/पत्नी, पुत्र, माता, पिता, भाई, बहिन आदि) से प्यार करता है। जिससे प्रेम करता है उसको सुखी करने के लिए अनेक परेशानियां उठाता है। इसलिए दुःख का कारण प्रेम है।

❖

हम ऊपर कथित दुःख के कारणों पर विचार करें तो प्राणियों के दुःख के कारण इतने ही नहीं और भी कितने ही हो सकते हैं। जैसे किसी के यहां सन्तान न होना, अशिक्षित होना, अस्वस्थ होना इत्यादि। इन्हीं अनेक दुःख के कारणों को देखकर महात्मा गौतम बुद्ध ने कहा था कि संसार में दुःख है। जैनदर्शन तो अनादिकालीन है और वह तो इन कारणों सहित संसार को दुःख का मूल मानता ही है।

चूंकि जैनदर्शन की विचारधारा अनेकान्तमय है अतः कथंचित् संसारी-प्राणियों के दुःख के कारण उपर्युक्त माने जा सकते हैं, किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से दुःख के मूल कारणों पर विचार करते हैं तो अज्ञान, भूख, निर्बलता, निर्धनता अस्वस्थता आदि जो भी दुःख हैं उनका कारण शरीर और आत्मा का संयोग अथवा पुद्गल और चेतन का संयोग है। यदि चेतन (जीव) तत्त्व से पुद्गलात्मक भावकर्म (राग-द्वेष) द्रव्यकर्म (ज्ञानावरणादि) तथा नोकर्म (शरीरादि)सम्बद्ध न रहें और शुद्ध जीव द्रव्य इनसे पृथक् रहे तो वह अनन्तशक्ति, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख का पिण्ड है।

अरिहन्त (जिन) को वीतरागी कहा जाता है। वास्तव में राग-द्वेषरूप भावकर्म ही ऐसे हैं जिनके कारण द्रव्यकर्म और नोकर्मों की अविच्छिन्न परम्परा आत्मा के साथ जुड़ी रहती है।

कुछ महापुरुषों का कहना है कि अपने को इतना उदार बनाओ कि सब मनुष्यों को अपना कुटुम्बी मानकर उनसे प्रेम करो, कुछ मनीषियों की और व्यापकदृष्टि बनी, उन्होंने कहा कि केवल मनुष्यों से ही नहीं, बल्कि सभी प्राणियों से प्रेम करो, जैनदर्शन ने प्रेम के स्थान पर राग शब्द का प्रयोग किया जो कि आसक्तिमय प्रेम का बोधक है। यही राग सबसे अधिक दुःख का कारण है। इसी का दूसरा पहलू द्वेष है। जो व्यक्ति अपनी पत्नी, पुत्र, मित्र आदि से जितना तीव्र राग करेगा वह उनको सुखी करने के लिए दूसरों के सुख दुःख की परवाह नहीं करेगा। कई स्त्रियां अपने पुत्र के राग के कारण दूसरे की सन्तानों को टोटका आदि कर देती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि एक के प्रति राग दूसरे के प्रति द्वेष का कारण बन जाता है।

जिसके प्रति राग होता है उसके वियोग में हमे दुःख का अनुभव होता है तथा बिछुड़े हुए प्रेमी को दुःख-सुख की चिन्ता बनी रहती है। जिससे द्वेष होता है उसके सयोग में दुःख का अनुभव होता है। इसलिए राग-द्वेष ये दो ही दुःख के मूल कारण हैं। इन दोनों से परे रहने वाले व्यक्ति के लिए विद्वानों ने उदासीन या विरक्त शब्द का प्रयोग किया है। यदि हम तटस्थ शब्द का प्रयोग करें तो और भी अच्छी बात होगी। जैसे तट पर स्थित व्यक्ति बहती हुई नदी को देखता भर है, उसी प्रकार जो व्यक्ति राग-द्वेष से परे होता है वह मात्र ज्ञाता-दृष्टा है अतएव निश्चिन्त रहता है। राग-द्वेष से परे रहने वाला व्यक्ति ममता छोड़कर समता गुण को प्राप्त करता है उस व्यक्ति पर मिथ्यात्व (मोह) या तामस प्रवृत्ति का प्रभाव नहीं रहता है। इसलिए 'तामस' पद के उल्टे अक्षरों वाले 'समता' गुण को प्राप्त हो चुकता है।

जिस प्रकार दर्पण के सामने जो भी वस्तु उपस्थित रहती है, उसका प्रतिबिम्ब-दर्पण में आ जाता है, परन्तु उस वस्तु की छाया या प्रतिबिम्ब का संश्लेष दर्पण में नहीं होता है। उस वस्तु के दर्पण के सामने से हटते ही उस वस्तु का प्रतिबिम्ब भी हट जाता है। इसी प्रकार संसार के पदार्थ ज्ञान में प्रतिबिम्बित तो हों, परन्तु उनके प्रति रागात्मक संश्लेष न हो तो कोई दुःखात्मक अनुभूति नहीं होती है। दूसरी ओर कैमरा को देखें उसके सामने लाई वस्तु का प्रतिबिम्ब कैमरे को रील में संश्लिष्ट हो जाता है। कैमरे के सामने से वस्तु हटा दिये जाने पर भी, कैमरे की रील में वस्तु का प्रतिबिम्ब बना रहता है। इसी प्रकार जिन वस्तुओं का रागात्मक सम्बन्ध आत्मा से संश्लिष्ट हो जाता है उन वस्तुओं के सामने न रहने पर भी उनके प्रति होने वाली आसक्ति दुःख का कारण बन जाती है।

किसी के प्रति द्वेष वृत्ति न हो यह बात सहज बन सकती है, किन्तु राग का त्याग करना कठिन है, इसलिए राग जीतने वाले महापुरुषों को "जयतीति जिनः" जिन अथवा वीतरागी कहा जाता है। उन्हें वीतद्वेष नहीं कहा जाता है। व्यक्ति की भूख वगैरह तो शान्त हो जाती है, परन्तु रागात्मक सम्बन्धों के कारण बढ़ते हुए परिग्रह की भूख शान्त नहीं होती है। वह पेट भरने के बाद पेटी भरना चाहती है जो सदैव रिक्त दिखाई देती है। राग के कारण मरे हुए सम्बन्धियों की स्मृतियां खड़ी करता है और भविष्य में उत्पन्न होने वाले नाती-पोतों के लिए मकान आदि बनाकर संग्रह करता है।

इसके अतिरिक्त इस रागात्मक सम्बन्ध के कारण ही संस्कार का विस्तार होता है। पत्नी के बाद पुत्र और पुत्रियां, बहू-बेटे इत्यादि तथा उनके लिए धन-दौलत आदि; इनके कारण अपने-पराये की भावनाएं उत्पन्न होती हैं। अपने पराए की भावना का ही दूसरा नाम राग-द्वेष है। जैनदर्शन की दृष्टि के अनुसार संसार में दुःख का मूल कारण यही राग-द्वेष है। राग-द्वेष से परे समता की दृष्टि है। यही समता आत्मा के सुख का कारण है। सभी आचार्य, उपाध्याय, साधु इसी समता-मार्ग के पथिक हैं।

अरि मित्र महल मसान कंचन, कांच निन्दन थुति करन।
अर्घावतारण असि प्रहारन में, सदा समता धरण॥

वे आचार्य अथवा मुनि और मित्र, महल और श्मशान, सोना और कांच, निन्दा और प्रशंसा, अर्घ उतारकर पूजा करने वाले और तलवार का प्रहार करने वाले पर समता दृष्टि या साम्यभाव रखते हैं।

इसी प्रकार के स्वरूप वाले प० पू० आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के पाद-पंकज में शत-सहस्र बार नमन है, वन्दन है।

पुत्र का पुत्रत्व इसी में है कि वह अपने माता-पिता को सङ्कट में न डाले तथा कुल धर्म की मर्यादा का उल्लंघन कर कलंकित न करे।

मानव जीवन की सार्थकता

❖ बाल ब्र० कुमारी कलावती जैन

[संघस्थ]

अनादि कालीन संसार में परिभ्रमण करते-करते इस जीव को मनुष्य भव की प्राप्ति महान्-पुण्योदय से होती है, किन्तु मनुष्यभव को प्राप्त कर लेने के पश्चात् जीव अपने पूर्वकृत् पुण्य के फल स्वरूप किंचित् सुख को देखकर उसमें रंजायमान होकर अपने इस अमूल्य मानव जीवन का संपूर्ण समय उसी में व्यतीत कर देता है, आगे होने वाले हिताहित का विचार नहीं करता है।

वास्तव में तो ऐसी दुर्लभ पर्याय को प्राप्त करके श्रद्धा पूर्वक वीतरागदेव, जिनागम एवं निर्ग्रन्थ गुरुओं की भक्ति आदि करना ही इस मनुष्य जन्म की सफलता प्राप्त करना है। जो ऐसा न करके सांसारिक विषय वासनाओं में लिप्त होकर अहर्निश (रातदिन जीवन) व्यतीत करते हैं, वे मानों बड़े परिश्रम से प्राप्त चिन्तामणि रत्न को पाकर समुद्र में फेंकते हैं। इसलिये धर्मसाधन कर मनुष्य जन्म सफल करना ही योग्य है।

नर पर्याय का दुरुपयोग :

> स्वर्णस्थाले क्षिपति स रजः पादशौचं विधत्ते।
> पीयूषेण प्रवरकरिणं वाहयत्येन्धभारम् ॥
> चिन्तारत्नं विकिरति कराद्वायसोड्डाय नार्थम्।
> यो दुष्प्राप्यं गमयति मुधा मर्त्यजन्म प्रमत्तः ॥

जो प्रमादी पुरुष दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर व्यर्थ ही विषय-कषाय सेवन, विकथा श्रवण, जुआ खेलना आदि में गमाता है वह मानों सोने के थाल में धूल भरता है अर्थात् सुवर्ण थाल में दूध, दही, घी, मिश्री आदि सुन्दर स्वादिष्ट भोजन करना चाहिये था, किन्तु मूर्ख प्राणी उस स्वर्ण थाल में धूल भरने का कार्य करता है। अथवा अमृत को पाकर उसे पैर धोने के काम में लाता है अथवा महान् श्रेष्ठ हाथी को पाकर उससे ईंधन ढोने का कार्य करता है या मूर्ख प्राणी कौवे को उड़ाने के लिये चिन्तामणि रत्न फेंकता है।

विषयासक्ति से हानि :

भवारण्यं मुक्त्वा यदि जिगमिषुर्मुक्तिनगरीं,
तदानीं मा कार्षी-विषयविषवृक्षेषु वसतिं ।
यतश्छायाप्येषां प्रथयति महामोहमचिरा-,
दयं जन्तुर्यस्मात्पदमपि न गन्तुं प्रभवति ॥

यदि संसार रूप भयंकर वन को छोड़कर मुक्ति रूपी नगरी के प्रति गमन करने की इच्छा है तो इन्द्रियों के विषय रूपी वृक्षों पर निवास मत कर, क्योंकि इन विषय रूपी वृक्षों की छाया भी शीघ्र ही महामोह को उत्पन्न कर देती है। जिस महामोह में फंसकर प्राणी एक पैर भी आगे नहीं चल सकता। इन्द्रियों के विषय विष वृक्ष के समान हैं। इनको सेवन करने वाला या इन विषयों में अंधा हुआ प्राणी कदापि मोक्ष पद प्राप्त नहीं कर सकता है। इसलिये मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक को कदापि इन विषय वासनाओं का सेवन (संसर्ग) नहीं करना चाहिये, किन्तु इन विषयों को किम्पाक फल के समान जानकर त्याग करने का ही लक्ष्य रखना चाहिये।

उस लक्ष्य की सिद्धि में अनेकों संकटों का सामना भी करना पड़े तो भी उसकी परवाह न करके सतत प्रयत्न शील रहना चाहिये तथा आत्मनिर्भर होकर एवं सहिष्णु बनकर उन संकटो-आपत्तियो को समता के साथ सहन करना चाहिये। जब तक इस मार्ग का अनुसरण नही किया जायेगा तब तक कदापि कोई भी मनुष्य अपने लक्ष्य की सिद्धि तक नही पहुच सकेगा। अतः इसी मे प्रत्येक प्राणी का कल्याण निहित है। साथ ही कषायों का शमन होना भी अत्यावश्यक है, क्योंकि कषायों का शमन हुये बिना प्राणी का समस्त कार्य "बालुपीलनवत्" व्यर्थ ही रहता है। अनादि काल से इस जीव ने विषय-कषायों मे लिप्त होकर अनंतों भव बिता दिये, किन्तु लाभ कुछ भी नहीं हुआ। अब पुनः मनुष्य भव, उत्तम कुल, उत्तम जाति आदि को प्राप्त किया है, यह महान् ही पुण्योदय समझना चाहिये, क्योंकि यही सुअवसर है जिसे प्राप्त कर मानव अपने हिताहित का विचार कर और आत्मोन्नति के मार्ग पर चलकर अपना कल्याण कर सकता है। अतः मानव जीवन का सार यही है कि विषय कषायों को विष तुल्य जानकर उनका त्याग करना चाहिये तथा शील संयमादि का पालन करते हुये अपने इस दुर्लभ मानव जीवन को सफल करना चाहिये।

ऐसे ही मनुष्य जन्म के सार्थक करने वाले हमारे आचार्य श्री हैं जो कि स्वयं कल्याण पथ का आलम्बन लेकर, दूसरे भव्य जीवों को भी निस्पृह वृत्ति से धर्मोपदेशादि के द्वारा कल्याण का मार्ग दर्शन करा रहे हैं उन आचार्य श्री के चरण कमलों में हमारा शत-शत नमन।

पंच परमेष्ठी

स्वरूप विवेचन

❖ श्री रतनलालजी जैन

[शांतिनिकेतन, ईसरी बाजार]

णमो अरिहंताणं णमोसिद्धाणं णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

जैनदर्शन का प्राणभूत यह अनादि मूल महामंत्र है । इस महामन्त्र का उच्चारण, जाप्य, स्मरण प्रत्येक जैन परिवार में अत्यन्त श्रद्धापूर्वक किया जाता है और अखण्डपाठ की परम्परा भी प्राय: चल पड़ी है । पौराणिक कथानकों में इसके माहात्म्य का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है । इसके सम्बन्ध में कहा गया है—

अपराजितमंत्रोऽयं सर्व विघ्नविनाशन: ।
मंगलेषु च सर्वेषु प्रथमं मंगलं मत: ॥

इस महामन्त्र में पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है । जो परमपद में स्वयं स्थित हैं तथा हमारे लिये भी परमपद की प्राप्ति में निमित्तरूप हैं उन्हें परमेष्ठी कहते हैं अथवा परमइष्ट अर्थात् कल्याणकारी जो वीतरागदशा उसको देनेवाले अलौकिक इष्ट हैं वे परमेष्ठी कहे जाते हैं । ऐसे परमेष्ठियों का नाम स्मरण या उच्चारण भी पापों का शमन करनेवाला है । यदि उस स्मरण के साथ-साथ उन मंत्र-पदों से वाच्य इन महान आत्माओं के गुणों का भी हमें परिचय रहे तथा उच्चारण के साथ उनके स्वरूप का अन्तर्बोध होता रहे तो अवश्य ही हमें अलौकिक

परिणाम विशुद्धि और शांति प्राप्त होगी। अतः यहां उन पांचों परमेष्ठियों के स्वरूप का परिचय संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करने का उपक्रम ही प्रस्तुत निबन्ध का विषय है। मंगल-भावना है यह प्रयास स्व-पर आत्म-साधना में सहायक बने।

उक्त मंगल मंत्र णमोकार में जिन पंच परमेष्ठियों का पवित्र स्मरण किया गया है उनके मूलगुणों को आचार्यों ने इस क्रम से प्रतिपादित किया है—

अरहंत के ४६, सिद्धों के ८, आचार्य के ३६, उपाध्याय के २५, और साधु के २८ मूलगुण होते हैं।

अरहन्त परमेष्ठी :

जैनदर्शन की मान्यता है कि इस अनादि-अनन्त संसार में अनन्तानन्त जीव अनादि से परिभ्रमण कर रहे हैं उन्हीं में से कोई निकट भव्य जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा मोक्षमार्ग पर अपने आपको लगाता है तथा आत्म-साधना के चरमोत्कर्षकाल मे संसार के मूल कारणभूत मोह को नष्ट करके परमात्मा बनता है। अनादि काल से स्वतः सिद्ध कोई परमात्मा हो और वह बार-बार अवतरित होता हो ऐसा जैनदर्शन नहीं मानता। जो एक बार आत्मा के साथ लगे अष्ट कर्मों को नष्ट करके परमात्मा या भगवान बन जाता है वह सदा-सदा काल तक परमात्म-पद में अवस्थित रहता है। उस आत्म स्थिति मे द्रव्य-भाव और नो कर्मों का आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नही रहता। ऐसी सिद्धावस्था अरहन्तावस्था पूर्वक ही प्राप्त होती है।

आत्मा की तीन अवस्थायें आगम में कही गई है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा, और परमात्मा। अनादि-कालीन दर्शनमोह के निमित्त से पर पदार्थों मे अहंकार और ममकार बुद्धि करता हुआ देहादिक में ही आत्मबुद्धि करता है। तात्पर्य यह है कि जो जीव अयथार्थ श्रद्धान से युक्त है वह बहिरात्मा है। ऐसा बहिरात्मा—मिथ्यादृष्टि जीव ही गुरु-उपदेशादि बहिरंग निमित्त तथा करणलब्धिकाल में अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति-करणरूप परिणामों से अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया व लोभ एव दर्शनमोह प्रकृति के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व इन सप्त प्रकृतियों का उपशम करके आत्मा मे सम्यक्त्वरूप प्रकाश प्राप्त कर अन्तरात्मा बनता है। अन्तरात्मा की यह जघन्य अवस्था है। सम्यक्श्रद्धा के साथ ही ज्ञान मे भी सम्यक्पना आता है और सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान से युक्त यह जघन्य अन्तरात्मा जीव ही साधु पद को धारण कर तप की प्रखर अग्नि मे अपने कर्मों को (ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय और अन्तराय को) नाश करके-क्षय करके अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्यरूप, अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरङ्ग लक्ष्मी का स्वामी बनकर सकलपरमात्मारूप अर्हंत पद को प्राप्त करता है। चूंकि परमात्मपद के साथ अभी शरीर विद्यमान है इसीलिये अरहन्त को सकल परमात्मा कहा गया है।

अर्हंत परमेष्ठी तीर्थंकर केवली तथा सामान्य केवली के भेद से दो प्रकार के है। वैसे केवली के अन्य भेद भी आगम में कहे गये हैं, किन्तु यहां उन सभी को सामान्यकेवली में अन्तर्भूत करके ही कथन किया जा रहा है, क्योंकि उन सभी में और सामान्य केवली के गुणों मे विशेष अन्तर नही है। अन्तर तीर्थंकर केवली और अन्य केवलियों की बाह्य विभूति में ही पाया जाता है यही कारण है कि प्रस्तुत निबन्ध सामान्य केवली के अन्तर्गत अन्य केवलियों को अन्तर्भूत करके तीर्थंकर केवली और सामान्य केवलियों की बाह्य-विभूति में अन्तर बताना ही उद्देश्य रहा है। सभी प्रकार के केवलज्ञानियों के अनन्त चतुष्टय गुणों में कोई भेद नहीं है।

तीर्थंकर केवलज्ञानियों में सामान्य केवलियों की अपेक्षा कुछ बाह्य विभूति जन्य विशेषता अवश्य होती है। भरत व ऐरावत क्षेत्रो के आर्यखण्डों मे काल परिवर्तन होता है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का कुल काल बीस कोड़ा कोड़ी सागर है और इसकी कल्पकाल संज्ञा है। इन दोनों कालों में दुःखमा-सुखमा नाम का काल

आता है जिसमें तीर्थंकरों का जन्म होता है। तीर्थंकर २४ ही प्रत्येक समय मे होते हैं तथा भरत-ऐरावत क्षेत्रों में होने वाले ये २४ तीर्थंकर पंचकल्याणक वाले ही होते हैं।

गर्भ, जन्म, तप ज्ञान और निर्वाण इन पांचों ही कल्याणकों में सौधर्म इन्द्र की प्रमुखता में सभी इन्द्र एवं देवगण इस धरा पर आकर बड़े ही आनन्द के साथ गीत-नृत्य आदि के द्वारा अपूर्वभक्ति को प्रगट करते हुए पांचों ही कल्याणक सम्बन्धी महोत्सवों को करते हैं। गर्भकल्याणक में नगरी की सुन्दर रचना देवियों द्वारा माता की सेवा, माता को सोलह स्वप्नों का आना आदि प्रमुख हैं। जन्मकल्याणक में विशाल ऐरावत हाथी पर विराजमान कर भगवान को सुमेरु पर्वत पर ले जाना और वहां १००८ विशाल कलशों द्वारा अभिषेक किया जाना, इन्द्र द्वारा तांडव नृत्य करना एवं माता-पिता की सेवा आदि प्रमुख हैं। तपकल्याणक मे लौकान्तिक देवों का भी आना, अनुपम पालकी पर बैठाकर भगवान को भूमिगोचरी राजा, विद्याधर एवं देवेन्द्रों द्वारा तपोवन में ले जाना तथा भगवान द्वारा पंचमुष्टीलोंच करके 'नमः सिद्धेभ्यः' कहकर सिद्ध परमेष्ठी की साक्षी पूर्वक दीक्षा ग्रहण करना प्रमुख है। दीक्षा धारण के पश्चात् वे अन्तरात्मा महामुनि परमात्मा बनने के प्रयत्न मे सतत संलग्न होते हैं। प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप व्यवहार व निश्चय चारित्र मे आरूढ़ होकर धर्मध्यान की पूर्णता के अनन्तर शुक्लध्यान की ओर अग्रसर होता हुआ उस शुक्लध्यान के बल से मोहनीय (चारित्रमोह) की शेष प्रकृतियों का समूल नाश करके तथा ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अन्तराय का भी नाश करते हैं। इन चारों कर्मों को घातिया संज्ञा प्राप्त है, क्योंकि ये चारों ही कर्म आत्मा के देवस्वरूप गुणों का घात करते हैं।

तीर्थंकर भगवान की अर्हन्तावस्था की प्रगटता होते ही सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से कुबेर समवशरण की रचना करता है। यह समवशरण वैभवशाली धर्मोपदेश सभा का गौरवशाली प्रतीक है। बारह सभाओं की रचना होती है और उनमे मुनिगण, चारो ही प्रकार के देवगण, देवियां, श्रावक, आर्यिका-श्राविका एवं तिर्यंच यथायोग्य स्थानो (कोठों) में बैठते हैं तथा तीर्थकर प्रभु की दिव्यध्वनि का श्रवण करते हैं। इन १२ सभाओं में भव्य जीवों का हो प्रवेश हो पाता है। अर्हंत परमेष्ठी भगवान का साक्षात् दर्शन और उनकी दिव्यध्वनि से मोक्षमार्ग का श्रवण लाभ प्राप्त समवशरण सभा में ही होता है। मोक्षमार्ग दर्शक वे अर्हंत प्रभु हमारे साक्षात् उपकारी हैं अतः इस पंच नमस्कार मंत्र मे सर्वप्रथम उनका स्मरण किया गया है।

अर्हंत परमेष्ठी के ४६ मूलगुण बतलाये गये है जिनमें अनन्तचतुष्टयरूप चार गुणों की चर्चा तो ऊपर की ही है ये आत्मा के अन्तरङ्ग गुण है। बाह्य मे विशेष ४२ गुण और हैं—

जन्म सम्बन्धी १० अतिशय— १. अत्यन्त सुन्दर शरीर २. सुगन्ध युक्त शरीर ३. पसीना रहित शरीर ४ मलमूत्र का अभाव ५. शरीर में १००८ शुभ लक्षणों का होना ६. समचतुरस्र संस्थान ७. वज्रवृषभनाराच संहनन ८ श्वेतवर्णीय रुधिर का होना ९ अतुल बल १०. हित-मित मधुर वाणी।

केवलज्ञान सम्बन्धी १० अतिशय—१ चारों दिशाओं में १०० योजन तक सुभिक्षता २ आकाशगमन ३ हिंसा का अभाव ४ कवलाहार (भोजन) का अभाव ५ उपसर्ग का अभाव ६ चारों दिशाओं में मुख का दिखना ७ छाया रहितता ८ निर्निमेष दृष्टि ९ सर्वविद्याओं मे ईश्वरता १० नख व केशों का नही बढ़ना।

देवकृत १४ अतिशय—१ सर्वऋतुओं के फल-फूल असमय में एकसाथ फलना-फूलना २ मंद व सुगंधित वायु का चलना ३ दर्पण के समान स्वच्छ पृथ्वी का होना ४ एक योजन प्रमाण पृथ्वी का निष्कण्टक होना ५ गन्धोदक की वृष्टि होना ६ अर्धमागधी भाषा ७ सर्वजीवों में मैत्रीभाव ८ विहार के समय पदतलमें स्वर्ण कमलों की रचना ९ आकाश का निर्मल होना १० दशों दिशाओं का निर्मल होना ११ देवों द्वारा जय-जय घोष शब्द होना १२ विहार में धर्मचक्र का आगे-आगे चलना १३ अष्टमंगल द्रव्यों का होना १४ पृथ्वीतल पर सर्वप्रकार हर्ष का होना।

उपरोक्त ३४ अतिशयों के अतिरिक्त ८ प्रातिहार्यरूप विभूति तीर्थंकर प्रभु की और होती है—

१ अशोक वृक्ष २ सिंहासन ३ चतुषष्ठी चमर ४ तीन छत्र ५ भामण्डल ६ दुन्दुभिवाद्य ७ पुष्पवृष्टि ८ दिव्य-ध्वनि।

इस प्रकार ४ चतुष्टय, ३४ अतिशय और अष्टप्रातिहार्यरूप से ४६ गुणों से विराजित अर्हंत् परमेष्ठी सदा जयवन्त रहें तथा सभी के लिये कल्याणकारी हों।

सिद्धपरमेष्ठी :

अर्हन्त पद को प्राप्त सभी जीव आयु के अन्त में शेष बचे चारों अघातियाकर्मों का नाश करके स्वतः ऊर्ध्वगमन स्वभाव के बल से तथा धर्मास्तिकाय के निमित्त से लोक के सर्वोच्च भाग तनुवातवलय में अविनाशी अविकार सिद्धस्वरूप में अनन्तकाल तक स्थित रहते हैं। ये एक समय में ही वहा पहुंच जाते हैं। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के विनाश से आठ गुणों की प्रकटता होती है, वह इस प्रकार है—

१ ज्ञानावरण कर्म के अभाव में—अनन्तज्ञान	२ दर्शनावरण कर्म के अभाव में—अनन्तदर्शन
३ मोहनीय कर्म के अभाव में—सम्यक्त्व	४ अन्तराय कर्म के अभाव में—अनन्तवीर्य
५ वेदनीय कर्म के अभाव में—अव्याबाधसुख	६ गोत्र कर्म के अभाव में—अगुरुलघुत्व
७ नाम कर्म के अभाव में—सूक्ष्मत्व	८ आयुकर्म के अभाव में—अवगाहनत्व

उक्त आठ सिद्धपरमेष्ठी भगवान के विशेष गुण होते हैं। आत्मा तो अनन्तगुणों से युक्त ज्योति पिण्ड है, किन्तु उन गुणों की व्यक्तता कर्मों के सद्भाव में पूर्ण नहीं हो पाती। इन सभी गुणों में ज्ञान गुण मुख्य है। ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग ही आत्मा का या जीवद्रव्य का लक्षण बताया गया है। वह ज्ञान जब तक क्षायोपशमिक दशा में रहता है, तब तक जीव छद्मस्थ कहलाता है। ज्ञानावरणकर्म के अभाव में ज्ञान पूर्णरूप से व्यक्त होकर केवलज्ञान कहलाता है। उस ज्ञान में तीन लोकों के त्रिकालवर्ती सभी पदार्थ और उनकी त्रैकालिक पर्याये युगपत् प्रतिबिम्बित होते हैं। यह ज्ञान पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान है। यद्यपि चार घातिया कर्मों के नाश से अर्हन्त अवस्था में ही केवलज्ञान प्रकट हो जाता है तथापि योग विद्यमान रहने से आत्मप्रदेशों में परिपन्दन होता रहता है। पूर्ण अचलता-स्थिरता तो अयोग केवली व सिद्धावस्था में ही प्राप्त होती है। अनन्तज्ञेयों को युगपत् जानते और देखते हुए वे सिद्धपरमेष्ठी मात्र ज्ञाता-दृष्टा बने रहते हैं। अनन्तकाल तक उसी शुद्धावस्था में निराकुल अतीन्द्रियसुख में निमग्न रहते हैं।

रूपातीत-ध्यान में कर्म-नोकर्म और भावकर्मों से रहित उस परम चैतन्य चमत्कार ज्योतिरूप सिद्ध परमेष्ठी की अमूर्तिक आत्मा का ध्यान किया जाता है। तीर्थंकर भी केवलज्ञानप्राप्ति से पूर्व सिद्धों का ध्यान करके अपने मनोयोग को निश्चल बनाने की साधना करते हैं। सिद्धों का स्वरूप सिद्धपूजा के अनुसार इस प्रकार है—

निरस्त कर्मसम्बन्धं सूक्ष्मं नित्यं निरामयं।
वन्देऽहं परमात्मानममूर्तमनुपद्रवं ॥

सिद्ध परमेष्ठियों की आत्मा की अवगाहना अन्तिम शरीर से किंचित् ऊन रहती है। संसारअवस्था में आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में संकोच-विस्तार होता रहता था उसका अभाव हो जाने से योगानिरोध काल

में वे असंख्यात प्रदेश जिस आकृति को लिये हुए रहते हैं वे प्रदेश उसी आकृति में सिद्धालय में जाकर स्थिर हो जाते हैं। सभी द्रव्यों में प्रदेशत्व नाम का साधारण गुण है जिससे द्रव्य किसी न किसी आकार को लिये हुए रहते हैं। योग निरोध काल में खड्गासन या पद्मासन ही होता है अतः वहां भी आत्म प्रदेशों का संस्थान उसी रूप है। ऐसे ये सिद्ध परमेष्ठी भगवान सभी को सिद्धि प्रदान करें।

आचार्य परमेष्ठी :

आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीनों ही साधु-अवस्था के ही भेद हैं। साधु परमेष्ठी के सन्दर्भ में आगे बताये जाने वाले २८ मूलगुणों का ये तीनों ही पालन करते हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य परमेष्ठी में ३६ गुण विशेष होते हैं।

१० धर्म, १२ तप, ५ पंचाचार, ३ गुप्ति, ६ आवश्यक इस प्रकार ये ३६ गुण आचार्य परमेष्ठी के कहे गये हैं।

दशधर्म—उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य। उत्तम शब्द सभी धर्मों के साथ जोड़ लेना चाहिए। ये उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौचरूप भाव आत्मा के निजी-स्वाभाविक भाव हैं। कर्मोदय से होने वाली क्रोध, मान, माया और लोभरूप विभावभावरूप परिणति को विवेक ज्ञान के बल से आत्मा रोक देता है तब ये गुण स्वतः व्यक्त हो जाते हैं। सत्य, संयम, तप, त्याग ये उन आत्मीक गुणों की व्यक्ति के लिए उपायरूप धर्म कहे गये हैं। इन सबका फल आत्मा में सभी पर द्रव्यों से और परभावों से भिन्न जागृति रूप आकिंचन्य एवं आत्मरमणरूप ब्रह्मचर्य की प्राप्ति है। आचार्य परमेष्ठी पूर्ण सावधानीपूर्वक इन दसों धर्मों का पालन करते हैं।

बारह तपों में बहिरंग तप ६, अन्तरङ्ग तप ६ हैं। अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन, और कायक्लेश ये छह बहिरंग तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्ति, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अन्तरङ्ग तप हैं।

पंचाचार—दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचाररूप हैं। इन पांचों आचारों का आचार्य परमेष्ठी के आधीन है। आचार्य की आज्ञा का परिपालन संघस्थ सभी मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि करते हैं। आचार्य स्वयं महाव्रतों का निर्दोषरीति से पालन करते हैं तथा संघस्थ सभी साधुओं को निर्दोष महाव्रत पालन करवाने की पूरी सावधानी रखते हैं। संघस्थ साधुओं की रुग्णावस्था होने पर यथोचित वैयावृत्य की व्यवस्था का आदेश भी आचार्य देते हैं तथा असाध्य अवस्था या सल्लेखना के अन्य कारण उपस्थित होने पर पूर्ण तत्परता से समाधिमरण की व्यवस्था का संचालन स्वयं करते हैं। इस प्रकार शिक्षा-दीक्षा समाधि आदि सभी कार्यों में आचार्य परमेष्ठी की प्रमुखता होती है।

उपाध्याय परमेष्ठी :

उपाध्याय परमेष्ठी के विशेषगुण द्वादशांग के पूर्ण ज्ञाता होना है। ११ अंग और १४ पूर्व इस प्रकार २५ गुण उपाध्याय परमेष्ठी के कहे गये हैं। इनका कार्य स्वयं स्वाध्याय के बल पर अपने ज्ञान में वृद्धि करना तथा संघस्थ शिष्यों को चारों अनुयोगों के शास्त्रों का पढ़ाना है। ये निरन्तर पठन-पाठन करते-कराते रहते हैं। साथ ही साधुओं के लिए बताये हुए २८ मूलगुणों का तो पूर्ण प्रतिपालन करते ही हैं।

वर्तमान में इस पंचमकाल में ११ अंग १४ पूर्व के पाठी तो नहीं होते हैं, अतः उन विशिष्ट ज्ञानी साधुओं को जो पठन-पाठन की परिपाटी को चलाते हैं, उपाध्याय कहा जाता है। आत्मज्योति को दिखाने वाला

ज्ञान नेत्र ही है अतः जिनके प्रसाद से मोक्षमार्ग की साधना में रत साधुगण आगम ज्ञान को प्राप्त करते हैं वे उपाध्याय परमेष्ठी परम वन्दनीय हैं।

जिनागम के ग्यारह अंग और १४ पूर्व इस प्रकार हैं—

१ आचारांग २ सूत्रकृतांग ३ स्थानांग ४ समवायांग ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति ६ ज्ञातृकथांग ७ उपासकाध्ययनांग ८ अन्तःकृतदशांग ९ अनुत्तरदशांग १० प्रश्नव्याकरणाग ११ सूत्रविपाकांग और १२ दृष्टिवादांग। १२ वें दृष्टिवादांग के १४ पूर्व रूप भेद पाये जाते हैं—१ उत्पाद पूर्व २ आग्रायणीय पूर्व ३ वीर्यानुप्रवाद पूर्व ४ अस्ति-नास्ति प्रवाद पूर्व ५ ज्ञानप्रवाद पूर्व ६ सत्यप्रवाद पूर्व ७ आत्मप्रवाद पूर्व ८ कर्मप्रवाद पूर्व ९ प्रत्याख्यान पूर्व १० विद्यानुवाद पूर्व ११ कल्याणानुवाद पूर्व १२ प्राणवाद पूर्व १३ क्रिया विशाल पूर्व और त्रैलोक्य बिन्दुसार पूर्व।

इस प्रकार उपाध्याय परमेष्ठी में ११ अंग १४ पूर्व रूप से २५ गुणों की विशेषता होती है ये उपाध्याय परमेष्ठी हम सभी के सम्यक् ज्ञान विकास में सूर्य रूप हों।

साधु परमेष्ठी :

आचार्य उपाध्याय और साधु ये तीनों ही २८ मूलगुणों के धारी होते हैं, तीनों ही पद साधुपद के ही भेद हैं ऐसा कहा जा सकता है। उस साधु पद में स्थित होकर जिन्होंने २५ विशेष गुण प्राप्त किये है वे उपाध्याय कहलाते हैं, और जिन्होंने ३६ विशेष गुण प्राप्त किये हैं वे आचार्य कहलाते हैं।

साधुओं के २८ मूलगुण इस प्रकार हैं। ५ महाव्रत ५ समिति ५ इन्द्रिय विजय ६ आवश्यक तथा ७ शेषगुण।

पांच महाव्रत—अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत एवं परिग्रह त्याग महाव्रत।

अहिंसा महाव्रत—पांच प्रकार के स्थावर जीव तथा त्रसकाय जीवों की हिंसा का सर्वथा परित्याग करना। कृतकारित अनुमोदना से तथा मन वचन काय से सभी प्रकार को द्रव्य हिंसा एवं भाव हिंसा साधुओं के लेशमात्र भी नहीं होती। संकल्पी उद्योगी आरंभी एवं विरोधी इस प्रकार चारों भेदों वाली हिंसा से साधु मुक्त रहते हैं। "सत्वेषु मैत्री" की भावना उनके हृदय में निरन्तर विद्यमान रहती है। सभी जीवों के कल्याण की महान भावना का स्रोत निरन्तर बहता है। वे बड़ी सूक्ष्मता से निष्प्रमाद होकर अहिंसा महाव्रत का पालन करते हैं।

सत्य महाव्रत—हित मित प्रिय वचन बोलने वाले साधु परमेष्ठी कभी असत्य भाषण नहीं करते हैं। जिनागम के विरुद्ध कभी एक भी शब्द नही बोलते। वे वचन सत्य तथा प्रमाणीक ही निकले इस बात की पूरी सावधानी रखते हैं।

अचौर्य महाव्रत—महाव्रती साधु बिना दी हुई कभी कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करते। उनको परवस्तु के ग्रहण का मन में भाव भी जागृत नहीं होता।

ब्रह्मचर्य महाव्रत—यह व्रत सब व्रतों का शिरोमणि है। अन्य सब व्रतों का पालन करता हुआ भी अगर कोई इस व्रत में दूषण लगाता है तो इसका जप तप ज्ञान ध्यान सब व्यर्थ ही जाता है। शरीर और वचन

के साथ ही मन में उठने वाले अब्रह्म भावों का जब पूर्ण निग्रह कर लेते हैं तब इस व्रत का पालन होता है। इस व्रत के १८००० उत्तर भेद हैं जो कि अर्हंत अवस्था में पूर्ण होते हैं।

अपरिग्रह महाव्रत—बहिरंग १० प्रकार तथा अंतरंग १४ प्रकार के परिग्रह के पूर्ण त्यागी इस महाव्रत के धारी होते हैं। मिथ्यात्व या क्रोधादि कषायों को भी परिग्रह मानना जैनधर्म की विशेषता है। इनका भी त्याग साधु को आवश्यक है।

पांच समिति—ईर्या, भाषा, एषणा आदान निक्षेपण और व्युतसर्ग है। समिति का अभिप्राय अपनी सभी चर्या विवेक पूर्वक करना है। चलना, बोलना, भोजन, पान, रखना, उठाना तथा शरीर के मलों का विसर्जन करना इनमें किसी भी जीव की विराधना न हो ऐसा ध्यान रखना इसी का नाम समिति है। सभी व्रतों एवं समितियों के साथ सम्यक्दर्शन होने पर ही उत्तमता है।

पंचइन्द्रिय विजय—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इनके मनोज्ञ अमनोज्ञ विषयों में रागद्वेष का भाव नहीं होना परम उदासीनता के साथ मध्यस्थ भाव धारण करना ही इन्द्रिय जय है।

छह आवश्यक—प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समता, वन्दना, स्तुति और कायोत्सर्ग रूप है, साधु लगे हुए दोषों के निराकरण के लिये प्रतिक्रमण करते हैं। समता भाव धारण करते हैं, पंच परमेष्ठियों की वन्दना स्तुति करते हैं और शरीरादिक से ममत्व छोड़ते हैं।

शेष ७ गुणों में—नग्न रहना, स्नान नहीं करना, दन्त धावन नहीं करना, भूमि में सोना, केशलोंच करना, एक दिन में एक बार ही आहार करना और खड़े होकर पाणिपात्र में आहार करना। ये सभी गुण शरीरादिक से राग भाव को हटाने के लिये और विकारों पर जय प्राप्त करने के लिये हैं।

इस तरह पंचपरमेष्ठी का स्वरूप विस्तार से समझ कर णमोकार मंत्र के उच्चारण या स्मरण के साथ पंच परमेष्ठी के गुणों में अनुराग तथा भक्तिपूर्वक उनके साक्षात्कार का भाव मन में जाग्रत करना चाहिये। हम चिन्तन करें कि—

हम समवशरण में विराजमान अनन्तचतुष्टयरूप आत्मबलि परम औदारिक देह वाले तेजपुंज युक्त साक्षात् अरहंत परमेष्ठी के समक्ष खड़े हैं। सिद्धालय में अमूर्तिक प्रदेशों से पुरुषाकार पद्मासन या खड्गासन स्थित ज्ञानमात्र शरीरवाले सिद्ध परमेष्ठी हमारे मस्तक के ऊपर विराजमान हैं। किसी एकान्त वन प्रदेश में उच्च शिलापर आचार्य परमेष्ठी बैठे हैं। उनसे नीचे आसन पर उपाध्याय परमेष्ठी शास्त्रवाचन कर रहे हैं तथा साधु निश्चल एकाग्रचित्त से अध्ययन कर रहे हैं। इस तरह पांचों परमेष्ठियों का साक्षात् चिन्तन हमारे मन को पवित्र करेगा तथा कल्याण के मार्ग में अग्रसर करेगा। ये ही मंगल, ये ही उत्तम तथा ये ही शरण हैं।

जैन धर्म की तीर्थंकर परंपरा

❖ श्री प्रतापचन्द्र जैन

[आगरा]

ईश्वर का स्वरूप जैन दर्शन में :

अनेक दार्शनिक और साधारण जन भी एक ऐसी सर्वशक्तिमान ईश्वर नाम की सत्ता को मानते है, जिसने उनकी मान्यता के अनुसार इस सृष्टि की रचना की है और जो उसके प्रबन्ध-संचालन की सारी व्यवस्था करता है। बिना उसकी इच्छा-आज्ञा के पत्ता तक नहीं हिलता। जैनदर्शन ऐसे किसी भी अनादि सिद्ध ईश्वर-परमात्मा की सत्ता को नहीं मानता—स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार प्रत्येक जीवात्मा अपनी स्वतन्त्र सत्ता को लिये हुए अपने ही पुरुषार्थ से रत्नत्रय [सम्यक्‌दर्शन–ज्ञान–चारित्र] धारण कर तप-साधना द्वारा नवीन कर्मों के उदय में आने का संवरण तथा पूर्व में बंधे सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा कर सर्वोच्च शुद्धावस्था (ईश्वरत्व) को प्राप्त कर सकता है। "सम्पूर्ण कर्मों का क्षय नाश होना ही जिनशासन में मोक्ष कहा गया है।" सभी जीव तो नहीं, किन्तु उनमें से जो अतिशय पुण्यशाली आत्माएं कषायरहित शुद्धभाव से विशिष्ट कर्म करती रहती हैं और मुक्त होने से पहले समस्त प्राणी जगत को मुक्त होने का मार्ग दिखाती हैं जैन परम्परा उन्हें ही ईश्वर-परमात्मा मानती है और वे "धर्मतीर्थ" के प्रवर्तक होने से "तीर्थंकर" कहलाते हैं।

तीर्थ और तीर्थंकर :

जो तिरादे-पार करा दे अथवा तिरने-पार होने में सहायक-साधक हो उसे "तीर्थ" कहते हैं। जिस धर्म मार्ग से जन्म-मरण और दुःखरूप संसार सागर से पार होकर मुक्ति प्राप्त की जा सके उसे "धर्मतीर्थ" कहते हैं। ["रयणत्तय संजुत्तो जीवो वि हवेई उत्तमं तित्थं" अर्थात् रत्नत्रय से सम्पन्न जीव ही उत्तम धर्मतीर्थ हैं।] उसके प्रवर्तक को "तीर्थंकर" कहते हैं। इन तीर्थंकरों के पावन निर्वाणस्थलों को जैन-परम्परा में "तीर्थ" कहते हैं। इन जिनवरों के मार्ग पर चलकर आत्मकल्याणार्थ एकनिष्ठ साधना करने वाले मुनि, आर्यिका आदि सच्चे गुरुओं को "जंगमतीर्थ" कहते हैं। ये तीर्थंकर अनादिकाल से अनन्त हो चुके हैं और आगे भी अनन्त होते रहेंगे। ये मनुष्यगति से ही होते हैं अन्य किसी से नहीं और वह भी क्षत्रिय कुल में भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रों में पायी जानेवाली कर्मभूमियों में ही होते हैं।

तीर्थंकर की विशिष्टता :

तीर्थंकर प्रकृति सम्पन्न जीव जन्म से ही मति, श्रुत और अवधिज्ञान के धारी होते हैं। उनके गर्भ में आने से पूर्व उनकी माताओं को सोलह शुभ स्वप्न दिखाई देते हैं जो उनके गर्भ में आने के शुभ सूचक होते हैं। गर्भ में आते ही स्वर्ग की देवियां उन माताओं की सार-सम्हार और सेवा-सुश्रुषा करने लग जाती हैं। जन्मते ही ऐरावत हाथी पर आरूढ इन्द्र इन्हें सुमेरु पर्वत पर ले जाते हैं और वहां क्षीरसागर के निर्मल जल से भरे एक हजार आठ कलशों से अभिषेक करते हैं जो उनकी अनन्तशक्ति का परिचायक है। उनके जीवन से सम्बन्धित गर्भ, जन्म, दीक्षा (तप), ज्ञान और निर्वाणकल्याणक होते हैं। ये पांचों ही कल्याणक कल्याणकारी होने से कल्याणक कहे जाते हैं। चार घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय) कर्मों के क्षय से केवलज्ञान होने पर सर्वज्ञता को प्राप्त तीर्थंकर-अरहन्तावस्था में समवशरण नाम से अभिहित धर्मसभाओं में तीर्थंकर प्रभु की चतुर्मुख दिव्य-ध्वनि खिरती है, जो जगत के प्राणियों को जन्म-जरा के दुष्चक्र और दुःख रूप संसार सागर से छुटकारा पाने का मार्ग दिखाते हैं। तीर्थंकर प्रभु की उन धर्मसभाओं में देव, मनुष्य और पशु-पक्षी सभी होते हैं। आयु सहित शेष बचे चार अघातिया कर्मों के क्षय होने पर वे निर्वाण-मोक्ष प्राप्त कर अनन्त-दर्शन, अनन्तज्ञान, अव्याबाधसुख, अनन्तवीर्य, सम्यक्त्व, अगुरुलघु, अवगाहनत्व और सूक्ष्मत्व इन गुणों के धारक सिद्ध परमात्मा हो जाते है।

काल चक्र और तीर्थंकर जन्म :

जैन मान्यता के अनुसार दृश्यमान जगत के जम्बूद्वीप स्थित दक्षिण और उत्तर में क्रमशः भरत व ऐरावत क्षेत्रों में काल का चक्र अनादि से घूमता आ रहा है और अनन्त तक घूमता रहेगा। इस काल चक्र के दो भाग हैं (१) अवसर्पिणी (२) उत्सर्पिणी। इनमें प्रत्येक के छह-छह विभाग हैं। अवसर्पिणीकाल में ये क्रम से (१) अतिसुख रूप, (२) सुख रूप, (३) सुख-दुःख रूप, (४) दुःख-सुख रूप, (५) दुःख रूप और (६) अतिदुःख रूप हैं।

छठे काल की समाप्ति में जब ४९ दिन शेष रह जाते हैं तब तक भौतिक विध्वंसकी छेड़छाड़ के कारण इन क्षेत्रों के प्राकृतिक असंतुलन और दोष इस सीमा तक बढ़ जाते हैं कि प्रलयंकारी भीषण संवर्तक वायु चलने लगती है जो सात दिन तक वहां की समस्त दिशाओं में विनाश लीला करती है जिससे वहां के समस्त पर्वत, वृक्ष और पृथ्वी तक विध्वंस हो चूर-चूर हो जाते हैं और तदुपरान्त ४९ दिन तक सात-सात दिन अत्यन्त शीतल जल, क्षार, विष, जलती कठोर अग्नि, धूलि और धुआं की वर्षा होती है। इस विनाशलीला से गंगा और सिन्धु नदियों के उद्गमों के मध्य और विजयार्ध पर्वत की गुफाओं में अपने अतिशय पुण्य प्रभाव से

देवों द्वारा रक्षित बहुतर युगलियों और उन मनुष्य व तिर्यञ्चों को छोड़कर जिन्हें देव और विद्याधर दयार्द्र होकर उन प्रदेशों में लेजाकर रख देते हैं शेष समस्त प्राणियों का नाश-संहार हो जाता है। यह प्राकृतिक प्रकोप आषाढ़ की पूर्णिमा तक रहता है जो अवसर्पिणी काल का अन्तिम दिन होता है। श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से उत्सर्पिणी काल प्रारम्भ हो जाता है। यह दिन जिनशासन का नव दिवस भी है। इस दिन से ४६ दिन अर्थात् भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी तक सात-सात दिन सुखोत्पादक जल, क्षीलजल (दुग्ध), रस, घृत, अमृत आदि की आनन्ददायिनी सुवर्षा होने पर जब पृथ्वी, जल और गुल्मयुक्त हो जाने से पुनः हरित, उपजाऊ व पल्लवित हो जाती है तब वे युगलिया और मनुष्य व तिर्यंच गुफा आदि से बाहर निकल आते हैं तथा प्राकृतिक फल-फूल एवं पत्तिया खाकर विचरण प्रारम्भ कर देते हैं। वे आयु व शरीर से विकासोन्मुख होने लगते हैं।

अवसर्पिणी काल में ऊपर से नीचे तक का चक्र पूरा करने के पश्चात् उत्सर्पिणीकाल में उक्त छहों विभाग उलटे क्रम से नीचे से ऊपर की ओर घूमने लगते हैं। यथा—(१) अति दुःखरूप (२) दुःखरूप (३) दुःख-सुखरूप (४) सुख-दुःखरूप (५) सुखरूप (६) अतिसुखरूप। इन छह विभागो में से प्रत्येक अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी के दुःख-सुखरूप काल मे जो कि अवसर्पिणी का चौथा, किन्तु उलटे क्रम से उत्सर्पिणी का तीसरा काल होता है चतुर्विंशति तीर्थंकरों का जन्म होता है। यह क्रम अनादिकाल से अबाधगति से चला आ रहा है और आगे भी अनन्तकाल तक चलता रहेगा। वर्तमान अवसर्पिणी काल के तीसरे सुख-दुःखरूप विभाग मे जब तीन वर्ष-आठ माह-पन्द्रह दिन शेष रहे थे तब इस भरतक्षेत्र मे, जहा हम हैं चौदहवें मनु (कुलकर) नाभिराय की पत्नि मरुदेवी से ऋषभ देव नामक महामानव जन्मे। वे यहां के प्रथम सम्राट हुए, उन्होंने दीर्घकाल तक जनमानस का पालन करते हुए उन्हे भरण-पोषण के लिए कृषि कार्य में शिक्षित कर पुरुषार्थी बनाया और समाज रचना की। फिर इस संसार की असारता को देखकर उन्होने दैगम्बरी दीक्षा धारण कर ली। वन में जाकर दुद्धर तपः साधना के द्वारा केवलज्ञान (सर्वज्ञता) प्राप्त किया। तत्पश्चात् जगत के प्राणियो को संसार सागर से तिराने वाली कल्याणकारी दिव्यध्वनि द्वारा मोक्ष-जन्म, जरा और मरण रूप तापत्रय से मुक्ति का पावन मार्ग दिखाया तथा निर्वाण होने पर स्वय भी सिद्धावस्थारूप मोक्ष को प्राप्त हुए। वे इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर थे, उन्होने धर्मतीर्थ का सर्व प्रथम प्रवर्तन इस काल में किया। उनके पश्चात् उसी सुख दुःखरूप चतुर्थ काल में २३ तीर्थंकर और हुए जिनमे अन्तिम तीर्थकर भगवान महावीर थे। उनका निर्वाण ई० पू० ५२७ मे हुआ जब उस चतुर्थकाल की समाप्ति मे तीन वर्ष और साढे आठ माह शेष रह गये थे। ऋषभदेव और महावीर वर्तमान अवसर्पिणी की अपेक्षा आदि और अन्तिम तीर्थंकर कहलाते हैं। आजकल अवसर्पिणी का दुःखरूप पंचमकाल चल रहा है, जिसकी अवधि २१००० वर्षों की है। इसमे तथा इसके आगे उत्सर्पिणी के दुःखरूप दूसरे काल तक (८४००० वर्ष तक) कोई भी तीर्थकर नहीं होगें। अवसर्पिणी काल के प्रथम, द्वितीय व तृतीय काल के समान ही उत्सर्पिणी के चतुर्थ, पंचम व षष्ठम विभागों मे भी तीर्थंकर नहीं होते। मात्र दुःख-सुखरूप काल ही में दोनो सर्पिणियो मे २४ तीर्थंकर जन्म लेते है। आगे महापद्म नामक प्रथम तीर्थंकर उत्सर्पिणी काल के दुःख सुखरूप आरे मे जन्म लेंगे।

तीर्थंकर जन्म दुःख सुखरूप काल में ही क्यों ?

यहां प्रश्न किया जा सकता है कि तीर्थंकर अवसर्पिणी के चतुर्थ और उत्सर्पिणी के तृतीय दुःख-सुखरूप काल मे ही क्यों होते हैं ?

अवसर्पिणी काल के प्रथम, द्वितीय और तृतीय विभागों में क्रमशः उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भोग-भूमियों की व्यवस्था रहती है। भोगयुग के प्राणी अत्यन्त संतोषी, सरल, संघर्षरहित तथा प्रकृत्याश्रित होते हैं। वे कोई पुरुषार्थ नहीं करते, क्योंकि उनकी नाम मात्र को जो भी इच्छा या आवश्यकताएं होती हैं उनकी पूर्ति सहज ही बिना किसी उद्योम-श्रमके दश प्रकार के कल्पवृक्षों से हो जाती हैं। उनका जीवन ऐसा सुखी और

आनन्ददायी होता है कि उन्हें आध्यात्मिक विकास-उत्थान की कल्पना भी नहीं होती। वे संसार की असारता का ही अनुभव नहीं करते हैं, तब तीर्थङ्करत्व और मोक्षप्राप्ति की बात तो बहुत दूर है। ऐसी ही स्थिति उत्सर्पिणी काल के चतुर्थ, पंचम और षष्ठम विभागों में क्रमशः जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भोगभूमि होने से होती है। अन्तर केवल इतना होता है कि जहां अवसर्पिणी के ये काल ह्रासोन्मुख होते हैं वहां उत्सर्पिणी में वे विकासोन्मुख होते हैं।

अवसर्पिणी के पांचवें और छठे विभागों में इच्छा, आवश्यकता, लालसा, लोलुपता इस सीमा तक बढ़ जाती है कि हिंसा, अपकार, स्वार्थ और ईर्षा की कुत्सित मनोवृत्तियां तीव्र से तीव्रतर हो जाती हैं। फलतः परस्पर स्नेह, सौहार्द और सहानुभूति लुप्त होने लगती हैं और राग-द्वेष, आपसी तनाव, विद्वेष, विग्रह तथा हिंसक अपराध उभरने और बेहताशा बढ़ने लगते हैं। साथ ही मिथ्यात्व के कारण, आध्यात्मिक चेतना में इस तेजी से गिरावट आने लगती है कि आत्मोन्नति का विचार ही दिमाग में नहीं रहता। चारित्रपालन में शिथिलता, कठिनाइयां और दोष भी अधिकाधिक आने से मोक्षका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। नैतिक पतन और पाप बढ़ते-बढ़ते चरमसीमा पर पहुंच जाते हैं। फलतः तीर्थंकर परंपरा लुप्त हो जाती है जो उत्सर्पिणी के दुःखरूप द्वितीय विभाग तक रहती है। अन्तर इतना ही है कि जो दोष अवसर्पिणी के पांचवें काल से छठे काल तक बढ़ते जाते हैं वे उत्सर्पिणी के पहले से दूसरे काल तक घटते जाते हैं। अवसर्पिणी के तीसरे काल की समाप्ति से पूर्व और चतुर्थ काल की शुरुआत में काल प्रभाव से कल्पतरुओं के क्षीण होने तथा युगलियों के जीवित रहे आने के फलस्वरूप अभाव तथा आवश्यकता अपूर्ति के कारण विषमता उत्पन्न होने लगती है, परस्पर में कलह, विद्वेष, विग्रह और संघर्ष होने लगते हैं तभी इस दुःखद परिस्थिति से त्राण पाने और जीवनरक्षा हेतु मानव को कालयोग से श्रम, सहयोग, पुरुषार्थ और उत्पादन की प्रेरणा होती है। जो हाथ पहले खाने में ही काम आते थे वे अब श्रम और उत्पादन भी करने लगते हैं। उससे आवश्यकता की पूर्ति होने पर उनमें पारिवारिक एवं सामाजिक जागृति, सहिष्णुता और आत्मविश्वास पैदा होते हैं। सुख-चैन का वातावरण बनता है। इस कर्मयुग में पुरुषार्थ जागृत होने से आध्यात्मिक विकास-मुक्ति का मार्ग भी प्रशस्त होता है और जैसा ऊपर लिखा जा चुका है कि इसी कर्मयुग में २४ तीर्थंकरों का जन्म होता है, जो लोगों को आध्यात्मिक दिशा देकर मोक्षमार्ग बताते हैं।

उत्सर्पिणी काल में पहले और दूसरे कालों की समाप्ति पर और तीसरे दुःख सुखरूप काल के आगमन पर अभाव और विद्वेष से पीड़ित महादुःखी मानव के विवेक व पुरुषार्थ जब कालयोग से पुनः जागते हैं तभी उसके कल्याणार्थ ऐसे ही २४ महामानव-तीर्थंकरों का जन्म होता है। ज्योतिषाचार्यों के मतानुसार भी ऐसे उत्तम योग, जिनमें तीर्थंकरों का जन्म हो सकता है, दुःख-सुखरूप काल में ही पड़ते हैं और वे भी चौबीस ही। देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़कर विदेहक्षेत्र में स्थिति सदा अवसर्पिणी के चौथे तथा उत्सर्पिणी के तीसरे दुःखसुखरूप काल के समान रहती है।

वर्तमान अवसर्पिणी में कालदोष से सनातन नियमों के विपरीत कुछ अपवाद हुए हैं जिनके कारण इसे हुण्डावसर्पिणी काल कहा गया है। इसमें एक तो तीसरे 'सुखमा-दुःखमा' नामक काल के शेष रहते ही वर्षा आदि होने लगी और विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होने लगी। कल्पवृक्षों का अन्त और कर्मभूमि का प्रारम्भ हो गया। प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव का जन्म चतुर्थ के बजाय तृतीय काल में ही हो गया। इसमें जन्म लेने वाले २४ तीर्थंकरों का जन्म देव निर्मित आद्यनगरी एवं सनातन तीर्थभूमि 'अयोध्या' में न होकर केवल ५ तीर्थंकरों का जन्म तो यहां हुआ शेष १९ तीर्थंकरों का जन्म अन्यत्र हुआ। 'अयोध्या' जैसा कि उसके नाम से प्रतीत होता है, की बुनियाद ही शांति एवं सह अस्तित्व पर आधारित थी। इसके निवासी किसी पर आक्रमण नहीं करते थे और न इस पर आक्रमण करने के किसी के भाव होते थे। सम्भव हो कि आदि में इस नगरी का नाम 'अजुद्धा' रहा हो आगे चलकर 'अयुद्धा' और फिर 'अयोध्या' हो गया हो।

तीर्थंकर मनुष्यगति से ही क्यों ?

यह भी निश्चित है कि तीर्थंकरों का जन्म मनुष्यगति में ही होता है. अन्य गति के जीव तीर्थंकर नहीं होते। शुभकर्मों से प्राप्त देवगति अतिशययुक्त आनन्ददायिनी होती है । उसमें जन्मे जीव शुभकर्मों के फलों-स्वर्ग के भोगों को भोगने में ही रत रहते हैं और देवियों के साथ क्रीड़ा मे । तीर्थंकरत्व तो दूर मोक्षमार्ग की कठिन तपस्या-साधना के लिये भी मनुष्यों जैसा पुरुषार्थ उनमें नहीं होता और भोगों में लिप्त रहने के कारण न उसमें उनका उपयोग ही लग पाता है । तिर्यंचों में भी रत्नत्रय का अभाव होता है और मुक्ति के लिये आवश्यक पुरुषार्थ भी उनमें नहीं होता । घोर अशुभकर्मी नारकियों की कषाययुक्त भावनाएं अत्यन्त पतित एवं निकृष्ट होती हैं । वे तो पूर्वभव के वैर-द्वेष के कारण आपसी द्वन्द्व और मारकाट में ही लगे रहते हैं । एकमात्र मनुष्यगति ही ऐसी है जिसमें भोगों से विरक्ति और मोक्षमार्ग की कठिन तपस्या-साधना के लिये आवश्यक ज्ञान, विवेक व पुरुषार्थ होते हैं । कषायविहीन होने की शक्ति-सामर्थ्य भी उसी में होती है । इस गतिवाला जीव अनन्त शक्ति सम्पन्न होने के कारण सातवें नरक में ले जाने वाला अशुभतम कर्म भी कर सकता है और सर्वार्थसिद्धि तक ले जाने योग्य शुद्धतम कर्म भी । उसी में कठोर से कठोर परीषह, तप और साधना द्वारा नये कर्मों के संवरण और पूर्व में बंधे कर्मों की निर्जरा करने की मोक्षगामी सामर्थ्य भी होती है । यही कारण है कि मोक्षगामी जीवों को अन्य तीनों गतियों से चयकर मनुष्यगति में ही आना होता है ।

क्षत्रिय कुल में ही क्यों ?

हम ऊपर कह आये हैं कि तीर्थंकर केवल मनुष्यगति से ही होते हैं और वह भी क्षत्रिय कुल से ऐसा क्यों ?

प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव क्षत्रिय थे, सूर्यवंशी-पुराणों के अनुसार क्षत्रियों के संस्कारदाता और पूर्वज वे ही थे । स्वामी कर्मानन्द के अनुसार पूर्वकाल में आत्मविद्या केवल क्षत्रियों के पास थी । संकल्पशक्ति, मनोबल, शरीरपुष्टता, सहनशक्ति, साहस, धैर्य, मृत्यु निर्भयता, जो क्षत्रियों में थी वह अन्यों में नहीं थी । वे जिस वीरता से बाहरी शत्रुओं-आक्रामकों से जूझते रहे उसी वीरता से वे इन्द्रियों को वशमे करके अन्तरंग कषायों से भी जूझते थे । तप-त्याग व साधना तो मनुष्यों की और जातियां भी करती रहीं, किन्तु तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करने के लिये विशिष्ट योग्यता-शक्तिसामर्थ्य क्षत्रिय कुल में जन्मे लोगो में ही होती थी तभी तो अब तक जितने भी तीर्थंकर हुए हैं और होंगे वे क्षत्रियों मे से ही हुए हैं और होगे ।

तीर्थंकर परम्परा के क्षेत्र :

तीनों लोकों में कुछ ही ऐसे क्षेत्र हैं जहां तीर्थकर प्रकृति के जीव उत्पन्न होते हैं और जहां तीर्थंकर परम्परा रही है । उर्ध्वलोक में देवताओं का वास होने से वहां यह परम्परा नहीं है और न नारकियों के निवास के कारण अधोलोक में । केवल मध्यलोक और उसका भी ढाई द्वीप का क्षेत्र ऐसा है जहां भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्र ही कर्मभूमियां हैं जहां तीर्थंकर परम्परा है । शेष हैमवत, हरि, रम्यक और हैरण्यवत भोगभूमियां हैं तथा भोगभूमियां होने के कारण वहां तीर्थंकर परम्परा नहीं है । भरत और ऐरावत क्षेत्रों में काल परिवर्तन होने के कारण दुःख-सुखरूप काल में कर्मभूमि होती है और विदेहक्षेत्र में देवकुरु-उत्तरकुरु को छोड़कर सदा कर्मयुग (दुःख सुखरूप काल) रहता है । जैसे हम ऊपर विचार कर चुके हैं वहीं तीर्थंकर परम्परा है । अतः तीनों लोकों में ढाईद्वीप स्थित भरत, ऐरावत और विदेहक्षेत्र ही ऐसे हैं जहां मनुष्यों का वास होने और दुःख सुखरूप काल होने से तीर्थंकर होते रहे हैं, आगे भी होंगे । जिस धर्म की यह परम्परा अनादि-अनन्त है वह धर्म भी अनादि-अनन्त है ।

तीर्थंकर चउवीस ही क्यों ?

एक विचारणीय और महत्वपूर्ण बात यह है कि कालचक्र के दोनों भागों (अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी) में तीर्थंकर चउवीस ही क्यों होते हैं ? आचार्य सोमदेव से जब यह प्रश्न किया गया तो उनका उत्तर था "इस मान्यता में कोई अलौकिकता नहीं है, क्योंकि लोक में अनेक ऐसे पदार्थ हैं जैसे ग्रह, नक्षत्र, राशि, तिथियां और तारागण आदि जिनकी संख्या काल योग से नियत है।" तीर्थंकर सर्वोत्कृष्ट होते हैं अतः उनके जन्म-कालयोग भी विशिष्ट-उत्कृष्ट ही होने चाहिए या होते हैं। ज्योतिषाचार्यों का (जिनमें स्व. डॉ. नेमीचंदजी जैन आरा भी थे) मत है कि एक कल्प के दुःख-सुखरूप काल में ऐसे उत्तम कालयोग चौबीस ही पड़ते हैं जिनमें तीर्थंकरों का जन्म होता है या हो सकता है। ब्राह्मणों के भी अवतार २४ ही हैं, बुद्धों ने भी चौबीस ही बुद्ध और ईसाइयों ने भी २४ ही पुरखे स्वीकार किये हैं।

धर्म परिपालन के लिये गति, जाति व देश का प्रतिबन्ध नहीं है, क्योंकि धर्म प्राणीमात्र के लिये परम्परा से कल्याणकारक है और उपयोगी है, किन्तु चारित्र मानव अपनी जाति व गति तथा देशगत योग्यता के अनुसार ही धारण कर सकता है।

जिनवाणी का उद्गम और उसका विकास

❖ पं० तेजपालजी काला

[सम्पादक जैनदर्शन, नांदगांव]

जिन्होंने ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों पर विजय प्राप्त कर सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता प्राप्त कर ली है उन्हें अरहन्त परमात्मा अथवा कर्मविजेता 'जिन' कहते हैं। अनादिकाल से प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के कल्पकाल में ऐसे असंख्य जिन होते है जो अपनी आयु के अन्त में शेष अघातिया कर्मों का भी नाश कर मोक्ष में चले जाते हैं, उन्हें 'सिद्ध' कहते है। अनन्त और अविनाशी सुख के स्थान मोक्ष को छोड़ फिर ये सिद्ध परमात्मा कभी संसार में आकर जन्म-मरण के चक्र में नही फंसते।

यद्यपि मोक्ष जाने के पूर्व प्रत्येक कल्प काल में असंख्य जिन होते हैं तथापि उनमें से प्रत्येक उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल में जो २४-२४ तीर्थंकर होते हैं उनके द्वारा ही 'जिन' अवस्था में समवशरण सभा में दिव्यध्वनि के माध्यम से दिव्योपदेश होता है। यह दिव्यध्वनि सर्वज्ञवाणी होने से निर्दोष, सर्वप्राणी हितैषी और मंगलमय होती है अत: प्रमाणभूत होती है।

जिनमुख से उत्पन्न होने से इसको जिनवाणी भी कहते हैं। वर्तमान अवसर्पिणी के चतुर्थ काल के प्रारम्भ में भगवान ऋषभदेव आद्य तीर्थंकर हुए, उनके द्वारा संसार को आत्मकल्याणकारी वास्तविक धर्म का स्वरूप समझाया गया। धर्म का आल्हादकारक, सुखप्रदायक प्रकाश सर्वत्र फैला। असंख्य प्राणियों का अज्ञान और मिथ्यात्वांधकार तिरोहित हुआ। इस जिनवाणी के उद्गम की परम्परा इस हुण्डावसर्पिणी काल में भगवान ऋषभदेव और उनके अनन्तर प्रत्येक तीर्थंकर के समय में

तत्कालीन तीर्थंकर के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर लेने पर समवशरण सभा में होती रही। असंख्य प्राणियों ने उसे सुना और वे आत्मकल्याण के वीतराग धर्म को अपनाकर परमसुखी परमात्मा बन गये।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की भी जिनवाणी उनके द्वारा ४२ वर्ष की अवस्था में सर्वज्ञता प्राप्त कर लेने पर राजगृही के पास विपुलाचल पर्वत पर इन्द्राज्ञा से कुबेर द्वारा रचित अत्यन्त सुन्दर, लोकातिशायि, महान वैभवशाली समवशरण-सभा में हुई। उस अत्यन्त भव्य समवशरण सभा में विशाल १२ कक्ष थे जिनमें मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका, पशु-पक्षी एवं चतुर्निकाय के देव-देवियां अपने-अपने लिए नियोजित कक्ष मे बैठकर भगवान का धर्मोपदेश सुनते थे। भगवान महावीर की दिव्य एवं लोकोपकारी वाणी को उनके प्रमुख शिष्य मन:पर्यय ज्ञानधारी इन्द्रभूति गौतम गणधर ने द्वादशांग के रूप मे निबद्ध कर प्राणियों को समझाया उनको प्रबुद्ध किया। इस द्वादशांगरूप जिनवाणी में ऐसा कोई विषय शेष नही रहा जिस पर विशद प्रकाश नही डाला गया हो। विपुलाचल पर्वत पर कई दिनो तक भगवान महावीर की धर्मदेशना चली। उसके अनन्तर लगातार बारह वर्ष तक निर्वाण गमन से पूर्व तक यह धर्म देशना अनेक पृथक्-पृथक् प्रदेशों और राज्यों मे समवशरण के माध्यम से होती रही।

इस धर्म देशना का प्रभाव जनसाधारणपर और राजा-महाराजाओं पर खूब पडा। राजा-महाराजाओं ने, जो उस समय के प्रचलित हिंसामय धर्मों और मिथ्यामतों में फंस गये थे। उनका परित्याग कर दिया और वे प्राय: सभी भगवान महावीर के धर्म देशना के झंडे के नीचे आ गये। क्रूर हिंसा से पूर्ण यज्ञ-यागादि की ज्वाला नष्ट हो गई। अहिंसा को धर्मरूप में सबने अपनाया था। अधर्म और पाप के रूप में जो संसार में उस समय भयंकर विषमता फैल गई थी। धर्म के नाम पर कलह, विसवाद और संघर्ष होते थे उन सबको दूर करने के लिए भगवान महावीर ने अहिंसा के साथ-साथ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और स्याद्वाद के लोक हितैषी और आत्मशान्ति कारक सिद्धान्त दिये। आज अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का ही धर्मशासन चल रहा है और यह धर्मशासन इस अवसर्पिणी के पंचमकाल के अन्त तक चलेगा।

अत: यह लोक कल्याणकारी अहिंसा, अपरिग्रह और स्याद्वाद का द्वादशाँग रूप धर्मशासन जिस धर्मदेशना (जिनवाणी) के आधार पर चल रहा है उसके उद्‌गाता अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर हैं। जिस दिन यह जिनवाणी भगवान महावीर के मुख से सर्व प्रथम विपुलाचल पर्वत पर खिरी वह मंगलमय दिवस श्रावण कृष्णा प्रतिपदा का था।

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् इन्द्रभूति (गौतमस्वामी), सुधर्मास्वामी और जम्बूस्वामी ये तीन केवली हुए उनके बाद पांच श्रुतकेवली हुए जिन्होंने भगवान महावीर की देशना को द्वादशाँगरूप में प्रचारित किया। अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के बाद कालके अनुसार ज्ञान में क्षीणता आती गई और द्वादशांग श्रुतज्ञान की स्मृति भी कम होती गई। शिष्यपरम्परा से अंगज्ञान क्षीण होते-होते अन्त में एक आचार्य लोहाचार्य नाम के हुए जिन्हें एक अंग का ज्ञान शेष रहा था। यह सर्वकाल भगवान महावीर के अनन्तर ६८३ वर्ष का था।

इसके पश्चात् अंगज्ञान भी क्षीण होता चला गया। अन्तमें धरसेनाचार्य नामक एक आचार्य हुए जिन्हें मात्र अग्रायणी पूर्व का ज्ञान था और वे अष्टांग महानिमित्त के महान ज्ञाता थे तब उन्हें इस जिनवाणी के शेष अंशमात्र श्रुतज्ञान के भी लुप्त हो जाने की चिंता हुई। अत: उन्होंने ससार के जीवों के कल्याण हेतु उस अंशमात्र श्रुतज्ञान की रक्षा के लिये अपना ज्ञान उस समय के विशिष्ट महाज्ञानी तपस्वी महामुनि पुष्पदन्त और भूतवली को दिया। इन दोनों विद्वान महातपस्वी साधुओं ने गुरु परम्परा से प्राप्त जिनवाणी को षट्‌खंडागम नामक ग्रंथ में लिपिबद्ध कर लुप्त होनेवाली जिनवाणी के अंश का विकास करने का प्रथम श्रेय प्राप्त किया।

जिस दिन यह षट्‌खण्डागम नामक ग्रन्थ लिपिबद्ध होकर पूर्ण हुआ वह दिन ज्येष्ठशुक्ला पंचमी का था। उस दिन अंकलेश्वर (सौराष्ट्र) में चतु:संघ ने उस ग्रन्थ को महान भक्ति पूर्वक वेष्टन में बांधकर बड़ी भारी

श्रद्धा और प्रभावना के साथ उसकी अष्टद्रव्य से पूजा की। अतः यह मंगलमय दिवस श्रुतपंचमी के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

उसके अनन्तर श्री वीरसेनाचार्य ने षट्खंडागम के पांचखण्डों की ७२ हजार श्लोक प्रमाण विस्तृत टीका की, जो धवला टीका नाम से प्रख्यात है। छठे खण्ड की २० हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका कर वे संन्यस्त हो गये। उनके बाद उनके महान विद्वान शिष्य महापुराण ग्रन्थ के रचयिता आचार्य जिनसेन ने छठे खंड की अपूर्ण टीका को ४० हजार श्लोक प्रमाण रचकर जयधवला टीका पूर्णकर अपने गुरु के कार्य को पूर्ण किया। इसप्रकार १ लाख ३२ हजार श्लोक प्रमाण विशाल टीका ग्रन्थ अन्य किसी धर्म का आज उपलब्ध नहीं है।

इसके पश्चात् तो अनेक महान दिगम्बर जैनाचार्य हुए जिन्होने गुरु परम्परा से प्राप्त जिनवाणी के अनुसार चतुरनुयोग सम्बन्धी अनेक महान ग्रन्थों की संस्कृत-प्राकृत भाषा में रचनाएं कीं और उनकी टीकाएं कर संसार का महान उपकार किया है। उनमें गुणधराचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य, यतिवृषभाचार्य, उमास्वामी, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंकदेव, गुणभद्र, विद्यानंदि, अमृतचन्द्राचार्य, जयसेनाचार्य, सोमदेव, जयसिंहनंदि, नेमिचन्द्र सिद्धांत-चक्रवर्ती आदि अनेकानेक आचार्य हुए हैं, जिन्होंने अपने सम्यक्ज्ञान रूप दिव्य प्रकाश से संसार को साहित्य रचनाएं प्रदान करके आलोकित किया है।

भगवान महावीर के पश्चात् एक ऐसे महान विद्वान तपस्वी हुए हैं जिन्होंने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, रयणसार, पंचास्तिकाय, मूलाचार और अष्टपाहुड आदि अनेक प्राभृत ग्रंथों की अध्यात्म प्रधान शैली में रचनाएं की हैं। बारस अणुवेक्खा और प्राकृत दशभक्तियां भी आपकी अमूल्य रचनाएं हैं। तमिलभाषा में एक कुरलकाव्य भी है जो आपकी रचना माना जाता है जो कि तमिल साहित्य का अनुपम रत्न है।

तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता श्री उमास्वामि आचार्य महान् विद्वान आचार्य हुए हैं, जिन्होंने संस्कृत भाषा में सूत्ररूप ग्रंथों की रचना का सूत्रपात किया। तत्त्वार्थसूत्र नामक अनुपम ग्रंथ के माध्यम से आपने मोक्षमार्ग का निरूपण करते हुए १० अध्यायों मे सप्त तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादित किया है। आपके इस ग्रन्थ पर अनेक विद्वान आचार्यों ने विद्वत्ता पूर्ण बडी-बड़ी संस्कृत टीकाएं रची हैं।

इसीप्रकार जिनवाणी के विकास में बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान है वे हैं आचार्य समन्तभद्र। ये असामान्य विद्वत्ता के धनी थे। महान् प्रतिवादी प्रतिभासम्पन्न और बड़े तपस्वी साधुरत्न थे। वृहत्स्वयंभू, देवागम, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, युक्त्यनुशासन, जिनशतक, गंधहस्ति महाभाष्य, तत्त्वानुशासन जैसे महान ग्रंथों की रचना कर संसार का महान उपकार किया है। गंधहस्ति महाभाष्य तो तत्त्वार्थसूत्र की टीका है जो दुर्भाग्य से उपलब्ध नहीं है। शेष सभी ग्रंथ संस्कृत श्लोकमय रचनाएं हैं। तत्त्वानुशासन ग्रंथ भी उपलब्ध नहीं है।

प्रतिभाशाली महान आचार्यों की इस शृंखला में पूज्यपाद आचार्य का नाम भी जैन जगत में अत्यन्त गौरव के साथ लिया जाता है, उन्होंने अपनी अमूल्यकृतियों से जिनवाणी के रहस्य को खोलकर संसार के समक्ष उपस्थित किया है। समन्तभद्राचार्य ने जैनेन्द्र व्याकरण, समाधिशतक, इष्टोपदेश आदि स्वतंत्र रचनाएं निर्मित की हैं। इसके अलावा संस्कृत दशभक्तियों की रचना भी आपने की है। तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि नामा टीका ग्रन्थ जैन जगत में अनुपम टीका ग्रन्थ है वर्तमान के उपलब्ध ग्रन्थों में तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वप्रथम टीका ग्रन्थ है। 'जिनाभिषेक' ग्रन्थ भी आपका माना जाता है।

आचार्य विद्यानन्दि भी महान् प्रतिभाशाली आचार्य हुए हैं, जिन्होंने तत्त्वार्थसूत्र पर श्लोक वार्तिकालंकार नाम विशद टीका ग्रन्थ दार्शनिक शैली में रचा है। इसीप्रकार अष्टसहस्री नामक टीका ग्रन्थ समन्तभद्राचार्य

के देवागम स्तोत्र पर रचा गया है। स्वोपज्ञ टीका सहित आप्तपरीक्षा आपको स्वतंत्र रचना है। इसके अतिरिक्त भी आपने विद्यानन्द महोदय, सत्यशासन परीक्षा आदि कई ग्रंथों का प्रणयन किया है।

दार्शनिक शैली के ग्रन्थकार जैन आचार्यों को शृंखला में पात्र केसरी आचार्य का नाम भी प्रसिद्ध है। वे उच्चकोटि के विद्वान आचार्य थे उन्होंने पात्र केसरी स्तोत्र, त्रिलक्षणकदर्शन आदि ग्रन्थों की रचनाकर जिनधर्म के उद्योत में अपना अपूर्व योगदान दिया है।

आचार्य अकलंकदेव भी अद्वितीय प्रतिभा के धनी महान आचार्य हुए हैं उनकी विद्वत्ता भी नामानुसार अकलंक ही थी। इनके समय में बौद्धदर्शन का बहुत जोर था अत: अन्य दर्शनों की अपेक्षा बौद्धदर्शन की विशेष समीक्षा आपके ग्रन्थों में पायी जाती है। दार्शनिक प्रधान आपकी रचनाएं स्वतंत्र और टीका ग्रंथों के रूप में जैन साहित्य की अनुपम निधियां हैं। तत्त्वार्थवार्तिक तत्त्वार्थसूत्र की टीका है। अष्टशती देवागम स्तोत्र की टीका है। इसके अतिरिक्त अकलंकस्तोत्र, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय और प्रमाणसंग्रह आदि स्वतन्त्र रचनारूप में प्रमुख ग्रन्थ हैं।

जिनसेनाचार्य की प्रतिभा और विद्वत्ता तो अवर्णनीय थी। उनका बनाया हुआ प्रथमानुयोग का महान पुराण ग्रन्थ 'महापुराण' काव्यग्रन्थों में जैन साहित्य की ही नहीं, संसार की समस्त साहित्यकृतियों में एक महान रचना है। लगभग ४० हजार श्लोक प्रमाण आपकी जयधवला टीका का उल्लेख मैं पहले ही कर आया हूं। इसके अतिरिक्त पार्श्वाभ्युदय काव्य भी काव्य संसार में एक श्रेष्ठ कृति है।

जिनसेनाचार्य के ही विद्वान् शिष्य गुणभद्राचार्य ने उत्तर पुराण रचकर भगवान ऋषभदेव और भरत चक्रवर्ती को छोड़ समस्त शलाका पुरुषों का जीवन चरित्र आठ हजार श्लोकों में निबद्ध किया है। इसके अतिरिक्त आत्मानुशासन भी आपकी अनुपम रचना है। जिनदत्त चरित्र भी आपकी ही रचना माना जाता है।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के द्वारा रचित करणानुयोग प्रधान ग्रन्थ हैं। जो करणानुयोग के प्रसिद्ध ग्रथ हैं। षट्खडागम के आधार पर गोम्मटसार (जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड) लब्धिसार-क्षपणासार का प्रणयन किया तथा त्रिलोक का वर्णन करनेवाला त्रिलोकसार ग्रन्थ भी आपने ही निर्मित किया है। आपकी इन रचनाओ से जैनजगत का महान उपकार हुआ है।

अमृतचन्द्राचार्य कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित समयसारादि ग्रंथों के विशेष टीकाकार आचार्य हुए हैं। समयसार, प्रवचनसार व पंचास्तिकाय ग्रंथों पर आत्मख्याति आदि टीकाओं का प्रणयन आपने किया। आपने स्वतंत्ररूप से तत्त्वार्थसार और पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ का निर्माण भी किया है।

कुन्दकुन्दाचार्य के ही उक्त तीन ग्रंथों पर जयसेनाचार्य ने तात्पर्यवृत्ति आदि टीकाएं निर्मित कर कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र आचार्य के मन्तव्यों को एवं विषय प्रतिपादन को समझने में सुविधा प्रदान की है।

आचार्य सोमदेव सूरि का यशस्तिलकचम्पू और नीति वाक्यामृत तथा वादीभसूरिका छत्रचूड़ामणि एवं गद्य चिन्तामणि काव्यग्रन्थ भी जैन जगत की अनुपम निधियां हैं। इसीप्रकार देवसेनाचार्य, माणिक्यनंदि, शुभचन्द्राचार्य आदि अनेक उद्भट विद्वान् तपस्वी आचार्य हुए हैं, जिन्होंने चारों अनुयोगों पर महान विद्वत्तापूर्ण रचनाएं कर जिनवाणी के रहस्य को खोलने मे और संसार में उसका दिव्य-प्रकाश फैलाने में बड़ाभारी श्रम किया है।

सचमुच में यदि इन उपकारकबुद्धि आचार्यों ने संसार के कल्याणार्थ अपने तपस्वी जीवन का बहुमूल्य समय जिनवाणी के रहस्योद्घाटन में न दिया होता तो संसार धर्म और वास्तविक स्वरूप को जानने में अज्ञात

रहता । दिगम्बर जैन जगत के सभी महान आचार्य जिनवाणी के सच्चे सपूत कहे जा सकते हैं जिन्होंने जिनवाणी की जन्मभर सेवा की और जिनवाणी को विकास में लाकर समीचीन धर्मका प्रकाश संसार को दिया । धन्य हैं वे आचार्य और धन्य हैं उनकी बहुमूल्य साहित्यकृतियां जिन पर भगवान महावीर का अनुयायी जैन समाज गौरवान्वित है ।

दिगम्बर जैनाचार्यों ने जैसे रत्नत्रयधर्म के विभिन्न अंगों पर अपनी रचनाएं की वैसे ही आयुर्वेद, छन्द, अलंकार, व्याकरण, मंत्र, यंत्र, काव्य आदि विभिन्न विषयों पर भी जो द्वादशांग के ही भाग हैं, प्रकाश डाला है । उग्रदित्याचार्य का आयुर्वेद सम्बन्धी कल्याणकारक ग्रंथ और श्री मानतुंगाचार्य, कुमुदचन्द्राचार्य, वादिराजसूरि के काव्य भी भक्तिरस की बहुमूल्यकृतियां हैं । जिनागम की ये बहुमूल्यकृतियां अब देश-विदेशों में भी विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाने लगी हैं । संसार के विचारशील विद्वान् और छात्र जिनवाणी के अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांत जैसे तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को हृदयंगम करते हैं तो उनको सम्यक्ज्ञान प्राप्त करने का आनन्द होता है ।

आज आवश्यकता इस बात की है कि जिनवाणी के इन लोक कल्याणकारी चतुरनुयोग के ग्रंथों को विभिन्न भाषाओं में अनुदित कर उनको प्रचार में लाने की योजना पर विचार किया जावे ।

अपनी मनोवृत्ति पर नियन्त्रण करना ही आत्मानुशासन है । मन पर नियंत्रण इन्द्रिय नियंत्रण का कारण है । इन्द्रियों का नियन्त्रण होने पर ही संसार परिभ्रमण (शान्त) वश में हो सकता है । जो मन के आधीन है वह इन्द्रियाधीन होता हुआ संसार चक्र से छूट नहीं सकता ।

आचार्य चतुष्टय

❖ डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी

[जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर]

हमारा भारत एक अध्यात्म प्रधान देश है। अपनी आध्यात्मिक संस्कृति के कारण ही यह जगत में सम्मानित, प्रतिष्ठित और श्रेष्ठ स्वीकार किया जाता है। रत्न प्रसवा भारतभूमि ने विश्व को महान् तेजस्वी, देदीप्यमान और वन्दनीय-नमस्करणीय अनेक नर-रत्न दिए हैं। आज से लगभग २५८० वर्ष पहले इस पुण्य भूमि पर चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान महावीर का जन्म हुआ। उन्होंने अपनी उत्कृष्ट आत्म साधना तथा तप और त्याग के प्रभाव से दुनियां को हिंसा के पतन-मार्ग में प्रवृत्त होने से बचाया तथा अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांत का सम्यक् मार्ग दिखाकर जीने की-जीवनयापन की सही विधि बताई।

तीर्थंकर महावीर की परम्परा में उन्हीं के पद चिन्हों का अनुकरण करने वाले भगवान कुन्दकुन्द, जिनसेन, समन्तभद्र, विद्यानन्दि, नेमिचन्द्र, अकलंकदेव, पद्मनन्दी, आदि अनेक महान् विद्वान् सच्चरित्र तपस्वी साधु संत हुए जिन्होंने अपने-अपने युग में महावीर प्रभु के आध्यात्मिक सन्देश और सच्चे धर्म का प्रसार किया।

इसी आदर्श दिगम्बर साधु सन्त परम्परा में वर्तमान युग में जो तपस्वी सन्त हुए उनमें आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज एक ऐसे प्रमुख साधु श्रेष्ठ तपस्वीरत्न हुए हैं जिनकी अगाधविद्वत्ता, कठोरतपश्चर्या, प्रगाढ़ धर्मश्रद्धा, आदर्शचारित्र्य और अनुपमत्याग ने धर्म की यथार्थ ज्योति प्रज्ज्वलित की। आपने लुप्तप्राय, शिथिलाचारग्रस्त मुनि परम्परा का पुनरुद्धार कर उसे जीवन्त किया, वह परम्परा अनवरतरूप से अद्यावधि प्रवहमान है।

१. आध्यात्मिक ज्योतिर्धर चारित्र-चक्रवर्ती परम पूज्य १०८ महर्षि आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज

दक्षिण भारत के प्रसिद्ध नगर बेलगांव जिले के चिकोड़ी तालुका में भोजग्राम है। भोजग्राम के समीप लगभग चार मील की दूरी पर विद्यमान येलगुल गाँव में नाना के घर आषाढ कृष्णा ६ विक्रम संवत् १९२९ सन् १८७२ बुधवार की रात्रि को आपका जन्म हुआ। ज्योतिषी से जन्म पत्रिका बनवाने पर उसने बताया था कि यह बालक अत्यन्त धार्मिक होगा, जगत भर में प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा और संसार के मायाजाल से दूर रहेगा।

पिता भीमगौंडा और माता सत्यवती के ये तीसरे पुत्र थे इसीसे मानो प्रकृति ने इन्हें रत्नत्रय और तृतीय रत्न सम्यक्चारित्र का अनुपम आराधक बनाया। आदिगौडा और देवगौंडा नामके आपके दो बड़े भाई थे। कुमगौंडा आपके अनुज थे। बहिन का नाम कृष्णा बाई था। इनके शान्त भावो के अनुरूप इन्हें सातगौडा कहते थे। गौंडा शब्द भूमिपति-पाटील का द्योतक है।

आचार्य श्री के जीवन पर उनके माता-पिता की धार्मिकता का बड़ा प्रभाव था। माता सत्यवती अत्यधिक धार्मिक थीं, अष्टमी चतुर्दशी को उपवास करतीं तथा साधुओं को आहार देती थी। बहुत शान्त तथा सरल प्रकृति की थीं। व्रताचरण, परोपकार, धर्मध्यान उनके जीवन के मुख्य अंग थे। पिता भीमगौडा प्रभावशाली, बलवान, रूपवान प्रतिभाशाली ऊँचे पूरे क्षत्रिय थे। उन्होंने १६ वर्ष पर्यन्त एक बार ही भोजन पानी के नियम का निर्वाह किया था। १६ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत रखा था। उन जैसा धर्माराधनापूर्वक सावधानी सहित समाधिमरण होना कठिन है। आचार्य महाराज के बड़े भाई देवगौंडा पाटिल ने भी दिगम्बर साधुराज का पद ग्रहण किया था। उन्हें वर्धमानसागर महाराज कहते थे। छोटे भाई कुमगौडा भी दीक्षा लेने का विचार रखते थे पर असमय में ही वे काल कवलित हो गए।

ऐसे धर्मनिष्ठ परिवार में चरित्रनायक ने जन्म लिया। सातगौडा बचपन से ही निवृत्ति की ओर बढते गए। बच्चों के समान गन्दे खेलो में उनकी कोई रुचि नही थी। वे व्यर्थ की बात नही करते थे। पूछने पर संक्षेप में उत्तर देते थे। लौकिक आमोद-प्रमोद से सदा दूर रहते थे, धार्मिक उत्सवों में जाते थे। घर में बहिन कृष्णा बाई की शादी में तथा छोटे भाई कुमगौड़ा की शादी मे सम्मिलित नहीं हुए थे। वे वीतराग प्रवृत्ति वाले थे। बाल्यकाल से ही वे शान्ति के सागर थे।

"मुनियों पर उनकी बड़ी भक्ति थी। वे अपने कन्धे पर एक मुनिराज को बैठाकर वेदगंगा तथा दूधगंगा नदियों के संगम के पार ले जाते थे। वे कपड़े की दुकान पर बैठते थे, मुख्य कार्य छोटा भाई करता था। छोटे भाई की अनुपस्थिति में वे ग्राहकों से कहते—"कपड़ा लेना है तो मन से चुन लो, अपने हाथ से नाप कर फाड़ लो और बही में लिख दो।" इस प्रकार उनकी निस्पृहता थी। वे कुटुम्ब की झंझटों में नहीं पड़ते थे। उनका आत्मबल अद्भुत था। उन्होने माता-पिता की खूब सेवा की और उनका समाधिमरण कराया किन्तु उनके स्वर्गारोहण के बाद भी उनके नेत्रों में अश्रु नहीं थे। उनका मनोबल महान् था, वे वैराग्यमूर्ति थे।

जब उनके विवाह का प्रसंग आया तो उन्होंने कहा—'मी ब्रह्मचारी राहणार' मैं ब्रह्मचारी रहूँगा। इन शब्दों को सुनते ही माता-पिता के नेत्रों में अश्रु आ गए। पिताश्री ने कहा—'माझा जन्म तुम्हो सार्थककेला' बेटे! तुमने हमारा जीवन और जन्म कृतार्थ कर दिया।

"महाराज के परिणाम छोटी अवस्था मे ही मुनिदीक्षा लेने के थे परन्तु माता-पिता ने आग्रह किया कि बेटा! जब तक हमारा जीवन है तब तक तुम दीक्षा न लेकर धर्मसाधन करो। इसलिये वे घर में रहे।"

शताब्दी के
दिगम्बर जैनाचार्य
चतुष्टय
19-20 वीं
1 आचार्य श्री शान्तिसागरजी
2. आचार्य श्री वीरसागरजी
3. आचार्य श्री शिवसागरजी
4. आचार्य श्री धर्मसागरजी

माता पिता के स्वर्गारोहण के बाद ४१ वर्ष की अवस्था में आपने मुनिदीक्षा के लिये दिगम्बर साधु देवप्पा स्वामी के पास जाकर याचना की, विनय की। गुरुदेव ने दिगम्बर मुनि की दीक्षा न देकर इनके कल्याणार्थ विक्रम संवत् १६७२ जेठ सुदी तेरस सन् १६१५ को इन्हें पहले क्षुल्लक दीक्षा दी। नाम शान्तिसागर रखा था। इन्होंने कोगनोली गाँव में क्षुल्लकरूप में प्रथम चातुर्मास किया। उस समय ये तपसाधना में विशेष संलग्न थे। कोगनोली में मन्दिर जी में वे ध्यान हेतु बैठे थे कि एक छह हाथ, लम्बा सर्प मन्दिर में घुसा और उसने यहाँ-वहाँ घूमने के बाद महाराज के शरीर पर चढ़ना प्रारम्भ किया और वह उनके शरीर पर लिपट गया। वहाँ मन्दिर में दीपक जलाने को उपाध्याय घुसा और उसकी निगाह सर्प पर पड़ी तो वह घबरा कर भागा। इस समाचार को सुनकर बहुत लोग वहाँ एकत्र हो गए। वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे, क्योंकि गड़बड़ी के कारण सर्प कहीं काट देगा तो अनर्थ हो जाएगा। बहुत समय के बाद सर्प धीरे-धीरे उतरा और बाहर चला गया। प्रतीत होता है कि वह यमदूत महाराज की परीक्षा लेने आया था कि इनमें धैर्य, निर्भीकता तथा स्थिरता कितनी है। इस परीक्षा में महाराज शुद्ध स्वर्ण निकले। इन समाचारों से सर्वत्र महाराज की महिमा का प्रसार हो गया।

यों भी महाराज श्री के जीवन में अनेक उपसर्ग आए। परन्तु 'यथा नाम तथा गुण' वाले आपने सबको समभाव से सहन किया। धौलपुर राजाखेड़ा में तो छिद्रि ब्राह्मण गुण्डों सहित नंगी तलवारें लेकर मारने आ गया था, उसको भी आपने क्षमा प्रदान की। सर्पराज से भी अनेक बार साक्षात्कार हुआ। शेर से भी मुलाकात हुई। एक बार असंख्य चोटियों ने आपके शरीर को अपना भोज्य बनाया फिर भी आप सामायिक में लीन रहे। एक चीटा आपके पुरुष लिंग से चिपट कर काटता रहा, खून बहता रहा परन्तु आप ध्यान से विचलित नहीं हुए।

जब आप क्षुल्लक अवस्था में थे उस समय आपको कठिनपरिस्थितियों का सामना करना पड़ा था क्योंकि तब मुनिचर्या भी शिथिलताओं से परिपूर्ण थी। साधु आहार के लिए उपाध्याय द्वारा पूर्व निश्चित गृह में जाते थे। मार्ग में एक चादर लपेट कर जाते थे। गृहस्थ के घर जाकर स्नान कर दिगम्बर हो आहार करते थे। घण्टा बजता रहता था ताकि अन्तराय का शब्द भी सुनाई न पडे और भोजन में किसी तरह का विघ्न न आवे।

महाराज ने यह प्रक्रिया नही अपनाई क्योंकि साधु को अनुद्दिष्ट आहार लेना चाहिए अतः वे निमंत्रित घर में न जा कर चर्या को निकलते। कभी-कभी आठ दिन पर्यन्त भोजन नहीं मिलने से उपवास हो जाता था। शनैः शनैः लोगों को पता चला कि साधु को आमंत्रण स्वीकार न कर वहाँ आहार लेना चाहिए जहाँ सुयोग वास हो तब शास्त्रानुसार चौके लगाकर आहार की व्यवस्था की गई। उनके जीवन से मुनियों को भी प्रकाश प्राप्त हुआ था।

नेमिनाथ भगवान के निर्वाणस्थान गिरनार पर्वत की वन्दना के पश्चात् इसकी स्थायी स्मृति रूप आपने ऐलक दीक्षा ग्रहण कर ली। ऐलक रूप में आपने नसलापुर में चातुर्मास किया वहां से चल कर ऐनापुर ग्राम में रहे। उस समय यरनाल में पंचकल्याणक महोत्सव होने वाला था वहाँ जिनेन्द्र भगवान के दीक्षा-कल्याणक दिवस पर आपने अपने गुरुदेव देवेन्द्रकीर्ति स्वामी से मुनि दीक्षा ग्रहण की। अब तो ये साधुराज ध्यान, तत्त्वचिन्तन, अहिंसापूर्ण जीवन में निरन्तर प्रगति करने लगे। इससे इनमें अद्‌भुत आत्मशक्तियों का नव जागरण होने लगा। बहिर्जगत् से कम सम्पर्क रख अन्तर्जगत् में स्थिर रहने वाले इन महात्मा के ज्ञान में भविष्य की अनेक घटनाओं का प्रतिबिम्ब पहले से आ जाया करता था। ऐसे अनेक प्रसंगों पर आपके कथन अक्षरशः सही सिद्ध हुए हैं। सन्त पुरुष अन्तरात्मा की आवाज को महत्व दिया करते हैं। कालिदास ने कहा है—"सतां हि सन्देहपदेषु वृत्तिषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः"।

महाराज कठोर तप रूप अग्नि में अपनी आत्मा को शुद्ध बना रहे थे। जब वे कुम्भोज बाहुबली में संघ सहित विराजमान थे तो उदीयमान पुण्यशाली सेठ पूनमचन्द घासीलाल जवेरी बम्बई के मन में इच्छा जगी कि यदि गुरुदेव शिखरजी की यात्रार्थ संघ सहित चलें, तो हम सब प्रकार की व्यवस्था करेंगे और संघ की सेवा भी करते रहेंगे। उन्होंने गुरुदेव के सम्मुख अपनी इच्छा व्यक्त की। सुयोग की बात महाराज ने प्रार्थना स्वीकार कर ली। सबको अपार आनन्द हुआ। सन् १६२७ के कार्तिक माह के अन्त में अष्टाह्निका के बाद संघ का बिहार हुआ। लगभग दो सौ व्यक्ति संघ में थे।

समडोली में नेमिसागरजी की ऐलक दीक्षा व वीरसागरजी की मुनिदीक्षा के अवसर पर समस्त संघ ने महाराज को "आचार्य पद" से अलंकृत कर अपने को कृतार्थ किया। अपूर्व प्रभावना करता हुआ संघ सन् १६२८ के फाल्गुन मे शिखरजी पहुँच गया। वहां अष्टाह्निका महापर्व पंचकल्याणक महोत्सव वैभव सहित सम्पन्न हुआ। लाखों जैनों ने एकत्र होकर महान् पुण्य संचय किया। संघ ने समस्त उत्तर भारत में विहार करके जीवों का अवर्णनीय कल्याण किया। महाराज के पुण्य से कहीं भी संघ के विहार मे किसी तरह की बाधा नहीं आई।

गजपंथा मे चातुर्मास के बाद पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ। उस अवसर पर उपस्थित धार्मिक संघ ने महाराज को "चारित्र चक्रवर्ती" पद से अलंकृत किया। विशुद्ध श्रद्धा, महान् ज्ञान और श्रेष्ठ संयम की समाराधना द्वारा महाराज श्री की आत्मा अपूर्व हो रही थी। सम्यक् चारित्र रूप चक्र का प्रवर्तन कर महाराज ने चारित्र चक्रवर्ती का ही तो काम किया था। महाराज कहते थे—

"सम्यक्त्व और चारित्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है, तब एक की ही प्रशंसा क्यों की जाती है? सम्यक्त्व की प्राप्ति दैव के आधीन है, चारित्र पुरुषार्थ के आधीन है।"

संयम यदि सम्यक्त्व सहित है तो वह मोक्ष का कारण है तथा यदि वह सम्यक्त्व रहित है तो वह नरकादि दुर्गतियों से जीव को बचाता है अतः जब तक काललब्धि आदि साधन सामग्री नहीं प्राप्त हुई है तब तक भी संयम का शरण लेना हितकारी है। सदाचरण रूप प्रवृत्ति कभी भी पतन का कारण नही होगी। व्रताचरण के द्वारा समलंकृत जीव देवगति में जाकर महाविदेह में विद्यमान सीमन्धर आदि तीर्थंकरों के समवशरण में पहुंच सकता है तथा उनकी दिव्यध्वनि सुनकर मिथ्यात्व परिणति का त्याग करके वह सम्यक्त्व द्वारा आत्मा का उद्धार कर सकता है।

आचार्यश्री का प्राण जिनागम था। उसके विरुद्ध वे एक भी बात न कहते थे और न करते थे। समाज में प्रचलित आगम विपरीत प्रवृत्तियों के विरुद्ध उपदेश देने में आचार्यश्री को तनिक भी संकोच नहीं होता था। जन समुदाय के विरोध की उन्हें तनिक परवाह नहीं थी। आचार्यश्री ने अपने तपः पुनीत जीवन तथा उपदेशों द्वारा जन साधारण का जितना कल्याण किया उतना हजारों उपदेशक तथा बड़े-बड़े राज्य शासन भी कानून द्वारा सम्पन्न नहीं कर सकते थे।

बम्बई सरकार ने हरिजनों के उद्धार के लिये एक हरिजन मन्दिर प्रवेश कानून सन् १६४७ में बनाया इसका आश्रय लेकर ४ अगस्त १६४८ को कुछ मेहतरों, चमारों ने जैन मन्दिर में जबरन घुसने का प्रयास किया। यह ज्ञातकर अनुभवी आचार्य महाराज की अन्तरात्मा ने उन्हें कड़ा कदम उठाने की प्रेरणा की। महाराज ने प्रतिज्ञा कर ली कि "जब तक पूर्वोक्त बम्बई कानून से आई हुई विपत्ति जैन मन्दिरों से दूर नहीं होती है तब तक मैं अन्न ग्रहण नहीं करूंगा।" २८ नवम्बर सन् १६५० को अकलूज पहुंच कर सोलापुर के कलेक्टर ने रात्रि के समय दिगम्बर जैन मन्दिर का ताला तुड़वा कर उसके भीतर मेहतरों चमारों का प्रवेश कराया। जैन बन्धुओं ने आपत्ति की तो उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। मुकदमा चला। २४ जुलाई १६५१ को हाईकोर्ट के प्रधान न्याया-

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर जी
क्षु.दीक्षा १९७२ कोगनोली १९९२ गोरल
१९७३ कुम्भोज १९९३ प्रतापगढ़
१९७४ कोगनोली १९९४ गजपंथा
१९७५ जैनवाड़ी १९९५ बारामति
१९७६ नसलापुर १९९६ प्रतापगढ़
मुनि १९९७ गोरल
१९७७ कोगनोली १९९८ अकलूज
१९७८ नसलापुर १९९९ कोरोली
१९७९ ऐनापुर २००० सिद्धक्षेत्र
१९८० कोन्नूर २००१ कुन्थलगिरि
१९८१ समडोली २००२ फलटण
१९८२ कुम्भोज २००३ कवलाना
१९८३ गांढ्डी २००४ शोलापुर
१९८४ बाहुबली कुंभोज २००५ फलटण
१९८५ कटनी २००६ कवलाना
१९८६ ललितपुर २००७ गजपंथा
१९८७ मथुरा २००८ बारामति
१९८८ देहली २००९ लोनंद
१९८९ जयपुर २०१० कुंथलगिरि
१९९० ब्यावर २०११ फलटण
१९९१ उदयपुर २०१२ कुंथलगिरि
आचार्य वीरसागर जी
१९९३ ईडर
१९९४ टाकाटूका
१९९५ इन्दौर
१९९६ इन्दौर
१९९७ कचनेर
१९९८ कन्नड़
१९९९ कारंजा
२००० खातेगांव
२००१ उज्जैन
२००२ झालरापाटन
२००३ रामगंज मंडी
२००४ नैनवां
२००५ सवाई माधोपुर
२००६ नागौर
२००७ सुजानगढ़
२००८ फुलेरा
२००९ ईसरी
२०१० निवाई
२०११ टोडारायसिंह
२०१२ जयपुर
२०१३ जयपुर
२०१४ जयपुर
आचार्य शिवसागर जी
२०१५ ब्यावर
२०१६ अजमेर
२०१७ सुजानगढ़
२०१८ सीकर
२०१९ लाडनूं
२०२० जयपुर
२०२१ पपौरा
२०२२ महावीरजी
२०२३ कोटा
२०२४ उदयपुर
२०२५ प्रतापगढ़
आचार्य धर्म सागर जी
२०१५ कालू
२०१६ बीरगांव
२०१७ बून्दी
२०१८ शाहगढ़
२०१९ सागर
२०२० खुरई
२०२१ इन्दौर
२०२२ झालरापाटन
२०२३ टोंक
२०२४ बून्दी
२०२५ बिजोलिया
२०२६ जयपुर
२०२७ टोंक
२०२८ अजमेर
२०२९ लाडनूं
२०३० सीकर
२०३१ दिल्ली
२०३२ सहारनपुर
२०३३ बड़ौत
२०३४ किशनगढ़
२०३५ उदयपुर
२०३६ सलुम्बर
२०३७ ऋषभदेव
जैनाचार्य चतुष्टय चातुर्मास स्थल चक्र

आचार्य चतुष्टय शिष्यावलि

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री १०८ शान्तिसागर जी महाराज के शिष्य वर्ग

मुनि वीरसागर जी
,, नेमीसागर जी
,, चन्द्रसागर जी
,, पायसागर जी
,, नेमिसागर जी
,, कुन्थसागर जी
,, धर्मसागर जी
,, सुधर्मसागर जी
,, आदिसागर जी
,, वर्धमानसागर जी

क्षु० विमलसागर जी
,, अजितसागर जी
,, पायसागर जी
,, समन्तभद्र जी
,, चन्द्रकीर्ति जी
,, चन्द्रगुप्ति जी
आ० चन्द्रमति जी
क्षु० जिनमति जी
,, सुमतिमति जी
,, अनन्तमति जी
,, अजितमति जी
,, विमलमति जी

आचार्य श्री १०८ वीरसागर जी के शिष्य वर्ग

मुनि शिवसागर जी
,, धर्मसागर जी
,, सुमतिसागर जी
,, पद्मसागर जी
,, जयसागर जी
,, सन्मतिसागर जी
,, श्रुतसागर जी
ऐ० अजितसागर जी
क्षु० सिद्धसागर जी
,, सुमतिसागर जी
आ० वीरमति जी
,, सुमति जी

आ० सुमतिमति जी
,, पार्श्वमति जी
,, विमलमति जी
,, शान्तिमति जी
,, इन्दुमति जी
,, सिद्धमति जी
,, वासमति जी
,, ज्ञानमति जी
,, सुपार्श्वमति जी
क्षु० गुणमति जी
,, नन्दमति जी
,, जिनमति जी
,, पद्मावति जी

आचार्य श्री १०८ शिवसागर जी के शिष्य वर्ग

मुनि ज्ञानसागर जी
,, वृषभसागर जी
,, अभयसागर जी
,, अजितसागर जी
,, आनन्दसागर जी
,, सुपार्श्वसागर जी
,, श्रेयांससागर जी
,, समाधिसागर जी
,, बुद्धिसागर जी
,, ज्ञानानन्दसागर जी

मुनि धर्मेन्द्रसागर जी
ऐ० अभिनन्दनसागर जी
क्षु० सम्भवसागर जी
,, शीतलसागर जी
,, यतीन्द्रसागर जी
,, योगीन्द्रसागर जी
आ० चन्द्रमति जी
,, पद्मावति जी
,, नेममति जी

आ० विद्यामति जी
,, जिनमति जी
,, बुद्धिमति जी
,, राजमति जी
,, सम्भवमति जी
,, आदिमति जी
,, विशुद्धमति जी
,, अनन्तमति जी
,, अरहमति जी
,, श्रेयांसमति जी

आ० कनकमति जी
,, भद्रमति जी
,, कल्याणमति जी
,, सुशीलमति जी
,, सन्मतिमति जी
,, अभयमति जी
,, विनयमति जी
,, श्रेष्ठमति जी
क्षु० सुव्रतमति जी

आचार्य श्री १०८ धर्मसागर जी के शिष्य वर्ग

मुनि पुष्पदन्तसागर जी
,, बोधसागर जी
,, निर्मलसागर जी
,, दयासागर जी
,, अभिनन्दनसागर जी
,, संयमसागर जी
,, महेन्द्रसागर जी
,, सम्भवसागर जी
,, वर्धमानसागर जी
,, यतीन्द्रसागर जी
,, योगीन्द्रसागर जी
,, बुद्धिसागर जी
,, चारित्रसागर जी

मुनि कीर्तिसागर जी
,, भद्रसागर जी
,, भूपेन्द्रसागर जी
,, सुदर्शनसागर जी
,, गुणसागर जी
,, निर्वाणसागर जी
,, पूर्णसागर जी
,, क्षमासागर जी
,, आनन्दसागर जी
,, विपुलसागर जी
,, मल्लिसागर जी
,, समतासागर जी

ऐ० वैराग्यसागर जी
क्षु० पूर्णसागर जी
,, सिद्धसागर जी
,, परमानन्दसागर जी
आ० अभयमति
,, विद्यामति जी
,, नयमति जी
,, रत्नमति जी
,, गुणमति जी
,, सिद्धमति जी
,, विमलमति जी
,, निर्मलमति जी

आ० संयममति जी
,, श्रुतमति जी
,, समयमति जी
,, प्रवचनमति जी
,, चन्द्रमति जी
,, शुभमति जी
,, विपुलमति जी
,, शिवमति जी
,, समाधिमति जी
,, सुरत्नमति जी
क्षु० दयामति जी
,, विजयमति जी
,, यशोमति जी

धीश श्री चागला ने फैसला सुनाया—"बम्बई कानून का लक्ष्य हरिजनों को सवर्ण हिन्दुओं के समान मंदिर प्रवेश का अधिकार देना है। जैनियों तथा हिन्दुओं में मौलिक बातों की भिन्नता है। उनके स्वतंत्र अस्तित्व तथा उनके धर्म के सिद्धांतों के अनुसार शासित होने के अधिकारों के विषय में कोई विवाद नहीं है। अतः हम एडवोकेट जनरल की यह बात अस्वीकार करते हैं कि कानून का ध्येय जैनों तथा हिन्दुओं के भेदों को मिटा देना है।"

"दूसरी बात यह है कि यदि कोई हिन्दू इस कानून के बनने के पूर्व जैन मन्दिरों में अपने पूजा करने के अधिकार को सिद्ध कर सके, तो वही अधिकार हरिजन को भी प्राप्त हो सकेगा। अतः हमारी राय में प्रार्थियों का यह कथन मान्य है कि जहां तक इस सोलापुर जिले के जैन मन्दिर का प्रश्न है, हरिजनों को उसमें प्रविष्ट होने का कोई अधिकार नहीं है, यदि हिन्दुओं ने यह अधिकार कानून, रिवाज या परम्परा के द्वारा सिद्ध नहीं किया है।"

अपने अनुकूल निर्णय से बड़ा हर्ष हुआ। धर्मपक्ष की विजय हुई। इस सफलता का श्रेय पूज्य चारित्र चक्रवर्ती ऋषिराज को है जिन्होंने जिनशासन के अनुरागवश तीन वर्ष से अन्न छोड़ रखा था। आचार्य महाराज का अन्नाहार ११०५ दिनों के बाद हुआ था।

आचार्यश्री को श्रुतसंरक्षण की बड़ी चिन्ता थी। आपकी प्रेरणा से धवल महाधवल जयधवल रूप महान् शास्त्रों को ताम्रपत्र में उत्कीर्ण करवाया गया। तीनों सिद्धांत ग्रंथों के २६६४ ताम्रपत्रों का वजन लगभग ५० मन है। वे ग्रन्थ फलटण के जिनमन्दिर में रखे गए हैं। आचार्य महाराज की दृष्टि यह रही है कि शास्त्र द्वारा सम्यग्ज्ञान होता है अतः समर्थ व्यक्तियों को मन्दिरों में ग्रंथ बिना मूल्य भेट करने चाहिये ताकि सार्वजनिक रूप से सब लाभ ले सकें। वे कहते थे "स्वाध्याय करो। यह स्वाध्याय परम तप है। शास्त्रदान महापुण्य है। इसमें बड़ी शक्ति है।"

जीवन पर्यंत निर्दोष मुनिचर्या का पालन करते हुए आचार्यश्री ने अगस्त १९५५ के तीसरे सप्ताह में कुन्थलगिरि पर यम सल्लेखना ले ली। २६ अगस्त शुक्रवार को उन्होंने वीरसागर महाराज को आचार्यपद प्रदान किया उन्होंने कहा—"हम स्वयं के सन्तोष से अपने प्रथम निर्ग्रंथ शिष्य वीरसागर को आचार्य पद देते हैं।" वीरसागर महाराज को यह महत्त्वपूर्ण सन्देश भेजा था, "आगम के अनुसार प्रवृत्ति करना, हमारी ही तरह समाधि धारण करना और सुयोग्य शिष्य को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करना, जिससे परम्परा बराबर चले।" वीरसागर महाराज उस समय खानिया जयपुर में विराजमान थे।

महाराज श्री की समाधि-स्थिति की आनन्दोपलब्धि की कल्पना आर्तध्यान, रौद्रध्यान के जाल में फंसा गृहस्थ कैसे कर सकता है। महान् कुशल वीतराग योगीजन ही उस परमामृत की मधुरता को समझते हैं। महाराज उत्कृष्ट योगसाधना में संलग्न थे। घबराहट वेदना का लेश भी नहीं था। जैसे ३५ दिन बीते, ऐसे रात्रि भी व्यतीत हो गई। रविवार का दिन था। अमृतसिद्धि योग था। १८ सितम्बर भादों सुदी द्वितीया नभोमण्डल में सूर्य का आगमन हुआ घडी में छह बजकर पचास मिनट हुए थे कि चारित्र चक्रवर्ती साधु शिरोमणि क्षपकराज ने स्वर्ग को प्रयाण किया।

आचार्य महाराज ने सल्लेखना के २६ वें दिन के अपने अमर संदेश में दिनांक ८-९-५५ को कहा था—

"सुख प्राप्ति जिसको करने की इच्छा हो उस जीव को हमारा आदेश है कि दर्शन मोहनीय कर्म का नाश करके सम्यक्त्व प्राप्त करो। चारित्रमोहनीय कर्म का नाश करो। संयम को धारण करो।"

संयम के बिना चारित्रमोहनीय कर्म का नाश नहीं होता। डरो मत। धारण करने में डरो मत। संयम धारण किए बिना सातवां गुणस्थान नहीं होता है। सातवें गुणस्थान के बिना आत्मानुभव नहीं होता

है। आत्मानुभव के बिना कर्मों की निर्जरा नहीं होती। कर्मों की निर्जरा के बिना केवलज्ञान नहीं होता। ॐ सिद्धाय नमः।

सारांश: धर्मस्य मूलं दया। जिनधर्म का मूल क्या है? सत्य, अहिंसा। मुख से सभी सत्य, अहिंसा बोलते हैं, पालते नहीं। रसोई करो, भोजन करो—ऐसा कहने से क्या पेट भरेगा? क्रिया किए बिना, भोजन किए बिना पेट नहीं भरता है बाबा। इसलिये क्रिया करने की आवश्यकता है। क्रिया करनी चाहिये, तब अपना कार्य सिद्ध होता है।

सम्यक्त्व धारण करो, संयम धारण करो तब आपका कल्याण होगा, इसके बिना कल्याण नहीं होगा।

उन साधुराज के चरणों में कोटि-कोटि नमन !

२. परम पूज्य १०८ स्वर्गीय श्री वीरसागरजी महाराज :

स: जातो येन जातेन, याति धर्मः समुन्नतिम्।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते॥

जीते तो सभी जीव हैं परंतु जीना उन्हीं का सार्थक है जिनके जीवन से धर्मका उद्योत हो, धार्मिकता का विकास हो। आध्यात्मिक ज्योतिर्धर परम पूज्य १०८ चारित्र चक्रवर्ती शान्तिसागर जी महाराज के प्रधान शिष्य आचार्य वीरसागरजी महाराज ऐसे ही पुरुषों में से थे जिन्होंने न केवल अपना ही जीवन सार्थक बनाया अपितु कई भव्य जीव भी आपके निमित्त से 'स्व धर्म' की ओर मुड़े।

ऐसी इस दिव्य विभूति का जन्म निजाम प्रान्त हैदराबाद स्टेट औरंगाबाद (दक्षिण) जिले के अन्तर्गत वीरग्राम में खण्डेलवाल जातीय गंगवाल गोत्रीय श्रीमान् श्रेष्ठिवर रामसुख जी की धर्मपत्नी सौ० भाग्यवती की दक्षिण कुक्षि से विक्रम संवत् १९३२ आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा की प्रातः शुभ बेला में हुआ था। जब आप गर्भ में थे तब माता कुछ-न-कुछ शुभ स्वप्न देखा करती थी और उनकी भावना दान-पूजा, तीर्थवन्दनादि कार्यों को करने की रहा करती थी। माता-पिता ने बच्चे का नाम हीरालाल रखा। बालक के सुभग नाम कर्म के उदय के कारण उसे गोद में लेकर खिलाने वाला प्रत्येक स्त्री-पुरुष अपार हर्ष का अनुभव करता था।

शैशवावस्था बीती, बचपन आया, पाठशाला में पढने हेतु भेजे गए। अध्ययन की रुचि जाग्रत हुई पर घर के धार्मिक वातावरण ने आपको संस्कारवान बनने में बहुत सहायता की। देवदर्शन किये बिना आप भोजनादि नहीं करते थे। १६ वर्ष की अवस्था मे माता-पिता ने आपका पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न करना चाहा परन्तु आपने उसे स्वीकार नहीं किया। आप अपना अधिकांश समय जिनालय में पूजन, पाठ, स्वाध्यायादि में बिताते, उदासीन रूप से व्यापारादि भी करते, तभी आपके सौभाग्य से विहार करते हुए ऐलक श्री पन्नालालजी महाराज नांदगांव पधारे। ऐलक महाराज ने आपकी प्रवृत्ति देखकर आपको व्रत ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया। आपने महाराज श्री से सप्तम प्रतिमा के व्रत धारण कर लिये। कुछ दिन ऐलक जी के साथ रहकर ही आपने धर्म-ध्यान साधा।

व्यापार में आपका मन नहीं लगा तो आपने अतिशय क्षेत्र कचनेर में समाज के बालकों में धार्मिक संस्कार डालने हेतु एक निःशुल्क पाठशाला चलाई, पाठशाला खूब चली। बड़े योग्य विद्यार्थी निकले जिन्होंने अपने गुरु के समान ही गौरव अर्जित किया। आचार्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराज और मुनि श्री सुमति सागरजी महाराज आपकी इसी पाठशाला के प्रारम्भिक शिष्य रहे थे। आपकी धार्मिक शिक्षा से प्रेरणा प्राप्त कर इसी प्रकार अनेक जीवों ने अपना कल्याण किया।

शनैः शनैः आपको पाठशाला से भी अरुचि होने लगी –मन किसी और साधना के लिए उत्सुक था तभी आपके कानों में चा० च० आचार्य शान्तिसागरजी की कीर्ति पहुंची कि वे चारित्रधारी भी हैं और उत्कृष्ट विद्वान् भी तब वे कोहनूर (महाराष्ट्र) में विराज रहे थे। यह जानकर आप (ब्र० हीरालालजी) तथा नाँदगाँव निवासी सेठ श्री खुशालचन्दजी पहाड़े (पूज्य १०८ श्री चन्द्रसागरजी महाराज) जिन्हें सातवीं प्रतिमा के व्रत चरितनायक ने ही दिए थे–दोनों कोहनूर पहुँचे। वहाँ महाराज श्री के दर्शन से दोनों को अपार हर्ष और सन्तोष हुआ। आप दोनों वहाँ तीन चार दिन रुककर महाराज की चर्या और अन्यगतिविधियों का निरीक्षण करते रहे परन्तु महाराज की चर्या में कोई त्रुटि निकाल पाने में दोनों ही असफल रहे।

अब तो दोनों ने सोचा कि ऐसे गुरुदेव को छोड़कर अन्यत्र नहीं जाना चाहिए। यह अपना परम सौभाग्य एवं असीम पुण्योदय है कि ऐसे गुरु मिले। दोनों ब्रह्मचारी गुरुदेव के पास पहुँचे और उनसे अपने जैसा बनाने की प्रार्थना करने लगे। महाराज श्री ने दोनों का परिचय प्राप्त किया और कहा कि पहले आप दोनों अपने घरेलू और व्यापार सम्बन्धी कार्यों से निवृत्त हो जाओ फिर दीक्षा की बात सोचेंगे। गुरु की आज्ञा पाकर दोनों अपने-अपने स्थानों को आए और शीघ्र ही गृहस्थ सम्बन्धी अपने सारे उत्तरदायित्वों से मुक्त होकर आचार्य श्री के पास वि० सं० १९७९ में कुम्भोज जा पहुँचे। वहाँ फिर दीक्षा की याचना की। महाराज ने दीक्षा की गुरु गम्भीरता और कठोरता के बारे में तथा उपसर्ग, परीषहों व व्रत उपवासों के सम्बंध में खूब कह कर इन्हें अपने संकल्प से विरत करना चाहा परन्तु ये दोनों डटे रहे। दोनों का दृढ संकल्प जानकर वि० सं० १९८० भाद्रपद शुक्ला सप्तमी को दोनों को क्षुल्लक दीक्षा दी गई। ब्र० हीरालालजी अब महाराज वीरसागरजी हो गए और ब्र० खुशालचन्द्रजी चन्द्रसागर बन गए। दोनों ने वर्षों तक गुरु महाराज के सान्निध्य में रह कर ध्यानाध्ययन किया। कुछ ही समय बाद फिर क्षु० वीरसागरजी महाराज ने मुनिदीक्षा हेतु प्रार्थना की। आचार्य श्री ने इन्हें योग्य पात्र समझ कर ७ माह के बाद ही वि० सं० १९८१ में आश्विन शुक्ला ११ को समडोली नगर में कर्मोच्छेदिनी दैगम्बरी दीक्षा दे दी। दिगम्बर वेष धारण कर आप अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा अपने मनुष्य जन्म को धन्य समझने लगे।

आचार्य श्री के साथ ही आपने सब सिद्धक्षेत्रों व अतिशय क्षेत्रों की वन्दना की। १२ चातुर्मास भी आपने साथ ही किए। आपकी गुरुभक्ति अनुपम थी।

संघ के विशाल हो जाने के कारण संघस्थ सर्व मुनियों को आचार्य श्री ने अलग-अलग विहार करने की आज्ञा दे दी। पूज्य वीरसागरजी और मुनि आदिसागरजी–दोनों को साथ रखकर स्वतंत्र कर दिया। पृथक होने के बाद आपका प्रथम वर्षा योग वि० सं० १९९३ में ईडर (वेथपुर) में हुआ। अनन्तर क्रमशः टांका टूंका, इन्दौर (२), कचनेर, कन्नड़, कारजा, खातेगांव, उज्जैन, झालरापाटन, रामगंज मण्डी, नैनवां, सवाई माधोपुर, नागौर, सुजानगढ़, फुलेरा, ईसरी, निवाई, टोडारायसिंह और जयपुर खानियां (३) मे आपके चातुर्मास हुए। सर्वत्र अभूतपूर्व धर्मप्रभावना हुई। आपने अपने साधु जीवन में छह क्षुल्लक दीक्षाएँ, ८ क्षुल्लिका दीक्षाएँ, ११ आर्यिका दीक्षाएँ और ७ मुनिदीक्षाएँ प्रदान कर इन्हें धर्ममार्ग में योजित किया तथा परम्परा को गति प्रदान करते हुए आने वाली सन्तति के लिए आदर्श प्रस्तुत किया।

विक्रम सम्वत् २०१२ में जब महाराज श्री संघ सहित खानियाँ जयपुर में विराज रहे थे। तब आपके गुरुदेव चा० च० आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज ने कुन्थलगिरि में अपनी यम सल्लेखना के अवसर पर अपना आचार्य पद वहाँ उपस्थित विशाल जनसमुदाय के बीच आपको प्रदान करने की घोषणा की थी। आचार्य श्री द्वारा प्रदत्त पीछी-कमण्डलु आपको जयपुर में एक विशाल आयोजन में विशाल चतुर्विधसंघ के समक्ष विधिपूर्वक अर्पित किए गए।

आपके सान्निध्य में सं० १९९७ में कचनेर में, सं० १९९८ में मांगी तुंगी में, सं. १९९९ में सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरि में, सं० २००१ में पिड़ावा में पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएँ तथा सं० २०११ में निवाई में मानस्तम्भ प्रतिष्ठा सानन्द सम्पन्न हुईं। आचार्य श्री ने संघ सहित भारत के अनेक प्रान्तों—राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र—में निर्भीकतापूर्वक विहार किया। विहार में कभी किसी प्रकार की विपत्ति नहीं आई। मुक्तागिरि से खातेगांव का रास्ता बड़ा भयानक है, ऐसे मार्ग में भी महाराज के तप के प्रभाव से कोई अप्रिय घटना नहीं घटी। आपके सदुपदेश से प्रभावित होकर कई मांसाहारियों ने मांस भक्षण का त्याग किया, रात्रि भोजन का त्याग किया।

महाराज श्री साधुचर्या के इतने पाबन्द थे कि अस्वस्थ दशा में भी कभी प्रमाद नहीं करते थे। अपस्मार और कम्पन रोगों ने भी आप पर आक्रमण किया किन्तु आपके तपोबल व पुण्यप्रभाव से वे शीघ्र दूर हो गए। नागौर में आपकी पीठ पर नारियल के आकार का एक भयानक फोड़ा हो गया फिर भी महाराज ने अध्ययन-अध्यापन सम्बन्धी अपनी क्रियाओं में कभी प्रमाद नहीं किया।

वि० सं० २०१४ का वर्षायोग जयपुर खानियां में था। आप अस्वस्थ तो नहीं थे किन्तु आपकी शारीरिक दुर्बलता बढ़ती जा रही थी कि अचानक ही आश्विन कृष्णा अमावस्या को प्रातः १० बजकर ५० मिनट पर आप इस लोक और नश्वर देह को छोड़कर सुरलोक को प्रयाण कर गए।

आचार्यश्री परमदयालु, स्वाध्यायशील, तपस्वी अध्यात्मयोगी निस्पृह साधु शिरोमणि थे। आपके आदर्श जीवन ने हजारों को त्याग मार्ग की ओर उन्मुख किया।

ऐसे परमपावन, आचार्यप्रवर के चरणो में सश्रद्ध नमन !

३. आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज :

वर्तमान शताब्दी की दिगम्बर जैनाचार्य परम्परा के तृतीय आचार्य प. पू. प्रातःस्मरणीय परम तपस्वी बालब्रह्मचारी आचार्यश्री शिवसागरजी महाराज थे। आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के समय में भारतवर्ष में साधु संघ का आदर्श प्रस्तुत हुआ था। आपने आचार्यश्री शान्तिसागरजी महाराज द्वारा आर्षानुसार प्रस्थापित परम्परा को अक्षुण्ण तो बनाये ही रखा, साथ ही संघ मे अभिवृद्धि कर संघानुशासन का आदर्श भी उपस्थित किया। भारतवर्ष का सम्पूर्ण जैनजगत् आपके आदर्श संघ के प्रति नत मस्तक था। साधु समुदाय में ज्ञान-जिज्ञासा एवं उसकी प्राप्ति की सतत लगन के साथ चारित्र का उच्चादर्श देखकर विद्वद्वर्ग भी संघ के प्रति आकृष्ट था और प्रबुद्ध साधुवर्ग से अपनी शंकाओं के समाधान प्राप्त कर आनन्द प्राप्त करता था।

दिगम्बर मुनि धर्म की अविच्छिन्न धारा से सुशोभित दक्षिण भारत के अन्तर्गत वर्तमान महाराष्ट्र प्रान्तस्थ औरंगाबाद जिले के अड़गांव ग्राम में रांवका गोत्रीय खण्डेलवाल श्रेष्ठि श्री नेमीचंद्रजी के गृहांगण में माता दगड़ाबाई की कुक्षि से वि० सं० १९५८ में आपका जन्म हुआ था। जन्म नाम हीरालाल रखा गया था। आप दो भाई थे, दो बहिनें भी थीं। प्रतिभावान व कुशाग्रबुद्धि होते हुए भी साधारण आर्थिक स्थिति के कारण आप विशेष शिक्षा नहीं ग्रहण कर पाये।

औरंगाबाद जिले के ही ईरगांव वासी ब्र० हीरालालजी गंगवाल (स्व० आचार्य श्री वीरसागरजी) आपके शिक्षागुरु रहे। निकटस्थ अतिशयक्षेत्र कचनेर के पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन विद्यालय में आपका प्राथमिक विद्याध्ययन हुआ। धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ हिन्दी का तीसरी कक्षा तक ही आपका अध्ययन हो पाया था कि

अचानक महाराष्ट्र प्रान्त में फैली प्लेग की भयंकर बीमारी की चपेट में आपके माता-पिता का एक ही दिन स्वर्गवास हो गया। माता-पिता की वात्सल्यपूर्ण छत्रछाया में बालक अपना पूर्ण विकास कर पाता है, किन्तु आपके जीवन के तो प्राथमिक चरण में ही उसका अभाव हो गया, इसका प्रभाव आपके विद्याध्ययन पर पड़ा। आपके बड़े भाई का विवाह हो चुका था, किन्तु विवाह के कुछ समय बाद ही उनका भी देहान्त हो जाने के कारण १३ वर्षीय अल्पवय में ही आप पर गृहस्थ संचालन का भार आ पड़ा। कुशलता पूर्वक आपने इस उत्तरदायित्व को भी निभाया।

माता-पिता एवं बड़े भाई के आकस्मिक वियोग के कारण संसार की क्षणस्थायी परिस्थितियों ने आपके मन को उद्वेलित कर दिया। फलस्वरूप, गृहस्थी बसाने के विचारों को मन ने कभी भी स्वीकार नहीं किया। विवाह के प्रस्ताव प्राप्त होने पर भी आपने सदैव अपनी असहमति ही प्रगट की। आप आजीवन ब्रह्मचारी ही रहे। २८ वर्ष की युवावस्था में असीम पुण्योदय से आपको आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के दर्शन करने का मंगल अवसर मिला तथा उसी समय आपने यज्ञोपवीत धारण कर द्वितीय व्रत-प्रतिमा ग्रहण की। महामनस्वी चा० च० आचार्य श्री के द्वारा बोया गया यह व्रतरूप बीज आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के चरणसान्निध्य में पल्लवित पुष्पित हुआ।

वि० सं० १९९९ की बात है, अब तक आपके आद्य विद्यागुरु ब्र० हीरालालजी गंगवाल आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज से मुनि दीक्षा ग्रहण कर चुके थे और मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र पर विराजमान थे। आपने उनसे सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये तथा ब्रह्मचारी अवस्था में संघ में प्रवेश किया। बाल्यावस्था से ही आपकी स्वाध्याय की रुचि थी। वह अब और तीव्रतर होने लगी अत: आप विभिन्न ग्रंथों का अध्ययन करने लगे। "ज्ञानं भार: क्रियां बिना" की उक्ति आपके मन को आन्दोलित करने लगी। आपके मन में चारित्र ग्रहण करने की उत्कट भावना ने जन्म लिया। आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज का जब सिद्धवरकूट सिद्धक्षेत्र पर ससंघ पहुंचना हुआ तब आपने वि० सं० २००० में क्षुल्लकदीक्षा ग्रहण की। आपको क्षु० शिवसागर नाम प्रदान किया गया। अद्भुत संयोग रहा हीरालाल द्वय का। गुरु और शिष्य दोनों ही हीरा-लाल थे। यह गुरु-शिष्य संयोग वीरसागरजी महाराज की सल्लेखना तक निर्बाधरूप से बना रहा।

निरन्तर ज्ञान-वैराग्य शक्ति की अभिव्यक्ति ने आपको निर्ग्रंथ-दिगम्बर दीक्षा धारण करने के लिये प्रेरित किया। फल स्वरूप वि० सं० २००६ में नागौर नगर में आषाढ़ शुक्ला ११ को आपने आचार्य श्री वीरसागरजी के पादमूल में मुनिदीक्षा ग्रहण की। वर्तमान पर्याय का यह आपका चरम विकास था। अब आप मुनि शिवसागरजी थे। मुनिदीक्षा के पश्चात् ८ वर्ष पर्यंत गुरु-सन्निधि में आपकी योग्यता बढ़ती ही चली गयी। आपने गुरुदेव के साथ श्री सम्मेदशिखरजी सिद्धक्षेत्र की यात्रा वि. सं. २००९ में की। जब वि. सं. २०१४ में आपके गुरु का जयपुर खानिया में समाधिमरण पूर्वक स्वर्गवास हो गया तब आपको आचार्यपद प्रदान किया गया। इस अवधि में आपका ज्ञान भी परिष्कृत हो चुका था। आपने चारों अनुयोग संबंधी ग्रंथों का अध्ययन कर लिया था। तथा अनेक स्तोत्र पाठ समयसार कलश, स्वयंभू स्तोत्र, समाधितंत्र, इष्टोपदेश आदि संस्कृत रचनाएं कंठस्थ भी कर ली थी। मातृभाषा मराठी होते हुए भी आप हिन्दी अच्छी बोल लेते थे।

वि० सं० २०१४ में ही आचार्यपद ग्रहण के पश्चात् आपने ससंघ गिरिनार क्षेत्र की यात्रा की। उसके बाद क्रमश: ब्यावर, अजमेर, सुजानगढ़, सीकर, लाडनूं, खानियां (जयपुर), पपौरा, महावीरजी, कोटा, उदयपुर और प्रतापगढ़ में चातुर्मास किये। इन वर्षों में आपके द्वारा संघ की अभिवृद्धि के साथ-साथ अत्यधिक धर्म प्रभावना हुई। ११ वर्षीय इसी आचार्यत्वकाल में आपने अनेक भव्यजीवों को मुनि-आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक-क्षुल्लिका पद की दीक्षाएं प्रदान की तथा सैकड़ों श्रावकों को अनेकविध व्रत, प्रतिमा आदि ग्रहण कराकर मोक्षमार्ग में अग्रसर किया। आपके सर्वप्रथम दीक्षित शिष्य मुनि ज्ञानसागरजी महाराज थे। उसके अनन्तर आपने ऋषभसागरजी,

भव्यसागरजी, अजितसागरजी, सुपार्श्वसागरजी, श्रेयांससागरजी, सुबुद्धिसागरजी को मुनिदीक्षा प्रदान की। आपने सर्वप्रथम आर्यिका दीक्षा चन्द्रमतीजी को प्रदान की। उसके बाद क्रमश: पद्मावतीजी, नेमामतीजी, विद्यामतीजी, बुद्धिमतीजी, जिनमतीजी, राजुलमतीजी, संभवमतीजी, आदिमतीजी, विशुद्धमतीजी, अरहमतीजी, श्रेयांसमतीजी, कनकमतीजी, भद्रमतीजी, कल्याणमतीजी, सुशीलमतीजी, सन्मतीजी, धन्यमतीजी, विनयमतीजी एवं श्रेष्ठमतीजी सबको आर्यिका दीक्षा दी। आपके द्वारा दीक्षित सर्वप्रथम क्षुल्लक शिष्य सम्भवसागरजी थे, साथ ही आपने शीतलसागरजी, यतीन्द्रसागरजी, धर्मेन्द्रसागरजी, भूपेन्द्रसागरजी व योगीन्द्रसागरजी को भी क्षुल्लक के व्रत दिए। क्षुल्लक धर्मेन्द्रसागरजी को उनकी सल्लेखना के अवसर पर आपने मुनिदीक्षा दी थी। ऐलक अभिनन्दनसागरजी आपके द्वारा अन्तिम दीक्षित भव्यप्राणी हैं। आपके अन्तिम शिष्य हैं। सुव्रतमती क्षुल्लिका भी आपसे ही दीक्षित थीं, इसके अतिरिक्त तीन भव्य प्राणियों को उनकी सल्लेखना के अवसर पर आपसे मुनिदीक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य मिला था। वे थे आनन्दसागरजी, ज्ञानानन्दसागरजी तथा समाधिसागरजी। इन तीनों ही साधुओं की सल्लेखना आपकी सन्निधि में ही हुई थी।

आपके आचार्यत्वकाल में संघ विशालता को प्राप्त हो चुका था। उसकी व्यवस्था सम्बन्धी सारा संचालन आप अत्यन्त कुशलता पूर्वक करते थे। कृशकाय आचार्य श्री का आत्मबल बहुत दृढ था। तपश्चर्या की अग्नि में तपकर आपके जीवन का निखार वृद्धिगत होता जाता था। आपके कुशल नेतृत्व से सभी साधुजन सतुष्ट थे। न तो आपको छोड़कर कोई जाना ही चाहता था और न आपने आत्मकल्याणार्थी किसी साधु या श्रावक को भी कभी संघ से जाने के लिए कहा। आपका अनुशासन अतीव कठोर था। संघ मे कोई भी त्यागी आपकी दृष्टि में लाये बिना श्रावकों से अल्प से अल्प वस्तु की भी याचना नहीं कर सकता था। संघव्यवस्था सुचारु रीत्या चले, इसके लिये प्राय: आर्यिका वर्ग मे एक या दो प्रधान आर्यिकाओं की नियुक्ति आप कर दिया करते थे। साधुओं के लिये आपके सहयोगी थे संघस्थ मुनि श्री श्रुतसागरजी महाराज। अनुशासन की कठोरता के बावजूद आपका वात्सल्य इतना अधिक था कि कोई शिष्य आपके जीवनकाल मे आपसे पृथक् नही हुआ। संघ का विभाजन आपकी सल्लेखना के पश्चात् ही हुआ। आपने एक विशाल संघ का सचालन करते हुए भी कभी आकुलता का अनुभव नहीं किया।

आपके आचार्यत्व काल में सबसे महत्वपूर्ण एवं सफल कार्य हुआ 'खानियां तत्त्व चर्चा'। पिछले दो दशकों से चले आ रहे सैद्धान्तिक द्वन्द्व से आपके मन में सदैव खटक रहती थी। उसे दूर करने का प्रयत्न किया आपने सोनगढ़ पक्षीय व आगमपक्षीय विद्वानो के मध्य तत्त्वचर्चा का आयोजन करवा कर। आपकी मध्यस्थता मे होनेवाली इस तत्त्वचर्चा का फल तो विशेष सामने नहीं आया, किन्तु आपकी निष्पक्षता के कारण उभयपक्षीय विद्वान् आमने-सामने एक मंच पर एकत्र हुए और उन्होने अपने-अपने विचारो का आदान-प्रदान अत्यन्त सौम्य वातावरण में किया। इस तत्त्वचर्चा यज्ञ में सम्मिलित आगन्तुकों मे प्राय: सभी उच्चकोटि के विद्वान् थे। पंडित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य वाराणसी, पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री, पं० मक्खनलालजी शास्त्री, पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य, पं० रतनचन्दजी मुख्तार आदि विद्वानों ने परस्पर बैठकर संघ-सान्निध्य में चर्चा की थी। इस चर्चा को खानियां तत्त्वचर्चा नाम से २ भागों मे सोनगढ़ पक्ष की ओर से टोडरमल स्मारक वालों ने प्रकाशित भी किया है।

चर्चा के सम्बन्ध में पं० कैलाशचन्द्रजी ने अपना अभिमत जैन सन्देश (अंक ७ नवम्बर, १९६७) के सम्पादकीय लेख में लिखा था कि "इस (खानियातत्वचर्चा) के मुख्य आयोजक तथा वहां उपस्थित मुनिसंघ को हम एकदम तटस्थ कह सकते हैं, उनकी ओर से हमने ऐसा कोई संकेत नहीं पाया कि जिससे हम कह सकें कि उन्हें अमुक पक्ष का पक्ष है। इस तटस्थवृत्ति का चर्चा के वातावरण पर अनुकूल प्रभाव रहा है।"

आचार्य स्वयं पंचाचार का परिपालन करते हैं और शिष्यों से भी उसका पालन करवाते हैं। शिष्यों पर अनुग्रह और निग्रह आचार्य परमेष्ठी की अनेक विशेषताओं में से एक विशेषता है। अत: आचार्य पद के नाते

आप अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए इस बात का सदैव ध्यान रखते थे कि संघस्थ साधु समुदाय आगमोक्त चर्या में रत है या नहीं। आपकी पारखी दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म थी, आत्मकल्याणेच्छुक कोई नवीन व्यक्ति संघ में आता और दीक्षा की याचना करता तो यदि वह आपकी पारखी दृष्टि में दीक्षा का पात्र सिद्ध हो जाता तो ही वह दीक्षा प्राप्त कर सकता था। जिस व्यक्ति को जनसाधारण शीघ्र दीक्षा का पात्र नहीं समझता वह व्यक्ति आचार्य श्री की दृष्टि से बच नहीं पाता था। उसकी क्षमता परीक्षण के पश्चात् ही उसे योग्यतानुसार क्षुल्लक, मुनि आदि दीक्षा आपने प्रदान की। विद्वानों का आकर्षण भी आपके एवं संघस्थ गहनतम स्वाध्यायी साधुओं के प्रति था इसीलिए प्राय: प्रत्येक चातुर्मास में संघ में कई-कई दिनों तक विद्वद्वर्ग आकर रहता था और सभी अनुयोगों की सूक्ष्म चर्चाओं का आनन्द लेता था। बातचीत के बीच सूत्ररूप वाक्यों के प्रयोग द्वारा बड़ी गहन बात कह जाना आचार्य श्री की प्रकृति का अभिन्न अंग था। कुल मिलाकर आचार्य श्री अपूर्व गुणों के भण्डार थे। वि० सं० २०२५ का अन्तिम वर्षा योग आपने प्रतापगढ़ में किया था। वहां से फाल्गुन माह में होने वाली शांतिवीर नगर महावीर जी की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में सम्मिलित होने के लिए आप ससंघ श्री महावीरजी आये थे। यहां आने के कुछ ही दिन बाद आपको ज्वर आया और ६-७ दिन के अल्पकालीन ज्वर में ही आपका समस्त संघ की उपस्थिति में फाल्गुन कृष्णा अमावस्या को दिन में ३ बजे के लगभग समाधिमरण हो गया। आपके इस आकस्मिक वियोग से साधु संघ ने वज्रपात का सा अनुभव किया। ऐसा लगने लगा कि जिस कल्पतरु की छत्रछाया में विश्राम करते हुए भवताप से शान्ति का अनुभव होता था, उनके इस प्रकार अचानक स्वर्गवास हो जाने से अब ऐसी आत्मानुशासनात्मक शान्ति कहां मिलेगी ?

वस्तुत: आचार्य श्री ने अपने गुरु के परम्परागत इस संघ को चारित्र व ज्ञान की दृष्टि से परिष्कृत, परिवर्धित और संचालित किया था। उन जैसे महान् व्यक्तित्व का अभाव आज भी खटकता है। आपके स्वर्गारोहण के पश्चात् वहां उपस्थित आपके गुरुभ्राता [आचार्य श्री वीरसागरजी के द्वितीय मुनि शिष्य] श्री १०८ धर्मसागरजी महाराज को समस्त संघ ने संघ का नायकत्व सौंपकर अपना आचार्य स्वीकार किया। वे भी इस संघ का संचालन अपने प्रयत्न भर कुशलता पूर्वक कर रहे हैं। प० पू० महान् तपस्वी १०८ आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के पावन चरणों में अपने श्रद्धासुमन अर्पित करते हुए अपनी विनम्र भावाञ्जलि समर्पित करता हूं।

४. आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज :

वर्तमान के आचार्यों की परम्परा में उपर्युक्त वृहत्त्रयी के बाद चौथा नाम है परम पूज्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज का—जिन्होंने आज समग्र देश में जैन धर्म और जिनशासन का डंका बजाया है। आप भी अपने पूर्ववर्ती आचार्य की भांति बाल ब्रह्मचारी हैं और दृढ़ता, कठोरता एवं निष्ठापूर्वक अपने उत्तर-दायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह कर रहे हैं।

आपकी ही अर्चना वन्दना हेतु इस अभिनन्दन ग्रंथ का आयोजन हुआ है। आपका विस्तृत परिचय इसी ग्रन्थ के पृष्ठ संख्या १९६ से २०९ पर देखिए।

आचार्य श्री के आद्य दीक्षा गुरु

आ. क. १०८ श्री चंद्रसागरजी महाराज

❖ श्री मिश्रीलालजी शाह, शास्त्री

[पद्मपुरा दि० जैन अतिशय क्षेत्र]

अध्यात्म प्रधान इस भारतवर्ष की रत्न प्रसूता इस पवित्र अवनि पर अनेक आत्माएं जन्मी है जिन्होंने धर्म, समाज या राष्ट्र के लिए अपना सर्वस्व समर्पित किया है। इतना ही नही अपने आदर्श संयमी जीवन से अज्ञानान्धकार मे निमग्न समाज को चारित्र पथ की ओर अग्रसर करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। अध्यात्मप्रधान इस अवनि पर अनन्तानन्त तीर्थंकर प्रभुओ ने मोक्षसुख के साक्षात् कारणभूत रत्नत्रय मार्ग का अवलम्बन लेकर स्वय की आत्मा का उद्धार अपने साधना काल मे मौनवृत्ति पूर्वक किया ही है और केवलज्ञान प्रगट होने पर भव्य जीवों को अपनी दिव्य देशना द्वारा उस मार्ग को बताया भी है। तीर्थंकर प्रभु के द्वारा आचरित और दिव्य-देशना में प्रतिपादित शाश्वत सुख प्राप्ति के उस रत्नत्रयी मोक्षमार्ग का अनेक आचार्यों ने अपने जीवन में पालन किया और उसी मार्ग का उपदेश दिया। इसी आचार्य परम्परा मे ईस्वी सन् की १९ वीं शताब्दि में एक महान् आत्मा का जन्म हुआ और वह आचार्य श्री शातिसागरजी के नाम से विख्यात हुई। उन महामुनिराज ने लुप्त प्राय: मुनिधर्म को अपने आगमानुसार आचरण के द्वारा पुन: प्रगट किया। उनके सम्पर्क में अनेक भव्यजीव आये, जिन्होंने उन आचार्य पुंगव से मुनिदीक्षा ग्रहण कर अपने को तो मोक्षमार्ग में सलग्न किया ही, साथ ही अपने धर्मोपदेशों से आर्षकथित मोक्षमार्ग का प्रतिपादन समाज में भी किया, जिससे अनेक आत्माएं आत्मोन्नति के पथ में संलग्न हुई हैं। इसी आचार्य शिष्यावलि में परम तपस्वी, उद्‌भट विद्वान् मुनिराज चंद्रसागरजी

महाराज भी हुए हैं। चूंकि वे आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के क्षुल्लक दीक्षा प्रदाता गुरु है अतः आ० क० श्री चन्द्रसागरजी महाराज का स्मरण आद्य दीक्षा गुरु के रूप में करना ही इस निबन्ध का उद्देश्य होने से उनकी चन्द्रसम उज्ज्वल जीवन गाथा को प्रस्तुत किया जा रहा है।

२० वीं शताब्दि की मुनि परम्परा के प्रारम्भिक आचार्य चारित्र चक्रवर्ती प० पू० १०८ आचार्य श्री शान्तिसागरजी (दक्षिण) हैं उनकी उज्ज्वल मुनि शिष्यावलि में सभी शिष्य दुर्द्धर तपस्वी, एवं आगम-अभ्यासी हुए हैं, उनमें प० पू० १०८ आ० क० श्री चन्द्रसागरजी महाराज भी इस शताब्दि के मुनि पुंगव हुए है।

अनुमानतः १७५ वर्ष पूर्व जोधपुर (मारवाड) प्रान्त के झिरिया-झड़ाक नामक ग्राम से लक्ष्मीचन्दजी, चौथमलजी नाम के युगलबन्धु नासिक (महाराष्ट्र) नगर मे आजीविकोपार्जन हेतु व्यापारार्थ आकर रहने लगे।

परम तपस्वी आ० क० श्री चन्द्रसागरजी महाराज

उन दिनों अंग्रेजी शासन था तथा महाराष्ट्र प्रान्त मे मराठा और अंग्रेजो के मध्य संघर्ष चल रहा था। उक्त दोनों बन्धु आ० क० चन्द्रसागरजी महाराज के गृहस्थ पक्षीय पूर्वज थे। चौथमलजी की चार सन्ताने थी, उनमें नथमलजी पहाड़े भी थे, जो कि उक्त मुनिराज के जन्मदाता पिता थे। विक्रम सम्वत् १६२८-२९ में पड़ने वाले दुष्काल का प्रभाव आपकी आर्थिक स्थिति पर हुआ और नथमलजी नासिक से नादगांव आकर बस गये।

नथमलजी पहाड़े के दो विवाह हुए जिनमें द्वितीय पत्नि को ही सन्तान लाभ हुआ था। नथमलजी पहाड़े की धर्मपत्नि (द्वितीय) से ही सन्तानों का जन्म हुआ, उन्होंने तीन पुत्र और एक पुत्री को जन्म दिया। आपकी माता से उत्पन्न होनेवाली सन्तानों में सबसे बड़े पुत्र केवलचन्दजी, पुत्री चन्दाबाई, उसके पश्चात् खुशालचन्द (आ० क० श्री चन्द्रसागरजी) और अन्तिम सन्तान लालचन्दजी थे।

माघ कृष्ण त्रयोदशी/शनिवार वि० सं० १६४० की रात्रि में माता सीताबाई की पवित्र कुक्षी से श्रेष्ठी नथमलजी के गृहांगण में एक पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ था जिसका जन्म नाम तो श्री भीखचन्द था, किन्तु बोलचाल की भाषा में आपको खुशालचन्द कहा जाने लगा था और आगे चलकर यही नाम प्रसिद्ध भी हुआ। योग्य वय को प्राप्त होने पर तात्कालीन सुविधानुसार आपके पिता श्री ने अपनी सभी सन्तानों को शिक्षित किया। आपके पिता श्री की छत्रछाया आप पर अधिक दिन नहीं रह सकी जब आप लगभग ८ वर्ष की बाल्यावस्था में ही थे तब वि० सं० १६४८ में आपके पिता का स्वर्गवास हो गया था। पिता के स्वर्गस्थ हो जाने पर समस्त परिवार के भरण-पोषण का भार आपके बड़े भाई केवलचन्दजी पर आ पडा वे उस समय २० वर्ष के थे। बड़े भाई का विवाह भी हुआ, किन्तु अत्यन्त पुरुषार्थ के पश्चात् भी उन दिनों आर्थिक दृष्टि से पारिवारिक स्थिति को सुदृढ़ नहीं किया जा सका था।

यद्यपि पिता की इच्छानुरूप ही बडे भाई भी आपको एवं आपसे छोटे भाई लालचंदजी को उच्चशिक्षण दिलाना चाहते थे, किन्तु नांदगांव में उन दिनों उच्चशिक्षण की व्यवस्था नहीं होने से तथा आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं होने से बाहर भेजकर भी आपकी उच्चशिक्षा नही हो सकी थी। ६ वर्षीय शिक्षण कालमे आपने अपनी कुशाग्र बुद्धि के कारण उच्चश्रेणी में शिक्षा सत्र पास किये तथा १४ वर्षीय अल्पायु में ही अपने बड़े भाई के साथ व्यापार में संलग्न हो गये थे। आपकी मदद से भाई सा० ने व्यापार में उन्नति की और परिवार की आर्थिक स्थिति भी सुदृढ़ हुई।

जब आप २० वर्ष के हुए तब आपकी माता के आग्रह विशेष पर अग्रज एवं अन्य परिवारजनों ने आपका विवाह नांदगांव की ही श्रेष्ठी परिवारस्थ सुयोग्य कन्या के साथ किया। आपकी अनिच्छा होते हुए भी परिवारजनों के द्वारा किये गये सम्बन्ध को आपने सहर्ष स्वीकार किया। आपका विवाह होने के कुछ ही दिन (लगभग १½ वर्ष) पश्चात् ही आपकी पत्नि स्वर्गस्थ हो गईं। विवाह से पूर्व ही वह कन्या रोगयुक्त थीं इसी कारण आप उसके साथ विवाह नहीं करना चाहते थे, किन्तु उन दिनों में पारिवारिक निर्णय को सर्वोपरि मानकर ही आपने अपनी स्वीकृति प्रदान की थी। वि० सं० १६६२ में पत्नी का स्वर्गवास हो जाने के पश्चात् २२ वर्षीय यौवनावस्था में ही आपने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया था। परिवारजनों के अत्यन्त आग्रह के पश्चात् भी आपने दूसरा विवाह नहीं किया था।

२० वर्षीय अवस्था में ही आप समाज सेवा के क्षेत्र में भी संलग्न हो गये थे। उन दिनों प्रायः जैन समाज में भी अजैन पद्धति से विवाह हुआ करते थे अतः सर्व प्रथम आपका विवाह आपके ही आग्रह से जैन पद्धति से हुआ था और आपने उसी समय से जैन पद्धति को समाज में प्रचलित किया। आपकी जानकारी मे होने वाले विवाह जैनपद्धति से ही होने लगे। जब धीरे-धीरे आपने इस पद्धति को प्रचारित किया तो आसपास के उस क्षेत्र में भी इसका खूब प्रचार हुआ। आपने इस नवीन कार्य को प्रारम्भ करने में अनेक कष्टों का सामना किया। आवश्यकता पडने पर आपने स्वयं भी जैन पद्धति से विवाह कराये तथा समाज में इसका प्रचार करने के लिए आपने यह प्रतिज्ञा भी की कि जो विवाह जैन पद्धति से नहीं होगा उसमें मैं सम्मिलित नहीं होऊंगा।

नांदगांव नगर में आपकी प्रेरणा एवं प्रयत्न से धार्मिक व नैतिक शिक्षण हेतु एक पाठशाला की स्थापना हुई। इसके साथ ही जैन वाचनालय और डिबेटिंग क्लब की स्थापना भी आपके सत्प्रयासों का ही प्रतिफल था। वि० सं० १६६४ तक नांदगांव के क्षेत्र में भ्रमण कर समाज में व्याप्त कुरीतियों को मिटाने का आपने अथक प्रयास किया इस कार्य में आपको सफलताएं भी प्राप्त हुईं।

सामाजिक क्षेत्र में जब आप कार्यरत हो ही चुके थे तो आपने लगभग ४ वर्षीय कार्यकलापों का अवलोकन कर यह निर्णय किया कि अभी तक असंगठितरूप से कार्य हुआ है। इसमें शक्ति भी अधिक खर्च होती है और कार्य भी अल्प होता है, इसी दृष्टिकोण से समाज संगठन के लिए आपने 'दक्षिण प्रान्तीय खण्डेलवाल

महासभा' की स्थापना का विचार बनाया। इसी बीच व्यापारार्थ आप बम्बई चले गये वहां द्विवर्षीय प्रवास काल में पंडित धन्नालाल जी का समागम मिला जहां उक्त विचारों को पंडितजी का समर्थन मिला। पंडितजी स्वयं कई अखिल भारतीय स्तर की जैन संस्थाओं के सदस्य थे ही। अतः आपने अन्य कई लोगों के सहयोग से उक्त सभा की स्थापना की और उसके माध्यम से संगठित रूपेण समाज में फैली कुरीतियों को दूर करके आर्षानुसार सामाजिक व्यवस्था को नयारूप प्रदान किया। उक्त संस्था का प्रथम अधिवेशन कचनेर-महाराष्ट्र में हुआ। इसी संस्था के माध्यम से वि० सं० १९७३ में ब्र० हीरालाल जी गंगवाल (स्व० आचार्य वीरसागरजी) के सहयोग से कचनेर अतिशय क्षेत्र पर पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन पाठशाला की स्थापना की। इस प्रकार अनेक प्रकार से आपने अपने को समाज सेवा के लिए समर्पित रखते हुए अत्यन्त तत्परता से समाजोन्नति के क्षेत्र में कार्य किया।

समाज के साथ-साथ आपने राष्ट्रीय क्षेत्र में भी कार्य किया। राष्ट्रीय क्षेत्र में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को आप अपना गुरु मानते थे। आपने अपने जीवन में स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग किया तथा अपने क्षेत्र में स्वदेशी आन्दोलन के अग्रेसर रहकर क्रान्ति की। आप अपने क्षेत्र में कांग्रेस के मंत्री भी रहे तथा सन् १९२० में गांधीजी द्वारा संचालित आन्दोलन के महाराष्ट्र प्रान्त में प्रमुख कार्यकर्ता रहे। इन कार्यों में भाग लेते हुए आपके मन में एक विचार आया कि भारत के ग्रामीण जीवन में जब तक शिक्षा का प्रचार नहीं होगा तब तक स्वतंत्रता प्राप्ति में आशानुरूप सफलता प्राप्त नहीं हो सकती है। अत: नांदगांव में आपने ग्रामीण शिक्षा के अन्तर्गत किसानो में शिक्षा प्रचार के लिए एक स्कूल और बोर्डिंग की स्थापना की। इस कार्य में आपके सहयोगी थे पाण्डुरङ्ग बालाजी कवडे। आप दोनो ने ग्राम-ग्राम घूमकर अर्थव्यवस्था की ओर कई वर्षों तक आप सुपरिन्टेण्डेण्ट भी रहे। शक संवत् १८४२ के घोर दुष्काल में अकाल पीडितों की सहायता करने हेतु आपके नेतृत्व मे कई लोगो ने सुचारु रीत्या कार्य सम्पादन किया।

इस प्रकार समाज और राष्ट्र की सेवा करते हुए काफी समय व्यतीत हो जाने पर अब आपका मन धार्मिक क्षेत्र की ओर आकृष्ट हुआ। यद्यपि समाज-राष्ट्र सेवा करते हुए भी आप अपने धार्मिक नियमों का दृढ़ता और निर्भीकता से परिपालन करते थे। आप स्वाध्याय भी करते थ जिसके फलस्वरूप आपने कई धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करके धार्मिक क्षेत्र मे भी ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वीर निर्वाण सम्वत् २४१५ के लगभग आपने समाज-राष्ट्रीय गतिविधियो से उदासीन होकर प्रमुखरूप से धर्म क्षेत्र मे प्रवेश किया। इस क्षेत्र में सर्व प्रथम आपने कुटुम्बीजनो के साथ प्राय: सभी तीर्थ क्षेत्रो की यात्रा की। धार्मिक क्षेत्र मे आपके प्रमुख सहयोगी रहे ब्र० हीरालालजी गंगवाल। इनसे आपका पारिवारिक सम्बन्ध भी था। आप दोनों की सत्संगति आत्मसाधक सिद्ध हुई। उनकी संगति से आपकी दिनचर्या मे नियमितता आई आप अपने सभी कार्य यथासमय सम्पन्न करते थे।

वीर सम्वत् २४४८ मे नादगांव नगर में ऐलक पन्नालालजी महाराज का चातुर्मास था। इस चातुर्मास के पूर्व आषाढ शुक्ला १० को आपने तृतीय प्रतिमा के व्रत धारण किये। चातुर्मास काल में ऐलक महाराज के सत्समागम से आपके परिणाम विरक्ति की ओर बढ़ते ही गये। भाद्रपद शुक्ला पंचमी को ५ वीं प्रतिमा के व्रत धारण किये। इसी चातुर्मास में ब्र० हीरालालजी गंगवाल ने सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये।

बम्बई नगर में वीर सं० २४४९ में 'ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन' की स्थापना के अवसर पर आप बम्बई गये। वहा से आपने गिरिनार यात्रा की। तत्पश्चात् आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के दर्शनार्थ आप व ब्र० हीरालालजी गंगवाल दक्षिण की ओर चले। आपने सर्वप्रथम मुनिदर्शन ऐनापुर ग्राम में विराजित आचार्य श्री के ही किये। उनके दर्शन से उभयजनों के मन में अतीव भक्ति एवं तीव्र वैराग्य प्रगट हुआ। आप दोनों ने उन शान्तमूर्ति आचार्य महाराज के दर्शन करने पर यह निर्णय कर लिया कि यदि हमारे कोई दीक्षागुरु होंगे तो ये ही होंगे। आचार्य श्री के दर्शन करने के बाद वहीं से आप बाहुबली यात्रार्थ चले गये। वहां से

वापस नांदगांव आने के पश्चात् कुछ ही दिनों में सप्तम प्रतिमा के व्रत धारण किये। उसी समय आपने परिग्रह का परिमाण और कम करके ५०००) कर लिया। आपकी विरक्ति द्वितीया के चन्द्रवत् बढती चली जा रही थी। परिवार में अपने भतीजे बाबू माणिकचन्दजी के प्रति आपका अत्यधिक स्नेह था उन दिनों उनकी शादी नहीं हुई थी। आपने तो सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण करने के साथ ही कुटुम्बीजनों के मध्य रहना छोड़ दिया था। माणिकचन्दजी का विवाह भी शीघ्र ही सम्पन्न हो गया। जिस दिन विवाह सम्पन्न हुआ उसी दिन समस्त परिग्रह का त्यागकर ९ वीं प्रतिमा धारण कर ली और शीघ्र ही आचार्य महाराज के चरणसान्निध्य में पहुंचकर गुरुसान्निध्य में रहने लगे। कुरुन्दवाडी ग्राम में आचार्य महाराज के पास १० वीं प्रतिमा के व्रत धारण किये। इसी दिन ब्र० हीरालालजी भी आ गये उन्होंने भी उसी दिन १० वीं प्रतिमा ग्रहण की। आचार्य श्री के प्रति आप दोनों की अपूर्व श्रद्धा थी। आप उनके सान्निध्य में रहकर आत्मसाधना में तत्पर रहते थे। जब संघ कुम्भोज बाहुबली पहुंचा तो वहां फाल्गुन शुक्ला ७ वीर सं० २४५० में आप दोनो आचार्य श्री के कर कमलो से क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण कर उत्कृष्ट श्रावक के पद पर आसीन हुए।

क्षुल्लक दीक्षा ग्रहणकर आप आचार्य श्री के साथ ही विहार करने लगे। आपका सर्व प्रथम चातुर्मास गुरुसन्निधि में समडोली में सम्पन्न हुआ। इस चातुर्मास काल में ही आश्विन शुक्ला ११ वीर सम्वत् २४५० मे आपने तथा पायसागरजी ने ऐलक दीक्षा धारण की तथा आपके साथी (ब्र० हीरालालजी) ने क्षुल्लकावस्था से मुनिदीक्षा धारण की। इसी समय नेमिसागरजी की भी मुनिदीक्षा हुई। ऐलकावस्था मे आपका द्वितीय चातुर्मास वीर सं० २४५१ में कुम्भोज नगर में हुआ। तृतीय चातुर्मास नांदणी में। आपकी हार्दिक भावना तथा विनय युक्त प्रार्थना को देखकर आचार्य महाराज ने ससंघ तीर्थराज सम्मेदाचल की ओर विहार करने की स्वीकृति प्रदान की।

नांदणी चातुर्मास संघ के साथ कुन्थलगिरी सिद्धक्षेत्र की, वन्दना की वहा से पंढरपुर होते हुए संघ सोलापुर पहुंचा। वहा से अतिशय क्षेत्र दहीगाव गया। तत्पश्चात् शेडवाल होते हुए संघ का फलटन नगर में पदार्पण हुआ। यहां से फाल्गुन शुक्ला ५ को सघ बारामती नगर पहुंचा, वहां पंचकल्याणक महोत्सव में संघ सम्मिलित हुआ। पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के पश्चात् संघ विहार करके म्हसवड़ आया। यहा से गुरु आज्ञा प्राप्त कर विशेष धर्म प्रभावनार्थ ऐलक चन्द्रसागरजी महाराज ने नादगाव की ओर विहार किया।

वि० सं० १९८३ का चातुर्मास नांदगांव में सम्पन्न कर आपने नांदेण की ओर पुनः आचार्य संघ में सम्मिलित होने हेतु विहार कर दिया। चातुर्मास काल मे नांदगांव में ऐलक चन्द्रसागर दि० जैन औषधालय की स्थापना हुई। इसके अतिरिक्त भी नांदगांव में तथा आसपास के क्षेत्र में अभूतपूर्व धर्मप्रभावना हुई। अनेक भव्यजीवों ने अपनी शक्ति के अनुसार विविध व्रत-नियम आदि ग्रहण कर आत्मसाधना का मार्ग प्रशस्त किया। नांदेण की ओर विहार करते हुए मार्गस्थ ग्राम व नगरों में आपके ओजस्वी धर्मप्रवचनों से विशेष धर्मजागृति समाज में हुई। नांदगांव से नांदेण के मध्य ८११ मील का लम्बा मार्ग तय करके आप अपने गुरुदेव के सान्निध्य में पहुचे थे, आचार्य श्री कुछ दिन पूर्व से ही नादेण में ससंघ विराजमान थे। संघ ने निजाम स्टेट के सभी प्रमुख नगरों में मंगल विहार किया ऐलक महाराज का धर्मोपदेश भी समाजोन्नति मे प्रभावकारी सिद्ध हुआ। वर्धा होते हुए संघ नागपुर पहुंचा। उन दिनों विधवा विवाह का बोलबाला हो रहा था। चन्द्रसागरजी महाराज के धर्मोपदेशों ने इस क्षेत्र में विशेष क्रान्ति उत्पन्न की, समाज ने इस कुरीति को दूर किया तथा जो इसे स्वीकार नहीं करते उनसे समाज ने रोटी-बेटी सम्बन्ध करना स्थगित किया जिससे समाज के उन लोगों को भी पश्चाताप का अनुभव करना पड़ा तथा सही मार्ग पर आये। यह सब ऐलक महाराज के क्रांतिकारी धर्मोपदेशों का ही प्रभाव था।

अपने निर्धारित लक्ष्यानुसार संघ धीरे-धीरे सम्मेदाचल की ओर बढ़ रहा था। मार्गस्थ सभी प्रमुख नगरों में धर्म प्रभावना करते हुए संघ फाल्गुन शुक्ला तृतीया वि० सं० १९८४ के दिन तीर्थराज सम्मेदाचल

पर पहुंचा। सम्मेदाचल की वंदना के पश्चात् संघ ने वहां से विहार किया और सभी प्रधान नगरों उपनगरों को अपने मंगलविहार से धर्मलाभ देता हुआ संघ कटनी पहुंचा। वि. सं. १९८५ का चातुर्मास यहीं किया। तत्पश्चात् बुन्देलखंड के कई नगरों व ग्रामों में विहार करके तथा इस प्रान्त के सभी तीर्थों की वन्दना करते हुए वि० सं० १९८५ का चातुर्मास ललितपुर में हुआ। इन दोनों चातुर्मासों में चन्द्रसागरजी महाराज ऐलकावस्था में ही रहे। ललितपुर चातुर्मास योग पूर्ण कर संघ सोनागिरि सिद्धक्षेत्र की वन्दना हेतु क्षेत्र पर आया। मार्गशीर्ष शुक्ला १२ को ऐलक चन्द्रसागरजी महाराज और अन्य तीन ऐलक महाराजों ने निर्वाण (मुनि) दीक्षा सिद्धक्षेत्र के परम पावन वातावरण में ग्रहण की। मुनिदीक्षा के पश्चात् भी मथुरा, दिल्ली और जयपुर नगर के वर्षायोग आपने आचार्य श्री के साथ ही किये। जयपुर से चातुर्मास पश्चात् विहार करते हुए संघ छोटे-छोटे ग्रामों में विहार करता हुआ डिग्गी पहुंचा यहां लोहड़ साजन-बड़साजन के प्रसंग को लेकर मुनिराज चन्द्रसागरजी ने मुनिश्री श्रुतसागरजी को साथ लेकर पृथक् विहार कर दिया।

आपका संघ से पृथक् होकर सर्वप्रथम चातुर्मास अजमेर नगर में हुआ था। यहां आपके प्रवासकाल में अनेक धर्मप्रभावक ऐतिहासिक महोत्सव हुए जिनसे जैन धर्म की महती प्रभावना हुई। परमतपस्वी मुनिराज की तपश्चर्या व विद्वत्ता का प्रभाव समाज पर खूब पड़ा तथा संघ से पृथक् होने के पश्चात् प्रथम चातुर्मास अजमेर नगर में व्यतीत कर आपने ब्यावर, लाडनूं, सुजानगढ, नागौर, कुचामण, डैह आदि नगरों एवं इनके आसपास के ग्रामों में विहार किया। उन दिनों इन ग्रामों व नगरों में दिगम्बर साधुओं का कभी आवागमन न होने से दिगम्बर कुल में जन्मे खण्डेलवाल भाई श्वेताम्बर स्थानकवासी व तेरापंथ धर्म के पालन करनेवाले हो गये थे। चद्रसागरजी मुनिराज के धर्मोपदेश से सभी लोगों में परिवर्तन आया और सभी लोग दिगम्बर धर्म के अनुयायी बने तथा कई लोगों ने व्रत, नियम आदि भी ग्रहण किये। धर्म की महती जागृति हुई और समाज के कई प्रमुख श्रेष्ठी वर्ग आपके परम भक्त बने।

आपके सिंहवृत्ति जीवन तथा निर्भीक पदविहार व निर्दोषचारित्र से धर्म की महती प्रभावना हुई। आप स्पष्टवादी आगम पोषक महा मुनिराज थे। आपकी स्पष्टवादिता एवं समाज में आगमसम्मत चर्या का उपदेश देने के कारण आपको अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। जयपुर नगर और इन्दौर नगर के चातुर्मास कालों मे घटित घटनाएं आपके जीवनकाल की महान घटनाएं हैं। आपके द्वारा दिये गये आगम परिपोषक उपदेशों को समाज के कुछ वरिष्ठ नेता तथा विद्वान् सह नहीं सके और आपकी स्पष्टवादिता से रुष्ट होकर आपके बहिष्कार की योजनाएं भी तैयार की गईं, किन्तु उपसर्ग विजयी महामना आगममार्ग के दृढ़प्रहरी मुनिराज श्री चन्द्रसागरजी महाराज इन घटनाओं से घबराये नहीं, अपने मार्ग पर-निर्दोष चर्या एवं उपदेश पर निर्भयता से बढ़ते रहे।

इन्दौर नगर में आपका बहिष्कार घोषित कर दिया गया विरोधी श्रेष्ठी लोगों की ओर से। जब इन्दौर समाज के दोनों पक्षों के लोग इसके औचित्य, अनौचित्य का निर्णय करने के लिये आपके दीक्षा गुरु आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के पास गये तब आचार्य श्री ने निम्न वाक्य कहे थे जो गुरु शिष्य के निर्मल संबंध को तो प्रगट करते ही हैं साथ ही धर्म पर अडिग शिष्य पर आये उपसर्ग को दूर करने और धर्म रक्षा की तीव्र लगन को भी प्रगट करते हैं—

"इन्दौर वालों के द्वारा किया गया यह बहिष्कार सर्वथा अनुचित, अनधिकृत और आगम विरुद्ध है। समाज के लिए कलंक है अतः बहिष्कार को वापस ले लेने में ही समाज की शोभा है इस कलंक को धो देना चाहिये। प्राचीनकाल के इतिहास व पुराणों में कहीं भी इसप्रकार का बहिष्कार देखने में नहीं आया। इन्दौर वासी यदि बहिष्कार वापस नहीं उठाते तो इन्दौर नगर को भी मुनिगण विहार योग्य प्रदेश न समझकर उसका परित्याग कर देंगे। क्या इन्दौर वालों के बहिष्कार करने से चन्द्रसागरजी का बहिष्कार हो जावेगा? उसका क्या मूल्य है? इस दुष्कृत्य से आगम मार्ग पर दृढ़ चन्द्रसागरजी की पूज्यता में कोई बाधा नहीं आवेगी। चन्द्र-सागरजी हमारे शिष्य हैं इस पक्षपात पूर्ण व्यामोह में हमने ये वाक्य नहीं कहे हैं, किन्तु धर्मरक्षा के लिए उक्त

आदेश है कि यह बहिष्कार अमान्य है। गृहस्थों को मुनियों के बहिष्कार का कोई अधिकार नहीं है यह अत्यन्त अविवेकपूर्ण कार्य है। हम चन्द्रसागरजी को भी कहते हैं कि वे ऐसे स्थान में न ठहरें, वहां से शीघ्र विहार कर जावें।"

इन वाक्यों को यहां उद्धृत करने का अभिप्राय इतना ही है कि धन के मदान्ध लोग धर्म गुरुओं पर किसप्रकार के उपसर्ग करने के लिये तत्पर हो गये थे और आचार्य परमेष्ठी ने उसका कैसा आगम सम्मत अनुभव पूर्ण निराकरण निकाला है। कुछ लोगों ने गुरु शिष्य के पवित्र सम्बन्ध में मनमानी बातो के द्वारा व्यवधान उपस्थित करने का प्रयत्न किया था, किन्तु जब चन्द्रसागरजी महाराज अपनी सल्लेखना से कुछ वर्ष पूर्व हो कुंथलगिरि में गुरु वन्दना के लिये पहुंचे थे उस समय गुरु-शिष्य सम्मिलन का वह दृश्य हृदय द्रावक था। कितनी विनय, श्रद्धा और भक्ति से शिष्य ने गुरु चरणों में वन्दना की थी और गुरुदेव का कैसा वात्सल्य शिष्य के प्रति प्रगट हुआ था इसका आनन्द प्रत्यक्षदर्शियो ने ही लिया था।

फाल्गुनशुक्ला पूर्णिमा चन्द्रवार वि० सं० २००१ ता० २६ फरवरी १९४५ को दिन के १२ २० बजे ६१ वर्ष एक मास १७ दिन की अवस्था मे आपका सल्लेखना युक्त समाधिमरण हुआ था। बड़वानी सिद्धक्षेत्र पर नवनिर्मित मानस्तम्भ की होने वाली प्रतिष्ठा में सम्मिलित होने की स्वीकृति आप कुछ दिन पूर्व ही दे चुके थे। आपको ज्वर हुआ, किन्तु वचन परिपालना हेतु समय पर पहुंचने की शीघ्रता में १०५° ज्वर की अवस्था में आपने विहार किया रास्ते में संघपति श्रावक तथा संघस्थ साधुओं की अस्वस्थता के कारण सल्लेखना हो जाने पर भी तथा स्वयं की अस्वस्थता का व्यवधान उपस्थित रहते हुए भी आप विहार करते हुए बड़वानी पहुचे। वहां पहुंचकर उनकी शारीरिक स्थिति गिरती गई, प्रतिष्ठा कार्य सम्पन्न होने के पश्चात् ही आपका समाधियुत मरण उक्त तिथि को हो गया। आपके स्वर्गवास से समाज में एक क्रांतिकारी, दृढनिश्चयी, निर्भीक साधुरत्न का अभाव हो गया। समाज पर आपके अनेक उपकार हैं आपके उपदेशों का ही यह प्रभाव था कि समाज में धर्म के प्रति और आगम के प्रति निष्ठा और भक्ति जागृत हुई थी। अनेकानेक भव्यजीवो ने आपसे व्रत-नियम ग्रहण कर अपने आपको आत्मसाधना के मार्ग में संलग्न किया था।

महामुनिराज के जीवन की विशेषताएं :

प० पू० १०८ चन्द्रसागरजी महाराज दिगम्बर जैन साधुत्व के आदर्श उदाहरण थे। आपका जीवन अनुशासनप्रिय एवं दृढ़सैद्धान्तिक था। आप पक्षपात रहित थे, विद्वत्ता, धन और भक्ति का कोरा प्रदर्शन कर कोई भी आपसे महत्त्व न पा सका। आगम मार्ग को ही वे न्याय मार्ग समझते थे इसलिये वे अद्भुत आगम श्रद्धानी थे। अपने कठोर परिश्रम से ही जैनदर्शन के व्याकरण, न्याय, साहित्य, सिद्धान्त आदि विभिन्न विषयों मे पारगत-कल्प ज्ञान प्राप्त किया था। आपकी प्रतिभा शक्ति अपूर्व थी। ज्योतिष और निमित्त शास्त्रों मे भी आपका विशेष प्रवेश था। आगम सम्मत सत्य बात के विरोध से महाराज श्री मुनि जीवन मे ही क्या गृहस्थ जीवन में भी कभी भययुक्त नहीं हुए। वे निर्भीक दृढ आगम सम्मत तपस्वी रत्न उद्‌भट विद्वान् महामुनिराज थे। उन दिनों भी समाज में जाति संकरता, वर्णसंकरता आदि के द्वारा लोग स्वेच्छाचार को बढ़ावा दे रहे थे तब चन्द्रसागरजी महाराज ने धर्मोद्योत करते हुए समाज के लिए कलंक स्वरूप इस स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध सिहनाद किया था जिससे समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन आया और धर्म मार्ग पर पुनः समाज चलने लगा। आज भी उन जैसे तपस्वी आत्मबली मुनिराज की आवश्यकता है।

दीक्षित शिष्यावलि :

परम तपस्वी महामुनिराज ने अपने जीवन काल में जहां लाखों भव्यजीवों को आत्म संस्कार के हेतु विभिन्न व्रतों का ग्रहण कराया वहीं उन्होंने २ मुनि, १ आर्यिका, १ ऐलक, ४ क्षुल्लक और ४ क्षुल्लिका दीक्षाएं

प्रदान कीं। आपके सबसे अन्तिम दीक्षित क्षुल्लक शिष्य वर्तमान आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज हैं। उन्होंने वि० सं० २००० में क्षुल्लक दीक्षा आप से ही ग्रहण की थी एवं उससे पूर्व सप्तम प्रतिमा के व्रत भी आपने ही ग्रहण उनको करवाये थे। ब्र० कजोड़मलजी से क्षुल्लक भद्रसागर के रूपमें आपके सान्निध्य में रहकर ही चारित्रिक उन्नति की थी। १ वर्षीय अल्पकालीन गुरु सन्निधि में चारित्र का जो बीज वपन हुआ था वह वीरसागरजी महाराज के सान्निध्य में पुष्पित और पल्लवित हुआ तथा आज वह छोटा किन्तु सुसंस्कारित बीज विशाल कल्पवृक्ष का रूप धारण किये हुए है जिसकी शीतल छाया में अनेक भव्यजीव आत्मसाधना में निमग्न हैं। स्वयं वर्तमान आचार्य धर्मसागरजी महाराज अपने आद्य दीक्षा गुरु का बड़ी श्रद्धा से आज भी स्मरण करते हुए कहते हैं कि उन जैसा दृढ़ चरित्र और अनुशासन कर्ता गुरु मिलना अब तो दुर्लभ है। आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के जीवन में आप जैसी निर्भीकता, स्पष्टवादिता आदि गुणों की जो झलक है वह आपके अल्प सहवास से प्राप्त संस्कारों का ही प्रतिफल है। अतः आचार्य श्री के आद्य दीक्षा गुरु के रूप आपका स्मरण करते हुए आपके प्रति श्रद्धासुमन समर्पित करते है तथा भावना करते हैं कि आपके द्वारा प्रदत्त बीजारोपणरूप संस्कारों से पल्लवित और पुष्पित यह आदर्श चारित्र कल्पतरु चिरकाल तक अपनी छत्रछाया भव्य जीवों को प्रदान करता रहे।

जिसप्रकार गीष्मऋतु में लोग दिन में तरुओं की छाया का आश्रय लेते हैं, शीतल जल वाले सरोवरों में डूबे रहकर ताप निवारण करते हैं, शीतल पेय पीते हैं और रात्रि में खुले आकाश के नीचे इन्दु की शीतल किरणों से शांति प्राप्त करते हैं उसी प्रकार जिनेन्द्र कल्पतरु के पादकमलों में संसार के जन्म-जरा-मरणरूप तापत्रय से मुक्ति प्राप्त करने के लिये अवश्य जाना चाहिये।

अष्ट मंगल द्रव्य

श्री रतनलाल कटारिया
केकड़ी (अजमेर)

जैनशास्त्रों में विभिन्न प्रकार से अष्ट मंगल द्रव्यों के उल्लेख पाये जाते हैं नीचे सप्रमाण उन पर प्रकाश डाला जाता है—

१—तिलोयपण्णत्ती (अधिकार ४)

भिंगार कलस दप्पण, चामर धय वियण छत्र सुपइट्ठा ।
इय अट्ठ मंगलाइ, अट्ठुत्तर सयजुदाणि एक्केक्कं ॥७३८॥

(१. भृंगार=झारी २. कलश=लोठा ३. दर्पण ४. चमर ५. ध्वजा ६. व्यजन=पखा ७. छत्र ८. सुप्रतिष्ठक (सु प्रतीक)=ठूणा ये आठ मंगल द्रव्य हैं जो प्रत्येक १०८ होते हैं)

ये ही आठ मंगलद्रव्य निम्न गाथाओं में भी इसी प्रकार दिये है—

भिंगार कलस दप्पण, धय चामर छत्त वियण सुपइट्ठा ॥४६॥
भिंगार कलस दप्पण, वीयण धय छत्त चमर सुपइट्ठा ॥१६०॥

२—हरिवंशपुराण, सर्ग २ (जिनसेन कृत)

छत्र चामर भृंगारैः कलशध्वज दर्पणैः । व्यजनैः सुप्रतीकैश्च प्रसिद्धै रष्टमंगलैः ॥७२॥

यहाँ भी उपर्युक्त प्रकार से ही अष्ट मंगल दिये हैं । निम्नांकित ग्रन्थों में भी इसी प्रकार दिये हैं देखो—

३—महापुराण (जिनसेनाचार्य कृत)

छत्रं ध्वजं सकलशं चामरं सुप्रतिष्ठक ।
भृंगारं दर्पणं तालमित्याहु र्मंगलाष्टकम् ॥३७॥ पर्व १३
सतालमंगलच्छत्र चामरध्वज दर्पणाः ।
सु प्रतिष्ठकभृंगार कलशाः प्रति गोपुरं ॥२७५॥ पर्व २२

४—तिलोयसार (नेमिचन्द्राचार्य कृत)

भिंगार कलस दप्पण, वीयण धय चामरादवत्तमह ।
सुवइट्ठ मंगलाणिय, अट्ठहिय सयाणि पत्तेयं ॥६८६॥

५—नंदीश्वर भक्ति के अंत में समवशरण वर्णन—

भृंगार ताल कलशध्वज सुप्रतीक, श्वेतात पत्र वर दर्पण चामराणि ।
प्रत्येक मष्ट शतकानि विभांति यस्य, तस्मै नमस्त्रिभुवन प्रभवे जिनाय ॥७॥

६—नंदीश्वर भक्ति श्लोक १६ की प्रभाचन्द्रीय टीका में—

छत्रं ध्वजं कलश चामर सुप्रतीक, भृंगार तालमतिनिर्मलदर्पणं च ।
शंसंति मंगल मिदं निपुण स्वभावाः, द्रव्यस्वरूपमिह तीर्थकृतोऽष्टधैव ॥

(सुप्रतीक=सुष्ठु प्रतीका अवयवा यस्य सः)

७—जयसेन प्रतिष्ठापाठ (पृष्ठ २९१)

तालातपत्र चमरध्वज सुप्रतीक-भृंगार दर्पण घटाः प्रतिवीथिचारं ।
सन्मंगलानि पुरतः विलसंति यस्य, पादार विन्द युगलं शिरसा वहामि ॥८८३॥

८—पंचपरमेष्ठी पूजा (यशोनंदिकृत)

आल्वब्द केतु घट चामर सुप्रतिष्ठ–, तालातपत्रमिति मंगलमष्टधैव ।
भूत्वागतं जिनपदाब्जनतिं विधातुं, तन्मंगलाष्टकयुतं जिनमर्चयेतं ।।३७।।
(यहाँ 'अब्द' का अर्थ दर्पण है और 'आलु' का अर्थ भृंगार=झारी है)

९—लोक विभाग (सिंहसूरि कृत) अध्याय १—

भृंगार कलशादर्श व्यजन ध्वज चामरे, सुप्रतिष्ठातपत्रे चेत्यष्टौ सन्मंगलान्यपि ।।२९९।।

१०—प्रतिष्ठासारोद्धार (आशाधरकृत) अध्याय ४

छत्र चामर भृंगार कुंभाब्दव्यजनध्वजान् । ससुप्रतिष्ठान् यानिन्द्रो भर्तुस्तेतेऽत्रसंतुते ।।२०३।।

११—मुनिसुव्रत काव्य (अर्हद्दासकृत) सर्ग १० (पृष्ठ १९५)

आकीर्ण केतु चमरीरुहतालवृन्त, कालाचिकाब्द कलसातपवारणादिः ।
हर्म्यावनिर्जिन जित धृत पुष्पकेतौ, सेना निवेश इव चेलकुटीचितोऽभात् ।।२१।।

(इसमें 'काला चिक' शब्द का अर्थ संस्कृत टीका में 'पतद्ग्रह' (गिरते हुए को ग्रहण करने वाला=ठूणा, पीक दानी) दिया है। संस्कृत टीका में 'आकीर्ण' का अर्थ व्याप्त किया है इससे ७ ही मंगलद्रव्य रह जाते हैं। शायद ८ वां (झारी द्रव्य) आदि शब्द से ग्रहण करने को छोड़ा हो। 'आकीर्ण' का अर्थ भी भृंगार-झारी किया जा सकता है 'आकीर्ण' का अर्थ होता है बिखेरने वाला झारी से भी पानी झराया-बिखेरा जाता है।)

१२—जिन स्तुति पंच विंशतिका (महाचन्द्रकृत, "अनेकांत" वर्ष १४ पृष्ठ ३१५)

चञ्चच्चन्द्र मरीचि चामर[1] लसन्, श्वेतातपत्रे[2] पतत् ।
त्रैलोक्य प्रभु भावकीर्तिकथके, शुंभत्सुभृंगार[3]कम् ।।
कांचत्कुम्भ[4] धुनद् ध्वजौ[5] च विलसत्, तालः[6] सदादर्शकं[7] ।
येऽस्योद्भांति च सुप्रतीक[8] सहितास्तस्मै जिनेशे नमः ।।६।।

१३—धर्म संग्रह श्रावकाचार (पं० मेधावी कृत) सर्ग २

छत्र चामर भृंगार ताल कुंभाब्द केतवः । शुक्तिः प्रत्येक माभांति मंगलान्यष्टक शत ।।१२९।।

(इसमें सुप्रतिष्ठक (ठूणा) की जगह "शुक्तिः" शब्द दिया है अगर 'शुक्तिः प्रत्येक' की जगह सुप्रतिष्ठक कर दिया जाये तो छंदोभंग भी नहीं होगा और अर्थ भी ठीक हो जायेगा)

१४—समवशरणपाठ (लाला भगवान्दास ब्रह्मचारी कृत वि० सं० १९८५) पृष्ठ ६३

चमर छत्र झारी अरु कलशा, दर्पण ध्वजा बीजणा जानो ।
ठूणा मिले भये मंगल द्रवि, आठ कह्यो तिनको परमानो ।।११६।।

१५—पूजासार (हस्तलिखित पत्र ९९)

मुक्तालंबूषलम्बैरटतकरनभैरात[1]पत्रैरघत्रैः ।
भृंगारैः[2] सुप्रतिष्ठै[3]र्मणिमय मुकुरैः[4] तालवृन्तैरनन्तैः[5] ।।
त्रैलोक्येश पातकी[6] कलश[7] सुचमरै[8] मंगलैर्पूजयामो ।
भूयासुर्मोक्षलक्ष्मीपरिणयनविधावंगिनांमंगलानि ।।

१६—रत्नकरंड श्रावकाचार टीका (पं० सदासुखदासजी कृत) में पृष्ठ ३२४, ६६१, एवं ६६४ पर तथा बृहज्जैन शब्दार्णव भाग २ पृष्ठ ३६३ पर व प्रतिष्ठासार संग्रह (ब्र. शीतलप्रसादजी कृत) में भी उक्त प्रकार से ही अष्ट मंगल द्रव्य बताये हैं।

यह तो हुआ एक ही प्रकार का शृंखलाबद्ध कथन। अब इनसे कुछ भिन्नता लिए अष्टमंगलद्रव्यों के उल्लेख हैं वे आगे प्रकट किये जाते हैं—

१७—जम्बूदीव पण्णत्ती (आ० पद्मनंदिकृत)—उद्देश १३

छत्र धय कलस चामर, दप्पण सुवदोक थाल भिगारा।
अट्ठवर मंगलाणि य, पुरदो गच्छंति देवस्स ।।११२।।

(गाथा ११३ से १२१ में उपरोक्त आठ मंगल द्रव्यों का अलग अलग विस्तृत वर्णन है, गाथा ११६ में 'थाल' का अर्थ दिया है—'पूजाद्रव्यों से भरे और स्त्रियों के हाथों में सुशोभित रत्नमय थाल (पात्र)'। यहाँ ७ मंगलद्रव्य तो पूर्ववत् है सिर्फ १ ताल = पंखा की जगह थाल दिया है त और थ के मामूली अन्तर से अर्थ में बहुत अंतर हो गया है।

१८—वसुनंदि श्रावकाचार—

छत्तेहिं चामरेहिं य, दप्पण भिगार ताल वट्ठेहि।
कलसेहिं पुप्फवडलिय सुपइट्ठय दीव णिवहेहिं ।।४००।।
(इसमें 'ध्वजा' की बजाय 'दीपावलि' नया मंगलद्रव्य दिया है)

१९—समवशरणस्तोत्र (विष्णुसेन कृत)

सघाटक भृंगार छत्राब्द व्यजन शुक्ति चामर कलशाः।
मंगलमष्टविधं स्यादेकैकस्याष्ट शत सख्या ।।५१।।

(इसमें ठूणा और ध्वजा मंगल द्रव्यों के बजाय दो नये मंगल द्रव्य दिये हैं—संघाटक और शुक्ति। शुक्ति का अर्थ सीप होता है। प्रमाण नं० १३ में भी 'शुक्ति' मगलद्रव्य है। संघाटक का कोई अर्थ मिला नहीं, शायद सिंघाड़ा हो जो त्रिपद होने से—तिपाई का भो वाची—हो)

२०—प्रतिष्ठातिलक (भ० नेमिचन्द्र कृत) पत्र पृष्ठ १०६

न्यसामि भेरीरव शंख घंटा—, प्रदीप चन्द्रार्क रथांगकाब्दान्।
मंत्रात्मकान्पूर्वमुखासुदिक्षु, क्रमादिहाष्टावपि मंगलानि ।।

(इसमें एक अब्द = दर्पण को छोड़कर शेष सात मंगलद्रव्य बिल्कुल नये हैं जो इस प्रकार हैं—१. भेरी का रव = शब्द (रव की बजाय 'वर' पाठ हो) २. शख ३. घंटा ४. प्रदीप ५. चन्द्र ६. सूर्य ७ रथांग =चक्र)

२१—पूजासार (हस्तलिखित पत्र ११-१२)

भेरीं शंखं च घंटां च दीपं चन्द्र दिवाकरौ। चक्रमादर्शक विद्धिमंगलान्यष्ट धीधनाः ।।
(ये आठो मंगलद्रव्य ऊपर के प्रमाण न० २० की तरह ही हैं कुछ भी अंतर नहीं है)

२२—पूजासार (हस्तलिखित पत्र ४१)

ॐ सुप्रतिष्ठ मुकुरध्वज तालवृन्त, श्वेतातपत्र चमरीरुह तोरणानि।
सत्सम्मुखीन कलशैः सह मंगलानि स्थाप्यानि सम्यगभितः पृथुवेदिकायाः ।।
(इसमें भृंगार=झारी के बजाय तोरण' मंगलद्रव्य नया दिया है)

२३—पूजासार (हस्तलिखित पत्र ८४)

घंटा चामर केतु ताल कलश छत्रावली थालिका।
भृंगाराष्टक चूर्णपल्लवभिदा पुंड्रेक्षुदंडादिभिः ।।
अन्यैश्चाम्बरभमरत्नरचितैर्द्रव्यैर्जगन्मंगलैः।
देवो मंगलमादिम जिनपतिर्भक्त्यामयाभ्यर्च्यते ।।

(इसमें २ मंगलद्रव्य नये हैं जो दर्पण और सुप्रतिष्ठक की जगह घंटा और थाली के रूप में दिये हैं)

२४—चरचा संग्रह (हस्तलिखित 'जावद' ग्राम की प्रति)

आठ मंगलद्रव्य को ब्योरो—बीजणो, चंवर, छत्र, कलश, झारी, सांठ्यो, ठोणु, दर्पण ।।
(इसमें 'ध्वजा' की जगह 'सांठिया' मंगलद्रव्य दिया है जो नया है)

२५—समवशरण पाठ (लाला भगवान दास जी ब्रह्मचारीकृत वि० सं० १९८५)

भारी कलश और बीजणा जानिये, दर्पण ठोणा छत्र चंवर परमानिये ।
सिंहासन युत आठ कहे द्रव हैं सही, पूजन उत्सव धरन वेदी ऊपर यही ।।
(इसमें 'ध्वजा' की बजाय 'सिंहासन' मंगलद्रव्य दिया है)

२६—प्रतिष्ठासार संग्रह (वसुनंदि कृत) (हस्तलिखित पृष्ठ ४७)

मंगलानि च पूर्वादौ श्वेतच्छत्रं सुदर्पणं ।
ध्वजं चामर युग्मं च तोरणं तालवृन्तकम् ।।३६।।
नंद्यावर्त्तं प्रदीपं च दिशाष्वष्टासु पूजयेत् ।।

(इसमें ठूणा, भारी, कलश इन ३ मंगलद्रव्यों की जगह तोरण, नंद्यावर्त्त, प्रदीप ये ३ नये मंगलद्रव्य दिये हैं)

२७—णमोकार मंत्र (लक्ष्मीचन्द्र बैनाड़ा, दिल्ली कृत पृष्ठ १८)

छत्र चमर घंटा ध्वजा, भारी पंखा नव्य ।
स्वस्तिक दर्पण संग रहे, जिनवसु मंगलद्रव्य ।।
(इसमे ठूणा, कलश की जगह घंटा और स्वस्तिक नये मंगलद्रव्य दिये हैं)

२८—अभिषेक पाठ (माघनंदि कृत)

भृंगार चामर सुदर्पण पीठ कुम्भ, ताल ध्वजातप निवारक भूषिताग्रे ।
वर्धस्व नद जय पाठ पदावलीभिः, सिंहासने जिन ! भवन्तमहं श्रयामि ।।५।।
(इसमें सुप्रतिष्ठक की बजाय 'पीठ' (पीढा) नयामंगलद्रव्य दिया है)

२९—दर्शनपाहुड गाथा ३५ की श्रुतसागरी टीका—

अरहंत के चौतीस अतिशयों में १४ देवकृत अतिशय हैं उसमें १४ वां अतिशय अष्टमंगल रूप में इस प्रकार बताया है—१ भृंगार=सुवर्णालुका (सोने की भारी) २ ताल=मंजीरः (कांस्य-ताल-मंजीरा) ३ कलशः=कनक कुंभः ४ ध्वजः=पताका ५ सुप्रीतिका=विचित्र चित्र मयी पूजाद्रव्य स्थापनार्हा स्तंभाधार कुंभी ६ श्वेत छत्रं ७ दर्पणः ८ चामरं ।

(इसमें सब पूर्ववत् होते हुए भी 'ताल' शब्द का अर्थ पंखे की बजाय मंजीरा किया है यह नया है)

इस प्रकार पुराणे (१ भृंगार २ कलश ३ दर्पण ४ चमर ५ ध्वजा ६ पंखा ७ छत्र ८ ठूणा) और नये (९ थाल १० दीप ११ संघाटक १२ शुक्ति १३ भेरी १४ शंख १५ घंटा १६ चन्द्र १७ सूर्य १८ चक्र १९ तोरण २० स्वस्तिक (सांठिया) २१ सिंहासन २२ नंद्यावर्त २३ पीठ २४ मंजीरा) कुल चौबीस हो जाते हैं। ये मंगल-शुभ रूप होने से जिन प्रतिमा के आगे विराजमान रहते हैं। इसी से पं० आशाधरजी ने अपने जिन-सहस्रनाम में तृतीयशतक के अंत में जिनेन्द्र का एक नाम "अष्ट मगलः" भी दिया है। ये मंगलद्रव्य राजसी ठाठ में, आहार और पूजा के उपकरणों में भी प्रयुक्त होते है ।

लोक में और भी बहुत से मंगल हैं। 'धवला' पुस्तक १ पृष्ठ २७ पर आठ मंगल इस प्रकार दिये हैं—

सिद्धत्थ पुण्ण कुंभो वंदणमाला य मंगलं छत्तं । सेदो वण्णो आदंसणो य कण्णा य जच्चस्सो ।।

(१ सिद्धार्थ=सरसों २ भरा हुआ घडा ३ वदनमाला ४ छत्र ५ श्वेतवर्ण ६ दर्पण ७ कन्या ८ जात्यश्व=उत्तम जाति का घोड़ा (ये आठ मंगल बताये हैं 'अष्ट मंगलद्रव्य' नहीं) ये आठों मंगल रूप क्यों हैं इसकी सिद्धि के लिये 'पंचास्तिकाय' की जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति पृष्ठ ५ पर अलग अलग ८ गाथायें दी हैं जो सुंदर और अध्ययनीय हैं)

श्वेतांबर सम्प्रदाय में अष्टमांगल्य इस प्रकार बताये हैं—

दप्पण भद्दासण वद्धमाण सिरिवच्छ मच्छ वर कलसा ।
सात्थिय नंदावत्ता मंगलाईणि एयाणि ।। जीवाभिगमे

(१ दर्पण २ भद्रासन ३ वर्धमान (सिकोरा, तश्तरी) ४ श्रीवत्स ५ मत्स्य ६ कलश ७ स्वस्तिक ८ नंद्यावर्त्त ये आठ मांगल्य होते है) औपपातिक सूत्र ३९ में भी अष्टमंगल दिये हैं वहां और तो सब उपर्युक्त वत् हैं सिर्फ 'भद्रासन' की जगह 'महाराज' दिया है सो हाथी भी आसन=सवारी के काम आने से दोनों एकार्थक

संभव है। 'आचार दिनकर' पृष्ठ १९७-१९८ में इन आठ मंगलों के एक एक प्रतीकार्थ की अलग अलग व्याख्या दी है।

कुषाण कालीन आयाग पट्टों पर अष्ट मंगल इस प्रकार दिये हैं—

(अ) मीन मिथुन, देव विमानगृह, श्रीवत्स, वर्धमानक, त्रिरत्न, पुष्पमाला, वैजयंती, पूर्णघट

(ब) स्वस्तिक, दर्पण, भस्मपात्र, तिपाई, मीनयुगल (२ संख्या) पुष्पमाला, पुस्तक।

('वैजयंती' का अर्थ ध्वजा है। वर्धमानक' की जगह भस्मपात्र, रत्नपात्र, चूर्णपात्र नाम दिये हैं)

पांड्य शासकों के कांस्य सिक्कों पर अंकित अष्ट मंगल—

गज, वृक्ष, नंदि पद (बैल का खुर) कुंभ, अर्धचन्द्र, श्रीवत्स, दर्पण, चक्र।

मथुरा के दूसरी शताब्दी के एक छत्र पर अंकित अष्ट मंगल—

नंदिपद, मत्स्य युग्म, स्वस्तिक, पुष्पमाला, पूर्णघट, रत्नपात्र, श्रीवत्स, शंख निधि।

"जैनस्थापत्य और कला" भाग ३ (भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित) पृष्ठ ४७३—

(अ) स्वर्ण कलश, घट, दर्पण, अलंकृत, व्यजन, ध्वज, चमर, छत्र, पताका।

(ब) छत्र, चमर, ध्वज, स्वस्तिक, दर्पण, कलश, चूर्णपात्र, भद्रासन।

१५ वीं शति के आठ पवित्र चीनी बौद्ध प्रतीक—

चक्र, शंख, छत्र, ध्वजा, पद्म, कलश, मत्स्य, श्रीवत्स।

शकुनकारिका (वैदिकग्रंथ)

दर्पण: पूर्णकलश: कन्यासुमनसोऽक्षता:। दीपमाला ध्वजा: लाजा: संप्रोक्तं चाष्टमंगलं॥

(दर्पण, पूर्णकलश, कन्या, पुष्प, अक्षत, दीप, ध्वजा, लाजा (खीलें) ये ८ मंगल हैं)

बृहन्नदिकेश्वर पुराण (वैदिकग्रंथ)

मृगराजो वृषो नाग: कलशो व्यजनं तथा। वैजयंती तथा भेरी दीप इत्यष्ट मंगलं॥

(सिंह, बैल, हाथी, कलश, पखा, ध्वजा, भेरी, दीप ये ८ मंगल हैं)

नारदीय मनुस्मृति (वैदिकग्रंथ)

लोकेस्मिन्मंगलान्यष्टौ ब्राह्मणोगौर्हुताशन:। हिरण्यं र्मपि रादित्य आपोराजातथाष्टम:। ५१

(लोक में ८ मंगल हैं—१ ब्राह्मण २ गाय ३ अग्नि ४ चांदी ५ घी ६ सूर्य ७ जल ८ राजा।)

इसप्रकार दिगम्बरेतर और लौकिक अष्ट मंगलों मे कुल मंगल ४३ हो जाते हैं जिनके इकट्ठे नाम निम्नांकित हैं—

१ सरसों २ पूर्णघट ३ वदनमाला ४ छत्र ५ श्वेतवर्ण के पदार्थ ६ दर्पण ७ कन्या ८ अश्व ९ भद्रासन १० वर्धमानक ११ श्रीवत्स १२ मत्स्य १३ कलश १४ स्वस्तिक १५ नंद्यावर्त्त १६ हाथी १७ देवविमानगृह १८ त्रिरत्न १९ पुष्पमाला २० ध्वजा २१ तिपाई २२ पुस्तक २३ वृक्ष २४ नदिपद २५ चन्द्र २६ चक्र २७ शंख २८ पंखा २९ कमल ३० अक्षत ३१ दीप ३२ लाजा ३३ सिंह ३४ बैल ३५ भेरी ३६ ब्राह्मण ३७ गाय ३८ अग्नि ३९ चांदी ४० घी ४१ सूर्य ४२ जल ४३ राजा। इनमें दिगबरीय ९ मंगल (भृंगार, टूणा, थाल, संघाटक, शुक्ति, घंटा, तोरण, पीठ, मंजीरा) और मिलाने पर मंगलों की कुल संख्या ५२ हो जाती हैं।

मंगल शब्द का अर्थ है—मं पाप गालयतीति मगलम्=जो पापों अनिष्टों को नष्ट करे वह मंगल है। परमार्थ से तो अरिहंत, सिद्ध, साधु और केवली प्रणीत धर्म (चत्तारिमंगलं पाठ) ये चार ही मंगल बताये हैं, किन्तु उपचार से उपर्युक्त अष्ट द्रव्यों को भी मगल कह दिया गया है, क्योंकि ये अरिहंत के सान्निध्य को प्राप्त हुए हैं। आठ की संख्या ठाठ (वैभव) की सूचक है।

अरिहंत के ४६ गुणों में अष्टमहाप्रातिहार्य (अशोक वृक्ष, सुरपुष्प वृष्टि, दुंदुभि, सिंहासन, दिव्यध्वनि, छत्रत्रय, चामर युगल, प्रभामंडल) बताये हैं वे इन अष्ट मंगलों से जुदा हैं।

ज्योतिष. मन्त्र. तन्त्र. यन्त्र. मूर्ति. प्रतिष्ठा. आयुर्वेद
असिआ
अर्हं
उसा
ह्रीं
नमः
ॐ

जैन शासन में यन्त्र विद्या

❖ गणधर मुनि १०८ श्री कुन्थुसागरजी

[स्व० आचार्य १०८ श्री महावीरकीर्तिजी के शिष्य]
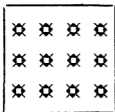
द्वादशांग वाणी के अन्तर्गत दृष्टिवाद अङ्ग के पूर्वरूप चौदह भेदों में 'विद्यानुवाद' नामक पूर्व कहा गया है, उसी विद्यानुवाद पूर्व से निस्सरित विद्या, मंत्र और यंत्र विधान है । विद्या—जिस मंत्र की अधिष्ठातृ देवी हों, मंत्र—जिसका अधिष्ठाता देव हो । बीजाक्षर हो अथवा स्वर हो या व्यंजन हो, प्रत्येक का एक-एक अधिष्ठाता देव या देवी होते हैं । इसका विस्तृत विवेचन वर्तमान में उपलब्ध विद्यानुशासन में पाया जाता है । ५०० महाविद्याओं और ७०० क्षुद्रविद्याओं का वर्णन तथा इनको सिद्ध करने का विधान आदि विद्यानुवाद में पाया जाता है । ये विद्याएं निर्ग्रंथ ऋषियों को विद्यानुवाद का स्वयमेव अध्ययन करने मात्र से सिद्ध हो जाती हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि श्रावक, विद्याधर आदि को विशेष तप, संयम, ध्यान से तथा विधि-विधान करने से सिद्ध होती है । इन विद्याओं को सिद्ध करने के लिये प्रथम तो श्रद्धान की परम आवश्यकता है । जिस मंत्र की सिद्धि करने के लिये जैसा विधि-विधान कहा है उसीप्रकार करने से वह मंत्र सिद्ध हो सकता है, अन्यथा हानि ही उठानी पड़ती है । आदिपुराण में जिनसेनाचार्य ने भी राजा नमि विनमि के राज्य प्राप्ति विषयक विवेचन के अन्तर्गत राजा नमि, विनमि को धरणेन्द्र द्वारा कुछ विद्याओं को सिद्ध करने का विधि-विधान भी बताया गया ऐसा कहा है । विधि-विधान सम्बन्धी उपदेश देते हुए बताया कि यह विद्याधर लोक है, विद्याधर लोक में मनुष्य को कुछ विद्याएं तो स्वयं सिद्ध हो जाती हैं और कुछ आराधना से सिद्ध होती हैं । मातृपक्षीय और पितृपक्षीय कुल विद्याएं तो स्वयं सिद्ध होती हैं तथा आराधना से सिद्ध होनेवाली विद्याएं भी हैं । उनको सिद्धायतन कूट के पास अथवा द्वीप, समुद्र, नदी आदि पवित्र स्थान में शुद्ध

वस्त्र धारण कर, उन विद्याओं की आराधना करके सिद्ध करें। इस विधि से ही विद्याएं सिद्ध हो सकती हैं तथा नाना प्रकार के इच्छित आकाश गमनादि व भोगोपभोग पदार्थ देती हैं।

विद्यानुवादपूर्व में विद्या साधन के अतिरिक्त मंत्र यंत्र का भी विशेष वर्णन पाया जाता है। अतः प्रस्तुत लघु निबन्ध में यंत्र साधना के सम्बन्ध में विशेष लिखने का प्रयास किया गया है। यंत्र लेखन योजना, यंत्र लेखन विधि तथा यंत्र चमत्कार इन तीन विषयों से सम्बन्धित सामग्री ही इस लेख में प्रमुखता से प्रस्तुत की गई है। यन्त्र मन्त्र साधना के लिये आदिपुराण में पर्व नं० १९ पृ० ४२० पर कहा गया है कि जो सच्चे श्रद्धान से युक्त हो वे ही यन्त्र-मन्त्र की साधना करें।

यंत्र लेखन योजना :

जब यंत्र साधन या सिद्धि करने बैठे तो उससे पहले यंत्र लिखने की योजना समझना चाहिये, क्योंकि बिना समझे उसमें भूल होना संभव है। मान लो भूल हो गई और लिखे हुए अंक को काट दिया या मिटा दिया और उसकी जगह दूसरा लिखा तो यह यंत्र लाभदाई नही होगा। इसी प्रकार अंक में १ की जगह २ लिखा गया हो तो यह भी एक प्रकार की भूल मानी गई है। भूल होने पर उस भोज पत्र या कागज को छोड़ दो। दूसरा लेकर लिखो। भूल न हो इसके लिये पूर्व अभ्यास करना चाहिये।

यंत्र लिखते समय सबसे पहले देख लो कि सबसे छोटा अंक किस खाने में है। उसी खाने से लिखना शुरु किया जाय और वृद्धि पाते अङ्क से लिखते जाओ। जैसे यंत्र में सबसे छोटा अङ्क ५ है तो ५ से लिखना प्रारम्भ करो बाद में ६-७-८ जो भी संख्या हो क्रमवृद्धि से लिखते जाओ। इस क्रम से पूरा यंत्र लिख लो। ऐसा कभी न करो कि लाइन से खाने भर दो और सबसे छोटा अङ्क अंत में या बीच में भरो। इस प्रकार से अक्रम से भरा यंत्र लाभकारी नहीं होगा।

यंत्रांक योजना :

अधिकांश यंत्रों में अंक संख्या इस विधि से लिखी होती है कि किसी तरफ से जोड़ने पर एक ही संख्या आती है इसका अभिप्राय यह है कि यन्त्रक सब ओर अपना बल समान रखना चाहता है। किसी भी दिशा में निज प्रभाव कम नहीं होने देता है।

यन्त्रों में भिन्न २ प्रकार के खाने होते हैं और वे भी प्रमाणित रूप से व अङ्कों से अंकित होते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक अंक निज बल को पिछले अंक मे मिला दश गुणा बढ़ा देते है, तदनुसार यह योजना भी यन्त्र शक्ति को बढ़ाने के हेतु से की गई समझना चाहिये।

जिन यन्त्रों में विशेष खाने हों और जिनके अंकों का योग करने से एक ही योजन आता हो तो इस तरह के यन्त्र अन्य हेतु से समझना चाहिए। ऐसे यन्त्रों का योगांक करने की आवश्यकता नहीं होती है। ऐसे यन्त्र इस प्रकार के देवों से अधिष्ठित होते हैं कि जिनका प्रभाव बलिष्ट होता है। जैसे भक्तामर आदि के यन्त्र। इसलिए जिन यन्त्रों का योगाङ्क एक न मिलता हो उन यन्त्रों के प्रभाव या लाभ प्राप्ति में शंका नहीं करना चाहिए।

यंत्र लेखन विधान :

यन्त्र लिखने बैठे तब यन्त्र के साथ विधान लिखा हो तो प्रथम उस पर ध्यान दो। प्रधानतः यन्त्र लिखते समय मौन रहना चाहिए। सुखासन से बैठना चाहिए। सामने छोटा या बड़ा पाटिया या बाजोठ हो तो उस पर रखकर लिखना, परन्तु निज के घुटने पर रखकर कभी नही लिखे क्योंकि नाभि के नीचे अङ्ग ऐसे कार्यों में उपयोगी नहीं माने गए हैं।

प्रत्येक यन्त्र को लिखने के समय दीप, धूप, अवश्य रखनी चाहिए और यन्त्र विधान में जिस दिशा की ओर मुख करके लिखने का विधान बताया हो, उसी दिशा की ओर मुख करके लिखें, यदि नहीं लिखा हो तो सुख सम्पदा प्राप्ति के लिए पूर्व दिशा की ओर, संकट, कष्ट, आधि, व्याधि के मिटाने को उत्तर दिशा की ओर मुख करके बैठना चाहिए। सम्पूर्ण क्रिया कर शरीर शुद्धि करके स्वच्छ कपड़े पहन कर विधान पर पूरा ध्यान रखना उचित है। लेखन विधि ऊन के बने आसन पर बैठकर नहीं करना चाहिए। स्थान शुद्धि का भी पूरा ध्यान रखना चाहिये।

यंत्र चमत्कार :

यंत्र का बहुमान करके उससे लाभ की प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है। वार्षिक पर्व दीपावली के दिन दूकान के दरवाजे पर या अन्दर जहां देव स्थापना हो वहां पर पन्दरिया, चौंतीसा, पेंसठिया, यंत्र लिखने को प्रथा बहुत जगह देखने में आती है। विशेष में यह भी देखा है कि गर्भवती स्त्री कष्ट पा रही हो और छुटकारा न होता हो तो विधि सहित यंत्र लिखकर उस स्त्री को दिया जाय तो देने मात्र से छुटकारा हो जाता है। किसी स्त्री को डाकिनी, शाकिनी, सताती है तो यंत्र को हाथ में या गले में बांधने से या सिर पर रखने व दिखाने मात्र से आराम हो जाता है।

प्राचीन काल में ऐसी प्रथा थी कि किले या गढ़ की नींव लगाते समय अमुक प्रकार का यंत्र लिख दीपक के साथ नींव में रखते थे। इस समय भी बहुत से मनुष्य यंत्र को हाथ में बांधे रहते हैं और जैनधर्म में तो पूजा करने के भी मंत्र होते हैं जिन का नित्य प्रति अभिषेक कराया जाता है और चन्दन से पूजा कर पुष्प चढ़ाते हैं। इस तरह से यंत्र का बहुमान प्राचीन काल से होता आया है। जो अब तक चल रहा है। साथ ही श्रद्धा भी फलती है, जिस मनुष्य को यन्त्र पर भरोसा होता है उसे फल भी मिलता है। इसीलिए श्रद्धावान लोग विशेष लाभ उठाते हैं। श्रद्धा रखने से आत्मविश्वास बढ़ता है। एक निष्ठ रहने की प्रकृति हो जाती है। एक निष्ठा से आत्मबल व आत्मगुण भी बढ़ते हैं। परिणाम पुष्ट-निर्मल होते हैं अतः आत्म शुद्धयर्थ भी श्रद्धान रखना परमावश्यक है। जैनागम में अनेक यन्त्रों का सविस्तार विधि-विधान पूर्वक वर्णन पाया जाता है जिज्ञासुओं को वहां से जानना चाहिए।

मंत्र-तंत्र-यंत्र विद्या

❖ आर्यिका श्री सुपार्श्वमति माताजी
[आर्यिका इन्दुमतीजी संघस्था]

जैन धर्म में ध्यानाध्ययनादि का विशेष वर्णन है–उसीप्रकार मत्र तंत्र और यंत्र का भी विशेष वर्णन है। दृष्टिवाद नामक १२ वे अंग के पाच भेद है उसमें चूलिका नामक जो भेद है—उसके जलगता, आकाशगता, स्थलगता, मायागता और रूपगता यह पाच भेद है—उनमें मंत्र तंत्र के प्रयोग का वर्णन किया।

जल मे गमन, जल का स्तंभन, अग्नि स्तभन अग्नि भक्षण, अग्निप्रवेश करने मे कारणभूत मंत्र तंत्र तपश्चरण आदि का वर्णन जिस ग्रन्थ में है—उसको जलगता चूलिका कहते है।

भूमि मे प्रवेश करने का वा पृथ्वीगत वस्तु का प्रतिपादन करने वाले मंत्र तत्र का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को स्थलगता चूलिका कहते हैं

व्याघ्र सिंह हरिण आदि रूप से परिवर्तन करने में कारणभूत मंत्र तंत्र कथन करने वाले शास्त्र को मायागता कहते हैं।

इन्द्र जालादि सम्बन्धी मंत्र तंत्र का जिसमें वर्णन है उसको मायागता चूलिका कहते हैं।

आकाश में गमन के कारण मंत्र तंत्रादि का वर्णन जिसमें है उसको आकाशगता चूलिका कहते हैं।

१४ पूर्व विद्यानुवाद नामक पूर्व है—उसमें तो पूर्ण रूप से मंत्र तंत्र और यंत्र का ही वर्णन है। इस प्रकार जैन ग्रन्थों में मंत्र तंत्र का विधिवत् प्रयोग किया है—और मंत्र तंत्र की साधना पद्धति भी लिखी है—तथा उनके प्रयोग से जिनको फल प्राप्त हुआ है उनके नामोल्लेख भी हैं।

प्रभावशाली, महत्त्वपूर्ण रहस्यमय शब्दात्मक वाक्यों को "मंत्र" कहते हैं। जो कुछ गुप्त वार्त्ता होती है उसको मंत्र कहते हैं। अथवा—मन्त्र्यते मन्त्रणं वा मंत्रं। मत्रि गुप्त भाषणे इस व्युत्पत्ति से मंत्र शब्द का अर्थ होता है—गुप्त मंत्रणा। "मंत्रो वेद विशेषे स्याद्देवादीनां च साधने गुह्य वादेपि च पुमान् मत्र-शब्द वेद विशेष में देवताओं की साधना करने में और गुप्त मंत्रणा में आता है। यहां पर मंत्र शब्द का अर्थ है—देवताओ की आराधना वा आत्म साधना।

मंत्रों का भी व्याकरण है, उसी के अनुसार विभिन्न कार्यों के लिये विभिन्न प्रकार के बीजाक्षरों की योजना करके विभिन्न प्रकार के मंत्र बनाये जाते हैं। विद्यानुशासन ग्रंथ में मंत्रों का व्याकरण बतलाया गया है।

मत्र क ख ग घ आदि बीजाक्षरों से निष्पन्न होते हैं उन मंत्र में निहित बीजाक्षरों में उच्चरित ध्वनियों से आत्मा में धन और ऋणात्मक दोनों प्रकार की विद्युत शक्तियां उत्पन्न होती हैं। जिससे अनेक कार्यों की सिद्धि एव कर्म कलंक का प्रक्षालन् होता है।

बीजाक्षरों की योजना से चमत्कार प्रकट करने वाले मंत्र दो प्रकार के हैं—लौकिक और अलौकिक। जिन मंत्रों की विद्युत शक्तियों से सर्प-विष, आधि-व्याधि, भूत प्रेतादि बाधा दूर की जाती है अथवा जिनका प्रयोग वशीकरण, मारण, उच्चाटन के लिये किया जाता है वह लौकिक मंत्र है और जिन मंत्रों के जपने से आत्म शुद्धि एवं आत्मोन्नति होती है वे लोकोत्तर मत्र होते हैं।

बीजाक्षर—ककार से लेकर हकार पर्यंत व्यजन बीज सज्ञक है और अकारादि स्वर शक्तिरूप हैं।[1] मत्र बीजों की निष्पत्ति बीज और शक्ति के संयोग से होती है।

मत्र शास्त्रों में कथित सारस्वत बीज, माया बीज, शुभनेश्वरी बीज, पृथ्वी बीज, अग्नि बीज, प्रणव बीज, मारुत बीज, जल बोज, आकाश बीज, आदि की उत्पत्ति ककारादि हत्य् बीजो से और अकारादि 'अच्' शक्ति से होती है।

प्रत्येक स्वर और व्यंजनों की शक्तियों का वर्णन —

अ—अव्यय, व्यापक ज्ञान स्वरूप शक्ति का द्योतक प्रणव बीजका जनक है।

आ—शक्ति और बुद्धि का दायक सारस्वतबीज का जनक कीर्त्ति-धन का देने वाला है।

इ—लक्ष्मी प्राप्ति का साधक-कठोर कर्मों का बाधक एव ह्रीं बीज का उत्पादक है।

ई—अमृत बीज है, ज्ञानवर्द्धक, स्तंभक, मोहक और जंभृक है।

उ—उच्चाटन कारक तथा श्वास नालि के द्वारा जोर का धक्का देने से मारक है।

ऊ—उच्चारक, मोहक और विशेष शक्ति का परिचायक है।

ऋ – ऋद्धिबीज, सिद्धिदायक, शुभ कार्य सम्बन्धी बीजों का मूल कार्य सिद्धि का सूचक है।

---

१. 'हलो बीजानि चोक्तानि स्वराः शक्तयः ईरिताः। —जयसेन प्रतिष्ठापाठ-श्लोक-३७७।

ऋ—सत्य का संचारक वाणी का ध्वंसक लक्ष्मी और आत्मसिद्धि का दीपक है।

ए—अरिष्ट निवारक और सुख सम्पत्ति का वर्द्धक है।

ऐ—उदात्त–जोर से उच्चारण करने पर वशीकरण।

ओ—यह उदात्त स्वर माया बीज का उत्पादक लक्ष्मी–श्री पोषक सर्व कार्यों का साधक और निर्जरा का कारण है।

औ—मारण और उच्चाटन में प्रधान शीघ्र कार्य का साधक है।

अं—स्वतंत्र अनेक शक्तियों का उद्घाटक है।

अः—शांति बीजों में प्रधान है।

क—शक्ति बीज प्रभावशाली सुखोत्पादक और संतान प्राप्ति की कामना को पूरने वाला है।

ख—आकाश बीज-अभाव कार्यों की सिद्धि के लिए कल्पवृक्ष है।

ग—पृथक् करने वाले कार्यों का साधक है।

घ—स्तंभन बीज है, स्तंभन कार्यों का साधक और विघ्न घातक है।

इसप्रकार 'च' आदि सम्पूर्ण बीजाक्षर संयुक्त वा असंयुक्त होकर कार्य सिद्धि को करते हैं। इन बीजाक्षरों की शक्ति अचित्य है। कठिन से कठिन कार्य, दुसाध्य रोग, ईति-भीति आदि सर्व उपद्रव बीजाक्षरों के ध्यान से नष्ट हो जाते हैं।

सर्व प्रथम बीजाक्षरों से निष्पन्न णमोकार मंत्र है, जिसके चितवन से लौकिक कार्य की सिद्धि और आत्मोन्नति होती है। इसके जपने वालों के उदाहरणों से शास्त्र भरे हुये हैं। इसी मंत्र के ध्यान से सुदर्शन के लिये सिंहासन, रावण को विद्याओं की सिद्धि, मानतुंग के ४८ ताले टूटना, वादिराज के कुष्ट रोग का निवारण, कुन्द कुन्द के द्वारा अम्बिका का अवतरण, आदि अनेक कार्य सिद्ध हुये हैं। इस णमोकार मंत्र से ही सर्व मंत्रों की उत्पत्ति होती है। मंत्र व्याकरण के अनुसार इसमें अनेक प्रकार के बीजाक्षर और पल्लव जोड़ देने से इसमें अद्भुत शक्ति का योग हो जाता है। जैसे धन प्राप्ति के लिए 'क्लीं' शांति के लिये 'ह्रीं' विद्या के लिये "ऐं" कार्य सिद्धि के लिए 'भ्रौं' बीजाक्षर और स्वाहा या नमः पल्लव का प्रयोग किया जाता है। मारण, उच्चाटन, विद्वेष न करने के लिये 'घेघे' वषट् शब्द का प्रयोग किया जाता है।

तथा—ॐ ह्रां णमो अरिहंताणं, ॐ ह्रीं नमो सिद्धाणं, ॐ ह्रूँ णमो आइरियाणं, ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं, ॐ ह्रः णमो लोए सव्व साहूणं–यह एक मंत्र बन गया—जिस कामना से इसका जाप्य करना है-वहीं पल्लव जोड़ देना चाहिये।

जैसे यदि अग्नि को शमन करना है तो इसी मंत्र के अंत में अग्निं उपशमय उपशमय सर्वशांति कुरुकुरु स्वाहा। ऐसा जाप करना चाहिये। वृष्टि कराने के लिये मेघं आनय आनय वृष्टि कुरु कुरु स्वाहा। वृष्टि को रोकने के लिये वृष्टि स्तभय स्तंभय मेघमानय आनय हूँ फट् स्वाहा मंत्र बोलना चाहिये। विष को दूर करने के लिये—सर्पविषं वा वृश्चिक विषं नाशय नाशय हूं फट् स्वाहा। इसीप्रकार आधि-व्याधि शोक संताप दारिद्र का नाश करने के लिये पल्लव को जोड़ कर ऊपर कथित णमोकार मंत्र का जाप करने से कार्य की सिद्धि होती है।

इस णमोकार मंत्र के समान और भी बहुत से मंत्र हैं—जिनसे भी अनेक कार्य सिद्ध होते हैं—

जैसे 'ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ब्लूं अर्हं नमः' यह सर्व शांतिदायक मंत्र है। ॐ ह्रीं क्लीं ऐं हंस वाहिनी मम जिह्वाग्रे आगच्छ आगच्छ स्वाहा—इस जाप्य से विद्या शीघ्र सिद्ध होती है।

ॐ ह्रीं अर्हं णमो आमोसहिपत्ताणं, ॐ ह्रीं अर्हं अर्हं णमो विप्पोसहि पत्ताणं, ॐ ह्रीं अर्हं णमो खेल्लोसहि पत्ताणं ॐ ह्रीं अर्हं णमो जल्लोस्सहिपत्त.णं मम सर्व रोग विनाशनं कुरु कुरु स्वाहा इस मंत्र से सर्व रोग दूर हो जाते हैं।

ॐ ह्रीं अर्हं णमो अक्खीणमहाणसाणं मम अक्खय ऋद्धि कुरु कुरु स्वाहा। इससे धन धान्य की प्राप्ति होती है।

ॐ ह्रीं नमः—इससे अनेक कार्य सिद्ध होते हैं। इस मंत्र का पार्श्वनाथ भगवान् की प्रतिमा के दक्षिण बाहु के समीप पद्मासन बैठ कर दो हजार जप करने से सर्व कार्य सिद्ध होते हैं।

ग्राम में प्रवेश करते समय इस मंत्र का १०८ बार जाप करने से मिष्ठान्न की प्राप्ति होती है।

इसी 'ॐ ह्रीं नमः' मंत्र को २१ बार जप कर दशो दिशाओं में पानी फेंकने से वर्षा बद्ध हो जाती है।

इसी मंत्र से २७ बार अन्न को मंत्र करके खाने से आठवे दिन लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

रात्रि में १०८ बार जपने से लक्ष्मी की वृद्धि होती है।

ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं वाग्वादिनी भगवती सरस्वती ह्रीं नमः—इस मंत्र के जाप्य से विद्या की प्राप्ति होती है।

ॐ नमो भगवते पार्श्व नाथाय एहि-एहि भगवती दह दह हन हन चूर्णय चूर्णय भंज भंज कंड कंड मर्द्दय मर्द्दय ह्म्ल्व्यूं आवेशय २ हूं फट् स्वाहा—इस मंत्र का ४००० पुष्पों से जाप्य करने से सर्वरोग नष्ट हो जाते हैं।

ॐ ह्रीं ऐं क्लीं ह्रौ नमः १२००० जाप्य करने से सिद्ध होता है। शुक्रवार के दिन धरणेन्द्र पद्मावती सहित पार्श्वनाथ भगवान के समक्ष जप करने से स्वप्न में शुभाशुभ की सूचना मिलती है।

ॐ णमो अरिहंताण वद वद वाग्वादिनी स्वाहा—इस मंत्र से १०८ बार मालकांकिणी को मंत्र कर खाने से बुद्धि की वृद्धि होती है।

इस प्रकार मंत्रों से अनेक कार्य सिद्ध होते है—मंत्रो की महिमा अचित्य है। इन मंत्रों से आत्म कल्याण के साथ लौकिक अभ्युदयों की प्राप्ति होती है। अनेक प्रकार के मंत्रो का प्रयोग जैन शास्त्रों में किया है।

यंत्र :

मंत्रों के समान यंत्रों का भी महात्म्य अचिन्त्य है।

बीजाक्षर और अंक से यंत्र बनते हैं—अर्थात् इन्हीं बीजाक्षरों की मंत्रों को तथा एक दो आदि अंकों को ताम्र पत्र कांस्य पत्र सुवर्ण पत्र आदि पर लिखा जाता है–वह यंत्र कहलाता है—मंत्र शास्त्र के अनुसार इसमें अलौकिक शक्तियां मानी गई है इसलिये जैन सम्प्रदाय में इसे पूजा वा विनय का विशेष स्थान प्राप्त है। मंत्र सिद्धि-पूजा-प्रतिष्ठा यज्ञ विधान आदि में इनका बहुलता से प्रयोग किया जाता है। प्रयोजन के अनुसार तत्काल भी यंत्र बनाये जाते हैं।

यंत्रों के नाम—अंकुरार्पण यंत्र, अग्नि मंडल यत्र, ऋषि मंडल यंत्र, अर्हन्मंडल यंत्र, कर्म दहन यंत्र, कलिकुण्ड दंड यंत्र, कल्याण त्रिलोक्यसार यंत्र, कूर्म चक्र यंत्र, गंध यंत्र, गणधरवलय यंत्र, षट स्थानोपयोगी यत्र, चिंतामणि यंत्र, मृत्युंजय यंत्र, सारस्वत यत्र, सर्वतोभद्र यंत्र, सुरेन्द्र चक्र यंत्र, नित्य उपयोग में आने वाले सिद्ध यंत्र, दशलक्षण, रत्नत्रय, षोडशकारण चतुर्विंशति तीर्थंकर यंत्र, शांति यंत्र, विनायक यंत्र, सरस्वती यंत्र, यंत्रेश यंत्र, मातृक यंत्र, आदि अनेक यंत्र हैं—उसी प्रकार पंचकल्याण आदि विधानों में उपयोगी मृतिका नयन यंत्र, नयनोन्मिलन यत्र, जल यंत्र, निर्वाण सम्पत्ति यंत्र, बोधि समाधि यंत्र, चितामणि यंत्र, आदि अनेक बीजाक्षर के यंत्र हैं। भक्तामर, कल्याणमन्दिर के जितने श्लोक हैं उतने ही उनके यंत्र भी हैं।

इन बीजाक्षरों के समान 'अंक' यंत्र भी हैं—जैसे १५ का यंत्र २०-४५-२१-८१ आदि अनेक यंत्र हैं। ६४ ऋद्धि का भी यंत्र है। नागौर के शास्त्र भंडार में एक विस्तृत विजय पताका यंत्र है-उसमें सारे अंक यत्र गर्भित हैं। इनके लिखने की विधि और फल का भी विस्तृत वर्णन है। जैसे कितनी भी संख्या का यन्त्र बनाना है—उसके लिये १६ कोष्ठ का यंत्र बनाकर इस विधि से भरना चाहिये—उसका सूत्र है "इच्छाकृतार्धं कृत रूप हीनं, धने[९] ग्रहे षोडश सप्त चाष्टौ। तिथि[१५] दशां से प्रथमे च कोष्टे, द्वि[२] सप्त[७] षट्[६] त्रि[३] अष्ट कु[१]-वेद[४] बाण[५]। किसी भी सम संख्या का यंत्र बनाना हो तो—उस संख्या मे दो का भाग देना चाहिये और जो उसमें लब्ध आता है उसमें एक कम करके दूसरे कोष्ठ में स्थापन करना चाहिये। तदनतर एक एक हीन करके क्रम से धने (नौवें) कोष्ठ मे, सोलहवें कोष्ठ में, सप्त कोष्ठ में, अष्टम कोष्ठ में, पन्द्रहवे कोष्ठ में, दशवें कोष्ठ में और प्रथम कोष्ठ में स्थापना करनी चाहिये। शेष कोष्ठों में क्रम से २-७-८-१-४ और पाच लिखना चाहिये।

जैसे हमें एक सौ सोलह का यंत्र बनाना है—तो सर्व प्रथम इसका आधा (५८) करना चाहिये। तदनंतर इसमें से एक घटाकर दूसरे कोठे में स्थापित करना चाहिये। तदनन्तर एक एक कम करके ९, वे सौलवे, सातवें, आठवें, पन्द्रहवें, दशवें, और प्रथम कोष्ठ में स्थापित करना चाहिये। उसके बाद दो, सात, छह, तीन, आठ, एक, चार और पाँच को लिखना चाहिये। कुछ यत्र ऐसे भी हैं जिनमे बीजाक्षर और अंक दोनो रहते है। इन यंत्रों को काम मे लेने के लिये सर्व प्रथम गुरु की शरण लेना चाहिये। इस प्रकार अनेक विध यत्रों की आराधना से भी अनेकों कार्य सिद्ध होते है।

तंत्र :

इन ही यंत्र और मन्त्रो को भोजपत्र पर लिखकर भुजा, मस्तक और गले में धारण करते है-वह तंत्र कहलाता है ऋषि मंडल स्तोत्र में लिखा है कि—

आचाम्ल तप करके ऋषि मंडल के आठ हजार जप करने से इच्छित कार्यों की सिद्धि होती है।

आचाम्लादि तपः कृत्वा पूजयित्वा जिनावलिं।
अष्ट साहस्रिको जाप्यः कार्यस्तत्सिद्धि हेतवे।

यंत्र—ऋषि मंडल यंत्र को ताम्र पत्र-सुवर्ण पत्र, रजत पत्र आदि पर लिखकर पूजा करने से घर में सुख और शांति रहती है।[१]

तंत्र—इस यंत्र को भोजपत्र पर लिख कर मस्तक-भुजा-कठ आदि में धारण करने से भूत-पिशाच, व्यतर देवों की बाधा दूर हो जाती है तथा वात-पित्त-कफ जनित अनेक रोग उपशांत हो जाते हैं।[२]

---

१. सुवर्णेरुप्येऽथवा कांस्ये लिखित्वा यस्तु पूजयेत्
तस्यैवाष्ट महासिद्धिर्गृहे वसति शाश्वती।

२. भूर्जं पत्रे लिखित्वेद गलके मूर्ध्नि वा भुजे। धारितः सर्वदा दिव्य सर्वभीति विनाशिने॥
भूतःप्रेतैर्गृहैर्यक्षैः पिशाचैं मुंद्गलैस्तथा। वातपित्तकफोद्रेकैं मुंच्यते नात्र संशयः॥

जो मानव इन तंत्रों के द्वारा अन्य पुरुषों की हानि-लाभ करते हैं वे तांत्रिक कहलाते हैं।

इसप्रकार जैन ग्रन्थों में मंत्र, यंत्र, और तंत्रों का उल्लेख पाया जाता है तथा पूर्व काल में इनका जिन्होंने प्रयोग किया है उनके उदाहरण भी मिलते हैं। जैसे—सिद्ध यंत्र की आराधना करके मैनासुन्दरी ने अपने पति श्रीपाल का कुष्ट रोग दूर किया था। शांतियंत्र की आराधना करने से मरी रोग दूर हुआ था। भक्तामर के ४८ काव्यों के यंत्र बनाकर पूजन करने से जिन-जिनने फल प्राप्त किया है उनके नामों का उल्लेख भी पाया जाता है।

मन्त्र के जाप्य से जो आपत्तियां दूर होती हैं उनका वर्णन तो प्रत्येक ग्रन्थ में है। विषापहार स्तोत्र में लिखा है कि—

औषधि, मणि आदि सब एक तरफ हैं और वीतराग प्रभु के नामाक्षर जाप्य एक तरफ हैं। इसके जाप्य से सर्व आपत्तियां दूर होती हैं तथा सर्व सम्पत्ति अनायास प्राप्त होती है। पूर्व में मन्त्रों के जाप्य से दूर स्थित पुरुष को समीप बुला लिया जाता था। सर्प का विष दूर कर दिया जाता है। तंत्र भी बहुत उपयोगी है—जैसे भक्तामर काव्य यंत्र लिखकर बांधने से अनेक प्रकार की बाधायें दूर हो जाती हैं।

जब भविष्यदत्त बुद्धदत्त के साथ विदेश जाने लगा-तब मुनिराज ने उसको एक तंत्र दिया था, जिससे उसकी सारी आपत्तियां दूर हो गईं।

कल्याणमन्दिर भक्तामर स्तोत्रादि में लिखा है कि इस यंत्र को लिखकर कटि भाग में बांधने से गर्भ का स्तंभन होता है। इसके बांधने से भूत प्रेत की बाधा दूर हो जाती हैं।

इन ही मन्त्र और यन्त्रों का अंतरंग जल्प से चिंतवन करने से धर्मध्यान की उत्पत्ति होती है क्योंकि जिसप्रकार मन्त्रों और यन्त्रों में बीजाक्षर का जाप्य किया जाता है। उसी प्रकार मन को एकाग्र करके उनका ध्यान भी किया जाता है। उन मन्त्रों का ध्यान करना पदस्थ नाम का ध्यान है। इस ध्यान से असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा होती है।

सिद्ध पूजा की स्थापना में सिद्ध यन्त्र की विधि लिखी है और लिखा है कि जो इसका ध्यान करता है वह मुक्ति का प्यारा होता है। इससे जाना जाता है कि यह मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र, मन की स्थिरता के कारण होने से ध्यान का अंग भी हैं।

इन मन्त्रों को सिद्ध करके भी अनेक कार्य किये जाते हैं। मन्त्र को सिद्ध करने के लिये मन्त्रशास्त्र के अनुसार प्रथम गणित से देखना चाहिये।

जिस मन्त्र की साधना करना है उस मन्त्रों के अक्षरों को तीन से गुणा करके अपने नाम के अक्षरों को उसमें मिला देवें। उस संख्या में १२ का भाग देने पर यदि ५-९ शेष रहे तो मन्त्र शीघ्र सिद्ध होगा। ६-१० शेष रहने पर देर से सिद्ध होगा। ७-११ शेष रहने पर सिद्ध होता है। ८-१२ शेष रहने पर सिद्ध नहीं होगा।

मन्त्र का जो प्रथम अक्षर है उससे लेकर इस कोठे में से गणना करनी चाहिए अपने नामाक्षर तक सिद्ध-साध्य, सुसाध्य, असिद्ध। यदि असिद्ध, आता है तो उस जाप्य को छोड़ देना चाहिये, परन्तु रगमोकार मन्त्र 'ह्रीं' मन्त्र आदि के लिये यह विधान नहीं है यह विधान देवताओं की आराधना के लिये है।

[illegible] तंत्र लिखने की विधि—तंत्र अष्ट गंध (अगर-तगर-गोरोचन-कस्तूरी-चन्दन-सिन्दूर-लाल चन्दन-केशर) की स्याही बनाकर लिखना चाहिये। स्याही बनाते समय शुद्ध पानी डालना चाहिये।

कभी केशर-कस्तूरी-कपूर-चन्दन और गोरोचन इन पांच गंधों से भी लिखा जा सकता है।

"यक्ष कर्दम" केशर-कस्तूरी-चन्दन-कपूर-अगर-गोरोचन-हिंगुल-रजतांगी-अम्बर सोने का वर्क, मिरच, कंकौभ, कंकोल, इनका रस तैयार कर पवित्र कटोरी में स्याही बनाकर लिखना चाहिये।

अनार, चमेली और सुवर्ण की शलाका से लिखना चाहिये। यंत्र भोजपत्र पर वा शुद्ध कागज पर लिखना चाहिये।

तंत्र में लिखते समय गलती नहीं होना चाहिए। काटे हुये अक्षर का यंत्र काम में नहीं आता है।

लिखते समय अंक की संख्या एक आदि से ही लिखनी चाहिये। जैसे पन्द्रह का यंत्र लिखा उसमें प्रथम एक पुनः दो आदि क्रम से लिखना चाहिये।

इसप्रकार मन्त्र तंत्र यत्र का प्रयोग करना चाहिये। इन मन्त्र यन्त्र तन्त्रों से शास्त्र भरे हुये हैं, उनका निरीक्षरण करके गुरु की आज्ञा से आराधना करनी चाहिये।

ज्योतिष मंत्र यंत्र और तंत्र का संक्षिप्त इतिवृत्त

❖ आर्यिका १०५ श्री विशुद्धमति माताजी

[प० पू० १०८ आ० श्री शिवसागरजी की शिष्या]

वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता आदि गुणों से अलंकृत जिनेन्द्र भगवान के मुखारविन्द से निर्गत एवं गणधर देव द्वारा गुम्फित द्वादशांग गत सूर्य प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति में तथा त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों में सूर्य, चन्द्र एवं राहु आदि ग्रहों का सांगोपांग वर्णन किया गया है तथा कल्याणवाद पूर्व में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारागणों के संचार, उत्पत्ति एवं विपरीत गति के शुभाशुभ फलों का तथा शुभाशुभ शकुनों के फलों का वर्णन किया गया है। विद्यानुवाद पूर्व में अंगुष्ठप्रसेनादिक सात सौ अल्प विद्याओं, रोहिणी आदि पांच सौ महाविद्याओं के साथ साथ आठ महानिमित्तों का भी सांगोपांग वर्णन है।

जिन लक्षणों को देखकर भूत-भविष्यत् में घटित हुई अथवा घटित होने वाली घटनाओं का आभास प्राप्त होता है उसे निमित्त कहते हैं। कारक और सूचक के भेद से ये निमित्त दो प्रकार के हैं। जो किसी वस्तु को सम्पन्न करने में सहायक होते हैं, उन्हें कारक निमित्त कहते हैं, जैसे कुम्हार के निमित्त से घट और जुलाहे के निमित्त से पट निष्पन्न होता है, तथा जिससे किसी वस्तु या कार्य की सूचना मिलती है, उसे सूचक निमित्त कहते हैं, जैसे—सिगनल का झुकना गाड़ी आने का और ठण्डी हवा बरसात या तालाब की सूचक है। ज्योतिष शास्त्र में सूचक निमित्तों की विशेषता है, क्योंकि शुभ अशुभ प्रत्येक घटनाओं के घटित होने के पूर्व प्रकृति, शरीर, स्वभाव, वाणी

आदि में कुछ न कुछ अच्छे-बुरे विकार अवश्य उत्पन्न होते हैं। ये शुभाशुभ विकार सूर्यादि ग्रह अथवा अन्य प्राकृतिक कारण किसी भी व्यक्ति का स्वयं इष्ट अनिष्ट नहीं करते अपितु इष्ट-अनिष्ट रूप में घटित होने वाली भावी घटनाओं को मात्र सूचना देते हैं, और जो ज्ञानी पुरुष इन संकेतों अथवा सूचनाओं के रहस्य को समझते हैं वे भूत-भावी शुभाशुभ घटनाओं को सरलतापूर्वक जान लेते हैं।

मध्य लोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं, और इन सभी द्वीप समुद्रों में अलग-अलग सूर्य-चन्द्रादि ज्योतिष देवों का अवस्थान है, किन्तु जहाँ तक मनुष्यों का सञ्चार है वहाँ (अढाई द्वीप) तक के सूर्य-चन्द्रादि गमन शील हैं, आगे सर्वत्र अवस्थित हैं, यह सूर्य-चन्द्रादि ग्रहों का गमन घड़ी, घण्टा, दिन, माह, ऋतु, अयन एवं वर्ष आदि व्यवहार काल मात्र का द्योतक नही है, अपितु अंधकार मे दीपक के प्रकाश सदृश मनुष्यों की भूत-भावि शुभाशुभ घटनाओं के भी द्योतक हैं। इन सूर्य-चन्द्रादि ग्रहों के उदय, अस्त तथा इनकी विपरीत चाल आदि को देखकर जो भावी सुख दुःख एवं जन्म मरण आदि का ज्ञान होता है वह अन्तरिक्ष निमित्त ज्ञान कहलाता है।

जैनागम में ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि आठ कर्म कहे गये है, इनमे मोहनोय कर्म के दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के भेद से दो भेद हैं, इस प्रकार मुख्य कर्म नौ है, इन्ही कर्मों के फलो को सूचित करने वाले नव ग्रह अन्तरिक्ष मे अवस्थित हैं। ये ग्रह किसी भी व्यक्ति के इष्टानिष्ट का सम्पादन नही करते मात्र मानव के शुभाशुभ कर्म फलों के अभिव्यञ्जक हैं।

इन ग्रहोंमे से कुछ ग्रहों की किरणे अमृतमय, कुछ की विषमय और कुछ ग्रहों की उभय मिश्रित किरणें होतीं हैं। सौम्य ग्रह आकाश में अपनी-अपनी गति विशेष के द्वारा जहाँ-जहाँ जाते है। वहाँ के निवासियों के स्वास्थ्य एवं बुद्धि आदि पर अपनी अमृत किरणो द्वारा सौम्य प्रभाव डालते हैं, इसी प्रकार क्रूर ग्रह दुष्प्रभाव और उभय मिश्रित रश्मिग्रह मिश्रित प्रभाव डालते है। बालक-बालिकाओ की उत्पत्ति के समय भी उनके पूर्व संचित कर्मानुसार जिन जिन रश्मि वाले ग्रहो की प्रधानता रहती है, उसी से उसके सम्पूर्ण जीवन के शुभाशुभ का पर्यापेक्षण कर लिया जाता है। अमृतमय रश्मियों के प्रभाव से जातक कुशाग्रबुद्धि, सत्यवादी, अप्रमादी, जितेन्द्रिय, स्वाध्यायशील एवं सच्चरित्र होते है, विषमय रश्मियो के प्रभाव से विवेक शून्य, दुर्बुद्धि, व्यसनी, सेवावृत्ति एवं हीनाचरण वाले होते हैं तथा मिश्रित रश्मियो के प्रभाव से मिश्रित स्वभाव वाले होते हैं।

इन ग्रह रश्मियों का प्रभाव मात्र मानव पर ही नहीं पडता, अपितु अचेतन पदार्थों पर भी पड़ता है। ग्रहों की गति एवं स्थिति की विलक्षणता के कारण तथा स्थान-विशेष के कारण भिन्न भिन्न क्षेत्र एवं भिन्न भिन्न समय में उत्पन्न हुए व्यक्तियो के स्वभाव, आकृति आदि में भी विभिन्नता पाई जाती है। इसी प्रकार जड़-चेतन पदार्थों में उत्पन्न होने वाली विलक्षणताओं का प्रभाव सूर्यादि ग्रह एव नक्षत्रों पर भी पड़ता है। जैसे—अकम्पनादि सात सौ मुनिराजो के ऊपर उपसर्ग आने से आकाश मडल में श्रवण नक्षत्र का कम्पायमान होना।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चारो के परस्पर एव भिन्न-भिन्न सम्पर्क से भी इनमे शुभ-अशुभपना आता है। जैसे—आटे में शक्कर के सम्पर्क से मधुरता और विष के सम्पर्क से कटुता आ जाती है। क्षेत्र—मल, मूत्र, हड्डी, रक्त, आदि के सम्पर्क से क्षेत्र मे अशुद्धता एव महामहोत्सव, पूजा, प्रतिष्ठा, यज्ञ आदि के सम्पर्क से शुद्धता आ जाती है, उसी प्रकार अग्निदाह, अतिवृष्टि, सूर्य-चन्द्रादि ग्रहण के निमित्त काल में अशुद्धता और निर्वाण गमन एव तीर्थंकरादि महापुरुषो के जन्म आदि के कारण काल मे शुद्धता आ जाती है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र एवं वार आदि के सम्पर्क से भी समय में शुद्धता-अशुद्धता आती है। जैसे—

१. मंगलवार को सप्तमी तिथि हो तो अमृत योग एव मंगलवार को अश्विनी नक्षत्र हो तो सर्व कार्यों को सिद्ध करने वाला अमृतसिद्धि योग बनता है, किन्तु यदि सप्तमी मंगलवार को अश्विनी नक्षत्र होता है तो सर्व कार्यों का विनाशक विष योग बन जाता है।

२. ३, ८, १३ तिथि को बुधवार हो तो पाप योग बनता है, किन्तु यदि ३, ८, १३ तिथि बुधवार को मृग, श्रवण, पुष्य, जेष्ठा भरणी और अश्विनी नक्षत्र में से कोई एक नक्षत्र हो तो अमृतयोग बन जाता है। ३, ८, १३ तिथि को यदि गुरुवार हो तो भी अमृतयोग बन जाता है।

३. ४, ६, १४ तिथि सर्व कार्यों को विफल करने वालीं रिक्ता तिथियाँ हैं, किन्तु इन्हे यदि शनिवार का योग प्राप्त हो जाय तो ये सर्व सिद्धिदा बन जातीं है। अर्थात् सर्वार्थसिद्धि योग बन जाता है।

४. सूर्य ग्रह जिस नक्षत्र पर हो उससे यदि चंद्रग्रह ४, ६, ६, १०, १३ एवं २० वें नक्षत्र पर हो तो जैन सिद्धान्तानुसार एक लाख दोषों को नाश करने वाला रवि योग होता है, किन्तु यदि सूर्य नक्षत्र से चन्द्र नक्षत्र सातवाँ हो तो भस्म योग और १५ वाँ हो तो दण्ड योग बनता है जो सर्वथा त्याज्य है।

ऐसे सहस्रों उदाहरण हैं जिनसे समय (काल) की शुद्धता और अशुद्धता ज्ञात होती है। ज्योतिष शास्त्र में काल की इस शुद्धता का नाम शुभमुहूर्त और अशुभता का नाम अशुभमुहूर्त है जिनके निमित्त से भावी घटनाओं का संकेत प्राप्त हो जाता है। एक कार्य की पूर्णता अनेक कारणो से होती है, और उन कारणों के प्रति सजगता अर्थात् सचेष्ट रहना ही पुरुषार्थ है. यही पुरुषार्थ अर्थात् प्रयत्न कार्य की सफलता का मूल रहस्य है। जैसे—खेती करने वाला कृषक खेत, खाद्य, जल, एवं बीज आदि साधनों को जुटाते हुए साथ में समय का भी साधन जुटाता है, अर्थात् कौन सा धान्य बोने का और उसे काटने का सर्वोत्तम मौसम कौन सा है इसका भी ध्यान रखता है, उसी प्रकार बीज बोने या काटने के प्रारम्भ में भी उपयुक्ततम समय देखना अति आवश्यक है, क्योंकि, खेती की सफलता में जैसे अनेक कारण सहायक हैं वैसे शुभमुहूर्त भी सहायक है।

जैन दर्शन ने काल को चक्ररूप से उद्‌घोषित किया है। अर्थात् जैसे गाड़ी के चाक में लगे हुये आरे ऊपर नीचे होते रहते हैं, वैसे ही काल रूपी चाक के प्रमुख छह आरे घूमते रहते हैं, इनमे तीन आरे शुभ, शुभतर और शुभतम हैं तथा तीन अशुभ, अशुभतर और अशुभतम हैं। काल की इस शुभता और अशुभता का माप-दण्ड है प्रकृति और प्राणी। जैसे—उपर्युक्त तीनों शुभ कालों में तारतम्यता को लिए हुए प्रकृति का सौन्दर्य, सौम्यता, शान्तता, सुभिक्षता आदि क्रमशः वृद्धिगत थे, उसी प्रकार अशुभकालो मे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्षता आदि वृद्धिगत हैं। मनुष्य के स्वभाव एवं सुख-दुःख की हानि वृद्धि मे भी इसी प्रकार परिवर्तन होते है। इससे यह सिद्ध होता है कि समय एक सदृश नहीं रहता वह कभी शुद्ध कभी अशुद्ध होता रहता है और उसकी शुद्धता, अशुद्धता का प्रभाव मनुष्य पर अवश्य पड़ता है, अतः समुचित जीवनयापन के लिए एव कार्य सम्पादन के लिए अन्य अनेक साधनों के ज्ञान सदृश ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान एवं उसका सदुपयोग भी अति-आवश्यक है।

काल के सदृश सूर्य-चन्द्रादि ग्रह भी मानव जीवन के अभिव्यञ्जक हैं। इस ग्रह सम्बन्धी इस ज्योतिष शाखा के मूलतः तीन विभाग हैं।

१ **भौतिक खण्ड**—इसमे केवल सांसारिक सफलता, भौतिक समृद्धि और पारिवारिक स्थितियों का अध्ययन किया जाता है।

२ **मानसिक खण्ड**—इसमें मनुष्य की मानसिक शक्ति का विकास, विचार शक्ति का विकास, विद्याध्ययन की योग्यता एवं क्रिया तथा ज्ञान शक्ति के परस्पर संयोग-वियोग का अध्ययन किया जाता है।

३ **आध्यात्मिक खण्ड**—इसमें मनुष्य की आध्यात्मिक प्रवृत्ति, ज्ञान, ध्यान, तपस्या, योग, वैराग्य, सिद्धि, प्रसिद्धि एवं मोक्ष आदि का अध्ययन किया जाता है। जैसे नग्न दिगम्बरत्व श्रमण की दीक्षा का योग-कारक ग्रह शनि है, बलवान शनि यदि गुरु के साथ हो या गुरु को देखता हो अथवा चन्द्र और सूर्य का प्रत्यक्ष

अथवा दृष्टि (अप्रत्यक्ष) सम्बन्ध शनि या राहू से हो, अथवा बलवान शनि की गुरु, चन्द्र और लग्न पर दृष्टि हो तथा गुरु नवम भाव में हो अथवा दशम भावपति, मंगल या शनि के नवांश में हो तथा शनि से दृष्ट और चन्द्र से युक्त हो तो प्रबल आध्यात्मिक संन्यास योग बनता है। मानव के जीवन विकास के लिए जैसे अन्य अन्य साधनों का एवं तज्जन्य ज्ञान होना आवश्यक है। उसी प्रकार उसकी जन्मपत्री आदि का ज्ञान भी उसके जीवन विकास के लिए अत्यावश्यक है।

मन्त्र :

मन्त्र शब्द मन् धातु से ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय लगा कर बना है। जिसके द्वारा आत्मा का आदेश-निजानुभव जाना जाय अथवा आत्मादेश पर विचार किया जाय अथवा परमपद में स्थित पंच परमेष्ठियों का एवं शासन देवों का सत्कार किया जाय उसे मन्त्र कहते हैं। ककार से लेकर हकार पर्यन्त व्यञ्जन बीज संज्ञक हैं और अ आ इ आदि स्वर शक्ति रूप हैं, अतः बीज और शक्ति दोनों के संयोग से बीज मन्त्रों की निष्पत्ति होती है।

ये सब स्वर-व्यञ्जन मातृका वर्ण कहलाते हैं, इन वर्णों में सृष्टि, स्थिति और संहार रूप तीनों शक्तियाँ पाई जाती हैं, इसीलिये ये मन्त्र विधिपूर्वक जाप्य करने वाले के लौकिक एवं अभ्युदय सुखों की सृष्टि करते:हैं। बाधक कारणों का उच्चाटन आदि करके प्राप्त हुये सुख साधनों में अथवा आत्मसाधना में स्थिर रखते हैं, और अशुभ कर्मों का तथा अष्ट कर्मों का संहार करते हैं। प्रत्येक बीजाक्षरों में अनेक प्रकार की शक्तियाँ निहित हैं, किंतु इन शक्तियों की जागृति में पूर्ण विधि विधान का ज्ञान अति आवश्यक है। सुसिद्ध, सिद्ध, साध्य और शत्रु के भेद से मन्त्र चार प्रकार के होते हैं, जो मन्त्र और जपने वालों के नाम के स्वर-व्यंजनों को जोड़ कर उसमें चार का भाग देकर निकाले जाते हैं। इस प्रक्रिया से शोधन किया हुआ यदि सुसिद्धि दायक भी मंत्र है, किन्तु यदि अशुभ मुहूर्त में प्रारम्भ कर लिया जायगा तो भी अभीष्ट फल प्राप्ति नहीं होती। जैसे—ज्येष्ठ मास में किया हुआ जप मरण और आषाढ़ मास मे किया हुआ जप बुद्धि नाश में कारण पड़ता है, इत्यादि।

जैनागम में णमोकार मंत्र महामन्त्र है, अन्य सभी मन्त्र इसी महामन्त्र से निःसृत हैं, अतः मन्त्र शास्त्र भी श्रद्धास्पद एवं आत्मकल्याण में साधक हैं।

यन्त्र :

भगवान आदिनाथ ने गार्हस्थ्य अवस्था में अपनी ब्राह्मी कन्या को सर्व प्रथम स्वर-व्यंजन और सुन्दरी कन्या को अंक सिखाये थे, इसलिए जैनागम मे दोनों विद्याओं का समादर सदृश है। गोल, त्रिकोन, चौकोन एवं षट्कोनादि रेखाओं से वेष्टित बीजाक्षरों द्वारा जो यन्त्र बनाये जाते हैं वे प्रायः सभी जिन मन्दिरों में उपलब्ध हैं और उन यन्त्रों पर उतनी ही श्रद्धा है जितनी भगवान् की मूर्ति पर है।

जिस प्रकार स्वर-व्यंजनों से मन्त्र और यन्त्र बनते हैं उसी प्रकार संख्या से भी यन्त्र बनते हैं। समस्त अंकों में नौ का अंक प्रधान है। भूवलय आदि ग्रन्थों में इसकी महिमा महान कही है। रत्नहार की मध्यवर्ती प्रधान मणि के समान ही गणित का यह अंक प्रधान है। यह अंक समस्त विद्याओं का साधक, विश्व का रक्षक एवं छद्मस्थ की बुद्धि के अगम्य है। ३, ६ और ९ इन तीनों की बनावट तीन लोक की द्योतक है, इसीलिए ३ और ६ नौ अंक के पूरक हैं। इन तीनों में परस्पर अति मित्रता है। ३ और ६ का पहाड़ा ३, ६ और ९ को छोड़ कर अन्य किसी अंक को ग्रहण नहीं करता, और विश्व व्याप्त होने से ९ का पहाड़ा तो अपने नवांक को छोड़कर अन्य किसी भी अंक को आत्मसात् करता ही नहीं।

क्षायिक लब्धियां ९ ही क्यों हैं ? लोक ३ ही क्यों ? तीर्थंकर २४ नारायण ९, प्रतिनारायण ९, बलदेव ९, शलाका पुरुष ६३ (=९) ही क्यों ? २७ (=९) श्वासोच्छ्वास में कायोत्सर्ग ९ ही क्यों ? माला में १०८ (=९) दाने क्यों ? भगवान् में १००८ (=९), साधु में १०८ (=९) और आर्यिका में १०५ (=६) ही क्यों ? इसी प्रकार ६ माह का अयन, १२ माह का वर्ष, ३० दिन का माह, २४ घंटे का दिन रात, ६० मिनट का घंटा और ६० सेकेण्ड का मिनट आदि ही क्यो ? जीव के भ्रमण की ८४ लाख (=१२=३) योनियां क्यों ? फेरे ७ ही क्यों ? तथा कषायें २५ (=७) ही क्यों ? जगत् में ऐसे प्राय: अनेक पदार्थ इसीप्रकार कोई न कोई संख्याओं से बद्ध हैं, वे कुछ न कुछ रहस्य को लिये हुए ही हैं।

मानव जीवन के उत्थान, पतन एवं शत्रुता मित्रता आदि में जैसे अन्य पदार्थ, स्थान, काल, व्यक्ति, राशियां एवं ग्रह आदि कारण पड़ते हैं, उसी प्रकार अक भी कारण पड़ते हैं, इसीलिए १५ का यंत्र, २१ का, ३४ का, ८१ का एवं १७० आदि के भिन्न भिन्न यन्त्र भिन्न भिन्न कार्योत्पादक होते हैं तथा व्यक्तियों के नाम अंक अथवा जन्म तारीख आदि के अंको से शत्रु मित्र भी बन जाते हैं, क्योंकि राशि एवं ग्रहों के सदृश अंकों में भी परस्पर में शत्रुता मित्रता है।

तन्त्र :

यह भी एक अपूर्व विद्या है, विद्वानों ने इसका भी विस्तृत वर्णन किया है। छोटे छोटे ग्रामों में जहां वैद्य, डाक्टर एवं अस्पतालों आदि का अभाव है, वहां आधाशीशी, एकातरा, तिजारी आदि अनेक रोगों का उपचार इसी तन्त्र विद्या के बल से कर लिया जाता है। इतना ही नहीं, इस विद्या के प्रयोग से व्यापार आदि में भी लाभ होता है। जैसे—पुष्य नक्षत्र में निर्गुण्डी और सफेद सरसों गृह या दुकान के द्वार पर रखने से क्रय-विक्रय अच्छा होता है। मघा नक्षत्र में लाई हुई पीपल की जड़ पास रखकर सोवे तो स्वप्न नही आते। तीनों उत्तरा नक्षत्रों में उत्तर दिशा से सफेद चिरचिटे की जड़ को लाकर सिर पर रखे तो नियम से विजय प्राप्त होती है। इत्यादि—

रोगी मनुष्य को रोग निर्वृत्ति के लिए औषधि जितनी आवश्यक है, ससारी प्राणी को सुख शांति से जीवन यापन हेतु ज्योतिष, मंत्र, यन्त्र एवं तन्त्र विद्या का ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है। जिस प्रकार धन पतन का कारण नही है, अपितु उसका दुरुपयोग पतन का कारण है, उसी प्रकार ये उपर्युक्त विद्याएँ हानिप्रद नहीं हैं, मात्र इनका दुरुपयोग हानिप्रद है।

जैन मंत्र शास्त्रों में मंत्र-यंत्र एवं तंत्र

❖ श्री सोहनलाल गौवेपोत, एम. ए,
समाजशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र
[छोहरिया, बांसवाड़ा]

आज हमारा ध्यान भारतीय संस्कृति की ओर जाता है तो हमें गौरव का अनुभव होता है कि कोई समय था जब भारतीय संस्कृति का विश्व व्यापी साम्राज्य था और समस्त संसार इसकी मान्यताओं, सिद्धांतों एवं परम्पराओं का अनुकरण कर स्वयं को गौरवशाली अनुभव करता था। आज स्थिति खेदजनक है कि अपने ही धर्म के अनुयायी इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। इस प्रगतिशील वैज्ञानिक युग में पूजा-पाठ, जप-तप आदि धार्मिक कर्मकाण्डों का अनुकरण करना अन्धविश्वास और पिछड़ेपन की निशानी माना जाने लगा है। भौतिक विज्ञान की उपलब्धियों से आकर्षित व्यक्तियों को गहराई से जानना चाहिये कि आधुनिक विज्ञान ने स्थूल जगत में ही अपने अन्वेषण किये हैं। उनके यन्त्र एवं उपकरण स्थूल वस्तुओं की गतिविधियों का ही पता चला सकते हैं। सूक्ष्म जगत में उनका प्रवेश नहीं है। सूक्ष्म जगत मे अनेक शक्तियों के भण्डार भरे पड़े हैं। जिन ऋषि मुनियों ने भारतीय संस्कृति की मान्यताओं, सिद्धान्तों, उपासनाओं, कर्मकाण्डों आदि पद्धतियों का निर्माण किया था वे निश्चित ही उच्चकोटि के वैज्ञानिक थे। उनकी ज्ञानज्योति में स्पष्ट झलकता था कि स्थूल जगत की अपेक्षा सूक्ष्म जगत में अधिक शक्ति सन्निहित होती है तथा उसका विकास कर मनुष्य प्रत्येक क्षेत्र में चमत्कारी सफलता प्राप्त कर सकता है। धार्मिक साधनाएं सूक्ष्म शक्तियों के विकास में सहायक होती हैं। सूक्ष्म शक्ति को विकसित एवं तेजपुंज बनाने के लिये पूजा-पाठ, उपासना, जप-तप, ध्यान-योग आदि विधि विधानों की व्यवस्था की गई। मंत्रयोग का भी यही आधार है।

मन्त्रयोग का अपना स्वतन्त्र विज्ञान है। मन्त्रयोग को हम शब्दविज्ञान अथवा ध्वनिविज्ञान भी कह सकते हैं। शब्द की शक्ति पर विचार करने पर हमारा ध्यान भारतीय मन्त्रशास्त्र पर जाता है। हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थ मन्त्रों की महिमा से भरे पड़े हैं। जब हम मन्त्र शब्द के अर्थ पर विचार करते हैं तो कुछ ऋषि-मुनियों एवं विद्वानों द्वारा बताये गये अर्थ को समझना पर्याप्त होगा। दस से बीस वर्णों के संग्रह को मन्त्र कहा जाता है। मन्त्र में ध्वनियां होती हैं और ध्वनियों के समूह को मन्त्र कहा जाता है। व्याकरण की दृष्टि से मन्त्र शब्द 'मन्' धातु (दिवादि ज्ञाने) से 'ष्ट्रन' (त्र) प्रत्यय लगकर बनाया जाता है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है "मन्यते ज्ञायते आत्मादेशो अनेन इति मन्त्रः" अर्थात् जिसके द्वारा आत्मादेश का निजानुभव किया जाय वह मन्त्र है। दूसरी प्रकार तनादिगणीय (तनादि अवबोधे to Consider) 'मन्' धातु से 'ष्ट्रन' प्रत्यय लगाकर मन्त्र शब्द बनता है। इसका व्युत्पत्ति के अनुसार "मन्यते विचार्यते आत्मादेशो येन स मन्त्रः" अर्थात् जिसके द्वारा आत्मादेश पर विचार किया जावे वह मन्त्र है। तीसरे प्रकार से सम्मानार्थक 'मन्' धातु से 'ष्ट्रन' प्रत्यय लगकर मन्त्र शब्द बनता है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ "मन्यते सत्क्रियन्ते परमपदे स्थिताः आत्मानः वा यक्षादि शासन देवता अनेन इति मंत्रः" अर्थात् जिसके द्वारा परमपद में स्थित पंच उच्च आत्माओं का अथवा यक्षादि शासन देवों का सत्कार किया जावे वह मन्त्र है। दि० जैनाचार्य श्री समन्तभद्राचार्य ने मन्त्र व्याकरण में बताया है कि "मन्त्र्यन्ते गुप्तं भाष्यन्ते मन्त्र विद्भिरिति मन्त्राः" मन्त्रविदो द्वारा गुप्तरूप से बोला जावे उसे मन्त्र जानना। मन के साथ जिन ध्वनियो का घर्षण होने से दिव्यज्योति प्रगट होती है उन ध्वनियों के समुदाय को मन्त्र कहा जाता है। मन्त्रों का बार-बार उच्चारण किसी सोते हुए को बार-बार जगाने के समान है। यह प्रक्रिया इसी के तुल्य है जिसप्रकार किन्ही दो स्थानों के बीच बिजली का सम्बन्ध लगा दिया जावे। साधक की विचार शक्ति 'स्विच' का काम करती है और मन्त्रशक्ति विद्युत लहर का। जब मन्त्र सिद्ध हो जाता है तब आत्मिक शक्ति से आकृष्ट देवता मान्त्रिक के समक्ष अपना आत्मसमर्पण कर देता है और उस देवता की सारी शक्ति उस मान्त्रिक मे आ जाती है, अत: मन्त्र अपने आप में देव है। उच्चकोटि के मन्त्र का पूजन-अर्चन करने के लिए यन्त्र होता है। मन्त्र देव है तो यन्त्र देव गृह है ऐसा माना जाता है। मन्त्रविदों का कहना है कि तपोधन ऋषि-मुनियों द्वारा जो रेखाकृति बनाई जाती है, मनोरथ पूर्ण करने की जो शक्ति बीजाक्षरों में है उसे स्वय ही मन्त्र सामर्थ्य से रेखाकृतियों (यन्त्रों) मे भर देते है। मंत्र और मंत्र देवता इन दोनो का शरीर यत्र कल्प मे होता है, कारण यन्त्र इन मन्त्र और मन्त्र देवता का शरीर होता है।

यन्त्रमन्त्रमयं प्रोक्तं, मन्त्रात्मा देवता एव हि।
देहात्मनो यथा भेदो, यन्त्र देवतयोस्तथा ॥

मन्त्र-यन्त्र की स्थापना के बाद उनके विधि-विधान और क्रम के लिए तन्त्र अर्थात् शास्त्र की रचना होती है। शास्त्र के अर्थ मे तन्त्र को न लेकर उसे मन्त्र-यन्त्र के समकक्ष अर्थ मे समझना होगा। किसी विशेष समय मे किसो वस्तु विशेष को विधिपूर्वक लाकर उपयोग करना तन्त्र शास्त्र के अन्तर्गत आता है। अर्थात् दिन, पक्ष, नक्षत्र, माह, लग्न आदि का ध्यान रखकर किसी वस्तु को विधिपूर्वक लाना तथा उद्देश्यानुसार उपयोग करना उसे तन्त्रविद्या कहा जाता है। तन्त्रविद्या में मन्त्रसाधना की आवश्यकता नहीं होती। यदि फिर भी उससे सम्बन्धित कोई मन्त्र हो तब उसे सिद्ध कर लेने में तन्त्र अधिक गुणकारी हो जाता है। तन्त्रौषधि भी अपने आप में देव मानी जाती है। अत: मन्त्र-यन्त्र जितना गुणकारी है उतनी ही तंत्र विद्या भी गुणकारी है। आचार्यों ने मन्त्र को देव, यन्त्र को उसका शरीर तथा तंत्र को उसकी प्रिय वस्तु माना है।

आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में कुछ उदाहरणों द्वारा यह समझेंगे कि भारतीय मन्त्रविद्या मात्र कपोल-कल्पना नही, अपितु इसके पीछे ठोस वैज्ञानिक सिद्धान्त काम करते हैं। मन्त्र में शब्द होते हैं और शब्दों के घर्षण में सूक्ष्म-शक्ति होती है। स्थूल शरीर में कुछ भी शक्ति नहीं है वरन् हमारे सूक्ष्मशरीर (आत्मा) में अनेक प्रकार की शक्तियां विद्यमान हैं। जिनको मन्त्र की सूक्ष्म शक्ति से जगाकर हम असाधारण कार्यों का भी सम्पादन कर सकते

हैं। यह नियम है कि सूक्ष्म जगत में सूक्ष्म की ही पहुंच सम्भव हो सकती है, स्थूल वस्तुओं का प्रवेश वहां निषिद्ध है। मंत्रों का आधार जब शब्दों का उच्चारण होता है तो उससे कम्पन उत्पन्न होते है। वह कम्पन इथरके माध्यम से विश्व की यात्रा में अनुकूल कम्पनों के साथ मिलते हैं, अनुकूलता में एकता का सिद्धान्त है। उन कम्पनों का पुंज बन जाता है और अपने केन्द्र तक (साधक) लौटते लौटते अपनी काफी शक्ति बढा लेते हैं और यह कार्य इतनी तीव्र गति से होता है कि साधक को इसका अनुभव भी नही हो पाता कि शब्दों के उच्चारण मात्र से कैसे चमत्कार उत्पन्न हो रहे हैं। संसार में शब्दों के अनेक चमत्कार प्रत्यक्षरूप से देखने को मिलते हैं। मेघ मल्हार से वर्षा की जाती है, दीपकराग से बुझे हुए दीपक जलाये जाते हैं। ढोल अथवा थाली बजाकर मंत्र पढ़ते हुए सर्प, बिच्छु आदि का जहर उतारा जाता है।

आज से २४ वर्ष पूर्व लखनऊ के वैज्ञानिक श्री सी. टी. एम. सिंह ने स्लाइडों के माध्यम से यह सिद्ध किया कि सङ्गीत की स्वर लहरी सुनाकर गायों एव भैसो से अपेक्षाकृत अधिक दूध प्राप्त होता है। कटक और दिल्ली के कृषि अनुसधान केन्द्रों मे भी ऐसे ही परीक्षण किये गये है जिनसे पेड़ पौधों की उत्पादनशक्ति पर संगीत के प्रभाव का मूल्याकन किया गया है। विदेशों में भी ऐसे ही परीक्षणो का पता चला है कि राग-रागनियो से गन्ने, धान और नारियल आदि की खेती प्रभावित होती है।

ग्राहम और नील नामक दो वैज्ञानिको ने आस्ट्रेलिया के मेलबोन नगर की एक भारी भीड वाली सडक पर शब्दशक्ति का वैज्ञानिक प्रयोग किया और सार्वजनिक प्रदर्शन में सफल रहे। परीक्षण का माध्यम भी एक निर्जीव कार जिसे अपने इशारों पर नचाना चाहते थे और यह सिद्ध करना चाहते थे कि शब्दशक्ति की सहायता से बिना किसी चालक के कार चल सकती है। हजारो की संख्या मे लोगों ने देखा कि सचालक ने कार स्टार्ट करते ही कार चलना प्रारम्भ हो गई और 'गो' के सुनते ही गति पकड ली। लोग देखते ही रहे कि निर्जीव कार के भी कान होते हैं। जैसे—थोडी दूर जाकर सचालक ने 'हाल्ट' का आदेश दिया तो वह कार तुरन्त रुक गई। यह कोई हाथ की सफाई का काम नही था, वरन् इसके पीछे विज्ञान का एक निश्चित सिद्धान्त काम कर रहा था। ग्राहम के हाथ मे एक छोटा ट्राजिस्टर था जिसका काम यह था कि आदेशकर्त्ता की ध्वनि को एक निश्चित फ्रीक्वेन्सी पर विद्युतशक्ति के द्वारा कार मे 'डैशबोर्ड' के नीचे लगे 'नियन्त्रण कक्ष' तक पहुचा दे। उसके आगे 'कार रेडियो' नामका एक दूसरा यत्र लगा हुआ था उस यत्र से जब शब्द की विद्युत चुम्बकीय तरगे टकराती तो कार के सभी पुर्जे अपने आप सचालित होने लगते थे। लोगों ने चमत्कार की सज्ञा दो पर वास्तव मे यह शब्द शक्ति का विकसित प्रयोग था जिसे आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तो का आधार प्राप्त था।

इसप्रकार और भी कई आधुनिक विज्ञान के प्रयोग शब्द शक्ति के सम्बन्ध में है जो प्राचीन शास्त्रों में वर्णित शब्दशक्ति का समर्थन करते है। फ्रास की एक प्रसिद्ध महिला वैज्ञानिक फिनोलिग ने शब्द विज्ञान पर परीक्षण किये थे और उसने सिद्ध किया था कि शब्द के साथ मन और हृदय का सम्बन्ध रहता है। यह शब्द तरंगों के जिस चमत्कारिक प्रभाव का वर्णन वैज्ञानिक परीक्षणो से किया गया है उनका संचालन विद्युतशक्ति के द्वारा होता है।

आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य मे शब्द की सामर्थ्य को सभी भौतिक शक्तियों से बढ़कर सूक्ष्म और विभेदन क्षमतावाली पाया तथा इसी बात की निश्चित जानकारी हमारे ऋषि-मुनियों के दिव्य-ज्ञान में झलकती थी जिसके कारण उन्होने मत्रविद्या, यत्रविद्या तथा तंत्रविद्या का विकास किया जिस पर कई ग्रंथों की रचना हुई। उन मंत्र तत्रो के ग्रन्थो की विषयगत व्यापकता बडी दर्शनीय है।

भारतीय मत्र शास्त्र की इस विशाल परम्परा में जैन धर्म में मंत्र, यत्र एवं तंत्र से सम्बन्धित शास्त्र प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। जैनदर्शन को प्रत्येक विद्या का प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से सम्बन्ध भगवान महावीर

की वाणी से जुड़ा हुआ है। विद्यानुवाद पूर्ण नामक पूर्ण में मंत्र, यंत्र, तंत्र का निमित्त आदि का विस्तृत वर्णन पाया जाता है उसी के आधार से वर्तमान में उपलब्ध मंत्र साहित्य निमित है। जैन मंत्र शास्त्रों में प्राप्त मंत्रों को निम्न स्वरूपों में विभक्त किया गया है—

शान्तिक मन्त्र—जिन मंत्रों के द्वारा भयंकर आधि, व्याधि, व्यन्तर-भूत-पिशाचों की पीड़ा, क्रूरग्रह, जंगम स्थावर विष बाधा, अतिवृष्टि, दुर्भिक्षादि ईतियों और चोर आदि का भय शांत हो जावे वे शांतिक मंत्र हैं।

पौष्टिकमंत्र—जिन मंत्रों के द्वारा धन, धान्य, सौभाग्य, यशकीर्ति तथा संतान आदि की प्राप्ति होती है।

वश्याकर्षण—जिन मंत्रों के द्वारा मनुष्य, पशु-पक्षी, देवी-देवता आदि वशीभूत किये जा सकें।

मोहनमंत्र—जिन मंत्रों के द्वारा प्राणी मात्र को मोहित किया जा सके।

स्तम्भनमंत्र—जिन मंत्रों के द्वारा मनुष्य, पशु-पक्षी, भूत-प्रेत आदि को निष्क्रिय कर स्तम्भित किया जा सके।

विद्वेषणमंत्र—जिन मंत्रों के द्वारा किसी दो व्यक्तियों के मध्य वैमनस्य उत्पन्न कर दिया जावे।

उच्चाटनमंत्र—जिन मंत्रों के द्वारा प्राणीमात्र को अपने स्थान से भ्रष्ट किया जा सके।

मारणमंत्र—जिन मंत्रों के द्वारा किसी आततायी का प्राण हरण कर लिया जावे।

लक्ष्मी की अनिवार्यता को प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है, क्योंकि संसार का प्रत्येक कार्य इसी के सहयोग से सम्पन्न होता है यह जीवन की प्रथम आवश्यकता है। व्यक्ति ही नहीं समाज और राष्ट्र का उत्थान और पतन इसी पर निर्भर करता है। स्वामि एलाचार्य ने अपने कुरलकाव्य ग्रन्थ में कहा भी है—

तुच्छोऽपि गुरुतां याति विश्रुतिञ्चाप्यविश्रुतः।
धनेन मनुजो ह्येवं शक्तिः क्वान्यत्र दृश्यते॥

"अर्थात् धन संसार के अन्य द्रव्यो में अद्भुत द्रव्य है जिसकी प्राप्ति से भिखारी भी प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है।" जिस घर में लक्ष्मी का निवास नही होता वहीं दुःख, दारिद्र, कलह, मनमुटाव, निराशा, असंतोष व विभिन्न प्रकार की समस्याएं एव उलझने उत्पन्न होती रहती हैं। धन का अभाव दुर्भाग्य का सूचक माना गया है तभी किसी ने कहा है कि "पुरुषांऽधनं वधः:"। जैनाचार्यों द्वारा विरचित मंत्र शास्त्रों मे पौष्टिक मंत्रों के अन्तर्गत धन प्राप्ति सम्बन्धी अनेक मत्र, यंत्र, तंत्रों का प्रतिपादन किया गया है उनकी जानकारी गुरुमुख (किन्हीं जानकार गुरुजनों) से प्राप्त कर उनकी साधना के द्वारा अपने जीवन को सम्पन्न बनाया जा सकता है। लक्ष्मी प्राप्ति प्रकरण में अनेकविध मत्र और यंत्रों का वर्णन जैनसाहित्य में प्राप्त होता है।

इतने सारे मंत्र-यंत्र और तंत्रों को पढ़ने के बाद यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब ये सभी मंत्र-यंत्र एवं तंत्र लक्ष्मी प्राप्ति में सहायक हैं और उसी के लिये लिखे गये है तो क्या एक मंत्र, एक यंत्र अथवा एक तंत्र से कार्य सिद्ध नहीं हो सकता है? इतने सारे मंत्र लिखने की क्या आवश्यकता थी? इस सम्बन्ध मे आचार्यों ने समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा कि हर मंत्र हर किसी व्यक्ति को लाभ नहीं पहुंचा सकता। जो मंत्र एक व्यक्ति को लाभ पहुंचा सकता है उसीसे दूसरे व्यक्ति को हानि भी हो सकती है। मल्लिषेणाचार्य ने बताया है कि "बुद्धिमान पुरुष (मान्त्रिक) मंत्र और मंत्री (साधक) अंशों को जानकर ही मन्त्र बतावे, अन्यथा साधक की साधना व्यर्थ जाती है"।

अतः मन्त्रसाधना के पूर्व साधक अपने नामराशि के अनुसार सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध एवं अरि (शत्रु) को जानकर अर्थात् अंशक परीक्षा कर मंत्र साधना का प्रयत्न करे ऐसा आचार्यों ने उल्लेख किया है। "भैरव पद्मावती कल्प" के अनुसार अंशक परीक्षा में मंत्र और मंत्री (साधक) के नाम अनुसार व्यजन और स्वरों को पृथक्-पृथक् करके उपर मन्त्र के और नीचे साधक नाम के अक्षरो को रखे। मन्त्री (साधक) के नाम के अक्षरों से मन्त्र के अक्षरों को (ऋ ॠ लृ ॡ को छोड़कर) गिनकर जोड देवे और उनको चार का भाग देवे फिर आय (भागफल) में भाग देकर निकले हुए शेष को बुद्धिमान आदि में एक पक्ति में रखे। यदि वह एक हो तो सिद्ध, दो हो तो साध्य, तीन हो तो सुसिद्ध और चार अथवा शून्य हो तो शत्रु जानना। इसमें से बुद्धिमान सिद्ध और सुसिद्ध मन्त्र को ग्रहण कर ले और साध्य तथा शत्रु को छोड देवे, क्योकि सिद्ध और सुसिद्ध फल देते हैं तथा साध्य और शत्रु हानि करते है।

आचार्य महावीर कीर्ति स्मृति ग्रन्थ मे अंशक परीक्षा में निम्न कथन पाया जाता है—

"जिस मन्त्र की साधना करना हो उस मन्त्र के अक्षरो को तीन गुना करके अपने नाम के (साधक के नाम के) अक्षरों की संख्या उसमें मिला दे तथा उस संख्या को १२ से भाग देवे। शेष जो बचे उसका फल इस प्रकार होगा।

५, ९ शेष बचे तो मंत्र सिद्ध होगा।

६, १० शेष बचे तो मत्र देरी से सिद्ध होगा।

७, ११ शेष बचे तो मंत्र अच्छा है।

८, १२ शेष बचे तो मत्र सिद्ध नही होगा।

मल्लिषेण सूरि ने मन्त्र एव साधक के नाम के अक्षरो के स्वर व्यजन अनुस्वार आदि को पृथक् पृथक् कर जोड़ने का विधान बताया है तथा चार का भाग देने को कहा है। महावीर कीर्ति स्मृति ग्रन्थ के अनुसार स्वर एवं व्यजन आदि को पृथक् करने का विधान नही है, किन्तु मन्त्र के अक्षरो को जोडकर तीन का गुणा करने पर तथा साधक अक्षरों को जोड़कर कुल सख्या मे १२ का भाग देने को बताया है। दोनो के अशक परीक्षा करने की विधि मे काफी अन्तर है। प्रस्तुत लेख के लेखक ने दोनो विधियो के परीक्षण किये हैं तथा तदनुसार मन्त्र देने पर सही फल प्राप्त हुए है।

मत्र साधना में सामान्यतया जो विधि अपनाई जाती है उसकी कुछ मूलभूत क्रियाओं का ध्यान रखना आवश्यक है जो निम्न प्रकार है—

१ स्थान शुद्ध और पवित्र होना चाहिए—तीर्थभूमि, मन्दिर, वन प्रदेश, पर्वत का ऊंचा स्थान, नदी का किनारा। घर मे एकान्त स्थान जहा आवाज न पहुंचे, ऐसी जगह उपासना गृह रखने का विधान बताया है।

२ प्रतिमाजी के सम्मुख अथवा चित्र के सम्मुख साधना करने का विधान है।

३ साधना का समय एव जप संख्या निर्धारित होती है उसमें फेरफार नहीं करने का विधान बताया है।

४ वस्त्र धुला हुआ शुद्ध एव मन्त्रविधि के रङ्गानुसार लेने का विधान है।

५ धूप दीप अवश्य रखना चाहिए ऐसा विधान बताया है ।

६ मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण तथा न अतिशीघ्र न अति धीरे, मध्यम गति से जप करने का विधान बताया गया है ।

७ मंत्र की उपासना, ध्यान, पूजन, जप आदि को श्रद्धा एव विश्वास पूर्वक करने का निर्देश दिया हुआ है ।

८ दिशा, काल, मुद्रा, आसन, वर्ण, माला, मंडल, पल्लव और दीपनादि मंत्रानुसार जानकर ही साधना करने का विधान बताया है ।

विशेष—जिन यंत्रों के साथ मत्र नही दिये हुए हैं सिर्फ अक ही दर्शाये गये हैं उनके बारे में सिद्ध करने का विधान निम्नानुसार है—

सिर्फ अंक वाले यन्त्र हैं उन्हे उत्तर या पूर्व दिशा की ओर मुख कर चौकी पर भूर्ज पत्र रखकर अथवा कागज रखकर धूप, दीप के साथ कम से कम साढे बारह हजार यंत्र अष्टगन्ध से लिखकर तथा आटे की गोलियां कर नदी अथवा तालाब में बहा देने से सिद्ध होने का विधान बताया है। बाद मे जिस उपयोग के लिये लिखा है उस उपयोग मे लेने से फल प्राप्ति की आशा है ।

तन्त्र विद्या में—एक दिन पूर्व शाम को उस पेड़ को न्योता देकर अर्थात् पूजनकर निमन्त्रण दे आने तथा दूसरे दिन उसे बिना लोहे के हथियार के काटने का विधान है । साथ ही घर लाकर पचामृत से शुद्धि कर फलफूल नैवेद्य समर्पण करके तन्त्रानुसार फल प्राप्ति का विधान बताया है ।

तन्त्रविद्या :

रविपुष्य योग—मे घर अथवा दुकान के द्वार पर सफेद सरसो और निर्गुण्डी को बांधी जाय तो क्रय विक्रय बहुत होता है अर्थात् व्यापार बहुत होता है ।

रविपुष्य योग—में कच्चा कपूर, सोवीराजन, पातालतुम्ब, सफेदगिरी का मूल तथा पाताल गुगल के धुएं से काजल बनाकर स्वयं की आख में अजन करना तथा पीपल के सोलह पत्ते आंखों पर बांधना जिससे जिस स्थान पर सम्पत्ति हो उस स्थान पर ज्वाला दिखती है तथा जितने स्थान पर ज्वाला दिखती है उतने ही स्थान पर सम्पत्ति होती है ।

पुष्यार्क योग—में सफेद आक जिसकी जड गणेशाकार होती है लाकर द्रव्य मे रखने से अष्टसिद्धि तथा नवनिधि प्राप्त होती है ।

रोहिणी नक्षत्र—में बिल्व (बेल) वृक्ष का वांधा बाये हाथ पर बांधने से दारिद्र दूर होता है ।

उत्तराषाढ़ा नक्षत्र—में दक्षिण मुख करके डमरा मूल (डमरानुमूल) लाकर गद्दी के नीचे रखने से उद्योग व्यापार अच्छा चलता है ।

चित्रा नक्षत्र—में सफेद आक का वांधा लाकर अपने पास रखने से मन में सोचे हुए कार्य की सिद्धि होती है ।

भरणी नक्षत्र—में दर्भ का वांधा लाकर श्री रोकड़ की तिजोरी अथवा रुपयों की थैली में रखने से व्यापार में वृद्धि होती है ।

रोहिणी नक्षत्र—में बिल्व पत्ता (बिलीनुपांदड़ु) तीन पत्तेवाला लाकर पूजनकर कवच में बन्द कर हाथ पर बांधने से दरिद्रता का नाश होता है। लक्ष्मी प्राप्ति होती है।

विशाखा नक्षत्र—में बेर का पत्ता (बोरडीनु पानु) लाकर कवच में रख हाथ पर बांधने से व्यापार अच्छा चलता है।

मघा नक्षत्र—में बड वृक्ष के नीचे दूसरा बड़ का पौधा जो कि बड़ बीज के द्वारा स्वतः ही उगा हुआ हो उसे पहले दिन विधि पूर्वक आमंत्रण देकर दूसरे दिन (मघा नक्षत्र में) वहां जाकर अपनी छाया उस पर नहीं पड़े इस प्रकार खड़े होकर पूजन कर पूर्वाभिमुख होकर उस छोटे से बड के पौधे को हाथ से उखाड कर घर लाना। शुद्ध जल से अभिषेक कर धूप, दीप, फल, फूल द्वारा पूजाकर तांबे के डिब्बे में रखने से अष्टसिद्धि तथा सभी प्रकार की सुख समृद्धि होती है धनिष्ठा नक्षत्र में नारियल का पत्ता लाकर अपने पास रखने से धन की वृद्धि होती है। रोहिणी नक्षत्र में जिस बड़ वृक्ष की बड़वाई (बड की शाखाओं से पतली-पतली धागानुमा निकलने वाली पृथ्वी की ओर जाकर पृथ्वी मे प्रवेश कर एक नये बड का रूप धारण करती हैं) बढ़कर तालाब नदी के जल तक पहुच गई हो उसे विधिपूर्वक हाथ से तोड़ कर घर लाना तथा उसकी अंगुठी (गोलाकार) बनाकर तांबे के डिब्बे में रखना, चावल, कुमकुम, ताम्बुल, धूप, दीप से पूजा कर तिजोरी अथवा नगदी की जगह रखने से क्रय विक्रय अच्छा होता है।

पुष्य नक्षत्र—और गुरुवार हो उस दिन महुए की कोमल डाल पत्ते सहित विधिपूर्वक लाकर विधिपूर्वक रिंग (गोल) आकार बनाकर गल्ले के नीचे रखने से व्यापार अच्छा चलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्य मन्त्र शास्त्रों के समान जैन मन्त्र शास्त्र की एक विशाल परम्परा है जिसके स्वरूप को आचार्यों ने अष्ट विधाओ मे विभक्त कर मानव के प्रत्येक क्षेत्र को सहज एव सुखमय बनाने का मार्ग सुझाया है। इसे केवल कल्पना नही, किन्तु आयुर्वेद के चिकित्साशास्त्रो से भी प्रमाणित है कि मंत्र तंत्र से अनेक प्रकार की आधि-व्याधि से मुक्ति दिलाकर मानव के जीवन को प्रशस्त किया जा सकता है। वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा शब्द की ध्वनि तरङ्गो की भौतिक उपलब्धियों के उदाहरणों पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाय तो मंत्र शक्ति के रहस्यों पर आस्था और विश्वास अधिक बढ़ सकता है। जिस अदम्य साहस और परिश्रम से भौतिक विज्ञान के आचार्यों ने शब्द विज्ञान के रहस्यो को प्रगट करके नयी आस्थाएं बनायी है। उसी प्रकार मंत्र साधना के आचार्यो का भी कर्तव्य होगा कि वह इस क्षेत्र मे हर प्रकार के प्रयोग करे तथा तथ्यों का विश्लेषण कर लुप्त प्राय: विधि विधानो को विकसित करे ताकि वैज्ञानिक युग मे मंत्रशक्ति पर डूबते हुए विश्वास को पुनः उभारा ही नही जा सके अपितु मानव जीवन को प्रशस्त किया जा सके।

मन्त्र विद्या एक विश्लेषण

❖ ब्र० श्री धर्मचन्द जैन, शास्त्री

[संघस्थ]
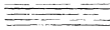
भारतवर्ष अनादिकाल से ज्ञान-विज्ञान की गवेषणा, अनुशीलन एवं अनुसन्धान की भूमि रहा है। विद्याओं की विभिन्न शाखाओं में भारतीय मनीषियों ऋषियों एवं अध्येताओं ने जो कुछ किया, निःसन्देह वह यहां की विचार-विमर्श एव चिन्तन प्रधान मनोवृत्ति का द्योतक है। दर्शन, व्याकरण, साहित्य, न्याय, गणित, ज्योतिष आदि सभी विद्याओं में भारतीयो का कृतित्व और व्यक्तित्व अपनी कुछ ऐसी विशेषताएं लिये हुए है जो अनेक दृष्टियों से असाधारण है।
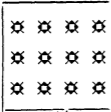
इसी गवेषणा के परिणाम स्वरूप मंत्र, यंत्र, तंत्र साधनाओं का प्रस्फुटन हुआ। मंत्र शब्द दिवादि और तनादिगणीय तथा सम्मानार्थक 'मन्' धातु से 'ष्ट्रन' (त्र) प्रत्यय लगकर बनता है जिनके व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ भिन्न प्रकार से किये जा सकते हैं। मंत्र शब्द के गर्भ मे मनन की परिव्याप्ति है। शब्द, शब्द के मूल अक्षर और बीजाक्षर से मन्त्रात्मक विद्या का विकास हुआ जो अक्षरों मे अन्तर्निहित अपरिसीम शक्ति का द्योतक है।

दि० जैन परम्परा के अनुसार मन्त्र विद्या का सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन है तथा अङ्ग-पूर्व ज्ञान से जुडा हुआ है। सर्वज्ञ भाषित, गणधरदेव द्वारा ग्रथित द्वादशाग मे बारहवां अंग दृष्टिवाद है। उसके पाच विभाग है। (१) परिकर्म (२) सूत्र (३) पूर्वानुयोग (४) पूर्वगत तथा (५) चूलिका। चौथे विभाग पूर्वगत में चौदह पूर्व आते है। चौदहपूर्वों में दसवा विद्यानुप्रवाद पूर्व है, जो १ करोड़ दस लाख पद का माना गया है। विद्यानुप्रवाद पूर्व मुख्यतः मंत्रात्मक साधनाओं, सिद्धियों एवं उनके साधनों से संबद्ध है। वर्तमान मे उपलब्ध विद्यानुवाद ग्रन्थ मत्र यंत्र विद्या का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अलावा भैरवपद्मावतीकल्प, ज्वालामालनीकल्प, ऋषिमंडलकल्प, भक्तामर, कल्याणकल्पद्रुम आदि अनेकों ग्रन्थ मंत्र यंत्रों से भरपूर हैं।

मन्त्र :

जो विशिष्ट प्रभावक शब्दों द्वारा निर्मित किया हुआ वाक्य होता है वह मन्त्र कहा जाता है। बार बार जाप करने पर शब्दों के पारस्परिक संघर्षण के कारण वातावरण मे एक प्रकार की विद्युत तरंगें उत्पन्न होने लगती हैं तथा साधक की इच्छित भावनाओं को बल मिलने लगता है। फिर वह जो चाहता है, वही होता है। मंत्रों के लिये उनके हिसाब से जाप की संख्या, शब्द, बीजाक्षर, अक्षर तथा विभिन्न मंत्रों के लिये विभिन्न प्रकार के पदार्थों से बनी मालाएं विभिन्न प्रकार के फल-फूल, विभिन्न आसन, दिशाएं, क्रियाएं इत्यादि पहले से ही निर्धारित होती हैं।

यन्त्र :

जिसमें सिद्ध किए हुए मंत्रों से अभिमंत्रित कागज को अथवा किसी विशिष्ट प्रकार के निर्धारित अंकों, शब्दों व आकृतियों से लिखित पत्र को किसी विशेष धातु के बने ताबीज मे रख दिया जाता है अथवा किसी की बांह में बाध दिया जाता है, गले में लटका दिया जाता है या किसी धातु विशेष के पत्रों पर लिखकर उचित स्थान पर रख दिया जाता है या चिपका दिया जाता है, वह यंत्र कहा जाता है। इससे कार्य-सिद्धि होती है।

इन यंत्र और मंत्रों के अधिष्ठाता देव-देवियां २४ तीर्थंकरों की सेवा करने वाले २४ यक्ष-यक्षणियां मानी गई हैं। तीर्थंकर तो मुक्त हो जाते है, वीतराग होने से वे कुछ देते लेते नही। धर्म प्रभावना की दृष्टि से यक्ष-यक्षणियां आदि शासन देवता मंत्र-यत्र साधकों को लाभान्वित करते हैं। इसमें साधक का पुण्य-पाप कारण बनता है।

तंत्र :

यह मंत्र विद्या का एक प्रमुख विशिष्ट अंग है। तन्त्रों का सम्बन्ध विज्ञान से है इसमें कुछ ऐसी रासायनिक वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है, जिनसे एक चमत्कार पूर्ण स्थिति पैदा की जा सके। मानवी शक्ति प्राप्त करने के लिए मंत्र यंत्र-गर्भित विशिष्ट प्रयोगो का वैज्ञानिक सचयन तंत्र है। विद्वानों ने तंत्र शब्द की व्याख्या में दो आशयो को मुख्यत: रखा है। एक दृष्टिकोण इसे उस ज्ञान के मार्ग दर्शक के रूप मे व्याख्यात करता है, जिससे लौकिक दृष्या असाधारण शक्ति, चमत्कार तथा वैशिष्ट्य का लाभ होता है। दूसरा दृष्टिकोण, अलौकिक या मोक्ष परक है, इसलिए तत्र को चरम सिद्धि उस ज्ञान की बोधिका है, जिससे जन्म-मरण के बन्धन से उन्मुक्त होकर जीव सत्-चित् आनन्दमय बन जाय, मोक्षगत हो जाय या सिद्धत्व प्राप्त कर ले।

मंत्र और यंत्र से यह विषय विशेषतया संबद्ध है अत: तदनुरूप अभ्यास व साधना से कार्य सिद्धिदायक है। तंत्रों में मंत्र भी प्रयोग मे आते है और यत्र भी। तंत्र में मत्र का प्रयोग कभी कभी आवश्यक भी होता है, क्योंकि उससे तत्र की शक्ति द्विगुणित हो जाती है। बाह्य दृष्टि से मत्र तंत्र के द्वारा आकर्षण, मोहन, मारण, वशीकरण उच्चाटनादि किया जाता है।

जैन मंत्र शास्त्रों में मंत्रों के अनेक भेद बताये है, किन्तु उनका जन्मदाता अनादि मूल मंत्र णमोकार महामंत्र है उसी के सम्बन्ध मे यहां विचार किया जाता है—

णमोकार मंत्र में मातृका ध्वनियों का तीनों प्रकार का क्रम सन्निविष्ट है। इसी कारण यह मंत्र आत्मकल्याण के साथ लौकिक अभ्युदयों को देने वाला है। अष्ट कर्मों को विनाश करने की भूमिका इसी मंत्र के द्वारा उत्पन्न की जा सकती है। संहारक्रम कर्मविनाश को प्रगट करता है तथा सृष्टिक्रम और स्थितिक्रम आत्मानुभूति

के साथ लौकिक अभ्युदयों की प्राप्ति में सहायक है। इस मंत्र की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि इसमें मातृकाध्वनियों का तीनों प्रकार का क्रम सन्निहित है, इसीलिए इस मंत्र से मारण, मोहन और उच्चाटन तीनों प्रकार के मंत्रों की उत्पत्ति हुई है। बीजाक्षरों की निष्पत्ति के सम्बन्ध में बताया गया है—

"हलो बीजानि चोक्तानि, स्वराः शक्तय ईरिताः।"

ककार से लेकर हकार पर्यंत व्यञ्जन बीजसंज्ञक हैं और अकारादि स्वर शक्तिरूप हैं। मंत्र बीजों की निष्पत्ति बीज और शक्ति के संयोग से होती है।

सारस्वत बीज, मायाबीज, शुभनेश्वरी बीज, पृथिवी बीज, अग्निबीज, प्रणवबीज, मारुतबीज, जलबीज, आकाशबीज आदि की उत्पत्ति उक्त हल् और अचों (स्वरों) के संयोग से हुई है। यों तो बीजाक्षरों का अर्थ बीज कोश एवं बीज व्याकरण द्वारा ही ज्ञात किया जाता है।

णमोकार मन्त्र का अचिन्त्य और अद्भुत प्रभाव है इस मन्त्र की साधना द्वारा सभी प्रकार की ऋद्धि सिद्धियां प्राप्त की जा सकती है। यह मंत्र आत्मिक शक्ति का विकास करता है। अतः समस्त बीजाक्षरों वाला यह मंत्र जिसमें मूलध्वनिरूप बीजाक्षरो का संयोजन भी शक्ति के क्रमानुसार किया गया है।

मातृकाओं का महत्त्व :

विद्यानुवाद में मातृकाओं का महत्त्व स्वीकार करते हुए बताया है कि मातृकाएं शक्तिपुञ्ज हैं। शक्ति मातृकाओं से भिन्न नहीं है।

जो व्यक्ति मन्त्र-बीजों में निबद्धकर इन मातृकाओं का व्यवहार करता है, वह आत्मिक और भौतिक दोनों प्रकार की शक्तियों का विकास कर लेता है। मातृकाएं बीजाक्षरों और पल्लवों के साथ मिलकर आकर्षण और विकर्षणों को उत्पन्न करने में समर्थ हो जाती हैं। मातृकाएं बीजों में निबद्ध हो कर चाञ्चल्य का सृजन भी करती हैं, जिससे किसी भी पदार्थ में टूट-फूट की क्रिया उत्पन्न होती है। यह क्रिया ही शक्ति का आधार स्रोत है और इसी से मन्त्र-जाप द्वारा चमत्कारी कार्य उत्पन्न किये जाते है।

वर्तमान विज्ञान भी यह बतलाता है कि बीजमंत्रों में निहित शक्ति व्यूह हमारी इन्द्रियों को उत्तेजित कर देता है और यह उत्तेजना जलतरंग की अनुरणनध्वनि के तुल्य क्रमशः मन्द, तीव्र, तीव्रतर, मन्द, मन्दतर होती हुई कतिपय क्षणों तक रणन करती रहती है। इसी प्रकार बीजों का घर्षण ही शक्ति-व्यूह का सचार करता है। इसी कारण आचार्यों ने कहा है—

न दुष्टवर्णप्रायश्चेन्मन्त्रः सिद्धि प्रयच्छति।
इत्युक्तो वर्णयोगोऽत्र परेषां वर्ण्यते मतम्॥

अर्थात् दुष्टवर्ण मन्त्र में प्रयुक्त होकर कभी भी सिद्धि प्राप्त नहीं करा सकते हैं। सिद्धि, साधन, नक्षत्र, राशि और ग्रह परिशुद्ध बीज हैं, इन्हीं बीजों द्वारा चमत्कारपूर्ण भौतिक शक्तियां प्राप्त की जाती हैं।

मंत्र-बीजों के वर्णन में वश्य, आकर्षण और उच्चाटन में हूँ का प्रयोग, मारण में फट् का प्रयोग, स्तम्भन, विद्वेषण और मोहन में नमः का प्रयोग एवं शक्ति और पौष्टिक के लिए 'वषट्' पल्लव का प्रयोग किया जाता है। मन्त्र के अंत में स्वाहा शब्द रहता है। यह शब्द पापनाशक, मंगलकारक तथा आत्मा की आन्तरिक शक्ति को उद्बुद्ध करने वाला बताया है। मंत्र के बीजाक्षरों को शक्तिशाली बनाने के लिये उसकी समस्त विधियों

का निर्वाह करना अत्यावश्यक है। दिशा, आसन, वस्त्र, माला एवं अन्य उपकरणों का विचार कर मन्त्र सिद्धि करनी चाहिये। मातृकाओं द्वारा ही अग्नियन्त्र, जलयन्त्र, नाभियन्त्र, अष्टकर्म यन्त्र, जलमण्डल, अग्निमण्डल, माहेन्द्रमण्डल, तीर्थङ्करयन्त्र, विजययन्त्र, जययन्त्र, हंसयन्त्र सू सयन्त्र, कुलिकयन्त्र, महापद्मयन्त्र, रक्षायन्त्र, महारक्षायन्त्र, स्तम्भनयन्त्र, विद्यायन्त्र, परविद्याछेदनयन्त्र, पिशाचादि मोचनयन्त्र, कामचाण्डालीयन्त्र, प्रभृति शताधिक यन्त्र और मण्डलों का निर्माण किया गया है। मातृकाएँ समस्त द्वादशाङ्ग वाणी का मूल हैं, मन्त्रशास्त्र और यन्त्रशास्त्र का पल्लवन इन्हीं के द्वारा होता है। अतः व्याकरण, साहित्य, मंत्र, यन्त्र प्रभृति समस्त वाङ्मय का मूलाधार मातृकाएँ है। जिन यन्त्रों का ऊपर उल्लेख किया गया है वे सभी शक्ति कूट हैं और उसमें शक्तिव्यूह निहित हैं। यहाँ सामान्य जानकारी के लिये ध्वनियों की शक्ति पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

अ—अव्यय, व्यापक, आत्मा के एकत्व का सूचक, शुद्ध ज्ञानरूप, शक्तिद्योतक, प्रणव बीज का जनक।

आ—अव्यय, शक्ति और बुद्धि का परिचायक, सारस्वतबीज का जनक, मायाबीज के साथ कीर्ति, धन और आशा का पूरक।

इ—गत्यर्थक, लक्ष्मी प्राप्ति का साधक, कार्य साधक, कठोर कर्मों का बाधक, वह्निबीज का जनक।

ई—अमृतबीज का मूल कार्य साधक, अल्पशक्तिद्योतक, स्तम्भक, मोहक जृम्भक।

उ—उच्चाटन बीजों का मूल अद्‌भुत शक्तिशाली।

ऊ—उच्चाटक और मोहक बीजों का मूल, विशेष शक्ति का परिचायक, कार्यध्वंस के लिये शक्ति दायक।

ऋ—ऋद्धिबीज, सिद्धिदायक शुभ कार्य सम्बन्धी बीजो का मूल कार्यसिद्धि का सूचक।

ऌ—सत्य का सचारक, वाणी का ध्वंसक, लक्ष्मीबीज की उत्पत्ति का कारण।

ए—पूर्ण गति सूचक, अरिष्ट निवारण बीजों का जनक पोषक और संवर्द्धक।

ऐ—उच्चस्वर का प्रयोग करने पर वशीकरण बीजों का जनक पोषक और संवर्द्धक, जलबीज की उत्पत्ति का कारक, सिद्धिप्रद कार्यों का उत्पादक बीज, शासन देवताओं का आह्वानन करने में सहायक, क्लिष्ट और कठोर कार्यों के लिए प्रयुक्त बीजों का मूल, ऋण विद्युत का उत्पादक।

ओ—अनुदात्त में मायाबीज का उत्पादक, उदात्त में कठोर कार्यों का उत्पादक बीज, कार्यसाधक, रमणीय पदार्थों की प्राप्ति के लिये प्रयुक्त होने वाले बीजों में अग्रणी।

औ—मारण और उच्चाटन सम्बन्धी बीजो मे प्रधान अनेक बीजो का मूल।

अं—स्वतन्त्र शक्ति रहित कर्माभाव के लिये प्रयुक्त ध्यान मंत्रों मे प्रमुख, शून्य या अभाव का सूचक, आकाश बीजों का जनक, अनेक मृदुल शक्तियो का उदघाटक, लक्ष्मी बीजों का मूल।

अः—शक्ति बीजों में प्रधान, निरपेक्ष अवस्था में कार्य असाधक, सहयोगी का अपेक्षक।

क—शक्ति बीज, प्रभावशाली, सुखोत्पादक, सन्तान प्राप्ति की कामना का पूरक कामबीज का जनक।

ख—आकाश बीज अभाव सिद्धि के लिये कल्पवृक्ष, उच्चाटन बीजों का जनक।

ग—पृथक् करने वाले कार्यों का साधक, प्रणव और माया बीज के साथ कार्य सहायक।

घ—स्तम्भक कार्यों का साधक विघ्न विघातक, मारण और मोहक बीजों का जनक।

ङ—शत्रु का विध्वंसक, स्वर मातृका बीजों के सहयोगानुसार फलोत्पादक।

च—अंगहीन खण्ड शक्ति द्योतक उच्चाटन बीज का जनक।

छ—छाया सूचक, माया बीज का सहयोगी, बन्धन कारक।

ज—नूतन कार्यों का साधक शक्ति का वर्द्धक, आधि व्याधि का शामक, आकर्षक बीजों का जनक।

झ—रेफयुक्त होने पर कार्य साधक, आधि व्याधि विनाशक शक्ति का संचारक श्री बीजों का जनक।
ञ—स्तम्भक और मोहक बीजों का जनक साधना का अवरोधक।
ट—आग्नेय कार्यों का प्रसारक, विध्वंसक कार्यों का साधक।
ठ—अशुभ सूचक बीजों का जनक।
ड—शासन देवताओं की शक्ति का प्रस्फोटक, निकृष्ट कार्यों की सिद्धि के लिये अमोघ, अचेतन क्रिया साधक।
ढ—मायाबीज व मारण बीजों में प्रधान, शक्ति का विरोधी।
ण—शक्ति सूचक।
त—आकर्षक शक्ति का आविष्कारक।
थ—मंगल साधक, लक्ष्मी बीज का सहयोगी स्वर मातृकाओं के साथ मिलने पर मोहक।
द—कर्मनाश के लिये प्रधान बीज, आत्मशक्ति का प्रस्फोटक वशीकरण बीजों का जनक।
ध—श्रीं और क्लीं बीजों का सहायक. सहयोगी के समान फलदाता, माया बीजों का जनक।
न—मृदुत्तर कार्यों का साधक हितैषी।
प—जन्म तत्त्व के प्राधान्य से युक्त समस्त कार्यों की सिद्धि के लिये।
फ—विघ्न विघातक, कठोर कार्य साधक।
ब—विघ्नों का निरोधक, सिद्धि का सूचक।
भ—साधक को मारण और उच्चाटन के लिये उपयोगी।
म—लौकिक तथा पारलौकिक सिद्धियों का प्रदाता।
य—शक्ति का साधक, मित्र प्राप्ति या अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये उपयोगी, ध्यान का साधक।
र—कार्य साधक, समस्त प्रधान बीजों का जनक।
ल—लक्ष्मी प्राप्ति में सहायक श्रीं बीज का निकटतम सहयोगी और कल्याण सूचक।
व—सिद्धिदायक, रोग हर्ता, लौकिक कामनाओं की पूर्ति के लिये सहयोगापेक्षी, मंगलसाधक विपत्तियों का रोधक और स्तम्भक।
श—निरर्थक सामान्यबीजों का जनक या हेतु उपेक्षा धर्मयुक्त शक्ति का पोषक।
ष—आह्वान बीजों का जनक सापेक्षध्वनि ग्राहक सहयोग या संयोग द्वारा विलक्षण कार्य साधक आत्मोन्नति से शून्य रुद्रबीजों का जनक भयंकर और वीभत्स कार्यों के लिये प्रयुक्त होने पर कार्य साधक।
स—सभी प्रकार के बीजों में प्रयोग योग्य शक्ति के लिये परम आवश्यक, पौष्टिक कार्यों के लिये परम उपयोगी।
ह—शक्ति, पौष्टिक और माङ्गलिक कार्यों का उत्पादक, साधना के लिये उपयोगी, आकाश तत्त्व युक्त कर्मनाशक सभी प्रकार के बीजों का जनक।

उपर्युक्त ध्वनियों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि मातृका मंत्र ध्वनियों के स्वर और व्यञ्जनों के संयोग से ही समस्त बीजाक्षरों की उत्पत्ति हुई है। इन मातृका ध्वनियों की शक्ति ही मंत्र में आती है। णमोकार मंत्र से ही मातका ध्वनियां निःसृत हैं। अतः समस्त मन्त्रशास्त्र इसी महामंत्र से प्रादुर्भूत हैं।

बीजाक्षरों का संक्षिप्त कोष—

ॐ—प्रणव, ध्रुव, तैजस बीज है।

ऐं—वाग् और तत्त्व बीज है।

क्ली—काम बीज है।

ह्रो—शासन बीज है।

क्षि—पृथ्वी बीज है।

प—अप् बीज है।

स्वा—वायु बीज है।

हाः—आकाश बीज है।

ह्रीं—माया और त्रैलोक्य बीज है।

क्रों - अंकुश और निरोध बीज है।

आ—फास बीज है।

फट्—विसर्जन और चलन बीज है।

वषट्—दहन बीज है।

वोषट्—आकर्षण और पूजा ग्रहण बीज है।

संवौषट्—आकर्षण बीज है।

ब्लूँ—द्रावण बीज है।

ब्लें—आकर्षण बीज है।

ग्लौं—स्तम्भन बीज है।

क्ष्वीं—विषापहार बीज है।

द्रां द्रीं क्लीं ब्लूँ सः—ये पांच बाण बीज हैं।

हूँ—द्वेष और विद्वेषण बीज है।

स्वाहा—हवन और शक्ति बीज है।

स्वधा—पौष्टिक बीज है।

नमः—शोधन बीज है।

श्रीं—लक्ष्मी बीज है।

अर्हं—ज्ञान बीज है।

क्षः फट्—शस्त्र बीज है।

यः—उच्चाटन और विसर्जन बीज है।

जूँ—विद्वेषण बीज है।

श्लीं—अमृत बीज है।

क्षीं—सोम बीज है।

हंस—विष दूर करने वाला बीज है।

क्ष्म्ल्व्यूँ—पिंड बीज है।

क्ष—कूटाक्षर बीज है।

क्षिप ॐ स्वाहा—शत्रु बीज है।

ह्राः—निरोध बीज है।

ठः—स्तम्भन बीज है।

ब्लौं—विमल पिंड बीज है।

ग्ले—स्तम्भन बीज है।

घे घे—वध बीज है।

द्रां द्रीं—द्रावण संज्ञक है।

ह्री ह्रूँ ह्रें ह्रौ ह्रः—शून्य रूप बीज हैं।

मंत्र की सफलता साधक और साध्य के ऊपर निर्भर है ध्यान के अस्थिर होने से भी मंत्र असफल हो जाता है। मन्त्र तभी सफल होता है, जब श्रद्धा भक्ति तथा संकल्प दृढ़ हो। मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि मनुष्य की अवचेतना में बहुत सी आध्यात्मिक शक्तियां भरी रहती हैं। इन्हीं शक्तियों को मंत्र द्वारा प्रयोग में लाया जाता है। मंत्र की ध्वनियों के संघर्ष द्वारा आध्यात्मिक शक्ति को उत्तेजित किया जाता है। इस कार्य में अकेली विचार शक्ति काम नहीं करती है। इसकी सहायता के लिये उत्कट इच्छा शक्ति के द्वारा ध्वनि-संचालन की भी आवश्यकता है। मंत्र शक्ति के प्रयोग की सफलता के लिये नैष्ठिक आचार की आवश्यकता है। मंत्र निर्माण के लिए ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूँ ह्रौ ह्रः हा ह सः क्लीं द्रां द्रीं द्रँ द्रः श्रीं क्षीं क्ष्वीं हं अं फट् वषट् संवौषट् घे घै यः ख ह् पं वं यं झं तं थं द आदि बीजाक्षरों की आवश्यकता होती है। साधारण व्यक्ति को ये बीजाक्षर निरर्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु हैं ये सार्थक और इनमें ऐसी शक्ति अन्तर्निहित रहती है, जिसमें आत्मशक्ति या देवताओं को उत्तेजित किया जा सकता है। अतः ये बीजाक्षर अन्तःकरण और वृत्ति की शुद्ध प्रेरणा के व्यक्त शब्द हैं, जिनसे आत्मिक शक्ति का विकास किया जा सकता है।

इन बीजाक्षरों की उत्पत्ति प्रधानतः णमोकार मंत्र से ही हुई है, क्योंकि मातृका ध्वनियां इसी मन्त्र से उद्भूत हैं।

मंत्र साधक बीज मंत्र और उनकी ध्वनियों के घर्षण से अपने भीतर आत्मिक शक्ति का प्रस्फुटन करता है। मंत्र शास्त्र में इसी कारण मंत्रों के अनेक भेद बताये गये हैं। प्रधान--(१) स्तम्भन (२) सम्मोहन (३) उच्चाटन (४) वश्याकर्षण (५) विद्वेषण (६) मारण (७) शान्तिक और (८) पौष्टिक।

(१) **स्तम्भन**—जिन ध्वनियों के द्वारा सर्प, व्याघ्र, सिंह आदि भयंकर जन्तुओं को भूत, प्रेत, पिशाच आदि दैविक बाधाओं को, शत्रु सेना के आक्रमण तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा किये जाने वाले कष्टों को दूर कर इनको जहां के तहां निष्क्रिय कर स्तम्भित कर दिया जावे उन ध्वनियों के सन्निवेश को स्तम्भन मंत्र कहते हैं।

(२) **सम्मोहन**—जो किसी प्राणी के मन पर अत्यन्त प्रभाव डाले जो कहें वह करे उसको सम्मोहन कहते हैं।

(३) **उच्चाटन**—जिन मंत्रों के द्वारा किसी का मन अस्थिर उल्लास रहित एवं निरुत्साहित होकर पदभ्रष्ट एवं स्थान भ्रष्ट हो जावे, उन ध्वनियों के सन्निवेश को उच्चाटन मंत्र कहते हैं।

(४) **वशीकरण**—जिस मंत्र के द्वारा इच्छित वस्तु या व्यक्ति, साधक के पास आ जावे, किसी को दास के समान वश में करना, विपरीत मन वाले साधक की अनुकूलता स्वीकार कर लें उसको वशीकरण कहते हैं।

(५) **विद्वेषण**—जिसके द्वारा कुटुम्ब, जाति, देश, समाज, राष्ट्र आदि में परस्पर कलह और वैमनस्य की क्रान्ति मच जावे उन मंत्रों को विद्वेषण कहते हैं।

(६) **मारण**—साधक मंत्र बल के द्वारा प्राणदण्ड दे सके उन ध्वनियों के सन्निवेश को मारण मंत्र कहते हैं।

(७) **शान्तिक**—जिसके द्वारा भयंकर से भयंकर व्याधि, व्यन्तर-भूत पिशाचों की पीड़ा, क्रूर ग्रह-जंगमस्थावर, विष बाधा, अतिवृष्टि, अनावृष्टि दुर्भिक्षादि ईतियों और चोर आदि का भय प्रशांत हो जावे उस मंत्र को शान्ति मंत्र कहते हैं।

(८) **पौष्टिक**—जिस मंत्र के द्वारा सुख सामग्रियों की प्राप्ति हो उन मंत्रों को पौष्टिक मंत्र कहते हैं।

मंत्र, तंत्र, यंत्र को सिद्धि करने के लिये द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, समयशुद्धि, आसनशुद्धि, विनयशुद्धि, मन:शुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि आदि का ध्यान रखना आवश्यक है।

मंत्र और सिद्धि परस्पर जुड़े हुए शब्द हैं पर इसके लिये कई तथ्यों को ध्यान में रखते हुए उनका सम्यक् पालन आवश्यक है। विधिवत् पालन न करने से इसमे असफलता मिलती है, फलस्वरूप अश्रद्धा उत्पन्न होती है इसीलिये आचार्यों ने कहा है कि—

"एतद् गोप्यं महागोप्यं न देयं यस्य कस्यचित्॥"

मंत्र साधना में सफलता का मूल आधार चित्त की एकाग्रता है। मन्त्र अपने आपमें देवता है, अत: लौकिक एवं पारलौकिक सिद्धियों एवं सफलताओं के लिये इससे बढकर अन्य कोई साधन नहीं है।

जैन-तन्त्रों के आलोक में 'अर्हं' बीज-मन्त्र और उसकी उपासना

❖ डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी, एम. ए. पी-एच.डी. डी. लिट्

[नई दिल्ली]

जैन-तन्त्र और उनकी व्यापकता :

इहलोक और परलोक की सार्थक सफलता और उपलब्धि के लिये पूर्व महर्षियों द्वारा प्रदर्शित विभिन्न मार्गों में 'तन्त्र-मार्ग' भी एक सर्व सुलभ मार्ग है। यह मार्ग भी उतना ही प्राचीन है, जितना आगम-मार्ग। आगमों में ही 'दृष्टिवाद' भी भगवद् भावित तथा गणधरोद्भासित है। इसी के पांच विभागों में चौथे पूर्वगत विभाग में दसवां पूर्व 'विद्यानुप्रवाद' नाम से विख्यात है, जिसमें १-साधना २-सिद्धि और ३-साधनों के व्यापक परिज्ञान को प्रस्फुटित किया है। चूंकि तन्त्र शब्द के पारिभाषिक अर्थ पूजा, उपासना, मन्त्र, यन्त्र, योग, स्तोत्र आदि हैं अतः जैनागमानुमोदित साधना-विधानों से सम्पन्न ग्रन्थों एवं प्रक्रियाओं को उत्तरकाल में 'जैन-तन्त्र' कहने की प्रथा चल पड़ी है। वैसे तन्त्र का शास्त्रीय अर्थ जैनाचार्यों ने 'योग' ही बतलाया है।

प्रश्नव्याकरण, वसुदेवहिण्डी एवं आगमों में वर्णित उपासना-विधानों से प्रेरित होकर क्रमशः आचार्यों ने अनेक मन्त्रशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की और उनमें विभिन्न सिद्धियों के लिये दिखाई गई पद्धतियों की जो विपुलता प्रदर्शित हुई है, वह वस्तुतः एक स्वतन्त्र जैनतन्त्र शास्त्र की सरणि को प्रस्तुत करती है। अनेक कल्प[1], यन्त्र-विधान मन्त्र गर्भित स्तोत्र, कवच, शतनाम, सहस्रनाम, रहस्य, मत, विद्याएँ आदि सभी तन्त्र की परिधि में ही आते हैं। इस दृष्टि से हम तन्त्र की निम्नलिखित परिभाषा को ध्यान में रखकर 'जैनतन्त्र' और उनकी व्यापकता को स्वीकार करते हैं—

१-ऐसे ५० कल्पो का निदर्शन हमने 'जैन-तन्त्रः एक समीक्षात्मक सर्वेक्षण' नामक लेख में किया है। द्रष्टव्य—सन्मार्ग, तन्त्र विशेषांक वाराणसी सन् १९७९ ई०।
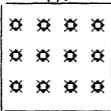
यत्र चोपासनामार्गो देवतानां प्रतिष्ठितः ।
तं ग्रन्थं तन्त्रमित्याहुः पुरातनमहर्षयः ।।

नमस्कार-महामन्त्र तथा वर्ण-मातृकाएँ :

जिनशासन का सार तथा चौदह पूर्व का उद्धार नमस्कार-मंत्र को बतलाया गया है। शास्त्रों में स्पष्ट कहा गया है कि—

अणाइकालो अणाइजीवो अणाइ-जिणधम्मो ।
तइआवि ते पढंता इसुच्चिअ जिण-णमुक्कारो ।।

अर्थात्—काल अनादि है, जीव अनादि है और जैनधर्म भी अनादि है। जब से उसका प्रवर्तन हुआ है तभी से यह जिन-नमस्कार अर्थात् 'नमस्कार-मंत्र' भव्य जीव पढ रहे हैं। इस प्रकार पंचपरमेष्ठी-मंत्रापरनामक नमस्कार-मंत्र जैनधर्म का मूल मन्त्र है। इसी मन्त्र में समस्त श्रुतज्ञान की अक्षर संख्या निहित है। जैनदर्शन के तत्त्व, पदार्थ, द्रव्य, गुण, पर्याय, नय, निक्षेप, आस्रव तथा बन्ध आदि भी नमस्कार-मंत्र मे विद्यमान हैं, ऐसा शास्त्रों में वर्णन प्राप्त होता है। समस्त मन्त्रशास्त्रों की उत्पत्ति भी इसी मन्त्र से मानी गई है और यही कारण है कि मन्त्रों के मूल में निहित वर्ण-मातृका का उद्भव भी नमस्कार मन्त्र के माध्यम से सिद्ध किया गया है। शास्त्रकारों द्वारा प्रतिपादित ऐसे विचारो को समझने के लिये जिस पद्धति का आश्रय लिया जाता है, उसका निदर्शन इस प्रकार है—

मूल-महामन्त्र :

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व-साहूणं ।।

इस महामन्त्र का विश्लेषण निम्नरूप से होता है—

'ण् + अ + म् + ओ, अ + र् + इ + ह् + अं + त् + आ + ण् + अं,
ण् + अ + म् + ओ, स् + इ + द् + ध् + आ + ण् + अं,
ण् + अ + म् + ओ, आ + य् + अ + र् + इ + य् + आ + ण् + अं,
ण् + अ + म् + ओ, उ + व् + ज् + झ + आ + य् + आ + ण् + अं,
ण् + अ + म् + ओ, ल् + ओ + ए + स् + अ + व् + व् + अ + स् + आ + ह् + ऊ + ण् + अ ।

इस विश्लेषण में आये हुए स्वरों को पृथक् निकालते है तो उनका सकलन निम्न रूप से उद्धृत होता है—

"अं + ओ + अ + इ (ए) + अं + आ + अं + अ + ओ + इ + अं + अ + ओ + आ + इ + इ (ऐ ई) + अ + अ + अ + ओ + उ (औ) + अ + आ + अं + अ (अः) + ओ + ओ + ए + अ + अ + आ + ऊ + अं।"

इस प्रकार के स्वरों में रेखांकित स्वरावली के मिलाने पर तथा र् और ल् को 'रलयोरैक्यं' मानकर आयरियाणं पदान्तर्गत 'रि' इस प्राकृत वर्ण को ऋ मान लेने पर सोलह स्वरों की सृष्टि हो जाती है। यथा—
"अ आ इ ई उ ऊ [र्] ऋ ॠ [ल्] लृ लॄ ए ऐ ओ औ अं अः"

व्यंजनों को भी उपर्युक्त पद्धति से पृथक् संकलित करते हैं, तो—

'ण् + म् + र् + ह् + त् + ण् + ण् + म् + स् + द् + ध् + ए् + ए् + म् + य् + र् + ए् + ए् + म् + व् + ज् + झ् + य् + ण् + ण् + म् + ल् + स् + व् + स् + ह् + ए् ।
(ज् + झ् = श ; स् + ह् = ध)

यह स्वरूप बनता है। इन व्यंजनों में से पुनरुक्त व्यंजनों को छोड़ देने पर—

"ण् + म् + र् + ह् + ध् + स् + य् + र् + ल् + व् + ज् + घ् + ह्"

ये वर्ण शेष रहते हैं। इनमें भी ध्वनि-सिद्धांत के आधार पर वर्णाक्षर को पूरे वर्ग का प्रतिनिधि मानकर—

'घ् = कवर्ग, स् = चवर्ग, ण् = टवर्ग, ध् = तवर्ग, म् = पवर्ग, य् र् ल् व् तथा स् = श् ष् स् ह्"

ऐसा मानने से समस्त व्यंजन प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि नमस्कार-मन्त्र से ही समस्त मातृका वर्णों की उत्पत्ति हुई है।

उपर्युक्त प्रक्रिया में कतिपय क्लिष्ट कल्पनाओं का आश्रय पाठकों को अटपटा प्रतीत हो, यह स्वाभाविक है, किन्तु मन्त्रशास्त्र की दृष्टि से ऐसी प्रक्रिया का सदा उपयोग होता रहा है, यह निर्विवाद है।

वर्ण समाम्नाय में मातृका को परमात्मा का शब्दमय शरीर कहा है। अतः उसके आधार पर परमात्मा को प्रसन्न करके उनकी कृपा प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त हुआ हो, यह प्रतीत होता है। वेदों में वाणी का महत्त्व प्रकट करते हुए कहा गया है कि—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु ॥ (ऋग्वेद)

—यह देवी वाणी अन्न, बल आदि देने में समर्थ कामधेनु है और इसीलिये वर्ण अथवा वर्ण-संघातरूप—बीजमन्त्र, मन्त्र, स्तोत्रादि के द्वारा परमात्मा की उपासना होती है। समस्त विश्व का व्यापार-व्यवहार इस वाग्देवी की कृपा पर ही निर्भर है।

मातृका में समाविष्ट प्रत्येक वर्ण की स्वतन्त्र सत्ता है और उनकी महिमा भी अचिन्त्य है। प्रत्येक के रूप, देवता, गोत्र, छन्द, स्वरूप, आयाम, जाति, लिंग, वय, रंग, वर्ग, गति, मित्रता-शत्रुता, मण्डल, तत्त्व, शक्ति, गन्ध, विस्तार, आभूषण, वाहन आदि का वर्णन मन्त्र-तन्त्रशास्त्रीय ग्रन्थों में पर्याप्त वर्णित है।

मन्त्र और बीजमन्त्र :

हमारे प्राचीन आचार्यों ने 'नास्ति मन्त्रमनक्षरम्' की घोषणा करते हुए 'मातृका मन्त्ररूपिणी' यह कहकर पृथक् पृथक् अक्षरों तथा अक्षरसमुदाय से युक्त शब्दावली को मन्त्र की संज्ञा दी है। देवताओं के अनुग्रह तथा चित्त में उत्पन्न स्फुरणा के आधार पर मन्त्रों के प्रकाश को फैलाने वाले महर्षियों ने आधिदैविक तेजस् सम्पादन के लिये जो विविध मार्ग बतलाये हैं, उनमें 'उपासना-मार्ग' अत्यन्त सरल एवं निष्कण्टक मार्ग है।

उपासना के द्वारा इहलोक तथा परलोक दोनों ही सधते हैं, अतः यह सदा अवलम्बन के योग्य है।

उपासना के विभिन्न अंगों में मन्त्र-जप का विशिष्ट स्थान है, अतः यंत्र-मंत्र-विषयक कुछ विचार भी आवश्यक है।

मन्त्र शब्द की परिभाषा करते हुए जैनाचार्यों ने मूल धातु तो सर्व-स्वीकृत ही माने हैं, किन्तु व्युत्पत्ति में कुछ विशेष भाव व्यक्त किये हैं। यथा—'मननाद् मन्त्रः, मननत्राणधर्मतो मन्त्रः' ये दो व्युत्पत्तियां बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके साथ ही जैनाचार्यों ने—'मन्यते ज्ञायते आत्मादेशोऽनेन इति मन्त्रः' अर्थात् जिससे आत्मा का आदेश—निजानुभव ज्ञात हो, वह मन्त्र है, 'मन्यते विचार्यते आत्मादेशो येन स मन्त्रः' अर्थात् जिसके द्वारा निजानुभव का विचार किया जाता है, वह मन्त्र तथा 'मन्यते सत्क्रियन्ते परमपदे स्थिता आत्मानो यक्षादिदेवता वा अनेन इति मन्त्रः' अर्थात् जिससे परमपद में विराजमान पाच उच्च आत्माओं का अथवा यक्षादि शासन देवताओं का सत्कार हो, वह मन्त्र है। इस प्रकार जैनदृष्टि की विशेषता को ध्यान में रखकर मन्त्रजप करने से स्वसम्प्रदाय का पूर्णरूप से पालन होता है। जैनग्रन्थ 'ज्ञानार्णव' कार ने उपर्युक्त व्युत्पत्तियों मे 'मन्' धातु के ज्ञान, अवबोध और सम्मान इन तीनों अर्थों की योजना की गई है। वैदिक सम्प्रदाय के ग्रन्थो में मनन और त्राण इन दोनों अर्थों वाले 'मन्' और 'त्रै' (पालन) धातुओं के योग से मन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति दिखाई गई है।

बीज-मन्त्र :

मन्त्रों का सूक्ष्मरूप 'बीज-मन्त्र' होता है। बीज शब्द वर्ण-विपर्यय द्वारा निर्मित हुआ है अतः इसका मूल शब्द 'जीव' है। यही कारण है कि प्रायः प्रत्येक मन्त्र के साथ उसके जीव-आत्मारूप मे बीजों की योजना की जाती है। तान्त्रिक ग्रन्थ तथा विभिन्न आचार्यों का मन्तव्य है कि किसी भी मन्त्र के साथ बीजमन्त्र होना ही चाहिये। इन बीजमन्त्रो की साधना स्वतन्त्र और संयुक्त दोनों रूपों मे होती है। इस दृष्टि से नमस्कार-मन्त्र जैसे चौदहपूर्वों का उद्धार और जिन शासन का सार है उसी प्रकार 'अर्हं' बीज उसका भी सार माना गया है, क्योंकि नवपदात्मक नमस्कार मन्त्र का पूरा जप यदि नही किया जाए तो केवल 'णमो अरिहंताण' इस पद का जप करने से भी उसकी पूर्णता मानी जाती है और यह बीज उसी का ही सार है अतः इसका महत्त्व अधिक हो, यह स्पष्ट ही है।[1] मानवीय प्रवृत्ति के अनुसार सद्यः फल प्राप्ति की इच्छा वाले बीजमन्त्रो के जप मे इसीलिये अधिक प्रवृत्त प्रतीत होते हैं। यह भी स्पष्ट है कि बीज-मन्त्र में वृक्षो के बीज मे जैसे सारा वृक्ष समाया रहता है वैसे ही समस्त मन्त्र निहित है।

अर्हं बीज की महत्ता :

तीन अक्षरों के साथ बिन्दु से बना हुआ 'अर्हं' बीज शास्त्रों में बहुत प्रकार से वर्णित है। इसे पण्डितों ने सर्वज्ञ परमात्मा अरिहंत ही कहा है—

त्रीण्यक्षराणि बिन्दुश्च यस्य देवस्य नाम वै।
स सर्वज्ञः समाख्यातः 'अर्हं' तदिति पण्डितः ॥२०॥ (अर्हं अक्षरतत्त्वस्तव)

'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' की 'स्वोपज्ञतत्त्वप्रकाशिका' टीका में भी कहा गया है कि—'अर्हंमित्येतदक्षरं परमेश्वरस्य परमेष्ठिनो वाचकं सिद्धचक्रस्यादिबीज सकलागमोपनिषद् भूतमशेषविघ्नविघातक निध्नमखिलदृष्टादृष्ट सङ्कल्पकल्पद्रूपमाशास्त्राध्ययनाध्यापनावधि प्रणिधेयम्।' इसके अनुसार भी इस बीज की महिमा

१—पणव-हरियारिहा इम मतह बीआणि सप्पहावाणि।
सव्वेसि तेसि मूलो, इक्को णवकार-वर-मंतो ॥
तथा—अर्हंमित्यक्षर मायाबीज च प्रणवाक्षरम्।
एवं ज्ञानस्वरूपेण ध्येय ध्यायन्ति योगिनः ॥

विशेष रूप से प्रकट होती है। अन्यत्र इस बीज को 'अशेषविघ्नविघात निघ्नं' अर्थात् समस्त विघ्नों का विनाशक बतलाया है।

तान्त्रिक पद्धति से विवेचन करने पर 'अर्हं' बीज में अ+र्+ह् ये तीन वर्ण प्रमुख हैं। इनमें अ—वर्ण सूर्य का वाचक है,[1] र वर्ण अग्नि का बोधक है तथा ह वर्ण चन्द्र का परिचायक है। अतः सूर्य, अग्नि तथा सोम ये तीनों समस्त ब्रह्माण्ड के मूल तत्त्व इस बीज मन्त्र में आ जाते हैं। प्रकाश की पूरी स्थिति इन तीनों तत्त्वों पर ही आश्रित है। वैसे अर्हं बीज में 'ह' वर्ण की प्रधानता है, यह बात बहुत से ग्रन्थों से प्रमाणित है। इस सम्बन्ध में विशेष यह कहा जा सकता है कि—

पाणिनीय व्याकरणानुसार—'ह वर्ण सृष्टि के सीत्कार के पश्चात् होने वाली सृष्टि में पहली सृष्टि है।' परमसूक्ष्म निराकार ब्रह्म के अनन्तर पञ्च भूतों की स्थूलनिर्मिति आकाश है और उसका बीज ह वर्ण है। 'त्रिशिरोभैरव' शास्त्र में विसर्ग के तीन स्वरूपों का वर्णन हुआ है, १-पर, २-अपर तथा ३-परापर। इनमें हकार अपर विसर्ग है अतः विसर्ग स्थूल स्वरूप प्राप्त करके हकार बनता है।[2] यही हकार हंस, प्राण, व्यंजन, स्पर्श आदि नामों से जाना जाता है। यह विसर्ग जन्य अक्षर नित्योदित, चिन्मात्र-स्वभाव, अनस्तमित, अमृतकला प्रभृति तत्त्वों से परिपूर्ण है तथा नादमात्रस्वभाव होने से स्वभावतः अभिव्यक्त हो जाता है। बीजकोशों में हकार को गगनबीज, ज्ञानबीज, कल्याणबीज, अपरिच्छिन्न चित् तथा अचित् के सामरस्य का रूप, देह तथा आत्मा के लक्षण से लक्षित, विश्रान्तिमय, एवं शक्ति-प्रमाता आदि कहा गया है। इसीलिये 'अर्हं' मन्त्र मे हकार की प्रधानता स्वीकृत हुई है।

अर्हं--बीजमन्त्र त्रिकोणयन्त्र का प्रतीक :

हमने ऊपर बतलाया है कि अ-सूर्य, र-अग्नि और ह-सोम का प्रतीक है। ये तीनों वर्ण मूलतः बिन्दु के ही रूप हैं। ये ही मूलाधार-सूर्य, अनाहत-अग्नि और सहस्रार-सोम के रूप में व्याप्त हैं। 'शक्तागम' के अनुसार ये तीनों ही बिन्दु साम्य, वैषम्य तथा स्थैर्य के कारण अथवा इच्छा, ज्ञान तथा क्रियाभाव के कारण परस्पर मिलकर त्रिकोण बनते हैं। यह त्रिकोण ही सब यन्त्रों का मूल है जैसा कि हमने अपनी 'यन्त्र शक्ति' में कहा है—

> **सर्वस्या अस्ति यन्त्राकृतिमतिविततैर्यन्त्रराजो निधानं,**
> **यद् बिन्दोः सूक्ष्मरूपा रुचि-मति-कृतिमद्‌बिन्दवः सृष्टिमाप्ताः।**
> **एकैकस्य प्रगत्या मिलितुमथ मिथो रेखया वर्धमानाः,**
> **प्राप्तास्ते यन्त्रभावं तदिह विजयते बीजरूपं त्रिकोणम्॥**

'भुवनेश्वरी क्रम चन्द्रिका' में कहा गया है कि 'जिस प्रकार जीव के लिये देह आवश्यक है, तेल के लिए दीपपात्र आवश्यक है उसीप्रकार उपासना के लिये यन्त्र आवश्यक है। इस दृष्टि से समस्त यन्त्राकृतियों का मूल 'अर्हं' बीजमन्त्र में स्थित है। इसी रहस्य को ध्यान में रखकर पूर्वाचार्यों ने प्रत्येक मन्त्र में इस बीज को स्थान दिया है।

इसी प्रकार योगदृष्टि से विचार करने पर कुण्डलिनी बीज हकार और 'अरहम्' के वर्णों द्वारा बनने-वाले कुण्डलिनी के आकार का विवेचन भी किया जा सकता है। शास्त्रकारों ने ऐसे बीजों की व्याख्या विभिन्न-रूप से समझाई है, गुरु परम्परा से जानकर उपासना करनी चाहिये।

१—भास्कर राय मखी ने 'वरिवस्यारहस्य' में 'रविरकारचैतन्यं'' कहकर अ वर्ण को सूर्य बतलाया है।

२—श्री भास्कर राय ने—एतत् पिण्डवितयं विसर्गसंज्ञं हकारचैतन्यम्' कहा है।

जैन ज्योतिष जगत में अष्टांग महानिमित्तज्ञान का स्थान

❖ ❖

❖ ब्र० श्री धर्मचन्द्रजी जैन, शास्त्री

[संघस्थ]

मनुष्य में सोचने समझने की योग्यता है उसके फलस्वरूप उसे अपने विषय की चिन्ता ने अनादि काल से सताया है। वर्तमान की चिन्ताओं के अतिरिक्त उसे इस बात की बड़ी जिज्ञासा रही है कि भविष्य में उसका क्या होने वाला है आने वाले कल की बात आज जान लेने के लिये वह इतना आतुर हुआ है कि उसका नाना प्रकार के आधारों से भविष्य का अनुमान करना स्वभाविक ही है।

भारतवर्ष का ज्योतिष–शास्त्र भी बहुत प्राचीन है, संस्कृत तथा प्राकृत में इस विषय के अनेकों ग्रन्थ पाये जाते है। ज्योतिष शास्त्र के मुख्य भेद है गणित और फलित। गणित ज्योतिष विज्ञानात्मक है जिसके द्वारा ग्रहो की गति और स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर काल गणना मे उसका उपयोग किया जाता है। ग्रहों की स्थिति व गति पर से जो शुभ अशुभ फल का निरूपण किया जाता है उसे फलित ज्योतिष कहते है।

फलित, ज्योतिष का एक अग है अष्टागनिमित्त। इसमे शरीर के तिल, मसा आदि व्यजनों, हाथ पैर आदि अगों, ध्वनियों व स्वरों, भूमि के रंग रूप, वस्त्र शस्त्रादिक के छिद्रों, ग्रह-नक्षत्रो के उदय, अस्त, शख, चक्र, कलश आदि लक्षणों तथा स्वप्न मे देखी गई वस्तुओं व घटनाओं का विचार कर शुभाशुभरूप भविष्य फल कहा जाता है।

जैन परम्परा के अनुसार ज्ञात होता है कि आज से लाखों वर्ष पूर्व कर्मभूमि के प्रारम्भ में प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति के समय मे, जब मनुष्यो को सर्व प्रथम सूर्य और चन्द्रमा दिखलायी पडे तो वे इनसे सशंकित हुए और अपनी उत्कण्ठा शान्त करने के लिये प्रतिश्रुति नामक कुलकर मनु के पास गए। मनु ने ही सौर जगत सम्बन्धी सारी जानकारी बतलाई और ये ही सौर जगत की ज्ञातव्य बाते ज्योतिष-शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुई। आगमिक परम्परा अनवच्छिन्न रूप से अनादि होने पर

भी इस युग में ज्योतिष शास्त्र की नींव का इतिहास यहीं से आरम्भ होता है। सौर जगत के सिद्धांतों के आधार पर गणित और फलित ज्योतिष का विकास प्रतिश्रुति मनु के सहस्रों वर्ष के बाद हुआ, तथा ग्रह नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर भावी फलाफलों का निरूपण भी उसी समय से होने लगा।

ज्योतिष के मुख्य तीन भेद :

सिद्धांत, संहिता तथा होरा।

संहिता ग्रन्थों में भूशोधन, दिक्शोधन, शल्योद्वार, मेलापक, गृहोपकरण, गृहप्रवेश, जलाशय निर्माण, मांगलिक कार्यों के मुहूर्त, उल्कापात दृष्टि, ग्रहों के उदयास्त का फल, ग्रहाचार का फल, शकुन विचार, निमित एव ग्रहण फल आदि बातों का विचार किया जाता है।

'होरा' इसकी उत्पत्ति, अहोरात्र शब्द से है, आदि अक्षर 'अ' और अन्तिम अक्षर 'त्र' का लोप कर देने से होरा शब्द बन जाता है। 'होरा' शास्त्र में जन्म कालीन ग्रहों की स्थिति के अनुसार व्यक्ति के लिए फलाफल का निरूपण, जातक की उत्पति के समय नक्षत्र, तिथि, योग, करण आदि का फल, ग्रहों के व राशियों के वर्ण, स्वभाव, गुण, आकार-प्रकार आदि बातो का प्रतिपादन बड़ी सफलतापूर्वक किया गया है। जन्मकुण्डली का फलादेश कहना तो इस शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। इसमे परस्पर तात्कालिक साहचार्यादि सम्बन्ध से फल विशेष शुभाशुभ रूप में परिणत हो जाता है, जिसका प्रभाव पृथ्वी स्थित प्राणियों पर भी पूर्ण रूप से पडता है। इस शास्त्र मे देह, पराक्रम, सुख, सुत, शत्रु, कलत्र, मृत्यु, भाग्य, राज्य, पद, लाभ और व्यय इन बारह भावों का वर्णन रहता है। जन्म-नक्षत्र और जन्म-लग्न पर से फलादेश का वर्णन होरा शास्त्र में पाया जाता है।

जैन ज्योतिष का विकास :

जैनागम की दृष्टि से ज्योतिषशास्त्र का विकास विद्यानुवाद और परिकर्मों से हुआ है। समस्त 'गणित सिद्धांत' ज्योतिष परिकर्मों में अंकित है। अष्टांग महानिमित्त का विवेचन विद्यानुवाद मे किया गया है। जैन समाज का मुख्य सिद्धातग्रन्थ षट्खण्डागम धवल टीका में रौद्र, श्वेत, मैत्र दैत्य, वैरोचन, वैश्वदेव, अभिजित, रोहण, बल विजय, नैऋत्य वरुण, अर्यमान और भाग्य ये पन्द्रह मुहूर्त आये है। मुहूर्तों की नामावली वीरसेन स्वामी की अपनी नहीं है, किन्तु पूर्व परम्परा से आगत श्लोकों को उन्होंने उद्धृत किया है। अतः मुहूर्त चर्चा प्राचीन है।

नक्षत्र वर्णन प्रणाली का संहिता-शास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है। कहा भी है कि धनिष्ठा, उत्तराभाद्रपद, अश्वनी, कृतिका, मृगशिरा, पुष्य, मधा, उत्तराफाल्गुनी, चित्रा, विशाखा, मूल एव उत्तराषाढा ये नक्षत्र कुल संज्ञक, श्रवण, पूर्वाभाद्रपद, रेवती, भरणी, रोहणी, पुनर्वसु, आश्लेषा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, स्वाति, ज्येष्ठा एवं पूर्वाषाढा ये नक्षत्र उपकुल संज्ञक और अभिजित्, शतभिषा, आर्द्रा एव अनुराधा कुलोपकुल संज्ञक हैं। कुलोपकुल का विभाजन पूर्णमासी को होने वाले नक्षत्रों के आधार पर किया गया है। श्रवण मास के धनिष्ठा श्रवण और अभिजित, भाद्रपद मास के उत्तराभाद्रपद पूर्वाभाद्रपद और शतभिषा, आसौज मास के अश्वनी और रेवती, कार्तिक मास के कृतिका और भरणी, मार्गशीर्ष के मृगशिरा और रोहिणी, पौष मास के पुष्य और पुनर्वसु और आर्द्रा, माघ मास के मघा और आश्लेशा, फाल्गुनी मास के उत्तराफाल्गुनी, चैत्र मास के चित्रा और हस्त, वैशाख मास के विशाखा और स्वाति, ज्येष्ठ मास के ज्येष्ठा, मूल और अनुराधा एवं आषाढ़ मास के उत्तराषाढा और पूर्वाषाढा नक्षत्र बताये गये हैं। प्रत्येक मास की पूर्णमासी को उस मास का प्रथम नक्षत्र कुल संज्ञक, दूसरा उपकुल संज्ञक और तीसरा कुलोपकुल संज्ञक होता है।

सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिषकरण्डक अंगविज्जा, गणितसार संग्रह, लोकविजय, केवलज्ञान होरा, ज्योतिष प्रकाश, रिष्ट समुच्चय, जातक तिलक, केवलज्ञान प्रश्नचूणामणि, भद्रबाहु संहिता, मेघ महोदधि, मानसागरी, सामुद्रिक शास्त्र, करलक्खण आदि जैन ज्योतिष के सैकड़ों ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

जैनाचार्यों ने ज्योतिष को दो भागों में विभक्त किया है। एक गणित–सिद्धान्त तथा दूसरा फलित–सिद्धांत। गणित भाग में ग्रहों की गति, स्थिति, वक्री, मार्गी, फल, व्यास, परिधि, आदि का प्रतिपादन किया है, साथ ही आकाशमंडल में विकीर्णित तारिकाओं का ग्रहों के साथ कब कैसा सम्बन्ध होता है इसका ज्ञान गणित प्रक्रिया से ही संभव है। आचार्यों ने ज्योतिर्लोकाधिकार नामक एक अधिकार पृथक् देकर ज्योतिषी देवों के रूप, रंग आकृति भ्रमणमार्ग आदि का विवेचन किया है, यों तो बीजगणित, रेखागणित, प्रतिभागणित, पंचांग निर्माणगणित, जन्मपत्री निर्माण गणित, ग्रहयुति उदयास्त सम्बन्धी गणित आदि का निरूपण किया है। फलित सिद्धान्त में तिथि, नक्षत्र, योग, करण, वार, ग्रहयोग जातक के जन्मकालीन ग्रहों का फल, मुहूर्त, समय शुद्धि आदि विषयों का परिज्ञान करने के लिये वर्ष प्रबोध, लग्नविचार और ज्योतिष रत्नाकर आदि ग्रन्थों की रचना आचार्यों ने की। फलित विषय के विस्तार मे अष्टांगनिमित्त ज्ञान भी शामिल है। निमित्तज्ञान संहिता विषय के अन्तर्गत आता है। प्रश्नशास्त्र और सामुद्रिक शास्त्र का समावेश भी संहिता शास्त्र में किया है।

अष्टांग निमित्त :

जिन लक्षणों को देखकर भूत और भविष्य मे घटित हुई और होने वाली घटनाओं का निरूपण किया जाता है। कारक और सूचक वस्तु को सम्पन्न कराने में सहायक होते हैं उसे कारक निमित्तक कहते है, दूसरा है सूचक निमित्त जिससे कार्य की सूचना मिलती है। ज्योतिषशास्त्र मे सूचक निमित्तों की विशेषताओं पर विचार किया गया है, तथा प्रतिपाद्य विषय सूचक निमित्त ही हैं। प्रत्येक घटना के घटित होने के पहले प्रकृति में विकार उत्पन्न होता है। ग्रह कर्मफल के अभिव्यञ्जक हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि आठकर्म तथा मोहनीय के दर्शन और चारित्रमोह के भेदो के कारण कर्मों के प्रधान ८ भेद आगम में बताये गये है। नव ग्रह इन्हीं कर्मों के फलों की सूचना देते है। ग्रहों के आधार पर व्यक्ति के बन्ध उदय और सत्त्व की कर्मप्रवृत्तियो का विवेचन भी किया जा सकता है। किसी भी जातक के जन्मकुण्डली की ग्रह स्थिति के साथ गोचर ग्रह की स्थिति समन्वयकर उक्त बाते सहज कही जा सकती हैं। अतः अभिचारी सूचक तिथियों का विवेचन किया गया है। इन्हीं सूचक निमित्तों के संहिता ग्रन्थो में आठ भेद किये गये हैं—व्यंजन, अंग, स्वर, भौम, छिन्न, अंतरिक्ष लक्षण एवं स्वप्न।

व्यंजन निमित्त :

तिल, मस्सा आदि देखकर शुभाशुभ का निरूपण करना व्यंजन निमित्तज्ञान हैं। सामान्य पुरुष के शरीर में दाहिनी ओर तिल, मस्सा, लहसुन शुभ समझा जाता है और स्त्री के शरीर में इन्हीं व्यञ्जनों का बांई ओर होना शुभ माना जाता है। पुरुष की हथेली में तिल होने से उसके भाग्य की वृद्धि होती है और पदतल में होने से राज्य मान्यता प्राप्त होती है। पितृरेखा पर तिल होने से विष द्वारा कष्ट है, वाम पार्श्व या भौहें में तिल के होने से कार्य नाश और आशाएं समाप्त हो जाती हैं, नेत्र के कोने में तिल होने से व्यक्ति शास्त्र विनीत होता है, गले में तिल का रहना दुःख का सूचक है, कान पर तिल होने से यश तथा भाग्य की वृद्धि होती है। नितम्ब में तिल होने से अधिक सन्तान प्राप्त होती है, दाहिनी जांघ का तिल धनी होने का सूचक है, बायी जांघ पर तिल दरिद्र और रोगी होने की सूचना देता है। दाहिने पैर में तिल होने से मनुष्य ज्ञानी होता है तथा अपने जीवन काल में व्रती जीवन व्यतीत करता है। दाहिनी बाहु में तिल होने से दृढ़ शरीर, धैर्यशाली एवं बांयी बाहु में तिल होने से व्यक्ति कठोर प्रकृति वाला क्रोधी और विश्वास घातक होता है।

यदि नारियों के बायें कान, कपोल, कण्ठ, हाथ में तिल हो तो पुत्रवान होती है, छाती मे तिल होने से बुद्धिमान रहती है हृदय में तिल रहने से सौभाग्यवती होती है। नारी के नाक पर तिल, मसा, चट्टा आदि हों तो उसको वैधव्य जीवन व्यतीत करना पड़ता है। पीठ में तिल आदि का चिन्ह सुलक्षणा, पति परायण, सौभाग्यदायिनी होता है। बांयी भुजा में रहने से स्वेच्छाचारिणी असत्य भाषिणी होती है। नाभि के बांये भाग मे तिल रहने से चंचलता और नाभि के दाहिने-भाग में तिल होने से सुलक्षणा होती हैं।

तिल ३ रग के होते हैं। लाल रंग के उत्तम फल वाले, काले रंग के मध्यम फल वाले और नीले रंग के अशुभ फल वाले होते हैं। मस्सों चिन्हों और लहसुनों का शुभाशुभ फल भी तिलों के समान ही समझना चाहिए। निमित्त शास्त्र मे व्यंजनों का विचार विस्तारपूर्वक किया गया है।

अंगनिमित्त ज्ञान :

हाथ, पांव, ललाट, मस्तक और वक्षस्थल आदि शरीर के अंगों को देखकर शुभाशुभ फल का निरूपण करना अग निमित्त हैं। नासिका, नेत्र, दन्त, ललाट, मस्तक तथा वक्षस्थल मे छह अवयव उन्नत होने से मनुष्य सुलक्षणी होता है। करतल, पदतल, नयनप्रान्त, नख, तालु, अधर, ओष्ठ और जिव्हा, ये सात अंग लाल हो तो शुभप्रद हैं। जिसकी भुजाएं लम्बी होती हैं वह व्यक्ति श्रेष्ठ होता है। जिसका हृदय विस्तीर्ण है वह धन-धान्य से युक्त तथा पूजनीय होता है। जिस व्यक्ति का नयन प्रान्त लाल होता है वह अतुल धन-धान्य का स्वामी होता है। जिसकी हथेली चिकनी और मुलायम हो वह ऐश्वर्य का भोग करता है। जिसके पैर का तलवा लाल हो वह सवारी आदि का उपभोग सदा करता है। पैर के तलवो का चिकना होना शुभ माना गया है, जिस मानव की जिव्हा इतनी लम्बी हो जो नाक का अग्रभाग स्पर्श कर ले तो वह योगी या सन्यासी जीवन व्यतीत करेगा जिसके दात विरल हो उसको अन्य दूसरे व्यक्ति का धन प्राप्त होता है। ओठों पर विचार करते हुए आचार्यों ने कहा है कि भोंडे ओठवाला व्यक्ति मूर्ख जड़-बुद्धि वाला होता है तथा आर्थिकरूप से कष्ट पाता है। पतले ओठ वाला धनी तो होता है, किन्तु कंजूसी स्वभाव का होता है। सरस, सुन्दर और आभायुक्त पतले ओठ होने पर धनी सुखी और सर्व प्रिय होता है। रुक्ष ओठ अजीर्ण, ज्वर रोग एवं दारिद्रय को प्रगट करते है। दातो के सम्बन्ध मे बतलाया गया है कि चमकीले दांतवाला व्यक्ति कार्यशील और उत्साही होता है, छोटे दांत वाला विचारवान या बुद्धिमान होता है। जिस मुख में ये दात स्वभावतः खुले हों, स्वच्छ हों, आभायुक्त हों तो व्यक्ति शील सौजन्यता तथा नम्रता का गुण अवश्य होता है।

गर्दन के पिछले भाग को पिछला मस्तक तथा अगले भाग को कण्ठ कहते हैं। पिछले मस्तक में सुन्दर गठाव हो तो व्यक्ति का स्वावलम्बन और स्वाभिमान प्रगट होता है, गर्दन सीधी दृढ और भारी होने से व्यक्ति विचारशील, श्रेष्ठ राज कर्मचारी या न्यायाधीश होता है।

मस्तक की बनावट पर ४ बातें मुख्य रूप से निरूपण किया है। वह यह कि नसजाल विस्तार आभा तथा बनावट।

मस्तक के नसजाल से विद्या विचार और प्रतिभा का परिज्ञान होता है, विचारशील मानव के माथे पर सिकुड़न और ग्रन्थियां देखी जाती हैं, रेखा विहीन चिकना मस्तक प्रमाद अज्ञान और लापरवाही का सूचक है।

मस्तक नीचे की ओर चौड़ा और ऊपर की ओर छोटा हो तो वह भक्की होता है नीचे चपटे और चौडे माथे मे विचार तथा कार्यशील कल्पना की कमी रहती है। चौड़ा और ढालू मस्तक चालाक, चतुर एवं पेट के मलीन होते हैं। उन्नत ललाट वाले विद्वान होते हैं, चौकोन मस्तक के उपरी भाग में गोलाई हो तो वह

हठीला और दृढ़ होता है। ऊंचा-सीधा और आभापूर्ण ललाट लेखकों, कवियों, राजनैतिक नेताओं और अर्थशास्त्रियों का होता है। आभा चमक को कहते हैं। आभा के रहने से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। जिसके मस्तक में तेज नहीं वह दुखी रहता है बनावट से विद्या और धार्मिकता के माप का पता चलता है अच्छी सुन्दर बनावट से सुखी सम्पन्न और बेढंगी बनावट से उत्तम गुणों का अभाव होता है।

स्वर निमित्त :

प्राणियों की अचेतन वस्तुओं के शब्द को सुनकर शुभाशुभ का निरूपण करना स्वर निमित्त ज्ञान कहलाता है। इस निमित्त में काक, उल्लू, बिल्ली, कुत्ता आदि के शब्दों का कठोर फल देनेवाला माना गया जैसे उल्लू का दिन में बोलना अशुभ माना जाता है। रात्रि में कठोर शब्द करे तो भय प्राप्ति, अनिष्टसूचक मधुर शब्द करे तो कार्य सिद्धि, सम्मान, लाभ की सूचना समझना चाहिए। हाथी, मोर, बिल्ली, गाय, भैंस, श्रृगाल आदि के स्वर का भी फल भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। अचेतन पदार्थों की आवाज आना जैसे चिरिचिरि चिलि चिलि कीतु कीतु चच आदि का भी फल आगम ज्योतिष ग्रन्थों मे पाया जाता है।

भौम निमित्त :

भूमि के रंग चिकनाहट, रूखेपन आदि के द्वारा शुभ-अशुभ का ज्ञान करना भौम निमित्त कहलाता है। इस ज्ञान से देवालय निर्माण, जलाशय स्थल, गृहनिर्माण आदि योग्य भूमि की जानकारी मिलती है। भूमि के रुक्ष, रस, गंध और स्पर्श द्वारा इसकी शुभ-अशुभ की सूचना मिलती है।

जैसे जिस स्थान की मिट्टी पीतवर्ण की हो तथा उसमें से मधु जैसी गंध निकलती हो तो वहां जल निकलता है, नीले रंग की मिट्टी हो तो नीचे खारा पानी, कपोत रंग की मिट्टी भी खारे जल के स्रोत की सूचना देती है। पीतवर्णी दूध के समान गंध वाली मिट्टी मीठे जल की सूचना देती है, परन्तु एक बात का ध्यान अवश्य होना चाहिये कि मिट्टी चिकनी हो रूक्ष मिट्टी मे जल का अभाव होता है। धूम्र वर्ण की मिट्टी गहराई पर जल मिलने की सम्भावना की द्योतक है।

इसी प्रकार गृह निर्माण तथा जिनालय के निर्माण सम्बन्धी शुभ-अशुभ फल की सूचना अनेकों ग्रन्थों से हम जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। प्रतिष्ठा संबंधी ग्रन्थों में जमीन आदि के गुणों का वर्णन मिलता है।

छिन्न निमित्त :

कपड़ा, आसन, शस्त्र आदि को छिदा हुआ देखकर उसके फल का निरूपण करना छिन्न निमित्त है। जैसे नये वस्त्र में स्याही, गोबर, कीचड़, तेल, घी लग जावे या वस्त्र जल जाय, फट जाय, कट जाय तो इसके भी शुभाशुभ फलका ज्ञान करना चाहिए। जैसे नया वस्त्र पहिनते ही फट जाये तो समझना चाहिये वस्त्र के स्वामी को असाध्य बिमारी होती है या मृत्यु होती है। वस्त्र के जलते समय वस्त्र में मेंढ़क, उल्लू, काक, गधा, ऊंट, सर्प आदि के आकार का होना धन विनाश का सूचक है, अपमान तथा तिरस्कार की भी सूचना देता है तथा छत्र, ध्वज, स्वस्तिक, कलश, तोरण आदि के चिन्ह बनने से लक्ष्मी की वृद्धि सम्मान तथा सभी प्रकार के अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है। इसका विशेष खुलासा ज्योतिष ग्रन्थों से देख सकते हैं। सिर के ऊपर के भाग, टोपी, पगडी जल जाने का फल अति ही उत्कृष्ट कष्टदायक फल मिलता है। रविवार, मंगलवार, शनिवार को वस्त्र कटने, जलने या फटने से कष्ट का सामना करना पड़ता है।

अन्तरिक्ष निमित्त :

ग्रह नक्षत्रों के उदयास्त का निरूपण करना अन्तरिक्ष निमित्त है। शुक्र, बुध, मंगल, गुरु और शनि इन पांच ग्रहों के उदयास्त द्वारा ही शुभाशुभ का निरूपण किया गया है या उदय अस्त के समय इसकी आकृति आदि के द्वारा शुभ-अशुभ फल का निरूपण किया जाता है। यतः सूर्य और चन्द्रमा का उदयास्त प्रतिदिन होता है अतः उन ग्रहो मे इसकी आवश्यकता नहीं रहती। तथापि सूर्य उदय अस्त के समय के रंगों को देखकर उसकी प्ररूपणा को गई है या उदय अस्त के समय इसको आकृति आदि के द्वारा शुभ-अशुभ की सूचना मिलती रहती है। ग्रहों के अस्तोदय के समय मार्गी वक्री का विचार करना चाहिये। ग्रहों की विभिन्न जातियों के अनुसार शुभाशुभ फल का निरूपण करना। अन्तरिक्ष निमित्त का कार्य है।

लक्षण निमित्त :

स्वस्तिक, कलश, शंख, चक्र, पद्म, मछली हल, ध्वजा, मन्दिर, सूर्य, चन्द्रमा, धनुष, हाथी, घोड़ा, लक्ष्मी, वीणा, माला, त्रिशूल, कमडलु, सिंहासन, कल्पवृक्ष, सरोवर, कच्छप शीशा, तोरण, त्रिकोण, षट्कोण आदि चिन्हों के द्वारा हस्त, पैर, मस्तक की रेखाओं द्वारा शुभाशुभ का निरूपण करना लक्षण निमित्त है। पावइ लाहालाहं सुह दुक्ख जीवविरु च मरण च रेहाहि जीवलोए पुरुसो विजय जयं च तहा। कि मनुष्य लाभ-हानि, सुख-दुःख, जीवन-मरण, जय-पराजय, स्वास्थ्य एव अस्वास्थ्य, रेखाओं के बल से प्राप्त करता है। इस प्रकार लक्षण निमित्त सम्बन्धी ग्रन्थों का अवलोकन करके उसके फलादेश को जानना चाहिए।

स्वप्न निमित्त :

स्वप्न के द्वारा शुभाशुभ का निरूपण करना भी निमित्त ज्ञान का अंग है दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, प्रार्थित, कल्पित, भाविक और दोषज इन सात प्रकार के स्वप्नों में से भाविक स्वप्न का फल यथार्थ निकलता है। स्वप्नो के द्वारा आगामी शुभाशुभ की सूचना मिल जाती है। यह स्वप्न निमित्त है।

निमित्तज्ञान से संबंधित प्रश्न :

प्रश्नशास्त्र निमित्तज्ञान का ही एक अंग है। इसमें धातु, मूल, जीव, नष्ट, मुष्टि, लाभ, हानि, रोग, मृत्यु, भोजन, शयन, नदियों की बाढ़, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, फसल, जय, पराजय, लाभालाभ, विवाह, सन्तान, यश एवं जीवन के विभिन्न आवश्यक प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। जैनाचार्यों ने अनेकों ग्रन्थ लिखे हैं, जिसमें मुख्य केवलज्ञान प्रश्न चूणामणि केवलप्रश्नावलि आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ज्ञान दीपिका में कहा है।

भूत-भविष्य-वर्तमान के शुभाशुभ दृष्टि, पांच मार्ग चार केन्द्र, बलाबल, आसन, छत्र, वर्ण, उदयबल, अस्तबल, क्षेत्र, नर, नारी, नपुंसक, वर्ण, मृग, तथा मनुष्यादिक के रूप, किरण, योजना, आयु, रस एवं उदय आदि की परीक्षा करके फल का निरूपण करना चाहिये। प्रश्न निमित्त का विचार तीन प्रकार से ज्योतिष ग्रन्थों में किया गया है। प्रश्नाक्षर, प्रश्नलग्न और स्वर विज्ञान। प्रश्नाक्षर का आधार मनोविज्ञान है। अतः बावन और अभयन्तारिक दोनों प्रकार की विभिन्न परिस्थितियों के आधीन मानव मन की भीतरी तह में जैसी-जैसी भावनायें छिपी रहती हैं वैसे ही प्रश्नाक्षर निकलते हैं। अतः प्रश्नाक्षरों के निमित्त को लेकर फलादेश का विचार किया गया है। इस प्रकार अष्टांगनिमित्त का विचार हमारे देश में प्राचीन काल से होता आ रहा है।

निमित्तज्ञान के द्वारा वर्षण, अवर्षण, सुभिक्ष, सुख, लाभ, हानि, जय, पराजय आदि का पता लगाकर व्यक्ति अपने लौकिक और पारलौकिक जीवन में सफलता प्राप्त कर सकता है। निमित्तज्ञान का विशेष वर्णन भद्रबाहुसंहिता नामक ग्रन्थ में आचार्य भद्रबाहुजी ने किया है।

प्रतिमा और पंचकल्याणक प्रतिष्ठा

❖ प्रतिष्ठाचार्य पं० नाथूलाल जैन, शास्त्री

[इन्दौर]

गृहस्थ को आत्म कल्याण के लिये पंच-परमेष्ठी की स्तुति एवं पूजा प्रतिदिन करना चाहिये। देवपूजा, गुरुपास्ति स्वाध्याय, सयम, तप, और दान इन षट्कर्मों के आलम्बन नव देवता हैं।

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्व साधु, जिनागम, जिनधर्म, जिनमन्दिर और जिनप्रतिमा ये नव देवता है। प्रातः अपनी उपासना में श्रावक इनकी आराधना करके वीतरागता और मानवता की शिक्षा ग्रहण करता है, जो इसके आध्यात्मिक और व्यवहारिक जीवन में उपयोगी है।

उक्त नव देवों में वर्तमान में जहां हम निवास करते हैं उस क्षेत्र में अरहंत एवं सिद्ध परमात्मा विराजमान नही हैं। अन्तिम तीन परमेष्ठी के दर्शन होते हैं, किन्तु उनकी प्रतिदिन अभिषेक एवं पूजा का हम अपने यहां लाभ नही उठा सकते। उनका अभिषेक किया भी नही जाता। जिनमन्दिर, जिनागम और जिनधर्म का भी अभिषेक नही होता। सिर्फ जिनमन्दिर की प्रतिष्ठा के समय दर्पण में उनके प्रतिबिम्ब का मंत्र पूर्वक अभिषेक होता है। अब सिर्फ जिन प्रतिमा ही ऐसी है जिसका अभिषेक पूर्वक पूजन प्रतिदिन नियमित किया जा सकता है और उसके द्वारा हम पंच परमेष्ठी की पूजा कर सकते हैं। वह किसी भी तीर्थंकर की हो, वीतरागता का आदर्श होने से उनके माध्यम से सभी परमेष्ठियो की पूजा की जा सकती है। श्रावक के प्रतिदिन के कर्त्तव्य में देव शास्त्र गुरुपूजा, चौबीस तीर्थंकर पूजा, बीस विद्यमान विदेह-क्षेत्रवर्ती तीर्थंकर पूजा, सिद्धपूजा, जिनालय, सिद्धक्षेत्र, नन्दीश्वर, दशलक्षण एवं रत्नत्रयधर्म आदि की अष्टद्रव्य पूजा व अर्घ हम चढ़ाते ही हैं। इतना लिखने का अभिप्राय यह है कि इनमें प्रतिमा ही प्रमुख आलंबन है जिसमें हम पंच परमेष्ठी की स्थापना कर पूजा करते हैं। उनमें अर्हन्त प्रतिमा की स्थापना मुख्य है। सिद्धप्रतिमा में अष्ट प्रातिहार्य और चिह्न नही होते जबकि अर्हन्त प्रतिमा में होते हैं। हम जो जिनेन्द्र वेदी में पोल आकार की सिद्ध प्रतिमा देखते हैं वह प्रतिष्ठा शास्त्रोक्त नहीं है। अर्हंत प्रतिमा के समान सांगोपांग प्रातिहार्य रहित एवं बिना चिह्न की प्रतिमा सिद्ध प्रतिमा होती है।

आचार्य वसुनन्दि, जयसेन और आशाधर प्रतिष्ठापाठों में प्रतिमा लक्षण और माप प्रायः समान है। श्रीवत्स से भूषित उदरस्थल, तरुणांग, दिगम्बर, नख-केश रहित, कायोत्सर्ग या पद्मासन, नासाग्रदृष्टि सुन्दर संस्थान वाली प्रतिमा होना चाहिये। खड्गासन प्रतिमा १०८ अंगुल (भाग) प्रमाण हो जो नव स्थानों में विभाजित हो।

यहां अंगुल द्वादशांगुल या ताल माना जाता है। १०८ अंगुल में १२ अंगुल मूल, ४ अंगुल ग्रीवा, ग्रीवा से हृदय १२ अगुल, हृदय से नाभि १२ अगुल, नाभि से लिंग १२ अंगुल रहना चाहिये। लिंग से गोड़ा २४ अंगुल, गोड़ा ४ अगुल, गोडा से गुल्फ २४ अंगुल, गुल्फ से पगथली ४ अंगुल हो।

पद्मासन से आधा हिस्सा ऊंचाई रहती है। इसमें एक घुटने से दूसरा घुटना बांये घुटने से बांये कन्धे तक, बांये घुटने से दाये कन्धे तक और पादपीठी से केशांत तक इस प्रकार चतुर सुमाप होता है। अभयनदि तथा यशस्तिलक चम्पूकार आचार्य सोमदेव तथा नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती रचित त्रिलोकसार के अनुसार १० ताल की प्रतिमा भी जिनेन्द्र प्रतिमा बताई है। इस दृष्टि से १२० भाग होते हैं।

इसी प्रसग में यह संकेत करना आवश्यक है कि मन्दिर की वेदी मे प्रतिमा विराजमान करते समय मन्दिर के सामने द्वार को ऊँचाई का ख्याल रखा जावे। द्वार की ऊँचाई के ८ भाग करे। ऊपर का ८ वां भाग छोड़कर ७ वे भाग में प्रतिमा की दृष्टि होना चाहिये। अथवा उक्त ७ वें भाग के ८ भागों में से ५-३-१ वें भाग में दृष्टि रहे। यह स्थूल रूप से बताया गया है। इससे विशेष ज्ञातव्य यह है कि द्वार के=९ भाग करे। नीचे के ६ भाग और ऊपर के २ भाग छोड़ दे। शेष ७ वे भाग के भी ९ भाग करे इसी के ७ वे भाग में वीतराग जिन प्रतिमा की दृष्टि होना चाहिये।

निजगृह के चैत्यालय में [जो घर से बिल्कुल मिला हुआ हो] पाषाण की प्रतिमा न रखें। मंदिर मे भी वेदी से बाहर अभिषेक व शान्तिधारा तथा जुलूस हेतु सर्वधातु प्रतिमा ही रखी जावे। अभिषेक वीतराग प्रतिमा (पंचपरमेष्ठी) का किया जाता है। अतः जन्म कल्याणक मानकर या जन्माभिषेक मंगल बोलकर नहीं करना चाहिये। अर्हत्सिद्ध प्रतिमा जो दिगम्बर रूप में है उसी का मंत्र [दूरावनम् आदि व कार्य प्रवन्ध आदि मंत्र] बोलकर करना उचित है। अभिषेक के पवित्र जल शिर आदि ऊचे भाग में ही लगाना विनय है।

आजकल जिन प्रतिमा की पंच कल्याणक प्रतिष्ठा नहीं होने का प्रचार कर बिना प्रतिष्ठा का, अन्य स्टेच्यु की भांति अनावरण कराने की चर्चा समाचार पत्रो में चलाई जा रही है तथा अष्ट द्रव्य पूजा भी जैन धर्मानुकूल नहीं बताई जा रही है। ऐसे विचार वाले बन्धुओं को विचार करना होगा कि बिना विधि व बिना मंत्र संस्कार के प्रतिमा में पूज्यता नहीं आ सकती। जैसे फोटो व स्टेच्यू जो कि कागज प्लास्टिक या पाषाण के होते हैं उनमें पूज्य बुद्धि नहीं होती, उसी प्रकार अप्रतिष्ठित प्रतिमा में पूज्यता लाये बिना उसकी पूजा अनिष्ट कारक होती है। जिस प्रकार मर्यादित और शुद्ध भोजन ध्यान के लिये उपयोगी होता है उसी प्रकार पाषाण या धातु से शास्त्रोक्त नियमानुसार सांगोपांग तैयार की गई मूर्ति का महत्व है। वीतराग मूर्ति को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धता पूर्वक निर्माण कराने वाले व्यक्ति को सदाचारी होना आवश्यक है। चाहे जैसी मूर्ति वीतरागता का आदर्श नहीं हो सकती। मूर्ति के अंगोपांग निर्माण में न्यूनता का परिणाम अच्छा नहीं होता। प्रतिमा के प्रत्येक अंग की न्यूनता के अलग-अलग दुष्फल बताये गये हैं।

सूत्र [धागा] सरसों, सुपारी, जल, कील आदि अचेतन पदार्थों को मंत्रित कर उनका उपयोग करने से उनके रोग और विपत्तियां दूर होती देखी गई हैं। बिच्छू, सर्प आदि का विष मंत्र से दूर हो जाता है। शरीर के बायुगोला, सिरदर्द आदि मंत्र से ठीक हो जाते हैं। उसी प्रकार अचेतन पाषाण या धातु की मूर्तियों में मन्त्र संस्कार से आकर्षण और चमत्कार उत्पन्न होता है।

शिशु के जन्म के पूर्व माता का गर्भाधान संस्कार, सीमन्त संस्कार तथा जन्म लेने पर बालक के जन्म एवं विवाह आदि संस्कार किये जाते हैं जिनका बालकों के जीवन पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। सत्संस्कार सम्पन्न व्यक्तियो की विशेषता का दिग्दर्शन महापुराण आदि ग्रन्थो मे भरतेश्वर आदि के उदाहरणों द्वारा कराया गया है। प्रतिष्ठा शास्त्र मे लिखा है—

जहां पंच कल्याणक मंत्रों से अतदगुण मे गुणस्थापनारूप आरोप का विधान कर सर्वज्ञता की स्थापना की जाती है, वहां उस क्रिया के अनुष्ठान से स्थापना निक्षेप द्वारा उसका वैसा ही ज्ञान होता है। स्थापना निक्षेप द्वारा मूर्ति में पंचकल्याणक मंत्रों से गुण स्थापन और सर्वज्ञता का आरोप करने से वह मूर्ति वीतराग और सर्वज्ञ तीर्थंकर की कहलाती है। प्राणप्रतिष्ठा के मंत्र से वह अचेतन से सचेतन मानी जाती है। इससे आगे के पद्य में आचार्य श्री ने लिखा है कि स्थापनाग प्रधान नाम निक्षेप द्वारा भावारोप के कारण वह भव्यों द्वारा मान्य होकर पूजा स्तोत्र के योग्य होती है। उस मूर्ति में यदि ऋषभदेव की स्थापना मंत्रों द्वारा की गयी है तो वह ऋषभदेव की कहलाती है। बिना प्रतिष्ठा वह पाषाण के समान है। आचार्य वसुनंदि ने स्थापना पूजा मे जिनेन्द्र गुणारोपण गाथा ४१८ के स्पष्टीकरण में पर्व ६६ मे अनेक श्लोकों मे लिखा है कि अर्हंत प्रतिमा मे पंचकल्याणक, अष्ट प्रातिहार्य, अनन्त दर्शनादिगुणारोपण करे। इनके लिये प्रतिमा के प्रत्येक अग मे मत्रन्यास ४८ संस्कार स्थापन नेत्रोन्मीलन, श्री मुखोद्‌घाटन, सूरिमंत्र, प्राणप्रतिष्ठा आदि मंत्रों के द्वारा गर्भ से लेकर केवलज्ञान तक संस्कार होते हैं। जो बाह्यक्रिया में दर्शकों को बताई जाती हैं, उन्हें ही पचकल्याणक प्रतिष्ठा का स्वरूप समझ लेना भूल है। इनके अतिरिक्त अन्तरंगक्रिया में मंत्र संस्कार हेतु की जाती है। गर्भ, जन्म कल्याणकों में जो प्रदर्शन होता है वे तीर्थंकरों के जीवन की घटनायें हैं। वे वीतरागता के पूर्व पुण्य वैभव के रूप मे दिखाई जाती हैं। पश्चात् उस वैभव का त्याग होकर वीतरागता का आदर्शग्रहण कराया जाता है। पचकल्याणक प्रतिष्ठा विधि आत्मा से परमात्मा बनने का विधान है। इसमे प्रारम्भ में किस प्रकार आत्मा का क्रमशः उत्थान होकर मुक्ति प्राप्त होती है तथा प्रथमानुयोग आदि चारों अनुयोगों का एक ही जीवन मे किस प्रकार समन्वय होता है यह सब पंचकल्याणकों के माध्यम से दिग्दर्शन कराया जाता है। साथ ही स्वप्न व पूर्व भवों के वर्णन से कर्मसिद्धान्त का भी परिचय दिया जाता है। जिनबिम्ब दर्शन को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का साधन माना गया है। पचकल्याणक व जिनबिम्ब स्थापन को आचार्य जयसेन ने सम्यक्त्व का उत्कृष्ट लाभ बताया है। जय प्रति० पृ० २६।

प्रतिष्ठा या अन्य पूजा विधानों मे हवन [शान्ति यज्ञ] की परम्परा को आजकल कतिपय सज्जन हिंसा कारण बनाकर बन्द करना चाहते है और इसे भी वैदिक धर्म की नकल मानते हैं। सभी प्रतिष्ठापाठों और आदि-पुराण आदि में आचार्यों ने तीर्थंकर कुण्ड, गणधर कुण्ड और सामान्य केवलि कुण्ड की रचना करके ११२ आहूति मंत्र बताये हैं। पूजा में चढ़ाये गये द्रव्य को हवन में क्षेपण का भी उल्लेख मिलता है। मन्दिर में गृहस्थ जब जल पंखा आदि का उपयोग करते हैं, स्नान आदि के लिये भट्टी जलाते हैं और बड़े-बड़े भोज देते हैं तब हवन का निषेध करना आश्चर्य का विषय है। अखण्ड दीपक, बिजली की रोशनी आरती आदि, अग्नि में धूप खेना आदि कार्य भी होते हैं। हवन से अनेक रोग दूर होकर शुद्ध वातावरण बनता है मंत्र जाप के बाद उनसे आहूति देने पर मंत्र की शक्ति बढ़ती है।

इतिहास की दृष्टि से विचार करने पर कलिंग नरेश खारवेल के ईस्वी पूर्व द्वितीयशती के हाथी गुफा वाले शिलालेख से प्रमाणित है कि नन्दवंश के राज्यकाल ईसवी पूर्व चौथी पांचवी शताब्दी में जिन मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की जाती थी। लोहानीपुर से प्राप्त आर्यकालीन जिन प्रतिमा पटना संग्रहालय में सुरक्षित है। सिन्धुघाटी की खुदाई में मोहनजोदड़ो व हड़प्पा से प्राप्त प्रतिमायें श्रमण परम्परा की मानी गई हैं। मथुरा के संग्रहालय से एकत्रित कुषाणकालीन मूर्तियों पर पांचवें से नवे वर्ष तक का उल्लेख है।

इस प्रकार मूर्ति और उनकी प्रतिष्ठा आत्म कल्याण के लिये प्रमुख साधन और वीतरागता की ओर बढ़ने में प्रेरणा प्रदान करती है। मूर्ति के द्वारा हम परमात्मा की उपासना करते हैं।

☸

मूर्ति निर्माण कला तथा पंचकल्याणक

❖ ब्र० श्री धर्मचन्द्रजी जैन, शास्त्री

ज्योतिषाचार्य, प्रतिष्ठाचार्य

[संघस्थ-आचार्य श्री]

जैनदर्शन की मान्यता है कि संसारी जीव अपने कर्म बंधन के कारण देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक इन चार गतियों में भ्रमण करता रहता है। कर्मबंधन से सर्वथा मुक्त होने पर जीवात्मा सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है और लोक के अग्रभाग में जाकर स्थिर हो जाता है, तब उसे संसार में पुन: नहीं आना पड़ता। इन सिद्ध आत्माओं की संख्या अनन्तानन्त है। सभी सिद्ध आत्माएँ मनुष्य योनि से ही सिद्ध अवस्था को प्राप्त करती हैं। तीर्थंकर भी उसी प्रकार सिद्ध अवस्था प्राप्त करते हैं। वे देव जाति के नहीं होते, वे तो देवाधिदेव हैं, क्योंकि मानव शरीर धारण करते हुए भी वे देवताओं द्वारा पूजित होते हैं इसीलिये उन्हे देवाधिदेव कहा गया है।

शास्त्रों के द्वारा अच्छी तरह जाने हुए तीर्थंकरों के प्रति दर्शन पूजनादि आदर रूप व्यवहार करने के लिये अमुक तीर्थंकर हैं ऐसा कह कर जो अपने भावों में प्रकाशित भगवान की प्रतिमा मे स्थापना करना वह प्रतिष्ठा है।

"मुक्त्यावो तत्त्वेन प्रतिष्ठिताया न देवतापास्तु।
स्थाप्येन च मुख्येयं तदधिष्ठानाध मावेन ॥"
"भवति च खलु प्रतिष्ठा निज भावस्यैव देवतोद्देशात्।"

मुक्त होकर लोकान्त जा विराजे हुए देवता स्थाप्य (मूर्ति) में नहीं आ सकते अत: साक्षात् देव की स्थापना तो नहीं है, परन्तु उपचार से देवता के उद्देश्य से निज भावों की ही मूर्ति में प्रतिष्ठा होती है।

कल्याण मन्दिर में आचार्य श्री ने लिखा है—

आत्मामनीषिभिरयं त्वदमेव बुद्धया ।
ध्यातो जिनेश भवतीह भवत्प्रभावः ।।

हे भगवन् ! जब बुद्धिमान् पुरुष निज आत्मा को ध्यान के द्वारा आप से अभिन्न कर लेता है तो उसमें आपका प्रभाव आ जाता है । अस्तु !

अर्हंत्, सिद्ध, साधु और केवली प्रणीत धर्म इन चारों को जैन परम्परा में मंगल और लोकोत्तम माना गया है । साधु ३ प्रकार के होते हैं (१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) सर्व साधु । इन पंच परमेष्ठियों और श्रुत-देवता की पूजा करने का विधान प्राचीन जैन ग्रन्थो मे मिलता है । वसुनन्दि श्रावकाचार मे आचार्य श्री ने लिखा है—

जिणसिद्ध सूरिपाठय साहूणं जं सुयस्स विहिवेण ।
कीरइ विविहा पूजा वियाण तं पूजणविहाण ।।

आचार्य श्री जिनसेन के आदिपुराण में पूजा श्रावक के निरपेक्ष कर्म के रूप में अनुशंसित है ।

पूजा के छह प्रकार बताये गये हैं (१) नामपूजा (२) स्थापनापूजा (३) द्रव्यपूजा (४) क्षेत्रपूजा (५) कालपूजा (६) भावपूजा । इनमें से स्थापना के दो भेद है—सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना । प्रतिष्ठेय की तदाकार सांगोपाग प्रतिमा बनाकर उसकी प्रतिष्ठा करना सद्भाव स्थापना है और शिला, पूर्णकुंभ, अक्षत, रत्न, पुष्प, आसन आदि प्रतिष्ठेय से भिन्न आकार की वस्तुओ में प्रतिष्ठेय का न्यास करना असद्भाव स्थापना है । असद्भाव स्थापना पूजा का जैनाचार्यों ने प्रायः निषेध किया है, क्योंकि वर्तमान काल में लोग कुलिंग मति से मोहित होते हैं और वे असद्भाव स्थापना से अन्यथा कल्पना भी कर सकते हैं ।

संसारी प्राणियों के अभ्यंतर मल को गला कर दूर करनेवाला और आनन्ददत्ता होने के कारण मंगल पूजनीय है । पूजा के समान ही मंगल भी ६ प्रकार का जैनाचार्यों ने बताया है । (१) नाममंगल (२) स्थापना-मंगल (३) द्रव्यमंगल (४) क्षेत्रमंगल (५) कालमंगल (६) भावमंगल । कृत्रिम और अकृत्रिम जिन बिम्बों को स्थापना मंगल माना गया है । जय सेनाचार्य के अनुसार जिनबिम्ब का निर्माण कराना मंगल है ।

जिन प्रतिमा के दर्शन कर चिदानंद का स्मरण होता है अतः जिनबिम्ब का निर्माण कराया जाता है । बिम्ब में जिन भगवान और उनके गुणों की प्रतिष्ठा कर उनकी पूजा की जाती है आगम की मान्यता है कि प्रथम तीर्थंकर भगवान आदिनाथ के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत पर बहत्तर जिन मन्दिरों का निर्माण करवाकर उनमें जिन प्रतिमाओं की स्थापना कराई थी और तब से जैन प्रतिमाओं की स्थापना विधि की परंपरा चल रही है ।

जैन प्रतिमाओं का निर्माण और उसकी स्थापना अति प्राचीन काल से चल रही है इस तथ्य की पुष्टि निश्शंक रूपेण पुरातत्त्वीय प्रमाणों और प्राचीन जैन साहित्य के उल्लेखों से होती है ।

मंदिर निर्माण विधि :

मंदिर कैसे स्थान पर निर्मित होना चाहिये ? इसके समाधान में प्रतिष्ठा पाठ के विशेषज्ञों ने कहा है कि नगर के शुद्ध प्रदेश में, अटवी में, नदी के समीप, पवित्र भूमि में मंदिर बनवाना शुभ कहा है । मनोज्ञ स्थानों पर जिन मंदिरों का निर्माण किया जाना चाहिये ।

जिन मंदिर के लिये भूमि का चयन करते समय अनेक उपयोगी बातों पर विचार करना होता है। जैसे—भूमि शुद्ध हो, रम्य हो, स्निग्ध हो, सुगंध वाली हो, दूर्वा से आच्छादित हो, पोली नहीं हो, वहां कीड़े-मकोड़ों का निवास नहीं हो तथा श्मशान भूमि भी न हो। भूमि का चयन मन्दिर निर्माण विधि का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है। योग्य भूमि पर निर्मित (प्रसाद) मन्दिर ही दीर्घकाल तक स्थित रह सकता है।

विभिन्न ग्रंथकारो ने भूमि परीक्षा के उपाय बताये हैं जैसे—जिस भूमि में मन्दिर निर्मित करने का विचार किया गया हो उस भूमि मे १ हाथ गहरा गड्ढा खोदा जावे और फिर उस गड्ढे को उसी मे से निकाली मिट्टी से पूरा भरा जावे। ऐसा करने पर यदि मिट्टी गड्ढे से अधिक पड़े तो वह भूमि श्रेष्ठ मानी गई है। यदि मिट्टी गड्ढे के बराबर हो तो भूमि मध्यम कोटि की होती है और यदि उतनी मिट्टी से गड्ढा पुनः न पूरा भरे तो वह भूमि अधम जाति की होती है। वहां मंदिर का निर्माण नहीं करना चाहिये। प्रतिष्ठा ग्रंथों तथा वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थो मे मदिर की भूमि शुद्धि आदि का विवरण मिलता है।

प्रतिमा निर्माण विधि :

प्राचीन काल में मन्दिरो में प्रतिष्ठा कराने के लिये प्रतिमाओं का निर्माण किया जाता था। वे दो प्रकार की होती थी, प्रथम चल प्रतिमा द्वितीय अचल प्रतिमा। अचलप्रतिमा अपनी वेदिका पर स्थिर रहती है, किन्तु चल प्रतिमा विशिष्ट-विशिष्ट अवसरों पर मूल वेदी से उठाकर अस्थायी वेदी पर लायी जा सकती हैं। अचल प्रतिमा को ध्रुवबेर और चल प्रतिमा को उत्सवबेर कहा जाता है। इन्हें क्रमशः स्थावर और जंगम प्रतिमा भी कहते है।

वसुनन्दि प्रतिष्ठा पाठ में आचार्य श्री ने मणि, रत्न, स्वर्ण, रजत, पीतल, मुक्ताफल और पाषाण की प्रतिमाएँ निर्मित किये जाने का विधान कहा है। जयसेन आचार्य ने स्फटिक की प्रतिमाएं भी प्रशस्त बतायी है। कुछ आचार्यों ने काष्ठ, दन्त और लोहे की प्रतिमाओं के निर्माण का किसी भी प्रकार से उल्लेख नहीं किया। पाषाण की प्रतिमाएं निर्मित किया जाना सर्वाधिक मान्यता प्राप्त एवं व्यावहारिक रहा है।

प्रतिमा निर्माण के लिये शिला के अन्वेषण और उसके गुण दोषों के विचार के विषय में भी प्राचीन ग्रन्थों में विवेचन मिलता है।

पं० आशाधरजी ने लिखा है कि जब मन्दिर के निर्माण का कार्य पूरा हो जावे अथवा पूरा होने को हो तो प्रतिमा के लिये शिला का अन्वेषण करने शुभ लग्न, मंगल मुहूर्त, शकुन में इष्ट शिल्पी के साथ जाना चाहिये। मूर्ति बनाने वाले चतुर शिल्पी को साथ लेकर पवित्र स्थान में स्थित खान पर जावे, वहाँ पर प्रतिमा के योग्य जो शिला होवे उसकी परीक्षा करने के लिये उसके ऊपर लेप करने के लिये शिल्पशास्त्र में अनेक प्रकार के जो लेप लिखे हैं, उनमें से किसी का लेप करे तो पाषाण के भीतर रहे हुए दोष प्रगट हो जाते हैं जैसे कि—

निर्मल कांजी के साथ बेल वृक्ष की छाल को पीसकर पाषाण या लकडी के ऊपर लेप करने से मंडल प्रगट हो जाता है।

पाषाण या लकड़ी में जो दाग देखने में आते हैं वह किसी जंतु विशेष से बने हुए होते हैं। ये रंग आदि से पहचाने जाते हैं तथा उन चित्रों के शुभाशुभ फल भी शिल्प शास्त्र में लिखे हैं। जैसे—मधु के रंग जैसी रंग वाली रेखा दिखे तो वह खधोत, भस्म के वर्ण की दिखे तो बालु, गुड़ के रंग की दिखे तो मेंढ़क, आकाश के रंग की दिखे तो पानी, कबूतर के रंग की दिखे तो छिपकली, मंजीठ के रंग की हो तो मेंढ़क, लाल रंग की

रेखा हो तो गिरगिट, पीले वर्ण की हो तो गोह, कपील वर्ण की हो तो ऊदर, काले वर्ण की हो तो सर्प और अनेक प्रकार के रंग की रेखा दिखे तो बिच्छु इत्यादि जन्तुओं से रेखा आदि दाग बने होते हैं। ऐसे दाग पाषाण या लकड़ी मे रहे हो तो सन्तान, लक्ष्मी, प्राण और राज्य का विनाश कारक हैं, परन्तु पाषाण के वर्ण की रेखा या दाग हों तो कोई दोष नहीं माना।

देव की प्रतिमा पुल्लिग, देवी की प्रतिमा स्त्रीलिंग से, पाद पीठ सिंहासनादि नपुंसक शिला से बनाना लिखा है। इसकी परीक्षा आकृति और आवाज से की जाती है।

जो शिला एक ही वर्ण वाली सघन चिकनी मूल से लेकर अग्रभाग तक बराबर समान आकार वाली और गजघंट के समान आवाज वाली हो वह पुल्लिग शिला जानना। जो मूल भाग में स्थूल और अग्रभाग में कृश हो तथा कासी जैसी आवाज वाली हो वह स्त्रीलिंग शिला जानना। जो मूल भाग में कृश और अग्रभाग में स्थूल हो एवं बिना आवाज की हो वह नपुंसक शिला जानना। शिला ऊंधा मुख करके पूर्व दिशा पश्चिम या उत्तर दक्षिण लम्बी रहती है। इसमें दक्षिण और पश्चिम दिशा में शिला का मूल भाग तथा पूर्व और उत्तर दिशा मे शिला का अग्रभाग रहता है। अग्र यह शिला भाग, मूल यह पैर समझना चाहिये। शिला निकालते समय उसमें चिह्न कर लेना चाहिये, जिससे शिला का मुख, पृष्ठ, मस्तक और पैर पहिचान हो सके और उसके अनुसार मूर्ति का मुख आदि बना सके। जहाँ शिला का मुख भाग हो उस भाग मे मूर्ति का मुख और शिला का जहां पैर हो उस भाग में मूर्ति का पैर बनना चाहिये। शिल्प ग्रन्थो में शिला ऊँधी सोती हुई लिखा है, इस शिला के नीचे के भाग का मुख और ऊपर के भाग का पृष्ठ भाग बनाना चाहिये।

इस प्रकार परीक्षा करके प्राप्त श्वेत, रक्त, श्याम, मिश्र पारावत्, मुद्ग, कपोत, पदम, मंजिष्ठ और हरित वर्ण की शिला को प्रतिमा निर्माण के लिए उत्तम बताया है। वह शिला कठिन, शीतल, स्निग्ध, सुस्वाद, सुस्वर, दृढ़, सुगंध युक्त, तेजस्विनी और मनोज्ञ होना चाहिये। बिन्दु और रेखाओं वाली शिला प्रतिमा निर्माण कार्य के लिये वर्ज्य कही गई है। उसी प्रकार, मृदु विवर्ण दुर्गन्धियुक्त, लघु, रूक्ष, धूमिल और निःशब्द शिलाएँ भी अयोग्य ठहरायी गयी हैं।

इस प्रकार परीक्षा करने से प्रतिमा के लिये जो निर्दोष शिला प्राप्त हुई हो उसका अच्छे शुभ दिन में छेदन करें। जिस दिन छेदन करने का हो उसकी प्रथम रात्री को जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फलादि सामग्री से—"हे शिले ! अमुकस्य देवस्य पूजनाय परिकल्पिताऽस्ति नमस्ते" इसप्रकार मंत्रोच्चारण पूर्वक पूजन करें। बाद में वन देवता, क्षेत्र देवता, नव ग्रह, दिक्पाल आदि देवो का शिला मे विन्यास करके सुगन्धित द्रव्यादि से पूजन करें। शुभ मुहूर्त्त में महोत्सव पूर्वक शिला का छेदन करें, पीछे मंगल मुहूर्त्त में नगर में शिला का प्रवेश करावें। आचार्यों ने लिखा है—

> जैनं चैत्यालयं चैत्यमूर्ति निर्मापयन् शुभम्।
> वाञ्छन् स्वस्य नृपादेश्च वास्तुशास्त्रं न लंघयेत्॥

मन्दिर वा प्रतिमा बनाने वाला यदि अपना और राजा प्रजा का भला चाहता हो तो उसे शुभ-अशुभ बताने वाले वास्तु शास्त्र के अनुकूल ही सब काम करवाना चाहिये। मूर्ति के पाषाण की शिला के लिये शांति विधान पूर्वक शुभ मुहूर्त में परीक्षा कर शास्त्रानुसार प्रतिमा का निर्माण कराना उचित है।

प्रतिमा ऐसे कारीगर से बनवाना ठीक है, जो बालवृद्ध व सदोष शरीर वाला न हो, प्रतिमा निर्माण में अधिक चतुर हो। सदाचारी पवित्रता से रहने वाला हो और अण्डे, मांस, मदिरा, शहद आदि का त्यागी हो। जिसके परिणामों में शांत छवि का आकार झलक रहा हो।

उक्त गुण वाले शिल्पी को घर पर बुलाकर शुभ लग्न में सत्कार पूर्वक वह शिला बिम्ब बनाने के लिये दी जावे और उसको प्रतिमा तैयार न हो तब तक हर तरह से खुश रक्खा जावे। निर्मापक सद् गृहस्थ को उचित है कि वह इस महान कार्य में धन का संकोच नहीं करे। चांदी सोने या बड़े आकार की या बहुत सी मूर्तियां न बनाकर चाहे वह पाषाण की छोटी सी एक ही प्रतिमा बनवावे पर विधि पूर्वक निर्माण हो। आजकल शिल्प शास्त्रों का अध्ययन न होने से कारीगर उपरोक्त शिला परीक्षा के नियमों को नही जानता है इसीलिये मूर्ति के निर्माण में दोष रहने की सम्भावना रहती है, यह सिर्फ कारीगर का दोष नहीं है, मूर्ति बनवाने वाला भी उपरोक्त नियमानुसार नहीं बनवाना चाहता।

यह तो सस्ते दामों में जल्दी से तैयार हो जाय ऐसा पसंद करते हैं, जिस मूर्ति के लिये हजारों रुपये मन्दिर बनवाने में और उसकी प्रतिष्ठा के समय खर्च करते हैं इतना ही नहीं, जिसके आगे अपने मस्तक झुकाते हैं, उसका खिलोनों की तरह भाव जांचना कहां तक युक्ति संगत है यह वाचक विचार सकते हैं। जब तक प्रतिमा न बन चुके तब तक अपने परिणामो में प्रतिमा विषयक भावना ही मुख्य रखें। देख-भाल में प्रमाद व त्रुटि न करें। इस विषय मे शास्त्र की आज्ञाओं की विद्वानों से जानकारी जरूर कर लें।

प्रतिष्ठाचार्यों का भी कर्त्तव्य है कि वे अपने व समाज के हितार्थ आत्मबल धारण करें। किसी के दबाव व लोभवश सदोष जिनबिम्ब प्रतिष्ठा के लिये स्वीकृत न करे।

गृहपूज्य प्रतिमाएँ :

निवासगृह में पूज्य प्रतिमाओं की अधिकतम ऊँचाई के विषय में जैन ग्रन्थों में वसुनन्दि आचार्य श्री ने द्वादश अंगुल तक की ऊँची प्रतिमा को ही पूजनीय बतलाया है। प्रतिष्ठित प्रतिमाओं के दर्शन वन्दन पूजन भक्ति आदि करते रहने से परिवार में सुख शांति मिलती है। मलिन, खण्डित अधिक या हीन प्रमाण वाली प्रतिमाएँ भी गृह में नहीं रखना चाहिये।

अपूज्य प्रतिमाएँ :

रूपमण्डनकार ने हीनांग और अधिकांग प्रतिमाओं के निर्माण का सर्वथा निषेध किया है। शुक्रनीति में हीनांग प्रतिमा को निर्माण कराने वाले की, और अधिकांग प्रतिमा को शिल्पी की मृत्यु का कारण बताया है। जैन परम्परा के ग्रन्थों में भी वक्रांग, हीनाग और अधिकांग प्रतिमा निर्माण को भारी दोष युक्त माना गया है।

शास्त्रों में लिखा है-कि श्रावक के लिए धन रूपी बीज बोकर उससे शुभ फल प्राप्ति के लिये जो सात क्षेत्र नियत किये गये हैं उसमें एक प्रतिमा निर्माण भी है, पूजा के भेदो में प्रतिमा बनवाना नित्यमह में गर्भित है। कहा भी है कि—

चैत्यंश्चैत्यालयं ज्ञानंस्तपोभिर्विविधात्मकैः।
पूजा महोत्सवाद्यैश्च कुर्यान्मार्गं प्रभावनाम् ॥

जिन मन्दिर बनवाना, ज्ञान का प्रचार व उपदेश करना, अनेक प्रकार के तपश्चरण पूजन और प्रतिष्ठा-महोत्सवादि कराकर जिन मत की प्रभावना करनी चाहिये।

जिसमें श्री जिनदेव की स्थापना होगी जिसके दर्शन पूजनादि से अपना ही नहीं लाखों व्यक्तियों का हित होगा वह मूर्ति एक तरह का खिलौना नहीं है, जो चाहे जब कहीं जाकर जैसी मिले वैसी और सस्ती-सी खरीद लाई जावे।

अथ बिम्बं जिनेन्द्रस्य कर्त्तव्यं लक्षणान्वितम् ।
श्री वत्सभूषितोरस्कं जानु प्राप्तकराग्रजम् ॥
प्रातिहार्याष्टकोपेतं सम्पूर्णावयवं शुभम् ।
प्रातिहार्यैर्विना शुद्धं सिद्धबिम्बमपीदृशम् ॥

इत्यादि श्लोकों के अनुसार हथेली वा पगथली में सामुद्रिक शास्त्रोक्त शंख-चक्र-पद्म आदि लक्षणों सहित, हृदय पर श्रीवत्स से भूषित गोड़ों तक लम्बे हाथों वाली आठ प्रातिहार्यों की धारक शरीर के सब अवयवों से पूर्ण और शोभित प्रतिमा बनवाना चाहिए । सिद्धों का बिम्ब ८ प्रातिहार्यों से रहित होना चाहिये ।

दिगम्बर जैनाचार्यों ने सदोष प्रतिमा अशुभ बताई है । जैसे—
तिरछी दृष्टि (नजर)—धननाश, विरोध, भय करने वाली ।
नीची नजर—पुत्रनाश का कारण ।
ऊँची नजर—स्त्री का मरण कराने में निमित्त ।
स्तब्ध नजर—शोक, उद्वेग, संताप धननाश करने वाली ।
रौद्र—बनवाने वाले का नाश कराने वाली ।
दुबले शरीर वाली—धन नाश का कारण होती है ।
ओछे कद वाली—कराने वाले के नाश में कारण है ।
चपटी—दुःखदाता ।
नेत्र रहित—नेत्र नाश में कारण ।
छोटे मुख वाली—शोभा का नाश करने वाली ।
बड़े पेट वाली—रोग में निमित्त ।
दुबली छाती वाली—हृदय की बीमारी में निमित्त ।
नीचे कन्धों वाली—भाई का मरण ।
दुबली जांघ वाली—राजा का अनिष्ट करने वाली ।
छोटे पग वाली—देश नाश में कारण ।
दुबली कमर वाली—सवारी का नाश ।

यह वर्णन वसुनन्दि आचार्य ने किया है । वसुनन्दि ने ही जिन प्रतिमा में नाशाग्रनिहित, शान्त, प्रसन्न, एवं माध्यस्थ दृष्टि को उत्तम बताया । वीतराग की दृष्टि न तो अत्यन्त उन्मीलित हो और न विस्फुरित हो । दृष्टि तिरछी ऊँची या नीची न हो इसका विशेष ध्यान रखे जाने का विधान है ।

आचार्य कल्प पंडित प्रवर आशाधर जी और वर्धमान सूरि ने भी अनिष्टकारी, विकृतांग और जर्जर प्रतिमाओं की पूजा का निषेध किया है ।

भग्न प्रतिमाओं की पूजा नहीं की जाती । उन्हें सम्मान के साथ विसर्जित कर दिया जाता है । मूलनायक प्रतिमा के मुख, नाक, कान, नेत्र, नाभि और कटि के भग्न हो जाने पर वह त्याज्य होती है । ऐसा वास्तुसार प्रकरण में वर्णन आया है । जिन प्रतिमाओं के अंग और प्रत्यंगों के भंग होने का फल बताया है कि नखभंग होने से शत्रुभय, अंगुली-भंग से देश में भय अराजकता, बाहु भंग से बन्धन, नासिका नष्ट होने से कुलनाश और चरण भंग होने से द्रव्यनाश होता है, किन्तु 'वास्तुसार' ग्रन्थकार का ही यह भी मत है कि जो प्रतिमाएँ सौ

वर्ष से अधिक प्राचीन हों और महापुरुषों द्वारा स्थापित की गयी हों, वे यदि विकलांग भी हो जावें तब भी पूजनीय हैं। उन्होंने उन प्रतिमाओं को केवल चैत्य में रखने योग्य कहा है, गृह में पूज्य नहीं।

जिन प्रतिमा के लक्षण :

जैन प्रतिष्ठा ग्रन्थों और वृहत्संहिता, मानसार, अपराजितपृच्छा, देवमूर्ति प्रकरण, रूपमण्डन आदि ग्रन्थों में जिन प्रतिमा के लक्षण बताये गये हैं। जिन प्रतिमाएँ केवल दो आसनों में बनायी जाती हैं एक तो कायोत्सर्ग आसन जिसे खड्गासन भी कहते हैं और द्वितीय पद्मासन इसे कहीं कहीं पर्यंक आसन भी कहा गया है। इन दो आसनों को छोड़कर किसी अन्य आसन में जिन प्रतिमा निर्मित किये जाने का निषेध किया गया है।

प्रतिष्ठा चन्द्रिका में कहा है—

शान्तं नासाग्रदृष्टिं विमल गुणगणंभ्राजिमालं प्रशस्त–
मानोन्मानं च वामे विधृतकरवरं नाम पद्मासनस्थं।
व्युत्सर्गालम्बिपाणिस्थल निहित पदाम्भोज मानम्रकम्बु–
ध्यानारूढंविवेन्यं भजत मुनिजनानंदकं जैनबिम्बं ॥

जिन विम्ब को शान्त नाशाग्रदृष्टि प्रशस्तमानोन्मानयुक्त, ध्यानारूढ एवं किञ्चित् नम्र गीव बताया है। कायोत्सर्ग आसन में हाथ लम्बायमान रहते है तथा पद्मासन प्रतिमा में वाम हस्त की हथेली दक्षिण हस्त की हथेली पर रखी हुई होती है। जैन प्रतिमा (दिगम्बर) श्री वृक्ष युक्त, नखकेशविहीन, परमशान्त वृद्धत्व तथा बाल्यत्व रहित, तरुण एवं वैराग्य गुण से भूषित होती हैं। आचार्य वसुनन्दि और आशाधर पंडित जी ने भी जिन प्रतिमा के उपर्युक्त लक्षणों का निरूपण किया है। विवेक-विलास में कायोत्सर्ग और पद्मासन प्रतिमाओं के सामान्य लक्षण बताये गये हैं।

सिद्धपरमेष्ठी की प्रतिमाओं में प्रतिहार्य नहीं बनाये जाते अर्हंत्प्रतिमाओं में उनका होना आवश्यक है। अर्हंत् और सिद्ध दोनों की मूल प्रतिमाएँ बनायी तो समान जाती हैं पर अष्ट प्रातिहार्यों के होने अथवा न होने की अवस्था में उनकी पहिचान होती है। अर्हंत् अवस्था की प्रतिमा में अष्टप्रातिहार्यों के साथ दायीं ओर यक्ष और बायीं ओर यक्षी और पादपीठ के नीचे जिनका लांछन भी दिखाया जाता है। तिलोयपण्णत्ती में भी सिंहासन तथा यक्ष युगल से युक्त जिन प्रतिमाओं का वर्णन है ठक्कर फेरू ने तीर्थंकर प्रतिमा के आसन और परिकर का विस्तार से वर्णन किया है। मानसार मे भी जिनप्रतिमाओं के परिकर आदि का वर्णन प्राप्त है। अपराजितपृच्छा में यक्ष-यक्षी, लांछन और प्रातिहार्यों की योजना का विधान है। सूत्रधार मंडन के ग्रन्थो में जिनप्रतिमा को छत्रत्रय, अशोकद्रुम, देवदुन्दुभि सिहासन, धर्मचक्र आदि से युक्त बताया गया है। प्रत्येक जैन तीर्थंकर प्रतिमा अपने लांछन से पहिचानी जाती है। वह लांछन प्रतिमा के पादपीठ पर अंकित होता है, किन्तु कुछ तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में उनके विशिष्ट लक्षण भी दिखाये जाते है, जैसे आदिनाथ प्रतिमा जटाशेखर युक्त होती है, सुपार्श्वनाथ के मस्तक पर सर्प के पांच फणों का छत्र तथा पार्श्वनाथ के मस्तक पर ७ या इससे ज्यादा फणों का नाग छत्र होता है।

प्रतिमा का मान प्रमाण :

जैन और जैनेत्तर ग्रन्थों में जिन प्रतिमा के मानादि का विवरण मिलता है। वसुनन्दि आचार्य ने ताल, मुख, वितहित और द्वादशांगुल को समानार्थी बताया है और उस मान से बिम्ब निर्माण का विधान किया है। प्रतिमा के मुख को एक भाग मानकर सम्पूर्ण प्रतिमा के नौ भाग किये जाने चाहिये तदनुसार

वह प्रतिमा नौ ताल या १०८ अंगुल की होगी। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि नव ताल प्रतिमा का नवां भाग एक ताल और उसका १०८ वां भाग एक अंगुल कहलावेगा।

वसुनन्दि ने नव ताल में बनी ऊर्ध्व (कायोत्सर्ग आसन) जिन प्रतिमा का मान इस प्रकार बताया है।

मुख	—	१ ताल (१२ अंगुल)
ग्रीवाध: भाग	—	४ अंगुल
कंठ से हृदय तक	—	१२ अंगुल
हृदय से नाभि तक	—	१ ताल (१२ अंगुल)
नाभि से मेढ् तक	—	१ ताल (१२ अंगुल)
मेढ् से जानु तक	—	१ हस्त (२४ अंगुल)
जानु	—	४ अंगुल
जानु से गुल्फ तक	—	१ हस्त (२४ अंगुल)
गुल्फ से पादतल तक	—	४ अंगुल
योग		१०८ अंगुल = ९ ताल

प्रतिष्ठासार संग्रह में वसुनन्दि ने प्रतिमा के अंग उपांगों के मान का विस्तार से विवरण दिया है। द्वादशांगुल विस्तीर्ण और आयात केशान्त मुख के तीन भाग करने पर ललाट, नासिका, और मुख (वचन) प्रत्येक भाग ४-४ अंगुल का होता है। नासिकारंध्र ८½ यव और नासिका पाली ४ यव प्रमाण होना चाहिये। ललाट का तिर्यक् आयाम आठ अंगुल बताया गया है। उसका आकार अर्धचन्द्र के समान होता है। पांच अंगुल आयात केशस्थान में उष्णीष दो अंगुल उन्नत होता है। जयसेन आचार्य के प्रतिष्ठा पाठ में भी जिन प्रतिमा का ताल सम्बन्धी जो विवरण उपलब्ध है वह प्राय: वसुनन्दि के समान ही है। जयसेन ने भूलता को ४ अंगुल आयात मध्य में स्थूल, छोर मे कृश अर्थात् धनुपाकार कहा है। नेत्रों की पलकें ऊपर-नीचे नदी के तटों के समान होती हैं। ओष्ठ का विस्तार ४ अंगुल जिसका मध्य भाग १ अंगुल उच्छ्रित होता है। चिबुक ३½ अंगुल, उसके मूल से लेकर हनु तक का अन्तर ४ अंगुल। कर्ण और नेत्र का अन्तर भी ४ अंगुल आदि।

पद्मासन जिन प्रतिमा का उत्सेध कायोत्सर्ग प्रतिमा से आधा अर्थात् ५४ अंगुल बताया गया है। उसका तिर्यक् आयाम एक समान होता है। एक घुटने से दूसरे घुटने तक दायें घुटने से बायें कंधे तक, बायें घुटने से दांये कंधे तक और पादपीठ से केशांत तक चारों सूत्रों का मान एक बराबर बताया गया है।

शिल्प ग्रंथों के अनुसार मूर्ति के शुभाशुभ लक्षण इस प्रकार है।

प्रमाणोपेत सम्पूर्ण अवयवों वाली और शुभ लक्षण वाली मूर्ति आयुष्य और लक्ष्मी की वृद्धि करने वाली है। यदि मूर्ति का मस्तक छत्राकार हो तो धन धान्य की वृद्धिकारक है अच्छे नयन और ललाट हो तो निरन्तर लक्ष्मीप्रद है। अच्छे प्रकार की हो तो प्रजा सुखी होवे।

प्रतिमा बन जाने पर ही पूज्य नही होती है उसमें प्रतिष्ठा विधि के द्वारा पूज्यता लाई जाती है। अतएव जो जिन भक्त सज्जन इस प्रभावना वर्द्धक महान पुण्य कार्य मे सद्भावो के द्वारा अपने न्यायोपार्जित द्रव्य का सदुपयोग करता है उसको प्रतिष्ठा पाठों में यजमान की पदवी दी गई है सो ही कहा है—

पाक्षिकाचारसम्पन्नो धी संपद्बन्धुबन्धुरः ।
राज मान्यो वदान्यश्च यजमानो मतः प्रभुः ॥

प्रतिष्ठापक ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जो पाक्षिक श्रावक के आचार को अच्छी तरह पालता हो, बुद्धिमान हो, सम्पत्ति का धारक हो । राजा व राज्य कर्मचारी जिसको आदर की दृष्टि से देखते हों जिसके स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु आदि कुटुम्ब परिवार अच्छा हो, समाज या देश में बदनाम न हो, प्रतिष्ठा कार्य में तन-मन-धन से योग देता हो वही व्यक्ति प्रतिष्ठा कराने का पात्र होता है ।

प्रतिष्ठेय (मूर्ति) की प्रतिष्ठा कराने के लिये प्रतिष्ठापक इन्द्र, यजमान, स्थापक ऐसे सज्जनों की आवश्यकता पड़ती है जो अपने न्यायोपार्जित द्रव्य का शुभ भावों से पंचकल्याणक महोत्सव कराने में सदुपयोग करना चाहता हो ।

प्रतिष्ठापक—पाक्षिक श्रावक के आचरण को अच्छी तरह पालता हो, समाज में आदरणीय हो, उत्तम वर्ण-जाति कुल व शरीर का धारक हो ।

"देशजातिकुलाचारैः श्रेष्ठोवत्तसुलक्षणः ।"

जो शूद्र व बाल-वृद्ध न हो, उत्तम जाति व कुल में जन्मा हो, सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती, मन्दकषायी, जितेन्द्रिय, व सुन्दर हो स्वयं पूजनादि करता हो प्रतिष्ठायें जिसने कराई हो, ज्योतिष, मुहूर्त आदि का ज्ञाता हो, मंत्र, तंत्र, यंत्रादि का जानकार हो, पवित्रता से रहने वाला हो, विनयी हो, इत्यादि बहुत गुण जिसमें हो वही प्रतिष्ठाचार्य बनने के योग्य है ।

जैनागम में प्रत्येक तीर्थंकर के जीवन काल के पांच प्रसिद्ध घटनास्थलों का वर्णन मिलता है । उन्हे पंच कल्याणक के नाम से कहा जाता है, क्योंकि वे अवसर जगत् के लिये अत्यन्त कल्याण व मंगलकारी होते हैं । जो जन्म से ही तीर्थंकर प्रकृति लेकर उत्पन्न हुए है उनके तो पांच ही कल्याणक होते है, परन्तु जिसने अन्तिम भव में ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया है उसके यथा सम्भव चार वा तीन व दो कल्याणक भी होते हैं, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति के बिना साधारण साधकों को वे नही होते । नवनिर्मित जिनबिम्ब की शुद्धि करने के लिये जो पंचकल्याणक प्रतिष्ठा पाठ किये जाते है वह उसी प्रधान पंचकल्याणक की कल्पना है, जिसके आरोप द्वारा प्रतिमा मे असली तीर्थंकर की स्थापना होती है ।

जम्बूदीपपण्णत्ति मे आचार्य श्री ने लिखा है—

गब्भावयारकाले जम्मणकाले तहेव णिक्खमणे ।
केवलणाणुप्पण्णे परिणिव्वाणम्मि समयम्मि ॥

जो जिनदेव गर्भावतारकाल, जन्मकाल, निष्क्रमणकाल, केवलज्ञानोत्पत्तिकाल और निर्वाण समय इन पांच स्थानो में पंच महा-कल्याणकों को प्राप्त होकर महाऋद्धियुक्त सुरेन्द्र इन्द्रो से पूजित हैं ।

पंच कल्याणक महोत्सव का परिचय :

(१) **गर्भकल्याणक**—भगवान् के गर्भ में आने से छह मास पूर्व से लेकर जन्म पर्यन्त १५ मास तक उनके जन्म स्थान में कुबेर द्वारा प्रतिदिन तीन बार ३½ करोड़ रत्नों की वर्षा होती रहती है । दिक्कुमारी देवियां

माता की परिचर्या व गर्भ शोधन करती हैं। गर्भ वाले दिन से पूर्व रात्रि को माता को १६ उत्तम स्वप्न दिखते हैं, जिन स० भगवान का अवतरण निश्चय कर माता-पिता प्रसन्न होते हैं।

(२) **जन्मकल्याणक**—भगवान का जन्म होने पर देव भवनों व स्वर्गों आदि में स्वयं घण्टे आदि बजने लगते हैं और इन्द्रों के आसन कम्पायमान हो जाते हैं। जिससे उन्हें भगवान के जन्म का निश्चय हो जाता है। सभी इन्द्र व देव भगवान का जन्मोत्सव मनाने को बड़ी धूमधाम से पृथ्वी पर आते हैं। अहमिन्द्रजन अपने-अपने स्थान पर सात पग आगे जाकर भगवान को परोक्ष नमस्कार करते हैं। दिक्कुमारी देवियां भगवान के जातकर्म करती हैं। कुबेर नगर की अद्भुत शोभा करता है। इन्द्र की आज्ञा से इन्द्राणी प्रसूतिगृह में जाती है, माता को माया निद्रा से सुलाकर उसके पास एक मायामयी पुतला लिटा देती है और बालक भगवान को लाकर इन्द्र की गोद में दे देती है, जो उसका सौन्दर्य देखने के लिये हजार नेत्र बनाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता। ऐरावत हाथी पर भगवान को लेकर इन्द्र सुमेरु पर्वत की ओर चलता है। वहां पहुंचकर पाण्डुक शिला पर, भगवान का क्षीरसागर से देवों द्वारा लाये गये जल के १००८ कलशों द्वारा, अभिषेक करता है। तदनन्तर बालक को वस्त्राभूषण से अलंकृत कर नगर में देवों सहित महान उत्सव के साथ प्रवेश करता है। बालक को देवोपुनीत वस्त्राभूषण पहना कर, ताण्डव नृत्य आदि अनेकों मायामयी आश्चर्यकारी लीलाएँ प्रगट कर देवलोक लौट जाता है।

तप कल्याणक :

कुछ काल तक राज्य विभूति का भोग कर लेने के पश्चात् किसी एक दिन कोई कारण पाकर भगवान को वैराग्य उत्पन्न होता है। उसी समय ब्रह्म स्वर्ग से लौकान्तिक देव भी आकर उनके वैराग्य की सराहना करते हैं। इन्द्र उनका अभिषेक करके उन्हे वस्त्राभूषण से अलंकृत करता है। कुबेर द्वारा निर्मित पालकी में भगवान स्वयं बैठ जाते हैं। इस पालकी को पहले तो मनुष्य अपने कन्धो पर लेकर कुछ दूर पृथ्वी पर चलते हैं और फिर देव लोग लेकर आकाश मार्ग से चलते हैं। तपोवन में पहुँच कर भगवान वस्त्रालंकार का त्याग कर केशों का लुंचन कर देते हैं और दिगम्बर मुद्रा धारण कर लेते हैं। अन्य भी अनेकों राजा उनके साथ दीक्षा धारण करते हैं इन्द्र उन केशों को मणिमय पिटारे में रखकर क्षीर सागर में क्षेपण करता है। दीक्षा स्थान तीर्थ बन जाता है। भगवान बेला तेला आदि के नियम पूर्वक 'नमः सिद्धेभ्यः' कह कर स्वयं दीक्षा लेते हैं, क्योंकि वे स्वयं जगतगुरु है। नियम पूरा होने पर आहारार्थ नगर में जाते हैं। और यथा विधि आहार ग्रहण करते हैं। दातार के घर पंचाश्चर्य रत्नो की वर्षा होती है। आहार के बाद जंगल की ओर चले जाते हैं तथा तपस्या करते हैं।

ज्ञान कल्याणक :

यथाक्रम से तप, संयम आदि की साधना करते हुए ध्यान की श्रेणियों पर आरूढ होते हुए चार घातिया कर्मों का नाश हो जाने पर भगवान को केवलज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय लक्ष्मी प्राप्त होती है। तब पुष्प वृष्टि, दुन्दुभी शब्द, अशोक वृक्ष, चमर, भामण्डल, छत्रत्रय, स्वर्ण सिंहासन और दिव्यध्वनि ये आठ प्रातिहार्य प्रगट होते हैं। इन्द्रकी आज्ञा से कुबेर समवशरण रचता है, जिसकी विचित्र रचना से जगत् चकित होता है। १२ सभाओ में यथा स्थान देव, मनुष्य, तिर्यंच, मुनि, आर्यिका, श्रावक श्राविका आदि सभी बैठ कर भगवान के उपदेशामृत का पान कर जीवन सफल करते हैं।

भगवान का विहार बड़ी धूम धाम से होता है। याचको को किमिच्छक दान दिया जाता है भगवान के चरणों के नीचे देव लोग सहस्र दल स्वर्ण कमलों की रचना करते हैं और भगवान इनको भी न स्पर्श करके अधर आकाश में ही चलते हैं। आगे-आगे धर्म चक्र चलता है। बाजे नगाड़े बजते हैं। पृथ्वी ईति भीति रहित

हो जाती है। इन्द्र राजाओं के साथ आगे-आगे जय-जयकार करते चलते हैं। मार्ग में सुन्दर क्रीड़ा स्थान बनाये जाते हैं। मार्ग अष्ट मंगल द्रव्यों से शोभित रहता है। भामण्डल, छत्र, चमर, स्वतः साथ-साथ चलते हैं। ऋषि-गण पीछे-पीछे चलते हैं। इन्द्र प्रतिहार बनता है। अनेकों निधियाँ साथ-साथ चलती हैं। विरोधी जीव बैर विरोध भूल जाते हैं। अन्धे बहरों को भी दिखने सुनने लग जाता है। हरिवंश पुराण में लिखा है—

मध्यदेशे जिनेशेन धर्म श्रीर्थे प्रवर्तिते।
सर्वेष्वपि च दिशेषु तीर्थं मोहोन्यवर्तते॥

मध्य देश में धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति के उपरान्त सम्पूर्ण देशों में विहार करके धर्म के विषय में अज्ञान भाव का निवारण किया था। त्रिलोकीनाथ ने धर्म क्षेत्र में सद्धर्मरूपी बीज बोने के साथ ही धर्मवृष्टि के द्वारा सींचा। इस प्रकार दिव्य सन्देश जन जन को दिया।

निर्वाण कल्याणक :

अन्तिम समय आने पर भगवान योग निरोध द्वारा ध्यान में निश्चलता कर चार अघातिया कर्मों का भी नाश कर देते है और निर्वाण धाम को प्राप्त होते हैं। देव लोग निर्वाण कल्याणक की पूजा करते हैं। भगवान का शरीर कपूर की भांति उड़ जाता है। इन्द्र उस स्थान पर भगवान के लक्षणों से युक्त सिद्ध शिला का निर्माण करता है।

इस प्रकार पंचकल्याणक विधि के द्वारा ही मूर्ति को पूजनीय बनाते हैं पद्मनन्दि स्वामी ने लिखा है—

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवतं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम्॥
प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवता गुरु दर्शनम्।
भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्म श्रुतिरुपासकैः॥

जो जीव भक्ति से जिनेन्द्र भगवान का न दर्शन करते हैं, न पूजन करते हैं और न ही स्तुति करते हैं उनका जीवन निष्फल है तथा उस गृहस्थाश्रम को धिक्कार है।

शाश्वत जीवन विज्ञान आयुर्वेद और जैन मत

❖ आचार्य राजकुमार जैन
एम. ए. (हिन्दी-संस्कृत) एच. पी. ए.
दर्शनाचारायुर्वेदाचार्य, दिल्ली

आयुर्वेद एक शाश्वत जीवन विज्ञान है। जीवन के प्रत्येक क्षण की प्रत्येक स्थिति आयुर्वेदीय सिद्धान्तों में सन्निहित है। आयुर्वेद मानव जीवन से पृथक् कोई भिन्न वस्तु या विषय नहीं है, अपितु दोनों मे अत्यधिक निकटता और कहीं-कहीं तो तादात्म्य भाव है। सामान्यतः मनुष्य के जीवन की आद्यन्त प्रतिक्षण चलने वाली शृंखला ही आयु है, वह आयु ही जीवन है, उस आयु (जीवन) का वेद (ज्ञान) ही आयुर्वेद है, अतः आयुर्वेद एक सम्पूर्ण जीवन-विज्ञान है। यह आयुर्वेद अनादि काल से इस भूमण्डल पर प्रवर्तमान है। जब सृष्टि का आरम्भ और मानव जाति का विकास इस भूमण्डल पर हुआ है तब ही से उसके जीवन के अनुरक्षण, स्वास्थ्य-रक्षा हेतु नियमों का उपदेश और रोगोपचार हेतु विविध उपायों का निर्देश करने के लिए यह आयुर्वेदशास्त्र सतत प्रवर्तित रह रहा है। इसकी नवीन उत्पत्ति नही होती है, अपितु अभिव्यक्ति होती है। अतः यह अनादि है। इसका विनाश नही होता है, अपितु कुछ काल के लिए तिरोभाव है। अतः यह अनन्त है। अनाद्यनन्त होने से यह शाश्वत है।

आयुर्वेद में प्रतिपादित सिद्धांत इतने सामान्य, व्यापक, जनजीवनोपयोगी एवं सर्वसाधारण के हितकारी हैं कि सरलता पूर्वक उन्हे अमल मे लाकर यथा शीघ्र आरोग्य लाभ किया जा सकता है। आयुर्वेद शास्त्र केवल शारीरिक स्वास्थ्य के लिए ही उपयोगी नही है, अपितु मानसिक एवं बौद्धिक स्वास्थ्य के लिए भी हितावह है। इसमें प्रतिपादित सिद्धान्त चिकित्सा के अतिरिक्त ऐसे नियमों का प्रतिपादन करते हैं जो मनुष्य के आध्यात्मिक, आचरण, मानसिक प्रवृत्ति, और बौद्धिक जगत् के क्रिया कलापो को भी पर्याप्त रूप से प्रभावित करते हैं। अतः यह केवल चिकित्सा शास्त्र ही नहीं है, अपितु शरीर विज्ञान, मानव विज्ञान, मनो विज्ञान, तत्त्व विज्ञान, दर्शन शास्त्र, आचार शास्त्र एवं धर्मशास्त्र का एक ऐसा अद्भुत समन्वित रूप है जो सम्पूर्ण जीवन के अन्यान्य पक्षों को व्याप्त कर लेता है। अतः निःसन्देह यह एक सम्पूर्ण जीवन विज्ञान है।

वर्तमान में उपलब्ध वैदिक आयुर्वेद साहित्य के अनुसार भारतीय संस्कृति के आद्यस्रोत वेद और उपनिषद् के बीज ही आयुर्वेद में प्रसार को प्राप्त हुए हैं। यही कारण है कि आयुर्वेद शास्त्र केवल भौतिक तत्त्वों तक ही सीमित नहीं है, अपितु आध्यात्मिक तत्त्वों के विश्लेषण में भी अपनी मौलिक विशेषता रखता है। इसके अतिरिक्त समकालीन होने के कारण दर्शन शास्त्र एवं धर्म शास्त्र ने भी आयुर्वेद के अध्यात्म सम्बन्धी कतिपय सिद्धांतों को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। यही कारण है कि आयुर्वेद का अध्यात्म पक्ष भी उतना ही सबल एवं परिपुष्ट है जितना उसका भौतिकतत्त्व विश्लेषण सम्बन्धी पक्ष है। इसी का परिणाम है कि भारतीय संस्कृति के विकास में जहां धर्म-दर्शन-नीति शास्त्र-आचारशास्त्र-व्याकरण-साहित्य-संगीत-कला आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है वहां आयुर्वेद शास्त्र ने भी अपनी जीवन पद्धति तथा शरीर, मन और बुद्धि को आरोग्य प्रदान करने वाले विशिष्ट सिद्धांतों के द्वारा उसके स्वरूप को स्वस्थ और सुन्दर रखने के लिए अपनी विचार धारा से सतत आप्यायित किया है।

इस सन्दर्भ में यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि चाहे अभ्युदय प्राप्त करना हो या निःश्रेयस्, दोनों की प्राप्ति के लिए मानव शरीर की स्वस्थता नितान्त अपेक्षित है। स्वस्थ शरीर ही समस्त भोगोपभोग अथवा मनः शान्तिकारक या आत्म-अभ्युन्नति कारक देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, त्याग, दान आदि धार्मिक क्रियाएं करने में समर्थ है। विकार ग्रस्त अथवा अस्वस्थ शरीर न तो भौतिक विषयों का उपभोग कर सकता है और न ही धर्म का साधन। इसीलिए चतुर्विध पुरुषार्थ का मूल आरोग्य निरूपित किया गया है— 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।'' शरीर को आरोग्य प्रदान करने और विकार ग्रस्त शरीर की विकाराभिनिवृत्ति करने मे एक मात्र आयुर्वेद ही समर्थ है। अतः आयुर्वेद को भी भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग माना गया है। भारतीय संस्कृति में जो स्थान धर्म-दर्शन आदि का है वही स्थान आयुर्वेद का भी है।

आयुर्वेद शास्त्र की यह एक मौलिक विशेषता है कि इसमें मनुष्य की शारीरिक स्थिति के साथ-साथ उसकी मानसिक एवं आध्यात्मिक स्थिति के विषय में भी पर्याप्त गम्भीर विचार किया गया है। शरीर के साथ साथ प्राण तत्त्व का विवेचन, आत्मा और मन के विषय में स्वतन्त्र दृष्टिकोण तथा शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक विकास क्रम का यथोचित वर्णन आयुर्वेद की वैज्ञानिकता एवं प्रामाणिकता के सबल प्रमाण हैं। उसकी वैद्यक विद्या अपनी पृथक् पद्धति एवं चिकित्सा सम्बन्धी व्यापकता के कारण विशिष्ट महत्त्वपूर्ण है। पोषण सम्बन्धी तत्त्वों एवं रासायनिक पदार्थों का उसमें विशिष्ट रूप से विभक्तीकरण किया गया है जो पूर्णतः मात्रा और गुण पर आधारित है। विशिष्ट विधि पूर्वक निर्मित रस-रसायन-पिष्टी-भस्म-चूर्ण-वटी-लेप-घृतपाक-तैलपाक-अवलेह-मोदक आदि कल्पनाएं और समस्त वनौषधियों के प्रयोग ने इस विज्ञान को निश्चय ही मौलिक स्वरूप प्रदान किया है। अपनी सरलता और रोगमुक्त करने की क्षमता के कारण आयुर्वेद की अनेक प्रक्रियाओं ने ग्रामीण जन जीवन में इतनी आसानी से प्रवेश पा लिया कि आज भी गांवों में किसी के व्याधित या रोग पीड़ित हो जाने पर विभिन्न काढ़ों (क्वाथ), लेपों आदि के द्वारा ग्रामीण जन उपचार करते देखे जाते है। इसका मूल कारण यही है कि आयुर्वेद मानव जीवन के अत्यधिक सन्निकट है।

आयुर्वेद द्वारा प्रतिपादित रोग निदान और चिकित्सा सम्बन्धी सिद्धान्तों में रोगी के अन्तरिम प्राण बल के अन्वेषण पर भी बल दिया गया है। रोग के मूल कारण को मिथ्या आहार-विहार जनित बतला कर जिस प्रकार संयम द्वारा आहारगत पथ्य के नियम बनाए गए हैं वे अत्यन्त उत्कृष्ट एवं व्यवहारिक हैं। जो लोग एलोपथी, होमियोपैथी, प्राकृतिक चिकित्सा आदि मे विश्वास रखते हैं वे भी आज आहार के महत्त्व को समझने लगे है और रोग निवारण के लिए रोगी के चिकित्सा क्रम में संयम द्वारा विनिर्मित आहारगत पथ्य क्रम को महत्त्व देने लगे हैं।

आयुर्वेद शास्त्र को जिस प्रकार वैदिक विचार धारा और वैदिक तत्वों ने प्रभावित किया है उसी प्रकार जैन धर्म और जैन विचार धारा ने भी उसे पर्याप्त रूप से प्रभावित कर अपने अनेक सिद्धान्तों से अनुप्राणित किया है यही कारण है कि जैन वाङ्मय में भी आयुर्वेद शास्त्र का स्वतन्त्र स्थान है। अन्य विषयों या अन्य शास्त्रों की भांति वैद्यक शास्त्र की प्रामाणिकता भी जैन वाङ्मय में प्रतिपादित है । जैनागम में आयुर्वेद को भी आगम के अंगरूप में स्वीकार किया गया है । जैनागम में केवल उसी शास्त्र या विषय की प्रामाणिकता प्रतिपादित है जो सर्वज्ञ द्वारा कथित हो । सर्वज्ञ कथन के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय का कोई भी स्थान या महत्त्व नहीं है । सर्वज्ञ तीर्थंकर के मुख से जो दिव्य-ध्वनि खिरती है उसे श्रुतज्ञान के धारक गणधर अविकल रूप से ग्रहण करते हैं । गणधर द्वारा गृहीत वह दिव्यध्वनि (जो ज्ञान रूप होती है) उनके द्वारा आचाराग आदि बारह भेदो में विभक्त की गई । गणधर द्वारा निरूपित बारह भेदों को द्वादशांग की संज्ञा दी गई है । इन द्वादशांगों में प्रथम 'आचारांग' है और बारहवां 'दृष्टिवाद' नाम का अंग है । उस बारहवें दृष्टिवादांग के पांच भेद हैं—परिकर्म; सूत्र; प्रथमानुयोग; पूर्वगत और चूलिका । इनमे जो 'पूर्व' या 'पूर्वगत' नामक भेद है उसके चौदह भेद हैं । उन चौदह भेदों में 'प्राणावाय' या 'प्राणावाद' नामक एक भेद है । इसी प्राणावाय नामक अंग में अष्टांग आयुर्वेद का कथन अत्यन्त विस्तार पूर्वक किया गया है । जैन मतानुसार आयुर्वेद या वैद्यक शास्त्र का मूल द्वादशांग के अन्तर्गत यही 'प्राणावाय' नामक भेद है । इसी के अनुसार अथवा इसी के आधार पर जैनाचार्यों ने लोकोपयोगी वैद्यक शास्त्र की रचना की या आयुर्वेद प्रधान ग्रंथों का निर्माण किया । जैनाचार्यों ने 'प्राणावाय' की विवेचना इस प्रकार की है—"कायचिकित्साद्यष्टाग आयुर्वेद: भूतकर्मजांगुलिप्रक्रम: प्रणापानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत्प्राणावायम् ।"

अर्थात् जिस शास्त्र में काय, तदगत दोप और उनकी चिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद, पृथ्वी आदि पंच महाभूतों के कर्म, विषैले जीव जन्तुओ के विष का प्रभाव और उसकी चिकित्सा तथा प्राण–अपान वायु का विभाग जिसमें विस्तार पूर्वक वर्णित हो वह 'प्राणावाय' होता है ।

द्वादशांग के अन्तर्गत निरूपित प्राणावाय पूर्व नामक अग मूलत: अर्धमागधी भाषा में लिपिबद्ध है । इस प्राणावाय पूर्व के आधार पर ही अन्यान्य जैनाचार्यों ने विभिन्न वैद्यक ग्रन्थो का प्रणयन किया है । श्री उग्रादित्याचार्य ने भी प्राणावाय पूर्व के आधार पर "कल्याण कारक" नामक वैद्यक ग्रन्थ की रचना की है । इसका उल्लेख आचाय श्री ने स्थान स्थान पर किया है । ग्रंथ के अन्त मे वे लिखते है—

> सर्वार्धाधिकमागधीयविलसद् भाषापरिशेषोज्ज्वलात्
> प्राणावायमहागमादवितथं संगृह्य संक्षेपतः ।
> उग्रादित्यगुरुर्गुरुर्गुरुगुणैरुद्भासि सौख्यास्पदं
> शास्त्रं संस्कृतभाषया रचितवानित्येष भेदस्तयोः ॥

—कल्याणकारक, अ० २५, श्लो० ५४

अर्थात् सम्पूर्ण अर्थ को प्रतिपादित करने वाली सर्वार्धमागधी भाषा में जो प्राणावाय नामक महागम (महा शास्त्र) है उससे यथावत् संक्षेप रूप मे सग्रह कर उग्रादित्य गुरु ने उत्तम गुणो से युक्त सुख के स्थानभूत इस शास्त्र की रचना संस्कृत भाषा मे की। इन दोनों (प्राणावाय अंग और कल्याण कारक) में यही अन्तर है। याने प्राणावाय अग अर्धमागधी भाषा में निबद्ध है और कल्याण कारक संस्कृत भाषा में रचित है बस दोनों में यही अंतर है ।

जैनमतानुसार आयुर्वेद रूप सम्पूर्ण प्राणावाय के आद्य प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव हैं । इसके विपरीत वैदिक मतानुसार आयुर्वेद शास्त्र के आद्य प्रवर्तक या आद्युपदेष्टा ब्रह्मा हैं जिन्होंने सृष्टि की रचना से पूर्व ही उसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र की अभिव्यक्ति की जिस प्रकार बालक के जन्म के पूर्व ही माता

के स्तनों में स्तन्य (क्षीर) का आविर्भाव हो जाता है, किन्तु जैनमतानुसार यह सृष्टि अनादि और अनन्त है। अतः इसकी रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रथम और द्वितीय काल में यहां भोग भूमि की उत्कृष्ट दशा थी जिसमें सभी मनुष्यों में पारस्परिक सौहार्द भाव था। ईर्ष्या और द्वेष भाव से पूर्णतः रहित वे एक दूसरे को अत्यन्त स्नेह की दृष्टि से देखते थे। उनकी सभी अभिलाषाएं कल्पवृक्षों से पूर्ण होती थी, वे कल्पवृक्ष सभी प्रकार के मनोवांछित सुख के प्रदाता थे। अभिलषित सुख का उपभोग करने वाले भोग भूमि में उत्पन्न वे पुण्यात्मा मनुष्य यावज्जीवन उत्कृष्ट से उत्कृष्ट सुखोपभोग कर अपने आयुकर्म के क्षय के अनन्तर स्वर्ग को प्राप्त होते थे। इस प्रकार भोगभूमि मे मनुष्यों को किसी भी प्रकार कोई दुःख नहीं था और न ही वे किसी व्याधि से पीड़ित होते थे।

भोगभूमि के पश्चात् इस क्षेत्र में कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। फिर भी उपपाद शय्या में उत्पन्न होने वाले देवगण, चरम व उत्तम शरीर को प्राप्त करने वाले पुण्यात्मा अपने पुण्य प्रभाव से विष-शस्त्रादि के द्वारा होने वाले अपघात से सुरक्षित दीर्घायुषी शरीर को ही प्राप्त करते थे, किन्तु उस समय शनैः शनैः कालक्रम से ऐसे मनुष्य भी उत्पन्न होने लगे जो विष शस्त्रादि द्वारा घात होने योग्य शरीर को धारण करने वाले होते थे। उन्हे वात-पित्त-कफ के उद्रेक से महाभय उत्पन्न होने लगा। ऐसी स्थिति में भरत चक्रवर्ती आदि भव्य जन भगवान ऋषभदेव के समवसरण मे पहुंचे जो अशोक वृक्ष, सुरपुष्प वृष्टि, दिव्यध्वनि, छत्र, चामर, रत्नजडित सिंहासन, भामण्डल और देव-दुन्दुभिरूप अष्ट महाप्रातिहार्य तथा बारह प्रकार की सभाओं से वेष्टित था। वहा पहुंच कर उन्होने प्रभु से निम्न प्रकार निवेदन किया—

> देव ! त्वमेव शरणं शरणागतानामस्माकमाकुलधियामिह कर्मभूमौ।
> शीतातितापहिमवृष्टिनिपीडितानां कालक्रमात्कदशनाशनतत्पराणाम् ॥
> नानाविधामय भयादतिदुःखितानामाहारभेषजनिरुक्तिमजानतां नः।
> तत्स्वास्थ्यरक्षणविधानमिहातुराणां का वा क्रिया कथयतामथ लोकनाथ ॥
>
> —कल्याणकारक, अ० १/६-७

अर्थात् हे देव ! इस कर्मभूमि में अत्यधिक ठंड, गर्मी और वर्षा से पीड़ित तथा कालक्रम से मिथ्या आहार विहार के सेवन मे तत्पर, व्याकुल बुद्धि वाले शरणागत हम लोगों के लिए आप ही शरण है। हे तीन लोक के स्वामिन् ! अनेक प्रकार की व्याधियों के भय से अत्यन्त दुःखी तथा आहार औषधि के क्रम को नही जानने वाले हम व्याधितो (पीडितो) के लिए स्वास्थ्य रक्षा के उपाय और रोगों का नाश करने वाली क्रिया (चिकित्सा) बतलाने की कृपा करे।

इस प्रकार भगवान से निवेदन करने के पश्चात् वृषभसेन आदि प्रमुख गणधर और भरत चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुष अपने अपने स्थान पर मौन होकर अवस्थित हो गए। तब उस महान् सभा रूप समवसरण में भगवान की उत्कृष्ट देवी (साक्षात् पट्टरानी) रूप सरस वाग्देवी दिव्य ध्वनि से युक्त प्रसारित हुई। उस दिव्यध्वनि रूप सरस्वती ने सर्व प्रथम पुरुष लक्षण, रोग लक्षण, औषधियां एवं सम्पूर्णकालरूप सकल वस्तु चतुष्टय का संक्षेपतः वर्णन किया जो सर्वज्ञत्व का सूचक है।

इस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र का आविर्भाव आद्य तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के मुखारविन्द से निःसृत दिव्यध्वनि के द्वारा हुआ। इससे स्पष्ट है कि आयुर्वेद शास्त्र के आद्युपदेष्टा भगवान ऋषभदेव हैं। उनसे उपदिष्ट आयुर्वेद की परम्परा किस प्रकार से प्रसार को प्राप्त हुई, इसका विवेचन श्री उग्रादित्याचार्य ने अपने ग्रंथ कल्याणकारक में निम्न प्रकार से किया है—

दिव्यध्वनिप्रकटितं परमार्थजातं साक्षात्तथा गणधरोऽधिजगे समस्तम् ।
पश्चात् गणाधिप निरूपितवाक्प्रपंचमष्टार्धं निर्मलधियो मुनयोऽधिजग्मुः ।।
एवं जिनान्तरनिबन्धनसिद्धमार्गादायातमायतमनाकुलमर्थगाढम् ।
स्वायम्भुवं सकलमेव सनातनं तत्साक्षाच्छ्रुतं श्रुतबलैः श्रुतकेवलिभ्यः ।।

—कल्याणकारक अ० १/९-१०

अर्थात् इस प्रकार भगवान की दिव्यध्वनि द्वारा प्रकट हुआ परमार्थ रूप से उत्पन्न सम्पूर्ण आयुर्वेद शास्त्र को गणधर परमेष्ठी ने साक्षात् रूप से जान लिया। तत्पश्चात् गणधर प्रमुख द्वारा निरूपित उस वस्तु स्वरूप को मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान को धारण करने वाले निर्मल बुद्धि वाले मुनियों ने जाना। इस प्रकार यह आयुर्वेद शास्त्र अन्य तीर्थंकर द्वारा भी प्रतिपादित होने से निरन्तर चला आया है। (याने आद्य तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लेकर चौवीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर पर्यन्त सभी तीर्थंकरों के मुखारविन्द से निःसृत दिव्यध्वनि द्वारा इसका प्रतिपादन किया गया है।) अतः अन्य तीर्थंकरों द्वारा कथित सिद्ध मार्ग से आया हुआ यह आयुर्वेद शास्त्र अत्यन्त विस्तृत, दोषरहित एवं अर्थगाम्भीर्य से युक्त है। तीर्थंकरों के मुखकमल से स्वतः समुद्भूत होने से स्वयम्भू है और बीजांकुर न्याय से (पूर्वोक्त क्रम से) अनादि काल से सतत चले आने से सनातन है। ऐसा यह आयुर्वेद शास्त्र गोवर्धन, भद्रबाहु आदि श्रुतकेवलियों के मुख से अल्पांगज्ञानी या अंगांग ज्ञानी मुनिवरों द्वारा साक्षात् रूप से सुना हुआ (सुनकर ग्रहण किया हुआ) है। तात्पर्य यह है कि श्रुतकेवलियों ने अन्य मुनियों को इस शास्त्र का उपदेश दिया।

अल्पांगज्ञानी या अंगांगज्ञानी उन मुनिवरों ने अपने शिष्यों या अन्य मुनियों को इस शास्त्र का उपदेश दिया और उन्होंने उस ज्ञान के आधार पर पृथक्-पृथक् रूप से ग्रंथों के रूप में निबद्ध कर लोकहित की दृष्टि से उसे प्रचारित किया। इस प्रकार आयुर्वेद सम्बन्धी अनेक ग्रंथों का प्रणयन कालान्तर में करुणाधारी मुनिजनों द्वारा किया। कालक्रम, आलस्य और उपेक्षा के कारण आज अनेक ग्रंथ कालकवलित या विलुप्त हो चुके हैं। जो बचे हैं उनके सरक्षण की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया जा रहा है और न ही उसके लिए कोई उपाय किए जा रहे हैं। अतः शनैः शनैः शेष बचे हुए ग्रंथों के भी विलुप्त होने की सम्भावना है।

आयुर्वेद शास्त्र का मनोयोग पूर्वक अध्ययन करने वाले और उसमें निष्णात व्यक्ति को 'वैद्य' कहा जाता है ऐसा कथन तज्ज्ञ मुनिजनों ने किया है। वैद्यों का शास्त्र होने से इसे वैद्य शास्त्र या वैद्यक शास्त्र भी कहते हैं। श्री उग्रादित्याचार्य ने वैद्य एवं आयुर्वेद शब्द को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है—

विद्येति सत्प्रकटकेवललोचनाख्या तस्यां यदेतदुपपन्नमुदारशास्त्रम् ।
वैद्यं वदन्ति पदशास्त्रविशेषणज्ञा एतद्विचिन्त्य च पठन्ति च तेऽपि वैद्या ।।
वेदोऽयमित्यपि च बोधविचारलाभात्तत्वार्थसूचकवचः खलु धातुभेदात् ।
आयुश्च तेन सह पूर्वनिबद्धमुद्यच्छास्त्राभिधानमपरं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।।

—कल्याणकारक अ० १/१८-१९

अर्थात् अच्छी तरह से उत्पन्न केवलज्ञान रूपी चक्षु को विद्या कहते हैं। उस विद्या से उत्पन्न उदार शास्त्र को व्याकरण शास्त्र के विशेषज्ञ वैद्यशास्त्र कहते है। उस उदार शास्त्र को जो लोग अच्छी तरह मनन पूर्वक पढ़ते हैं वे वैद्य कहलाते हैं। यह आयुर्वेद भी कहलाता है। इसमें 'वेद' शब्द विद् धातु से निष्पन्न है। विद् धातु बोध (ज्ञान), विचार और लाभ अर्थ वाली है। यहां वेद शब्द का अर्थ वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बतलाने वाला है याने तत्त्व के अर्थ को प्रतिपादित करने वाले वचन। इस वेद शब्द के पहले 'आयुः' शब्द जोड़ दिया जाय तो 'आयुर्वेद' शब्द निष्पन्न होता है। अतः उस वैद्यशास्त्र के ज्ञाता उस शास्त्र का अपर (दूसरा) नाम आयुर्वेद शास्त्र कहते हैं।

आयुर्वेद के विशिष्टार्थ एवं विस्तृत व्याख्या के सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि जिस शास्त्र में आयु का स्वरूप प्रतिपादित किया गया हो, जिस शास्त्र का अध्ययन करने से आयु सम्बन्धी विस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है अथवा जिस शास्त्र के विषय में विचार करने से हितकर आयु, अहितकर आयु, सुखकर आयु और दुखकर आयु के विषय में जानकारी प्राप्त होती है अथवा जिस शास्त्र में बतलाए हुए नियमों का पालन करने से दीर्घायु प्राप्त की जा सकती है उसका नाम आयुर्वेद है। इसी प्रकार स्वस्थ और अस्वस्थ मनुष्य की प्रकृति, शुभ और अशुभ बतलाने वाले दूत एवं अरिष्ट लक्षण इत्यादि के उपदेशों से जो शास्त्र आयु का विषय अर्थात् यह स्वल्पायु है अथवा मध्यमायु है या दीर्घायु है इन सब विषयों का ज्ञान करा देता है वह आयुर्वेद है।

यहां यह स्मरणीय है कि आयु शब्द का अर्थ वय नहीं करना चाहिये। आयु और वय में पर्याप्त भिन्नता है। आयु शब्द यावज्जीवन काल का बोधक है जबकि वय शब्द जीवन की एक निश्चित कालावधि का द्योतक है। अतः आयु शब्द का व्यापक अर्थ ग्रहण करते हुए आयुर्वेद के सन्दर्भ मे उसकी जो विवेचना मनीषियों द्वारा की गई है वह यथार्थ है। तदनुसार आयु के लिए कौनसी वस्तु लाभदायक है अथवा किस वस्तु या विषय के सेवन से आयु की हानि हो सकती है? किस प्रकार की आयु हितकर है और किस प्रकार की आयु अहित कर है? यह सम्पूर्ण विषय जिस शास्त्र मे वर्णित होता है तथा आयु को बाधित करने वाले रोगों का निदान और उनका प्रतिकार करने के उपायो (चिकित्सा) का वर्णन जिस शास्त्र में किया गया है उसे विद्वानों ने आयुर्वेद संज्ञा मे अभिहित किया है। इस शास्त्र के द्वारा पुरुष चूंकि आयु को प्राप्त करता है तथा आयु के विषय में जान लेता है, अतः मुनिश्रेष्ठो द्वारा इसे 'आयुर्वेद' कहा गया है। तात्पर्य यह है कि इस शास्त्र का विधिपूर्वक अध्ययन करके यदि समुचित ज्ञान प्राप्त कर लिया जाता है तो मनुष्य को दीर्घायु प्राप्त करने और अपनी आयु का संरक्षण करने का उपाय सहज ही ज्ञात हो जाता है, क्योंकि इस शास्त्र में प्रतिपादित आहार-विहार सम्बन्धी नियमों और अन्य सदाचारों का पालन करने से दीर्घायु की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए मुनिवरों ऋषियों और आचार्यों ने इसे आयुर्वेद के नाम से कहा।

यह वैद्य शास्त्र लोकोपकार के लिए प्रतिपादित किया गया है। इसका प्रयोजन द्विविध है—

१. स्वस्थ पुरुषों के स्वास्थ्य की रक्षा करना और २. रोगी मनुष्यों के रोग का प्रशमन करना। श्री उग्रादित्याचार्य ने वैद्य शास्त्र के ये ही दो प्रयोजन बतलाए हैं। यथा—

लोकोपकरणार्थमिदं हि शास्त्रं
शास्त्रप्रयोजनमपि द्विविधं यथावत्।
स्वस्थस्य रक्षणमथामयमोक्षणं च
संक्षेपतः सकलमेव निरूप्यतेऽत्र ॥

—कल्याणकारक अ० १/२४

इस शास्त्र में भगवान जिनेन्द्र देव के अनुसार दो प्रकार का स्वास्थ्य बतलाया गया है—पारमार्थिक स्वास्थ्य और व्यवहार स्वास्थ्य। इन दोनो में पारमार्थिक स्वास्थ्य मुख्य है। परमार्थ स्वास्थ्य का निम्न लक्षण बतलाया गया है—

अशेषकर्मक्षयजं महाद्भुतं यदेतदात्यन्तिकमद्वितीयम्।
अतीन्द्रियं प्रार्थितमर्थवेदिभिः तदेतदुक्तं परमार्थनामकम् ॥

—कल्याणकारक, अ० २/३

अर्थात् आत्मा के सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने से उत्पन्न, अत्यन्त अद्भुत, आत्यन्तिक एवं अद्वितीय, विद्वानों द्वारा अपेक्षित जो अतीन्द्रिय मोक्षसुख है उसे ही पारमार्थिक सुख कहते हैं।

व्यवहार स्वास्थ्य का लक्षण निम्न प्रकार बतलाया गया है—

समाग्नि धातुत्व मदोषविभ्रमो मलक्रियात्मेन्द्रियसुप्रसन्नता ।
मनः प्रसादश्च नरस्य सर्वदा तदेवमुक्तं व्यवहारजं खलु ।।

—कल्याणकारक अ० २/४

अर्थात् मनुष्य के शरीर में सम अग्नि (अविकृत जठराग्नि) होना, धातुओं का सम होना, वात-पित्त-कफ तीनों का विभ्रम (विकृत) नहीं होना, मलों (स्वेद मूत्र-पुरीष) की विसर्जन किया यथोचित रूप से होना, आत्मा, इन्द्रिय और मन की प्रसन्नता सदैव रहना यह व्यवहारिक स्वास्थ्य का लक्षण है ।

इस प्रकार द्विविध स्वास्थ्य का लक्षण कहने का आशय यह है कि पहले मनुष्य सम्यक् आहार विहार द्वारा व्यवहारिक स्वास्थ्य याने शारीरिक स्वास्थ्य का लाभ और उसका अनुरक्षण करे । तत्पश्चात् स्वस्थ शरीर द्वारा अशेष कर्म क्षयकारक तपश्चरण आदि क्रियाओं से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके अक्षय, अविनाशी सुखरूप पारमार्थिक स्वास्थ्य का लाभ लेवे । इसे ही अन्य शास्त्रों में आध्यात्मिक सुख भी कहा गया है । मनुष्य जब उस परम सुख को प्राप्त कर लेता है तो उसके लिए और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता । उसे चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है और उसका जीवन सफल एवं सार्थक हो जाता है । यही इस आयुर्वेद शास्त्र का मूल प्रयोजन है और इसी प्रयोजन के लिए वह प्रवर्तित है ।

यहां आयुर्वेद के विषय में संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त है । विस्तार भय से अधिक कुछ नहीं लिखा जा रहा है । वैसे तो यह सम्पूर्ण विषय ही इतना विशाल एवं अगाध है कि उसका पार पाना ही असंभव है । किन्तु जन सामान्य में रोगोपचार हेतु इसका व्यापक प्रचलन देखते हुए यहां कतिपय चिकित्सा योगों को उद्धृत करना आवश्यक समझता हूं ताकि सभी लोग उनका व्यवहार कर उनसे अपेक्षित लाभ उठा सकें । कुछ उपयोगी योग निम्न हैं—

१ गिलोय, सोंठ, नागरमोथा और जवासा इन सबका क्वाथ बना कर देने से ज्वर नष्ट होता है ।

२ गिलोय, सोंठ और पीपलामूल इन सबका काढा बना कर पीने से वात ज्वर मिटता है ।

३ पित्तपापडा, नागरमोथा, चिरायता इनका काढ़ा बनाकर १-१ तोला प्रातः सायं पीने से पित्त ज्वर नष्ट होता है ।

४ मीठा अनार का रस पिलाने से या फालसा के रस में सेंधा नमक मिलाकर देने से पित्त ज्वर शान्त होता है ।

५ नीम की छाल, सोंठ, गिलोय, कटा पोहकर मूल, कुटकी, कचूर, अडूसा, कायफल, पीपली और शतावरी इनको ३-३ माशा लेकर इनका काढा बनाकर देने से कफज्वर शान्त होता है ।

६ कायफल, पीपल, काकडासिगी, पोहकर मूल समभाग लेकर इनका बारीक चूर्ण ३ माशा की मात्रा में मिश्री की चासनी के साथ देने से कफ ज्वर नष्ट होता है ।

७ कायफल, पीपलामूल, इन्द्रजौ, भारंगी, सौंठ, चिरायता, काली मिर्च, पीपल, काकड़ासिगी, पोहकरमूल, रास्ना, दोनों कटेरी, अजमोद, छड़, बच, पाठ, अडूसा, चव्य इन सबको समभाग लेकर ८ माशा का क्वाथ बनाकर दोनों समय देने से सन्निपात ज्वर, सभी प्रकार के वातरोग, ज्ञान का न होना, पेट का शूल, आफरा, वाय व कफ विकारो का नाश होता है ।

८ धनिया और पित्तपापड़ा का क्वाथ पीने से जीर्ण ज्वर (पुराना ज्वर) मिटता है ।

९ जो जीर्ण या मलेरिया ज्वर कुनैन आदि औषधियों के सेवन से नहीं मिटता है वह ज्वर दारु-हल्दी का चूर्ण या क्वाथ देने से मिट जाता है ।

१० पित्त पापड़ा और गिलोय के काढ़े में काली मिर्च का चूर्ण डाल कर पिलाने से जीर्ण ज्वर और खांसी में लाभ होता है ।

११ विषम ज्वर (मलेरिया) की स्थिति में सुदर्शन चूर्ण गरम जल से देने से ज्वर शान्त होता है ।

१२ बकरी के दूध में सोंठ का बारीक चूर्ण मिलाकर या सोंठ को घिस कर सिर पर लेप करने से सिरदर्द ठीक होता है ।

१३ अरीठा को १-२ काली मिर्च के साथ पानी में पीस कर नास देने से आधाशीशी मिट जाता है ।

१४ हरड़ की गुठली को पानी में पीस कर लेप करने से आधाशीशी की पीड़ा मिट जाती है ।

१५ प्रातः साय दूध के साथ गुलकन्द का सेवन करने से स्मरण शक्ति बढ़ती है ।

१६ घी और दूध के साथ १ माशा बच का चूर्ण लेने से स्मृति की वृद्धि होती है ।

१७ ब्राह्मी से निर्मित घृत या मण्डूकपर्णी का स्वरस या गव्य दुग्ध के साथ यष्ठीमधु (मुलेठी) का चूर्ण या गिलोय स्वरस या मूल और पुष्प युक्त शखपुष्पी के कल्क का प्रयोग करने से मेधा की वृद्धि होती है । अतः ये मेध्य रसायन है । इनमें ब्राह्मी एवं शंख पुष्पी विशेषतः मेध्य है ।

१८ अडूसा, मुनक्का और मिश्री का सेवन करने से सूखी खांसी मिट जाती है ।

१९ केर की लकडी की भस्म १ रत्ती की मात्रा में मिश्री की चासनी के साथ खाने से सूखी खांसी मे लाभ होता है ।

२० अदरक का रस, नागरबेल के पान का रस और तुलसी पत्तों का रस सम भाग लेकर उसमें मिश्री मिला कर पीने से कफज खांसी मे लाभ होता है ।

२१ मिश्री १६ तोला, वंशलोचन ८ तोला, पिप्पली ४ तोला, छोटी इलायची २ तोला और दाल चीनी १ तोला इनको कूट छान कर बारीक चूर्ण बना लें । यह सितोपलादि चूर्ण श्वास, कास, हाथ-पैर की जलन, पित्त विकार आदि में अत्यधिक लाभकारी है ।

आयुर्वेद और जैनाचार

❖ वैद्यराज पं० धर्मचन्द्र जैन,

जैन दर्शन शास्त्री, काव्यतीर्थ, आयुर्वेदाचार्य

[यशवन्तराव आयुर्वेदीय जैन औषधालय, इन्दौर]

आयुर्वेद और जैनाचार इस विषय पर अपना मन्तव्य प्रगट करने के पहिले में यह कहना चाहूंगा कि आयुर्वेद या जीवन विज्ञान विश्व के उन महत्वपूर्ण विषयों में से एक है जिसके सिद्धांतों, उपयोगिता व अनिवार्यता से विश्व के सभी लोग सहमत हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा अनुसंधान के अनुरूप इस विषय की विवेचन प्रणाली मे यथा समय परिवर्तन होते रहना स्वाभाविक है। आयुर्वेद विश्व का प्राचीनतम चिकित्सा विज्ञान है। जिसका उद्गम भारत वर्ष में हुआ है। शेष प्रचलित चिकित्सा शास्त्र (एलोपैथी, यूनानी, होमियोपैथी इत्यादि) इसके अंग कहे जा सकते है। इस तथ्य को विश्व के सभी ऐतिहासिकों ने स्वीकार किया है। वर्तमान युग में कुछ नवीन भौतिक व वैज्ञानिक तथ्यों का सामने आना व उसके प्रकाश में आर्युविज्ञान में भी नवीनता का आभास अस्वाभाविक नही, किन्तु ये सब तथ्य उसी परिधि के अन्दर परिलक्षित होते हैं जिसकी नीव दिव्य ज्ञानधारी विवेचकों ने डाली थी।

आयुर्वेद भारतीय आगम का एक मुख्य अंग है। जिसका मूल स्रोत जैनागम के अनुसार चौदह पूर्वों मे से 'प्राणिवाद' नामक पूर्व है। जो त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ की वाणी है। इसी पक्ष को अन्य भारतीय आगमों में आयुर्वेद को अथर्ववेद के उपागरूप में स्वीकार किया है। वहां पर वेदों को अपौरुषेय माना गया है। इन दोनों मान्यताओं का उद्देश्य समान है। वह है इसकी प्रामाणिकता। आप्त वाक्यों को सभी जगह संदेहातीत माना है। आप्तोपदेश का अंश ही आयुर्वेद है। आयुर्वेद एक शाश्वत जीवन शास्त्र है। भले ही इसके उद्गम का इतिहास ४–५ हजार वर्ष से अधिक पुराने उपलब्ध साहित्य के आधार पर न मिलता हो, किन्तु इस ऐतिहासिक धारणा का खण्डन आयुर्वेद शब्द की निरुक्ति एवं अर्थ से ही हो जाता है। तथाहि—

आयुषो वेदः आयुर्वेदः—अर्थात् आयु-जीवन या जिन्दगी का जो वेद या शास्त्र है उसे आयुर्वेद कहते हैं। भारतीय शब्द शास्त्रज्ञों ने अनेक निरुक्त्यर्थों द्वारा इसी तथ्य को प्रमाणित किया है। आयु और अनेकार्थक विद्लृ धातु से आयुर्वेद शब्द बना है। आयुर्वेद शास्त्र की प्राचीनतम आर्य संहिता सुश्रुत में आयुर्वेद शब्द की कितनी व्यापक विशद निरुक्ति की है सो मननीय है। तथाहि—

(१) आयुरस्मिन् विद्यते, अनेनवा आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः।
(२) आयुः शरीरेन्द्रिय सत्त्वात्मसंयोगः, तदस्मिन्नायुर्वेदे विद्यते अस्तीत्यायुर्वेदः।

अथवा

(३) आयुर्विद्यते ज्ञायते अनेनेत्यायुर्वेदः।
(४) आयुर्विद्यते, विचार्यते अनेन वेत्यायुर्वेदः।
(५) आयुरनेन विन्दति प्राप्नोतीत्यायुर्वेदः।

अर्थात् इसमें आयु रहती है अथवा इसके द्वारा आयु जानी जाती है अथवा इसके द्वारा आयु के विषय में विचार ऊहापोह किया जाता है अथवा इसके द्वारा आयु को प्राप्त किया जाता है। इसलिये इसे आयुर्वेद कहते हैं। आयु का अर्थ होता है शरीर इन्द्रियां मन और आत्मा इनका संयोग। अर्थात् शरीर इन्द्रिय आत्मा और मन का जब तक सम्बन्ध रहता है उसे आयु कहते हैं। इस आयु का सर्वतोमुखी विवेचन जिस शास्त्र में है वह आयुर्वेद है। आयुर्वेद की दूसरी और प्राचीनतम संहिता चरक में भी आयु शब्द का और भी व्यापक विवेचन किया है। तथाहि—

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥ च. सू. अ. १

जीव का हित, अहित, सुख और दुख इसका नाम आयु है। इस आयु के लिये पथ्य (हितकर) अपथ्य (अहितकर) और आयु के परिमाण (स्थिति काल) का विवेचन जिस शास्त्र में है उसे आयुर्वेद कहते हैं। अन्यच्च—

शरीरेन्द्रिय सत्त्वात्म संयोगो धारिजीवितम्।
नित्यगश्चान बन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते॥ च. सू. अ. १

शरीर इन्द्रियां मन और आत्मा इनके संयोग का नाम आयु है। नित्यग, अनुबंध, ये आयु के पर्यायवाची शब्द हैं। इसका सीधा अर्थ हुआ कि जबसे शरीरादि का सम्बन्ध है और जब तक रहेगा तब तक के अपरिमेय काल का नाम आयु है। इस असीम आयु के हिताहित का विशद विश्लेषण करने वाला शास्त्र ही आयुर्वेद है।

वर्तमान आयुर्वेद का आधार चरक संहिता के तात्त्विक विश्लेषण से वैशेषिक दर्शन, और सुश्रुत संहिता की विवेचन शैली व दार्शनिक सिद्धातों के अनुरूप सांख्य दर्शन हैं ये दोनों दर्शन आत्मा या जीव की अनादिता व नित्यत्व को स्वीकार करते है। जैनदर्शन ने जीव का यह स्वरूप सापेक्ष दृष्टिकोण से मान्य किया है। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टिकोण से जीव अनादि व अनन्त है। इसलिये उसका प्रतिपादक साहित्य व उसका मौलिक अस्तित्व भी अनादि है। इसके समर्थक प्रमाणों, उद्धरणों से आयुर्वेदागम भरा पड़ा है, किन्तु विस्तार भय से उन्हें यहां नहीं लिखा गया। आयुर्वेद की उक्त परिभाषा के अन्तर्गत अनादि-अनिधन जीव के जन्म से

लेकर तद्भव मरण पर्यन्त ही नही, अपितु असंख्य भव भवान्तरों तक उसके हिताहित के विवेचन के उत्तरदायित्व का भार और अंततोगत्वा मुक्ति तक पहुंचा देने का उत्तरदायित्व भी आयुर्वेद का है। इसलिये अन्य शास्त्रों की तुलना में इसका महत्त्व कम नहीं है।

जैनागम में आयुर्वेदिक साहित्य इस समय यद्यपि प्रचुर रूप में उपलब्ध नहीं होता है, किन्तु प्राचीन काल में अन्य साहित्य की भांति इस विषय पर भी जैनाचार्यों ने पर्याप्त लिखा है। श्री उग्रादित्याचार्य (लगभग ११ वीं शताब्दी) कृत और श्रीमान् पं० वर्द्धमान पार्श्वनाथजी शास्त्री द्वारा संपादित 'कल्याणकारक' नामक ग्रंथ ही एक मात्र जैनायुर्वेद का प्रतीक है, किन्तु इसके अलावा भी विशाल साहित्य जैनायुर्वेद का रहा है यह निर्विवाद है। जैनसिद्धांत के सुप्रसिद्ध आचार्य पूज्यपाद ने भी आयुर्वेद पर कई ग्रंथ लिखे हैं। पूज्यपाद आचार्य के अनेक योग तो अपने मूल रूप में अजैनाचार्यों द्वारा निर्मित आयुर्वेदिक ग्रंथो में मिलते है। ऐसे योगों के अन्त में पूज्यपाद स्वामी का नाम अंकित रहता है। श्वेताम्बर जनाचार्यों द्वारा निर्मित आयुर्वेदिक साहित्य का पर्याप्त उल्लेख भी मिलता है। जैनाचार्योक्त आयुर्वेदिक ग्रंथों में जैनसिद्धांतों की छाप स्पष्टतया रहती है। जैनाचार का प्राण अहिंसा सिद्धांत का इसमें पूर्णतया संरक्षण किया है।

मैंने पहिले ही लिखा है कि गणित, विज्ञान, चिकित्सा जैसे विषयों के सिद्धान्त सर्वमान्य सामान्य हुआ करते हैं, किन्तु विषय प्रतिपादन की प्रणाली, निर्माता, प्रतिपादक व्यक्ति के दार्शनिक तथा व्यक्तिगत विचारों और परिवर्तित द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से ये सिद्धात प्रभावित हुए बिना नही रहते। जैनायुर्वेद और इतर आयुर्वेद साहित्य में इन्हीं कारणों से मौलिक अन्तर है। उपलब्ध जैनेतर साहित्य के पथ्या-पथ्य (खानपान) का स्वरूप जैनायुर्वेद से नितान्त विपरीत है। अजैनायुर्वेद में स्वास्थ्य सरक्षण और रोग निराकरण के लिये मांस, मद्य और किसी सीमा तक मधु को मूल भित्ति के रूप मे स्वीकार किया है। जबकि अहिंसा सिद्धांत विरोधी होने से जैन आयुर्वेद ने इन्हें (मद्य मांस मधु) को छुआ तक नही है। जैनाचार का मूल स्रोत मद्य, मांस, मधु का त्याग है। इस स्थिति में जैनाचार और आयुर्वेद के सम्बन्ध की कल्पना भी मुश्किल है, किन्तु यह ऐकान्तिक भ्रम मात्र होगा। तथ्य इससे भिन्न है, पथ्या-पथ्य और आहार के विषय में अन्तर होते हुए भी इन दोनों का सम्बन्ध इनके अस्तित्व काल से ही है। प्रयत्न करने पर भी उसे पृथक नही किया जा सकता।

आयुर्वेद का उद्देश्य व्याधिग्रस्त लोगों की व्याधि दूर करना और स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना है तथाहि—"इह खल्वायुर्वेद प्रयोजनम् व्याध्युपस्टष्टाना व्याधि परिमोक्षः, स्वस्थस्य रक्षणं चं (सुश्रुत)" अर्थात् रोगग्रस्त को रोग से मुक्त करना और स्वस्थ जीव की रक्षा करना आयुर्वेद का उद्देश्य है। यहां पर व्याधि शब्द दूषित हुए वातादि दोष जन्य ज्वरादि शारीरिक रोगों, और संसार परम्परा के जनक रागद्वेष क्रोधादि मानसिक विकारो का बोधक है। इन दोनों प्रकार के रोगो को दूर करना न केवल भौतिक खान-पान और प्रवृत्ति निवृत्ति पर निर्भर है, अपितु वैचारिक शुभ शुद्ध समीचीन प्रवृत्ति की भी अपेक्षा रखता है। इस दिशा में जैनाचार को महत्त्व अनिवार्य है। आचार शब्द का व्यापक अर्थ इस क्षेत्र में आचार्यों ने स्वीकार किया है। "आ समन्तात् चरणमाचारः" अर्थात् व्यक्ति का जो अन्तरग और बहिरंग समीचीन क्रिया कलाप होता है उसे आचार कहा है। वृत्त, नियम, उपवास सामायिक, संध्यावंदन आदि सभी धार्मिक नियमों व क्रियाओं का समावेश इसमें हो जाता है। यह सबका सब आचार-विचार आयुर्वेद के सदवृत्त (सदाचार) में भी है। जिसका दिग्दर्शन आगे किया जा रहा है। यही शुभ प्रवृत्ति उत्कर्ष करती हुई जब अभ्यासवश निवृत्ति का रूप धारण कर लेती है और इसके मूल नायक जीव की अपने गन्तव्य चरम लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त करा देती है तभी यह आचार अपने सही रूप मे चरितार्थ होता है। आयुर्वेद भी इसी लक्ष्य (लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय) की प्राप्ति में फलितार्थ होता है। अपने कथन के प्रमाण में आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध अन्यतम आचार्य, वाग्भट संहिता के लेखक वाग्भट का निम्न श्लोक ही पर्याप्त होगा।

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनः स्वस्थ इत्यभिधीयते ।। (वाग्भट सू०)

जिस व्यक्ति के वात-पित्त-कफ दोष समान है, रस रक्तादि धातुओं का निर्माण व मल मूत्र का विसर्जन स्वाभाविक रूप में होता है, तथा मन इन्द्रियां और आत्मा प्रसन्न है वह स्वस्थ है। यहां संसारावस्था में मन और आत्मा की प्रसन्नता न केवल इच्छानुरूप आहार पर निर्भर है, अपितु आकुलता के उत्पादक रागद्वेषादि दोषों की कमी व अभाव की अपेक्षा रखती है। फिर आत्मा की आत्यन्तिक प्रसन्नता तो रागद्वेषादि दोषों से नितान्त छुटकारा मिलने पर ही होती है। इसी परम शुद्ध अवस्था का नाम पूर्ण स्वास्थ्य और उसके मायक जोव का नाम स्वस्थ है। "स्वे आत्मनि तिष्ठतीति स्वस्थः।" स्पष्ट है कि जैनाचार्य का आयुर्वेद से अंगांगिभाव सम्बन्ध हैं। अपने मन्तव्य के समर्थन में जैनेतर आयुर्वेद के सभी उद्धरणों का उल्लेख करने से लेख का कलेवर बढ़ जाने का भय है फिर भी आवश्यक अंशों का संकेत उपयोगी मान उन्हें यहां लिखा जाता है। सुश्रुत में कहा है—

तद्दुःख संयोगो व्याधय उच्यन्ते। ते चतुर्विधा—आगन्तवः, शारीराः मानसाः, स्वाभाविकाश्चेति । तेषामागन्तवोऽभिघातनिमित्ता। शारीरा स्त्वन्नपान मूला वातपित्तकफशोणितसन्निपात वैषम्यनिमित्ता। मानसास्तु क्रोधशोकभयहर्षविषादेर्ष्याभ्यसूयादैन्यमात्सर्यकामलोभप्रभृतयः इच्छाद्वेष भेदैर्भवन्ति । स्वाभाविकास्तु क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्रा प्रभृतयः ।।

दुखों के सयोग का नाम व्याधि है वे चार प्रकार की होती हैं—(१) आगंतुक (अभिघात चोट, अभिषंग अभिचार से पैदा होने वाली) (२) शारीरिक—ज्वर रक्तपित्त आदि (३) मानसिक क्रोध, लोभ, हर्ष ईर्ष्या आदि। (४) स्वाभाविक—भूख, प्यास, बुढ़ापा, नींद, मृत्यु आदि इन्हें दूर करना आयुर्वेद का लक्ष्य है। यही उद्देश्य जैनाचार का भी है। अतः यह सुस्पष्ट है कि जैनाचार बिना आयुर्वेद अधूरा है। जहां तक आहार व औषध के रूप में मद्य मांस, मधु, के सेवन का प्रतिपादन और तन्निमित्त मात्र हिंसा के समर्थन का प्रश्न है, वह आयुर्वेद के प्रणेता आचार्यों के निजी दर्शन व संप्रदाय का है। जिससे बचा नही जा सकता। दार्शनिक क्षेत्र के विवाद की तरह आयुर्वेदिक क्षेत्र में इतना मतवैषम्य आश्चर्यजनक और अस्वाभाविक नही। आयुर्वेद और जैनाचार की प्रवृत्ति व उद्देश्य समान है। इसमें दो मत नहीं हो सकते। जैनायुर्वेदिक ग्रंथ 'कल्याण कारक' में भी स्वास्थ्य का विश्लेषण इसी प्रकार किया है। तथाहि—

अथेह भव्यस्य नरस्य साम्प्रतं, द्विधैव तत्स्वास्थ्य मुदाहृत जिनैः ।
प्रधानमाद्यं परमार्थमित्यतो, द्वितीय मन्यद् व्यवहार सम्भवम् ।।

अर्थात् परमार्थ स्वास्थ्य (आध्यात्मिक स्वास्थ्य) और व्यवहार स्वास्थ्य (शारीरिक स्वास्थ्य) के भेद से स्वास्थ्य दो प्रकार का जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। इन दोनों प्रकार के स्वास्थ्यों की सिद्धि सम्यगाचार विचार व व्यवहार से ही हो सकती है। यह सर्व सम्मत राय है।

उपलब्ध आयुर्वेद संहिताओं के स्वस्थ वृत्त या स्वास्थ्य के नियमों का परिशीलन या पठन करते समय इसमें व धर्म के अंगभूत आचारशास्त्र के नियमोपनियमों में भेद कर सकना मुश्किल है। जैन गृहस्थाचार, जिसका मूल सप्तव्यसन का त्याग और श्रावक के १२ व्रत (पंचाणुव्रत, चार शिक्षाव्रत और ३ गुणव्रत) हैं, इनका इसी नाम से उल्लेख यद्यपि स्वास्थ्य संरक्षक या स्वास्थ्यप्रद आयुर्वेदिक आचार मे नहीं है, किन्तु वे वही हैं, केवल नाम मात्र का अन्तर है, इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता। जैनाचार में जिस प्रकार ऐहिलौकिक सुख सामग्री व अभ्युदय प्राप्त करने का, उनके भोग करने का सीमित विधान है और आध्यात्मिक

आत्यन्तिक सुख (मोक्ष) को मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य माना है बिल्कुल यही स्थिति आयुर्वेदाचार में भी है। उदाहरण के तौर पर सुप्रसिद्ध आयुर्वेद ग्रंथ 'वाग्भट' और 'चरक संहिता' के कुछ उद्धरण यहां दिये जाते है।

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वा प्रवृत्तयः।
सुखं च न बिना धर्मात्तस्माद्धर्म वरोभवेत् ।।
हिंसास्तेयान्यथा काम मैथुन्य परूषानृते ।
संभिन्नालाप व्यापादमभिध्यादृग्विपर्ययम् ।।
पापं कर्मेतिदशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत् ।
अवृत्ति व्याधिशोकार्तमनुवर्तेत शक्तितः ।।
आत्मवत्सतत पश्येदपि कीटपिपीलिकाम् ।
संपद्विपत्स्वेकमना हेतावोर्प्येत्फलेन तु ।।
कालेहितं मितं ब्रूयादविसम्वादिमपेशलम् ।
अनुयायात्प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम् ।।
आर्द्रसंतानता त्यागः कायवाक्चेतसा दमः।
स्वार्थबुद्धि परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्वृतम् ।।
नक्त दिनानि मे यान्ति कथं भूतस्य सम्प्रति ।
दुःखभाग् न भवत्येव नित्यं सन्निहित स्मृतिः ।।
इत्याचारः समासेन यं प्राप्नोति समाचरन् ।
आयुरारोग्यमैश्वर्य यशोलोकाश्च शाश्वतान् ।।

(वाग्भट सूत्रस्थान)

प्राचीनतम चरक संहिता का यही प्रकरण पढ़ते समय यही कल्पना होती है कि यह सद्वृत्त किसी जैनाचार ग्रंथ का है। गृहस्थ के १२ व्रतों का मूलरूप एवं उनके अतिचार का प्रायः समस्त वर्णन इसमें है। इसके अलावा और जैनाचार क्या है ? रही मोक्ष की बात सो आयुर्वेद शास्त्र मे भी अन्ततोगत्वा लक्ष्य यही रखा गया है, क्योंकि इसकी नींव वैशेषिक व सांख्य दर्शन पर है जो परम आस्तिक व आत्मा की नित्यता के पोषक हैं। आत्मा की चरम शुद्ध अवस्था भी वे स्वीकार करते है। देखिये चरक के सद्वृत्त का कुछ अंश जो मूलतः जैनाचार से मेल खाता है—

नानृतं ब्रूयात। नान्यस्वमाददीत। नान्यस्त्रियमभिलषेत्। नान्यश्रियम्। न कुर्यात्पापम्। नान्यदोषान्ब्रूयाद्। नान्यरहस्यमागमयेत्। न भूमिं विलिखेन। न छिन्दयात्तृणम्। न लोष्टं मृन्दीयात्। न नियमं भिन्द्यात्। न मद्यद्यूतवेश्याप्रसंगरूचीः स्यात्। नंकः सुखी। नेन्द्रिय वशगः स्यात्। ब्रह्मचर्यज्ञानदानमैत्री कारुण्यहर्षोपेक्षा प्रशमपरश्च स्यात्।

(चरकसूत्र अ० -८)

ऊपर के आयुर्वेदिक उद्धरणों की भाषा व अर्थ बहुत सरल है। अतएव उसका हिन्दी अनुवाद न कर इतना संकेत मात्र पर्याप्त होगा कि यह सारा वर्णन जैनाचार का ही अंग है। अहिंसादिक पांच अणुव्रतों का सैद्धान्तिक विश्लेषण, अनर्थदण्डव्रत व उसके भेदों का अविकल स्वरूप, और प्रौषधादिक चारों दानों की

उपादेयता, नैकः सुखी स्यात् के रूप में जैनदर्शन के अन्यतम स्तंभ 'अपरिग्रहवाद' को गागर में सागर के रूप मे भर दिया है। नेन्द्रिय वशगः स्यात् कहकर समग्र इन्द्रिय संयम, 'आत्मवत्सततं पश्येदपि कीट पिपीलिकाम्' का निर्देशकर समूचा प्राणि संयम बता दिया है। 'हिंसास्तेयान्यथाकामं मैथुन्ये परुषानृते सम्भिन्नालाप व्यापादम-भिध्यादृग्विपर्ययम् ।' 'पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत्' । इनमें जैनाचार के सभी पाप कर्मों का त्याग और इनके विपरीत उत्तम क्षमादिक दश धर्मों के मन, वचन, काय से पालन करने का स्पष्ट निर्देश है। 'सर्वधर्मेषु, मध्यमांगति अनुयायात्,' यह संकेत जैनदर्शन की रीढ अनेकांतवाद एवं स्यादवाद को स्वीकार करने का आदेश देता है। साराश यह है कि आयुर्वेद न केवल चिकित्सा प्रणाली या पैथी मात्र है अपितु जीवन विज्ञान है। जीव के हितावह तथ्यो को स्वीकार और अहितकर दुष्कृत्यों का त्याग किये बिना वह ठहर नहीं सकता। आयुर्वेद में ऐसी बातों को सदवृत्त-स्वस्थ वृत्त कहा है जबकि किसी धार्मिक क्षेत्र में इसे आचार सज्ञा दी गई है।

जैनसिद्धान्त की भांति आयुर्वेद का भी अन्तिम लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना है। यह प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है। इस तथ्य के प्रमाण स्वरूप चरकसहिता का निम्न पद्य देखिये और उसकी तुलना, जैनाचार्यवादीभ-सिंह की आत्म कल्याण की भावना से करिये। कितना साम्य दोनों में है। नक्तं दिनानि मे याति कथं भूतस्य सम्प्रति । दुःखभाग् न भवत्येवं नित्यं सन्निहित स्मृतिः ।।

इत्याचारः समासेन यंप्राप्नोति समाचरन् ।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं यशोलाभाश्च शाश्वतान् ।। (चरक सूत्र)
को हं कीदृग्गुणः क्वत्यः किं प्राप्यः किं निमित्तकः ।
इत्यूहः प्रत्यहं नो चेदस्थानेहि मतिर्भवेत् ।। (क्षत्रचूड़ामणि)

आयुर्वेद कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने दिन रात के कर्मों का लेखा प्रतिदिन करना चाहिये। ऐसा करने से वह पाप कर्मों से बचकर पुण्य कर्मों एवं आत्म कल्याण के मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है। "जैनाचार्य वादीभसिंह" भी यही कहते है "मै कौन हूं, मेरे गुण क्या है ? कहा रहा हू ? क्या मेरा लक्ष्य है ? मेरी यह अवस्था और लक्ष्य किम्निमित्तक है ? इस प्रकार विचार विमर्श यदि जीव प्रतिदिन नही करता है तो वह अपने लक्ष्य से भ्रष्ट होकर दुर्गति को प्राप्त होता है।" महानुभाव ! बताइये क्या अन्तर है दोनों के तत्त्व विश्लेषण मे ? कुछ नही।

जैन धर्मानुयायी प्रत्येक विवेकशील पुरुष प्रतिदिन भगवान से प्रार्थना करता है, कामना करता है कि भगवान मेरी प्रवृत्तियां भावना कैसी रहे। मेरी भावना के रूप में विस्तार से और निम्नश्लोक के रूप में अति सक्षेप से हर एक जैनी इसे जानता है। आयुर्वेद और उसके पंडित लोग (वैद्य) इसी भावना के पोषक होते हैं। यह केवल शब्द भेद रखने वाले दोनों पक्षों के नीचे लिखे दो पद्यों से सुस्पष्ट हो जाता है।

सत्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषुजीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावे विपरीत वृत्तौ सदा ममात्मा विदधातुदेव ।।
मैत्री कारुण्यमार्तेषु शक्ये प्रतिरूपेक्षणम् ।
प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यबुद्धिश्चतुर्विधा ।। (चरक)

सब प्राणियों से मैत्री भाव, गुणीजनों में आदरभाव और प्रमोद, दुःखीजनों के प्रति दयाभाव और अपने विरोधियों के प्रति माध्यस्थ भाव रखना चाहिये। आयुर्वेद भी यही कहता है। सर्व पुरुषों के प्रति मित्रता,

रोग ग्रस्त जीवों के प्रति करुणाभाव (दु:ख दूर करने की भावना) साध्य रोग या रोगी के प्रति उत्साह अथवा रुचि और असाध्य रोगियो के प्रति उपेक्षाभाव वैद्य के होना चाहिये।

संक्षेप में संसार के समग्र दु:ख-सुख के मूल कारण की और आयुर्वेद सम्बन्धी महर्षि चरक की मान्यता के द्योतक तथा प्रसिद्ध आचार्य वाग्भट के सार्वदेशिक स्वास्थ्य के प्ररूपक उद्धरणों को लिखकर मैं अपना अभिप्राय: समाप्त करता हूं।

समग्रं दु:खमायतमविज्ञाने द्वयात्रयम् ।
सुखं समग्रं विज्ञाने विमले च प्रतिष्ठितम् ।। (चरक)

संसार के सभी प्रकार के मानसिक व शारीरिक रोगों का मूल स्रोत अज्ञान है। जबकि सभी प्रकार के सुखो का उद्गम मनुष्य का निर्मल ज्ञान या विवेक है। इन दु:खों को दूर करने और सुखों को प्राप्त करने हेतु व्यक्ति को विवेकशील होकर सदाचारी बनना अनिवार्य है। समूचे जैनाचार का उपसंहार आचार्य वाग्भट कितने सुन्दर संक्षिप्त शब्दों में करते हैं।

आर्द्र सन्तानता (सर्वसत्वेषुकृपालुत्वम्) त्याग: कायवाक्चेतसां दम: ।
स्वार्थबुद्धि परर्थेषु पर्याप्तमिति सद्वृतम् ।।

संसार के समस्त प्राणियो के प्रति करुणा भाव (अनुकम्पा) अनावश्यक परिग्रह का त्याग, मन वचन काय पर सुशासन। दूसरे के प्रति आत्मसद्भावना, इतना ही सदाचार का स्वरूप है। मेरे उक्त विचारो से आप किस हद तक सहमत हैं। यह तो मैं कहने मे अक्षम हू, किन्तु इतना अवश्य कह सकता हूं कि सार्वत्रिक पाये जाने वाले मत वैषम्य के तुल्य आयुर्वेद व जैनाचार मे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के कारण आंशिक मत वैविध्य होते हुए भी उनके समोद्देश्य व भावना मूलक पवित्र सम्बन्ध से इंकार नहीं किया जा सकता। वे परस्पर एक दूसरे के पूरक है।

वनस्पति विज्ञान

और

आयुर्वेद

❖ वैद्य श्री फूलचन्द शास्त्री

[आयुर्वेदाचार्य, जयपुर]

जब से संसार में मानव शरीर की उत्पत्ति हुई है— तबसे उसके साथ ही रोग की भी उत्पत्ति हुई अतएव रोग की उत्पत्ति का इतिहास भी मनुष्य शरीर के साथ ही प्रारम्भ होता है, और जब से रोग की उत्पत्ति हुई तभी से मनुष्य उसको दूर करने के उपायों की खोज करने लगा और तभी से उसके ये उपाय चिकित्सा शास्त्र के रूप में प्रकट होने लगे अतएव यह कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही कि चिकित्सा शास्त्र का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि मानव जाति का इतिहास।

ज्यों-ज्यों औषधि विज्ञान का विस्तार होता गया त्यों-त्यों वनस्पति विज्ञान की महत्ता अधिकाधिक लोगों के ध्यान मे आने लगी और क्रमशः इस विज्ञान ने एक स्वतन्त्र शास्त्र का रूप धारण किया जिसका नाम आयुर्वेद हुआ। वनस्पति विज्ञान के अन्तर्गत सुश्रुतसहिता में ७०० वनस्पतियों का उल्लेख मिलता है।

अनादि सृष्टि का विभाग करने पर हमें दो ही भेद प्राप्त होते है एक सजीव–दूसरा निर्जीव। सजीव सृष्टि का अर्थ है जिनमें जीवनी शक्ति के चिन्ह प्राप्त हो सके जैसे—मनुष्य, पशु, पक्षी और पौधे। निर्जीव से अभिप्राय है पत्थर, चूना, नमक इत्यादि।

जितनी भी सृष्टि आप देखेंगे सर्वत्र चर सृष्टि में सदैव प्रत्येक प्राणी एक न एक घातक के भय से अपना रक्षा विधान सोचा करता है, हमारी वनस्पतियां भी उससे बच न सकीं। जिधर देखेगे उसका सर्वनाश हो रहा है, पशुओं, मनुष्यों तथा हर प्रकार के पक्षियों की ये खाद्य वस्तुये हो रही है। पशु वनस्पति पर ही अपना निर्वाह कर रहे हैं, मांसाहारी पशु भी शाकाहारी पशुओं के ही मांस पर जीवित हैं और मनुष्य तो हर

प्रकार से इनका उपयोग करते हैं। अतः वनस्पतियों को इससे बचने के लिए प्रकृति ने विशेष प्रकार की शक्ति प्रदान की है। जो भिन्न २ रूप में होती है जैसे—कई प्रकार के कण्टक विषाक्त रोग, कड़वापन, चरपरापन, वा अन्य प्रकार के गन्धादि। वृहती आदि के पत्रों में कांटे, वचादि में गन्ध, शाखी वृक्षों में वल्कल, विशेष औषधियों में विष, वृश्चिकादि, रोम व कंटकारी आदि इसी बात के प्रदर्शक हैं कि जिससे इनकी रक्षा हो सके।

वनस्पतियों में गुण निर्माण—प्रत्येक प्राणी जानता है कि पौधे पृथ्वी से व सूर्य से तथा वायु से अपना जीवन निर्वाह करते हैं। पृथ्वी से वे जितना पदार्थ ग्रहण करते हैं उससे कहीं अधिक वे वायु से पोषक पदार्थ ग्रहण करते हैं। वायु के संयोजक पदार्थों में से एक प्रकार का वायव्य (कार्बन द्वियोषित) अधिक परिमाण में इन वनस्पतियों द्वारा संग्रहीत है। अतः सर्व प्रधान शक्ति वायु जनित होती है, सूर्य से भी बहुत कुछ संग्रह करती हैं—वनस्पतियों के पत्र श्वास-प्रश्वास का कार्य करते हैं—जैसे हम शरीर के भीतर की दूषित वायु को प्रश्वास द्वारा त्याग करके श्वास द्वारा शुद्ध वायु को ग्रहण करते हैं—वैसे ही वनस्पतियों में यह कार्य सूर्य की रश्मियों द्वारा उनके पत्रों पर स्वयमेव सम्पादित हो जाता है। इस प्रकार सूर्य रश्मियों के ग्रहण से उनमें एक प्रकार की आग्नेय शक्ति (ताप) का संचय होता है पृथ्वी से वे जल तथा अन्य पोषक पदार्थ ग्रहण करते हैं। सूर्य की तरह अन्य कई ग्रह-उपग्रहों से उन्हें अन्य शक्तियां प्राप्त होती हैं। जैसे चन्द्रमा से सोम या शीत प्रधान अंशादि। इसप्रकार वनस्पतियों में कई प्रकार के पदार्थों व शक्ति का संचय होता है।

वनस्पति व त्रिदोष—उपर्युक्त क्रमों से यह विदित होता है कि वायु–सोम (द्रव्य) द्वारा वनस्पतियों का जीवन है, जिनपदार्थों से जिसका निर्माण होगा–उसमें वही पदार्थ अधिक पाये जायेंगे, इनको ही प्राचीन चिकित्सकों ने ध्यान में रखकर वात-पित्त-कफ की उपस्थिति का ज्ञान प्राप्त किया था और शरीर में वात-पित्त-कफ से उत्पन्न व्याधियों में इन औषधियों के इन प्रधान गुणों को लक्ष्य करके उपयोग किया है। प्राणी वर्ग मे चाहे छोटे से छोटा जीव हो या बड़े से बड़ा सभी को जीवन के मुख्य लक्षणों में गुजरते रहने से जीवन क्रियाओं में बहुत कुछ साम्य है और विशेषकर वनस्पति व मनुष्यों में तो हर प्रकार से सादृश्य देखा जाता है अतः त्रिदोष की साम्य प्रकृति का 'सोम' 'सूर्य' के द्वारा पालित-पोषित होने पर हर प्रकार से होता है।

आयुर्वेद में वनस्पतियों को उनके गुणावगुण द्योतनार्थ पांच विभागों में विभक्त किया गया है—रस-गुण-वीर्य-विपाक व शक्ति, जिनके कई विषयो के अन्वेषण मार्ग को आज का वैज्ञानिक अवहेलना की दृष्टि से देखता है और उसके अचिन्त्य महत्व में सन्देह करता है जैसे—शक्ति की वीर्य अचिन्त्य क्रिया। इस अचिन्त्य क्रिया का ज्ञान यांत्रिक विज्ञान बतलाने में असमर्थ है। जैसे गुलबनप्सा के विषय में उसका प्रतिश्याय हरत्व प्राप्त नही होता ऐसा लेबोरेट्रियां प्रतिध्वनित करती हैं, किन्तु प्रतिदिन 'गुलबनप्सा' पीकर हजारों व्यक्ति प्रतिश्याय से मुक्त होते हैं। चन्द्रोदय के ऊपर पाचक रसों की प्रत्यक्ष क्रियायें असिद्ध हैं, किन्तु वैद्य वर्ग दिन-रात चन्द्रोदय देकर मृतक में भी जान डालते है।

भारतवर्ष की बहुत सी औषधियां जिनको हम घास-फूस समझकर व्यर्थ ही फेंक देते हैं वही जब विदेशों में जाकर टिंचर–अर्क व एक्सट्रेक्ट का रूप धारण करके सुन्दर लेबिल से युक्त होकर आती हैं तो हम उनके लिए विपुल धनराशि खर्च करके खरीदते हैं जैसे—अजवाइन, अनन्तमूल, धतूरा, मीठातेलिया आदि।

प्राच्य–पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान का समन्वय—इतना ही नहीं हमारे देश में कई ऐसी औषधियां हैं जो विलायती औषधियों से गुणों मे अच्छा और निरुपद्रव काम करती हैं। जैसे—हृदय गति ठीक करने के लिए 'डिजिटेलिस' नाम की दवा काम करती है तो कुटकीक्वाथ से वही लाभ सफलता पूर्वक प्राप्त करते हैं।

'पोटाशब्रोमाइड्' नामक औषधि के मुकाबले हमारे देश की 'हरमल' नामक औषधि अच्छा कार्य करती है, 'केलम्बा' के मुकाबले गिलोय, गोवाकम, चम्पा, कालादाना, 'थायमल' के स्थान पर अजवाइन इस प्रकार अनेकों औषधियां हैं।

कई औषधियां ऐसी हैं। जिनकी बराबरी एलोपैथिक औषधियां नहीं कर सकती। जैसे कामला रोग पर 'पोडोफोलिन' या 'टेरेक्सी' की मात्रायें पीने से नहीं होता जबकि 'बन्दाल' के केवल सूंघने मात्र से कामला-पाण्डु रोग ठीक होता है, "ज्वरं हन्ति शिरोवद्धा सहदेवी जटा यथा" अर्थात्-शिर पर सहदेवी की जड़ बांधने मात्र से ज्वर ठीक होता है। 'एस्प्रीन' जिस शिर दर्द को ठीक नहीं कर सकती उसे ताजे 'अपामार्ग' के पत्रों का स्वरस कान में डालते ही शान्त करते हैं। 'जंगलनी जड़ी बूटी' में कहा गया है कि शान्ति निकेतन के एक छात्र को बड़े जोर से नाक से खून बहना चालू हुआ अनेकों डाक्टरों द्वारा चिकित्सा की गई, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ इतने में एक सेथाल उधर से गुजरा उसने 'वक्सी' की जड़ लेकर पानी के साथ पीसकर पिला दी जिससे रोगी का खून बहना तत्काल बन्द हो गया। इसी प्रकार महिलाओं को रक्तप्रदर में भी इस औषधि का चमत्कारिक प्रयोग सफलता से होता है।

नर्मदा के किनारे पर बड़ौदा की सरहद पर "गोला" नामक एक औषधि होती है इस विषय में कहा जाता है कि पानी में डूबा हुआ मनुष्य मृत्यु के मुंह में हो तो पुनर्जीवन देती है। डाक्टरों का मत है कि क्लोरोफार्म के समकक्ष अन्य कोई औषधि भारतवर्ष में पैदा नहीं होती है पर हिमालय पर्वत के अन्दर नेपाल से भूटान के बीच में 'विखमा' नामक एक वनस्पति के पौधे पाये जाते हैं, जिनकी ऊंचाई ४ से ५ फुट होती है इस औषधि की यह प्रवृत्ति है कि कोई भी व्यक्ति इसके पास से निकल जाता है तो वह मूर्छित हो जाता है (अर्थात् इस औषधि को सूंघने से मूर्छित हो जाता है)। इस वनस्पति की तरह दर्पनाशक एक वनस्पति 'निर्विषा' है जो कि 'विखमा' के पास ही पैदा होती है, इसको सूंघने मात्र से बेहोश मनुष्य तत्काल होश में आ जाता है। आचार्य चरक ने कई दिव्य औषधियों के विषय में बताया है—जैसे 'ब्रह्मसुवर्चला' नाम की औषधि होती है जिसको 'हिरण्य क्षीरा' भी कहते हैं जिसके पत्ते कमल के सदृश होते हैं। एक औषधि 'सूर्यकांता' नामक है जिसका दूध सुवर्ण के समान पीला होता है और फूल सूर्य मण्डल के आकार के होते हैं। एक औषधि 'नारी' नामक होती है इसके पत्ते बकरे के सदृश होते हैं। एक 'सर्पा' नामक औषधि सर्प जैसी होती है। 'सोम' नामक औषधि जो सब औषधियों की रानी है, इसके पन्द्रह पत्ते होते हैं और चन्द्रमा की कला के अनुसार कृष्ण पक्ष में प्रतिदिन एक एक पत्ता घटता जाता है और शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन एक एक पत्ता नवीन आता जाता है। उपरोक्त औषधियां महान दिव्य औषधियां हैं इनके रस का तृप्ति पर्यन्त पान करने से और ऊपर से बकरी का दूध पीने से तथा उसके बाद पलाश की हरी लकड़ी के बनाये हुए ढक्कनदार टब में नग्न स्थिति में सोने से नवीन शरीर की प्राप्ति होती है। वह मनुष्य आयु-वर्ण-स्वर-आकृति-बल और प्रभा में देवताओं के सदृश हो जाता है। इसी प्रकार भूख और प्यास दूर करने वाली अनेकों औषधियां हैं तथा सोना बनाने वाली भी अनेकों चमत्कृत गुणों से युक्त औषधियां हमारे यहां के पर्वतों में पैदा होती हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश उनकी पूरी जानकारी न होने से इनके चमत्कृत प्रयोगों से वंचित हैं।

आज की बढ़ती हुई बीमारियों को देखते हुए वैद्य समाज का कर्त्तव्य है कि औषधियों के प्रति हमारी उदासीनता को दूर करें। हमारी उदासीनता-प्रमाद से और सरकार से वांछित सहयोग प्राप्त न होने से हम सभी औषधियों के लाभ से वंचित हैं उनको जानकारी करके जन समुदाय के सामने लाये जिससे कि उनके विषय में अनुसन्धान करके उस पद्धति से जनता जनार्दन की समुचित सेवा हो सके।

॥ नास्ति आयुर्वेदस्य पारम् ॥

आचार्य उग्रादित्य के "कल्याणकारक" में द्रव्य-गुण चिकित्सा आदि का वर्णन

❖ डा० हरिश्चन्द्र जैन
गुजरात आयुर्वेद युनिवर्सिटी
[जामनगर]

जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव हैं। इनका उल्लेख वेदों में भी प्राप्त होता है तो भी जैन धर्म हिन्दु धर्म से अपनी मौलिक विशेषताओं के कारण पृथक् है और है अति प्राचीन । जैनधर्म की अपनी सबसे बड़ी विशेषता है समन्वयात्मक (अनेकान्तात्मक) मार्ग का निर्देश करना । प्रस्तुत 'कल्याणकारक' चिकित्साग्रन्थ भी इसी सरिणी का अनुसरण करता है । ऋषभदेव से प्रारम्भ होकर वर्धमान तक चिकित्सा की जैन वैद्यक परम्परा रही है, किन्तु इस कालखण्ड का कोई प्रामाणिक साहित्य प्राप्त नहीं होता है । तदुपरान्त का जो जैन साहित्य मिलता है उसमें चिकित्साग्रन्थ विरल मिलते हैं ।

जैन वैद्यक परम्परा आयुर्वेद से विचारधारा मे बहुत अधिक भिन्न नहीं है, तथापि अपनी धार्मिक पृष्ठभूमि के कारण कुछ भिन्न सी प्रतीत होती है । जैन वैद्यक विचारकों ने वाग्भट्ट के समान चरक-सुश्रुत आदि के विचारों को समुचित आदर प्रदान किया है और वाग्भट्ट को बौद्ध वैद्यक परम्परा का अनुगामी माना है । ठीक इसी प्रकार कल्याणकारक के रचयिता आचार्य उग्रादित्य ने किया है । यद्यपि उन्होने ऐसा कही भी स्वीकार तो नहीं किया है, उन्होंने आयुर्वेदावतरण भिन्न प्रकार से माना है, तथापि जैन वैद्यक की परम्परा में बहुत से उपयोगी चिकित्साशास्त्र के सिद्धान्त हैं यह सिद्ध हो जाता है । कल्याणकारक के अध्ययन से ज्ञात होता है कि धर्म का दर्शन, विज्ञान और चिकित्सा शास्त्र पर कैसे प्रभाव होता है, यह ऐतिहासिक महत्त्व की वस्तु है । अनेक विचारधाराओं के मध्य में रहते हुए उनसे तालमेल रखते हुए अपना अस्तित्त्व बनाना महत्वपूर्ण है ।

कल्याणकारक चिकित्साग्रन्थ के रचयिता आचार्य उग्रादित्य थे। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध है कि यह एक जैन आचार्य थे और राष्ट्रकूट वंशी राजा अमोघवर्ष प्रथम तथा चालुक्य वंशी राजा कालि-विष्णुवर्धन पंचम के काल में थे, जिसका समय ईस्वी की ९वीं शताब्दि है। उग्रादित्य के गुरु श्रीनन्दि थे जो 'प्राणावाय विज्ञान' के विद्वान थे उन्हीं से इन्होंने आयुर्वेद का ज्ञान ग्रहण किया था। कल्याणकारक में अनेकों आचार्यों के नामों का उल्लेख मिलता है जो जैन वैद्यक परम्परा में हैं, उन्होंने अलग-अलग चिकित्सा की शाखाओं पर ग्रन्थ लिखे हैं।

महर्षि पूज्यपाद	शालाक्य तंत्र (Diseases of Eye Nose & Throat)
पात्र केसरी स्वामी	शल्य तंत्र (Surgery)
सिद्धसेन भगवान	अगद तत्र एवं भूत विद्या (Toxicology)
दशरथ मुनीश्वर	काय चिकित्सा (Medicine)
मेघनादाचार्य	कौमार भृत्य (Children diseases)
सिंहनाद मुनीन्द्र	वाजीकरण और रसायन तंत्र

समन्तभद्राचार्य ने अष्टाङ्ग आयुर्वेद पर विस्तार से ग्रन्थ रचना की है। कल्याणकारक में उन्हीं का संक्षिप्त सार प्रस्तुत किया गया है। इनमें से उग्रादित्याचार्य के कल्याणकारक वैद्यकग्रंथ के अतिरिक्त कोई भी ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है।

कल्याणकारक के महत्वपूर्ण चिकित्सा सिद्धान्त :

जैनधर्म के जीव एवं सृष्टि के सम्बन्ध में अपने मौलिक विचार हैं जिनकी संक्षिप्त चर्चा उग्रादित्य ने अपने ग्रंथ में की है। कर्म से जीव का जन्म तथा व्याधि की उत्पत्ति होती है। अन्य कारण जिनसे व्याधि उत्पन्न होती है गौण माने हैं जिनमें दोष तथा अभिघात हेतु होता है। रोगों की उत्पत्ति के लिए शरीर के विकृत दोष उत्तरदायी हैं। महारोगों में वे शीघ्र प्रभाव प्रदर्शित करते हैं। जबकि अन्य रोगों में मन्दगति से अपना प्रभाव दिखाते हैं, इसका कारण स्वभाव तथा कर्म माना है।

प्रकुपित दोष शरीर में प्रसरित होते हैं, उनके अनेक प्रकार हैं। १५ प्रकारों का वर्णन कल्याणकारक में किया गया है, जिसके अनुसार तीन दोष तथा रक्त मिलकर इस प्रकार के भेद बनते हैं। यह एक आयुर्वेद सम्मत सिद्धान्त है। तीन दोष के सिद्धान्त को मान्य करता हुआ लेखक रक्त को भी दोष की श्रेणी में लाने का प्रयत्न करता है। रोग की चिकित्सा कर्म की उपशान्ति है। उपाय या चिकित्सा की सहायता से रोग के शमन का काल आने पर रोगोपशमन होता है। ऐसा विचार आचार्य उग्रादित्य ने प्रतिपादित किया है इसीप्रकार चिकित्सा क्रम में रोगी की चिकित्सा करते समय ज्योतिष के अनुसार ग्रह, स्वप्न तथा दोषों की स्थिति का विचार किया है। दोषों के बिना रोगोत्पत्ति सम्भव नहीं है जहां रोग विशेष का नाम नहीं है वहां दोषों के अनुसार विचार करना चाहिए यह विचार आचार्य चरक के अनुसार है—

विकाराणामकुशलो न जिह्रीयान् कदाचन।
न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः॥

कल्याणकारक में मद्य-मांस-मधु का निषेध :

धार्मिक तथा आत्मिक दृष्टि से अहिंसा एक प्रधान तत्त्व है। जिसे आयुर्वेद में भी स्थान दिया गया है। इसीकारण से मांसाहार का निषेध जैनवैद्यक में किया गया है, अन्यथा नैतिक विरोध उत्पन्न हो जाता। जैनों ने

मांसाहार को कभी भी किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया है । जैन वैद्यक में उसका पूर्ण पालन किया गया है । उसीप्रकार मधु का प्रयोग भी वर्जित माना है, मधु में असंख्य जीवों का आश्रय होता है । अतः मांस के तुल्य ही इसे चिकित्सा में स्थान नहीं दिया है । शल्य में अनेक कर्मों का सीमित एवं आवश्यक विधान बताया है ।

जैनधर्म के अनुसार मद्य के प्रयोग को सर्वथा निषिद्ध माना है । अतः मद्यपान का चिकित्सा कार्य में कहीं प्रयोग नहीं बताया है । आयुर्वेद चिकित्सा में प्रयोग किये जाने वाले आसव, अरिष्ट को भी निषिद्ध माना है । मद्य, मांस व मधु का त्यागी ही जैनी होता है । जैन मतानुयायी के इस गुण को आचार्य उग्रादित्य ने चिकित्सा में सुरक्षित रखा है । गम्भीरता से विचार करने पर मद्य, मांस एवं मधु के दुर्गुणों का ज्ञान होगा । जैनदर्शन एवम् तत्त्वज्ञान का अध्ययन इसके लिए अत्यावश्यक है, अन्यथा इसका ज्ञान व अनुभूति दोनों असम्भव हैं ।

अहिंसा के इस सूक्ष्म विचार को कुछ लोग शल्य चिकित्सा के विकास में बाधक मानते हैं, किन्तु शरीर रचना, शरीर क्रिया एवं शल्य विषय ग्रन्थ लेखन इस बात का द्योतक है कि जैनधर्म की अहिंसा शल्य-चिकित्सा के विकास में अवरोधक नहीं रही है । विज्ञान के नाम पर अनावश्यक प्राणि हिंसा का निषेध ही किया है ।

मद्य, मांस व मधु के द्रव्य गुणात्मक विचार को ध्यान में रखते हुए इन द्रव्यों के प्रतिनिधि द्रव्यों का स्थान-स्थान पर प्रयोग बताया है । मद्य के स्थान पर पुष्पों का रस, मास के स्थान पर विभिन्न द्विदल धान्य, मधु के स्थान पर गुड़ का प्रयोग लिखा है, जो आचार्य उग्रादित्य की वैज्ञानिक मीमांसा का अच्छा उदाहरण है । इस प्रकार प्राचीन वेदानुयायी आयुर्वेद के समस्त विचारों को आत्मसात करते हुए समन्वय की दृष्टि कल्याण-कारक में अपनाई गई है । त्रिसूत्र आयुर्वेद-हेतु, लिङ्ग, औषध का पूर्ण विचार कल्याणकारक मे किया है । औषध के लिए उग्रादित्य ने प्रशस्त औषध ऐसा कहा है—जो औषधि निम्न गुणों युक्त होगी वही प्रशस्त औषधि मानी जावेगी—

१ जो ज्ञान व चिकित्सा में व्यहृत होती हो ।
२. अल्प मात्रा में प्रयोग कर सके ।
३. गन्ध, वर्ण, स्वाद में प्रिय हों ।
४. शुद्ध हो, जिससे किसी प्रकार के व्यापद (Consplications) न हों ।
५. शीघ्र प्रभावकारी हों ।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान भी आज द्रव्य (Drug) के सम्बन्ध में यही विचार मानता है । औषधि के सभी विचार-आयुर्वेद के साथ पूर्ण सम्मत हैं । द्रव्य के कार्य को (The mode of action of the drug) १५ प्रकार से वर्गीकृत किया है जिसे 'भेषजकर्म' कहा है । यह सरल तथा सुगम वर्गीकरण है जो सामान्य चिकित्सक के लिए उपयोगी है ।

औषधि कर्म—(१) संशमन (२) अग्निदीपन (३) रसायन (४) बृंहण (५) लेखन (६) संग्रहण (७) वृष्य (८) शोषकरण (९) विलयन (१०) अधःशोधन (११) उर्ध्वशोधन (१२) उभय भाग शोधन (१३) विरेचन (१४) विष (१५) विषौषध ।

इसप्रकार औषधि कर्मों का वर्गीकरण अतिवैज्ञानिक व आयुर्वेद में विकास का द्योतक है । कुछ औषधियों के स्वरस का प्रयोग मंत्रोपचार के साथ किया है । मसूरिका (Small Pox) में वनौषधियों से निर्मित पंखे की हवा का सेवन बताया है । इसी प्रकार विषों की चिकित्सा का विशेष वर्णन किया है, जिसे 'अगदतंत्र'

कहा जाता है। औषधि के अन्य प्रयोगों का वर्णन आयुर्वेद सम्मत है जैसे—अञ्जन, कर्णपूरण, नस्य, वर्तिकवल आदि। प्रमेह की चिकित्सा के उपक्रम चरक, सुश्रुत की अपेक्षा विशेषता युक्त हैं। प्रमेह की चिकित्सा में विभिन्न प्राणियों के मल (The Excreta of the animals) का उपयोग बताया है। यह अनुसंधान का विषय है।

पारद का उपयोग :

कल्याणकारक में संक्षिप्तरूप से पारद तथा उसके संस्कारों का वर्णन है। पारद से स्वर्ण निर्माण का कथन है। अनेक पारद योगों का शक्तिवर्द्धक योगों के रूप में वर्णन है।

शृंगार प्रसाधन :

कल्याणकारक में पालित नाशन, केश कृष्णीकरण, मुखकान्ति वर्द्धक आदि शृंगार प्रसाधन योगों का वर्णन है।

विमर्श :

आयुर्वेद में जैन वैद्यक परम्परा का महत्वपूर्ण योगदान है। यह प्रायोगिक तथा सैद्धान्तिक दोनों प्रकार का है। मद्य, मांस, मधु के निषेध के साथ उनका उचित पूरक बताया है। वात, पित्त, कफ, वात की सहायता से अपना कार्य सम्पन्न करते हैं। इस प्रकार सामान्य चिकित्सक के सरल प्रयोग परक चिकित्सा ग्रन्थ कल्याणकारक है। रोगों का वर्गीकरण दोषानुसार कर चिकित्सकों का महान उपकार किया है। इसप्रकार कल्याणकारक एक मौलिक वैज्ञानिक जैन वैद्यक परम्परा का ग्रन्थ है।

जैनाचार आयुर्वेद ही है

❖ श्री राजकुमार शास्त्री

[निवाई]

जैनधर्म सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रणीत है और यह प्ररूपण द्वादशाङ्गरूप में प्ररूपित किया गया है। इस प्ररूपण में विश्व का कोई भी विषय अछूता नहीं रहा है। इसमें सम्पूर्ण विषयों का सर्वाङ्गीण निरूपण है। सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को अंग बाह्य और अंग प्रविष्ट के दो भेदों में विभाजित किया गया है। सम्पूर्ण विश्व की रचना और उसके क्षेत्र व स्थानों में होने वाली क्रम प्रक्रिया का विशद वर्णन है। अनन्त जीवों के विविध योनिस्थान, स्वरूप, रंगों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन जहां है, वहां इनके प्राकृतिक परिवर्तन तथा हलन-चलन रूप क्रिया कलापों का भी विशद विवेचन है। प्रत्येक वस्तु का गुण, अवगुण, परिपाक, विपाक और उससे होने वाले प्रभाव को भी खुलासा किया गया है। उसी के आधार पर जैनाचार्यों ने दर्शन, कला, काव्य, ज्योतिष व वैद्यक, व्याकरणादि सभी विषयों पर अपने महान ज्ञानानुभव के आधार पर अनेक ग्रंथों की रचना की है। ११ अंग और १४ पूर्वों के अन्तर्गत सभी विषय आ जाते है। दुर्भाग्य से कहिये या हमारे प्रमाद के कारण इन अंग और पूर्वों के ज्ञान के आधार पर परम्परागत आचार्यों द्वारा रचित नानाविध विषयों पर ग्रन्थ थे उनमें से अनेक शास्त्र या तो दीमकों ने भक्षण कर लिये हैं या धर्मान्ध द्वेषियों ने उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर अग्नि में समर्पित कर दिये। इसी कारण वे महान ग्रन्थ आज हमें दृष्टिगोचर नहीं हैं, किन्तु जो कुछ हमारे समक्ष हैं उनके वाचन से हमें उन आचार्यों की सर्वतोमुखी प्रतिभा का और उनके अगाध ज्ञान का परिचय अवश्य होता है। जैनाचार्यों द्वारा रचित कुछ ग्रंथो को छोड़कर वैद्यक ग्रंथ आज हमें उपलब्ध नही हैं तथापि उपलब्ध आयुर्वेदीय ग्रन्थों का

अवलोकन करते हैं तो आयुर्वेद शब्द की व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ इस प्रकार है–आयुरस्मिन् विद्यते अनेन वा आयुः विदंति इत्यायुर्वेदः'' इससे सिद्ध होता है कि आयुर्वेद आयु-जीवन का शास्त्र है। अतः आयु का संरक्षण जिससे हो वही आयुर्वेद है। वर्तमान आयु के अन्त तक पूर्ण स्वस्थता ही आरोग्य है। स्वस्थता के विरोधी रोग हैं। व्याधि रोग का पर्यायवाची शब्द है। शरीर में व्याधियां चार प्रकार की मानी गई हैं।

१—वातज २—पित्तज ३—कफज ४—संसर्गज।

वातोत्पादक पदार्थों का सेवन वातज व्याधियों का जनक है, पित्तज पदार्थों के सेवन से पित्तप्रधान व्याधियां होती हैं तथा कफोत्पादक वस्तुओं का सेवन कफज व्याधियों को उत्पन्न करता है। एक-दूसरे के संसर्ग से होने वाली व्याधियां संसर्गज कहलाती हैं। संसर्गज व्याधियों में शीतला, मोतीज्वर, राजयक्ष्मा (टी. बी.), उपदंश आदि को लिया जा सकता है। प्रकृति ने अनेक भोज्य पदार्थ उत्पन्न किये हैं जैसे—अन्न, विविध फल, विविध शाक, पत्र-पुष्पादि ये सब अपने-अपने समय पर सर्वत्र उत्पन्न होते रहते हैं। ये नानाविध खाद्य पदार्थ विभिन्न प्रकार की व्याधियों से मुक्त कराने की शक्ति से युक्त हैं इनमें अपूर्व शक्ति है, जिनके सेवन से ही विविध रोग शान्त हो सकते हैं। इनमें कुछ ऐसे भी पदार्थ हैं जिनके सेवन से नानाविध रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। इसीलिए विवेकियों ने —मनीषियों ने विवेक से काम लेने को कहा। जैसे बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर और पाकर ये पंच उदुम्बर फल कहलाते हैं। इनमें अनेक जीव है जो चलते-फिरते दिखाई देते हैं तो फिर इनके खाने से शरीर कैसे स्वस्थ रह सकता है। कुछ शाक आदि ऐसे हैं जिनमें चलते फिरते जीव तो नहीं दिखाई देते है, किन्तु अनेक निगोदिया जीवो का पिण्ड स्वरूप ही है, जैसे आलू, शकरकन्दी आदि जमीकन्द। उनके भक्षण करने से भी बुद्धि में प्रमाद, भारीपन और मन्दता आ जाती है साथ विष्टम्भ तो होता ही है।

मद्य, मांस और मधु तो प्रत्यक्ष ही घृणास्पद, मदकारक व हिंसा जन्य है। बुद्धि को विपरीत व कुण्ठित करने वाले हैं तथा क्रूरता उत्पन्न करने वाले हैं। ये पदार्थ मन व मस्तिष्क में क्षोभ उत्पन्न करते हैं, हेयोपादेय के बोध से रहित करते है। ये पदार्थ स्वयं ही अभक्ष्य हैं इनको भक्षण करने वाला अन्य भी अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करने में संकोच नहीं करता है। जैन चिकित्सा पद्धति में भी इनका प्रयोग निषिद्ध माना गया है। उग्रादित्याचार्य ने अपने कल्याण कारक ग्रन्थ में चिकित्सा करने में भी इनको ग्राह्य नहीं माना है। अतः यह तो निर्बाध सिद्ध है कि आयुर्वेद और जैनाचार का बड़ा निकटतम सम्बन्ध रहा है। हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि जैन धर्म के अनुयायियों को जिन प्रारम्भिक नियमो का पालन करने को कहा है उनके अतिरिक्त सद्‌गृहस्थ और साधु पुरुषो की जो भी दिनचर्या शास्त्रों में कही गई जिनमें आहार चर्या की प्रमुखता है, का बड़ा वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखा गया है। जैन धर्मानुसार विहित नियमोपनियम धार्मिकता के साथ-साथ स्वास्थ्य रक्षा में भी अत्यन्त सहायक साधन हैं।

जैनसाधु २४ घन्टे में सूर्योदय के कम से कम ७२ मिनिट पश्चात् और सूर्यास्त से कम से कम ७२ मिनिट पूर्व दिन में एक बार आहार ग्रहण करते हैं। दूसरी बार पानी भी नहीं लेते। अतः आंतों को भोजन पचाने के लिए समय अधिक मिलता है। इसके अतिरिक्त गरिष्ट, अमर्यादित व कंद मूलादि, प्रमाद बढ़ाने वाले पदार्थ, अनिष्टकारक व अनुपसेव्य पदार्थों का वे प्रयोग नही करते। सात्त्विक भोजन करते हैं और यथावसर अनशन, अवमौदर्य, रस परित्याग आदि तपों को भी करते हैं, जिससे शारीरिक स्वास्थ्य को बनाये रखने में भी बहुत सहयोग मिलता है और अहिंसा प्रधान धर्म का भी परिपालन होता है। समय-समय पर विभिन्न रसों का परित्याग वे करते रहते हैं जिससे जब जैसे रस की आवश्यकता शरीर को होती है, वह उसे मिलता है और जिसकी आवश्यकता नहीं होती उसका सेवन भी बच जाता है, क्योंकि बदलते हुए आहार में वे प्रायः रसों का परिवर्तन करते रहते हैं।

साधु चर्या में प्रासुक (गर्म) पानी के सेवन की ही प्रमुखता है अतः स्वास्थ्य की रक्षा में गर्म पानी का भी योगदान मिलता रहता है। आयुर्वेद में भी प्रायः सामान्य रोगों की चिकित्सा तो आहार (खान-पान)

शुद्धि से ही हो जाया करती है। चिकित्सा क्षेत्र में पथ्या पथ्य आहार-विहार का महत्वपूर्ण स्थान है। पथ्य रूप आहार-विहार ही अनेक रोगों का चिकित्सक है। कहा भी है—

पथ्ये सति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः ।
अपथ्ये सति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः ॥

अर्थात् पथ्य पूर्वक रहा जावे तो औषध सेवन की क्या आवश्यकता है और अपथ्यपूर्वक रहने वालों को औषधि का सेवन क्या कार्यकारी होगा ? अपथ्य सेवन से रोगोत्पत्ति होती है। इस प्रकार जैनाचार आयुर्वेद ही है। यदि ऐसा भी कह दिया जावे तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। आयुर्वेद भी उपवास, भूख से कम खाने, खट्टे, मीठे रसों के सेवन या त्याग पर बल देता है। आयुर्वेद में चलितरसीय पदार्थों का सेवन भी वर्जित है, व्याधिकारक पदार्थों को भी नहीं खाने का आग्रह किया गया है। बिना छना पानी भी वर्जित है। उष्ण किये गये पानी का सेवन करना स्थान-स्थान पर कहा गया है। उष्ण पानी के सम्बन्ध में एक घटना स्मरण हो आयी उसे लिखने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हू। घटना इस प्रकार है—

जयपुर राज्य के प्रमुख चिकित्साधिकारी, चीफ सर्जन डॉ० दुर्जनसिंहजी से मुलाकात हुई। वे प्राय: अपने रोगियों को कहा करते थे कि "तुम सरावगी पानी पिया करो", मैंने उन्हें एक दिन पूछ ही लिया कि आप सरावगी पानी किसे कहते हैं ? उन्होंने कहा कि शास्त्रीजी सरावगी होकर भी आप सरावगी पानी नहीं जानते। अरे ! मैं छानकर जो पानी गर्म कर लिया जाता है उसे सरावगी पानी कहता हूं। जिस पानी का सेवन आपका साधु वर्ग करता है वह पानी बहुत गुणकारक है और उदर सम्बन्धी अनेक रोगों का सबसे बड़ा चिकित्सक है वह पानी। आपका साधु वर्ग प्राय: कम ही बीमार पड़ता है, क्योंकि वे शुद्ध आहार-पान करते हैं। शुद्ध आहार-पान ही आरोग्यता की जड़ है।

अत: मेरा इतना ही निवेदन है कि संसार में इस समय अनेक प्रकार की भयंकर बीमारियां चल रही हैं उनसे बचने के लिए ही सही हमें जैनाचार को अपने जीवन मे स्थान देना चाहिए। उसके अनुसार हमारे खान-पान, रहन-सहन का ढंग संयमित होता है और हम भक्ष्याभक्ष्य का विवेक रखते है तो स्वस्थ रह सकते हैं।